



माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमालायाः

३६. एकोनचत्वारिंशत्तमो ग्रन्थः ।

खविवृत्तियुतलघीयस्त्रयस्य अलङ्कारभूतः

॥ न्या य कु मु द च न्द्रः ॥

[ द्वितीयो भागः ]



स्व० सेठ माणिकचन्द्रहीराचन्द्र जे० पी०

सम्पादक -

न्यायाचार्यमहेन्द्रकुमारः  
स्वा० वि० काशी



प्रकाशक -

प० नाथूरामप्रेमी  
मन्त्री ग्रन्थमाला मम्बई

[ मूल्य ८॥ ) रूप्यकाणि ]



श्रीमद्भद्रकलङ्कदेवविरचितस्य  
खविवृतिसहितलघीयसूत्रयस्य

अलङ्कारभूतः

श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यविरचितः

न्यायकुमुदचन्द्रः

[ द्वितीयो भागः ]

( न्यायाचार्यमहेन्द्रकुमारलिखितटिप्पणादिसहित )

स चायम्

काशीस्थ-श्रीस्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालयस्य न्यायाध्यापकपदप्रतिष्ठितेन  
'प्रमेयकमलमार्त्तण्ड-अकलङ्कग्रन्थत्रया' दिग्गन्धाना सम्पादकेन  
न्यायाचार्य-न्यायटिवाकर-जैन-प्राचीनन्यायतीर्थानुपाधिभूषितेन  
पं० म हे न्द्र कु मा र शा स्त्रि णा  
प्रस्तावना पाठान्तर तुलनार्थबोधरूटिप्पणी अवतरणनिर्देश-परिशिष्टादिभिः  
संस्कृत्य सशोधितः, सम्पादितश्च ।

प्रकाशक -

मन्त्री-श्री पं० नाथूराम प्रेमी,  
मारिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला  
हीरावाग, गिरगाँव, ववई न० ४ ।

मुद्रक - बाबू रामकृष्णदास बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, बनारस ।

धीरनिवाणाव्दा २४६७

विक्रमाब्दा १९९८ ]

प्रथमावृत्ति ६०० प्रति

[ क्रिस्ताब्दा १९४९ ]



# MÂNIK CHANDRA DIG. JAIN GRANTHMÂLÂ

A SERIES PUBLISHING CRITICAL EDITIONS OF CANONICAL PHILOSOPHICAL  
HISTORICAL LITERARY NARRATIVE ETC WORKS OF JAIN LITERATURE  
IN PRAKRITI SAUSKRIT AND APABHRAMŚA

FOUNDED

BY

THE DIG JAIN SAMÂJA

IN MEMORY OF

LATE, DÂNVÎR, SÊTH MÂNIK CHANDRA HIRA CHANDRA

JUSTICE OF PEACE BOMBAY

NUMBER 39

HONY SECRETARIES

Pandit Nathu Ram Premi, *Bombay*

Prof Hiralal, M A , LL B *Amraoti*

CASHIER —

Seth Thakur Das, Bhagwan Das Javery, *Bombay*

TO BE HAD FROM—

Secy MANIK CH DIG JAIN SERIES

HIRABAG

Post Girgaon, BOMBAY, 4

Founded ]

All rights reserved

[ 1915 A D

# NYÂYA KUMUD CHANDRA

OF

## ŚRĪMAT PRABHÂCHANDRÂCHÂRYA

[ VOL II ]

*A commentary on Bhattâkalankadêvâ's Laghîyâstraya*

---

EDITED WITH —INTRODUCTION EXHAUSTIVE ANNOTATIONS COMPARATIVE  
STUDY OF JAIN BUDDHIST AND VEDIC—PHILOSOPHIES AND THE  
WISDOM READINGS INDEXES ETC

BY

PT MAHENDRA KUMAR NYAYACHARYA

VIJAYA DIVAKAR JAIN & PRACHĪN NYAYÂTĪRTHA

EDITOR OF AKALANA GRANTHATRAYA PRAMEYA KAMAL MARTAND ETC

JAIN DARŚANÂDHĪYÂPAK

SRI SYÂDVÂD DIG JAIN MAHÂVIDYÂLAYA

BHADAINI, KASHI

---

PUBLISHED BY

SECY PANDIT NATHU RAM PREMI

MÂNIK CHANDRA DIG JAIN SERIES

HIRABAG GIRGAON

BOMBAY 4

---

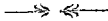
PRINTED BY—RAMA KRISHNA DAS AT THE BHARATI HINDU UNIVERSITY PRESS BHARATI

V E 1998]

First Edition, 600 Copies

[ 1941 A D

# न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भागका अनुक्रम



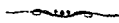
१ प्रकाशक की ओरसे—प० नाथूरामजी प्रेमी	7-8
२ आदि उचन—डॉ० महलदेवजी शशी 9-11	
३ प्राक्थन—प० सुखलालजी	12-20
४ सम्पादकीयम्	१-४
५ प्रस्तानना	५-६७
अनलङ्घ्या समय	५
आ० प्रभाचन्द्र	६-६७
प्रभाचन्द्र की इतर आचार्योंस तुलना	६-७६
[ (वदिक दशन)—वत् उपनियन् स्मृति	
कार पुराण व्यास पनञ्जति भनु हरि	
व्यास ईश्वरवर्ण माठर, प्रस्तपात्, व्योम	
गिष, [व्यामगिषका समय] श्रीधर वात्सा	
यन उद्योतकर, अयन्त, [ जयतका समय ]	
वाचस्पति गबर, पुनारित्, मन्मथि,	
प्रभाकर, गालिकनाथ, गङ्कराचाय भाम्,	
बाण भाषि, ( अदिक दशन )—नागाजुन,	
वसुवधु सिद्धनाथ धमकीनि, प्रभाकर वण	
कगामि, गान्तरनित, वामनील अचट धर्मो	
त्तर, जानधी, जवनिहरागिषट्ट, कुत्तु,	
समन्तम, पूयपात् धनञ्जय, [धनञ्जय	
का समय] रविभङ्गिण्य अतनवीध विद्या	
नत्, अनन्तकाशि, गान्कयन अभयनी,	
मूनाचारकार, नमिषत् सिद्धातचक्रवर्ती, प्रमे	
परत्तमात्तायार अनन्तवीध, देवनेन, धुन	
कीनि, वे० आगमसाहित्य, त वाचभाष्य	
कार, सिद्धसेन धमदासगण हरिभत् सिद्धपि	
अमलदेव, वाग्निदेवमूर्ति, भेषत्, मन्मथि	
देवभद्र मल्लिपण मुणरत्त, मन्मथिदेव	
आन्ति प्रभाचन्द्रकी तुलना ]	

प्रभाचन्द्रका आयवेदतान	४९
प्रभाचन्द्रकी कल्पनासहित	४९
उदार विचार	४७
प्रभाचन्द्रका समय	४८-५८
वाचस्पति श्री गुरुकुल	
समय विचार	
प्रभाचन्द्रका ग्रन्थ	५९-६७
गान्कटायन यामक कृतत्वपर विचार	
गान्मन्मथोक्तभाष्य	
प्रवचनसारसरोजभाष्य	
गणकथाकोण	

६ मूलग्रन्थका निपयानुक्रम	६८-६२
७ मूलग्रन्थ	४०४-८८१
८ परिशिष्ट	८८५-६२६

- १ लघीयस्वयकारिकाधिका अकारानुक्रम
- २ लघीयस्वयगत अवतरण
- ३ लघीयस्वयके लाक्षणिक और विनिष्ठा
- दागनिकता
- ४ जिन आचार्योंन लघीयस्वयक वाक्योको
- उद्धत किया ह उन आचार्योंकी सूची
- ५ यादकुमदचन्द्रगत अवतरण
- ६ यादकुमुदचन्द्रनिदिष्ट याय
- ७ यादकुमुदचन्द्रगत एतिहासिक और
- भौगोलिक गान
- ८ यादकुमुदचन्द्रनिदिष्ट ग्रन्थ ग्रन्थकार
- ९ यादकुमदचन्द्रगत लाक्षणिकगान
- १० यादकुमुदचन्द्रगत विनिष्ठागान
- ११ यादकुमुदचन्द्रके दागनिकता
- १२ मूलग्रन्थपुष्पपुष्पक वाचस्पतिविवरण

९ शुद्धिपर	६७६
------------	-----



## समर्पणम्—

“श्रीर्जनमिद्वान्नमहोदायैर्मे समग्रमिद्वान्तगुरुश्चरन्ति ।  
वञ्जीश्वरो जैनकुलायतसी हर्मायति न्यायनये जनोऽयम् ॥ १ ॥

म न्यायालङ्कारश्चन्स्याद्वाटवारिपिर्मान् ।  
वाग्देवीनर्मज्ञो मर्मज्ञ कर्मरूण्डम्य ॥ २ ॥

तस्याद्य त्रिविम्यायामुपहागधिया मया ।  
सम्पाद्य न्यायमुत्तमगधमिदमर्प्यत ॥ ३ ॥”

तत् यतमशिष्येण  
न्यायाचार्यसद्देन्द्रकुमारेण

भाषिचन्द्र प्रथमाला ]

नरुणस्यापिसिक्तिकर्षीस्यप्रमा...  
 (विमाधनानिधन्याणानिस्फुक्काणव...  
 छिकारकल्पितवाद्यमत्तवत्समर्थतिवहिर...  
 नञनञ्जिनित्वमञ्जानववाभनासीवादिबन्धमप्य...  
 मर्षत्रार्थतडन्यद्विधसगावातत्तनावावदकचञ्चमाणय...  
 ह्यीयान्तिद्यतहितमयिकिनश्छायादेविसाया...  
 तद्यथाद्विद्युनामन्निहाद्विर्षेकतुल्यताययतिकारक...  
 त्साधर्म्यद्विद्विद्युताएवपितुल्यतामविवाषायुसले...  
 मवाय समवाय ममत्वरसमवाय सर्वद्विविज्ञापणत्वाव...  
 म्मञ्जकसमावनेमगवाय म्मञ्जकसमवायखणिकर्मसवति...  
 चाद्वेनेममसितसमवाय यथायसाविभसमवायनचसबह...  
 इत्यथातातनयाद्वैरुप्याद्विचछ सन्निकर्षीदवप्रत्य...  
 उवावादिद्वैय सन्निकर्षीदवतत्रच्छेदादियापारातावा...

वोकारपलप्य

३१

उपममम

३१

आ० मकर, ईडरमद्यगीय युद्धि प्रति वा ११ वौ पत्र, द्वितीय पाथे



किया कि व प्रभाचन्द्र कुमारसेन गुरुके शिष्य थे जब कि न्यायकुमुदधर द्रव्यार्थके गुरु पचनरी थे। अत एव दोनों जुदा जुदा समयके जुदा जुदा विद्वान् हैं।

इस षडभूतके सुलभ जानेपर प्रभाचन्द्रके समय निर्णयका भाग सुगम हो गया और अब तो प० महद्रकुमारजीने उनके ग्रन्थके अन्तरग प्रमाणों तथा बहि प्रमाणोंस विष्कृन् निधित ही कर दिया है।

प्रमथकमनमातएव और 'न्यायकुमुदधर' अतिरिक्त उनके और कौन कौन ग्रन्थ हैं, इसका पता लगानकी ओर यह सप्रमाण सिद्ध करनेकी कि वे वहाँके हैं दूसरे प्रभाचन्द्र नामधारियोंके नहीं हैं, अभी और जरूरत है।

मरी समयमें प्रभाचन्द्रने टीका लिप्यस्य ग्रन्थ बहुत लिख्य है और अभी तक जित्द दूसर प्रभाचन्द्रोंना समझा जाता था उनमेंसे नीचे लिख्य टीका-ग्रन्थ तो उनके ही हैं यह प्राय निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है। भूमिकाम् इनमेंसे कुछकी चचा भा का जा चुको है—

१ तत्त्वाथट्तिपत्र विवरण ( सत्वापसिद्धि लिप्यस्य )।

२ प्रवचनसरोजमास्कर।

३ शब्दाभिनयमास्कर।

४ रत्नकरणद्वयीका।

५ क्रियाकरणापटीका।

६ समाधितत्रयीका।

७ आमानुशासन तिलक।

८ महापुरुष ( पुण्यदत्त ) लिप्यस्य।

९ द्रव्यसप्रह-पत्रिका।

पिछले ग्रन्थकी सूचना अभी हाल ही मुझे रायल एशियाटिक सोसाइटी बाम्बे बाचके हस्तलिखित ग्रन्थोंके कैटलॉगमें मिली। उक्त ग्रन्थकी प्रति स० १८२२ की लिखी हुई है। उसका मद्रलाचरण यह है—

“नत्ता जिनाकमपहरिततसनदोप लोत्रनयाधिपतिसस्तुतनादपयम्।

ज्ञानप्रभाप्रकटितासित्त्वस्तुसाथ पद्द्रव्यनिगुयमह प्रकट प्रवक्ष्ये ॥”

मद्रलाचरणकी यह शैली प्रभाचन्द्रकी ही है और उनके अन्य मद्रवाचरणोंके साथ इसका शब्दसाम्य भी है।

आराधनाकपाकोश ( गद्य ) भी इन्हींका बनाया हुआ है।

अन्य ग्रन्थसूचियोंमें प्रभाचन्द्रके नामसे नीचे लिख्य टीका-ग्रन्थोंक नाम और भी मिलते हैं। मरा अनुमान है कि इनमेंसे अधिकांश इन्हीं प्रभाचन्द्रक होंगे—

१ अष्टपादद्वयपत्रिका

२ स्वयम्भूतोत्र-पत्रिका

३ दशमम-पत्रिका

४ समयसार टीका

५ पञ्चाग्निवायटीका

६ मूलाचारटीका

७ आराधना-टीका

८ पचनलिप्यस्यविरासिकागीका

इन टीका-ग्रन्थोंको छान-बीन होने पर समयाधिके सम्भवमें और भी पुष्ट प्रमाण उपलब्ध हो सकेंगे। मैं गयनमण्ट सन्तून कालेयक प्रिंसिपल डॉ० मद्रलन्वनी शास्त्री और हिन्दू विश्वविद्यालयके जैनशास्त्राध्यापक प० सुव्रजानन्दाका आभार मानता हूँ जिन्होंने शान्तिचन ओग प्राकथनके रूपमें बहुमूल्य विचार उपस्थित किए हैं।

वन्द्य  
२० \* ४१ }

—नाथूराम प्रेमी  
मन्त्री व प्रमाणा।

## ॥ आ दि व च न ॥

भारतीय दर्शनशास्त्रना इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। विभिन्न विभिन्न समयमें अधिकारिभेदसे अनेक दर्शनोंका उत्थान इस देशमें हुआ। हृदय जगत्के सम्पर्कसे विभिन्न परिस्थितियोंके कारण मनुष्यके हृदयमें जो अनेक प्रकारकी जिज्ञासा उत्पन्न होती है उनका समाधान करना ही किसी दर्शनका मुख्य लक्ष्य होता है। जिज्ञासाभेदसे दर्शनोंका भेद स्वाभाविक है। भारतीय दर्शनमें जैनदर्शनका भी एक प्रधान स्थान है। इसका हमारी समझमें एक मुख्य वैशिष्ट्य यह है कि इसके आचार्योंने प्रचलित परम्परागत विचार और रूढ़ियोंसे अपनेको पृथक् करके स्वतन्त्र दृष्टिसे दार्शनिक प्रमेयोंके विश्लेषणकी चेष्टा की है। हम यहां विश्लेषण शब्दका प्रयोग जान बूझकर कर रहे हैं। वस्तुस्थितिमें एक दार्शनिकका कार्य—जिस प्रकार एक त्रैयाकरण शब्दका त्रयाकरण अर्थात् विश्लेषण, न कि निर्माण, करता है—इसी प्रकार पदार्थोंके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले हमारे विचारों और उनके सम्बन्धोंके रहस्यका उद्घाटन करना होता है। 'पदार्थोंकी सत्ता हमारे विचारासे निरपेक्ष, स्वतः सिद्ध है' इस सिद्धान्तको प्रायः लोग भूल जाते हैं। हम समझते हैं कि जैनदर्शनका अनेकान्तवाद, जिसको कि उसकी मूलभूति कहा जा सकता है, उपर्युक्त मूलसिद्धान्तको लेकर ही प्रवृत्त हुआ है।

अनेकान्तवादका मौलिक अभिप्राय यही हो सकता है कि तत्त्वके त्रिपथमें त्र्याग्रह न



होने हुए भी उसके विषयमें तत्तद्ज्ञानस्वाभेदेके कारण दृष्टिभेद संभव है। इस सिद्धांतकी मौलिकतामें किसको सन्देह हो सकता है? क्या हम

“श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य मत न भिन्नम्” [महाभारत]

“यस्यामत तस्य मत मत यस्य न वेद स ।

अविज्ञान विज्ञानता विज्ञातमविज्ञानताम् ॥” [ जैनोपनिषद् २।३ ] इत्यादि वचनोंकी मूलमें अनेकान्तवादका ही प्रतिपादक नहीं रह सकते? ज्ञान शब्द ही स्वतः दृष्टिभेदके अर्थको प्रकट करता है। इस अभिप्रायसे जैनान्तावादके द्वारा दार्शनिक आधार पर विभिन्न दर्शनोंमें विरोध भावनाको हटाने परस्पर समन्वय स्थापित करनेका एक सल्लयत्र किया है।

अनेक अवस्थाओंसे उद्भूत, मूल्य विभिन्न दृष्टिकोणोंसे पदार्थोंको देखनेका अभ्यासी, मनुष्य किसी पदार्थके अलण्ड मकल स्वरूपको कैसे जान सकता है? उस अलण्ड मूल-स्वरूपको हम सचे अर्थमें “गुहाहित गह्वरेष्ट पुराणम्” कह सकते हैं। “पादोऽस्य निश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि” [ यजुर्वेद पुष्पसूक्त ] इस त्रैदिकश्रुतिका भी वास्तविक तात्पर्य यही है। इसमें सन्देह नहीं कि जैनदर्शनमें प्रतिपादित अनेकान्तवादके इस मौलिक अभिप्रायको समझनेसे जगत्क जगत् परस्पर विरोध तथा कलकी भावनाओंके तात्से परस्पर सौमनस्य और शान्तिता साम्राज्य स्थापित हो सकता है।

जैनधर्मकी भारतीय संस्कृतिको उनी भारी देन अहिंसावाद है। जो कि वास्तवमें दार्शनिक भित्तिपर स्थापित अनेकान्तवादका ही नैतिकशास्त्रीकी दृष्टिको अनुवाद कहा जा सकता है। धार्मिकदृष्टिके यदि अहिंसावादको ही जैनधर्ममें सर्वप्रथम स्थान देना आवश्यक हो तो हम अनेकान्तवादको ही उसका दार्शनिकदृष्टिके अनुवाद कह सकते हैं। अहिंसा शब्दका अर्थ भी मानवीय मन्व्यताके स्वर्णानुत्कर्षकी दृष्टिके भिन्न भिन्न किया जा सकता है। एक साधारण मनुष्यके स्थूल विचारोंकी दृष्टिके हिंसा किसीकी जान लेनेमें ही हो सकती है। किसीके भावोंको आघात पहुंचानेको वह हिंसा नहीं कहेगा। परंतु एक सभ्य मनुष्य तो विरुद्ध विचारोंकी असहिष्णुताको भी हिंसा ही कहेगा। उसका सिद्धांत तो यही होता है कि—

“अभ्यासहति कल्याण विविध वारु सुभाषिता ।

सैव दुर्भाषिता राजन् अनर्थायोपपद्यते ॥

वार्त्मायका उदनाग्निष्पतन्ति यैराहत शोचति रायहानि ।

परस्य नामर्ममु ते पतन्ति तान् पण्डितो नापसृजेत् परेभ्य ॥”

[ विदुरनीति २।७७,८० ]

सभ्य जगत्का आश विचारमन्व्य है। इस प्रार्थकी रक्षा अहिंसावाद ( हिंसा-असहिष्णुता ) के द्वारा ही हो सकती है। विचारोंकी मङ्गीणता या असहिष्णुता

ईर्ष्या द्वेषकी जननी है। इस असहिष्णुताको हम किसी अन्धकारसे कम नहीं समझते। आज हमारे देशमें जो अशान्ति है उसका एक मुख्य कारण यही त्रिचारोंकी सङ्कीर्णता है। प्राचीन सस्कृत साहित्यमें पाया जानेवाला 'आनृशस्य' शब्द भी इसी अहिंसावादका द्योतक है। इस प्रकारके अहिंसावाङ्की आवश्यकता सारे ससारको है। जैनधर्मके द्वारा इसमें बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। उपर्युक्त दृष्टिसे जैनदर्शन भारतीय दर्शनमें अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है।

चिरकालसे ही हमारी यह हार्दिक इच्छा रही है कि हमारे देशमें दार्शनिक अध्ययन साम्प्रदायिक सङ्कीर्णतासे निकलकर निशुद्ध दार्शनिकदृष्टिसे किया जाये। और उसमें दार्शनिक समस्याओंको नामने रखकर तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टिका यथासम्भव अधिकाधिक उपयोग हो। इसी पद्धतिके अवलम्बनसे भारतीय दर्शनका क्रमिक विकास समझा जा सकता है, और दार्शनिक अध्ययनमें एक प्रकारकी सजीवता आ सकती है।

यह प्रसन्नताकी बात है कि कुछ विद्वानोंने बहुत कुछ इसी पद्धतिके अनुसार ग्रन्थोंका सम्पादन प्रारम्भ कर दिया है। प्रज्ञाचक्षु प्रसिद्ध विद्वान् प० सुगलालजीका नाम इस सम्बन्धमें विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। दार्शनिक विद्वान् प० महेन्द्रकुमारजी शास्त्रीने भी इसी पद्धतिका अवलम्बन कर जैनदर्शनके साहित्यका सम्पादन करना प्रारम्भ कर दिया है। अब तक आप न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभाग, अवलङ्कप्रन्थत्रय, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके विद्वत्तापूर्ण मस्करण प्रकाशित कर चुके हैं। न्यायकुमुदचन्द्रका यह द्वितीय भाग भी उसी प्रकार बड़े परिश्रमसे सम्पादन करके प्रकाशित किया जा रहा है। आपकी प्रस्तावनाओं और टिप्पणियोंसे पगपग पर यह स्पष्ट है कि आपने अनेकानेक अन्य ग्रन्थोंके साथ तुलना करके यथासम्भव इस बातकी चेष्टा की है कि प्रकृतग्रन्थना उनके साथ जो कुछ भी सम्बन्ध हो वह स्पष्ट हो जावे। इसके लिए सस्कृत विद्वन्मण्डली सम्पादक महाशयकी अवश्य आभारी होगी। हम अपनी ओरसे उनको हृदयसे इस सफलता पर बधाई देते हैं, और आशा करते हैं कि अन्य ग्रन्थ सम्पादक महाशय उनकी पद्धतिका अवलम्बन करेंगे।

—मङ्गलदेव शास्त्री,

M A D Phil (OXON)

[ प्रिंसिपल् गवर्नमेण्ट सस्कृत कालेज, बनारस  
रजिस्ट्रार गवर्नमेण्ट सस्कृत कालेज इन्जामिनेगस  
पू० पी०, बनारस ]

मरस्यती भवन, }  
२८।३।६१ }

# ॥ प्राक्कथन ॥



पापबुमुदचन्द्रके प्रथम भागमें मैं अपना प्राक्कथन लिख चुका हूँ। फिर भी इस दूसरे भागकी प्रस्तावना जब मैं सुन गया तब प्राक्कथन रूपसे कुछ भी लिखनेके सपादकीय अनुरोधको टाल न सका। इसीलिए कुछ लिखने को प्रवृत्त हुआ हूँ। पापबुमुदचन्द्र यह दर्शनका प्रथम है सो भी सप्रदायविशेषका, अतएव सर्वोपयोगिताकी दृष्टिसे यह विचार करना उचित होगा कि दर्शनका मतलब क्या समझा जाता है और वस्तुतः उसका मतलब क्या होना चाहिए। इसी तरह यह भी विचारना समुचित होगा कि सप्रदाय क्या वस्तु है और उसके साथ दर्शन का सम्बन्ध केसा रहा है तथा उस सप्रदायिक सम्बन्धके फल स्वरूप दर्शनमें क्या गुण दोष आए हैं इत्यादि।

सब कोई सामान्यरूपसे यही समझते और मानते आए हैं कि दर्शनका मतलब है तत्त्वमाहात्कार। सभी दार्शनिक अपने अपने सप्रदायिक दर्शनको साक्षात्काररूप ही मानते आए हैं। यहाँ सवाल यह है कि साक्षात्कार किसे कहना? इसका जन्म एक ही हो सकता है कि साक्षात्कार वह है जिसमें भ्रम या सदेहको अन्कारा न हो और साक्षात्कार किये गए तत्त्वमें फिर मतभेद या विरोध न हो। अगर दर्शनकी उक्त साक्षात्कारात्मक व्याख्या सबको मान्य है तो दूसरा प्रश्न यह होता है कि अनेक सप्रदायाश्रित विभिन्न दर्शनोंमें एक ही तत्त्वके विषयमें इतने नाना मतभेद कैसे? और उनमें असमाधेय समझा जानेवाला परस्पर विरोध केसा? इस शकाका जबाब देने के लिए हमारे पास एक ही रास्ता है कि हम दर्शन शब्दका कुछ और अर्थ समझें। उसना जो साक्षात्कार अर्थ समझा जाता है और जो चिरकालसे शास्त्रोंमें भी लिखा मिलता है, वह अर्थ अगर यथार्थ है, तो मेरी रायमें वह समस्त दर्शनों द्वारा निर्निवाद और असदिग्धरूपसे सम्मत निम्नलिखित आध्यात्मिक प्रमेयोंमें ही घट सकता है—

१-पुनर्जन्म, २-उमना कारण, ३-पुनर्जन्मग्राही कोई तत्त्व, ४-साधनविशेषद्वारा पुनर्जन्मके कारणोंका उच्छेद।

ये प्रमेय साक्षात्कारके विषय माने जा सकते हैं। कभी न कभी किसी तपस्वी द्रष्टा या द्रष्टाओंको उक्त तत्त्वोंका साक्षात्कार हुआ होगा ऐसा कहा जा सकता है, क्योंकि आज तक किसी आध्यात्मिक दर्शनमें इन तथा ऐसे तत्त्वोंके बारेमें न तो मतभेद प्रकट हुआ है और न उनमें किसीका विरोध ही रहा है। पर उक्त मूल आध्यात्मिक प्रमेयोंके विशेष विशेष स्वरूपके विषयमें तथा उनके ब्यौरेवार विचारमें सभाप्रधान प्रधान दर्शनार्थका, और कभी कभी तो एक ही दर्शनकी अनेक शाखाओंका इतना अधिक मतभेद और विरोध शास्त्रोंमें देखा जाता है कि जिसे देखकर तटस्थ समालोचक यह कभी नहीं मान सकता कि किसी एक या सभी सप्रदायके ब्यौरेवार मतमें साक्षात्कारके विषय हुए हैं। अगर वे मन्तव्य साक्षात्कृत हों तो किस सप्रदायके? किसी एक

संप्रदायको व्यौरेके बारेमें साक्षात्कर्ता-द्रष्टा सावित करना टेढ़ी खीर है। अतएव बहुत हुआ तो उक्त मूल प्रमेयोंमें दर्शनका साक्षात्कार अर्थ मान लेनेके बाद व्यौरेके बारेमें दर्शनका कुछ और ही अर्थ करना पड़ेगा।

विचार करनेमें जान पड़ता है, कि दर्शनका दूसरा अर्थ 'सबलप्रतीति' ही करना ठीक है। शब्दके अर्थोंके भी जुदे जुदे स्तर होते हैं। दर्शनके अर्थका यह दूसरा स्तर है। हम वाचक उमास्वातिके "तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्" इस सूत्रमें तथा इसकी व्याख्याओंमें यह दूसरा स्तर स्पष्ट पाते हैं। वाचकश्रीने साफ कहा है कि प्रमेयोंकी श्रद्धा ही दर्शन है। यहाँ यह कभी न भूलना चाहिए कि श्रद्धाके माने हैं बलवती प्रतीति या विश्वास, न कि साक्षात्कार। श्रद्धा या विश्वास, साक्षात्कारको संप्रदायमें जीवित रखनेकी एक भूमिका-विशेष है, जिसे मैंने दर्शनका दूसरा स्तर कहा है।

यों तो संप्रदाय हर एक देशके चिन्तकोंमें देखा जाता है। यूरोपके तत्त्वचिन्तनकी आद्य भूमि ग्रीसके चिन्तकोंमें भी परस्पर विरोधी अनेक संप्रदाय रहे हैं, पर भारतीय तत्त्वचिन्तकोंके संप्रदायकी कथा कुछ निराली ही है। इस देशके संप्रदाय मूलमें धर्मप्राण और धर्मजीवी रहे हैं। सभी संप्रदायोंने तत्त्वचिन्तनको आश्रय ही नहीं दिया बल्कि उसके विकास और विस्तार में भी बहुत कुछ किया है। एक तरहसे भारतीय तत्त्वचिन्तनका चमत्कारपूर्ण बौद्धिकप्रदेश जुदे जुदे संप्रदायोंके प्रयत्नका ही परिणाम है। पर हमें जो सोचना है वह तो यह है कि हर एक संप्रदाय अपने जिन मतव्यों पर सबल विश्वास रखता है और जिन मतव्योंको दूसरा विरोधी संप्रदाय कतई माननेको तैयार नहीं है वे मन्तव्य सांप्रदायिक विश्वास या सांप्रदायिक भावनाके ही विषय माने जा सकते हैं साक्षात्कारके विषय नहीं। इस तरह साक्षात्कारका सामान्य स्रोत संप्रदायोंकी भूमि पर व्यौरेके विशेष प्रभावोंमें विभाजित होते ही विश्वास और प्रतीतिका रूप धारण करने लगता है।

जब साक्षात्कार विश्वास रूपमें परिणत हुआ तब उस विश्वासको स्थापित रखने और उसका समर्थन करनेके लिए सभी संप्रदायोंको कल्पनाओंका-दलीलोंका तथा तर्कोंका सहारा लेना पड़ा। सभी सांप्रदायिक तत्त्वचिन्तक अपने अपने विश्वासकी पुष्टिके लिए कल्पनाओंका सहारा पूरे तीरसे लेते रहे फिर भी यह मानते रहे कि हम और हमारा संप्रदाय जो कुछ मानते हैं वह सब कल्पना नहीं बल्कि साक्षात्कार है। इस तरह कल्पनाओंका तथा सत्य असत्य और अर्धसत्य तर्कोंका समावेश भी दर्शनके अर्थमें हो गया। एकतरफसे जहाँ संप्रदायने मूलदर्शन यानी साक्षात्कारकी रक्षाकी और जहाँ उसे स्पष्ट करने के लिए अनेक प्रकारके चिन्तनको चालू रखा तथा उसे व्यक्त करनेकी अनेक मनोरम कल्पनाएँकी, वहाँ दूसरी तरफसे संप्रदायकी याद पर बढ़ने तथा छलने-मलनेवाली तत्त्वचिन्तनकी येन इतनी पराश्रित हो गई कि उने संप्रदायोंके सिवाय दूसरा कोई सहारा ही न रहा। फलतः पर्दबट पद्मिनियोंकी तरह तत्त्वचिन्तनकी येन भी कोमल और संकुचिन्तदृष्टियाली बन गई।

हम सांप्रदायिक चिन्तकोंका यह मुकाम रोज देखते हैं कि वे अपने चिंतनमें तो कितनी ही कमी या अपनी दलीलोंमें कितनाही लचरपन क्यों न हो उसे प्रायः दृढ़ नहीं पाने। और दूसरे विरोधी संप्रदायके तत्त्वचिन्तनोंमें कितना ही साद्गुण्य और वैशद्य क्यों न हो उसे स्वीकार करनेमें भी हिचकिचाते हैं। सांप्रदायिक तत्त्वचिन्तकोंका यह भी मानस देखा जाता है कि वे संप्रदायांतरके प्रमेयोंको या विशेष चिन्तनोंको अपनाकर भी मुक्तमनसे उसके प्रति कृतज्ञता दर्शानेमें हमेशा हिचकिचाते हैं। दर्शन जब साक्षात्कारकी भूमिकाको लेंधकर विरामकी भूमिका पर आया और उसमें कल्पनाओं तथा सत्यासत्य तर्कोंका भी समावेश किया जाने लगा, तब दर्शन सांप्रदायिक सजुचित दृष्टियोंमें आवृत होकर, मूलमें शुद्ध आध्यात्मिक होत हुए भी अनेक दोषोंका पुत्र भी बन गया। अब तो यह पृथक्करण करना ही कठिन हो गया है कि दार्शनिक चिंतनमें क्या कल्पनामात्र है, क्या सत्य तर्क है, या क्या असत्य तर्क है? हर एक संप्रदायका अनुयायी चाहे वह अपढ़ हो, या पढ़ा लिखा, विद्यार्थी एवं पंडित, यह मानकर ही अपने तत्त्वचिन्तन प्रयोगोंको सुनता है या पढ़ता पढ़ाता है, कि इस हमारे तत्त्वग्रन्थमें जो कुछ लिखा गया है वह अक्षरशः सत्य है, इसमें भ्रांति या सदेहको अन्वेषण ही नहीं है। तथा इसमें जो कुछ है वह दूसरे किसी संप्रदायके ग्रन्थमें नहीं है। और अगर है तो भी वह हमारे संप्रदायसे ही उभर गया है। इस प्रकारकी प्रत्येक संप्रदायकी अपूर्णता पूर्ण मान लेनेकी प्रवृत्ति इतनी अधिक उलबती है कि अगर इसका कुछ इलाज न हुआ तो मनुष्य जातिका उपकार करनेके लिए प्रवृत्त हुआ यह दर्शन मनुष्यताका ही घातक सिद्ध होगा।

मैं समझता हूँ कि उक्त दोषको दूर करनेके अनेक उपायोंमें से एक उपाय यह भी है कि नहीं दार्शनिक प्रमेयोंका अध्ययन तार्किकदृष्टिसे किया जाय वहाँ साथ ही साथ वह अध्ययन ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टिसे भी किया जाय। जब हम किसी भी एक दर्शनके प्रमेयोंका अध्ययन ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टिसे करते हैं तब हमें अनेक दूसरे दर्शनोंके प्रमेयोंके बारेमें भी जानकारी प्राप्त करनी पड़ती है। वह जानकारी अधूरी या विपर्यस्त नहीं। पूरी और यथासमय यथार्थ जानकारी होते ही हमारा मानस 'यापक ज्ञानके आलोकसे भर जाता है। ज्ञानकी विशालता और स्पष्टता हमारी दृष्टिमेंसे सजुचितता तथा सज्जय भय आदि दोषोंको उसी तरह हटाती है जिस तरह प्रकाश तम को। हम असज्ज और अपूर्ण हैं, फिर भी अविज्ञानसे अधिक सत्यके निकट पहुँचना चाहते हैं। अगर हम योगी नहीं हैं फिर भी अधि-यायिक सत्य या तत्त्वदर्शनके अधिकारी बनना चाहते हैं तो हमारे वास्ते साधारण मार्ग यही है कि हम किसी भी दर्शनको यथा समव सवागीण ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टिसे भी पढ़ें।

'न्यायकुमुदचंद्रके संपादक प० महेन्द्रकुमारजी वायाचायने मूल ग्रन्थके नाँचे एक एक छोटे बड़े सुरेपर जो बहुश्रुत-पूर्ण टिप्पण दिये हैं और प्रस्ताननामें जो अनेक संप्रदायोंके आचार्योंके ज्ञानमें एक दूसरेसे लेनदेनका ऐतिहासिक पर्यालोचन किया है, उन सबकी मार्थरुता उपयुक्त दृष्टिसे अध्ययन करने करानेमें ही है। सारे 'न्यायकुमुदचंद्रके टिप्पण तथा प्रस्ताननाका

मर्मांश श्रगर कार्यसाधक है तो सर्वप्रथम अध्यापकोंके लिए । जैन हो या जनेतर, सचा जिज्ञासु हसमें से ढहुत कुञ्ज पा सरुता है । अध्यापकोंकी दृष्टि एरु बार साफ हुइ, उनका अरुत्लेकन प्रदेश एक नर त्रस्तुत हुआ, फिर वह सुनास विद्यार्थियोंमें तथा अपद अनुयायियोंमें भी अपने आप फैलने लगती है । इस भागी लाभकी निश्चित आशासे देखा जाय तो मुक्तको यह कहनेमें लेन भी सकोच नहीं होता कि सपादकका टिप्पण तथा प्रस्तावनाविषयक श्रम दार्शनिक अध्ययन क्षेत्रमें साप्रदायिकताकी सकुचित मनोवृत्ति दूर करनेमें बहुत कारगर सिद्ध होगा ।

भारतवर्षको दर्शनोंकी जन्मस्थलीऔर ऋीडाभूमि माना जाता है । यहाँका अपद जन भी ब्रह्मज्ञान, मोक्ष तथा अनेकान्त जैसे शब्दोंको पद पद पर प्रयुक्त करता है, फिर भी भारतका दर्शनिक पौरुषशून्य क्यों होगया है? इसका विचार करना जरूरी है । हम देखते हैं कि दर्शनिक प्रदेशमें कुछ ऐसे दोष दाखिन हो गए हैं जिनकी ओर चिन्तकोसा ध्यान अरुश्य जाना चाहिए । पहली बात दर्शनोंके पठन-सम्बन्धी उद्देश्यकी है । जिसे दूसरा कोई क्षेत्र न मिले और बुद्धि-प्रधान आजीविका करनी हो तो बहुधा यह दर्शनोंकी ओर झुकता है । मानो दार्शनिक अध्यापक का उद्देश्य या तो प्रधानतया आजीविका हो गया है या वादविजय एव बुद्धिनिर्लाम । इसका फल हम मंत्र एक ही देखते हैं कि या तो दार्शनिक गुलाम बन जाता है या सुखशील । इस तरह जहाँ दर्शन शास्त्र अमरताकी गाथा तथा अनिवार्य प्रतिक्षण-मृत्युकी गाथा सिखाकर अध्यापक सकेत करता है वहाँ उसके अध्यासी हम निरे भीरु बन गए हैं । जहाँ दर्शन हमें सत्य-असत्यका विवेक सिखाता है वहाँ हम उलटे असत्यको समझनेमें भी अससर्थ हो रहे हैं, तथा अगर उसे समझ भी लिया, तो उसका परिहार करनेके विचारसे ही काँप उठते हैं । दर्शन जहाँ दिन रात आत्मैक्य या आत्मौपम्य सिखाता है वहाँ हम भेद-प्रमेदोंको और भी विशेषरूपमें पुष्ट करनेमें ही लग जाते हैं । यह सब विपरीत परिणाम देखा जाता है । इसका कारण एक ही है, और यह है दर्शनके अध्ययनके उद्देश्यको ठीक ठीक न समझना । दर्शन पढ़नेका अधिकारी वही हो सकता है और उसेही पढ़ना चाहिए कि जो सत्य-असत्यके विवेकका मामर्थ्य प्राप्त करना चाहता हो और जो सत्यके स्वीकारकी हिम्मतकी अपेक्षा असत्यका परिहार करनेकी हिम्मत या पौरुष सर्वप्रथम और सर्वाधिक प्रमाणमें प्रकट करना चाहता हो । सच्चेरूपमें दर्शनके अध्ययनका एरु मात्र उद्देश्य है जीवनकी बाहरी और भीतरी शुद्धि । इस उद्देश्यको मामने रखकर ही उसका पठन-पाठन जारी रहे तभी वह मानवताका पोषक बन सकता है ।

दूसरी बात है दार्शनिक प्रश्नोंमें नये सशोर्तनोंकी । अभी तक यही देखा जाता है कि प्रत्येक सप्रदायमें जो मायताएँ और जो कल्पनाएँ रूढ़ हो गई हैं उन्हींको उस सप्रदायमें सर्वप्रथम माना जाता है । ओर आरुश्यक नये विचार प्रजागका उनमें प्रवेश ही नहीं होने पाता । पूर्व-पूर्व पुरखोंके द्वारा किए गए और उचराधिकारमें दिए गए चिन्तनों तथा आरुखोंका प्रगाह ही सप्रदाय है । हर एक सप्रदायका माननेवाला अपने मत-योंके समर्थनमें ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक दृष्टिकों प्रतिष्ठाका उपयोग तो करना चाहता है, पर इस दृष्टिका उपयोग वह यहाँ तक

ही करता है जहाँ उसे कुछ भी परिवर्तन न करना पड़े। परिवर्तन और सशोधनके नामसे या तो सम्प्रदाय घबड़ाता है या अपनेमें पहलेसे ही सत्र कुछ होनेकी डीग हॉम्ता है। इसलिए भारतका दार्शनिक पीछे पड़ गया है। जहाँ जहाँ वैज्ञानिक प्रमेयोंके द्वारा या वैज्ञानिक पद्धतिके द्वारा दार्शनिक विषयोंमें सशोधन करनेकी गुंजाइश हो वहाँ सबत्र उसका उपयोग अगर न किया जायगा तो यह मनातन दार्शनिकविद्या केवल पुराणोंकी ही मस्तु रह जायगी। अत एव दार्शनिक क्षेत्रमें सशोधन करनेकी प्रवृत्तिकी ओर भी मुकाब होना जरूरी है।

दशन सम्प्रदायी इतनी सामा य चर्चा कर लेनेके बाद कुञ्ज एतिहासिक प्रश्नों पर भी लिखना आवश्यक है। पहला प्रश्न है अकलककके समयका। प० महेन्द्रकुमारजीने "अकलककग्रन्थत्रय" की प्रस्तावनामें धर्मकीर्ति और उसके शिष्यों आदिके प्रश्नोंकी तुलनाके आधार पर अकलककका समय निश्चित करते समय जो विक्रमाकीय शकसमत् का अर्थ विक्रमीयसमत् न लेकर शकसमत् लेनेकी ओर सकेत किया है वह मुयको भी विशेष साधार मालूम पड़ता है। इस नियममें पंडितजीने जो धमलाटीकागत उल्लेख तथा प्रो० हीरालालजीके ग्रन्थका उल्लेख प्रस्तावना (पृ० ५) में किया है वह उनकी अकलककग्रन्थमें स्थापित विचारसरणीका ही पोषक है। इस बारेमें सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ प० जयचंद्र विद्यालङ्कारजीका उ विचार भी प० महेन्द्रकुमारजीकी धारणाका ही पोषक है। मैं तो पहिलेसे ही मानता आया हूँ कि अकलककका समय विक्रमकी आठवीं

ई वे भारतीय इतिहासकी हपरेखा (प० ८२४-२९) में लिखते हैं कि— 'महमूद गजनवीके सम काशन प्रसिद्ध विगान यात्री अबरूनीने अपने भारत विषयक ग्रन्थमें गकराजा और दूमर विक्रमान्त्यिक यद्धका बात इस प्रकार लिखी है— शकसवत अथवा कबालका आरम्भ विक्रमान्त्यिके सवत्मे १३५ वष पाछ पडा ह। प्रस्तुत गकने उन ( हिन्दुषा ) क गग पर सिध नगी और समके बीच आयावतक उम रायको अपना निवास स्थान बनानके बाट बड अयाचार किए। कदयो का कहना ह वह अथमसूरा नगरका गू था दूमरे कहते ह वह हिन्दू था ही नहा और भारतमें पश्चिम मे आया था। हिन्दुषाका उमम बहुत कल महन पड। अन्तमें उह पूरव मे सहायता मिगी जब कि विक्रमान्त्यिक उम पर कटाईकी उम भगा गिया और मुलतान तथा लोनीके कोठके बीच कटर प्रवेशमें उमे मार डाला। तत्र यह निरि प्रसिद्ध हो गत कपाकि लोग उम प्रजा पीडककी मोतका खबरमे बहुत खुग हुए और उस तिथिम एक सवत गुरू दूत्रा जिस योनियो विगपरूपसे वतन लग। किन्तु विक्रमान्त्यिक सवत वह जागवाले सवत क आरम्भ और गकके मारे जान क बीच बडा अन्तर, इसमें म समभना ह कि उरा सवत का नाम जिस विक्रमान्त्यिके नामसे पडा ह वनी गकको मातवाला विक्रमान्त्यिक नहीं ह केवत्र शेनाका नाम एव ह। प० ( ८२४-२५ ) 'इस पर एव गका उास्थित होनी ह शालिवाहनवाला अनुग्रहिके कारण। अबरूनी स्पष्ट कहता ह कि ७/ ई० का सवत राजा विक्रमान्त्यिक ( सातवाहन ) न गकको भारत की यागारमें चलाया। वनी बात ज्योतिषी मण्डापरत्र ( ०६६ ई० ) और ब्रह्मगण्ट ( ६२८ ई० ) न भी लिखी ह। वह सवत् अब भी पञ्चाङ्गम शालिवाहन गक जर्षान शालिवाहनात् कहगता ह। ' (प० ८२६)। इन दो अन्तराशाम इननी बात निविवा सिद्ध है कि विक्रमान्त्यिक ( सातवाहन ) न गकराजाको मारकर अपनी गकविजयके उपलक्ष्यमें एक सवत चलाया था। जो सातवीं शताब्दी ( ब्रह्मगण्ट ) से ही शालिवाहनात् माना जाता है। घबलाटीना आन्तमें जिस विक्रमाकशक सवत का उल्लेख आता ह वह यनी शालिवाहनात्क होना चाहिए। उसका विक्रमाकशक नाम गकविजयके उपलक्ष्यमें विक्रमान्त्यिक द्वारा चलाए गए शकसवत का स्पष्ट सूचन कर रहा है।

शताब्दीका उत्तरार्ध और नववीं शताब्दीका पूर्वार्ध ही हो सकता है जैसा कि याकिनीसूनु हरि-भद्रका है। मेरी रायमें अकलक, हरिभद्र, तत्त्वार्थभाष्यटीकाकार सिद्धसेनगण्धि, ये सभी थोड़े बहुत प्रमाणमें ममसामयिक अन्तरय हैं। आगे जो खागी समन्तभद्रके समयके बारेमें कुछ कहना है उससे भी इसी समयकी पुष्टि होती है।

आचार्य प्रभाचन्द्रके समयके विषयमें पुरानी नववीं सदीकी मान्यताका तो निरास ५० कैलाशचन्द्रजीने कर ही दिया है। अब उसके सम्बन्धमें इस समय दो मत हैं, जिनका आधार 'भोजदेवराज्ये' और 'जयसिंहदेवराज्ये' गाली प्रशस्तिओंका प्रक्षिप्तत्व या प्रभाचन्द्रकर्तृत्वकी कल्पना है। अगर उक्त प्रशस्तियाँ प्रभाचन्द्रकर्तृक नहीं हैं तो समयको उत्तराधिवि ई० स० १०२०, और अगर प्रभाचन्द्रकर्तृक मानी जाय तो उत्तराधिवि ई० स० १०६५ है। यही दो पक्षोंका सार है। ५० महेन्द्रकुमारजीने प्रस्तावनाम उक्त प्रशस्तिओंको प्रामाणिक सिद्ध करनेके लिए जो विचारक्रम उपस्थित किया है वह मुझको ठीक मालूम होता है। मेरी रायमें भी उक्त प्रशस्तिओंको प्रक्षिप्त सिद्ध करनेकी कोई बलवत्तर दलील नहीं है। ऐसी दशमें प्रभाचन्द्रका समय विक्रमकी ११ वीं सदीके उत्तरार्धसे गारहवीं सदीके प्रथम पाद तक स्वीकार कर लेना सब दृष्टिसे सयुक्तिक है।

मैंने 'अकलङ्क ग्रन्थत्रय'के प्राक्कथनमें ये शब्द लिखे हैं—“अधिक संभव तो यह है कि समतभद्र और अकलङ्कके बीच साक्षात् विवाहा ही सम्बन्ध रहा है, क्योंकि समतभद्रकी कृतिके उपर सर्वप्रथम अकलङ्ककी ही व्याख्या है।” इत्यादि। आगेके कथनसे जब यह निर्णय सिद्ध हो जाता है कि समन्तभद्र पूज्यपादके बाद कभी हुए हैं। और यह तो सिद्ध ही है कि समन्तभद्रकी कृतिके ऊपर सर्वप्रथम व्याख्या अकलङ्ककी है, तब इतना मानना होगा कि अगर समतभद्र और अकलङ्कमें साक्षात् गुरु-शिष्य भार न भी रहा हो तब भी उनके बीचमें समयका कोई विशेष अन्तर नहीं हो सकता। इस दृष्टिसे समतभद्रका अस्तित्व विक्रमकी सातवीं शताब्दीका अमुक भाग हो सकता है।

मैंने अकलङ्कग्रन्थत्रयके ही प्राक्कथनमें विद्यानन्दकी आसपरीक्षा\* एव अष्टसहस्रीके स्पष्ट

\* श्रीमत्तत्त्वावशास्ताद्भुतसलिलनिधे बाला जो श्लोक आसपरीक्षामें हउममें इद्वरत्नोभवस्य\* एमा सामासिक पण ह। श्लोकका अर्थ या अनुमान करके समय उस सामासिक पदको जम्बुनिधि\* का समानाधिकरण विवक्षित मानकर विचार करना चाहिए। चाहे उसमें सामान्य इद्वरत्नाका उन्मत्त प्रभवस्या एमा तत्पुरुष किया जाय, चाहे 'इद्वरत्ना का उदभव उत्पत्ति हुआ ह जिसमेंसे' ऐसा बहुव्रीहि किया जाय। उभय दानमें वह अम्बुनिधिका समानाधिकरण विवक्षित ही ह। ऐसा करनेसे प्रोत्थानारम्भकाले\* यह पद ठीक अम्बुनिधिक साथ अपुनन्त रूपस मग्न हो जाता ह। और फलिनाथ यह निकलता ह कि तत्त्वावशास्त्ररूप समुद्रकी प्रोत्थान भूमिका बांधते समय जो स्तोत्र किया गया ह। इस वाक्याथमें ध्यान देनेकी मूल्य वस्तु यह है कि तत्त्वावशा प्रोत्थान बांधनेवाला अर्थात् उसकी उत्पत्तिका निमित्त बनानेवाला और स्तोत्रका रचयिता य दाना एक ह। जिम्ने तत्त्वावशास्त्रकी उत्पत्तिका निमित्त बनलाया उसीन उस निमित्तको बनानेके पहिले मोक्षमागस्य नेनारम\* यह स्तोत्र भी रचा। इस विचारके प्रकाशमें सर्वावसिद्धिकी भूमिका जो पत्रया उमे यह सन्नेह ही नहीं हो सकता कि 'वह स्तोत्र खुद पूज्यपाद का ह या नहीं'।



उन्लेशोंके आधार पर यह निष्कर्ष रूपसे प्रतीत होता है कि स्वामी समतमद्र पूज्यपादके आसन्न स्रोत्रके गीमासाकार हैं अतएव उनके उत्तरवर्ती ही हैं। मेरा यह विचार तो बहुत दिनोंके पहिले स्थिर हुआ था, पर प्रसंग आनेपर उसे सच्चेपमें अकल्पप्रचयके प्राक्कथनमें निष्पन्न किया था। प० गहेद्रकुमारजीने मेरे सक्षिप्त लेखका विशद और समल भाष्य करके प्रस्तुत भागकी प्रस्तावना (पृ० २५) में यह श्रमपूर्वक स्थिर किया है कि स्वामी समतमद्र पूज्यपादके उत्तरवर्ती हैं। अत्यन्त उन्लेशोंके मेरी सप्तभगीप्राणी दलीलको निर्णायक न मानकर विचारणीय कहा है। पर इस विषयमें पंडितजी तथा अन्य सज्जनोंसे मेरा इतना ही कहना है कि मेरी वह दलील विद्वानन्दके स्पष्ट उल्लेखके आधार पर किए गए निर्णायकी पोषक है। और उसे मैंने वहाँ रखत प्रमाणरूपसे पेश नहीं किया है। यद्यपि मेरे मनमें तो वह दलील एक स्वतंत्र प्रमाणरूपसे भी रही है। पर मैंने उसका उपयोग उस तरहसे वहाँ नहीं किया। जो जैन परम्परागत सस्कृत भाषाके प्रवेश, तत्कालके अध्ययन और पूर्ववर्ती आचार्योंकी टोटीसी भी महत्त्वपूर्ण कृतिक उल्लेखोंके द्वारा उपयोग किया जाना इत्यादि जैन मानसको जानता है उसे तो कभी संदेह हो ही नहीं सकता कि पूज्यपाद, दिग्गजके पद्यको तो निदिष्ट करें पर अपने पूर्ववर्ती या समकालीन समस्त भद्रकी श्रद्धाधारण कृतियोंका किसी अर्थमें स्पर्श भी न करें। क्या उचित है कि उमास्वातीके भाष्यकी तरह सन्यासिदिमें भी सप्तभगीका विशद निरूपण न हो? जो कि समतमद्रकी जैन परंपराको उस समयकी नई रचना रही। अस्तु। इसके सिवाय मैं और भी कुछ बातें विचारार्थ उपस्थित करता हूँ जो मुझे स्वामी समतमद्रको धर्मकारिक समकालीन माननेकी ओर झुकाती हैं—

मुझकी बात यह है कि अभी तक एमा कोई जैन आचार्य या उनका ग्रन्थ नहीं देखा गया जिसका अनुकरण ब्राह्मणों या बौद्धोंने किया हो। इसके विपरीत १३०० वर्षका तो जैन सस्कृत एव तर्कशास्त्रमयका ऐसा इतिहास है जिसमें ब्राह्मण एव बौद्ध परम्पराका कृतिकोंका प्रतिविम्ब ही नहीं, कभी कभी तो अक्षरश अनुकरण है। ऐसी सामान्य यासि बौध्दिकों को कारण हैं उनकी चर्चा यहाँ अप्रस्तुत है। पर अगर यह सामान्य यासिक धारणा भ्रम नहीं है तो धर्मकीर्ति तथा समस्तभद्रके बीच जो कुछ मत्स्यना भाष्य है उस पर ऐतिहासिकोंको विचार करना ही पड़ेगा। यायानतारम धर्मशास्त्र के द्वारा प्रयुक्त एक मात्र श्रमपूर्वक पदके बलपर सूक्ष्मदर्शी प्रो० यासोरीने सिद्धसेन दिग्गजरु समयके बारेमें सूचन किया था, उस पर विचार करनेवाले हम लोगों को समतमद्रकी कृतिकें पाये जाने वाले धर्मशास्त्रिके भाष्य पर भी विचार करना ही होगा।

पन्नी बात तो यह है कि दिग्गजके प्रमाणसमुच्चयगत मंगलश्लोकके उपर ही उसके यान्यायनरूपसे धर्मकीर्तिके प्रमाणवातिक का प्रथम परिच्छेद रचा है। जिसमें धर्मकीर्तिके प्रमाणरूपसे सुगनको ही स्थापित किया है। ठीक उसी तरह से समतमद्रने भी पूज्यपादके 'मोक्ष मार्गम्य नेतारम्' वाले मंगल पद्यको लेकर उसका उपर आसन्नगीमासा रची है और उसका द्वारा जैन तीर्थस्वरुको ही श्राद्ध प्रमाण स्थापित किया है। असल बात यह है कि कुमारिलने श्लोकवातिकमें चोदना-वेद कोई अन्तिम प्रमाण स्थापित किया, और 'प्रमाणभूताय जगद्विद्वैपिणे'

इस मंगलपथके द्वारा दिग्भागप्रतिपादित बुद्धप्रामाण्यको खण्डित किया। इसके जगत्तम धर्म-कीर्तिने प्रमाणवार्तिकके प्रथम परिच्छेदमें बुद्धका प्रामाण्य अन्ययोग्यवच्छेदरूपसे अपने ढंगसे सविस्तर स्थापित किया। जान पड़ता है इसी सरणीका अनुसरण प्रबलप्रज्ञ समन्तभद्रने किया। पूज्यपादका 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' शब्दा सुप्रमथ पथ उन्हें मिला फिर तो उनकी प्रतिभा और जग उठी। प्रमाणवार्तिकके सुगतप्रामाण्यके स्थानमें समन्तभद्रने अपनी नई सप्तमगी सरणीके द्वारा अययोग्यवच्छेदरूपसे ही अर्हत्-जिन को ही आसप्तमाण्य स्थापित किया। यह तो विचारसरणीका साम्य हुआ। पर शब्दका सादृश्य भी बड़े मार्के का है। धर्मकीर्तिने सुगतको— 'युक्त्यागमाभ्या विमृशन्' (प्रमाणवा० १।१३५) "वैफल्याद् वक्ति नानृतम्" (प्र० वा० १।१४७) कह कर अतिरुद्धभाषी कहा है। समन्तभद्रने भी "युक्तिशास्त्राविरोधिकाः" (आप्तमी० का० ६) कह कर जैन तीर्थंकर को सप्रज्ञ स्थापित किया है।

धर्मकीर्तिने चतुर्गर्भसत्यके उपदेशरूपसे ही बुद्धको सुगत-ययार्थरूप साबित किया है, स्वामी समन्तभद्रने चतुर्गर्भसत्यके स्थानमें स्याद्वादन्याय या अनेकान्तके उपदेशक रूपसे ही जैन तीर्थंकरको यथार्थरूप सिद्ध किया है। समन्तभद्रने स्याद्वाद-न्यायकी यथार्थता स्थापित करनेकी दृष्टिसे उसके विषयरूपसे अनेक दार्शनिक मुद्दोंको लेकर चर्चा की है, सिद्धसेनने भी सन्मतिके तीसरे काण्डमें अनेकान्तके विषयरूपसे उन्हीं मुद्दों पर चर्चा की है। सिद्धसेन और समन्तभद्रकी चर्चामें सुगत अन्तर यह है कि सिद्धसेन प्रत्येक मुद्देकी चर्चामें जय केवल अनेका त-दृष्टिकी स्थापना करते हैं तब स्वामी समन्तभद्र प्रत्येक मुद्दे पर सयुक्तिक सप्तमगी प्रणालीके द्वारा अनेका त दृष्टिका स्थापन करते हैं। इस तरह धर्मकीर्ति, समन्तभद्र और सिद्धसेनके बीचका साम्य-वैषम्य एक खास अभ्यासकी वस्तु है।

स्वामी समन्तभद्रको धर्मकीर्ति समकालीन या उनसे अनन्तरोत्तरकालीन होनेकी जो भेरी धारणा हुई है, उसकी पोषक एक और भी दलील निचारार्थ उपस्थित करता हूँ। समन्तभद्रके "द्रव्यपर्यापयोरैक्यम्" तथा "सद्भासरयाविशेषाच्च" (आप्तमी० ७१, ७२) इन दो पत्रोंके और प्रत्येक शब्दका स्पष्टन धर्मकीर्तिके टीकाकार अर्चटने किया है, जिसे प० महेंद्रकुमारजीने नववीं शताब्दीका लिगा है। अर्चटने हेतुविन्दु टीकामें प्रथम समन्तभद्रके कारिकाके अर्थोंको लेकर गद्यमें स्पष्टन किया है और फिर 'आह च' कहकर स्पष्टनपरक ४५ कारिकाएँ दी हैं। पंडित महेंद्रकुमारजीने अपनी सुनिश्चित प्रस्तावनामें (पृ० २७) यह समाधाना की है कि अर्चटोद्भूत हेतुविन्दुटीकागत कारिकाएँ धर्मकीर्तिखून होंगी। पण्डितजीका अभिप्राय यह है कि धर्मकीर्तिने ही अपने किसी प्रथम समन्तभद्रकी कारिकाओंका स्पष्टन पद्यमें किया होगा जिसका अन्तरण धर्मकीर्तिके टीकाकार अर्चट कर रहा है। पर इस विषयमें निर्णायक प्रमादा डालनेवाला एक प्रप और प्राम हुआ है जो अर्चटोय हेतुविन्दु टीकाकी अनुटीका है। इस अनुटीकाका प्रणेता है दुर्भेक मिथ, जो ११ वीं शताब्दीके आसरासका ब्राह्मण विद्वान् है। दुर्भेकमिश्र बौद्ध गार्धों का, खासकर धर्मकीर्तिके प्रार्थोंका, तथा उसके टीकाकारोंका गहरा अभ्यासी था। उसने अनेक

बौद्ध ग्रंथों पर 'यान्वाएँ' लिखी हैं। जान पड़ता है कि वह उस समय किसी विद्यासम्पन्न बौद्ध विहारमें अध्यापक रहा होगा। वह बौद्ध शास्त्रोंके बारेमें बहुत मार्मिकतासे और प्रमाणरूपसे लिखने वाला है। उसकी उक्त अनुटीका नेपालके प्रथमप्रहमेसे काँपी होकर भिन्नु राहुलजीके द्वारा मुक्तको मिली है। उसमें दुर्गेक मिश्रन स्पष्ट रूपसे उक्त ४५ कारिकाओंके बारेमें लिखा है कि—ये कारिकाएँ अर्चटकी ह। अत्र विचारना यह है कि समतभद्रकी उक्त दो कारिकाओंका शब्दश खण्डन धर्मकीर्तिके टीकाकार अर्चटने किया है न कि धर्मकीर्तिने। अगर धर्मकीर्तिके सामने सम तभद्रकी कोई वृत्ति होती तो उसकी उसके द्वारा समालोचना होनेकी विशेष सम्भाना थी। परऐसा हुआ जान पड़ता है कि जब समन्तभद्रने प्रमाणार्थिकमें स्थापित सुगतप्रमाण्यके विरुद्ध आत्ममीमानामें जैनतीर्थंकरका प्रमाण्य स्थापित किया और बौद्धमतका जोरोंसे निरास किया तब इसका जबाब धर्मकीर्तिके शिष्योंने देना शुरू किया। कर्णरुगोमीने भी जो धर्मकीर्तिके टीकाकार है, समन्तभद्रकी कारिका लेकर जैनमतका खण्डन किया है। ठीक इसी तरह अर्चटने भी सम तभद्रकी उक्त दो कारिकाओंका सविस्तर खण्डन किया है। ऐसी अवस्थामें म अभी तो इसी नतीजे पर पहुँचा हूँ कि कमसे कम सम तभद्र धर्मकीर्तिके पूर्वकालीन तो हो ही नहीं सकते।

ऐसी हालतमें विद्यानन्दकी आप्तपरीक्षा तथा अष्टसहस्रीवाली उक्तियांभी ऐतिहासिकतामें किसी भी प्रकारके सदेहका अवकाश ही नहीं है।

पंडितजीने प्रस्तावना (पृ० ३७) में तत्पार्थमाय्यके उपास्यतीप्रणीत होनेके बारेमें भी अ यदीय सदेहका उल्लेख किया है। मैं समझता हूँ कि सदेहका कोई भी आधार नहीं है। ऐतिहासिक सत्यकी गवेषणामें सांप्रदायिक संस्कारके वश होकर अगर सदेह प्रकट करना हो तो शायद निणय किसी भी वस्तुका कभी भी नहीं हो सकेगा, चाहे उसके बलवत्तर कितने ही प्रमाण क्यों न हों। अस्तु।

अन्तमें मैं पंडितजीकी प्रस्तुत गवेषणापूण और श्रमसाजित सवृत्तिका सचेहदयसे अभिनन्दन करता हूँ, और साथ ही जैन समाज, खासकर दिगम्बर समाजके विद्वानों और श्रीमानोंसे भी अभिनन्दन करनेका अनुरोध करता हूँ। विद्वान् तो पंडितजीकी सभा वृत्तियाका उदारभावसे अध्ययन-अध्यापन करके अभिनन्दन कर सकते हैं और श्रीमान्, पंडितजीकी साहित्यप्रणय शक्तियोंका अपने साहिबो रूप तथा भणारोद्धार आदि भायोंमें विलियोग करकर अभिनन्दन कर सकते हैं।

मैं पंडितजीमें भी एक अपना नम्र विचार कहे देता हूँ। वह यह कि आगे अत्र वे दार्शनिक प्रमेयोंको, खासकर जैन प्रमेयोंको केन्द्रमें रखकर उनपर तात्त्विक दृष्टिसे ऐसा विवेचन कर जो प्रमेय या मुग्य मुग्य प्रमेयके स्वरूपना निरूपण करनेके साथ ही साथ उसके सम्प्रभेमें सब दृष्टिओंमें प्रकाश डाल सके।

—सुखलाल सघवी

[प्रथम संस्करण—यापर आर्यभट्टल कालक]

हिन्दू विश्वविद्यालय काशी,

मूलपूर्व दशनाध्यापक गुजरात विश्वविद्यालय (वृहस्पतिनाद)

हिन्दू विश्वविद्यालय  
काशी।  
२५।१।६२

## ॥ सम्पादकीयम् ॥

मितम्बर सन् १९३८ में न्यायकुमुदचन्द्र का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ था। करीब २॥ वर्ष बाद उसका अग्रशिष्टांश दूसरे भाग के रूप में सम्पादित करके चित्त श्रानन्द से किसी अनिर्वचनीय उन्लाघता का अनुभव कर रहा है, सो इसलिए कि-इस भाग के सम्पादन का पूरा भार मुझे ही ढोना पड़ा है। इस भाग को प्रथम भाग से भी अधिक परिष्कृत तथा सामग्री-समृद्ध रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय प्रथमभाग के रसिक विद्वन्मण्डल को ही दिया जाना चाहिए। उन्हीं के सदभिप्रायों में इसके प्रेरणावीज निहित हैं।

इस भाग का सम्पादन सशोधन व०, आ० तथा श्र० प्रति के आधार से किया गया है। इनका परिचय प्रथम भाग के सम्पादकीय स्तम्भ में दिया जा चुका है। ओरियण्टल बुक एजेन्सी पूना के अध्यक्ष श्री देसाई ने कृपा करके न्यायकुमुदचन्द्र की एक अधूरी प्रति हमारे पास भेजी थी, उसका भी यथासंभव उपयोग किया है। इस भाग के टिप्पणों में प्रथम भाग में उपयुक्त ग्रन्थों के सिवाय प्रमाणवार्तिकखट्टिचि, प्रमाणवार्तिकखट्टिचिटीका, प्रमाणवार्तिक-मनोरथनिदिनीवृत्ति जैसे दुर्लभ ग्रन्थों के मूफ तथा हेतुबिडम्बनोपाय, हेतुनिन्दुटीका, मिद्धिविनि-ध्वयटीका, सत्यशासनपरीक्षा, न्यायनिनिधयनिररण जैसे अलम्प लिखित ग्रन्थों का भी उपयोग किया गया है। अर्थोद्घाटन करने वाले टिप्पण भी पर्याप्त मात्रा में लिखे गये हैं।

टिप्पणों में समस्त दर्शनशास्त्रों के प्रमुख ग्रन्थों से की गयी बहुमुखी तुलना से जिज्ञासु पाठकों को न केवल ग्रन्थ के हार्द को ही समझने में सहायता मिलेगी किन्तु प्रत्येक दार्शनिक मुद्दे के क्रमविकास का सारा इतिवृत्त दृष्टिपट पर अङ्कित हो सकेगा। वीरहिमाचल से निकली हुई अर्धभागवीमय स्वाध्याय-वाणी की धारा कितने उच्चावच दर्शनस्थानों से बहकर उन्हें सम बनाती है तथा कितनेक समतमद् सिद्धसेन पूज्यपाद मन्लवादि अकल्क जिनभद्र हरिभद्र विद्यानन्द जैसे तीर्थों पर मिलने वाले सहायकनदीकल्प दार्शनिकनादों के स्वच्छ युक्तिसलिल-सभार से समृद्ध बनती है। आज वह इस विकसित दार्शनिक रूप में एकान्तवाद के कदाग्रह से सतत जिज्ञासुओं को शीतल, समन्वयकारक, मानसअहिंसा के प्रतिरूप, अनेकान्तवाद-रूप जीवन से अन्ध आध्यायक सुपमा का सहज भाव से अनुभव कराती है। वीर हिमाचल की वह वाग्गी प्रभाचन्द्र के न्यायकुमुदचन्द्र की पूर्ण विकसित ज्योत्स्ना में आज काशी की गंगा की तरह धीर और उदात्तभावा से बह रही है। उसके उदर में कितनी ऐतिहासिक घटनाएँ द्रव्य में पर्योय या उद्दाम जवानी में लोल बालभावा की तरह छिपी पड़ी हैं। उसमें कितने उच्चावच शिलाखण्डकल्प दार्शनिकवाद आज रेत बनकर तदात्म हो रहे हैं। इस सब क्रमविकास की धारा का यत्किञ्चित् आभास इन टिप्पणों में की गयी बहुमुखी तुलना से

बौद्ध ग्रंथों पर याच्यार्यै लिखी है। जान पड़ता है कि वह उस समय किसी विद्यासम्पन्न बौद्ध विहारमें आयापक रहा होगा। वह बौद्ध शास्त्रोंके बारेमें बहुत मार्मिकतासे और प्रमाणरूपसे लिखने वाला है। उसकी उक्त अनुटीका नेपालके प्रथमग्रहमेंसे काँपी होकर भिक्षु राहुलजीके द्वारा मुम्बईको भिजी है। उसमें दुर्गेक मिश्रने स्पष्ट रूपसे उक्त ४५ कारिकाओंके बारेमें लिखा है कि—ये कारिकाएँ अर्चटकी हैं। अब विचारना यह है कि समतभद्रकी उक्त दो कारिकाओंका शब्दशः खण्डन धर्मकीर्तिके टीकाकार अर्चटने किया है न कि धर्मकीर्तिने। अगर धर्मकीर्तिके सामने सम तभद्रकी कौटुकृति होनी तो उसकी उसके द्वारा समालोचना होनेकी विशेष सम्भावना थी। परन्तु इसका जान पड़ता है कि जब समतभद्रने प्रमाणमार्तिककर्म स्थापित सुगतप्रामाण्यके विरुद्ध आसमीनासामें जैननीर्यकरका प्रामाण्य स्थापित किया और बौद्धमतका जोरासे निरास किया तब इसका जजान धर्मकीर्तिके शिष्योंने देना शुरू किया। वर्णनगोमीने भी जो धर्मकीर्तिना टीकाकार है, समन्तभद्रकी कारिका लेकर जैनमतका खण्डन किया है। ठीक इसी तरह अर्चटने भी सम तभद्रकी उक्त दो कारिकाओंका सविस्तर खण्डन किया है। ऐसी अवस्थामें मैं अभी तो इसी नतीजे पर पहुँचा हूँ कि कमसे कम समतभद्र धर्मकीर्तिके पूर्वकालीन तो हो ही नहीं सकते।

ऐसी हालतमें विचारदक्षी आप्तपरीक्षा तथा अष्टसहस्रीवाली उक्तियोंकी ऐतिहासिकताम किमी भी प्रकारके सन्देहका अवकाश ही नहीं है।

पंडितजीने प्रस्तावना (पृ० ३७) में तत्सार्थभाष्यके उमास्वातीप्रणीत होनेके बारेमें भी अत्यन्त सन्देहका उल्लेख किया है। मैं समझता हूँ कि सन्देहका कोई भा आधार नहीं है। ऐतिहासिक सत्यकी गवेषणामें सांप्रदायिक संस्कारके बश होकर अगर सन्देह प्रकट करना हो तो शायद निर्णय किसी भी वस्तुका कभी भी नहीं हो सकेगा, चाहे उसके बलवत्तर कितने ही प्रमाण क्यों न हों। अस्तु।

अतमें मैं पंडितजीका प्रस्तुत गवेषणापूर्ण और श्रमसाधित सङ्कतिना मध्वे हृदयसे अभिनन्दन करता हूँ, और साथ ही जैन समाज, खामरु दिगम्बर समाजके विद्वानों और श्रामानोंसे भा अभिनन्दन करनेका अनुरोध करता हूँ। विद्वान् तो पंडितजीकी सभी वृत्तियोका उदारभासे अध्ययन अथवा प्रपन करके अभिनन्दन कर सकते हैं और श्रीमान्, पंडितजीकी साहित्यपत्रण शक्तियोंका अपने साहित्योत्सर्ग तथा मण्यारोद्धार आदि काममें विलियोग करके अभिनन्दन कर सकते हैं।

मैं पंडितजीमें भी एक अपना नव विचार कहे देता हूँ। वह यह कि आगे अब वे दाशनिष्ठ प्रमेयोंको, खासकर जैन प्रमेयोंको केन्द्रमें रखकर उनपर तात्त्विक दृष्टिसे ऐसा विवेचन कर जो प्रथम या मुख्य मुख्य प्रमेयके स्वरूपना निरूपण करनेके साथ ही साथ उसके सम्प्रभमें सब दृष्टिओंमें प्रकाश डाल सके।

—सुखलाल सचची

हिन्दू विश्वविद्यालय  
काशी।  
२५/१२/४१

[प्रधान 'नल'शना-यापक आरियण्टल कालेज  
हिन्दू विश्वविद्यालय काशी  
भूलपूर्व दर्शनान्यापक गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद]

## ॥ सम्पादकीयम् ॥

सितम्बर सन् १९३० में न्यायकुमुदचन्द्र का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ था। करीब २॥ वर्ष बाद उसका अग्रशिष्टांश दूसरे भाग के रूप में सम्पादित करके चित्त आनन्द से किसी अनिर्वचनीय उल्लासता का अनुभव कर रहा है, सो इसलिए कि—इस भाग के सम्पादन का पूरा भार मुझे ही ढोना पड़ा है। इस भाग को प्रथम भाग से भी अधिक परिष्कृत तथा सामग्री-समृद्ध रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय प्रथमभाग के रसिक विद्व मण्डल को ही दिया जाना चाहिए। उन्हीं के सदभिप्रायों में इसके प्रेरणावीज निहित हैं।

इस भाग का सम्पादन सशोधन व०, आ० तथा श्र० प्रति के आधार से किया गया है। इनका परिचय प्रथम भाग के सम्पादकीय स्तम्भ में दिया जा चुका है। ओरियण्टल बुक एजेन्सी पूना के अध्यक्ष श्री देसाइ ने कृपा करके न्यायकुमुदचन्द्र की एक अधूरी प्रति हमारे पास भेजी थी, उसका भी यथावसर उपयोग किया है। इस भाग के टिप्पणों में प्रथम भाग में उपयुक्त ग्रन्थों के सिवाय प्रमाणनार्तिकस्ववृत्ति, प्रमाणनार्तिकवृत्तिटीका, प्रमाणनार्तिक-मनोरथनदिनीवृत्ति जैसे दुर्लभ ग्रन्थों के प्रूफ तथा हेतुविडम्बनोपाय, हेतुविन्दुटीका, सिद्धिविनि-श्वयटीका, सत्यशासनपरीक्षा, न्यायनिश्चयनिरण जैसे अलम्ब्य लिखित ग्रन्थों का भी उपयोग किया गया है। अर्थोद्घाटन करने वाले टिप्पण भी पर्याप्त मात्रा में लिखे गये हैं।

टिप्पणों में समस्त दर्शनशास्त्रों के प्रमुख ग्रन्थों से की गयी बहुमुखी तुलना से जिज्ञासु पाठकों को न केवल ग्रन्थ के हार्द को ही समझने में सहायता मिलेगी किन्तु प्रत्येक दार्शनिक मुद्दे के क्रमविकास का सारा इतिवृत्त दृष्टिपट पर अङ्कित हो सकेगा। वीरहिमाचल से निकली हुई अर्धमागधीमय स्याद्वाद-वाणी की धारा कितने उच्चाग्र दर्शनस्थानों से बहकर उन्हें सम बनाती है तथा कितनेक समतमद्भिदसेन पूज्यपाद मल्लनादि अकलरु जिनमद् हरिमद् विद्यानन्द जैसे तीर्थों पर मिलने वाले सहायकनदीकल्प दार्शनिकनादों के स्रष्टृ युक्तिमल्लि-समार से समृद्ध बनती है। आज वह इस विकसित दार्शनिक रूप में एकान्तवाद के कदाग्रह से सन्तस जिज्ञासुओं को शीतल, समन्वयकारक, मानसअहिंसा के प्रतिरूप, अनेकान्तवाद-रूप जीवन से अथ्य आध्यायक सुपमा का सहज भाग से अनुभव कराती है। वीर हिमाचल की वह वाग्म्या प्रभाचन्द्र के न्यायकुमुदचन्द्र की पूर्ण विकसित ज्योत्स्ना में आज काशी की गंगा की तरह धीर और उदात्तभास से बह रही है। उसके उदर में कितनी ऐतिहासिक घटनाएँ द्रव्य में पर्याय या उदाम जवानी में डोल बालभास की तरह छिपी पड़ी हैं। उसमें कितने उच्चाग्र शिलाखण्डकल्प दार्शनिकवाद आज रेत बनकर तदात्म हो रहे हैं। इस सब क्रमविकास की धारा का यत्किञ्चित् आभास इन टिप्पणों में की गयी बहुगामी तुलना से

हो सकेगा। इन उदात्त आचार्यों ने अपनी अहिंसारूपा अनेकांतदृष्टि से विरोधी दर्शनों की युक्तियों को भी उचित स्थान देकर उनका समवय किया है। दार्शनिक क्षेत्र में एकांत-मूलक चौका न लगाकर अनेकान्त का प्रकाश सर्वत्र फैलाया है और उसमें अहिंसा की जान स्वाद्धादृष्टि से सभी एकांतों का उचित आदर किया है। और इस तरह उन्होंने दार्शनिक वाग्निवादा का समवय कर अहिंसा का मार्ग प्रशस्त किया है तथा उन वादों का उचित फैसला करने का प्रयत्न किया है। आज तक कितनेक वाद उदित हुए, अस्त हुए, तथा कितने ध्यान भी अंतिम आस ले रहे हैं और वे किस पर अपना कितना और कैसा प्रभाव छोड़ गए हैं, यह सब कहानी इन टिप्पणों के परिशीलन से मानस पटल पर चित्रित होगी।

दर्शनशास्त्र स्थूलरूप से यदि मानसिक व्यापार का प्रदर्शन है तो इसका दूसरा रूप अनेकों वादों के उद्धान पतनों का अन्वयणवत् भी है। इसके परिशीलन से उन उन युगों की विद्वानोवृत्ति के साथ ही साथ अनेक सामाजिक प्रवृत्तियों का पूरा पूरा प्रतिबिम्ब मलकने लगता है। दर्शन प्रयोगों का तुलनात्मक अध्ययन तथा उसके रूपविभास की कहानी का तटस्थ-भाव से अन्वेषण, हमें इस नतीजे पर पहुँचाता है कि खण्डन मण्डन में सिद्धान्तों की समता और त्रिपमता के कारण एक वादी दूसरे वादी का सहकार प्राप्त करने में, उसकी युक्तियों का अपने ढंग से अनुसरण करने में कभी नहीं हिचकता था। प्रत्युत एसी त्रिनिमयपरम्परा के कारण ही आज दर्शनशास्त्र इस विभास को पा सता है। उदाहरणार्थ—नैयायिकमिमत सृष्टिकर्तृत्व के खण्डन में जहाँ जैन और बौद्धों के साथ मीमांसक भी अपना कथा लगाता है वहाँ मीमांसकमिमत वेद के अपौरुषेयत्व के खण्डन में नैयायिक, जैन और बौद्धों का साथ देता है। इसी तरह वैशेषिक आदि के खण्डन में साथ साथ चलने वाले बौद्ध और जैन भी, जहाँ कृषिकर्म का विचार होता है, वहाँ वादी और प्रतिवादी बन जाते हैं। उस समय वैशेषिक आदि यथासंभव जैन का खण्डन करने में बौद्धों का तथा बौद्धों का खण्डन करने में जैन का साथ देते हैं। पर जहाँ चार्वाक का खण्डन करने का प्रसंग है वहाँ वैदिक दर्शनों के साथ ही साथ बौद्ध और जैन भी पूरी तरह मेदान में डट जाते हैं। सर्वज्ञत्व के विचार में जैन बौद्ध तथा वैशेषिक आदि मिलकर मीमांसक का मुकाबिला करते हैं। पर जहाँ ब्राह्मणत्वजाति का विचार आता है वहाँ वैदिक बौद्ध और जैन ही एक ओर रह जाते हैं। इस तरह इस दार्शनिक महाभारत में सिद्धान्तों की समता और त्रिपमता के कारण परस्पर विरोधी वादी भी कहीं समानतन्त्रीय बनकर किसी तीसरे वादी का खण्डन करते हुये देखे जाते हैं तो कदा एक दूसरे का खण्डन करने में ही अपना बुद्धिकौशल दिखाते हैं। अतः त्रिभिन्न वादों की समालोचना के समय एक प्रयत्नकार का दूसरे प्रयत्नकार की युक्तियों का शब्द अर्थ और भाव का दृष्टि से अनुसरण करना सिद्धांतों के साम्य-वैषम्य का ही फल है। दार्शनिक क्षेत्र में यह कोई अनहोनी या अनुचित बात नहीं है क्योंकि यह विचार त्रिनिमय ही तो दर्शन शास्त्र के विकास का आधार होता है और इसी में उसकी प्राणप्रतिष्ठा है।

दर्शनशास्त्र का चरम उद्देश तो वस्तु के यथार्थ स्वरूप का यथार्थ परिज्ञान करके शान्ति लाभ करना है। स्वदर्शनप्रभावना, लाभ पूजा ख्याति प्राप्ति तो वादियों के चित्त की निजिगीथा के परिणाम हैं। सच्चा दार्शनिक इस स्तरके ऊपर रहता है और वस्तुतत्त्व की समीक्षा में तादस्थ रखने में ही अपनी बुद्धि का सदुपयोग मानता है।

**संस्करणपरिचय**—इस भाग का मुद्रण भी प्रथम भाग की तरह ही कराया गया है। विशेषता यह है कि टिप्पणों में ग्रन्थों के नाम मोटे टाइप में दे दिये हैं। जिस ग्रन्थ का पाठ लिखा है उस ग्रन्थ का ( - ) ऐसे टाइप के साथ पाठ के बाद सर्वप्रथम निर्देश किया है। अथ जिन ग्रन्थों के मात्र पृष्ठस्थल दिये हैं उन ग्रन्थों में वैसी ही आनुपूर्वी से पाठ का होना आवश्यक नहीं है। उन ग्रन्थों के नाम तो अर्थसादर्य, भावसादर्य और कहीं शब्दसादर्य मूलक तुलना के लिए दिये हैं। जो अर्थश्रेयक टिप्पण आ० प्रति के होंसिए में लिखे थे उनके आगे 'आ० टि०' ऐसा विभाजक निर्देश किया गया है। बाकी टिप्पण स्वयं सम्पादक द्वारा ही लिखे गये हैं। टिप्पण या मूल ग्रन्थ में जो शब्द टुटित थे या नहीं थे उनकी जगह सम्पादक ने जिन शब्दों को अपनी ओर से रखा है वे [ ] ऐसे ब्रेकिट में मुद्रित हैं। तथा जिन अशुद्ध शब्दों को सुधारने का प्रसङ्ग आया है वहाँ सम्पादक द्वारा कल्पित शुद्ध पाठ ( ) ऐसे ब्रेकिट में दिया गया है।

**भूमिका** में जो विषय प्रथम भाग की प्रस्तावना में चर्चित हो चुके हैं उनकी चर्चा यहाँ नहीं की है। आ० प्रभाचन्द्र के समय के विषय में ही कुछ विविष्ट सापथी के साथ ऊहापोह किया है। मैं अरुलङ्कट्टेय के समय विषयक अपने विचार सिंधी सीरीज में प्रकाशित "अरुलङ्कट्टेयग्रन्थग्रन्थ" की प्रस्तावना में लिख आया हूँ। अतः यहाँ आवश्यक होने पर भी पुनरुक्ति नहीं कर रहा हूँ।

**परिशिष्ट**—इस भाग में निम्नलिखित १२ परिशिष्ट लगाए गए हैं। जिनमें ऐतिहासिक या तात्त्विकदृष्टिवाले जिज्ञासु, ग्रन्थ के विषयों को अपनी दृष्टि से सहज ही रोज सकेंगे। १ लघुयक्षय के कारिकाव का अकाराधनुक्रम। २ लघुयक्षय और उसकी त्वनिवृत्ति में आए हुए अन्तरण वाक्यों की सूची। ३ लघुयक्षय और स्वनिवृत्ति के विशेष शब्दों की सूची, इन्में लाक्षणिक शब्द काले टाइप में दिए हैं। ४ लघुयक्षय की कारिकाएँ तथा विधृति के अश जिन दि० श्रे० आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में उद्धृत किए हैं या उन्हें अपने ग्रन्थों में शामिल किया है उन आचार्यों के उन ग्रन्थों की सूची। ५ न्यायसुमुदचन्द्र में आए हुए ग्रन्थान्तरो के उद्धरणों की सूची। ६ न्यायसुमुदचन्द्र में उपयुक्त न्यायों की सूची। ७ न्यायसुमुदचन्द्र में उल्लिखित ग्रन्थ और ग्रन्थकारों की सूची। ८ न्यायसुमुदचन्द्र में जिन शब्दों के लक्षण या निरुक्तियाँ की गई हैं उन लाक्षणिक शब्दों की सूची। ९ न्यायसुमुदचन्द्र के कुछ विशिष्ट शब्द। १० न्यायसुमुदचन्द्र के दार्शनिक शब्दों की सूची। ११ टिप्पणी में तथा मूलग्रन्थ



में आए हुए अन्तरणों के मूलस्थल निर्दिष्ट करने में जिन ग्रन्थों का उपयोग किया है उन ग्रन्थों के संस्करण आदि का परिचय, संकेत विवरण तथा यायकुमुद के जिन पृष्ठा पर उनका उपयोग किया है उन पृष्ठा की सूची।

शुद्धिपत्र-प्रूफ देखने में पर्याप्त सावधानी रखने पर भी दृष्टिदोष, यन्त्रपरिचालन आदि के कारण होने वाली खूब अशुद्धियों का निर्देश ही इस पत्रक में किया है।

आभार-प्रादरणीय प्रशासक प० सुखनाल जी ने अपनी सज्ज विचारसिद्धता से यथासंभव सपरामर्श दिये हैं तथा सिद्धिनिश्चयटीका, हेतुविद्वेषिका एव तत्त्वोपलक्षणसिद्ध आदि निरिक्त ग्रन्थों के उपयोग करने की पूरी पूरी सुनिवा दी है। ग्रन्थमाला के प्राण, निर्व्याज साहियोपासक यथायोग्यनामक प० नाथूराम जी प्रेमी ने प्रभाचन्द्र के समय में उपयुक्त होने वाली प्रशस्तियाँ, श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र नामक लेख की कच्ची नकल तथा अन्य आवश्यक सामग्री को बड़ा तत्परता एवं निरुत्सेक सहज भाव से जुटाया है। सब प्ले तो प्रेमीजी जैसे सद्बृत्त मन्त्री की सदाशयता से ही इस ग्रन्थ का इस रूप में सम्पादन, मुद्रण आदि हो सका है। त्रिपिटिकाचाय महापंडित राहुलसाहस्र्यायन ने प्रमाणार्थिकस्ववृत्ति, स्ववृत्तिटीका के दुर्लभ प्रूफ तथा प्रमाणार्थिकनालद्वार की सज्ज अलम्ब प्रेस कापी से यथेष्ट नोट्स लेने दिये हैं। सुहृद्द्वर प० वैनाशचन्द्र जी शास्त्री के सहयोग से ही प्रथम भाग की प्रेस कापी के समय इस भाग में मुद्रित अक्ष का प्रथममाचन हुआ था और व० प्रति के पाठान्तर लिए गये थे।

प० परमानन्दजी वीर सेवा मंदिर सरसाना ने प्राकृतपत्रसमूह की गाथाओं के स्थल खोज कर भेजे। ओरियण्टल बुक एजेंसी पूना के अध्यक्ष श्री देसाइ ने यायकुमुदचन्द्र की एक प्रति प्रिन्टि मेजी। भाण्डारकर प्राध्यापिकासरोधनमंदिर के अध्यक्ष ने हेतुविद्वेषनोपाय तथा जैनसिद्धांतभवन आरा के पुस्तकाध्यक्ष श्री के० भुजंगली शास्त्री ने सत्यशासनपरीक्षा ग्रन्थ के उपयोग करने का अनुरोध दिया तथा पत्रोत्तर दिए। श्रीमान् प्रो० हीरालाल जी, प्रो० ए० एन० उपाध्ये, प० जुगलकिशोर जी मुरतार, प० चैनसुखदास जी, प० छोगनाथ जी शास्त्री, प० वर्धमान शास्त्री, सा० र० प० हीरालाल शास्त्री, प० नाथूलाल जी आदि विद्वान्मण्डल ने यथासमय प्रशस्ति आदि के वाच्य ज्ञातय प्रश्नों के उत्तर दिये। पश्चात्तया प० भूपनारायण जी भाने प्रशस्ति श्लोकों की रचना करके सहायता की। श्री निबन्धमूर्ति जी एम० ए०, शास्त्री ने पाठान्तर लेने में तथा प्रियशिशु गुलामचन्द्र जी याय सादरतीर्थ और उदयचन्द्रजी ने परिशिष्ट बनाने में पूरी पूरी मदद की है। मैं उक्त सभी महाशयों का हार्दिक आभार मानता हूँ।

पौष शुक्ल पूर्णिमा  
मकरसंक्रांति  
शु० ति २४६७

सम्पादन—  
न्यायाचार्य महेन्द्रकुमार  
स्या० वि० वाशी।

## ॥ प्रस्तावना ॥

इस सस्करणमें मुद्रित मूलग्रन्थ लघीयखय और उसकी व्याख्या न्यायकुमुदचन्द्रका परिचय इसी ग्रन्थके प्रथमभागकी प्रस्तावनामें दिया जा चुका है। यहाँ ग्रन्थकारोंके विषय में ही कुछ लिखना इष्ट है। प्रस्तुतग्रन्थके कर्ता आचार्य प्रभाचन्द्र हैं। यह न्यायकुमुदचन्द्र अकलङ्कदेवके खनिवृत्तियुक्त लघीयखय प्रकरणकी विस्तृत व्याख्या है। अतः मूलकार अकलङ्कदेव और व्याख्याकार प्रभाचन्द्रके विषयमें लिखना ही यहाँ प्रस्तुत है। न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभागकी प्रस्तावनामें सुदृढ़ प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने इन दोनों आचार्योंके समय आदिके विषयमें यथेष्ट उद्घापोह किया है। मं अकलङ्कदेवके समयविषयक अपने विचार “अकलङ्क-ग्रन्थत्रय” की प्रस्तावनामें विस्तार के साथ लिख चुका हूँ। जिस-

“विक्रमार्कशकाब्दीयगतसप्तप्रभाजुपि ।

कालेऽकलङ्कयतिनो यौद्वैर्वादो महानभूत् ॥”

कारिकाके ‘विक्रमार्कशक’ शब्द पर विद्वानों का मतमें है कि ‘अकलङ्कदेव का शास्त्रार्थ विक्रमसंवत् ७०० में हुआ है, या शक संवत् ७०० में’ उसके विषयमें इतना और विशेष बक्तव्य है कि—‘विक्रमार्कशक’ शब्दका प्रयोग अनेक प्राचीन आचार्योंने ‘शकसंवत्’ के अर्थमें किया है। उदाहरणार्थ धनलाटीसांकी अतिम प्रशस्तिनी यह गाथा ही पर्याप्त है—

“अठतीसम्हि सतमण विक्रमरायंकिण सु-सगणामे ।

वासे सुतेरसीण भाणुविलग्गे धवलपक्खे ॥”

पट्टखडागम प्रथमभागकी प्रस्तावना (पृ० २५-४५) में प्रो० हीरालालजीने उद्घापोहके अनंतर यह सिद्ध किया है कि उक्त गाथा में वर्णित ‘विक्रमरायकिण सुसगणामे’ पदसे ‘शकसंवत्’ ही प्राबल हो सकता है। इसी प्रस्तावना (पृ० ४०) में प्रो० सा० ने अपने मतके समर्थनकेलिए त्रिलोकसारके (गा० ८५०) टीकाकार श्रीमाधवचन्द्रत्रेविधका यह अन्तरण दिया है—“श्रीवीरनाथनिवृत्तेः सकाशात् पञ्चोत्तरपद्मवर्षाणि ( ६०५ ) पञ्चमासयुतानि गत्वा पश्चात् ‘विक्रमाङ्कशकसंवत्’ जायते ” इससे अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि शकसंवत्को भी ‘विक्रमाङ्कशक’ लिखन की प्राचीन परम्परा रही है और इसीलिए ‘शकसंवत्’ का उल्लेख भी ‘विक्रमाङ्कशकसंवत्’ पदसे किया जाता था। मैंने “अकलङ्क-ग्रन्थत्रय” की प्रस्तावनामें अन्वय प्रमाणोंके आधारसे विक्रमार्कशकाब्दका शक संवत् ७०० अर्थ करके अकलङ्कदेवका समय ई० ७२० से ७८० सिद्ध किया है। अस्तु ।

## आ० प्रभाचन्द्र

आ० प्रभाचन्द्रके समयनिर्णयक इस निबन्धको वर्गीकरणके ध्यानसे तीन स्थूल भागों में बाँट दिया है—१ प्रभाचन्द्रकी इतर आचार्यों से तुलना, २ समयविचार, ३ प्रभाचन्द्र के ग्रन्थ ।

### १ प्रभाचन्द्र की इतर आचार्यों से तुलना—

इस तुलना मनु भागको प्रत्येक परम्पराके अपने क्रमविकासको लक्ष्यमें रखकर निम्नलिखित उपभागमें क्रमशः विभाजित कर दिया है । १ वैदिक दर्शन—वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण, महाभारत, पैपाकरण, साययोग, वैशेषिक न्याय, पूर्वभाषासा, उत्तरमीमांसा । २ अवैदिक दर्शन—बौद्ध, जैन दिग्म्बर, श्वेताम्बर ।

#### ( वैदिकदर्शन )

**वेद और प्रभाचन्द्र**—आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्डमें पुरातनवेद ऋग्वेदसे “पुरुरूप एवेद यद्भूत” “हिरण्यगर्भं समवर्तनाग्ने” आदि अनेक वाक्य उद्धृत किये हैं । कुत्र्थ अन्वय वेदनाम्य मी न्यायकुमुदचन्द्र ( पृष्ठ ७२६ ) में उद्धृत हैं—“प्रजापति सोम रानानमपसृचत्, ततस्त्वयो वेदा अन्वसृज्यत” “ऋ वेत्कर्त्तारम्” आदि । न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ७७०) में “आदौ ब्रह्मा मुखतो ब्राह्मणं समर्च, बाहुभ्या धृत्रियसुरूभ्या वेदय पद्भ्या शूद्रम्” यह वाक्य उद्धृत है । यह ऋग्वेद के “ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्” आदि सूक्तकी छाया रूप ही है ।

**उपनिषद् और प्रभाचन्द्र**—आ० प्रभाचन्द्रने अपने दोनों न्यायग्रन्थोंमें ब्रह्माद्वैतवाद तथा अन्य प्रकरणोंमें अनेकों उपनिषदों के वाक्य प्रमाणरूपसे उद्धृत किये हैं । इनमें बृहदारण्यकोपनिषद्, छांदोग्योपनिषद्, कठोपनिषद्, श्वेताम्बतरूपनिषद्, तैत्तिर्युपनिषद्, ब्रह्मविद्-उपनिषद्, रामतापि-उपनिषद्, जात्रालोपनिषद् आदि उपनिषद् मुख्य हैं । इनके अन्तरण अन्तरणसूची में दखना चाहिये ।

**स्मृतिरार और प्रभाचन्द्र**—महर्षि मनुजी मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यकी याज्ञवल्क्यस्मृति प्रसिद्ध हैं । आ० प्रभाचन्द्रने वारकसाहस्यवादके पूज्यरु ( प्रमेयक० पृ० ८ ) में याज्ञवल्क्य-स्मृति (२।२२) का “लिखित साक्षिणो भुक्ति ” वाक्य कुछ शाब्दिक परिवर्तनके साथ उद्धृत किया है । न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ५७५ ) में मनुस्मृतिका “अनुचन् विहित कर्म” श्लोक उद्धृत है । न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ६३४ ) में मनुस्मृतिके “यद्यार्थं पश्य सृष्टा ” श्लोकका “न हिंस्यात् सवा भूतानि” इस कर्मपुराणके वाक्यसे निरोध दिखाया गया है ।

**पुराण और प्रभाचन्द्र**—प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें मन्स्य पुराणका “प्रतिमन्वतरञ्चैव श्रुतिरन्या त्रिधीयते ।” यह श्लोक उद्धृत मिला है । न्याय-कुमुदचन्द्र ( पृ० ६३४ ) में कर्मपुराण ( अ० १६ ) का “न हिंस्यात् सर्वा भूतानि” वाक्य प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है ।

व्यास और प्रभाचन्द्र—महाभारत तथा गीताके प्रणेता महर्षि व्यास माने जाते हैं। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ५८०) में महाभाग वनपर्व (अ० ३०।२८) से “अद्भो जन्तुरनीशो-  
ज्वमात्मन सुगन्धुःखयो ” श्लोक उद्धृत किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३६८ तथा  
३०६) में भगवद्गीताके निम्नलिखित श्लोक ‘व्यासचन’ के नामसे उद्धृत हैं—“ययेवासि  
ममिद्वोऽग्नि ” [गीता ४।३७] “द्वानिमौ पुरुषो लोके, उत्तमपुरुषस्त्वन्य ” [गीता  
१५।१६, १७] इसी तरह न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३५८) में गीता (२।१६) का “नाभापो  
विद्यते सत ” अश प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है।

पतञ्जलि और प्रभाचन्द्र—पाणिनिसूत्रके ऊपर महाभाष्य लिखनेवाले ऋषि पतञ्जलि का  
समय इतिहासकारोंने ईसवी मनुसे पहिले माना है। आ० प्रभाचन्द्रने जैनेद्रव्याकरणके साथ  
ही पाणिनित्वाकरण और उसके महाभाष्यका गभीर परिशीलन और अध्ययन किया था। वे  
शब्दाम्भोजभास्करके प्रारम्भमें स्वयं ही लिखते हैं कि—

“गन्तानामनुशासनानि निगिष्टान्याध्यायताऽहर्निशम्”

आ० प्रभाचन्द्रका पातञ्जलमहाभाष्यका तलस्पर्शी अध्ययन उनके शब्दाम्भोजभास्कर-  
में पद पर अनुभूत होता है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २७५) में वेदाकरणोंके मतसे गुण  
शब्दका अर्थ बताते हुये पातञ्जलमहाभाष्य (५।१।११६) से “यन्य हि गुणस्य भावात् शब्दे  
द्रव्यविनिवेश ” इत्यादि वाक्य उद्धृत किया है। शब्दोंके साधुत्वासाधुत्व-विचारमें व्याकरणकी  
उपयोगिताका समर्थन भी महाभाष्यकी ही शैलीमें किया है।

भर्तृहरि और प्रभाचन्द्र—ईसवी ७ वीं शताब्दीमें भर्तृहरि नामके प्रसिद्ध वेदाकरण  
हूए हैं। इनका वाक्यपदीय ग्रन्थ प्रसिद्ध है। ये शब्दाद्वैतदर्शनके प्रतिष्ठाता माने जाते हैं।  
आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें शब्दाद्वैतवादके पूर्वपक्षको वाक्यपदीय  
की अनेक कारिकाओंको उद्धृत करके ही परिपुष्ट किया है। शब्दोंके साधुत्व असाधुत्व विचार  
में पूर्वपक्षका खुलासा करनेके लिए वाक्यपदीयकी सरणीका पर्याप्त सहारा लिया है। वाक्य-  
पदीयके द्वितीयकाण्डमें आए हुए “आख्यानगन्त ” आदि दशविध या अष्टविध वाक्यलक्षणोंका  
मविस्तर स्पष्टन किया है। इसी तरह प्रभाचन्द्रकी कृति जैनेन्द्रन्यामके अनेक प्रकरणोंमें वाक्य-  
पदीयके अनेक श्लोक उद्धृत मिलते हैं। शब्दाद्वैतवादके पूर्वपक्षमें वैखरी आदि चतुर्विधवाणीके  
स्वरूपका निरूपण करते समय प्रभाचन्द्रने जो “स्थानेषु निवृत्ते वायौ” आदि तीन श्लोक  
उद्धृत किये हैं वे मुद्रित वाक्यपदीयमें नहीं हैं। टीकायें उद्धृत हैं।

व्यासभाष्यकार और प्रभाचन्द्र—योगसूत्र पर व्यास-ऋषि का व्यासभाष्य प्रसिद्ध है।  
इनका समय इसकी पश्चिम शताब्दी तक समझा जाता है। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र  
(पृ० १०६) में योगदर्शनके आारमें ईश्वरवादका पूर्वपक्ष करते समय योगसूत्रोंके अनेक उद्धरण  
दिए हैं। इनके विवेचनमें व्यासभाष्यकी पर्याप्त सहायता ली गई है। अग्निमादि अष्टविध

ऐश्वर्यका वर्णन योगभाष्यसे मिलता जुलता है। 'यायकुमुदचद्रमें योगभाष्यमें "नतय पुण्यस्य स्वरूपम्" "चिच्छक्तिरपरिणामिचप्रतिसङ्ग्रामा" आदि वाक्य उद्धृत किये गये हैं।

ईश्वरकृष्ण और प्रभाचन्द्र-ईश्वरकृष्णकी माण्यसतति या सात्यकारिका प्रसिद्ध है। इनका समय ईसाकी दूसरी शताब्दी समझा जाता है। माण्यदर्शनके मूलसिद्धान्तोंका साण्यकारिकामें सक्षिप्त और स्पष्ट विवेचन है। आ० प्रभाचन्द्रने साण्यदर्शनके पूर्वपक्षमें सर्वत्र सात्यकारिकाओंका ही विशेष उपयोग किया है। यायकुमुदचद्रमें साण्योंके कुछ वाक्य ऐसे भी उद्धृत हैं जो उपलब्ध सात्यग्रथोंमें नहीं पाये जाते। यथा-"बुद्धयध्ययसितमय पुण्य श्रेतयते" "आसगप्रत्यदेजा बुद्धि" "प्रतिनियन्देशा वृत्तिरभिव्ययेत" "प्रकृतिपरिणाम शुक्ल कृष्णद्वय कर्म" आदि। इससे ज्ञात होता है कि ईश्वरकृष्णकी कारिकाओंके सिवाय कोई अन्य प्राचीन साण्य ग्रन्थ प्रभाचन्द्रके सामने था जिससे ये वाक्य उद्धृत किये गए हैं।

माठराचार्य और प्रभाचन्द्र-सात्यकारिकाकी पुरातन टीका माठरवृत्ति है। इसके रचयिता माठराचार्य ईसाकी चौथी शताब्दीके विद्वान् समझे जाते हैं। प्रभाचन्द्रने माण्यदर्शनके पूर्वपक्षमें सात्यकारिकाओंके साथ ही साथ माठरवृत्तिको भी उद्धृत किया है। जहाँ कहीं सात्यकारिकाओंकी व्याख्याका प्रसन्न आया है, माठरवृत्तिने ही आधारमें व्याख्या की गई है।

प्रशस्तपाद और प्रभाचन्द्र-कणादसूत्र पर प्रशस्तपाद आचार्यका प्रशस्तपादभाष्य उपलब्ध है। इनका समय ईसाकी पाँचवीं शताब्दी माना जाता है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रशस्तपादभाष्यकी "अथ धर्मविना धर्मिणामेव निर्देश कृत" इस पंक्तिको प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ५३१) में 'पदायप्रवेशकग्रन्थ' के नामसे उद्धृत किया है। यायकुमुदचद्र तथा प्रमेयकमलमार्तण्ड दोनोंकी वर्णनार्थपरीक्षाया यात्र पूर्वपक्ष प्रशस्तपादभाष्य और उनकी पुरातनटीका 'योगवृत्ति'में ही स्पष्ट किया गया है। प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० २७०)के ईश्वरवादके पूर्वपक्षमें 'प्रशस्तमतिना च' लिखकर "सर्गादौ पुरुषाणा व्यग्रहारो" इत्यादि अनुमान उद्धृत है। यह अनुमान प्रशस्तपादभाष्यमें नहीं है। तत्त्वसंग्रह की पञ्जिका (पृ० ४३) में भी यह अनुमान प्रशस्तमतिके नामसे उद्धृत है। ये प्रशस्तमति, प्रशस्तपादभाष्यकारसे भिन्न मालूम होते हैं, पर इनका कोई ग्रन्थ अद्यावधि उपलब्ध नहीं है।

व्योमशिव और प्रभाचन्द्र-प्रशस्तपादभाष्यके पुरातन टीकाकार आ० व्योमशिवकी व्योमवृत्ति टीका उपलब्ध है। आ० प्रभाचन्द्रने अपने दोनों ग्रन्थोंमें, न केवल वैशेषिकमतके पूर्वपक्षमें ही 'योगवृत्ति'को अपनाया है किन्तु अनेक मतोंके खडनमें भी इसका पर्याप्त अनुसरण किया है। यह टीका उनके विशिष्ट अध्ययनकी वस्तु थी। इस टीकाके तुलनात्मक अर्थोंको यायकुमुदचद्रकी निष्पत्तीमें देखना चाहिए। आ० व्योमशिवके समयके नियममें विद्वानोंका मतमेद चला आ रहा है। डॉ० कीर इन्हें नवमशताब्दी का कहते हैं तो डॉ० दासगुप्ता इन्हें छठी शताब्दीका। मैं इनके समयका कुछ विस्तार से विचार करता हूँ-

राजशासन के प्रशस्तपादभाष्यकी 'कदरी टीकाकी पत्रिका में प्रशस्तपादभाष्यकी चार टीकाओं का इस क्रम से निर्योक्त किया है—सबप्रथम व्योमवती' (व्योमशिवाचार्य), तत्पश्चात् 'यायकदली (श्रीधर), तदनन्तर 'किरणायली (उदयान) और उसके बाद 'लीलावती' (श्रीवत्साचार्य)। ऐतिहासिक लोचनसे भी राजशेखरका यह निर्देशन सगत जान पड़ता है। यहाँ हम व्योमवतीके रचयिता व्योमशिवाचार्यके विषयमें कुछ विचार प्रस्तुत करते हैं।

व्योमशिवाचार्य का धर्म। अपनी गुरु परम्परा तथा व्यक्तिगतके विषयमें स्वयं उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा। पर रणपद्मपुराण, वत्समान नारोदग्राम की एक वाणी प्रशस्ति श्लोक में इनकी गुरुपरम्परा तथा व्यक्तिगत विषयके बहुतेरी बातें मालूम होती हैं, जिनका कुछ सार इस प्रकार है—

“कर्मव्यवहारविवासी मूनीद्वये शर्ममठिकाधिपति नामक गिष्य धे, जाके तेरग्विपात्र तेरग्विपालने आमदकतीयनाथ और आमदकतीयनाथके पुरन्दरगुरु नामके अतिशय प्रतिभाशाली तांत्रिक शिष्य हुए। पुरन्दरगुरुने कोई गद्य अवश्य लिखा है क्योंकि उसी प्रशस्ति शिलालेखमें अत्यन्त स्पष्टतासे यह उल्लेख है कि—“इनके वचनावा खण्डन आज भी बड़े बड़े तर्काधिक नहीं कर सकते।”<sup>†</sup> स्याद्धादरत्नाकर आदि ग्रन्थमें पुरन्दरके नामसे कुछ वाक्य उद्धृत मिलते हैं, सम्भव है वे पुरन्दर के ही हों। पुरन्दरगुरुके अर्वाचिनर्मा जेन्द्रपुरसे अपने दत्तको ले गया। अर्वाचितमाने इन्हें अपना राज्यभार सौंप कर गवदीक्षा धारण का और इस तरह अपना जन्म सफल किया। पुरन्दरगुरुन मत्तमयूरमें एक बड़ा मठ स्थापित किया। दूसरा मठ रणपद्मपुरमें भी इन्होंने स्थापित किया था। पुरन्दरगुरुका कवचशिव और कवचशिवका सदाशिव नामक शिष्य हुआ, जो कि रणपद्मपुरके तापसाधन में तप साधन करता था। सदाशिवका शिष्य हृदयेश और हृदयेशका शिष्य व्योमशिव हुआ, जोकि अच्छा प्रभावशाली, उत्कट प्रतिभासम्पन्न और समर्थ विद्वान् था।<sup>‡</sup> व्योमशिवाचार्यके प्रभावशाली होनेका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इनके नामसे ही व्यासमन्त्र प्रचलित हुए थे।<sup>‡</sup> ये सान्प्रदानपरायण, मनु मितभाषी विनय नय-सयमके अदभूत स्थान तथा अप्रतिम प्रतापशाली थे। इन्होंने रणपद्मपुरका तथा रणपद्ममठका उद्धार एवं सुधार किया था और वहाँ एक शिवमन्दिर तथा वापीका भी निर्माण कराया था। इसी वापीपर उक्त प्रशस्ति खुदी है।

इनकी विद्वत्ताके विषयमें शिलालेखके ये श्लोक पर्याप्त हैं—

‘सिद्धातेषु महान एष नियता यायेऽनपादो मुनि । गम्भीरे च कणाशिनस्तु कणभुक्दासने श्रुतो जमिनि ॥ साध्वेऽनन्तमति स्वय स कपिलो लोकायते सगुरुः । बुद्धो बुद्धमते जिनाकिनपु जिन को वाप्य नाय कृती ॥ यदभूत् यदनागत यच्छुना किञ्चित्कवचद्वय (त) ते । सम्यग्दानसम्पन्ना तदखिल पश्यन् प्रमेय महत् ॥ सवन्न स्फुटमय कोपि भगवानय क्षिती स(ग)कर । घत्ते किन्तु न दान्धीविषमदुग्धी वपु केवलम् ॥

इन श्लोकोंमें बतलाया है कि ‘व्योमशिवाचार्य शर्वसिद्धान्तमें स्वयं शिव, यायमें अक्षरान्, वायिक वास्त्रमें कणा शीमासामे जमिनि, साम्यमें कपिल, चत्वारिंशत्स्त्रमें बृहस्पति, बुद्धमतेमें बुद्ध तथा जिनमनमें स्वयं जिनके समान थे। अधिक क्या, अतीतानागतवत्समानवर्ती यावन् प्रमयोकी अपनी सम्यग्दानसम्पत्तिसे स्पष्ट स्थान जानने वाले सवज्ञ थे। और ऐसा मालूम होता था कि मात्र विषमन (ततीयन) तथा रीद्रागीर का धारण किए बिना वे कभी पर दूसरे गुरु भगवान् ही धरते थे। इनके गणने, व्योमगम्भू ध्याये, गगनशशिमील आदि भी नाम थे।

शिलालेखके आधारसे समय-व्योमशिवके पूर्ववर्ती चतुर्थगुरु पुरन्दरका अवतिवर्मा राजा अपना नगरमें बनाया था। अवन्तिवर्माने चौदोके सिकने पर “विजितावनिरवनिपति श्री अवन्तिवर्मा विव

‡ प्राचीन खमाला द्वि० भाग शिलालेख न० १०८ ।  
 † “प्रसाधुनापि विदुर्धरितृ यानि व्याहृत्ये न वचन मयमागच्छन्ति ॥”  
 ‡ “अथ व्योमवदान्त्रिंशत्तर्चनाभ्यानाभिधानस्य च । —वापीप्रशस्ति



व्योमवती टीकाका उल्लेख करनेवाले परवर्ती प्रयकारामें शान्तरक्षित, विद्यानन्द, जयन्त, वाचस्पति, सिद्धपि, श्रीधर, उदयन, प्रभाचन्द्र, वाशिराज, वाशिवसूरि, हेमचन्द्र तथा गुणरत्न, विशारूपसे उल्लेखनीय ह ।

शान्तरक्षितने वैशेषिक सम्मन षट्पदाथोंकी परीक्षा की ह । उसमें वे प्रशस्तपादके साथ ही साथ शंकरस्वामी नामक नयाधिकारक मत भी पूवपक्षरूपसे उपस्थित करते ह । परन्तु जब हम ध्यानसे देखते ह तो उनमें पूवपक्षमें प्रशस्तपादव्योमवतीके शब्द स्पष्टतया अपनी छाप मारते हुए नजर आते ह । (तुलना-संलग्नग्रह पृ० २०६ तथा व्योमवती पृ० ३४३ ।) तत्त्वग्रहणकी पत्रिका (पृ० २०६) में व्योमवती (पृ० १२९) के स्वकारणसमवाय तथा सत्तासमवायरूप उत्पत्तिके लक्षणका उल्लेख ह । शान्तरक्षित तथा उनके गिष्य कमलशीलका समय ई० बी आठवीं गताब्दिका पूर्वार्द्ध ह । (देखो, तत्त्वसंग्रहकी भूमिका पृ० २८१।)

विद्यानन्द आचार्यने अपनी आप्तपरीक्षा (पृ० २६) में व्योमवती टीका (पृ० १०७) से समवायके लक्षणकी समस्त पदवृत्त्य उद्धृत की ह । 'द्रव्यत्वोपलक्षित समवाय द्रव्यका लक्षण ह' व्योमवती (पृ० १४९) के इस मन्तव्यकी समालोचना भा आप्तपरीक्षा (पृ० ६) में की गई ह । विद्यानन्द ईसाकी नवम शताब्दीके पूर्वार्द्धवर्ती ह ।

जयन्तकी यायमजरी (पृ० २३) में व्योमवती (पृ० ६२१) के अनयजत्वात् स्मृतिको अप्रमाण माननेके सिद्धान्तका समयन किया ह, साथही पृ० ६५ पर व्योमवती (पृ० ५५६) के परविशेषणपक्षकी स्वीकारकर कारकसामग्रीकी प्रमाणमाननेके सिद्धान्तका अनुसरण किया ह । जयन्तका समय हम आगे ईसाकी ९वीं गताब्दीका पूर्वभाग सिद्ध करग ।

वाचस्पति मिश्र अपनी तात्पर्यटीकामें (पृ० १०८) प्रत्यक्षलक्षणसूत्रमें 'यत्' पदका अध्याहार करते ह तथा (पृ० १०२) लिंगपरामर्श पानत्रो उपादानबुद्धि कहते ह । व्योमवतीटीकामें (पृ० ५५६) 'यत्' पदका प्रयोग प्रत्यक्षलक्षणमें किया ह तथा (पृ० ५६१) लिंगपरामर्श ज्ञानको उपादानबुद्धि भी कहा ह । वाचस्पति मिश्रका समय ८४१ A D ह ।

प्रभाचन्द्र आचार्यन मांशिनिरूपण (प्रमेयकमलमातण्ड पृ० ३०७) श्रालम्बरूपनिरूपण (याय-कुमुदचन्द्र पृ० ३४९, प्रमेयकमलमा० पृ० ११०) समवायलक्षण (यायकुमु० पृ० २९५, प्रमेयकमलमा० पृ० ६०४) आदिमें व्योमवती (पृ० २०, ३९३, १०७) का पर्याप्त सहारा लिया है । स्वमेवदेहनसिद्धिमें व्योमवतीके शान्तरक्षितज्ञानवात्का उद्धरण भी किया ह ।

श्रीधर तथा उदयनाचार्यने अपनी कदली (पृ० ४) तथा विरणावन्तीमें व्योमवती (पृ० २० व) के 'नवानामात्मविशेषगुणाना सत्तानोद्भयतमुच्छ्रित्यते सत्तानत्वात् यथा प्रदीपमन्तान ।' इस अनुमानका 'तानिका' तथा आवाया' शब्दके साथ उद्धृत किया ह । कदली (पृ० २०) में व्योमवती (पृ० १४९) के 'द्रव्यत्वापरलक्षित समवाय द्रव्यत्वेन योम' इस मतकी आलोचना की गई है । इसी तरह कदली (पृ० १८) में व्योमवती (पृ० १२९) के 'अनित्यत्व तु प्रागभावप्रध्वंसभावोपलक्षिता वस्तुसत्ता ।' इस अनित्यत्वके लक्षणका खण्डन किया है । कदली (पृ० २००) में व्योमवती (पृ० ५९३) के 'अनुमानलक्षणमें विद्याक सामायलक्षणकी अनुवृत्ति करके सशरीरिका व्यवच्छेद करना तथा स्मरणक व्यवच्छेदके लिये द्रव्यादिपु उपलक्षित' इस पदका अनुवृत्तन करना इस दो मताना समालोचन किया ह । कदलीकार श्रीधरका समय कदलीके अन्तमें दिए गए "अधिकदशोत्तरनवशतगताब्द" पदके अनुसार ९१३ शक अर्थात् ९९१ ई० ह । श्रीधर उदयनाचार्यका समय ९४४ ई० ह ।

वाशिराज अपने यायविनिश्चय विवरण (लिखित पृ० १११ B तथा १११ A) में व्योमवतीसे पूवपक्ष करते ह । वाशिवसूरि अपने स्मादादरत्नाकर (पृ० ३१८ तथा ४१८) में पूवपक्षरूपसे व्योमवतीका उद्धरण देते ह ।

सिद्धपि न्यायावतारवृत्ति (पृ० ९) में, हेमचन्द्र प्रमाणमीमांसा (पृ० ७) में तथा गुणरत्न अपनी पञ्चदानसमुच्चयकी वृत्ति (पृ० ११४ A) में व्योमवतीके प्रत्यक्ष अनुमान तथा क्षाण्य रूप



प्रमाणत्रिविधी काधिकपरम्पराका पूर्वपक्ष करते हैं। इस तरह व्योमवतीरी मभिन्त तुम्हारे शात हो सकता है कि व्यामवतीका जनप्रयोगे विगिष्ट सम्भव है।

इस प्रकार हम व्योमनिवका समय गिलाख तथा उनके इधरे उल्लाके व्यापारस ईसी सातरी गताकीका उत्तर भाग अनमान करते हैं। यदि य आठवा या नवमी गताका विद्वान होने तो अपने मतसामयिक शकुराचाय और शान्तरदिन जमे विद्वानाका उत्तर अवश्य करते। हम दखन हैं नि- व्योमशिष्य गारखेगान्धवा उल्ला भी नहीं करते तथा विषयगत नत्रियम अलौकिक वरूपति, स्मृतिप्रमाण आनिका खण्डन करन पर भी शकुरक अनिवचनायायन्यानिवाका नाम भी नहीं लेते। व्योम निव जैसे बहुर्युत एव सकडा मतमनातरोसा उल्ला करनबकि आचायक द्वारा किमी भी अष्टम गताकी या नवम गताकीवर्ती आचायके मतका उल्लेख न किया जाना हा उनके सप्तम गताकीवर्ती होनेका प्रमाण है।

अन डॉ० कीयका गृहे नवमा गताकीका विद्वान लिखना तथा डॉ० एम० एन० दासगुप्ताका इदृ छठा गताकीका विद्वान् बतलाना ठीक नहीं जचना।

**श्रीधर और प्रभाचन्द्र**—प्रशस्तपाद भाष्यकी टीकाओंमें 'यायऋदली टीकाका मी अपना श्रद्धा स्थान है। इसकी रचना श्रीधरने शक ११३ ( इ० १११ ) में की थी। श्रीधराचार्य अपने पूर्ण टीकाकार व्योमशिष्यका शब्दानुसरण करते हुए भी उनसे मतभेद प्रदर्शित करनेमें नहीं चूकते। 'व्योमशिष्य बुद्धादि विशेष गुणोंकी सततिके अल्पतोच्छेदको मोक्ष कहते हैं और उसकी सिद्धिके लिए 'सतानत्वात्' हेतुका प्रयोग करते हैं (प्रश० व्यो० पृ० २०क)। श्रीधर आत्मातिक अहितनिवृत्तिको मोक्ष मानकर भी उसकी सिद्धिके लिए प्रयुक्त होनेवाले 'सतानत्वात्' हेतुको पार्थिवपरमाणुकी रूपादिसतानसे व्यभिचारी बताते हैं (कदली पृ० ४)। आ० प्रभाचन्द्रने भी वशेषिकोंकी मुक्तिका खडन करते समय यायजुसुद० (पृ० २६) और प्रमेयऋमल० (पृ० ३१८) में 'सतानत्वात्' हेतुको पारुजपरमाणुओंकी रूपादिसतानसे व्यभिचारी बताया है। इसी तरह और भी एकाधिकस्थलोंमें हम ऋदलीकी आभा प्रभाचन्द्रके ग्रंथों पर देखते हैं।

**वासायन और प्रभाचन्द्र**—न्यायसूत्रके ऊपर वासायनकृत 'यायभाष्य उपलब्ध है। इनका समय ईसाकी तीसरी-चौथी शताब्दी समझा जाता है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयऋमल-मार्त्तण्ड तथा यायजुसुदचन्द्रमें इनके न्यायभाष्यका कहीं न्यायभाष्य और कहीं भाष्य शब्दसे उल्लेख किया है। वासायनका नाम न लेकर सर्वत्र न्यायभाष्यकार और भाष्यकार शब्दोंमें ही इनका निर्देश किया गया है।

**उद्योतकर और प्रभाचन्द्र**—न्यायसूत्रके ऊपर 'यायवार्तिक' ग्रन्थके रचयिता आ० उद्योतकर ई० ६ वीं सदी, अतत सातवीं सदीके पूनपादके विद्वान् हैं। इ होने दिङ्नागके प्रमाण समुच्चयके खडनके लिए 'यायवार्तिक' बनाया था। इनके 'यायवार्तिक'का खडन धर्मनीति (ई० ६३५ के बाद) ने अपने प्रमाणवार्तिकमें किया है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयऋमलमार्त्तण्डके सृष्टिकथन प्रकरणके पूर्वपक्षमें (पृ० २६८) उद्योतकरके अनुमानोंकी 'वार्तिकारोणापि' शब्दके साथ उद्धृत किया है। प्रमेयऋमलमार्त्तण्डमें एकाधिकस्थानोंमें 'उद्योतकर' का नामोल्लेख करके न्यायवार्तिकसे पूर्वपक्ष किए गए हैं। यायजुसुदचन्द्रके षोडशपदायगादका पूर्वपक्ष भी उद्योतकरके न्यायवार्तिकसे पचास पुष्टि पाया है। "पूर्ववच्छेपयत्" आदि अनुमानसूत्रकी वार्तिकारकृत

विविध व्याख्याएँ भी प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें खंडित हुई हैं। वार्तिककारकृत साधकतमवका  
“भावाभावयोस्तद्वत्ता” यह लक्षण प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें प्रमाणरूपसे उद्धृत है।

भट्ट जयन्त और प्रभाचन्द्र—भट्टजयन्त जरन्नैयायिकके नामसे प्रसिद्ध थे। इन्होंने  
न्यायसूत्रोंके आधारसे न्यायकलिका, और न्यायमञ्जरी ग्रन्थ लिखे हैं। न्यायमञ्जरी तो कतिपय  
न्यायसूत्रोंकी विशद व्याख्या है। अतः हम भट्टजयन्तके समयका विचार करते हैं—

जयन्तकी न्यायमञ्जरीका प्रथम मस्करण बियनगर सीरीजमें सन १८९५ में प्रकाशित हुआ है।  
इसके संपादक म० म० गंगाधर शास्त्री मानबल्ली हैं। उहाँने भूमिकामें लिखा है कि—‘जयन्तभट्टका  
गणेशापाध्यायन उपमानचिन्तामणि (प० ६१) में जरन्नैयायिक शब्दसे उल्लेख किया है तथा जयन्तभट्टन  
‘यायमञ्जरी (प० ३१२) में वाचस्पति मिश्रकी तात्पर्य टीकासे “जात च सम्बद्ध चेत्येक काल” यह वाक्य  
‘आचार्य’ करने उद्धृत किया है। अतः जयन्तका समय वाचस्पति (811 A D) से उत्तर तथा गंगरा  
(1175 A D) से पूर्व होना चाहिये।’ इन्हींका अनुसरण करते ‘यायमञ्जरीके द्वितीय मस्करणके  
सम्पादक प० भूयनारायणजी गुलन, तथा ‘संस्कृतसाहित्यका सक्षिप्त इतिहास’ लेखकों ने भी जयन्तको  
वाचस्पतिका परवर्ती लिखा है। स्व० डा० शशीशचन्द्र विद्याभूषण भी उक्त वाक्यके आधार पर इनका  
समय ९ वीम ११ वीं शताब्दी तक मानते थे। अतः जयन्तका वाचस्पतिको उत्तरकालीन माननेकी  
परम्पराका आधार म० म० गंगाधर शास्त्रीद्वारा ‘जात च सम्बद्ध चेत्येक काल’ इस वाक्यका वाचस्पति  
मिश्रका लिख दना ही मालूम होता है। वाचस्पति मिश्रने अपना समय ‘यायमूचीनिघण्टु के अन्तमें स्वयं  
किया है। यथा—

“यायमूचीनिघण्टुप्रमकारि सुधियां मुदे । श्रोषाचस्पतिमिश्रेण वस्वकवमुवत्सरे ।”

इस श्लोकमें ८९८ वत्सरे लिखा है।

म० म० विद्येश्वरजीप्रसादजीने ‘वत्सरे’ शब्दमें एकसवत् लिया है। डॉ० शशीशचन्द्र विद्या  
भूषण विद्वान् सवत् लते हैं। म० म० गोपीनाथ कविराज लिखते हैं कि तात्पर्यटीकाकी परिष्कृष्टटीका  
बनानेवाले प्राचाय उत्पन्न अपनी लम्णावली’ ग्रन्थ स० १०२ (984 A D) में समाप्तकी है। यदि  
वाचस्पतिना समय एक स० ८९८ माना जाता है तो इतना जल्दी उस पर परिष्कृष्ट जसी टीका बन जाना  
समय मालूम नहीं होता।

अतः वाचस्पति मिश्रका समय विद्वान् सवत् ८९८ (811 A D) प्राप्त सर्वसम्मत है। वाचस्पति  
मिश्रन वराहमिहिर दण्डकी छोड़कर प्रायः सभी दण्डों पर टीकाएँ लिखी हैं। सर्वप्रथम इहाँने मडनमिश्रके  
विधिविद्वक पर ‘यायवशिष्या’ नामकी टीका लिखी है, क्योंकि इनके दूसरे ग्रन्थमें प्राप्त इसका निर्देश है।  
उसके बाद मडनमिश्रकी ब्रह्ममिहिरकी व्याख्या ‘ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा’ तथा तत्त्वत्रिदु, इन दोनों ग्रन्थोंका  
निर्देश तात्पर्य-टीकामें मिलता है, अतः उनके बाद ‘तात्पर्य-टीका’ लिखी गई। तात्पर्य टीकाके साथही  
‘यायमूचीनिघण्टु’ लिखा होगा, क्योंकि ‘यायमूचीका निघण्टु तात्पर्य-टीकामें अत्यन्त अपेक्षित है।  
‘साध्यतत्त्वकौमुदी’ में तात्पर्य टीका उद्धृत है, अतः तात्पर्यटीकाके बाद ‘साध्यतत्त्वकौमुदी’ की रचना  
हुई। यागभाष्यकी तत्त्ववशादटीकामें ‘साध्यतत्त्वकौमुदी’ का निर्देश है, अतः निर्दिष्ट कौमुदीके बाद  
‘तत्त्ववशादटीका’ रची गई। और इन सभी ग्रन्थोंका भामती टीकामें निर्देश होनेसे ‘भामती’ टीका सबके  
अन्तमें लिखी गई है।

❧ हिस्ट्री ऑफ दि इण्डियन लाजिक, प० १४६।

† यायवार्त्तिक भूमिका, प० १४५।

‡ हिस्ट्री ऑफ दि इण्डियन लाजिक, प० १३३।

७ हिस्ट्री एंड विन्डोप्रोफी ऑफ दि याय वचस्पिक Vol III, प० १०१।

जयंत वाचस्पति मिश्रके समकालीन वृद्ध हैं—वाचस्पति मिश्र अपनी आद्यवृत्ति 'याय वणिवा' के मङ्गलचरणमें 'यायमञ्जरीरारको वड महत्वपूर्ण गन्धमे गुरुरूपसे स्मरण करते हैं। यथा—

अतःनतिविरगमनो परदमनो 'यामञ्जरी' रचिराम। प्रसवित्रे प्रभवित्रे विद्यातरवे तमो गुरवे ॥'

प्रधान—जिनन घनानतिमिरवा नाग करनेवाता प्रतिवाणियाका दमन करनेवाली रचिर 'यायमञ्जरी' जम णिया उन समय विद्यातर गुरुको नमस्कार हो।

इस इल्लोम स्मृत 'यायमञ्जरी' भट्ट जयन्तवृत्ता 'यायमञ्जरी' जसी प्रसिद्ध 'यायमञ्जरी' ही होनी चाहिये। अभी तक कोई दूसरी यायमञ्जरी तो सुनन म भी नहीं आई। जब वाचस्पति जयन्तका गुरुरूपसे स्मरण करते हैं तब जयन्त वाचस्पति के उत्तरकालीन पक्ष हो सकते हैं। यद्यपि वाचस्पतिन तान्त्रिक-टीकाम त्रिलोचनगुरुद्वारा इत्यादि पद देकर अपन गुरुरूपसे त्रिलोचन' का उल्लेख किया है, फिर भी जय तक उनके गुरु अथवा गुरुम होने में कोई बाधा नहीं है क्योंकि एक व्यक्तिके अनेक गुरु भी हो सकते हैं।

अभी तक 'जातञ्च सम्बद्ध चेत्येक काल इस वचनके आधार पर ही जयन्तरो वाचस्पतिवा उत्तरकालीन माना जाता है। पर यह बलक वाचस्पतिकी तात्पर्य-टीकाका नहो है किन्तु यायवृत्तिरकार भी उद्योतकरका है ('यायवृत्तिक पृ० २३६) जिस 'यायवृत्तिक पर वाचस्पतिकी तात्पर्यटीका है। इनका समय धर्मकीर्तिसे पूर्व होना निर्विवाद है।

म० म० गोपीनाथ कविराज अपनी हिस्ट्री एण्ड बिलोयाफी प्राप न्याय वाचस्पतिक लिटरेचर में लिखते हैं कि— 'वाचस्पति और जयन्त समकालीन होन चाहिए, क्योंकि जयन्तके प्रथा पर वाचस्पतिकी कोई जसूर देखन म नहीं आता।' जानञ्च इत्यादि वाक्यक विषय में भी जहान सदेह प्रकट करते हुए लिखा है कि— यह वाक्य किसी पूर्वाचार्य का होना चाहिए। वाचस्पतिके पहले भी शंकरस्वामी आदि न्यायिक हुए हैं जिनका उल्लेख तात्पर्यसूत्र आदि में याय पाया जाता है।

म० म० गङ्गाधर शास्त्रान जयन्तको वाचस्पतिकी उत्तरकालीन मानकर न्यायञ्जरी (प० १२०) में उद्धृत यत्नानामितोऽप्यथ इस पद्यको टिप्पणामे 'भामती टीकाका लिख लिया है। पर वस्तुन यह पद्य वाचस्पतीय (१-३४) का है और यायमञ्जरी की तरह भामती टीकाम भी उद्धृत ही है मूत्रा नहीं है।

'यायमूत्रके प्रत्यक्ष-लक्षणमूत्र (११४) की व्याख्यामें वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि— व्यवसायात्मक पक्ष मन्त्रिक-पक्ष प्रत्यक्षका ग्रहण करना चाहिए तथा अद्यपदेश्य पक्षसे निर्विकल्पक ज्ञानका। मन्त्रानुसंधान निराकरण तो 'अव्यभिचारी पक्षमें ही ही जाता है इसलिये साधुज्ञानका निराकरण करना व्यवसायात्मक पक्षका मुख्य भाग नहीं है। यह जान म गुरुजीत माग का अनुगमन करके कह रहा है। इसी तरह कोई व्याख्याकार अवमश्व इत्यादि शब्दसंज्ञा ज्ञानकी उभयजगान कहकर उसकी प्रत्यक्षता निराकरण करतेके लिये अव्यपदेश्य पक्षकी साधकता बताते हैं। वाचस्पति अवमश्व इस ज्ञानकी उभयजगान न मानकर एतन्निक कहते हैं। और वह भी अपन गुरुके द्वारा उपदिष्ट इस भाषाके आधार पर—

गर्भजत्वेन गार्भञ्जेत प्रत्यक्ष चाक्षरत्वं । स्पष्टग्रहणत्वात् मुक्तमन्त्रिकं हि तत् ॥  
इमलिये व 'अव्यपदेश्य' पक्षका प्रयोजन निर्विकल्पका समझ करना ही बतलाते हैं।

न्यायमञ्जरी (प० ७८) में उभयजगानका व्यवहार करना अव्यपदेश्यपक्षका भाग है' इस मतका आजाया इस मन्त्रके साथ उल्लेख किया गया है। उसपर व्याख्याकारकी अनुपपत्ति लिखाकर 'याय मञ्जरी'काल उभयजगानका खणन किया है।

म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने इस 'आचार्या' पदके नीचे 'तात्पर्यटीकाया वाचस्पतिमिश्रा' यह टिप्पणी की है। यहाँ यह विचारणीय है कि—यह मत वाचस्पति मिश्र का है या अथ किसी पूर्वोक्त्यायका। तात्पर्य टीका (पृ० १४८) में तो स्पष्ट ही उभयजज्ञान नरी मानकर उसे ऐन्द्रियक कहा है। इसलिये वह मत वाचस्पतिका ही नहीं है। व्योमवती\* टीका (पृ० ५५५) में उभयजज्ञानका स्पष्ट समर्थन है, अतः यह मत व्योमशिवाचार्याका हो सकता है। व्योमवतीमें न केवल उभयजज्ञानका समर्थन ही है किन्तु उसका व्यवच्छेद भी अव्यपदेश्य पदसे किया है। हाँ, उसपर जो व्याख्याकार की अनुपपत्ति है वह कदाचित् वाचस्पतिकी तरफ लगे सकती है, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि वाचस्पतिन अपन गुरुकी जिस गाथाके अनसार उभयजज्ञानको ऐन्द्रियक माना है, उसमें माफ मालूम होता है कि वाचस्पतिके गुरुके सामने उभयजज्ञानको माननेवाले आचार्य (मभवत व्योमशिवाचार्य) की परम्परा थी जिसका खण्डन वाचस्पतिके गुरुन किया है। और जिस खण्डनको वाचस्पतिन अपने गुरुकी गाथाका प्रमाण देकर तात्पर्य टीकामें स्थान दिया है।

इसी तरह तात्पर्य टीकामें (पृ० १०२) यथा ज्ञान तदा हानोपादानापेक्षाद्वय फलम्' इस भाष्यका व्याख्यान करते हुए वाचस्पति मिश्रने उपाध्यतानानको 'उपादान पदसे लिया है और उसका अर्थ भी 'तोयालोचन, तोयविकल्प, दृष्टतज्जातीयसंस्कारोन्बोध, स्मरण, तज्जातीयञ्चेदम् इत्याकारकपरामश इत्यादि बताया है।

व्यायमजरी (पृ० ६६) में इसी प्रकरणमें शब्दा की है कि—प्रथम आलोचन जानका फल उपादानादिवृद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें कई क्षणाका व्यवधान पड़ जाता है' ? इसका उत्तर देते हुए मजरीकारन 'आचार्या' शब्द लिखकर 'उपाध्यतज्ञानका उपादानवृद्धि कहते हैं' इस मतका उल्लेख किया है। इस 'आचार्या' पद पर भी म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने पायथातिक तात्पर्यटीकाया वाचस्पतिमिश्रा' एसा टिप्पण किया है। 'व्यायमजरीके द्वितीय संस्करणके उपादक प० सूयनारायणजी 'याया चायने भी उहीका अनुसरण करके उसे बड़े टाइपमें हेडिंग देकर छपाया है। मजरीकारन इस मतके वाद भी एक व्याख्याताका मत दिया है जो इस परामर्शात्मक उपादयता जानको नहीं मानता। यहाँ भी यह विचारणीय है कि—यह मत स्वयं वाचस्पतिका है या उनके पूर्ववर्ती उनके गुरुका ? यद्यपि यहाँ उहान अपन गुरुका नाम नहीं लिया है तथापि जब व्योमवतीमें जैसी प्रस्तापत्की प्राचीन टीका (पृ० ५६१) में इसका स्पष्ट समर्थन है, तब इस मतकी परम्परा भी प्राचीन ही मानना होगी। और 'आचार्या' पदमें वाचस्पति न लिए जानकर व्योमशिवा जरा कोई प्राचीन आचार्य रना होगा। मालूम होता है म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने "जातञ्च सम्बद्धञ्चेत्येक काल' इस वचनको वाचस्पतिका मानन करण ही उपन दो स्थलों में 'आचार्या' पद पर 'वाचस्पतिमिश्रा' एसी टिप्पणी कर दी है, जिसकी परम्परा चलती रही। हाँ, म० म० गोपीनाथ बविराजने अवश्य ही उसे सन्नेह कोटिमें रखा है।

भट्ट जयन्तकी ममयावधि—जयन्त मजरीमें धर्मकीतिके मतकी समालोचनाके साथ ही साथ उनके टीकाकार धर्मोत्तरकी आदिवाक्यकी चर्चाका स्थान देते हैं। तथा प्रतापरगुप्तके 'एकमेवेव ह्यविषाद

\* 'न, इन्द्रियसहकारिणा गन्धेन यज्जयते तस्य व्यवच्छेदाधत्वात्, तथा ह्यङ्गतसमयो रूप पश्यन्नि चक्षुषा रूपमिति न जानीत रूपमिन्द्रियसञ्चारणानतर पतिपद्यत इत्युभयज ज्ञानम्, ननु च गन्धेन्द्रिययोरे कस्मिन् काले व्यापारासम्भवात्पुनमेतन्। तथाहि मनसाधिष्ठित न चोत्र दग्ध गह्वानि पुन क्रिया प्रमाण चक्षुषा सम्बन्ध सति रूपग्रहणम्। न च गन्धानस्यतायत्नरालम्बन्यात् सम्भवतीति कथमुभयज ज्ञानम् ? अथैवा धोत्रसम्बद्धे मनसि क्रियात्तन्ना जिभागमारभते तत स्वप्नानसहायगल्सहकारिणा चक्षुषा रूपानुमुत्पादो त्पुभयज ज्ञानम्। यत्नि वा भवत्यवोभयज ज्ञानम् ।—प्रश० व्या० पृ० ५५५।

† 'द्रव्यादिजातीयस्य पूव मुखदुस्यसाधनत्वोपलब्धे तज्ज्ञानानन्तर यद्यत् द्रव्यादिजातीय तत्तत्सुषुषा धनमित्यविनाभावम्भरणम्, तथा चेदं द्रव्यादिजातीयमिति परामर्शानाम, तस्मात् सुमनाधत्तमिति विनिश्चय तत्र उपादयानम् ।—प्रश० व्यो० पृ० ५६१।

रुनेकाकारविषय पचाम तत्र पचेष्ट सत्ता त्रिपताम ( भिक्षु राहुलजीकी यातिकालवारकी प्रसवापी प० ४२९ ) इस वचनका मडन करत ह ( यायमजरी प० ७४ ) ।

भिक्षु राहुलजीन त्रिबन्धन मत्परम्पराके अनमार घमकीतिका समय ई० ६२५ प्रनाकरगुप्तका ७०० धर्मोत्तर श्रौत रविगुप्तका ७२५ ईस्वा लिया ह । जयन्त एक जगह रविगुप्तका भी नाम लिया ह । अत जयन्तका पूर्वावधि ७६० A D तथा उत्तरावधि ८४० A D होनी चाहिए । क्योंकि वाचस्पतिक 'यायमचीनिबन्ध ८४१ A D म बनाया गया ह इसव पत्रि भी व त्रहासिद्धि, तत्त्वविद्म श्रौत तापयतीका त्रिलचक ह । समय ह कि वाचस्पतिन अपना आद्यवृत्ति 'यायवणिका ८१५ ई० के आसपास त्रिखा हो । इन 'यायवणिका म जयन्तकी यायमजरीका उल्लेख होनसे जयन्तकी उत्तरावधि ८४० A D ही मानना समबिन ज्ञान होना ह । यह समय जयन्तक पुत्र अभिनन् द्वारा दी गई जयन्तकी पुत्रतावकीम भी सगत बढता ह । अभिनन् अपन वात्म्बरा कथामारम लिखत ह कि-

'भारद्वाज कुलम शक्ति न मका गौड ब्राह्मण था । उसका पुत्र मित्र मित्रका पुत्र शक्तिस्वामी हुआ । यह शक्तिस्वामी कर्वावशके राजा मुक्तापीड ललितान्तियके मन्त्री थे । शक्तिस्वामीके पुत्र कल्याणस्वामी कल्याणस्वामीके पुत्र चन्द्र तथा चन्द्रके पुत्र जयन्त हुए जा नववत्तिकारक नामने माहूर थ । जयन्तक अभिनन् नामका पुत्र हुआ ।

बासमीरके कर्कोत वंशीय राजा मुक्तापीड ललितान्तियका राज्य का ७३३ से ७६८ A D तक रहा हूँ । शक्तिस्वामी के, जो अपनी प्रौढ अवस्थामे मन्त्री हाण अपन मन्त्रित्वकारके पद्वि ही ई ७२० में कल्याणस्वामी उत्पन्न हो चुके हाण । इसके अनन्तर यन् प्रत्यक पीकीका समय २० वष भी मान लिया जाय तो कल्याण स्वामीके ईस्वी सन ७४० मे चन्द्र चन्के ई० ७६० मे जयन्त उत्पन्न हुए श्रौत उद्दान ईस्वी ८०० तक अपनी यायमजरी बनाई हागी । इसलिय वाचस्पतिके समयम जयन्त वृद्ध हांग श्रौत वाचस्पति इहे आन्तर का दृष्टिमे देखते हाण । यही कारण ह कि उहोंने अपनी आद्यवृत्तिमे यायमजरीकारका स्मरण किया ह ।

जयन्तके इस समयका समयक एक प्रबल प्रमाण यह ह कि-हरिभद्रमूरिन अपन पञ्चानसमुच्चय (श्लो० २०) मे यायमजरी ( विजयानगर म पृ १२९ ) क

'गम्भीरगजितारम्भनिभिन्नगिरिगह्वरा । रोलम्बगवलव्यालतमालमलिनत्विवध ॥

स्वङ्गतश्चिह्नतामङ्गविगङ्गोत्तङ्गविपहा । शष्टि व्यभिचरतोह नथप्राण्य पयोमुच ॥

एन दो श्लोकाने त्रितीय पादोको जसाका तसा शामिल कर किया ह । प्रसिद्ध इतिवत्तन मनि जिन विजयजान जन सात्थियमगोधक ( भाग १ अक १ ) मे अन्क प्रमाणोस व्यासकर उद्योतनमूरिकी कुचन्य माता कथामे हरिभद्रका गरुडरूपमे उल्लेख होनके कारण हरिभद्रका समय ई ७०० से ७७० तक निर्धारित किया है । कुचलयमाता कथाकी समाप्ति तक ७०० (ई० ७७८) मे हुई थी । मेरा एस विषयमे इतना सङ्कोच ह कि उन समयकी आय स्थिति देखत हुए हरिभद्रकी निर्धारित आय स्वल्प मालूम होनी ह । उनके समयकी उत्तरावधि ई ८१० तक माननसे व यायमजरीको देख सकेंग । हरिभद्र जन सबडा प्रकारणोके रचयिता विगानके लिए १० वष जीना अस्थामाधिक नहीं हा सक्ता । अत ई० ७१० से ८१० तक समयवाले हरिभद्रमूरिक द्वारा यायमजरीके श्लोकाना अपन शयमे शामिल किया जाना जयन्तके ७६० स ८४० ई तकके समयका प्रबल साधक प्रमाण ह ।

आ० प्रभाचन्द्रने नामायनभाष्य एव यायवार्तिककी श्रपेक्षा जयन्तकी यायमजरी एव न्यायकलिकाका ही अधिक परिशीलन एव समुचित उपयोग किया है । षोडशपदार्थके निरूपणमे जयन्तकी यायमजरीके ही शब्द अपनी आभा दिन्वाते हैं । प्रभाचन्द्रको न्यायमजरी सभ्यस्त

ॐ दमो ससृजतमाहित्यका इतिहास परिनिष्ट ( स ) पृ० १५ ।

थी। वे कहीं कहीं मजरीके ही शब्दोंको 'तथा चाह भाष्यकार' लिखकर उद्धृत करते हैं। भूतचैतन्य-वादके पूर्वपक्षमें न्यायमञ्जरी में 'अपि च' करके उद्धृत की गई १७ कारिकाएँ न्यायकुमुदचन्द्रमें भी ज्योंही त्यों उद्धृत की गई हैं। जयन्तके कारकसाकल्यका सर्वाप्रथम खण्डन प्रभाचन्द्रने ही किया है। न्यायमञ्जरीकी निम्नलिखित तीन कारिकाएँ भी न्यायकुमुदचन्द्रमें उद्धृत की गई हैं। (न्यायकुमुद० पृ० ३३६) "ज्ञात सम्यगमन्यग्ना यन्मोक्षाय भगवत वा।

तत्प्रमेयमिहाभीष्टं न प्रमाणार्थमात्रम् ॥" [न्यायम० पृ० ४४७]

(न्यायकुमुद० पृ० ४११) "भूयोऽत्रयवममान्ययोगो यद्यपि मन्यते।

माहृदय तस्य तु ज्ञप्ति गृहीते प्रतियोगिनि ॥" [न्यायम० पृ० १४६]

(न्यायकुमुद० पृ० ५११) "नन्वस्त्येन गृहद्वारवर्तिन मगतिमह।

भावेनाभाजसिद्धौ तु कथमेतद्भविष्यति ॥" [न्यायम० पृ० ३८]

इस तरह न्यायकुमुदचन्द्रके आधारभूत ग्रन्थोंमें न्यायमजरीका नाम लिखा जा सकता है।

**वाचस्पति और प्रभाचन्द्र**—यद्दर्शनटीकाकार वाचस्पतिने अपना न्यायमूचीनिम्न ६० ८४१ में ममात् किया था। इनने अपनी तात्पर्यटीका (पृ० १६५) में सार्यों के अनुमान के मात्रामात्रिक आदि सात भेद गिनाए हैं और उनका खटन किया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४६२) में भी सार्योंके अनुमानके इन्हीं सात भेदोंके नाम निर्दिष्ट हैं। वाचस्पतिने शाकरभाष्यकी भामती टीकामें श्रुतिवासे श्रुतिवाके उच्छेद करने के लिए "यथा पय पयोऽन्तरं जरयति स्रय च जीर्यति, त्रिप विषान्तरं जमयति स्रय च शान्यति, यथा वा क्तन्तरजो रजोऽन्तराणिले पाथसि प्रथित्तरजोन्तराणि भिन्न्त् स्रयमपि भिद्यमानमन्ताविल पाथ करोति" इत्यादि दृष्टान्त दिए हैं। प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ६६) में इन्हीं दृष्टान्तों को पूर्वपक्ष में उपस्थित किया है। न्यायकुमुदचन्द्रके विधिवादके पूर्वपक्षमें त्रिपविवेक के साथही साथ उसकी वाचस्पतिकृत यायकणिका टीकाका भी पर्याप्त सादरय पाया जाता है। वाचस्पतिने उक्त ६० ८४१ समयका साधक एक प्रमाण यह भी है कि इन्होंने तात्पर्यटीका (पृ० २१७) में शान्तरक्षितके तत्त्वसग्रह (श्लो० २००) से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है— "नर्त्तनीभ्रूताक्षेपो न ह्येक पारमार्थिकः। अनेनाणुसमूहत्वात् एवत्र तस्य कल्पितम् ॥" शातरक्षितका समय ई० ७६२ है।

**शरर ऋषि और प्रभाचन्द्र**—जेमिनिमूत्र पर शाबरभाष्य लिखने वाले महर्षि शररका समय ईसाकी तीसरी सदी तक समझा जाता है। शाबरभाष्यके ऊपर ही कुमारिल और प्रभाकर ने व्याख्याएँ लिखी हैं। आ० प्रभाचन्द्रने शब्दनिश्चयवाद, वेदापौरुषेयवाद आदिम कुमारिल के श्लोककार्तिकके साथ ही साथ शाबरभाष्य की दलीलों को भी पूर्वपक्षमें रखा है। शाबरभाष्य से ही "भौरित्यत्र क ऋन् ? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपनयं" यह उपनयं ऋषि का मत प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ४६४) में उद्धृत किया गया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २७६) में शब्दको वायवीय माननेवाले शिक्षाकार भीमासक्तोका मत भी शाबरभाष्यसे ही

उद्धृत हुआ है। इसके सिवाय 'यायकुमुदचन्द्र' म शाबरभाष्यके कई वाक्य प्रमाणरूपमें और पूर्णपक्ष में उद्धृत किए गए हैं।

**कुमारिल और प्रभाचन्द्र**—भक्तुमारिलने शाबरभाष्य पर मीमांसारत्नेकार्तिक, तन्त्रवार्तिक और टुप्टीका नामकी व्याख्या लिखी है। कुमारिलने अपने तन्त्रवार्तिक ( पृ० २५१-२५३ ) में वाक्यपदीयके निम्नलिखित श्लोककी समालोचना की है—

“अस्त्यर्थं सप्रशदानामिति प्रत्याग्यलक्षणम् ।

अपूर्वदेवतासंगे सममाहुगतादिषु ॥” [वाक्यप० २।१२१]

इसी तरह तन्त्रवार्तिक ( पृ० २०६-१० ) में वाक्यपदीय ( १।७ ) के “तत्त्वावयोध शब्दाना नास्ति व्याख्यानादते” अर्थ उद्धृत होकर गटित हुआ है। मीमांसारत्नेकार्तिक ( वाक्याधिकरण श्लो० ५१ ) म वाक्यपदीय ( २।१-२ ) में निर्दिष्ट दशविध या अष्टविध वाक्यनक्षत्रोंका समालोचन किया गया है। भर्तृहरिके स्फोटवादकी आलोचना भी कुमारिलने मीमांसारत्नेकार्तिकके स्फोटवादमें बड़ी प्रखरतासे की है। चानी यात्रो इत्सिगने अपने यात्रा-विवरणमें भर्तृहरिका मृत्युसमय ई० ६५० बताया है। अतः भर्तृहरिके समालोचक कुमारिलका समय इसी ७ वीं शताब्दी का उत्तर भाग मानना समुचित है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेय-कमलमार्त्तण्ड और यायकुमुदचन्द्रमें सप्रशवाद, शब्दनिव्ययवाद, वेदापौरुषेयत्ववाद, आगमादि-प्रमाणोंका निवार, प्रामाण्यवाद आदि प्रकरणोंमें कुमारिलके श्लोकवार्तिकमें पचासों कारिकाएँ उद्धृत की हैं। शब्दनिव्ययवाद आदि प्रकरणोंमें कुमारिलकी युक्तियोंका सिलसिलेवार सप्रमाण उत्तर दिया गया है। कुमारिलने आमाको व्यावृत्त्यनुगमात्मक या नित्यानित्यात्मक माना है। प्रभाचन्द्रने आमाकी नित्यानित्यात्मकताका समर्थन करते समय कुमारिलकी “तस्मादुभय-हानेन व्यवृत्त्यनुगमात्मक ” आदि कारिकाएँ अपने पक्षके समर्थनमें भी उद्धृत की हैं। इसी तरह सृष्टिकृतत्वखडन, ब्रह्मवादखडन, आदिम प्रभाचन्द्र कुमारिलके साथ साथ चलते हैं। सारांश यह है कि प्रभाचन्द्रके सामने कुमारिलका मीमांसारत्नेकार्तिक एक विशिष्ट ग्रन्थके रूप में रहा है। इसीलिए इसकी आलोचना भी जमकर की गई है। श्लोकवार्तिक की मट्ट उल्लेख-कृत तापर्यटीका अभी ही प्रकाशित हुई है। इस टीकाका आलोचन भी प्रभाचन्द्रने कर लिया है। सप्रशवादमें कुछ कारिकाएँ ऐसी भी उद्धृत हैं जो कुमारिलके मौजूदा श्लोकवार्तिकमें नहीं पाई जाती। समझ है ये कारिकाएँ कुमारिलकी बृहटीका या अन्य किसी ग्रन्थ की हों।

**मण्डनमिश्र और प्रभाचन्द्र**—आ० मण्डनमिश्रने मीमांसानुक्रमणी, विधिविवेक, मानना विवेक, नैष्कर्म्यसिद्धि, ब्रह्मसिद्धि, स्फोटसिद्धि आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दीका पूर्वभाग है। आचार्य विद्यानन्दने ( ई० ६ वीं शताब्दी का पूर्वभाग ) अपनी अष्टमहस्तीमें मण्डनमिश्र का नाम लिखा है। यत मण्डनमिश्र अपने ग्रन्थोंमें सप्तमशताब्दकी कुमारिलका नामोल्लेख करते हैं। अतः इनका समय ई० की सप्तमशताब्दीका अन्तिमभाग तथा

८ वीं सदी का पूर्वार्ध सुनिश्चित होता है। आ० प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० १४६) में मडनमिश्रकी ब्रह्मसिद्धिका "आहुर्विधात् प्रत्यक्ष" श्लोक उद्धृत किया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० १७२) में त्रिविधादके पूर्वपक्ष में मडनमिश्रके त्रिविधिवेकमें वर्णित अनेक विधिवादियोंका निर्देश किया गया है। उनके मतनिरूपण तथा समालोचन में त्रिविधिवेक ही आधारभूत मालूम होता है।

**प्रभाकर और प्रभाचन्द्र**—शावरभाष्यकी बृहती टीकाके रचयिता प्रभाकर करीब करीब कुमारिलके समकालीन थे। मद्भकुमारिलका शिष्य परिवार भाट्टके नामसे रचात हुआ तथा प्रभाकर के शिष्य प्रभाकर या गुरुमतानुयायी कहलाए। प्रभाकर निरपर्ययज्ञानको स्मृतिप्रमोप या विवेकाह्याति रूप मानते हैं। ये अमानको स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते। वेदवाक्योंका अर्थ नियोगपरक करते हैं। प्रभाचन्द्रने अपने ग्रंथोंमें प्रभाकरके स्मृतिप्रमोप, नियोगवाद आदि सभी सिद्धान्तों का विस्तृत खंडन किया है।

**शालिक्रनाथ और प्रभाचन्द्र**—प्रभाकरके शिष्योंमें शालिक्रनाथका अपना विशिष्ट स्थान है। इनका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दी है। इन्होंने बृहतीके ऊपर श्रुतिमला नाम की पञ्चिका लिखी है। प्रभाकरगुरुके सिद्धांतोंका विवेचन करनेके लिए इन्होंने प्रकरणपञ्चिका नामका स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखा है। ये अन्वकारको स्वतन्त्र पदार्थ नहीं मानते किन्तु ज्ञानानुपचिन्तो ही अधकार कहते हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० २३८) तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६६६) में शालिक्रनाथके इस मतकी विस्तृत समीक्षा की है।

**शङ्कराचार्य और प्रभाचन्द्र**—प्रायः शङ्कराचार्यके ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, गीताभाष्य, उपनिषद्भाष्य आदि अनेकों ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। इनका समय ई० ७८८ से ८२० तक माना जाता है। शाङ्करभाष्यमें धर्मकीर्तिके 'सहोपलम्भनियमात्' हेतुका खण्डन होनेसे यह समय समर्थित होता है। आ० प्रभाचन्द्रने शङ्करके अनिर्वचनीयार्थव्यातिनादकी समालोचना प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें की है। न्यायकुमुदचन्द्रके परमब्रह्मवादके पूर्वपक्षम शाङ्करभाष्यके आधार से ही वेपथ्य नैर्घृण्य आदि दोषोंका परिहार किया गया है।

**सुरेश्वर और प्रभाचन्द्र**—शङ्कराचार्यके शिष्योंमें सुरेश्वराचार्यका नाम उल्लेखनीय है। इनका नाम विश्वरूप भी था। इन्होंने तत्त्वियोपनिषद्भाष्यार्तिक, बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यार्तिक, मानसोल्लास, पञ्चीकरणवार्तिक, काशीमृत्तमोक्षनिचार, नष्कर्म्यसिद्धि आदि ग्रन्थ बनाए हैं। आ० विद्यानन्द (ईसाकी १८ वीं शताब्दी) ने अष्टसहस्री (पृ० १६२) में बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यार्तिकसे "ब्रह्मनिद्यावदिष्टश्चेन्ननु" इत्यादि कारिकाएँ उद्धृत की हैं। अतः इनका समय भी इसाकी १८ वीं शताब्दीका पूर्वभाग होना चाहिए। ये शङ्कराचार्य (ई० ७८८ से ८२०) के साक्षात् शिष्य थे। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४४-४५)



तथा न्यायकुमुदचंद्र (पृ० १४१) में ब्रह्मनादके पूर्वक्षमें इनके बृहदारण्यकोपनिषद्वाच्य वार्तिक (३।५।४३ ४४) से “यथा त्रिगुणमाभास” आदि दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं।

**भामह और प्रभाचन्द्र**—भामहका कात्यालङ्कार प्रथ उपलब्ध है। शान्तरक्षितने तत्त्वप्रह (पृ० २६१) में भामहके कात्यालङ्कारकी श्रपोहखण्डन वाली “यदि गौरिल्य शब्द” आदि तीन कारिकाओंकी समालोचनाकी है। ये कारिकाएँ काव्यलङ्कारके ६ वें परिच्छेद (श्लो० १७-१६) में पाई जाती हैं। तत्त्वसप्रहकारका समय ई० ७०५-७६२ तक सुनिर्णत है। बौद्धमग्नत प्रत्यक्षके लक्षणका खण्डन करते समय भागहने (कात्यालङ्कार ५।६) दिङ्नागके मात्र ‘कल्पनापोड’ पदवाले लक्षणका खण्डन किया है, धर्मकीर्तिके ‘कल्पनापोड और अभ्रान्त’ उभयविशेषणवाले लक्षणका नहीं। इससे ज्ञात होता है कि भागह दिङ्नागसे उत्तरवर्ती तथा धर्मकीर्तिके पूर्ववर्ती हैं। अन्तत इनका समय इसकी ७ वीं शताब्दी का पूर्वभाग है। आ० प्रभाचन्द्रने श्रपोहनादका खण्डन करते समय भामहकी श्रपोहखण्डन-विषय “यन्नि गौरिल्य” आदि तीनों कारिकाएँ प्रमेयकमलमार्चण्ड (पृ० ४३०) में उद्धृत की हैं। यह भी संभव है कि ये कारिकाएँ सीधे भामहके ग्रन्थसे उद्धृत न होकर तत्त्वसप्रहके द्वारा उद्धृत हुई हों।

**वाण और प्रभाचन्द्र**—प्रसिद्ध गद्यकाव्य कादम्बरीके रचयिता वाणभट्ट, सम्राट् हर्षवर्धन (राज्य ६०६ से ६४८ ई०) की सभाके कविरत्न थे। इन्होंने हर्षचरितकी भी रचना की थी। वाण, कादम्बरी और हर्षचरित दोनों ही ग्रन्थोंको पूर्ण नहीं कर सके। इनकी कादम्बरीका आधारलोक “रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये” प्रमेयकमलमार्चण्ड (पृ० २२८) में उद्धृत है। आ० प्रभाचन्द्रने वेदापौरुषेय उपकरणमें (प्रमेयक० पृ० ३६३) कादम्बरीने कर्त्तृचके विषयमें सन्नेहात्मक उल्लेख किया है—“कादम्बर्यादीना कर्त्तृविशेष निप्रतिपत्ते”—अर्थात् कादम्बरी आदिके कर्त्तृके विषयमें विवाद है। इस उल्लेखसे ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्रके समयमें कादम्बरी आदि ग्रन्थोंके कर्त्ता विवादमस्त थे। हम प्रभाचन्द्रका समय आगे ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दी सिद्ध करेंगे।

**माघ और प्रभाचन्द्र**—शिथुपालवध काव्यके रचयिता माघ कविका समय ई० ६६०-६७५ के लगभग है। माघकविके पितामह सुप्रभदेव राजा वर्मलातके मन्त्री थे। राजा वर्मलात का उल्लेख ई० ६०५ के एक शिलालेखमें विद्यमान है अत इनके नाती माघ कविना समय ई० ६७५ तक मानना समुचित है। प्रभाचन्द्रने माघकाव्य (१।२३) का “युगान्तपाल-प्रतिसंहतात्मनो” श्लोक प्रमेयकमलमार्चण्ड (पृ० ६८८) में उद्धृत किया है। इससे ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्रने माघकाव्यको देखा था।

( अवैदिकदर्शन )

अथघोष और प्रभाचन्द्र—अथघोषका समय ईसाका द्वितीय शतक माना जाता है। इनके बुद्धचरित और सौ-दरन-द दो महाकाव्य प्रसिद्ध हैं। सौ-दरन-न्दम अथघोषने प्रसङ्गत बौद्धदर्शनके कुछ पदार्थोंका भी सारगर्भ विवेचन किया है। आ० प्रभाच-न्द्रने श-यनिर्माणवादका खडन करते समय पूर्वपक्षम ( प्रमेयक० पृ० ६८७ ) सौ-दरन दकाव्यसे निम्नलिखित दो श्लोक उद्धृत किए हैं—

“दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।

दिश न काञ्चिद् विदिश न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥

जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।

दिश न काञ्चिद्विदिश न काञ्चित्शेक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥”

[ सौन्दरनन्द १६।२८, २९ ]

नागार्जुन और प्रभाचन्द्र—नागार्जुन की माध्यमिककारिका और विग्रहव्यावर्तिनी दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। ये ईसाकी तीसरी शताब्दीके जिद्वान् हैं। इहे शून्यवादके प्रस्थापक होनेका श्रेय प्राप्त है। माध्यमिककारिकामें इन्होंने विस्तृत परीक्षाएँ लिखकर शून्यवादको दार्शनिक रूप दिया है। विग्रहव्यावर्तिनी भी इसी तरह शून्यवादका समर्थन करनेवाला छोटा प्रकरण है। प्रभाच-न्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० १३२ ) में माध्यमिकके शून्यवादका खडन करते समय पूर्वपक्षमें प्रमाणवार्तिककी कारिकाओंके साथ ही साथ माध्यमिककारिकासे भी ‘न स्वतो नापि परत ’ और ‘यथा मया यथा स्वप्नो ’ ये दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं।

वसुबन्धु और प्रभाचन्द्र—वसुबन्धुका अभिधर्मकोश ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इनका समय ई० ४०० के करीब माना जाता है। अभिधर्मकोश बहुत अशोंमें बौद्धदर्शनके सूत्रग्रन्थका कार्य करता है। प्रभाच-न्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ३६० ) में वैभाषिक सम्मत द्वादशाङ्ग प्रतीत्य-समुत्पादका खडन करते समय प्रतीत्यसमुत्पादका पूर्वपक्ष वसुब-धुके अभिधर्मकोशके आधारसे ही लिखा है। उसमें यथासर अभिधर्मकोशसे २।३ कारिकाएँ भी उद्धृत की हैं। देखो-न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ३६५।

दिग्नाग और प्रभाचन्द्र—आ० दिग्नागका स्थान बौद्धदर्शनके विशिष्ट सस्थापकोंमें है। इनके न्यायप्रवेश, और प्रमाणसमुच्चय प्रकरण मुद्रित हैं। इनका समय ई० ४२५ के आसपास माना जाता है। प्रमाणसमुच्चयमें प्रत्यक्षका कल्पनापोड लक्षण किया है। इसमें अध्या-तपद धर्मकीर्तिने जोड़ा है। इन्हींके प्रमाणसमुच्चय पर धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिक रचा है। भिक्षु राहुलजीने दिग्नाग के आलम्बनपरीक्षा, त्रिकालपरीक्षा, और हेतुचक्रडमरु आदि ग्रन्थोंका भी उल्लेख किया है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकालमात्तण्ड ( पृ० ८० ) में

‘स्तुतश्च अद्वैतादिप्रकरणानामादौ दिग्नागादिभि सद्भि’ लिपिकर प्रमाणसमुच्चयका ‘प्रमाणभूताय’ इत्यादि भगलरलोकाश उद्धृत किया है। इसी तरह श्योद्ववादके पूर्वपक्ष (प्रमेयक० पृ० ४३६) में दिग्नागके नामसे निम्नलिखित गद्यांश भी उद्धृत किया है—  
 “प्रमाणेन विशेषणविशेष्यभावसमर्थनार्थम् ‘नीलोत्पलाग्निशब्दा अर्थांतरनिवृत्तिविशिष्टानर्थानाहु’ इत्युक्तम्।”

धर्मकीर्ति और प्रभाचन्द्र—बौद्धदर्शनके युगप्रधात आचार्य धर्मकीर्ति इसाफी ७ वीं शताब्दीमें नालन्दाके बौद्धविद्यापीठके आचार्य थे। इनकी लेखनीने भारतीय दर्शनशास्त्रोंमें एक युगान्तर उपस्थित कर दिया था। धर्मकीर्तिने वैदिकमंस्कृति पर दृढ़ प्रहार किए हैं। यद्यपि इनका उद्धार करनेके लिए व्योमशिव, जयत, वाचस्पतिमिश्र, उदयन आदि आचार्योंने कुछ उठा नहीं रखा। पर बौद्धोंके खडनमें जितनी कुशलता तथा सतकतासे जैनाचार्याने सक्ष्य दिया है उतना अन्यने नहीं। यही कारण है कि अकलङ्क, हरिभद्र, अनन्तर्यामि, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, श्रमभदेव, वादिदेवसूरि आदिके जैनवायशास्त्रके ग्रंथोंका बहुभाग बौद्धोंके सडने ही रोक गया है। धर्मकीर्तिके विषयमें मैं विशेष ऊहापोह “अकलङ्कमन्त्रय” की प्रस्तावना (पृ० १८) में कर आया हूँ। इनके प्रमाणवार्तिक, हतुविन्दु, वायविन्दु, सन्तानान्तरसिद्धि, वादन्याय, सम्बन्धपरीक्षा आदि ग्रंथोंका प्रभाचन्द्रको गहरा श्रम्यास था। इन ग्रंथों की अनेकों कारिकाएँ, खासकर प्रमाणवार्तिक की कारिकाएँ प्रभाचन्द्रने ग्रंथोंमें उद्धृत हैं। मालूम होता है कि सम्बन्धपरीक्षाकी श्रय से इति तरु २३ कारिकाएँ प्रमेयकमलमार्त्तण्डके सम्बन्धवादके पूर्वपक्ष में ज्यों की त्यों रखी गई हैं, और खण्डित हुई हैं। विद्यानन्दके तत्पर्यरश्लोकवार्तिक में इसकी कुछ कारिकाएँ ही उद्धृत हैं। वादन्यायका “हमति हसनि स्वामिनि” आदि श्लोक प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें उद्धृत है। सत्वेदनाद्वैतके पूर्वपक्षमें धर्मकीर्तिके ‘सहोपलम्भनियमान्’ आदि हतुओंका निर्देश कर बहुविध विकल्पजालोंसे खण्डन किया गया है। वादन्यायकी “असाधनाद्भवचनमदो पौद्गलन द्वयो” कारिकाका और इसके विविध व्याख्यानोंका सयुक्तिक उत्तर प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें दिया गया है। इन सब ग्रंथोंके अन्तरण और उनसे की गई तुलना न्यायबुमुदचद्रके टिप्पणोंमें देखनी चाहिए।

प्रज्ञाकरगुप्त और प्रभाचन्द्र—धर्मकीर्तिके व्याख्याकारोंमें प्रज्ञाकरगुप्तका अपना खास स्थान है। उन्होंने प्रमाणवार्तिक पर प्रमाणवार्तिकालङ्कार नामकी विस्तृत व्याख्या लिखी है। इनका समय भी इसाफी ७ वीं शताब्दीका अन्तिम भाग और आठवींका प्रारम्भिक भाग है। इनकी प्रमाणवार्तिकालङ्कार टीका वार्तिकालङ्कार और अलङ्कारके नामसे भी प्रख्यात रही है। इन्हींके वार्तिकालङ्कारसे भावना विधि नियोगकी विस्तृत चरचा विद्यानन्दके ग्रंथोंद्वारा प्रभाचन्द्रके यायबुमुदचद्रमें अन्तर्णी हुई है। इतना विशेष है कि—विद्यानन्द और प्रभाचन्द्रने प्रज्ञाकरगुप्तके भावना विधि आदिके खडनका भी स्थान स्थान पर विशेष समालोचन किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३८०) में प्रज्ञाकरके भाषिणारणवाद और भूतकारणवादका उल्लेख तथा

प्रज्ञाकरका नाम देकर किया गया है। प्रज्ञाकरगुप्तने अपने इस मतका प्रतिपादन प्रमाणवार्तिककालङ्कार में ही किया है<sup>१</sup>। भिक्षु राहुलसाक्यस्यायनके पास इसकी हस्तलिखित कापी है। प्रभाचन्द्रने धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिककी तरह उनके शिष्य प्रज्ञाकरके वार्तिककालङ्कारका भी आलोचन किया है।

प्रभाचन्द्रने जो ब्राह्मणत्वजातिका मण्डन लिखा है, उसमें शान्तरक्षितके तत्त्वसमग्रहके साथ ही साथ प्रज्ञाकरगुप्त के वार्तिककालङ्कारका भी प्रभाव मालूम होता है। ये बौद्धाचार्य अपनी स्मृतिके अनुसार सदेव जातिवाद पर खड्गहस्त रहते थे। धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकके निम्नलिखित श्लोकमें जातिवादके मन्को जड़ताका चिह्न बताया है—

‘वेदप्रामाण्यं कस्यचित्कृत्यवादं न्नाने धर्मेच्छा जातिगान्तरलेपे ।  
सन्तापारम्भ पापहानाय चेति व्यस्तप्रज्ञाना पञ्च लिङ्गानि जाड्ये ॥’

उत्तराध्ययनसूत्रमें ‘कम्मुणा ब्रह्मणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ’ लिखकर कर्मणा जातिका स्पष्ट समर्थन किया गया है।

दि० जेनाचार्यमें बराह्मचरित्रके कर्ता जटासिंहनन्दिने बराह्मचरित्रके २५ वें अध्यायमें ब्राह्मणत्वजातिका निरास किया है। और भी रत्रियेण, अमितगति आदिने जातिवादके खिलाफ जोड़ा बहुत लिखा है पर तर्कग्रन्थोंमें सर्वप्रथम हम प्रभाचन्द्रके ही ग्रन्थोंमें जन्मना जातिका सयुक्तिक खण्डन यथेष्ट विस्तारके साथ पाते हैं।

कर्णकगोमि और प्रभाचन्द्र—प्रमाणवार्तिकके तृतीयपरिच्छेद पर धर्मकीर्तिकी खोपबुद्धि भी उपलब्ध है। इस धृतिपर कर्णकगोमिकी विस्तृत टीका है। इस टीकामें प्रज्ञाकर गुप्तके प्रमाणवार्तिककालङ्कारका ‘अलङ्कार’ शब्दसे उल्लेख है। इसमें मण्डनमिश्रकी ब्रह्मसिद्धिका ‘आहुर्निधातु’ श्लोक उद्धृत है। अतः इनका समय ई० = वीं सदीका पूर्वार्ध समझ है। न्यायकुमुदचन्द्रके शब्दनित्यत्ववाद, वेदापौरुषेयत्ववाद, स्फोटवाद आदि प्रकारों पर कर्णकगोमिकी खवृत्तिटीका अपना पूरा असर रखती है। इसके अवतरण इन प्रकारोंके टिप्पणोंमें देरना चाहिये।

शान्तरक्षित, कमलशील और प्रभाचन्द्र—तत्त्वसमग्रहकार शान्तरक्षित तथा तत्त्वसमग्रहपत्रिकाके रचयिता कमलशील नालन्दाविश्वविद्यालयके प्राचार्य थे। शान्तरक्षितका समय ई० ७०५ से ७६२ तथा कमलशीलका समय ई० ७१३ से ७६३ है। शान्तरक्षितकी अपेक्षा कमलशीलकी प्रागैहिक प्रसादगुणमयी भाषाने प्रभाचन्द्रको अत्यधिक आकृष्ट किया है। यों तो प्रभाचन्द्रके प्रायः प्रत्येक प्रकरणपर कमलशीलकी पञ्जिका अपना उमुक्त प्रभाव रखती है पर इसके लिए घट्टपदार्थपरीक्षा, शब्दब्रह्मपरीक्षा, ईश्वरपरीक्षा, प्रकृतिपरीक्षा, शब्दनित्यत्वपरीक्षा आदि परीक्षाएँ खामतौरसे द्रष्टव्य हैं। तत्त्वसमग्रहकी सर्वज्ञपरीक्षामें कुमारिलकी पचासों कारिकाएँ उद्धृत कर पूर्वपक्ष किया गया है। इनमेंसे अनेकों कारिकाएँ ऐसी हैं जो कुमारिलके श्लोक-

१ इसके अवतरण अङ्कक ग्रन्थव्ययी प्रस्तावना पृ० २७ में द्रव्यता चाहिए।

२ इन भाषायोंके ग्रन्थके अवतरणके लिए दत्ता पापकुमुदचन्द्र पृ० ७७८ टि० ९।

३ देखो तत्त्वसमग्रहकी प्रस्तावना पृ० XCVI

गतिरूप नहीं पाई जाती। कुट्टु ऐसी ही कारिकाएँ प्रभाचद्रके प्रमेयफलमार्तण्ड और न्याय-कुमुदचद्रमें भी उद्धृत हैं। समझ है कि ये कारिकाएँ कुमारिकके ग्रन्थसे न लेकर तरुसप्रहसे ही ली गई हों। तात्पर्य यह कि प्रभाचद्रके आधारभूत ग्रन्थोंमें तरुसप्रह और उसकी पञ्जिका अग्रस्थान पानेके योग्य है।

**अर्चट और प्रभाचन्द्र**—धर्मकीर्तिके हेतुविदु पर अर्चटवृत्त टीका उपलब्ध है। इसका उल्लेख 'पनतीर्थने अपनी सिद्धिपनिश्चयटीकाम ग्रनेकों स्थलम किया है। 'हेतु-लक्षणसिद्धि' में तो धर्मकीर्तिके हेतुविदुके साथही सात अर्चटवृत्त निररणा भी गण्डन है। अर्चटका समय भी करीब ईसाकी १ वीं शताब्दी होना चाहिये। अर्चटने अपने हेतुविदु-विररणमें सहकारित्व दो प्रकारका बताया है—१ एकार्यकारित्व, २ परस्परतिशयाधायकत्व। आ० प्रभाचद्रने प्रमेयफलमातण्ड (पृ० १०) में कारकसाकल्यवादकी समीक्षा करते समय सहकारित्वके यही दो निरूप्य किये हैं।

**धर्माचर और प्रभाचन्द्र**—धर्मकीर्तिके वायविदु पर आ० धर्मोत्तरने टीका रचा है। मित्रु राहुलजी द्वारा लिखित टिपेटियन गुरुपरम्पराके अनुसार इनका समय ई० ७२५ के आसपास है। आ० प्रभाचद्रने अपने प्रमेयफलमातण्ड (पृ० २) तथा वायकुमुदचद्र (पृ० २०) में सम्प्रध, अभिधेय, शक्यानुष्ठानेष्टप्रयोजनरूप अनुधधरपकी चरचामें, जो उमत्तनाक्य, काकदतपरीक्षा, मातृमिवाहोपदेश तथा सवस्वरहरतक्षकचूडारत्नालङ्कारोपदेशके उदाहरण दिए हैं वे धर्मोत्तरकी न्यायविन्दुटीका (पृ० २) के प्रभाससे अछूते नहीं हैं। इनकी शन्दरचना करीब करीब एक जैसी है। इसी तरह वायकुमुदचन्द्र (पृ० २६) में प्रत्यक्ष शब्दकी व्याख्या करते समय अक्षयश्रितपको प्रत्यनशब्दका व्युत्पत्तिनिमित्त बनाया है और अक्षयश्रितवोपलक्षित अर्थमाक्षा-कारित्व को प्रवृत्तिनिमित्त। ये प्रकार भी वायविदुटीका (पृ० ११) से अक्षरवा मिलते हैं।

**ज्ञानश्री और प्रभाचन्द्र**—ज्ञानश्रीने क्षणभगाध्याय आदि ग्रनेरु प्रकारण लिते हैं। उदयानाचाय ने अपने आत्मतत्त्वविवेकमें ज्ञानश्रीके क्षणभगाध्यायका नामोन्लेखपूर्वक आनुपूर्ति से खडन किया है। उदयनाचायने अपनी लक्षणानली तर्काम्भराक (१०६) शक, इ० १८४ में समाप्तरी थी। अत ज्ञानश्रीका समय इ० १८४ से पहिले तो होना ही चाहिए। मित्रु राहुल साकृत्सायनजीके नोट्स देखनेसे ज्ञान हुआ है कि—ज्ञानश्रीके क्षणभगाध्याय या अपोह सिद्धिके प्रारम्भमें यह कारिका है—

“अपोह शन्दलिङ्गाभ्या न यस्तु विधिनोच्यते।”

विद्यानदकी अष्टसहस्रीमें भी यह कारिका उद्धृत है। आ० प्रभाचद्रने भी अपोहवाद के प्ररक्षमें “अपोह शन्दलिङ्गाभ्या” कारिका उद्धृत की है। वाचस्पतिमिश्र (इ० ८४१) के ग्रन्थों में ज्ञानश्रीकी समालोचना नहीं है पर उदयनाचाय (इ० १८४) के ग्रन्थोंमें है, इसलिये भी ज्ञानश्रीका समय ईसाकी १० वीं शताब्दीके बाद तो नहीं जा सकता।

जयसिंहराशिभट्ट और प्रभाचन्द्र—भट्ट श्री जयसिंहराशिका तत्त्वोपसंहारसिंह नामक ग्रन्थ गायकवाड सीरीजमें प्रकाशित हुआ है। इनका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दी है। तत्त्वोपसंहारग्रन्थ में प्रमाण प्रमेय आदि सभी तत्त्वोंका बहुविध विकल्पजालसे खडन किया गया है। आ० विद्यानन्दके ग्रन्थोंमें सर्वप्रथम तत्त्वोपसंहारादीका पूर्णपक्ष देखा जाता है। प्रभाचन्द्रने सशयज्ञानका पूर्णपक्ष तथा वाचकज्ञानका पूर्णपक्ष तत्त्वोपसंहार ग्रन्थसे ही किया है और उसका उतने ही विकल्पों द्वारा खडन किया है। प्रमेयकर्मलमार्तण्ड (पृ० ६४८) में 'तत्त्वोपसंहारादि' का दृष्टान्त भी दिया गया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३३६) में भी तत्त्वोपसंहारादिका दृष्टान्त पाया जाता है। तात्पर्य यह कि परमतके खडनमें क्वचित् तत्त्वोपसंहारादिकृत विकल्पोंका उपयोग कर लेने पर भी प्रभाचन्द्रने स्थान स्थान पर तत्त्वोपसंहारादिके विकल्पोंकी भी समीक्षा की है।

कुन्दकुन्द और प्रभाचन्द्र—दिग्म्बर आचार्यों में आ० कुन्दकुन्दका त्रिशिष्ट स्थान है। इनके सारत्रय—प्रवचनसार, पञ्चास्तिकायसमयसार और समयमार—के सिवाय बारसत्रयगुणवेक्त्वा अष्टपाहुड आदि ग्रन्थ उपलब्ध हैं। प्रो० ए० एन० उपाध्येने प्रवचनसारकी भूमिकात्मक इनका समय ईसाकी प्रथमशताब्दी सिद्ध किया है। कुन्दकुन्दाचार्यने बोधपाहुड (गा० ३७) में केवलीको आहार और निहारसे रहित बताकर फजलाहारका निषेध किया है। सूत्रभाष्य (गा० २३-३६) में स्त्रीको प्रन्याका निषेध करके स्त्रीमुक्तिका निरास किया है। कुन्दकुन्दके इस मूलमार्गका दार्शनिकरूप हम प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंमें कैलिंगजलाहारवाद तथा स्त्रीमुक्तिवादके रूपमें पाने हैं। यद्यपि शाकटायनने अपने कैलिमुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरणोंमें दिग्म्बरोंकी मान्यताका निरस्त खटन किया है, जिससे ज्ञात होता है कि शाकटायनके सामने दिग्म्बराचार्योंका उक्त सिद्धान्तद्वयका समर्थक विकसित साहित्य रहा है। पर आज हमारे सामने प्रभाचन्द्रके ग्रन्थ ही इन दोनों मान्यताओंके समर्थकरूपमें समुपस्थित हैं। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रवचनसारकी 'जियदु य मरदु य' गाथा, भावपाहुडकी 'ग्नो मे सम्मन्ने' गाथा, तथा प्रा० सिद्धभक्तिकी 'पुने वेन्ता' गाथा उद्धृत की है। प्राकृत दशभक्तियों भी कुन्दकुन्दाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हैं।

समन्तभद्र और प्रभाचन्द्र—आद्यस्तुतिकार स्वामी समन्तभद्राचार्यके बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, आत्ममीमासा, युक्तधनुशासन आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनका समय विक्रमकी दूसरी शताब्दी माना जाता है। किन्हीं विद्वानोंका विचार है कि इनका समय विक्रमकी पाचवीं या छठवीं शताब्दी होना चाहिए। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्रमें बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रसे "अनेकान्तोऽप्यनेकान्" "मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्" "तदेव च स्यात् तदेव" इत्यादि श्लोक उद्धृत किए हैं।

आ० विद्यानन्दने आत्मपरीक्षाका उपसंहार करते हुए निम्नलिखित श्लोक लिखा है कि—

“श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतमलिलनिधेरिद्वन्नोऽयस्य  
प्रोत्थानारम्भकाले मन्त्रमलमिदं शास्त्रकारे कृत यत् ।

मनोत्र तीर्थोपमान पृथितप्रथुपथ स्वामिमीमासित तत्

त्रिविधान् स्वशक्त्या कथमपि कथित सत्यनाथ्यार्थसिद्धये ॥१२३॥”

अर्थात् तत्पार्थशास्त्ररूपी प्रदुष्टत समुद्रसे दीप्तज्ञानके उद्भवके मोक्षानारम्भकाल-प्रारम्भिक समयमें, शास्त्रकारने, पार्थोका नाश करनेके लिए, मोक्षके पथको बतानेवाला तीर्थस्वरूप जो स्तम्भ किया था और जिस स्तम्भकी स्वामिने मीमासा की है, उसीका त्रिविधान् अपने स्वशक्तिके अनुसार सत्यनाथ्य और सत्यार्थकी सिद्धिके लिए त्रिवेचन किया है।

वे इस श्लोकमें स्पष्ट सूचित करते हैं कि स्वामी समन्तभद्रने 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' मगलश्लोकमें वर्णित जिम आसती मीमासा की है उसी आसत्तम मेंने परीक्षा की है। वह मगलस्तोत्र तत्पार्थशास्त्ररूपी समुद्रसे दीप्त ज्ञानके उद्भवके प्रारम्भिक समयमें शास्त्रकारने बनाया था। यह तत्पार्थशास्त्र यदि तत्पार्थसूत्र है तो उमका मथन करके स्तम्भके निकालनेवाले 'प्राचार्य पूज्यपाद' हैं। यह 'मोक्षमार्गस्य नेतार' श्लोक स्वयं सूत्रकारका तो नहीं मालूम होता, क्योंकि भद्रा कलहने और त्रिविधान् अपने राजवार्तिक और श्लोकनार्तिकमें इसका व्याख्यान नहीं किया है। यदि त्रिविधान् इसे सूत्रकारकृत ही मानते होते तो वे अन्य ही श्लोकवार्तिकमें उसका व्याख्यान करते। इस श्लोकमें त्रिविधान् 'मोक्षमार्गस्य नेतार' श्लोकको उस शास्त्रकारका बताया है, जिसने तत्पार्थशास्त्ररूपी समुद्रका मथन करके दीप्तरत्न निकाले थे। वे इस श्लोकको मूलसूत्रकारका नहीं मानते। परंतु यही त्रिविधान् आसत्परीक्षा (पृ० ३) के प्रारम्भमें इसी श्लोकको सूत्रकारकृत भी लिखते हैं। यथा-

“किं पुनस्तत्परमेष्ठिनो गुणस्तोत्र शास्त्रादौ सूत्रकारा प्राहुरिति निगद्यते-मोक्षमार्गस्य नेतार ”

इस पक्षमें यही श्लोक सूत्रकारकृत कहा गया है। किंतु त्रिविधान्की शैलीना ध्यानसे समीक्षण करने पर यह स्पष्टरूपसे विदित हो जाता है कि वे अपने प्रार्थामें किसी भी पूर्वाचार्यको सूत्रकार और किसी भा पूर्वग्रन्थको सूत्र लिखते हैं। तत्पार्थश्लोकनार्तिक (पृ० १८४) में वे व्यक्तकह- देवका सूत्रकार शब्दसे तथा राजनार्तिकका सूत्र शब्दसे उल्लेख करते हैं-“तेन 'इन्द्रियानि-न्द्रियानपेक्षमतीत' यमिचार मानारग्रहणम्' इत्येतत्सूत्रोपात्तमुक्तं भवति। ततः, प्रत्यक्षलक्षण प्राहुः स्पष्ट साक्षात्प्रज्ञसा। द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थोत्पत्तवेदनम् ॥ ४ ॥ सूत्रकारा इति श्रेयमानलङ्कारोच्यते।” इस अन्तरणमें 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्ष' वाक्य राजवार्तिक पृ० ३८) का है तथा 'प्रत्यक्षलक्षण' श्लोक न्यायविनिश्चय (श्लो० ३) का है। अतः मात्र सूत्रकारके नामसे 'मोक्षमार्गस्य नेतार' श्लोकको उद्धृत करनेके कारण हम त्रिविधान्का मुझाप इसे मूल सूत्रकारकृत माननेकी ओर है यह नहीं समझ सकते। अथवा वे इसका व्याख्यान श्लोकवार्तिकमें अन्वय करते। अतः हम पक्षमें सूत्रकार शब्दसे मी इन्द्रज्ञानके उद्भवकर्ता प्राचार्यना ही ग्रहण करना चाहिए। 'मोक्षमार्गस्य नेतार' श्लोक वस्तुतः सत्यार्थसिद्धिका ही मगलश्लोक है। और यदि समन्तभद्रने इसी श्लोकके ऊपर अपनी आसत्मीमासा बनाई है, जैसा कि त्रिविधान्का उल्लेख है, तो समन्तभद्र पूज्यपादके उत्तरवादीन सिद्ध होने हैं। प० सुखलालजी का यह तर्क कि-“यदि समन्तभद्र

पूज्यपादके प्राक्कालीन होते तो वे अपने इस युगप्रधान आचार्य की आसमीमासा जैसी अनूठी कृति-का उल्लेख किए बिना नहीं रहते" निचारीय है। यद्यपि ऐसे नकारात्मक प्रमाणों से किसी आचार्यके समयका स्वतन्त्र भावसे साधन बाधन नहीं होता फिर भी निचार की एक स्पष्ट छोटि तो उपस्थित हो ही जाती है। समन्तभद्रकी आसमीमासाके चौथे परिच्छेदमें वर्णित "त्रिरूपकार्यारम्भमाय" आदि कारिकाओंके पूर्वपक्षों की समीक्षा करनेसे ज्ञात होता है कि समन्तभद्रके सामने समस्त दिग्नागके ग्रन्थ भी रहे हैं। बौद्धदर्शन की इतनी स्पष्ट विचारधाराकी सम्भावना दिग्नागसे पहिले नहीं की जा सकती।

हेतुमिदुके अर्चटकृत विवरणमें समन्तभद्रकी आसमीमासाकी "द्रव्यपर्याययोरैक्य तयोरव्यतिरेकत" कारिकाके खटन करनेवाले ३०-३५ श्लोक उद्धृत किए गए हैं। ये श्लोक समस्त धर्मकीर्तिके किसी ग्रन्थके हो। अर्चटका समय ६ वीं सदी है। कुमारिलके मीमासाश्लोकरातिर्कमें समन्तभद्रकी "घटमौलिसुवर्णाधी" कारिकाके प्रतिच्छायाभूत निम्न श्लोक पाये जाते हैं—

"वर्धमानम्भङ्गे च रुचक त्रियते यदा। तदा पूर्वार्थिन शोक प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिन ॥

हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्य तस्माद्भस्तु त्रयात्मकम्। न नागेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम् ॥

रित्या विना न माध्यस्थ्य तेन सामान्यनित्यता ॥" [ मी० श्लो० पृ० ६१६ ]

कुमारिलका समय ईसाकी ७ वीं सदी है। अतः समन्तभद्रकी उत्तरार्धि तो सातवीं सदी सुनिश्चित है। पूर्वार्धिका निवामक प्रमाण दिग्नागका समय होना चाहिए। इस तरह समन्तभद्रका समय इसकी ५ वीं और सातवीं शताब्दीका मध्यभाग अधिक समस्त है। यदि विद्यानन्दके उल्लेखमें ऐतिहासिक दृष्टि भी निविष्ट है तो इनका समय पूज्यपादके बाद होना चाहिए। अथवा दिग्नाग ( ई० ४२५ ) के बाद और पूज्यपादसे कुछ पहिले।

पूज्यपाद और प्रभाचन्द्र—श्रा० देवनटिका अथर नाम पूज्यपाद था। ये विक्रम की पाचवी और छठी सदीके रयात आचार्य थे। श्रा० प्रभाचन्द्रने पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि पर सर्वार्थवृत्तिपदविरण नामकी लघुवृत्ति लिखी है। इसके सिवाय इन्होंने जेनेन्द्रव्याकरण पर शब्दाभोजमास्कर नामका न्यास लिखा है। पूज्यपादकी संस्कृत सिद्धमक्तिसे 'सिद्धि स्वात्मोपलधि' पद भी न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें जहा कहीं भी व्याकरणके सूत्रोंके उद्धरण देनेकी आवश्यकता हुई है वहा प्रायः जेनेन्द्रव्याकरणके अभयनन्दिसम्मत सूत्रपाठसे ही सूत्र उद्धृत किए गए हैं।

धनञ्जय और प्रभाचन्द्र—'संस्कृतसाहित्यका सक्षिप्त इतिहास' के लेखकद्वयने धनञ्जयका समय ई० १२ वें शतकाका मध्य निर्धारित किया है ( पृ० १७३ )। और अपने इस मतकी पुष्टिके लिए के० वी० पाठक महाशयका यह मत भी उद्धृत किया है कि—"धनञ्जयने द्विसन्धान महापाण्यकी रचना ई० ११२३ और ११४० के मध्यमें की है।" डॉ० पाठक और उक्त

१ देशी अनेकान्न वर १ पृ० १९७। प्रेमी जी सूचित करते हैं कि हमकी प्रति बंबईके ऐम्ब पत्रालय गरस्वती भवनमें मौजूद है।



इतिहास के लेखकद्वय अथ कई जैन कर्मियोंके समय निर्धारणकी भांति धनञ्जयके समयमें भी बड़ी भारी भ्रान्ति कर बैठे हैं। क्योंकि विचार करनेसे धनञ्जयका समय इसाकी ८ वीं सदीका अन्त और नवीना प्रारम्भिक भाग सिद्ध होता है—

१ जल्हण (ई० द्वादशशतक) विरचित सूक्तिमुक्तावलीमें राजशेखरके नामसे धनञ्जयकी प्रशंसा निम्न लिखित पद्य उद्धृत है—

“द्विसंधाने निपुणता सना चक्रे धनञ्जय । यथा जात फल तस्य स ता चक्रे धनञ्जय ॥”  
इस पद्यमें राजशेखरने धनञ्जयके द्विसंधानकाव्यका मनोमुग्धर सरणिसे निर्देश किया है। संस्कृत साहित्यके इतिहासके लेखकद्वय लिखते हैं कि—“यह राजशेखर प्रबन्धकोशका कर्ता नैन राजशेखर है। यह राजशेखर ई० १३४८ में विद्यमान था।” आश्चर्य है कि १२ वीं शताब्दीके विद्वान् जल्हणके द्वारा विरचित ग्रन्थमें उल्लिखित होने वाले राजशेखरको लेखकद्वय १४ वीं शताब्दीका जैन राजशेखर बताते हैं। यह तो मोटी बात है कि १२ वीं शताब्दीके जल्हणने १४ वीं शताब्दीके जैन राजशेखरका उल्लेख न करके १० वीं शताब्दीके प्रसिद्ध काव्यमीमांसार राजशेखरका ही उल्लेख किया है। इस उल्लेखसे धनञ्जयका समय ९ वीं शताब्दीके अन्तिम भागके बाद तो किसी भी तरह नहीं जाता। ई० ९६० में विरचित सोमदेवके योगमिलरूपग्रन्थमें राजशेखरका उल्लेख होनेसे इनका समय करीब ई० ९१० ठहरता है।

२ बादिराजसूरि अपने पारनाथचरित (पृ० ४) में धनञ्जयकी प्रशंसा करते हुए लिखते हैं—  
“अनेकभेदसंधाना सनातो हृदये मुहु । बाणा धनञ्जयो मुक्ता कर्णस्येव प्रिया वयम् ॥”  
इस छिष्ट श्लोकमें ‘अनेकभेदसंधाना’ पदसे धनञ्जयके ‘द्विसंधानकाव्य’ का उल्लेख बड़ी कुशलतासे किया गया है। बादिराजसूरिने पारनाथचरित ९७७ शक (ई० १०२५) में समाप्त किया था। अतः धनञ्जयका समय ई० १० वीं शताब्दीके बाद तो किसी भी तरह नहीं जा सकता।

३ आ० वीरसेनने अपनी ध्वजलाटीका (अमरानतीकी प्रति पृ० ३८७) में धनञ्जयकी अनेकार्थनाममाला निम्न लिखित श्लोक उद्धृत किया है—

“हेतायेन प्रचारोयं व्यवच्छेद विपर्यये । प्रादुर्भाव समाप्तो च इतिशब्द विदुर्बुधा ॥”  
आ० वीरसेनने धनलाटीकाकी समाप्ति शक ७३८ (ई० ८१६) में की थी। अतः धनञ्जयका समय ८ वीं शताब्दीका उत्तरभाग और नवीं शताब्दीका पूर्वभाग सुनिश्चित होता है। धनञ्जयने अपनी नाममाला—

“प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम् । धनञ्जयस्यै काव्य रत्नत्रयसपञ्चिमम् ॥”  
इस श्लोकमें अकलङ्कदेवका नाम लिया है। अकलङ्कदेव इसाकी ८ वीं सदीके आचार्य ह अतः धनञ्जयका समय ८ वीं सदीका उत्तरार्ध और नवींका पूर्वार्ध मानना सुसंगत है। आचार्य प्रभाकरने अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ४०२) में धनञ्जयके द्विसंधानकाव्यका उल्लेख किया है। पापकुमुदचन्द्रम् इसी स्थल पर द्विसंधानकी जगह त्रिसंधान नाम लिया गया है।

रामिन्द्रशिष्य अनन्तरीर्य और प्रभाचन्द्र—रविभद्रपादोपजीवि अनन्तरीर्योचार्यकी सिद्धिनिनिश्चयटीका समुपलब्ध है। ये अकलङ्कके प्ररुणोंके तलद्रष्टा, विवेचयिता, व्याख्याता और मर्मज्ञ थे। प्रभाचन्द्रने इनकी उक्तियोंसे ही दुरवगाह अकलङ्कवाङ्मयका सुष्ठु अभ्यास और विवेचन किया था। प्रभाचन्द्र अनन्तरीर्यके प्रति अपनी कृतज्ञताका भाव न्यायकुमुदचन्द्रमें एकाविकवार प्रदर्शित करते हैं। इनकी सिद्धिनिनिश्चयटीका अकलङ्कवाङ्मयके टीकासाहित्यका शिरोरत्न है। उसमें सैकड़ों मतमता-तरोंका उल्लेख करके उनको सनिस्तर निरास किया गया है। इस टीकामें धर्मकीर्ति, अर्चट, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकरगुप्त, आदि प्रसिद्ध प्रसिद्ध धर्मकीर्तिसाहित्यके व्याख्याकारोंके मत उनके प्रर्थोंके लम्बे लम्बे अवतरण देकर उद्धृत किए गए हैं। यह टीका प्रभाचन्द्रके ग्रथो पर अपना विचित्र प्रभाव रखती है। शातिसूरिने अपनी जैनतर्कवा-  
र्तिकवृत्ति ( पृ० १८ ) में 'एके अनन्तरीर्योदय' पदसे समग्रत इन्हीं अनन्तरीर्यके मतका उल्लेख किया है।

विद्यानन्द और प्रभाचन्द्र—आ० विद्यानन्दका जैनतार्किकोंमें अपना विशिष्ट स्थान है। इनकी श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, आसपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, युक्त्यनुशासनटीका आदि तार्किककृतियाँ इनके अतुल्य तलस्पर्शी पाण्डित्य और सर्वतोमुख अध्ययन का पदे पदे अनुभव कराती हैं। इन्होंने अपने किसी भी ग्रन्थमें अपना समय आदि नहीं दिया है। आ० प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्चण्ड और 'न्यायकुमुदचन्द्र' दोनों ही प्रमुखग्रन्थों पर विद्यानन्दकी कृतियोंकी सुनिश्चित श्रमिष्ट छाप है। प्रभाचन्द्रको विद्यानन्दके ग्रथोंका अनूठा अभ्यास था। उनकी शन्दरचना भी विद्यानन्दकी शब्दभगीसे पूरी तरह प्रभावित है। प्रभा-  
चन्द्रने प्रमेयकमलमार्चण्डके प्रथमपरिच्छेदके अन्तमें—

“विद्यानन्दसमन्तभद्रगुणतो निर्य मनोनन्दनम्”

इस श्लोकाशमें श्लिष्टरूपसे विद्यानन्दका नाम लिया है। प्रमेयकमलमार्चण्डमें पत्रपरीक्षासे पत्रका लक्षण तथा अ य एक श्लोक भी उद्धृत किया गया है। अतः विद्यानन्दके ग्रथ प्रभा-  
चन्द्रके लिए उपजीव्य निर्विवादरूपसे सिद्ध हो जाते हैं।

आ० विद्यानन्द अपने आसपरीक्षा आदि ग्रथोंमें 'सत्यनाक्यार्थसिद्धयै' 'सत्यनाक्याधिपा' विशेषणसे तत्कालीन राजाका नाम भी प्रकारान्तरसे सूचित करते हैं। वावू कामताप्रसादजी ( जैनसिद्धान्तभास्कर भाग ३ किरण ३ पृ० ८७ ) लिखते हैं कि—“बहुत सभ्य है कि उन्होंने गगनादि प्रदेश में बहुवास किया हो, क्योंकि गगनादि प्रदेशके राजा राजमन्लने भी गगनशमें होने वाले राजाओंमें सर्वप्रथम 'सत्यनाक्य' उपाधि या श्रपणनाम धारण किया था। उपर्युक्त श्लोकोंमें यह सभ्य है कि विद्यानन्दजीने अपने समयके इस राजाके 'सत्यनाक्याधिप' नामको धनित किया हो। युक्त्यनुशासनालकारमें उपर्युक्त श्लोक प्रशस्त रूप है और उसमें रचयिता द्वारा अपना नाम और समय सूचित होना ही चाहिए। समयके लिए तत्कालीन राजाका नाम धनित करना पर्याप्त है। राजमल सत्यनाक्य विजयादित्यका लक्षका था और यह सन् ८१६

के लगभग राज्याधिकारी हुआ था। उनका समय भी विद्यानन्दके अनुकूल है। युक्त्यनुशासनालङ्कारके अंतिम श्लोकके “प्रोक्त युक्त्यनुशासन विजयिभि श्रीसत्यवाक्याधिपै” इस अंशमें सत्यवाक्याधिप और विजय दोनों शब्द हैं, जिनसे गंगराज सत्यवाक्य और उसके पिता विजयादित्यका नाम ध्वनित होता है।” इस अन्तरणसे यह सुनिश्चित हो जाता है कि विद्यानन्दने अपनी कृतियों राजमल सत्यवाक्य (८१६ ई०) के राज्यकालमें बनाई हैं। आ० विद्यानन्दने सर्वप्रथम अपना तत्त्वार्थश्लोकार्थिक ग्रंथ बनाया है, तदुपरान्त अष्टसहस्री और विद्यानन्द-महोदय, इसके अनन्तर अपने आसपरीक्षा आदि परीक्षातनामवाले लघु प्रकरण तथा युक्त्यनुशासनटीका, क्योंकि अष्टसहस्रीमें तत्त्वार्थश्लोकार्थिकता, तथा आसपरीक्षा आदिमें अष्टसहस्री और विद्यानन्दमहोदयका उल्लेख पाया जाता है। विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकार्थिक और अष्टसहस्रीमें, जो उनकी आद्य रचनाएँ हैं, ‘सत्यवाक्य’ नाम नहीं लिया है, पर आसपरीक्षा आदिमें ‘सत्यवाक्य’ नाम दिया है। अतः मालूम होता है कि विद्यानन्द श्लोकार्थिक और अष्टसहस्रीको सत्यवाक्यके राज्यसिंहासनासीन होनेके पहिले ही बना चुके होंगे। विद्यानन्दके ग्रंथोंमें मदनमिश्रके मतका खंडन है और अष्टसहस्रीमें सुरेश्वरके सम्बन्धकारिकसे ३।४ कारिकाएँ भी उद्धृतकी गई हैं। मदनमिश्र और सुरेश्वरका समय ईसाकी ८वीं शताब्दीका पूर्वभाग माना जाता है। अतः विद्यानन्दका समय इसानी ८वीं शताब्दीका उत्तरार्ध और नवींका पूर्वार्ध मानना सयुक्तिक मालूम होता है। प्रभाचंद्रके सामने इनकी समस्त रचनाएँ रही हैं। तत्त्व-पहलनादका खंडन तो विद्यानन्दकी अष्टसहस्रीमें ही विस्तारसे मिलता है, जिसे प्रभाचन्द्रने अपने ग्रंथोंमें स्थान दिया है। इसी तरह अष्टसहस्री और श्लोकार्थिकमें पाई जानेवाली भावना विधि नियोगके विचारकी दुरुग्राह्य चरचा प्रभाचंद्रके “यायकुमुदचंद्रमें प्रसन्नरूपसे अत्यन्त ही है। आ० विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकार्थिक (पृ० २०६) में “यायदर्शनके ‘पूर्ववत्’ आदि अनुमानसूत्रना निरास करते समय केवल भाष्यकार और वार्तिककारका ही मत पूर्वपक्ष रूपसे उपस्थित किया है। वे यायवार्तिकतात्पर्यटीकाकारके अभिप्रायको अपने पूर्वपक्षमें शामिल नहीं करते। वाचस्पतिमिश्रन तात्पर्यटीका ई० ८४१ के लगभग बनाई थी। इससे भी विद्यानन्दके उक्त समयकी पुष्टि होती है। यदि विद्यानन्दना ग्रंथ रचनाकाल ई० ८४१ के बाद होता तो वे तात्पर्यटीका उल्लेख किये बिना न रहते।

**अनन्तकीर्ति और प्रभाचन्द्र**—लघीपल्लवादि सग्रहमें अनन्तकीर्तिकृत लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि प्रकरण मुद्रित हैं। लघीपल्लवादिसग्रहकी ही प्रस्तावनामें प० नाथूरामजी प्रेमीने इन अनन्तकीर्तिके समयकी उचारावधि विक्रम संवत् १०८२ के पहिले निर्धारित की है, और इस समयके समयनमें वृत्तिराजके पार्श्वनाथचरितका यह श्लोक उद्धृत किया है—

“आत्मनेवाद्भिर्तीयेन जीवसिद्धि निवृत्ता । अनन्तकीर्तिना मुक्तिरात्रिमागव लक्ष्यते ॥”

वादिराजने पार्श्वनाथचरित की रचना विक्रम संवत् १०८२ में की थी। समन तो यह है कि ई० अनन्तकीर्तिने जीवसिद्धिकी तरह लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि ग्रंथ बनाये

हों। सिद्धिविनिश्चयटीकामें अनन्तकीर्तने भी एक अनन्तकीर्तिका उल्लेख किया है। यदि पारसनाथ चरितमें स्मृत अनन्तकीर्ति और सिद्धिविनिश्चयटीकामें उल्लिखित अनन्तकीर्ति एक ही व्यक्ति हैं तो मानना होगा कि इनका समय प्रभाचन्द्रके समयसे पहिले है, क्योंकि प्रभाचन्द्रने अपने ग्रन्थोंमें सिद्धिविनिश्चयटीकाकार अनन्तकीर्तिका समह्वान स्मरण किया है। अस्तु। अनन्तकीर्तिके लघुसर्वज्ञसिद्धि तथा बृहत्सर्वज्ञसिद्धि अर्थोंका और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रके सर्वज्ञसिद्धि प्रकरणोंका आम्बुतर परीक्षण यह स्पष्ट बताता है कि इन अर्थोंमें एकका दूसरेके ऊपर पूरा पूरा प्रमाण है।

बृहत्सर्वज्ञसिद्धि—(पृ० १८१ से २०४ तक) के अन्तिम पृष्ठ नो कुछ थोड़ेसे हेरफेरसे न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८३८ से ८४७) के मुक्तिवाद प्रकरणके साथ अपूर्व सादृश्य रखते हैं। इन्हें पढ़कर कोई भी साधारण व्यक्ति कह सकता है कि इन दोनोंमेंसे किसी एकने दूसरेका पुस्तक सामने रखकर अनुसरण किया है। मेरा तो यह विश्वास है कि अनन्तकीर्तिके बृहत्सर्वज्ञसिद्धिका ही न्यायकुमुदचन्द्र पर प्रभाव है। उदाहरणार्थ—

“अनु जज्ञो जन दु राननुपक्तसु रमाधनमपश्यन् आत्मस्नेहात् सासारिकेषु दु रानुपक्तसु रमाधनेषु प्रवर्तते। हिताहितनिवेकज्ञस्तु तादात्मिकसु रमाधन स्यादिक परित्यज्य आत्मस्नेहात् आत्यन्तिकसु रमाधने मुक्तिमार्गे प्रवर्तते। यथा पश्यापश्याविवेकमज्ञानज्ञातुर तादात्मिकसु रमाधन व्याधिविवृद्धिनिमित्त दध्यादिकमुपादत्ते, पश्यापश्याविवेकज्ञस्तु तत्परित्यज्य पेयादो आरोग्यसाधने प्रवर्तते। उक्तञ्च—तदात्मसु रमाधनेषु भावेऽज्ञोऽनु रज्यते। हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षता ॥”—न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ८४२।

“किन्त्वतज्जो जनो दु राननुपक्तसु रमाधनमपश्यन् आत्मस्नेहात् ससारान्त पतितेषु दु रानुपक्तसु रमाधनेषु प्रवर्तते। हिताहितनिवेकज्ञस्तु तादात्मिकसु रमाधन स्यादिक परित्यज्य आत्मस्नेहात् आत्यन्तिकसु रमाधने मुक्तिमार्गे प्रवर्तते। यथा पश्यापश्याविवेकमज्ञानज्ञातुर तादात्मिकसु रमाधन व्याधिविवृद्धिनिमित्त दध्यादिकमुपादत्ते, पश्यापश्याविवेकज्ञस्तु आतुरस्तादात्मिकसु रमाधन दध्यादिक परित्यज्य पेयादो आरोग्यसाधने प्रवर्तते। तथा च कस्यचिद्धिटुप सुभाषितम्—तदात्मसु रमाधनेषु भावेऽज्ञोऽनु रज्यते। हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षता ॥”—बृहत्सर्वज्ञसिद्धि पृ० १८१।

इस तरह यह समूचा ही प्रकरण इसी प्रकारके शब्दानुसरणसे ओतप्रोत है।

शाकुरायन और प्रभाचन्द्र—राष्ट्रकूटकी राजा अमोघवर्षके राज्यकाल ( ईस्वी ८१४-८७७ ) में शाकुरायन नामके प्रसिद्ध पैयारण हो गए हैं। ये यापनीय सधके आचार्य थे। यापनीयसधका बाह्य आचार बहुत कुछ दिग्गम्रोंसे मिलता जुलता था। ये नम्र रहते थे। श्वेताम्बर ध्यागमोंको आरक्षकी दृष्टिमें देखते थे। आ० शाकुरायनने अमोघवर्षके नामसे अपने

१ श्लो०-५० नाथुरामप्रेमीका यापनीय साहित्यकी खाज (जनकान्त वप ३ बिरय १) तथा प्रा० ए० उपाध्यायका 'यापनीयसध (जनकान्त वप ४ धक ७) लेख।

शाकटायन-याकरण पर 'अमोघवृत्ति' नामकी टीका बनाई थी। अतः इनका समय भी लगभग ई० ८०० से ८७५ तक समझना चाहिए। यापनीयसधके अनुयायी दिग्म्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंकी बुद्ध बुद्ध बातोंको स्वीकार करते थे। एक तरहसे यह सध दोनों सम्प्रदायोंके जोड़नेके लिए शृङ्खलाका कार्य करता था। आचार्य मलयगिरिने अपनी नन्दीसूत्रकी टीका (पृ० १५) में शाकटायनको 'यापनीयवृत्तिप्रामाप्रणी' लिखा है—“शाकटायनोऽपि यापनीय-वृत्तिप्रामाप्रणी म्योपन्यायानुशासनवृत्तौ”। शाकटायन आचार्यने अपनी अमोघवृत्तिमें छेदसूत्र निर्युक्ति कालिकसूत्र आदि श्वे० प्रयोगोंका बड़े आदरसे उल्लेख किया है। आचार्य शाकटायनने केवलिक्रमवाहार तथा स्त्रीमुक्तिके समर्थनके लिए स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति नामके दो प्रकरण बनाए हैं। दिग्म्बर और श्वेताम्बरोंके परस्पर बिलगारमें ये दोनों सिद्धांत ही मुख्य माने जाते हैं। यों तो दिग्म्बर प्रयोगोंमें बुद्धबुद्धाचार्य पूज्यपाद आदिके प्रयोगोंमें स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति का सूत्ररूपसे निरसन किया गया है, परन्तु इहीं नियमोंके पूर्वोत्तरपक्ष स्थापित करके शास्त्रार्थका रूप आ० प्रभाचद्रने ही अपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचद्रमें दिया है। श्वेताम्बरोंके तर्कमाहिल्यमं हम सर्वप्रथम हरिमद्रसूरिकी ललितविम्वरामं स्त्रीमुक्तिका सक्षिप्त समर्थन देगते हैं, परन्तु इन नियमोंको शास्त्रार्थका रूप समतिटीकाकार अमयदेव, उत्तराध्ययन पाइयटीकाके रचयिता शांतिमूरि, तथा स्याद्वादरत्नाकरकार आदि देवसूरिने ही दिया है। पीछे तो यशोविनय उपाध्याय, तथा मेघत्रिजयगणि आदिने पर्याप्त साम्प्रदायिक रूपसे इनका विस्तार किया है। इन विवादप्रस्त नियमोंपर लिखे गए उभयपक्षीय साहित्यका ऐतिहासिक तथा तारिखक-दृष्टिसे सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति विषयोंके समर्थनका प्रारम्भ श्वेताम्बर आचार्योंकी अपेक्षा यापनीयसध वालोंने ही पहिले तथा दिलचस्पीके साथ किया है। इन नियमोंको शास्त्रार्थका रूप देनेवाले प्रभाचद्र, अमयदेव, तथा शांतिमूरि करीब करीब समकालीन तथा समदेशीय थे। परन्तु इन आचार्योंने अपने पक्षके समर्थनमें एक दूसरेका उल्लेख या एक दूसरेकी दलीलोंका साक्षात् खणन नहीं किया। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचद्रमें स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति का जो विस्तृत पक्ष लिखा गया है वह किसी श्वेताम्बर आचार्यके ग्रन्थका न होकर यापनीयसधणी शाकटायनके केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरणोंमें ही लिया गया है। इन प्रयोगोंके उत्तरपक्षमें शाकटायनके उक्त दोनों प्रकरणोंकी एक एक दलीलका शब्दशः पक्ष करके सयुक्ति निरास किया गया है। इसी तरह अमयदेवकी सामन्तिकटीका, और शांतिमूरिकी उत्तराध्ययन पाइयटीका और जैनतर्कवार्त्तिकमें शाकटायनके इहीं प्रकरणोंके आधारसे ही उक्त बातोंका समर्थन किया गया है। हाँ, यदिदेवसूरिके रत्नाकरमें इन मतभेदोंमें दिग्म्बर और श्वेताम्बर दोनों सामने सामने आते हैं। रत्नाकरमें प्रभाचद्रकी दलीलें पूरनक्ष रूपमें पाई जाती हैं। तात्पर्य यह कि—प्रभाचद्रने स्त्रीमुक्तिवाद तथा केवलिक्रमवाहार-चद्रमें श्वेताम्बर आचार्योंकी बनाए शाकटायनके केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरणोंकी ही अपने

सुडनका प्रधान सद्य बनाया है। न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ८६६ ) के पूर्वपक्षमें शाकटायनके खीमुक्ति प्रकरणकी यह कारिका भी प्रमाण रूपसे उद्धृत की गई है—

“गार्हस्थ्येऽपि सुमत्त्या विख्याता शीलप्रत्तया जगति ।

सीताप्य कथ तास्यपसि निशीला विसत्त्याश्च ॥” [ खीमु० श्लो० ३१ ]

अभयनन्दि और प्रभाचन्द्र—जैनेन्द्रव्याकरणपर आ० अभयनन्दिद्वृत महावृत्ति उपनम्य है। इसी महावृत्तिके आधारसे प्रभाचन्द्रने ‘शन्द्राम्भोजभास्कर’ नामका जैनेन्द्रव्याकरणका महापाठ बनाया है। प० नाथूरामजी प्रेमीने अपने ‘जैनेन्द्रव्याकरण और आचार्य देवनन्दी’ नामक लेखमें जैनेन्द्रव्याकरणके प्रचलित दो सूत्र पाठोंमेंसे अभयनन्दिसम्मत सूत्रपाठको ही प्राचीन और पूज्यपादकृत सिद्ध किया है। इसी पुरातनसूत्रपाठ पर प्रभाचन्द्रने अपना न्यास बनाया है। प्रेमीजीने अपने उक्त गवेषणापूर्ण लेखमें महावृत्तिकार अभयनन्दिको चन्द्रप्रमचरित्रकार वीरनन्दिका गुरु बताया है और उनका समय त्रिकमजी ग्यारहवीं शताब्दीका पूर्वभाग निर्धारित किया है। आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तिके गुरु भी यही अभयनन्दि थे। गोम्मतसार कर्मकाण्ड ( गा० ४३६ ) की निम्नलिखित गाथासे भी यही बात पुष्ट होती है—

“अस्स य पायपसाण्णणतससारजलद्धिसुत्तिण्णो ।

वीरिण्णण्विचन्द्रो णमामि त अभयणडिगुरु ॥”

इस गाथासे तथा कर्मकाण्डकी गाथा न० ७८४, ८२६ तथा लब्धिसार गा० ६४८ से यह सुनिश्चित हो जाता है कि वीरनन्दिके गुरु अभयनन्दि ही नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तिके गुरु थे। आ० नेमिचन्द्रने तो वीरनन्दि, इन्द्रनन्दि और इन्द्रनन्दिके शिष्य कनकनन्दि तकका गुरुत्वसे स्मरण किया है। इन सब उल्लेखों से ज्ञात होता है कि अभयनन्दि, उनके शिष्य वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि, तथा इन्द्रनन्दिके शिष्य कनकनन्दि सभी प्रायः नेमिचन्द्रके समकालीन बृद्ध थे।

वाट्सराजसूरिने अपने पार्ष्वचरितमें चन्द्रप्रमचरित्रकार वीरनन्दिका स्मरण किया है। पार्ष्वचरित शकसंवत् १४७, ई० १००५ में पूर्ण हुआ था। अतः वीरनन्दिकी उत्तरावधि ई० १०२५ तो सुनिश्चित है। नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिने गोम्मतसार ग्रन्थ चामुण्डरायके मन्वोधनार्थ बनाया था। चामुण्डराय गगनरसीयमहाराज मारसिद्ध द्वितीय ( १७५ ई० ) तथा उनके उत्तराधिकारी गजमल द्वितीयके मन्त्री थे। चामुण्डरायने अथर्ववेदगुलस्य बाहुवर्ति गोम्पटेश्वरकी मूर्तियों प्रनिष्ठा ई० १८१ में करवाई थी, तथा अपनी चामुण्डपुस्तक ई० १७८५ समाप्त किया था। अतः आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तिके समय ई० १८० के आसपास सुनिश्चित किया जा सकता है। और लगभग यही समय आचार्य अभयनन्दि आदिका होना

१ इसका परिषद 'प्रभाचन्द्रके पक्ष' विवर सम्बन्धमें दृश्या जाता है।

२ अतः आदि 'चक्रवर्ति' भाग १ संक २।

३ देवो विष्णोश्चरित की प्रस्तावना

चाहिए। इन्होंने अपनी महावृत्ति (लिखित पृ० २२१) में भर्तृहरि (ई० ६५०) की वाक्यपदीयका उल्लेख किया है। पृ० ३१३ में माघ (इ० ७ वीं सदी) कायसे 'सटान्ठटाभिन्न' श्लोक उद्धृत किया है। तथा ३२।५५ की वृत्तिमें 'तत्तार्थार्थार्तिन्मधीयते' प्रयोगसे अकलङ्कदेव (ई० ८ वीं सदी) के तत्तार्थराजनार्तिकका उल्लेख किया है। अतः इनका समय ६ वीं शताब्दीसे पहिले तो नहीं ही है। यदि यही अभयनन्दि जेनेद्र महावृत्तिके रचयिता हैं तो कहना होगा कि उन्होंने ई० १६० के लगभग अपनी महावृत्ति बनाई होगी। इसी महावृत्ति पर इ० १०६० के लगभग आ० प्रभाचन्द्रने अपना शब्दाभोजभास्कर 'यास बनाया है, क्योंकि इसकी रचना 'न्यायकुमुदचन्द्र'के बाद की गई है और न्यायकुमुदचन्द्र जयसिंहद्वय (राज्य १०५६ से) के राज्य के प्रारम्भकाल में बनाया गया है।

**मूलाचारकार और प्रभाचन्द्र**—मूलाचार ग्रन्थके कर्ताके विषयमें विद्वान् मतभेद राखते हैं। कोई इसे बुन्दकुन्दकृत कहते हैं तो कोई बट्टकेरिक्त। जो हो, पर इतना निश्चित है कि मूलाचारकी सभी गाथाएँ स्वयं उसके कर्ताने नहीं रची हैं। उसमें अनेकों ऐसी प्राचीन गाथाएँ हैं, जो बुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें, भगवती आराधनामें तथा आवरणनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति और समन्वितर्क आदि में भी पाई जाती हैं। समन है कि गोम्भटसार की तरह यह भी एक समग्र ग्रन्थ हो। ऐसे समग्रग्रन्थोंमें प्राचीनगाथाओंके साथ कुछ समग्रकाररचित गाथाएँ भी होती हैं। गोम्भटसारमें बहुभाग स्वरचित है जब कि मूलाचारमें स्वरचित गाथाओंका बहुभाग नहीं मालूम होता। आ० प्रभाचन्द्रने 'न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८४५) में "जगो मे मरसदो" "सजोगमूल जीवन" ये दो गाथाएँ उद्धृत की हैं। ये गाथाएँ मूलाचारमें ( २।४८, ४९ ) दर्ज हैं। इनमें पहिली गथा बुन्दकुन्दके भागपाड्ड तथा नियमसारमें भी पाई जाती है। इसी तरह प्रमेयकमलभास्कर (पृ० ३३१) में "आचेलकुहेसिय" आदि गाथाश दशविध स्थितिकल्पका निर्देश करने के लिए उद्धृत है। यह गाथा मूलाचार (गाथा न० १०६) में तथा भगवती आराधनाम (गा० ४२१) नियमान है। यहाँ यह बात खास ध्यान देने योग्य है कि प्रभाचन्द्रने इस गाथाको श्वेताम्बर आगममें आचेलकल्पके समर्थनका प्रमाण बताने के लिए श्वेताम्बरआगमके रूपमें उद्धृत किया है। यह गाथा जीतकल्पभाष्य (गा० १६७२) में पाई जाती है। गाथाओं की इस सक्रान्त स्थितिको देखते हुए यह सहज ही कहा जा सकता है कि—कुछ प्राचीन गाथाएँ परम्परासे चली आई हैं, जिन्हें दिग० श्वेता० दोनों आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें स्थान दिया है।

**नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती और प्रभाचन्द्र**—आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती वीरसेनापति श्री चामुण्डरायके समनाडीन थे। चामुण्डराय गणराज्य महाराज मारसिंह द्वितीय (१७५ ई०) तथा उनके उत्तराधिकारी राजमल्ल द्वितीयके मन्त्री थे। इन्होंने राज्यकालमें चामुण्डरायने गोम्भटेश्वरकी प्रतिष्ठा (सन् १८१) कराई थी। आ० नेमिचन्द्रने इन्हीं चामुण्डरायको सिद्धान्त परिष्कार करानेके लिए गोम्भटसार ग्रन्थ बनाया था। यह ग्रन्थ प्राचीन सिद्धान्तग्रन्थोंका सभिन्न संस्करण है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २५४) में 'लोयाथासपरसे'

गाथा उद्धृत है। यह गाथा जीवकांड तथा द्रव्यसमूह में पाई जाती है। अत आपातत यही निष्कर्ष निकल सकता है<sup>१</sup> कि यह गाथा प्रभाचन्द्रने जीवकांड या द्रव्यसमूहसे उद्धृत की होगी, परन्तु अन्वेषण करने पर मालूम हुआ कि यह गाथा बहुत प्राचीन है और सर्गार्थसिद्धि (५।३६) तथा श्लोकार्तिक (पृ० ३६६) में भी यह उद्धृत की गई है। इसी तरह प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ३००) में 'विग्गहगइमान्णा' गाथा उद्धृत की गई है। यह गाथा भी जीवकांड में है। परन्तु यह गाथा भी उल्लुत प्राचीन है और धवलाटीका तथा उमास्वातिकृत श्रावकप्रज्ञप्तिमें मौजूद है।

**प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य और प्रभाचन्द्र**—रविभद्रके शिष्य अनन्तवीर्य आचार्य अकलरुके प्रकरणोंके ह्यात टीकाकार विद्वान् थे। प्रमेयरत्नमालाके टीकाकार अनन्तवीर्य उनसे पृथक् व्यक्ति हैं, क्योंकि प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रथम अनन्तवीर्यका स्मरण किया है, और द्वितीय अनन्तवीर्य अपनी प्रमेयरत्नमालामें इन्हीं प्रभाचन्द्र का स्मरण करते हैं। वे लिखते हैं<sup>२</sup> कि प्रभाचन्द्रके वचनोंको ही सक्षिप्त करके यह प्रमेयरत्नमाला बनाई जा रही है। प्रो० ए० एन० उपाध्यायने<sup>३</sup> प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्यके समयका अनुमान ग्यारहवीं सदी किया है, जो उपयुक्त है। क्योंकि आ० हेमचन्द्र (१०८८-११७३ ई०) की प्रमाणमीमासा पर शब्द और अर्थ दोनों दृष्टिसे प्रमेयरत्नमालाका पूरा पूरा प्रभाव है। तथा प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका प्रभाव प्रमेयरत्नमाला पर है। आ० हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमासाने प्रायः प्रमेयरत्नमालाके द्वारा ही प्रमेयकमलमार्तण्ड को पाया है।

**देवसेन और प्रभाचन्द्र**—देवसेन श्रीविमलसेन गणीके शिष्य थे। इन्होंने धारानगरीके पार्श्वनाथ मंदिरमें माघ सुदी दशमी विक्रमसनत् ९६० (ई० ९३३) में अपना दर्शनसार ग्रन्थ बनाया था। दर्शनसारके बाद इन्होंने भावसमूह ग्रन्थकी रचना की थी, क्योंकि उसमें दर्शनसारकी अनेकों गाथाएँ उद्धृत मिलती हैं। इनके आराधनासार, तत्त्वसार, नयचक्रसमूह तथा आलापपद्धति ग्रन्थ भी हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ३००) तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८५६) के कवलाहारवादमें देवसेनके भावसमूह (गा० ११०) की यह गाथा उद्धृत की है—

“गोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो ।

ओज मणोवि य कमसो आहारो छव्विट्ठो णेयो ॥”

यद्यपि देवसेनसुरिने दर्शनसार ग्रन्थके अन्तमें लिखा है कि—

“पुत्रायरियक्याइ गाहाइ मच्चिङ्गण प्यत्थ । सिरिद्वेषेणगणिणा धाराए सवसत्तेण ॥

१ प्रमेयकमलमार्तण्डके प्रथम संस्करणके संपादक प० वशीधरजी शास्त्री सोलापुरने प्रमेयक० की प्रस्तावनामें यही निष्पन्न निकाला भी है।

२ “प्रभे दुवचनोदारचिद्रवाप्रसरे सति । मादसा वव नु गण्यन्ते ज्योतिरिङ्गणसमिभा ॥

तथापि तद्वचापुर्व्वरचनासिचरं सताम् । चेतोहर मृत यद्वन्नथा नवषट जलम् ॥”

३ दसो जनदगन वर्ष ४ शक ९ ।

४ नयचनरी प्रस्तावना पृ० ११- ।



रक्ष्यो दम्भणसारो हारो भव्याण णवसए णवए । सिरिपासणाहणेहे सुनिमुद्ध माहमुद्धदसमीपा।”  
 अर्थात् पूर्वाचार्यवृत्त गाथाओंका सचय करके यह दर्शनसार ग्रन्थ बनाया गया है।  
 तथापि बहुत खोज करने पर भी यह गाथा किसी प्राचीन ग्रन्थमें नहीं मिल सकी है। देवसेन  
 धारानगरीमें ही रहते थे, अतः धारानिवासी प्रभाचन्द्रके द्वारा भासप्रहसे भी उक्त गाथाका  
 उद्धृत किया जाना असम्भव नहीं है। चूँकि दर्शनसारके बाद भासप्रह प्रनाया गया है, अतः  
 इसका रचनाकाल समस्त विक्रम समत् ६६७ ( ई० ६४० ) के आसपास ही होगा।

**श्रुतकीर्ति और प्रभाचन्द्र**—जैनेन्द्रने प्राचीन सूत्रपाठपर आचार्य श्रुतकीर्तिवृत्त पचमस्तु-  
 प्रक्रिया उपलब्ध है। श्रुतकीर्तिने अपनी प्रक्रियाके अन्तमें ध्रामद्वृत्तिशब्दसे अमपनन्दिवृत्त  
 महावृत्ति और न्यासशब्दसे समस्त प्रभाचन्द्रवृत्त यासे, दोनोंका ही उल्लेख किया है। यदि  
 न्यासशब्द पूज्यपादके जैनेन्द्रयासका निर्देशक हो तो ‘टीकामाल’ शब्दसे तो प्रभाचन्द्रकी  
 टीकाका उल्लेख किया ही गया है। यथा—

“सूत्रसम्भ्रममुद्धृत प्रविलसन्न्यासोरुरक्षिति,  
 श्रीमद्वृत्तिरपाठसपुटयुत भाष्यौपशय्यातलम् ।  
 टीकामालमिहारुक्शुरचित जेनेन्द्रशदागमम्,  
 प्रासाद पृथुपञ्चस्तुमिद सोपानमारोहतात् ॥”

कलडी भाषाके चन्द्रप्रमचरित्रके कता अगलरविने श्रुतकीर्तिको अपना गुरु बताया है—  
 “इति परमपुरुनाथकुलभूश्रुतसमुद्धृतप्रचनसरितसरिताथश्रुतकीर्तित्रैत्रियचकर्तितपदपद्मनिधा-  
 नदीपवर्तिश्रीमदगालद्वयविरचिते चन्द्रप्रमचरिते” । यह चरित्र शक समत् १०११, ई०  
 १०८६ में बनकर समाप्त हुआ था। अतः श्रुतकीर्तिका समय लगभग १०८० ई० मानना  
 युक्तिसंगत है। इन श्रुतकीर्तिन न्यासको जैनेन्द्र व्याकरण रूपी प्रासादकी रत्नभूमिकी उपमा  
 दी है। इससे शब्दाभोजभास्करका रचनासमय लगभग ई० १०६० समर्पित होता है।

**श्वे० आगमसाहित्य और प्रभाचन्द्र**—म० महावीरकी अर्धभागधी दिव्यध्वनिको गणधरो  
 ने द्वादशांगी रूपमें रूँथा था। उस समय उन अर्धभागधी भाषामय द्वादशांग आगमोंकी परम्परा  
 श्रुत और स्मृत रूपमें रही, लिपिबद्ध नहीं थी। इन आगमोंका आखरी सरलन वीर स० ६८०  
 ( वि० ५१० ) में स्वताम्बराचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमणने किया था। अग्रग्रन्थोंके सिवाय कुछ  
 अगवाह्य या अनगात्मक श्रुत भी है। छेदसूत्र अनग्रन्थमें शामिल है। आ० प्रभाचन्द्रने  
 न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ८६८ ) के खीमुक्तिवादके पूर्वपक्षमें कल्पसूत्र ( ५।२० ) से “नो कल्प  
 गिगधीए अचेलाण होत्तए” यह सूत्राक्य उद्धृत किया है।

**तत्त्वार्थभाष्यकार और प्रभाचन्द्र**—तत्त्वार्थसूत्रके दो सूत्रपाठ प्रचलित हैं। एक तो  
 वह, जिस पर स्वयं वाचक उमास्वातिना स्वोपज्ञभाष्य प्रसिद्ध है, और दूसरा वह जिस पर पूज्य  
 पादवृत्त सर्वार्थसिद्धि है। दिगम्बर परम्परामें पूज्यपादसम्मत सूत्रपाठ और श्वेताम्बरपरम्परामें भाष्य

सम्मत सूत्रपाठ प्रचलित है। उमास्वातिके स्वोपज्ञभाष्यके कर्तृत्वके विषयमें आज कल विवाद चल रहा है। मुल्तारसा० आदि कुछ विद्वान् भाष्यकी उमास्वातिकर्तृकताके विषयमें सन्दिग्ध हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें दिग्म्बरसूत्रपाठसे ही सूत्र उद्धृत किए हैं। उन्होंने न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ८५६ ) के स्त्रीमुक्तिनादके पूर्वपक्षमें तत्कार्यभाष्यकी सम्बन्ध-कारिकाओंमेंसे “श्रूयन्ते चानन्ता मामायिकमात्रसिद्धा” कारिकाश उद्धृत किया है। तत्कार्य-राजवार्तिक ( पृ० १० ) में भी “अनन्ता सामायिकमात्रसिद्धा” वाक्य उद्धृत मिलता है। इसी तरह तत्कार्यभाष्यके अन्तमें पाइ जाने वाली ३२ कारिकाएँ राजवार्तिकके अन्तमें ‘उक्तञ्च’ लिखकर उद्धृत हैं। पृ० ३६१ में भाष्यकी ‘दग्धे बीजे’ कारिका उद्धृतकी गई है। इत्यादि प्रमाणोंके आधारसे यह नि सङ्कोच कहा जा सकता है कि प्रस्तुत भाष्य अमलङ्कदेवके सामने भी था। उनमें इसके कुछ मन्तव्योंकी समीक्षा भी की है।

**सिद्धसेन और प्रभाचन्द्र**—आ० सिद्धसेनके सन्मतितर्क, न्यायान्तार, द्वार्षिश्त् द्वार्षि-शतिका ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनके सन्मतितर्क पर अमयदेवमूरिने निस्तृत व्याख्या लिखी है। डॉ० जेम्सोवी न्यायान्तारके प्रत्यक्ष लक्षणमें अध्रान्त पद देखकर इनको धर्मकीर्तिका समकालीन, अर्थात् ईसाकी ७ वीं शताब्दीका विद्वान् मानते हैं। प० सुखलाल जी इन्हें निक्रमकी पाचवीं सदीका विद्वान् सिद्ध करते थे। पर अब उनका निश्चास है कि “सिद्धसेन ईसाकी छठीं या सातवीं सदीमें हुए हों और उन्होंने समस्त धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंको देखा हो<sup>१</sup>।” न्यायान्तारकी रचनामें न्यायप्रवेशके साथ ही साथ न्यायविन्दु भी अपना यत्किञ्चित् स्थान रखता ही है। आ० प्रभा-चन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ४३७ ) में पक्षप्रयोगका समर्थन करते समय ‘धानुष्क’ का उदाहरण दिया है। इसकी तुलना न्यायान्तारके श्लोक १४-१६ से मलीभाति की जा सकती है। न केवल मूलश्लोकसे ही, किन्तु इन श्लोकोंकी सिद्धविकृत व्याख्या भी न्यायकुमुदचन्द्रकी शब्दरचनासे तुलनीय है।

**धर्मदासगणेश और प्रभाचन्द्र**—श्रे० आचार्य धर्मदासगणिका उपदेशमाला ग्रन्थ प्राकृत-गायानिबद्ध है। प्रसिद्धि तो यह रही है कि ये महावीरस्वामीके दीक्षित शिष्य थे। पर यह इतिहासविरुद्ध है, क्योंकि इन्होंने अपनी उपदेशमालामें वज्रसूरी आदिके नाम लिए हैं। अस्तु। उपदेशमाला पर सिद्धविकृत प्राचीन टीका उपलब्ध है<sup>२</sup>। सिद्धविकृतने उपमितिभयप्रपञ्चाकथा वि सं० ६६२ ज्येष्ठ शुद्ध पचमीके दिन समाप्त की थी। अतः धर्मदासगणिकी उत्तराग्रि विक्रम की ६ वीं शताब्दी माननेमें कोई बाधा नहीं है। प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ( पृ० ३३० ) में उपदेशमाला ( गा० १५ ) की ‘वरिससयदिक्रययाण अज्जाए अज्ज दिस्सिओ साहू’ इत्यादि गायानि प्रमाणरूपसे उद्धृत की है।

१ देवो गुजराती सन्मतितर्क पृ० ४० ।

२ इंग्लिश सन्मतितर्क की प्रस्तावना ।

३ जनसाहित्यना इतिहास पृ० १८६ ।

हरिभद्र और प्रभाचन्द्र—आ० हरिभद्र श्वे० सम्प्रदायके युगप्रधान आचार्योंमेंसे हैं। कहा जाता है कि इन्होंने १४०० के करीब मर्यादा रचना की थी। मुनि श्री जिनविजय जीने अनेक प्रश्न प्रमाणोंसे इनका समय ३० ७०० से ७७० तक निर्धारित किया है। मेरा इसमें इतना सशोधन है—कि इनके समयकी उत्तरावधि ई० ८१० तक होनी चाहिए, क्योंकि जयन्त मर्यादा यापमजरीका 'गम्भीरार्जितारम्भ' श्लोक पङ्क्तिदर्शनसमुच्चयमें शामिल हुआ है। मैं विस्तारसे लिख चुका हूँ कि जयन्तने अपनी मजरी ई० ८०० के करीब बनाई है अतः हरिभद्रके समयकी उत्तरावधि कुछ और लम्बानी चाहिए। उस युगमें १०० वर्षकी आयु तो साधारणतया अनेक आचार्यों की देखी गई है। हरिभद्रसूरिके दार्शनिक ग्रंथोंमें 'पङ्क्तिदर्शनसमुच्चय' एक विशिष्ट स्थान रखता है। इसका—

“प्रत्यक्षमनुमानञ्च शब्दधोपमया सह । अर्थापत्तिरभावश्च पट्प्रमाणानि जैमिने ॥७२॥”

यह श्लोक न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ५०५) में उद्धृत है। यद्यपि इसी भागका एक श्लोक—  
“प्रत्यक्षमनुमानञ्च शाब्दधोपमया सह । अर्थापत्तिरभावश्च पठेते साध्यसाधका ॥”  
इस शब्दार्थकी साथ कमलशीलकी तत्त्वसंग्रहपत्रिका (पृ० ४५०) में मिलता है और उससे समाधान की जा सकती है कि जैमिनिकी पट्प्रमाणसाध्यका निर्देशक यह श्लोक किसी जैमिनिमतानुयायी आचार्यके ग्रंथसे लिया गया होगा। यह समाधान हृदयको लगती भी है। परन्तु जबतक हमका प्रसाधक कोटि समर्थ प्रमाण नहीं मिलता तबतक उसे हरिभद्रकृत माननेमें ही लाघव है। और बहुत कुछ समय है कि प्रभाचन्द्रने इसे पङ्क्तिदर्शनसमुच्चयसे ही उद्धृत किया हो। हरिभद्रने अपने ग्रंथमें पूर्वपक्षके पक्षान और उत्तरपक्षके पोषणके लिए अत्यन्तकारकोंकी कारिकाएँ, पर्याप्त मात्रामें, वहीं उन आचार्योंके नामके साथ और कहीं बिना नाम लिए ही शामिल की हैं। अतः कारिकाओंके निर्गम यह निर्णय करना बहुत कठिन हो जाता है कि ये कारिकाएँ हरिभद्रकी रचरचित हैं या अन्यरचित होकर संगृहीत हैं? इसका एक और उदाहरण यह है कि—

“निश्चान वन्दना मक्षा सस्कारो रूपमेव च । समुदेति यतो लोके रागादीना गणोऽदित् ॥  
आत्मात्मीयम्भायारय समुदय स सम्मत । क्षणिका सर्वसस्कारा इत्येव वासना यना ॥  
स मार्ग इति विज्ञेयो निरोधो मोक्ष उच्यते । पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या त्रिपया पञ्च मानसम् ॥  
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि च ॥”

ये चार श्लोक पङ्क्तिदर्शनसमुच्चयके बौद्धदर्शनमें मौजूद हैं। इसी ध्यानपूर्वसे ये ही श्लोक किञ्चित् शब्दभेदके साथ जिनसेनके आदिपुराण ( पृ० ५ श्लो० ४२-४५ ) में भी विद्यमान हैं। रचनासे तो ज्ञान होता है कि ये श्लोक किसी बौद्धाचार्यने बनाए होंगे, और उसी बौद्धग्रंथमें पङ्क्तिदर्शनसमुच्चय और आदिपुराणमें पड़े हों। हरिभद्र और जिनसेन प्रायः समकालीन हैं, अतः यदि ये श्लोक हरिभद्रके होकर आदिपुराणमें आए हैं तो इसे उससमयके असांग्रह्यिक भावकी महत्त्वपूर्ण घटना समझनी चाहिए। हरिभद्रने तो शास्त्रवार्ता-समुच्चयमें समन्तभद्रकी आसक्तिनामके श्लोक उद्धृत कर अपनी पङ्क्तिदर्शनसमुच्चयक बुद्धिके प्रेरणा

बीजको ही मूर्तरूपमें अङ्कुरित किया है। यदि न्यायप्रवेशवृत्तिकार हरिभद्र ये ही हरिभद्र हैं तो उस वृत्ति (पृ० १३) में पाई जाने वाली पक्षशब्दकी 'पन्चये व्यक्तीक्रियते योऽर्थ स पक्ष' इस व्युत्पत्तिकी अस्पष्ट छाया न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४३८) में की गई पक्षकी व्युत्पत्ति पर आभासित होती है।

**सिद्धार्थि और प्रभाचन्द्र**—श्रीसिद्धार्थिगणि श्रे० आचार्य दुर्गरामजीके शिष्य थे। इन्होंने ज्येष्ठ शुक्ला पचमी, विक्रम समत् १६२ (१ मई ६०६ ई०) के दिन उपमितिभद्रप्रपञ्चा कथाकी समाप्ति की थी। सिद्धसेन दिवाकरके न्यायातारपर भी इनकी एक टीका उपलब्ध है। न्यायातार (श्लो० १६) में पक्षप्रयोगके समर्थनके प्रसंगमें लिखा है कि—“जिस तरह लक्ष्यनिर्देशके बिना अपनी धनुर्विद्याका प्रदर्शन करने वाले धनुर्धारीके गुण-दोषोंका यथायत् निर्णय नहीं हो सकता, गुण भी दोषरूपसे तथा दोष भी गुणरूपसे प्रतिभासित हो सकते हैं, उसी तरह पक्षका प्रयोग किए बिना साधनवादीके साधन सम्बन्धी गुण-दोष भी विपरीत रूपमें प्रतिभासित हो सकते हैं, प्राश्निक तथा प्रतिवादी आदिको उनका यथायत् निर्णय नहीं हो सकता।” न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४३७) के 'पक्षप्रयोगविचार' प्रकरणमें भी पक्षप्रयोगके समर्थनमें धनुर्धारी का दृष्टान्त दिया गया है। उसकी शब्दरचना तथा भावव्यञ्जनामें न्यायातारके मूलश्लोकके साथ ही साथ सिद्धार्थिकृत व्याख्याका भी पर्याप्त शब्दसादृश्य पाया जाता है। अन्तरणोंके लिए देखो—न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ४३७ टि० १।

**अभयदेव और प्रभाचन्द्र**—चन्द्रगच्छमें प्रद्युम्नसूरि बड़े एयात आचार्य थे। अभयदेव सूरि इन्हीं प्रद्युम्नसूरिके शिष्य थे। न्यायनरसिंह और तर्कपञ्चानन इनके विरुद्ध थे। मन्मतिकर्त्री गुजराती प्रस्तावना (पृ० ८३) में श्रीमान् प० सुखलालजी और प० वेचरदासजीने इनका समय विक्रमकी दशम सदीका उत्तरार्ध और ग्यारहवींका पूर्वार्ध निश्चित किया है। उत्तराध्ययनकी पाइयटीकाके स्वयिता शान्तिसूरिने उत्तराध्ययनटीकाकी प्रशस्तिमें एक अभयदेव को प्रमाणविद्याका गुरु लिखा है। प० सुखलालजीने शान्तिसूरिके गुरुरूपमें इन्हीं अभयदेवसूरिकी सम्मानना की है। प्रभावकरत्रिके उल्लेखानुसार शान्तिसूरिका स्वर्गयास वि० स० १०१६ में हुआ था। इन्हीं शान्तिसूरिने धनपालकविनी तिलकमञ्जरी आर्यायिका का सशोधन किया था, और उस पर एक टिप्पण लिखा था। धनपाल कवि मुञ्ज तथा भोज दोनोंकी राजसभाओं में सम्मानित हुए थे। इन सप्त घटनाओंको मद्दे नजर रखते हुए अभयदेव सूरिका समय विक्रमकी ग्यारहवां शताब्दी के अन्तिम भाग तक मान लेने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। अभयदेव सूरिकी प्रामाणिक-प्रकाण्डताका जीवन्त रूप उनकी समतिटीका में पद पद पर मित्रता है। इस सुविस्तृत टीका की 'वादमहार्णव' के नामसे भी प्रसिद्धि रही है।

प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रकी अपेक्षा प्रमेयकमलमार्तण्डका अकल्पित सादृश्य इस टीका में पाया जाता है। अभयदेवसूरिने समतिटीका में खीमुक्ति और केवलिकरत्नाहारका समर्थन किया है। इसमें दी गई दलीलोंमें तथा प्रभाचन्द्रके द्वारा किए गए उक्त वादोंके खण्डन की

युक्तिगोमं परस्पर कोइ पूर्वोत्तरपद्धता नहां देखी जाती। अमयदेव, शातिसूरि, और प्रभाचन्द्र करीब करीब सन १३०० और समदेशीय थे। इसलिए यह अधिक समय था कि खीमुक्ति और केरलिमुक्ति जैसे साम्प्रदायिक प्रकरणोंमें एक दूसरेका खडन करते। पर हम इनके ग्रंथोंमें परस्पर खडन नहीं देखते। इसका कारण मेरी समझमें तो यही आता है कि उस समय दिगम्बर आचार्य यापनीयोंके साथ ही इस विषयकी चर्चा करते होंगे। यही कारण है कि जब प्रभाचन्द्रने शाकनायनके खीमुक्ति और केरलिमुक्ति प्रकरणोंका ही शब्दश खडन किया है तब श्वेतान्बराचाय अमयदेव और शातिसूरिने शाकनायनकी दलीलाके आधारसे ही अपने ग्रंथोंके उक्त प्रकारण पुष्ट किए हैं। यदिदेवसूरिने अमय ही प्रभाचन्द्रके ग्रंथोंके उक्त प्रकरणोंको पूर्वपद्धतमें प्रभाचन्द्रका नाम लेकर उपस्थित किया है।

समतितर्कके सम्पादन श्रीमान् प० सुरलालजी और वेनरदासजाने समतितर्क प्रथम भाग (पृ० १३) की गुजराती प्रस्तावनामें लिखा है कि—“जो के आ टीकाभा सैकड़ों दार्शनिक-ग्रंथों नु दोहन जणाय छे, हुता सामान्यरीते मीमांसकभारिलभइनु श्लोकार्थिक, नालन्दा-विश्वविद्यालय ना आचार्य शान्तरक्षितकृत तत्त्वसमग्र ऊपरनी कमलशीलकृत पत्रिका अने दिगम्बरआचार्य प्रभाचन्द्रना प्रमेयकमलमार्चण्ड अने न्यायकुमुदचन्द्रोदय निगेरे ग्रंथों नु प्रतिविम्ब मुरयपणे आ टीकामा छे।” अर्थात् समतितर्कटीका पर मीमांसाश्लोकार्थिक, तत्त्वसमग्रपत्रिका, प्रमेयकमलमार्चण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रंथोंका प्रतिविम्ब पड़ा है। समतितर्कके निद्रूप सम्पादकोंकी उक्त बातसे सहमति रखते हुए भी मैं उसमें इतना परिवर्धन और कर देना चाहता हू कि—“प्रमेयकमलमार्चण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका समतितर्कसे शब्दसादृश्य मात्र साक्षात् विन्व प्रतिविम्बभाव होनेके कारण ही नहीं हैं, किन्तु तीनों ग्रंथोंके बहुभागमें जो अरुत्पित सादृश्य पाया जाता है वह तृतीयराशिमूलक भी है। ये तृतीय राशिके ग्रंथ हैं—मद्भज्यसिंहाराशिका तत्वोपप्लवसिंह, ज्योमशिवकी ज्योमवती, जयतकी न्यायमञ्जरी, शान्तरक्षित और कमलशीलकृत तत्त्वसमग्र और उसकी पत्रिका तथा विद्यानन्दके अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकार्थिक, प्रमाणपरीक्षा, आत्मपरोक्षा आदि प्रकरण। इहाँ तृतीयराशिके ग्रंथोंका प्रतिविम्ब समतितर्कटीका और प्रमेयकमलमार्चण्डमें आया है।” समतितर्कटीका, प्रमेयकमलमार्चण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका तुलनात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि समतितर्कका प्रमेयकमलमार्चण्डके साथ ही अधिक शब्दसादृश्य है। न्यायकुमुदचन्द्रमें जहाँ भी यत्किञ्चित् सादृश्य देखा जाता है वह प्रमेयकमलमार्चण्डप्रयुक्त ही है साक्षात् नहीं। अर्थात् प्रमेयकमलमार्चण्डके जिन प्रकरणों के जिस सन्दर्भसे समतितर्कका सादृश्य है उहाँ प्रकरणोंमें न्यायकुमुदचन्द्रसे भी शब्दसादृश्य पाया जाता है। इससे यह तर्कणाकी जा सकती है कि—समतितर्ककी रचनाके समय न्यायकुमुदचन्द्रकी रचना नहीं हो गयी थी। न्यायकुमुदचन्द्र जयसिंहदेवके राज्यमें सन् १०५७ के आसपास रचा गया था जैसा कि उसकी अन्तिम पंक्तिसे विदित है। समति-

तर्कटीका, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रकी तुलनाके लिए देखो—प्रमेयकमलमार्त्तण्ड प्रथम अध्यायके टिप्पण तथा न्यायकुमुदचन्द्रके टिप्पणोंमें दिए गए सन्मतिटीका के अन्तरण ।

वादि देवसूरि और प्रभाचन्द्र—देवसूरि श्रीमुनिचन्द्रसूरिके शिष्य थे । प्रभाकर चरित्रके लेखानुसार मुनिचन्द्रने शान्तिमूरिसे प्रमाणविद्याका अध्ययन किया था । ये प्राग्जाटशके रत्न थे । इन्होंने वि० स० ११४३ में गुर्जर देशको अपने जन्मसे पूत किया था । ये भडोच नगरमें ६ वर्षकी अल्पवयमें वि० स० ११५२ में दीक्षित हुए थे तथा वि० स० ११७४ में इन्होंने आचार्यपद पाया था । राजर्षि कुमारपालके राज्यकालमें वि० स० १२२६ में इनका स्वर्गनास हुआ । प्रसिद्ध है कि—वि० स० ११८१ वैशाख शुद्ध पूर्णिमाके दिन सिद्धराजकी सभामें इनका दिगम्बरनादी कुमुदचन्द्रसे वाद हुआ था और इसी वादमें विजय पानेके कारण देवसूरि वादि देवसूरि कहे जाने लगे थे । इन्होंने प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार नामक सूत्र ग्रन्थ तथा इसी सूत्रकी स्याद्वादादरत्नाकर नामक विस्तृत व्याख्या लिखी है । इनका प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार माणिक्यनदिकृत परीक्षामुखसूत्रका अपने ढंगसे किया गया दूसरा सस्करण ही है । इन्होंने परीक्षामुखके ६ परिच्छेदोंका विषय ठीक उसी क्रमसे अपने सूत्रके साथ ६ परिच्छेदोंमें यत्किञ्चित् शब्दमेव तथा अर्थभेदके साथ प्रयत्न किया है । परीक्षामुखसे प्रतिरिक्त इसमें नयपरिच्छेद और वादपरिच्छेद नामक दो परिच्छेद और जोड़े गए हैं । माणिक्यनदिके सूत्रोंके सिंगाय अक्षरलङ्के स्ववितृत्तियुक्त लघीयल्लय, न्यायविनिश्चय तथा त्रिधानन्दके तत्त्वार्थश्लोकनार्तिकका भी पर्याप्त साहाय्य इस सूत्रग्रन्थमें लिया गया है । इस तरह भिन्न भिन्न ग्रन्थोंमें विशकलित जैनपदार्थोंका शब्द एव अर्थदृष्टिसे सुन्दर सफलन इस सूत्रग्रन्थमें हुआ है ।

परीक्षामुखसूत्रपर प्रभाचन्द्रकृत प्रमेयकमलमार्त्तण्ड नामकी विस्तृत व्याख्या है तथा अक्षरलङ्केदेवके लघीयल्लयपर इन्हीं प्रभाचन्द्रका न्यायकुमुदचन्द्र नामका बृहत्काय टीकाग्रन्थ है । प्रभाचन्द्रने इन मूल ग्रन्थोंकी व्याख्याके साथही साथ मूलग्रन्थसे सम्बद्ध विषयोंपर विस्तृत लेख भी लिखे हैं । इन लेखोंमें विविध निकल्पजालोंसे परपक्षका खडन किया गया है । प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके तीक्ष्ण एव आह्लादक प्रकाशमें जब हम स्याद्वादादरत्नाकरको तुलनात्मक दृष्टिमें देखते हैं तब वादिदेवसूरिकी गुणग्राहिणी समग्रदृष्टिकी प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते । इनकी समग्रहक थीजबुद्धि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रसे अर्थ शब्द और भावोंको इतने चेतश्मन्कारक ढंगसे चुन लेती है कि अकेले स्याद्वादादरत्नाकरके पद लेनेसे न्यायकुमुदचन्द्र तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्डका यावद्विषय विशद रीतिसे अग्रगत हो जाता है । वस्तुतः यह रत्नाकर उक्त दोनों ग्रन्थोंके शब्द-अर्थरत्नोंका सुन्दर आकर ही है । यह रत्नाकर मार्त्तण्डकी अपेक्षा चन्द्र (न्यायकुमुदचन्द्र) से ही अधिक उद्भूत हुआ है । प्रकरणोंके क्रम और पृथक्त्व तथा उत्तरपक्षके जमानेकी पद्धतिमें कहीं कहीं तो न्यायकुमुदचन्द्रका इतना अधिक शब्दसादर्य है कि दोनों ग्रन्थोंकी पाठशुद्धिमें एक दूसरेका मूलप्रतिकी तरह उपयोग किया जा सकता है ।

प्रतिबिम्बवाद नामक प्रकरणमें वादि देवसूरिने अपने रत्नाकर (पृ० ८६५) में न्याय-कुमुदचन्द्र (पृ० ४५५) में निर्दिष्ट प्रमाचन्द्रके मतके खडन करनेका प्रयास किया है। प्रमाचन्द्रका मत है कि—प्रतिबिम्बकी उपरिमें जल आदि द्रव्य उपादान कारण हैं तथा चन्द्र आदि त्रिम्ब निमित्तकारण। चन्द्रादि बिम्बोंका निमित्त पानर जल आदिके परमाणु प्रतिबिम्बाकारसे परिणत हो जाते हैं।

वादि देवसूर कहते हैं कि—सुवादिबिम्बोंसे छायापुद्गल निकलते हैं और वे जाकर दर्पण आदिमें प्रतिबिम्ब उपपन्न करते हैं। यहाँ छायापुद्गलोंका सुवादि बिम्बोंसे निकलनेका सिद्धांत देवसूरिने अपने पूर्वाचार्य श्राहरिमदसूरिके धर्मभारप्रकरणका अनुसरण करके लिखा है। वे इस समय यह भूल जाते हैं कि हम अपनेही ग्रन्थमें नैयायिकोंके चक्षुसे रश्मियोंके निम्नलनेके सिद्धांतका खडन कर चुके हैं। जब हम मासुररूपवाली ध्रुवसे भी रश्मियोंका निकलना युक्ति एवं अनुभवसे त्रिरुद्ध प्रताते हैं तब मुख आदि मलिन बिम्बोंमें छाया पुद्गलोंके निकलनेका समर्थन किस तरह किया जा सकता है? मञ्जुद्वारा बात तो यह है कि इस प्रकरणमें भी वादि देवसूरि न्यायकुमुदचन्द्रके साथही साथ प्रमेयकमलमार्त्तण्डका भी शब्दश अनुसरण करते हैं। और न्यायकुमुदचन्द्रमें निर्दिष्ट प्रमाचन्द्रके मतके खडनकी धुनमें स्वयं ही प्रमेयकमलमार्त्तण्डके उसी आशयके शब्दोंको सिद्धांत मान बैठते हैं। वे रत्नाकरमें (पृ० ६१८) ही प्रमेयकमलमार्त्तण्डका शब्दानुसरण करते हुए लिख जाते हैं कि—“अच्छताविशेषाद्धि जलदपणादयो सुप्तादिवादिप्रतिबिम्बानारविनारधारिण सम्पद्यन्ते।”—अथात् विशेष स्तब्धताके कारण जल और दर्पण आदि ही मुख और मूर्त्त आदि बिम्बोंके आकारवाली पर्यायोंको धारण करते हैं। कालाहारके प्रकरणमें इन्होंने प्रमाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें दी गई दृष्टीलोंका नामोल्लेख पूर्वक पूर्वपक्षमें निर्देश किया है और उनका अपनी दृष्टिसे खडन भी किया है। इस तरह वादि देवसूरिने जब रत्नाकर लिखना प्रारम्भ किया होगा तब उनकी आँखोंके सामने प्रमाचन्द्रके ये दोनों ग्रन्थ बराबर नाचते रहे हैं।

हेमचन्द्र और प्रमाचन्द्र—विक्रमकी १२ वीं शताब्दीमें आ० हेमचन्द्रसे जैनसाहित्यके हेमयुगका प्रारम्भ होता है। हेमचन्द्रने याकरण, काव्य, छन्द, योग, न्याय आदि साहित्यके सभी विभागोंपर अपनी प्रौढ़ सम्राट्क लेखनी चलाकर भारतीय साहित्यके भंडारको खूब संपृद्ध किया है। अपने बहुमुख पाण्डित्यके कारण ये ‘कठिकाल सर्गज्ञ’ के नामसे भी न्यायज्ञ हैं। इनका जन्म समय वार्तिकी पूर्णिमा विक्रमसंवत् ११४५ है। वि० स० ११५४ (ई० सन् १०२७) में ८ वर्षकी लज्जयमें इन्होंने दीक्षा धारण की थी। विक्रमसंवत् ११६६ (ई० सन् १११०) में २१ वर्षकी अवस्थामें ये सूर्यपद पर प्रतिष्ठत हुए। ये महाराज जयसिंह मिहिराज तथा राजर्षि कुमारपालकी राजसभाओंमें सप्रह्वमान लब्धपतिष्ठ थे। वि० स० १२२२ (ई० ११७३) में ८४ वर्षकी आयुमें ये दिवंगत हुए। इनकी पायविषयक रचना-प्रमाणनीमासा जैनन्यायके ग्रन्थोंमें अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। प्रमाणनीमासाके निम्न-

स्थानके निरूपण और खडनके समुचे प्रकरणमें तथा अनेकान्तमें दिए गए आठ दोषोंके परिहारके प्रसंगमें प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डका शब्दश अनुसरण किया गया है। प्रमाणमीमासाके अन्य स्थलोंमें प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी छाप साक्षात् न पड़कर प्रमेयरत्नमालाके द्वारा पड़ी है। प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तदीर्यने प्रमेयकमलमार्त्तण्डको ही सञ्चित कर प्रमेयरत्नमालाकी रचना की है। अतः मध्यकदवाली प्रमाणमीमासामें बृहत्काय प्रमेयकमलमार्त्तण्डका सीमा अनुसरण न होकर अपने समान परिमाणवाली प्रमेयरत्नमालाका अनुसरण होना ही अधिक सगत मालूम होता है। प्रमाणमीमासाके प्राय प्रत्येक प्रकरण पर प्रमेयरत्नमालाकी शब्दरचनाने अपनी स्पष्ट छाप लगाई है। इस तरह आ० हेमचन्द्रने कहीं साक्षात् और कहीं परम्परया प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डको अपनी प्रमाणमीमासा बनाते समय मद्देनजर रखा है। प्रमेयरत्नमाला और प्रमाणमीमासाके स्थलोंकी तुलनाके लिए सिंधी सीरिजसे प्रकाशित प्रमाणमीमासाके भाषा टिप्पण देखना चाहिए।

**मलयगिरि और प्रभाचन्द्र**—क्रि.म.की १२ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध तथा तेरहवां शताब्दीका प्रारम्भ जैनसाहित्यका हेमयुग कहा जाता है। इस युगमें आ० हेमचन्द्रके सहविहारी, पर्याप्त टीकाकार आचार्य मलयगिरि हुए थे। मलयगिरिने आनुरयकनिर्युक्ति, ओषनिर्युक्ति, नदीसूत्र आदि अनेकों आगमिकग्रंथों पर संस्कृत टीकाएँ लिखीं हैं। आनुरयकनिर्युक्तिकी टीका (पृ० ३७१ A) में वे अरुलङ्कदेवके 'नयनाक्यमें भी स्यात्पदका प्रयोग करना चाहिए' इस मतसे असहमति जाहिर करते हैं। इसी प्रसंगमें वे पूर्वपक्षरूपसे लघीयस्त्रयस्त्रिवृति (का० ६२) का 'नयोऽपि तथैव सम्यगेकान्तविषय स्यात्' यह वाक्य उद्धृत करते हैं। और इस वाक्यके साथ ही साथ प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६६१) से उक्त वाक्यकी व्याख्या भी उद्धृत करते हैं। व्याख्याका उद्धरण इस प्रकारसे लिया गया है—“अत्र टीकाकारेण व्याख्या कृता नयोऽपि नयप्रतिपादकमपि वाक्य न केवलप्रमाणवाक्यमित्यपिशब्दार्थ', तथैव स्यात्पदप्रयोगप्रकारेणैव सम्यगेकान्तविषय स्यात्, यथा स्यादस्त्येव जीव इति, स्यात्पदप्रयोगाभावे तु मिथैकान्तगोचरतया दुर्नय एव स्यादिति।”—इस अवतरणसे यह निश्चित हो जाता है कि मलयगिरिके सामने लघीयस्त्रयकी न्यायकुमुदचन्द्र नामकी व्याख्या थी।

अरुलङ्कदेवने प्रमाण, नय और दुर्नयकी निम्नलिखित परिभाषाएँ की हैं—अनन्तधर्मात्मक वस्तुको अखडभावसे ग्रहण करनेवाला ज्ञान प्रमाण है। एकधर्मको मुख्य तथा अन्यधर्मोंको गौण करनेवाला, उनकी अपेक्षा रखनेवाला ज्ञान नय है। एकधर्मको ही ग्रहण करके जो अन्य धर्मोंका निषेध करता है—उनकी अपेक्षा नहीं रखता वह दुर्नय कहलाता है। अरुलङ्कने प्रमाणवाक्यकी तरह नयवाक्यमें भी नयान्तरसापेक्षता दिखानेके लिए 'स्यात्' पदके प्रयोगका प्रधान किया है।

आ० मलयगिरि कहते हैं कि—जब नयवाक्यमें स्यात्पदका प्रयोग किया जाता है तब 'स्यात्' शब्दसे सूचित होनेवाले अन्य विशेषधर्मोंको भी विषय करनेके कारण नयवाक्य नयरूप न होकर प्रमाणरूप ही हो जायगा। इनके मतसे जो नय एक धर्मको अन्वधारणपूर्वक विषय



करके इतरनयसे निरपेक्ष रहता है वही नय कहा जा सकता है। इसीलिए इन्होंने सभी नयोको मध्यात्पद कहा है। मलयगिरिके श्लोपमें सुनय नामका कोई शब्दही नहीं है। जब स्यात्पदका प्रयोग किया जाता है तब वह प्रमाणकोटिमें पहुँचेगा तथा जब नयात्तरनिरपेक्ष रहेगा तब वह नयकोटिमें जाकर मि-पानाद हो जायगा। इन्होंने अकलकदेवके इस तत्त्वको मद्देनजर नहीं रखा कि—नयवाक्यमें स्यात् शब्दमें सूचित होनेवाले अशेषधमाका मात्र सद्धान ही जाना जाता है, सो भी इसीलिए कि कोई नदी उनका ऐकान्तिक निषेध न समझ ले। प्रमाणवाक्यकी तरह नयवाक्यमें स्यात्शब्दसे सूचित होनेवाले अशेषधर्म प्रधानभासे विषय नहीं होते। यही तो प्रमाण और नयमें भेद है कि—जहाँ प्रमाणमें अशेष ही धर्म एकरूपसे—अखण्डभासे विषय होते हैं वहाँ नयमें एकरूपमें सुनय होकर अथ अशेषधर्म गौण हो जाते हैं, 'स्यात्' शब्दसे मात्र उनका सद्भाव सूचित होता रहता है। दुर्नयमें एकरूप ही विषय होकर अथ अशेषधमाका तिरस्कार हो जाता है। अतः दुर्नयसे सुनयका पार्यक्य करनेके लिए सुनयवाक्यमें स्यात्पदका प्रयोग आवश्यक है। मलयगिरिके द्वारा की गई अकलककी यह समालोचना उन्हीं तक सीमित रही। हेमचन्द्र आदि सभी आचार्यों अकलकके उक्त प्रमाण, नय और दुर्नयके विभागको निर्विवादरूपसे मानते आए हैं। इतना ही नहीं, उपाध्याय यशोविजयने मलयगिरिकी इस समालोचनाका सयुक्तिक उद्धरण गुरुतर्वाग्निधय (पृ० १७ B) में दे ही दिया है। उपाध्यायजी लिखते हैं कि यदि नयात्तरसापेक्ष नयका प्रमाणमें अन्तभाव किया जायगा तो व्यवहारनय तथा शब्द-नय भी प्रमाण ही हो जायेंगे। नयवाक्यमें होनेवाला स्यात्पदका प्रयोग तो अनेक धर्मोंका मात्र घोटन करता है, वह उद्धरणितधमसी तरह उपाध्यायका विषय नहीं बनाता। इसीलिए नयवाक्यमें मात्र स्यात्पदका प्रयोग होनेसे वह प्रमाणकोटिमें नहीं पहुँच सकता।

द्वयभद्र और प्रभाचन्द्र—देवभद्रसूरि मलभारिगण्डके श्रीचन्द्रसूरिके शिष्य थे। इन्होंने 'न्यायान्तरटीका' पर एक टिप्पण लिखा है। श्रीचन्द्रसूरिने वि० सवत् ११६३ (सन् ११३६) के दिवालीके दिन 'सुनिष्ठवत चरित्र' पूर्ण किया था। अतः इनके साक्षात् शिष्य देवभद्रका समय भी करीब सन् ११५० से १२०० तक सुनिश्चित होता है। देवभद्रने अपने न्यायान्तर टिप्पणमें प्रभाचन्द्रकृत 'न्यायकुमुदचंद्रके निम्नलिखित दो अन्तरण लिए हैं—

१—“परिमण्डला परमाणव तेषां भाव पारिमण्डल्य वर्तुण्यम्, न्यायकुमुदचन्द्रे प्रभाचन्द्रेणाप्यव्यायतत्वान्।” (पृ० २५)

२—“प्रभाचन्द्रस्तु न्यायकुमुदचन्द्रे त्रिभाषा सद्धर्मप्रतिपादको प्रथमिशेषे वा विदन्ति अधीयते वा वैभाषिणः इत्युच्यते।” (पृ० ७६)

य दोनों अन्तरण न्यायकुमुदचन्द्रमें क्रमशः पृ० ४३८ पं० १३ तथा पृ० ३६० पं० १ में पाए जाते हैं। इनके सिवाय 'न्यायान्तरटिप्पण'में अनेक स्थानोंपर न्यायकुमुदचन्द्रका प्रतिबिम्ब स्पष्टरूपसे क्लृप्त है।

**मल्लिषेण और प्रभाचन्द्र**—आ० हेमचन्द्रकी अययोगव्यञ्जेदिकाके ऊपर मल्लिषेण की स्याद्वादमजरी नामकी सुन्दर टीका मुद्रित है। ये श्वेताम्बर सम्प्रदायके नागेश्वरगच्छीय श्रीउदयप्रभसूरिके शिष्य थे। स्याद्वादमजरीके अन्तमें दी हुई प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि—इन्होंने शक्र सम्वत् १२१४ (ई० १२६३) में दीपमालिका शनिवारके दिन जिनप्रभसूरिकी सहायतासे स्याद्वादमजरी पूर्ण की थी। स्याद्वादमजरीकी शब्द रचनापर न्यायकुमुदचन्द्रका एक मिलक्षण प्रभाव है। मल्लिषेणने का० १४ की व्याख्यामें विधिवादकी चर्चा की है। इसमें उन्होंने विधिवादियोंके आठ मतोंका निर्देश किया है। साथही साथ अपनी ग्रन्थपर्यादाके विचारसे इन मतोंके पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्षोंके विशेष परिज्ञानके लिए न्यायकुमुदचन्द्र ग्रन्थ देखनेका अनुरोध निम्नलिखित शब्दोंमें किया है—“एतेषा निराकरण सम्पूर्वोत्तरपक्ष न्यायकुमुदचन्द्रादवसेयम्।” इस वाक्यसे स्पष्ट हो जाता है कि मल्लिषेण न केवल न्यायकुमुदचन्द्रके निशिष्ट अभ्यासी ही थे किन्तु वे स्याद्वादमजरीमें अचर्चित या अल्पचर्चित विषयोंके ज्ञानके लिए न्यायकुमुदचन्द्रको प्रमाणभूत आकर ग्रन्थ मानते थे। न्यायकुमुदचन्द्रमें विधिवादकी विस्तृत चर्चा पृ० ५७३ से ५९० तक है।

**गुणरत्न और प्रभाचन्द्र**—विक्रमकी १५ वीं शताब्दीके उत्तरार्धमें तपागच्छमें श्रीदेवसुन्दरसूरि एक प्रभावक आचार्य हुए थे। इनके पद्यशिष्य गुणरत्नसूरिने हरिभद्रकृत ‘षड्दर्शनसमुच्चय’ पर तर्करहस्यदीपिका नामकी बृहद्बृत्ति लिखी है। गुणरत्नसूरिने अपने क्रियारत्नसमुच्चय ग्रन्थकी प्रतियोंका लेखनकाल विक्रम सम्वत् १४६८ दिया है। अतः इनका समय भी विक्रमकी १५ वीं सदीका उत्तरार्ध सुनिश्चित है। गुणरत्नसूरिने षड्दर्शनसमुच्चय टीकाके जनमत निरूपणमें मोक्षतत्त्वका सविस्तर निशद विवेचन किया है। इस प्रकरणमें इन्होंने स्वामिमत मोक्षस्वरूपके समर्थनके साथही साथ वैशेषिक, सांख्य, वेदांती तथा बौद्धोंके द्वारा पाने गए मोक्षस्वरूपका बड़े विस्तारसे निराकरण भी किया है। इस परखडनके भागमें न्यायकुमुदचन्द्रका मात्र अर्थ और भावकी दृष्टिसे ही नहीं, किन्तु शब्दरचना तथा युक्तियोंके कोटिक्रमकी दृष्टिसे भी पर्याप्त अनुसरण किया गया है। इस प्रकरणमें न्यायकुमुदचन्द्रका इतना अधिक शब्दसादर्य है कि इससे न्यायकुमुदचन्द्रके पाठकी शब्दशुद्धि करनेमें भी पर्याप्त सहायता मिली है। इसके सिवाय इस बृत्तिके अन्य स्थलोंपर खासकर परपक्षखडनके भागोंपर न्यायकुमुदचन्द्रकी शुभ्रग्योत्सना जहाँ तहाँ छिटक रही है।

**यशोविजय और प्रभाचन्द्र**—उपाध्याय यशोविजयजी विक्रमकी १० वीं सदीके युग प्रवक्तक विद्वान् थे। इन्होंने विक्रम सम्वत् १६८८ (ईस्वी १६३१) में प० नयविजयजीके पास दीक्षा ग्रहण की थी। इन्होंने काशीमें नव्यन्यायका अध्ययन कर बादमें किसी विद्वान् पर विजय पानेमें ‘न्यायप्रशास्त्र’ पद प्राप्त किया था। श्रीविजयप्रभसूरिने वि० सं० १७१८ में इन्हें ‘वाचक-उपाध्याय’ का सम्मानित पद दिया था। उपाध्याय यशोविजय वि० सं० १७४३

(सन् १६८६) में अनशन पूर्वक स्वर्गस्थ हुए थे। दशमी शताब्दीसे ही न्यायपायके विकासने भारतीय दर्शनशास्त्रमें एक अपूर्व जाति उपन्न कर दी थी। यद्यपि दसमी सदीके बाद अनेकों बुद्धिशाली जैनाचार्य हुए पर कोई भी उस न्यायपायके शब्दजालके जटिल अध्ययनमें नहीं पड़ा। उपाचार्य यशोविजय ही एकमात्र जैनाचार्य हैं जिन्होंने न्यायपायका समग्र अध्ययन कर उसी न्यायपद्धतिसे जैनपदार्थोंका निरूपण किया है। इन्होंने संकड़ों ग्रंथ बनाए हैं। इनका अध्ययन अत्यंत तलस्पर्शी तथा बहुमुग्य था। सभी पूर्ववर्ती जैनाचार्योंके ग्रंथोंका इन्होंने विधिवत् पारायण किया था। इनकी तीक्ष्ण दृष्टिसे धर्मभूषणपतिकी छोटीसी पर सुविशद रचनावाली वायदीपिका भी नहीं छूटी। जनतर्कभाषामें अनेक जगह न्यायदीपिकाके शब्द आनुपूर्वीसे ले लिए गए हैं। इनके शास्त्रज्ञातामसुबधटीका आदि बृहद्ग्रंथोंके परपक्ष खडनवाले अशोभं प्रभाचंद्रके विभिन्न विमल्यजाल स्पष्टरूपसे प्रतिबिम्बित हैं। इन्होंने प्रभाचंद्रका केवल अनुसरण ही नहीं किया है किंतु साम्प्रदायिक स्त्रीमुक्ति और कजलाहार जैसे प्रकरणोंमें प्रभाचंद्रके मतश्योंकी समालोचना भी की है।

उपरिलिखित वैदिक अवैदिकदर्शनोंकी तुलनासे प्रभाचंद्रके श्रगाध, तलस्पर्शी, सूक्ष्म दार्शनिक अध्ययनका यत्किञ्चित् आभास हो जाता है। बिना इस प्रकारके नद्विश्रुत अवलोकनके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचंद्र जैसे जैनदर्शनके प्रतिनिधि ग्रंथोंके प्रख्यानका उल्लाम ही नहीं हो सकता था। जैनदर्शनके मध्ययुगीन ग्रंथोंमें प्रभाचंद्रके ये ग्रंथ अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। ये पूर्वयुगीन ग्रंथोंका प्रतिबिम्ब लेकर भी पारदर्शी दर्पणकी तरह उच्चकालीन ग्रंथोंके लिए आधारभूत हुए हैं, और यही इनकी अपनी विशेषता है। बिना इस आदान प्रदानके दार्शनिक साहित्यका विकास इस रूपमें तो हो ही नहीं सकता था।

**प्रभाचन्द्रका आयुर्वेदज्ञान—**प्रभाचंद्र शुष्क तार्किक ही नहीं थे, किंतु उन्हें जीवनोपयोगी आयुर्वेदज्ञान भी परिज्ञान था। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४२४) में वे बधिरता तथा अन्य रोगरोगोंके लिए बलातैलना उल्लेख करते हैं। न्यायकुमुदचंद्र (पृ० ६६६) में ह्याया आदिको पौद्रलिक सिद्ध करते समय उनमें गुणोंका सङ्काव दिखानेके लिए उनमें वैद्यकशास्त्रका निम्नलिखित श्लोक प्रमाणरूपसे उद्धृत किया है—

“आतप कटुको रूक्ष छाया मधुरशीतला ।

कपायमधुरा ज्योत्स्ना सर्वन्याधिहर (कर) तम ॥”

यह श्लोक राजनिघण्टु आदिमें कुछ पाठभेदके साथ पाया जाता है। इसी तरह वैशेषिकोंके गुणपदार्थका खडन करने समय (न्यायकु० पृ० २७५) वैद्यकतन्त्रमें प्रसिद्ध विशद, स्थिर, खर, पिच्छलत्व आदि गुणोंके नाम लिए हैं। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ८) में नद्व-लोदक—तृणनिरोधके जलसे पादरोगकी उत्पत्ति बताई है।

**प्रभाचन्द्रकी कल्पनाशक्ति—**सामान्यतः वस्तुकी अनन्तात्मकता या अनेकधर्माधारताकी सिद्धिके लिए अकलक आदि आचार्योंने चित्रज्ञान, सामान्यनिरोध, मेघकज्ञान और नरसिंह

आदिके दृष्टान्त दिए हैं। पर प्रभाचन्द्रने एक ही वस्तुकी अनेकरूपताके समर्थनके लिए न्याय-कुमुदचन्द्र (पृ० ३६६) में 'उमेश्वर' का दृष्टान्त भी दिया है। वे लिखते हैं कि जैसे एक ही शिव ब्रह्मज्ञमें उमा पार्वतीरूप होकर भी दक्षिणाङ्गमें विरोधी शिवरूपको धारण करते हैं और अपने अर्धनारीश्वररूपको दिखाते हुए अखंड बने रहते हैं उसी तरह एक ही वस्तु विरोधी दो या अनेक आकारोंको धारण कर सकती है। इसमें कोई विरोध नहीं होना चाहिए।

उदारचिन्तार-श्रा० प्रभाचन्द्र सचे तार्किक थे। उनकी तर्कणा शक्ति और उदार चिन्तारोंका स्पष्ट परिचय ब्राह्मणत्व जातिके खण्डनके प्रसङ्गमें मिलता है। इस प्रकारमें उन्होंने ब्राह्मणत्व जातिके नित्यत्व और एकवक्ता खण्डन करके उसे सदृशपरिणमन रूप ही सिद्ध किया है। वे जन्मना जातिका खण्डन बहुविध त्रिकल्पोंसे करते हैं और स्पष्ट शब्दोंमें उसे गुण-कर्मानुसारिणी मानते हैं। वे ब्राह्मणत्व जाति निमित्तक वर्णाश्रमव्यवस्था और तप दान आदिके व्यवहारको भी क्रियाविशेष और यज्ञोपवीत आदि चिह्नोंसे उपलक्षित व्यक्ति विशेषमें ही करनेकी सलाह देते हैं—

“ननु ब्राह्मणत्वादिसामान्यान्तभ्युपगमे कर्ष भजता वर्णाश्रमव्यवस्था तत्रिवन्धनो वा तपोनादादिव्यवहार स्यात् ? इयप्यचोद्यम्, क्रियाविशेषयज्ञोपवीतादिचिह्नोपलक्षिते व्यक्ति-विशेषे तद्व्यवस्थाया तद्व्यवहारस्य चोपपत्ते । तत्र भवत्स्वल्पित नित्यादिभ्यभाव ब्राह्मण्य कुतश्चिदपि प्रमाणात् प्रसिद्धयतीति क्रियाविशेषनिबन्धन एवाय ब्राह्मणादिव्यवहारो युक्तः ।”

[ न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ७७८ । प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ४८६ ]

“प्रश्न—यदि ब्राह्मणत्व आदि जातियाँ नहीं हैं तब जेनमतमें वर्णाश्रमव्यवस्था और ब्राह्मणत्व आदि जातियोंसे सम्बन्ध रखनेवाला तप दान आदि व्यवहार कैसा होगा ? उत्तर—जो व्यक्ति यज्ञोपवीत आदि चिह्नोंको धारण करे तथा ब्राह्मणोंको योग्य विशिष्ट क्रियाओंका आचरण करे उनमें ब्राह्मणत्व जातिसे सम्बन्ध रखने वाली वर्णाश्रमव्यवस्था और तप दान आदि व्यवहार भली भाँति किये जा सकते हैं। परत आपके द्वारा माना गया नित्य आदि समाजवाला ब्राह्मणत्व किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता, इसलिये ब्राह्मण आदि व्यवहारोंको क्रियानुसार ही मानना युक्तिमगत है।”

वे प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ४८७) में और भी स्पष्टतासे लिखते हैं कि—“तत् सदृशक्रियापरिष्कारादिनिबन्धनैवेय ब्राह्मणत्वक्रियादिव्यवस्था—इसलिये यह समस्त ब्राह्मण क्षत्रिय आदि व्यवस्था सदृश क्रिया और सदृश परिणमन आदिके निमित्तमे होती ही है।”

बौद्धोंके धम्मपद और श्वे० आगम उत्तराध्ययनसूत्रमें स्पष्ट शब्दोंमें ब्राह्मणत्व जातिको गुण और कर्मके अनुसार बताकर उसको जन्मना माननेके सिद्धांतका खण्डन किया है—

“न जटाहिं न गोत्तेहिं न जरुचा ह्यनि ब्राह्मणो ।

जग्धि सन्ध च धम्मो च मो सुची मो च ब्राह्मणो ॥

न चाह ब्राह्मण ब्रूमि योनिं न मत्सि सभन ।" [ धम्मपद गा० ३९३ ]

"कम्मणा उभणो होइ कम्मणा होइ रत्तिओ ।

वईसो कम्मणा होइ मुहो हवइ कम्मणा ॥" [ उत्तरा० २५।३३ ]

दिग्म्बर आचाष्यामें बराह्मचरित्रके कर्ता श्री जटासिंहनादि कृत्तने स्पष्ट शब्दोंमें जातिको कियानिमित्तक लिखते हैं—

"क्रियाविशेषाद् व्यवहारमानात् दयाभिरक्षाकृपिशितपभेदात् ।

शिष्टाश्च वर्णाश्रतुरो वन्ति न चायथा वर्णचतुष्टय स्यात् ॥" [ बराह्मचरित २५।११ ]

"शिष्टजन इन ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंको 'अहिंसा आदि व्रतोभा पालन, रक्षा करना, खेती आदि करना, तथा शिष्यवृत्ति' इन चार प्रकारकी क्रियाओंसे ही मानते हैं । यह सब वर्णव्यवस्था व्यवहार मात्र है । क्रियाके सिवाय और कोई वर्णव्यवस्थाका हेतु नहीं है ।"

ऐसे ही निवार तथा उद्गार पत्रपुराणकार रणियण, आदि पुराणकार जिनसेन, तथा धर्म-परीभाकार अमितगति आदि आचार्योंके पाए जाने हैं । आ० प्रभाचन्द्रने, इन्हीं वैदिक सस्कृति द्वारा आभिमूव, परम्परागत जनसंस्कृतिके मिश्रित विचारोंका, अपनी प्रम्बर तर्कधारासे परि-सिद्धन कर पोषण किया है । यद्यपि ब्राह्मणव्यवहारके व्यवहन करते समय प्रभाचन्द्रने प्रधान-तया उसके निखच और ब्रह्मप्रभयन आदि अशोक खण्डनके लिए इस प्रकारको लिखा है और इसके लिखनेमें महाकर गुप्तके प्रमाणार्थिकालद्वारा तथा शातरत्निके तररसग्रहने पयात प्रेरणा दी है परंतु इससे प्रभाचन्द्रका अपना जानिविषयक स्वतंत्र चिन्तनवृत्तिमें कोई कमी नहीं आती । उन्होंने उसने हर एक पहलू पर निवार करके ही अपने उक्त विचार स्थिर किए ।

## § २ प्रभाचन्द्रका समय—

कार्यक्षेत्र और गुरुकुल—आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र आदिकी प्रशस्तिसमें 'पद्मनादि सैद्धांत' को अपना गुरु लिखा है । श्रैयण्यवेम्नोलाके शिलालेख (न० ४०) में गोलार्चार्पके शिष्य पद्मनादि सैद्धांतिकता उल्लेख है । और इसी शिलालेखमें आगे चलकर पथिनतर्कप्रयत्नर, शब्दाभ्योहहभास्कर प्रभाचन्द्रका शिष्यरूपमें वर्णन किया गया है । प्रभाचन्द्रके प्रथिनतर्कप्रयत्नर और शब्दाभ्योहहभास्कर ये दोनों विशेषण यह स्पष्ट बनला रहे हैं कि ये प्रभाचन्द्र न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड जैसे प्रथित तत्त्वग्रन्थोंके रचयिता थे तथा शब्दाभ्योहभास्करनामक जनेद्रव्यासके कर्ता भी थे । इसी शिलालेखमें पद्मनादि सैद्धांतिकताके अरिद्वन्द्वनादिक और कौमारदेवव्रती लिखा है । इन विशेषणोंसे ज्ञात होता है कि—पद्मनादि सैद्धांतिकताके विशेष होकर पहिल ही दीक्षा धारण की होगी और इसीलिए ये कौमारदेवव्रती बड़े जाते थे । ये मूलसप्तान्तर्गत नन्दिगणके प्रमेयरूप देशीगणके श्रीगोलार्चार्पके शिष्य थे ।

प्रभाचन्द्रके सधर्मा श्रीकुलभूषण मुनि थे। कुलभूषण मुनि भी सिद्धान्तशास्त्रोंके पारगामी और चारित्रसागर थे। इस शिलालेखमें कुलभूषणमुनिकी शिष्यपरम्पराका वर्णन है, जो दक्षिणदेशमें हुई थी। तात्पर्य यह कि आ० प्रभाचन्द्र मूलसघान्तगत नन्दिगणकी आचार्यपरम्परामें हुए थे। इनके गुरु पद्मनन्दिसेद्धात थे और सधर्मा थे कुलभूषणमुनि। मालूम होता है कि प्रभाचन्द्र पद्मनन्दिसे शिक्षा दीक्षा लेकर धारानगरीम चले आए, और यहीं उन्होंने अपने प्रार्थोकी रचना की। ये धाराधीशभोजके मान्य विद्वान् थे। प्रमेयकमलमार्तण्डकी "श्रीभोज-देवराज्ये धारानिवासिना" आदि अन्तिम प्रशस्तिसे स्पष्ट है कि—यह ग्रन्थ धारानगरीमें भोज-देवक राज्यमें बनाया गया है। न्यायकुमुदचन्द्र, आराधनागद्यकथाकोश और महापुराण-टिप्पणकी अन्तिम प्रशस्तिवर्णके "श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना" शब्दोंसे इन प्रार्थोकी रचना भोजके उत्तराधिकारी जयसिंहदेवके राज्यमें हुई ज्ञात होती है। इसलिए प्रभाचन्द्रका कार्यक्षेत्र धारानगरी ही मालूम होता है। संभव है कि इनकी शिक्षा दीक्षा दक्षिणमें हुई हो।

श्रृणुवेङ्गोलके शिलालेख न० ५५ में मूलसघके देशीगणके देवेन्द्रसैद्धान्तदेवका उल्लेख है। इनके शिष्य चतुर्मुखदेव और चतुर्भुवदेवके शिष्य गोपनन्दि थे। इसी शिलालेखमें इन गोपनन्दिके सधर्मा एक प्रभाचन्द्रका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

“अवर सधर्मरु-

श्रीधाराधिपभोजराजमुकुटप्रोताश्मरदिमच्छटा-

च्छायाकुङ्कुमपङ्कलितचरणभोजतलस्मीधव ।

न्यायान्ताश्मरमण्डने दिनमणिशब्दाजरोत्पेसणि ,

स्थेयात्पण्डितपुण्डरीमतरणि श्रीमान् प्रभाचन्द्रमा ॥१७॥

श्रीचतुर्भुवदेवाना शिष्योऽधृष्य प्रवादिभि ।

पण्डितश्रीप्रभाचन्द्रो न्द्रनात्तिगजाङ्गुश ॥१८॥”

इन श्लोकोंमें वर्णित प्रभाचन्द्र भी धाराधीश भोजराजके द्वारा पूज्य थे, न्यायकमल-समूह ( प्रमेयकमल ) के दिनमणि ( मार्तण्ड ) थे, शब्दरूप अञ्ज ( शब्दाभोज ) के विकास करनेको रोत्पेसणि ( भास्कर ) के समान थे। पण्डित रूपी कमलके प्रफुल्लित करने वाले सूर्य थे, रुद्रवादि गर्जोंको वश करनेके लिए अशुशापे समान थे तथा चतुर्मुखदेवके शिष्य थे। इस शिलालेखमें वर्णित प्रभाचन्द्र और पद्मनन्दि सैद्धातके गिष्य, प्रपितरुग्रन्थकार एवं भोजभाम्कर प्रभाचन्द्र एक ही व्यक्ति हैं। इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में दिया जा सकता है, पर इसमें एकही बात नयी है। यह है—गुरुरूपसे चतुर्भुवदेव उल्लेख होनेकी। इसका हूँ कि—यदि प्रभाचन्द्र धारामें आनेके बाद अपनेही देशीगणके श्री चतुर्भुवदेवके गुरु और गुरुकी दृष्टिसे देखने हों तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। पर यह सुनिश्चित है कि प्रभाचन्द्रके भाप और परमादर्शीय उपास्य गुरु पद्मनन्दि सैद्धान्त ही थे।

के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं तो यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि प्रभाचन्द्र धारा-  
पीथ भोजके समकालीन थे। इस शिलालेखमें प्रभाचन्द्रको गोपनदिका सधर्मा कहा गया है।  
हलेबेन्गोलके एक शिलालेख ( न० ४२२, जैनशिलालेखसमग्र ) में होयसलनरेश एरेयङ्ग  
द्वारा गोपनन्दि पण्डितदेवको दिए गए दानका उल्लेख है। यह दान पीप शुद्ध १३, सवत्  
१०१५ म दिया गया था। इस तरह सन् १०६४ में प्रभाचन्द्रके सधर्मा गोपनदिकी स्थिति  
होनेसे प्रभाचन्द्रका समय सन् १०६४ तक माननेका पूर्ण समर्थन होता है।

**समयविचार**—आचार्य प्रभाचन्द्रके समयके विषयमें डॉ० पाठक, मेरीजी ३ तथा मुन्तार  
सा० आदिना प्रायः सर्वसम्मत मत यह रहा है कि आचार्य प्रभाचन्द्र ईसाकी ८ वीं शताब्दीके  
उत्तरार्ध एव नवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें विद्वान् थे। और इसका मुख्य आधार है जिनसेनद्वारा  
आदिपुराण का यह श्लोक—

“चन्द्रानुभ्रयशस प्रभाचन्द्रवर्ति स्तुवे। वृत्ता चन्द्रोत्थ येन शश्वदाह्लादित जगत् ॥”

**अर्थात्**—‘जिनका यश चन्द्रमाकी किरणोंके समान धरल है, उन प्रभाचन्द्रवर्ति स्तुति  
करता हूँ। जिन्होंने चन्द्रोदयकी रचना करके जगत् को आह्लादित किया है।’ इस श्लोकमें  
चन्द्रोदयसे न्यायकुमुदचन्द्रोदय (न्यायकुमुदचन्द्र) प्रथमका सूचन समझा गया है। आ० जिनसेनने  
अपने गुरु वीरसेनकी अधूरी जयध्वला टीकाको शक स० ७५६ (ईसवी ८३७) की फाल्गुन  
शुक्ला दशमी तिथिको पूर्ण किया था। इस समय अमोधरपका राज्य था। जयध्वलाकी  
समाप्तिके अनंतर ही आ० जिनसेनने आदिपुराणकी रचना की थी। आदिपुराण जिनसेनकी  
अंतिम कृति है। वे इसे अपने जीवनमें पूरा नहीं कर सके थे। उसे इनके शिष्य गुणभद्रने  
पूर्ण किया था। तापस यह कि जिनसेन आचार्यने इसकी ८४० के लगभग आदिपुराणकी  
रचना प्रारम्भ की होगी। इसमें प्रभाचन्द्र तथा उनका ‘न्यायकुमुदचन्द्रका उल्लेख मानकर डॉ० पाठक  
आदिने निर्णयस्वरूपसे प्रभाचन्द्रका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध तथा नवीं का  
पूर्वार्ध निश्चित किया है।

सुद्वर प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभाग की प्रस्तानना (पृ० १२३)  
में डॉ० पाठक आदिके मतका निरास इकरते हुए प्रभाचन्द्रका समय ई० ६५० से १०२० तक

इधीमान् प्रमीचीका विचार अत्र वदत गया है। वे अपने श्रीचन्द्रधोर प्रभाचन्द्र लेख (अनेकात  
पृ० ४ पं० १) में महापुराणविष्णुकार प्रभाचन्द्र तथा प्रमेयकमलमातण्ड और नद्यकचकोण आदिके  
वर्ता प्रभाचन्द्रका एक ही व्यक्ति होना सूचित करते हैं। वे अपने एक पत्रमें नुब लिखते हैं कि—‘हम  
समझते हैं कि प्रमेयकमलमातण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके कर्ता प्रभाचन्द्र ही महापुराणविष्णुके कर्ता हैं।  
और नद्यार्थवृत्तार (नदीवर्तिवृत्तार प्रवचनकरण) समाविष्टवृत्तिका, आत्मानगामनतिष्ठक, क्रिया  
वचनवृत्तिका प्रवचनसारसाराङ्गमास्तर (प्रवचनसारका टीका) आदिके कर्ता और न्याय रत्नकरण्डटीकाके  
कर्ता भी वही हैं।

पृ० ५० कर्ताचन्द्रजीन आदिपुराणक ‘चन्द्रानुभ्रयशस’ श्लोकमें चन्द्रोत्थकार किसी अन्य प्रभा  
चन्द्रविका उक्त बनाया है जो ठीक है। पर उन्होंने आदिपुराणकार जिनसेनके द्वारा न्यायकुमुदचन्द्रकार  
प्रभाचन्द्रके स्मरण होनेमें बाधक जो अर्थ तीन हेतु दिए हैं वे बलवान नहीं मान्य होते। यत् (१) भादि

निर्धारित किया है। इस निर्धारित समयकी शताब्दियाँ तो ठीक हैं पर दशकोंमें अन्तर है। तथा चिन आधारोंमें यह समय निश्चित किया गया है वे भी अश्वान्त नहीं हैं। ५० जीने प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंमें व्योमशिनाचार्यकी व्योमजती टीकाका प्रभाज देखकर प्रभाचन्द्रकी पूर्वावधि ६५० ई० और पुष्पदन्तकृत महापुराणके प्रभाचन्द्रकृत टिप्पणको नि० स० १०८० (ई० १०२३) में समाप्त मानकर उत्तरावधि १०२० ई० निश्चित की है। मैं 'व्योमशिव और प्रभाचन्द्र की तुलना करते समय (पृ० ८) व्योमशिनका समय ईसाकी सातवीं शताब्दीका उत्तरार्ध निर्धारित कर आया हूँ। इसलिए मात्र व्योमशिवके प्रभाजके कारण ही प्रभाच द्रका समय ई० ६५० के बाद नहीं जा सकता। महापुराणके टिप्पणकी स्तुतिथिति तो यह है कि—पुष्पदन्तके महापुराण पर श्रीचन्द्र आचार्यका भी टिप्पण है और प्रभाचन्द्र आचार्यका भी। बलात्कारणके श्रीचन्द्रका टिप्पण भोजदेवके राज्यमें बनाया गया है। इसकी प्रशस्ति निम्न लिखित है—

पुराणकार इसके लिए बाध्य नहीं मान जा सकते कि यदि वे प्रभाच द्रका स्मरण करते ह तो उन्हें प्रभाच द्रके द्वारा स्मृत प्रनन्तवीथ और विद्यान देवा स्मरण करना ही चाहिए। विद्यान द और अन तथीयका समय ईसावी नवा शताब्दीका पूर्वाध ह, और इसलिए वे आदिपुराणकारके समकालीन होत ह। यदि प्रभाच द्र भी ईसावी नवा शताब्दीके विद्वान् होते, तो भी वे अपने समकालीन विद्यान द आदि आचार्योंका स्मरण करके भी आदि पुराणकार द्वारा स्मृत हो सकते थ। (२) 'जयत और प्रभाच द्र' की तुलना करते समय में जयतका समय ई० ७५० स ८४० तक सिद्ध कर आया हूँ। अत समकालीनवद जयत से प्रभावित होकर भी प्रभाच द्र आदिपुराणमें उल्लेख हो सकते ह। (३) गुणभद्रके आत्मानुशासन स 'अधावय महानध' श्लोक उद्धृत किया जाना अवश्य ऐसी बात ह जो प्रभाच द्रका आदिपुराणमें उल्लेख होनेकी बाधक हो सकती ह। क्योंकि आत्मानुशासनके 'जिनसेनाचायपादस्मरणाधीनचेतसाम्। गुणभद्रभवताना कृतिरात्मानु शासनम् ॥ इस अन्तिमश्लोकसे ध्वनित होता ह कि यह ग्रंथ जिनसेन स्वामीका मृत्युके बाद बनाया गया ह, क्योंकि वही समय जिनसेनके पादनि स्मरणके लिए ठीक जेंचता ह। अत आत्मानुशासनका रचना का सन् ८५० के करीब मालूम होना ह। आत्मानुशासन पर प्रभाच द्रकी एन टीका उपरब्ध ह। उनमें प्रथम टीकाका उचान वाच्य इस प्रकार है— "बृहद्धमभ्रातुर्लोकितेतस्य विषयव्यापामुषुद्धे मन्धाधनध्यानेन सवमत्सोपकारक समागमुपदगमितुसामा गुणभद्रदेव " अर्थात्—गुणभद्र स्वामीन विषयवाची द्वार चकार वित्तवित्तदाल वडे धममार्त (?) शासनका समझनके बहाने आत्मानुशासन ग्रंथ रनाया ह। य ग्रंथ का गुणभद्र विष्णुशिव थे। उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें इन्हीं लोकसनका स्वय गुणभद्रन 'विष्णुमहाशासन, मुनीश कवि, अतिक्रान्त आदि विगपन दिए ह। इसमें इतना अनुमान ता उहूँ ह। किना जा सकता है कि आत्मानुशासन ग्रन्थगुणभद्रके या तो नही बनाया गया वनाकि उस समय लोकसनमून विषयव्यापामुषुद्धे बृहद्धमभ्रातुर्लोकितेतस्य एव अतिक्रान्तुन ह। गये थ। जत लोकसेनकी प्राग्निभक्त अवस्थामें उत्तर पुराणका रचनाक दृष्टि ही आत्मानुशासनका रचा जाना अधिक समभव ह। १५० नायूरामजी प्रमोने विद्वान लोग (१० ८५५) दत्त मन्धाधनकी है। आत्मानुशासन गुणभद्रकी शारम्भिक कृति ही मानून जाती है। लोकसेनके इस उत्तर पुराणके पहिले दिनसन की मृत्युके बाद बनाया जाण। परन्तु आत्मानुशासनकी रचनाक बाद कुछ समय तक लोकसेन पर प्रभुत्व ह कि इसमें जय कविनेके मुनीशवाका ना यथावयव रचनाक रचना ह। उत्तरपुराणके आत्मानुशासनका ३० वाँ पद्य 'जिना धन्य बृहन्मति' मन् कृतिर्लोकितेति कृतिर्लोकितेति, आत्मानुशासनका ६० वाँ पद्य 'अनन्दरत्नदेव' आत्मानुशासनका १० वाँ पद्य ह। उत्तरपुराणके अन्तिम पद्य 'गुणभद्रा स्वर्णवर्तु है' पर लिखन दृष्ट करती कर कविनेके इस अन्तिम पद्यके अन्तमें अनी इस विषयमें अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता।



“श्री त्रिक्रमादित्यसवदसरे वर्षाणामशीत्यधिकसहस्रे महापुराणत्रिपमपदविवरण सागर-  
सेनसैद्धातान् परिज्ञाय मूलटिप्पणिनाञ्चालोक्य कृतमिदं समुच्चयटिप्पणम् अक्षपातमीतेन श्रीमद्  
बला[रिना]गणश्रीसपाचार्यमत्नविशिष्येण श्रीचन्द्रमुनिना निचदोर्द्धं ङाभिभूतरिपुराज्यविचयिन  
श्रीभोजदेवस्य ॥ १०२ ॥ इति उत्तरपुराणटिप्पणम् प्रभाचन्द्राचार्य(१)विरचितं समाप्तम् ।”

प्रभाचन्द्रकृत टिप्पण जयसिंहदेवके रायमे लिखा गया है। इसकी प्रशस्तिके श्लोक  
रत्नकरण्टश्रायकाचारकी प्रस्तावनासे ‘यायकुमुदचन्द्र प्रथम भागकी प्रस्तावना ( पृ० १२० ) में  
उद्धृत किये गये हैं। श्लोकोंके अन्तर्- “श्री जयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्भारानिवासिना परापर-  
परमेष्ठिप्रणामोपातितामलपुण्यनिराहृताभिलमल्लङ्घनेन श्रीप्रभाचन्द्रपण्डितेन महापुराण-  
टिप्पणके शतयधिकसहस्रत्रयपरिमाण कृतमिति ।” यह पुष्पिकालेख है। इस तरह महापुराण  
पर दोनों आचार्यके पृथक् पृथक् टिप्पण हैं। इसका खुलासा प्रेमीजीके लेखसे स्पष्ट हो ही  
जाता है। पर टिप्पणलेखरुने श्रीचन्द्रकृत टिप्पणके ‘श्रीत्रिक्रमादित्य’ वाले प्रशस्तिलेखके अन्तमें  
भ्रमवश ‘इति उत्तरपुराणटिप्पणम् प्रभाचन्द्राचार्यविरचितं समाप्तम्’ लिख दिया है। इसी लिए  
दो० पी० एल० वैद्य, प्रो० हीरालालजी तथा प० बैलाशचन्द्रजीने भ्रमवश प्रभाचन्द्रकृत टिप्पणका  
रचना काल सन् १०८० समझ लिया है। अतः इस भ्रात आधारेसे प्रभाचन्द्रके समयकी  
उत्तरावधि सन् १०२० नहीं ठहराई जा सकती। अब हम प्रभाचन्द्रके समयकी निश्चित अवधिके  
साधक कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१-प्रभाचन्द्रेने पहिले प्रमेयकमलमार्त्तण्ड बनाकर ही ‘यायकुमुदचन्द्रकी रचना की है।  
मुद्रित प्रमेयकमलमार्त्तण्डके अन्तमें “श्री भोजदेवराज्ये श्रीमद्भारानिवासिना परापरपरमेष्ठि-  
पदप्रणामोपाजितामलपुण्यनिराहृताभिलमल्लङ्घनेन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निरालिप्रमाण-  
प्रमेयकरूपोद्योनिपरीक्षासुत्रपदमिदं त्रिवृतमिति ।” यह पुष्पिकालेख पाया जाता है। न्याय  
कुमुदचन्द्रकी कुछ प्रतियोंमें उक्त पुष्पिकालेख ‘श्री भोजदेवराज्ये’ की जगह ‘श्रीजयसिंह-  
देवराज्ये’ पदके साथ जैसाका तैसा उपलब्ध है। अतः इस स्पष्ट लेख से प्रभाचन्द्रका समय  
जयसिंहदेवके राज्यके कुछ वर्षों तक, अन्ततः सन् १०६५ तक माना जा सकता है। और  
यदि प्रभाचन्द्रने ८५ वर्षकी आयु पाई हो तो उनकी पूर्वावधि सन् ९८० मानी जानी चाहिए।

श्रीमान् सुन्तारसा० तथा प० कैलाशचन्द्रजी प्रमेयकमल० और ‘यायकुमुदचन्द्रके अन्तमें  
पाए जाने वाले उक्त ‘श्रीभोजदेवराज्ये और श्री जयसिंहदेवराज्ये’ आदि प्रशस्तिलेखोंको स्वयं प्रभा-  
चन्द्रकृत नहीं मानते। सुन्तारसा० इस प्रशस्तियाक्यको टीकाटिप्पणकार द्वितीय प्रभाचन्द्रका  
मानते हैं तथा प० कैलाशचन्द्रका इसे पीछेके किसी व्यक्तिकी करवत बताते हैं। पर प्रशस्तिवाक्य  
को प्रभाचन्द्रकृत नहीं माननेमें दोनके आधार जुड़े जुड़े हैं। सुन्तारसा० प्रभाचन्द्रको जिनसेन

१ दत्ता प० नाथूरामजी प्रेमी लिखित श्रीचन्द्र की प्रभाचन्द्र चार्यक लेख अनकाल वष ४  
करण १। २ महापुराणकी प्रस्तावना प० ५। ३ रत्नकरणप्रस्तावना प० ५९ ६०। ४ ‘यायकुमुदचन्द्र  
प्रथमभागकी प्रस्तावना प० १२२।

के पहिलेका विद्वान् मानते हैं, इसलिए 'भोजदेवराज्ये' आदिवाक्य वे स्वयं उन्हीं प्रभाचन्द्रका नहीं मानते। प० कैलाशचन्द्रजी प्रभाचन्द्रको ईसाकी १० वीं और ११ वीं शताब्दीका विद्वान् मानकर भी महापुराणके टिप्पणकार श्रीचन्द्रके टिप्पणके अन्तिमवाक्यको भ्रमवश प्रभाचन्द्रकृत टिप्पणका अन्तिमवाक्य समझ लेनेके कारण उक्त प्रशस्तिवाक्योंको प्रभाचन्द्रकृत नहीं मानना चाहते। मुहत्तारसा० ने एक हेतु यह भी दिया है कि—प्रमेयकमलमार्चण्डकी कुछ प्रतियों में यह अन्तिमवाक्य नहीं पाया जाता। और इसके लिए भाण्डारकर इस्टीब्यूटकी प्राचीन प्रतियोंका इशाला दिया है। मैंने भी प्रमेयकमलमार्चण्डका पुनः सम्पादन करते समय जैनसिद्धांत भवन आराकी प्रतिके पाठांतर लिए हैं। इसमें भी उक्त 'भोजदेवराज्ये' वाला वाक्य नहीं है। इसी तरह न्यायकुमुदचन्द्रके सम्पादनमें जिन आ०, ब०, श्र०, और भा० प्रतियोंका उपयोग किया है, उनमें आ० और ब० प्रतिमें 'श्री जयसिंहदेवराज्ये' वाला प्रशस्ति लेख नहीं है। हाँ, भा० और श्र० प्रतियाँ, जो ताड़पत्र पर लिखी हैं, उनमें 'श्री जयसिंहदेवराज्ये' वाला प्रशस्ति-वाक्य है। इनमें भा० प्रति शालिवाहनशक १७६४ की लिखी हुई है। इस तरह प्रमेय-कमलमार्चण्डकी किन्हीं प्रतियोंमें उक्त प्रशस्तिवाक्य नहीं है, किन्हींमें 'श्री पद्मनिदि' श्लोक नहीं है तथा कुछ प्रतियोंमें समी श्लोक और प्रशस्ति वाक्य हैं। न्यायकुमुदचन्द्रकी कुछ प्रतियोंमें 'जयसिंह देवराज्ये' प्रशस्ति वाक्य नहीं है। श्रीमान् मुहत्तार सा० प्रायः इसीसे उक्त प्रशस्ति-वाक्योंको प्रभाचन्द्रकृत नहीं मानते।

इसके निषयमें मेरा यह वक्तव्य है कि—लेखक प्रमादवश प्रायः मौजूद पाठ तो छोड़ देते हैं पर किसी अन्यकी प्रशस्ति अन्वयमें लगानेका प्रयत्न कम करते हैं। लेखक आदि नकल करनेवाले लेखक ही तो हैं, उनमें इतनी बुद्धिमानीकी भी कम समावना है कि वे 'श्री भोजदेवराज्ये' जैसी सुन्दर गद्य प्रशस्तिको खकपोलकल्पित करके उसमें जोड़ दें। जिन प्रतियोंमें उक्त प्रशस्ति नहीं है तो समझना चाहिए कि लेखकोंके प्रमादसे उनमें यह प्रशस्ति लिखी ही नहीं गई।

१ रत्नकरण्ड० प्रस्तावना पृ० ६० । २ दत्ता इत्यादि परिचय भाग १० प्र० भाग के सम्पादनीयम् ।

३ प० नाथूरामजी प्रमी अपनी नोटबुकका आधारमें सूचित करते हैं कि—'भाण्डारकर इस्टी-  
ट्यूटकी नं० ८३६ (सन् १८७७-७६) की प्रतिमें प्रशस्तिमें 'श्री पद्मनिदि' वाला श्लोक और भाण्डार-  
कर का वाक्य नहीं है। यहाँ की नं० ६३८ (सन् १८७७-७६) वाली प्रतिमें 'श्री पद्मनिदि' श्लोक है पर  
'भोजदेवराज्ये' वाक्य नहीं है। पहिली प्रति सन् १८८९ तथा दूसरी सन् १७९९ की लिखी हुई है।'  
धीरवाणी किलात भवार्थे अध्याय पं० एतन्नाथ पादवेनाथगारजी अपने यहाँ की ताड़पत्रकी दो पृथ-  
प्रतियाँके देखकर लिखत हैं कि—'प्रतियाँकी अन्तिम प्रशस्तिमें मुद्रितपुस्तकानुसार प्रशस्ति श्लोक पूरा है  
धीर श्री भोजदेवराज्ये धीमद्वारा निवासिना आदि वाक्य है। प्रमेयकमलमातृशब्दी प्रतियोंमें बहुत अल्प-  
ह परन्तु शरीर ६०० वर्ष पहिले लिखित होगी। उन दोनों प्रतियाँमें वाक्यसंकेत नहीं है। गोपबुद्धकी प्रतिमें  
'श्री भोजदेवराज्ये' प्रशस्ति नहीं है। शिन्धोली आपुनिक प्रतिमें भी उक्तवाक्य नहीं है। अनेक प्रतियोंमें  
प्रथम अध्यायके अन्तिम भाग जायदात्त 'गिद्ध मन्त्रनमस्वाय' श्लोककी व्याख्या नहीं है। इत्यादि। मुबार-  
जवाली प्रतिमें प्रशस्तिवाक्य है और उक्त श्लोककी व्याख्या भी है। मुहत्तार प्रतिमें 'भोजदेवराज्ये'  
प्रशस्ति नहीं है, पर शार्दा प्रशस्तिवाक्य है।

जब धर्म्य अनेक प्रमाणोंसे प्रभाचन्द्रका समय करीब करीब भोजदेव और जयसिंहके राज्यकाल तक पहुँचना है तब इन प्रशस्तिनामकोंको टिप्पणकारकृत या किसी पीछे होनेवाले व्यक्तिकी करतूत कहकर नहीं टाला जा सकता। मेरा यह विश्वास है कि 'श्री भोजदेवराज्ये' या 'श्रीजयसिंह-देवराज्ये' प्रशस्तियाँ सर्वप्रथम प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके रचयिता प्रभाचन्द्रने ही बनाई हैं। और जिन जिन ग्रंथोंमें ये प्रशस्तियाँ पाई जाती हैं वे प्रसिद्ध तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्र के ही ग्रंथ होने चाहिए।

२-पापनीयसप्तधाप्रणी शाकटायनचार्यने शाकटायन व्याकरण और अमोघवृत्तिके सिद्धांत केवलमुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरण लिखे हैं। शाकटायनने अमोघवृत्ति, महाराज अमोघरूपके राज्यकाल (ई० ८१४ से ८७७) में रचा थी। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें शाकटायनके इन दोनों प्रकरणोंका खडन आनुपूर्वमें किया है। न्यायकुमुदचन्द्रमें स्त्रीमुक्तिप्रकरणमें एक कारिका भी उद्धृत की है। अतः प्रभाचन्द्रका समय ई० १०० से पहिले नहीं माना जा सकता।

३-सिद्धसेनदिवाकरके व्याख्यारपर सिद्धार्थिगणिकी एक वृत्ति उपलब्ध है। हम 'सिद्धार्थि' और प्रभाचन्द्र' की तुलना म करता आए हैं कि प्रभाचन्द्रने न्यायावतारके साथ ही साथ इस वृत्तिकी भी देखा है। सिद्धार्थिने ई० १०६ में अपनी उपनिमित्तप्रपञ्चाकथा बनाई थी। अतः न्यायावतारवृत्तिके दृष्टा प्रभाचन्द्रका समय सन् ११० के पहिले नहीं माना जा सकता।

४-भासर्तङ्गका 'यायसार' ग्रन्थ उपलब्ध है। कहा जाता है कि इसपर भासर्तङ्गकी स्वोपज्ञ 'यायभूषण' नामकी वृत्ति थी। इस वृत्तिके नामसे उत्तरकालमें इनकी भी 'भूषण' रूपमें प्रसिद्धि हो गई थी। 'यायलीलावतीकारके कथनसे' ज्ञात होता है कि भूषण कियामें सयोग रूप मानते थे। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २८२) में भासर्तङ्गके इस मतका खडन किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्डके छठमें अध्यायमें जिन विशेष्यासिद्ध आदि हे-भासर्तङ्गका निरूपण है वे सब 'यायमारसे ही लिख गए हैं। स्व० डॉ० शतीशचन्द्र त्रिपाठीयण इनका समय ई० १०० के लगभग मानते हैं। अतः प्रभाचन्द्रका समय भी ई० १०० के बादही होना चाहिए।

५-आ० देवसेनने अपने दशानसार ग्रन्थ (रचनासमय ११२० वि० १३३ ई०) के बाद भावसप्रह ग्रन्थ बनाया है। इसकी रचना समभवतः सन् १४० के आसपास हुई होगी। इसका एक 'नोबन्मकम्महारो' गाथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें उद्धृत है। यदि यह गाथा स्वयं देवसेनकी है तो प्रभाचन्द्रका समय सन् १४० के बाद होना चाहिए।

६-आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमल० और न्यायकुमुद० बनानेके बाद शब्दाम्भोजमार्त्तण्ड नामका जैनद्रष्टास रचा था। यह न्याय जैनद्रष्टावृत्तिके बाद इसीने आधारसे बनाया गया है। मैं 'अप्रपन्नदि' और प्रभाचन्द्र' की तुलना (पृ० ३३) करते हुए लिख आया हूँ कि नेमिचन्द्रसिद्धा त

चक्रवर्तीके गुरु श्रमभयनन्दिने ही यदि महावृत्ति बनाई है तो इसका रचना काल अनुमानत १६० ई० होना चाहिए। अतः प्रभाचन्द्रका समय ई० १६० से पहिले नहीं माना जा सकता।

७-पुष्पदन्तकृत अपभ्रंशभाषाके महापुराण पर प्रभाचन्द्रने एक टिप्पण रचा है। इसकी प्रशस्ति रत्नकरण्डश्रावकाचार की प्रस्तावना (पृ० ६१) में दी गई है। यह टिप्पण जयसिंहदेवके राज्यकालमें लिखा गया है। पुष्पदन्तने अपना महापुराण सन् १६५ ई० में समाप्त किया था। टिप्पणकी प्रशस्तिसे तो यही मालूम होता है कि प्रसिद्ध प्रभाचन्द्र हा इस टिप्पणके कर्ता हैं। यदि यही प्रभाचन्द्र इसके रचयिता हैं, तो कहना होगा कि प्रभाचन्द्रका समय ई० १६५ के बाद ही होना चाहिए। यह टिप्पण इन्होंने न्यायकुमुदचन्द्रकी रचना करके लिखा होगा। यदि यह टिप्पण प्रसिद्ध तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रका न माना जाय तब भी इसकी प्रशस्तिके श्लोक और पुष्पिकालेख, जिनमें प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके प्रशस्तिश्लोकोंका एव पुष्पिकालेखका पूरा पूरा अनुकरण किया गया है, प्रभाचन्द्रकी उत्तरावधि जयसिंहके राज्य कालतक निश्चित करनेमें साधक तो हो ही सकते हैं।

८-श्रीधर और प्रभाचन्द्रकी तुलना करते समय हम बता आए हैं कि प्रभाचन्द्रके प्रयोग पर श्रीधरकी कन्दली भी अपनी आभा दे रही है। श्रीधरने कन्दली टीका ई० सन् १११ में समाप्त की थी। अतः प्रभाचन्द्रकी पूर्वावधि ई० ११० के करीब मानना और उनका कार्यकाल ई० १०२० के लगभग मानना सगत मालूम होता है।

९-अरण्यवेङ्गोलाके लेख न० ४० (६४) में एक पद्मनन्दिसद्भाषिकका उल्लेख है और इन्हींके शिष्य कुलभूपणके सधर्मा प्रभाचन्द्रको शब्दाम्बोरुहभास्कर और प्रथिततर्कप्रयत्नर लिखा है-

“अथिद्धवर्णादिवपद्मनन्दिमैद्धान्तिकालयोऽजनि यस्य लोके ।  
 कौमारदेवप्रतिताप्रमिद्धिर्त्तित्तु सो भावतिथिस्म धीर ॥ १५ ॥  
 तन्निष्ठव्य कुलभूपणाग्रयतिपद्मनन्दिसद्भाषिकारविधि,  
 सिद्धातान्नुधिपारगो ननविनेयस्तत्सधर्मो महान् ।  
 शब्दाम्बोरुहभास्करः प्रथिततर्कप्रयत्नर प्रमा-  
 चन्द्राल्यो मुनिराजपण्डितवर श्रीगुरुकुदान्त्य ॥ १६ ॥”

इस लेखमें वर्णित प्रभाचन्द्र, शब्दाम्बोरुहभास्कर और प्रथिततर्कप्रयत्नर विशेषणोंके वशसे शब्दाम्बोरुहभास्कर नामक जैनग्रन्थाम और प्रमेयकमलमार्तण्ड न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थोंके कर्ता प्रस्तुत प्रभाचन्द्र ही हैं। धरनाटीका पु० २ की प्रस्तावनामें तादृशप्रतीय प्रतिक्रम इतिहास बताते हुए प्रो० दीरालाजजीने इस निश्चयमें वर्णित प्रभाचन्द्रके समय पर सयुक्तिक पत्तिनासिद्ध प्रकाश डाला है। उसका मतार्थ यह है-“उक्त गिनालेखने कुलभूपणने श्रीधर शिष्य पाण्ड्या इस प्रकार है-कुलभूपणक सिद्धातान्नुधिपारग नामके शिष्य

१ श्री महापुरुषकी प्रस्तावना ।

हूए, कुउच द्रदेवके शिष्य माघनन्दि मुनि हूए, जिहोंने कोल्लापुरमें तीर्थ स्थापन किया। इनके श्रावक शिष्य थे—सामतकेदार नाकरस, सामत निम्बदेव और सामत कामदेव। माघनन्दिके शिष्य हूए—गण्डविमुक्तदेव, जिनके एक छात्र सेनापति भरत थे, व दूसरे शिष्य मानुकीर्ति और देवकीर्ति, आदि। इस शिलालेखमें बताया है कि महामण्डलाचार्य देवकीर्ति पंडितदेवने कोल्लापुरका रूपनारायण वसतिके अचीन केन्डगरेय प्रतापपुरका पुनरुद्धार कराया था, तथा जिननाथपुरमें एक दानशाला स्थापित की थी। उहीं अपने गुरुकी परोक्ष नियमके लिए महाप्रधान सचिवकारी हिरिय भडारी अभिनवगण्डदडनायक श्री हुल्लराजने उनकी निषद्या निर्माण कराई, तथा गुरुके श्राय शिष्य लक्ष्मन्दि, मान्य और त्रिभुवनदेवने महादान व पूजाभियोग करके प्रतिष्ठा की। देवकीर्तिके समय पर प्रकाश डालने वाला शिलालेख न० ३२ है। इसमें देवकीर्तिकी प्रशस्तिके अतिरिक्त उनका स्वर्णमासका समय शक १०८५ सुमानु समस्तर आषाढ़ शुक्ल ६ बुधवार सूर्योदयकाल ब्रतलाया गया है। और कहा गया है कि उनके शिष्य लक्ष्मन्दि माघचन्द्र और त्रिभुवनमन्त्रने गुरु भक्तिमें उनकी निषद्याकी प्रतिष्ठा कराई। देवकीर्ति पद्मनन्दिने पाँच पीढ़ी तथा कुलभूषण और प्रभाचन्द्रसे चार पीढ़ी बाद हूए हैं। अतः इन आचार्योंको देवकीर्तिके समयमें १००-१२५ वर्ष अथात् शक ६५० (ई० १०२८)के लगभग हूए मानना अनुचित न होगा। उक्त आचार्योंके कालनिर्णयमें सहायक एक और प्रमाण मिलता है—कुलचन्द्र मुनिके उचराधिकारी माघनन्दि कोल्लापुरीय कह गए हैं। उनके गृहस्थ शिष्य निम्बदेव सामतका उल्लेख मिलता है जो शिलाहारनरेश गडरादित्यदेवके एक सामन्त थे। शिलाहार गडरादित्यदेवके उल्लेख शक स० १०३० से १०५८ तक के लेखों में पाए जाते हैं। इससे भी पूर्वोक्त कालनिर्णयकी पुष्टि होती है।”

यह विवेचन शक स० १०८५ में लिखे गए शिलालेखोंके आधारसे किया गया है। शिलालेखकी वस्तुओंका ध्यानसे समान्तर करने पर यह प्रश्न होता है कि जिस तरह प्रभाचन्द्रके समान कुलभूषणकी शिष्यपरम्परा दक्षिण प्रान्तमें चली उस तरह प्रभाचन्द्रकी शिष्य परम्पराका कोई उल्लेख क्यों नहीं मिलता? मुझे तो इसका समाज्य कारण यही मालूम होता है कि पद्मनन्दिके एक शिष्य कुलभूषण तो दक्षिणमें ही रहे और दूसरे प्रभाचन्द्र उत्तर प्रातमें आकर धारा नगरीके आसनाम रहे हैं। यही कारण है कि दक्षिणमें उनकी शिष्य परम्पराका कोई उल्लेख नहीं मिलता। इस शिलालेखीय अकगणनासे निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्रभाचन्द्र भोजदेव और जयमिह दोनोंके समयमें नियमान थे। अतः उनकी पूर्वगधि सन् ६६० के आसपास माननेमें कोई बाध नहीं है।

१०—गदिराजमूर्तिने अपने पाश्चर्यमें अनेकों पूर्वोक्तोंका स्मरण किया है। पार्श्व चरित शक स० ६४७ (ई० १०२५) में बनकर समाप्त हुआ था। इन्होंने अकलकदेवके यायविनिश्चय परम्परा पर यायविनिश्चयविवरण या यायविनिश्चयतात्पर्यान्वयतमी व्याख्यानरत्नमाला नामकी विस्तृत टीका लिखी है। इस टीकामें पचासों जैन जैनेतर आचार्योंके प्रयोगसे

प्रमाण उद्धृत किए गए हैं। सभ्य है कि वादिराजके समयमें प्रभाचन्द्रकी प्रसिद्धि न हो पाई हो, अन्यथा तर्कशास्त्रके रसिक वादिराज अपने इस यशस्वी ग्रन्थकारका नामोल्लेख किए बिना न रहते। यद्यपि ऐसे नकारात्मक प्रमाण स्वतन्त्रभासे किसी आचार्यके समयके साधक या बाधक नहीं होते फिर भी अन्य प्रबल प्रमाणोंके प्रकाशमें इन्हे प्रसङ्गसाधनके रूपमें तो उपस्थित किया ही जा सकता है। यही अधिक सभ्य है कि वादिराज और प्रभाचन्द्र समकालीन और सम-व्यक्तिवशादी रहे हैं अथ वादिराजने अन्य आचार्योंके साथ प्रभाचन्द्रका उल्लेख नहीं किया है।

अब हम प्रभाचन्द्रकी उत्तरानधिके नियामक कुल्य प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१—ईसाकी चौदहवीं शताब्दीके विद्वान् अभिनवधर्मभूषणने न्यायदीपिका ( पृ० १६ ) में प्रमेयकमलमार्त्तण्डका उल्लेख किया है। इन्होंने अपनी न्यायदीपिका वि० स० १४४२ ( ई० १३८५ ) में बनाई थी\*। ईसाकी १३ वीं शताब्दीके विद्वान् मल्लिषेणने अपनी स्याद्वादमञ्जरी ( रचना समय ई० १२८३ ) में न्यायकुमुदचन्द्रका उल्लेख किया है। ईसाकी १२ वीं शताब्दीके विद्वान् आ० मलयगिरिने आश्रयकनिर्युक्तिटीका ( पृ० ३७१ A ) में लघीय-लक्ष्मी एक कारिकाका व्याख्यान करते हुए 'टीकाकारके' नामसे न्यायकुमुदचन्द्रमें की गई उस कारिकाकी व्याख्या उद्धृत की है। ईसाकी १२ वीं शताब्दीके विद्वान् देवभद्रने न्यायान्तार-टीकाटिप्पण ( पृ० २१, ७६ ) में प्रभाचन्द्र और उनके न्यायकुमुदचन्द्रका नामोल्लेख किया है। अतः इन १२ वीं शताब्दी तकके विद्वानों के उल्लेखों के आधारसे यह प्रामाणिकरूपसे कहा जा सकता है कि प्रभाचन्द्र ई० १२ वीं शताब्दीके बाद के विद्वान् नहीं है।

२—रत्नकरण्डश्रावकाचार और समाधितत्र पर प्रभाचन्द्रकृत टीकाएँ उपलब्ध हैं। प० ज्ञानकिशोर जी मुल्तार ने इन दोनों टीकाओंको एक ही प्रभाचन्द्रके द्वारा रची हुई सिद्ध किया है। आपके मतसे ये प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके रचयितासे भिन्न हैं। रत्नकरण्ड-टीकाका उल्लेख प० आशाधरजी द्वारा अनागारधर्मावृत टीका ( अ० = श्लो० ६३ ) में किये जाने के कारण इस टीकाका रचना काल वि० स० १३०० से पहिलेका अनुमान किया गया है, क्योंकि अनागारधर्मावृत टीका वि० स० १३०० में बनकर समाप्त हुई थी। अन्ततः मुन्नारगा० इस टीकाका रचनाकाल विक्रमकी १३ वीं शताब्दीका मध्यभाग मानते हैं। अस्तु, निन्दाल मुल्तारसा० के निर्णयके अनुसार इसका रचनाकाल वि० १०५० ( ई० ११८३ ) ही मान कर प्रस्तुत विचार करते हैं।

रत्नकरण्डश्रावकाचार ( पृ० ६ ) में वेदलिङ्गलाहारके खटनमें न्यायकुमुदचन्द्रगत शब्दावलीका पूरा पूरा अनुसरण करके लिखा है कि—“तदलमतिप्रसङ्गेन प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे प्रपञ्चन प्ररूपखात्।” इसी तरह समाधितत्र टीका ( पृ० १८ ) में लिखा है कि—“ये पुरायोगमान्यै मुक्तौ तत्प्रच्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च सोभयितार विन्मरत प्रत्याख्याता।” इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और

\* स्वामी सप्तमस्य पृ० २२७ । † रत्नकरण्डश्रावकाचार सूचिका पृ० ६६ में ।

न्यायकुमुदचंद्र ग्रंथ इन टीकाओंसे पहिने रचे गए हैं। अतः प्रभाचंद्र ईसा की १२ वीं शताब्दीके बादके विद्वान् नहीं हैं।

३-वादिदेवसूरिका जन्म वि० सं० ११४३ तथा स्वर्गमास वि० सं० १२२२ में हुआ था। ये वि० सं० ११७४ में आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए थे। समन है इन्होंने वि० सं० ११७५ (ई० १११८) के लगभग अपने प्रसिद्ध ग्रंथस्वाध्यादरत्नाकरकी रचना की होगी। स्वाध्यादरत्नाकरमें प्रभाचंद्रके प्रमेयकमलमार्चण्ड और न्यायकुमुदचंद्रका न केवल शब्दार्थानुमरण ही किया गया है किंतु कालाहारसमर्थन प्रकरणमें तथा प्रतिबिम्ब चर्चामें प्रभाचंद्र और प्रभाचंद्रके प्रमेयकमलमार्चण्डका नामोल्लेख करके खडन भी किया गया है। अतः प्रभाचंद्रके समयकी उत्तरावधि अन्ततः ई० ११०० सुनिश्चित हो जाती है।

४-जैनेन्द्रयाकरणके अभयनदिसम्मत सूत्रपाठ पर श्रुतकीर्तिने पचवस्तुप्रक्रिया बनाई है। श्रुतकीर्ति कनड़ीचन्द्रप्रभचरित्रके कर्ता अगलकविने गुरु थे। अगलकविने शक १०११, ई० १०८२ में चन्द्रप्रभचरित्र पूर्ण किया था। अतः श्रुतकीर्तिके समय भी लगभग ई० १०७५ होना चाहिए। इन्होंने अपनी प्रक्रियामें एक-यास ग्रंथका उल्लेख किया है। समन है कि यह प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्कर नामका ही यास हो। यदि ऐसा है तो प्रभाचंद्रकी उत्तरावधि ई० १०७५ मानी जा सकती है। शिमोगा जिलेके शिलालेख न० ४६ से ज्ञात होता है कि पूयपादने भी जैनेन्द्रयासकी रचना की थी। यदि श्रुतकीर्तिने यास पदसे पूयपादकृत यासका निर्देश किया है तब 'टीकामाल' शब्दसे सूचित होनेवाली टीकाकी मालामें तो प्रभाचंद्रकृत शब्दाम्भोजभास्करको पुरोया ही जा सकता है। इस तरह प्रभाचंद्रके पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती उल्लेखोंके आधारसे हम प्रभाचंद्रका समय सन् १२०० से १०६५ तक निश्चिन कर सकते हैं। इन्हीं उल्लेखोंके प्रकाशमें जब हम प्रमेयकमलमार्चण्डके 'श्री भोजदेवराज्ये' आदि प्रशस्तिलेख तथा न्यायकुमुदचंद्रके 'श्री जयसिंहदेवराज्ये' आदि प्रशस्ति लेखको देखते हैं तो वे अत्यन्त प्रामाणिक मान्य होने हैं। उन्हीं किसी टीकाटिप्पणकारका या किसी अन्य व्यक्तिके कारण बहकर नहीं टाला जा सकता।

उपर्युक्त विवेचनसे प्रभाचंद्रके समयकी पूर्वावधि और उत्तरावधि करीब करीब भोजदेव और जयसिंह देवके समय तक ही ध्याती है। अतः प्रमेयकमलमार्चण्ड और न्यायकुमुदचंद्रमें पाए जाने वाले प्रशस्ति लेखोंकी प्रामाणिकता और प्रभाचंद्रकर्तृतामें सन्देहको कोई स्थान नहीं रहता। इसलिए प्रभाचंद्रका समय ई० १२०० से १०६५ तक माननेमें कोई बाधा नहीं है\*।

\* हेमो-इसी प्रभावनाका श्रुतकीर्ति और प्रभाचंद्र प्राग ५० ३६।

\* प्रमेयकमलमार्चण्डके प्रयमनस्करणके सम्बन्धमें वं० बगीधरजी शारदाजी सोलापुरत उक्त स्वरूपका वं० उल्लेखमें 'श्री भोजदेवराज्ये' प्रशस्तिसे अनुमान प्रभाचंद्रका समय ईसाका आधारहीनता में सूचित किया है। और अतएव इसके समयके लिये नमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीकी गायामांका प्रमेयकमलमार्चण्डमें उद्धृत होने का प्रमाण उपस्थित किया है। पर अतएव यह प्रमाण अमान्य नहीं है, प्रमेयकमलमार्चण्डमें सिद्धांतप्रमाण और लोपायागएव गायामां उद्धृत है। पर य गायामां नमिचन्द्रकृत नहीं है। पहिली

### § ३. प्रभाचन्द्र के ग्रन्थ—

आ० प्रभाचन्द्रके जितने ग्रन्थोंका अभी तक अन्वेषण किया गया है उनमें कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं तथा कुछ व्याख्यात्मक । उनके प्रमेयकमलमार्चण्ड (परीक्षामुखव्याख्या), न्यायकुमुदचन्द्र (लघीयश्रय व्याख्या), तत्त्वार्थवृत्तिपदनिरण (सर्वार्थसिद्धि व्याख्या), और शाकटायनन्यास (शाकटायनव्याकरणव्याख्या) इन चार ग्रन्थोंका परिचय इसी ग्रन्थके प्रथमभागकी प्रस्तावनामें दिया जा चुका है । यहाँ उनके शब्दाभोजभास्कर (जैनेन्द्रव्याकरण महान्यास) और प्रचनसारसरोजभास्कर (प्रचनसारटीका) का परिचय दिया जाता है । गद्यकथाकोश, महापुराणटिप्पण आदि भी इन्हींके ग्रन्थ हैं । इस परिचयके पहिले हम 'शाकटायनन्यास' के कर्तृत्व पर विचार करते हैं—

भाई प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने शिलालेख तथा किन्दन्तियोंके आधारसे शाकटायनन्यासको प्रभाचन्द्रकृत लिखा है § । शिमोगा जिलेके नगरताल्लुकेके शिलालेख न० ४६ (ए०पी० कर्ना० पु० ८ भा० २ पृ० २६६-२७३) में प्रभाचन्द्रकी प्रशंसापरक ये दो श्लोक हैं—

“माणिक्यनन्दिजिनराजवाणीप्राणाधिनाथ परवादिमर्दी ।

चित्र प्रभाचन्द्र इह क्षमाया मार्त्तण्टद्वन्द्वौ नितरा व्यदीपित ॥

\*सुखि न्यायकुमुदचन्द्रोदयकृते नम ।

शाकटायनकृत्सून्यामकर्त्रे त्रतीन्दवे ॥”

जन्सिद्धान्तभवन आरामें वर्धमानमुनिकृत दशभक्त्यादिमहाशास्त्र है । उसमें भी ये श्लोक हैं । उनमें 'सुखि' की जगह 'सुखीशे' तथा 'त्रतीन्दवे' के स्थानमें 'प्रमेन्दवे' पाठ है ।

गाथा घवलाटाका (रचनाकाल ई० ८१६) में उद्धृत है श्री उमास्वातिवृत श्रावकप्रशस्तिमें भी पाई जाती है । दूसरा गाथा पूज्यपाद (ई० ६ वी) कृत सर्वाथसिद्धिमें उद्धृत है । अतः इन प्राचीन गाथाभाषों में निमिचन्द्रकृत नहीं माना जा सकता । अवश्य ही इहे निमिचन्द्रने जीववाण्ड और द्रव्यसंग्रहमें संगृहीत किया है । अतः इन गाथाभाषा उद्धृत होना ही प्रभाचन्द्रके समयका ११ वी सदी नहीं साथ सकता ।

§ 'न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभागकी प्रस्तावना पृ० १२५ ।

\* इस शिलालेख अनुवादमें राईस सा० ने आ० पूज्यपादको ही 'न्यायकुमुदचन्द्रोदय और शाकटायनन्यासका कर्ता लिख दिया है । यह गलती आपसे इसलिये हुई कि इस श्लोकके बाद ही पूज्यपादकी प्रशंसा करनेवाला एक श्लोक है, उसका अर्थ आपने भूलके "सुखि" इत्यादि श्लोकक साथ कर दिया है । वह एक गद् है—

“यासं जनेन्द्रसत्त सवल्लमुधनुत पाणिनीयस्य भूयो

यास शब्दावतार मनुजततिहित वधशास्त्र च कृत्वा ।

यस्तस्वायस्य टीकां ध्यरचयद्विहू तां भव्यसो पूज्यपाद—

स्वामी भूपालवन्द्य स्वपरहितवध पूण्ड्रभोमवृत् ॥”

धोरा सा सावधानीसे विचार करने पर यह स्पष्ट मालूम होता जाता है कि 'सुखि' इत्यादि श्लोकके अनुपपन्न पदोंका 'यास' वाले श्लोकसे कोई भी सम्बन्ध नहीं है । डॉ० शीतलप्रसादजाने 'मद्रास और मद्रासस्थान स्मारक' में तथा प्रो० हीरालालजीने 'जन्तिलालय संग्रह' की भूमिका (पृ० १५१) में भी राईस सा० का अनुसरण करते इसी गलतीको दुहराया है ।



यह शिलालेख १६ वीं शताब्दीका है और वर्धमानमुनिका समय भी १६ वीं शताब्दी ही है। शाकटायन-यासके प्रथम दो अध्यायोंकी प्रतिलिपि स्वाध्यायविद्यालयके सरस्वतीभवनमें मौजूद है। उसको सरसरी तौर से पलटने पर मुझे इसके प्रभाचंद्रवृत्त होनेमें निमलिखित कारणों से सन्देह उत्पन्न हुआ है—

१—इस ग्रंथमें मंगलश्लोक नहीं है जब कि प्रभाचंद्र अपने प्रत्येक ग्रंथमें मंगलाचरण नियमित रूपसे करते हैं।

२—सधियाके अन्तर्गत् तथा ग्रंथमें कहीं भी प्रभाचंद्रका नामोल्लेख नहीं है जब कि प्रभाचंद्र अपने प्रत्येक ग्रंथमें 'इति प्रभाचंद्रविरचिते' आदि पुष्पिकालेख या 'प्रमेदुर्जिन' आदि रूप से अपना नामोल्लेख करनेमें नहीं चूकते।

३—प्रभाचंद्र अपनी टीकाओंके प्रमेयरुमलमारौण्ड, वायकुमुदचंद्र, शब्दाम्भोजमास्कर आदि नाम रखते हैं जब कि इस ग्रंथके इन श्लोकोंमें इसका कोई खास नाम सूचित नहीं होना—

“शब्दानां शासनाख्यस्य शास्त्रस्यावर्थनामतः ।

प्रसिद्धस्य महामोघयुत्तरपि निशेषतः ॥

सूत्राणां च विवृतिर्लियते च यथामतिः ।

ग्रन्थस्यास्य च यासेति ( ? ) त्रियते नामनामतः ॥”

४—शाकटायन यापनीयसधके आचार्य थे और प्रभाचंद्र थे कष्टर दिग्म्बर । इन्होंने शाकटायनके स्त्रीमुक्ति और केवलमुक्तिप्रकरणोंका खडन भी किया है। अतः शाकटायनके व्याकरणपर प्रभाचंद्रके द्वारा यास लिखा जाना कुछ सम्भवे नहीं आता।

५—इस यासमें शाकटायनके लिए प्रयुक्त 'सधाधिपति, महाश्रमणसधप' आदि विशेषणों का समर्थन है। यापनीय आचार्यके इन विशेषणोंके समर्थनकी आशा प्रभाचंद्र द्वारा नहीं की जा सकती। यथा—

“अभूतमिदं शास्त्रं चतुरध्यायरूपतः, सधाधिपति श्रीमानाचार्य शाकटायन ॥

महतारभते तत्र महाश्रमणसधप, ध्रमेण शब्दतत्त्व च विशद् च विशेषतः ॥

महाश्रमणसधाधिपतिरित्यनेन मन समावानमायायते । विपयेषु त्रिंशत्तत्त्वेषु न मन-समाधि असमाहितचेतनश्च किं नाम शास्त्रररणम्, आचार्य इति तु शब्दविद्याया गुरुत्वं शाकटायन इति अन्ययदुद्विप्ररूपं, विदुस्त्वान्वयो हि शिष्टैरुपलीयते । महाश्रमणसधाधिपते समागादुशासन युक्तमेव ”

३ मद्रूर युनि में ग्यासग्रंथकी दूसरे अध्यायके चौथे पादके १२४ सूत्र तक की कापी है (नं० A 800) । उसमें निम्नलिखित मंगलश्लोक है—

प्रणम्य जपिन प्राप्तविश्वध्याकरणधियः । गत्वानज्ञासनस्येयं वसविधरणीयम् ॥

अस्मिन् माप्याणि भाष्यंते वनयो वृत्तिर्मानता । यासां यस्ता हृता टाका वार वारायणायम् ॥ तत्र वता (स्या) शक्यं मंगलश्लोक श्रीवीरममतमित्यादि ।

परन्तु इन श्लोकोंकी रचनाशैली प्रभाचंद्रवृत्त वायकुमुदचंद्र आदि के मंगलश्लोकोंसे अत्यन्त विभिन्न है ।

६-प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें जैनेन्द्रव्याकरणसे ही सूत्रोंके उद्धरण दिए हैं जिसपर उनका शब्दाम्भोजभास्कर न्यास है। यदि शाकटायनपर भी उनका न्यास होता तो वे एकाग्र स्थानपर तो शाकटायनव्याकरणके सूत्र उद्धृत करते।

७-प्रभाचन्द्र अपने पूर्वग्रन्थोंका उत्तरग्रन्थोंमें प्राय उल्लेख करते हैं। यथा न्याय-कुमुदचन्द्रमें तत्पूर्वकालीन प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा शब्दाम्भोजभास्करमें न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड दोनोंका उल्लेख पाया जाता है। यदि शाकटायनन्यास उन्होंने प्रमेयकमल-मार्त्तण्ड आदिके पहिले बनाया होता तो प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिमें शाकटायनव्याकरणके सूत्रोंके उद्धरण होते और इस न्यासका उल्लेख भी होता। यदि यह उत्तरकालीन रचना है तो इसमें प्रमेयकमल आदिका उल्लेख होना चाहिये था जैसा कि शब्दाम्भोजभास्करमें देखा जाता है।

८-शब्दाम्भोजभास्करमें प्रभाचन्द्रकी भाषाकी जो प्रसन्नता तथा प्रावाहिकता है वह इस दुरूह न्यासमें नहीं देखी जाती। इस शैलीवैचित्र्यसे भी इसके प्रभाचन्द्रकृत होनेमें सन्देह होता है। प्रभाचन्द्रने शब्दाम्भोजभास्कर नामका न्यास बनाया था और इसलिये उनकी न्यासकारके रूपसे भी प्रसिद्धि रही है। मालूम होता कि वर्धमानमुनिने प्रभाचन्द्रकी इसी प्रसिद्धिके आधार से ईहें शाकटायनन्यासका कर्त्ता लिख दिया है। मुझे तो ऐसा लगता है कि यह न्यास स्वयं शाकटायनने ही बनाया होगा। अनेक वैयाकरणोंने अपने ही व्याकरण पर न्यास लिखे हैं।

शब्दाम्भोजभास्कर-अरण्यवेल्गोलके शिलालेख न० ४० ( ६४ ) में प्रभाचन्द्रके लिये 'शब्दाम्भोनिवाकर' विशेषण भी दिया गया है। इस अर्थगर्भ विशेषणसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र जैसे प्रथिततर्क ग्रन्थोंके कर्त्ता प्रथिततर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रही शब्दाम्भोजभास्कर नामक जैनेन्द्रव्याकरण महान्यासके रचयिता हैं। ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वतीभजनकी अधूरी प्रतिके आधारसे इसका ठुक परिचय यहाँ दिया जाता है। यह प्रति सन् १९८० में देहलीकी प्रतिसे लिखाई गई है। इसमें जैनेन्द्रव्याकरणके मात्र तीन अध्यायका ही न्यास है सो भी बीचमें जगह जगह त्रुटित है। ३९ से ६७ न० के पत्र इस प्रतिमें नहीं हैं। प्रारम्भके २८ पत्र किसी दूसरे लेखकने लिखे हैं। पत्रसंख्या २२८ है। एक पत्रमें १३ से १५ तक पक्तियाँ और एक पक्तिमें ३९ से ४३ तक अक्षर हैं। पत्र बड़ी साइजके हैं। मगलाचरण-

“श्रीपूज्यपादमकलङ्कमनन्तत्रोधम्, शब्दार्थसशयहर निरिलेपु घोधम्।

सच्छब्दलक्षणमशेषमत प्रसिद्ध वक्ष्ये परिस्फुटमल प्रणिपत्य सिद्धम् ॥ १ ॥

सविस्तर यद् गुरुभि प्रकाशित महामतीनामभिधानलक्षणम्।

मनोहरै स्वल्पपदै प्रकाश्यते महद्भिरुपदिष्टि याति सर्वापिमाणे ( ? )

तदुक्त वृत्तशिक्ष ( ? ) श्लाघ्यते तद्धि तस्य।

क्रियुक्तमसिलक्षैर्भाषमाणे गणेन्द्रो विविक्तमसिलार्थ श्लाघ्यतेऽतो मुनीन्द्रै ॥३॥

शब्दानामनुशासनानि निरिलान्याध्यायताहर्निशम्,

यो यः सारतरो विचारचतुरस्तल्लक्षणाशो गत।

अनहोनी बात न होकर अधिक सभ्य और निश्चिन्त बात मालूम होती है। ( प्रमेय ) कमल-  
माताण्ड, ( पाय ) वुमुदचन्द्र, ( शब्द ) अम्भोजभास्कर जैसे सुन्दर नामोंकी कल्पिका प्रभाव-द्वीप  
बुद्धिने ही ( प्रवचनसार ) सरोजभास्करका उदय किया है। इस प्रथमी संवत् १५५५ फी  
लम्बी इह जीर्णप्रति हमारे सामने है। यह प्रति ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन बम्बईकी है।  
इसका परिचय सक्षेपमें इस प्रकार है—

पत्रसंख्या ५३, श्लोकसंख्या १७४६, साङ्ख १३५६। एक पत्रमें १२ पक्तियां  
तथा एक पक्तिमें ४२-४३ अक्षर हैं। लिखावट अच्छी और शुद्धभाष्य है। प्रारम्भ—

“ओ नम सप्तहाय शिष्याशय ।

वीर प्रवचनसारं नित्यिलार्थं निर्मलनानन्दम् ।

वक्ष्ये सुखायगोध निराणपन् प्रणम्यात्मम् ॥

श्रीकुन्ददत्तदाचार्य सकलतोपकारक भोममार्गमध्ययनरुचिविनेयाशयप्रशोतोपदर्शयितुनामो  
निर्विघ्नत शास्त्रपरिसमाप्त्यान्विक फलमभिलषतिष्टेयताविशेष शास्त्रस्यादौ नमस्कुर्येनाह  
॥ छ ॥ पस सुरासुर ॥”

अन्त—“इति श्रीप्रभावद्वेदेवरिचिते प्रवचनसारसरोजभास्करे शुभोपयोगाधिकार  
समाप्त ॥ छ ॥ संवत् १५५५ वर्षे माघमासे शुक्लपक्षे पूयमाया तिस्रो गुन्वासरे गिरिपुर  
व्या० पुरुषोत्तम लि० प्रथमसंख्या पट्टचत्वारिंशदधिनानि सप्तदशशतानि ॥१७४६॥”

मध्यकी सधियोंका पुष्पिकालेख—“इति श्री प्रभावचन्द्रदेवरिचिते प्रवचनसारसरोज-  
भास्करे ” है।

इस टीका में जगह जगह उद्धृत दार्शनिक अक्षरगण, दार्शनिक व्याख्यापद्धति एवं  
सरल प्रमत्तशैली इसे न्यायकुमुदचन्द्रादिके रचयिता प्रभावचन्द्रकी कृति सिद्ध करनेके लिए  
पयाप्त है। अक्षरगण—( गा० २।१० ) “नाशोरपादौ सम यद्दत्तामोत्रामौ तुलान्तयो ” ( गा०  
२।२० ) “द्वयोपात्तकर्मवगाद् भवाद् भवात्तरावाप्ति ससार ” इनमें दूसरा अक्षरगण राजवार्तिक  
का तथा प्रथम किसी बौद्ध ग्रन्थका है। ये दोनों अक्षरगण प्रमेयकमल० और न्यायकुमुद० में  
मां पाए जाते हैं। इस व्याख्याकी दार्शनिक शैलीके नमूने—

( गा० २।१३ ) “यदि हि द्रव्य स्वयं सदात्मकं न स्यात् तदा न्ययसत्त्वात्मकं  
सत्तात् प्रथमा ? तत्रापि पक्षे न भवति, यदि सत् सद्रूप द्रव्यं तदा असद्रूपं ध्रुव निश्चयेन  
न त तत् भवति । कथं केन प्रकारेण न्ययं तत्रनिपाणवत् । ह्यदि पुणो अण्य वा । अथ  
सत्तात् पुनरन्यद्वा पृथग्भूत द्रव्यं भवति तत्र अथ पृथग्भूतस्यापि सत्त्वे सत्तात्कल्पना व्यर्था ।  
सत्तात्मन्नात्सत्त्वे चाप्योयाशय —मिद्धे हि तत्सत्त्वे सत्तात्मन्नात्सत्त्वे तस्याञ्च सम्यं ध-  
सिद्धौ सत्या तत्सत्त्वमिद्धिरिति । तत्सत्त्वमिद्धिमत्तरेणापि सत्तात्मन्नात्त्वे परुष्पादरपि  
तत्रसद्ग । तस्मान् द्रव्यं स्वयं सत्ता स्वयमेव सत्त्वात्पुणः तद्व्यम् ।” ( गा० २।१६ )  
“ तथाहि—द्रव्यतिद्रोष्ययद्द्रव्यत्वात्तान् गुणपर्यायान् गुणपर्यायैर्वा द्रोष्यते ह्ये वा द्रव्यमिति ।

गम्यते उपलभ्यते द्रव्यमनेनेति गुण । द्रव्यस्या द्रव्यान्तरात् येन विशिष्यते स गुण । इत्ये-  
तस्मादर्थविशेषात् यद् द्रव्यस्य गुणरूपेण गुणस्य वा द्रव्यरूपेणाभजन एसो ऽप्य हि अतद्भाज ।”  
इन गाथाओंकी अमृतचन्द्रीय और जयसेनीय टीकाओंसे इस टीकाकी तुलना करने पर इसकी  
दार्शनिकप्रसूतता अपने आप क्लृप्त मारती है । इस टीकाका जयसेनीयटीका पर प्रभाव है  
और जयसेनीयटीकासे यह निश्चय ही पूर्वकालीन है ।

अमृतचन्द्राचार्यने प्रवचनसारकी जिन ३६ गाथाओंकी व्याख्या नहीं की है प्राय वे गाथाएँ  
प्रवचनसारसरोजभास्करमें यथास्थान व्याख्यात हैं । जयसेनीयटीकामें प्रभाचन्द्रका अनुसरण  
करते हुए इन गाथाओंकी व्याख्या की गई है । हाँ, जयसेनीयटीकामें दो तीन गाथाएँ अतिरिक्त  
भी हैं । इन टीकाका लक्ष्य है गाथाओंका सक्षेपसे खुलासा करना । परन्तु प्रभाचन्द्र प्रारम्भसे  
ही दर्शनशास्त्रके त्रिशिष्ट श्रम्यासी रहे हैं इसलिए जहाँ रास अवसर आया वहाँ उन्होंने  
सक्षेपसे दार्शनिक मुद्दोंका भी निर्देश किया है ।

प्रो० ए० एन० उपाध्येने प्रवचनसारकी भूमिकामें भावत्रिभंगीकार श्रुतमुनिके ‘सारत्रय-  
निपुण प्रभाचन्द्र’के उल्लेखसे प्रवचनसारसरोजभास्करके कर्त्तृका समय १४वीं सदीका प्रारम्भिक  
भाग सूचित किया है । परन्तु यह सभानना किसी दृढ़ आधार से नहीं की गई है ।

जयसेनीय टीकापर इसका प्रभाव होनेसे ये उनसे प्राकालीन तो हैं ही । आ० जयसेन  
अपनी टीका में (पृ० २२) केवलिकमलाहारके खडनका उपसहार करते हुए लिखते हैं कि—  
“अन्येपि पिण्डशुद्धिकथिता बहवो दोषा ते चान्यत्र तर्कशास्त्रे ज्ञातव्या अत्र चाध्यात्म-  
प्रवृत्तानोन्यन्ते ।” सम्भव है यहाँ तर्कशास्त्रसे प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्चण्ड आदिकी निरुद्धा  
हो । अस्तु, मुझे तो यह सक्षिप्त पर त्रिशदटीका प्रभाचन्द्राचार्यकी प्रारम्भिककृति मालूम होती है ।

गद्यकथाकोश—यह ग्रन्थ भी इन्हीं प्रभाचन्द्रका मालूम होता है । इसकी प्रतिमें  
८२ वीं कथाके बाद “श्रीजयसिंहदेवराज्ये” प्रशस्ति है । इसके प्रशस्ति श्लोकोंका प्रभाचन्द्रकृत  
यायकुमुदचन्द्र आदिके प्रशस्तिश्लोकोंसे पूरा पूरा सादृश्य है । इसका मगलश्लोक यह है—

“प्रणम्य भोक्षप्रदमस्तद्वीप प्रकृष्टपुण्यप्रभव जिनेन्द्रम् ।

वक्ष्येऽत्र भव्यप्रतिबोधनार्थमारधनासत्सुकथाप्रबन्ध ॥”

८२ वीं कथाके अनन्तर “जयसिंहदेवराज्ये” प्रशस्ति लिखकर ग्रन्थ समाप्त कर दिया गया  
है । इसके अनन्तर भी कुछ कथाएँ लिखी हैं । और अन्तमें “सुकोमलै सर्वसुखावबोधै” श्लोक

१ यायकुमुदचन्द्र ग्रन्थभागकी प्रस्तावना पृ० १२२—

‘याराध्य चतुर्विधामनुपमामाराधना निमलाम् । प्राप्तं सवमुखास्वद निरुपम स्वर्गपवमप्रदा (?) ।  
तथा घमकथाप्रपञ्चरचनास्वाराधना सस्थिता । स्थयात् कमविगुद्धिहेतुरमला च द्राकतारावधि ॥१॥

सुकोमल सवमुखावबोध पद प्रभाचन्द्रकृत प्रबन्ध ।

वल्याणकालेऽप्य जिनश्वराणां सुरेन्द्रदन्तीव विराजतेऽसी ॥२॥

श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्भागनिवासिता परापरपञ्चपरमेष्ठिप्रणामोपाजितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकल  
कृत श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन आराधनासत्सुखाप्रबन्ध कृत ।”

तथा " इति भट्टारकप्रभाचन्द्रवृत्त कथाकोश समस्त " यह पुष्पिकालेख है। इस तरह इसमें दो स्थलों पर ग्रन्थ समाप्तिकी सूचना है जो खासतौरसे विचारणीय है। हो सकता है कि प्रभाचन्द्रने प्रारम्भिकी ८६ कथाएँ ही बनाई हों और बादकी कथाएँ किसी दूसरे भट्टारकप्रभाचन्द्रने। श्रयवा लेखकने भूलसे ८६ की कथाके बाद ही ग्रन्थ समाप्तिसूचना पुष्पिकालेख लिख दिया हो। इसको खासतौरसे जाँचे बिना अभी विशेष कुछ कहना शक्य नहीं है।

मेरे विचारसे प्रभाचन्द्रने तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण और प्रवचनसारसरोजभास्कर भोजदेवके राज्यसे पहिले अपनी प्रारम्भिक श्रयस्थान बनाए होंगे। यही कारण है कि उनमें 'भोजदेव राज्ये' या 'जयसिंहदेवराज्ये' कोई प्रशस्ति नहीं पाई जाती और न उन ग्रन्थोंमें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिका उल्लेख ही पाया जाता है। इस तरह हम प्रभाचन्द्रकी ग्रन्थरचनाका क्रम इस प्रकार समझते हैं—तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण, प्रवचनसारसरोजभास्कर, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, न्यायकुमुदचंद्र, शब्दाम्भोजभास्कर, महापुराणटिप्पण और गद्यरुधावशे। श्रीमान् प्रेमीजीने रसकरण्ड-

१ योगसूत्रपर भोजदेवकी राजमातृगण्ड नामक टीका पाई जाती है। सभ्य है प्रमेयकमलमातृगण्ड और राजमातृगण्ड नाम परस्पर प्रभावित है।

२ पं० जगद्विद्यार जी मुन्नारन रत्नकरण्ड गववाचार की प्रस्तावनामें रत्नकरणाववाचारकी टीका और समाधिपत्रकीको एकही प्रभाचन्द्र द्वारा रचित मिथ्या है जो ठीक है। पर आपन इन प्रभाचन्द्रकी प्रमेयकमलमातृगण्ड आदिके रचयिता तत्त्वार्थकार प्रभाचन्द्रन भिन्न सिद्ध करनेका जो प्रयत्न किया है वह वस्तुतः प्रमाणों पर अवलम्बित नहीं है। आपके मुख्य प्रमाण है कि— प्रभाचन्द्रका आदिपुराणकारन स्मरण किया है उस लिए ये ईसाकी नवमशताब्दीक विगत है और इस टीकामें यगतिप्रवचन (ई० ९५९) वसुनिश्चयवाचार (अनुमानत वि० की १३ वां शताब्दीका पूर्व भाग) तथा पद्मनादि उपासकाचार (अनुमानत वि० सं० ११८०) के इत्यादि उद्धृत पाए जाते हैं इसलिए यह टीका प्रमेयकमलमातृगण्ड आदिके रचयिता प्रभाचन्द्रकी नहीं हो सकती। इनके विषयमें मेरा यह वक्तव्य है कि—जय प्रभाचन्द्र का समय अन्य अतः पुष्ट प्रमाणसे ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दीक मिथ्या होता है तब यदि य टीका भी उहा प्रभाचन्द्रकी है तो भी इनमें यशस्विलकचम्पू और नीतिशावकामतक वाक्यांश उद्धृत होना अस्वाभाविक एवं अनिर्वाह्य नहीं है। वसुनिश्चय और पद्मनादिका समय भी विक्रमकी १२ वीं और तर्हवीं सदा अनुमानमात्र है कोई दृढ़ प्रमाण इसके साधक नहीं दिए गए हैं। पद्मनादि गुणचन्द्रके विषय यह बात पद्मनादिक ग्रन्थसे तो नहीं मालूम होता। वसुनिश्चयक पण्डितमन्वदुर्गा गायक रचय उही की बनाई है या अन्य किसी आचार्यकी यह भी अभी निर्दिष्ट नहीं है। पद्मनादिवाक्याचारक प्रभुवागरण आदि श्लोक भी रत्नकरणादिकामें पद्मनादिका नाम लेकर उद्धृत नहा है और न इन श्लोकोंके पहिले उक्त च तथा चौकनम आदि कोई पं हो लिया गया है जिससे इन्हें उद्धृतही माना जाय। तात्पर्य यह कि मुन्नार सा० ने इन टीकाओंके प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रन न होने में जो प्रमाण दिए हैं वे ठीक नहीं हैं। रत्नकरणादिका तथा समाधिपत्रकी प्रमेयकमलमातृगण्ड और गद्यरुधमदचन्द्रका एक साथ विगणितगीत उल्लेख होना इसकी सूचना करता है कि ये टीकाएँ भी प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रका ही होनी चाहिए। ये उल्लेख इस प्रकार हैं— तदवमतिप्रसङ्गेन प्रमेयकमलमातृगण्ड गद्यरुधमदचन्द्र प्रपञ्चन प्ररूपणात् -रत्नक० टी० प० ६। य पुनर्योगसाहचर्यवन्ती तत्त्वार्थवृत्तिरामनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमातृगण्ड न्यायकुमुदचन्द्रे च मोक्षविचारे विस्तरतः प्रवर्तयाना। -समाधिपत्रटी० प० १५।

इन दोनों अवतरणोंकी प्रभाचन्द्रवृत्त शब्दाम्भोजभास्करके निम्नलिखित अवतरणमें तुलना करन पर स्पष्ट मालूम हो जाता है कि शब्दाम्भोजभास्करके कर्तान ही उक्त टीकाओंकी बनाया है—

टीका, समाधितन्त्रटीका, क्रियाकलापटीका\*, आत्मानुशासनतिलकां आदि ग्रन्थोंकी मी प्रभाचन्द्र-  
कृत होनेकी समाचना की है, यह खास तौरसे विचारणीय है । यथानसर इन ग्रन्थोंके नियमोंमें  
विशेष प्रकाश डाला जायगा । अन्तमें मैं उन सब ग्रन्थकार विद्वानोंके प्रति अपनी हार्दिक  
कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनके ग्रन्थोंसे इस प्रस्तावनामें सहायता मिली है ।

पायुनगुक्ल द्वादशी }  
आष्टाहिनव }  
वार ति० म० २४६७ }

न्यायाचार्य महेन्द्रकुमार शास्त्री.  
स्याद्वाद विद्यालय काशी

"ताम्रस्वच्छायस्य अर्घ्यक्षतोऽनुमनादेश्च यथा सिद्धयति तथा प्रमेयकमलमात्तण्ड यायकुमुदचद्रे च  
प्ररूपितमिह ब्रष्टव्यम् ।"—गार्वाभोजभास्कर ।

प्रभाचन्द्र इन गद्यरथाकाशमें पाई जानेवाली अञ्जनचोर आदिकी क्याओमें रत्नकरण्टीकागत  
क्यामाका अक्षरसा सादृश्य ह । इति ।

\* क्रियाकलापटीकाकी एक लिपिन प्रति बम्बईके सरस्वती भवनमें ह । उसके मंगल और प्रशस्ति  
श्लोक निम्नलिखित हैं—

मंगल- "जिनेद्रमु मूलितकमवय प्रणम्य समागृह्यतस्वरूपम् ।  
अनन्तबोधविभवं गुणीयं क्रियाकलाप प्रकट प्रवक्ष्य ॥"

प्रशस्ति- "यदे मोहतमोविनाशनपटुत्प्रलोक्यदीपप्रभु, ससृष्टतिसर्मा वतस्य निखिलरुनेहस्य सगोपक ।  
सिद्धाताग्निसमस्तशास्त्रविरण भी पद्मनरिप्रभु तद्विष्टव्यात्प्रकटायता स्तुतिपद प्राप्त प्रभाचन्द्रत ॥१॥  
यो रात्रौ त्रिबसे पृथि प्रपता (?) बोधा यतीना पुत्रो प्योपाता (?) प्रलये तु रमलस्तेषा महादक्षित ।  
धोमदगौनमनाभिभगणपरलोचप्रयोवद्योतक, सव्यवृ (?) तबलोऽप्यसौ यतिपनेजात प्रभाचन्द्रत ॥२॥  
य (यत) सवात्महित न वणसहित न स्पन्दितोच्छ्रयम्,  
नो धान्छाकलितप्र दोपमलिनं न श्वासतुद्र (रुद्र) कमम् ।  
गातामयविषय (मयविष) सम परानु (पानु) गणराकणितं कर्णत,  
तद्वत सवयिद प्रणष्टविषय पापादपूर्व यच ॥ ३ ॥" >

इन प्रशस्तिश्लोकमें ज्ञात होता ह कि जिन प्रभाचन्द्रने क्रियाकलापटीका रची ह वे पद्यनदि  
शेदातिवके गिण्य थे । यायकुमुदचद्र आदिके कता प्रभाचन्द्र भी पद्मनरि सद्धान्तिक ही शिष्य थे,  
अन क्रियाकलापटीका और प्रमेयकमलमात्तण्ड आदिके कता एव ही प्रभाचन्द्र ह इसमें कोई सन्देह नहीं  
रह जाता । प्रशस्तिश्लोकोंकी रचनाशली भी प्रमेयकमल आदिकी प्रशस्तिवास मिलनी जुलती ह ।

† आत्मानुशासनतिलकाकी प्रति थी प्रेमोजीने भेजी ह । उसका मंगल और प्रशस्ति दस प्रकार ह—

मंगल- "धीर प्रणम्य भववारिनिधिप्रपोतमुद्रद्योतितालिख्यवापमनत्पुण्यम् ।  
निर्वाणमागमतवद्यगुणप्रबधमात्मानुशासनमहं प्रवर प्रयक्ष्ये ॥"

प्रशस्ति- "मोभोपायधनत्पुण्यममलतानोदयं निर्मलम् । भव्याय परमं प्रभेदुहृतिना व्यक्त प्रत्यक्ष पव ।  
प्याहवान वरमात्मानुशासनमिद ध्यामोहविच्छेदत । सूवनार्थेषु शृतावररट्टरहश्चेतस्यलं चिन्मताम् ॥१॥

इति थी आत्मानुशासन (नं) सविलर (कं) प्रभाचन्द्राचार्यविरचित (तं) तम्पूणम् ।

## न्यायकुमुदचन्द्रद्वितीयभागस्य विषयानुक्रमः

विषय	पृ०	विषय	पृ०
१० कारिकाव्याख्यानम्	४०४	समारोपध्ववच्छेदकत्वात् प्रमाण स्मृति	४१०
धनस्य स्वरूपम्	४०४	अनुमानलक्षणप्रयोजनप्रमाधकत्वाच्च प्रमाण	
स्मृतिप्रामाण्यवाद	४०५ ४११	स्मृति	४१०
( बोद्धावीनां दूषणस्य ) स्मने स्वरूप नाना		साध्यसाधनसम्बन्धो हि सत्तामात्रेण अनुमाना	
नान वा ?	४०५	ज्ञेय परिचानो वा, स्मृतिश्रोतौ कृतौ वा ?	४१०
ज्ञानमपि ज्ञानमात्रमनुभूतविषय वा नानम् ?	४०५	प्रत्यभिज्ञानप्रामाण्यवाद	४११-४१८
अनुभूते जायमाना स्मृतिरिति अनुभवेन		( बोद्धव्यं दूषण ) विरुद्धधर्माध्यासात्,	
प्रतीयते स्मत्या उभाभ्या वा ?	४०५	कारणाभावात्, विषयभावाच्च न प्रमाण	
यत् अनभूतता प्रत्यक्षगम्या स्यात् तच्च स्मृति		प्रत्यभिज्ञाना	४११
रपि तामनुभूतता नानु गन्ता	४०६	सोऽप्यमित्यत्र प्रत्यक्ष स्मरणयो स्पष्टास्पष्ट	
स्मनेविषयाभ्यन्तरेण स्यात् अनुभूतताविशिष्टो		लक्षणविरुद्धधर्माध्यास एव	४१२
वाय ?	४०६	'स एवायम् इत्यत्र आवापद्य परस्परानु	
अनुभूताविषयत्वे स्मनेन प्रमाणात् अविद्य		प्रवेशन प्रतिभासने अननुप्रवेशन वा ?	४१२
मानविषयत्वात्	४०६	प्रत्यभिज्ञानस्य हि कारणमित्यत्र स्यात् पूर्वा	
अस्यविषयत्वेन स्मृतौ अमत्रियाऽपि न		मुभवन्नित सस्कार तदुभयं वा ?	४१२
संभवति	४०६	प्रत्यभिज्ञानविषयो हि पूर्वज्ञानगृहीतमेव वस्तु	
( उत्तरपक्ष ) सस्कारप्रभव तत्त्वान्तरो		स्यात्, तत्परिचय वा ?	४१३
ज्ञानविषय स्मृति	४०६	अतिरिक्तपक्ष किं स्वरूपमदकृत अतिरेक,	
कारणमदान् स्वरूपमन्त विषयभेदाच्च		कारणसम्बन्धकृत तत्सम्बन्ध ऐक्य	
प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्ना स्मृति	४०७	प्रतिपत्तिरुक्तौ वा ?	४१३
अनुभूत स्मृति इति त्रिकालानुयायिना		एक्यप्रतिपत्तिपक्ष एकत्वसम्या स्थायित्व वा	
प्रमात्रा प्रमायते	४०७	विवचिनम् ?	४१३
स्मृतिरिहि गृहीतवाहित्वात्प्रमाणम् परिच्छि		स्थायित्वमपि वस्तुतो भिन्नमभिन्न वा ?	४१३
स्तिविशेषात्वात् असत्यदीनार्थं प्रवृत्त		भदप्यत्र किं तत् पूर्वपक्षपक्षम् प्रत्यभिज्ञान	
मानत्वात् अर्थाभ्युपगमनत्वात् किं		समय एव बोध्यते ?	४१३
वाच्यत्वात् समारोपाध्ववच्छेदकत्वात्		( उत्तरपक्ष ) किं धर्मणा धर्मिणा सह	
प्रयोजनप्रमाधकत्वाद्वा ?	४०८	विरोध परस्पर वा ?	४१४
गृहीतवाहित्वात् कस्य गृहीतवाच्यस्य ग्रहणम् ज्ञानस्य		विरुद्धधर्माध्यासात् कारणभूताभ्या दशनस्म	
नयस्य ज्ञानविशिष्टस्य नयस्य तद्विशि		रणकारणाभ्या प्रत्यभिज्ञानस्य भेद साध्यत	
ष्टस्य वा ज्ञानस्य ?	४०८	स्वभावभूताभ्या वा ?	४१४
ज्ञयस्य ज्ञानविशिष्टस्य हि तत्र संपोष		परस्परानुप्रवेशो हि परस्परस्वरूपता दूषणम्,	
समवाय विषयणीभावो वा ?	४०९	एकस्मिन्नापारे वृत्तिर्वा ?	४१४
प्रमाणान्तरप्रवृत्ति गृहीतवाच्यप्रमाणलक्षणश्च		दशनस्मरणयो चित्रज्ञानवत् कथञ्चि नुपवे	
द्वयमप्यविनवाच्यत्वं स्मृतावस्तयव	४१०	शोऽभ्युपगम्यत	४१५

दसनम्भरणरक्षणवारणस्य सद्भावात्	
कारणाभावात् प्रत्यभिज्ञानाभाव	४१५
विषयाभावात्, गृहीतग्राहित्वान्, बाध्यमान	
त्वाद्वा प्रत्यभिज्ञानस्याप्राप्त्यप्य स्यात् ?	४१६
प्रत्यभिज्ञानविषयो हि प्रत्यक्षेण गृह्यते, स्मर	
णन, प्रमाणान्तरेण वा ?	४१६
प्रत्यक्षस्मरणयो द्रव्याविषयत्वेऽपि द्रव्यविषय	
व प्रत्यभिज्ञानजनकत्वमस्त्येव	४१७
प्रत्यभिज्ञानविषयस्य हि बाधक प्रत्यक्षम	
अनुमान वा स्यात् ?	४१७
रूनपुनर्जाननखकेशादी एतत्त्वप्रत्यभिज्ञानस्य	
बाध्यमानत्वऽपि न सवत्र तस्याप्राप्त्यप्यम	४१८
नापि सादृश्यप्रत्यभिज्ञानस्य बाध्यमान	
नत्वम्, अनुमानानुत्पत्तिप्रसङ्गात्	४१८
तकस्य रक्षणम्	४१८
व्याप्तिरक्षणम्	४१९
तत्रप्राप्त्यप्यत्राद्	४२०-४३४
(षाड्विकस्य पूर्वपक्ष) व्याप्तिस्वरूपस्यवा	
समवात कथं तदस्य प्राप्त्यप्यम ?	४२०
व्याप्तिर्हि देवात् कालतो वा स्यात् ?	४२०
किं सामान्यस्य सामान्येन अविनाभाव किं	
वा सामान्यस्य विशेष, उक्त विशेषाणा	
विशेष ?	४२०
द्वितीयपक्ष देशकालानवच्छिन्ने विशेषमात्रे	
सामान्यस्याविनाभाव तदवच्छिन्ने वा ?	४२०
विशेषाणां विशेषविनाभावो हि दृष्टाना	
दृष्ट स्यात्, अदृष्टानामदृष्ट, दृष्टाना	
वाऽदृष्टरिति ?	४२१
न सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्रहं भुङ्कर	४२१
अविनाभावज्ञानो हि व्यतिरेकमात्रवचन	४२१
'अन्यभावे धूमो नोपपद्यते इत्यत्र अग्न्यभाव	
पारमाधिकं सन् विशेषणम्, अपार	
माधिक एव वा ?	४२१
एकस्य कस्यचिदन्तरभावे धूमो नोपपद्यते,	
सवस्य वा ?	४२१
धूमसदभावविरोधस्य च धूमाभाव एव	
उपाधिन अग्न्यभाव	४२२
अविनाभावे सत्यपि धमाद् बहिरेवानुमीयत	
नतु तद्गतं पञ्जल्पम्	४२२

(उत्तरपक्ष) स्वरूपप्रयुक्ताऽऽव्यभिचार एव	
हि व्याप्ति	४२२
यस्य येन अव्यभिचार तस्य तेन व्याप्ति	४२३
अविनाभावज्ञानो हि तद्योपपत्त्ययमानुपप	
त्तिरूपनियमपयवसित	४२३
व्याप्ति सर्वोपसंहारेण प्रतीयते नतु एकव-	
धम्पुल्लेखेन	४२४
धूमाभावे अग्न्यभावस्य निमित्तात्	४२४
अग्निधूमयोर्हि अग्नित्वधूमत्वद्वारेणव व्या	
प्तिनतु पञ्जल्प्यादिना	४२५
व्याप्तिज्ञानस्य कारणभूतौ प्रत्यक्षानुपलम्भौ	
प्रथमदशानकाले न स्त अतो न प्रथम	
समय एव व्याप्तिग्रहणम्	४२६
अवयव्यतिरेकवशात् व्याप्तिप्रतिभावे किं सा	
ताभ्यां ज्ञायते ज्ञायते वा ?	४२६
<b>११ कारिकाव्याख्यानम्</b>	<b>४२७</b>
अत्मदादिसम्बन्धिन यो गिसम्बन्धिनो वा	
प्रत्यक्षान्न व्याप्तिप्रतिपत्ति	४२७
न स्वसवेदेन द्वयमानसप्रत्यक्ष व्याप्तिपरि	
ज्ञानम्	४२७
(योगानां पूर्वपक्ष) प्रत्यक्षणव अविनाभाव	
प्रतीयते	४२७
भूयादशानावगता अवयव्यतिरेकमहृत्तेर्द्वय	
प्रभव वा प्रत्यक्ष व्याप्तिग्राहणम्	४२८
अनुसंधानेन व्याप्तिरहित्वात्प्यते अतो न प्रथम	
प्रत्यक्षणव तद्ग्रहणम्	४२९
अन्वयव्यतिरेको च प्रयोजकसद्देहव्युदासाथो	४२९
(उत्तरपक्ष) किमिन्द्रिय मानस वा प्रत्यक्ष	
व्याप्तिग्रहणे प्रभवेत् ?	४२९
प्रत्यक्षमात्रम्, भूयोदशनसहस्रायकम्, अवयव्य	
तिरेकसहस्रत वा प्रत्यक्ष व्याप्तिग्रहणे	
प्रभवेत् ?	४२९
पुरोदुष्यमाने हि नियताग्निस्त्विति त्वेन धूम	
प्रतिभासेत्, अनियताग्निसत्त्विति त्वेन धूम	
त्वन वा ?	४३०
प्रत्यक्षस्य अवयव्यतिरेकसहस्रतत्वेन हि स्वविषय	
यानिप्रमेण अर्थान्तरे वृत्ति, स्वविषय	
प्रयतमानस्य अग्निगमाधान वा ?	४३०
इन्द्रियविषये विद्यमानत्वात्प्रभवप्रत्यक्षण	
व्याप्ति प्रतीयते, स्वविषयत्वाद्वा ?	४३०



किं सामान्यस्य सामान्यं व्याप्ति उत तदु पलम्बितविगवाणं तदुपलम्बितविसाप ?	४३१	न हि कृत्तिकोऽप्यात शकटोऽप्यानुमाने पक्ष धमता संभवति	४४०
व्याप्तिताने हि तत्कारणकारणवार्तिद्रया पेशा न तु साधान	४३१	नापि कृत्तिकोऽप्यादी कालाकागादीना पक्षत्वम्	४४०
न मानस प्रयत्न बहिरर्थे इन्द्रियनिरपेक्षं प्रवर्तते सम्बन्धसम्बन्धोऽपि मनस सम्भिरैव अर्थे	४३१	शान्तित्वत्वे धावणत्वस्य, सवस्य क्षणिकत्वे साध्ये सत्त्वस्य च सपक्षमत्वाभावेऽपि	४४०
नातीमानागतानिभि	४३२	गमकत्वप्रतीति	४४०
नापि यातिप्रयत्नात् व्याप्तिग्रह	४३२	विपक्षमत्त्व तु अविनाभावात्मकमेव	४४१
योगी हि व्याप्ति प्रतिपन्न स्वायमनुमान वि ध्यात पराय वा ?	४३३	सपक्ष सत्त्वाभावेऽपि अन्तर्व्याप्तिरन्वयोऽ- न्वय समस्त्यव	४४१
योगी परार्थानुमानन गहीतव्याप्तिकमगृही तव्याप्तिक वा पर प्रतिपात्तम् ?	४३३	अयथानुपपत्तिलक्षणत्वे हेतो दोषप्रयपरि हारोपपत्त	४४१
कारिकाविवृत्योऽर्थापानम	४३३	अविनाभावप्रपञ्चाय शक्यस्याभिधान निश्चि तत्वस्य अवागिनविपयत्वात् अभि धानप्रसङ्ग	४४१
अनुमानस्य लक्षणम्	४३४	पाद्वरूप्यनिरास	४४० ४४२
<b>१२ कारिकाव्याख्यानम्</b>	<b>४३५</b>	साध्याविनाभावव्यतिरेकणापरस्य अबाधित विपयत्वात्परसमवात	४४२
प्रतिज्ञाप्रयोगममयनम्	४३५-८	वाधिनविपयत्व अविनाभावयोर्विरोधान	४४२
(बोद्धव्य पूर्वपक्ष) पक्षस्य प्रयोदनाभाव प्रयोगानपपत्त	४३५	अवागितविपयत्व निश्चिनमनिश्चित वा हेतो रूप स्थान ?	४४२
साध्याप्रतिपात्तलक्षणप्रयोजनमपि न पक्ष प्रयोगण विद्वपति	४३६	निश्चयनिश्चयनञ्च अनुपलम्भ संवादो वा ?	४४२
स हि केवल साध्यमय प्रतिपात्तत हेतुवयास समन्वितो वा ?	४३६	अप्यपि तद्विषय प्रमाणात्तम् अविनाभावा वगमो वा अबाधिनविपयत्वनिश्चय निश्चयन म्यात् ?	४४३
(उत्तरपक्ष) पक्षस्य साध्यसिद्धिप्रतिविधि त्वात्प्रयोग प्रकृतात्सिद्ध, प्रयोदना प्रसापकत्वात् हेतुवयामापिपक्षस्य तद्वशा यकत्वाद्वा ?	४३६	प्रतिपत्तो हि अनुपयत्त तु यत्तलो वा प्रतिविध्यत ?	४४३
हेतुवोचरस्य पक्षस्यानिर्णय हेतोरनैकान्तिक त्वात्दोषानुपपन्न	४३७	अनुपयत्तत्वञ्च तयो पक्षमत्वात्विभावाभाव हेतुमनुमान गधाजनित वा ?	४४३
हेतुप्रयोगापेक्षयव पक्षस्य साध्यसाधकत्वम् पक्षाभावे कथं सपक्षविपयव्यवस्था ?	४३७	हानात्तु बुद्धयोऽनुमानस्य फलम	४४४
प्रतिपत्ता प्रयोगानर्हव नास्त्रानावपि सा नाभिधीयत	४३८	अविनाभावाविचार	४४४ ४८
त्रैरूप्यनिरास	४३८-४४१	(बोद्धव्य पूर्वपक्ष) अविनाभावो हि तादा त्म्यतदुपपत्तिम्यामेव नियत	४४४
(बोद्धव्य पूर्वपक्ष) हेतोःत्रैरूप्य हि अनिद विद्वानकात्तिकोऽप्यव्यवच्छेदापम भ्युपगम्यते	४३८	तादात्म्येन स्वभावहेतोरविनाभाव तदुत्पत्त्या च वाप्यहेतो, अनुपलक्षित्व स्वभाव हेत्वन्तगतव	४४४
(उत्तरपक्ष) न त्रैरूप्य हेतोःक्षण हत्वामा सपक्षि वत्तमानत्वात्	४३९	कायहेतोरविनाभावस्य प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्च नेन प्रतिपत्तः	४४४
तदुपपत्तागोहेत्वाभावेऽपि त्रैरूप्यसमस्ति	४४०	स्वभावहेतोस्तु विपक्ष बाधकप्रमाणा अविना भावावगति यथा सत्त्वस्य क्षणिकत्वेन	४४५
		अनुपलक्षित्व सर्वा स्वभावानुपलम्भो अन्त भवति अत तादात्म्यमेव सम्बन्ध	४४६

(उत्तरपक्ष) तात्पर्ये सति भेदाभावात् तस्य  
 अविनाभावनियमनित्तत्त्वम् ४४६  
 तात्पर्येण भेदत्वे च हतुग्रहणवेलायामेव  
 साध्यस्य प्रतिपन्नत्वात् व्ययमनुमानम् ४४६  
 विरतानाराधयवच्छेदायमपि नानुमानस्य  
 साधन्य यतो हि तत्त्वरूपे प्रतिपन्न  
 अप्रतिपन्ने वा विपरीत आरोपे स्यात् ? ४४७  
 साध्यसाधनयारव्यनिरेके च शिशापात्ववत्  
 कथत्वमपि हेतु म्यात् ४४७  
 बहुलुप्तप्रोष्यपि घूमधर्मेषु क्षयात्वादिषु अवि-  
 नाभावस्यापुलम्बनं न तदुत्पत्त्यापि अवि-  
 नाभावनियम ४४७  
 तात्पर्यतदुत्पत्तिभ्यामेव अविनाभावनियमे  
 कथं कृत्वादिदयान्कटोदयया च द्रोदय-  
 समुत्पन्नयोश्च सम्पत्तयभाव ? ४४८  
 प्रयत्नस्य निवृत्त्यवस्थं अनुपलम्बस्य च  
 अर्थात्तरोपलम्बस्य न व्याप्तिग्रहणे  
 सामर्थ्यम् ४४८  
 विवृतिव्याख्यानम् ४४९  
 तात्पर्यतदुत्पत्त्यभावेऽपि च द्रात् जलच द्र-  
 प्रतिपत्ति भवति ४५०  
**१३ कारिकाव्याख्यानम् ४५०**  
 प्रतिनिम्बसाद ४५१ ४५८  
 (दुमारिरुस्य रूपपक्ष) विम्बसाधिवाने हि  
 प्रतिनिम्बगुणरूपं द्रव्यरूपं वा समुत्पद्यते ? ४५१  
 द्रव्यरूपमपि निरवयवद्रव्यरूपं सावयवद्रव्य-  
 रूपं वा तदुत्पद्यते ? ४५१  
 प्रतिनिम्बस्य जलान्तिपरमाणव एव आरम्भवा-  
 अथ वा ? ४५१  
 नापि विम्बरूपस्य प्रतिनिम्बसारम्भपरत्नम् ४५१  
 विम्बसाधिवाने च आश्रयस्य आत्मात् परि-  
 माणगौरववात्कथं स्यात् ४५१  
 अत्र गूर्पादिगता चक्षुरस्मिन्निगमनप्रक्रिया  
 यदि प्रतिनिम्बमर्धान्तरं तदा कथं विम्बे चान्ति  
 तदपि घटन् निरति च निरति ? ४५२  
 यदि च प्रतिनिम्बमर्धान्तरं तदा विनाष्टेऽपि  
 शिबे दृश्यते ४५२  
 अत्र जलान्ति प्रतिहता रसमयं ध्यायुत्थं विम्ब-  
 मेव दर्शयति न तु तत्र प्रतिनिम्बोत्पत्ति ४५२

(उत्तरपक्ष) प्रतिनिम्बसाधिवो हि प्राहकप्रमा-  
 णाभावात् उत्पादकारणाभावाद्वा  
 भिधीयते ? ४५४  
 च द्रादिप्रतिनिम्ब पश्यामीति प्रत्यक्षमेव  
 तदप्राहकम् ४५४  
 न चेय प्रतीतिभ्रान्ता वाधक-कारणदोषा-  
 भावात् ४५६  
 आश्रयविम्बाभ्यां विलक्षणप्रतीतिग्राह्यत्वा-  
 दर्यान्तर प्रतिनिम्बम् ४५५  
 प्रतिनिम्बोत्पत्तो हि जलादिकमुपादानकारण-  
 च द्रादिक तु निमित्तकारणमिति ४५५  
 द्रव्यरूपमेव प्रतिनिम्बमुत्पद्यते ४५६  
 सावयवमेव प्रतिनिम्बममदादीर्द्धग्रहाह्यत्वात्  
 घटादिवत् ४५६  
 जलादिकमेव प्रतिनिम्बाकारतया परिणमत-  
 भूतो न पृथक् तत्त्वसाधुपलम्भ ४५६  
 जलादिपरमाणव एव प्रतिनिम्बसारम्भका-  
 न चान्न सावयवद्रव्यद्वयं चित्तु जलादीना-  
 मेव प्रतिनिम्बाकारपरिणाम ४५६  
 समानाकारादे त्वञ्च सावयवयोरपि वातात्  
 पयोरिवाविरुद्धम् ४५७  
 सावयवयो जलमनत्रादिसमुत्पन्नान्तरादेरिव  
 परिमाणगौरवोक्तपनियमोपि नास्ति ४५७  
 रश्मिरूपस्य चक्षुषोऽभिभेदे धर्मसूयदर्शना-  
 मित्याद्यगद्गतम् ४५७  
 स्वसामर्थ्यात् प्रतिनिम्ब सव्यदग्निविषययो-  
 ष्वीत्यद्यते ४५७  
 प्रतिनिम्बस्य प्रतिनिम्बस्य हि मव्यदग्नि-  
 विषययोनव, स च गुण एव ४५७  
 यदि धान्तीदिना प्रतिहता रसमयं सुगमव-  
 प्रकाशयन्ति तत्र बुद्ध्यादिप्रतिहता धर्मा-  
 तं मूय प्रकाशयन् ४५८  
 यदि च प्रतिहता रसमयं विम्बमेव प्रकाश-  
 यन्ति तत्र हस्त्यादीनां स्वपरिमाणान-  
 निरन्तरेण प्रतीति स्यात् तदुत्पत्त्या ४५८  
 निमित्तकारणभूतविम्बप्रक्रियानुसारितया  
 प्रतिनिम्ब विना प्रतीत्यो घट्टाप्रायश्च ४५८  
 प्रतीतिव्याख्यानस्य प्रकाशयोरपि सावयव-  
 विम्बाप्य प्रतिनिम्बमव्यरेति ४५८  
 प्रतीतिव्याख्यानस्य यथा न तस्य पुण्यवयवा

उपक्रम्यन्ते तथैव प्रतिभिविनाशपि		प्रागभावाभिभवत्वात्तावस्तु अभाव	४६७
न तत्तुल्यव्यवयवोपलक्षितं	४५९	अभावस्यावस्तुचे हि अर्थानां साङ्ख्ये स्यात्	४६७
पूर्वात्तरचरन्तेत्येव समर्थनम्	४५९	प्रागभावातीना लक्षणाति	४६७
१४ कारिकाव्याख्यानम्	४६०	अनुवृत्तिव्याकृतिबुद्धिग्राह्यत्वात्भावो वस्तु	४६७
देशेपि भूतोक्तानां कारणादिपञ्चहेतूना		(उत्तरपक्ष) अभावस्य प्रत्यक्षाभि परि	
निरास	४६० ६१	च्छिद्यमानत्वात् प्रागभावातिरिक्तत्वम्	४६८
(यद्यपि कस्य पूर्वपक्ष) वारणं कस्य सयोगि		अविप्रवृत्ताद्यसम्बन्धभाव प्रत्यक्षपक्ष परि	
समवायि विरोधिभेदेन पक्षधानुमानम्	४६०	च्छिद्यते	४६८
(उत्तरपक्ष) उक्तपक्षहेतवितिरिक्तानां कृति		अभावस्याप्रत्यक्षत्वं हि इन्द्रियणासम्बद्धत्वात्	
वाङ्मनूनां प्रतीते न लिङ्गस्य पञ्च		अरूपित्वात् असत्पत्वाद्वा ?	४६८
संख्यानियम	४६१	रूपित्वस्य प्रत्येना प्रयत्नज्ञत्वात् अरूपि	
अविनाभाववगादि गमकत्व न कारणाति		त्वात्भावस्याप्रत्यक्षता	४६९
रूपनामानेन व्यापकत्वात्प्रतिप्रसङ्गाच्च	४६१	प्रागभावाभावाभावानुविधापित्वात्प्रभावस्य	
सान्ध्यपरिस्फुलितमात्राभावादिस्तम्		प्रत्यक्षविषयत्वम्	४६९
विद्यहेतुनिरास	४६२	अभावस्याप्रत्यक्षत्वं हि आलोकापेक्षान स्यात्	४६९
अदुर्भयानपक्षपरि गमकत्वप्रमाणम्	४६२	इह भूतले घनो नास्तीति पानस्य भ्रान्तिहे न	
१५ कारिकाव्याख्यानम्	४६३	चक्षुराद्यवयव्यतिरेकानुविधानमप्यथा	
अभावप्रमाणविचार	४६३ ४६२	सिद्धम्	४७०
(मीमांसकस्य पूर्वपक्ष) अभावप्रमाण		प्रतियोगिस्मरणानन्तरमात्रिवादभावस्य	
प्रत्यक्षाभ्यां भिन्न भिन्नसामग्री		अप्रत्यक्षत्वे सवित्यक्तानस्य प्रत्यक्षत्व	
प्रमत्त्वान् भिन्नत्वसाधकत्वाच्च	४६३	न स्यात्	४७०
अभावप्रमाण हि वेत्त्याप्तिसामग्रीत प्रादु		देशानुविप्रवृत्ताद्यसम्बन्धभावश्च धनुमाना	
र्भवति किन्तु प्रतियोग्यानुपपत्ति-आ-न		तिरिच्छद्य	४७१
योग्यत्वं प्रतियोगिस्मरणरूपसामग्रीत	४६४	नामीत्यवरके देवन्त' इति प्रतीते स्मरण	
अनुपपत्तिर्हि गहीनन्यापिका अर्णतध्या		रूपत्वात्	४७१
विका वाऽभावमनुमापयत् ?	४६५	न चाऽन्यग्रहणपूर्वकमेव अभावग्रहणम्	४७२
ध्यानिग्रहणवर्गायाञ्च आभावाद्यधमग्रहण		प्राऽन्यस्य ग्रहणं हि किं निषेध्याभावसहि	
दिमन एव अनुमानातराणां ?	४६५	तस्य कथंलभ्यं वा ?	४७२
अनुपपत्तिरिति उपलक्ष्यभावस्या अत		प्रतियोगिनोऽपि स्मरणं किमभावाक्रान्तस्य	
स्तत्प्रतिपत्तावपि अयमेव शौर	४६५	तद्विपरीतस्य वा ?	४७२
इह भूतले घनो नास्तीति प्रययस्य हि किं		परालम्बना प्रतीयमानोऽपि नन्य घटात्प्रेव	
घटा विषय स्यात् भनत्सु समर्था वा ?	४६५	स्वरूपम्	४७३
घटविविक्तभूतलस्य तद्विषयत्वं तद्विकृत्य किं		घटविविक्तत्व हि भूतलधमतया कथञ्चिद	
भूतलम्बनभाव तद्विपरिक्त वा ?	४६५	भिन्नं पुच्छने पक्षान्तरतया वा ?	४७३
न हि प्रत्यक्षपरिच्छेदाऽप्यत्र इन्द्रियेणा		पक्षार्था हि परस्परसङ्कीर्णा समुत्पन्ना तदि	
भिन्नवृत्तस्य ग्रहणान	४६६	परीता वा ?	४७३
नाऽनुमानाभावात्प्रति	४६६	अभावानामन्योय भावान्तराच्च विवेको	
प्रमाणत परिच्छेद्यमानत्वाभावावयव		मद्यथाभावात्तानवस्था	४७४
अवस्तुत्वम्	४६७	घटस्य इतरेतराभावात् व्याधित इतरेतरा	
		भावान् अभावान्तराणां ?	४७४

प्रभावस्य वस्तुत्वे हि किं स प्रमाणान्तरेण  
गृह्यते अभावप्रमाणेन वा ? ६७५

प्रमाणपञ्चकानुत्पत्तिर्हि किं निषेधविषय  
ज्ञानरूपनया घातमनापरिणाम अथ  
वस्तुविज्ञानेन वा ? ४७५

अभिनापरिणामस्य हि अभावपत्त्वान् कथं  
प्रामाण्यम् ? ६७५

अप्यग्निने वस्तुमात्रे विज्ञानम् घटाभावाद्यथ  
वा विज्ञानप्रभावपरिच्छेदकम् ? ४७६

(सोपगतस्य पूर्वपक्ष) न भावस्वल्पानिर्गिकन  
वदित्तदभाव प्रत्यक्षानुमानप्राप्त्य  
दभावाकारस्य चाननुपवेशे चानस्याप्य-  
सत्त्वात्पि ४७७

अविनाभाविज्ञानाभावाप्रानुमानानिपि  
अभावग्रहणम् ४७७

(उत्तरपक्ष) प्रतीतिभेदान् स्वरूपभेदान्  
सामग्रीभेदान् अथश्रियाम्नेच्छ भावा  
भावयोर्भेद ४७७

प्रतिनिधतप्रतिषोषिस्मरणा यथानुपपत्त्या  
प्रतिनियमानावप्रतिपत्ति प्रयत्नतएव  
प्रतिपत्तत्वात् ४७८

इह मूल घटो नास्तीति विशिष्टप्रतीति, किं  
निषिध्यमाना घटादिरेव निबन्धनम्  
तत्राप्या भतलादिर्वा ? ४७८

यदि भाव एवाभाव तर्हि भावकाल भावदेशे  
च अभावप्रतीति रयात् ६७९

मूलमात्र घटाभावप्रतीतिनिबन्धन विशिष्ट वा ? ४७९

विशिष्टत्वपक्ष च हि स्वल्पवृत्त वशिष्ट्य घट  
ससगरहितवृत्त वा ? ४७९

नापि सत्त्ववहागुणस्य एव अभावव्यवहार  
यनाभावस्य जातिमानिदत्त्वम् ४७९

गद्व्यवहारानुपपत्त्य न नास्तीति व्यवहार-  
निबन्धनत्वे गुणत्वावस्थायामपि नास्तीति  
व्यवहार स्यात् ४८०

न च गुदगगानामप्रथमा कथात्वात् एवा  
पयोग, तथा घटविनाशस्यापि करणात् ४८०

प्रमाणेन प्रतीयमानत्वानिमाघन अभावस्य  
वस्तुत्वनिधि ४८२

अपक्रियाराहितान् प्रागभावादिभेदत्वाच्च  
अभावो वस्तु ४८२

१६ कारिकाव्याख्यानम् ४८३

सविकल्पकप्रत्यक्षेण न सर्वात्मना वस्तु प्रती  
यते अत अगहीनाशग्रहणाय अनुमानस्य  
साधयम् ४८३

१७ कारिकाव्याख्यानम् ४८५

क्षणिकत्वसिद्धये न स्वभावहेतो भम्भावना ६८५

१८ कारिकाव्याख्या ४८७

सविकल्पयुद्ध न स्वत सिद्धि नापि परत ४८७

१९ कारिकाव्याख्या ४८९

उपमानस्य न प्रमाणान्तरत्वम् ४८९

उपमानप्रमाणत्रिचार ४८९-५००

(मोमांतकस्य पूर्वपक्ष) उपमानस्य लक्षणम् ६८९

अनधिगतप्रागुत्त्वादुपमानस्य प्रामाण्यम् ६९०

न प्रत्यक्षानुमानधोऽपमानस्य अन्तर्भाव ४९०

लिङ्गादननुत्पद्यमानत्वात् पक्षघमत्वाग्रिग्रहणा  
भावाच्च नानुमानत्वम् ४९१

नाप्यर्थपत्त्यापि उपमानस्यान्तभाव  
(उत्तरपक्ष) प्रत्यभिज्ञान एव उपमानस्य  
अन्तर्भाव ४९२

पूर्व कस्यानुभवाभाव -गवयान्च्छेदस्य  
सादृश्य वा ? ४९२

सादृश्य हि असिगिहितत्वाप्रानुभूयते, प्रनिव  
-उक्तमदभावाद्वा ? ४९३

सादृश्यस्य एकत्र परिसमाप्ति प्रतियोगि  
-यदाट्टेष्युपलक्ष ४९३

सादृश्यव्यवहार एव हि प्रतियोगिग्रहणापेक्षो  
न तु स्वरूपम् ४९३

स्मरणपक्ष गवयप्रत्यक्ष सादस्मरणानुपपन्न  
यति अनपक्ष वा ? ४९६

गोपिण्टस्मरणपेक्षित्व च किं गोपिण्टस्मरि-  
मात्रापेक्ष सात्त्व्यात्प्रतिप्रगोरिण्टस्म  
रणपेक्ष वा ? ४९४

सत्रिकृष्टसादृश्यस्य हि करणत्व किं तदनुमाप  
वत्त्वम् तत्स्मरणवत्त्वम् तदनुमापवत्त्व वा ? ४९५

उपमानस्य अनुमाने वाऽन्तर्भाव ४९६

(नयार्थिकस्य पूर्वपक्ष) सनासन्निसम्बन्धनान  
मुपमानम् ४९६

न हीद सनासन्निसम्बन्धनान प्रत्यक्षाद्यन्तर्भाव-  
प्रमाणकम् ४९७

वद्वनवायिकास्तु सारूप्यप्रतिपात्तमतिदेग वाक्यमेव उपमान स्वीकुर्वन्ति	४९७	बहिर्भावविशिष्ट चत्रे चत्रविशिष्टे वा बहि भवि साध्ये गृहाभावविशिष्टस्य चत्रस्य, चत्राभावविशिष्टस्य गृहस्य, गृहे चत्रा दशनस्य वा हेतुत्वम् ?	५०९
(उत्तरपक्ष.) साक्षात् सनासन्निसम्बन्धप्रति पक्षज्ञस्य उपमानता परम्परया वा ?	४९७	प्रमेयानप्रवेगप्रसङ्गाच्च नयमनुमानम्	५०९
सारूप्यज्ञानं हि केवलं तद्ज्ञं स्यात् सनासन्नि सम्बन्धस्मत्सिद्धार्थं वा ?	४९७	सम्बन्धप्रवृत्त्यामावापि नेयमनुमानम्	५१०
गण्यदन्तत्पक्षमानत्वात्स्य आगमापत्त्वम् तत्प्रतीतिवाक्युपायस्यापिरस्यापेक्षणात् वाच्य सवित्परोक्षणात् ?	४०८	गृहद्वारवर्तिनो गृहेऽभावस्य बहिर्सद्भावेन सम्बन्धग्रहेऽपि गृहे सन्भावस्य बहिर भावेन कथं सम्बन्धग्रहः ?	५११
बन्निःशवानयस्य आगमरूपतया उपमानत्वा योगात्	५००	(उत्तरपक्ष.) द्रष्टुं श्रुतो वाच साध्यन सम्बद्ध सन त कल्पयति असम्बद्धो वा ?	५१२
प्रतिज्ञापसाधम्यमवधानुपपत्तत्वेन निर्णीत चेत्तानुमानेऽन्तर्भाव	५००	सम्बद्धोऽपि तद्रूपतया नात्र अनादा वा तत्कल्पनानिमित्तं स्यात् ?	५१३
बुधोऽप्यनिनि गानञ्च किन्नाम प्रमाणम् ?	५०१	पानोऽपि साध्यप्रतिपत्तिकाले पूव वाऽनोऽपात् ?	५१३
<b>२० कारिकाव्याख्या</b>	५०२	साध्यप्रतिपत्तिकालेऽपि प्रमाणात्तरा नात् तत् एव वा ?	५१३
एतस्मात् पूव पश्चिममत्तर दक्षिण वा एत सामक प्रामधानकमिति वाक्यश्रावित्वा तद्गानं तन्नामप्रतिपत्ति किन्नाम प्रमाणम् ?	५०२	अथापत्तिरनमानमव प्रमाणा तरावगतसाध्य सम्बन्धाद्धेतोरुपत्रायमानत्वात्	५१३
<b>२१ कारिकाव्याख्यानम्</b>	५०३	पूव साध्यसम्बद्धनयानो साध्यधर्मिणि नात् दृष्टान्तधर्मिणि वा ?	५१३
हृत्सम्यं महद्दूरमित्याद्यापेति कनानस्य क्व प्रमाणं अन्तर्भावः ?	५०४	दृष्टान्तधर्मिणि साध्यसम्बद्धनयानो भूयो दशनात् विषमऽनपलम्भात् अथापत्त्यत् राना प्रतीयेते ?	५१३
निर्वादिमध्यानास्य च प्रमाणान्तरत्वप्रमक्ति	५०४	प्रत्यक्षपूर्वार्थापत्तौ किं दाहशक्त्या विना स्फोटा देरभावोऽनुपपन्नं प्रमाणविरोधो वा ?	५१४
अथोपपत्तिप्रमाणनिराम	५०५-५००	प्रमाणविरोधवशाऽपि कारणाभाव निश्चितं सन कार्याभावनिश्चयक अनिश्चितो वा ?	५१४
(मीमांसकस्य प्रवचनं) प्रत्यक्षात्स्य विधिप्र स्वरूपं वात्सापत्ति प्रमाणान्तरम्	५०५	अथार्थापत्तौ हि कायत् कारणप्रतिपत्तिभ वत्तौ अनुमानमव	५१५
प्रत्यक्षात्स्य प्रमाणेभ्यो जायमानं वात्साप प्रकारा अर्थापत्ति	५०६	रात्रिभुक्तिमान् स्वत्तर सायनाद्युपयोगाभावे निवाभुक्तिरहितत्वे च सति पीनत्वात्	५१५
अतीत्यात्स्य विषयत्वात्स्य प्रमाणान्तरम्	५०६	जीवन्तश्चरस्य गतेऽभाव बहिर्भावपूर्वक जीव मनुष्यगृहाभावत्वात् इत्यनमानस्वरूपव अभावापत्ति	५१६
न हि शक्ति प्रत्यक्षपरिच्छेदा	५०६	प्रमपानुप्रवचनूपण हि किं सत्तामात्र प्रममिष्ट बहिर्भावविशिष्ट वा सत्त्वम् ?	५१६
नापि शक्तिरनुमानप्राप्त्या	५०६	न हि जीवन्तविशिष्टगृहाभावप्रतीतिरेव बहिर्भावप्रतीति	५१७
नापि शक्त्योपमानात्सा शक्ति गच्छते	५०७	अयथानुपपत्तत्वं गमकविशेषणमस्तु गम्यवि शेषणं वा नैतावता अथापत्त्यनुमानयो भेदाभाव	५१८
वाक्यशक्त्यवधानुपपत्त्या गन्तित्यत्वनिश्चि धर्थापत्तिपूर्विकाऽथापत्ति	५०७		
पीनो निवान भुक्त इति वाक्यश्रवणात् रात्रिभोजनप्रतिपत्ति अर्थार्थापत्ति	५०७		
जीवन्तो देवन्तरं गन्तव्यं प्रविश्य बहिर्भावि प्रतिपत्ति अभावापत्ति	५०९		
पराधमनात्सामस्यभावात्सार्थापत्ति अनुमा नेऽन्तर्भाव	५०९		

अर्थापत्तौ भविनाभावस्य गम्यविशेषणत्वञ्च  
 असिद्धम् ५१९  
 उपमानादीनां परोक्षज्ञतर्भावान्न ज्ञानानां  
 प्रमाणसङ्ख्याव्याघात  
 इति तृतीयं परोक्षपरिच्छेदं

२२ कारिकाव्याख्या ५२३

प्रमाणाभासत्वनं प्रसिद्धमपि विज्ञानं कथञ्चिन्न  
 देव प्रमाणाभासं न सर्वथा ५२३  
 ज्ञानं हि यस्मिन्नत्र भविसिद्धादि तत्र प्रमाणं  
 मितरत्र तदाभासम् ५२३

विवृतिविररणम् ५२४

२३ कारिकार्थः ५२५

विकल्पज्ञानं न प्रत्यक्षात् किन्तु प्रमाणमेव  
 निविकल्पकमेव प्रत्यक्षात् भवितुमर्हति ५२५  
 विवृतिव्याख्या ५२६

२४ कारिकार्थः ५२८

प्रतिसिद्धिरकान्तस्य लक्षणम् ५२८  
 प्रत्यक्षादीनां व्यवहाराविसंवादात् प्रामाण्यम् ५२९

२५ कारिकार्थः ५२६

श्रुतज्ञानमतीन्द्रियार्थं प्रमाणम् ५३०

२६ कारिकार्थः ५३०

श्रुतस्य प्रमाणत्वसमर्थनम् ५३१-५३६

(धर्मेतिकबोद्धयोः प्रथमपक्षः) शब्दोऽनुमानान्न  
 व्यतिरिच्यते अभिप्रसामग्री विषयवत्त्वात्,  
 सम्बन्धायप्रतिपत्तिहेतुत्वात्, अवयव्यति  
 रेकवत्त्वात्, पक्षधर्मोपनत्वाच्च ५३१

सादो विवक्षायामेव प्रमाणं न वाह्याद्यै ५३१

(उत्तरपक्षः) अभिप्रविषयत्वस्यासिद्धे, अथ  
 मात्रं हि गच्छस्य विषयं अनुमानस्य तु  
 धर्मावशिष्टो धर्मीति ५३२

अनयोर्विषयाभदो हि सामान्यमात्रविषयतया,  
 तद्मात्रविषयतया, सम्बन्धायप्रति  
 पत्तिहेतुतया वा स्यात् ? ५३२

अभिप्रसामग्रीसमावितत्वमप्यसिद्धम् ५३२

न ह्यत्र पक्षधर्मेता, धर्मिणोऽसिद्धे ५३३

अत्र धर्मी शब्दः, धर्मो वा स्यात् ? ५३३

शब्दत्वाद्देशेनो किं शब्दस्य धर्मावशिष्टत्वं  
 साध्यते, अथप्रत्यापनशक्तिमुक्तत्वम्,

अथप्रतीतिविशिष्टत्वं वा ? ५३३

नाप्ययस्य धर्मित्वम्, शब्दाद्ययोः सम्बन्धा  
 भावादेव ५३४

नापि शब्दाद्ययोः अवयव्यतिरेकोऽस्त  
 सम्बन्धस्मृत्पेक्षित्वञ्च अननुमानभूते सद्य  
 यापमानादावप्यस्ति ५३५

तत्र शब्दो नानुमानं विभिन्नविषयं सामग्री  
 समं वतत्वात्, पुरुषैर्मयेष्टं नियुज्यमानस्य  
 अथप्रतीतिहेतुत्वात् ५३५

शब्दो नानुमानं आप्तोक्तत्वतश्च अवयवि  
 चारिज्ञानजनकत्वात् ५३६

शब्दस्य अर्थवाचकत्वम् ५३६-५४३

(बोद्धस्य प्रथमपक्षः) शब्दोऽप्रमाणम् वस्तु  
 सम्बद्धत्वात् ५३६

शब्दाद्ययोर्हि तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा सम्बन्ध  
 स्यात् ? ५३६

अथासत्प्रसिद्धा शब्दा विकल्पमानजमान  
 तिरस्युतवाह्यार्थानि प्रत्ययानुत्पादयन्ति  
 नचात्र पुरुषदोषाणामपराध ५३७

याधकप्रत्ययोत्पत्तावपि शब्दो मित्याज्ञान  
 जनयति अनो नासौ प्रथमसत्प्रतीति  
 (उत्तरपक्षः) शब्दः सम्बद्धमेवायं प्रकाशयति  
 प्रतिनियतप्रत्ययहेतुत्वात् ५३८

योग्यतालक्षणद्वयं सम्बन्धोऽभ्युपेयते ५३८

सङ्केतसचिवा योग्यता अथवोचनिमित्तम् ५३९

सङ्केतस्य लक्षणम् ५३९

सङ्केतोऽपि सहजयोग्यतानिवन्धन एव प्रव  
 तते अतो न वाच्यवाचकव्यत्यय ५३९

सकशब्दानां सकशब्दायप्रत्यापनं वितरण्येयते,  
 सङ्केताच्च प्रतिनियतायप्रतिपत्तिर्भवति ५४०

शब्दो हि शापक इतः सङ्केतापेक्ष एवार्थबोधक  
 आप्तप्रणीतस्य शब्दस्पर्धासत्प्रसिद्धत्वं प्रसा  
 ध्यात्, अनाप्तप्रणीतस्य, शब्दमात्रस्य वा ? ५४१

शब्दो हि संवादाविसंवादादौ पुरुषगुणदायनिवन्धनो  
 शब्दस्यैव स्वरूपमथमात्रप्रकाशकत्वं न तु  
 यथापार्थव्यार्थप्रकाशकत्वं तस्य एव न  
 गुणदोषनिवन्धनत्वात् चदावत ५४२

प्रमाणं शब्दं धर्मोपलब्धिनिमित्तत्वात् स्वपर  
 पक्षसाधनरूपणसमयत्वात् सकलत्वस्वि-  
 प्रतिपत्तिनिमित्तत्वाच्च ५४३

शब्दार्थयोर्नित्यसम्बन्धनिरास (बीमासकस्य पूर्वपक्ष) अनियोहि सम्बन्ध	५४३-५४९	न च शब्दात्मस्वरूपदानपारेकत्र ज्ञाने प्रतिभाषो	
प्रतिपुरुष प्रतिगच्छ प्रत्यय वा सर्पात्		- यत् संकतग्रह स्यात्	५५२
त्रियत ?	५४३	अपोहो हि अथपञ्चमाकर	५५५
प्रतिपुरुष हि सम्बन्ध किमत्र त्रियते अनेको वा ?	५४३	अपोहो त्रिविध पयदासात्मा प्रसयश्च	
तथा किमत्र तत्सम्बन्धकर्ता बहवो वा ?	५४४	पयदासोऽपि द्विविध शब्दात्मा, अर्थात्मा	
प्रतिगच्छमपि उच्चाय समय त्रियत		चेति	५५५
मनुच्चाये वा ?	५४४	विकल्पाकारस्य मुख्यमन्यावोद्भवम त्रिभिश्च	
प्रतिशब्दमुच्चाय अभिनव सम्बन्धो विधीयते		कारण श्लोपचारित्वात्	५५६
प्रावृत्त एव वा ?	५४४	वाच्यवाचकभावश्च कायकारणरूप एव	५५६
नित्यसङ्कृतप्रतीतिश्च प्रमाणत्रयमप्याद्या	५४५	(उत्तरपक्ष) अपोह प्रत्यगत सिद्धयदनु	
(उत्तरपक्ष) न हि नित्यसङ्कृत विचायमाणो		मानतो वा ?	५५६
घटन	५४६	अदृष्टत्वव्यावृत्ति दृष्टत्व किं स्वल्पभाषा	
सम्बन्धस्य नित्यत्व हि स्वभावन सम्बन्धि		त्मकम्, नियव्यावृत्तिरूपानित्यात्मकवा ?	५५८
नित्यत्वाद्वा स्यात् ?	५४६	पान स्वल्पक्षणस्य प्रतिबिम्बन सामायस्य वा ?	५५९
सङ्कृतस्य पुरुषाध्ययत्वात् अथवापि तत्प्रभा		गच्छविकल्पस्य प्रतिबिम्बमात्राध्यवसायित्वे	
वनया वस्य निव्यात्वापत्ति	५४७	कुतो बहिरर्थे प्रवृत्ति ?	५५९
नित्यसम्बन्धवाग्व्याप्ती शब्द किमकाय		अर्थाध्यवसायश्च किं बाह्यास्यायस्य ग्रहणम्	
नियत अनकायनियतो वा ?	५४७	करणम् योजनम् समारोपा वा ?	५५९
एवापनियतश्चेत् किमकदशन सर्वोत्तमा वा ?	५४७	बाह्यायस्य विकल्पेन स्वाकारे समारोपे	
एकैरनियतत्वं स एकदेशे किमभिमताय		स्वीक्रियमाणकिमुभयग्रहण मति समारोप	
नियत अतभिमतायनियतो वा ?	५४७	स्यात्सति वा ?	५६०
अभिमतायैकनियमोऽपि पुरुषात् स्वभावान् ?	५४७	उभयोर्ग्रहणञ्च विकल्पन निविकल्पेन वा ?	५६०
नित्य सम्बन्धो किं शब्द स्यात्सर्वो वा द्वय वा ?	५४८	पुत्र स्वप्रतिभासमनश्चमनुभूय पश्चात्त्वमा	
नित्यसम्बन्ध किमिन्द्रिय प्रतीन्द्रिय अनुमा		रोपयति विवक्ष्य युगपदेव वा स्वप्रति	
नगम्यो वा स्यात् ?	५४९	भासञ्चानभवति अथञ्च समारोपयति,	
अनुमानान्तरि सम्बन्धपदे किमत्र एवानुमाना		किं वा स्वाकारानुभव अर्थाध्यवसाययो	
दयतो वा ?	५४९	रेकायत्वेम् ?	५६०
नित्यसम्बन्धस्य हि लिङ्गम-मध्यमानम		दुस्यविकल्प्याययोरेकीकरणञ्च तेनैव ज्ञानन	
मध्य, गच्छो वा स्यात् ?	५४९	ज्ञानान्तरेण वा ?	५६१
नित्यसम्बन्ध परस्वीरररेऽपि अत्रिभ्यश्चनेरनित्ययो		पानान्तरञ्च किमेवमनक वा ?	५६१
पगमेऽपि पूर्वोक्तत्रोपाः प्रमायन्ते	५५०	अपोहो हि भाव भावस्य प्रतीयते वेवगा वा ?	५६१
नित्यसम्बन्धवादिन चान्नाया कार्येऽप्ये		भावयो प्रतीति किं शब्दात्वेव प्रमाणात्तराद्वा ?	५६१
प्रामाण्यानुपपत्ति	५५०	दञ्चेत् च किं भावो प्रतीत्य अपोह प्रतीयते	
अथापाह्याद	५५१-५५५	अपोह प्रत्याय भावो वा ?	५६१
(बौद्धस्य पूर्वपक्ष) अर्थाभावेऽपि शब्दानाम्		अतीनात्मिकालभद स्त्रीपुनपुसकान्मिद	
पल्लवन् तपामिषवाचकत्वंकिन्तु अया		एकत्रिभुववचनान्मिदञ्च न स्यात्	५६२
पोहमात्राभिप्रायिता	५५१	अपोहस्य हि भन् किपपोहोभेत्, वासना	
शब्दस्य बहिरर्थो हि विषय स्वल्पण वा		भगत् विभिन्नसामग्रीप्रभवत्वात् वि	
स्यात् सामाय वा ?	५५१	भिन्नकार्यकारित्वान् आध्ययमज्ञान स्व	
		रूपवदान् स्यात् ?	५६२

पदुदाहरण प्रसंगपर्यो वाऽपि स्वरूपतो		असवेतिता वा ?	५७२
भिन्न शब्दरभिधीयते ?	५६३	सङ्केतोऽपि प्रतिपत्ते सामाये स्यादप्रतिपत्ते वा ?	५७२
पदुदासपक्ष भावात्तर कि विषय सामाय		गब्दाभिःविशिष्ट सामाय प्रतीयमान पुरुष	
तदुपलक्षितो विगप तत्समुदायो वा स्यात् ?	५६३	प्रवतयति विगिष्ट वा ?	५७०
निपेयमात्राभिधायित्वे च नीलोत्पलादिशब्दयो		वशिष्टेष्वच कि विशिष्टव्यक्तिनादात्म्य-	
सामानाधिकरण्य न स्यात्	५६४	कृतम्, तत्रव तत्प्रवृत्तिहेतु चकृतम्,	
मुनिश्चितताप्रणतुवा हि शब्दा बाह्याय		अस्येदमिति प्रतीतिहृत वा ?	५७२
प्रतिबद्धा ननु सर्वे गदा	५६५	विधिनाद्	५७३-५७८
अभिप्रेक्ष्यये सामग्रीभेदात् प्रतिभासभदो		विधिरेव वाक्याय अत्रवृत्तप्रवगनम्बभाववात्	५७३
भवति	५६५	शब्दविध्यादिवात्ताना पक्षदश प्रकारा	५७४
कायकारणभावस्य वाच्यवाच्यरूपत्वे स्वल		( शब्दविधिनादिपूवपक्ष ) अथव्यतिरे	
क्षणमपि वाचक स्यात्	५६६	वाभ्या शब्दस्यव प्रवतकत्वम्	५७४
जातिमानवाच्यत्वनिराम	५६६-५७३	शब्द एव मुख्यतया प्रवतक	५७४
(मीमांसकस्य पूवपक्ष) विशेषाणामनन्त		लिङ्गोलोटतयप्रत्ययात्तस्यव शब्दस्य प्रवत	
त्वात् न तत्र सङ्केत स्यात्प्रिय अपि नु		कत्वम्	५७४
सामायमात्रे	५६७	(उत्तरपक्ष) प्रवतवाच्यत्ववाचकत्व विना	
जातिमद्विज्ञेयवाचकत्वे हि कि गब्दो जाति		शब्दस्य प्रमाणत्वानुपपत्ते	५७५
मभिधाय व्यक्तिसमिधत्ते, अतिभिधाय वा ?	५६७	साध्यस्वभाववापादिभ्यापारलक्षणविषयानुवो	
सामायप्रतिपत्यप्रधानुपत्या च विशापपु		घकत्वेनव लिङ्गाद्यत्तस्य प्रमाणत्वम्	५७५
प्रवृत्ति सुपटा	५६७	अनियमात्प्रवृत्त न शब्दो विधि	५७५
लक्षितलक्षणया च विगपप्रतिपत्ति	५६८	सविनाश्रयणात्त शब्दा विधि	५७६
(उत्तरपक्ष) सङ्केतो हि सामायविशेषवत्यये		( भात्रनावादिनो भाट्टस्य पूवपक्ष ) गब्द	
क्रियते न तु सामायमात्रे	५६८	व्यापाररूपा शब्दभावनेव प्रवतकत्वाद	
अज्ञातापि विशया सद्गुणपरिणामप्रधानतया		विधि	५७६
ऊहप्रमाणन उपलभ्यु शक्यते	५६८	शब्दभावनाया पुरुषप्रवृत्ति प्रवतिमान् वा	
जातितद्वतोदच युगपत्कत्र ज्ञाने प्रतिभासनमिष्यते	५६९	पुरुषो प्राध्या भवति	५७८
यदि शब्दात् केवल सामाय प्रतीयते तदा		प्राशस्त्याभिधान विना विधिशक्तिनिमित्तात्त्व	
व्यक्ते किमायात् येनामो ता गमयति	५७०	मुपगतापि प्रवतनाया समर्था न भवति	५७८
सामायविशेषयोहि मयोग समवाय तदु		भावना कि वेन वयमिति त्र्यदपरिपूर्णा भवति	५७८
त्पत्ति तादात्म्य वा सम्बन्ध इष्यते ?	५७१	शब्दभावना शब्दघम	५७९
सामायविगपयो सम्बन्ध कि सङ्ग्रहयोग		प्रवृत्त्ययथानुपपत्या गब्दस्य प्रवतनात्प्रको	
काल एव प्रतिपन्न पूर्व वा ?	५७१	व्यापार निदचीयते	५७९
तत्वात् तत्प्रतीतिश्च कि प्रत्यक्षत, अनुमा		यजतेत्यत्र पुरुषप्रेरणारूपा शब्दात्मिका जघ	
नान शब्दादेव वा स्यात् ?	५७१	च पुरुषव्यापाररूपा अर्थात्मिकेनि द्व	
जातेश्च व्यक्तिसङ्घातस्वरूप कि सबसव		भावन प्रतीयते	५७९
गताया स्वव्यक्तिसवगतया वा ?	५७१	अथभावना सर्वास्वानप्रत्ययपु विद्यते	५८०
जानि सबत्र सबदा व्यक्तिसङ्घातित प्रत्यक्षन		लिङ्गात्प्रत्ययपु द्व भावने प्रतीयते-पुरुष एव	
प्रतीयते अनुमानतो वा ?	५७१	व्यापारे यागादी प्रवतते इति अथभावना,	
प्रत्यक्षतद्वेत् कि युगपत् क्रमेण वा ?	५७१	तमय लिङ्ग प्रवतयतीति शब्दभावना चेति	५८०
शब्दो हि संकतित सन् सामान्यमभिपत्ते		( उत्तरपक्ष ) शब्दस्य भावना शब्दभावना	



स्यात्, शब्द एव भावना वा ?	५८०	प्रवादिविशयनिरपेक्षस्य प्रवृत्तनासामान्य	
अन्वयेने च शब्द प्रयोजनानुसंधानाभावात्		स्वापि विधित्वमनुपपन्नम्, विशयनिर	
प्रवृत्त्वम्	५८०	पक्षस्य सामान्यस्यासम्भवात्	५८८
शब्दभावनायाः स भावः किं लिङ्गान्निश्रवणा		फलस्यापि प्रवृत्तत्वमनुपपन्नम्, अपिना	
नन्तरभाविनी प्रवृत्तिः प्रमाणं किं वा		विना फलभावेऽस्य अप्रवृत्तत्वरान्	५८९
शब्द एव ?	५८१	नियतकर्मसाध्यतायाः कर्मसमवेतायाः प्रवृत्ति	
शब्द स्वव्यापारविधिज्ञानसंश्लेषेण जनयति		हेतुत्वदर्शनात् फलस्य प्रवृत्तत्वं किं	
अनपेक्षो वा ?	५८१	तत्साध्यता फलस्य स्वरूपम् शक्तिभेदो	
यदि शब्द स्वव्यापारकरोत्यभिधत्त च, तदा		वा स्यात् ?	५९०
उत्पाद्य पश्चात्तमभिधत्त युगपद्वेत्ताद		फलं विद्यमानं सन् पुरुष प्ररयति अविद्य	
यति अभिधत्त च ?	५८१	मान वा ?	५९०
( प्रमानस्य नियोगवादिनः पूर्वपक्षः )		पञ्च सत्तामात्रेण प्रवृत्तिहेतुः साम्यतावि	
नियोग एव प्रवृत्तिहेतुत्वादिति	५८२	शिष्ट वा ?	५९१
गूढं कायनियोग	५८३	फलाभिलाषस्य च बालकप्रवृत्त्यापि अग्न्या	
प्ररणव नियोग	५८३	पक्षत्वात् प्रवृत्तत्वं	५९१
प्ररणासहितं कायनियोग	५८३	कर्मणस्तु विधिविषयतया विधिस्वभावनाऽ	
कायसंक्रिता प्ररणा नियोग	५८३	ननुपपन्ना	५९१
कायस्यैव उपचारात् प्रवृत्तत्वम्	५८४	उत्पन्नं कर्म आत्मसिद्धयर्थं पुरुष प्रवयति	
कायप्ररणया सम्बन्धो नियोग	५८४	अनुत्पन्न वा ?	५९२
कायप्ररणासमदायोऽनियोग	५८४	अप्रामादिक्रियासम्बन्धप्रतिवृत्तिरपि न अभि	
यन्त्रारूपो नियोग	५८४	लापयन्तरेण प्रवृत्तिका	५९२
भोग्यरूपो नियोग	५८४	श्रेयसाधनतायाः विधिगन्वाच्यतयाऽप्र	
पुरुष एव नियोग	५८४	सिद्धे न तस्या विधित्वम्	५९३
( उत्तरपक्षः ) नियोगप्ररणानिरपेक्षस्य		कस्यैव श्रेयसाधनता भावनायाः, यावत्कस्यैव वा ?	५९३
कायस्य नियोगरूपतापगम्यत इत्यापे		उपदेशस्य विधित्वे षडशास्त्रोपपत्त्यापि	
क्षयः वा ?	५८५	विधित्वं स्यात्	५९४
प्ररणानिनियोगवादानां प्रतिविधानम्	५८५	वेत्त्यापि न्ययत्वात् तत्र उपदेशस्य सम्भावना	
किं नियुक्त इति नियोगः किं वा नियुक्ति		नास्ति	५९४
नियुक्तत्वेन न वा नियोगः स्यात् ?	५८६	वृत्तव्यताप्रतिवृत्तिरपि किं निविशिष्टा प्रवृत्ति	
नियोगः शब्दव्यापाररूपः पुरुषव्यापाररूप		हेतुः श्रेयसाधनताविशिष्टा वा ?	५९५
उभयरूपः अनुभयरूपो वा ?	५८६	प्रतिभास्वरूपस्य च अस्तित्वत्वात् तस्या	
अनुभयपक्षे विषयस्वभावः फलस्वभाव		विधिहृत्पता	५९६
नि स्वभावो वा स्यात् ?	५८६	प्रतिभासामानाकारनिर्णयरूपतामात्रस्य प्रति	
यागा विषयः किं नियोक्नुवाक्यकारणं सति		भावे सविकल्पकपानस्य प्रतिभास्वरूपसङ्ग	
न वा ?	५८६	स्यात्	५९६
नियोगः प्रवृत्तत्वस्वभावः अप्रवृत्तत्वस्वभावो वा ?	५८७	साधनविशेष क्रियाविशयस्फुरणञ्च किं पूर्वा	
प्रेषणार्थे प्रेषणार्थमनुनालं चतुस्य पुरुषपक्ष		हितसंस्कारवशात् प्रत्यक्षादिप्रमाणव्या	
स्यापि विधित्वमनुपपन्नम् अपौरुष्यं वेत्ते		पारानुसारतः चान्दान इवो मे भ्राता	
पुरुषपक्षाणां प्रपञ्चानामनुसंधानं	५८८	यत्तस्यापि न मनोमात्रो वा स्यात् ?	५९६
प्रपञ्चाभ्येवणाभ्यनुज्ञानाभ्यानि	५८८	भक्तिर्हि उत्पन्ना सती प्रवृत्तिनिमित्तम् उत्प	

तिश्चास्या किं गच्छान्, निग्रहानुग्रह समयपुरव्यवशेषाद्वा ?	५९७
विषयफलनिरपेक्षाणाम् इच्छाप्रयत्नादीना- मपि प्रवृत्तिहेतुत्वाभावाद्बोधित्वमनु- पपन्नम्	५९८
२७ कारिकाव्याख्या	५९९
श्रुतस्य प्रमाणात्त्वसमयनम्	५९९
२८ कारिकाव्याख्या	५००
भाष्योक्तेर्हेतुवाप्यत्र बहिरप्यग्निश्चमाभावे सत्येतरव्यवस्थाऽभावः स्यात्	६००
सुगतेतरस्यो आप्तानाप्यव्यवस्था क्वचित् साधनासाधनाङ्गत्वव्यवस्था वाऽभ्युपग- च्छन्ना सौगतन वाच बाह्यायविषयता स्वीकरणीया	६०१
२९ कारिकाव्याख्या	६०२
पुंस अभिप्रायवैविध्यात् शब्दानामविशेषन अथव्यभिचारे वायकारणत्वादीनामपि व्यभिचारदर्शनादनुमानमपि प्रमाणं न स्यात्	६०२
इति चतुर्थ आगमपरिच्छेदः —ॐ—	
३० कारिकाव्याख्या	६०५-६०७
नयद्वययो स्वरूपम्	६०५
३१ कारिकाव्याख्या	६०६
३२ कारिकाया सग्रहनयस्वरूपम्	६०६
३३-३४ कारिकयोः प्रत्यक्षस्यापि द्रव्यग्राहकत्वनिरूपणम्	६११
३५-३६ कारिकयोः क्षणिकैकान्ते अर्थक्रियाभावप्रदर्शनम्	६१४
३७ कारिकाया चित्रज्ञानमत् द्रव्य- स्यापि पूर्वापरपर्यायव्यापित्त्वं प्रदर्शनम्	६१८
३८ कारिकाया परसग्रहस्य स्वरूपम्	६२१
३९ कारिकाया नैगमतदाभासयोः निरूपणम्	६२२
४० कारिकाया सत्तानुद्धता भेदै- कान्तप्रतिक्षेपः	६२४

४१-४२ कारिकयो व्यवहारनय- निरूपणम्	६३८-६३९
व्यवहाराभासस्य स्वरूपकथनम्	६३९
४३ कारिकाया श्रुतसूत्रनयस्वरूपम्	६३५
४४ कारिकाया शब्दसमभिरूढेत्य- म्भूतनयलक्षणानि	६३७
४५ कारिकायाम् अक्षबुद्धिस्मृत्योर- भिन्नार्थविषयत्वं प्रदर्शनम्	६४०
४६ कारिकाया शब्दज्ञानस्यापि अत्रिसमादिस्वात् प्रमाणत्वं	६४४
४७ कारिकाया कालादीना स्वरूप कथनम्	६४६
४८ कारिकायाम् अनेकान्तात्मनोऽ- र्थस्य पटकारकात्मकत्वं प्रदर्शनम्	६५०
४९-५० कारिकयोर्व्याख्या	६५२-६५४
पञ्चम नयपरिच्छेदः —><—	
५१ कारिकाया मगलाचरणम्	६५५
५२ कारिकाया प्रमाणन्यासनायाना लक्षणानि	६५६
५३ कारिकायाम् अर्थकारणतायाः निरासः	६५८
५४ कारिकायाम् अर्थस्य ज्ञानकार- णत्वे सशयादिज्ञानानुत्पत्तिप्र- सङ्गापादनम्	६६१
५५ कारिकाव्याख्या	६६४
५६ कारिकायाम् आलोकराण्यताया, निरामः	६६५
तमाद्रव्यवादः	६६६-६७०
(गालिकनाथ घोषणे पूर्वपक्षे) पानानुत्पत्ति व्यतिरेकेण नास्त्ययत्तम्	६६६
तमसा द्रव्यान्तरत्वे हि तत्प्रमाणं आप्तोक्ता नपदा न स्यात्	६६६



तिश्चास्या किं शब्दान, निग्रहानुग्रह समथपुरुषविशेषात् ?	५९७
विषयकठनिरपेक्षाणाम् इच्छाप्रयत्नादीना- मपि प्रवृत्तिहेतुत्वाभावाद्धित्वमनु- पपन्नम्	५९८
७७ कारिकाव्याख्या	५९९
श्रुतस्य प्रमाणत्वसमथनम्	५९९
२८ कारिकाव्याख्या	५००
प्राप्तोक्तेहेतुत्वात् उच्यते बहिरर्थविनिश्चयाभावे सत्येतरव्यवस्थाऽभावः स्यात्	६००
मुगतेतरया आप्तानाप्तव्यवस्था भवचित् मापतासाधनाद्भवत्यवस्था वाऽभ्युपग- च्छता मोगतेन वाचः ग्राह्यावविषयता स्वाकर्षणीया	६०१
२९ कारिकाव्याख्या	६०२
पूर्व अभिप्रायवचिन्यात् दृष्टानामविशयन अप्यभिचार वापचारणत्वादीनामपि व्यभिचारदर्शनात् नुमानमपि प्रमाणं न स्यात्	६०२
इति चतुर्थं आगमपरिच्छेदं	
३० कारिकाव्याख्या	६०५-६०७
नयदुनययो स्वरूपम्	६०५
३१ कारिकाव्याख्या	६०६
३२ कारिकाया सग्रहनयस्वरूपम्	६०६
३३-३४ कारिकयोः प्रत्यक्षस्यापि द्रव्यग्राहकत्वनिरूपणम्	६११
३५-३६ कारिकयोः क्षणिकैकान्ते अर्थक्रियाभावप्रदर्शनम्	६१४
३७ कारिकाया चित्रज्ञानवत् द्रव्य- स्यापि पूर्वापरपर्यायव्यापित्व- प्रदर्शनम्	६१८
३८ कारिकाया परसग्रहस्य स्वरूपम्	६२१
३९ कारिकाया नैगमतदाभासयोः निरूपणम्	६२२
४० कारिकाया सत्तानद्वता भेदै- कान्तप्रतिक्षेपः	६२४

४१-४२ कारिकयो व्यवहारनय- निरूपणम्	६३८-६३९
व्यवहाराभामस्य स्वरूपकथनम्	६३९
४३ कारिकाया श्रुतसूत्रनयस्वरूपम्	६३५
४४ कारिकाया शब्दसमभिरुद्धेत्य- म्भूतनयलक्षणानि	६३७
४५ कारिकायाम् अक्षजुद्धिस्मृत्योर- भिन्नार्थविषयत्नप्रदर्शनम्	६४०
४६ कारिकाया शब्दज्ञानस्यापि अप्रिसमादितात् प्रमाणत्नम्	६४४
४७ कारिकाया कालादीना स्वरूप कथनम्	६४६
४८ कारिकायाम् अनेकान्तात्मनोऽ- र्थस्य पट्टकारकात्मकत्नप्रदर्शनम्	६५०
४९-५० कारिकयोर्व्याख्या	६५२-५४
पञ्चमं नयपरिच्छेदं	
→ • ←	
५१ कारिकाया मगलाचरणम्	६५५
५२ कारिकाया प्रमाणन्यासनयाना लक्षणानि	६५६
५३ कारिकायाम् अर्थकारणतायाः निरासः	६५८
५४ कारिकायाम् अर्थस्य ज्ञानकार- णत्वे सगयादिज्ञानानुत्पत्तिप्र- सङ्गापादनम्	६६१
५५ कारिकाव्याख्या	६६४
५६ कारिकायाम् आलोककारणताया, निरासः	६६५
समाद्रव्यसाद	६६६ ६७०
(गालिकायाय योययो प्रथमः) शानानुत्पत्ति व्यतिरेकेण नास्त्ययत्तम	६६६
समसो द्रव्यान्तरत्वे हि तत्रागमन आगेमा नयना न स्यात्	६६६



न च प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षम अविशारूपवान् ७०८  
 'उत्पन्न शब्द विनष्ट शब्द' इति शब्दात्पा  
 दधिनाग्राहकप्रत्यक्षवाधित्वान्न प्रत्य  
 भिज्ञा गन्नि प्रत्यमाधिका ७०४  
 गन्नाभावप्रतीती च गब्दान्तरमव एकानान  
 मर्गा भवति ७०५  
 नित्यत्वे च शब्दस्य प्रागुच्चारणानुपलम्भ  
 किम् इन्द्रियाभावात्, शब्दस्यासन्निहि  
 तत्वात्, भावनत्वाद्वा स्यात् ? ७०५  
 व्यञ्जकस्यापारात्पूव शब्दस्य कृतश्चित्तप्रमाणा  
 त्सिद्धौ आवरणकल्पना युक्ता ७०७  
 आवरणमपि दृश्यमदृश्य नित्यमनित्य व्यापक  
 मव्यापक एकमेव वा स्यात् ? ७०७  
 गन्ना प्रतिनियतावरणावार्था प्रतिनियतव्य  
 ङ्जकव्यञ्ज्या वा न भवति अभिन्न  
 देगत्वे सति एवैन्द्रियग्राह्यत्वात् ७०९  
 तात्वात्गीना ध्वनीना वा व्यञ्जकत्वे तद्व्या  
 पारे शब्दाना नियमनापलम्भिन स्यात् ७०९  
 त सर्वगत शब्द सामान्यविशेषकत्वं सति  
 बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् ७१०  
 ध्वनयदच कि प्रत्यभ्यण प्रतीयन्ते अनुमान्न  
 अर्थापत्त्या वा ? ७१०  
 प्रत्यभ्येण चेत, श्रोत्रेण स्वागनन वा ? ७१०  
 विशिष्टमस्त्वृत्त्य यथानुपपत्त्या ध्वनिप्रतिपत्तौ  
 सस्वनि गन्तस्त्वाररूपा स्यात् श्रोत्र  
 सस्वाररूपा, उभयसस्वाररूपा वा ? ७११  
 गन्तस्त्वार कि शब्दस्योपलब्धि, आत्मभूत  
 कश्चित्प्रियय, अनतिशयव्यापत्ति  
 स्वरूपपरिणीत, ध्वनिसमवाय, तन्ग्रह  
 णापेगग्रहणना, व्यञ्जकसन्निधिमात्रम्,  
 आवरणविगमा वा स्यात् ? ७१२  
 श्रोत्रप्रत्ये एव शब्दस्य ध्वनिभि सस्कार  
 क्रियत सवत्र या ? ७१२  
 इन्द्रियमस्कारपक्षे मवगन्ताना युगपच्छ्रवण  
 स्यात् ७१३  
 अत तात्वादिवापारात्तन्त्रमात्रिज्ञान तज्ज  
 ययमवोपपन्न शब्दस्य ७१४  
 कालत्वाद्देतो गन्तस्यसाधने विद्युत्गीना  
 र्मापि नित्यत्वप्रमङ्ग स्यात् ७१६  
 गौरित्युत्पद्यमान वञ्च गौगब्दलिपिबुद्ध्या

अनकान्तिवम ७१६  
 सम्बन्धप्रलेनाथमतिजनकञ्च चेष्टया अर्नवा  
 तिवम् ७१७  
 कश्चित् कालावस्थानित्वञ्च विमुपलम्भकाला  
 वस्थायित्वमभिप्रेतम्, अतीतवतमान  
 कालावस्थापित्व वा ? ७१८  
 घूमन्नि यस्यापि शब्दस्य सादृश्यतोऽप्रति-  
 पादकत्वापत्ते ७१८  
 शब्देऽपि उपात्ताभिदेता नानात्वस्य प्रसिद्ध  
 अस्ति तेषु शब्दत्व सामान्य सादृशपरि  
 णामात्मकम ७१९  
 सादृश्यस्य प्रमाणसिद्धत्वात् न तत्र बाधा ७१९  
 अनित्य शब्द कृतकत्वात् ७१९  
 कृतक शब्द कारणात्त्वयध्यतिरेकानुविधायित्वात् ७१९  
 वैकानामपि गन्तानाम् अपीह्येत्प्रसाधक  
 प्रमाणाभावादनित्यत्वमव ७२०  
 नेत्रापीरूपेयत्वान् ७२१-३७  
 (मीमांसकस्य पूवपक्ष ) अपीह्येयो वेद क्तु  
 स्मरणयोग्यत्वं सत्यपि अस्मयमाणकनू-  
 कत्वात् ७२१  
 छिन्नमूलत्वाच्च वेदे क्तस्मरणाभाव ७२२  
 वदिवी रचना अपीह्येयी दष्टवत्करचना  
 विलक्षणत्वात् ७२२  
 वेदाध्ययनवाच्यत्वात् कालत्वाच्च वदस्या  
 पीह्ययवम ७२२  
 नहि आक्षुण्णनकात्या गन्तस्य प्रामाण्यम  
 आप्तस्य गन्तुच्चारणमात्र व्यापारगत ७२३  
 वेदानुपूर्व्या स्वसामर्थ्येनव प्रामाण्यम  
 (उत्तरपक्ष ) अस्मयमाणकनवत्व कि क्त  
 स्मरणाभाव अस्तृक्त्वं वा ? ७२४  
 अभावप्रमाणमपि क्तस्मरणाभाव निराश्रय  
 प्रसाधयत-नाश्रय वा ? ७२४  
 आध्यात्मि स्वतात्मा स्यात् सवप्रमानारो वा ? ७२५  
 न चाभाव क्तभाववित्त्व वदस्य स्वय  
 स्वकत्प्रतिपात्तवान् ७२६  
 स्मनिपुराणादिवच्च त्रपिनामाद्धिता क्णव  
 माध्यदिनास्य ग्नासभवा तन्मस्यै  
 माणकनूदा ? ७२६  
 एता तत्त्वतत्वात्तानामभिरुद्धिता तद्दृष्ट-  
 त्वात्, तद्वर्गागतत्वाद्वा ? ७२६

आलोकामावरूप एव हि छाया ६६७

छायाया इव्यान्तरत्वे हि छायाप्रपायमि आत्रो  
केन सहावस्थान स्यात् ६६७

आवावरु'व्यगतकर्मारोगान् 'छाया गच्छति  
इति प्रतीयते न वस्तुत् ६६८

देशान्तरप्राप्तिर्हि छायाया देगा'तरेण सयोग  
समवायो वा ? ६६८

(उत्तरपक्ष) आत्रोक्तमसौ स्वरूपव'मभ्य  
प्रतीयते ६६८

तमसो रूपान्मिस्त्वा'भावरूपान्निरोध  
छायातमसो कृष्णरूप गीतश्च स्पष्ट प्रसिद्ध ६६९

द्रव्य तम गुणव'वात् ६६९

वचक'ग'रु'मि तमसो गुणव'त्वं प्रसिद्धम्  
छायातमसो गुणानामौपचारिकत्वे ज्योत्स्ना  
तयोरपि मुख्यतो गुणसिद्धिर्न स्यात् ६७०

सर्वथा पानानुत्पत्ति तम प्रतिनिधेत्तु  
कचच्चि'ग ? ६७०

तमसो ज्ञानानुत्पत्तिरूपत्वे आत्रोक्तस्यापि  
विग'ग'नानो'पत्तिरूपत्व स्यात् ६७१

छायाद्य'चकार द्रव्य घटाद्यावावरुत्वान्,  
यतिम'व'वाच्य ६७१

देगा'तरप्राप्तिश्च सयोगरूपव ६७१

छायाया असत्त्वे हि आवावरुद्रव्यगतकर्मणस्त्व  
आरोपविरोध ६७२

छाया परमावसनी अ'यारोप्यमाणवन्तिवत्वात् ६७२

५७ कारिकायाम् प्रतिनियतापरश  
विगमवशादात्मन प्रतिनिय  
तार्थप्रकाशकत्वनिरूपणम् ६७३

५८ कारिकाया तज्जन्मताद्रूप्यतद-  
ध्ययमायाना प्रामाण्यहेतुता  
निरास ६७५

५९ कारिकाया स्वहेतुजनितयो  
नानज्ञेययो परिच्छेद्यपरिच्छे-  
दकभावप्रदर्शनम् ६७८

६० कारिकाया प्रमाणस्य व्यपसा  
यामरुन्वममर्थनम् ६७९

६१ कारिकाया प्रमाणभेदनिरूपणम् ६८२

स्मृतिप्रत्यभिनानादीनामनि  
न्द्रियप्रत्यक्षता ६८२

६२ कारिकाया श्रुतस्य स्याद्वाद-  
नयात्मरूपो द्वयो' उपयोगयो  
निरूपणम् ६८६

सकला'ग'विवला'मयो स्वरूपम ६८६

६३ कारिकाया स्यात्कारप्रयोगस्य  
विचार, ६८९

अयोग अ'योग अत्यन्तायोगभ'न त्रिषा  
एवकार ६९३

स्यात्कारमन्तरेण इ'पानिष्टयोविधिप्रतिषध्या  
नुपपत्त ६९४

स्यात्स्या'भ्युपगम एव एवकारस्य अयोगाय  
योगात्यन्तायोगप्रकारा सद्गच्छते ६९५

६४ ६५ कारिकयो शब्दानां चहि-  
रर्थनिपयत्प्रदर्शनम् ६९६

श'द'नित्यत्प्रवाद ६९७ ७००

(मीमांसकस्य पूर्वपक्ष) प्रत्यभिगया ग'रु'स्य  
नियच निश्चोयते ६९७

प्रत्यभिगया प्रयगतवम् इ'द्वया'वयव्यनिरे  
वानविधायित्वात् ६९८

उच्चारण हि 'ग' स्य अभिव्यञ्जकम  
कारो गान्मिसम्बद्ध काल्त्वात् इत्यनुमान  
तो'पि स'रु'स्य श्रावणत्वम् ६९९

निय ग'रु' श्रावणत्वात् ६९९

दशकालादिभिन्ना गोश'व्यक्तिवृद्धय एक  
गोश'विपया गोरित्युत्पद्यमानत्वात्  
इत्यनमानतो'पि ग'रु'नित्यत्वसिद्धि ७००

ह्यस्तना गो'ग' अद्याप्यनवतत गोरिति  
पायमानत्वात् इत्यनुमानेनापि नित्यत्वम् ७००

सद्यतनो गाय' ह्यो'पि आसीत् गोरिति  
पायमानत्वात् इत्यनुमाना'पि नित्यत्वम् ७००

म'ध'व'न अधमनिजनवत्त्वादपि नित्यत्वम् ७००

अधप्रतिपत्त्या यथानुपपत्त्या ग'रु'स्य नित्यत्वम् ७०१

सादृश्यस्य विन्नायमाणस्थानुपपत्त न तनि  
मित्त वमर्थप्रतिपत्त ७०२

(उत्तरपक्ष) स एवाव गकार 'नि प्रत्यभि  
गानस्य भान्ताता सादृश्यनिब'धनत्वा'स्य ७०३

न च प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षम् अविशदरूपत्वात् ७०४  
 'उत्पन्न शब्द विनष्ट शब्द इति शब्दात्सा-  
 दविनाशसाहचर्यप्रत्यक्षबाधित्वान्न न प्रत्य  
 भिज्ञा शब्दनित्यत्वसाभिज्ञा ७०४  
 शब्दाभावप्रतीतौ च शब्दान्तरमैव एकज्ञान  
 मसमि भवति ७०५  
 नित्यत्व च शब्दस्य प्रागुच्चारणादनुपलम्भ  
 विम् इन्द्रियाभावात् शब्दस्यासिद्धिहि  
 तत्वात् आवृत्तत्वाद्वा स्यात् ? ७०५  
 व्यञ्जकस्यापारात्पूर्व शब्दस्य कुतश्चित्प्रमाणा  
 त्प्रसिद्धी आवरणव्ययना युक्ता ७०७  
 आवरणमपि दृश्यमदृश्य नित्यमनित्य व्यापक  
 मव्यापक एकमनेक वा स्यात् ? ७०७  
 शब्दा प्रतिनियतावरणाचार्या प्रतिनियतव्य  
 ञ्जकव्यत्यगा वा न भवति अभिन्न  
 दशत्वे सति एको द्रव्याहात्वात् ७०९  
 तात्वादीना ध्वनीना वा व्यञ्जकत्वे तद्गधा  
 पारे शब्दाना नियमेनापत्तिरपि न स्यात् ७०९  
 न सर्वगत शब्द सामान्यविशेषकत्वे सति  
 बाह्यो द्रव्यप्रत्यक्षत्वात् ७१०  
 ध्वनयश्च कि प्रत्यक्षण प्रतीयन्ते अनुमानन  
 अर्थापत्त्या वा ? ७१०  
 प्रत्यक्षण चेत, श्रोत्रेण म्याशान वा ? ७१०  
 विनिष्कसष्टत्ययथानुपपत्त्या ध्वनिप्रतिपत्ती  
 ससृष्टि शब्दसंस्काररूपा स्यात्, श्रोत्र  
 संस्काररूपा, उभयसंस्काररूपा वा ? ७११  
 शब्दसंस्कार कि शब्दस्वोपलब्धि, आत्मभूत  
 वरिचदतिशय, अनतिशयव्यावृत्ति  
 स्वरूपपरिपीय, व्यक्तिमवाय, तद्ग्रह  
 णादेशग्रहणता, व्यञ्जकसिद्धिमात्रम्,  
 आवरणविगमा वा स्यात् ? ७१२  
 श्रावणप्रण एव शब्दस्य ध्वनिभि संस्कार  
 क्रियत मत्र वा ? ७१२  
 इन्द्रियसंस्कारपक्षे सर्वशब्दाना युगपच्छवण  
 म्यात् ७१३  
 अन्त तात्वात्प्राग्वगतान्तरभावितात् तज्ज  
 यस्वमवोपपन्न शब्दस्य ७१४  
 कालत्वाद्धतो शब्दस्यसाधन विद्युत्दीना  
 र्थापि नित्यत्वप्रसङ्ग स्यात् ७१५  
 गौरित्युत्पद्यमानव्यञ्ज गोग्दालिपिबुद्ध्या

अनकातिक्रम ७१६  
 सम्बन्धवलेनाथमतिजनवञ्च चष्टया अनका  
 तिक्रम ७१७  
 कञ्चित्कालावस्थायित्वञ्च विमुपलम्भकाला  
 वस्थायित्वमभिप्रेतम्, अतीतवतमान  
 कालावस्थायित्व वा ? ७१८  
 धूमवदनित्यस्यापि शब्दस्य सादश्यत्वोच्चप्रति  
 पादकत्वोपपत्ते ७१८  
 शब्देष्वपि उपात्तादिभेदतो नानात्वस्य प्रसिद्ध  
 अस्ति तेषु शब्दत्व सामान्य सदस्यपरि  
 णामात्मकम् ७१९  
 सादश्यस्य प्रमाणसिद्धत्वात् न तत्र जाया ७१९  
 अनित्य शब्द कृतकत्वात् ७१९  
 कृतक शब्द कारणावयव्यतिरेकानुविधायित्वात् ७१९  
 बहिकानामपि गदानाम अपोरपेत्वप्रसापक  
 प्रमाणाभावात् नित्यत्वमेव ७२०  
 वेदापौरुषेयत्वान् ७२१-३७  
 (मीमांसकस्य पूर्वपक्ष) अपोरपेयो वेद वर्तु  
 स्मरणयोर्गत्यत्वे मत्पदि अस्मयसाणकत -  
 क्त्वात् ७२१  
 छिद्रमूलत्वाच्च क्त्वे क्तस्मरणभाव ७२२  
 बहिकी रचना अपोरपेयो दृष्टकतकरचना  
 विलक्षणत्वात् ७२२  
 वेदाध्ययनवाच्यत्वात् कालत्वाच्च वेदस्या  
 पीरुषेयत्वम् ७२२  
 नहि श्रावणगुणसकाल्या शब्दस्य प्रामाण्यम्  
 प्राप्तस्य शब्दाच्चारणमात्रे व्यापारात् ७२३  
 वेदानुपूर्व्या स्वसामर्थ्येन प्रामाण्यम् ७२४  
 (उत्तरपक्ष) अस्मयमाणकतकत्व कि क्तु  
 स्मरणाभाव अन्तर्गतत्व वा ? ७२४  
 अभावप्रमाणमपि वास्मरणाभाव निराश्रय  
 प्रसाधयेत् साश्रय वा ? ७२४  
 श्राव्यापि स्वात्मा स्यात् सर्वप्रमाणारो वा ? ७२५  
 न चाभावा कर्त्रभावावेत्क वेदस्य स्वय  
 स्वकतप्रतिपादकत्वान् ७२६  
 स्मतिपुराणादिवच्च कृपिनामाद्धिता श्राव  
 माध्यन्दिनात्य शास्त्राभेदा तयमस्मये  
 माणकतुका ? ७२६  
 एता तत्कृतत्वात्प्रामाभिरङ्कता तददृष्ट  
 त्वात्, तत्प्रकाशितत्वाद्वा ? ७२६



यन् वीगातीना क्तुविशय विप्रतिपत्ति  
 तन् कर्तुविशयस्मरणमव धप्रमाण स्यान्न  
 तु क्तसामान्यस्मरणमपि ७२७

वायमव हि स्मयमाणवत्कमस्मयमाण  
 क्तुक वा प्रतीयते, अत कृतको वे  
 अस्मयमाणवत्कत्वात् ७२७

क्तुरस्मरण हि वाग्नि, प्रतिवाग्नि सवस्य  
 वा स्यात् ? ७२८

क्तभावांसिद्धिश्च प्रामाणान्तरान्, अत एव वा ? ७२८

अध्ययन वेत्तुत्वरुभवाभावात् स्मरण छिन्न  
 मूलम प्रमाणान्तरेणानभवाभावाद्वा ? ७२९

अध्ययन चेत् भवत्सम्बन्धिता सवसम्ब  
 धिता वा ? ७२९

पीरुपयो वेत् रचनावत्त्वात् पदवाक्यात्  
 क्तवाच्य ७२९

प्रमाणान्तरविषयमाश्रित्य वक्तानि वाक्यानि  
 आप्तोक्तानि वाक्यत्वे सति प्रमाणत्वान् ७३०

वेत्तवताया क्तपूवत्त्वरत्नाविलम्पत्वं हि  
 किं दुभगतम् दुश्रवणत्वम लोक  
 व्याकरणसिद्धिश्च वत्सम्भयन सत्  
 विनिवेग अपूवच्छन्दोनिबद्धवम भती  
 न्यायप्रतिपत्तवम महाप्रभावोपत  
 मन्त्रमुक्तत्व वा ? ७३०

अध्ययनवाच्यत्व किं निविशेषण सत् वेदस्य  
 अतोशयवत् प्रतिपादयत् सविशेषण वा ? ७३१

वेत्तव्ययन हि वि तावमात्रण हेतु अपर  
 विषयणविशिष्टत्वेन ? ७३१

अतीत्यायप्रतिपत्तान्ने धत्स्य प्रामाण्याभाव  
 गुणवत्त्वमावात् ७३३

अपरविशेषणपणे किं क्तस्मरण विशेष  
 णमभिन्न सत्प्रदायाव्यवच्छेदो वा ? ७३३

सम्प्रदायाव्यवच्छेदाप्रति आत्मणन सवलोक  
 यतो वा ? ७३३

सम्प्रदायाव्यवच्छेदव हि स्वन्त्र प्रमाणम  
 प्रत्याघायनमन तन्मूर्त्त वा ? ७३३

कालवहेतो प्रतिविधानम  
 वेद व्याख्यान अव्याख्यानो या स्वाथ  
 प्रतीति कुर्यात् ? ७३४

व्याख्यानमपि स्वत पुष्टयान् स्यात् ? ७३४

व्याख्याता च अतीन्द्रियापेक्षा, तन्परीना

वा स्यात् ? ७३५

गवागीना प्रानातिगवश्च वेदार्थाभ्यासात्  
 अदृष्टात् ब्रह्मणो वा स्यात् ? ७३६

अभ्यासोऽपि ज्ञानस्य वेदस्य स्यात्पातस्य वा ? ७३६

ज्ञातस्य चेत् तज्जन्ति स्वत, अयतो वा ? ७३६

वेदार्थानुष्ठानाच्चेत् पातस्य अज्ञातस्य वा  
 वेत्तवस्य अदृष्टाता स्यात् ? ७३६

अत पीरुपयो वेदो नररचितरचना  
 वशिष्टत्वात् ७३७

वाग्मयलक्षणविचार ७३७-४५

पन्थाकययोलक्षण ७२८

आकाशका हि प्रतिपत्तयम, सा च वाक्ये  
 ध्वध्यागोप्यते ७३८

आर्यातागानो हि पन्तान्तरनिरपक्ष सापेक्षो  
 वा वाक्य स्यात् ? ७३९

सापेक्षश्च त्वचिन्निरपेक्षोऽनो न वा ? ७३९

सयातस्य वाक्यत्वे किं वर्णाना पन्थाना वा  
 सयातो वाक्यव प्रतिपत्तते ? ७४०

देशहृत कालकृतो वा पन्संधान वाक्यं स्यात् ? ७४०

कालकृताप्रि संधान पन्थेभ्यो मिश्र  
 अभिन्नो वा ? ७४०

अभिनश्चेत् सवथा कयञ्चिद्वा ? ७४१

पदसंधातर्तिव्या सन्संधारिणामलक्षणाया  
 पन्संधातात्कयञ्चिदभिन्नाया जाते  
 वाक्यत्वमभ्युपगम्यत एव ७४१

बुद्धिरश्च भाववाक्य द्रव्यवाक्य वा स्यात् ? ७४१

अनुसङ्गतेर्भाववाक्यरूपता स्वीक्रियते  
 पन्थानामव वाक्यावधाधविधापनत्वे किं  
 परस्परसापेक्षाणा पन्थानातद्विधायवत्त्व  
 निरपेक्षाणा वा ? ७४३

वाक्येण पन्थान्या अन्तयो वा ? ७४३

अथ अय क्रियाकारकसंज्ञरूपं तन्  
 असी नित्य अनित्यो वा स्यात् ? ७४३

अनित्यश्चत् किं विवक्षितपदाव्यञ्जन्येन पन्  
 धर्तिरर्वा ? ७४३

विवक्षितपन्थापनत्वे त एवोत्पन्थाते एव  
 च पापका तत्र च किं पूव नापयति  
 पश्चादुत्पान्यन्ति, किं वा पूवमुत्पाद  
 यन्ति तन्पु नापयन्ति ? ७४३

असत् क्रियाकारकसंज्ञस्य क्तव्यतया प्रति

पादने नि क्तस्यैवा भावरूपा स्यादभाव-  
 रूपा वा उभयोरूपा वा अनुभयरूपा वा ? ७४३  
 पदञ्च वर्णभ्यो भिन्नमभिग वा स्यात् ? ७४४  
 भेदपक्षेऽपि वि तद दृश्यमदस्य वा ? ७४४  
 पदं वाक्यं वा स्वान्-भ्येन प्रतीयते वणद्वारेण वा ? ७४४  
 वणद्वारेणापि सावयवस्य निरवयवस्य वा प्रतीति  
 स्यात् ? ७४४  
 निरवयवञ्च किं समस्तोभ्यो वणपत्रेभ्य प्रतीयत  
 व्यस्तेभ्यो वा ? ७४४  
 सकलवणसंस्कारवत्या अत्यया वणवृद्धया  
 वाक्यावधारणे सा वृद्धि विं स्मरणम्  
 उत अघ्यस वा स्मान् ? ७४५  
 पूर्ववणस्मरण-अन्त्यवणग्रहणाभ्या समुत्पन्नस्य  
 विह्वलनानस्य वाक्यावधारणवन्त्वे तद्वि  
 कल्पज्ञान प्रमाण न वा ? ७४५  
 प्रमाणञ्चेत्, नि प्रत्यक्षाद्यतमतु, प्रमा  
 णान्तर वा ? ७४५  
 स्फोटपाद ७४५-५६  
 (वधाकरणानां पूर्वपक्ष) स्फोट एव अथप्रति  
 पादक न तु वर्णा ७४५  
 वर्णा हि समस्ता व्यस्ता वा अथप्रतिपादका स्यु ? ७४५  
 पूर्ववणानाम् अत्यवर्णानुग्राहकत्वे विम् अन्त्य-  
 वणजनवत्वमनुग्राहकत्वमभिप्रतम्, अथ  
 णानोत्पत्तौ सहकारित्वे वा ? ७४६  
 संवेदनप्रभवसंस्काराश्च केवल स्वविषयस्मृति  
 हननो भवन्ति न स्वर्णान्तरे ज्ञानोत्पादका ७४७  
 अन्त्यवणस्य च अथप्रतिपादकत्व पूर्ववर्णोच्चा  
 रणव्यप्यम ७४७  
 अर्धप्रतीपन्यधानुपपत्त्या स्फोट अथप्रतीति  
 हेतु र्बीवरणीय ७४७  
 प्रथमत अभिन्न स्फोट समनुपपत्त ७४८  
 गित्यस्वागो स्फोट ७४८  
 स्फोटो हि अतरालप्रत्ययवर्धयते ७४९  
 (उत्तरपक्ष) पूर्ववणध्वगतिनिष्ठादन्त्यवर्णा  
 दथप्रतिपत्त्युपपत्त स्फोटकल्पना व्यर्था ७५०  
 पूर्ववर्णविधानाभावविनिष्ठ तज्ज्ञानजनित  
 संस्कारमव्यपेक्षो वाञ्छ्यो वण अथप्रती  
 त्युत्पादक ७५०  
 पूर्ववणविज्ञानप्रभवसंस्कारस्य अन्त्यवणसंस्कार-  
 यज्ञप्रणाली ७५१

अदृष्टवशात् अविनष्टा एव पूर्ववणसंविद  
 तत्संस्काराश्च अन्त्यवणसंस्कार विदधति ७५१  
 तथाभूतसंस्कारप्रभवस्मृतिसव्यपेक्षो वाञ्छ्यो  
 वण पदाथप्रतिपत्तिहेतु ७५१  
 यदि वर्णा व्यस्ता समस्ता वा नाथप्रतिपत्ति  
 विदधति तदा स्फोटस्याभिव्यक्तनावि न  
 तथा सामर्थ्य स्यात् ७५२  
 एकनव वर्णेन वा स्फोटस्याभिव्यक्तौ द्वितीया-  
 दिवर्णोच्चारणव्यप्यम ७५२  
 नापि पूर्ववर्णो स्फोटस्य संस्कारे अन्त्यवणस्य  
 व्यञ्जकत्वम ७५३  
 संस्कारो हि स्फोट एव तद्धर्मो वा स्यात् ? ७५३  
 किञ्च अतो संस्कार विभेकदेशेन त्रियते  
 सर्वात्मना वा ? ७५३  
 स्फोटसंस्कारो हि स्फोटविषयसंवेदनम् आव  
 रणापनयनं वा ? ७५३  
 चिदात्मव्यतिरेकेण तत्त्वान्तरस्य अथप्रकाशान  
 सामर्थ्यासंभवात् चिदात्मैव स्फोटोऽस्तु ७५४  
 वायुनामपि न स्फोटाभिव्यञ्जकत्वम् ७५४  
 स्फोटस्वरूपावेदकप्रमाणाभावाप्राप्त्य अभि  
 व्यक्तिकल्पना युक्ता ७५५  
 यदि वर्णो तदवृद्धिभिर्वा व्यञ्ज्यो शब्दस्फोटाऽ  
 भ्युपगम्यते तदा प्रदीपादिस्फोटो व्यभ्यु-  
 पगन्तव्य ७५६  
 एव गथादिस्फोटो वि स्वीक्या ७५६  
 तथा हस्त-पाद-वरण-मातकास्फोटा अपि  
 अभ्युपेया स्युः ७५६  
 अथभ्रशादीना वाचस्त्वचिचार ७५६ ६७  
 (भीमांतकवयकारणादीनां पूर्वपक्ष) सस्त् न  
 शब्दानामेव वाचकत्व साधुत्वात् न तु प्राह  
 ताना गाव्यादीनाम् ७५७  
 अनयथासिद्धावयव्यनिरवाम्या हि वाचकत्व  
 मस्त्वत्प एव निरचीयत ७५८  
 गाव्यादिप्राहृतान्पु वाचकगोशस्मृतिद्वारेण  
 अर्थबोधवत्त्वमनस्तत्र गीगस्मृत्या  
 अवयव्यनिरवो अयथासिद्धौ ७५८  
 नहि गाव्यादिशब्दपु सक्तेषोऽपि शक्यक्रिय ७५९  
 सवत्पानां सामान्यद्वारेण संवत्तलीकयति  
 ध्याकरणस्य उपयोगिता ७५९  
 ध्याकरणवाप्राप्त्ये हि लोकशास्त्रविरोध ७६०

गणमाधुत्वस्य च प्रत्यक्षतः एव प्रतीतिः ७६१  
 व्याकरणसंस्कारापेक्षमेव श्रोत्र साधुत्वग्राहकं  
 भवति ७६१  
 व्याकरणानुशिष्यत्वात् अदृश्यमानप्रयोगाणां  
 मपि शब्दानां सांपूर्त्वं नायते ७६१  
 आगमार्थापत्त्यादिभिरपि साम्प्रतिकप्रतीतिभक्त्यैव ७६१  
 (उत्तरपक्ष) लोकव्यवहारे हि गायान्ति वा  
 नामेव साधुत्वमस्तनेषामेव वाचकत्वम् ७६२  
 न हि प्राङ्मनस्य प्रथमं संसृष्टशब्दस्मरण  
 ततोऽप्यवोध इति व्यवहृता प्रतीतिर्भवति ७६२  
 यद्वचं संसृष्टता न न श्रुता तेषां वचं संसृष्ट  
 शब्दस्मरणम् ? ७६२  
 गान्धादिशब्दानामप्यभ्युत्पत्त्यैव पुरुषार्थापत्त्यां  
 धक्त्वान् व्याकरणस्मृत्यनुगृहीतस्य सच  
 दासवृत्तप्रथम एवत्वेन प्रतीत्यभावात्  
 संसृष्टेन अर्थाभिधातृत्वात् स्यात् ? ७६३  
 साधुत्वञ्च किं वाचकत्वम् अनातिप्रयोगिता  
 धमसाधनत्वम्, विशिष्टपुरुषप्रणीतत्वम्  
 विशिष्टार्थाभिधायित्वम् वाधारित्वत्वम्,  
 प्रमाणान्तरानुगृहीतत्वम् अनुपहृतेन्द्रिय  
 ग्राह्यत्वम् अनावृत्तत्वम् व्याकरणसिद्ध  
 स्वरूपत्व वा स्यात् ? ७६३  
 अनातिप्रयोगितापि प्रवाहापेक्षया निष्पत्त्या  
 पेक्षया चोच्यते ? ७६४  
 प्रकृतिरेव हि प्राकृतं न तु प्रकृतोभवत् ७६४  
 प्रकृतिरेव किं स्वभाव धानुगुण संसृष्ट  
 शब्दस्वरूप वा ? ७६४  
 गुणान्तराधानं हि संस्कार, अत एव संसृष्ट  
 प्रकृति स्यात् ? ७६४  
 न हि अविकल्पितस्मृत्यवस्थापनमेव शब्दानां  
 संस्कार अप्रतीति ७६४  
 अविकल्पितस्मृत्यवस्थापनञ्च शब्दानां सा  
 श्यापेक्षया नित्यव्यवस्थापक्षया वा स्यात् ? ७६५  
 धमसाधनत्वमपि साक्षात् परम्परया वा ? ७६५  
 व्याकरणसिद्धस्वरूपता च प्राङ्मनस्यस्याप्यस्ति ७६६  
 संसृष्टता वाक्यं वदा वक्तव्या कर्मकारेण अध्य-  
 ययनकार वा ? ७६६  
 अध्ययनकारेण च न कस्य अध्ययनकारे प्राकृतस्य  
 संसृष्टतस्य वा ? ७६६  
 गान्धादिशब्दानामप्यभ्युत्पत्त्यैव किं स्वरूप

मात्रात् व्याकरणान्निष्ठत्वात् ? ७६६  
 प्राकृतस्य अपरमहेतुत्वमपि सवदा यावत्  
 कर्मकार वा ? ७६७  
 संसृष्टताऽन्वेषणस्य धर्महेतुत्वे चाप्यपि  
 पुष्पानुष्ठानानां व्यवस्थम् ७६७  
 ब्राह्मणत्वनातिविचार ७६७-७६८  
 (मीमांसकादीनां पक्षपक्ष) प्रत्यक्षेण च हि ब्राह्म  
 णोऽयं ब्राह्मणोऽतिमिति ब्राह्मण्यं प्रतीयते ७६७  
 मातापितृब्राह्मण्यनानुष्ठाय हि प्रत्यक्ष ब्राह्म  
 णत्वजातिग्राहकम् ७६८  
 अपवा ब्राह्मणोऽपि मित्युपगम्यमानं इति  
 यण ब्राह्मणत्वजातिघाही प्रत्यया जयत् ७६८  
 मानापित्री अविकल्पितत्वञ्च प्रमाणभावात्  
 एवाप्ये ७६८  
 धनमानयोपि ब्राह्मणत्वजाति प्रतीयते ७६९  
 ब्राह्मण्यं व्यक्तित्वविकल्पनिमित्ताभिप  
 संभवत् पत्न्यान् इत्यनुमानान्पि ब्राह्मण  
 त्वसिद्धि ७६९  
 वणविशेषयतोऽपीति व्यतिरिक्तनिमित्तनि  
 वन्ना ब्राह्मण इति ज्ञानम् ७६९  
 आगमार्थि ब्राह्मणत्वजातिसिद्धि ७७०  
 (उत्तरपक्ष) किं वेदोऽप्यजनितेन प्रत्य  
 क्षेण ब्राह्मणत्व प्रतीयते अन्यसंसृष्टतेदि  
 यजनिनेन वा ? ७७०  
 प्रथमपक्ष निविकल्पनेन सविकल्पकन वा तेन  
 तत्प्रतीयेत ? ७७०  
 इन्द्रियाणां सहकारि हि किं ब्राह्मणभूतवित्  
 जयत्व स्यात्, पित्रोऽविकल्पितत्वोपेक्षेण,  
 जाचारविशेष संस्कारविशेष वेन  
 ध्ययनम यतोपवातात्किम् ब्रह्म  
 प्रभवत् वा ? ७७१  
 पित्रो ब्राह्मणत्वमपि ब्राह्मणभूतवित्जय  
 त्वात् सिद्धयत् तथाभूतपुत्रजनस्त्वात् ७७१  
 पित्रोऽविकल्पितत्वञ्च विवक्षितपित्रपेक्षया  
 अनात्किं तद्वित्प्रवाहापेक्षया वाऽभिप्रथम ? ७७२  
 प्रथमपक्ष तज्जमनि अविकल्पितत्वमभिप्रथमम्,  
 अनात्किं वा ? ७७२  
 तज्जमनि चेत् केन प्रतीयेत-पुत्रण अप्यर्था ? ७७२  
 अप्यर्थापि प्रत्यक्षेण अनुमानान्, आगमार्थ  
 तत्प्रतीयते ? ७७२

पित्रोरविष्णुत्वत्वे हि किं सावृताकारविशेष	
अपत्यप्वविलक्षणता वा लिङ्ग स्यात् ?	७३३
भागमतोऽपि अपीक्ष्ययात् पीष्ययाद्वा तत्र	
तीति स्यात् ?	७३३
अत्रलानां प्रायणं कामातुराणामविष्णुत्वम	
शक्यनिश्चयम्	७३३
आचारविशेष सस्कारयोश्च अव्याप्यतिव्या	
प्तिसदभावान्न ब्राह्मणत्वनिश्चायकत्वम्	७३४
ब्रह्मणो ब्राह्मण्यमस्ति न वा ?	७३४
अस्ति चत, किं सवत्र मुखप्रदेश एव वा ?	७३४
ब्राह्मण एव तमुखाज्जायते, तमुखादव	
वाऽप्यौ जायते ?	७३५
'ब्राह्मणपदम्' इत्यनुमानञ्च प्रत्यभवाधितम्	७३५
सत्ताकाशकालादिपञ्चनकां तद्वद्वच पदत्व हेतु	७३५
नगराणिभिरनेकां तद्वद्वच पदत्वहेतु	७३६
नगरादिषु अनुवत्प्रत्ययनिर्घन हि द्रव्यम्,	
सत्ता, प्रत्यासत्तिविशेषो वा स्यात् ?	७३६
सत्तापि गृहादिविगपिता नगरप्रत्ययम्	
त्याप्येत् केवला वा ?	७३६
प्रत्यासत्तिविशेषोऽपि गृहादीनां गृहाद्यन्तर	
समवाय सयोगो वा अभिप्रत ?	७३६
अप्रतिपत्तं च ब्राह्मण्ये लिङ्गस्य अविनाभा	
वावगमो न भवति	७३६
आगतोऽपि अपीक्ष्ययात् पीष्ययाद्वा तत्र	
तिपत्ति स्यात् ?	७३७
अर्थापत्युपमानाभ्यामपि न ब्राह्मणत्वप्रतीति	७३७
जनानाञ्च क्रियाविशेषपक्षोपवीतादिचिह्नो	
पञ्चिते व्यक्तिविशेष मर्णाश्रमव्यवस्था	
तन्निमित्तमद्वच तपोनामादिप्रवहार घटते	७३८
जाते पवित्रताहेतुत्वे वक्ष्यापाटवनिप्रविष्टानां	
ब्राह्मणीनां कथं निन्दा स्यात् ?	७३९
क्रियाभ्रगान्निघतायां सिद्ध क्रियानिमित्ताव	
ब्राह्मणत्वम्	७३९
त्रिपृथिविपरगम्	७३९
विवक्षामात्रसूचकत्वे हि शब्दानां कथं बहिरर्थे	
प्रतीतिप्रसूतिप्राप्तय स्यु ?	७४०
विवक्षा च विं गच्छेत्कारणेच्छामात्रम्,	
अनन शब्देनामुपय प्रतिपादयामीत्यभि	
प्रापो वा स्यात् ?	७४०
समयान्ते । शब्द तादृशमभिप्रायं गमयेत्	

तत्सापेक्षो वा ?	७४१
६६-६७ कारिकायोः समनयनिर्देशः	७४२
श्रुतभेदा नया ननु मतिभदा	७४३
स्यशवत्वात् जलादीनामपि गणादिमत्ता	
सिद्धयति	७४७
६८ कारिकाया नैगम नैगमाभास-	
निरूपणम्	७४८
६९ कारिकाया सग्रहतदाभासयोः	
लक्षणम्	७५०
७० कारिकाया व्यवहारतदाभास-	
स्वरूपम्	७५०
७१ कारिकायाम् ऋजुसूत्रतदाभास	
लक्षणम्	७५२
७२ कारिकाया नैगमादीनां चतुर्णा-	
मर्थनयत्वस्य शब्दादित्रयाणां	
शब्दनयत्वस्य च समर्थनम्	७५३
शब्दादीनां नयानां लक्षणानि	७५४
अनकान्तनिराकृते नयानां निरपेक्षत्वम्	७५४
इति वल्ल प्रवचनपरिच्छद	
—●—●—	
७३-७६ कारिकासु निक्षेपम्बरूप-	
निरूपणम्	७५८
नामादिनिक्षेपाणां लक्षणानि	७५९
निर्देशाद्यनुयोगानां स्वरूपम्	८०२
सदाद्यनुयोगानां लक्षणानि	८०२
अर्थात्मनो निक्षेपो द्रव्यभावो, वागात्मक	
नामरूप, प्रत्यात्मकश्च स्थापनारूप	८०३
एवजीवानकजावात्तिनामभेदन अनकथा	
नामनिक्षेप	८०४
सदभावसदभावभेदन द्विधा स्थापना	८०५
आगम-नाआगमादिभेदन द्रव्यनिष्पत्त्य भेदा	८०६
भावनिष्पत्त्य भेदा	८०७
आवरणस्वरूपविचार	८०८-८१०
(येवातिनां पुष्यपण ) न चावरणस्य स्वरूप	
किञ्चित् प्रसिद्धम्, तदिह गरीरम्,	
रागादि, दसकादिदिक् वा स्यात् ?	८०८

अविद्यव आवरण स्यात् न पौद्गलिक कम	८०९	धमेन् अनपेभ्य वा ?	८१६
पौद्गलिकत्वप्रति वा अनासिन्तान्त्वात् न		यद्यपेय, तदा क्रियपेक्ष्यम्-विवेकानुपलम्भ	
निजरागभव	८०९	प्रदृष्ट वा ?	८१७
( उत्तरपक्ष ) कममात्रसद्भावे विवाद		अमुक्तात्मानि प्रवृत्ताधिकारत्वञ्च किं तत्र	
नानावरणादिकमविशेष वा ?	८०९	सम्बद्धत्वम्, शरीरसुखादिसम्पादकत्ववा?	८१७
हीनस्थानादियु विशिष्टाभिरतिदानाना		शरीरात्पिना आत्मन कश्चिदुपकार त्रियत्र	
कमसम्भावसिद्धि	८०९	न वा ?	८१७
मान सावरण स्वविषयस्पष्टत्वात् इत्यनमा		त्रियते चेत् मित्र भ्रमिन्नो वा ?	८१८
नात् नानावरणमिद्धि	८१०	पुरुषो न वस्तु सर्वथाऽक्रायकारणभूतत्वात्	८१८
अविद्याया अमृतत्वादावरणवासभव	८१०	प्रकृतत्वे चात्मन भोक्तृत्वविरोध, भुञ्जि	
मूर्तेन मन्त्रिणा अमृतस्याप्यात्मन आवरण		त्रियाया कर्तव्यं हि भास्त्रा	८१८
भवति	८१०	वतुत्वविकल्पस्य वस्तुगुण्यत्वे भोक्तृत्वादि	
मिथ्यानानासि पुद्गलविगतसम्बन्धनिबन्धन		धर्माणामपि वस्तुगुण्यत्व स्यात्	८१९
तत्स्वरूपान्वाभावाभावस्वभावत्वान् इत्यनु		प्रकृतुर्भोक्तृत्वाभ्युपगमे च कृतनागाहता	
मानात् कमसिद्धि	८१०	भ्यागमप्रसङ्ग	८१९
कमणामात्मगुणत्वे हि प्राप्त्यपारतन्त्र्यनिमित्त		बुद्धिचतन्ययोर्हि भेदाभावा	८१९
त्वं न स्यात्	८१०	अपरिणामियाश्चितिशकने वस्तुत्वमव भन्तु	
हीनस्थानपरिग्रहवरवात् पारतन्त्र्यमात्मन		पपत्रम्	८२०
मुप्रमिद्धम	८१०	जनास्तु मुक्तात्मानमपि परिणामिन स्वीकुरुवन्ति	८२०
शरीर हीनस्थानमात्मनो दुर्बहेतुत्वात्	८११	यत् बुद्ध्या चितिशक्य विषय प्रदन्त्यते तदाऽ-	
पौद्गलिक कम आत्मन पारतन्त्र्यनिमित्तत्वात्	८११	मी प्राचीनमन्त्रितस्वरूप त्यजति न वा ?	८२०
विपक्षपरमप्रकल्पसम्भावे कमणामनासिद्धेऽपि		शुद्धत्वादनन्तत्वाद्वा न चित्तेरपरिणामित्वसिद्धि	८२१
प्र तयोपपत्त	८११	किं अज्ञानमेव तत्र उत प्रज्ञानञ्च तमश्चेति?	८२१
प्रवृध्यमाणत्वाद्धेतो नानात्पिना परमप्रकल्प		विवेकस्यातिसृच किं प्रवृत्तेभवति पुरुषस्य	
गति समाप्यते	८११	तद्व्यतिरिक्तस्य वा कस्यचित् ?	८२२
आवरणहानि प्रवृध्यमाणा आवरणहानित्वात्	८१२	विवेकस्यातिसृच बुद्धिघमत्वात् भवमते पुरुष	
नानावरणादि आमुक्त प्रतीयते समग्रक्षयहेतु		न समवति समवे वा सा ततो भिन्ना	
पेतत्वात्	८१२	प्रमिन्ना वा ?	८२२
कमप्रक्षयहेतु च सवरनिजरा	८१२	भिन्ना चन् निचा मनित्या वा ?	८२२
अट्टप्रथम प्रवृत्तिचित्रनेत्यनिरास	८१३ २३	नित्यापि सम्बद्धा प्रसम्बद्धा वा ?	८२२
( साक्षयस्य पूर्वपक्ष ) नात्मगुणोऽप्युष्ट प्रवृत्ति		अनित्यापि जया भ्रजया वा ?	८२२
विवन्वात्स्य	८१३	जयत्येऽपि आत्मना प्रवृत्त्या तद्व्यतिरिक्तेन	
पुरुषा हि साक्षित्वात्स्वल्प	८१३	वा केनचिदसौ जयते ?	८२२
कृत्य हि प्रवृत्तेरेव	८१४	आत्मनापि प्रवृत्तिवियुक्तेन तत्सहितेन वासो	
प्रवृत्तिमसंगान अकर्ताऽपि पुरुष कर्त्तव्यं भानि	८१४	जयेते ?	८२२
प्रवृत्तिस्वपि मुष्ठात्कमज्ञानतमसच्छत्रतया		प्रवृत्तेऽव्यतया विज्ञानविरूपाऽहम् इति	
आत्मस्य मयमानस्य तदुपभोक्तृता भवति	८१५	नानानुस्त	८२३
( उत्तरपक्ष ) न हि प्रवृत्ति प्रमाणसिद्धा यत्		विज्ञानापि मोक्षावस्थायामपि भोगसम्पादनाय	
स्तद्विचर्त्तव्यकमणा स्यात्	८१६	वायुवत् प्रवर्तनाम्	८२३
प्रवृत्तिर्हि पुरुषस्य निमित्तमपेक्ष्य तथा परि		यत् मोक्षेऽप्यात्मा विगुद्धज्ञानादिरूप स्वीकार्य	८२३



त्वन्नामिदम्, तु विनायामप्रियव्रद्ध  
रति भङ्गात् ८३६

अनिष्टोरमाद्यमपि प्रणाद्यप्रयत्नो भवति ८३६

इष्टान्तेन च किं सुखमभिधीयते, अभिप्रत  
प्रयोजनभाव वा ? ८३६

तारुद्रप्रणाद्यप्रयत्नश्च साधन परत्मात्पिना  
अतन्नालिक्रम दुःखपरमप्रकरणेण यमि  
चारि च ८३७

आगमस्य तु अशौर्यपस्य प्रामाण्यमेव नास्ति ८३७

आगमस्य आन्तरिक्यतासद्भाववत् सुगाभाय  
मपि सूचयति ८३७

जविद्याया आवरणस्तानुपपत्ति ८३८

(बौद्धस्य पूर्वपक्षः) वायकारणमूतानप्रवाह  
व्यतिरेकेण अयस्य आत्मनो भावान् कस्य  
आन्तरिक्यता प्रमाणेने ? ८३८

आत्मनिर्गमक भूक्ति दूरासास्त्रिता ८३८

आत्मनिर्गम हि सागान्तिविद्यम ८३८

मुमुक्षुणा स्वरूप पुत्रकठप्रान्तिवञ्च अनित्या  
नात्प्राकाचिदुःखरूपेण शून्यमया चिन्ता  
मया च भावतया भावनीयम ८३९

नरत्स्याम्यामा मुक्ति ८४०

इन्द्रियादिषु उपभोगाशयत्वेन गहानेषु स्वत्वधी  
नरात्मनावनयव निर्वापन ८४

वाचकत्वात्पुनस नारकात्वायसापपत्र  
वचकत्वात्वात् नारत्तानुपरते ८४१

नाति कमणा शक्तिवसङ्करद्वारा तत्र कम  
क्षयकारि ८४१

(उत्तरपक्ष) रागान्तिवत्तो मक्ति इति तु  
स्वाकिक्रमे एव ८४२

वाचान्तरस्याम्येवाद्य वतिरेकेण भावनापि न  
सङ्गच्छते ८४२

शक्तिरस्य हि बन्धनीयवीरवाधिकरण्यमेव  
भोगरूपे ८४२

इष्टानुस धानन हि प्रणाद्यप्रवर्तितमपि  
भवत्येव च क अन्तुमाधाना स्वान्तर-म्य  
सन्धानो वा ? ८४२

साधनोऽन्तरम्यगम च एकत्वात्प्रायोऽस्या  
पन्नुपपत्ता ८४३

संस्काराणा निरन्तरनिवृत्तवत्ते हि साधन  
प्रमाणो व्यथ एव ८४३

तेन हि प्राक्तनस्य रागान्तिवत्स्य नाग क्रियते -  
भाविनो वाऽनुत्पत्ता तदुत्पादवत्कतर्वा  
क्षय, सतानस्योच्छेदोऽनुत्पत्तो वा निरा  
स्यचित्तसत्तदुत्पत्ता वा ? ८४३

अन्वयानन्वय सन तदुत्पादने सान्त्वञ्च उत्प  
द्यन्न जानान्तरम्यगमस्यापि ? ८४३

सहकारिणा हि भावस्योत्पत्ते प्रतिबन्ध  
नियते उत्पादकत्वस्य वा ? ८४३

अन्यचित्तान्तरम्य अयक्रियाकारित्वाभावे सत्त्वं  
सन्धानस्यावस्तुव स्थान ८४४

निरालम्बचिरासन्तरम्युत्पात्तपक्ष सा चिरासत्तति  
सकदा निरवया वा ? ८४४

वदमव आमान मोचदिव्यामि' इति दृढनर  
वत्वाध्यवसाय वच नरत्तम्यदशनम ? ८४५

हिनाहितनस्त्वशो हि आत्यतिकमुखसाधनमव  
उपभोगाशयमात्मीयश्चानिमयते न तात्  
त्विकमुखसाधनम ८४५

न हि आत्मनि साख्यात्पिनात्सन्धो भवति  
किन्तु उपभोगाशयत्वाव्यगुणज्ञानात् ८४५

व्रताविरोधी हि वायव्येण निजराहेतुत्वात्  
तत्र इत्यभिधीयते ८४७

क्षीणमाहान्वयसमय अयोग्यचरमसमये च स्व  
लानव परमशुक्लध्यानरूपतपसा बहतरकम  
प्रनयोऽभ्यपगम्यत एव ८४७

सुपुण्यादिषु ज्ञानमद्भानसिद्धि ८४७-४८

(बन्धनकारिणो पूर्वपक्ष) किञ्चित्त्वप्यपरि  
च्छिन्नप्रय हि सुपुण्य इत्यभिधीयते  
अनस्तत्र नास्ति पानसन्भावः ८४७

पानसन्भाव हि जाग्रत्सुषुप्त्यनस्थयाभंग  
भाव स्यात् ८४७

निष्पाननिर्भवो हि पानस्य नाग तिरोभावो  
वा स्थान ? ८४८

(उत्तरपक्ष) सुपुण्यवस्थाया स्वापान्तिव  
दनस्य नत्तुल्यमवेत्तम्य च गन्तव्यवान  
ज्ञानान्भ्युपगमे च सुखमहमस्वायम इत्युत्तर  
काल स्मरण न स्थान ८४८

मत्तमृच्छिताद्यवस्थायापि न किञ्चि म  
यानुभूतम' इति स्मरणसन्भावान्ति  
रिपानम् ८४८

न च सुपुण्यादिषु पानस्य इत्यमित्यभिनि निरूप

णामावादभाव, बालसुखेनापेकान्तात् ८४९  
 मुपुष्पावस्थाया ज्ञानमभावेऽपि अनभिभूतज्ञा  
 नवती जाग्रदवस्था अभिभूतज्ञानवती च  
 मुपुष्पावस्थति तयोर्भेद ८४९  
 पानस्य निद्रादिना अभिमवोऽपि बाह्याध्या  
 मिकायाविकाराविक्षुरूपणावस्थानियेव ८४९  
 मुपुष्पावस्थाया ज्ञानाभाव स एवात्मा  
 प्रतिपद्यते पादवस्थो वा ? ८४९  
 यदि स एव, किं तत एव ज्ञानात् तन्भावात्,  
 तदनुपपत्तमान्, जाग्रदवस्थायाभावि  
 पानान्तरादा ? ८४९  
 अनुपपत्तमतोऽपि तत्कारणाविवन अयकाल  
 भाविनो वा तन्भावप्रतिपत्ति ? ८५०  
 ननु द्विविध प्राणादि-वत्तयप्रभव प्राणादि  
 प्रभवश्च, चतयप्रभवो जाग्रदवस्थाया  
 प्राणादिप्रभवश्च मुपुष्पादिषु, इत्यप्यसत्,  
 मुपुष्पेतरावस्थयो प्राणादिविषयोपार्तीन ८५१  
 मुपुष्पाद्यो च प्रथम प्राणादि कुतो जायताम् ? ८५१  
 केरलिकृतनारायणविचार ८५०-८६५  
 (गार्हपत्यस्य चैतन्यस्यैव पूर्ववत् ) अवि  
 कृतकालस्यैव केरलिके नुक्ति ८५२  
 धृत्वादि विज्ञानस्यैव केरलिके ८५२  
 प्रमाणस्यैव केरलिके ८५२  
 प्रकृतोऽपि विज्ञानस्यैव केरलिके ८५२  
 केरलिके नुक्ति ? ८५२  
 पानाभावात्तन्मद्युना विज्ञानं तद्विज्ञानस्य ? ८५२  
 निमित्तमात्रेणैव मात्र ह्युक्तं च न जायते  
 पानात् वा स्यात् ? ८५२  
 प्रतिपत्तमात्रेणैव यत्नश्च न मोहश्च  
 भावात् ८५२  
 पानाभावात्तन्मद्युना विज्ञानं तद्विज्ञानस्य ? ८५२  
 भावात् ८५२  
 न च गान्धर्वस्य प्रपञ्चविचार  
 मुपुष्पावस्थायात्पुष्पावस्था विहरत केवलिन  
 वार्तापत्ति न घटत ८५४  
 प्रपञ्चविचारस्यैव गणराय वय  
 मुपुष्पावस्थायात्पुष्पावस्था विहरत  
 प्रतिपत्तमात्रेणैव यत्नश्च न मोहश्च  
 भावात् ८५४  
 पानाभावात्तन्मद्युना विज्ञानं तद्विज्ञानस्य ? ८५४  
 भावात् ८५४

ज्ञानिनामपि बन्धि ८५५  
 नापि केवलिनो त्रिह्वाररुद्रान्ते नद्विज्ञानि-  
 त्वम्, जन्मधा नपरदेवदिव्यत् ८५५  
 दिव्यजुषुस्वादिभ्रमन्मानसि तन्मद्युना ८५५  
 केवलीदवचन्द्रानिधाने म्याने पदरद्वै-  
 रानोत्तमाहार सुदुर्दर्शनं ८५५  
 सवजाहारनिहारयो मनुष्यविरक्तनो-  
 चरत्वात् ८५५  
 (उत्तरपत्र) वयादिकर्मोदधान केवलिन  
 आहारमात्र प्रसाध्यते क्वलाहारो वा ? ८५५  
 पदविद्याहारमध्ये क्वलाहारामावर्षि कमनो-  
 कमनानलक्षण आहार स्वीक्रियत एव ८५६  
 न च क्वलाहारेणैव आहारित्व जीवानाम् ८५६  
 वेद्यादय क्वलाहारसाधक इति अभ्युपग  
 ममाशात् स्वीक्रियत, प्रमाणतो वा ? ८५७  
 प्रमाणमपि किं प्रत्यक्षम्, अनुमानम् आगमो  
 वा ? ८५७  
 प्रत्यक्षञ्चेत्, विमर्द्वयम्, अतीन्द्रिय वा ? ८५७  
 प्रनुमाने च किं बोधोदय एव लिङ्ग स्यात्  
 मनुष्यत्व वा दहृस्थितिव वा ? ८५७  
 हेतुस्थितित्वाच्च हेतो किमाहारमात्रपूर्वत्वं  
 प्रसाध्यते क्वलाहारपूर्वकं वा ? ८५७  
 केशादिविवदधमभावन केवलिन भूक्यमा-  
 वोऽपि अविरोद्ध ८५७  
 न च केशादिवदधमभावो दवोरेतीत ८५७  
 भूक्यमनुपामे च अतिपक्षमनिमेध नलकेय  
 वृद्ध्यादित्वाच्चम्युपान्त्य ८५७  
 लपोमाहाम्यात् चतुरास्यत्वादिवच्चास्य  
 समुक्तिपूर्वकत्वं को विद्वेप ? ८५७  
 जायु कर्मैव हि प्रधान शरीरस्थितेनिमित्त  
 मूत्रयादिकं तु सहायमात्रम् ८५५  
 भावाल शरीरस्थितमूक्यमावोऽप्यतीति कि  
 प्रत्यक्षाल घनमानादा ? ८५८  
 'अभुक्तिपूर्वको देहस्थितिकर्षणं क्वचित्पर  
 मवाप्यामापद्यत प्रहृष्यमापत्वात्' इत्यनु-  
 धानात्तत्त्विदि ८५८  
 अविचारणत्वञ्च भुक्तं अग्रिद्धम्,  
 मोहनीयामावात् ८५९  
 नास्ति नगवति दुभुगा ८५९  
 यदि क्वमास्य ८५९



तदा प्रमत्तात्पु त्रिवनेत्यान मधुना त्कि स्यात्	८५९	वस्थानाथम् रहस्यकार्यानुष्ठानाथ वा ?	८५४
नामानौना शुभप्रकृतौना केवलिनि स्वराय कारिना अप्रतिबद्धत्वान	८५०	अनिच्छन्न च वाय भोजनम कमक्षण वा ?	८५४
प्रतिबद्धममथमपि वन्नीय यत् किंबलिनि क्षममुत्पाद्यत तत्रा इच्छन्वात् त्रिप	८५१	कस्मान्नो एकात् भुक्त्वा-द्विष्टान्नापभवात्	८५४
समुद्धान्तिक्या यथा	८५२	याचकभयात् अनचिन्तानुष्ठानाद्वा ?	८५४
न हि बुभुक्षा मोहनीयानपे तस्य वन्नीयस्य वायम	८६०	कमणा क्षपणमपि पूर्वोपाजिताना भुक्तिवा	८५४
कमणापि प्रतिपन्नभावना नो निवन्ते इच्छा त्वान रिरमावत्	८६०	लोपाजिताना वा अहता तत्र विधीयते ?	८५४
न बुभुक्षावान केवली तत्रिराधिनिमोहस्व भावेपेतत्वान	८६०	पूर्वोपाजितानामपि घातिनामघातिना वा	८५४
पिच्छपणापन्नो पि केनस प्रतिपन्नभावना	८६०	क्षय क्रियते ?	८५४
मयचोत्पत् प्रागवस्थाधामव	८६०	भुक्तिकालोपाजिताना कमणा क्षयो यत्	८५४
सुखरूपत्वाच्च क्षयो न यन्तमुख केवलिनि सम्ब	८६०	प्रतिबन्धनतो विधीयते तत्रा क्व निर्णो	८५४
सुदुस्वविरोधिनः बलवतोऽन्तसुखस्य मन् भाव हि नाभ्युत्थिकारणापि क्षुन् केव लिनि ममाव्या	८६१	पता केवलिनि स्यात् ?	८५४
सबलत्वाच्च भगवन् शुभभाव	८६१	भोजनकुर्वाण केवली गणधरदेवरपि न	८५४
पवात्प्रजित' ल्यागमोपि क्षयाद्यकान्ता	८६१	दुस्वप्न इत्यत्र कि तन्प्रशान्तकारणम	८५४
परीपहृष्टनिवधपर प्रतिपत्तय ०क्त्वा धयिका न दद्य इति व्यत्यक्त	८६२	बहल्लभम पटलाच्छान्तिव्यम, क्षण्डपटा	८५४
वचनानीना तीथकरत्वंकर्मोपापादितत्वान शायरूपत्वासमवाच्च	८६२	द्यावत्तत्रम विद्याविक्षणस्यस्य निरा	८५४
नहि अष्टान्तात्पेयु क्षयादिन वचनान्त्रिपि पठयत	८६२	धानम जयजनातिपाथी माहात्म्यवि	८५४
प्रथमिशादिना ज्ञानस्य सोपयोगतया उपयोग काले एव अन्तरायसभावना केवल पानस्य तु सन्तोषरत्वात् सवन्तात् राय स्यात्	८६३	शयो वा ?	८६१
विमदश्चामी भुक्त्वा-गरीरोपचयाधम ज्ञानान्नबोयोत्थितयनिवृत्त्ययम् अन् नाप्रतीकारायम चाद्युयोऽभाषितभुक्ति कस्यापवन्तनिवृत्त्ययम् रस्युदुपुपया मायम तेकानुग्रहाथ वा ?	८६३	स्त्रीमुक्तिमाद्	८६५
गमकारण विद्या केवली विमय दवच्छन्व गन्तनि-मनोविभक्तपरिहारेण ध्यानमि द्वयदन निरोधानमन्वतो यथामुखम	८६३	(शाकटायनस्य सितपदानाञ्च पूर्वपक्ष )	८६५
		अविश्वकारणात्वात्स्ति द्वयस्त्रीणा	८६५
		निर्वाणम	८६५
		स्त्रीत्वसन्भाव च रत्नयस्याभाव प्रत्यगत	८६६
		अनुमानान् प्रागमाद्वा प्रतीयते ?	८६६
		सत्यमपयिवागमनाभावात् इति हेतोरपि न	८६६
		स्त्रीणा निर्वाणाभाव, तन्मगनाभावस्य	८६६
		निर्वाणानावन दाप्यभावात्	८६६
		न हि सप्तमपथिबीगमन निर्वाणस्य कारण	८६६
		व्यापक वा ?	८६६
		चरमन्त्र यमिचरि च	८६७
		विपमगतयोप्यथस्थान उपरिष्टासुख्यमासह	८६७
		श्वार गच्छन्ति तद्विपमगत्युमतात्तु	८६७
		नापि वात्पित्तव्यगत्वात् स्त्रीणा मोषाभाव	८६७
		स्त्राणा वस्त्रलक्षणपरिग्रहमन्त्रावोपि न	८६८
		निर्वाणाभावप्रमाथक नहि वस्त्रान्ति	८६८
		परिग्रह धमसाधनवात्	८६८
		ममत्वभव हि परिग्रह	८६८
		प्रमाणे हि हिंसा ननु जन्तुत्वत्तिस्थानवस्थ	८६८
		परिधारणमात्रम्	८६८
		गणधरात्पोरपि तीथकरान्तिभिरवच्छा अन्	८६८

पुरुषपरवच्चत्वादिपि न स्त्रीणा मोक्षाभाव  
प्रतिपाद्यितुं शक्य ८६९  
नापि हीनसत्त्वा श्रिय  
सत्त्व त्ति तप शीलसाधारणम् तच्च स्त्रीषु  
विद्यत एव ८६९  
'अद्वैतसमयसमये इत्यागमोऽपि स्त्रीनिवाण  
प्रमाणम् ८७०  
यथा स्नावेदेन पुसा सिद्धि तथा स्त्रीणामपि  
स्यात् ८७०  
न च सिद्धयतो वेद सम्भवति ८७०  
( उत्तरपक्ष ) रत्नत्रय हि परमप्रकृत्प्राप्त  
मत् मुक्तिकारण तन्मात्र वा ? ८७०  
नास्ति निर्वाणकारणरत्नत्रयप्रकृत्प स्त्रीषु  
परमप्रकृत्पत्वात् सप्तमपृथिवीकारणापु  
ष्यपरमप्रकृत्पत्वन ८७०  
अविनाभाववशाद्धि मत्तमपृथिवीगमनामानात्  
हेतो निवाणामाव प्रसाध्यत ८७०  
चरमगरीरिणामपि भरतादीना दिग्बिजयया  
श्याया सप्तमपृथिवीगमनयोग्यासुभवर्मा  
जनम, देवाचनसमय च सवाधसिद्धि  
गमनकारणशुभकर्मजन भवति ८७०  
यस्य उपरिष्ठात् प्रहृष्टानुभगतिप्रसाधन  
सामर्थ्यं तस्य अधस्तात् प्रहृष्टानुभगति  
प्रसाधनोऽपि, न च स्त्रीणा प्रहृष्टाशाभ  
गतिसमूपाजनसामर्थ्यमभ्युपेयते अत  
उत्हृष्टशुभोपाजनसामर्थ्यमपि नास्ति ८७२  
यथा स्त्रीषु लौकिकवागादिलिङ्गहेतु समयमापि  
नास्ति तदा मात्तरेतुस्त्री कथं भविष्यतीति ? ८७२  
आगमे समयविशेषनिषेधादेव मोक्षाभाव  
उच्यत एव ८७२  
स्त्रीणामाचेल्लक्ष्यसमयनिषेध आगमे कृत एव  
प्रतिफलन हि समयरभाव वस्त्र तु किमयम् ? ८७३  
'धर्मसाधनाता परिग्रहत्वं द्रव्यत्र कोऽय धर्म  
य वस्त्रात् स्यात्-पुण्यविधिप सधर्म  
विनोपो वा ? ८७३  
आगमविहितविधिना उपादीयमाना पिण्डीप  
ध्यात्य मात्तरेतुस्त्वत्तोर ८७३  
बुद्धिपूर्व हि पतितं वस्त्रमात्रप परिदधानस्य  
मूर्च्छारहितत्वानुपपत्त  
उपसर्गाद्यासक्त वस्त्र पतित बुद्धिपूर्व

सम्भवात् ८७४  
स्त्रीणा शीलपालनाथ वस्त्रमस्तु, नात्र विवाद,  
मोक्षे एव विवाद ८७४  
नहि सचेल गृहस्थशील मोक्षहेतु ८७४  
वस्त्रग्रहणे लोभकपापपङ्गितो अप्रमत्त  
त्वानुपपत्ते ८७४  
लज्जापतोदाय वस्त्रस्वीकार च कामपीडाप  
नयनाम कामुकादिस्वीकारोपि कृतव्य ८७४  
न हि वीतरागस्य लज्जापि सम्भवति ८७४  
यदि पुसामचेल समय स्त्रीणाञ्च सचेल  
मात्तरेतु स्यात्तदा वारणभेदात् मुक्तेरपि  
भेद स्यात् ८७५  
सचेलसमयस्य मुक्तिहेतुत्वे वस्त्रान्द्विवाग  
किमयमुपनिष्ट ? ८७५  
न वस्त्र मुक्तरङ्ग तत्यागस्य कृतव्यतयापदि  
श्यमानत्वात् ८७५  
स्त्रीणा न निर्वाणपदप्राप्ति यतिगृह्णैवव च  
पदानहत्वात् ८७५  
परापरभदन यतिव च पदं द्विविधम् ८७५  
गृहि देववन्द्यमपि वत् परापरभेदान् द्विविधम् ८७५  
प्रतिगृह्णैव प्रभुत्व पुरुषाणामव श्रूयते न  
स्त्रीणाम ८७५  
नत स्त्रीणा न मोक्ष पुरुषभ्यो हीत्वात् ८७६  
सारणसारणपरिचोत्तनादीनि स्त्रीणा पुरुषा  
कुवन्ति न तु पुरुषाणा स्त्रिय ८७६  
तीयकराकारधरा च पुरुषा एव ८७६  
नहि पुरुषवत् महासत्त्वा स्त्रिय ८७६  
स्त्रीवगपिषयव सीतादीना प्रहृष्टत्वमृत्त न तु  
पुरुषापेक्षयापि ८७६  
न स्त्रीशरीर रत्नत्रयपेक्षात्माश्रितम् महता  
पापन निवर्तितत्वात् ८७७  
न स्त्रीशरीर सवल्लभक्षणप्राप्तमस्तु मत्  
ता पापन मित्यावसहायनोऽस्ति ८७७  
यामाञ्च उत्हृष्टस्त्रियनिर्द्वन्द्वान्द्वि  
नास्ति तासा वय मात्तरेतुस्त्रिय ? ८७७  
'अद्वैतसमयसमये इत्यागमोऽपि स्त्रीनिवाण  
प्रमाणम् ८७७  
'पु वद वेन्ता व पुन्या इत्यादि इत्यादि  
पापानपद इत्यादि इत्यादि इत्यादि  
मुक्ति इत्यादि

न द्रव्यस्त्री भावत पुण्यो भूवा सिद्धयति, द्रव्यस्त्रीवेत्य मोक्षप्रसाधनतामर्थाऽ- भावान्	८७८	अथ मत्प्रशस्ति इति सप्तमं निक्षेपपरिच्छेद	८८०
अनं नास्ति द्रव्यस्त्रीणां मोक्ष	८७८	प्रशस्ति	८०१
७७-७८ कारिकयोः शान्त्राध्ययनस्य प्रयोजननिरूपणम्	८७८ ७९	सम्पादकप्रशस्ति	८०२





श्रीमद्भद्राकलङ्कदेवविरचितस्वचिद्वृत्तियुतलघीयस्त्रयस्य

अलङ्कारभूतः

श्रीपद्मनन्दिप्रभुशिष्य-श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यविरचितः

॥ न्यायकुमुदचन्द्रः ॥

( द्वितीयो विभाग' )

[ पाठान्तर-अपतरणनिर्देश-प्रेतिलुलनार्थवोधरूटिप्यणी-परिशिष्टाद्यशुभी राजित ]



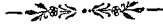
“श्रीमद्भद्राकलङ्कस्य फालु पुण्या सरस्वती ।

अनेकान्तमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया ॥”

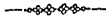
-शुभचन्द्र

श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यनिरचितः

# ॥ न्यायकुमुदचन्द्रः ॥



## [ द्वितीयो भागः ]



### प्रमाणप्रवेशे तृतीयः परोक्षपरिच्छेदः ।

प्रत्यक्ष प्रतिपाद्य लक्षणफलस्वार्थान्वित तत्त्वतः ,  
स्पष्टार्थप्रतिपत्तिद्वयमधुना व्याख्यायते तच्छ्रुतम् ।  
प्रामाण्य पुनरस्यै वैस्तु कुंमतध्वान्ताभिभूतेषुणै ,  
नेष्ट तैर्नेतुं विप्रकृष्टविषयज्ञानाय दत्त जलम् ॥१॥

अवेदानीं परोक्षस्वरूपप्ररूपणायाह-

ज्ञानमाद्यं मतिः सज्ञा चिन्ता चाऽऽभिनिबोधिरुम् ॥१०॥  
प्राङ् नामयोजनाच्छेपं श्रुत शब्दानुयोजनात् ।

नमता विद्यानन्दिनमैतिह्याद्यैर्निमूष्य सस्त्रियते ।

‘यायकुमुदचन्द्रोत्तरभाग सम्यङ् महेन्द्रेण ॥१॥

( १ ) अस्पष्टम् । ( २ ) श्रुतस्य । ( ३ ) निश्चयन । ( ४ ) अतीन्द्रियज्ञानाय । ( ५ ) अनया कारिकाया ‘मति स्मति सज्ञा चि ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्’ [ तत्त्वार्थसू० १।१३ ] इति सूत्राय समन्वति । तुलना-‘मनिस्मृत्यादय शब्दयोजनमन्तरेण न भवन्तीत्यवान्तो न यत्नमन्व सवीर्येण । तदकान्त पुनन क्वचित् स्यु तन्नामस्मतेरयोगात्, अनवस्थानादे ।’ -सिद्धिषि० पृ० १०० A । अनन्तवीथिविद्यानन्दाभयवाद्याचार्याभिप्रायण शब्दयोजनात् प्राक्कालभाविना मनिस्मृत्यादीना मतिपानेऽन्तर्भाव तदुत्तरकालभाविना तु तेषा ध्युतेऽन्तर्भाव इति । तथा च तथा ग्रथा-‘ननु मत्पादिकं’ सबमभिधानपुरस्सरमेव स्वाय प्रत्यति इति शब्दश्रुत एवान्तर्भावोऽस्य, तथा च तच्चिन्तने एवास्य चिन्ता भविष्यतीति पूर्वमिह चिन्तनमनर्थकमिति चेन्नाह-‘शब्दयोजनम् इत्यादि । मतिस्मृत्यादय शब्दयोजनमन्तरेण न भवन्ति किन्तु तदयोजने सति भवति इत्येवमेवान्तो न, यत् एव एवान्तात् तत्र अन्तर्भाव्यरन् इत्यथ । यत् इति वा आक्षेपे नव मकीर्येण । विपक्षे बाधनमाह-तदेकात् इत्यादि । स चासौ एवान्तश्च तस्मिन् अङ्गीक्रियमाणे पुन नक्वचित् बहिरन्तवा स्यु मतिस्मृत्यादय । श्रुत एत त्विन्नाह-तन्नाम इत्यादि । यस्य नाम्नो योजनात् मतिस्मृत्यादय तत् तन्नाम इत्युच्यते तस्य स्मृतेर-योगात् ।’-सिद्धिषि० टो० पृ० १०० A । ‘तप्रति श्रुतस्वरूपप्रतिपादकमकलकत्र यमनुवादपुरस्सरं

विवृति - अविस्वादस्मृते फलस्य हेतुत्वात् प्रमाण धारणा, स्मृतिः सज्ञायाः प्रत्ययमर्शस्य, सत्ता चिन्ताया तर्कस्य, चिन्ताऽभिनिबोधस्यानुमानादेः । प्रोक्तशब्दयोननात् शेष श्रुतज्ञानमनेकप्रभेदम् ।

यत् प्रथमकारिकाया शेषम् अत्रिदेः ज्ञानमित्युक्तम्, तत् क्रिमः § श्रुतम् अवि-

स्पष्टतर्कणम् § “श्रुतमविस्पष्टतर्कणम्” [ ] इत्यभिधानात् । किं

कारिकायाः अर्थम्-

यत् नामयोजनाज्ञायतेऽविशद ज्ञान तदेव श्रुतम्, उता-यदपि इत्याह-

प्राह नामयोजनात् । नाम अभिधानस्य यो ननात् पूर्वमुपजायते यदस्पष्ट ज्ञान

तच्छ्रुतम् नामयोजनाजनितादीऽस्पष्टज्ञानसाधर्म्यादित्यभिप्राय । ‘चिन्ता च’ इत्यत्र

चदाने भिन्नप्रथम ‘शब्दानुयोजनात्’ इत्यस्यानंतर द्रष्टव्य । तेन न केवल

नामयोजनात् पूर्वं यदस्पष्ट ज्ञानमुपजायते तदेव श्रुतं किन्तु ‘शब्दानुयोजनाच्च यदुप-

विचारमति-अत्र प्रथमते कश्चिच्छ्रुतं गणानुयोजनात् । तत्पूर्वनियमाद्युक्तं नायद्यद्विवाधान ॥ शब्दा

नुयोजनादेव श्रुतं हि मति कथ्यते । तथा श्रोत्रमतिज्ञानं न स्यात्ताद्यमतौ भवम् ॥ यद्यप्यश्वकस्तपा

श्रुतं साव्यवहारिकम् । स्त्रेष्टस्य बाधनं न स्यादिति न प्रतिपद्यते ॥ ‘न शो स्ति प्रत्ययो लोके यः

गणानुगमनात् । एतद्वान्त निराकृतं तथाचर्तं तादृहेति वा ॥ ज्ञानमात्रं स्मृति सज्ञा चिन्ता चाभिनि

वाधिरुम् । प्राग्नामसमूहं शेषं यत् शब्दानुयोजनात् ॥ अत्रानुक्तद्वेष्या प्राह - ज्ञानमात्रं स्मृति

तत्रद विचायने-मनिगानाद्याद्याभिनिबोधिकपयन्ताच्छ्रुतं शब्दानुयोजनादवत्वधरधारणम् श्रुतमेव

शब्दानुयोजनादिति वा ? यदि श्रुतमेव गणानुयोजनादिति पूर्वनियमं तथा न कश्चिद्विरोधः गण

समष्टानस्य अथतानान्तरव्यवच्छेदात् । अथ गदानुयोजनात् श्रुतमिति नियमं तथा श्रोत्रमति

पूर्वकमेव श्रुतं न चक्षुरिति पूर्वकमिति सिद्धात्तत्रिरोधः स्यात् । साव्यवहारिकं शाब्दानुयोजनात् श्रुतमि

त्यधमया तथापि न तु नष्टवाधास्ति चक्षुरिति पूर्वकस्यापि श्रुतस्य परमाधतौभ्युपगमात् स्वसमय

प्रतिपत् । अथवा न सोस्ति प्रत्ययो लोकं यः गणानुगमनात् । अनुविद्धमिवाभाति सव शब्दं प्रतिपि-

तम् ॥ इत्येकान्तर निराकृतं प्राग्नामयोजनात्त्वमित्येवं न तु तनामसमष्टमिति व्याख्यानमात्रं उक्तमनु

सत्तव्यम् । (१० २३१ ४०) गणानुयोजनात्त्वपा श्रुतमस्त्वन्वितिपत् । सभवाभावमवित्तिरर्थापत्तिस्त

थानुमा ॥ नामासमष्टरूपा हि मतिरपा प्रकाशिता । नात् कश्चिद्विरोधोऽस्ति स्वाह्लादागतभोगिनाम् ॥

-तत्त्वायलो० प० २४३ । अत्र च यत् शब्दानुयोजनात् प्राक् स्मृत्सादिकमविस्वादव्यवहारनिवृत्त

नक्षम प्रवृत्ते तस्मिन् शब्दानुयोजनात् प्रादुर्भूतं तु सव श्रुतमिति विभागः । -समति० टी० प०

५५३ । पृष्ठ० बृह० पृ० ८४ B ।

(१) तुलना- धारणास्वरूपा च मतिः जीविसवात्स्वरूपस्मृतिपत्रस्य हेतुत्वात् प्रमाणम् स्मृति

रपि तथाभूतप्रत्ययम् । स्वभावसज्ञाऽऽजनकत्वात् सजापि तथाभूतकस्वभावचिन्ताफलजनकत्वात्,

चिन्तापि अनुमानलक्षणाभिनिवाधकजनकत्वात् भोगिणं हानादिबुद्धिजनकत्वात् । -समति० टी०

प० ५५३ । पृष्ठ० बृह० प० ८४ B । (२) तुलना- प्राक् शाब्दयो

कप्रभं गणानुयोजनादुपजायमानमविज्ञानं श्रुतमिति केचित् -समति

प० ८४ B (३) उत्पत्तिमिदम्-सिद्धिबि० टी० पृ० १०१ B

उत्पत्तकणम् । -तत्त्वायलो० पृ० २३७। यापवि० वि० पृ० ५०४ B

जायते तदपि श्रुतम्' इति सगृहीतं भवति । किं तद् ? इत्याह—'सजा' इत्यादि । 'चिन्ता च' इत्ययं चंशब्द पुनर्भिन्नप्रक्रम 'मतिः' इत्यस्यानन्तरं स्मृतिसमुच्चयार्थो द्रष्टव्यः । तेन स्मृत्याद्यविशुद्धं ज्ञानं श्रुतमित्युक्तं भवति । इन्द्रियप्रभय मतिज्ञानं तु दशतो वैशङ्गसंभवात् साव्यवहारिकं प्रत्यक्षमित्युक्तम् । तस्य श्रुतस्य किं कारणम् ? इत्याह—ज्ञानमाद्यं कारणम् । विज्ञानं ? इत्याह—'मतिः' इति । नचागमविरोधः, 5 "मतिपूर्वं श्रुतम्" [ तत्वायसू० १:२० ] इत्यभिधानात् । 'पूर्वपूर्वप्रमाणत्वे फलं स्यादुत्तरोत्तरम्' [ लघो० का० ७ ] इत्यनेन अधिकांशकारिका कृत्वा व्याचष्टे— 'अविसंवादः' इत्यादिना । न विद्यते विसंवादो यस्यां सा चासौ स्मृतिश्च तस्यां । कथंभूताया ? फलस्य फलभूताया हेतुत्वात् प्रमाणधारणां संस्कारः ।

ननु स्मृतेः स्वरूपतो विषयतश्च विचार्यमाणाया अनुपपत्तेः कस्याऽविसंवादाः 10 स्मरणस्य अप्रामाण्यं प्राथ्येत, तथाहि—स्मृतिशब्दोऽन्यस्यार्थस्य स्वरूपज्ञाता, ज्ञानं वा ? एवमादिना बोद्धादीनां तत्राप्यपक्षोऽनुपपन्नः, पूर्वोत्तरज्ञानव्यतिरिक्तस्य ज्ञानो कस्यचिदप्य- पूर्वपक्ष- संभवात् । द्वितीयपक्षेऽपि ज्ञानमात्रम्, अनुभूताविषयं वा ज्ञानं तच्छब्दवाच्यं स्यात् ? प्रथमविकल्पे प्रत्यक्षादेरपि स्मृतिरूपताप्रसङ्गात् तद्व्यतिरिक्त- प्रत्यक्षादिप्रमाणभेदाच्चोच्छेदः स्यात् । द्वितीयविकल्पेऽपि देवदत्तानुभूतेऽर्थे यद्वा- 15 चप्रत्यक्षादिज्ञानस्य स्मृतिव्यतिरिक्तं । अथ येनैव यदेव पूर्वमनुभूतं वस्तु पुनः कालान्तरे तस्यैव तत्रैवोपजायमानं ज्ञानं स्मृतिरित्युच्यते, तदप्युक्तिमात्रम्, धारावाहिकप्रत्यक्षस्यापि स्मृतिव्यतिरिक्तत्वात्, उक्तप्रक्रियायास्तत्राप्यधिक्यत्वात् ।

किञ्च, 'अनुभूते' जायमानम्' इत्येतत् केन प्रतीयते—अनुभवेन, स्मृत्या, उभाभ्यां वा ? न तावदनुभवेन, तत्काले स्मृतेरेवासंभवात् । नचाऽसती विषयीकृतं 20 शक्या, अतिप्रसङ्गात् । यद् असत् तत् विषयीकृतं शक्यं यथा रजविषाणम्, असती च अनुभवकाले स्मृतिरिति । नचाऽविषयीकृता 'तत्रोपजायते' इति प्रत्येतुं शक्याऽतिप्रसङ्गेरेव । यद् यत्र येन न विषयीक्रियते न तस्य 'तत्रोपजायते' इति प्रतीतिर्युक्ता यथा सुप्तेनाऽविषयीकृते नीलसुप्तादिविषये जाग्रदवस्थाप्रत्यये, अनुभवेनाऽविषयीकृता च अतीतार्थे स्मृतिरिति । तत्र अनुभवात्तथाप्रतीतिः । नापि स्मृतेः, अनुभवाऽर्थयो- 25

(१) योग-प्राह-आ० टि० । (२) तुलना—'ननु कोऽयं स्मृतिशब्दोऽप्येव ज्ञानमात्रम्, अनुभूतार्थविषयं वा विज्ञानम् ?'—प्रमेयक० पृ० ३३६ । (३) स्मृतिशब्द-आ० टि० । (४) स्मृति-आ० टि० । (५) अनुभूतेऽर्थे-आ० टि० । (६) धारावाहिकप्रत्यक्ष-पि । (७) तुलना—'ननु अनुभूते जायमानमित्येतत् केन प्रतीयताम् ? न तावदनुभवेन, तत्काले स्मृतेरेवासंभवात्'—प्रमेयक० पृ० ३३६ । (८) प्रत्यक्षेण-आ० टि० । (९) तुलना—'अतीतानुभवाद्यर्थोपविषयीकरणे तथा प्रतीत्ययोगात्'—प्रमेयक० पृ० ३३६ ।

१ 'च' नास्ति आ०, थ० । २-पदज्ञानं आ०, थ० । ३-प्रभवमति-व० । ४-वाच्याय-व० । ५ तत्रो-व०, थ० ।



रिपयीनरणे 'अनुभूतेऽहमुत्पन्ना' इत्यनेया प्रत्येतुमशक्यत्वात् । यदि च अनुभूतता प्रत्यक्षगम्या स्यात् तदा स्मृतिरपि नानीयात् 'अनुभूतेऽहमुत्पन्ना' इति, अनुभवयानुमा रित्वात्तस्या । नरौसौ प्रत्यक्षगम्या, अनुभूयमानतामात्र एव ज्ञेय पर्ययमागात् । मत्र स्मृयापि तैत्प्रतीति । नाप्युभाभ्याम्, उभयपक्षयोः तदुपेणप्रमद्वात् । तत्र स्मृति स्वरूपतो विचार्यमाणाऽऽनिष्ठते ।

नापि विपयत, तस्या हि रिपय अर्थमात्रम्, अनुभूतनाविशिष्टो घाऽर्थः । न तत्रार्थमात्रम्, मन्त्रप्रमाणाना स्मृतित्वप्रमद्वात् । नाप्यनुभूतताविशिष्ट, द्वेषदृष्टा-नुभूतेऽर्थं यद्दत्तज्ञानस्य धारावादिप्रिज्ञानस्य च स्मृतित्वप्रमद्वापादनात् । अनुभूतार्थं विपयत्व चास्या प्रामाण्यन्न स्यात् अविशमानविपयत्वात् । यद्विशयमाविपय ७ तत् प्रमाणम् यथा मे कशापाज्ञानम्, अविशमानविपयश्च अनुभूतार्थविपयतयाऽभिप्रेत स्मरणज्ञानमिति । तैधाविधस्याप्यस्य प्रामाण्ये अतिप्रमद्ग ।

त्रिंश, अर्थक्रियार्थिनामर्थक्रियाममवाधप्रापर प्रमाण प्रमिद्धम् । ७ च स्मृतौ असदर्थविपयत्वेन एतत्समयति, अत एवमसौ प्रमाणमिति १

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तान्दुत्तमे—'ज्ञाता ज्ञान चा' इत्यादि, तदसमीचीनम्,

१. तत्रानिष्ठितनपुराणम् ज्ञानस्यैव स्मृतिज्ञादयान्यत्वप्रतिज्ञानात् । तत्रैव सर्वस्य ज्ञानस्य स्मृतित्वमनुपज्यते, स्मृतित्वस्य ज्ञानमात्रप्रयुक्त्याभावात् । ज्ञानविशेष प्रामाण्यं यवस्थापनम्— एव हि सस्कारविशेषप्रमत्र तदित्याकारोऽनुभूतार्थविपय स्मृतिरि त्युच्यते । स च इतरज्ञानेभ्य कारणस्वरूपविपयभेदाद् भिद्यते । तत्र कारणभेद—

(१) स्मृया । (२) अनुभूतना—आ० डि० । (३) प्रत्यक्षत्व । (४) अनुभूते जायमानम् इति प्रतीति । (५) स्मृतिप्रयोगाभ्याम् । (६) अविशमानविपयस्यापि स्मरणस्य । (७) तुलना— 'लोने च पूर्वमुपदर्शानमथ प्रापयन् सवान् उच्यते तद्ज्ञानमपि स्वयं प्रतीतमर्थं प्रापयत्संवाच्यमुच्यते । प्रतीते चार्थं प्रवक्तव्यमव प्रापयत्वात् । तथाहि— न ज्ञात जनयथ प्रापयति अपि स्वयं पुंस्य प्रवक्तव्यप्रापयत्यथम् । प्रवक्तव्यमपि प्रवृत्तिविपयप्रभावत्वमेव न हि पुंस्य हान प्रवर्तयितुं शक्नोति विज्ञानम् अर्थविधायिविश्रवाभिविद्यागमयोर्वापिनिमित्त ज्ञान मृच्यते । यच्च तमुच्यत तत्र तत्र तास्व विवायत । ततोऽप्यक्रियाममथवस्तुप्रतीकं सध्यज्ञानम् । —न्यायबिडुटी० पृ० ५-६ । (८) अक्रियाममथोपप्रापयत्वम् (९) पृ० ४०५ प० ११ । (१०) तुलना— आत्मन सदागविगापात् सस्काराच्च स्मरि । '—वर्गे० सू० ९।२।६ । 'अनुभूतविपया' सम्प्रमाय स्मृति । '—योगसू० १।११। सांख्यतत्त्वश्लो० प० १६ । 'विश्रान्तच्छानुस्मरणादोशात्तममनसो संयोगविशेषात् पञ्चम्यासात्प्रययजनिताच्च सस्कारात् दृष्टानुभूतत्वस्यैव चापानुभवमायच्छानुस्मरणद्वयतुल्यीतविपया स्मृतिरिति । —प्रभा० भा० पृ० २५६ । प्रत्यक्षवद्विद्विरोधे तन्नुसंधानविपय प्रत्यय स्मृति । —न्यायशा० पृ० ३६६ ५३१ । स्मृतिरपि इच्छावत् पूर्वज्ञानसदृशं विनाश पूर्वविज्ञानविपयं न स्मृतिरित्युच्यते । —भाष्यभा० पृ० ६५ । स्मृति पुन पूर्वविज्ञानसंस्कारमात्रज्ञानमुच्यते । —प्रकरण पं० पृ० ४२ । तत्ररह० पृ० २ । स्मृतिश्च संस्कारमात्रज्ञानमभिधीयते । —नास्त्रवी० पृ० १५३ । 'स्मरण स्मरि' —सर्वा

स्मृते पदुतरसस्फारकारणत्वात्, प्रत्यक्षादीनाश्च चक्षुरानिहेतुत्वात् । स्वरूपभेद -  
स्मृते तदित्युल्लेखितत्वात्, प्रत्यक्षानीनाश्च ईदमित्यागुल्लेखितत्वात् । विषयभेदोऽपि -  
स्मृते अनुभूतान्गोचरत्वात्, प्रत्यक्षादीनाश्च वर्त्तमानाद्यर्थविषयत्वात् ।

यदप्युक्तम्—'अनुभूते स्मृतिरित्येतन्नानुभवेन स्मृत्योभाभ्या वा प्रतीयते' इत्यादि,  
तदप्यनल्पतमोत्रिलसिन्धु, त्रिकालानुयायिना प्रमात्रा तत्प्रतीते कर्तुं शक्यत्वात् ।  
पूर्वात्तरमानव्यतिरिक्तो न कश्चित् प्रमाता, इत्यप्युक्तम्, तद्व्यतिरिक्तस्यास्य सन्तान-  
निषेधावसरे प्रपञ्चत प्रमाधितत्वात् । नैवेव प्रमातु प्रत्यनेन अर्थेऽनुभूयमानतानुभवे  
अनुभूतताऽनुभूतोऽपि स्यात् तैस्मद्भावाऽविशेषात्, तथाच गृहीतप्राहित्वात् स्मृतेर्न  
प्रामाण्यम्, इत्यप्यसत्, अतीतकालनिबन्धनतया अनुभूयमानताराले अनुभूतताया  
समराभावात्, प्रमावृत्तज्ञानमात्रस्य तत्प्रतिपत्तिं प्रत्यनद्गत्वाच्च । स्मृतिसहायो हि प्रमाता 10  
अर्थेऽनुभूतता प्रतिपद्यते, प्रत्यक्षसहायस्तु अनुभूयमानतामिति ।

अथ कारणस्वरूप-विषयभेदेन अध्यक्षादिभ्यः स्मृतेर्भेदसभवेऽपि अप्रामाण्ये  
कारण वक्तव्यम्—तत्र गृहीतप्राहित्वात्, परिच्छिन्नविशेषोभावात्, अस्त्यतीतार्थे प्रवर्त्त-

पत्ति० १।१३। "तरेर्वाद्रियम परिच्छिन्ना विषयो रूपादिस्तं यत कालानरेण विनष्टमपि स्मरति तत्  
स्मृतिमानम् । अतीतवन्त्वाल्मज्जनमेककृतकं अतयपरिणतस्वभाव मनानानमिति यावत् ।"—तत्राथ  
भाष्यव्या० १।१३। "संस्कारोद्दीपनिबधना तत्तियाकारा स्मृतिरिति" -परीभाम् ० ३।३ । प्रमाणमी०  
१।२।३। "तदित्याकाराऽनुभूताथविषया स्मृति" -प्रमाणप० पृ० ६९। "स्मृतिश्च विनवल्पाया ।"—जन  
तत्रवा० ४०५० ९९। "तत्र सम्कारप्रबोधसम्भूतमनुभूताथविषयं तत्तियाकारं संवेदनं स्मरणम् ।"—प्रमा  
णप० ३।१। ४४६० बृह० पृ० ८४ B । "अनुभवमात्रजय पात स्मरणम् ।"—जनतत्रभा० पृ० ८ ।

(१) तुलना- 'प्रतिधाननिबधाम्मासात् गलक्षणसात्त्वमपरिग्रहाश्रयाश्रितसम्बधानन्तविषयां  
कथाविरोधातिगयप्रानिव्यवधानमुत्तदु खेच्छादपमयाधिरत्रियारागधमधिमत्तिमित्तभ्य ।"—भाष्यपृ०  
३।२।४३ । (२) पृ० ४०५ प० १९ । (३) पूर्वोत्तरानुभूतिरिक्तस्य प्रमातु । (४) पृ० ९-।  
(५) तुलना- 'न च प्रयथेषानुभूयमानतानुभव' -प्रमेयक० पृ० ३३६ । (६) प्रमातसदनाव ।  
(७) अनुभूतजाप्रतिपत्तिम् । (८) तुलना- "अमुष्याप्रामाण्यं तुलाज्यमाविष्कृतं-त्रि गृहीतार्थप्रा-  
हित्वात्, परिच्छिन्नविशेषोभावात्, अस्त्यतीतार्थे प्रवर्तमानत्वात्, अर्थादिनुष्यमानत्वात्, विमवा-  
दकत्वात् । समारोधाध्यवच्छेदकत्वात्, प्रयोजनप्रसाधकत्वात्" -स्या० २० पृ० ४८६ । (९) "पार-  
तभ्याम्बनो नया प्रमाणत्वात्पारणा । अप्रामाण्यविकल्पान्मुद्रदिम्बव विहृयते ॥ पूर्वविज्ञानविषय  
विज्ञानं स्मृतिरुच्यते । पूर्वज्ञानादिना तरया प्रामाण्यं नावधारय ॥" -तत्रवा० १।३।१। "तत्र ध्युव-  
धिज्ञानं तस्य प्रामाण्यमिच्छत । तदुपस्थापनमात्रम स्मृत स्याच्चरितायता ॥" -मी० ग्लो० पृ०  
३९६ । "प्रतिने च प्रजनन्याम्मुत्तानि प्रमाणा । -मी० ग्लो० गव्यपरि० श्लो० १०४ । गृहीत  
प्रमाणान्दृष्टं तावत् " -प्रमाणवा० १।२। "यद् गृहीतप्राहि न तत्प्रमाणं यथा स्मृति ।"-तत्रवस०  
४० प० ३८८ । 'त प्रमाणं स्मृति पूर्वप्रतिपत्तिम्याभ्याम् । मनसि हि तत्तुलनायमाना प्राची

१ इतिरिक्त-४० । २ प्रमात्रा ४० । ३-भवन्नुभवोपि ४० । ४ गृहीतप्रा-४० ।

५-स्मृतिरिति ४० ।

मानस्य, अर्थानुत्पद्यमानस्य, विसवादकत्वम्, समारोपाव्यवच्छेदकत्वम्, प्रयोनार्थ-  
प्रसाधनत्वात् वा स्यात् २ प्रथमपक्षे कस्य गृहीतस्यार्थस्य स्मृत्या ग्रहणम्—ज्ञानस्य, ज्ञेयस्य,  
ज्ञानविशिष्टस्य ज्ञेयस्य, तद्विशिष्टस्य वा ज्ञानस्य २ न तावज्ज्ञानस्य, तद्व्यतिरिक्तज्ञेयस्य  
स्मृतौ प्रतिभासनात् । अथ ज्ञेयस्य, अस्तु नामैतत्, तथापि अधिगतार्थाधिगममात्रेण  
५ स्मृतेर्नाऽप्रामाण्यम्, अनुमानेनाधिगतेऽग्नौ तदुत्तरकालभाविनोऽध्यक्षस्याप्यप्रामाण्य-  
प्रसङ्गात्, प्रत्यभिज्ञानाऽनुमानयोरपि केनचिदज्ञेन अधिगतार्थाधिगमसभवेन अप्रामा-  
ण्यप्रसङ्गाच्च । अथ अधिगताधाधिगमेऽर्थात् अपूरस्याप्यवाशस्याऽधिगमसभवात् प्रामा-  
ण्यम्, कथमेव स्मृतेरप्रामाण्यं तत्रापि हि वत्तमानशालान्च्छेदेनाऽधिगतस्यार्थस्य अतीत-  
कालावच्छेदेनाऽविगतेरपूर्वाधासाधिगमोपपत्तेः ? प्रयोग स्मृति प्रमाणम्, प्रमाणान्तरप्रति

प्रतीतिमनश्चयमाना न स्वान् व्यग्राथ परिच्छिनत्ताति न प्रमाणम् । —प्रकरणं० प० ४२ ।  
तत्ररह० प० २ । “न च स्मृति प्रमा, लोकाधीनावधारणा हि गल्पासम्बन्ध । लोकश्च सत्त्वार  
मात्रजन स्मरयामुपार्थमवाच्यविचारिणा प्रामाण्यत् ।” —न्यायवा० ता० प० २१ । “याप  
कुमु० ४१ । “अथ एव न प्रमाण तस्या पूर्वानुभवविषयत्वोपगमनाय निश्चित्या अथपरिच्छे  
पूर्वानुभवपारतन्त्र्यात् ।” —प्र० क० प० २५७ । (१०) ‘एतदुक्तं भवति—सर्वे प्रमाणादवाज  
विगतमथ सामान्यं प्रकारतो वाऽधिगमयन्ति, स्मृति पुन पूर्वानुभवमर्थानामतिश्रामति तद्विषया वा  
तद्वनविषया वा नत तदधिकविषया ।’ —यागमु० तत्त्वव० ११११ ।

(१) जननकैवल्यकारा हि अयाविनाभावाभावात्स्मरणस्याप्रामाण्यं स्वीकुर्वन्ति, तथाहि—  
एव अयं वातिनकार—अर्थाविनाभाविन एव नानस्य प्रामाण्यमुचितं न स्मृतं अथमन्तरेणापि तस्या  
भावात् । प्रत्यक्षान्तरात्प्रतिभारनिमित्ताभिज्ञानात् कस्यचिद् व्यभिचारेऽपि न दोषः, नत्वर्त्तं स्मृते  
रव्यभिचारनिमित्तमस्ति । अनुस्मृत्यन्तु पूर्वप्रत्यक्षकृतवान् पृथक् प्रामाण्यम् । —जननकवा० प० पृ०  
९९ । (२) नार्थान् भावराजभावात् —प्रमाणवा० २।३७५ । अनुभववदुत्पद्यमाना स्मृतिरथमन्तरेण  
भवन्ती कथं नीलादाकारा —प्रमाणवातिहा० मनोरथ० २।३७५ । “अथाप्यत्र कथमेव स्मृतं कस्मा  
नप्यत् ? अथविनागप्युत्पत्तात् । न च यद्वाक्यालिङ्गितञ्जुमवगानमुत्पन्नं तत्तलम्बनमेव याप्यम् ।  
स्मृतिहात् तस्याविद्यमानतया विषयत्वाभावात् । बाह्यद्विधाणा च स्मृतिजनितं प्रत्येवं व्यभिचारा  
दन्त करणस्य व्यापारा निश्चयतः । न च तस्य स्वान् व्यग्रा वहीविषय व्यापार सम्भवतीत्यनयजत्वमव  
याप्यम् तस्मान्निविषयत्वमेव ।’ —प्र० व्यो० पृ० ६२१ । न स्मरत्प्रमाणत्वं गृहीतग्राहितावृत्तम् ।  
अपि त्वनयत्र यत्तत्प्रामाण्यकारणम् ॥ ननु कथमनयजा स्मृति ३ तत्कारणस्य वस्तुनस्तन्मीमसत्वात् ।’  
—न्यायव० पृ० २३ । (३) कस्मात् स्मरणज्ञानमप्रामाण्यमिति चत ? रज्जुसर्पाभिज्ञानवत् भ्रान्तत्वा  
मिति ह्यम् । —न्यायसारटी० पृ० ६८ । (४) तुलना— गृहीतग्रहणात्तत्र न स्मृतदत्तप्रमाणता । धारा  
वाह्यक्षयिनास्यैव लभ्यत केन सा ॥ विशिष्टस्योपयोगस्याभाव सापि वेचना । तन्भावे स्मरण-  
प्यभानव मानास्तु नः ॥ स्मृत्या स्वाथ परिच्छिद्य प्रवृत्ती न च वाध्यते । यत् प्रेक्षावत् तस्या प्रवृत्ति  
विनिवार्यत ॥ —तत्त्वाचरलो० पृ० १८९ । (५) नयविगिप्तस्य—आ० टि० । (६) नानव्यतिरिक्तः ।  
(७) तुलना— अनुमानेनाधिगतं बह्वौ तदुत्तरकालभाविन प्रत्यक्षस्याप्यप्रामाण्यप्रसङ्गात् । —स्या०  
२० पृ० ४८६ । प्रमेयक० प० ३३७ । (८) प्रत्यभिज्ञानानुमानयो । (९) प्रयथादि ।

१ अर्थाद्यन्त-व० । २-नासाय-व० । ३-रिक्तस्य ज्ञेयस्य थ० । ४-धिगमप्रभवेन आ० थ० ।  
५-न्यायवृत्तञ्च व । ६ अथ अर्थाधिगमे-आ० थ० । ७-पूर्वाधाधि-व ।





कालान्तराया प्रतिपन्नान्निधूममन्वन्धस्य पुनर्दृष्ट्यावस्थाया विस्मृततत्सम्बन्धस्यापि धूमदर्शनादग्निप्रतिपत्तिप्रसङ्ग । तृतीयपक्षे तु कथं स्मृते प्रामाण्यप्रतिषेध अनुमानप्रवृत्तोरङ्गत्वात् ? यदनुमानप्रवृत्तोरङ्ग तत्प्रमाणं यथा प्रत्यक्षम्, तथा च स्मरणम्, तस्मात् प्रमाणमिति । तदेव स्मृते कारणस्वरूपविषयभेदात् प्रत्यक्षादिभ्यो भेदप्रसिद्धे, रजिपयेऽविमनादप्रसिद्धेश्च सूक्तम् — 'अविज्ञादास्मृतेः फलस्य हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा' इति ।

तथा स्मृति प्रमाणम् अविमवात्सज्ञाया हेतुत्वात् । अस्या पर्यायमाह—प्रत्यवमर्शस्य 'स एवायम्, तेन सदृशोऽयम्' इति वा एकत्प्रसादश्याभ्या पदार्थानां सङ्कलनं प्रत्यवमर्शं । ननु प्रमाणप्ररूपणावसरे प्रत्यभिज्ञाया प्ररूपणमयुक्तम्, विरुद्धैवर्माध्यासात् कारणाभावाच्च अस्या स्वरूपस्यैवाऽसम्भवात्, त्रिपयाभावत् प्रामाण्यानुपपत्तेश्च । तथाहि—पूर्वं ज्ञातस्य पुन कालान्तरे 'स एवायम्' इत्यादिज्ञान प्रत्यभिज्ञा । न चास्या एकत्प्र युक्तम्, विरुद्धधर्माध्यासात्, यत्र विरुद्धधर्माध्यास न तत्रन्यम् यथा जलानलादौ, विरुद्धधर्माध्यासश्च प्रत्यभिज्ञायामिति । न चायमसिद्ध, स्पष्टैतररूपाक्रान्ततया

विरुद्धधर्माध्यासात्  
कारणान्तराद्विषय-  
भावश्च नास्ति प्रत्य-  
भिज्ञानस्य प्रामाण्यमीमति  
बौद्धस्य पूर्वपक्ष -

6  
10

(१) अग्निधूमसम्बन्ध । (२) तुलना—'वी हि स्मृतिपूर्वकमनुमानमभ्युपगम्य पुनस्तान्

निराकुर्यात् अनुमानस्यापि निराकरणानुपपत्तात् ।"—प्रमेयक० पृ० ३३८ । स्या० १० प० ४८८ । प्रमेयर० पृ० ३२ । प्रमाणमी० पृ० ३४ । स्या० मं० पृ० २०८ । रत्नाकरा० ३।४। (३) तुलना—'पूर्वमासापि मय तमिम जावामीति पानयो समानश्रौं प्रतिसाधिज्ञान प्रत्यभिज्ञानम् ।'—न्यायभा० ३।२।२। "प्रत्यभिज्ञानं हि नाम आद्यप्रत्यक्षनिरोध द्वितीयदशान प्रागाहितसस्काराभिव्यक्तौ स्मृतिपूर्व तृतीयं दशनम् ।"—न्यायवा० प० ४०० । 'प्रत्यभिज्ञा नाम स्मयमाणानुभूयमानतामानाधि कण्यग्राहिणी सस्कारतत्त्विवेद्रियजया प्रतीतिरिति कंचित । अये मयन्त स्मयमाणपूर्वज्ञान विनापिताद्यग्राहिवान् तद्विशयणस्य चायस्य बाह्येद्रियग्राह्यत्वानुपपत्ते स्तम्भादावपि मानसो प्रत्यभिज्ञानि ।'—न्यायम० पृ० २२४। एत मतद्वयमभिमत मञ्जरीकारस्य, दृष्टव्यम्—न्यायम० पृ० ४६१। "प्रत्यभिज्ञा प्रति आमिमूल्येन ज्ञानम् । लोके हि स एवायं चत्र इति प्रतिसाधनेनाभिमूर्खीभूते वस्तुनि ज्ञान प्रत्यभिज्ञति व्यथिद्वयते ।"—सूत्रद० प० १९३ । 'सन्तानं सज्ञा'—सर्वाधिसि० १।१३ 'सज्ञाज्ञान नाम यत्तत्त्वेद्रियरनुभूतमथ प्राक् पुनर्विलोक्य स एवायं यमहमद्राक्ष पूर्वाह्ण इति सज्ञाज्ञानमतत ।'—तत्त्वार्थभा० व्या० १।१३। 'दशनस्मरणकारणकं सङ्कलन प्रत्यभिज्ञानम् । तदेवैदं तत्सदृश तद्विलक्षण तत्प्रतियोगीत्यादि ।'—परीप्ता० ३।५। प्रमाणप० प० ६९। प्रमाणमी० १।२।४। 'अनुभवस्मृतिहेतुक तियगूर्ध्वतासामायादिगोचरं सङ्कलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् ।'—प्रमाणनय० ३।३। जनतर्कभा० पृ० ९। (४) बौद्ध प्राह—आ० टि० । (५) 'स एवायमिति प्रत्यय उत्पद्यमानो न कर्त्ते प्रमाणम् एकत्वस्याग्रहणात् दृष्टस्यत्र तस्य प्रतिपत्त । एकत्व हि पूर्वेण सह गह्यमाणमकता विज्ञादविषयता स्वीकरोति । वर्तमानतामात्रस्यकत्वे सिद्धसाधनमेव । तच्च पूर्व पूर्वप्रत्ययेन गृहीतत्वात्प्रापरम् । पूर्वप्रत्ययन चामो नृत्पदवस्य ष्व पूर्वतया च गृह्यते । तत् पुनरनुसंधीयमान यथाभूतं गृहीत तथाभूतमेव वाऽनुसंधा तथ्यम् । गृहीतत्वेन च ग्रहणे स्मरणमेतदिति गृहीतग्राहित्वात्प्रमाणमपरस्मरणकत । संवास्तव्य त्रियावकरणत् । न चकत्वसाध्याधिया वस्तुसाम्यमात्रादुत्पत्ते । तस्मात् स एवायम् इति

1 यज्ञज्ञानमनुमान-व० । 2-पर्ये वाऽधिस-व० । 3-वादात्प्रा श्र० । 4 पूर्वज्ञानस्य श्र० । 5-भिज्ञानं नञा-व० ।

तत्रैतज्जमिद्धे । तथाहि—‘स’ इत्याकार स्मरणरूपतया प्रत्यभिज्ञायामस्पष्ट, ‘अयम्’ इति चाध्यश्वरूपत्वात् स्पष्ट । न चार्त्रे स्पष्टैतरलक्षणविरुद्धधर्माध्यासेप्यभेदो युक्त, प्रत्यक्षानुमानयोरभेदप्रसक्ते ।

किञ्च, ‘स एवायम्’ इत्याकारद्वयं किं तत्र परस्परानुप्रवेशेन प्रतिभासते, अननु-  
 5 प्रवेशेन वा ? प्रथमपक्षे अन्येतराकारस्यैव प्रतिभाम म्यात्, द्वितीयाकारस्य ततोऽविवि-  
 च्छम्बरूपत्वात्, यद् यतोऽविविच्छस्वरूप न तत्ततो भेदं प्रतिभासते यथा तस्यैव स्वरूपम्,  
 एकस्मादाकारादविविच्छस्वरूपञ्च द्वितीयाकारस्वरूपमिति । द्वितीयपक्षे तु परस्परविभिन्न  
 प्रतिभासद्वयपसङ्ग, अयो याननुप्रवेशेन आकारद्वयस्थानस्थानात्, ययो अन्यो याननु-  
 प्रवेशेन अवस्थान तयो परस्परविभिन्नप्रतिभास यथा रूपरसयो, अयो याननुप्रवेशेना-  
 10 ऽवस्थानञ्च ‘स एवायम्’ इत्याकारद्वयस्य इति । न च ‘प्रतिभासद्वयमेकाधिकरणमेतत्’  
 इत्यभिवाच्यम्, परोक्षपरोक्षानारयो प्रतिभासयोरैकाधिकरणत्वानुपपत्ते, अथवा सर्व-  
 सविद्वामेकाधिकरणत्वप्रसक्ते पुरुषाद्वैतसिद्धि स्यात् । ततो विरुद्धधर्माध्यासान्नैकमिदं  
 ज्ञानमभ्युपगतव्यम् । अत कथं प्रत्यभिज्ञानसम्भवः ?

कारणाभावाच्च, तथाहि—तत्कारणम् इन्द्रियम्, पूर्वानुभवजनित मस्फार, तदुभय  
 15 वा ? न तावदिन्द्रियम्, तस्य वर्तमानार्थानुभासजनकत्वात् । नापि स्फार, तस्य स्मरण-  
 कारणत्वात् । नाप्युभयम्, उभयदोषानुपपन्नात् । न च कारणात्तरमुपलभ्यते । तन्न प्रत्य-  
 भिज्ञानसम्भव ।

प्रत्ययद्वयमतत ।—प्रमाणवातिकाल० पृ० ५१ । ‘स’ इत्यनन पूर्वकालसम्बन्धी स्वभावो विषयीक्रियत ।  
 अयमित्यनन च वर्तमानकालसम्बन्धी । अनयोश्च भेदो न कथञ्चिन्नभवात् वर्तमानकालभाविष्वरूपस्य  
 भावत्वाद्भवति । तस्मान्न भव एव प्रत्यभिज्ञानं सति भासते इति कथमनन क्षणिकत्वानुमानवाद्या ।  
 यदा वस्तुन पूर्वकालसम्बन्धित्वमिदानीमसत्त्वं पूर्वकालभावात् । सत्त्वे चास्य वर्तमानकालसम्बन्धित्व  
 मव स्यात् पूर्वकालसम्बन्धित्वं विरोधादित्युक्तम् । तस्मात्पूर्वकालसम्बन्धित्वस्यासतो ग्राहकं स इति  
 ज्ञानागो भान्त अथवा वस्तुन स्पष्टवालाद्यवस्थाग्राहकं स्यात् न च भवति । तस्मान्न भासात्  
 पूर्वदृष्टरूपारोपणं स एवायम् इति जानात कथमनुमानवाद्या ? विस्तरतस्तत्रैव प्रत्यभिज्ञानस्य  
 विचारो नरात्म्यमिदो वृत्त इति तत्रवाच्यम् ।—प्रमाणवा० स्वव० टी० पृ० ७८ । ‘तथाहि—घट  
 स एवायमिति तावत्प्रत्यभिज्ञा जायते । सा किं स्मृत्यनुभवरूपं ज्ञानद्वयम् एकमेव वा विज्ञानार्थं स्मृतिरस्यै  
 चानुभव, अत स्मृतिरेव आहारिवानुभव एव ?—खडनखड० पृ० १५६ । (६) प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययो  
 भान्त एव निविपयत्वान् । प्रयोगवचनं य प्रत्यभिज्ञाप्रत्यय स तत्त्वतो नकालम्बनं यथा लूनपुनजात  
 तृणान्पि प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययवचनं तन्वेत् नीलानीति प्रत्यय इति विरुद्धव्याप्नोपलक्षि ।—तत्त्वभा०  
 भो० पृ० २९ ।

(१) प्रत्यभिज्ञायाम् । (२) विरुद्धधर्माध्यासप्रसिद्ध । (३) प्रत्यभिज्ञायाम् । (४) प्रत्यभिज्ञा  
 याम् । (५) स इत्याकारस्य अयम् इत्याकारस्य वा । (६) किन्तु पाल्पयमन्तु—स इत्याकारस्य  
 स्मरणरूपत्वान् इत्यस्य स प्रत्यभासवत्त्वादिति भावः ।

1-सिद्ध स इत्या-आ० थ० । 2-तरविलक्षण-थ० । 3-यथा स्थानुपुहययो व, थ० ।  
 4-शमितीन्द्र-थ० । 5-ज्ञानसत्त्वम् थ० ।





अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—'विन्दधर्माध्यासत' इत्यादि । तत्र किं धर्माणां प्रतिविधानपुरस्कारधर्मिणा सह विरोध, परस्पर वा ? न तावत् धर्मिणा, तत्रैवैषां प्रती-  
 तप्रतिविधानपुरस्कारधर्मिणा सह विरोध, परस्पर वा ? न तावत् धर्मिणा, तत्रैवैषां प्रती-  
 प्रत्यभिज्ञानस्य प्रथम्यमानत्वात्, यद्यत्र प्रतीयते न तत्र तत्र विरुद्धम् यथा चित्रज्ञाने नीला-  
 प्रामाण्यप्रसङ्गपनम्—धाकारा, प्रतीयते च प्रत्यभिज्ञाने 'स एवायम्' इत्याकारद्वयम्, तस्मान्न  
 ५ तत्र विरुद्धमिति । यत् पुनर्यत्र विरुद्धं न तत्र कदाचिदप्युल्लभ्यते, यथा तुरङ्गमोक्षमाज्ञे  
 शृङ्गम्, उपलभ्यते च प्रत्यभिज्ञाने प्रागुक्तमाकारद्वयमिति । तत्र धर्मिणा सह धर्माणां  
 विरोधो युक्तः । परस्परविरोधे तु धर्मिणः किमायात् येनास्य विन्दधर्माध्यासाद् भेद  
 प्रार्थ्यतः ? धर्माणां हि परस्परविरोधोऽस्ति निरुपलभ्यते तेषामेव अन्योन्य भेदो युक्तः ।

किञ्च, विरुद्धधर्माध्यासत कारणभूताभ्यां दर्शनस्मरणकाराभ्यां प्रत्यभिज्ञानस्य  
 १० भेद साधयेत्, स्वभावाभूताभ्यां वा ? तत्राप्यपक्षे सिद्धसाधनम् । न खलु 'कारणस्वरूपमेव  
 मर्कथा कार्यस्वरूपम्' इति स्याद्वाचिनो मयन्ते । द्वितीयपक्षेऽपि कथञ्चित्त्वेदं साध्येत,  
 मर्कथा वा ? यदि कथञ्चित्, तदा सिद्धसाधनमेव, आकारतद्गतो कथञ्चित्त्वेदाभ्युप-  
 गमात् । सर्वथा भेदस्त्वनुपपन्न, तयो तत्स्वभावाभावप्रसङ्गात् । यो यत्स्वभाव  
 न तस्य तद्गत सर्वथा भेद यथा चित्रज्ञानात् नीलाधाकारस्य, स्वभावाच्च प्रत्यभिज्ञानस्य  
 १५ 'स एवायम्' इत्याकारद्वयमिति । तद्वि प्रत्यक्ष स्मरणसामग्रीत समुपजायमान  
 प्रोटीकृताऽऽकारद्वयमेवोपजायते चित्रपट्टादिसामग्रीत चित्राकारैकज्ञानवत्, प्रत्यक्षा-  
 दिंसामग्रीतो निर्विकल्पेतराकारैकैकिकल्पवद्वा ।

यन्प्युक्तम्—'आकारद्वयं किं परस्परानुप्रवेशेन प्रतिभासते' इत्यादि, तत्र कोऽय-  
 मस्य अनुप्रवेशो नाम—परस्परस्वरूपमाद्ध्ययम्, एतस्मिन्नाधारे वृत्तिर्वा ? प्रथमविकल्पोऽ-

(१) प्र० ४११ प० ८ । (२) धर्मिणि । (३) तुलना— तत्र यत्र नाम दानस्मरणलक्षण  
 योराकारयोर्विरोध, तथापि धर्मिणः प्रत्यभिज्ञानस्य किमायात् येनास्य विरुद्धधर्माध्यासाद् भेद  
 प्रार्थ्यते ।—स्या० १० प० ४९२ । (४) तुलना— विरुद्धाभ्यां दानस्मरणकाराभ्यां कारणभूताभ्यां  
 स्वभावाभूताभ्यां वा प्रत्यभिज्ञानस्य भेद साध्यते ?—स्या० १० प० ४९३ । (५) कायकारणयो  
 भेदस्त्वनुपपन्न—आ० टि० । (६) प्रत्यभिज्ञानम्—आ० टि० । (७) दानस्मरणकारणयो  
 स्वभावयो । (८) प्रत्यभिज्ञान । (९) व्यापनेन विकल्पवासनात्त्वेतस्मरणादिमामग्री  
 शास्त्रा । (१०) एतान्स्वरूपवत्—आ० टि० । तुलना— यदि परोक्ष्यापारण्यधमभवात् पूर्वाप-  
 रावस्थापरानर्थाज्ञानं भिद्यन् हन्त भो तन्नित्यपि विकल्पो भिद्येत् । सोऽपि हि परोक्ष्यापारण्यध-  
 विकल्पो विकल्पवत् । अथैव परोक्षो विकल्पश्च स्वात्मनि त्वविकल्पोऽपरोक्षश्च । तस्माद्विषयमनादविरोध  
 इति धनं त्वविकल्पे तत्त्वकं विज्ञानं तस्यैववस्य वस्तुन पूर्वशकालसम्बन्धे परोक्षम् अपरोक्षम् वा  
 परस्परानुप्रवेश इति को विरोध ?—न्यायशा० ता० पृ० १४० । विकल्पो हि स्वल्पे निर्विकल्प  
 कर्मरूपेण च सर्विकल्पमिति सोऽप्युक्तम् । (११) प्र० ४१२ प० ४ । (१२) तुलना— परस्परस्वत्प  
 साद्ध्ययमेवस्मिन्नाधारे वृत्तिर्वा ।—स्या० १० प० ४९३ ।

१—प्यात् इ—आ० । २—विदुपल—आ० । ३—पर विरो—आ० । ४—प्राप्यते थ । ५—तेवा  
 मग्योय व० थ० । ६—यभदो थ० । ७—वस्य प्र—व० । ८—भासतेत्या—व० । ९—स्पर्द स्व—व० ।

नुपपन्न, प्रतीतिप्ररोधात् । नहि यथोक्तमाकारद्वयमन्योन्यसङ्कीर्णस्वरूप स्वप्नेऽपि प्रतीयते ।  
 द्वितीयविकल्पे तु नहि किञ्चिन्निरुद्धम्, एकरिम्बन् प्रत्यभिज्ञास्ये ज्ञाने तदाकारद्वयस्य निर्वा-  
 धप्रतीतौ प्रतिभासमानत्वात् । यद्यथा निर्वाया प्रतीतौ प्रतिभासते तत्तथैवाभ्युपगन्त-  
 व्यम् यथा नील नीलतया, प्रतिभासते च तथाविधाया प्रतीतौ आकारद्वयान्निर्तत्वेनैक  
 ज्ञानमिति । न च प्रमाणप्रसिद्धे चस्तुस्वरूपे मिथ्याविरुद्धसहति किञ्चित्कुं समर्था 5  
 सकलशून्यतादेरपि सिद्धिप्रसङ्गात् । कथञ्चैत्रवादिन चित्रज्ञानादे सिद्धिः नीलादि-  
 प्रतिभामाना हि परस्परानुप्रवेशे सर्वेषामेकरूपताप्रसङ्गात् कुतश्चित्रता एवनीलाकारज्ञा-  
 नत् १ तेषां तदननुप्रवेशे भिन्नसन्ततिनीलादिप्रतिभामानामिव अत्यन्तभेदसिद्धे  
 नितरामचित्रता । एकज्ञानाधिकरणतया तेषां प्रत्यक्षत प्रतीते प्रतिपादितोपानव-  
 द्वाय प्रत्यभिज्ञानेऽप्यविशिष्ट । तत्र विरुद्धधर्माध्यासत प्रत्यभिज्ञानस्याभावो युक्त । 10

नापि कारणाभावर्त, दर्शन-स्मरणलक्षणस्य तत्कारणस्य सद्भावात् । यद्यपि विभिन्न-  
 निपययो विभिन्नाकारयोश्चानयो तत्कारणतेति चेत् ? तदन्वयव्यतिरेकानुविधायि-  
 त्वात् । यद् यदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत् तत्कारणकम् यथा वीनाद्यन्वयव्यति-  
 रेकानुविधायी अङ्कुर तत्कारणक, दर्शनस्मरणान्वयव्यतिरेकानुविधायिनी च प्रत्यभिज्ञे-  
 ति । न यत्तु त्रीनादे अङ्कुरकारणताया चित्रपट्ट्यादे चित्रज्ञानकारणताया वा तदन्व- 15  
 यव्यतिरेकानुविधानादन्यन्नियन्धनमस्ति । तन्नास्य कारणाभावादप्यभावो युक्त ।

निश्च, इदं प्रत्यभिज्ञान कार्यम्, कार्यञ्च प्रतीयमान कारणमज्ञानमनयोध-  
 यति, अतः कथमस्य कारणाभावो ज्यायान् ? तथाहि—यत् कार्यं तत् कारणपूर्वम्  
 यथा घटादि, कार्यश्चेद प्रत्यभिज्ञानमिति ।

यदप्युक्तम्—'मतोऽपि प्रत्यभिज्ञानस्य न प्रामाण्यम्' इत्यादि, तदप्यमसीक्षिता- 20

(१) दर्शनस्मरणरूपम् । (२) 'दर्शनस्मरणरूपमाकारद्वयं परस्परमनुप्रवेशान्जनप्रवेगन  
 वा प्रतिभासते इत्यर्थवादिन सीतास्य । तुलना—'कथञ्चैत्रं वाग्निश्चित्रज्ञानसिद्धिः'—प्रमेयक०  
 पृ० ३५२ । स्या० १० पृ० ४९६ । (३) नीलादिप्रतिभामानाम (४) देवदत्तस्य नीलानं  
 पक्षान्तस्य पतिज्ञानं इददत्तस्य च रक्ततां यथा परस्परताऽप्यनभिन्नं सत् चित्ररूपतां न प्रति-  
 पद्यन् तथैव । (५) नीलादिप्रतिभामानाम् । (६) तुलना—'तारि कारणाभावतः'—स्या० १०  
 पृ० ४९४ । 'यदुत्तरकां सामधीमत्तं विरुद्धधर्मैर्गतमात्रं प्रत्यभिज्ञानस्य एकरत्वानुपपत्तिरिति,  
 तद्व्युत्पन्नं सम्प्रयागसंस्काराया तन्मूलयामप्रोक्तात् । न तान्त्रयं सम्प्रयागसंस्कारयोः प्रत्यभिज्ञानस्य  
 निरपेक्षयोः कारणत्वात्कथानकारणानुपपत्तिः, यस्मान् अयं सिद्धिर्द्वययोग्योयतिरप्यनया दृष्टं  
 तन्मूलकारितं निश्चिन्तानुमिति प्रति । तस्मान् प्रत्यभिज्ञानस्य एकरत्वं प्रामाण्यमभवान् ।'—  
 विष्णु० पृ० २१४ । (७) 'दर्शनस्मरणकारणं' अकारं प्रत्यभिज्ञानम् [ परीक्षा ३५ ] इत्य  
 सिद्धेनात् । (८) तस्मान्प्रतीतयोः पर्ये हि दर्शनम् अतीतिवशतोपरञ्च स्मरणम् । (९) तन्मात्रा  
 योऽपि हि दर्शनम् तन्कारणत्वमिति च स्मरणम् । (१०) पृ० ४१३ पं० १ ।

१. न किञ्चिद्व-ध० । २. न किञ्चिद्व-ध० । ३. न किञ्चिद्व-ध० । ४. न किञ्चिद्व-ध० । ५. न किञ्चिद्व-ध० । ६. न किञ्चिद्व-ध० । ७. न किञ्चिद्व-ध० । ८. न किञ्चिद्व-ध० । ९. न किञ्चिद्व-ध० । १०. न किञ्चिद्व-ध० ।

- भिधानम्, यतो विषयाभावात्, गृहीतप्राहित्वात्, चाध्यमानत्वाद्वाऽस्य अप्रामाण्य  
 स्यात् ? न तावद्विषयाभावात्, पूर्वोत्तरविवर्त्तवत्त्वेकद्रव्यस्य तद्विषयस्य सद्भावात् ।  
 प्रत्यक्षादित प्रत्यभिज्ञानस्य स्वरूपवैलक्षण्यसमवाच्च विषयवैलक्षण्यमर्वाश्याभ्युपगन्त-  
 व्यम् । यस्य यत् स्वरूपवैलक्षण्यं तस्य ततो विषयवैलक्षण्यमप्यस्ति यथा प्रत्यक्षात्  
 5 स्मरणस्य, अस्ति च स्वरूपवैलक्षण्यं प्रत्यभिज्ञानस्येति । सुप्रसिद्धं हि प्रत्यक्षस्मरणयो  
 स्पष्टेतररूपतया अतीतवर्त्तमानविषयपरामर्शरूपतया च स्वरूपवैलक्षण्याद् अतीतवर्त्त  
 मानकालावच्छेदेन विषयवैलक्षण्यम्, एवमत्रापि । प्रत्यक्षस्य हि वर्त्तमानकाला-  
 वच्छिन्नो विषयः, स्मरणस्य तु अतीतकालावच्छिन्नः, प्रत्यभिज्ञानस्य तु उभयकाला  
 वच्छिन्नो द्रव्यविशेषो विषयः । न चाऽशेषार्थानां प्रतिक्षणं क्षणिकत्वात् द्रव्यविशे-  
 10 पस्य कस्यचिदप्यसमभावात् कस्य तद्विषयता प्राध्व्यते इत्यभिधातव्यम्, क्षणमङ्गप्रतिषेधेन  
 द्रव्यसिद्धे प्रागेवं प्रपञ्चतो विहितत्वात् । तन्न विषयाभावात् तदप्रामाण्यम् ।

- नापि गृहीतप्राहित्वात्, तद्विषयस्य प्रमाणातरेण ग्रहीतुमशक्यत्वात् । स हि  
 प्रत्यक्षेण गृह्यते, स्मरणेन, प्रमाणातरेण च ? न तावत् प्रत्यक्षेण, तस्य वर्त्तमानविवर्त्त-  
 मानगोचरचारितया अतीतवर्त्तमानविवर्त्तमानो द्रव्यस्य ग्रहणे सामर्थ्याऽसमभावात् ।  
 15 नापि स्मरणेन, तस्य अतीतपर्यायविषयतया तद्ग्रहणेऽसमर्थत्वात् । नापि प्रमाणातरेण,  
 उभेयनिवृत्तान्तिद्रव्यविषयस्य प्रत्यभिज्ञानतोऽयप्रमाणस्याऽसमभावात् । तदुभयसंस्कार-  
 जनित वृत्तनाह्वानमस्तीति चेत्, न, तस्यैव प्रत्यभिज्ञानत्वात् ।

(१) तुलना- तदप्रामाण्यं हि गृहीतप्राहित्वात् स्मरणान्तरभावितात् प्राकारधारित्वाद्वा  
 बाध्यमानत्वात् स्यात् ? -प्रमेयक० पृ० ३४३ । (२) प्रत्यभिज्ञानस्य । (३) प्रत्यक्षे स्मरणे च  
 प्रयत्नमिह तु युगपन्ति विषय-आ० टि० । (४) प्रत्यभिज्ञानेऽपि । (५) पृ० ३५७-३८९ ।  
 (६) तुलना- आकारवाच्यप्रतिषेध पूर्वानुभवजनितसंस्कारस्मरणसंस्काराद्वयणं स एवायमि  
 त्पुमयोऽस्ति ज्ञानं जन्त्यते । तस्य च अर्थावयवनिरेवानुविधानात् विषयव्यक्तमयुक्तम् । -  
 प्रा० पृ० ५० ३९७ । अतीतकालविनिष्टो वृत्तमानकालावच्छिन्नप्रत्यक्ष एतस्यामवभासो । -  
 श्यायम० पृ० ४५९ । प्रतीक्यते तावन्तस्मान्नानात् पूर्वपरिकालावच्छिन्नमेव वस्तुतत्त्वम्,  
 नन्वध्य विषयो न भवतीति तद्विद्वदम् । ग्रहणस्मरणं च नर्कं विषयमालम्ब्यते तस्मान्कमेवेद  
 विनिर्णयं प्रतीनिसामर्थ्यादुपमविषयमास्थयम् । -प्रा० पृ० ४६० पृ० ८० । (७) तुलना-  
 न हि तन्विषयभूतमात्रं त्र्यं स्मृतिप्रत्ययग्राह्यं या तत्र प्रवृत्तमानं प्रत्यभिज्ञानं गृहीतप्राहि मयन  
 तद्गृहीतगृहीतवृत्तमानविवनतात्स्यात् द्रव्यस्य कथञ्चिन्पूर्वावत्त्वेऽपि प्रत्यभिज्ञानस्य तद्विषयस्य  
 नाप्रमाण्यं लक्षणान्यप्रमाण्यवर्त्तमानात् तस्यापि सर्वधवापूर्वावत्त्वासिद्धं । -प्रमाणप० पृ० ७० ।  
 प्रमेयक० पृ० ३४३ । स्यात् २० पृ० ४९५ । प्रमेयक० पृ० ३३ । प्रमाणमी० पृ० ३५ । (८)  
 अतीतवृत्तमानपद्याननुपायिद्रव्यग्रन्थे । (९) अतीतवृत्तमान । (१०) स्मरणप्रत्यक्ष । तुलना-  
 प्रत्यक्षस्मरणजनितकल्पनागमनीति चेत् न तस्यैव प्रत्यभिज्ञानत्वेनास्माभिरभ्युपगमात् । -  
 कथा० २० पृ० ४९५ । (११) उभयसंस्कारजनितविकल्पस्य ।

१-विवरवस्ये-आ० । २-व्ययमभ्यु-ध० । ३-क्षणिकत्वतो इ-व० । ४-विवृत्तगोच-आ०  
 थ० । ५-विवृत्तद्रव्यस्य थ०, -विवृत्तानो द्रव्यस्य व० ।

ननु यदि प्रत्यक्षस्मरणयो द्रव्यमविषय नहि कथं ताभ्या तत्र तैज्जन्वेत् ? यद् यस्य विषयो न भवति न तत्रानुमानमुत्पादयति यथा चक्षु रसे, अविषयश्च एकत्र प्रत्यक्षस्मरणयोरिति, तदप्यसुन्दरम्, विकल्पोत्पत्त्याऽविकल्पकाध्यक्षेण अनेकान्तात्, तस्य सामान्यागोचरस्यापि सामान्ये विकल्पोत्पत्त्यैतदप्रतीते । 'विकल्पवासनासहाय र्नाविषयेऽपि तत्र तैत्तमुत्पादयति' इत्युत्तरम् अन्यत्रापि तुल्यम्, प्रत्यक्षस्यापि स्मरण- 5 महायस्य एकत्वे प्रत्यभिज्ञानजनकत्वप्रतीते, महकारिणामचिन्त्यशक्तिनात् । कथमन्यथा असर्वज्ञज्ञानम् अभ्यासविशेषसहाय सर्वज्ञज्ञान जनयेत् ? एकत्वविषयत्वश्च प्रत्यक्षस्यापि अश्वणिकृत्प्रसिद्धौ समर्थितम् । अन्यथा निर्विषयत्वमेव अस्य स्यात्, एतन्तेन अनित्यत्वम्य कदाचनान्यप्रतीते । केवल तेन एकत्र प्रतिनियतवर्तमानपर्यायाधारतया अर्थे प्रतीयते, स्मरणसहायप्रत्यक्षप्रभवप्रत्यभिज्ञानेन तु स्मर्वमाणाऽनुभूयमानपर्यायाधारतयेति विशेष । अत कथञ्चिदपूर्वार्थत्वसिद्धे न गृहीतमाहितमस्य यतोऽ- 10 प्रामाण्य स्यात्, अन्यथा अनुमानादेरपि अप्रामाण्यप्रसङ्ग सर्वथाऽपूर्वार्थविषयत्वाऽसम्भवात्, तद्विषयस्य देशान्निविष्टिप्रपावकादिव्यक्तिविशेषस्य सम्यग्ब्रह्मिज्ञानविषयात् साध्यसामान्यात् कथञ्चिदभिन्नस्य कथञ्चित् पूर्वार्थत्वप्रसिद्धे ।

बौध्यमानत्वात्तर्ह्यप्रमाण प्रत्यभिज्ञा, ईत्यप्युक्तम्, तद्बाधकस्य कस्यचिदप्य- 15 सम्भवात् । तस्य हि बाधक प्रत्यक्षम्, अनुमान वा स्यात् ? न तावत् प्रत्यक्षम्, तस्य तद्विषये प्रवृत्त्यभावात् । यद् यद्विषये न प्रवर्त्तते न तत्तस्य बाधकम् यथा रूपज्ञानस्य

(१) द्रव्ये । (२) प्रत्यभिज्ञानम् । (३) सौगतमते हि निविकल्पकप्रत्यक्षात् सविकल्पकमुत्पद्यते । निविकल्पकश्च परमायसतत्त्वलक्षणजयत्वान् वस्तुविषय सविकल्पकं तु बुद्धिकल्पितसामान्यगोचरत्वादवस्तुविषयक प्रसिद्धम् । ततो यथा निविकल्पकं सामान्यमज्ञानदपि सामान्यविषयं विकल्पमुत्पादयति तथैव अतीनवर्तमानाभयविवर्तनमेकत्वमज्ञानत्यपि प्रत्यक्षस्मरणे तद्विषयकं प्रत्यभिज्ञानमुत्पादयतामिति भावः । तुलना—“विकल्पोत्पादकाध्यक्षेणानेकान्तात् ।”—स्या० २० प० ४९५ । (४) सामान्य । (५) निविकल्पकम् । (६) विकल्पम् । (७) प्रत्यक्षस्मरणान्भ्याम् एकत्वे प्रत्यभिज्ञानसमुत्पादनस्येऽपि । (८) अभ्यासविशेषादय महकारिण—आ० टि० । (९) पृ० ३८१ । (१०) प्रत्यक्षेण । (११) अनुमानविषयस्य—आ० टि० । (१२) पवतादिदेशस्थपावकस्य—आ० टि० । (१३) तत्र—आ० टि० । तुलना—“सम्यग्ब्रह्मिज्ञानविषयात् साध्यान्सामान्यान् कथञ्चिदभिन्नस्यानुभूयस्य द्वाकालविशिष्टस्य तद्विषयत्वान् ।”—प्रमाणप० प० ७० । प्रमेयक० प० ३४३ । (१४) तुलना—“सवाने बाधवधुपनिदचपदन्त् म विद्यत । सवत्र प्रत्यभिज्ञाने प्रत्यक्षादाविवान्जसा ॥ प्रत्यक्षबाधकतावत्र सनानस्य जातुचित् । तदभिप्रगोचरत्वेन परलोकमतेरिव ॥”—तद्वाक्यश्लो० प० १९२ । “बाधकप्रमाणान्न प्रमाणं प्रत्यभिज्ञानमिति चायुक्तम्, तद्वाक्यस्यासम्भवात् । न हि प्रत्यक्ष तद्बाधक तस्य तद्विषये प्रवृत्त्यमभवान्, साधकत्ववद् बाधकत्वविराधात् ।”—प्रमाणप० प० ७० । अष्टसह० प० २८० । प्रमेयक० प० ३४४ । स्या० २० प० ४९६ । प्रमेयर० प० ३६ ।

१ न तत्र आ०, थ० । २-वर्त्त प्रती - थ० । ३-भिज्ञाने तु आ०, थ० । ४ इति चायुक्तम् थ० ।

रसज्ञानम्, न प्रवर्तते च प्रत्यभिज्ञानियमे प्रत्यक्षमिति । नाप्यनुमानम्, तद्विषये  
 तस्याप्यप्रवृत्तो, प्रवृत्तौ वा स्यादवस्थाया तद्वाधकत्वम् । नैतु लक्षणानुमानप्रयेशादौ  
 बाध्यमान तर्तुं प्रतीतमेव अत एव तत् प्रमाणमिति चेत् । यदि नाम तत्रै तर्तया  
 प्रतीतम्, अथैतं निमाद्यतम् । अन्यथा शुक्तिशरले रजताभासप्रत्यक्षस्य धातयोप-  
 ६ लम्भात् सत्यरचतेष्यस्यै ध्रान्तत्वप्रसङ्ग । तन्न एव प्रत्यभिज्ञानस्यापह्नयो युग ।

नापि सादृश्यप्रत्यभिज्ञानस्यै, अनुमानानुत्पत्तिप्रसङ्गात्-येनैतं हि पूर्व धूमसहितोऽ-  
 ७ निहृष्टं तैरैव उत्तरफलं पूर्वधूमसदृशधूमदशनात् अग्न्यनुमातोत्पत्तिर्युक्ता, नाथैव  
 अथदर्शनात् । न च प्रत्यभिज्ञानमन्तरेण 'तेनेद मद्यम्' इति प्रतिपत्तिर्पठते, पूर्व-  
 १० प्रत्यक्षेण उत्तरस्य तैः प्रत्यक्षेण च पूर्वस्य धूमादियस्तुनोऽप्रतिपत्तेः । नै च द्वयाऽप्रति-  
 पत्तौ द्विष सादृश्य प्रतिपत्तु शक्यमतिप्रसङ्गात् । यद् द्विष तद् द्वयप्रतिपत्तायेव प्रतीयते  
 यथा सम्बन्ध, द्विषश्च मान्द्रयमिति । तत सिद्धा एतन्नोन्नेरिति सादृश्योन्नेरिति  
 च प्रत्यभिज्ञा प्रमाणम् ।

एतदेवाह-सना प्रमाण चिन्ताया 'फलम्य हेतुत्वात्' इति सम्बन्ध । अस्या  
 पर्यायमाह-तर्कस्य इति । च पुनरथ तैरौ नाम इति चेत् ? न्यायिज्ञानम् । व्यामिहि

( १ ) प्रत्यभिज्ञानियमे । ( २ ) अनुमानस्यापि । ( ३ ) तुलना- 'न च लूनपुनर्जातनस  
 केनापि न सवत्र निर्विषया प्रत्यभिज्ञा -प्रमेयक० पृ० ३४२ । स्वा० १० पृ० ४९४ । ( ४ )  
 स एवायं नलादिरेति एव प्रत्यभिज्ञानम् । ( ५ ) लूनपुनर्जातनसकेनापि । ( ६ ) न एवायं नस  
 केनापिरिति प्रत्यभिज्ञान वाप्यमातम् । ( ७ ) तस्मिन् न च केना वा स एवायं मयापिरिति प्रत्यभि-  
 ज्ञानं कथं बाध्यमानमिति भाव । ( ८ ) एव च बाध्यमानत्वोपस्थानं मद्यत्र बाध्यमानत्वमीकारे ।  
 ( ९ ) रजताभासप्रय इत्य । ( १० ) अपह्नवो युक्त इति गतेन सम्बन्ध । ( ११ ) तुलना- 'सादृश्य  
 प्रत्यभिज्ञानमेतेनैव विचारितम् । प्रमाणं स्वायसंवाग्मात्रमात्रं तत्वाप्यथा ॥ -त-बाध्यता० पृ० १९३।  
 'कथञ्च प्रत्यभिज्ञाननियोगे' अनुमानप्रवृत्ति येनैव हि -प्रमेयक० पृ० ३४३ । अनुमानानुत्पत्तिप्र-  
 सङ्गात् येनैव हि पूर्व धूमोन्ने -स्वा० १० पृ० ४९६ । ( १२ ) प्रतिपत्ता । ( १३ ) प्रतिपत्तु ।  
 ( १४ ) जनस्य । ( १५ ) घटादिर्दानात् । ( १६ ) धूमस्य । ( १७ ) उत्तरवागीनधूमप्रत्यक्षणम् । ( १८ )  
 तुलना- 'न च द्वयाऽप्रतिपत्तौ -स्वा० १० पृ० ४९६ । ( १९ ) 'चिन्तितानामागामिनो वस्तुत एव  
 निर्यातिभवति अन्यथा नेति यथैव ज्ञानान्त्रियसमन्विते तत्रैव परमभुवावाप्तिरत्यथा तेत्यनचित्तान्तान्तं  
 मनोपानमेव ।' -तत्स्वायमा० व्या० पृ० ७८ । सम्बन्धं व्याप्तिनोऽर्थात् विनिश्चय प्रवर्तते । येन  
 तत्र स संवागान् प्रमाणं तत्र गम्यत । -तत्स्वार्थलो० पृ० १९४ । प्रमाणप० पृ० ७० । 'उपलम्भानुप-  
 लम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूह । इत्यस्मिन् सत्येव भवत्यसति तु न भवत्येति च । -परीक्षासु० ३।११  
 १२ । प्रमाणार्थं १।२।५ । 'उपलम्भानुपलम्भसंभवं त्रिकालोक्तलिनमाध्यसाधनसाम्यं धाद्यालम्भनिमित्तं  
 मस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकारं संकेतमूहापरत्वात्मा तत्क । -प्रमाणनय० ३।५ । जनतर्कभा० पृ०  
 १० । 'व्याप्तिज्ञानं तत्क । -वाप्यरी० पृ० १९१ । अवयव्यतिरेकाभ्यां व्याप्तिज्ञानं दर्शनस्मरणाभ्यां  
 मगहीतप्रत्यभिज्ञाननिबन्धनं तत्क चिन्ता । -रुधी० अम० पृ० २९ । 'अविज्ञाततत्त्वेऽप्यं कारणोप-  
 पत्तिरस्तत्त्वज्ञानापमूहस्तत्क । -व्याप्यसू० १।१।४० । अविज्ञाततत्त्वे सामान्यतो ज्ञाते धर्मिणि

१-भिज्ञान विषये थ०-भिज्ञानविषय ब० । २ धूमोन्निवृष्ट ब० । ३ 'यद् नास्ति थ० ।

साध्यसाधनयोरविनाभाव । तद्ब्राह्मि ज्ञान तर्कोऽभिधीयते, तत्र तस्यैव प्रमाण्यात्,  
ज्ञानांतराणा तद्ग्रहणे सामर्थ्याऽसभवत् तत्र प्रामाण्यानुपपत्ते ।

एवंपानुरूलकारणदर्शनात् तस्मिन् सभावनाप्रत्ययो भवितव्यतावभास तदितरपक्षशयित्यापादने  
तन्ब्राह्मणप्रमाणमनुगृह्य तान् सुख प्रवर्तयन् सत्त्वज्ञानाद्यमूहस्त्व । १-न्यायम० पृ० ५८६ ।  
न्यायकलि० पृ० १३ । "एकधर्माभ्युपगमे द्वितीयस्य नियतप्राप्तिरूप तक" -न्यायली० पृ० ५४ ।  
"व्यापकाभाववत्त्वेन निर्णयति व्याप्यस्याट्यार्यारोपाद्या व्यापकस्याह्यार्यारोप स तक । यथा निर्वह्नि-  
त्वारोपादिधूमत्वारोप । यदि निर्वह्नि स्यात्त्रिधूम स्यादिति ।" -न्यायसूत्रवृ० १।१।४० । "तत्रश्चा  
पाद्यापादकयोर्न्यायिन्मूल ।" -महावि० पृ० १३१ । "जमिनीयास्तु भुवते-युक्त्या प्रयोगनिरूप  
णमूह । स च त्रिविध भन्नसामसत्त्वारविषय । [ गारवभा० ९।१।१ ] -"न्यायम० पृ० ५०८ ।  
"अष्टसम्बन्धात् परोक्षप्रतीति तर्क इति लक्षणम् ।" -प्रमाणवार्तिककाल० पृ० ३०० ।

(१) "सम्बन्धो व्याप्तिरिष्टान लिङ्गधमस्य लिङ्गना" -मी० श्लो० अनु० श्लो० ४ ।  
"नियमरूपं मासासका" -न्याय० मा० पृ० ५६ । प्रकरणप० पृ० ६८ । "व्याप्तिरविनाभाव  
इति -प्रश० व्यो० पृ० ५७० । "स्वभावत साध्यन साधनस्य व्याप्तिरविनाभाव ।" -न्यायशा०  
पृ० ५ । "साहचर्य्य तु सम्बन्ध इति नो हृदयङ्गमम् । तस्मिन् सयैव भवने न विना भवन् तत् ॥  
अयमविनाभावो नियम सहचारिता ।" -न्यायम० पृ० १२१ । न्यायकलि० पृ० २ । "तस्माद यो  
वा स यास्तु सम्बन्ध, केवल यस्यासौ स्वाभाविको नियत स एव गमको गम्यश्चेत्तर सम्बन्धीति  
युज्यते ।" -न्यायवा० ता० पृ० १६५ । 'स्वाभाविको निरुपाधिरित्यथ ।" -ता० प० पृ० ६९१ ।  
"न्यायली० पृ० ५४ । "अनोपाधिक सम्बन्ध" -प्रश० किर० पृ० २१७ । "अनोपाधिक सम्बन्धो  
व्याप्ति । यदा साध्यसामानाधिकरण्यात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्य व्याप्ति ।" -यदो०  
उप० ३।१।१४ । तत्त्वत्रि० व्या० । "उपाधिविधुर सम्बन्ध" -सबद० पृ० ७ । "साधनस्य च  
साध्यस्यै नियतत्वकथन व्याप्तिकथनम् । यथोक्तम्- 'व्याप्तिर्व्यापकस्य तत्र भाव एव व्याप्यस्य  
च तत्र भाव [ प्रमाणवा० स्वब० ३।१ ] इति ।" -न्यायबिद्दुटी० पृ० ६४ । "द्विविधा चेय व्याप्ति  
व्यापकस्याव्ययमनया । तत्र व्याप्ये सति व्यापकस्यावश्यम्भावस्तस्य व्याप्ति, व्याप्यस्य च व्यापक  
एव सति भावो नाम तस्य व्याप्ति । आभ्या यथाक्रममवययतिरेकावुक्तौ । व्याप्यतन्भावे व्यापकस्य  
सत्त्वनियमस्य अवयवरूपत्वात् । व्यापकाभावे व्याप्याभावस्य च व्यतिरेकरूपत्वात् ।" -प्रमाणवा०  
मनोरप० ३।१ । "तस्य पक्षधमस्य सतो व्याप्तिर्या व्याप्नोति यश्च व्याप्यते व्याप्यव्यापकधमनया  
प्रतीते । यत्र व्यापकधर्मतया विवक्षयते तदा व्यापकस्य गम्यस्य भाव एवति सम्बन्ध । तत्रेति सप्त  
म्यप्रधानमेतन्नाधारायप्रधानम् धर्माणा धर्मात्तरत्वाभावात् । तेनायमथ -यत्र धर्मिणि व्याप्यमस्ति  
तत्र सवत्र व्यापकस्य भाव एवेति व्यापकधर्मो व्याप्ति । तत्वेवमवधारयति व्यापकस्यैव तत्र भाव इति,  
हेत्वभावप्रसङ्गान्, अव्यापकस्यापि मूतरवदिस्तत्र भावात् । नापि तत्रवेत्यवधारयते, प्रयत्नानन्तरीयव  
त्वात्हेतुवापत्ते । साधारणश्च हेतु स्यान्नित्यत्वस्य प्रमेयत्व भावात् । यदा तु व्याप्यधमता व्याप्त  
विश्रिप्ता तदा यत्र धर्मिणि व्यापकास्ति तत्र च व्याप्यस्य भावो नायत्र । अत्रापि व्याप्यस्यैव तत्र  
भाव इत्यवधारणम् हेत्वभावप्रसङ्गेरेव नाश्रितम् अव्याप्यस्यापि तत्र भावात् । नापि व्याप्यस्य तत्र  
भाव एवेत्यवधारयते, सपक्षदेशवत्तेहेतुत्वप्राप्त, साधारणस्य च हेतुत्व स्यात् प्रमेयवस्य नित्यत्व  
वदन्मभावात्ति । व्यापकस्य तत्र भाव इत्यनन्त चावय आश्रितो व्याप्यस्य वा तत्र भाव इत्यनेन  
व्यतिरेक आश्रित ।" -प्रमाणवा० स्वब० टी० ३।१ । हेतुबि० टी० पृ० १८० । प्रमाणमी० पृ० ३८ ।  
"हृकमभावनिममाश्रितनाभाव" -परीक्षा० ३।१६ । प्रमाणमी० १।२।१० । (२) व्याप्तिग्रहण  
सस्यय । (३) प्रत्यक्षागिनाम् । (४) व्याप्तिग्रहण ।

ननु व्याप्तिरूपस्यैवाऽसम्भवात् कथं तत्र तर्क प्रमाणम् ? तथाहि—व्याप्ति-  
 व्याप्तिस्वरूपस्यैव सम्भवात्प्रति तत्रस्य  
 समवायिनि तत्रस्य  
 प्रामाण्यमिति चार्था  
 नस्य पक्षे—  
 सन्-धोऽर्थान्ताम्, सौ च देशतः कालतो वा कैस्यचित् केनचित्-  
 म्यात् ? न तावद् देशतः, यतो व्योम्नि धूमः, भूमौ अग्निः, उपरि  
 दग्ने वृष्टिः, अधोदेशे नदीपूरः । नापि कालतः, न हि वृष्टिकाले नदीपूर  
 वृत्तिर्नोदयकाले रोहिण्युदयो वाऽस्ति ।

निश्च, कस्य केनायमविनाभास — किं सामान्यस्य सामान्येन, किं वा सामान्यस्य  
 निगमैः, उत विशेषाणां निगमैः ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता, नित्यत्व विभुत्वाभ्यां सकल-  
 दशकालसम्बन्धितया अग्नित्व धूमत्वयोः सुप्रसिद्धत्वात् । द्वितीयपक्षेऽपि दशकालानव-  
 च्छिन्ने विशेषमात्रे सामान्यस्याविनाभासः, तद्वन्च्छिन्ने वा ? यद्यनर्वाच्छिन्ने, तदा सिद्ध-  
 साधनमेव । अथ दशकालवच्छिन्ने, तदा अनुगमाभावः । नहि महानसत्त्वधूमसामा-

(१) तुलना— किञ्च साध्यसाधनयोः व्याप्ति किं यत्र यत्र साधनं तत्र तत्र साध्यमिति दश

रूपा निरूप्यन् किं वा यत्र यत्र साधनं तत्र तत्र साध्यमिति कालरूपा, युगपदुभयस्यैवाभावा वा ? —  
 हेतुविद् ० पृ० ४ B (२) साधनस्य साध्यस्य वा । (३) साध्यन साधनन वा । (४) तुलना-  
 दव्याप्तिमायाद्वीकारे समग्रजाग्रत्प्रामाणिकमाय धूमानुमानेऽपि सत्यनाभिमानोऽभिमानकालिना  
 वच पृथापयमानोयते तत्र च दग्धत्वात् स्वप्नत्वापामपि विभावनाभावान् । तथाहि—गगनमण्डलत-  
 लसम्भवा धूम पृथगाखर्वनितम्बसम्भवा च धूम वच इति वा दशव्याप्तिरिति । —हेतुविद् ० पृ० ४ B ।

(५) उपरि वृष्टौ मघ अधोनीपूरशान्तिं यनुमान । (६) तुलना— उग्रतो नभश्चन्द्रो जलचन्द्रो  
 दग्धशानत आधोत्पूर्वमस्मिन् दग् वृष्टि उत्तरत्र तथाविधवारिपरिवलोकनात्, भविष्यति वा वारि  
 वाहवदिति तादृगवारिवाहविभावनत् उच्येति रोहिणी कृत्तिकोऽप्यान्, उच्येति इव सविता अद्यत  
 नात्तित्वात्पृथानात्, उग्र्य मुहूर्तात्पूर्व पूर्वाफल्गुना उत्तरफल्गुनीनामुत्पेपलच इत्यादि मानानाम  
 नभयात्पृथगोऽभयमा विप्रकृष्टता कामवारणपूर्वकरोत्तरचत्तेतुविशेषाणां दशकालोभय क्वापि  
 व्यापयनुपपत्तरेतुवप्राप्त । —हेतुविद् ० पृ० ४ B (७) तुलना— इतोऽपि अविनाभावमम्बच्च

प्रहाणतपपति— किं सामान्ययोः सम्बन्धवधारणम आहो स्वच्छणयोः, सामान्यस्वरक्षणयोवा ? —  
 तत्त्वोप० पृ० ६५ ८३। तथाहि—व्याप्तिभक्तौ किं साधनसाध्यव्यक्तघोर्वाभाति उताहो साधनत्वसाध्य  
 त्वनायावर्त, आहादिवन् साधनवत्साध्यत्वो, किं वा साधनत्ववत्साध्यत्वत्वो उन साधनवत्त्वसाध्यव  
 स्वयो इति पक्षेऽन्ततया '—हेतुविद् ० पृ० ४ A । ' तथाहि— किं यत्रयोरथवा जालोत्सद्घोर्वा  
 विषयवा । व्याप्तिस्त्वव्यप्यते किं वा साध्यसाधनवत्त्वयो । सा न व्यक्त्यास्तदायन्त्यात् जालोत्सद  
 सम्भवात् । न तद्गतोत्सदादीपान् चतुर्धोऽनिरूपणान् । —चित्तु० पृ० २३३। (८) पक्षत-महानसादिदग्म  
 अतीवपतमानां किञ्चानन्दस्य अग्न्यादिविशयमात्र । तुलना— यद्यनवच्छिन्न तत्र सिद्धसाध्यत्वव  
 देशकालानवच्छिन्ना वल्लभादिविशयानामतिप्रतीतत्वात् । —स्या० १० पृ० ५०५ । (९) तुलना—

किं चतुर्धोः प्रमाणमपत्यानं वस्तुतस्तु न तमानमियाद्-विशेष इति । विशय-न्यायमाभाव सामान्ये  
 मिदमाप्यता । इत्यादिपदुच्छ्वात्र च नोचुमिति प्रमा ॥ —व्यक्त्यावर्त व्यतिनि जात्योर्वा,  
 तन्पान्तविषययोवा धूमवत्त्ववद्विभवयोवा ? नाथ सर्वोपसंहारासिद्ध । न द्वितीयः, तयो स्वरूप  
 भगन् धर्मिभगच्च । न तृतीय उक्तानायात् । न चतुर्थ ओप्राधिक्यमस्य स्वरूपातिरिक्तस्यापि  
 रूपान् । —बृह० वा० पृ १४०१ । व्यापकमु० पृ० ६९ टि० ५ ।

1-स्वरूपासम्भ-य० । 2 व्याप्तिस्त्व-य० । 3 उत विशेषाणां विशय' नास्ति य० ।  
 4 नित्यवित्त्व-य० । 5-पक्षे देश-आ ।

न्यस्य पर्वतस्थेन अग्निविशेषेणाऽनुगमोऽस्ति, पर्वतस्थस्य वा महानसस्थेन । नापि विशेषेणा विज्ञेयैर्नियम, न हि दृष्टाना दृष्टे, अदृष्टानामदृष्टे, दृष्टाना वा अदृष्टे स्यात् । यदि दृष्टाना दृष्टे, तदा सिद्धमाधर्नम्, अपूर्वव्यक्तिदर्शने च अनुमानानुपपत्तिं । अथ अदृष्टानामदृष्टे, तत्रापि सम्बन्धग्रहणाभावात् अनुगमाभावाच्च कथमनुमानम् ? नापि दृष्टानामदृष्टे, पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात् ।

5

किञ्च, अविनाभाव सम्बन्ध, स च सम्बन्धिग्रहणपूर्वक, सम्बन्धिनौ च द्वौ द्वौ विशेषौ, अतः कथं सर्वोपसंहारेण व्याप्तिर्महीतु शक्यं ?

किञ्च, अयमविनाभावशब्द साध्याभावे साधनाभाव वदतीति व्यतिरेकमात्रवचन, न सम्बन्धवचन ।

निश्च, 'अग्न्यभावे धूमो नोपपद्यते' इति धूमानुपपत्ते अग्न्यभावो विशेषणम् । स पारमार्थिक, अपारमार्थिको वा स्यात् । पारमार्थिकत्वे अत्रिग्रहणत्वात् धूमस्य न तदाश्रिता व्याप्तिर्महीतु शक्या, नहि अगृह्यमाणे आश्रये तदाश्रितं ग्रहीतु शक्यमतिप्रसङ्गात् । अपारमार्थिकत्वे तु उपाधेः तदुपहितार्था धूमानुपपत्तेरपि अपारमार्थिकत्व स्यात्, तथा चाऽनुमानस्यापि अपारमार्थिकत्वमेव आयातम् । अथैवमुच्यते—अग्न्यभावश्च धूमसद्भावस्यानुपपत्ति, अग्न्यभावस्य धूमाभावेन व्याप्तत्वात्, तदप्यनुपपन्नम्, विद्यमाना गृहीता च व्याप्ति अनुमानाद्गम न प्रसज्यमाना, तस्यो सत्त्वेनाप्यनिश्चितत्वात् । सभावनाज्ञान चैतत्, न च तद् वस्तुपरिच्छेदकम् यथा 'भूमिश्चेन्नाभविष्यद् अपतिष्यन् पर्वता' इति ।

10

15

किञ्च, एकस्य वस्तुचिदान्नेरभावे धूमो नोपपद्यते, सर्वस्य वा न तावदेकस्य, अस्याभावेऽपि अग्न्यन्तरे धूमसद्भावस्योपपत्त्यमानत्वात् । नापि सर्वस्य, उपहितग्रहणस्य उपाधिग्रहणमन्तरेणाऽसम्भवात् । धूमानुपपत्तेश्च अज्ञेयाग्न्यभाव एवोपाधि, न चासौ

20

(१) प्रत्ययमिदं प्रत्ययमिदस्य अविनाभावे सिद्धमपि न विन्वित्काम साध्यसाधनयोः प्रत्ययत्वात्, तथा च नानुमानप्रामाण्यमिति भावः । (२) अपूर्वव्यक्तौ अविनाभावग्रहणमाभावात् नानुमापत्तिः । (३) अप्रत्यक्षेण सह अविनाभावग्रहणामभवात्, समवेपि अनुगमाभावः । (४) अपि तु यौ द्वौ सम्बन्धिनी महानमीयधूमानी प्रत्ययविषयो स्याताम् तयोरैव सम्बन्धो गृहातः स्यात् न सर्वसाध्यसाधनव्यक्तीनाम् । (५) अग्न्यभावस्येति शेष—आ० टि० । (६) धूमाधिता । (७) धूमलक्षणः । (८) व्याप्तिस्वरूपम् । (९) अग्न्यभावविशेषणस्य । (१०) अग्न्यभावविशिष्टायाः । (११) समाप्यमाना । (१२) संभाव्यमानाया व्याप्ते सत्त्वमपि अनिश्चितमेव । (१३) 'अग्न्यभावश्चेत् स्यात् धूमसद्भावस्यानुपपत्ति स्यात् इत्याकारक पूर्वोक्तं ज्ञानम् । (१४) वस्तुचिद्व्यस्य अग्नेरभावेपि 'अज्ञेयाग्न्यभावविशिष्टो धूमाभाव' इत्याकारकविशिष्टग्रहणस्य अनुपपत्तिरिति भावः । (१५) विशिष्ट—आ० टि० । (१६) अज्ञेयाग्न्यभावरूपविशेषणः ।

1-पत्त श० । 2 'अथ' नास्ति आ० । 3 स्वाधये श० । 4 उपाधि श०, य० । 5-हित स्यात् धू-य० । 6 एतन्नगत पाठो नास्ति आ० । 6-माधिक्य स्यात् श० । 7-पत्त श० ।



सवाग्निर्दग्धृतेषु प्रहीतु शक्यते, अभावग्रहणस्य प्रतियोग्याश्रयग्रहणसन्वयेक्षत्वात् ।

अपि च क्वचिदग्न्यैभावाभावेऽपि धूमाभावे धूमसद्भावस्य विरोधो दृष्टः, अतो नाग्न्यभावे धूमभावाविरोधस्य उपाधि, किन्तु धूमाभावात् एव । अतो न व्याप्तिर्विचार्यमाणा घटते, तत्कथं तद्वाहिणं तर्कस्य तत्त्वभवानुमानस्य वा प्रामाण्यम् ? अस्तु वा व्याप्तिः, तथापि अविनाभावे सत्यपि न धूमाद् बह्विपैङ्गल्यमनुमीयते बह्वेरेव धूमेन अनुमीयमानत्वात् । तथा नियतत्वाविशेषेऽपि धूम एव गमयो न तद्गता श्या-  
मत्वान्य इति ।

अत्र प्रतिषिधीयते । यत्तावदुक्तम्—'व्याप्तिस्वरूपस्य' इत्यादि, तदसमीचनम्,

तत्रप्रतिषिद्धपुरस्सर यत्, स्वरूपप्रयुक्तस्याऽन्यभिचारस्य व्याप्तिप्रतिज्ञानात् कथं तस्या  
10 तर्कस्य बुद्धकृत् प्रमाणात् स्वरूपासम्भवं ? स्वरूपं हि साधनसाधनयोर्भेदवत्कलापकलितम्  
यवस्थापनम्— अग्नित्वं धूमत्वञ्च, तद्वि अयतो देशकालाकारादेर्व्याप्यत्वस्य प्रकर्षणं  
मन्वधम् आत्मयेव योजयति । 'मदधीनामेव व्याप्तिं बुध्यस्व बुध्यस्व' इत्यात्म-  
सम्बन्धित्वेनैव व्याप्तिं व्यवस्थापयत् स्वप्रयुक्तमेव व्याप्तिं बोद्धारं बोधयति ।

यदप्युक्तम्—देशतः कालतो वाऽग्निनाभावो न सम्भवति' इति, तत्प्येतेन प्रत्युक्तम्,  
15 तद्वत् तद्वता अग्निनाभावस्य निर्यावबोधोधाधिरूपप्रतिभासत्वात् । अव्यभिचारिणा हि

(१) यस्याभावश्चित्तं स प्रतियागी यथा अग्न्याभवात् क्तव्यं अग्निं प्रतियोगी यमिन् अभावः नियतं स आश्रयः यथा त्रिकान्ते त्रिलोके च अग्न्याभवात् प्रस्तुते कालस्य त्रिलो-  
कस्य आश्रयः । 'प्रहीत्वा वस्तुसदभावस्मत्वात् च प्रतियोगिनम् । मानसं नास्तितानान् जायतश्चानपि  
क्षया—[ मी० श्लो० अभा० श्लो० २७ ] इत्यभिधानात् । (२) तुलना— अपि च सत्सदभाव  
एव यस्य निवृत्तिः तत्र तस्य विरोधः तन्निह धूमाभाव एव सति धूमस्य निवृत्तिर्दृश्यते इति धूमाभा-  
वेन तस्य विरोधात् न यन्मभावेन । क्वलाङ्काराद्यवस्थापनं अग्न्याभावाभावापि धूमनिवृत्तं प्रतीय-  
मानत्वात् ।—स्या० १० पृ० ५०५ । (३) अङ्कारावस्थापनाग्निमत्रिधूमप्रज्ञे अग्न्याभावाभावेऽपि  
अग्निमन्भावे सत्यपि । (४) यदि हि अग्न्याभावः धूमाभावस्य उपाधि स्यात् तदा उपाध्यपाय  
उपाधिप्रती-भावान्' इति यामिन अङ्कारावस्थापनमत्र्यदा अग्न्याभावस्य अभावो विद्यते अतस्तत्र  
धूमाभावस्यापि अभावः प्राप्नोति न च तत्र धूमाभावस्याभावः धूमसदभावस्य समन्वि । अतः  
नाग्न्यभावात् धूमाभावस्य विशयणम् अपि नु धूमनिवृत्तिरिव । (५) तन्गृहातव्याप्तिवत्प्रती-भूतः ।  
(६) तथा तेन अविनाभावप्रकारेण सम्बद्धत्वं समानं च । (७) पृ० ४२० पं० १ । (८) तुलना—  
अविनाभावस्य साध्याव्यभिचारित्वस्य—प्रमाणात् मनोरथ० ३१ । स्वरूपप्रयुक्तस्याव्यभिचारस्य  
व्याप्तिव्यभिचारान्—स्या० १० पं० ५०६ । जनतकभा० पृ० १० । (९) धूमत्वमग्नित्वञ्च ।  
(१०) अग्निस्वधूमत्वप्रयुक्तानाम् । (११) पृ० ४२० पं० २ । (१२) सामान्यविशयवतो धूमात्—आ० टि०  
(१३) सामान्यविशयवता अग्न्याग्निना—आ० टि० । तुलना— धूमो हि यत्र यत्रति सामान्यतव गृह्यते ।  
न यत्र यत्रैते रण्ये गृह्ये वेत्यवमिष्यते ।—न्यायसं० पृ० १११ । 'दशकाली परिपत्य स्वल्पमाश्रयव  
धूमाग्नेरग्न्याग्निना सहाविनाभावस्य निवापबोधोधाधिरूपत्वात् ।—स्या० १० पृ० ५०६ ।

व्याप्ति । न च § देशकालयोरव्यभिचारित्वम्, त्रिप्रक्षितः देशकालयोरभावेऽपि धूमादे-  
दृष्यत्वात् ।

यचान्यदुक्तम्—'कस्य केन व्याप्ति' इति, तत्र यस्य येन अव्यभिचार तस्य  
तेन व्याप्ति, सामान्यविशेषवतश्च धूमादे सामान्यविशेषवताऽग्न्यादिनाऽव्यभिचारात्  
तस्य तेनैव व्याप्ति, अतश्च उक्तदोषानवकाश । गैभ्य हि व्यापकम्, गमक व्याप्यम् । 6  
न च केवलौ सामान्यविशेषौ गम्यगमकरूपतया अनुभूयेते, जैत्यन्तररूपस्यैव  
उभयात्मन तैद्रूपतयाऽवभासनात् ।

यदप्यभिहितम्—'अविनाभाव सम्बन्ध, स च सम्बन्धिग्रहणपूर्वक'  
इत्यादि, तदप्यनेनैव प्रत्याख्यातम्, सामान्योपलक्षितविशेषयोर्व्याप्ति सर्वोपसहारेणैव  
समवात् । नहि तत्र आनन्त्यादिदोषोऽप्युक्तो लभते । 10

यद्योच्यते—'अविनाभावशब्दो व्यतिरेकमात्रवचनो न सम्बन्धवचन,  
तदप्युक्तिमात्रम्, यतोऽविनाभावशब्दो न व्यतिरेकमात्रे पर्यवस्यति घटाद्यभावेऽपि  
तद्व्युत्तिमसङ्गात्, किन्तु नियमे । स च नियमं तद्व्युत्तिमसङ्गात् अन्वधानुपपत्तिप्रकाराभ्या  
व्यवस्थित, अत तावुभावपि अविनाभावशब्देन उच्येते, 'यत्र यत्र धूम तत्र तत्राग्नि,  
यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति' इति । ननु 'यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति'  
न्येतेत् कुतोऽप्यगम्यते इति चेत् ? अग्न्यभावे धूमस्य नियमेन अप्रतीयमानत्वात्  
तत्सद्भावनियत एवाऽसौ, अन्यथा यथा धूमाभावेऽपि क्वचिद्ग्निरुपलभ्यते तथा 16

(१) तुलना—'मो यथा निषततो येन यादृशेन यथाविध । स तथा तादृशस्यैव तादृशोऽप्यत्र  
वापक ॥'—पाप० मा० पृ० ५७ । (२) पृ० ४२० प० ६ । (३) तुलना—'व्याप्यस्य गमकत्वञ्च  
व्यापकं गम्यमिष्यते । यो यस्य द्वाकालाभ्या समो 'यूनो'पि वा भवेत् ॥ स व्याप्यो व्यापकस्तस्य  
समो वाऽप्यधिकोऽपि वा । तेन व्याप्ये गृहीतेऽर्थे व्यापकस्तस्य गृह्यते ॥ न ह्यस्य भावत्येषा व्याप्य  
व्यापकता तयो ।'—मी० श्लो० अनु० श्लो० ४-६ । (४) सवया सामान्यविशेषाभ्या विलक्षणजा  
निकस्य वयञ्चिदुभयस्त्वस्य इत्यथ । (५) गम्यगमकरूपतया । (६) पृ० ४२१ प० ६ । (७)  
धूमत्वान्निवृत्तिविशिष्टधूमान्निवृत्तया । "तुलना—'सामान्यवतीरविनाभावग्रहणाभ्युपगमान् । यद्यपि  
अग्निर्विषयो धूमविनापाश्चानन्वपनावस्थिता तथापि तेष्ववस्थितमग्निवत् धूमत्वञ्च सामान्यमुपग्राह  
कमस्तीति तदुपग्राहकत्वान् भूयोऽनन्वलादग्निधूमयोर्देशान्निवृत्तयामव्यभिचारेऽप्यव्यभिचारग्रहणम्"—प्र०  
पृ० ५७० । प्र० ६७० प० २१० । (८) यावान् वरिचद्रूम न कालान्तरे दगा तरे च  
अग्निजमव अनग्निजमा कदापि न भवतीत्येव प्रकारेण । तुलना—'सर्वोपसहारेण व्याप्ति"—तत्रभा०  
मा० प० १९ । (९) अननुगमनेऽप्यव्यभिचारादय । (१०) प० ४२१ प० ८ । (११) अभाव  
सामान्य । (१२) तुलना—'अविनाभाव एव हि नियम साध्यं विना न भवतीति कृत्वा ।"—  
प्रमाणवा० स्वव० टी० प० ७० । (१३) तुलना—'हेतुत्वयोगपर्याया वा स्यात्प्रयोगोऽप्यपि वा ।  
द्विविधोऽप्यन्तरेणपि साध्यसिद्धिर्भवेदिति ।'—पाप० श्लो० १७ । प० ३१५ । प्रमाणप०  
३१२ । प्रमाणप० २११४ । (१४) अग्निसद्भाव । (१५) धूमस्य अग्निरूपत्वावस्थितत्वाभाव,  
अग्नेर्वा धूमगम्यभावनियतत्वे । (१६) तत्प्रायोगोक्त्या ।

अग्न्यभावे धूमोऽपि क्वचिदुपलभ्येत । यस्य येन विना नानुपपत्तिर्न स तेन नियत  
यथा धूमाभावेऽप्युपपन्नमानोऽग्निर्न धूमेन नियत, अग्निना विनाऽनुपपत्तिश्च धूमस्य,  
तस्मान्नसौ तन्नियत इति ।

यदप्युक्तम्—‘अग्न्यभावात्परमाग्निर्न धूमस्याविशमानत्वान् तदाश्रिता व्याप्ति  
६ र्भहीतु शक्या’ इति, तदप्यसमीचीनम्, यतो यत्रैव देशे काले वा वास्तवोऽग्न्यभाव  
तत्रैव धूमस्य अविशमानत्व न सर्वत्रेति क्व तदाश्रिता व्याप्ति प्रत्येतुमशक्या ।

यत्पि—‘अग्न्याग्नेरभाव धूमो नोपपत्ते मर्त्यस्य वा’ इत्याद्युक्तम्, तदप्युक्तम्,  
यैतो व्याप्ति सर्वाक्षेपेण प्रतीयते ‘य कश्चिद् धूम स सर्वोऽग्न्यभावेऽनुपपन्न’ इति,  
न पुन एवैरुर्ध्वम्युल्लेखेन ‘पर्वते गृहे अग्न्ये वा धूमोऽग्न्यभावेऽनुपपन्न’ इति । तथा  
१० तदप्रतिपत्तौ अनन्तेनापि कालेन व्याप्तिप्रतिपत्तिर्न स्यात् धर्मिणामानन्त्यात् । अनुमान  
वैषम्यप्रसङ्गाच्च, अग्निधूमगतमग्नेपाणा धमिणा व्याप्तिग्रहणसाल एव गृहीतत्वात् ।

न च सर्वाग्निप्रगृहीतेषु धूमानुपपत्तौर्विशेषणभूत तदभावो र्भहीतुमशक्य  
इत्यभिधातयम् यत तदभावात् तदन्यदेशादिस्वभावात्, भावान्तरम्यभावत्वादभावस्य,  
तुच्छस्वभावाऽभावात्स्य निराकरिष्यमाणत्वात् । स चाग्नित्वाग्निविचिकित्तो देशादि प्रत्य-  
१ श्वेत एव प्रतीयते । व्यैरुर्धार एव हि प्रतियोगिग्रहणसव्यपेक्ष न स्वरूपप्रतिपत्ति,  
कथमन्यैथा घटादरपि प्रतिपत्ति स्यात् तैस्वरूपस्यापि त्रलोस्वविलक्षणतया त्रैलोक्या  
प्रतिपत्त्याप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् ।

यच्च—‘अग्न्यभावाभावेऽपि क्वचिद् धूमाभाव धूमसद्भावस्य विरोधो दृष्ट’ इत्याद्य  
भिहितम्, तदप्यभिधानमात्रम् अग्न्यभावे सति धूमसद्भावस्य नियमेन निवर्त्तमानत्वात्  
२० तद्विरोधे<sup>१</sup> र्भावात्स्येव अग्न्यभावस्यापि निमित्तात्वोपपत्ते । यद् यस्मिन् सति नियमेन  
निवर्त्तते तदाद्विरोपनिमित्तम् यथा उष्णस्पर्शसद्भावं शीतस्पर्शं, नियमेन निवर्त्तते  
चाग्न्यभावात् धूमसद्भाव, तस्माद् धूमविरोधस्यासौ<sup>२</sup> निमित्तानिति । ननु अग्न्यभावे

(१) ४० ४२१ प ११ । (२) महाह्वानादौ । (३) धूमाग्निः । (४) ४० ४२१ प ११ ।  
(५) तुलना— तत्र सवस्यति धूम यथा धूमानुपपत्ति सर्वाभरण प्रतीयते भावान् क्वचिद् धूम स  
सव सवस्याग्नेरभावेऽनुपपन्न —स्या० १० प ५०६ । (६) प्रतिनियतपरिमित्यग्निनिमित्तान् व्याप्ति  
प्रनातो आवन्य बाधकम् तदाह तपति । (७) अग्न्यभाव—आ० टि० । (८) अग्न्यभाव—आ० टि० ।  
तुलना— यथाऽग्न्यभावात् तदग्न्याग्निस्वभाव भावान्तरम्यभावत्वादभावस्य । —स्या० १० प ५०७ ।  
(९) तस्मान्निर्वृत्तवस्तुना बह्वरकस्य पवनाग्निस्तदग्रहणस्वभाव इति—आ० टि० । (१०) महाह  
दात् । (११) अत्र घटाभाव अत्र अग्न्यभाव इति व्यवहारः । (१२) स्वरूपप्रतिपत्तिरपि यदि  
प्रतियोगिप्रदणायना स्यात्तदा । (१३) घटस्वरूपस्यापि । (१४) ४० ४२२ प २ । (१५) धूमविरोध ।  
(१६) धूमाभावस्यैव । (१७) तुलना— तस्मात् यत्सद्भावे यस्य नियमेन निवर्त्तन न तद्विरोधमेव  
अग्न्यभावात् च सति धूमस्य नियमेन निवर्त्तमानत्वान् धूमाभावनेव तेनापि तस्य विरोध । तथाहि  
यस्मिन् सति यन्नियमेन नियत —स्या० १० प ५०७ । (१८) अग्न्यभाव—आ० टि० ।

१-धर्मोक्ते-व । २-प्रहृतु शक्य -व० । ३-अ एव व० । ४-तद्विरोधिव्यवभावात्स्यैव अग्न्य  
सभावात्स्या-व० । ५-वस्य व० ।

धूमस्य नियमेन निवर्त्तमानत्प्रमसिद्धम्, गोपालघटिकादौ तदभावेऽपि तत्सद्भावप्रतीते, इत्यप्यमत्, तत्रापि तत्सद्भावात् एव तद्भावात्सभवात् । धूमस्य हि भाव आत्मलाभ, स च अग्नौ सत्येव सवृत्त, तत्कथं तत्र अग्न्यभावे धूमसद्भावमागच्छामि ? तर्हि पर्वतादिभिः गोपालघटिकादौ धूमोऽग्नि गमयेत्, इत्यप्युक्तम्, पर्वतादिधूममादम्यै वैलक्षण्यम् । वह्निमानसमयसत्ताज्ञो हि पर्वतादिधूमो वहलपतात्रायमानस्वरूपोऽनुभूयते, न चाय तथा, अतो नास्य अग्न्यनुमापकत्वम् ।

यदप्युक्तम्—‘अग्निभावे सत्यपि न धूमात् पैङ्गल्यमनुमीयते’ इत्यादि, तदप्यसङ्गतम्, यतो व्याप्यनुमारेण अनुमान विधीयते, व्याप्तिश्च अग्नित्व धूमत्वद्वारेणैवासीयते न पैङ्गल्यादिधर्मद्वारेण, तेषामानन्त्यात् व्यभिचाराच्च । पैङ्गल्य हि हरितालकाञ्चनानौ व्यभिचरदुपलभ्यते, भासुरत्वं सूर्य-तारका-तडिदादौ, द्रव्यत्वं नरस्त्रपि द्रव्येषु, उर्ध्वगतिर्य वीर्याण्यै, इति अग्निगताना धर्माणा व्यभिचार । तथा धूमगतानामपि, तथाहि-श्यामत्वं नीलाञ्जनादौ, कटुकत्वं त्रिफलकादौ, अक्षिविकारकारित्वं कटुतैलाण्यै, स्पृष्टप्राहित्वम् अपकजम्बूफलादौ, उर्ध्वगतिर्य वाष्पान्यै साधारणं भवति । अतो चेन्नैव रूपेण त्रैलोक्योत्पत्तिरित्यो वह्निव्यक्तयो धूमव्यक्तय तद्धर्माश्च सगृह्यन्ते तदेव रूपं व्याप्तिं नियमेन व्यवस्थापयति, तच्च अग्नित्वधूमत्वे मुक्त्वा नान्यद् भवितुमर्हति । नमस्तु यथा धूमस्वन्तरसाधारणा पैङ्गल्यादय तथा अग्नित्व-धूमत्वे । तद्वाचके चोचरिते शब्दे प्रतिपत्ता त्रैलोक्यविलक्षण स्वधर्मकलापकलितोऽग्नि धूमश्चार्थं सगृह्यते इति सिद्धा तद्द्वारेण व्याप्ति माध्यसाधनयो ।

ननु यदि अग्नौ वस्तुतो व्याप्तिरस्ति तर्हि प्रथमदर्शनकाले कस्माच्चोल्लिखतीति चेत् ? प्राहकामावात् । यत्काले यद्वाहक नास्ति तत्काले तत्र प्रतिभामते यथा रूपदर्शनकाले रस, अग्निधूमयो प्रथमदर्शनकाले नास्ति च व्याप्तिप्राहकं ज्ञानमिति ।

(१) इन्द्रजालघटादौ । “गोपालघटिकादिपु”-प्र० १० ५० ५७१ । स्था० १० ५० ५०७ । (२) अग्न्यभावोऽपि धूमसद्भावप्रतीते । (३) अग्निसम्भाव एव । (४) इन्द्रजालघटानौ । (५) गोपालघटिकाद्यधूमस्य । तुलना-“पक्वतादिधूमस्य वत्प्रमाणान । वह्निसमानसमययुक्तादिपक्वतादिधूमो वहल पतात्रायमानस्वरूपोऽनुभूयते”-स्था० १० ५० ५०७ । (६) ५० ४२२ ५० ५१ । (७) तुलना-“यतो याप्यनुमारेणानुमानं विधीयते, व्याप्तिश्चाग्नित्वधूमत्वद्वारेणैवासीयते”-स्था० १० ५० ५०७ । (८) वात्या-वातूल ‘वक्त्रर आधी’ इति भाषायाम् । (९) प्रयाणा कटुता धूर्त्वापरीक्षितप्राणा समाहार त्रिवटुकम् ‘विश्वोपकृत्या भरिच त्रय त्रिवटु कथ्यते । कटुत्रय तु त्रिवटु त्र्युपण श्लोच उच्यते ॥”-भाव प्र० ५१६० । (१०) हरिताम्बुवर्णान्यो वस्त्वन्तरम् । (११) अग्निधूमप्रतिपत्तक । (१२) अग्नित्वधूमवद्धारण । (१३) अग्निधूमयो ।

१-भावे तत्त्व-श्र०, व० । २ धूमस्य श-श्र० । ३-धूमस्य व-श्र० । ४ नीलोत्पलाञ्जनादौ व० । ५ एतेन स्वरूपेण व० । ६ तदेकं ह-श्र० । ७ अग्निधूमत्वे श्र० । ८ तडिताद्वारेण व० । ९ नास्ति व्या-था० । १०-कं तर्कात् एव ज्ञानमिति व० ।

तत्काले तद्वाहकाभावात् तत्कारणाभावात् सिद्ध । व्याप्तिज्ञानस्य हि कारणम् प्रत्यक्षा-  
पलम्भौ । न च प्रथमदर्शनकाले तौ स्त । न च ग्राहकाभावात् तदा व्याप्तेरप्यभावः,  
तदा ग्राहकाभावात् अथवासिद्धत्वात्, अथवा दूरे रूपदर्शनकाले रसस्वाद्यभाव  
स्याद्विशेषात् । तदा व्याप्तेरभावे च कथं पदार्थात् प्रतिभासेन उपपद्यते ?

अथ अत्रयव्यातिरेकवशात् प्रतिभासेत, ननु अत्रयव्यतिरेकस्याभावात् किं जन्वते,  
ज्ञाप्यते वा ? न तान्जन्वते, तौ हि प्रमाणम्, न च प्रमाण प्रमेयमुत्पादयति । अथ  
ज्ञाप्यते, नत्रापि किं तर्काले सती सा ज्ञाप्यते, प्रागपि वा ? तत्काले चेत्, न, अत्रय  
व्यतिरेककाल एव व्याप्ते सत्त्वे कारणाभावात् । अथ प्रागपि सती ज्ञाप्यते, सिद्धं तर्हि  
प्रथमदर्शनकालेऽपि व्याप्ते मन्त्रमिति कथं सा तद्वाहकवर्तकश्च अपह्नूयेत ? प्रतीयमा-  
नस्याप्यपह्नूये रूपादे तद्वाहकज्ञानस्य वाऽपह्नूय स्यात् । तत सिद्धं तर्कं प्रमाणम् ।

एतदेवाह-चिन्ता प्रमाणम् अभिनिर्गोपस्य फलस्य हेतुत्वात् । अस्य पर्यायमाह-  
अनुमानादेरिति । किं ताम इदमुत्तलक्षण प्रमाणम् ? इत्यत्राह-श्रुतानाम् इति । श्रुतं एतन् ?  
शेषम् अस्पष्टयत, 'शब्दानुयोजनात्' इत्येतन्मध्ये करणात् अनेनैव च सम्भवति ।  
तद्योचनान् यन् पूर्वम् अर्थात् अस्पष्टम् तद्योचनान् च यन् द्येयमस्पष्टं तन् मयं श्रुतज्ञानमिति ।  
तच्च अनेकप्रमेदम् शब्दयोचनान्वितेतराऽस्पष्टज्ञानव्यक्तिभेदानामानन्त्यादिति ।

ननु व्याप्तिप्रतीत्यर्थं तर्कलक्षणप्रमाणाभ्युपगमोऽनुपपन्न, प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा  
तस्या प्रतीतिसिद्धे इत्याशङ्का निराहुः तदाह—

अविकल्पधिया लिङ्गं न किञ्चित् सम्प्रतीयते ॥ ११ ॥  
नानुमानादसिद्धत्वात् प्रमाणान्तरमाह्वयम् ।

(१) प्रथमं ध्याप्तिज्ञानकाले । (२) तत्काले । तूना-व्याप्तिज्ञानस्य हि कारणमपलम्भानु-  
पलम्भौ न च प्रथमदर्शनकाले तौ स्त । -स्यात् २० व० १०८ । (३) साध्यसाधनमदमावविषयकं  
नानु प्रथमं माध्याभावमाध्याभावावगोचरत्वेन ज्ञानमनुपपन्नम् । (४) प्रथमदर्शनकाले । (५)  
अनुयोजकत्वात् । (६) यदि ग्राहकाभावात् वस्तुनाऽभावः स्यात्तदा । (७) रसग्राहकस्य रसम  
प्रत्यक्षं अभावात् । (८) प्रथमदर्शनसमय । (९) न्यायान्तरम् । (१०) उपपन्ना  
नुपपन्नाभ्याम् । (११) यानि । (१२) अव्यतिरेकव्याप्तिरूपेण उपपन्नानुपपन्नाभावव  
अत्रयव्यतिरेकवशात् त्रिविधसिद्धि विषयविधमस्य विषयप्युपपत्त्यात् । (१३) अव्यतिरेककाले ।  
(१४) वागुपाय प्रयोगे । (१५) योगे । (१६) निर्विकल्पकप्रमाण । (१७) अविनाभाव (१८)  
व्याप्तिग्रहणात् पूर्वमन्वयानुभवत्वात् । (१९) तर्कत्वम् । (२०) लिङ्ग साध्यसाधनयोरेवित्वाभाव ।  
किञ्चित् ईदृशम् । न सम्प्रतीयते न सामान्यद ज्ञापने । कथा ? अविकल्पधिया निर्विकल्पकप्रत्यक्षेण  
सौमनाधिप्रमेयं यावान् किञ्चिद्भूय स सर्वोपपन्नभाव अनग्नजमा वा न भवतीत्यनावगच्छित्यविक  
ल्पवास्तस्य अथवा सत्किञ्चिदुत्पत्तेः । नाप्यनुमानान् तस्यैवासिद्धत्वात् व्याप्तिग्रहणपूर्वकत्वान्तरमा  
नोचनस्य । अनुमानान्तररससाध्यविनाभावनिर्णय चानवस्थाप्रसङ्गात् । प्रथमानुमानात् द्वितीयानुमाने

१-भाव तदा थ० । २-भासते थ व । ३-इत्तक-२० व० । ४ अत्रन भा० ।  
५ सम्भवति थ० ।

वितृतिः-नहि<sup>१</sup> प्रत्यक्ष 'यानान् कश्चिद्धूमः कालान्तरे देशान्तरे च पात्रक-  
स्यैव कार्यं नार्थान्तरस्य' इति इयतो व्यापारान् कर्तुं समर्थं सन्निहितविषयनलोत्पत्ते-  
रविचारकत्वात् । नाप्यनुमानान्तरम्, सर्वत्राऽविशेषात् । नहि साकल्येन लिङ्गस्य  
लिङ्गिना व्योम्नेरसिद्धौ क्वचित् किञ्चिदनुमान नाम । "तन्न अप्रत्यक्षम् अनुमानव्य-  
तिरिक्त प्रमाणम्" [ ] इत्ययुक्तम्; लिङ्गप्रतिपत्तेः प्रमाणान्तरत्वात् ।

लिङ्ग हि सायेन सायनस्य अविनाभावोऽभिप्रीयते, तस्मिन् सत्येव लिङ्गस्य  
लिङ्गतोपपत्तेः । तस्य प्रतिपत्तिं किं प्रत्यक्षात्, अनुमानतो वा स्यात् ? प्रत्यक्षाच्चेत्,  
त्रिम अस्मदादिसम्बन्धिन्, योगिसम्बन्धिन् वा ? प्रथमपक्षे किं स्वसवेदनात्, इन्द्रि-  
यज्ञान्, मानसाद्वा ततोऽसौ<sup>२</sup> प्रतीयते ? न तान् स्वसवेदनात्, तस्य स्वरूपमात्रविष-  
यतया बहिरर्थवार्त्तानभिद्वत्वात् । इन्द्रियमन प्रभवादिपि प्रत्यक्षात् सन्निकल्पात्, 10  
निर्विकल्पाद्वा अविनाभाव प्रतीयते ? तत्राद्यधिकल्पोऽनुपपन्न, सविकल्पकप्रत्यक्षस्य  
मौगतैः प्रामाण्यान्भ्युपगमात् । तदभ्युपगमेऽपि न तत्रैतन्न समर्थम्, इत्याह- 'न प्रत्यक्षम्'  
इत्यादि । प्रत्यक्ष मौगतयौगकल्पित मानसेन्द्रियलक्षणम् तन्न 'यानान् कश्चिद् धूमः  
कालान्तरे देशान्तरे च पात्रकस्यैव कार्यं नार्थान्तरस्य' इति इयतो व्यापारान्  
कर्तुं समर्थम् । क्वन प्तत् ? सन्निहितविषयनलोत्पत्तेः । सन्निहित अविप्रकृष्ट- 15  
देशफलो यो विषय अग्निधूमादि साध्यमाधनव्यक्तिलक्षण तस्य नल सामर्थ्यं तेन  
त्पत्तेः । प्ततेन निर्विकल्पकमपि न तत् तत्रै तन्नै ममर्थमिति प्रतिपत्तव्यम् । अत्रैव  
हेत्न तरमाह-अविचारकत्वात् इति । न विद्यते विचार 'यानान् कश्चिद् धूम स  
सर्वोऽनेरेव कार्यं नार्थान्तरस्य' इति परामर्शो यस्य निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य तस्य भावात्  
तस्यात् । चक्षुषोऽत्र ममुच्चयार्थो द्रष्टव्य । कथमस्याऽविचारकत्वमिति चेत् ? 20

व्याप्तिविषय इति चत्, सोयं परस्परश्रयद्वेष । तत्रानुमानमपि व्याप्तिपाहकमिति तद्ग्राह्य प्रमा  
णान्तर नर्वाच्यम् आज्ञस्य पारमार्थिकं न मिथ्यानिक्ल्पात्मकमभ्युपग तव्यम्, अथवा अनुमानप्रामा  
ण्यायोगात् । -सूची० ता० पृ० ३० ।

(१) तुलना- 'यदाह नहीदमियता व्यापारान् क्तु समर्थमिति ।'-प्रमाणवा० स्वबू० टी०  
१४१ । 'न हि कस्यचित् साकल्येन व्याप्तिज्ञानं प्रत्यक्ष क्वचित् कदाचिद् भवितुमर्हति सन्निहितवि  
षयव्योत्पत्तरविचारकत्वात् ।'-सिद्धिबि०, टी०पृ० १५६ । अष्टा०, जट्टसह० पृ० ११९ । 'यथाह -  
न हीदमियतो व्यापारान् क्तु समर्थं सन्निहितविषयवत्नोत्पत्तेरविचारकत्वात् ।'-ता० भा० भावती  
पृ० ७६६ । 'यावदा० ता० पृ० १३७ । (२) उद्धृतमिदम्-प्रमाणस० पृ० १०१ । (३) तुलना- 'सन्निकृष्ट-  
विप्रकृष्टयोः सावयनदन्तया नेदतया वा व्यवस्थापयितुकामस्य तत्र परं कारणम् ।'-सिद्धिबि०, टी०  
पृ० २९३ । (४) अविनाभावे । (५) अविनाभाव । (६) सविकल्पकप्रत्यक्षम् अविनाभावग्रहण । (७)  
प्रमाण-आ० वि० । (८) सन्निहितविषयवत्नोत्पत्ते-आ० वि० । (९) व्याप्तिग्रहणे-आ० वि० ।

१ इति प्ततो ज० वि० । २-नुमात-ई० वि० । ३ व्यप्तिरसि-ज० वि० । ४ प्रतीयते  
पृ० । ५ तत्त्वान्व चक्षुषो आ०, व० ।

वैस्यचित् परोक्षत्वान्, अपरम्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वेन अननस्थानात्, अन्यस्य क्षेणित्व-  
वन्निश्चितकरत्वात् ।

अत्र यौगा भ्रुते<sup>१</sup>—साध्यसाधनयोरनिनाभाव प्रत्यक्षेणैव प्रतीयते । प्रथमप्रत्य-  
प्रत्यनेनैव ऋग्निना चेऽपि अग्निसम्बन्धित्वनैव धूमस्य प्रतिभासनात् तद्गतो नियमोऽपि  
भावस्वावगतिरिति प्रतिभासत एव । न च तत्राप्ययतोऽपि, अन्यत् एव वेति सशयवि-  
याणां पूर्वपक्ष — पर्ययो स, 'अग्नेरव अयम्' इति तत्सम्बन्धित्वेनेव अस्याऽवसायात् ।  
इत्य प्रथमप्रत्यक्षेण व्याप्तां प्रतिपन्नयाम् अन्वययनिरेकौ भूयमोपलभ्यमानौ तस्यैव  
ज्ञानस्य दार्ढ्यमुत्पादयत । भूयोऽनागतता चयव्यतिरेकसहकृतेन्द्रियप्रभव वा प्रत्यक्ष  
व्याप्तिं प्रतिपद्यते । ननु यदि प्रथमप्रत्यक्षेणैव व्याप्तिं प्रतीयते तर्हि किमित्ययमनन नियत  
इत्येवस्था तदानीमेव व्याप्तिप्रतीतिर्नोत्पद्यते इति चेत् ? सामर्थ्यभावात् । अनुसंधानेन

(१) भीमासकस्य षट्त्रयस्य मानसस्य - जा० टि० । (२) नयायिकस्य । (३) सौगतमते  
स्वल्पगणस्य—आ० टि० । (४) यथा हि क्षणिकास निविकल्पक सञ्ज्ञानमपि न तन्निश्चिनोति अत  
क्षणिकास अविच्छिन्नत्वरं निविकल्पक तथैव नीलाद्यस्यपि । (५) लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धदानमाद्य प्रत्य  
दाम्—न्यायवा० पृ० ४४ । (६) धूमपि । (७) अयं धूम विमग्नजात उत जपस्मान्पि करणात् इति  
सशय । (८) धूमोऽयम् अग्नियतिरिक्तान् यस्मान्नेव वस्मान्चिन्न कारणजात इति विषय । (९)  
अग्निसम्बन्धित्वेन । (१०) धूमस्य । (११) भूयोऽनगतम्या च व्याप्तिं सामायचमयो । ज्ञाने  
भ्रूहानन क्वचिन्नापि विक्षययो ॥'—मौ० इलो० अनु० इलो० १२ । न ह्ययथातुपपत्तिं प्रत्यक्षस  
मधिगम्या । वायव्यभिचारसमधिगम्या हि सा । अव्यभिचारश्च असकृत्प्रानुवक ।—बृहती० प०  
१११ । बृह० प० पृ० ९६ । प्रक० प० पृ० ७० । न्याय० मा० प० ७२ । भूयोऽनगतवलादग्निधूम  
यात्त्वादिव्यभिचारेऽप्यव्यभिचारग्रहणम्—प्रग० ध्यो० प० ५७० । तस्मान्निजातमग्निभ्रूतत्ववत्  
भूयोऽनगतनिजसंस्कारसहितमिन्द्रियमव धूमादीनां बल्लघान्निभि स्वाभाविकसम्बन्धग्राहीति युक्तमूल  
श्याम् । एष मानान्तरविदितसम्बन्धिषु मानान्तराण्यत्र यथास्व भूयोऽनगतसहायानि स्वाभाविकसम्ब  
धग्रहण प्रमाणायुक्तव्यानि ।—न्यायवा० ता० प० १६७ । ता० प० पृ० ६९७ । तन्नेन अवय  
व्यनिरवादेव भूयोऽनगतमहत्कारिणी तद्ग्रहणोपाय इति दणितम् । भूयोऽनगतं हि तज्ज्ञाननिजसंस्कार  
सहितमिन्द्रियमुच्यते । मणिभदतत्त्वञ्चात्र स्फुटमुदाहरणम् । तथाहि—मणिर्मेदविषयस्तस्यद्वयवहार  
विषयो भवति पारयितु तत्त्वसम्पत्तावशोनीयते ते भूयसविपाया परीक्षकेषु भूयाभिरव दानर  
प्रीयन्ते तथात्तानि । प्रथमं हि कावतागव्युदासाय तत सातत्यो वगमनविशेषनिश्चयाय ततश्चो  
पाधिनिरामाद्य ।—प्रग० किर० प० २९५ । सहभावार्थानजसंस्कारसंस्कारिणा निरस्तप्रतिपत्तात्वेन  
चरमप्रत्यक्षेण धूमसामायस्य अग्निसामायन स्वभावभावाधान सहभाव निश्चित्य इदमनेन नियतमिति  
नियमं निश्चिनोति । यद्यपि प्रथमशब्देनैष सहभावो गृहीत तथापि न नियमग्रहणम् । न हि सहभाव  
मात्रानियम अपि तु निश्चायिकसहभावात् । निश्चायिकत्वञ्च तस्य भूयोऽनगतम्यासावशयमित्यनेन  
म्य सहभावग्रहणप्रभुवा मविकल्पकप्रत्यक्षण सोऽप्यवसीयते ।—प्रग० क० ३० पृ० २०९ । व्यभि  
चारान्नविरहमहवृत्तं सहचारदानं व्याप्तिग्राहकम् । तान निश्चय र्गिका च । सा च क्वाचिदुपाधि  
सन्नेहात क्वाचिद्विधाधानं तन्निश्चिताधारणधमर्णनात् । तन्निश्चय क्वाचिद्विषयभाषककर्तात क्वाचित  
स्वत् सिद्ध एव ।—तत्त्वचि० अनु० प० २१० ।

१.—भासमानान व० । २ न तत्रा—प्र० । ३ तत्रा—यतोप्ययन एवेति ज्ञा०, तत्राप्ययत एवेति व० ।

हि व्याप्तिरुल्लिख्यते । अनुसन्धानञ्च सकृदेकेन सहितस्यै ग्रहणे अनु पश्चाद् अपरेण सहितस्यैव ग्रहणम् । एतच्च भूयोदर्शनीनांऽदर्शनेरेव उत्पद्यते । अन्वयव्यतिरेकौ च प्रयोक्तव्यसन्देहव्युदासायौ युक्तावेव । अनेकसहचारिदर्शने हि प्रयोजके सन्देह—‘किं धूमत्वप्रयुक्तोऽयं नियमः, किं वा तार्णत्वश्यामत्वादिप्रयुक्तः ?’ इति । तत्र तार्णत्वाद्य सम्बन्धिनो व्यभिचारिणं, श्यामत्वादयस्तु धूमापेक्षा, इति धूमस्य अग्निसम्बन्धित्वे धूमत्वमेव प्रयोजकम् । तस्मिन् सति न कदाचिदग्नित्वं व्यभिचरतीति भूयोदृष्टान्त्रय-व्यतिरेकगतो विस्फारिताक्षस्य अनुपरतेन्द्रियव्यापारस्य अपरोक्षान्तरतया उपजायमानत्वात् विशिष्टदण्ड्यादिप्रत्ययवत् प्रत्यक्षमेवेदं व्याप्तिज्ञानमिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘प्रत्यक्षेणैव अविनाशान् प्रतीयते’ इत्यादि,

तत्र निविधानपुरस्सरं तत्र किम् ऐन्द्रियम्, मानसं वा प्रत्यक्षं तद्ग्रहणे प्रवर्तते ? न तावद् ऐन्द्रियम्, तं द्वि-येनार्थेन प्रतिनियतदशकालादिना इन्द्रियं मन्त्रध्यते तमेव अवभासयति न तु व्याप्तिम्, तस्याः सकलदेशकालकला-परिगतायाश्चेपेण अवस्थितत्वात् । सीं हि गृह्यमाणा त्रैलोक्योदरव-

र्त्तिनाम् अतीतानागतवर्त्तमानाऽजेपार्थानामुपसहारेण गृह्यते । यतो व्यापनं व्याप्तिः, सर्वाणि व्याप्यव्यक्तीनां व्यापकव्यक्तीनाञ्च व्याप्यरूपतया व्यापकरूपतया च शोडीकरणम् । न च तत्रैन्द्रियस्य सम्बन्धो ग्रहणसामर्थ्यं वा सम्भवति, वर्त्तमाने नियतं पदार्थं तैस्तम्भवात् । न च विश्वोदरवर्त्तिन्यो व्यक्तयः सर्वा तेनैव सम्बद्धा वर्त्तमाना वा, तत्कथं प्रत्यक्षतस्तत्र व्याप्तिप्रतिपत्तिः ?

किञ्च, प्रत्यक्षमात्रम्, भूयोदर्शनसहायम्, अन्वयव्यतिरेकसहकृतं वा प्रत्यक्षं व्याप्तिग्रहणे प्रभवेत् ? न तावत् प्रत्यक्षमात्रम्, भूमिजनवर्द्धितोत्थितमात्रस्य प्रथमाऽग्निधूमव्यक्तिदर्शनेऽपि व्याप्तिप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् ।

यदप्युक्तम्—‘प्रथमप्रत्यक्षेऽपि अग्निसम्बन्धितरेनैव धूमस्य प्रतिभासनात् तद्गतो नियमोऽपि प्रतिभासते’ इत्यादि, तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, यत् पुरोदृश्यमाने नियताग्नि-

(१) महानसाग्निना—आ० टि० । (२) धूमस्य । (३) चत्वरानिना । (४) अनुसन्धानम् । (५) अवयव—आ० टि० । (६) व्यतिरेक—आ० टि० । (७) तुणनिमित्तकटादिष्वपि भावात् । (८) पृ० ४२८ प० ३ । (९) तुलना—‘तत्र किमिन्द्रियं मानसं वा प्रत्यक्षं व्याप्तिग्रहणे प्रवर्तते ?’—स्या० २० पृ० ५१० । (१०) तुलना—‘नतावत्प्रत्यक्षम् सन्निहितदेशवतमानकालवस्तुविषयनियमात् । यत् हि प्रमाणेन नवदशपुत्रं धूमादीनामाद्यादिसम्बन्धोऽवगम्यते तेन तेषां सम्बन्धनियमोऽवगम्यते । न च प्रत्यक्षं तत्र समयम् ।’—प्रक० प० ५० पृ० ६८ । अष्टसह० पृ० ४३ । प्रमेयक० पृ० ३४६ । स्या० २० पृ० ५१० । वित्तु० प० २३८ । (११) सर्वापसहारेण । (१२) व्याप्तिः । (१३) सर्वव्याप्यव्यापकव्यक्तिपु । (१४) सम्बन्धे ग्रहणसामर्थ्यो सम्भवति । (१५) इन्द्रियण । (१६) विदनेवतिपु व्याप्यव्यापकव्यक्तिपु । (१७) भूमिगृह—आ० टि० । (१८) पृ० ४२८ प० ३ । (१९) समक्षीभूते महानसादी ।



सम्बन्धित्वेन धूमस्तत्र प्रतिभासेत्, अनियताग्निसम्बन्धित्वेन वा ? प्रथमपक्षे  
 कथं प्रथमदर्शने व्याप्तिप्रतिपत्ति ? प्रतिनियतव्यक्तौ व्याप्तेरेवाऽऽभवत्, तस्यो मर्त्ता  
 क्षेपेण पर्यवसानम् । द्वितीयपक्षे तु आस्ता प्रथमप्रत्यक्षम्, प्रत्यक्षशर्तैरपि न व्याप्ति,  
 प्रत्येत्तु शब्दा, तेषां सम्बद्धवर्त्तमानार्थगोचरचारितया 'यावान् कश्चिद् धूम स सर्वोऽ-  
 5 म्नाँ एव' इति सर्वाक्षेपेण अविनाभावप्रतिपत्ताप्रसमर्थत्वात् ।

एतेन 'भूयोदर्शनसहायमाद्यप्रत्यक्ष व्याप्ति प्रतिपद्यते' इत्ययमपि पक्षे प्रत्युक्त ।

नाप्यवयव्यतिरेकसहकृतं तैत् ता प्रतिपत्तु समर्थम्, यत् तत्सहैव्यवृत्तस्याप्यस्य  
 यत्रैव स्य प्रवृत्ति तत्रैव तत्प्रतिपत्तिर्घटते न पुन 'यत्र यत्र धूम तत्र तत्र अग्नि,  
 यत्र अग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति' इति सर्वाक्षेपेण, तत्र च व्याप्तिप्रतिपत्तौ वैयर्थ्यम् ।

10 अनुमानार्थं हि सां इष्यते, प्रत्यक्षेण च प्रतिपत्ते साध्यसाधनव्यक्तिविशेषे निम्नमानेन ?  
 अत्र यतिरेकसहकृतत्वञ्चास्य स्वविषयातिक्रमेण अर्थात्तरं प्रवृत्ति, स्वविषये प्रवर्त्त-  
 मानस्य अतिशयाधानं वा ? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षविरोध, स्वार्थातिक्रमेण अर्थात्तरे  
 प्रवृत्तिलक्षणसहकारित्वस्य कचिन्प्यप्रतीते । न खलु प्रदीपसहकृतं चक्षु रसात्तौ प्रवर्त्त-  
 मानं प्रतीयते । स्वविषये प्रवर्त्तमानस्यातिशयाधानञ्च अध्यत्मस्य व्याप्तिविषयत्वे  
 15 मिद्धे मिद्धेन । तत्रैव अमिद्धम्, सम्बद्धवर्त्तमानार्थविषयत्वात्तस्य । न च तैत्सहकृत-  
 स्यापीन्द्रियनाशकस्य कश्चनोत्कर्षो जायते, येन स्वविषयातिक्रमेणाप्यर्थान् गृहीयात् ।

एतेन 'भूयोदर्शनसहायमाद्यवयव्यतिरेकसहकृतेन्द्रियप्रभव प्रत्यक्ष व्याप्ति प्रतिपद्यते'  
 इति प्रत्युक्तम् । किञ्च, 'इन्द्रियविषये विद्यमानत्वान् तैत्प्रभवप्रत्यक्षेण व्याप्ति प्रतीयते,  
 स्वविषयत्वाद्वा ? न तावद् विद्यमानत्वान्, रसादेरपि चाक्षुपत्वानुपपन्नान्, व्याप्तिरिद् धूमाम्नाँ  
 20 तैत्सत्त्वस्याप्यत्रिदोषात् । नापि स्रविषयत्वात्, तैस्या तद्विषयत्वानुपपत्ते । अनियत-  
 विषया हि व्याप्ति, [ ता ] कथं नियतविषयमिन्द्रियप्रभव प्रत्यक्ष प्रतिपद्येत् ?

(१) तुलना- यत् पुरोऽयमानाग्निसम्बन्धित्वेन धूम प्रथमप्रत्यक्षे प्रतिभासेत् सवर्त्तान्नि  
 सम्बन्धित्वेन वा ? -स्या० २० प० ५१० । (२) व्याप्ति । (३) प्रत्यक्षणात् । (४) सत्यव  
 भवति अत्र भाव तु क्वाचित्पि न भवतीत्यध्याहायम् । (५) २० ४२८ प० ७ । (६) प्रत्यक्षम् ।  
 (७) सहस्रम् अवयव्यतिरेकसहकृतस्वापि प्रत्यक्षस्य । (८) व्याप्ति । (९) प्रत्यक्षविषयीभूत  
 धूमानि यन्निर्दिशय । (१०) व्याप्तिप्रतिपत्ति । (११) तुलना- 'अवयव्यतिरेकसहकृतत्व हि  
 प्रत्यक्षस्य स्वविषयानिर्भवेण अर्थान्तरे प्रवृत्ति स्वविषय प्रवर्त्तमानस्य अवयव्यतिरेकाभ्यामति  
 २० गयाधानं वा ? -स्या० २० प ५११ । (१२) अध्यत्मस्य 'यातिविषयत्वम् । (१३) अवयव्यति  
 रेकसहकृतत्वम् । (१४) २० ४२८ प० ८ । (१५) तुलना- 'किञ्च इन्द्रियविषय विद्यमानत्वात्  
 तत्प्रभवप्रत्यक्षेण व्याप्ति प्रतीयत स्वविषयत्वाद्वा ?' -स्या० २० प० ५११ । (१६) इन्द्रियप्रभव ।  
 (१७) यथा धूमाम्नाँ व्याप्तिरस्ति एवमाग्नाँ रसादित्वमपि-आ० टि० । (१८) व्याप्ते ।  
 (१९) प्रत्यक्षविषयत्वानुपपत्ति । (२०) तुलना- 'नियतविषया हि व्याप्तिरिति कथं नियत  
 विषयान्यप्रभवप्रत्यक्षणा प्रतिपद्यन् -स्या० २० प० ५११ ।

यदप्यभिहितम्'—'अनुसन्धानेन हि व्याप्तिरुल्लिख्यते, तच्च भूयोदर्शनादर्शनैरेव उपपद्यते' इत्यादि, तदुपपन्नमेव, उपलम्भानुपलम्भप्रभवस्यैव ज्ञानस्य अस्माभिर्व्याप्तिप्रतिपत्तो सामर्थ्यस्य समर्थयितुमुपक्रान्तत्वात् । प्रत्यक्षरूपता तु तस्य अनुपपन्ना, विभिन्नसामग्रीविषयत्वात् । तद्धि इन्द्रियादिसामग्रीकसम्बद्धवर्तमानार्थविषयश्च प्रसिद्धम्, नचेद् तथा इति कथं प्रत्यक्षरूपता प्रतिपद्येत ?

ननु सामान्यस्य व्याप्तिप्रतिपत्तौ प्रयोजकरात्, तस्य च इन्द्रियेण सम्बद्धत्वात् वर्तमानत्वाच्च कथं व्याप्तिज्ञानं प्रत्यक्षम् ? इत्यप्यविचारितरमणीयम्, यत् किं सामान्यस्य सामान्येन व्याप्तिः, उत तदुपलक्षितविशेषाणां तदुपलक्षितविशेषैः ? तत्र आद्यपक्षे न किञ्चिद् व्याप्तिप्रतिपत्तिप्रयोजनम् सामान्ये सिद्धसाधनतोऽनुमानवैकल्यप्रसङ्गात् । तदुपलक्षितविशेषाणां तु आनन्त्यात् कथं सम्बद्धवर्तमानता यतो व्याप्तिज्ञानस्य प्रत्यक्षता स्यात् ?

एतेन 'भूयोदृष्टान्वय' इत्यादि<sup>१३</sup> प्रत्यक्षम्, विजिष्टदण्ड्यादिप्रत्ययस्य हि सम्बद्धवर्तमानार्थगोचरचारितया प्रत्यक्षता युक्ता, न तु व्याप्तिज्ञानस्य तद्धिपर्ययात् इत्यसकृदावेष्टितम् । अथ अस्य अप्रत्यक्षत्वे कथम् 'इन्द्रियापेक्षा' इत्युच्यते ? 'तत्कारणकारणत्वात्' इति ब्रूम । व्याप्तिज्ञानस्य हि कारणं प्रत्यक्षानुपलम्भो तयोश्च इन्द्रियमिति । तत्र इन्द्रियप्रभवं प्रत्यक्षं व्याप्तिप्रतिपत्तौ समर्थम् ।

नापि भ्रान्तसम्, भ्रान्तो वाह्येन्द्रियनिरपेक्षस्य घटिरेव प्रवृत्त्यभावात् । "यस्वतन्त्र

(१) पृ० ४२८ प० १० । (२) अनुसन्धानम् । (३) तर्कस्य—आ० टि० । (४) जन । (५) उपलम्भानुपलम्भस्य तत्त्वस्य । (६) प्रत्यक्षम् । (७) तर्कार्यं ज्ञानम् । (८) धूमत्वस्य अग्नित्वस्य च । (९) सयुक्तसमवायसम्बन्धसम्भवात्, चक्षुःसयुक्तं अग्नौ धूमे च अग्नित्वस्य धूमत्वस्य च समवायात् । (१०) सामाग्रीव्युपलक्षितम् । (११) अग्निधूमसामाग्रीयो महानसादावयवप्रत्यक्षसिद्धत्वात् । (१२) विशयस्यैव साधनीयत्वात्—आ० टि० । (१३) पृ० ४२९ प० ६ । (१४) तत्त्वसाध्यसाधनव्यक्तिविषयतया सम्बद्धवर्तमानार्थगोचरत्वाभावात् । (१५) व्याप्तिज्ञानस्य—आ० टि० । (१६) "तत्र वेचिदाचक्षते मानसं प्रत्यक्षं प्रतिप्रघमाहीनि । प्रत्यक्षानुपलम्भान्मानसहचरितमनस्यैव व्यावर्तमानं धूममुपलभ्य विभावसी नियतो ब्रूम इति मनसा प्रतिपद्यते । मनसश्च सर्वविषयकेन वा नाभ्युपेयते असन्निहितमप्ययमवधारयितुं क्षमम् । भावाभावाहचर्यमवधाय मनसा नियमज्ञानसिद्धेरित्यलं निवर्धनम् ।"—यावत् पृ० १२१, १२३ । 'तस्य ग्रहणं प्रत्यक्षानुपलम्भसहाय्यामान्मानं प्रत्यभात् । धूममग्निहचरितमिन्द्रियानुपलम्भान्मानसहचरं जलान्तेव्यावर्तमानमनुपलम्भेन ज्ञात्वा मनसा निश्चिनोति धूमोऽग्निं व्यभिचरतीति ।—न्यायकलि० पृ० ३ । (१७) तु—'प्रत्यक्षमानसं येषां सम्बन्धं लिङ्गलिङ्गिनो । व्याप्या जानाति तेष्यर्थेऽनीन्द्रिये विभुं कुर्वते ॥ यथाक्षाणि प्रवृत्तं तमानसं तत्र वर्तते । नोऽयत्राक्षाण्यधुपपसगात् सवदहिताम् ॥'—तत्त्वसायश्लो० पृ० १७९ । "न चातीतानागताना व्यक्तीनां मनसा सङ्कलनमिति वाच्यम् । मनसा विहर्ये स्वातन्त्र्यं जघनविषयस्य भावप्रसङ्गात् ।"—प्र० क० पृ० २१० । मनश्चेद्विषयकारणात्तरनिरपेक्षप्रवर्तनं तदा सर्वसवदर्थी स्यात्किंवापि ।—प्र० क० पृ० ६९ । ब्रू० पृ० १५ । यावत् मा० पृ० ५८ । प्रमेयक० पृ० ३५१ । स्था० पृ० ५११ ।

१ उत्पद्येत आ०, अ० । २ उपलम्भप्रभ-व० ।

रहितम्" [ ] इत्यभिधानात् । व्याप्तिश्च बहिरर्थधर्मत्वाद् बहिरर्थ, यो बहिरर्थधर्म स बहिरर्थ यथा रूपादि, बहिरर्थधर्मश्च व्याप्तिरिति । भवत्स्वल्पितम्य मनस पदपदार्थपरीक्षाया प्रतिषेधतोऽसत्त्वान्च कथं तद्वत् प्रत्यक्षता प्रतीयान् । सत्त्वे वा न अणुस्वभावस्यास्यै श्लेषार्थे सत्त्वं सम्बन्धसम्भव, यदणुस्वभावं न तत् सत्त्वं श्लेषार्थे सम्बन्धते यथा परमाणु, अणुस्वभावश्च मयत्स्वल्पितमन इति । अथ साक्षात् मनसोऽश्लेषार्थे सम्बन्धाभावेऽपि परम्परयाऽमौ भविष्यति, तथाहि—मनसा साक्षात् मयुज्यते आत्मा तेन च सयुक्ता सर्वेऽङ्गान्यो धूमान्यश्च साध्यसाधनव्यक्तिविशेषा इति, तदप्यपेशलम्, एवं सर्वस्य सप्रकृताप्रसङ्गात्, साध्यसाधनव्यक्तिवत् सर्वाङ्गानां मनसा सम्बद्धमव ( सम्बन्धसम्बन्धम् ) भवति ।

10 निश्च, असौ सम्बन्धसम्बन्धोऽपि मनस सद्भिरेव अर्थे स्यात् नाऽसद्भि, तत्कथं तत्र व्याप्तिप्रतिपत्ति ? न आत्मनो व्यापित्त्वं सिद्धम्, तस्यै पदपदार्थपरीक्षाया प्रपञ्चत प्रतिषेधान्, तत्कथं सम्बन्धसम्बन्धगोऽपि स्यात् ? अतो दृष्टान्त एव साध्यसाधनयो भवता व्याप्ति प्रतिपत्तव्या, तथा च अनुमानानुत्थान साध्यधर्मिणि साध्यधर्मेण हेतोर्व्याप्यनिश्चयान् । तत्र सौगन्तमते यौगप्रते वा गेन्द्रिय मानस वा प्रत्यक्ष व्याप्ति-

15 प्रतिपत्तोरङ्गमिति स्थितम् ।

एतेन योगिप्रत्यक्षस्यापि अविनाभावप्रतिपत्त्यङ्गतत्वं प्रत्याख्यातम्, तस्याप्यभिचार कतया कारणभूतप्रतिनियतमनिहिता प्रगोचरचारितया चैतान्तो व्यापारान् कर्तुमसमर्थत्वाविशेषान् । अस्तु वा तत्र तद्व्यतिपत्ति, तथापि—योगी<sup>१६</sup> प्रत्यक्षतो व्याप्ति

(१) तुलना— परतन्त्रं बहिर्मा ।—विधिषि० प० ११४ । लौकिक्या० ह० ५० ८२ । उद्धतमित्—स्वा० २० ५११ । (२) योगपरिक्वपिनस्य । (३) ५० २६९ । (४) मनोभव ज्ञानम् । (५) मनस । (६) सम्बन्ध । (७) आत्मव्यापकत्वप्रयुक्तसंपुक्तसंयोगनशात् ऋगपुमाग्नि यक्तीना मनसा सम्बन्धवत्यने । (८) परम्परसम्बन्ध मन संपुक्त आत्मा तेन च सयुक्ता सर्वथा इति । (९) तुलना— किञ्चाशौ सम्बद्धसम्बन्धोऽपि सद्भिरेवार्थे नात्मभिरतातानागत तत्कथं तत्र व्याप्तिप्रतिपत्ति ? —स्या० २० ५१२ । (१०) अतीतानागतशकालभाविरिति—आ० टि० । (११) आत्मनो व्यापित्वम् । (१२) ५० २६९ । (१३) तुलना— अथ तु व्याप्तिप्रत्यक्षत्वं प्रतिपत्तुर्व्यतिपत्ति इवापविविप पत्तिज्ञानमस्तीति ब्रूवते । अथवा हि सर्वो धूमान्ग्नि विना न भवतीति व्याप्तिस्मरण न स्यात् । विवेकेन चाप्रतिभाम समानाभिध्याहारत यथा धाद्यराग्निभिन्नाया धाद्य ध्यक्तरिति ।—प्रज्ञ० पृ० ५७० । यस्तु मयने प्रनाकरमुक्त योगिनात् व्यतिज्ञानमिति ।—सिद्धिषि० टी० ५० १०५ B (१४) योगिप्रत्यक्षस्यापि । (१५) यावान् कश्चिद्भूत स सर्वोऽप्यग्नि जन्मा अनग्निश्च या वा न भवतीत्येतावत् (१६) तुलना— 'योगिपयक्षतो व्याप्तिरिति द्विरपि दुष्कम् । सवशानुमित्तिनाभावात् सक्वयोगिन ॥ परार्थानुमितौ तस्य व्यापारोऽपि न युज्यते । अयोगिन स्वयं व्याप्तिमज्ञानान जनात् प्रात ॥ योगिनोऽपि प्रति व्यय स्वस्वार्थानुमित्ताविव । समारापविनाप स्यान्नावात् सवत् योगिनाम् ॥ —तत्त्वाव लो० ५० १७९ । प्रमेयक० ५० ३५१ ।

१ सत्प्रभव व० । २ सम्बन्धमवदान व० । ३ सम्बद्धसम्ब—आ० । ४ सम्बद्धसम्ब—आ० । ५ वना—व० ।

प्रतिपत्त्य स्वार्यमनुमान निदध्यात्, परार्थं वा ? न तावत् स्वार्यम्, सकलमाध्यसाधन-  
 व्यक्तिविशेषाणा प्रत्यक्षत परिस्फुटतया प्रतिपन्नत्वेन अस्य अपन्नत्वात् । यत् प्रत्यक्षत  
 परिस्फुटतया प्रतिपन्नम् न तत्र अनुमान फलवत् यथा प्रत्यक्षरूपे, प्रत्यक्षत परि-  
 स्फुटतया प्रतिपन्नाश्च योगिनो निवृत्ता माध्यसाधनव्यक्तिविशेषा इति । न च तर्था  
 तैत्प्रतिपन्नेष्वप्येतेषु समागोच्यवच्छेदार्थं सफलमेवानुमानमित्यभिधातव्यम्, योगिनो  
 त्रिधूतस्वरूपानास्तथा ममारोपस्थैवाऽऽमभजान । अथ परार्थं योगिनोऽनुमानम्, ननु  
 गृहीतव्याप्तिकम्, अगृहीतव्याप्तिकं वा पर परार्थानुमानेन योगी प्रतिपादयेत् ? यन्नि गृहीत-  
 व्याप्तिकम्; धुतस्तेन गृहीता व्याप्ति ? न तावत् स्वमपेदनेन्द्रियमनोविज्ञानं, तेषा  
 तन्विषयत्प्रतिपादनात् । नापि योगिप्रत्यक्षेण, अनुमानानर्थक्यानुपपन्नात् । अगृहीत-  
 व्याप्तिकस्य च प्रतिपन्नानुपपत्ति अतिप्रसङ्गान् । तत्र कुतश्चिन्वि प्रत्यक्षात् साध्य-  
 साधनयोर्व्याप्ति प्रतिपत्तु शक्यो ।

अत सूक्तम्-‘अविकल्पधिया’ इत्यादि । न विद्यते विकल्प स्वपरव्यव-  
 मायो यस्या सा चासौ धीश्च तथा परोक्षया हानान्तरानुभवनिश्चया-  
 त्मिकया च न किञ्चित् स्वभावविषय र्थार्थाविषय वा लिङ्गम्  
 अविनाभात् सम्प्रतीयत इति । तर्हि अनुमानान् तत्सम्प्रतीयते  
 इत्यत्र-न अनुमानात् ‘लिङ्गेन लिङ्गिनि ज्ञानम्’ इत्येव लक्षणार् तत्सम्प्रतीयते,  
 तथाहि-प्रमानुमान हेतो अविनाभात्प्रमाये समर्थम्, अनुमानान्तर वा ? तत्राप्य-  
 पक्षोऽनुपपन्न, तदनुमानस्य अभिद्वत्वात् । अत एव तैत्तिम्नद्वौ अन्योन्याश्रय -  
 मिद्वे हि हेतोरविनाभावे तत्सर्वदुत्पत्तिमिद्वि, तत्तिम्नद्वौ च हेतोरविनाभावमिद्विगिति ।  
 नाप्यनुमानान्तरम्; यत् तदपि प्रतिपन्नाऽविनाभावात् हेतोर्नृत्पत्ते, तैत्प्रतिपत्तिश्च  
 तत्र प्रत्यक्षत, अनुमानाद्वा स्यात् ? तत्राप्यपक्षे दूषणमाह-‘सर्वत्र’ इत्यादि । सर्वत्र  
 प्रथमानुमानान् द्वितीयेष्वनुमाने अग्रियोपात्, ‘न प्रत्यक्षम्’ इत्यादौर्पस्य अभेदात् ।  
 अनुमानतोऽपि तत् एव, अन्यतो वा तत्प्रतिपत्ति स्यात् ? यदि तत् एव, अन्योन्याश्रयं ।

(१) अनुमानस्य । (२) परिस्फुटतया । (३) यागिप्रत्यक्षानेप्यपि माध्यसाधनव्यक्ति  
 विषयम् । (४) प्रागुक्तं यागिना तेषां तन्भावनामयम् । विद्युत्पत्तौ जाले स्पष्टमवावनामन ॥”-  
 प्रमाणका० २।२८१ । मध्यस्वरूपविषयत्वेन विद्युत्स्वरूपनाजाले अविकल्पवत्त्वाच्च स्पष्ट विद्युत्पत्तेया  
 वाग्भेषावभासा ।”-प्रमाणका० मनोरथ० २।२८१ । (५) मुञ्जना-‘तर्हि यागी वगैवानुमानेन  
 गृहीतव्याप्तिं तत्रमगृहीतव्याप्तिकं वा परं प्रतिपत्त्यत् ।’-प्रमेय० पृ० ३५१ । (६) परेण प्रतिपाद्यत ।  
 (७) व्यापकविषयत्वं । (८) सकलमाध्यसाधनया स्पष्टं प्रतिपाद्यत्वात् । (९) मोर्मागवत्तम् ।  
 (१०) नैयमित्तम् । (११) लिङ्गम्-स्वितान्ताव । (१२) प्रकृतानुमानस्य व्याप्तिप्रकृतानुभवमन्वय  
 स्वरूपत्वात् । (१३) अनुमागिदो । (१४) अनुमानान्तरम् । (१) अविनाभावप्रतिपत्तिश्च अनुमा  
 नान्ते । (१६) समाग्यात् । (१७) सिद्धाया हि व्याप्तिप्रतिपत्ते अनुमानात्पानम् मति च अनु  
 मानान्तरम् इत्यादि प्रतिपत्तिरिति ।

१-नप्रत्यक्षप्रमाणम् थ० । २ एतन्तन्त्रं थ० प्रती ‘अविकल्पधिया’ इति वाक्यादि लिङ्गित्वा  
 मपि । ३ स्वहृत्पथ-थ० । ४  
 थिन् थ० । ५ तिद्रे हेता-थ० ।

अथाऽयत् , तदा अननस्था-तद्वृत्वापक्वहेतानप्यनुमानातरारात्प्रतिपत्तिप्रसङ्गान् । तन्न  
 कुतश्चित् परस्य प्रतिपत्तिरसिद्धिः । मा भूत्, किं तथा ? इत्याह-“नहि” इत्यादि ।  
 न गच्छु सामान्येन लिङ्गस्य लिङ्गिना व्याप्तेरसिद्धौ क्वचिद् अनित्यत्वात् नैव ह्यथादौ वा  
 साये व्यवहारे परमार्थे वा किञ्चित् स्वभासलिङ्गन कार्यादिलिङ्गज वा अनुमानद्वयम् ।  
 ६ इत्थमत्र तात्पर्यम्-यथा अनुमानमन्तरेण न किञ्चित् साध्य सिद्धयति इति तत्पर्यमनुमान-  
 नमित्यते तथा तल्लिङ्गलिङ्गिनासिद्धिमन्तरेण तदपि न सिद्धयति इति तदर्थं सांपि  
 इष्यतामविशेषात् । तत् किं जातम् ? इत्याह-“तन्न” इत्यादि । यत् एव तत् तस्मात्  
 न अप्रत्यक्ष परोक्षम् अनुमानव्यतिरिक्त प्रमाणमस्ति किन्तु अनुमानमेव’ इत्य  
 युक्तम्, लिङ्गप्रतिपत्तेरविनाभावप्रतिपत्तेरन्वयाया प्रमाणान्तरत्वाद् अलिङ्गजाऽ-  
 10 निरादरभावतया प्रमाणद्वयान्तर्भूतत्वात् । तत् सूत्रम्-“चिन्ता प्रमाणम् अनु-  
 मानादेहेतुत्वात्’ इति । वीदश तन्नुमानम् ? इत्याह-

लिङ्गात् साध्याविनाभावाभिनिर्गोर्धैरुलक्षणात् ॥ १२ ॥  
 लिङ्गिधीरनुमानं तत्फलं हीनादियुद्धयम् ।

(१) अमानुमानोपापक । (२) व्याप्तिप्रतिपत्ति । (३) अनुमानमपि । (४) अनुमान  
 सिद्धयर्थी । (५) व्याप्तिविद्विरथि । तुक्ता- तन्मवात्तदहं नि सङ्गानुमति एव त इ-तत्स्वाय  
 श्लो० पृ० ११५ । (६) तन्नाप्रयक्षम् इत्यादि बोद्धाकं वाच्यम् । (७) अनुमानप्रत्यक्षम् । (८)  
 व्याख्या- अनुमानं प्रमाणं भवति । किम् ? लिङ्गिधीरिति साध्यस्य धीर्नानमित्यर्थः । लिङ्गम  
 विनाभावसम्बन्धोऽप्यास्तानि लिङ्गानि निग्रहान् । तस्मिन्प्रतिपत्तिप्रमाणमाह लिङ्गात् साधनान् । साध्या  
 विनाभावाभिनिर्गोर्धैरुलक्षणात् साध्येन इष्टायाविनासिद्धरूपेण सह अविनाभावोऽयथानुपपत्तिनियम  
 तस्य अस्ति इति साक्षात्कारव्याख्या विवाधी निषेध स एव प्रथमं लक्षणं स्वरूपं यस्य तत्तयोक्तं  
 तस्मालिङ्गाद्भूतव्ययमाना लिङ्गिधीरनुमानमित्यर्थः । नवस्य तत्कालत्वात्तन्मन्मन् प्रमाणत्वमित्यादिवाह-  
 तत्कालं हानादिवद्वयं हानं परिहार आत्तिप्रमाणं उपादानमपेक्षा च गृह्यते । ताया बुद्धयो विकल्पा  
 तस्य अनुमानस्य एव भवति तत् पश्चेत्तुस्वात्मानमानं प्रमाणं प्रत्यक्षवित्त्वभिप्रायः । -तधी० ता०  
 पृ० ३१ । (९) अनुमेयं सम्यक् प्रसिद्धं च तदविते । तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ॥  
 -प्रमाणं भा० पृ० २०० । उपाहरणसाधर्म्यान् साध्यसाधनं हेतुः । तथा वधर्म्यान् । - वायसु०  
 १।१ । ३४ ३५ । ‘हनुमिरुप’-न्यायप्र० पृ० १ । ‘पपघमस्तान्मानं व्याप्तो हेतुस्त्रिषध स ।  
 अविनाभावानियमान् हेत्वाभासान्तोपरि ॥ -हेतुवि० प्र० परि० प्रमाणवा० ३।१ । तत्त्वसं० का०  
 १३६२ । त्रिषधो हेतुः । -साध्यका० माठ० पृ० १२ । साधनत्वव्यापकं लिङ्गवचनं हेतुः ।  
 -न्यायशा० पृ० ५ । ‘अयथानुपपत्तत्वं हेतोरक्षणमीरितम् । -न्यायवा० श्लो० २२ । साधनं  
 प्रस्ताभावेऽनुपपत्तम् -प्रमाणसं० पृ० १०२ । ‘यादवि० का० २६९ । तत्त्वावश्लो० पृ० २१४ ।  
 परीक्षासु० ३।१५ । ‘तथा चाभ्यधापि कुमारनिर्मितकारक -अयथानुपपत्त्येकलक्षणं लिङ्गमभ्यत ।’  
 -प्रमाणप० पृ० ७२ । निश्चिन्तायथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुः । -प्रमाणनय० ३।९ । ‘साधनत्वाभि  
 व्यञ्जकविभक्तयस्तु साधनवचनं हेतुः । -प्रमाणमी० २।१।१२ । (१०) लिङ्गद्वयान्तासाध्यायमान  
 लिङ्गवचनम् । -प्रमाणं भा० पृ० २०० । ‘अनुमानं तातसम्बन्धव्यक्तेश्चान्तात्कालान्तरेऽस्तिपृष्टेयं  
 यदि । -आवरमा० १।१।१५ । ‘प्रतिपत्तिप्रमाणं प्रतिबद्धानामनुमानम् । -साध्यसु० १।१०० । अनु-  
 मानं मितेन चिन्तनं अत्र पश्चात्मानम् । -न्यायवा० पृ० २८ । तत्र स्वाय विरुपातिरङ्गाव यवनमेय

त्रिभूतिः—नहि तादात्म्यतदुत्पत्ती ज्ञातु शक्येते विनाऽन्यथानुपपत्तिरितरेण तास्या विनैव एकलक्षणसिद्धिः । नहि वृक्षादिः छायादेः स्वभायः कार्यं वा । न चात्र निसवादोऽस्ति ।

लिङ्गात् हेतो । किंविशिष्टात् ? इत्याह—‘साध्य’ इत्यादि । साध्येन इष्टाऽनाविताऽसिद्धनिशेषणविशिष्टेन अविनाभावो व्याप्तिः, ८  
 वारिष्ठायाऽन्यानम्— तस्य अग्नि समन्तात् निवोधो निश्चय एव प्रधान लक्षण यस्य तस्मान् सुनिश्चिताऽन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयैकलक्षणात् इत्यर्थः । लिङ्गिनि साध्यधर्मविशिष्टे धर्मिणि प्रयुज्यमाने गम्यमाने वा धी ज्ञानम् अनुमानम् ।

ननु ‘प्रयुज्यमाने साध्यधर्मनिशिष्टे धर्मिणि’ इत्युक्तम्, पक्षस्य प्रयोजनाभावतः प्रयोगानुपपत्तेः, सर्वत्र गम्यमान एवास्मिन् साधनात् साध्यसम्प्रति- 10  
 पण्यते वा दैवस्य पश्युपपत्तेः । अथ तत्प्रयोगस्य साध्यार्थप्रतिपादनलक्षणप्रयोजन-  
 प्रतिविधानम्— समन्तात् तदसम्बन्धोऽसिद्धः, तत्र, तस्य तत्प्रतिपादनासम्भवात् । स

पानं तन्नुमानम् ।”-न्यायवि० २।३ । “सम्यग्बिनाभावेन परोक्षानुभवसाधनमनुमानम् ।”-न्यायसू० ५० ५ । “साध्याविनाभुवो लिङ्गात् साध्यनिश्चायनं स्मृतम् । अनुमानं तन्मान्तं प्रमाणत्वात् समक्ष वन ॥”-न्यायवाक्य० श्लो० ५ । “साधना साध्यविज्ञानमनुमानं”-न्यायवि० का० १६७ । तत्त्वापश्लो० ५० १०७। प्रमाणप० ५० ७०। परीक्षासू० ३।१४ । प्रमाणनय० ३।८। प्रमाणमी० १।२।७। यावदी० ५० २०। अनतकभा० ५० १२ । (११) तुलना—‘तत्र लिङ्गदर्शनं प्रमाणं प्रतिनिरग्नितानम् । अथवा जगितानमव प्रमाणम् प्रतिनिरग्नी गुणदोषमाव्यस्यदत्तनमिति ।”-प्रज्ञ० भा० ५० २०६ ।

(१) तुलना—“पक्ष प्रसिद्धो धर्मा प्रसिद्धविशेषणेन विगिष्टतया स्वयं साध्यत्वेनेषित, प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध इति वाक्यशेषः ।”-न्यायप्रवे० ५० १ । “स्वल्पेणैव स्वयमित्योऽनिराहृत पक्ष इति ।”-न्यायवि० ५० ७९ । “वायुमुलप्रकरणे तु स्वयं साध्यत्वेनेषित पक्षो विरुद्धार्थोऽनिराहृत इति पाठान्”-प्रमाणवार्तिककाल परि० ४ । “साध्याभ्युपगम पक्ष प्रत्यक्षाद्यनिराहृत ।”-न्यायवाक्य० श्लो० १४ । “साध्यं शक्यमभिप्रतमप्रसिद्धम्”-न्यायवि० श्लो० १७२ । “इष्टमन्नाधिनमिदं साध्यम्”-परीक्षासू० ३।१५ । “अप्रतीतमनिराहृतमभीषितं साध्यम्”-प्रमाणनय० ३।१२ । “सिद्धा यथिपितमवाच्यं साध्यं पक्षः ।”-प्रमाणमी० १।२।१३ । (२) उपनयवाक्यसामर्थ्यात् इति पक्षम त्वसमघनादा अर्थात्पक्षः । (३) ‘तत्त्वशक्येन वक्तुरभिप्रायनिवदने । प्रमाणं संशयान्पक्षस्तत् साक्षात् साध्याम् । साध्यस्यबाधिधानेन पारम्पर्येण नाप्यन्तम् ननु— अख्यापिते हि विषये हेतुवृत्त- स्रमवात् । विषयस्यापनादव सिद्धो वेत्तस्य शक्यता ॥ उत्तमत्वं विनाप्यन्त्यात् कृतं शब्द ईदृशा । सर्वे नित्या इति प्राप्तेष्वर्थात्प्राप्तधीभवेत् ॥ अनुवनावपि पक्षस्य सिद्धरप्रतिवचन । त्रिप्यन्तम- रूपम्यवानुस्ति-यूनतोऽन्ता ॥”-प्रमाणवा० ४ । १६-२३ । हेतुवि० प्र० परि० । “अथवा तस्यैव साधनस्य मन्त्राङ्गं प्रतिपादनयनिगमनात् तस्यासाधनाङ्गस्य साधनवाक्ये उपादानं वादिनो निग्रहस्यात् अर्थार्थिभयान् । ननु य विषयोपपत्तौ तस्य प्रतिज्ञानचनमसाधनाङ्गमप्युपादेयमेव, न, कथय्यात् अगत्यपि प्रतिपादयति यथोक्तात् साधनवाक्यात् भवत्यवष्टायमिदिरित्युपायनं तस्योपादानम् ।”-वाक्यवाक्य ५० ६१-६५ । “प्रयत्नयथा प्रयागं नविरयं पशुनिर्देण । यतश्च साधनं साध्यधमप्रतिवदं तादात्म्यतदु ल्पित्तम्या प्रतिपत्तयं द्वारेरपि प्रयागया तस्मात् पशोऽन्यमेव न निर्देयः । अथ यदि पशो न निर्देयः १-पपत्तिवित्त-प्र० वि० । २ साध्यविनि-प्र० ।

हि केवल साध्यमर्थं प्रतिपादयेत्, हेतूपन्याससमन्वितो वा ? यदि केवल, हेतूपन्यासो व्यर्थ, प्रतिज्ञाप्रयोगमात्रादेव तत्प्रतिपत्ते संज्ञातत्वान् । अथ हेतूपन्याससमन्वित, तर्हि हेतौरेव तत्र सामर्थ्योपपत्ते न तत्रयोगेणेति ?

अत्रोच्यते—पक्षे साध्यसिद्धिप्रतिनिधित्वादप्रयोग, प्रत्रभात् तैत्समिद्धे, प्रयोजनाऽप्रसाधकत्वात्, हेतूपन्यासापेक्षस्य तत्प्रसाधकत्वाद्वा ? न तानत् तस्मिद्धि-प्रतिनिधित्वात्, वादिना सम्यक् साधनात् स्वपक्षसिद्धिलक्षणे कार्यं त्रियमाणे तद्विषय-आप्रसाधकत्वत तत्प्रयोगस्य तत्प्रतिनिधकत्वानुपपत्ते । यत् यस्मिन् कार्ये त्रियमाणे तद्विषयप्रसाधकम् न तत्तस्य प्रतिनिधनम् यथा धूमे वाष्पादिकम्, सम्यक् साधनत-स्वपक्षसिद्धिलक्षणे कार्यं त्रियमाणे तद्विषयप्रसाधकम् प्रतिज्ञाप्रयोग इति ।

प्रक्रमात्तस्मिद्धिश्च प्रतिज्ञावत् हेत्वादानुप्यवशिष्टा, तैतस्तस्याप्यप्रयोगप्रसङ्ग । नहि शब्दस्य अनित्यत्वप्रतिज्ञाने वृत्तत्वादिहेतु घटादिघटात् इत्यत्र प्रत्रमात्रे सिद्धयति । तदाविधस्याप्यस्याभिधाने पक्षेण कोऽपराध कृत येनास्य तथाविधस्याभिधानेनेप्यते ?

प्रयोजनाप्रसाधकत्वञ्च असिद्धम्, प्रतिपाद्यप्रतिपत्तिविशेषस्य तत्रसाध्यप्रयोजनास्य सङ्गावात् । प्रतिपाद्यो हि कश्चिन्मदमति कश्चित्तीजमति । तत्र यो मदमति न तस्य प्रकृतावप्रतिपत्तिविशेष प्रतिज्ञाप्रयोगमन्तरेणोपपद्यते, नापि 'नैयायिकादे-पञ्चावयवप्रयोगे प्रतिपन्नमद्वत्स्यामन्मन्तेरेपि । तन्प्रयोगे तेने निग्रहस्थानाभिधानात् । 'हानमन्तमनापि युक्तम्' [ 'यावत् ५।२।१२ ] इति वचनात् । तीजमतेस्तु तैत्प्रयोग-मन्तरेणापि हेतुप्रयोगमात्रात् प्रकृतार्थप्रतिपत्तिप्रतीतेस्तैस्त्रयैर्ध्वं हेतुप्रयोगस्यापि वैयर्थ्य-स्यात्, 'निश्चिताऽविप्रतारकपुनपचनान् अग्निरत्र' इत्यान्तिप्रतिज्ञाप्रयोगमात्ररूपादेव कस्यचित् प्रकृतार्थप्रतिपत्तिदर्शनात् ।

कथमनिर्देश्यस्य लक्षणमुक्तम् ? न साधनवानुपपत्तय वादस्य लक्षणमुक्तमपि तु असाध्ये केचित् साध्य साध्य चासाध्य प्रतिपत्ता तत्साध्यासाध्यविप्रतिपत्तिनिवारणाय पक्षलक्षणमुक्तम् । —यावत् ५० टी० ५० ७७-७९ । असाधनाङ्गभूतत्वात् प्रतिज्ञानुपयागिनी । —तत्त्वसं ५० ४१८ ।

(१) साध्यार्थप्रतिपत्त । (२) साध्यार्थप्रतिपत्तौ । (३) तुलना— तस्यावचन साध्यसिद्धि-प्रतिनिधकत्वात् प्रयोजनाभावात् ? —प्रमेयक० पृ० ३७३ । कथञ्च पुनरस्या साधनाङ्गत्वं किं स्वयं कथास्वतन्प्रयोगात् अथाप्युक्तस्याप्यथव परिग्रहात् ? —प्र० किर० प० ३३५ । (४) प्रकरणात् । (५) पत्रप्रयोगनिर्देशः । (६) प्रयोजन । (७) स्वपक्षविरोधासाधकत्वात् । (८) साध्यसिद्धि । (९) यत् हानानामपि प्रकरणात्तैव सिद्धिस्तत् । (१०) प्रकरणात् सिद्धस्यापि (११) तुलना— तत्प्रयोग-प्रतिपाद्यप्रतिपत्तिविशेषस्य प्रयाजनस्य सम्मानात् । —प्रमेयक० पृ० ३७३ । १०।२० पृ० ५५० । (१२) प्रतिज्ञाया अप्रयोगः । (१३) नयापिनेन । (१४) प्रतिज्ञाप्रयोग । (१५) प्रतिज्ञाप्रयोगस्य (१६) तुलना— 'अविप्रतारकतानिश्चितपुनपचनमात्रानपि अग्निरत्र इत्यादिस्वपक्ष क्वचित् प्रमेयोऽप्य सिद्धयतीति हेतोरप्यसाधनताप्रसङ्गात् तन्निर्हेणापि साध्यसिद्धि ।' —न्यायाव० टी० प० ५७ । (१७) तीजमते श्रद्धालो ।

१ साध्य प्र-५० । २ सज्ञानत्वात् ५० । ३ पक्षताप्रसिद्धे ५० । ४-प्र प्रति-५० ।

५ नियामकत्वे व ।

एतेन हेतूपन्यासापेक्षस्य प्रयोचनप्रसाधकत्वात्' इत्यपि प्रत्याख्यातम्, नियमाभावात् । कचिद् हेतुप्रयोगमन्तरेणापि केवलस्यैव पक्षप्रयोगस्य प्रतिपाद्यस्य प्रतिपत्तिविशेषलक्षणप्रयोचनप्रसाधकत्वप्रतीते ।

किञ्च, हेतुगोचरस्य पक्षस्यानिर्देशे हेतोरनैकान्तिकत्वादिनोपानुपद्ग, तम तरेण तत्र वास्तवगुणनोपनिवेशस्य कर्तुमशक्यत्वात् । यथैव हि लक्ष्यनिर्देश विना धानु-  
 प्स्य इषु प्रतिपत्तौ गुणोऽपि दोषतया दोषोऽपि गुणतया तत्प्रेषकजनाना व्यामोहान् प्रतिभाति, तत्रिन्देशे तु तद्गुणो लक्ष्यप्रेषप्रावीण्यलक्षण तद्विपरीतत्वलक्षणश्च नोप-  
 तेषा यथात्र प्रतिभाति, एव पक्षाऽनिर्देशे व्यामोहात् सम्यग्हेतारपि 'निमित्त हेतु-  
 माध्ये एव वर्तते तद्भावे वा' इत्यादाह्वानलङ्घितत्वाद्नैकान्तिक, 'त्रिपक्ष एव वर्तित्यते'  
 इति विपरीताशङ्काऽनिवृत्ते विरुद्धो वा स्यात् । पक्षनिर्देशे तु लक्ष्यनिर्देशे वानुभवत् 10  
 ध्यानसङ्घट्टणदोषयो प्रतिपत्त्युपपत्ते न कश्चिद् दोष ।

यदप्यभिहितम्—'केवलस्यैव पक्षस्य साध्यप्रतिपादनमामर्थ्ये हेतूपन्यासो व्यर्थ' इति, तदप्यभिधानमात्रम्, एकाग्रिण कारणस्य कार्यकारित्वाप्रतीते । न गल्लु वीजादे केवलस्यैव अङ्कुराद्विकार्यकरणे सामर्थ्यं दृष्टम् । नाप्येवंस्य तत्र सामर्थ्ये अन्येषा वैयर्थ्यम् । केवलस्यैव हेतो केवलस्यैव साध्यसिद्धौ सामर्थ्ये तत्समर्पणस्य उपनयादेश्च वैयर्थ्यं स्यात् । पक्षस्य अर्थसिद्धौ हेतुपेक्षणाञ्च तसिद्धिनिवन्धनत्वम्, इत्यप्यसुन्दरम्, तत्रैतत्प्रतिपादाऽविकल्पसाध्यस्यसाध्यसिद्धिनिवन्धनत्वाभावात्प्रमद्वात् तसिद्धौ तस्य विकल्पापेक्षणात् । अथ 'तत्रैतिपक्षमेवार्थं विकल्पो व्यनस्थापयति' इत्युच्यते, तर्हि

(१) तुम्हा—'तत्रप्रयोगोऽत्र नतस्यो हेतुर्गोचरणीयव ॥ अथवा वाच्यभिप्रेतद्वतुगाचरमाहित । प्रत्याख्यस्य भवेदनुविरुद्धारकिता यथा ॥ धानुष्यगुणसंप्रतिजनस्य परिविध्यत । धानुष्यस्य विना लक्ष्यनिर्देशेन गुणतरो ॥ ततश्च सम्यग्हेतावपि विषय एवाय वत्तत इति व्यामोहात् विरुद्धपणम-  
 निदधीन, पक्षोपयासात् निर्णीतहेतुगोचरस्य नप दोष स्यात्तियमिप्राय यथा लक्ष्यनिर्देशे विना धानुष्यस्यपु प्रमिपता यो गुणदोषो तो तद्गिजनस्य विषयस्तावपि प्रतिभात —गुणोपि दापतया, नोपो-  
 पि वा गुणतया, तथा पक्षनिर्देशे विना हेतुमुपग्रस्यतो वादिनो यो स्वमिप्रेतसाध्यसाधनसमयत्वा ममयत्वपक्षो गुणदायी तो प्राशिनप्रतिवाधादीना विपरीतावपि प्रतिभात इति भावाथ ।"—स्याया व० श्लो० १४ १६, टी० पृ० ४८ ४९ । (२) लक्ष्यनिर्देशे । (३) धानुष्यस्य वीगत्यम् । (४) प्रशकजनानाम् । (५) वाचिन स्वाभिप्रेतसाध्यसाधनसमयत्वासमयत्वत्वलक्ष्यो गुणदोषयो । (६) प्र० ६३६ प० १ । (७) वीजस्य ह्नावा । (८) जङ्कुरात्पान्ने माध्यप्रतिपादने वा । (९) निमित्त-  
 लितादीनाम् पक्षप्रयोगादीना वा । (१०) तुम्हा—'तत्र च यद्दूषणमुक्तम्—तर्हि हेतारेव तत्र साम-  
 य्योपपत्ते कि पक्षवचनेननि, तदयुक्तम्, एव हि हेतो समर्थनापक्षस्य साध्यसिद्धिनिवधनदोषपत्त-  
 तद्वचनमपि न स्यात् ।"—स्या० २० पृ० ५५० । 'याथाव० टी० पृ० ४७ । (११) साध्यमिद्धि ।  
 (१२) शीगत । (१३) अवसिद्धौ (१४) अविकल्पसाध्यस्य । (१५) निविकल्पप्रतिपत्त ।

१ इत्यत्रापि थ० । २ केवलसाध्यस्य व० । ३ यथावद्गुण-जा० । ४-वाच्यकरणे जा० । ५-निवधनम् व० ।



पक्षप्रतिपादितमेवात्र हेतु प्रतिपादयति, तत्रप्रतिपादितञ्च प्रमाणात्तर समर्थयत इत्यप्यु-  
च्यतामनिशेषात् । ईदमेव च पक्षस्य स्वरूपम्—यद् हेत्वपेक्षस्य अथप्रतिपादयत्त नाम ।  
'पच्यते कोमनीत्रियते हेतुना सुकुमारप्रधाना माध्यधमात्रितत्वेन व्यक्ततामापागते  
इति पक्ष' इति व्युत्पत्तेः ।

यदि च पक्षो नेष्यते नथ तर्हि सपक्षनिपक्षयवशा स्यात् तत्पूर्वकत्वात्तदंवा ?  
तदभावे च तिरूपस्य हेतोरप्यनुपपत्तेरनुमानोच्छेद स्यात् ।

निश्च, प्रतिज्ञाया प्रयोगानर्हत्वे ज्ञान्वादावप्यसौ न प्रयुज्येत जविशेषात् । न  
चेवम, तत्र तत्रयोगात्प्रज्ञानात् । नहि शस्त्रेऽनिर्णयतन्वाया या प्रतिज्ञा नाभिधीयते  
'अभिरत्र धूमात्, वृन्दोऽय शिशपात्वात्' इत्यादिभिधानाना तत्रोपलम्भात् । 'परानुग्रह-  
प्रवृत्ताना शास्त्रकाराणा प्रतिपाद्यानयोध्याधीनधिया शास्त्रादौ प्रतिज्ञाप्रयोगो युक्तिमानेव  
उपयोगित्वात्तस्य' इत्यभ्युपगमे वादऽपि सोऽस्तु तत्रापि तेषां 'तादृशत्वादिति' ।

ननु लिङ्गस्य माध्यात्रिनाभायैवलक्षणत्वमयुक्तम्, तस्यै पक्षधर्मत्वादिलक्षणत्रया  
पक्षधर्मवदिरूपत विवतत्वेन एतल्लक्षणत्रयायोगात् । तदनविवतत्वे हेतो अमिद्वत्त्वादि-  
वस्य निरलक्षणात्त्व  
युक्तसपुरस्सरतस्य  
श्रिनाभावरलक्षणे  
बममथनम्—  
द्वोपानुपपन्नात् । नहि पक्षधर्मत्वाभावे अस्य असिद्धत्वव्यवच्छेद,  
मपक्षे सत्त्वाभावे च निरुद्धत्वव्युत्पत्तम्, विपक्षेऽसत्त्वाभावे च अने-  
कातिरत्वनिषेध कर्तुं शक्य इति । उक्तञ्च—

(१) हेतुप्रतिपादितम् । (२) समयनरूपम् । (३) तुग्ना- पच्यत इति पक्ष । पच्यन्ती  
वरण । पच्यते यवनीकियते योऽथ स पक्ष । -न्यायप्र० व० प० १३ । 'यामसारटी० पृ० १०१ ।  
(४) पक्षानुवक्तत्वात् । (५) सप्तशिविपक्षप्रत्ययाया । (६) सप्तशिविपक्षप्रत्ययाया जभावे । (७)  
तुग्ना- प्रतिपादानुपयोग माध्यात्रिष्वपि नाभिधीयत विपाद्याभावात् । तत्रि पास्त्र प्रतिज्ञा नाभिधीयत  
एव अनियतवधामा वा अभिरत्र धूमान वक्ष्याम्य शिशपात्वात् इत्यादिवचनाशा शस्त्रे स्पानात्  
विच्छेदोप हेतुरसिद्धोऽयम् इत्यादिप्रतिपाद्यनानामनियतवधामा प्रयोगान् । -अष्टम०, अष्टसह० प०  
८३ । प्रमेयकं पृ० ३७३ । स्वा० २० पृ० ५५१ । (८) प्रयोगानुवृत्तानुपपत्त्यात् । (९) शास्त्रात् ।  
(१०) सुगोष्ठनाम । (११) शास्त्र सुगोष्ठना वा । (१२) तुग्ना- परानुग्रहप्रवृत्ताना शास्त्रकाराणा  
प्रतिपाद्यानयोध्याधीनधिया शास्त्रादौ प्रतिज्ञाप्रयोगो युक्तिमानेव उपयोगित्वात्तस्यति चत वादेऽपि  
सोऽस्तु तत्रापि तेषां तादृशत्वात्, वा त्रि विजिगीषुप्रतिपादनाय आक्षेपार्था 'वत्त ।' -अष्टसह०  
पृ० ८३ । प्रमेयक० प ३७३ । स्वा० २० पृ० ५५१ । (१३) प्रतिज्ञाप्रयोगोऽस्तु । (१४) वात्प्रि ।  
(१५) शास्त्रकाराणाम् । (१६) परानुग्रहप्रवृत्तिमत्त्वात् । (१७) प्रकारान्तरेण तत्रप्रयोगममथनं निम्न  
प्रथमपु इष्टव्यम्-प्रश्न० व्यो० व० ६०१ । 'यामम० पृ० ५७१ । 'यामवा० ता० टी० प० २७५ ।  
प्र० ६३० प० २२५ । प्र० किर० प० ३३५ । प्रमाणसौ पृ० ५१ । (१८) 'हेतुस्वरूप । वि  
पुनस्वरूपम् ? पक्षधर्मत्वम् तापन सत्त्वम् विपक्षो चासत्त्वमिति । -यामप्रवे० पृ० १ ।  
'नरूप्यं पुन लिङ्गस्यानुमेय सत्त्वमेव, अनुमेय वक्ष्यमाणलक्षणम् तस्मिन्निर्णयस्य सत्त्वमेव  
निश्चितमेव रूपम् तत्र सत्त्ववचनन असिद्ध चाशुपत्त्वात् निरस्तम् । एषकारण पक्षवत्ता

१ इत्यप्युच्यताविपाद्यात् व० २ इदमेव पक्ष-आ थ० । ३ इतिपक्ष नास्ति व० । ४ शास्त्रनिय-  
भा० । ५ वादे सो-वादे सा-श्र० । ६ पच्यते इति व० ।

“हेतोर्मिष्वपि रूपेषु निर्णयस्तेन रणित ।

असिद्धविपरातार्थव्यभिचारिर्निर्घतं ॥” [प्रमाणप्र० ३:१४] इति ।

अत्रोच्यते—न पक्षधर्मत्वादिरूपत्रय हेतोर्लक्षणम्, विपक्षेऽप्यस्य वर्तमानत्वात्, यद् विपक्षेऽपि वर्तते न तत् लक्षणम् यथा सत्त्वम् अग्ने, विपक्षेऽपि हेत्वाभामलक्षणे वर्तते च पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयमिति । यन्नेवै हि विपक्षासाधारण स्वरूप तदेव लक्षणतया लोके प्रसिद्धम्, यथा भासुरूपोष्णस्पर्शरत्नत्वम् अग्ने । न चेद् पक्षधर्मत्वादिरूपत्रय

मिद्धो निरम्ना हतु यथा चतनास्तरव स्वापात इति । पक्षीवृत्तपुतम्पु पक्षवकीचलक्षण स्वा प एकत्वेन मिद्ध । न हि सर्वे वक्षा रात्रौ पक्षवकीचभाज, किन्तु केचिदव । सत्त्ववचनस्य पश्चात् तेन एवकारेण अमाधारणो धर्मो निरस्त । यदि हि अनुमेष एव सत्त्वमिति बुर्थात श्रावणत्वमेव हेतु स्यात् । निश्चितग्रहणन सन्दिग्धासिद्ध सर्वो निरस्त । सपक्षएव सत्त्वम मपक्षो वक्ष्यमाणलक्षण, तस्मिन्नव सत्त्व निश्चिन द्वितीय रूपम् । इहापि सत्त्वग्रहणन विरुद्धो निरम्न, स हि नास्ति सपक्ष । एवकारेण साधारणनकारित्व, अनित्य शब्द प्रमेयत्वात् स हि न सपक्ष एव वर्तते किन्तु भयत्रापि । सत्त्वग्रहणन पूर्वावधारणवचनेन सपक्षव्यापिमत्तावस्यापि प्रयत्नानन्तरीयकस्य हेतुत्व कथितम् । पश्चात्त्वधारण त्वयमथ स्यात्—मपक्षे सत्त्वमेव यस्य ग हेतुरिति प्रयत्नानन्तरीयक न हेतु स्यात् । निश्चितवचनेन सन्दिग्धावपान्नकारित्वा निरस्त, यथा सवज्ञ कश्चिद वक्तृत्वात्, वस्तुत्व हि सपक्षो सवज्ञ सन्दिग्धम् । असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम्, यमपक्षो वक्ष्यमाणलक्षण, तस्मिन् असत्त्व मव निश्चित तृतीय रूपम् । तथासत्त्वग्रहणेन विरुद्धस्य निराम, विरुद्धो हि विपक्षेऽस्ति । एवकारेण साधारणस्य विपक्षवक्तृत्ववर्तनिरास, नित्य शब्द वृत्तत्वात् खवन । प्रयत्नानन्तरीयकत्वे साम्ये हि अनित्यत्व विपक्षवक्षेणे विद्युत्पादावस्ति आकाशात् नो नास्ति ततो नियमेनास्य निराम । असत्त्ववचनान् पूर्वस्मिन्नवधारणेऽयमथ स्यात्—विपक्षे एव मो नास्ति स हेतु । तथा च प्रयत्नानन्तरीयकत्व सपक्षपि सवन्न नास्ति ततो न हेतु स्यात्, नत पूव न वृत्तम् । निश्चितग्रहणन सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकोर्ज्ञे कान्तिका निरस्त ।” —न्यायबि०, टी० पृ० ३१-३३ । वादस्याय पृ० ६० । सत्त्वम० पृ० ४०४ ।

(१) 'निश्चय'—प्रमाणवा० । (२) अभावादित्यथ—आ० टि० । (३) अस्य व्याख्या—यन एवं तन कारणन हेतोर्मिष्वपि रूपेषु पक्षधर्मावयवनिरेकेषु निश्चया वर्णित आचार्यादिनामेन प्रमाणसमुच्चयान्पि 'असिद्धस्तु द्वयोरपि साजनम' इत्याम्ना । कस्य निगमनत्वाद्—असिद्धत्वादि । आचार्यान्वितान ततीयार्थे तमि विपक्षण इत्यथ । तन असिद्धविपक्षेण पक्षधर्मत्वनिश्चयो वर्णित । विप रीनार्थो विरुद्ध, तस्य विपक्षेण अवयवनिश्चय । व्यभिचायनकारित्व तस्य विपक्षेण व्यतिरेकनि श्चय ।—प्रमाणवा० स्ववृत्तिटी० । स्वा० १० पृ० ५१८ । 'तन—प्रतिवधस्यावस्थाभ्युपगन्त्यत्वेन हेतो विरुद्धि'—प्रमाणवा० मनोरथ० । उद्धतात्मम्—तत्त्वायश्लो० पृ० २०३ । प्रमाणप० पृ० ७२ । प्रमेयप० पृ० ३५४ । निश्चयस्तन—बहुत्वा० भा० वा० पृ० १५२१ । स्वा० १० पृ० ५१८ । (४) हेत्वाभामपि । तुम्ना—'निश्चित पक्षधर्मत्व विपक्षेऽसत्त्वमत्र च । सपक्ष एव जयत्व तत्रय हेतु लक्षणम् ॥ कश्चिद्दृत्त तनुक्त हेत्वाभामपि सम्भवान । असाधारणतापायात्लक्षणत्वाविरोधन ॥ असा धारणादिति स्वभावो भावलक्षणमध्यभिचागात्परोष्णवत् न च इत्यस्यासाधारणता तदन्ती तत्ताभामपि तस्य समुद्भवात् ।—तत्त्वायश्लो० प० १९८ । (५) तुम्ना—'यदेव हि लक्षणासाधारण स्वम्प तत्रेव लक्षणतया लोके प्रतीतमव्यभिचारित्वान यथा भासुरूपोष्णस्पर्शरत्नत्वमग्ने ।—स्वा० १० प० ५१८ ।

तथात्रिध तत्तुंत्वाद्दौ तत्ताभासेऽपि गतत्वात् पञ्चरूपत्वादिवत् । अथ अयथानुपपत्ति नियमत्रैरूप्य तल्लक्षण न त्रैरूप्यमात्रम्, तैथात्रिधञ्च तत् तदाभासे नास्तीति, तदप्यमद्गतम्, एव सति त्रैरूप्यकल्पनाऽनैर्व्यस्यप्रसङ्गात् तत्रिर्वैमादेवास्य गमन्त्वोपपत्ते ।

- न यत्तु कृतिरित्येव शक्तोदयाग्रनुमाने पक्षधर्मता सम्यति । अथ 'वर्षाला-  
 5 काशादि भ्रिप्यच्चन्द्रोदयात्मान् कृतिकोदयादिमत्त्वात् पूर्वोपलक्षकालादिवत्' इती  
 त्यत्रै पक्षधर्मताऽभिधीयते, तर्हि न त्रिधैर्धर्मरतो हेतु स्यात्, कारकात्पर्यादेरपि  
 प्रामाण्यत्वे साध्ये जगतो धर्मित्वेन पक्षधर्मत्वस्य कल्पयितु मुशन्त्वात्, तथाहि-  
 जगत् प्रासादधानत्ययोगि कारकात्पर्यायोगित्वात् । तथा महोद्ध्याधाराऽभियोगि तेत्  
 महानसधूमयोगिवात् पूर्वोपलक्षजगत्तदिति । लोफपिरोध अयत्राप्यपिशिष्ट । तत्र  
 10 पक्षधर्मत्वं हेतोरगमकत्वाद्गम् ।

नैपि सपक्षे सत्त्वम्, 'अनित्य शब्द श्रावणत्वात्, सर्वं ध्वनिश्च सत्त्वात्'

(१) विपशासाधारणम् । (२) तुलना- न च सपक्ष सत्त्व पक्षधर्मत्व विपशे चासत्त्वमात्र साधनत्वात् न स इयाम तत्पत्रत्वात् इतरत्तुत्रवन्त्यत्र साधनाभास तत्त्वमावसिद्धे । सपक्ष हीतरत्वं तत्तुत्र तत्पत्रत्वस्य साधनस्य श्यामत्वव्याप्तस्य सत्त्व प्रसिद्धम् विवादाध्यासिने च तत्तुत्रे पक्षीकृतं तत्तुत्रत्वस्य सम्भावात् पक्षधर्मत्वम् विपक्ष वात्तदामे वदित्वयुत्र तत्पत्रत्वस्याभावात् विपशाऽमरत्व मात्र च । न च तावता साध्यसाधनत्व साधनस्य । -प्रमाणप० प० ७० । सम्मति० टी० प० ५९०। स्या० १० प० ५१८ । प्रमेय० ३।१५ । प्रमाणमी० प० ४० । यथदी० प० २६ । (३) अवि नाभावनियमवत्प्रत्ययम् । (४) अयथानुपपत्तिनियमात् । (५) तुलना- 'न हि शक्तेर्धर्मिणि उन्व्यनाया साध्याया कृत्वाया उन्वोर्भस्ति तस्य कृत्वाधर्मत्वात् ततो न पक्षधर्मत्वम् ।' -प्रमाणप० पृ० ७१ । प्रमेयक० पृ० ३५४ । स्या० १० प० ५१९ । प्रमेय० ३।१५ । प्रमाणमी० पृ० ४० । नत्रैवमपि इव उन्व्यति सविना अद्यतनात्तत्त्वोदयात् जाना समुद्रवद्धि शशाङ्को दयानाता इत्यादिप्रयोगपु हेतो पक्षधर्मत्वामावस्यि गमकत्वोपलक्षणं पक्षधर्मत्व तत्तुक्षणम् ।' -सम्मति० टी० पृ० ५९१ । (६) तथा न चन्द्रोपान् समनुद्धयनुमान चन्द्रोपयत् (पुत्र पश्चात्पि) तन्नुमानप्रगङ्गान् । चन्द्रोपका एव तन्नुमान तत्त्व व्यापेर्गृहीतत्वात्तिति चेत यद्यत् तत्त्वात्सम्भा पत्वमेव साध्यसाधनया तत्ता च स एव कालो धर्मी तत्र च साध्यानुमान चन्द्रोपयश्च तत्सम्भवीति कथमपक्षधर्मत्वम् ? -प्रमाणप० स्वव० टी० १।३ । (७) कृत्विचोत्पत्ती । (८) तुलना- काराणिमिकपत्तायामनिप्रसङ्ग । -प्रमाणप० पृ० १०४ । यदि पुनराकाश कालो वा धर्मी तत्त्वोप्यच्छत्रवत्त्व साध्य कृत्विचोत्पत्तायाम पक्षधर्म एवति मतम् तत्ता धर्मिचोत्पत्तिनि महान् ध्याधारारिगतरत्वं साध्य महानसधूमवत्त्व साधन पक्षधर्मोऽस्तु तथा च महानसधूमो महोद्ध्या अनिं गमयन्ति न त्रिधैर्धर्मरतो हेतु स्यात् । -प्रमाणप० पृ० ७१ । तत्रैव लो० पृ० २०० । सम्मति० टी० पृ० ५९१ । स्या० १० पृ० ५१९ । जनतकभा० पृ० १२ । कृत्विचोत्पत्त्या काला त्पित्वत्त्वनात् । यदि स्यात्पक्षधर्म चानुपत्त्व न किंचनो (किं ध्वनो) -जनतकभा० व० पृ० १४० । न्यायव० टी० पृ० ३५ । (९) जगत । (१०) तुलना-नि गय सात्मक जीवच्छरीर परिणा मिना । पुना प्राणात्मित्वस्य त्वयथानुपपत्ति । ॥ सपक्षसत्त्वगुणस्य हेतोरस्य सम्यतान् । नून निदधीयते सम्मिनीवयो हतुत्त्वम् ॥ धाषित्वेन न व्यापनं सत्त्वमेव प्रसिद्धयति । सन्धिध्वन्यतिरेकाच्च ततो

इत्यादे सपक्षे सत्त्वाभावेऽपि गमकत्वप्रतीते । विपक्षे वाधकप्रमाणत्वात् अन्तर्व्याप्ति-  
सिद्धेरस्यै गमकत्वे बहिर्व्याप्तिरूपनाऽनर्थक्यम्, अत एव सर्वत्र गमकत्वोपपत्ते । तत्र  
पक्षधर्मत्व सपक्षे सत्त्व वा हेतोरलक्षणम् ।

विपक्षे पुनरसत्त्वमेव निश्चित साध्याऽविनाभाजनियमनिश्चयस्वरूपमेव, अतस्त-  
देवं प्रधान हेतो लक्षणमस्तु अल लक्षणान्तरेण । न च संपक्षे सत्त्वाभावे हेतोरनन्- 5  
यत्वानुपपन्नं, अन्तर्व्याप्तिरक्षणस्य तथोपपत्तिरूपस्य अन्वयस्य सद्भावात् अन्यथानुपपत्ति-  
रूपव्यतिरेकं तत् । नहि 'दृष्टान्तधर्मिण्येव अन्ययो व्यतिरेकश्च प्रतिपत्तव्य इति नियमो  
युक्तः, सर्वस्य क्षणित्वादिमाधने सत्त्वादेरहेतुत्वप्रसङ्गात् । नहि निरन्वय क्षणिकत्व  
कचित्पि प्रसिद्धम्, शून्य-रिक्तुत् प्रदीपात्तपि विप्रतिपत्ते ।

यदप्युक्तम्—'पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयासमो हेतोरसिद्धत्वादिनोपानुपपन्न' इत्यादि, 10  
तदव्यसमीक्षिताभिधानम्, अन्यथानुपपत्तिनिश्चयलक्षणत्वादेव असिद्धत्वादिदोषप-  
रिहारसिद्धे । स्वयमसिद्धस्य अन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयसमो विरुद्धाऽनैकान्तिकवत् ।  
तथापि अविनाभाजनपक्षत्वात् पक्षधर्मत्वादे असिद्धादि (द्वत्त्वादि) व्यवच्छेदार्थमभिधाने  
निश्चितत्वस्यापि रूपान्तरस्य अज्ञातासिद्धताव्यवच्छेदार्थम्, अवाधितविषयत्वादेश्च बाधित-  
विषयत्वादिव्यवच्छिन्नतये अभिधानप्रसङ्ग । तत्र सौगतपरिकल्पित पक्षधर्मत्वादिरूपत्रय 15  
हेतोरलक्षण युक्तम् ।

सिद्धि क्षणिकये ॥"—तत्त्वायश्लो० १० २०१-२०२ । "सपक्षे सत्त्वरहितस्य च श्रावणत्वाद् गन्त-  
नित्यत्व साध्ये गमकत्वप्रतीते ।" —प्रमेयक० प० ३५५। स्या० २० प० ५१९ ।

(१) "परीतृण एव साधनस्य साधन व्याप्तिरन्तर्व्याप्ति, अन्यत्र तु बहिर्व्याप्ति । यथा  
अनेकान्तात्मक वस्तु सत्त्वस्य तथवोपपत्तः, अग्निमानस्य देवा धूमवत्त्वात्, य एव स एवं यथा पात्रस्या  
नम । —प्रमाणप० ३।३६। (२) सत्त्वस्य श्रावणत्वस्य वा । (३) अतव्याप्तेरव । (४) तुलना-  
'साध्याभाज विपक्षे तु योऽमत्वस्यैव निश्चय । सोऽविनाभाव एवास्तु हेतो रूपात्साह च ॥'—तत्त्वाय  
श्लो० १० २०३। प्रमेयक० १० ३५६ । स्या० २० प० ५२१। (५) विपक्षासत्त्वमेव । (६) तुलना-  
"अन्तर्व्याप्तिरक्षणस्य तथापपत्तिरूपस्यावयस्य सद्भावात् यथानुपपत्तिरूपव्यतिरेकवत् । —प्रमेयक० १०  
३५६। स्या० २० १० ५२०। (७) तथा साध्ये समय उपपत्ति साधनस्य । (८) अन्यथा साध्याभावे  
अनुपपत्ति अभाव साधनस्य । (९) गन्तादीनामपि द्रव्यायतया नित्यत्वाभ्युपगमात् । (१०) १० ४३८  
१० १२। (११) तुलना— हेतोरन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयादेव वापत्रयपरिहारसिद्धे, स्वयमसिद्धस्य  
अपथानुपपत्तिनियमनिश्चयासम्भवात् अनैकान्तिकविपरीतायवन् । तस्य तथोपपत्तिनियमनिश्चयरूप  
त्वान् । तस्य च असिद्ध व्यभिचारिण विरुद्धे च हेतावसंभावनीयत्वात् ।"—प्रमाणप० १० ७२। तत्त्वाय  
श्लो० १० २०३ । प्रमेयक० १० ३५४। स्या० २० १० ५२१ । प्रमेय० ३।१ । प्रमाणमी० १० ४० ।  
(१२) हेतु-आ० टि० (१३) अगिदाग्निनाम् अविनाभावयुक्तव समयपि । तुलना—"स्वत्रय  
स्य गन्तावात्तत्र तद्वचनं यत् । निश्चितत्वस्वरूपस्य चतुषस्य वचो न किम् ॥ त्रिषु रूपेषु चैतद्  
निश्चितत्वं न साधन । नानानासिद्धता हेतो रूपं स्यात्तद्विषय ॥"—तत्त्वायश्लो० १० २०३ ।  
प्रमाणप० १० ७२ । स्या० २० १० ५२१। (१४) अज्ञान मनसिद्ध तत्त्वावगन्ता-आ० टि० ।

नापि योगोपैकल्पित पञ्चरूपत्वम्, पञ्चधर्मत्वारिरूपत्रयस्य प्रागेव प्रत्यागयान्त्यात्,

सौख्यविधिपदस्य साध्याऽत्रिनाभावव्यतिरेकेणाऽपरस्य अयाधितत्रिपयत्यादर'यसमयात्,  
पञ्चरूपस्य प्रतिरि अतस्तद्देवै प्रधान हतोर्लक्षणमस्तु किं पञ्चरूपरूपाया ? नहि  
धनम्— 'अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वात् जलान्' इत्यादिनापि अविनाभायामावादन्यद्

४ बाधितविषयत्वं नाम प्रतीयते, बाधितत्रिपयत्य अत्रिनाभावयो विरोधात् । साध्यसङ्घाय  
एव हेतो धर्मिणि सङ्घाय अत्रिनाभाव, तर्दभावे एव च तत्र तर्तममयो त्रिपयसाधेनि ।

किञ्च, अयाधितविषयत्वं निश्चितम्, अनिश्चितं या हेतोर्लक्षणं स्यात् ? न  
साधवनिश्चितम्, अतिप्रसङ्गात्, अज्ञायमानस्य ज्ञापयहेत्यनङ्गत्वात् । नापि निश्चिताम्,  
तत्रिश्चयनिश्चयनाऽसमवात् । तत्रिश्चयधनं हि अनुपलम्ब, मयाद्, अन्यद्वा किञ्चित् ?

10 तत्रायविकल्पोऽयुक्त, सैर्वात्मसम्प्रतिनोऽनुपलम्बस्य अभिद्धाऽनेकातिपत्त्यात् ।

(१) 'तत्र परीक्षा'र्थो किञ्चपत गम्यते'नेति किञ्चम् तच्च पञ्चरूपत्वम् । कति पृथक् पञ्च  
लक्षणानि ? पञ्चधर्मत्व साध्यधर्मत्व विनासाध्यावृत्तिरवाधितविषयत्वमगप्रतिपञ्चवति । गिगापयि  
विनधमविगिष्टो धर्मो पञ्च, तद्धर्मत्व तत्राधितवमित्यथ । साध्यधर्मयोगत निश्चय धर्म्यन्तरं तत्र  
स्तिरत्वम् । साध्यधर्मसत्प्राप्त्यो धर्मो त्रिपय ततो व्यावर्तित । अनुपेयम्यावस्य प्रत्यागगमनं ज्ञानगद्  
रणमवाधितविषयत्वम् । संगयबीजभूतेतापेन प्रत्यनुमानतया प्रमुपमानानुपहृत्पञ्चमगप्रतिपक्षत्वम् ।  
एतै पञ्चधर्मैश्चरूपत्वन् किञ्चमनुमापयं भवति ।—आपय० पृ० १३० । व्यावर्तित० पृ० २ । व्याप  
सत्० पृ० ६ । पञ्चम वा चतुर्षु वा रूपयु हेतोर्विनाभाव परिममापयतस्मान्वाधितत्रिपयतात्प्रतिपक्षित  
स्वरूपद्वयसमूचनाय निगमनमिति —आपय० ता० प० १०२ । अत्रावानयो (वात्सायपापिष्टिप्र  
रणसमयो) ध्यवच्छन्नेमवाधितविषयत्वमगप्रतिपक्षत्वं च समानत्रगतमभ्युक्तम्, चान्त्यानुक्तममु  
च्चयायत्वात् ।—प्र० १०० पृ० ५६५ । (२) तुलना— साध्याविनाभावाविकल्पव्यतिरेकेणापरस्य अवा  
धितविषयत्वात्परमवात्—प्रमेयक० प० ३५७ । (३) अविनाभावाविकल्पे । (४) तुलना— अयपानु  
पयन्तत्वं एव कि पञ्चभि कृतम् । नायपानुपयन्तत्वं रूप कि पञ्चभि कृतम् ॥—प्रमाणप० पृ०  
७३ । स्या० १० पृ० ५२७ । (५) तुलना— बाधाया अविनाभावस्य च विरोधात् । तथाहि—गण्य  
विनाभावे यथाक्ते बाधासम्भव मयमानरवाधितविषयत्वं रूपान्तरमुच्यते सा धर्म्यतस्मान्मावता न संभ  
वति बाधाया अविनाभावेन विरोधात् सहानवस्थानलक्षणान् । तत्र च विरोधं साध्ययन्ताह—अविनाभावा  
हि इत्यादि । सत्यं हि साध्यधर्मं भावो हतारविनाभाव उच्यते, प्रमाणबाधा तु तस्मिन्नमिति । य  
हि सायव तस्मिन्तदभावाविययं प्रमाणं प्रवर्तते तदास्य मान्त्वत्वात्प्रमाणत्व स्यादिति कुता बाधा ?  
तत् स हेतुस्तत्प्रमाण साध्याविनाभावा धर्मिणि स्वात अत्र च साध्यधर्मं कथम् भवन् पदो बाधाव  
काग स्यात् । तस्मान्वाविनाभावस्य प्रमाणबाधायाच सहानवस्थानम् अविनाभावेनोपस्थापितस्य  
च तदभावस्य परस्परविहारस्थितिलक्षणतया विरोधत एकत्र धर्मिण्यांमवाति ।—हेतुवि० टी०  
पृ० १९५ B । वाक्यायटी० पृ० १३८ । व्यापय० पृ० ४४८ । प्रमेयक० पृ० ३५७ । प्रमाणप०  
पृ० ४१ । (६) साध्याभाव एव । (७) धर्मिणि विषये । (८) हेतुगम्यव । (९) तुलना—  
'किञ्चावाधितविषयत्वं निश्चिन्नमनिश्चिन्न वा हेतोर्लक्षणं स्यात् ?—प्रमेयक० पृ० ३५८ ।  
(१०) अवाधितविषयत्वनिश्चय । (११) तुलना— तत्रिपयधने हतुपलम्ब संवागे वा स्यात् ।  
—प्रमेयक० पृ० ३५८ । (१२) तुलना— मवतिष्टिग्य मन्विष्या स्वादुष्टिर्व्यभिचारिणी ।  
विष्यादिरध्वन्विष्टुष्टावापि सत्यत ॥—तस्वत्त० प० ६५ । स्वसर्वानुपलम्बयो । आरेका

1—बाधविनाभावावयव आ०, —बाधविनाभावावयवयव थ० ।

द्वितीयविकल्पोप्यनुपपन्न, प्रागनुमानप्रवृत्ते सवादस्याऽसिद्धत्वात् । तदुत्तरकाल  
 तत्सिद्धयभ्युपगमे त्वन्योन्याश्रय, तथाहि—अनुमानात् प्रवृत्तो संवादसिद्धि, ततश्च  
 अवाधितप्रियत्वसिद्धेरनुमानप्रवृत्तिरिति । अथान्यत् किञ्चित्, तत् किं तद्विषय  
 प्रमाणान्तरम्, अविनाभावानुपपत्तिरिति वा ? तत्र प्रमाणान्तरात् कुतश्चिदवाधितविषय-  
 त्वावगमे हेतोरकिञ्चित्करत्व साध्यस्यापि अत एवावगमात् । न ह्यसति साध्यसद्भावा- 5  
 वगमे तद्वाधाविरहो निर्दिष्टे तु शक्य । अथाविनाभावावगमात् तर्दवगम, तन्न, पञ्च-  
 रूपयोगिनि हेतावविनाभावपरिसमाप्तिनादिनाम् अवाधितविषयत्वस्याऽनवगमे अवि-  
 नाभावाऽवगमस्यैवाऽममवात् । ततोऽवाधितविषयत्वस्याऽसिद्धे न तद्वेतोर्लक्षण युक्तम् ।

नाप्यसत्प्रतिपक्षत्वम्, यत् प्रतिपक्ष तुल्यत्रल, अतुल्यबलो वा सत्त्वेन प्रति-  
 पिष्येत ? तुल्यबलत्वे वाध्यवाधकभावानुपपत्ति । ययोस्तुल्यबलत्व न तयोर्नाध्यवा- 10  
 धकभाव यथा राक्षो, तुल्यत्रलत्वं च परंप्रतिपक्षयोरिति । अतुल्यबलत्वं तु अनयो  
 किञ्चित्तम-पक्षधर्मत्वादिभावाभावकृतम्, अनुमाननाधाजनितं वा ? न तावत् प्रथमपक्षो  
 युक्त, पक्षधर्मत्वादेषुभयोरप्यविशेषात् । नहि मूर्खत्वे साध्ये तत्पुत्रत्वादे पक्षधर्म-  
 त्वादिक न सम्भवति, शोषव्याख्यानलिङ्गस्यैव वा सम्भवति । द्वितीयपक्षोऽप्यसम्भव्य,  
 अनुमाननाधाया अद्याप्यसिद्धे । नहि द्वयो पक्षधर्मत्वाद्यविशेषे एकस्य वाध्यत्वम् 15  
 अपरस्य च वाधकत्वं युक्तम्, अविशेषेणैव तत्प्रसङ्गात् । अन्योन्याश्रयश्च,

सिद्धत - वायवि० का० ४०६ । तत्त्वापदलो० प० १३ । समति० टी० प० १८ । आत्मतत्त्ववि०  
 प० १४ । तत्रभा० मो० लि० प० २२ । ग्यावली० प० २२ । सवसम्बन्धनाऽनुपलम्भस्य गवज्ञ  
 त्वमन्तरेण ज्ञानुपलम्भत्वात्सिद्धत्वम् आत्मसम्बन्धनोऽपलम्भस्तु परचेतोवृत्तिविशेषात्प्रतिना व्यभिचारी ।

(१) अनुमानप्रवृत्त्यनन्तरम् । (२) सवात्सिद्धिस्वीकारे । (३) अथक्रियाया सत्याम् अथ  
 क्रियास्थितिलक्षण सवाद सिद्धयति । (४) तुलना—“तद्वाधाभावनिर्णीति सिद्धा चेत्साधनेन किम् ।  
 यथव हेताविषयस्य वाधासदभावनिश्चय ॥”-तत्त्वापदलो० प० २०५ । “तदाप्यकिञ्चित्करत्व हेतो,  
 यथव हि हेतोर्विषयस्य वाधासदभावनिश्चय तत्साधनासमर्थत्वादकिञ्चित्करत्व तथव वाधाविरह  
 निश्चये कुतश्चित्तस्य सदभावसिद्धस्तसाधनाय प्रवतमानस्य सिद्धसाधनादपि इति ।”-स्या० २० प०  
 ५२६ । (५) प्रमाणान्तरत्वे । (६) अवाधितविषयत्वावगम-आ० टि० । (७) योगानाम्-आ०  
 टि० । “एतेषु पञ्चसु लक्षणव्यविनाभाव समाप्यते”-न्यायकलि० प० २ । (८) तुलना- यत्  
 प्रतिपक्षस्तुल्यबलोजुल्यबलो वा सन् स्यात् । -प्रमेयक० प० ३५९ । स्या० २० प० ५२७ । “अत आह  
 तुल्ये लक्षणं हि इत्यादि” । साङ्ख्यप्रधानप्रतिहेतुना तुल्य लक्षण दानादशानमाननिमित्ताविनाभावश्च यस्य  
 तस्मिन्, दृष्ट प्रतियोगिन प्रतिहेतोर्वापस्य सम्भव स यपामपि तत्तुल्यलक्षणाना प्रतियोगी न दृश्यते  
 सेष्यसि “अत्र प्रतिहेतुसम्बन्धविषयामुत्पत्त्यति । किं कारणम् ? अदृष्टप्रतियोगिनो दृष्टप्रतियोगिनो विशेष  
 यामावात् । न हि तस्यैतरण कश्चिद्विज्ञापयति यतस्तत्सम्भवो न नश्येत । अथ विज्ञाप प्रतिपक्ष-  
 लक्षणोऽविनाभावनिश्चयस्यो दृष्टप्रतिहेतोरदृष्टप्रतियोगिन इष्यते, यत् प्रतियोगिसंभवाद्युक्तमुपनि-  
 त्तं सति वा विज्ञाप स विज्ञाप्यो हेतोरक्षणम्”-हेतुबि० टी० प० २०४ A । (९) अपूर्वत्व  
 चाश्रयस्याऽनाप्यस्यापि सम्भवात्-आ० टि० । (१०) वाध्यत्वस्य वाधकत्वस्य च ।

तथाहि—अतुल्यनलत्वे अनुमाननाधा, तस्याञ्च अतुल्यनलत्वमिति । तत सूक्ष्म-  
यथोक्ताद्विज्ञात् लिङ्गिधीः अनुमानमिति ।

ननु चार्थं निष्पत्त्यात् किं तत्स्वरूपं निरूपणप्रयासेन ? परायता ऽऽ प्रमाणेन  
भवितव्यम् नायेन अतिप्रसङ्गात्, इत्याराङ्गापनोदार्थं 'तत्फलम्' इत्याद्याह । तस्य  
अनुमानस्य फल ज्ञानम् आदिर्यस्य उपादानानाद तस्य बुद्धयः । तु तन्निश्चिद्  
वास्तव प्रमाणमस्ति नापि तत्फलम् अयत्राऽऽविद्यायासनादिशेषात्, इत्यप्यविचारित-  
रमणीयम्, तदुभयसद्भावस्य वास्तवस्य 'पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं फल स्यादुत्तरो-  
त्तरम्' [ लघी० का० ७ ] इत्यत्र प्रपञ्चत प्ररूपितत्वात् ।

अत्र सौगत प्राह—यदुक्तं 'साध्याविनाभाव' इत्यादि, तस्मैकम्, अविनाभा

अविनाभावस्य तादा  
त्म्यनदुत्पत्तिरूपामव  
नियतत्वं कार्यस्य  
साहेतावैव तत्सा-  
वगतिवैदस्य पूर्वपक्ष  
वनलेनेन सर्वत्र हेतो गमनत्वप्रतीते, सत्त्वविनाभाव तादात्म्यतदु-  
त्पत्तिनियतत्वात् कार्यस्वभावहेतावेव अयतिष्ठते । तदात्म्येन हि  
स्वभावेहेतो अविनाभाव परिसमाप्यते, तदुत्पत्त्या तु कार्यहेतो ।  
न च अन्यलिङ्गमस्ति, अनुपलक्षणेऽपि स्वभावेहेतो अन्तर्भावार् ।  
घटाद्यर्भावो हि घटादिविचित्भूतलादिस्वभावा, तदनुपलक्षितश्च  
तद्विनिश्चितभूतलादिस्वभावोपलक्षितः ।

तत्रप्रतिपत्तिश्च उद्घातानात्, ईर्यपि श्रद्धामात्रम्, कार्यहेतोरेविनाभावस्य प्रत्यक्षा

(१) अनुमानस्य । (२) कावन्तानामपि निरूपणप्रसङ्गात् । (३) प्र० २०८ । (४)

स च प्रतिबन्ध साध्यवै लिङ्गस्य वस्तुतस्तान्तात्प्यात् साध्यादर्थात्तत्त्वत्त्वं । अतस्त्वभावस्याननुत्पत्तश्च  
तत्राप्रतिबन्धस्वभावत्वात् । ते च तादात्म्यतत्पत्ती स्वभावाकारणयोरेवेति साध्याभव वस्तुसिद्धि । -  
न्यायबि० प० ४० ४२ । कायकारणाभावात् स्वभावाद्वा नियामकान् । अविनाभावनियमो दानात्  
दानात् ॥ यत एव प्रतिबन्धतात् गमनत्वात्तस्मात् कायकारणभावात् नियामकान् साध्यसाधनयो  
रव्यभिचारसाधकात् स्वभावाद्वा तादात्म्यलक्षणाश्रियामकान् कायस्य स्वभावस्य च लिङ्गसाध्याविनाभाव  
साध्यधर्मि विना न भाव इत्यथ -प्रमाणवा० स्वव० टी० ११३३ । हेतुबि० टी० प० ६ B । 'यत्ता-  
त्मातदुत्पत्त्या सम्बन्ध परिनिश्चितम् । तत्त्व साधन प्राहु सिद्धय चययवान्ति ॥ -तत्त्ववर्ग० पृ० ४२९ ।  
(५) इम सर्वे कार्यानुपलक्ष्यात्प्या दानानुपलक्षितप्रयोगा स्वभावानुपलक्ष्यो सप्रहमपुपदान्ति'-न्याय  
बि० प्र० ५५ । अनुपलक्ष्यस्तु स्वभावजन्तर्भाव । -तत्त्ववर्ग० प० ५० ४३१ । स्वभावानुपलक्षितस्तु  
स्वभावहेतावनर्भावित्ति तस्या तादात्म्यलक्षण एव प्रतिबन्ध । व्यापकारणानुपलक्ष्यी तु तादा-  
त्म्यनदुत्पत्तिलक्षणप्रतिबन्धवशात्वे व्याप्यव्यापययोर्निर्वर्तित साधयत । -हेतुबि० टी० प० ७ A । (६)  
यस्मात्कानामसतिगणो प्रत्यक्षण एकस्य ग्रहणमव अन्यस्याग्रहणम तदग्रहणमव च तस्याभावग्रहणम्  
भाव हि तस्याग्रहणायोगान् । यत्प्राह-अयहेतुसावत्ये तदव्यभिचाराच्चोपलम्भ सत्ता तन्भावोऽनुपलक्षि-  
रसत्ता अन्योपलक्षितवानुपलक्षितरिति । -प्रमाण वा० स्वव० टी० ११५ । (७) घटानुपलक्षि । (८)  
घटरहित । (९) अविनाभावप्रतिपत्तिश्च । (१०) तुलना-न्यायकु० प० १२ टि० ३ । यस्तु  
अग्निधूमन्यनिरिक्तस्य प्रथम धूमस्यानुपलक्ष्य एव, तान्तरमनस्वरूपम् ततो धूमस्येत्युपलक्ष्यमन्यम्  
पश्चादग्निधूमोऽनुपलक्ष्योऽनुपलक्ष्य इति द्वावनुपलक्ष्यभाविति प्रत्यक्षानुपलक्ष्यप्रवृत्तत्वात् व्या

१-प्रप्रवृत्त-ब० । २ साध्याविनाभाववलेनव आ । ३ तदनुपलक्ष्यम् । ४ कार्यहेतो स्वभाव  
स० कायसवभावहे-ब० । ५-स्या का-ब० । ६-सत्ये आ० । ७ इत्यादिपि ब० ।

नुपलम्भपञ्चकेन प्रतिपत्ते । तथाहि—अग्निधूमव्यतिरिक्तेषु उपलभ्यमानेष्वपि भूत-  
 छात्र्येषु प्रथमम् अग्निधूमयोगनुपलम्भ एक, अनन्तरम् अग्नेरुपलम्भ ततो धूमस्य  
 इत्युपलम्भद्वयम्, पश्चादग्नेरनुपलम्भोऽनन्तर धूमस्याप्यनुपलम्भ इति द्वावनुप-  
 लम्भौ, इति प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकेन एकस्यामपि व्यक्तौ कार्यकारणभावात्प्रगमो भवति  
 अग्ने कार्य धूम । यैश्च यत्कार्यं स तेन नियत । यदि तेन नियतो न स्यात् तर्हि  
 निरपेक्षत्वात् नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा स्यात् । यैश्च नियतं स नियामकवान्, तदभावे  
 स्यात्त्यात् नित्यं सत्त्वमसत्त्वयो पुन प्रसङ्गं स्यात् । तदश्चायमर्थं सम्पन्न—यो  
 यस्मादुत्पद्यमान सद्दुपलब्ध म तस्मादेव नान्यस्मान्, अहेतोस्तदुत्पत्तौ सर्वस्मात्  
 सर्वस्योत्पत्ति, इति प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकेन स्वभावाद्हेतुद्वयेन च कार्यहेतो सार्धत्रिकी  
 व्याप्ति प्रतीयते ।

स्वभावहेतोस्तु विपक्षे बाधकप्रमाणेन, यथा सत्त्वस्य क्षणित्वेन । तथाहि—  
 अर्थक्रियाकारित्वलक्षण सत्त्वम्, अर्थक्रिया च त्रमयोगपद्याभ्या व्याप्ता, ते चाऽक्ष-  
 णिकान्निवर्तमाने स्वव्याप्यामर्थक्रियामादाय नियतते, सा च सत्त्वम् । कस्मात् पुन  
 अक्षणिकात् त्रमयोगपद्योर्व्यावृत्तिरिति चेत् ? नानारूपत्वात् । कौलत पौर्वापर्यं हि  
 क्रम तद्विपरीत योगपद्यम्, इत्यञ्च ते नानारूपे, अक्षणिकत्वञ्च एकरूपता, एकरूपता-  
 नानारूपते च एकाश्रिते विरुद्धे, अत अक्षणिकान्निवर्तमान सत्त्व क्षणिक एव अवतिष्ठते  
 प्रकारान्तरासमनात् । नहि क्षणिकाऽक्षणिकव्यतिरिक्तसृतीय प्रकारोऽस्ति यतस्तत्र  
 अस्य वृत्तिराशङ्क्यते ।

प्लिग्रह इत्येषा मिद्वान्त । तदुक्तम्—“धूमाधीर्वाह्वविना न धूमज्ञानमधीस्तस्यो । प्रत्यक्षानुपलम्भा  
 म्यामिति पञ्चभिरवय ॥”-जनतकभा० पृ० ११ । प्रत्यक्षानुपलम्भसाधन वायकारणभाव ।  
 -हेतुबि०पृ० ५३ B ।

(१) उपलम्भ इति शेष । (२) धूमोऽग्निनियत तत्त्वापत्वात् इति । (३) अग्निना । (४)  
 “नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा ह्यनोरयानपक्षणात् । अपक्षाता हि भावाना वादावित्त्ववसम्भव ॥”-प्रमाणवा०  
 १३६ । (५) धूमोऽग्निनियामकं अग्निवायवत्त्वं तन्नियतत्वात् । (६) उत्पद्यते इति शेष ।  
 (७) आसन्नोक्तं नियतत्वनियामकत्वरूपेण-आ० टि० । पूर्वोक्तं नियतत्वनियामकत्वलक्षण हेतुद्वयम् ।  
 (८) 'सन्' शब्द कृतको वा यश्च य सर्वोऽनित्यं यथा घटादिरिति । अत्र व्याप्तिसाधन विषय  
 वायवप्रमाणोपपन्नम् । यत् न भव सत् कृतकं वा प्रतिक्षणविनापि स्यादक्षणिकस्य त्रमयोगपद्या  
 म्यामयक्रियाश्रयोद्देशक्रियासामर्थ्यलक्षणमतो निवृत्तमित्यसत्त्वं स्यात् । सबसामर्थ्योपाख्याविरहलक्षण  
 हि निरुपात्यमिति । -वाक्याय प० ७ । तत्त्वसं० पृ० १४३ । हेतुबि० टी० पृ० १४३ A । क्षणमग  
 सि० प० २० । वायुक० प० ८ टि० १ । (९) त्रमयोगपद्य । (१०) अर्थक्रिया । (११) 'त्रमो  
 नाम परिपाटि कार्यान्तरासाहित्यं क्वल्यमद्भुत्वादे । योगपद्यमपि तस्यापरवर्जितकार्यं साहित्य  
 प्रकारान्तरात्त्वात् कुरादे, तदुभयावस्थाविरहस्य यथाभवन्म् ”-हेतुबि० टी० प० १४३ B । (१२)  
 तृतीये क्षणिकाक्षणिकवर्हिभूते प्रकारान्तरे । (१३) सत्त्वस्य ।

1-पलम्भाजनन्त-आ०, श्र० । 2-योगपद्यध्या-ब० । 3-कता चक-व० । 4 'एकरूपता' नास्ति  
 आ०, श्र० ।



अनुपपत्तिश्च पुन सर्वा स्वभावानुपपत्तौ अन्तर्भवति । स्वभावानुपपत्तिश्च स्वभावहेतु, तस्य च तादात्म्यमेव प्रतिपत्तिः । अतोऽस्या न पृथक् प्रतिपत्तिचिन्ता इति ।

अत्र प्रतिपत्तिधीयते । यत्तावदुक्तम्—'अधिनाभावस्तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्या नियत'

० तत्प्रतिपत्तिभ्यानुपपत्तौ तादात्म्यतदुत्पत्त्यमात्रेण अधिनाभावसम्भावना इति कात्यादिहेतुना गमकत्वप्रदर्शनम्—

१० हेतुप्रहणप्रेलायामेव तद्व्यतिरेकितया साध्यस्य प्रतिपत्तित्वात् नानुमानस्य साफल्यम् । न ह्यगृहीत लिङ्ग लिङ्गविषया धियमाधत्ते । गृहीतो च यदि लिङ्गप्रतीतो न लिङ्गी प्रतिभासेत् तदा कथं तथैस्तादात्म्यम् ? प्रतिभासे तु सिद्धमनुमानस्य यफल्यम्, प्रतिपत्तिव्यतिरेकतया च हेतोः । विपरीतसमारोपव्यवच्छेदार्थत्वात्तस्यै साफल्यञ्चेत्, ननु तैस्त्र-

(१) प० ४४४ प० १० । (२) तुलना- तथा वक्षस्त्वङ्गिपात्वयोर्न तादात्म्यप्रतिपत्तयः साध्यसाधनभावानुपपत्तिप्रसंगात् । तथाहि-परिमण्युपपत्ते तदादात्म्यात्प्रभोरप्युपलम्बन कथं साध्यसाधनभावः । -प्र० १० प० ५७१ । अपि च तादात्म्यं कथं गम्यगमकभावः न हि तदेव कर्म कतुं कति युक्तम् तस्य भङ्गात्प्रवृत्तात् । -न्यायपत्र० प० १६३ । न च तादात्म्यं गम्यगमकता घटते एकस्य सहजानुपपत्तित्वायोगात् । -बह० प० ५० ९५ । तादात्म्यं च यानुमानं तन्पि न साधीयं सिद्धं हि लिङ्गं साध्यं लिङ्गकम् न सिद्धस्य साध्यस्य च तादात्म्यमुपपद्यते । -प्र० १० प० ६७ । न च तादात्म्यं गम्यगमकभावव्यवस्थया युक्ता तस्या भङ्गात्प्रवृत्तात् । यदि गिगिपात्वे भूह्यभागे वक्ष्यमाणं हीतं क्व तादात्म्यम् ? गृहीतं केन ववानुमानम् ? -प्र० १० प० २०७ । अपि च यदि तादात्म्यं गमकत्वागमित्यन्तं तदा साध्यसाधनयोर्भेदाभावेन सम्बन्धाभावात्-विनाभावानुपपत्तिः -स्या० १० प० ५३३ । (३) सीगतस्य । (४) तुलना- तादात्म्यं तावत् गमकत्वाद् हेतुसाध्यभोरप्यतिरेके गम्यगमकभाव एव दुष्प्रसङ्गः । न च वगृहीतं लिङ्गं लिङ्गप्रतीतानिभाषावुपपत्तिः । तत्र लिङ्गबुद्धौ लिङ्गं ( लिङ्गी ) प्रतिभासते न वा ? अत्रिभासं तद्वद्व्या तद्वद्व्यात् कथं तस्य तदात्मकत्वम् । प्रतिभासे तु लिङ्गवत् प्रत्यक्ष एव साध्यं इति विमनुमानेन ? -न्यायपत्र० प० ११३ । तादात्म्यं च गमकत्वे हेतुप्रतिपत्तिवैक्यामेव साध्यस्यापि प्रतिपत्तित्वात्प्रतीतानुमानस्य साफल्यम् । -स्या० १० प० ३५३ । (५) हेतुतादात्म्यं अभिप्रेत्यात् । (६) गृहीतगिगिपात्स्य सन्निध्यवचनम् । लिङ्गप्रहणं सत्यपि चगम्यस्य अप्यवत्त्वान् । (७) लिङ्गलिङ्गना । (८) लिङ्गप्रतीतो साध्यस्य प्रतिभासः । (९) साध्यसाधनयोर्बुद्धत्वात्तादात्म्ययोर् तादात्म्यं हि प्रतिपत्तिवैक्याभूतं यत् वक्ष्यते साध्यं तदादात्म्यात्प्रत्यक्षं गिगिपात्त्वमेव च हेतुः इति साध्यस्य अभिप्रेत्यात् हेतोरप्यभिप्रेत्यमिति भावः । (१०) तुलना- विपरीतसमारोपव्यवच्छेदार्थत्वात्प्रतीतानुमानमिति च न तत्त्वप्रहणं विपरीतारोपवाक्यसमाधानम् । न हि गिरपाथ्यात्प्रतीतानुपपत्तयः सति स्थाप्यसमारोपं प्रवर्तते तत्र तद्व्यतिरेकप्रवृत्तयः न हि गिरपाथ्यात्प्रतीतानुपपत्तयः सति तद्व्यतिरेकप्रवृत्तयः काम भवन्तु इह वक्ष्यते गिगिपात्त्वयोर्बुद्धत्वात् गिगिपात्त्वव्यवच्छेदसति वा कथा बुद्धत्वात्प्रतीतानुमानस्य । -न्यायपत्र० प० ११३ । स्या० १० प० ५३५ । (११) गिगिपात्त्वमत्वात्हेतोः -आ० टि० । (१२) हेतुस्वरूपे ।

रूपे प्रतिपन्ने, अप्रतिपन्ने वा विपरीतसमारोप स्यात् ? तत्र प्रतिपन्ने कोऽनसरो विपरीत-  
समारोपस्य ? न हि शिर पाण्याद्विज्ञेपोपलम्भे स्थाणुसमारोप समादिशति । तत्त्व-  
रूपेऽप्रतिपन्ने तु का कथा विपरीतसमारोपस्य ?

किञ्च, वृक्षत्रग्रहणे सति सामान्यग्रहणाद् विशेषाग्रहणात् स्यात् कदाचिदंश-  
पात्वसमारोप, नतु शिंशपात्वग्रहणे सति अवृक्षत्वसमारोप । शिंशपात्व हि यस्य प्रत्यक्ष  
वृक्षत्व न तस्याऽप्रत्यक्षम् ।

किञ्च, सौध्यसाधनयोरव्यतिरेके यथा शिंशपात्वेन वृक्षत्वमनुमीयते, तथा वृक्ष-  
त्वेनापि किञ्च शिंशपात्व तादात्म्याऽविशेषात् ? अथ शिंशपात्वमेव वृक्षत्वे प्रतिपन्नं न  
वृक्षत्र शिंशपात्वे, न तर्हि तादात्म्याद् गमकत्वम्, अपितु अविनाभावादेव । तथा तादात्म्ये  
अविनाभावस्य नियतत्वम् ।

नापि तदुत्पत्तौ, बँह्युत्पन्नेऽपि धूमधर्मेण श्यामत्वादिषु अविनाभावस्याऽनुप-  
लब्धे । न च सामान्ययो कार्यकारणभाव किन्तु विशेषयो, ययोश्चाऽनर्थोर्महानसादौ  
कार्यकारणभावोऽनगत न तयोर्गम्यगमकभाव, ययोस्तु पर्वतस्थयो गम्यगमकभाव न  
तयो कार्यकारणभावोऽनगत । न चानगते तस्मिन् तयोरविनाभावो प्रदीतु शक्य ।

(१) शिंशपात्वग्रहणे ह्युत्पन्नप्रतिपन्ने हि तदभेदाद् वक्षत्वमपि प्रतीतमेवेति विपरीतस्य  
वृक्षत्वन्वयस्य आराध कथं स्यात् ? (२) तुलना-अपि च वृक्षस्य ग्रहणे सति सामान्यग्रहणाद्वि-  
शेषात्तद्व्यवसायात् कदाचिदंशिरपात्वसमारोप स्यात् न तु शिंशपात्वग्रहणे सति अवृक्षत्वसमारोपो युक्तः ।  
प्रभावो शिंशपात्व हि यस्य प्रत्यक्षगात्र । पराक्ष तस्य वृक्षत्वमिति नातीव लौकिकम् ॥'-न्यायम०  
पृ० ११४ । (३) तुलना-'तयोर्मयोस्तादात्म्याविशेषेऽपि शिंशपात्वेन वृक्षस्य प्रतिपत्तिवत् वक्षत्वन्  
शिंशपात्वप्रतिपत्तिरपि स्यात् ।'-प्रश्न० व्यो० पृ० ५७१ । 'किञ्च साधनसाधनयोरव्यतिरेकान् यथा  
शिंशपात्वेन वृक्षत्वमनुमीयते तथा वक्षत्वेनापि शिंशपात्वमनुमीयते तादात्म्याविशेषात् । तत्र च सप्त  
व्याप्त्यन्याप्तिभ्या वृक्षत्वप्रयत्नानन्तरीयवत्वयोर्वा भू उक्तं स हीयेत । ननु चान्य सम्बन्ध अयश्च  
प्रतिबन्ध, द्विष्ट सम्बन्ध, प्रतिबन्धस्तु परायत्तत्वलक्षणः । तत्र शिंशपात्व वृक्षत्वे प्रतिबन्ध न वृक्षत्व  
शिंशपात्व प्रयत्नानन्तरीयवत्वमपि अनित्यत्वे नियतं न त्वनित्यत्व तत्रापि, तथा धूमस्याग्नी प्रतिबन्ध  
न त्वन्धूम सत्यमेवम्, किन्त्ववमुच्यमाने नियत एवाङ्गीकृतो भवेत् तादात्म्यम् । तादात्म्ये हि यथा  
शिंशपा शिंशपा विना न दृश्यते तथा वृक्षत्वमपि शिंशपात्वेन न दृश्यते, दृश्यते च खट्विरादौ शिंशपा  
रहितं वृक्षत्वम्, विद्युत्वात् च प्रयत्नानन्तरीयवत्वरहितमनित्यत्वमुपलभ्यते इति कथमभेद ? विना साधन  
धर्मण साध्यमाश्रयमस्ति हि । दृष्टस्त्वन्वयत्वेण तदात्मा चेति वक्तव्यम् ॥'-न्यायम० पृ० ११४ ।  
प्रश्न० पृ० पृ० ६७ । स्या० २० पृ० ५३५ । (४) तुलना-'वायहेतुरपि न सम्भवति भवता हि  
क्षणयोवा वायुकारणभावो भवेत् सन्नानयोर्वा ? यदि धूम वायत्वादनलमनुमापयेत् वटुमलिन  
गगनगामिरवादिधर्मैरपि तस्य गमका भवन् । न च कश्चित्तत्कायत्व कश्चित्त्वदन्तकायत्वञ्च धूमस्याप-  
पन्नम्, सत्वात्मकस्य तदवयव्यनिरैकानुविधायिप्रभवजातः ।'-न्यायम० पृ० ११६ । स्या० २० पृ०  
५३५ । (५) वायुकारणभूतयो धूमार्था । (६) वायुकारणभाव । (७) पवनम्यधूमार्था ।

१ प्रत्यक्ष रूप वृक्षत्वं तस्याप्रत्यक्षत्वम् थ०, व० । २-सात्वेन प्रति-थ० । ३-पात्वेन न तर्हि थ० ।

न च अगृहीतोऽसौ अनुमानाङ्गम् । त्वेदानीं ग्रहणे तु हेतुप्रतिपत्तिसमय एव साध्यप्रति-  
पत्तेर्जातत्वात् किमनुमानेन ?

तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्याम् अविनाभाप्रतिनियमे च कथं वृत्तिमोक्षं शम्भोदययो  
च द्रोत्र्य-ममुद्रवृद्धोक्ष गम्यगमनभाप्रस्तरे तादात्म्यतदुत्पत्त्योरभावात् ।

- 5 यद्ययुक्तम्—‘अविनाभावस्य प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकेन प्रतिपत्ते’ इत्यादि, तदप्य-  
साम्प्रतम्, प्रत्यक्षस्य अविन्ययतया अनुपलम्भस्यापि अर्थान्तरोपलम्भस्वभावस्य  
तर्थाभूततया शतशोऽपि प्रवृत्तस्य व्याप्तिग्रहणे सामर्थ्यामभवात् । नहि निर्विकल्पकम्  
‘इदमस्मिन् सत्येन भवति अतोऽन्यथा न भवत्येव’ इत्येतान्तो व्यापारान् कर्तुं  
ममर्थं सन्निहितविषयलोत्पत्तेरविचारकवाच इत्युक्तमनन्तरमेव । नापि तत्रमनो  
10 विकल्प, तस्य भवता प्रामाण्यानभ्युपगमात् ।

‘व्यावृत्त्यालिङ्गलिङ्गित प्रतिपत्तु वस्तुना ।

विकल्पैर्ग्रहणं तस्यै को भूयात् सांगतात् पर ॥’ [ यायमं० पं० ११७ ]

यदपि—‘स्वभावहेतोर्विषये चाधकप्रमाणेन व्याप्ति प्रतीयते’ इत्याद्युक्तम्, तदप्यु-

(१) अविनाभाव । (२) अनमानप्रयोगकाल तु वायकारणयो अविनाभावग्रहणे स्वीयिय  
माण । (३) पुनः— एव सत्रं दशकालाविनाभूतमितरस्य निद्राम् शास्त्रे कार्यान्निग्रहण निग्रानाथ  
कृत नावधारणायम । कस्मात् ? व्यतिरेकत्वात् । तद्यथा अवयुराश्रावयन् व्यवहितस्य हीतु  
लिङ्गम च द्रोत्र्य समुद्रवृद्ध कुमुदविनाशस्य च शरदि जलप्रसागोपस्त्योन्मथति । एवमापि  
तत्सवमस्यनिति वचनान् सिद्धम् ।—प्रगं० भा० पृ० ५६२ । यायमं० पृ० ११७ । न च तादा  
त्म्यतदुत्पत्तिलक्षणप्रतिवधोभ्युपगम रूपशंभान स्तार्णुमानम् उदयादस्तमयप्रतिपत्ति वृत्तिको  
दयाच्च रोहिष्यनुमान न स्यात् तादात्म्यतदुत्पत्त्वभावात् ।—प्रगं० ध्यो० पृ० ५७१ । ‘अपि च  
रसायद्रूप रसमानकालमनुमनन्नुमातार न चानयोरिति वायकारणभावम्नादात्म्य वा ।  
अपि चाद्यतनस्य सवितुष्टयस्य ह्यस्मन्त सवितुष्टयन च द्रोत्र्यस्य च समानकालस्य समुद्रवृद्धया  
मध्यनयत्रदुष्टया चाद्यतनस्योत्पत्त्यस्य न वायकारणभावस्तान्नात्म्य वा अध च दुष्टो गम्यगमकभाव ।  
—न्यायवा० ता० पृ० १६१ १६३ । प्रक० पं० पृ० ६७ । प्रगं० कं० पृ० २०९ । तत्त्वार्थ-त्रो० पृ०  
१९९ । श-मति० टी० पृ० ५९३ । स्था० २० पं० ५३६ । (४) वृत्तिकोत्यादिहेतो । (५) पं०  
४४४ पं० १६ । (६) अविकल्पनया—आ० टि० । (७) साध्याभावे । (८) पृ० ४२७ पं० २ ।  
(९) निर्विकल्पकजयो विकल्प । (१०) मोगनेन । (११) पुनः— अपि च—व्यावृत्त्योर्लिङ्गलि  
ङ्गित प्रतिपत्तयश्च वस्तुनो । विन्ययग्रहणे तस्य कथं सङ्गच्छतामिदम् ॥ —न्यायमं० पृ० ११७ ।  
‘यो हि तादात्म्यतदुत्पत्तिस्वभाव प्रतिवध इत्यने स वि वस्तुधर्मो विकल्पारापितान्तरधर्मो वा ? तत्र  
नायगारोपितधर्मा भवितुमर्हति वस्तु वस्तुना जयन वस्तु च वस्तुस्वभाव भवेत् तस्माद्बस्तुधर्म  
प्रतिवध । विकल्पैश्च वस्तु न स्पृश्यते त-प्रतिपत्तयश्च निरधीयत इति चित्रम् । इदञ्च स्वभापितम  
वस्तुनो प्रतिवधस्तान्नाम्यापि गम्यगमकत्वञ्च विकल्पारोपितयोरोत्पद्यो । तन्वम-यत्र प्रतिवध  
अन्यत्र न-ग्रहणाय अन्यत्र प्रतीति अयत्र प्रवृत्तिप्राप्ती इति सव कतवम् । —यायमं० पृ० ३४ ।  
(१२) प्रतिवधस्य अविनाभावकत्वस्य । (१३) पृ० ४४५ पं० ११ ।

किमात्रम्, यतो विषये धाधक प्रमाण क्रमयोगपद्यानुपलम्भलक्षणमनुमानम् । अनुमानञ्च सिद्धव्याप्तिरुभेव स्वसाध्यसिद्धये प्रभवति नान्यथाऽतिप्रमद्धान् । व्याप्तिश्च तत्राप्यनुमानान्तरेण प्रतीयते, प्रमानुमानेन वा ? अनुमानान्तरेण चेत्, अनवस्था । प्रथमानुमानेन चेद्, अन्योन्याश्रय । अतोऽनुमानमिच्छता भवता व्याप्तिग्राही तर्क प्रमाणा-न्तर प्रतिपत्तव्य, प्रत्यक्षानुमानाभ्या तद्ग्रहणानुपपत्ते इति ।

एतदेवाह—'नहि' इत्यादि । तत् साध्यम् आत्मा यस्य तस्य भाव तादात्म्यम्, तस्मात् साध्याद् आत्मलाभ तदुत्पत्तिः, पुनरनयो इतरेतरयोग-विवृतिरप्यतम्-  
लक्षणो द्वन्द्व । ननु संयन्तत्वात् तदुत्पत्तिशब्दस्य पूर्वनिपात प्राप्नोति, तन्न, अस्य लक्षणस्य "लक्षणहेत्वो क्रियाया" [ जनेद्रव्या० २।२।१०४ ] इत्यनेन अनेकान्तिरुत्पत्तात् । ते तादात्म्यतदुत्पत्ती नहि नैव ज्ञातु शक्येते । कर्ममित्याह—'प्रिना' इत्यादि । साध्याभावप्रकारेण अन्यथा या अनुपपत्तिः अघटना साधनस्य तस्या सम्पन्नी ग्राहस्त्वेन तर्कः तेन प्रिना । तदेव वृक्षत्वशिष्टपात्वाद्यौ तात्पर्यादे मद्भावेऽपि अविनाभावान्तरेणैव शिष्टपात्वादेरेव वृक्षान्ति प्रति गमकत्वम् न वृक्षत्वादे शिष्टपादिक प्रति इति प्रतिपाद्य, इत्यादी तदभावेऽपि तद्वलेनैव गमकत्व प्रतिपादयन्नाह—'ताभ्याम्' इत्यादि । ताभ्या तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्या प्रिनैव एकलक्षणस्य अविनाभावस्य मिद्धिः निष्पत्ति निर्णानिर्वा । एतदेव समर्थयमान ग्राह—'नहि' इत्यादि । 'हिर्यस्मात् न वृक्षादि आदि-शब्देन रमान्तिरिग्रह । छायादेः अत्रापि आदिशब्देन रूपादिस्वीकार, स्वभावः वृक्ष-दिष्टायागो देशादिविभेदात्, कार्ये वा महभावात् इत्यभिप्राय ।

ननु च आह्वान्यमानात् रमात् वृक्षाच्च सामग्री अनुमीयते ततो रूपस्य छायायाश्चा-

- (१) अनुमीयतेऽनेनानि अनुमानं हेतु । (२) नित्यमर्थक्रियाभूय त्रमयीगपद्यानुपलम्भात् त्वय । (३) व्याप्तिप्रवृत्तानुपपत्त । (४) सु इति मना जन द्रव्याकरण पाणिनिव्याकरणस्य 'धि' मनाया स्थाने प्रयुज्यते । 'द्वे हे मु ।' १।३।९७ । द्वे हे न स्वन्त पूर्व प्रयास्तव्यम् । -जनेद्रव्या० ।
- (५) 'द्वे हे मु' इति व्याकरणमूलस्य । (६) अत्र हि हेतुगत् स्वतस्तथापि नास्य पूर्वनिपात ।
- (७) तात्पर्यतत्पत्त्यभावापि । (८) अविनाभाववन्तेव । (९) वृक्षादि छायात्न स्वभाव तेषाम्नि भवान् न च काय सम्भावान्-आ० टि० । (१०) 'एकसामग्र्यधीनस्य रूपात् रसतां गति । हेतुधर्मानुमानन धूमधनविकारवत् ॥ या च रसतो मधुगान्कित रूपाद् आदिगन्दात् गन्धस्य स्पृशस्य च एरमाधध्याधानस्य रमान्तिना सह एकसामग्र्यायतस्य गति, सा कथमित्याह हेतुधर्मानुमानन रसकारणस्य धर्मो रमान्तिमहत्वरूपजनकत्व तन्नुमानन रसात् रूपात् गति । न हि काय रस कारणमन्तरण कारण इत्यास्य रसगहकाररूपजनक पुञ्जान् पुञ्जोत्पत्त । जनस्तम्मिन्नमित्तेऽनुमितमेव रूपम् धमधनविकारवत् । धूमाद् हेतुधर्मानुमानन इत्यनविकारस्य अङ्गारान्धूममहत्वरूपस्यैव वानुमाननम् । -प्रमाणवा० मनोरथ० ३।८ । "तेनायमर्थो रसात् सक्तागान् नद्वेता रससमानकालभाविण्यजनकत्वप्रिदधीयते एव हि तस्य रससमानकालभाविण्यजनकत्व निश्चीयते । यत् समानकालभावितो रूपस्यापि निश्चय स्यात् तेनातीतकालानामकत्व गति कायलिङ्गा । -प्रमाणवा० स्वव० टी० ३।८ । हेतुवि० टी० पृ० ५४ A ।

१-लक्षणमनुमानञ्च सि-व० । २-व्यतत्वात् श०, स्वल्पान्तरत्वात् व० । ३-मित्याद्याह व० । ४-व्यादे व० । ५-हि व-व० । ६-देगादिभे-प्र०, व० । ७-सामाप्यानु-व०, सामाप्यानु-थ० ।

नुमानम् अनुमितानुमानान्, इत्यप्यमत्, तथा व्यवहाराभावात् । नहि आस्नाद्यमानाद्  
रसात् व्यवहारी सामग्रीप्रभुमिनोति, वर्तमानरूपादरप्रतीतिप्रमद्वात् । तथा च 'इत्मा-  
ग्रफनम् एवविधरूपम् एवविधरमत्वात्' इत्यनुमानम्, पावक रूपदर्शनात् तत्समफालो-  
ष्णस्पृशानुमानम्, तद्वैर्येन तत्रै प्रवृत्तिश्च न प्राप्नोति । व्यवहारासारेण च भवेता प्रमा-  
५ णान्तिता प्रतयते "प्राभाषय व्यवहारम्" [ प्रमाणवा० २५ ] इत्यभिवानात् । सामग्रीतो  
रूपानुमाने च कारणात् कार्यानुमानप्रसङ्गात् लिङ्गमर्यादव्याघात स्यात् । तत सिद्धम्-  
अनार्यादस्वभावाच्च वृक्षादे छायाणुमानम् । तर्हि व्यभिचारोऽत्र भविष्यति इत्यत्रा-  
'नच' इत्यादि । नच नैव वृक्षादे छायाणुमाने निसनादौ व्यभिचारोऽस्ति तत्रापि  
प्रतीते । अत्रैवायं नष्टानांतरमाह-

चन्द्रादेर्जलचन्द्रादिप्रतिपत्तिस्ताथाऽनुमा ॥ ३३ ॥

प्रिवृति - न हि जलचन्द्रादे चन्द्रादि स्वभावात् फार्यं वा ।

चन्द्र आदिर्यस्य आत्त्यादे स तथोक्त, तस्मात्, जलचन्द्र आदिर्यस्य

रूपरिचरिचुवा चन्द्रादिस्तादे सोऽपि तथोक्त तस्य प्रतिपत्तिः तथा [अन्यथाऽ] तुपैप-

यात्तानम्- तिप्रकारेण अनुमा अनुमानम् । जलचन्द्रादिना प्रतिपत्ति चन्द्रादेरिति

L चा व्याघातानुप्यम् । एतदेव व्याघाते 'नहि' इत्यादिना । 'नहि' नैव जलचन्द्रादे

(१) तुलना- समानागणयागम्यममकभावोपपत्त्य तथाहि-रूपगणान समानकाल स्पर्शानु-  
भोगेन न पूव तत्र एकमात्रमधीन वामभव एव । न च रूपस्पर्शयो परस्परान्वत्तो कारणत्व प्रमाणमस्ति  
इतरा वयस्येतरानुपलब्ध । -प्रश्न० ध्यो० प० ५७१ । लोकिवाकान्वनदमात् रूपानुमानम् । न चत  
पिगितवभुय क्षातनामयोपभन्धवस्यति । न चानुप्यवस्यन् प्रवृत्तस्पर्शानानसामर्थ्य रसहेतुपनु-  
मानमुत्सन्ने । -वायवा० ता० प० १६३ । लोकस्यत्यमप्रतीने रूपमेव रसात्त्रोच प्रतिपद्यते ।  
लौकिकी च प्रतीति परीक्षकरप्यनुसन्धीया । -प्रश्न० प० ४७ । बह० प० ४० १४ । (२) न  
प्राप्नोतीत्य किन्तु इत्माग्रफनमवविधमामग्रीवमिति प्राप्ति -आ० टि० । (३) रूप उष्णस्पृशार्थिन ।  
(४) रूपाने न प्रवृत्ति प्राप्नोति किन्तु सामग्र्याम् -आ० टि० (५) गौणतन । (६) तुलना- तथा  
च रसात् कार्यान्तारण रूपमनमात्त्र तदवचानुमितानुमानात् कारणात् तत्त्वाय रसात्मानकाल रूपमनु-  
मानव्य तथा च कारणात् वायानुमान तात्काल्यन्तत्प्रतिभ्यामपयति नाभ्यामव्य प्रतिवधसिद्धि ।  
-वायवा० ता० ४० १६२ । प्रश्न० प० ४७ । बह० प० ४० १४ । रसात्सामाग्यनुमानेन  
रूपानुमानमिच्छन्भिरिच्छमेव किञ्चित्कारण हेतुपय सामर्थ्याप्रतिपत्तकारणात्तारावक यः -परीभासु०  
३१६० । समति० टी० ४० ५९३ । प्रमाणतय० ३१६६ । प्रमाणमो० ४० ४३ । (७) यदि सायग्री  
कारण रूपानुप्यन्तु वाय तत्र स्वभावलिङ्ग कार्यान्तारण कारणत्रिङ्गमिति प्रयप्रसक्तो -आ० टि० । (८)  
श्रीण्येव च लिङ्गानि । अनुपपत्ति स्वभावकार्ये चति । -वायविक० ४० ३५ । (९) कारणहेतुसमर्थ  
नाथम् । (१०) चन्द्र आत्त्यस्य आत्त्यादेरसौ चन्द्रात् तस्मात् कारणभूतात् जने स्वच्छाम्भसि  
चन्द्रात् चन्द्रात्प्रतिपत्तिव्यस्य प्रतिपत्तिव्यवधोपेद्रुमा अनुमानमनुमन्तव्यमव्यभिचारान् । विद्यत ? तथा  
कार्यान्तारणप्रतिपत्तिव्य । -सूची० ता० ४० ३२ । तुलना- चन्द्रात् जलचन्द्रात् सौम्ये तत्र तथाविध ।  
छायाणुमानादौ च सौम्ये तत्र वचनात् ॥ -सरवायश्लो० ४० २०१ । (११) जलप्रतिपत्तिव्यतस्य  
चन्द्रात् । (१२) तात्काल्यन्तुत्पर्यभावेर्षि-आ० टि० ।

१ अनुमित्यनुमा-आ० ब० । २ प्रतिपत्तिश्च व० ।

चन्द्रादिः स्वभावः कार्यं वा, अथ च अतं तत्रै अन्यभिचारिणी प्रतिपत्तिं प्रतीयते इति ।

ननु जलानौ न प्रतिबिम्ब नाम वस्त्वन्तरं सम्भवति, तत्सभवे विम्बसन्निधानात्  
जनादा न आदित्यादे प्रागपि तत्रै तर्दुपलम्भप्रमङ्गात् । अथ विम्बसन्निधान एव तर्दुत्पद्यते  
प्रतिबिम्ब किन्तु स्वद- अतो न प्रागपि तत्प्रसङ्ग , ननु तैत्सन्निधाने गुणरूपम्, द्रव्यरूप वा  
शस्य एव आदित्यादि तर्दुत्पद्यते ? न तावद् गुणरूपम्, द्रव्यत्वेन प्रतिभासमानत्वात् । अथ  
तत्र प्रतिभासत इति प्रति- द्रव्यरूपम्, तर्तिक निरवयवद्रव्यरूपम्, सावयवद्रव्यरूप वा ?  
बिम्बभावनादिन कुमा- तत्राप्य पक्षोऽनुपपन्न , तत्रै अर्थव्यतिभासनात् । नैपि सावयवम्,  
रिलभदस्य पूर्वपक्ष - तत्राप्य पक्षोऽनुपपन्न , तत्रै अर्थव्यतिभासनात् । नैपि सावयवम्,  
जलान्प्रिस्पर्शात् पृथक् तैत्पज्ञोपलम्भासम्भवात् ।

स्पर्शवन्तश्च परमाणव स्पर्शवद्रव्यस्यारम्भना भवन्ति, तत्र चार्थं किं जलादि-  
परमाणव एव आरम्भिका , अन्ये वा ? न तावदन्ये, स्पर्शवन्त्रयविदेशे तेषां तदारम्भ-  
कत्वासम्भवात् । अथ जलान्परमाणव एव तदारम्भिका , तत्र, जलमयत्वेन अस्याऽप्र-  
तिभासनात् । जलरूपैलक्षण्यप्रतीतिश्च, शुभ्र हि रूपं जलस्य, न च सुरादिप्रतिबिम्बे  
तत्रैस्ति । न च विम्बरूपमेव तदारम्भकमित्यभिधातव्यम्, निमित्तकारणगतस्य पृथग्देशा-  
वस्थितस्य रूपस्य कार्यद्रव्यरूपानारम्भकत्वात् । द्वैथोश्च सावयवयो समानाकाशदेशत्वा-  
नुपपत्ति । आश्रयद्रव्यस्य च आदर्शादे परिमाणगौरवयोरुत्कर्षं स्यात्, नचैतदस्ति ।  
अतो न प्रतिबिम्ब किञ्चिद् वस्त्वन्तरं युक्तम् । ननु यदि तैन्नास्ति कथं जलादौ सूर्या-  
दिप्रतिबिम्बप्रतिभासः ? इत्यप्ययुक्तम्, तत्रै तैत्प्रतिभासाऽसम्भवात्, स्वदेशस्थस्यैव  
आदित्यादे तत्रै प्रतिभासनात् ।

अत्रै प्रतिबिम्बोप्यथादिन पर्यनुयुञ्जते—यदि स्वप्रदेशस्थ एव सचिता उप-  
लभ्यते न प्रतिबिम्बानि, कस्मात्तर्हि नोपरि एव दृश्यते ? नहि अन्यत्रैस्थ अन्यत्रै द्रष्टु

(१) जलचन्द्रादौ । (२) चन्द्रादौ । (३) जले—आ० टि० (४) प्रतिबिम्बोपम्भ । (५)  
प्रतिबिम्बम् । (६) विम्बसन्निधाने । (७) प्रतिबिम्ब—आ० टि० । (८) हस्तपादानीनाम्—आ०  
टि० । (९) यदि सावयव प्रतिबिम्बमथान्तरभूत जले समुत्पन्नं तदा तस्य स्पर्शादिभि पृथग्भतभवि  
तव्यम्, न च तत्सम्भवति जनीयस्पादाद्यात्मकत्वात् प्रतिबिम्बस्पर्शानीनाम् । (१०) प्रतिबिम्बस्य ।  
(११) उत्पान्ना (१२) अन्ययाम्—आ० टि० । (१३) गुणरूपम् । (१४) वायव्यरू  
परम्भक हि समवायिकारणगत रूपं भवति । (१५) अथ निमित्तकारणं तत्राप्यत्प निष्पादयतीत्याह  
—आ० टि० । निमित्तसमवायिकारणयो । 'सहकत्र द्वयासत्त्वान वस्तु प्रतिबिम्बकम् । तत्कथं वायता  
तस्य युक्ता चेत्पारमाथिकी ॥ अवस्तुत्वे हेतु सहकत्र द्वयासत्त्वादिनि । यनव प्रश्ने आदगरूप दृश्यते  
प्रतिबिम्बकञ्च तत्रव । न चकत्र प्रदेन रूपद्वयस्यास्ति सहभाव सप्रतिघत्वात्, अन सहकत्र द्वयो  
रूपयो सत्त्वं न प्राप्नोति । तस्माद् भ्रान्तिरियम् । अतो नास्त्यव विन्चिद्वस्तुभूत प्रतिबिम्बक नाम ।'  
—तत्त्वस० प० पृ० ४९८, ६९७ । (१६) प्रतिबिम्बम् । (१७) जलादौ । (१८) सूर्यादिप्रतिबिम्ब ।  
(१९) जलादौ (२०) जनान्य । (२१) नभोऽस्य । (२२) जलादौ ।

1 जलादेन व० । 2 नावयवम्  
3 स्पन्दव्य—य० । 4—स्थितस्य वाय—य० ।  
5—हयान्भक—य० । 6 वा व० । 7  
7, 8, 9, 10, 11, 12 अत्र केचित् प्र— य० ।

पर्यते सर्वदा र्वथान्तर्गतप्रसङ्गात् । न च प्रतिविम्बमन्तरेण कृपादिषु अधस्तात्तद्दीक्षणम् ।  
प्राङ्मुख्येन तर्पणं पश्यन् प्रत्यङ्मुखश्च कथं स्यात् ? यदि च बहिर्निष्पातमिन्द्रिय तत्रैव  
बोधयेत् तत् एतदेव भवेत्, शरीरं तु तद्बोधकमिति । नञञ्च—

“अथ तु बोधयत्वन प्रतिविम्बादयेपिण । स एव चत् प्रतीयेत वस्मात्तपरि दृश्यते ? ॥

६ कृपादिषु कुतोऽधस्तात् प्रतिविम्बाद्धिनक्षणात् । प्राङ्मुखो दपणं पश्यन् स्याच्च प्रत्यङ्मुखं वयम् ? ॥  
तत्रैव बोधयदथ बहिष्यात् यदीन्द्रियम् । तत् एतद्भवदत्र शरीरं तच्च बोधनम् ॥ ’

[ मी० श्लो० गव्दनि० श्लो० १८३ १८६ । ] इति ।

अत्रोच्यते—जले सूर्यादिदग्निना द्वेषा चक्षुः सर्वदा प्रवर्तते, एवमूर्ध्वम्,  
अपरञ्च अधस्तात् । तत्र नोर्ध्वादाप्रकाशितं सूर्यम् आत्मा प्रतिपद्यते अधिष्ठानाऽनुजु-  
१० त्वात्, अवागन्तुया तु तं बुध्यते पारम्पर्यापितं सतम् अधिष्ठानजुत्वात्, अवागिव  
च मयते । उर्ध्वनिर्गतदेवत्वात्, तेन कारणेन अधस्तादेव आदित्यं सातरात् प्रती-  
यते । एव दर्पणानौ नायनो रश्मिं प्रतिहतो न्यानुच्य स्वकीयमेव मुग्धं प्राङ्मुखरश्मे  
समर्पयन्ति, तदथ प्राग्गतया नायनरश्मिवृत्त्या मुग्धं बुद्ध्यमानं प्रतिपत्ता प्रत्यन् तद्वृ-  
त्तिसमर्पितं ‘प्रत्यग्’ न्ययगच्छति । तदुक्तम्—

१० “उर्ध्वमुख्यदर्शना नित्यं द्वेषी चक्षुः प्रवर्तते । एवमूर्ध्वमधस्ताच्च तत्रोर्ध्वाशक्काशितम् ॥

(१) जलानावेव मूलान्नं स्यात् । (२) सूत्रानि । (३) पुरुष । (४) जयन्ता गत्वा । (५) स्वो  
वास्य एव जान्तिव्यतिस्तत्र प्रतिभासन इति —आ० टि० । (६) इन्द्रियं चक्षुः । (७) व्याख्या— जगन्निषु  
यथाकांश्चिन्नानात्मा सवित्तयन्—त्यस्य हृदयमिन्द्रियविषयतानोत्तस्यामिन्द्रियमयमाना प्रतिविम्बमर्था  
तरिमा उतदचोत्थयन्ति । यदि स एव एवात्मानो दृश्यते न प्रतिविम्बं तत्रैवमिति उपरिपट्यात्स्य न्नं न  
भवति ? एव हि तस्य न्नं भवति यदि दशावस्थितस्वरूपं गृहणीयात् नायथा जयन्ता हि अनिप्रसङ्गः ।  
किञ्च कृपादिषु च दूराध मधिष्टस्यानिति कथं ग्रहणं भवति यदि तत्र प्रतिविम्बं नात्पत्रं स्यात् ? न हि  
तत्र तथाकांश्चिन्व्यतिस्थितिः । अपि च प्राङ्मुखो दपणमवगोचयन् कथमिव प्रत्यङ्मुखो भवति ? न हि  
तस्य तथा पुष्पाभिमुखं मुखमुपजाय दृश्यते । एव मयते यदि बहिर्निगन्तमिन्द्रियमादित्यं बोधयत्तत्र  
एतस्मात् उपरिस्थितमव पश्यताश्चस्तानिति । यावता घमाधमवगीहृते शरीरं एव तन्निन्द्रियं प्राहृन्मि  
प्यं नोपरिस्थितम् । —तत्त्वस० प० पृ० ६१४ । (८) प्रतिविम्बं कथं भवेत् मी० श्लो० । (९) स्याच्छेत्प्र  
—मी० श्लो० । (१०) यन्निन्द्रियं —मी० श्लो० । (११) उन्मूला एते —तत्त्वस० पृ० ६१४ । प्रमेयक०  
पृ० ४०८ । (१२) प्रतिविम्बनिर्पथमि —आ० टि० । (१३) ऊर्ध्वाधोरस्मीनामेवत्वात् —आ० टि० ।  
(१४) व्याख्या— एवमेव चपरस्परिष्ठितमवमानसपवत् द्वेषा वन्ते अधस्तादु वञ्च । तत्रोच्चवृत्तिप्र  
वाग्निं दहानाजवाभ्रात्मा बद्धयत इति । वस्मात्तद्दि बुद्धयत एत जाहृ—पारम्पर्येति । उच्चवृत्तिरधोवृत्त्य  
समपयन्ति सा च आत्मन इति । न पुनरुर्ध्ववृत्तरधोवृत्त्या सम्बोधो यत्र समपयन्ति एत आत् ऊर्ध्वेति ।  
एतस्यैव हि तावगी तेनास्मीववन्तस्या वत्या घमिरूपणक्यमिति अधोवृत्त्या उच्चवृत्त्यमानस्तानुगुण्यद  
वागिव भूय मयन् इति । यत्तु प्राङ्मुखो दपणं पश्यन् कथं प्रत्यङ्मुखो दृश्यते न्युक्त्वा तत्राहृ-  
एवमिति । तत्रापि प्रत्यङ्वृत्तिप्रवाग्निं मुक्तम् अधिष्ठानानाजवाभ्रात्मा प्रतिपद्यन् इति किन्तु प्रत्यङ्वृत्ति  
प्राङ्मुख्ये समपयन्ति तथा च समर्पितं प्राङ्मुख्या बुद्ध्यमानं तानुगुण्येन प्रयगिति बुद्ध्यते । न चत्र दपणस्यमेव

श्रैष्ठ्यानाञ्जुत्वाच्च नात्मा मूर्धं प्रपद्यत । पारम्पर्यापित्तं तन्मवाञ्चैत्यां नु बुध्यते ॥  
 ऊर्ध्ववृत्तितदेत्सात् अत्रागिर च मन्यते । अथस्तादेव तेनार्कं सान्तरालं प्रतायते ॥  
 एव प्रोम्नतेया वृत्त्या प्रत्यग्वृत्तिसमर्पितम् । बुध्यमानो मुखं प्रोत्तं प्रत्यगित्यगच्छति ॥”

[ मी० श्लो० शब्दानि० श्लो० १८६ १९० । ] इति ।

किञ्च, यदि प्रतिविम्बसर्धान्तरं विम्बादुत्पन्नं तदा कथं विम्बे चलति नियमेन  
 तेषु चलेत्, तिष्ठति च तिष्ठेत्? नहि दण्डे चलति तिष्ठति च ततोऽर्थान्तरभूतो घट  
 नियमेन चलति तिष्ठति चेति प्रतीतम् । प्रतीयते च विम्बस्य चलाचलत्वे नियमेन  
 प्रतिविम्बस्य चलाचलत्वम्, अतो न तेषु ततोऽर्थान्तरम् । § यन्त्रि च तत्ततोऽर्थान्तरं §  
 स्यात् तदा दर्पणादो विम्बापाये कुतो नोपलभ्यते? त्रिंशत्त्वाच्चेत्, न, निमित्तकारणा-  
 पाये कार्यस्य अपायाऽप्रतीते । न खलु दण्डादेर्निमित्तकारणस्यापाये घटादे कार्यस्य  
 विनाशो म्रज्जेऽपि प्रतीयते । अस्तु वा तेषु पाये तद्विनाशो, तथापि प्रतिविम्बविनाशो  
 पृथक् तेषु वयोपलम्भप्रमद्घटविनाशो कपालोपलम्भवत्, नै चैवमस्ति । ततो न

मुन गृह्यते न जलपात्रेष्विव कथं सान्तरालं तत्त्वस्मि हतो? अत्रापि सान्तरालमव प्रत्यग्ब्रह्मत्वात् प्रकाशित  
 प्रावृत्त्य समर्पितं तथैव श्रुतित्त्वम्, उच्यते-वस्तुस्वभावस्यापयनयुज्यत्वादादाय । तजसपु हि दण्डादिषु  
 तन्मन्मव मूल गृह्यते जटु तु सान्तरालमिति विम्बपञ्चघट इति । -मी० श्लो० पाय० पृ० ७७६ ७७।  
 'य हि जलपात्रे जलं सूक्ष्मं पश्यन्ति तेषामप्युत्पन्नानामेकमेव चक्षुस्त्वध्वमधश्च द्विधा भाग्यं प्रवर्तते ।  
 तत्राध्वभागप्रकाशितमात्रित्यमात्मा पुण्या न गृह्णाति । कुत? अधिष्ठानानुज्यत्वात्-चक्षुरिन्द्रिया  
 धिष्ठानस्याज्वनं तान्मन्मन्तत्वात् । पारम्पर्येण तु सोऽपि तेजसा वृत्तरपित्तमात्रित्यमवाञ्चय्या कार  
 णभूतया बुध्यते । तथाहि-किल सौर तजस्नेजस्विन वत्तरपयति वत्तिश्चक्षुपश्चक्षुरात्मन इत्येतत्  
 पारम्पर्याणं मूलस्य तजस्विन इति । आदित्यमूर्ध्ववृत्तिम् उपरिस्थञ्च तमादित्यमवागिव अधस्थ  
 तमिव मन्यते । क? आत्मा । न पुनरधस्तात्प्र एवान्तिव । कुत? तन्वत्वात् तस्यात्रित्यस्य  
 अभिन्नत्वात् । चक्षुष इत्यपरे । तस्मान्मन्तरादितेनैव चक्षुषो वृत्तिवगेन सान्तरालोऽधस्तात्प्राप्त्यु  
 मूर्धो दृश्यते जटादिवाग्भवाच्च । अथवा कथमभनेन ग्रहणं स्यात्? प्रथमं किल चक्षुरन्तयो मूलमा  
 त्मन् निर्गच्छन्ति यावत्प्राप्त्यात्प्रम, सा प्राङ्गता वृत्तिरुच्यते । त च तत्रात्मानो प्रतिहता निरतमाना  
 स्वमुलमव यथावस्थितमागच्छन्ति । सा च प्रत्यग्वृत्तिः । तत्र प्राङ्गता वृत्तिमुपं प्रयग्वृत्तरपयति,  
 प्रत्यग्वृत्तिचात्मन तत् आत्मा प्रत्यग्वृत्तिगमपित्तमवगच्छन् मुखं प्राङ्गता प्रत्यग्मुनं याम्यामीनि  
 मन्यते । चक्षुषुतेर्ब्रह्ममेव भूतित्वोक्तिमिति भावः । -तत्त्वसं० प० पृ० ६१५ । (१५) 'चक्षुर्द्वेषा'  
 -मी० श्लो० । (१६) तत्रोर्ध्वानुप्र'-तत्त्वसं० ।

- (१) 'अधिष्ठानानुज्यत्वात्प्रात्मा' -मी० श्लो०, तत्त्वसं० (२) 'ब्रह्माज्जु'-तत्त्वसं० ।  
 ब्रह्मा तु बु' -मी० श्लो० । (३) उध्ववत्तस्तद'-मी० श्लो० ऊर्ध्ववृत्तित्वा'-तत्त्वसं० । उध्ववृ  
 त्तिरमीनामधोवृत्तिभि र्निमित्तमि सममेव वा' -आ० श्लो० । (४) प्राग्भूतया' -मी० श्लो० । (५)  
 'भान्त्या' -मी० श्लो० तत्त्वसं० । 'भान्' -प्रमेयसं० । (६) उध्वना दम -तत्त्वसं० पृ० ६१४ ।  
 प्रमेयसं० पृ० ४०८ । (७) प्रतिविम्बमपि । (८) लण्डान् । (९) प्रतिविम्बम् । (१०) विम्बान् ।  
 (११) प्रतिविम्बम् । (१२) निमित्तकारणस्य विष्वग्याभावः । (१३) कार्यभूतस्य प्रतिविम्बस्यापायः ।  
 (१४) प्रतिविम्बावपव । (१५) त गच्छ प्रतिविम्बताप पचात्पुत्रिता अवयवा समुपगम्यन्त ।

१ प्राणतया प० । २ तदा तत्त्वसं आ० । ३ एतदन्वयत पाठा नास्ति आ० ।



वास्तव जलादौ प्रतिविम्बमभ्युपमं तव्यम्, किन्तु तेन प्रतिहता रश्मयो व्यावृत्त्य मुत्तान्ति-  
प्रिम्बमेव जलादौ दर्शयन्तीत्यभ्युपगं तव्यमिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—'जलादौ न प्रतिविम्ब नाम वस्त्वन्तरं सम्भवति'

तस्मिन्मन्त्रस्य परमा-  
थत्तु पुनरुक्तम्—  
इत्यादि, नदमसीक्षिताभिधानम्, यतोऽस्य असमव्यवहारप्रमाणा  
सम्भवात्, उत्पादकराणां भावाद्वा स्यात् ? तत्राद्यं पक्षोऽनुपपन्न,  
निखिलप्रमाणज्योत्स्य प्रत्यक्षप्रमाणस्यैव तत्र तैत्तद्भावावेदकस्य सम  
वात् । 'निर्मले हि जलानि चन्द्रादिप्रतिविम्बं पश्यामि' इति प्रतीति  
प्रतिप्राणि प्रसिद्धा । नहि ईयं 'चन्द्रं पश्यामि' इत्येव रूपोपजायते, नापि जलम् । किं  
तर्हि ? चन्द्राद् प्रतिविम्बमिति । चेयं प्रतीतिर्भाता, सर्वत्र सर्वदा सर्वेषाम् एकादृशो-  
नैव रूपेण उपजायमानत्वात् । यत् सर्वत्र सर्वत्र सर्वेषामेकादृशो नैव रूपेण उपजायते न  
तद् भ्रातम् यथा घनादिसवेदनम्, तथाभूता येयं प्रतिविम्बप्रतीतिः, तस्मान्न भ्राता  
इति । भ्रातमवेदनस्यैवैवाविर्भूतरूपेणोत्पत्त्यनुपपत्तेः । नहि भ्रान्तं शुक्तिरादौ  
रत्नतादिसम्बन्धेन सर्वत्र सर्वत्र सर्वेषाम् एकादृशो नैव रूपेण उपजायते, दुष्टेन्द्रिययोगिनामेव  
पुसा तदुत्पत्तिप्रतीतेः, अदुष्टेन्द्रिययोगिना तेषां तदनुपपत्तेः ।

निश्चयं, यत्र ज्ञाने समुत्पत्तेः बाधकप्रत्यय कारणोपह्वानं वा प्रादुर्भवति तद्  
भ्रातं भवति, यथा शुक्तिराया रत्नतादिज्ञानम् । न च आदर्शानौ प्रतिविम्बप्रतीतौ  
'नैतदेवम्' इत्येतरूपो बाधकप्रत्ययः कदाचिदप्याविर्भवति । न च बाधकाभावेऽप्यस्यै  
भ्रातत्वं वाच्यम्, अतिप्रसङ्गात् । कारणोपाऽप्रतीतिरच न तत्प्रतीतिर्भाता । प्रतिविम्ब-  
प्रतीतेः खलु कारणम् आत्ममनश्चक्षुरादिलक्षणम्, न च तत्र दोषाः प्रतीयन्ते । नहि  
क्षुदादिरात्मनो दोषं निद्रादिर्मनस्य काचजामलादिश्चक्षुषो तैत्प्रतीत्युत्पत्तौ प्रतीयते,  
सन्ध्यास्य निद्रानुपहृतचेतसो निर्मलनेत्रस्यापि प्रतिपत्तुं प्रतिविम्बप्रतिपत्तेः प्रतीयमान-  
त्वात् । तदेव सिद्धमभ्रातमिदं प्रत्यक्षं निम्नात् प्रतिविम्बस्य अर्थान्तर्गतप्रसाधकम् ।

तथा अनुमानमप्यस्यै औपम्यं निम्नाभ्यामर्थान्तरत्वं प्रसाधकमस्त्वेव । तथाहि—

(१) जलपानाग्निः । (२) ५० ४५१ पं २ । (३) तुलना— न हि दृष्टान्त्वात्  
गौरवमिष्टम्—अष्टमं अष्टसहं ५० ८० । न हि दृष्टान्त्वात् गौरव प्रमाणमस्ति—मप्य० ५०  
५० १८ । न च प्रत्यागद् गौरव प्रमाणमस्ति ।—हेतुवि० टी० ५० ८७ A । (४) जलानौ ।  
(५) प्रतिविम्ब । (६) प्रतीतिः । (७) पश्यामीत्येव रूपोपजायते इति शेषः । (८) एकादृश—आ०  
टि० । (९) पुरुषाणाम् । (१०) तुलना— तस्मान् यत्स्य च दुष्टं कारणम् यत्स्य च मिथ्यमिति प्रत्ययः स  
एवातमापीत प्रत्ययः नाय इति ।—गार्भर० १ । १ । ५ । (११) प्रतिविम्बज्ञानस्य । (१२)  
आत्ममनश्चक्षुराणाम् । (१३) प्रतिविम्बप्रतीतिः । (१४) प्रतिविम्बस्य । (१५) जलादिः ।

१ यतो यत्प्राप्तम्—यं० । २—उपशा—यं० । ३ इति प्रतिप्रा—व० । ४ न तेन तव व० । ५  
—विषयरूपेणो—व० । —विषयरूपेणो—व० । ६—दृग्गणकरूपेण यं० । ७ न हि चक्षुरादि—यं०, व० ।  
८—हृत्प्रमनसो व० । ९ प्रतिबन्धप्रति—व० ।

यद् यतो विलक्षणप्रतीतिप्राह्य तत् ततो भिन्नम् यथा मुद्रात् प्रतिमुद्रा, जल-चन्द्रादि-  
विम्बाभ्यां विलक्षणप्रतीतिप्राह्यञ्च चन्द्रादिप्रतिविम्बमिति । न चैतदसिद्धम्, विम्बा-  
कारणुकारितया हि विम्ब प्रति आभिमुख्येन यद् वर्तते तत् प्रतिविम्बम्, यथा मुद्रा-  
कारणुकारिणी प्रतिमुद्रा । तत्रप्रतीतो च कथं ततो विलक्षणप्रतीतिप्राह्यत्रमस्यै असिद्धम् ।  
न चैतद् विम्बस्यै प्रहणमित्यभिधातव्यम्, जलादौ दृक्पातानन्तरमेव चन्द्रादिविम्बम-  
पश्यते तत्रप्रतीतिदर्शनात् । न चान्न विलक्षणा प्रतीति प्रतीयमानापि अस्य ततो भेद  
न प्रसाध्यतीति वान्यम्, सर्वत्र भेदवार्त्तोच्छेदप्रसङ्गात्, सर्वत्र अस्य प्रतीतिभेदनि-  
वन्धनत्वात् । अत विम्बात् प्रतिविम्बमन्यदभ्युपगन्तव्यम् । कथमन्यथा यद्वस्तु कदा-  
चिदपि न प्रतीत तस्मिन्परिदृश्यमाने व्यग्रहितेऽपि तद्विम्बावारकाभावे<sup>१३</sup> तत्रप्रतिविम्ब-  
प्रतीति स्यात् ? तद्विम्बे दर्शनस्य स्मरणस्य प्रत्यभिज्ञानस्य वा सर्वथाऽसम्भारत् । तन्न  
माहुरप्रमाणासम्भवात् प्रतिविम्बासम्भव ।

नाप्युत्पात्कारणभावात् ; तदुत्पादककारणस्य उपादानरूपस्य निमित्तभूतस्य  
चात्र सम्भवात् । प्रतिविम्बोत्पत्तौ हि जलादिकमुपादानकारणम्, चन्द्रादिक तु निमित्त-

(१) प्रतिविम्ब जलाद्याश्रयात् चन्द्रादिविम्बाच्च भिन्न तद्विलक्षणप्रतीतिप्राह्यत्वात् । तुलना-  
“तथा यद्यतो विलक्षणप्रतीतिप्राह्य तद्यतो भिन्न यथा मुद्रात् प्रतिमुद्रा” -स्या० २० पृ० ८६३ ।  
(२) विम्बाकारणुकारितया प्रतीतो च । (३) चन्द्रादिविम्बादाश्रयभूतदपणश्च । (४) प्रतिविम्बस्य ।  
(५) जलादौ चन्द्रान्प्रतिविम्बदर्शन । (६) पुरुषस्य । (७) प्रतिविम्ब । (८) प्रतिविम्बस्य । (९)  
आश्रयात् विम्बाच्च । (१०) भेदवार्त्तया । (११) प्रतीतिभेदो निवन्धनमस्या इति । (१२) वस्तुनि  
विम्बाभ्ये । (१३) विम्बस्य आवरणं यत् स्यात् तदा प्रतिविम्बस्योत्पत्तिरेव न स्यात् अत आह तद्विम्बा  
वारकाभावे । (१४) प्रत्यक्षमूलकत्वात् स्मरणप्रत्यभिज्ञानयो अव्यवहितत्वनिवन्धनत्वाच्च प्रत्यक्षस्य ।  
(१५) स्फाट्टावरत्नाकरे । (५० ८६५) अस्य मोक्षरण खण्डनमित्यम- ‘यदपि प्रभाचन्द्र प्राह-प्रति  
विम्बोत्पत्तौ हि जलादिकमुपादानकारणं चन्द्रादिकं च निमित्तकारणं तद्वान्तलावलम्बिनं चन्द्र निमित्ती-  
कृत्य जलादेस्तथा परिणामात् इति, तदस्यात्यन्ताजवविजृम्भितम् यथा हि तेजोऽभावमपेक्ष्य ते पत्राद  
श्यायापुद्गला पुषिव्याप्तवाश्रय छायादरूपतया परिणमन्ते तथात्रापि यदि वदन्तान्प्रतिविम्बस्य छाया  
पुद्गला त्पणान्प्रसन्नद्वयसामग्रीमपेक्ष्य प्रतिविम्बरूपतया परिणमन्ते तदा विन्नाम क्षूण स्यात् अस्यापि  
छायाविशयस्वभावत्वात् । तथा चागम-सामा उदिया छायाऽभासुरणया निसिम्भि कालाभा । सा च्चेह  
भासुरणया संहवन्ना मुणयन्वा ॥ आन्तरिससतो देहावयवा हवेति सक्वा । तेमि तत्पुवल्दी पगासजोगा  
न इयरेसि ॥ प्रकरणचतुदशातीकारोपि धर्मसारप्रकरणे प्राह-न ह्यङ्गनावदनछायाणुमन्त्रमातिरेवणा-  
दानं तत्रप्रतिविम्बसम्भव इत्यादि । -स्या० २० पृ० ८६५ । तच्च चित्त्यम्-आ० वादिदेवसूरिमतेन हि  
मुखात्प्रतिविम्बस्य छायापुद्गला मुखालविनिगच्छन्त दपणादौ स्वच्छान्तिंसमाग्रीवणात् प्रतिविम्बमारभन्त  
‘अस्म-मते तु स्वच्छ एवादानौ विम्बसन्निधाने तद्वनछायापुद्गलसम्भवात् प्रतिविम्बमुत्पद्यते’ (स्या०  
२० पृ० ८६४) इति स्वयमभिधानात् । तत्रद विचारणीयं यत्-मुखात्प्रतिविम्बस्य छायापुद्गलविनिगमन  
विनिवन्धनम् ? यदि तेषा स्मभावोभ यत्ते सत्त्व विनिर्गन्ति तत्र चक्षुषा रश्मिविनिगमन नयाविकान्ति  
भि उक्तं कथं प्रतिपत्ते । यदि हि अभास्वरगमुत्पात् पटादेवा छायापुद्गलत्रिनि गति युक्तिपथप्रस्था  
विन्वाभिगमन्ये तत्र भास्वररूपगात्रिचक्षुषो रश्मिविनिर्गणं तु यायानुभवमङ्गन मुतरामेव स्यात् । अत



तद्वतीते । परिमाणगौरवोत्कर्षनियमोपि भावयवयोर्नास्ति; जलम्ननासियुक्ताऽनलादौ तन्प्रतीते ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘अप्सूर्यदृग्निना नित्यं द्वधा चक्षुः प्रवर्त्तते’ इत्यादि, तदप्य-  
विचारितरमणीयम्, रंजितरूपस्य चक्षुष कुतश्चिदपि प्रमाणात्प्रसिद्धं । ततस्तदप्रसिद्धि-  
चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वमिद्धो प्रपञ्चत प्ररूपित्वा ।

ननु प्रतिविम्बोऽप्यत्रान्तिना मते विम्बानुकारिणा प्रतिविम्बेन भवितव्यम् तत्त्व-  
मन्यत्रिणविपर्ययेण प्रतिविम्बस्य प्रतीति, इत्यप्यचोद्यम्, स्वमामप्रीत तस्य सव्य-  
त्रिणस्वभावतथैव उत्पत्ते । विम्बाभिमुग्नेन हि प्रतिविम्बेन भवितव्यम्, आभि-  
मुख्यश्च मन्यत्रिणविपर्यासव्यतिरेकेण अस्य नोपपद्यते इति तथैव अस्योत्पत्तिरुपपन्ना,  
अथवा ‘प्रतिविम्बम्’ इति व्यपदेशोऽस्य अनुपपन्न स्यात् ।

निश्च, यन्मते प्रतिविम्बमर्थान्तर तस्य सव्यदक्षिणविपर्यामो गुण एव, यत एव

(१) तुलना—‘करम्वितकनकपारदाभ्यामनकानिकत्वात्’—स्या० १० पृ० ८६१ । (२)

उणाद्रेहि जगग्यो द्वया सावपवया समानदगता जाता न च परिमाणगौरवयास्त्वप, तथा तप्तमुवर्ण-  
मुवणाग्या भावपवयो सम्बन्धनि न तयास्त्वप म-द्रुस्यत इति भाव । (३) परिमाणगौरवयोऽप्रतीते—

भा० टि० । (४) पृ० ४५२ प० १५ । (५) तुलना—‘स्वप्रत्येस्यतया सवितुप्रहणासिद्धे चाक्षुष-  
तज प्रतिज्ञोत प्रवर्त्तितमिति चातीवासगत प्रमाणाभावात्’—प्रमेयक० पृ० ४२५ । चाक्षुष तेज

प्रतिज्ञान प्रवर्त्तितमिति चातीवामङ्गनम्, प्रमाणाभावात् । न हि चक्षुस्तजासि जलेनाभिमन्वध्य पुन-  
सवितार प्रति प्रवृत्तानि प्रत्यादिप्रमाणत प्रतीयते । यथा च नायनरश्मीना विषय प्रति प्रवर्त्ति-

नामि तथा चक्षुषा प्राप्यरास्त्वप्रचट्टक प्रतिपात्तिमित्यलमनिप्रसङ्गन ।—स्या० १० पृ० ६९८ । (६)

पृ० ७५-८२ । (७) सव्यदक्षिणविषययणव । (८) तुलना—‘तदपि प्रतिविम्बसत्त्विभक्त्यव कृत्तोरम-  
पर मित्यामिनिवगात्र चतयत भवान् । प्रत्यथिविम्ब प्रतिविम्बमुच्यत । प्रत्यथिता चास्य सकलतदोया-

त्वनिलकभ्रूमङ्ग ध्रुवुत्थाविशेषस्वीकरणेनाभिमुखतया पुर म्यायित्वम् । तच्च मन्यत्रिणपाद्वविपर्या-  
मन्यत्रिणवशास्य नोपपद्यत इति तथोत्पत्तिरप्यत्रा, अथवा तु प्रतिविम्बमिति व्यपत्त्या एवास्यानुपपन्न-

स्यात् ।—स्या० १० प० ८६२ । (९) तुलना—‘किञ्च, यन्मते प्रतिविम्बमर्थान्तर तस्य सव्यदक्षिण-  
पाद्वविपर्यासयामा गुण एव । यत एव विम्बविपरीतयमयोगेन एवानोऽस्यायत्वमिति ।’—स्या० १० प०

६८२ । “जातनलात्पि प्रमत्तद्वयं मुखादिच्छाया तद्विपरिणतापत्येनेतरत्र प्रतिविम्बमात्रमेव ।  
अत्राह—विपरीतयदृष्टे कुत प्राद्वमुखस्य प्रत्यद्वमुखा छाया दृश्यते इति ? प्रमत्तद्वयपरिणामविशेषात्

भवति । अत्र चात्रने नादशैतलादिच्छायामदमाव । किं तर्हि ? नयननिगतन रश्मिना घनद्रव्यात् प्रति-  
वृत्तनिवृत्तन स्वमुखस्यैव ग्रहणमिति तदयुक्तम् विषयासग्रहणाभावप्रसङ्गान् कुड्यात्पि अनिप्रसङ्गान्

ग्रहणव्यवभावाच्च । विषयामग्रहणाभावप्रसङ्गान्भावत् यदि प्रतिनिवृत्तन नयनरश्मिना स्वगरीरस्यैव  
ग्रहण प्राद्वमुखस्य प्राद्वमुखमत्र ग्रहण स्यात् विषयासहेवभावात् । कुड्यात्पि वाजिनप्रमत्त ग्यात्,

नयनरश्म प्रतिघातस्य तत्रापि सद्भावात् ।—राजवा० प० २३३ । याववि० वि० पृ० ५६७ B ।  
कथं पुनद्वर्णत गदिपु प्रतिविम्ब मुखादीना सम्मुखमेव छायाकारण परिणमत न पराद्वमुखस्य ? अत्र

वा कठिनमालांमण्यत्र प्रतिविभय मुखता विनिगता पुण्या प्रतिविम्बमाजिहत इति ? यन्मते नु-  
सम्मुखमेव प्रतिविम्बमुनि नायना मुखमिति तत्र परिणाम म तादातु पुद्गागनाम् तत्र अविश्वस्य

पयनुयोग कर्त्तव्य —तत्त्वावभा० व्या० पृ० ३६४ । (१०) मम-आ० टि० । १२२३ ।

1 परिणाम-व० । 2 तद्वप्रतिपत्ते 3-दसिद्धिच चक्षु-व० । 4-दसिद्धिच चक्षु-व० ।

विम्बधर्मनिपतितधर्मयोगोऽत एव अस्य अतोऽयत्नम् । यदि च प्रतिविम्बमन्यन स्यात्, आन्शादिना प्रतिहतैर्नयनरदिमभिव्यावृत्य देशविपर्यासेन मुखादेरेव आन्शान् प्रकाशान्, तथा कुड्यादिनाऽपि प्रतिहतास्ते व्यावृत्य किमिति कुड्यानां मुखेन प्रकाशयन्ति त्रिगोपाभ्याम् ? तत्रार्थे स्पन्दता उपयोगिनी, रदिमप्रतीघातमानस्यैव तत्रोपयोगात्, तच्च उभयत्राप्यविशिष्टम्, प्रत्युत कुड्यादिनां घनद्रव्येण अतिशयवान् प्रतीघातो विधीयते, अत तत्र अतिशयवता त्वत्प्रतिभासेन भाव्यम् । कारणातिशयाद्धि कार्यातिशयो दृष्ट, यथा पिप्तातिशयात् शङ्खात्पि पीतत्वावभासातिशय । अस्मन्मते तु निर्मले स्पन्द एव आन्शान् प्रतिविम्बनिघाने प्रतिविम्बमुत्पद्यते न पुन कुड्यादां नैद्विपरिते, अतस्तत्रैव त्वत्प्रतिभासाभार ।

किञ्च, आन्शादिना प्रतिहता रश्मय व्यावृत्य यदि विम्बमेव प्रकाशयन्ति, तर्हि महतो हस्त्यादे स्वपरिमाणानतिरमेणैव प्रतीतिप्रसङ्गात् लघुत्वप्रतीतिर्न स्यात् । नचैतन्म । अत प्रतिविम्बमेव तत्रैव तयोभूतमुपन प्रतिभासते इत्यभ्युपगतव्यम् । स्वपरिमाणानुसारितया हि दर्पणादिना प्रतिविम्बमारभ्यते, अतो महतो लघुत्वप्रतिपत्तिरिति । यदि च कृपाणादौ कीचादौ चाश्रये प्रतिहतास्ते व्यावृत्य विम्बमेव प्रकाशयन्ति, तथा आयत-श्याममुखप्रतीतिर स्यात् । अस्मन्मते तु अश्रयस्य आयतत्वान् श्यामत्वञ्चोपपन्नम् । जलादेस्तु अतिस्पन्दान् विन्नाकारानुकारेणैव तत्र प्रतिविम्बोत्पत्ति ।

अल्प्युत्तर्- 'यदि प्रतिविम्बमर्थांतरमुत्पन्नम्' इत्यादि, तदप्यर्चिताभिधानम्, अर्थान्तरस्यास्त्योत्पत्तापि नियमेन निमित्तकारणक्रियानुकारितया तैत्क्रियाया नियमेन क्रियावत्त्रोपपत्ते प्रदीपप्रकाशयन्, छत्रटायावद्धा । यथैव हि प्रदीपे छत्रे च चलति प्रकाशश्चापि च नियमेन चलति स्थिरे तु स्थिरा भवति, एव त्रिम्बे चलति नियमेन

(१) प्रतिविम्बम् । (२) विम्बान् । (३) तुला- यदि चान्शादिनिघानिहता रश्मय मुख

प्रकाशयन्ति तथा निघानान् प्रतिहता अपि त तत्रप्रकाशयन् विगोपाभ्याम् -स्या० १० पृ० ८६४ ।

(४) व्यावृत्य विम्बप्रकाश । (५) प्रतिघानमात्रम् । (६) दर्पणादी कुड्यादौ च । (७) विम्ब

प्रतिभासेन । (८) जनमे । (९) अस्पन्दान्शादिनि । (१०) कुड्यानां । (११) विम्ब ।

(१२) तुला- तथा महतो हस्त्यादे स्वपरिमाणानतिरमेणैव प्रतीतिप्रसङ्गात् लघुत्वप्रतीतिर स्यात् ।

-स्या० १० पृ० ८६४ । (१३) दर्पणादी । (१४) लघुत्वकारणम् । (१५) तुला- अति च

दर्पि वाच्यतायां प्रतिहताम् व्यावृत्य विम्बमेव प्रकाशयन्ति तथा तत्रापत्तयामप्युत्पत्तिरिति

स्यात् । -स्या० १० पृ० ८६४ । (१६) श्यामकाशान् । (१७) रश्मय । (१८) कृपाणम्

वाच्यम् । (१९) पृ० ४५३ पं० ५ । (२०) तुला- अर्थान्तरस्योत्पत्तापि नियमेन परिणामकार

णक्रियानुकारितया तस्मिन्निघानेन चान्शादिनिघानेन स्यात्तत्र च तत्रोपपत्ते । -स्या० १० पृ० ८६२ ।

(२१) मुत्तर्-विम्ब । (२२) मुत्तर्-क्रियायां स्यात् ।

१-दर्पणादी व० । ३-स्पन्दं कुड्या -व० । ३-ना द्रव्येण व० । ४-हस्तादे वा० ।

६ लघुत्वनि -व० ।

प्रतिबिम्ब चलति तिष्ठति तु तिष्ठति । न खलु घटे नियमेन निमित्तकारणक्रियानुविधानं न दृष्टम् इत्येतावता सर्वत्र तन्निपेद्युमुचितम्, प्रदीपप्रकाशादावपि तन्निपेद्य-  
प्रसङ्गात् । घटे च तैवद् भासुररूपादिकमपि नोपलब्धम् अतः प्रदीपप्रकाशादावपि  
तन्निपेद्यतामविशेषात् । प्रतीतिविरोध अन्यत्राप्यपि सिद्धः ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘निमित्तकारणापाये कार्यस्यापायाप्रतीते’ इत्यादि, तदप्यनल्प-  
तमोपलसितम्, प्रदीपत्रादेर्निमित्तकारणस्याऽपाये प्रकाशव्यययोरपायप्रतीते ।

एतेन ‘प्रतिबिम्बविनाशे पृथक् तदवयवोपलम्भप्रसङ्ग’ इत्यादि प्रत्युक्तम्,  
प्रदीपादेर्विनाशेऽपि तदप्रतीते । न खलु प्रदीपविद्युदादिद्रव्याणां विनाशेऽपि पृथक्  
तदवयवा क्वचित् कदाचित् कस्यचित् प्रतीतिपथप्रस्थापिनो भवन्तीति ।

साम्प्रतम् ‘श्रुतातैर्कालानां गतिं नाऽनागतानां व्यभिचारत्’ [प्रमाणवा० 10  
स्व० ११२] इत्येतन्निराकुर्वन्परमपि कार्यादिभ्योऽर्थान्तर हेतुमुपदर्शयति—

**भविष्यत् प्रतिपद्येत शक्यं कृत्तिकोदयात् ।**

**श्व आदित्य उदेतेति ग्रहणं वा भविष्यति ॥ १४ ॥**

(१) दण्डादि—आ० टि० । (२) प्रतिबिम्बेऽपि । (३) निमित्तकारणक्रियानुविधानम् ।  
(४) निमित्तकारणक्रियानुविधान । (५) निमित्तकारणभूतदण्डादिवच्छुक्तरूपादिकमपि । (६)  
निमित्तकारणभूतप्रदीपवत् भासुररूपादिकं तत्प्रकाशं निपिद्यताम् । (७) पृ० ४५३ प० १० । (८)  
तुलना—‘न खलु मृत्पात्रपाय कलशादावपाया नोपलब्ध इति ।—स्या० २० पृ० ८६३ । (९)  
पृ० ४५३ प० ११ । (१०) तुलना—‘सौदामिनीप्रदीपादिद्रव्याणां विनाशेऽपि पृथक् तदवयवानामनु-  
पलम्भात् ।—स्या० २० पृ० ८६३ । (११) अवयवोपलम्भ—आ० टि० । (१२) ‘अतीतानामेककालानाम्’  
—प्रमाणवा० स्व० ० । व्याख्या—‘तत्रापि रमादे रूपाद्यनुमान अतीतानामेककालानाम् च गतिं रमोपादा-  
नसमानकालभाविनोऽतीता लिङ्गभूतससहभाविन एककाला तपाङ्गति नानागतानाम् वतमानान-  
लिङ्गानामनुमान व्यभिचारान्, अनागतं हि कारणात्तरप्रतिबद्धं तत्र प्रतिपद्यवयवमभवान् भवदपि ।  
यच्चाद्योऽप्यात् एव सूर्योऽप्याद्यनुमानं तदनुमानं नियामकलिङ्गाभावात् अद्य गदभदसानात् एव  
सूर्योऽप्यानुमानवत् ।—प्रमाणवा० स्व० कृत्तिको० ११२ । उदत्तमिदम्—सिद्धिबि० टी० प० ३११A ।  
प्रमेयक० पृ० ३८१ । स्या० २० पृ० ५९० । (१३) राहिणीनक्षत्रम् । (१४) ‘शक्यं रोहिणी  
धर्मां मूह्यतान्ते भविष्यदुत्पद्यन्ति साध्यधम, कुत ? कृत्तिकोदयादिनि साधनम् । न खलु कृत्तिकोदय  
शक्यतायस्य वाय स्वभावा वा वेदलमविनाभाववलाद् गमयत्येव स्वोत्तर्गमिति प्रतिपद्येत अनुमयेत  
सर्वोऽपि जन इति । तथा एव प्रात आदित्य मय उदना उत्पद्यन्ति अथापि योऽप्यापि प्रतिपद्यत । तदा  
श्वो ग्रहणं राहुस्पर्शां भवत्यति एवविषयफलवाङ्मूह्यदिति वा प्रतिपद्यत सर्वत्र व्यभिचारान् —पृ०  
ता० पृ० ३३ । तुलना—‘कृत्तिकोदयमालम्ब्य रोहिण्यासात्किञ्चित्पिबत् ।’—मी० श्लो० प० ३५१ ।  
प्र० ० श्लो० पृ० ५७१ । प्रमाणप० पृ० ७१ । परोक्षामु० ३७१ । सामति० टी० पृ० १११ ।  
प्रमाणनप० ३८० । प्रमाणमी० पृ० ४१ । जनतरुभा० पृ० १६ । प्रतिपद्यवयवमभवान् भवदपि ।  
‘गण्ट कृत्तिकोदयानि किं प्रमाणम् ?’—सिद्धिबि० पृ० ३१७ B ।

१-क्रियानुमानं व० -क्रियाविधानं आ० । २-प्रदीपादावपि व० । ३-सिद्धिबि० पृ० ३११

४-बिम्बप्रकाशे व० । ५-तत्प्रतीते १-ना० ।

निवृत्ति'-तदेतद् भविष्यद्विषयमविमानादक ज्ञान प्रतिबन्धसख्या प्रमाण-  
सख्याश्च प्रतिरुणद्धि ।

भविष्यद् भावि, प्रतिपद्येत जन । किम् ? शक्यम् । कुत ?

कारिसाध — कृत्तिकोदयात् । तथा उच्यः प्रात आदित्य उदेता इति  
प्रतिपद्येत अण आदित्योऽन्यान् इति गम्यते । 'ग्रहण वा भविष्यनि'  
इति प्रतिपद्येत, कुतश्चित् फलकाद्वाद् ।

करिकाया तात्पर्याधेमुपदर्शयन्नाह—'तद्' इत्यादि । तस्माद् ऐकलक्षणान्विता  
द्वेतो एतद् भविष्यद्विषय भाविशक्योदयादिगोचरम् अविशवाद्क  
निवृत्ति परत्यानम्— ज्ञान मिद्धम् । ता किं करोति ? इत्याह—प्रतिबन्धमख्या प्रतिरुणद्धि

तादात्म्यतदुत्पत्त्योरौऽसम्भवात् । अर्थे कृत्तिकोदयादे शक्योदयादिकायत्पान्यमनोप,  
तन्न, अतीतकृत्तिकोदयादे शक्योदयात् प्रतीत्यभासप्रसङ्गात् । अन्योपकार्यत्वे अन्यो-  
प्याश्रयप्रसक्ति । अथ च तत् किं करोति ? इत्याह—प्रमाणसख्याश्च प्रतिरुणद्धि परंपरि-  
कल्पितस्य प्रतिबन्धस्य पैन्धर्मत्वाद्वाऽभावेऽपि कृत्तिकोदयाद्यनुमानस्य भावात् ।  
तत्र कार्यरूपभावात्पल्लिखितप्रभव त्रिबिधमेव अनुमानम् इत्यनुमानप्रमाणसङ्ख्या  
नियम मौगताना व्यवतिष्ठते प्रागुक्तलिङ्गप्रभवानुमानाना तैतोऽर्थान्तरत्वप्रसिद्धे ।

एतेन नैयायिकोपलस्यित पञ्चबैवानुमानमित्यनुमानमङ्ख्यानियम प्रत्याग्यात्,  
पूर्वोक्तानुमानाना पञ्चस्वनुमानेषु अनन्तर्भावात् ।

ननु "अस्यद् शरण कार्य सयोगि समयाधि विगोधि चति लैङ्गिकम्" [षणे० सू० १।२।२]

काण्ठादय पञ्च हतत्र इति सूत्रोपात्ता षट् पञ्च हतत्रा लैङ्गिकाङ्गम अविनाभावस्य अत्रैव  
षट् ममता इति षण् परिसमाप्ते, तत्र न नैयायिकानामनुमानमङ्ख्यानियमो न व्यय  
विकल्प पूर्वपक्ष - 'तिष्ठते ? अत्र कैरणात् कार्यानुमानम्, यथा ज्वलद्दिग्धनदर्शनात्

(१) कृत्तिके पञ्चत्वे खड्गदाद्यगणनाया (खण्डिकाण्डिनिवनाङ्गगणनाया) —आ० टि० । (२) अविनाभावक । (३) कृत्तिकोऽप्यशक्योदयो । नुत्तना- न पूर्वोत्तरवारिणोस्तादात्म्य तदुत्पत्तिवा  
कार्यान्वयान्तत्पुनश्च । —परीभासु० ३।६१ । प्रमाणनय० ३।६७ । (४) भाविकारणवादी प्रका  
करण्युल प्राह । प्रातकरण्युलस्य भाविकारणानुभव मतमित्यम- भावेन च भावो भाविनाऽपि लभ्यत  
एव मयुप्रयुक्तमरिष्टमिति लोके व्यवहार । यत्पि मृत्युन भविष्यन्न भवन्वभूतमरिष्टमिति  
तस्मान्नापगतस्यापि कारणत्वमर्थमिचाराणिति युक्तमतम् । —प्रमाणवातिकाल० पृ० १७७ । (५)  
भवयवमपि प्रयोग—जात कृत्तिकोऽप्यशक्योदयात्—आ० टि० । (६) कृत्तिकोऽप्यनुमान सिद्ध  
मति तत्र शक्योदयानुमानम् तस्माच्च कृत्तिकोऽप्यनुमानमिति । (७) मौगत । (८) तादात्म्या  
निमित्तत्वस्य । (९) हेता रूपत्वस्य । (१०) कृत्तिकोदयादिहेतुत्रयानुमानानाम् । (११)  
तादात्म्यतदुत्पत्तिरुणद्धि च निवृत्तानुमानानाम् । (१२) कार्य कारणयुक्तत्वेनोपलम्भादुपलभ्यमार्तं सद्

१-वर्णनं वा० । २-अप्युक्तप्रम-३० । ३ प्रतिबन्धस्य व० । ४ पञ्चतवा-४० ।  
५-तिष्ठतु वा० ।

भविष्यति भस्म इति । कार्यान् कारणानुमानम् ; यथा ननीपूरोपलम्भात् वृष्टे । सयोगि-  
दर्शनात् सयोगिनोऽनुमानम्, यथा धूमदर्शनाद् वद्वे । ममवायिदर्शनात् समवायिनो-  
ऽनुमानम्, यथा शब्दाद् जाकाजस्य । एकार्थसमवायिदर्शनात् एकार्थसमवायिनो-  
ऽनुमानम्, यथा रूपाद् रमस्य । विरोधिदर्शनाद् विरोध्यन्तरानुमानम्, यथा विस्फु-  
र्जितनकुलर्शनानात् सन्निहितसर्पज्ञानमिति ।

अत्र प्रतिप्रधीयते । यत्तावदुक्तम्—'सूत्रोपात्ता एव पञ्च हेतवो लैङ्गिनाङ्गम्' इत्यादि,

तदसमीक्षितभिधानम्, तदतिरिक्ताना कृत्तिकोदयादिहेतूना तदङ्गत्व-  
प्रतिपादनात् । अविनाभावशाद्धि हेतोरनुमानाङ्गत्व न कारणादि-  
रूपतामात्रेण अस्याऽव्यापनत्वात्तिप्रसङ्गाच्च । अविनाभावस्य तु सकल-  
हेतुकलापव्यापित्वात् तदाभासेभ्यो व्यावृत्तत्वाच्च तद्व्यादेव हेतोर्गम-  
नम्—

कत्र प्रतिपन्नव्यम् । नहि तद्व्यतिरेकेण क्वचिदपि हेतोर्गमकत्व  
प्रतीयते, सर्वत्र गमकत्वस्य अविनाभावे सत्येव उपपत्ते । कार्यकारणभाजस्य च पट्ट-  
पार्थपरीक्षाया प्रपञ्चत प्रतिपिद्धत्वात् परमते कार्यकारणलिङ्गयोरसिद्धि । सयोगमम-  
वाययोरपि तत्रैव निषेधात् सयोगिसमवायिलिङ्गयोरपि असिद्धि । विरोधिनोप्यविना-  
भावादेव विरोध्यन्तरानुमापकत्वम्, नान्यथा अतिप्रसङ्गात् ।

गमकम्, यथाहि—विशिष्टनदीपूरोपलम्भादुपरिष्ठाद् वृष्ट्या देव इति । तथा च वहलस्वरूपफनफनिलपण  
वाप्यान्विहृतविशिष्टस्य नदीपूरस्य वटिकापत्वेन पूर्वमुपलम्भात् पुनस्तदुपलम्भे सति युक्तमनुमानम्—  
जय ननीपूरा वृष्टिकार्यो विशिष्टनदीपूरत्वात् पूर्वोपलब्धनदीपूरवदिति । पूरस्तु उभयतटव्यापकोत्क  
सयोग । स पारम्पर्येण वटिकाय इति । कारणमिति वायजनकत्वात् पूर्वमुपलब्धव्याप्यमान तात्त्विक  
यथा च विशिष्टमेधोन्नतिर्वपकमण । तथा धूमोग्ने मयोगी समवायी च उष्णस्पर्शा वाग्मिथ  
तेजो गमयताति । विरोधी च यथाहि विस्फूर्जनविशिष्टो नकुलानलिङ्गमिति ।—प्रश० ध्यो० प० ५७२ ।  
प्रश० किर० प० ३०२ ।

- (१) प० ४६० प० १९ । (२) तुलना—'समुद्रवृद्धधानी यथोन्तिसम्बधाभावऽप्यनुमानान्शानात् ।  
सयागसमवायकायसमवायास्तु नानुमानोत्पत्तौ कारणम् । नहि वमण्डलुना छात्रानुमानम् नापि रूपाद्  
पृथिव्याद्यनुमानम्, नापि रूपाद्रमानुमानमिति । यच्च विस्फुत्स्यातुमानस्योत्पाहरण भूत वपणकम  
अभूतस्य वाय्वभूययोगस्यानुमापव तथाऽभूत वपणकम् भूतस्य वाय्वभूययोगस्यानुमापकमिति, तन्नु  
पपन्नम् भावाभाजयोहात्र गम्यगमकता न च तयोर्विरोधोऽस्ति तस्मात् वायकारणभावान्य एव  
सम्प्रदा यस्य यत् नियता अज्यमिचारिण स हतुरिति —प्रक० प० प० ६८ । वायवा०  
ता० प० १६४ । स्वा० २० प० ५३२ । ल्धी० ता० प० ३४ । (३) कारणविरूपतामात्रस्य  
कृत्तिकोदयादिहेतुषु अद्यापि, धूमान्तिषाध्य प्रति व्यभिचारित्वाद्देवाभासभूतेषु जग्यादिषु सद्  
भावाच्चानिप्रमण । (४) अविनाभाव विना । (५) प० २२० । (६) वैशेषिकम् । (७) पट्ट  
पार्थपरीक्षायाम् प० २९७ ।



यन्पि सात्थैरभिहितम्—मात्रामात्रिक कार्यं विरोधि सहचारि-स्वस्वामि-वध्य-

घातायै सप्तधाऽनुमिति । तत्र मात्रामात्रिकानुमानम्, यथा चक्षुषो

सात्थपरिस्त्रियाम्या  
मात्रामात्रिकदिग्द  
हेतुम्यापि वृत्तिना  
दयादिपूर्वचरारि-  
तूना पृथक्कतया गम  
व्यप्रमापनम-

विज्ञानानुमानम् । कार्यात् कारणानुमानम्, यथा विद्युद्दर्शनात् कारण

विधानम् । प्रकृतिविरोधिर्ज्ञानात् तद्विरोध्यन्तरानुमानम्, यथा न

वर्षिष्यति बलाहक प्रत्यनीरुपत्रनयोगित्वात् । सहचराऽनुमानम्, यथा

चक्रानयोरन्यतरदर्शनात् द्वितीयज्ञानम् । स्वदर्शनात् स्वामिनोऽनु

मानम्, यथा छत्रविशेषदर्शनात् राहोऽनुमानम् । वध्यघातानुमानम्,

यथा महर्षिनकुलदर्शनात् 'घातितोऽनेन सर्प' इति ज्ञानम् । आदिग्रहणात् मयोग्यनु-

मानम्, यथा ममुद्रायवर्तिनि परिब्राजके 'क परिब्राजक' इति सशये त्रिदण्डदर्शनात्

१० 'परिब्राजकोऽयम्' इति ज्ञानमिति । तदप्येतेनैव प्रत्याख्यातम्, कृत्स्नोदयादिहेतूना

नैयायिकोपलक्षितहेतुभ्य इव अतोर्थार्थांतरभावाऽविशेषात् ।

अथेनामी 'दृश्यानुपलब्धिरेव गमिका, नान्या मशयहेतुत्वात्' इति नियम

निराशुर्नाह-

अदृश्यपरचित्तादेरभाय लौकिका विदुः ।

तदाकारचिकारादेरन्यथाऽनुपपत्तितः ॥ १५ ॥

मिथुति - अदृश्यानुपलब्धेः सशयैकान्ते न केवल परचित्ताभावो न मिद्व्यति

अपि तु स्वचित्तभावश्च, तदनशतस्वभ्य अदृश्यात्मकत्वात् । तथा च कुतः

(१) आदिग्रहणं सयाग्यनुमानं सप्तमम्—आ० टि० । (२) विद्युत् वादाचित्त्वत्वेन काय

वाल वनापि कारणन भवितव्यमिति—आ० टि० । (३) तुलना— एतन् मत्तविध सम्बन्ध इति प्रत्यु

काम—न्यायवा० प० ५७ । एतेन—मात्रानिमित्तसयोगिविरोधिमतसहचारिभिः । स्वस्वामिवध्यघाताद्य

साख्याना मज्जधानुमा ।—न्यायवा० ता० प० १६५ । नयचक्रव० पृ० ४२४ A । लघी० ता० पृ०

३४ । (४) साख्यवन्धितहेतोरपि । (५) प्रतिपद्यसिद्धिरपि यथोक्ताया एवानुपलब्ध, सति

वस्तुनि तस्या अममवात् अथवा चानुपलब्धकक्षप्रप्राप्तौ पुंकारालस्वभावविप्रकृष्टपुं आत्मप्रत्यक्ष

निवृत्तरभावनिश्चयाभावात् । (पृ० ४२) विप्रकृष्टविषयानुपलब्धि प्रत्यक्षानुमाननिवृत्तिलक्षणा सगय

तु प्रमाणनिवृत्तावपि अर्थाभावामिदिरिति ।—न्यायवि० पृ० ५९ । वादघाय प० १८ । अनु

पलब्धिभ्रमप्रदानुपलब्ध सगयहेतुतयागमकत्वानिति भाव ।—वादघायटी० पृ० १९ । हेतुवि०

टी० पृ० १९२ A । (६) विदुर्जनन्ति क ? लौकिका । अपिपान्ताऽत्र इष्टव्य, तत्र लौकिका

शोभालान्यापि किं पुन परीक्षका इत्यथ । कम ? अभावम् अमत्ताम् कस्य ? अदृश्यपरचित्ता

परोक्षानुपलब्धौ चित्तं चतुर्मात्रियस्यामी परचित्ताः अदृश्यस्वामी परचित्ताः इत्यस्य तथोक्तस्तस्य ।

आदिग्रहणेन भूतग्रहण्यधिप्रभूतिग्रहणे यस्य मूर्धनस्वभाव । कुत ? तन्निष्पत्तिं तस्य परचित्ता

वार्थमूतोविताभावा आशर उल्लेख्यादिविज्ञानं तस्य विकारोऽयथाभाव आदिस्य वचनविनाया

राग्याने तस्यानुपपत्तित अमभवान् ।—लघी० ता० प० ३४ । (७) अदृश्यानुपलब्धमात्राभावात्सिद्धि

नित्यपुस्तम् परचनयनिवृत्ताकारकात् संस्कृतूणा पातकित्वप्रशङ्गात् बहुलमप्रत्यक्षस्यापि रोगा

निरिनिवृत्तिनिशयात् ।—अष्टा० अष्टसह० पृ० ५२ । लघी० ता० प० ३५ ।

परमार्थसतः क्षणभङ्गसिद्धिः ? तद्विपरीतस्य अभेदलक्षणस्यैव स्यात् ।

अदृश्यश्चासौ परचित्तादिश्च, आदिशब्देन भूतग्रहव्याविपरिग्रह,

तस्याऽभावं लौकिका विदुः । कुत इत्यत्राह—'तदाकार'

परिकाय —

इत्यादि । तेन अदृश्यपरचित्तादिना महभागी शरीरगत उष्णस्पर्शा-

दिलक्षण आकार तदाकारः तस्य विकारः अन्यथाभावादिभ्यः वचननि-

शेषस्य तस्य अन्यथालुपपत्तितः ।

ननु सर्वत्र अभावपरिच्छेदे अभावप्रमाणस्यैव व्यापार, परचित्ताभावाच्च अभाव

तस्माद् अभावस्यैव परिच्छेद्य । तच्च अभावप्रमाणम् प्रत्यक्षादि-

भ्यो भिन्नम्, तद्विन्नसामग्रीप्रभवत्वात् भिन्नविषयत्वात् भिन्नफल-

साधकत्वाच्च, यद् यतो भिन्नासामग्रीप्रभवत्वाद्विशेषणनिशिष्ट

तत् ततो भिन्नम् यथा प्रत्यक्षादनुमानादि, तथाभूतश्चेदम, तस्मा-

त् प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नमिति । न चास्य तद्विन्नसामग्रीप्रभवत्वम-

सिद्धम्, तथाहि—इन्द्रियार्थमन्निकर्षरूपाया प्रत्यक्षादिसामग्रीत

तावदभावप्रमाण नोत्पत्तुमर्हति, अभावेन सह इन्द्रियाणां सन्निकर्षाभावात् । न हि तत्र

तेषां मयोगलक्षणं सन्निकर्षं सम्भवति, अभावस्य अद्रव्यत्वात् । नापि समवायलक्षण,

द्रव्यगुण-कर्म-सामान्य-विशेषेभ्योऽन्यत्वात् । तैयोरभावे च तत्रभेदं सयुक्तसमवा-

यादि दूरादपास्त । मयुक्तनिशेषणभावोप्यमर्भाव्य ; घटाभावाच्च भूतदेशनिशेषणत्वा-

भावात् । विशेषणं हि सयुक्तं समवेतं वा भवति यथा ढण्डो गुणादिश्च, न चाभाव

कचित् सयुक्तं समवेतो वा इत्युक्तम् । उक्तञ्च—

“न तावदिन्द्रियेषां नास्तीत्युत्पाद्यत मति ।

भावाशेनेन संस्रग्धो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ॥” [ मी० श्लो० अभाव० श्लो० १८ ]

(१) “अभावोऽपि प्रमाणाभावान्मनीयम्यासन्नितृष्टम्” — तावत्तथा १।१।५। (२)

‘अभावोऽपि प्रमाणाभावान्मनीयम्यासन्नितृष्टम्’ — तावत्तथा १।१।५। (२)

‘अभावोऽपि प्रमाणाभावान्मनीयम्यासन्नितृष्टम्’ — तावत्तथा १।१।५। (२)

‘अभावोऽपि प्रमाणाभावान्मनीयम्यासन्नितृष्टम्’ — तावत्तथा १।१।५। (२)

‘अभावोऽपि प्रमाणाभावान्मनीयम्यासन्नितृष्टम्’ — तावत्तथा १।१।५। (२)

‘अभावोऽपि प्रमाणाभावान्मनीयम्यासन्नितृष्टम्’ — तावत्तथा १।१।५। (२)

‘अभावोऽपि प्रमाणाभावान्मनीयम्यासन्नितृष्टम्’ — तावत्तथा १।१।५। (२)

‘अभावोऽपि प्रमाणाभावान्मनीयम्यासन्नितृष्टम्’ — तावत्तथा १।१।५। (२)

‘अभावोऽपि प्रमाणाभावान्मनीयम्यासन्नितृष्टम्’ — तावत्तथा १।१।५। (२)

‘अभावोऽपि प्रमाणाभावान्मनीयम्यासन्नितृष्टम्’ — तावत्तथा १।१।५। (२)

१-तद्विपरी-ज० वि० । २ भिन्नविषयत्वात् नाम्नि व० । ३ प्रत्यक्षस्तन्ताम-व० ।

१-विशेषणीभावो श्र० । २-भाष्यो यथा घटा-व० ।

यदि नद्विद्यादिसामग्रीतस्तदुत्पत्तये, घृत्स्वर्हि तदुत्पत्तयेन इति चेत् ? उप-  
लब्धिलक्षणप्राप्तप्रतिषेधार्थानुपलब्धि भूतलाग्राश्रयोपलब्धि प्रतिषेध्यघटादिस्मरणलक्षण-  
सामग्रीविशेषात् ।

“घृहीत्वा वैस्तुसद्भारं स्मृत्वा च प्रैतियागिनम् ।

मानसं नास्तिताज्ञानं चायतऽज्ञानपक्षयोः ॥” [मी० श्लो० अभाष० श्लो० २७ ]

‘प्रत्यक्षादरनुत्पत्तिं प्रमाणाभावात् उच्यते ।

सौत्स्योऽपरिणामो वा विज्ञानं वाऽन्यरेतुनि ॥” [ मी० श्लो० अभाष० श्लो० १९ ]

इति तल्लक्षणसामग्रीतस्तदुत्पत्तिश्च तदन्यतमस्याप्यपाये तन्नुपपत्तेः सुप्रसिद्धा ।  
यन्नि हि उपलब्धिलक्षणप्रामाथानुपलब्धिर्न स्यात् तदा भूतलाग्राश्रयोपलब्ध्यावपि अभाष-  
प्रतीतिर्न स्यात् । यन्नि च भूतलाग्राश्रयप्रतीतिर्न स्यात् तदा भूतलाग्राश्रयच्छेदेन घटाग्राश्रय-  
प्रतीतिर्न स्यात् । नहि अज्ञातस्य विशेषणत्वं युक्तमतिप्रमद्भान् । न च मामायेन  
घटाग्राश्रयप्रतीतिरुपचायते, किन्तु भूतले । तथा, यदि प्रतियोगिस्मरणं न स्यात् तर्हि  
‘नास्ति’ इत्येवैवंप्रतीति स्यात् नतु ‘घटो नास्ति’ इति । अतः सिद्धं प्रत्यक्षसामग्री  
तो भिन्नसामग्रीप्रभञ्जनमभावप्रमाणस्य ।

15 तथा अनुमानसामग्रीतोऽपि, तस्य हि सामग्री लिङ्गान्त्रिलक्षणा, ५ च अभावेना-

तिद्विवि० शी० प० १७९ B । प्रमथ० प० १८९ । सामति० टी० प० ५८० । जनतत्त्वा० प०  
७८ । वायाव० टी० प० २२ । स्या० २० प० २८० । प्रमाणमी० प० ९ ।

(१) भूतलाग्राश्रयप्रमाणम् । (२) यस्याभावः क्रियते न प्रतियोग्या यथा घटाभावः घट ।

(३) उद्भूतान्तर-प्रण० श्लो० प० ५९२ । वायव० प० ५० । ब्रह्मवा० वा० प० ८८५ ।

तिद्विवि० टी० प० १७९ B । प्रमथक० प० १८९ । सामति० टी० प० २३, २७६ । वायाव० टी०

प० २२ । वायवि० वि० प० ४८८ । स्या० २० प० २८० । प्रमेय० प० ६९ । रत्नाकराव०

२।१ । चिरवत्त्वप्र० प० १३ । प्रमाणमी० प० ९ । जनतत्त्वा० प० ५० । प्रभाकरवि० प० ५८ ।

प्रमेयरत्नका० प० ५८ । (४) सात्त्विक परिणाम -मी० श्लो० । तामव द्विधा त्रिगुणो मनि ।

योग्यतममनो घटानिनिपय प्रत्यक्षाज्ञानस्वरूप परिणाम तन्भावमाश्रमेवानुत्पत्तिरभाव इति

वाध्यत । तच्च घटाद्यभावविषय नास्ति ब्रुडिजनकतया इन्द्रियादिवत् प्रमाण नास्ति इति । -मी० श्लो०

‘वायव० प० ४७५ । सा प्रत्यक्षादनुत्पत्तिं निषेध्याभिमतघटानिपत्तयज्ञानाख्यणापरिणत साम्या

वत्त्वमाश्रयमुज्ज्वले घटानिविधिनभूतज्ञानं वा -तत्त्वतः प० प० ४७१ । आत्मन स्वरूपस्या

परिणाम इति प्रसय इति प्रतिषेध -आ० टि० । (५) यपुत्रस -आ० टि० । भूतलानिवस्तुया

ध्यभूत । उद्भूतान्तर-प्रण० श्लो० प० ५९२ । अयत -तत्त्वतः का० १६४९ । प्रमेयक० प०

१८९ । सामति० टी० प० ५८० । स्या० २० प० २७८ । घटव० बहू० प० १२० A । रत्नाक

राव० २।१ । ब्रह्मत्व० प० १५२ । (६) आभावात्प्रतिषेधः । (७) प्रतियोग्यानुपलब्धि आश्रयो

पलब्धि प्रतियोगिस्मरणजन्यतमस्य । (८) इह भूतलाग्राश्रय इति प्रतियोग्यतमज्ञानया । (९)

भूतलस्य (१) न वाप्यज्ञानानुमानव त्रिगुणाभावात् प्रतीयत । नावाग्रा ननु तस्य स्यात्तत्त्वानां नास्ति

पुनश्चान्तरात् ॥ -मी० श्लो० प० ४८४ ।

अत्रिनाभूत किञ्चिद्विज्ञमस्ति । अनुपलब्धिप्रतीति चेत्, नन्वसो गृहीतव्याप्तिका, अगृहीत-  
व्याप्तिका वा अभावमनुमापयेत् ? न तावत्गृहीतव्याप्तिका, अतिप्रसङ्गात् । नापि गृहीत-  
व्याप्तिका, यतो व्याप्तिग्रहण धूमाग्निवद् उभेयधर्मग्रहणपूर्वकम् । व्याप्तिग्रहणवेलायाञ्च  
कुत्र अभावात्तदधर्मग्रहणम्—अत एव अनुमानात्, तदन्नराद्धा ? यदि अत एव, अन्यो-  
न्यायस्य, तथाहि—अतोऽनुमानादभावमिद्वौ अनुपलब्धेर्भावेन अत्रिनाभाविप्रसिद्धिः,  
तस्मिन्निद्वौ चाऽतोऽनुमानान्भाविप्रसिद्धिरिति । अनुमानान्तरात् तस्मिन्निद्वौ चाऽनवस्था ।

किञ्च, अनुपलब्ध्यात् एव लिङ्गमपि उपलब्ध्यभावरूपभावरूपम्, अत तत्स्वरूपप्रति-  
पत्तायपि उक्तोपायुपपन्नम् । अनुपलब्धेर्ग्रहणे च अभावाऽनुपलब्ध्यो अत्रिनाभावा-  
प्रतिपत्तिरतिदुर्घटा । अतो नाभावप्रमाणस्य अनुमानसामग्रीप्रभवता ।

नापि अर्थापत्त्युपमानागमसामग्रीमसुत्थता, प्राक् प्रतिपादिताया अभावप्रमाण-  
सामग्र्या अर्थापत्त्यान्सामग्रीतोऽन्यथानुपपद्यमानार्थ-उपमानोपमेयगतसादृश्यग्रहण-  
शक्तिलक्षणया सर्वथा भिन्नत्वात् । तन्न अभावप्रमाणस्य अध्यक्षात्त्रिभ्यो भिन्न-  
सामग्रीप्रभवरूपमिद्वम् ।

नापि भिन्नविषयत्वम्, तथाहि—'इह भूतले घटो नास्ति' इति प्रत्यय न तावद्  
भावविषय, तद्वैलक्षण्येन प्रतिप्राणि मवेत्प्रमानत्वात् । भावविषयत्वे चास्य घटो विषय,  
भूतलम्, तत्समर्गो वा ? प्रथमपक्षे मति घटे घटसत्ताप्रत्ययान्त अभावप्रत्ययोऽपि  
स्याद् आलम्बनस्य विद्यमानत्वात् । द्वितीयपक्षे तु मघटेऽपि भूतले अभावप्रत्ययप्रसङ्ग  
विषयभूतस्य भूतलस्य विद्यमानत्वात् । नापि तत्समर्ग, घटसंयुक्तेऽपि भूतले  
'घटो नास्ति' इति प्रत्ययप्रसङ्गात् । अथ घटविषय भूतलम् अस्य विषय, ननु तद्वै-  
विकत्य किं भूतलस्वरूपमात्रम्, तद्व्यतिरिक्तं वा ? यदि भूतलस्वरूपमात्रम्, तर्हि  
विद्यमानेऽपि घटे तत्प्रत्ययप्रसङ्ग । अथ 'तद्व्यतिरिक्तम्, तर्हि नाममात्र भिद्यते नार्थ,  
विद्यमानेऽपि घटे तत्प्रत्ययप्रसङ्ग । अत सिद्धो भावार्थान्तरम् अभावप्रमाण-  
स्यैव परिच्छेदोऽभाव, प्रत्यक्षानीना भावविषयतया अभावगोचरचारित्याभावात् ।

(१) 'प्रवशात्परन्तुत्पन्नित तु लिग भविष्यति । न चानवगण लिङ्ग गृह्यते चेत्मावपि ।  
अभाववाच्यभावेन गृह्यतायन हेतुना ॥ म वायन प्रहीतव्यो गृहीत इति लिङ्गता । तद्गृहीतं  
लिङ्गन म्यान्तयनतता ॥ लिङ्गाभावे तत्र म्यान्तव्येयमित्यय । क्वाप्यस्य म्यात्प्रमाणत्व  
लिङ्गवेन विना ध्रुवम् ॥ -मी० लो० पृ० ४८६-८८ । शास्त्रदी० पृ० ३३५ । (२) गार्ह्य  
शास्त्रादीभ्यश्च-आ० टि० । (३) अमिद्वम्-आ० टि० । (४) भावप्रत्ययविक्षणतया । (५)  
विषयभूतस्य घटस्य । (६) न भूतलम्, तथापि घट प्रसङ्गात् -शास्त्रदी० पृ० ३२५ । (७)  
घटा नाम्नीतिप्रत्ययस्य । (८) 'वाय पटविषय ? यदि भूतलस्यैव घटवत्यपि प्रसङ्ग ।  
पदयोर्भावाच्च अद्वैतस्तर्हि अभाव । -शास्त्रदी० पृ० ३२७ । (९) नास्तिप्रत्यय ।

१-इह अनुमा-आ० । २-घटो आ० । ३-वायन-आ० । ४-व्यलि-आ०, ५० । ५-विषयभूतलस्य  
पृ० । विषयभूतस्य भूतस्य घटः । ६-एतन्नगत घटो नास्ति आ० । ७-विषयव्यतिरेक आ० ।

यदि चाभाज प्रत्यक्षपरिच्छेद्य स्यात्, कथमिन्द्रियेणाऽसन्निकृष्ट परिच्छिद्येत ?  
यदा हि क्वचिद् अपवरक स्वरूपेण गृहीत निज्ञासाऽभावाद् 'द्वयदत्तोऽत्र नास्ति'  
इति न निश्चितम्, पश्चाद् दूरदर्शमसौ गत, यदा केनचित्पृष्ठ 'किं तत्र द्वयदत्त  
जासीन्न वा' इति ? प्रतिवेचनश्चासौ तदैवं तद्देशमनुसृत्य द्वयदत्ताभाव प्रतिपद्य प्रयच्छति  
5 'नामीन्' इति । नहि तत्र इन्द्रियसन्निकर्षाऽस्ति इति कथं तत्र प्रत्यक्षसंभव ? ततो  
न प्रत्यक्षपरिच्छेदोऽभावः ।

नाप्यनुमानादिपरिच्छेद्य, तद्विनाभाविनो लिङ्गादरसभवात् । अनुपलब्ध्यादत्र  
तल्लिङ्गादेरनन्तरमेव दृतोच्चारत्वात् । अतः पाणिशेष्याद् अभावप्रमाणगोचर एव अभाव  
इति नासिद्ध भिन्नविषयत्वम् । ॥ कश्चिद्—

10 "प्रमाणापन्नक यत्र वस्तुरूपं न जायते ।

यस्तुसत्तावरोधार्थं तत्रामात्रप्रमाणात् ॥" [ मी० श्लो० अभाव० श्लो० १ ]

नापि भिन्नफलसाधकत्वम्, अभावात्प्रगतिलक्षणत्वस्य अभावप्रमाणप्रसादोदय  
प्रसिद्धे । अतः प्रत्यक्षादिभ्यो विलक्षणस्य प्रतिषेध्याधारग्रहणादिस्मोमप्रीप्रमथस्य  
नञर्थविषयस्य नञर्थमवितिप्तिलस्य अभावप्रमाणस्य प्रमाणान्तरत्वमभ्युपगन्तव्यम् ।

(१) स्वल्पमात्र दृष्ट्वापि पञ्चात्किञ्चित्स्मरणपि । तत्रायनास्तित्वा पृष्टस्तदैव  
प्रतिपद्यते ॥ यदा हि वक्षिन् प्रातः काले कञ्चिद्दृग्मध्यामानन्तत्र व्यापारदिवसदृष्ट्वा तदस्मरणान्ध  
तत्रभावमप्यगृहीत्वा देवमात्र दृष्ट्वा स्थानरगता मध्यन्ति पृष्टघते क्वचित्स्मरणेन प्रातः काले व्यापा  
गत्र मिह पाषिबो वा समागत ? इति । न तत्र तत्र भावगन्तत्वात्स्मरणपि तत्र देवज्यया  
व्यापादीनामभाव प्रागणनीत तत्र गहणाति । न च मध्यन्ति समय प्रातः काले स्वभावव्यापारिन्द्रियम  
प्रितृप्तस्य मनसि प्रयत्न ग्रहणम्, तस्मात्प्रमात्रिष्ठकत्वमानविषयत्वात् । —मी० श्लो० व्याख०  
प० ४८३ । शास्त्रदी० पृ० ३३९ । (२) उत्तरम् । (३) दवन्ताभावः । (४) नाप्यनुभव  
अज्ञातं तत्र कस्यापि लिङ्गस्य सम्प्रचरणानभवान् । —शास्त्रदी० प० ३४० । (५) 'मया  
यन्भावो हि मानमप्यवमिप्यताम् । भावात्मके यथा मय नाभावस्य प्रमाणता । तथाभावप्रमथर्था  
न भावस्य प्रमाणता ॥ अभावा वा प्रमाणन स्वानुरूपण मीयत । प्रमथत्वाद्यथा भावमनास्माद्  
भावात्मकान् पृथक् ॥ —मी० श्लो० अभाव० श्लो० ४५, ४६, ५५ । (६) व्याख्या— आचर  
( उम्बक ) त्वेन व्याख्यातवान् यत्र घटाख्य वस्तुनि प्रत्यक्षात् सद्भावघाटक नापजायते तस्य  
गान्तिना भूयदेनाधिकरणाभावात्प्रमाणस्य प्रमथा —स्या० १० पृ० २७९ । 'तत्र सम्प्रदूषेणोभयात्मके  
वस्तुनि व्यवस्थिते यस्मिन् वस्तुरूप वस्तवोन्मूपास्य प्रमाणपञ्चकमर्षात्तिपयन्त न जायत ।  
किमयम् ? वस्तुव सत्ताभावरोधायम् । तत्र अभावात् प्रमथ अभावस्य प्रमाणता । —तत्त्वसं० प०  
पृ० ४७० । उन्मूलोऽयम्—प्रश्न० श्लो० पृ० ५९२ । हेतुवि० टी० प० १९० A । तत्त्वसं०  
का० १६४८ । वदव० श्लो० ७६ । प्रमेयक० पृ० १८९ । समति० टी० पृ० ५८० । नदि०  
मलय० पृ० २५ । स्या० १० पृ० २७९ । 'वस्तुवसत्तावरोधाय—यद० श्लो० ५० बह० पृ० १२०  
A । प्रमेय० पृ० १३९ । विवतवप्र पृ० १३ । चिन्तु० पृ० २६८ । बह्वसं० पृ० १६५ ।  
नदि० मलय० पृ० २५ । (७) जसिद्धमित्यपि योयम—आ० टि० । (८) प्रतिपद्यो घट  
तस्मादासौ भूत्वाति (९) प्रतिपादिस्मरणम् प्रतिपद्यनुपलब्धिव प्राह्या ।

1 —य हि तदे—अ० । 2 —वेव सिद्धे थ० ।

न च अवस्तुविषयत्वादस्य अप्रामाण्यम्, अभावस्य प्रमाणेन परिच्छिद्यमानतया अवस्तुत्वानुपपत्ते । यत् प्रमाणेन परिच्छिद्यते न तदवस्तु यथा भाव, प्रमाणेन परिच्छिद्यते च अभाव इति । अवस्तुत्वे चास्य भेदो दुर्घट, यदवस्तु न तस्य भेद यथा सपुष्पादे, अस्ति च प्रागभावाभिभेदोऽभावस्य इति । तदवस्तुत्वे च अर्थानां साङ्ख्यं स्यात्, दध्यादे क्षीरागवस्थाया प्रागभावादेरवस्तुतयाऽसाङ्ख्योऽहेतुत्वात्, तथा च प्रतिनियतव्यवहारवार्त्तोच्छेद स्यादिति । तदुक्तम्—

‘न च स्याद्व्यवहारोऽय कौरणादिविभागत । प्रागभावादिभेदेन नाभावो यदि गिते ॥

धृष्टाऽनुवृत्तिर्व्यावृत्तिबुद्धिग्राह्या यतस्त्वयम् । तस्माद् गवादिवद्वस्तु प्रमेयत्वाच्च गृह्यताम् ॥

ने चावस्तुन एतस्य भेदा तेषास्य वस्तुता । कार्यादीनामभावो भावो य कारणादित (ना) ॥

वस्तुतत्त्वसिद्धिश्च तत्राप्राणस्य समाधिता । क्षीरे दध्यादि यत्रास्ति प्रागभाव स उच्यते ॥

नास्तिता पयसो दधि प्रवृत्ताभावलक्षणम् । गवि योऽद्याद्यभावस्तु सोऽयोन्याभाव उच्यते ॥

(१) अभावस्य । (२) अभावस्य । (३) परस्परतात्मत्वम् । (४) व्याख्या—‘यत्

सः दधिरूप प्रागभूत्वा भवति तदुपादेय कायम्, यच्च प्रागवस्थित क्षीररूप पश्चात्त भवति

तदुपादानकारणम् सोऽय कायकारणविभाग । तथा गौरस्यो न भवति, अद्वो न भवति गो,

विषाणान्मस्य दध्न इत्यादि व्यवहारोऽसन्भावस्य प्रागभावादिरूपभेदे नोपपद्यते इति । —मी० श्लो०

न्याय० पृ० ४७४ । (५) कायस्य प्रागभाव कारणम्—आ० टि० । (६) व्याख्या— अस्ति ह्यभावस्य

प्रागभावान्तरूपेण व्यावृत्तिरभावरूपेण चानुवृत्तिरिति । तत्रैव हेत्वन्तरमाह प्रमेयेति’—मी० श्लो०

न्याय० पृ० ४७५ । ‘अभावो वस्तु इति पक्ष, अनुवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिग्राह्यत्वात् प्रमेयत्वाच्चेति

हेतुद्वयं गवादिवदिति दृष्टान्तः । —सत्त्वसं० पृ० ५० ४७३ । (७) अभाव इति—आ० टि० ।

(८) प्रागभावादि—आ० टि० । (९) व्याख्या—‘न ह्यवस्तुनो भेदो युक्त वस्तुविष्ठानत्वात्तस्य

तस्मादभावो वस्तु । कीदृशं पुनरस्य वस्तुत्वमित्याह—‘वार्त्तानामिति । क्षीरादे कारणस्य यो

भाव स एव दध्यादे कार्यस्याभाव, कायस्य दध्यादेयो भाव स एव क्षीरात् कारणस्याभाव

इत्येतदभाववस्तुत्वम् ।’—सत्त्वसं० पृ० ५० ४७३ । (१०) भेदवत्त्वं । (११) ‘को योऽभाव कारणा-

दिन —मी० श्लो० । ‘ग यो भाव कारणादिना—सत्त्वसं० । को भावो य कारणादि न—सामति०

टी० । को भावो य कारणादिन’—स्या० १० । ‘को भावो य कारणादिना’—यद्वद० बृह० ।

(१२) व्याख्या—‘प्रत्यभादिभि सद्रूपण प्रतीयमाणमपि घटादिकमद्रूपण अभावस्य प्रमेयम्,

अगवरोऽमद्रूपमभाव इति यावत् ।’—मी० श्लो० न्याय० पृ० ४७३ । (१३) ‘तत्राप्राणस्यममाश्रया’

—मी० श्लो० । (१४) व्याख्या—‘क्षीरमुदादो कारणे दधिघटादिलक्षणं काय नाम्नीत्येव मत्प्रतीयत

लोके स प्रागभाव उच्यते । यदि तु प्रागभावो न भवेत् क्षीरादो दध्यादि काय भवेदेव । एव दधि

क्षीराख्यस्य यद्वास्तित्वमय प्रवृत्ताभाव, अन्यथा दधि क्षीर भवत् । गवात्ने अस्वादेरभावोऽन्या

याभाव उच्यते । यस्मात्तस्य गवादे पररूपमद्रवादिस्वभावो नास्ति तस्मात्तयोः‘योन्याभाव उच्यते ।

अथवा गवादो भवदस्वादि यच्चान्योऽभावो न भवेत् । क्षीरादिमोऽयवा निम्ना (अनुभवा )

बुद्धिघटादिनाम्ना रहिता विषाणात्प्रकारेण अत्यन्तमसन्त अत्यन्ताभाव उच्यते । यन्ति स्वत्यन्ताभावो न

भवेत् शनो शुद्धं भवेदेव ।’—सत्त्वसं० पृ० ५० ४७२ । उद्भूतोऽयम्—न्याय० पृ० ६५ । हेतुबि०

टी० पृ० ८१ B ।

शिरसोऽयसो निम्ना वृद्धिनाठिन्यवर्जिता । शशशृङ्गादिरूपेण साऽस्यताभार उच्यते ॥  
 नीर दधि भरदध दधि शीर घट पट । शश शृङ्ग पृथिव्यादौ चेतन्य मूर्तिरात्मनि ॥  
 अण्मुगभो गतश्चान्नी वायो रूपेण तौ सह । व्याप्ति संप्रेश(शि)ता से च न चक्षुष्ये प्रमाणाता ॥

[मी० श्लो० अभाव० श्लो० ७ ९, ८, २६१] इति ।

० अत्र प्रतिविधीयते । यत्तानुगतम्—'अभावप्रमाण प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नम्' इत्यादि,  
 तत्प्रतिवि मनुपुरस्य- तत्समीक्षिताभिधानम्, तद्विषयस्य प्रत्यक्षादिभि परिच्छिन्तमानतया  
 म अण्वस्य प्रत्य- तेष्य ततो भेदानुपपत्ते । द्विविधो हि अभाव—विप्रेष्टृष्टार्थसम्बन्धी,  
 क्षयभनमप्राप्तत्व- अविप्रेष्टृष्टार्थसम्बन्धी चेति । तत्र यो देशाविप्रेष्टृष्टार्थसम्बन्धेभ्यः  
 समर्थान्— सप्रत्यक्षत एव परिच्छिन्तने, इन्द्रियेभ्योपारादनन्तरम् 'अपट भूतलम्'

10 इत्यादिप्रत्ययप्रतीते । अप्रत्यक्षत्वात् अभावस्य इन्द्रियेणाऽसम्बद्धत्वात्, अस्तित्वान्,  
 असद्रूपत्वाद्वा ? न तानदसम्बद्धत्वात्, रूपस्याप्यप्रत्यक्षत्वप्रमद्धान्, अप्राप्यकारिणा हि

(१) उन्नता अथ च वृद्धिमल वर्जिता अवयवा विषाणवत इत्यस्मिन् यदा च कारिण  
 सोऽयवा निम्ना अनुप्रता अथ च विक्रान्तिविरहिता तथा न एव पृष्ठाभावस्याप्यव्यङ्ग्यार्हा ।  
 (२) रमणो । (३) मर्यादितो भाव मर्यादितो रमण इत्यर्थे । मर्यादास्त च—तत्त्वतः,  
 स्या० १० । 'मर्यादा त च'—समति० टी० । (४) मर्यादा—आ० श्लो० । (५) अभावस्य ।  
 (६) एतत्प्रतिवि इत्यादि निम्नप्रत्यय उद्धृता—तत्त्वतः, तत्त्वतः ५० पृ० ४७१-४७३ ।  
 प्रमेय० पृ० १९० । समति० टी० पृ० ५८०-५१ । पृ० ४७३ बहू० पृ० १२० B । 'न च स्याद्वा  
 नान्'—क विना मज्जिका—स्या० १० पृ० २८१-८३ । (७) पृ० ४६३ पं० ८ । अभावान्पुन  
 मानव यथोत्पन्न काय कारणमद्भाव लिङ्गम् एवमन्तर्गत काय कारणसद्भाव लिङ्गम् ।—प्र०  
 भा० पं० ५७७ । (८) तुलना—प्रत्यक्षानुभवभावप्रमाण तथा चाप्युपारादि भूतलप  
 नास्तीति तानमपरोक्षमूलप्रमाण दृष्टम्—प्र० श्लो० पृ० ५९२ । प्र० बहू० पृ० २०६ । 'अ  
 एतिह्यानर्थान्तरभावाद् अनुमानेऽभापतिमभवाभावात्तन्तरभावाच्चाप्रतिपक्ष ।—न्यायसू० २।२।२ ।  
 अभावान्पुनमानमेव—यावदा० पृ० २७६ । नयमभाव प्रमेयमभूतगम्येन प्रत्यक्षाद्यवनीयमान  
 स्वरूपत्वात् प्रमाणात्तरमात्मपरिच्छिन्नत्व मयत् । अद्वयत्विन्नोपपत्तिरन्त्यथ चणुया । परिच्छे  
 पराणस्य यवचिमानान्तरैरिति ॥—आयम० पृ० ५१ । अयस्य घटादिविविक्तस्य भूतलस्यारलस्य  
 घटानुपपत्तिरिति प्रयोगमिद्वानुपलब्धि । एतत्प्रमाणवति—पट्याहृत्त्वस्य भूतलप्राप्तत्वस्य चैत्रता  
 तममर्यादित्वान् यथा भूतलप्राप्तमेव तजान भवति तथा घटप्राप्तत्वाभाव निरवयवयतीति प्रतीतिप्रय  
 धमिद्वय चणुपलब्धि ।—प्रमत्तेषा० बहू० टी० १।६ । यि वस्तु प्रमाभाव मयाभावस्तर्पेण च ।  
 पयश्चतयताभाव तथा नति कथनतः ॥—तत्त्वतः ५० ४७५ । भावापत्तिरस्यापि प्रयोग एव  
 -सिद्धिभि टी० पृ० १७९ A । एतच्चाभावप्रमाणवयध्वम् अमर्यादित्वस्य प्रत्यक्षादितमधिगम्य  
 त्वसिद्ध ।—तत्त्वतःश्लो० पृ० १८२ । अभावप्रमाण तु प्रत्यक्षात्वेवात्तभवति—स्या० १० पृ०  
 ३१० । यावाव० टी० श्लो० पृ० २१ । (९) अभावस्य—आ० श्लो० । (१०) प्रत्यक्षा—आ० श्लो० ।  
 (११) न चाभावस्यासत्त्व प्रत्यक्षात्प्रमाणव्यवनीयमानत्वात् तथाहि—ह भूतले घटो नास्तीति  
 ज्ञानमिद्वयभावव्यतिरेकानुविधानान्निद्रयम् ।—प्र० श्लो० पृ० ४०० ।

1-तामेव न व० । १-वत्त्वप्र-व० । ३ विप्रेष्टृष्टार्थसम्बन्धी चेति व० । 4-सम्बन्धाभाव  
 आ० । 5-सम्बन्धत्वात् आ० ।

चक्षुषा यथा रूपस्य अमम्बद्धस्य ग्रहण तथा अभावस्यापि । ननु चासम्बद्धस्याप्यभावस्य चक्षुषा ग्रहणे देशान्तरवर्तिनोऽपि ग्रहणप्रसङ्ग अनिशेषात्, इत्यपि रूपेण कृतोत्तरम् । नहि तस्य असम्बद्धस्य ग्रहणेऽपि सकलदेशकालवर्तिनो ग्रहण दृष्टम् । अथ रूपे चक्षुष मयुकममत्रायसम्बन्धमद्वायादमम्बद्धत्वमिदम्, तत्र, चक्षुषोऽप्राप्यकारित्यस्य प्रागेव प्रतिपादनात् । तैत्सम्बन्धात् तैस्य तैर्न ग्रहणे च रमादेरपि ग्रहणप्रसक्ति तदविशेषात् । अयोग्यत्वार्त्तप्रहणे देशान्तरादिस्य अभावस्याप्यते एवाग्रहणमस्तु अनिशेषात् ।

किञ्च, आश्रयग्रहणमापेक्षम् अभावग्रहणम्, आश्रयश्च सन्निहित एव गृह्यते, नत्वथ देशान्तरान्स्थस्य अभावस्य ग्रहणमभावनाऽपि ? तत्रेन्द्रियेणामम्बद्धत्वान्स्थ अप्रत्यक्षता युक्ता ।

नाप्यरूपित्वात्, तैस्य प्रत्यक्षता प्रत्यनङ्गत्वात्, नहि रूपित्वात् प्रत्यक्षता प्रत्यङ्गम्, परमाणूना रूपित्वेऽपि अप्रत्यक्षत्वात् । गुण-कर्म-मामान्येन अनेकान्तात्, न एत रूपादिगुणस्य गमनान्तिकर्मण गोत्वान्स्थामान्यस्य च रूपित्वमस्ति, अथ च प्रत्यक्षत्वं तत्र विद्यते ।

असद्रूपत्वमपि न प्रत्यक्षता प्रतिहन्ति, असद्रूपस्य हि सद्वृत्ततया प्रत्यक्षत्वमनुपपन्न न पुनरसद्रूपतया, स्वस्वभावेन अर्थात्ना प्रत्यक्षत्वाऽग्रिणोपात्त । नहि एतस्य पटात्मना प्रत्यक्षत्वग्रिणेवे स्वात्मनापि तद्विरोधो युक्त, सर्वत्र प्रत्यक्षत्वमप्युपगत-प्रसङ्गात् । ततस्तैमिच्छता भाववद् अभावस्यापि स्वस्वभावेन प्रत्यक्षत्वमप्युपगत-व्यम् । ननु तथापि अभावस्य कथं प्रत्यक्षता त्रितोर्धीति चेत् ? भावस्य कथम् ? प्रत्यक्ष-माह्वत्वात्, ईतरत्र ममानम् । तथाहि-उन्मीलिते चक्षुषि भूतल घटाभावश्च प्रतिपाद्यत, न निमीलिते । अत समाने तद्भावभावित्वे कथं भूतलज्ञानमेव प्रत्यक्ष न तत्राभाव-ज्ञानमिति नियमत्रिभागो युक्त ? प्रयोग-यच्चक्षुर्भावाऽभावानुपपत्तिरित्यनु प्रत्यक्षम् यथा भूतलादिज्ञानम्, तन्नुविधायि च घटाभावज्ञानमिति । अत्र तत्रे चार्थ-आलोकापेक्षापि अतिदुर्घटा, आलोको हि चक्षुष एव उपकारक इत्यद । तद्वृत्त-चक्षु-प्रभवत्वात्प्रत्युपगमे च घटाभावज्ञानस्य, अन्धस्यापि तदुत्पत्ति र्भ्या ।

(१) अभावस्य । (२) अगम्बद्धत्वस्य समानत्वात् । (३) १० ३० । (४) मयुष्य ममवायगम्बन्धात् । (५) स्वस्य-आ० १० । (६) इन्द्रिय-आ० १० । (७) मयुष्यमवाया विगावात् 'यन्ममवायामाति' तत्र च स्वस्य ममवायात् । (८) स्वस्य-आ० १० । (९) त्रयोप्य एवापे । (१०) मुक्ता- 'नचागम्बद्धत्वाविगावाद्वागानुगानु मया' इत्यन्तु मयुष्यम्, तत्राप्य ग्रहणमापेक्षान्भाववत्त्वात्, आश्रयस्य च सन्निहितस्य प्रत्यक्षत्वम् । स्वस्य-आ० १० ५२ । (११) आश्रया भूतलात् । (१२) अभावस्य । (१३) इन्द्रियम् । (१४) अत्र प्रत्यक्षत्वम् । (१५) प्रत्यक्षत्ववहागम् । (१६) प्रत्यक्षत्वेन कथमनन्त, अत्र तत्र कथं प्रत्यक्ष इति विगाव । (१७) अभावस्य । (१८) यन्-आ० १० । (१९) स्वस्य-आ० १० । (२०) आलोकापेक्षा । तस्य तत्र च-आ० १० । स्वस्य-आ० १० । ३ स्वस्य-आ० १० । ४ स्वस्य-आ० १० ।



ननु घटाग्रभावेद्वाने लोचना र्वयव्यतिरेकानुविधानम् अन्यथासिद्धम् रूपज्ञाना  
 नतरभाविस्पर्शसवेदने, यत्रैव हि दूरदेशस्थितञ्चलञ्जलनञ्जालारूपोपलम्भानन्तर-  
 भाविनि तद्गतोप्यस्पर्शसवेदने लोचनान्ययव्यतिरेकानुविधानम् अन्यथासिद्धं तद्यौ भूत-  
 लोपलम्भानन्तरभाविनि घटाग्रभावेद्वानेऽपि, इत्यप्यसाम्प्रतम्, 'इह भूतले घटो नास्ति'  
 इति ज्ञानस्य भेदाऽसिद्धे । मिद्वे हि ज्ञानभेदे तत्रैवयव्यतिरेकानुविधानस्य अयथा-  
 सिद्धत्वं वस्तु युक्तम् रूपस्पर्शानुगतम् । न चार्त्रं तद्भेदोऽस्ति, 'इह कुण्डे दधि' इत्यादि-  
 ज्ञानवत् 'इह भूतले घटो नास्ति' इत्यादिज्ञानस्यापि एकस्य उभयाशावलम्बित्वेन अनु-  
 परतनयनव्यापारे प्रतिपत्तिरिति प्रतीते । अस्तु यान्त्रेद, तथापि इन्द्रियायव्यतिरेकानु-  
 विधायित्वेन उभयस्योपलम्भाऽविशेषे कथमेकस्य प्रत्यभत्तमन्वयस्याऽप्रत्यक्षत्वं वस्तु युक्तं  
 रेण्डान्तरित्वप्रसङ्गात् ?

प्रतियोगिस्मरणानन्तरभावितात् घटाग्रभावनप्रतीतिप्रत्यभत्वे सविकल्पकप्रत्य-  
 भायत्त्वात् जलाञ्जलि । तद्वि निर्विकल्पकप्रत्यक्षानन्तर शब्दार्थसम्बन्धस्मरणे सति  
 'घटोयम्' इत्याद्याकारमुपजायते । तथाविधस्याप्यस्य इन्द्रियायव्यतिरेकानुविधा-  
 यितया प्रत्यक्षत्वे घटाग्रभावप्रत्ययस्यापि तस्मिन् उच्यते । न चैव रूपोपलम्भा-  
 नन्तरभाविस्पर्शसवेदनेऽपि चाक्षुषत्वप्रसङ्ग इत्यभिधातव्यम्, स्पर्शग्रहणयोग्यताशून्य-  
 त्वाच्चक्षुष स्पर्शनस्यैव तद्ग्रहणयोग्यतामदावात्, अन्यथा उपहनत्वगिन्द्रियस्यापि

(१) अनुमया -आ० टि० । यव्यव्यतिरेकानुविधानपूर्ववृत्तिर एव वायनमवे तन्निमित्तमव्यया  
 मिदम् -मुक्ता० का० १९-२० । तुलना- न च दूरव्यवस्थितवृत्तवत्स्पर्शानुमानवति  
 दमयथासिद्धं तन्भावभावितात् तत्र हि वृत्तं स्पष्टानुमानकौलशून्यत्वमवधारितं चक्षुष स्पर्शपरिच्छिन्नि  
 च कारणान्तरं त्वगिन्द्रियमवगतम् । जविनाभाविता च पुरा तथाविधयो रूपस्पर्शमोक्षलपेत्यनुमेय  
 एवामो स्पर्श इति युक्तं तथा यथासिद्धत्वं चक्षुष्यासारस्य प्रकृते तु नदृश प्रसार ममस्ति । -वायम०  
 प० ५१ । 'यत्तु भूप्रदेशग्रहणं न यव्य अक्षाणामुपयोगित्वात्क्षेत्रेणित्वमयथासिद्धमभावज्ञास्यत्युक्तम् ;  
 तन्नुपपन्नम् न खलु ज्ञानद्वय प्रयोगानुमानमिदमनुभूयते प्रथममिन्द्रियं च भूप्रदेशज्ञानं तत प्रतिधा  
 यिस्मरणे सति मानमिन्द्रियानेष नास्तिवापान् च । एवस्य च कुम्भानिद्रिविकल्पमूत्रेशाहिणो ज्ञान  
 स्वाभावशाहित्वेनाप्यनुभूयमानत्वात् तस्य चेन्द्रियजत्वेन त्वयापि प्रतिपत्तत्वाप्रायथासिद्धमभावेक्षित्व  
 मभावितात्सम् । -स्या० २० पृ० ३१० । (२) इन्द्रिय । (३) इह भूतले घटो नास्तीत्यत्र । तुलना-  
 तथा चेत् घटो नास्तीति ज्ञानमेवमन्मिह कुण्डं दधीनि ज्ञानवद् उभयाव्यव्यतननुपरतनयनव्यापारस्य  
 भवति, तत्र भूप्रदेशमात्र एव नयनज ज्ञानमत्तरत्र प्रमाणान्तरजमिति कृतस्योप्य विभाग । -न्यायम०  
 पृ० ५१ । (४) भूतप्रदेशमात्रो उभयम् । (५) ज्ञानभेद । (६) भूतलघटाभावी उभयम् । (७)  
 भूतलस्य । (८) घटाभावस्य । (९) घटस्मरण । (१०) वयाविवाद्यमिमताय-आ० टि० । (११) सवि-  
 कल्पकम्-आ० टि० । (१२) स्मरणानन्तरभाविनापि सविकल्पकस्य । (१३) प्रत्यक्षत्वम् । (१४) इन्द्रि-  
 यायव्यतिरेकानुविधानस्य समानत्वात् । (१५) स्पर्शग्रहण । (१६) चक्षुष्या स्पर्शग्रहणे सति-आ०  
 टि० । (१७) वयिरत्वरागवस्वमिन्द्रियस्यापि-आ० टि० । पक्षापातान्तिना न्ययस्यानैन्द्रियस्य युम् ।

१-न्ययस्यातिरेका-श्र० । २ तथा श्र० । ३ ज्ञानस्यास्य भे-श्र० । ४ ज्ञानस्य भे-श्र० ।  
 ५ प्रतिपत्ति प्र-आ०, श्र० । ६-प्रत्यक्षस्यापि श्र० ।

स्पर्शमिति स्यात् । तस्मादानुमानिकमेव ईद्व विज्ञान 'यैद्व रूपवत् तत् स्पर्शवत्, यदि वा, यैदेवविधरूपवत् तदेवविधस्पर्शवत्' इति सामान्यतो विरोधतश्च प्रतिपन्नाऽविनाभावहेतुसामर्थ्येन उत्पत्ते, यदित्यमुत्पद्यते तदनुमानमेव यथा 'यद् धूमवत् तद्ग्निसत्, यद्वा यदेवविधधूमवत् तदेवत्रिधाग्निसत्' इत्याद्यवगताविनाभावहेतुप्रभव विज्ञानम्, प्रतिपन्नाविनाभावहेतुसामर्थ्येनोत्पद्यते च रूपोपलम्भानन्तरमाविष्परीविज्ञानमिति । तत्र स्थितमेतत्--देशाद्यविप्रकृष्टार्थसम्बन्धभाव प्रत्यक्षत एव परिच्छिद्यते इति ।

यस्तु देशादिविप्रकृष्टार्थसम्बन्धभाव सोऽनुमानादे, तत्र देशविप्रकृष्टस्य कमलाकरकमलादे सम्बन्धी विकासाद्यभाव दिनकरोदयाद्यभावादवसीयते । कालविप्रकृष्टस्य च शर्कटादे मुहूर्तान्ते उदयाभाव अश्विन्युदयात् प्रतीयते । स्वभावविप्रकृष्टस्य च चैतन्यस्य शवशरीरे सत्त्वाभाव व्यापारव्याहाराकारविशेषाभावादनुमीयते । न रज्जु एवनिघाभावः एवविधलिङ्गान्यत कुतश्चित् प्रतिपत्तुं शक्य ।

एतेन यदुक्तम्--'यद्यभाव प्रत्यक्षपरिच्छेद्य स्यात् कथमपवरकादौ इन्द्रियेणाऽसन्निकृष्टो देवत्त्वात्प्रभार परिच्छिद्येत' इत्यादि, तदपि प्रतिव्यूढम्; 'नासीदपवरके देवदत्त' इत्यादिप्रतीते स्मृतिर्त्वात् 'आसीत् तत्र घट' इत्यादिप्रतीतिवत् । अपवरक- 15  
आदिना हि प्रत्यक्षेण तत्राऽस्मिन्निहितार्थानामभावा युगपत्प्रतिपन्ना तत्र सन्निकृतार्थसद्भाववत् । तदुत्तरकालञ्च सस्कारप्रबोधवशात् तद्भावाभावविषया प्रतीति उदयमासादयन्ती स्मृतिवत् जहातीति । न चैतद् वक्तव्यम्--'सकृदनुभूतेषु सकलपदार्थाभावेषु

(१) रूपसत्त्वान्तरभावि स्पर्शानाम् अनुमानात्मकम् सामान्यतो विरोधतश्च प्रतिपन्नाविनाभावहेतुसामर्थ्येनोत्पद्यमानत्वात् । (२) इय सामान्येन व्याप्ति । (३) एषा विशेषतो व्याप्ति । (४) सामान्यतो विशेषतश्च । (५) तुलना- क्वचित्पुनरस्मिन्निष्ठत्वात्पुनरनुभूयोरपि भवत्यभाव यथा सत्त्वमम मल्लिधाराविसर्गसिक्लसस्यमूलमभिवर्षति देव घनपवनसयोगाभावोऽनुमीयते, यथा वाऽर्थोपत्ता-कुण्डल गृहभावेन चैत्रम्य जहिरभावकल्पनमिति । आगमादप्यभावस्य क्वचिद भवति निरुचय । चोरादिनाम्नितागतमध्वगानामिवापन्न ॥-श्यायमं ७० ५४ । (६) रोहिण्यान्निगणस्य । (७) पृ० ४६६ ९० । (८) तुलना- अस्य स्मरणत्वात् । यद्यपि पूव हस्ती नास्तीत्यादि सविकल्पक ज्ञान नोत्पन्न तथापि हस्त्याद्यभावविशिष्टे देवदुते निविकल्पक ज्ञानमुत्पन्नम् । अथवा हि यथाह देवकुलमद्राक्ष न तथा तं ममीपवनिन हस्तिनमिति प्रतानन्तर स्मरण न स्यात् । तत्तु दृष्टम् । यस्य वस्तुन पूर्व नामावपगच्छिन्नस्यत्र परप्रदानतर मनेने 'न निरीतिं न मया किं तत्र देवदत्तोस्तयुन हस्ती' इति । न चदानीमभाव निश्चिनानि अत्र पूर्वमेव हस्त्याद्यभावस्य प्रतीतियुक्तमेतत् स्मरण 'न मया तत्र हस्ती दृष्टा' इत्यादि । -प्र० ७० ५० ५१३ । श्यायमं ५० ५३ । प्र० ७० ५० २२७ । (९) श्वत्तादीनाम् । (१०) अपवरके । (११) येषामप्यता गद्भाव तथा सम्भावनाया येषाञ्च दयत्तादीनामभावनापामभावरूपेण । (१२) तुलना- ननु मेवकबुद्धया सत्त्वाभाववदप्य सहमेव मकलाभावमनुभूतिर-

१ मुहूर्तान्ते य० । २-स्य च-य० । ३ परिच्छिद्यते य०, परिच्छेद्यत आ० । ४-दिना प्रभा०, य० । ५-नामभावो युगपत्प्रतिपत्ते तत्र य० ।

सहसैर स्मृति स्यात्' इति, अनुभूतत्वमात्रस्य स्मृत्यकारणत्वात्, अनुभूतेऽपि हि मावाभावरभावेषु निमित्तार्थेषु यस्य यस्य मरुतारोद्बोधनिमित्ता प्ररनादिसामग्री सम्पद्यते तस्य तस्य रूपस्य स्मृति प्रादुर्भवति 'इदं तत्रामीत्, इत् नासीत्' इति ।

- यन्पि—'अभावप्रमाणोत्पत्तौ भूतलाश्रयग्रहणरूपा सामग्री' इत्याहुर्कम्, तद  
 ५ प्यसारम्, आश्रयग्रहणस्य प्रत्यक्षेऽप्यविशिष्टत्वात् । न खलु 'भूतले घटोऽस्ति' इति प्रत्यस्य भूतप्रहणादृते घटते । न चाश्रयग्रहणपूर्वकमेव अभावग्रहणमिति नियमोऽस्ति, अवकारे प्रदीपाभावप्रतिपत्तेराश्रयाऽग्रहणेऽप्युत्पत्ते । न चाधकार एव आश्रय इत्यभिप्रातव्यम्, प्रज्ञासाभावमात्रतया भवता तस्य इष्टे, स एव च प्रदीपाभाव इति नाश्रयस्य तैद्व्यतिरिक्तस्य कस्यचित्तर् प्रहणम् । तथा 'गन्धो नास्ति' इत्यपि प्रतीति  
 10 आश्रयग्रहणनिरपेक्षयोत्पत्ते, निमीलिताश्रयापि हि घ्राणेन्द्रियव्यापारादनतर गन्धमात्रप्रतीति उत्पत्ते । न च तत्र घ्राणेन्द्रियेण आश्रयस्य द्रव्यस्य ग्रहण सम्भवति, दर्शन-स्पर्शनाश्रयमेव द्रव्यस्य ग्रहणसम्भवात् । तथा 'नास्ति ज्ञान' इति श्रोत्रव्यापारादेव आश्रयग्रहणनिरपेक्षाङ्गवति अभावप्रतीति । न हि श्रोत्रेन्द्रियेण ज्ञानस्य आश्रयो प्रहीतुं शक्य, तस्य अन्यतपरोक्षस्य अनुमानेनैवावसायान् । तत्राश्रयग्रहणमभावप्रमाण-  
 15 सामर्थ्यामनुप्रविशति ।

अनुप्रविशतु वा, तेषापि आश्रयस्य ग्रहण किं निषेध्याभावसहितस्य, केवलस्य वा ? "प्रतियोगिनोऽपि स्मरणम्—त्रिम् अभावात्प्रतस्य, तद्विपरीतस्य वा ? तत्र अभावविरोधितयो आश्रयप्रतियोगिनो ग्रहणस्मरणपथप्राप्तयो तैत्कारणत्वाभ्युपगमे 'अभावप्रानादेव अभावज्ञानम्' इत्युक्तं स्यात् । न च र्वात्माश्रयस्य कस्यचित् सिद्धि-  
 20 र्युक्ता अतिप्रसङ्गात् । चक्रप्रद्वञ्च—अभावप्रमाणोत्पत्तौ हि प्रतियोग्यभावप्रतिपत्ति, तत्प्रतिपत्तौ च तद्विरोधितयो आश्रयप्रतियोगिनो प्रतिपत्ति, तस्याश्च सत्याम् अभाव-

जायत मैवम् यथैव प्रदानि स्मरणकारणमस्य भवति तत्त्वं स्मरति न मवम अविद्यमानस्मरण निमित्तम् । अन्यत्र तु युगपदुपपत्तयि वर्षेषु युगपत्त्ववधानुभवसमनन्तर स्मरणम् । अत्र तु युगपत्त्ववधानि क्रमण स्मरण भविष्यतीति न मच्चकवृद्धावय नोप । —न्यायप्र० पृ० ५३ ।

(१) प० ४६४ व २ (२) वापिवेण (३) अधकारस्य । इत्युपगमनिष्पत्तिवधर्म्याभावस्य । —वा० सू० ५।२।१९ । (४) प्रवगाभाव एव । (५) प्रतीपाभावमित्यस्य । (६) प्रज्ञाभावप्रतिपत्तौ । (७) अविनाम् । (८) तुलना— तत्र निषेध्याधारो वस्तुवन्तर प्रतियोगिसमूह वा प्रतीपते असमूह्ये वा ? प्रतियोगिनापि स्मरण वस्तुवन्तरसमूहस्य असमूहस्य वा ? —प्रमेयक० पृ० २०३ । स मति० टी० पृ० २४ । जननव्या० पृ० ५० ९३ । स्या० २० पृ० ३२१ । (९) भूतलस्य (१०) घटाभावनिमित्तस्य । (११) घटस्य । (१२) भूतलघटया (१३) अभावप्रानातिवृत्ते । (१४) स्वस्य स्वागतया प्रदानो र्वासाश्रयवम । (१५) अग्नेरेव अग्निमिदित्तप्रसङ्गात् । तथा च मव सवस्य निष्पत्तु (१६) अभावविनाशयो ।

प्रमाणोत्पत्तिरिति । अभावनिरपेक्षतया च आश्रये प्रतियोगिनि च गृह्यमाणे यशभाव-  
प्रतीति रथात् तत्र सघटेऽपि भूतले 'घटो नास्ति' इति प्रतीति स्याद् विशेषामावात् ।  
ततो यत्रोक्तसामग्र्या विचार्यमाणाया अनुपपत्ते चक्षुरादिसामग्रीत एव अभावप्रमाणस्य  
उत्पत्ति स्वपरात्मना नदसद्रूपघटाद्यर्थविषयता चाभ्युपगन्तव्या । ननु परात्मना घटादेर-  
सत्त्वं प्रतीयमानं न स्वात्मतया प्रतिपन्नं स्यात्, यच्च स्वात्मतया न प्रतीयते कथं तत्तस्य  
रूपम् अतिप्रसङ्गात् ? इत्यप्यसुन्दरम्, यत् परात्मनाऽपि प्रतीयमानमसत्त्वं घटादेरेव  
प्रतीयते नतु परस्य, 'घटो हि पटो न भवति' इत्येव नवर्थं प्रतीयते, नतु 'पट पटो न  
भवति' इत्येवम् । अतः परात्मना प्रतीयमानोऽपि नवर्थं घटादेरेव प्रतीयते इति  
तैस्तथैव तद्रूपेण असत्त्वंमिति व्यपदिश्यते ।

यच्चान्यदुक्तम्—'घटविविक्तत्वं किं भूतलस्वरूपमात्रम्, तद्व्यतिरिक्तं वा' इत्यादि,  
तत्प्ययुक्तम्, यत् तद्विविक्तत्वं तद्वर्तमानतया तैत कथञ्चिद् व्यतिरिक्तं घृच्छयते, पदार्था-  
न्तरतया वा ? तत्र तद्वर्तमानतयैव तत् कथञ्चिद्धिन्नमुपपन्नं न पुन पदार्थान्तरतया ।  
सहेतुतो हि भावा परस्परऽसङ्कीर्णस्वभावविशिष्टा समुत्पन्ना, तद्विपरीता वा ? प्रथम-  
विकल्पे सिद्धमेवा स्वकारणकलापादेव अन्याऽसत्सृष्टस्वभावत्वम्, अतो धैयर्थम-  
र्थान्तरभूताभावपरिकल्पनाया । यत् स्वरूपतो विविक्तस्वभाव न तत्र अर्थान्तर-  
भूताऽभावपरिकल्पना फलवती यथा प्रागभावाद्दौ, स्वरूपतो विविक्तस्वभावाश्च भावा  
सहेतुत समुत्पन्ना इति । द्वितीयविकल्पस्त्वनुपपन्नं ; स्वरूपतोऽविविकतागमर्थाणां  
व्यतिरिक्तभावेन 'वैविक्यस्यै' कर्तुमशक्यत्वात् । यत् स्वभावतोऽविविक्तस्वरूपम्  
न तत्र अर्थान्तरभूताभावेन विवेकं कर्तुं शक्यं यथा एकव्यक्तौ, स्वभावतोऽविविक्त-  
स्वरूपाश्च परमते पदार्था इति ।

(१) घटस्यैव । (२) घटरूपेण । (३) प० ४६५ प० २० । (४) घटघनतया । (५) घटान् ।  
(६) द्विविधा हि विविक्तता—धर्मधर्मिरूपेण कथञ्चिद्विविक्तता यथा ज्ञानात्मनो पदार्थान्तररूपेण  
भवता यथा घटपटयोः । (७) तुलना—'सर्वे हि भावा स्वस्वरूपस्थितयो नात्मानं परं मिथ्ययन्ति  
तस्यापरत्वं प्रसङ्गात्'—प्रमाणवा० स्व० १।४२ । नाप्यया परस्परभिन्नतागमभावेन भद्रं क्षयते  
नसुम्, तस्य भिन्नाभिन्नभेदवर्णनञ्चिच्चित्त्वत्वात् । न चाभिन्नानामन्याभावः सम्भवति । नापि  
परस्परभिन्नानामभावेन भद्रं क्षयते स्वहेतुभ्य एव भिन्नानामुत्पत्तः । नापि भद्रव्यवहारं क्षयते यत्  
भावानामात्मात्मीयरूपणोत्पत्तिरेव स्वता भेत् स च प्रत्यक्षप्रतिभासनात् न भद्रव्यवहारहेतुः ।—प्रमाणवा०  
स्व० १।६ । 'यत् स्वकारणवलापात् स्वस्वभावव्यवस्थितयो भावा समुत्पन्ना नात्मानं परं  
मिथ्ययन्ति तस्यापरत्वं प्रसङ्गात्'—प्रमेयक० पृ० २०८ । क्षयति० टी० पृ० ५८८ । स्या० १० पृ०  
५८१ । (८) अन्यायमिति स्वस्वरूपा भिन्ना इत्यर्थे । (९) भिन्नस्वभाववत् । (१०) प्रागभाव  
नास्ति प्रध्वसादित्यत्र । (११) भिन्नताया ।

१ इति स्या-य० । २-माने स्या-य० । ३ न तु पटो न व० । ४-स्वमित्येव व्य-य० ।  
५-स्वभावाच्च य० । ६-तस्य व० । ७-तो विवि-य० ।

किञ्च, अर्थात् विनाभावाना विवर्धोऽसभवे कथमभावात्तार्थ-योन्य भावोन्तराच्च विवेक स्यात् ? तत्रापि तद्वेतोरभावात्तरस्याऽभ्युपगमे अनन्तराप्रसङ्ग । अथ अभावात्तरमन्तरेणापि अस्य विलक्षणस्वभावत्वादेव अयतो विवेक , तर्हि वैयर्थ्यम् अर्थात्तरमात्रपरिवर्तनाया, घटादेरपि विलक्षणस्वभावतयैव अयतो व्यावृत्तिप्रसिद्धे ।  
 ४ तथाहि-घटादे अन्यतो व्यावृत्ति विलक्षणस्वभावनिर्धनैव, अन्यतो व्यावृत्तित्वात्, यद् अन्यतो व्यावृत्ति सा विलक्षणस्वभावनिर्धनैव यथा अभावस्य, अन्यतो व्यावृत्तिश्च घटादेरिति ।

किञ्च, आश्रयभेदेन इतरेतराभावात् तावन्न भिद्यते सर्वत्र अर्थे एकत्वेनाऽभ्युपगमात् । ततश्च घटस्य इतरेतराभावाद् व्यावृत्तिर्नाऽर्थात्तरनिर्धना । तत्र हि इतरेतराभावात्, अभावात्तरं वा निर्धना स्यात् ? इतरेतराभावश्चेत्, किं स एव, अन्यो वा ? न तावत् न एव, अतो घटादेर्व्यावृत्तमानत्वात् । यैव यतो व्यावृत्तते न तस्मादेव तस्य व्यावृत्ति यथा घटात् व्यावृत्तमानस्य घटस्य न पर्यवेद्य व्यावृत्ति, व्यावृत्तते च इतरेतराभावाद् घट इति । इतरेतराभावात्तराभ्युपगमे च अर्थे एकत्वमिति अनर्थस्था च स्यात् । अथ अर्थात्तरमस्य ततो<sup>३३</sup> व्यावृत्तेर्निर्धनम्, तन्न, इतरेतरव्यावृत्ते अभावात्तरनिर्धनत्वात्तुपपत्ते, उपपत्तौ वा अभावात्तुपपत्त्यवस्थाऽनर्थक्यम्, एकत्वादेव अभावात् 'इदमेत प्राङ् नासीत्, इतरद् इतरञ् नास्ति' इत्यादि प्रतीतेरुपपत्ते । अथ घटस्य इतरेतराभावाद् व्यावृत्तिरेव नेष्यते तत्कथमय दोष ?

(१) तुम्हा-

किञ्च भावाभावयोर्भेदे नामावृत्तिरघनाजवस्थाप्रसङ्गात् । अथ स्वप्न भेद तथा भावानामपि स स्थािति विमभावेन कल्पितेन । -प्रमाणवा० स्वव० टी० १।६ । यत् इतरेतराभावत्वात् घट पटाभ्यो व्यावृत्तं तर्हि इतरेतराभावोऽपि भावाभावान्तराच्च प्रागभावात् किं स्वतो व्यावृत्तं अयतो वा ? -प्रमेयक० ७० २०८ । स्या० १० ४० ५८१ । (२) भदाभावे । (३) प्रागभाव प्रवृत्ताद् भिन्न । (४) प्रागभाव घटादेर्भन्न इति । (५) अभावेष्वापि । (६) भन्नेतो इतरेतराभावस्य । (७) अभावस्य । (८) भावाद् घटात् अभावात्तराच्च प्रागभावादे । (९) भिन्नाभाव । (१०) पटात् । (११) घटो भूतत्वं न भवति भूतलञ्च घटो न भवतीति इतरेतराभावादेव ( विलक्षणस्वभावत्वेन ) घटस्य भूतलाद् व्यावृत्तं पुनरभावादिति भाव-आ० टि० । (१२) तरमात्रविलक्षणस्वभावनिवर्धनत्वं नाभावात्तरनिवर्धनत्व-आ० टि० । (१३) इतरेतराभावस्य । (१४) द्वितीयाभाव । (१५) अभावात्तरनिवर्धनत्व-आ० टि० । (१६) अन्तर्गत प्रथमात्तिरेतराभावत्वं । (१७) घट इतरेतराभावयो व्यावृत्तिं तन्तिरेतराभावनिवर्धना तस्मादेव तस्य व्यावृत्तमानत्वात् । (१८) किन्तु विभुत्वादेव-आ० टि० । (१९) इतरेतराभावस्य । गव्यत्वाभावोऽप्येव च गोरभाव इतरेतराभाव स च मन्त्रैको निय एव पिण्डविनाशोऽपि सामायवत् पिण्डान्तरे प्रत्यभिमानात् । यथा मामात्मदुःखानुपजायमानवत् पिण्डत सह सम्बद्धतन्तु निर्यात्तत्त्वं स्वभावविदम् तथ इतरेतराभावोऽपि । -प्रा० क० ४० ४० २३० । (२०) द्वितीयेतराभावस्य व्यावृत्त्यर्थम् तृतीय इतरेतराभावत्वं कर्तव्यं तन्प्रावृत्त्यर्थञ्च चतुर्थ इति । (२१) इतरेतराभावाद् भिन्न कश्चित् प्रागभावात्तिरेव अभाव अभावात्तरम् । (२२) घटस्य । (२३) इतरेतराभाव-आ० टि० । (२४) प्रागभाव ।

१ व्यावृत्तमान-आ० ।

तर्हि इतरेतराभावोऽपि घट स्यात् । यस्य यतो व्यावृत्तिर्नास्ति न तस्य ततो भेद यथा घटस्वरूपाद् घटस्य, नास्ति च इतरेतराभावाद् व्यावृत्तिर्घटस्य इति ।

यदपि—अभावस्य वस्तुत्वमभिहितम्, तदपि वस्तुधर्मस्यैवोपपन्नं न पुन सर्वथा तुच्छस्वभावस्य, तथात्रिधस्यास्य वस्तुत्वानुपपत्ते । यत् सर्वथा तुच्छस्वभाव न तद्वस्तु यथा गगनेन्द्वीवरम्, सर्वथा तुच्छस्वभावश्च परैरभ्युपगतोऽभान इति । अस्तु वा अस्य वस्तुत्वम्, तथापि तत् केन गृह्यताम्—किमभावात्त्वेन प्रमाणेन, प्रमाणान्तरेण वा ? प्रथमपक्षे किं तद्वस्तुत्व भाव, अभावो वा ? यदि भाव, रुधमभावप्राह्य तस्य तद्विषयत्वाऽनभ्युपगमात् ? तुच्छस्वभावाभावस्य भावस्वरूपवस्तुत्वाश्रयत्वविरोधान्च । यत् तुच्छस्वभाव न तद् भावमवभाववस्तुत्वाश्रय यथा शरात्रिपाणम्, तुच्छस्वभावश्च परैरपरिकल्पितोऽभाव इति । अथ अभाव, तन्न, वस्तुत्वस्य अभावरूपत्वे नीलादावपि तस्य अभावरूपत्वप्रसङ्गाद् भाववार्त्तोच्छेद स्यात् । अथ प्रमाणान्तरेण गृह्यते तत्, तन्न, प्रमाणान्तराणामभावप्राहकत्वानभ्युपगमे तद्गतवस्तुत्वप्राहकत्वाभ्युपगमविरोधात् । तत्र अभावप्रमाणस्य मामग्रीवद् विषयोऽपि विचार्यमाणो व्यवतिष्ठते ।

नापि फलम्, अभावानुगतिलक्षणफलस्य प्रत्यादिदोऽपि सद्भावप्रतिपादनात् । किञ्च, सिद्धे स्वरूपे कारणविषयफलव्यवस्था वक्तुं युक्ता । न च अस्य तत्सिद्धम् । ननु सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकानुत्पत्तिलक्षणम् अभावप्रमाणस्वरूप प्रतिप्राणि प्रसिद्धत्वात् कथमपह्नोतु शक्यम् ? इत्यप्यनुपपन्नम्, यत केय तदनुत्पत्ति—किं निषेधैर्विषयज्ञानरूपतया आत्मनोऽपरिणाम, अन्वयवस्तुविज्ञान वा ? तत्र अपरिणामस्य अभावस्वभावत्वात् रुध तैर्थाविधज्ञानजनने मामर्थ्यं स्यात् ? कथं वा प्रामाण्यम् ? प्रमेयपरिच्छेदकस्य हि प्रामाण्यं प्रसिद्धम्, यच्च स्वरूपेण न किञ्चित् तत्कथं कस्यचित्परिच्छेदकमतिप्रसङ्गात् ? यत् स्वरूपेणाऽकिञ्चिद्रूपम् न तत् कस्यचित्परिच्छेदकं यथा

(१) इतरेतराभाव घटात्मक तस्मादव्यावृत्तमानत्वात् । (२) प्र० ४६७ प० १ । (३) वस्तुत्वम् । (४) अभावस्य । (५) अभावो न वस्तु सर्वथा तुच्छस्वरूपत्वात् । (६) वस्तुत्वम् । (७) भावस्वरूपस्य वस्तुत्वस्य । (८) अभावविषयत्व । (९) अभावो न वस्तुत्वाश्रय तुच्छस्वभावत्वात् । (१०) वस्तुत्वस्य । (११) वस्तुत्वम् । (१२) अभावगन । (१३) अभावस्य । (१४) प्रमाणपञ्चकानुत्पत्ति । (१५) निषेध्या घटादि । (१६) भूतलाद्याश्रयात्मकमन्यवस्तु । (१७) तुलना—'नीरूपस्य हि विज्ञानरूपज्ञानो प्रमाणता । न युज्यते प्रमयस्य सा हि सवित्तिलक्षणा ॥ मप्रमेयाधिगतिरूपं न भवति न तत्प्रमाणं यथा घटादि, प्रमेयाधिगानित्युपपत्त्याभाव इति व्यापकानुपपत्तिः ।'—सत्त्वसं० पं० प्र० ४७८ । "यत् प्रमाणपञ्चकाभावो निरुपाह्यत्वात् यथ प्रमेयाभावपरिच्छिन्नात् परिच्छित्तेर्ज्ञानमत्वात् ।"—प्रमेयक० प्र० २०५ । समति० टी० प्र० ५७८ । ह्या० २० प्र० २१० । (१८) 'अत्र घटो नास्ति' इत्याकारणानतोत्पन्नं । (१९) एतद्विषयाणां परिच्छिन्नत्वप्रसक्ति । (२०) आत्मना परिणामरूपोभाव न प्रमेयपरिच्छिन्न स्वरूपेणाऽविच्छिद्रूपत्वात् ।

१ पद० व० । २-इव परि-व० । ३ अभावस्वरूप-प्र० । ४-ते तत्र प्र० । ५ सिद्धत्वहपे व० । ६ वस्तुत्वम् व० । ७-व० । ८ अभावस्य भावत्वात् आ० । ९-विधस्य ज्ञान-प्र० ।

वन्ध्यास्तनय, रुरूपेणात्रिद्विद्रुपञ्च परपरिकल्पितमभावप्रमाणमिति । परिच्छेद  
कत्व हि ज्ञानधम, मोऽश्नविपाणप्रत्यस्य अध्यक्षागभावस्यातिदुर्घम् । ततश्च 'प्रमा  
णाभाव प्रमाणञ्च' इति प्रतिज्ञोपपत्त्यो विरोध, यथा 'इच्छ, नास्ति च' इति ।

अन्वयस्तुविज्ञानपक्षेऽपि विमन्वस्मिन् नस्तुभावे, घटाभावाश्रये धौ ज्ञानमभाव  
५ परिच्छेदक स्यात् ? तत्राद्यपक्षे यत्र कुत्रचिद् यस्य कस्यचिद् अभावस्य ज्ञान स्यात् ।  
अथ घटाभावाश्रयस्य, न वेत्तत् घटाभावे सिद्धे सिद्धयेत, न चामो भवत्पक्षे सिद्ध ।

प्रतियोगितापि एतेन प्रत्याघाता, सिद्धे हि घटाभावे 'अयमस्य आश्रय, अयञ्च  
प्रतियोगी' इति सिद्धयेत् । ततोऽभानप्रमाणस्य यथाभ्युपगतस्वरूपसामग्रीनिपयफलाना-  
मच्यवस्थिते वस्तुधर्म एवाभावे प्रत्यक्षाप्रमाणसिद्धश्च भानवदभ्युपगतस्य इति ।

- 10 अत्र सुगतमत्वावलम्बिन ग्राह्ये - न भावस्वरूपव्यतिरिक्त कश्चिदभाव  
न भावस्वरूपयति प्रत्यश्रतोऽनुमानतो वा प्रतीयते । प्रत्यक्षस्य हि स त्रिपये भवति यो  
रिक्त कश्चिदभाव जनकत्वे सति आकारसमर्पक, अभावे च जनकत्वमाकारसमर्प-  
प्रत्यक्षानुमानग्राह्य, कत्वञ्चातिदुर्घटम् । यद् अभावरूप न नेत् कस्यचिज्जनन स्वानार-  
रिक्तोऽस्य पूर्वपक्ष मसर्पकञ्च यथा रघुषपम्, अभावरूपश्चाभावो भवद्विरिष्ट इति ।
- 11 स्वाकारमर्पयतो ज्ञानजनकत्वे चास्य भावरूपतैव स्यात् । यत् स्वाकारमर्पयत् ज्ञान

(१) प्रत्यक्षाद्यनुत्पत्तिरूपतया अभावप्रमाण प्रमाणाभावात्मकम् अथ च अभावपरिच्छेदवत्त्वन  
परिच्छेदवत्त्वमाधारभूत प्रमाणात्मकञ्चेति विरोध । (२) प्रमाणाभावरूपस्वीकरण प्रतिज्ञा परिच्छे-  
दवत्त्वेन प्रमाणरूपनोवणन पन्म । (३) भूतलानी वा । (४) एवमन्वय-अभावो नाम नामव्यव-  
कत्व मूस्य भावविषयमेव प्रत्यभमयाभाव व्यवहारयति । -प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १६६ ।  
एकाननमगिवस्त्वन्तर तत्रात्र चिद्वानपलाधिचिद्वानिता उपधरयत्वाभस्याप्यपानीयवत स  
एवाभाव, तन्तिरिक्तस्य विद्यहृवनाभावस्याभासत् । -प्रमाणवा० मनोरथ० २३३ । तस्मादुपल-  
धिचिदानादाया वस्त्वन्नविषयता उपलधि ज्ञानात्मिकानुपलधि । कथ पुनरुपलधिरेवानुपलधिचरुच्यते  
न्याह विवर्तित्याम् । यथा भव्याभ्यप्रकरण विवर्तिताद् भव्यायत्वाभ्यया ग्राम्यकुक्कुटो  
भस्यापि सन् तस्यस्वाच्यते यथा च स्पानीयाऽस्पानीयाधिकारं विवर्तितानु स्पानीयादयत्वात्स्य  
शनीयाच्चाणालान्तरस्य स्पानीयोपि सन्त्यने तद्दुपलधिरेवानुपलधिभन्तव्या तस्मात्  
प्रतिषेध्याद् घटा स्वविषयविधानजननयोग्याद्योऽय उपलभजननयोग्य एव न तन्परीत स्वभावे  
घटविविक्तप्रकारस्य स एव चात्र अनुपलधिगच्छेताच्यते । -हेतुवि० टी० १६३ A ।  
तस्यायस्य प्रेतस्य केवलस्य यत तत क्वयम् एकावित्वमस्ययथा तन्वापरस्य प्रतियोगिनो घटानेव  
कथमभाव इति । तस्मात्प्रभाव एव भावात् एव त्वन्भिमतस्तन्भाव प्रतियोग्यभावात् न तत्र  
पुथाभूत धर्मन्तरमित्युच्यते सुगनमुत् । -हेतुवि० टी० १७१ B । न ह्यभाव कश्चिद्विग्रहवान्  
य माभात्कस्य अपि तु व्यवहृत्य । -क्षणभङ्गसि० १० ६५ । (५) अभाव कस्यचिज्जनन  
स्वाकारमर्पयत् न भवति अभावरूपवात् । (६) अभावस्य ।

1 स्वहृषेणास्वहृषेणा-थ० । 2 'स्य कस्यचित् नास्ति जा० । 3 अभावज्ञान श्र ।  
4-द्वे घ-आ० । 5-सिद्धभावध-आ० । 6 न तावत्स्व-थ० ।

ज्ञेययति तद् भावस्वभावमेव यथा घटादि, स्वाकारमर्पयन् ज्ञान ननयति च अभाव इति । यत् खलु कुतश्चिदुत्पन्न केनचिद्रूपेण प्रतिभासमान काश्चित्प्रक्रिया करोति तद् भावस्वरूपमुच्यते ।

अत्र, अभावाकारस्य ज्ञानेऽनुप्रवेशे तस्यैवापि असत्त्वप्रसङ्गात् कुत किं प्रतीयताम् ? न च 'इह भूतले घटो नास्ति' इत्येव प्रत्यक्ष तत्सद्भावे प्रमाणमित्यभिधा-  
तव्यम्, ईदृशसंसर्गणोपजायमानस्यैव विकल्परूपतया प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः । विकल्प-  
नाञ्च अर्थे प्रामाण्यानुपपत्तिः अर्थाऽसत्त्वार्थिवात्तेषाम् । तन्न प्रत्यक्षतोऽभावमिद्वि ।  
नाप्यनुमानत, तद्वि माध्यप्रतिबद्धलिङ्गवत्तादुदयमामान्यति । प्रतिबन्धश्च साध्य-  
माधनयोः प्रत्यक्षतः, अनुमानतो वा प्रतीयते ? न तानत् प्रत्यक्षतः, अभावस्य  
उत्प्रकारेण प्रत्यक्षाऽगोचरत्वे ततोऽस्य केनचित् लिङ्गेन सह प्रतिबन्धप्रतिपत्तेरनुपपत्तेः ।  
अनुमानत तत्प्रतीतौ अनपस्था, तत्रापि अनुमानान्तरात् तत्प्रतीतिप्रसङ्गात् । तन्न  
कुतश्चित् प्रतिबन्धसिद्धिः । नचासिद्धप्रतिबन्ध लिङ्ग साध्यमाधनाय प्रभवति  
अतिप्रसङ्गादिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—'न भावस्वरूपव्यतिरिक्तोऽभाव' इत्यादि,

तत्समीक्षिताभिधानम्, भावस्वरूपाऽतिरिक्तस्याऽभावस्य प्रतीतिभेदात्  
स्वरूपभेदात् सामग्रीभेदान् अर्थक्रियाभेदाच्च भेदसिद्धिः । यस्यैव  
यत प्रतीत्यादिभेद तस्य ततो भेद यथा घटात् पटस्य, प्रतीत्यादि-  
भेदश्च भावात्भावस्य इति । न चायमसिद्ध, तथाहि—भावाऽ-  
भावयोस्तावत् प्रतीतिभेद सुप्रसिद्ध एव 'इदमनास्ति, इद नास्ति' इति । नहि  
प्रतीयमानापीत्य भेदेन अभावप्रतीतिरपहोतु युक्ता, भावप्रतीतेरप्यपहवप्रसङ्गात् ।  
ननु निर्विकल्पकसामर्थ्येन 'इदमिहास्ति, नास्ति' इति विकल्पद्वयमुत्पद्यते, न च  
तद्वैशादर्थव्यपस्था, विकल्पानामर्थे प्रामाण्याऽभावात्, इत्यपि श्रद्धामात्रम्, सविकल्प-  
कमिद्वौ निर्विकल्पकस्य प्रामाण्यप्रतिषेधतः सविकल्पकस्यैव अन्तर्बहिर्वा वस्तुव्यव-

(१) अभावो भावस्वरूप एव स्वाकारापक्त्वे सति ज्ञानजनकत्वात् । (२) ज्ञानस्यापि ।

(३) "एकोऽपलम्भानुभवादिद नोपलम्भे इति । बुद्धरूपलभ वनि कल्पिकाया समुदभव ॥"—प्रमाणवा०

४।२७० । (४) प्रत्यक्षस्य—आ० टि० । (५) विकल्पानाम्—आ० टि० । (६) अनुमान हि । (७)

अविनाभाव । (८) प्रत्यक्षात्—आ० टि० । (९) अभावस्य—आ० टि० । (१०) द्वितीयानुमानेऽपि ।

(११) अविनाभावप्रतीति । (१२) घृ० ४७६ प० १० । (१३) अभावा भावस्वरूपातिरिक्त

प्रतीतिस्वरूपसामग्र्यप्रियाभेदात् । (१४) तुलना— इद तावत्सकलप्राणिसाक्षिक मवेदनद्वयमुपजा

यमानं दृष्टम् इह घटोऽस्ति इह नास्तीति ।—न्यायम० घृ० ५८ । (१५) विकल्पवगात्—आ० टि० ।

(१६) अन्तश्चेतनात्मकस्य बहिर्वाचेतनस्वरूपस्य वस्तुन ।

1-स्यात्ताने व० । 2-संसर्गणोप-व० । 3-तीयेत् आ० । 4-प्रतिबन्धलिङ्ग व० ।

५ प्रामाण्यावित्यपि थ० ।



स्थापकत्वेन प्रामाण्योपपत्ते प्रतिपादितं नार्त् । तैस्त्वामर्थेनोत्पत्ताऽभावविकल्पाद्  
अभावाऽसिद्धौ भावमिद्विरपि अतोऽतिदुर्लभा । अथ प्रत्यक्षादव भावसिद्धि, अभाव  
सिद्धौ तैत् किं कार्यैर्भङ्गत्म् ? प्रथमं हि इन्द्रियात्मिमप्रीतं समुत्पन्नं प्रत्यक्षम्  
अनेरेभावाभायोपाधिरचितमुपाधिमानं प्रतिपद्यते, तत् शब्दार्थयो प्रतिपन्नप्रतिपन्न  
प्रतिपत्ता अर्थदर्शनोत्तरकाल यस्य यस्य विचक्षा भवति तत्तद्वाचकं शब्द स्मृत्या 'इदमि-  
हास्ति, इदं नास्ति' इति विकल्पव्यापारं दर्शयति । यदि च तेऽभावविशेषा प्रत्यक्षतो न  
प्रतिपन्ना तत्र प्रतियोगिस्मरणमपि अनुपपन्नमेव स्यात् । नहि अप्रतिपन्ने घटाभावे  
घटस्य प्रतियोगितया स्मृतिर्युक्ता अतिप्रसङ्गात् । अत प्रतिनियतप्रतियोगिस्मरणाऽयथा-  
नुपपत्त्या प्रतिनियतामाप्रतिपत्तिं प्रत्यक्षे प्रतिपत्तव्या इति ।

- 10 न च 'इह भूतले घटो नास्ति' इति विशिष्टाया प्रतीते विशेषणमन्तरेणोपप-  
त्तिर्युक्ता । यथा विशिष्टा प्रतीति नासौ विशेषणमन्तरेण उपपद्यते यथा दण्डीत्यादिप्रतीति,  
विशिष्टा च 'इह भूतले घटो नास्ति' इत्यादिप्रतीतिरिति । अथ भाव अभावप्रतीतेनि-  
वचनम् अत स एवास्या विशेषण मरिष्यति, एवञ्च भवतो न किञ्चिदिष्ट सिद्धयेत्,  
इत्यप्यसाम्प्रतम्, यत् किं निषिद्यमानो घटादिर्माणः ऐस्या निवचनमभ्युपगम्यते,  
1 तैदाश्रयो भूतलादिर्वा ? प्रथमपक्षोऽयुक्त, भावाऽभावप्रतीत्योर्निर्वाधतया प्रतीयमानयो-  
र्वैलक्षण्यस्य विषयवैलक्षण्यव्यतिरेकेण अनुपपत्ते । यैर्निर्वाधतया प्रतीयमानयो  
प्रतीत्योर्वैलक्षण्यं तद् विषयवैलक्षण्यपूर्वकम् यथा रूपादिप्रतीतिवैलक्षण्यम्, वैलक्षण्यञ्च  
निर्वाधतया प्रतीयमानयो भावाऽभावप्रतीत्योरिति । न च तत्प्रतीत्योर्निर्वाधता वैलक-  
ष्येन प्रतीयमानत्वञ्चाऽसिद्धम्, तद्वाधकस्य कश्चिद्व्यभिचारमात्रात्, परस्परं ताऽसङ्कीर्णस्व  
१० भावतयाऽनुभूयमानत्वाच्च । नहि कश्चिन्वालिङ्गो भावमेव अभावतया प्रतिपद्यते, अ-  
था हि भावप्रतीति अथा चाभावप्रतीतिरिति । यैश्च भाव एव अभाव स्यात्, तर्हि  
तैस्सत्ताश्रणे तैदेशो चाऽभावप्रतीति स्यात् । न चैवम्, नहि स्वदेशकालनियता भावसत्तामेव

(१) पृ० ४७ । (२) निर्विकल्पक-आ० टि० । नुन्ना- तत्र विकल्पमात्रसवदनमनाल  
म्बनमा माहात्म्येन वत्यानि यन्मिलयन्त तत्रास्तिनापान एव अस्तित्वज्ञानेर्पि समानमनो द्वयोरपि  
प्रामाण्यं भवतु द्वयोरपि वा मा भूत् । -न्यायसं० पृ० ५८ । (३) भावविकल्पात् । (४) निर्विक-  
ल्पप्रत्यक्षम्-आ० टि० । (५) अनकं भावा अभावाश्च उपाधय विगणानि त खचित शबलित  
चित्रितम् उपाधिमान्त विगण्यभूतमयम् । (६) गृहीतसद्भन । (७) मस्याभाव स प्रतियोगी ।  
(८) 'इह भूत' घटो नास्तीति प्रतीति विषेणग्रहणपूर्विका निगिष्टप्रतीतित्वान् । (९) भाव एव ।  
(१०) अभावप्रतीति-आ० टि० । (११) इह भूतले नास्ति घट इत्यभावप्रतीति । (१२) घटा  
भावाश्रयो । (१३) भावाभावप्रतीत्योर्वैलक्षण्य विषयवैलक्षण्यपूर्वकम् निर्वाधप्रतीतिवैलक्षण्यत्वात् ।  
तुङ्गा- 'नहि विषयवैलक्षण्यमन्तरेण विलपणाया बुद्धरस्त्युत्पन्नं नापि व्यवहारभेदस्य सभव ।'-प्रश०  
१०० पृ० २२९ । (१४) अयोय भिन्नस्वभावतया । (१५) भावसत्ताश्रण (१६) भावन्ने ।

1-प्राञ्चान्नाव-य० । 2-अभावसि-व० । 3-अनकप्रभावा-व० । 4-प्रदश-य० । 5-घटा  
विभावा-व० । 6-विधवा-व० । 7-गोऽभावमेव भावतया आ०, प्र० । 8-यदि भाव व० ।



अङ्गम्, तदा सुपुत्रावस्थायामपि नास्तीतिव्यवहारः स्यात् मन्त्रपहारानुर्थस्य तत्राप्यत्रिंशे  
पाल। ततो निर्वाययोर्भावाऽभावाप्रतीत्योर्बैलक्षण्यसिद्धे सिद्धो भावाऽभावयोर्वास्तवो भेदः ।

स्वरूपभेदाच्च, अभावस्य हि भावप्रतिषेधकत्वस्वरूपनेतैरस्य। स्वरूपभेदेऽपि  
अनयोर्भेदे भेदवार्ताच्छेत्प्रसङ्गः, परस्परतो भेदस्य सर्वत्र घटपटादौ स्वरूपभेदा-  
न्यतोऽप्रसिद्धे ।

नामप्रीभेत्तच्च अनयोर्भेदः, सुप्रसिद्धश्च तद्वत् । तथाहि—घटात्प्रिमानमुत्पा-  
यितुं नाम तदुत्पादनासुकूलमेव मृत्पिण्डादिसामग्रीमुत्पात्त, विनाशयितुं नामस्तु तैद्विलक्षणा  
मुद्रादिसामग्रीमिति ।

ननु मुद्रादिसामग्री परस्पराऽससृष्टकपालोत्पाद एव व्याप्रियते नाऽभावे, न  
च तदुत्पादवत् तदेभायोर्प्यत एव भविष्यतीत्यभिधानव्ययम्, यत सर्वोऽपि कार्यभेद  
कारणभेदेन व्याप्तः । न च अभावात्कपाललक्षणकार्यभेद कारणभेदोऽस्ति, मुद्रलक्ष-  
णस्यैकस्यैव कारणस्य प्रतीतेः । न च तस्यैकस्यैव अन्योऽयिरुद्धकार्यद्वयजनकत्व  
युक्तं विरोधान्, इत्यप्यसमीचीनम्, प्रतीतिविरोधानुपह्नात् । तथाहि—मुद्रात्प्रिन्व्यापा-  
रानन्तरं लौकिकेतरयो 'अनेन विनाशितो घट' इति प्रतीतिः, न पुन 'कपालानि

उत्पाद्यन्ते' । तदुत्पाद्यं वा कृतमत्र भवोपयासन । तस्मादप्रमिते भान्त्यनुपपत्तयुक्तमन्वित्यथ ।  
-विधिवि० ग्यायकणि० पृ० ७३-७४ ।

(१) तुलना- स्वरूपभेदोपपत्तययाहि कारणदुत्पद्यमाना रूपान्य परस्पर स्वरूपभे  
दात् भिद्यन्ते तथाभावोऽपि भावानिति । अस्ति च द्वयान्तरिक्षलक्षणात्क्षितत्व भावपरतत्रण  
गुण्यमाणत्वमभावस्य रूपमिति । -प्रमाणं श्वो० पृ० ४०० । (२) भावस्य । (३) भावाभावयोः ।  
(४) सामग्रीभः । (५) उत्पात्सामग्रीभिर्नामः । (६) तस्मान् स्वरसदो निवृत्त काष्ठात्  
अग्यान्वित्यस्य अङ्गारात्त्रिम इत्येव मन्त्रकम् । -हेतुवि टी पृ० ८३ A । तन्मन्त्रसमुदायात् -  
मुद्रापर्यापारानन्तरं द्वय प्रतीयते घटनिवृत्ति कपालञ्च । तथैव विनाशरूपतया प्रतीयते । तत्र  
घटनिवृत्तौ रूपत्वेनाकायत्वानिति वयति । तत्कायत्वेन तु तत्प्रतीतिर्भ्रान्तिरेव कायत्व वास्या न  
घटनिवृत्तिरूपत्व स्यात् घटसम्बन्धित्वेन कतवत्त्वान् विनाशरूपतया च न प्रतीति स्यात् घटस्य  
मत्त्वान् । निहेतुकं तु विनाश स्वरसतो निवृत्तमान एव घटो मद्गरात्सहकारी कपालजनकत्वेन  
सद्गुण्यमाणपरम्भक्तवान् मुद्रापर्यापारानन्तरं घटनिवृत्त कपालस्य च सदभावात् तयोर्विनाशरूपतया  
विनाशस्य च सद्गुण्यत्वेन मद्मनीनामवमायो युयन एव । प्रयोगस्तु य यद्भावं प्रत्यनपक्षास्ते  
तन्भावनिमता तदभावात्प्रभवत्प्रतिषेधा कारणसामग्री कार्यत्वान्न अयानपक्षश्च कतको भावो  
विनाश इति स्वभावहेतुः । -प्रमाणं श्वो० स्वव० टी० १।१९६-९७ । प्रमाणं श्वो० मनोरथ० ३।२६९-७० ।  
तत्त्वम० पृ० १३२ । (७) घटविनाशापि । (८) मद्गरात्प्रिन्व्यापारत्वे । (९) मुद्रात्प्रिन्व्यापारस्य ।  
(१०) घटविनाश-कपालोत्पात्तमणः । (११) तुलना- तस्मात्कार्यकारणयोर्त्पात्तविनाशो न सहतुवा  
हनको महभावात्मात्त्वन् । मुद्रात्प्रिन्व्यापारानन्तरं कार्योत्पाद्यत्वं कारणविनाशास्यापि प्रतीते विनष्टा  
घट उदात्तानि कपालानि इति यवहारात्प्रयसद्भावान् । -अष्टम० अष्टसह० पृ० २०० ।

१-यस्य च त-३० । २-तत्रानिर्वा-श्व० । ३-भरात्प्रिन्व्या-व० । ४-एतयोर्-व ।

५-भेदात्प्रिन्व्या-व० । ६-यत् तथा तद्भेद व० । ७-प्रतीते व० ।

उत्पन्नितानि' इति । नापि घटविनाशकस्य 'कपालान्युत्पादयामि' इत्यनुसन्धान स्वप्नेऽप्यनुभूयते । न खलु विपादिना शत्रुपक्षे बह्व्यादिना च पटत्वाहे प्रवृत्तस्य शत्रुपटविनाशादहे 'अन्यत् किञ्चित्तत्र उत्पादयामि' इति हन्तु पटविनाशकस्य वा अनुसन्धानमस्ति । नापि पार्श्वस्थानाम् 'अन्यत् किञ्चिदनेनोत्पादितम्' इति प्रतीति, किन्तु 'तद्विनाश एव अनेन कृत' इत्यग्निलवनाना प्रतीति । तद्विनाशे एव चामो परितुष्यति । नहि अत्रयतिष्यत्या तस्य किञ्चित् प्रयोजनम् । ननु भावाना स्वभावतो विनाशस्वभावनियततया विनाशस्य अहेतुकत्वान्न मुद्रादे तद्धेतुत्वम्, इत्यप्येकालम्, तेषा तत्स्वभावनियतत्वस्य अक्षणिकत्वसिद्धौ निराकृतत्वात् ।

यदप्युक्तम्—'कार्यभेद कारणभेदेन व्याप्त' इत्यादि, तदप्युक्तिमात्रम्, एककारणस्य एककार्योत्पादकत्वेन अविनाभावाऽभावात्, प्रतीपादेरेकस्यापि अनेककार्योत्पादकत्वप्रतीते । अत सिद्ध सहेतुतो विनाश । तथा च घटाभावात्पादकसामग्रीतो भावोत्पादकसामग्र्या भेदसिद्धे सिद्धो भावाऽभावयोर्भेद ।

अर्थक्रियाभेदाच्च, सुप्रसिद्धो हि भावाऽभावयो प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणोऽर्थक्रियाभेद, जलाग्न्यर्थिन तत्सद्भावस्य प्रवृत्तिहेतुत्वात्, तदभावस्य च निवृत्तिहेतुत्वात् । प्रमोदाद्यर्थक्रियाकारित्वाच्च अनयोर्भेद, तथा हि शत्रुविनाश कृत श्रुतो वा पर प्रमोदमाधत्ते, तत्त्वज्ञानस्तु विपादम् । न ह्यत्र भावाभावाभ्यामन्यस्य प्रमोद-विपादहेतुत्व प्रतीयते ।

यदप्युक्तम्—'अभावोऽपि यदि कुतश्चिदुत्पद्येत किञ्चिदर्थक्रिया कुर्यात् तदा भाव एव स स्यात्' इत्यादि, तदप्युक्तमात्रम्, यतो भावप्रतीतिरिष्यत्व भावत्वम्, न पुन अर्थक्रियाकारित्वादि । अभावो हि स्वकारणकलापाद् भावविलक्षणतयोत्पन्न अर्थक्रियाश्च कुर्याण पदार्थतया प्रतीयते न पुनर्भावतया ।

यच्चान्यदुक्तम्—'यदि अभाव एवाकार ज्ञाने समर्पयेत् तदा ज्ञानस्याप्यभावरूपता स्यात्' इत्यादि, तदप्युक्तमात्रम्, अर्थकारतया ज्ञानस्य अर्थप्रकाशकत्वप्रतिज्ञेपात् । निराकारमेव हि ज्ञान योग्यतया योग्यदेशस्य योग्यध्वार्य प्रकाशयति इत्युक्त प्रत्यक्षरूपणप्रस्तावे ।

- (१) पुरुषस्य । (२) प्रणवजनानाम् । (३) विपदायिना, पटविनाशकेन वा पुरुषेण । (४) विनाशस्वभावनियतत्वस्य । (५) प्र० ३८६ । (६) प्र० ४८० प० १० । (७) बन्धकामुत्पादकत्वशोष-कज्जलोत्पादन-अधिकारविनाशादि । (८) मुद्गराद्यभिधातादिरूपाया । (९) घटोत्पान्कमूर्तिपण्यरूपाया । (१०) तुलना—'सुखं स्वसुखमित्तिरभाव शत्रुमित्रयो । कष्टकाभावमालस्य पद पथि नियोजन ॥ पश्यन्नभाव को नाम निह्नुवीन मन्वेन । न्यायमं प्र० ५९ । (११) प्र० ४७७ प० २ । (१२) तुलना—'सत्प्रत्ययगम्यो हि भाव इत्यत असत्प्रत्ययगम्यस्वभाव इति ।' न्यायमं प्र० ५९ । (१३) प्र० ४७७ प० ४ । (१४) स्वावरणभयोपशमलक्षणया । (१५) प्र० १७१ ।

१ प्रवृत्त ७-आ० । २-न ४० । ३ घटादिभावो-४० । ४ कृत पर व० । ५-दुष्पक्षे वा० । ६ भाव ४० । ७-या प्रवेगस्य व० ।

न चाऽवस्तुत्वान्मानस्य वि प्रसाधनप्रयासेनेत्यभिधातयम्, प्रमाणत प्रतीय-  
मानत्वादिसाधनात् तस्य वस्तुत्वप्रसिद्धे । तथाहि—अभावो वस्तु, प्रमाणत प्रतीयमानत्वान्,  
यत् प्रमाणत प्रतीयमान तद् वस्तु यथा मान, प्रमाणत प्रतीयमानश्चाऽभाव इति ।  
तथा, यत् कारणादुत्पद्यते तद्वस्तु यथा घटादि, कारणादुत्पद्यते चाऽभाव इति । तथा,  
यदर्थत्रियाकारि तद्वस्तु तथा प्रदीप, अर्थत्रियाकारि चाऽभाव इति । तथा, यद् अया-  
न्तरभेदेन मिद्यते तद्वस्तु यथा रूपरसादि, प्रौढमानान्तरभेदेन मिद्यते चाऽभाव  
इति । तत सिद्धो भाववद् अभावो वास्तवो वस्तुधर्म प्रमेय इति । प्रमाण तु तत्प-  
रिच्छेदम् अभावात् प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्न वास्तव न प्रसिद्धम्, प्रत्यक्षादितोऽपि तत्परि-  
च्छेदसिद्धे । यत् प्रमाणांतरादपि परिच्छिद्यते न तत्र प्रमाणनियम यथा वह्न्यादौ,  
प्रमाणान्तरादपि परिच्छिद्यते चाऽभाव इति । यत् पुन यत्प्रकारप्रमाणान्तरात् परि-  
च्छिद्यते तत्र तत्प्रकारप्रमाणनियमो यथा रूपरसादाविति ।

तत सूक्तम्—‘अदृश्यस्यापि परिचित्तविशेषस्य अभावः तदाकार-  
विकारादेरन्यथानुपपत्तितः’ इति । सचत्र हि गमकत्व अवयवानुपपत्तिप्रसा-  
दादेव, सा च अदृश्यानुपलब्धायव्यस्ति इति कथ नास्या गमकत्वम् ?

‘अदृश्य’ इत्यादिना व्यतिरेकमुत्तेन कारिका व्याचष्टे—अदृश्यानुपलब्धे  
सकाशात् सशयैकान्ते अग्नीत्रियमाणे न केवल परिचिताभावो न  
सिद्ध्यति सौगतस्य अपि तु स्वचित्तभावात् न सिद्ध्यति । कुत एतद् ?  
इत्याह—‘तद्’ इत्यादि । तस्य स्वचित्तस्य यद् अनशु तत्र संचातीयविनातीय-  
व्यावृत्त मध्यक्षणस्वरूप तस्य अदृश्यात्मकत्वात् । तत किं जातम् ? इत्याह ‘तथा च’  
इत्यादि । तथा च तेन च स्वचित्तमात्राऽसिद्धिप्रकारेण कुत न ह्यवधित् परमार्थसंतो  
मानाद् भावस्य क्षणमङ्गसिद्धि धर्महेतुत्वात्तादेरसिद्धे । न खलु यहिरन्तर्या अन-  
शतत्वस्य अदृश्यात्मतर्थाऽसिद्धौ धर्म्यादे सिद्धिर्युक्ता, तदसिद्धौ च कुत भणमद्वादे

(१) अभावस्य । (२) स च त्रिविध प्रागभाव प्रध्वंसाभाववचनित । चतुर्विध इत्ये हेतवे  
तराभाव, अत्यन्ताभाववच तो च द्वौ । पञ्चप्रकार इत्यन्य —अपेक्षाभाव सामर्थ्याभाववच ते च  
चत्वार इति । —न्यायमं० पृ० ६३ । ‘अभावस्तु द्विधा ससर्गायोयाभाववन्त । प्रागभावस्तथा  
ध्वगोऽप्यत्यन्ताभाव एव च ॥ एव त्रिविध्यमापन्न ससर्गाभाव इत्यते । —भूषता० का० १२ १३ ।  
(३) अभावपरिच्छेदक पृथगभावात्स्य प्रमाण नास्ति प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरात्पि तस्य परिच्छिद्यमान  
त्वान् । (४) रसो यथा रूपप्रादिहाणुपप्रत्यक्षान् परिच्छिद्यते अन तन्ग्रहणाय रसनप्रत्यक्षस्य  
नियमो भवति नचवमभाव प्रत्यक्षादिभि परिच्छिद्यमान प्रमाणान्तरत्वनियम । (५) स्वचित्त  
सद्भाव । (६) अदृश्यात्मकत्वान्सिद्धौ सचाम् ।

1 प्रतीयमान—व । 2 प्रदीपादि अध—व० । 3—नियमोपि यथा व० । 4 तत्तत्प्रका—आ० ।  
5 तत्प्रमाणनि—आ० । 6—सत्प्रादस्तोति आ० । 7 ‘तदित्यादि’ नास्ति आ०, व० । 8 सजातीयव्या—व० ।  
9 तेन स्वचि—आ० । 10—सतो भावस्य अनुमानात् क्ष—थ० ।

निदि स्यात् ? कस्य तर्हि क्षणमङ्गसिद्धि स्यात् ? इत्याह—‘तद्’ इत्यादि । तस्माद् अनक्षतत्वाद् निपरीतं साश तच्च तस्य । कथम्भूतस्य ? अंभेदलक्षणस्य युगपत् क्रमेण वा अनेकस्वभावात्मकस्य स्याद् भवेत् क्षणमङ्गसिद्धिः नान्यस्य इति एवकारार्थं ।

ननु चाभेदलक्षणतत्त्वस्य सविकल्पप्रत्यक्षेण सजात्मना प्रतिपन्नत्वात् किं तत्र क्षणमङ्गाद्यनुमानेन ? इत्याह—

वीक्ष्याणुपारिमाण्डल्यक्षणमङ्गाद्यवीक्षणम् ।

स्वसंचिद्विषयाकारविवेकानुपलम्भवत् ॥ १६ ॥

विश्रुतिः—स्थूलस्यैकस्यै दृश्यात्मन एव पूर्वापरकोट्योरनुपलम्भात् अमानसिद्धेरनित्यत्व बुद्धेरिव वेद्यवेदकाकारभेदस्य परमार्थमत्त्वम्, न पुनः परिमण्डलादेः निजानानंशतत्त्वत् । नापि क्षणिकपरिमण्डलादेः अविभागज्ञानतत्त्वस्य वा जातुचित् स्वयमुपलब्धिः तथैवाप्रतिभासनात् । तत्कथञ्चित् तत्स्वभावप्रतिभासे अनेकान्तसिद्धिः ।

वीक्ष्यम्, उपलब्धिलक्षणप्राप्त स्थूलमेव ब्रह्मम्, तस्य ये अणवः अतिसूक्ष्मा

कारिका—

भागा तेषां पारिमाण्डल्यनुपलम्बेन यच्च क्षणमङ्गादि आदिशब्देन कार्यकारणसामर्थ्याद्विपरिमह तस्याऽवीक्षणम् अग्रहणम् । अत्र दृष्टान्तमाह—

‘स्व’ इत्यादि । स्वसंचिदो नौद्वैकल्पितनिरशुद्धेर्यं विषयाकारस्य स्थूराकारस्य विवेकः निवृत्ति तस्य अनुपलम्भवत् । नहि तस्यां प्रतिभासमानाया

(१) अनवगम्येषु अनुगतवास्तव्या व्यापित अभेदलक्षणस्य द्रव्यस्येति भावत्, अथवा अनेकावयवेषु कथञ्चित्तादात्म्यतया व्यापित अभेदलक्षणस्य स्वधम्यति । (२) “वीक्ष्यमुपलम्बि लक्षणप्राप्तं स्पृष्टं तस्याणव मूढमा भागा अवयवास्तेषां पारिमाण्डल्यं वस्तुत्वम् अत्रोन्मदिविवेकं क्षणे क्षणमङ्ग क्षणमङ्ग सम्यं प्रति नाग इत्यथ । स आदित्यस्य कायकारणगामप्यन्तिसौ तपोना, वीक्ष्याणुपारिमाण्डल्यं च क्षणभंगान्दिव तत्तपोनाम् तस्याऽवीक्षणं प्रत्यक्षेणापुपलम्भोक्तम् । न सत्तु माभ्यन्तरेणप्रत्यक्षेण क्षणमङ्गादिर्विद्यते तेन स्थूलमाधारणाकारस्यैव वीक्षणान्, योगि-प्रत्यक्षस्यैव तद्गीर्णसामर्थ्यात् इत्यथ, सत्सत्प्रमेयत्वात्परिग्रह्याकारित्वादिवाचित्तेन कथञ्चित्दनेवा नित्यादिधमव्याप्यत्वात्तदभिनभावप्रसिद्धं । प्रकृतार्थं दृष्टान्तमाह—स्वमवित्त्वात् । स्वयवित् स्वयवित् तस्या विषयाकारा घटाकारास्त्रस्माद्विवेका व्यापुत्तिसत्त्वानुपलम्भं प्रत्यक्षेणाग्रहणं तद्गु । यथा ज्ञानस्य स्वरूपप्रतिभासने बहिरर्थाकारनिवृत्तिविद्यमानेनापि न प्रतिभासते शीघ्रतया तस्य तादृक् सामर्थ्याभावात् तथा बहिरन्तरेणापुपारिमाण्डल्यं प्रत्यक्षेण न प्रतिभासते तथाकथंभावात् । तत्रात्रुमानानेकान्तमेव मन्त्रमित्यर्थं ।—सधी० ता० पृ० ३६ । (३) घटपटादि । (४) “नियं परमाणुमनु मत्तु पारिमाण्डल्यं पारिमाण्डल्यमिति तस्य ज्ञानं, तथाहि—परिमण्डलानि परमाणुमनासि तया भाव पारिमाण्डल्यं मन्त्रिमण्डलम् ।—प्र० ० भा०, पृ० ५३३ । ‘पारिमाण्डल्यमिति तया भाव पारिमाण्डल्यं मन्त्रिमण्डलम् ।—प्र० ० भा० ५३३ । ‘पारिमाण्डल्यं परमाणुपरिमाणुम्—तत्पृ० टी० पृ० ४९ । मुक्ता० का० १५ । (५) त्र्यांशानां—सा० टी० । (६) मन्त्रि—सा० टी० ।

१-नपात्रु-३० वि० । २-परमाणु-३० । ३-उपरि-५० ।

त्रिपयाकारविवेक प्रतिभामते स्थूलाद्याकारध्वान्तेरभावप्रमज्ञात् । यत्र यदा वास्तवो यदान्तर प्रतीयते न तत्र तदा तद्विपरीतान्तरस्य प्रतीतिरस्ति यथा नीले प्रतीयमाने न पीतस्य, प्रतीयते च विपयान्तरविवेक सौगतनल्पिताया मरिदि इति ।

- कारिकायं विवृण्वन्नाह—‘स्थूलस्य’ इत्यादि । स्थूलस्य महत् एकस्य प्रमा-  
 ६ प्रमानेकविनर्त्तायापिने प्रतिपादितप्रकारेण दृश्यात्मन एव उपलभ्य-  
 विवृति याह्वानम्—  
 स्वरभासरस्यैव अनित्यत्व सिद्ध्यति ‘ना-यस्यै’ इति सम्बन्ध । धृत  
 णत्व ? अनुपलम्भात् हेतो तस्यैव पूर्वापरान्तरकोट्यो, अभावसिद्धे । तथा च  
 यदुक्त परेण—“यद् यत्र उपलभ्यलक्षणप्राप्त सन्नोपलभ्यत तत् तत्र नास्ति यथा क्वचित्  
 प्रदशविरापे घट, नोपलभ्यत च उपलब्धिलक्षणप्राप्तो मध्यक्षण पूर्वापरकोट्यो” [ ]  
 १० इति, तदयुक्तम्, यत् क्वञ्चित् तर्दभावसाधने सिद्धसाधनम् । सर्वथा तत्साधने  
 पक्षस्य प्रत्यक्षसाधन हेतोदचाऽसिद्धि, तथा तत्र तर्दनुपलम्भाऽसिद्धेरिति । ननु चास्तु  
 स्थूलादिस्वरभासरस्यैव अनित्यत्वं न तु परमार्थसत्त्वम् मरीचिकात्वादिबद्धसत्त्वात्,  
 इत्याहङ्ग्याह—‘घुद्धे’ इत्यादि । यद्योत्स्यैवार्थस्य परमार्थसत्त्व घुद्धेर्वेद्यवेदकाकार-  
 प्रमेदस्य इत् । प्रयोग—यद् अनेस्वभाव तदेव परमार्थसत्त्वं यथा वेद्यवेदकाद्यनेस्व-  
 १० भावा सचित्, अनेकस्यभावश्च अ-तर्दहिर्वा जेनाभ्युपगत वस्तु इति । तथापि मरी  
 चिकालोयनिदर्शनेन अस्याऽसत्त्वे घुद्धेर्व्यतोऽसत्त्वप्रसङ्ग विशेषाभावात् । ननु नाऽने-  
 कस्वरभासरस्यैव अनित्यत्व परमार्थसत्त्व चा अपि तु परमाण्वादे, इत्यत्राह—‘नपुन.’  
 इत्यादि । न पुन’ नैव परिमण्डलसम्प्र-धात् परिमण्डल परमाणु आदिर्धस्य  
 १० यौगनल्पिताऽन्यवर्थादि म तथोक्त तस्याऽनित्यत्व परमार्थसत्त्वश्च । निदर्शनमाह—

(१) ग्राह्याकाररहितत्वम् । (२) यदि हि सविधि ग्राह्याकारात् प्रतिभासेत् तदेव तस्या प्रतिभासमानस्य स्थूलाद्याकारस्य भ्रान्तत्व शक्यत कल्पयितुम् यत्र च सविति ग्राह्याद्याकारपुत्र वास्ति तदा कथं तत्र भ्रान्तत्वनापि स्थूलाद्याकार प्रतिभासेन ? (३) सविदि न भ्रान्ततयाऽपि स्थूलाद्याकारप्रतिभास, वास्तवस्य ग्राह्याद्याकाररहितत्वस्य तत्र प्रतिभासमानत्वात् । (४) स्व-धस्य । (५) निरावरमाणुरूपस्वलक्षणस्य । (६) सौगतेन । (७) पूर्वापरक्षणयो—आ० टि० । (८) मध्यक्षणाभाव—आ० टि० । (९) सवया । (१०) पूर्वापरक्षणयो । (११) मध्यगण । (१२) बोधमत—आ० टि० । (१३) स्थूलात्स्वभाव एवाथ परमायसन् अनेस्वभावत्वात् । (१४) ‘यद्योक्तम् आयरतनाकल्याम—मरीचिकामित्यलन्ति मत्वा गतोऽत्र सन् । यदि नास्तौति ततोय गृह्णीयान मू एव स ॥ मारीचिप्रतिम लान्केवमस्तौति गृह्णन् । नास्तौति चापि मोहोऽय सति मोहे न मुच्यते ॥ अनान कल्पित पुरं पश्चात्तत्त्वाधनिणय । यत्र न लमत भावमेवाभावत्वात् कुह ॥ इति । तदेव निस्वभावाना स्वभावाना मुक्तो यथोक्तप्रकारसिद्धि । तस्मालौकिक विपर्यासपभ्युदेत्य सावताना पदार्थाना मरीचिका जलकल्पानामिन् प्रत्ययतामात्राभ्युपगमेनैव प्रसिद्धिर्नायन ।—माध्यमिकवृ० प० १८८ । (१५) स्थूला द्यनेस्वभावस्य वस्तुन । (१६) मरीचिकालोपदृष्टान्तात् । (१७) परिमण्डल वतुलाकार ।

१—ति विद-व० । २ पूर्वापरकोट्योर-अ०, व० । ३ तदुपलम्भासिद्धिरिति व० । ४ नाव-व० । ५—श्यादि व० । ६—स्वं निद-व० ।

‘विज्ञान’ इत्यादि । विज्ञानस्य यद् अनंश तस्य स्वरूप तस्य इव तद्वदिति । ननु वहिरन्तश्च अनशस्यैव तत्त्वस्य उपलम्भ अतस्तस्यैव परमार्थसत्त्वम्, अनुपलम्भान्च पूर्वापरकोट्योरसत्त्व सिद्धयति इति यौग-सौगताः, तत्राह—‘नापि’ इत्यादि । नापि नैव क्षणिकाः परिमण्डलाः परमाणव आदयो यस्य अवयव्यादे स तथोक्त तस्य अपिभागविज्ञानतत्त्वस्य वा जातुचित् कदाचिदपि स्वयम् आत्मना उपलब्धि । कुत एतदित्यत्राह—‘तथैव’ इत्यादि । तथैव परपरिकल्पितप्रकारेणैव अप्रतिभासनात् । अथ वहिरन्तस्तत्त्वस्य क्षणिकाऽनशादिस्वभावात्तया अप्रतिभासनेऽपि सच्चैतनादिरूपतया प्रतिभासनादयमदोष, अत्राह—‘तत्कथञ्चिद्’ इत्यादि । तस्य वहिरन्तस्तत्त्वस्य कथञ्चिद् न सर्वात्मना तत्स्वभावात्प्रतिभासे सच्चैतनादिस्वरूपप्रतिभासने अङ्गीक्रियमाणे अनेकान्तसिद्धिः एकस्य दृश्येतरस्यभावसिद्धे ।

एव परस्य अनुपलब्धि निराकृत्य अधुना स्वभावादिहेतु निराकुर्वन्नाह—

अनंशं वहिरन्तश्चाप्रत्यक्षं तदभासनात् ।

कस्तत्स्वभावो हेतु स्यात् किं तत्कार्यं यतोऽनुमा ॥ १७ ॥

विवृतिः—साक्षात् स्वभावमप्रदर्शयतो निरशतत्त्वस्यानुमितौ स्वभावहेतोरसंभवः स्वभावविप्रकर्षात् । तत् एव कार्यहेतोः; कार्यकारणयोः सर्वत्रानुपलब्धेः । न चात्र प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः प्रभवः कार्यव्यतिरेकोपलक्षिता वा कारणशक्तिः । तदङ्गीकरण प्रमाणान्तरमन्तरेणानुपपन्नम् । स्वयमुपलब्धस्य प्रागूर्ध्वानुपलब्धेः कृतकत्वादन्वित्यत्वं सिद्धयेत् नान्यथा ।

यौगसौगतकल्पित यद् अनंशं तत्त्वम्, क ? वहिरन्तश्च । तत्किम् ?

अप्रत्यक्षं प्रत्यक्षमाह न भवति । कुत एतद् ? इत्यत्राह—तदप्र-

तिभासनात् तस्य अनशतत्त्वस्य अप्रतीते । तत् किं जातम् ?

इत्यत्राह—‘कस्तद्’ इत्यादि । कः, न कश्चित् तस्य अनशस्य स्वभावो हेतुः

(१) योगाना मते अन्त अनशस्य निरवयवस्य व्यापिन आत्मन उपलम्भ, वहिश्च निरशा-

वयविन । सौगतामते च स्वलक्षणस्य पूर्वापरक्षणयोरनुपलम्भात् अभाव, मध्यमक्षण एव च स्थायिता ।

(२) ‘यत् सौगते परिकल्पित वहिरन्ततन्म अतश्चेतनम्, निरशम अगा द्रव्यक्षत्रकालभाव

विभागा तेष्यो निष्पान्त निरशं तदप्रत्यक्ष प्रत्यक्षाविषय । कुत ? तदभासनात् तस्य निरशतत्त्वस्या

भासनादननुभवात् । १ खलु द्रव्यादिविभागरहित चिदचिदात्तत्वं प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासते तत्र नित्या-

नित्याद्यनेवासव्यापित्वेन वस्तुन प्रतीते । ततस्तस्य निरशस्य प्रत्यक्षतोऽसिद्धस्य स्वभावो घम वो

हेतुर्लङ्घ्य स्यात्, न कोऽपि इत्यथ । प्रमाणतोऽसिद्धस्याहेतुत्वात् । तस्य वायञ्च किन्तु हेतु स्यात्,

सर्वथा निरशस्यापरिणामिन कायवरणायोगात् मतोऽनुमा भवेदित्याक्षेपवचन न कुतोऽपीत्यथ । तन्न

सौगतामतेऽनुमान प्रामाण्यमास्वन्दत्यनुपपत्त । ‘-रुधी० ता० पृ० ३७ । (३) ‘प्रत्यक्षानुपलम्भसाधन

कार्यकारणभाव ।’-हनुबि० टी० पृ० ७३ । ‘भाव भाविनि तदभाव भाव एव च भाविता । प्रसिद्धे

हनुपलने प्रत्यक्षानुपलम्भत ॥’ (सम्बन्धप०)-प्रमेयक० पृ० ५१० । स्था० २० पृ० ८१८ ।



स्यात् । किं न किञ्चित् तस्य अनशस्य कार्यं हेतु । कार्यग्रहणमुपलक्षणम्, तेन साध्याद् विभ्राना सयोगिसमवाद्यादीना निरास सिद्धो भवति, अतो न परमते किञ्चित् लिङ्ग घटते यतोऽनुर्मा स्यात् ।

कारिका निवृण्वन्नाह—‘साक्षात्’ इत्यादि । साक्षात् स्वभाव स्वरूपम् अप्रद-  
 ६ श्यते भावस्य यत् निरश तत्र स्वरूप तस्य अनुमितौ त्रियमा-  
 विवृति-कारणानम्—  
 णाया स्वभावहतोरसम्भव । कुत इत्याह—‘स्वभाव’ इत्यादि ।  
 स्वभावस्य स्वरूपस्य विप्ररूपाद् अदृश्यत्वात् । तत एव तद्विप्ररूपेणैव कार्यहेतोर-  
 प्रतिपत्ति । कुत एतत् ? इत्याह—‘कार्य’ इत्यादि । कार्यकारणयो सर्त्रेण बहिरतर्वा  
 अनुपलब्धे अदर्शनात् । किञ्च, सिद्धे कार्यकारणभावे कार्यहेतो प्रतिपत्तिर्युक्ता, न चात्र  
 १० सोऽस्ति इत्याह—‘नच’ इत्यादि । नच नैव अत्र यौग सौगतत्प्लिते ष्काते प्रत्य-  
 क्षानुपलम्भौ साधन यस्य स तथोक्त । क ? प्रभवः, कार्यकारणभावात् ‘प्रभवति’  
 ‘प्रभवति अस्मात्’ इति च व्युत्पत्ते । यथा च तत्कल्पितैसाते प्रभवो न घटते तथा  
 विषयपरिच्छदे प्रपञ्चितम् । ननु न सर्वत्र प्रत्यक्षानुपलम्भसाधन प्रभव, किन्तु क्वचित्  
 इन्द्रियशक्तिन्तु कार्यव्यतिरेकसाधनोऽपि, सोऽत्र स्यात्, इत्याशङ्क्य आह—‘कार्य’  
 १५ इत्यादि । कार्यस्य व्यतिरेक’ विवक्षितकारणव्यतिरिक्तकारणसारस्येऽपि अनुत्पाद  
 तेन उपलक्षिता वा । पश्चात्तरसूचको वाशब्द । कारणशक्ति ‘न चात्र’ इति सम्बन्ध ।  
 निरशयो कार्यकारणयो मूलतोऽप्यदर्शने कारणव्यतिरेकत कार्यव्यतिरेकाऽसिद्धि  
 इत्यभिप्राय । नच प्रमाणान्तरमन्तरेण कारणशक्त्यङ्गीकरण युक्तम् इत्याह—‘तदङ्गीकर-  
 णम्’ इत्यादि । तस्या कारणशक्ते अङ्गीकरणम् कार्यव्यतिरेकत सद्भावस्वीकरण  
 २० प्रमाणान्तरमन्तरेण उद्धारयप्रमाण विना अनुपपन्नम् । प्रसिद्धे हि कार्यकारणभावे  
 कार्यव्यतिरेकत कारणशक्तिपरिकल्पना स्यात् । नच प्रत्यक्षानुमानयो कार्यकारणभा  
 वात्सिम्बन्धप्रतिपत्तौ सामर्थ्यमित्युक्तम्—‘अविकल्पधिया लिङ्ग न किञ्चित्  
 सम्प्रतीयते’ [ लघी० का ११ ] इत्यत्र । कुत पुनस्तदङ्गीकरण तर्दन्तरेणाऽनुपपन्नम् ?  
 इत्याह—‘स्वयम्’ इत्यादि । स्वयम् आत्मना उपलब्धस्य मध्यदशाया दृष्टस्य प्राग्-  
 २५ र्घञ्च या तस्यैव अनुपलब्धि स्वयमेव अदर्शन तस्या यत् सिद्ध कृतकत्व कार्यत्वं  
 तस्माद् अनित्यत्व शब्दादे सिद्धयेत् नान्यथा न प्रमारातरेण । नच प्रत्यक्षमनुमान

(१) अनुमानम् । (२) प्रभवति यत्कायमिति कायव्युत्पत्ति प्रभवति काय यस्मात् कारणात्  
 इति कारणव्युत्पत्ति—आ० टि० । (३) प० २२०, प० ३८४ । (४) कारणशक्तिरस्ति कायोत्प  
 त्ययथानुपपत्ति । (५) कारणशक्तिस्वीकार । (६) उद्धारयप्रमाण तरण ।

१ कायहेतु श्र० । २—नुमानं स्यात् आ० श्र० । ३ स्वरूप वण्य—व० । ४ एतद्व्याह—व०  
 एतद्व्यवहार श्र० । ५ प्रभवति अस्मात् इति व्यु—व० श्र० । ६ प्रपञ्चित व० । ७—सितो  
 वा व० । ८—श्च तथा व० ।

वा तथा प्रत्येतु समर्थमित्यूहस्यैव अत्र व्यापार इति मन्यते । कृतकत्वानित्यत्र-  
प्रहणमुपलक्षण सकलहेतुमाध्यानाम् ।

तनु सर्वोऽय कार्यकारणभावोऽनुमानानुमेयभावो वा कल्पनाशिल्पिकल्पितो न पार-  
मार्थिक तत्कथ प्रमाणान्तरप्रमक्ति ? इत्यप्यनुपपन्नम्, यतो विकल्पबुद्धौ सिद्ध्या तत्कल्पि-  
तोऽपिलोऽय व्यवहार स्यात् । न च तैस्सिद्धि रत परतो वा घटते इत्यावेदयति-

धीर्विकल्पाऽविकल्पात्मा बहिरन्तश्च किं पुनः ।

निश्चयात्मा स्वतः सिद्धयेत् परतोऽप्यनवस्थितेः ॥१८॥

वितृतिः-सर्वविज्ञानाना स्वसवेदन प्रत्यक्षमविकल्प यदि, निश्चयस्यापि  
कस्यचित् स्वत एव अनिश्चयात्, निश्चयान्तरपरिकल्पनायामनवस्थानात्  
कृतस्तत्सव्यवहारसिद्धिः ? ततः स्वार्थेऽपि कथञ्चिदभिलाषससर्गयोग्यायोग्य-  
विनिर्भासैकज्ञान प्रतिपत्तव्य स्वरूपवत् ।

धीः बुद्धि, कथम्भूता ? निश्चयात्मा विकल्पबुद्धि इत्यर्थे । पुनरपि कथ-

म्भूता ? इत्याह-‘विकल्प’ इत्यादि । विकल्पो व्यवसाय,  
परिकल्प - अविकल्पो निर्विकल्पकः, तौ आत्मानौ यस्या सा तथोक्ता  
क ? बहिरन्तश्च, बहिर्विकल्पात्मा अन्तश्च अविकल्पात्मा इति । सा किम् ? इत्याह-

(१) 'तथा चानुमानानुमेयव्यवहारोऽय सर्वो हि बुद्धिपरिकल्पितो बुद्धघाह्वन धर्मधर्मभेदेन  
त्युक्तम् ।-आचार्यिन्मानेनाप्येतदुक्तमित्याह तथा चेत्यादि । सव एवेति यत्रापि साध्यसाधनयोरग्निधू-  
मयोर्वास्तवो भेद तत्रापि स्वलक्षणन 'यवहारायोगत् । अनुभूयतेऽनेनेत्यनुमान लिङ्गम अनुमेय साध्य  
धर्मो साध्यधमश्च तेषा व्यवहारो नानात्वप्रतिरूप बुद्धघाह्वन धमधमिणोर्भेदरतेन बुद्धिप्रतिभासगतेन  
भिन्नेन रूपेण भेदयवहार इति यावत् ।'-प्रमाणवा० श्वघ० टी० १।४ । (२) विकल्पसिद्धि । (३)  
'किं पुन सिद्धयेत् ? न सिद्धयदित्यथ । सा ? धी बुद्धि । किं विशिष्टा ? निश्चयात्मा अनुमानबुद्धि-  
रित्यथ । पुनरपि कथम्भूता ? विकल्पाविकल्पात्मा, विकल्पा व्यवसाय अविकलोऽयवसाय तावा  
त्मावी यस्या सा तथोक्ता । क्व ? बहिरन्तश्च, अत्र यथासत्यमभिसम्बन्ध क्तव्य, बहिष्ठादिविषय  
विकल्पात्मा अत स्वरूपे निर्विकल्पात्मा चेति । कुतो न सिद्धयत् ? स्वत स्वसवेदनात्, तस्य निर्वि-  
कल्पकत्वेन विकल्पाविषयत्वात् । सवचित्तचतानामात्मसवेदन स्वसवेदनमिति वचनात् । न केवल स्वत  
अपि तु परतोऽपि । किं पुन सिद्धयति ? परस्माद्विकल्पान्तरादपि न सिद्धयतीत्यथ । कुत ? अनव-  
स्थिते । तदपि विकल्पान्तरत, स्वतो न सिद्धयति अगोचरत्वात् तत्रापि तत्सिद्धयर्थे विकल्पान्त-  
कल्पनीयमिति क्वचिदप्यनुपरमात् । ततो नुमानस्यासिद्धे कथ धीविकल्पित प्रमाणसव्यानियमो घट-  
इति भाव ।'-लघी० ता० प० ३८ । (४) 'सवचित्तचतानामात्मसवदनम् । चित्तमथमात्रग्राहि, चत-  
विपावस्थाप्रादृष्टि सुवादय । सर्वे च ते चित्तवत्ताश्च सवचित्तचता । सुखात्प्य एव स्पृष्टानुभवत्वात्  
स्वसविन्ता नाया चित्तावस्थेत्पेतदाशङ्कानिवृत्त्यथ सवप्रहण कृतम् । नास्ति सा काचिच्चित्तावस्थ  
यस्यामात्मन सवेदन न प्रत्यक्ष स्यात् । येन हि रूपणात्मा वेद्यते तद्रूपमात्मसवन्न प्रत्यक्षम् ।'-न्यायवि-  
टी० पृ० १९ । (५) तुलना-"स्वत एव विकल्पसविदा निणये स्वलक्षणविषयोऽपि विकल्प स्यात्  
परन्त्वेदनवस्थानादप्रतिपत्ति ।"-अष्टा०, अष्टसह० पृ० १७० ।

किं पुनः सिद्धयेत् ? नैव सिद्धयेत् । कुत ? स्वतः स्वसवेदनात् निर्विकल्पकात् ।  
 येत् निर्विकल्पकेन गृह्यते न तत्सिद्धयति यथा क्षेत्रक्षयस्वर्गप्रापणसामर्थ्यादि, निर्विकल्पकेन  
 गृह्यते च विकल्पस्वरूपमिति । तर्हि विकल्पातरात् तत् सेत्स्यति, इत्याह—'परतः'  
 इत्यादि । न केवलं स्वतः अपि तु परतः विकल्पातरादपि किं पुनः सिद्धयेत् इति  
 6 'नो सिद्धयेत्' इति सम्बन्धः । कुत एतत् ? इत्याह—अनवस्थिते अनवस्थानात्  
 विकल्पातरस्यापि तदतरात् सिद्धिप्रसङ्गात् ।

कारिका विवृण्वन्नाह—'सर्वं' इत्यादि । सर्वमिदानीनां विकल्पेतरज्ञानानां  
 स्वसवेदनम् आत्मग्रहणं प्रत्यक्षम् अविक्ल्पकं निर्विकल्पकं यदि  
 विवृण्वन्नाह—  
 चेतु इत्येते । अत्र दूषणम् 'निश्चय' इत्यादि । निश्चयस्यापि न  
 10 केवलम् अनिश्चयस्य कस्यचिद् अनुमानानुमेयन्यवहारहेतोः स्वत एव स्वसवेदनादेव  
 'अनिश्चयात्' निश्चयमाप्नुत । अथ अयतो निश्चयः स्यादत्राह—'निश्चय'  
 इत्यादि । प्रकृतान्निश्चयाद् अयो निश्चयः तदन्तरम् तस्य कल्पनायाम् अर्जनस्यानात् ।  
 कुत, न कुतश्चित्, तस्मात् सव्यग्रहारस्य कार्यकारणभावादिलक्षणस्य सिद्धिः ।  
 तस्यैव असिद्धे इत्यभिप्रायः । अस्तु तर्हि धी निश्चयात्मा वहिरियं अन्तरपि  
 15 इत्याह—'तत्' इत्यादि । तत् तस्माद् उक्तोपात्तं स्वार्थेऽपि स्वस्य बुद्धेः अर्थो ग्राह्य  
 यत् स्वलक्षणं तत्रापि न केवलं सामान्ये कथञ्चित् न सर्वात्मना, 'अभिलष्यते अनेनै'  
 'अभिलष्यते' इति च अभिलाषौ शब्दात्वादी तयोः ससर्ग 'अस्येद वाचकम्,  
 अस्येद वाच्यम्' इति योजनं तस्य योग्ययोग्यौ निर्भासौ तयोरेक साधारणं ज्ञानं  
 प्रतिपत्तव्यम् मौगते । अत्र दृष्टान्तमाह—'स्वरूपत्' इति । स्वरूप इव तद्वदिति ।  
 20 एतत् परं प्रति तर्जादिव प्रमाणातरं प्रतिपाद्यं इदानीमुपमानस्य प्रमाणातर-  
 रत्यनियमं विधुरयन्नाह—

उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम् ।

तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात्सञ्ज्ञिप्रतिपादनम् ? ॥१९॥

(१) विकल्पस्वरूपसिद्धिः निर्विकल्पकं गृह्यमाणत्वात् । (२) नीत्यर्थे अक्षय्यं अहितान्तं  
 च स्वगप्रापणसामर्थ्यम् । (३) इति अभिलाषः शब्दः । (४) इति अभिलाषः अभिलष्यमानो जात्यात् ।  
 (५) अत्र यत्नित्यन्वयाह्वयने । प्रसिद्धप्रमाणेन निश्चितोऽर्थो गोरूपस्तेन साधर्म्यात् सादृश्यात् उप-  
 जायमानं साध्यस्य न्यस्य तत्सादृश्यविशिष्टस्य गवयलक्षणस्य साधनं गोसदृशो गवय इति ज्ञानं यद्युप-  
 मानं प्रमाणान्तरमभ्युपगम्यते तदा तद्वैधर्म्यात् प्रसिद्धार्थसाधर्म्यादुपजायमानं साध्यसाधनं गोविकल्पणो-  
 मह्यं नति जान किं प्रमाणं स्यात् ? तस्य किन्तामेत्याशयः । तर्हि तदुपमानमव तल्लक्षणान्नावात् ।  
 नापि प्रत्यक्षात् भिन्नविषयत्वाद् भिन्नसामग्रीप्रभवत्वाच्च । तथा सक्तिनो वाच्यस्य प्रतिपादनं च

1 कुत स्वस-आ०, थ० । 2-त संवेद-व० । 3-कल्पस्वरूपमिति थ० । 4 अपि विक-आ ।

5 'नो सिद्धयेत्' नाम्नि आ०, थ० । 6-स्वपनि-व० । 7 यदीष्यते व । 8-वेदनानिश्च-आ०,  
 थ० । 9 'अर्थ'नास्ति आ० । 10 अनवस्थामाभावात् व० । 11 अन्तरेऽपि व० । 12 नामि-व० ।

13 'स्वरूपवदिति' नास्ति आ०, व० ।

विद्युतिः-प्रसिद्धार्थसाधर्म्यम् अन्यथानुपपन्नत्वेन निर्णीतञ्चेत् लिङ्गमेव ततः प्रतिपत्तिः अन्यथा न युज्यते । प्रत्यक्षेऽर्थे सन्नासन्निसम्बन्धप्रतिपत्तेः प्रमाणान्तरत्वे 'बुद्धोऽयम्' इति ज्ञान बुद्धदर्शिनः प्रमाणान्तरम्, 'गवयोऽयम्' इति यथा गवयदर्शिनः प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसिद्धेरभावात् । 'गौरिव गवयः' इति श्रुत्वा गवयदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिवत् प्रत्यक्षेषु इतरेषु तिर्यक्षु तस्यैव पुनरगवयनिश्चयः किन्नाम प्रमाणम् ? दानोपादानोपेक्षाप्रतिपत्तिफल नाप्रमाण भवितुमर्हति ।

प्रसिद्धोऽर्थो गौ तेन साधर्म्यं सादृश्यं यद् गवयस्य तस्मात् साध्यस्य सादृश्यविशिष्टस्य विशेषस्य तेन वा विशिष्टस्य सादृश्यस्य साधनं सिद्धि उपमानं प्रमाणम् । 'यदि'शब्दोऽत्र द्रष्टव्य । अत्र दूषणमाह-'तद्' इत्यादि । तेन प्रसिद्धार्थेन वैधर्म्यं वैसदृश्यं यन्महिष्यादे तस्मात् साध्यसाधन 'गोत्रिलक्षणा एते महिष्यादयः' इति प्रतीति , तत् किं प्रमाणम् किमभिधानं तत्प्रमाणम् ? तस्य किञ्चिन्नाम कर्त्तव्यं यत् प्रत्यक्षादिषु न सम्भवति । तथा च सप्तमप्रमाणप्रसङ्गात् 'पडेव प्रमाणानि' इति सरयाव्याघात ।

ननु उपमानप्रमाणानभ्युपगमे कुतो गवयदर्शनाद् असन्निकृष्टे अर्थे बुद्धेरुत्पत्ति ? उपमान पृथक् प्रमा- येन हि प्रतिपत्ता गौरुपलब्धान गवय , न च अतिदेशवाक्यं श्रुत 'गौरिव यामिति मीमांसकस्य गवय' इति, तस्य अरण्ये पर्यटतो गवयदर्शनानन्तरम् 'अनेन सदृशो पूर्वपक्ष - गौ' इत्येवमाकारं परोक्षे गवि यत् सादृश्यज्ञानमुत्पद्यते तदुपमानम् ।

विवक्षितसंज्ञाविषयत्वेन सकलान यथा बन्धो यमिति । तन्पि किन्नाम प्रमाणं स्यादित्याक्षिप्यते । न खलु मन्नासन्निसम्बन्धज्ञानमप्रमाणम् आगमप्रामाण्यविलोपापत्तेः , उपमात्राप्रामाण्यापत्तेरच ।"-रुधी० ता० पृ० ३९ । "प्रसिद्धार्थसाधर्म्यासाध्यसाधनमुपमानम् ।"-न्यायसू० १।१।६ । (६) तुलना-"गवयस्यो पलम्भं च तुरङ्गादौ प्रव्रतते । तदसादृश्यविज्ञानं यत्तदाया प्रमा न किम ॥ -तरवस० पृ० ४५० । "साध्यमिव बध्म्य मानमेव प्रसज्यते ।"-न्यायसू० ३।९ । 'सादृश्यञ्चेत् प्रमेयं स्यात् वैलम्ब्यश्च किं तथा ।'-जनतकवा० पृ० ७६ । उद्धृतोऽयम्-स्या० २० पृ० ४९८ । रत्नाकराव० ३।४ । प्रमेयर० ३।५ । प्रमाणमी० पृ० ३५ ।

(१) "एवञ्च श्रुतस्यायत्र सम्बन्ध अतिदेश"-व्युत्पत्तिवा० ग० । "इतरधमस्य इतरस्मिन् प्रयोगायादस"-याचस्पत्यम् । 'ताद्वदित कतव्यमित्यतिदेश ।'-शास्त्रदी० पृ० २७७ । (२) "उपमानमपि सादृश्यमसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पात्त्यति, यथा गवयदानं गोस्मरणस्य ।"-पावरभा० १।१।५ । "सादृश्यार्थानोत्थं चान सादृश्यविषयकमुपमानम्, दृष्टगो पुरपस्य गवय तत्सदृशं पश्यतो यद् गोविषयकं गवयसदृशानं तदुपमानम् ।"-प्रक० पं० पृ० ११० । "सादृश्याद् दृश्यमानाद्यत्प्रति योगिनि जायते । सादृश्यविषयं ज्ञानमुपमानं तदुच्यते ॥"-बृह० पं० पृ० १०९ । 'पूर्वदृष्टे स्मर्यमा णार्थे दृश्यमानाथसादृश्यज्ञानमुपमानम्, यासावस्माभिनगरे दृष्टा गो साज्ञेन सन्शीनि ।'-शास्त्रदी० पृ० २५८ । न्यायि० पृ० १४६ । तत्प्ररह० पृ० १३ ।

1 युज्येत ज० वि० । 2 इतरेषु तस्यैव ई० वि० । 3-ति प्रमा-इ० वि० । 4 प्रतिद्वार्यो थ० । 5-णं किञ्च-व० । 6 प्रतिपत्ता आ०, व० । 7 न वातिदे-व० ।

अत्र च विप्रकृष्टमाह्वयप्रतीतौ सन्निकृष्टे सादृश्यं धरणीम् । उक्तञ्च—

“दृश्यमानाद् यदन्यत्र विज्ञानमुपजायत ।

सादृश्यापाधितस्तत्तद्वैतमानमिति स्मृतम् ॥” [ ]

अस्य च अनधिगतार्थाधिगच्छत्वात् प्रामाण्यम् । यद्यपि गौरनेन प्रागेव उपलब्ध ,  
 ४ सादृश्यद्वेदानीं प्रत्यक्षत एव गवये दृश्यते, तथापि ‘गवयसदृशो गौ’ इति प्रागप्रतिपत्ते  
 अनधिगतार्थाधिगच्छत्वं । तदि इदानीमेव गो स्मृत्या सादृश्यस्य च अध्यक्षतोऽधि-  
 गमात् अधिकप्रमेयाभावाच्च अधिगतार्थाधिगच्छत्वमस्य, इत्यप्ययुक्तम्, तद्विशिष्टरस्य  
 तत्रै ताभ्यामनधिगते । यद्यपि प्रत्यक्षेण सादृश्यं प्रतिपन्नं गौश्च स्मृत्या, तथापि  
 सादृश्यविशिष्टस्य गोपिण्डस्य स्मृत्या प्रत्यक्षेण उभाभ्यां वाऽप्रतीते तद्विषयत्वेन उपमा-  
 १० नस्य अनधिगतार्थाधिगच्छत्वात् प्रामाण्यम् । नहि अनुमानेऽपि अतोऽयत् प्रामाण्य-  
 निरन्धनम् । प्रत्यक्षेऽपि हि प्रवेदीदो धर्मिणि स्मृत्या चाग्नौ प्रतिपन्नेऽपि अग्निविशिष्ट-  
 प्रदेशादिविषयत्वेन अनुमास्य प्रामाण्यं तद्वदुपमानस्यापि । तदुक्तम्—

“तस्माद्वैतमयत तत्स्यात् सादृश्येन विशपितम् । प्रमथमुपमानस्य सादृश्यं वा तदेवितम् ॥  
 प्रत्यक्षेणानुद्वेऽपि सादृश्यं गवि च स्मृते । ३ विशिष्टस्यान्यतोऽसिद्धेत्प्रमानप्रमाणात् ॥

१५ प्रत्यक्षेऽपि यथा दश स्मर्यमाणं च पानकं । विशिष्टविषयत्वेन नानुमानाऽप्रमाणात् ॥”

[ मी० श्लो० उपमान० श्लो० ३७-३९ ] इति १ ।

ननु अस्तु उपमानप्रमाणम्, ननु प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नं तद् यतमस्वभावत्वात्तस्य,  
 २० अथप्युपपन्नम्, तदेव यतमस्वभावत्वस्य तत्राऽसम्भवात् । तथाहि—न तौ चत् प्रत्यक्षरूप  
 तत्, परोक्षे गवि इन्द्रियार्थसम्प्रयोगाभावेऽपि उत्पद्यमानत्वात् । नापि स्मरणमेवेदमि-

(१) विप्रकृष्टो गौ । (२) सन्निकृष्ट गवयनिष्ठ सादृश्यम् । (३) साधकतमं करणम्-  
 भा० टि० । (४) गवयान् । (५) गवि । (६) उद्धृतोऽयम्—आप्तप० प० ५३ । प्रमेयक० पृ० १८५ ।  
 तत्वन—साम्ति० टी० प० ५७५ । (७) उपमानस्य । (८) पुरपण । (९) स्मनिवन—आ० टि० ।  
 (१०) उपमानस्य । (११) सादृश्यं—आ० टि० । (१२) गवि । (१३) स्मरणप्रत्यक्षाभ्याम् ।  
 (१४) विशिष्टविषयत्वेन । (१५) विशिष्टविषयत्वात् । (१६) पक्वान्—आ० टि० । (१७) गौ ।  
 तस्मात् दृश्यते—व्याख्या० टी० प० १९ । (१८) इति सादृश्यावधारणम्—आ० टि० । (१९) तयो  
 गौगवययोर्दिवत् । तन्निर्णय—तत्त्वस० । व्याख्या—यस्मान् च प्रत्यक्षं गवये न विच्छिन्नमुपमानस्य  
 प्रमेयमस्ति तस्मात्सम्यग्मात्रेण गौगवयसादृश्यविशिष्टा तद्विशिष्टा वा सादृश्यमुपमानस्य प्रमेयमिति । ननु  
 गवयं सादृश्यं प्रत्यक्षं गद्वैतं गौ स्मर्यते किमयमुपपन्नत आह—प्रत्यक्षापि । तत्र च दृष्टान्तमाह प्रत्यक्षं  
 इति ।—मी० श्लो० पाय० पृ० ४४५ । (२०) ‘विशिष्टस्यायत् सिद्धे—प्रमेयक० पृ० ३४५ ।  
 (२१) उद्धृता इमे—तत्त्वस० पृ० ४४५ । प्रमेयक० पृ० ३४५ । साम्ति० टी० पृ० ५७६ । आद्यो  
 द्वी—स्या० १० पृ० ४९७ । जनतर्कमा० पृ० १० । (२२) प्रत्यक्षाद्यन्तम् । (२३) उपमान । (२४)  
 तन्निर्णयमुपमानं न प्रथमम् निरोहिते गवि चक्षुःसन्निकृष्टानिर्वानिनि जायमानत्वात् । न च स्मृतिः,  
 गोपानसमवेत्प्रतीतगवस्य तत्सादृश्यानुभवामावात् ॥—प्रक० पृ० पृ० १११ ।



गवये शृद्धमाणाश्च न गवोर्वानुमापन्नम् । प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वाद् गोगतस्य न लिङ्गता ॥  
गवयश्चाप्यसम्बन्धान् गोलिङ्गत्वमृच्छति । सादृश्यं न च सर्वेण पूर्वं दृष्ट तदैवैवपि ॥  
अस्मिन्नपि दृष्टस्य द्वितीयं पश्यतो वन । सादृश्येन सैहर्वोस्मिस्तद्वैवोत्पद्यत मति ॥”

[ मी० श्लो० उपमान० श्लो० ४३-४६ ] इति ।

5 नाप्येतत् शान्दम्, अश्रुताऽतिदेशवास्यस्य प्रतिपत्तु तत्सभवात् । नाप्यर्थापत्तिं,  
अथयानुपपद्यमानदृष्ट श्रुतार्थानपेक्षणात् । नाप्यभाव, प्रमाणप्रमेयनिवृत्त्यनपेक्षणादिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘अनेन सदृशो गौ’ इत्यादि, तदसमीक्षि-

ताभिधानम्, तथापिधाया प्रतीतेरेवाऽसभवात् । तथाहि—अश्रुताति-

तरिरसनपुरस्सरम्

उपमानस्य सादृश्यं

10 प्रत्यभिज्ञान एवन्त

भावप्रदर्शनम्—

देशानाम्यो नागरक कानने पर्यटन् अट्टपूर्वं गोसदृशं पशु पश्यन्

एव बुद्धयते ब्रवीति च—‘गवा सदृश एव कश्चित् पशु’ इति, ननु

‘अनेन सदृशो गौ’ इत्येवविधज्ञानमभिधानं वा कस्यचित्तादानीम-

स्तीति । अस्तु वा, तथापि अस्य प्रत्यभिज्ञारूपत्वान्न प्रमाणात्तरत्वम् । ननु अनुभू-

तेऽर्थे प्रत्यभिज्ञा प्रवर्तते दर्शनस्मरणनिवर्धनत्वात्तस्यै, न च पुरोवर्तिगवयैववच्छिन्नं

सादृश्योपाधितया पूर्वं गोपिण्डोऽनुभूत, गवयाग्रहणे तदवच्छिन्नसादृश्यविशेषितस्य

1. गोपिण्डस्य प्रहीतुमशक्तेरिति, तदयुक्तम्, यत् कस्य अनुभवाभावात्—गवयावच्छेदस्य,

(१) गवामनुमापन्नम्—मी० श्लो० । (२) व्यधिकरणत्वात् सम्बन्धे हि गमको गम्य गमयति  
—आ० टि० । (३) न च तदवपि गवयगत सादृश्यं पूर्वं दृष्टं विन्तु गवयवर्णनकात् एव सवस्यापि  
प्रमाणरुद्दीयते अनानाधिगतार्थाधिगन्तृत्वं प्रामाण्यवीजमुपमानस्य नापितम्—आ० टि० । (४)  
‘सहृदस्मिन्—सम्मति० टी० प० ५७७ । (५) उद्धृता इम—प्रमेयक० पृ० १८७ । सम्मति० टी० पृ० ५७७ ।  
तुलना— अरुप्यानुपपत्तश्च न च तस्यानुमानता । पशुधर्मात् न वात्र कश्चित्चिदववल्पत ॥ ( प्रागोक्तं  
हि सादृश्यं न ) धमत्वनं गृह्यते । गवये गृह्यमाणञ्च न गवामनुमापकम् ॥ प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वात् गोगतस्य  
न लिङ्गता । गवयश्चाप्यसम्बन्धान् गोलिङ्गत्वमृच्छति ॥ —तरत्वसं का० १५३९-४१ । (६) ‘श्रुता  
तिदेशवाक्येन च चातावोपयुज्यते । यपि ह्यश्रुतनाक्यास्तेषामपि भवत्ययम् ॥ —मी० श्लो० उपमान०  
श्लो० १० । (७) तुलना— जययानुपपद्यमानदृष्टश्रुतार्थानपेक्षत्वात्प्राथम्यं । प्रमाणप्रमेयनिवृत्त्य  
नपेक्षणाभावात् । —तरत्वसं प० पृ० ४५० । (८) पृ० ४८९ प० १६ । (९) तुलना— एवविधप्रतीत्य  
भावात् । प्रसिद्धं हि सादृश्यमप्रसिद्धस्य गम्यत । गवा गवयपिण्डस्य न तु युक्तो विषयः ॥ तथाहि  
—अश्रुतातिदेशो नागरक कानने परिरभूमन्नदृष्टपूर्वं सादृश्यं प्राणिनमुपलभमान एव बुद्धयते ब्रवीति  
च अहो नु गवा सदृश एव कश्चन प्राणीति । मत्तनेन सन्तो गौरिति ज्ञानमभिधानं वा तदानीं कस्यचिद  
स्तानि अतः प्रमितेरेवाभावान् किं प्रमाणचिन्तया । —न्यायम० पृ० १४६ । (१०) तुलना— एकत्वसा  
दृश्यप्रतीत्या सङ्कलनानरूपतया प्रत्यभिज्ञानताननिवृत्तम् । —प्रमेयक० पृ० ३४५ । ‘यायाव० टी०  
पृ० १९ । स्या० १० प० ४९७ । प्रमाणमी० प० ३५ । जनकभा० पृ० १० । (११) प्रत्यभिज्ञाया ।  
(१२) गवयनिष्ठसादृश्यविधिविनिष्ठात्तया । (१३) इत् सादृश्यं गवयनिष्ठमित्याकारस्य ।

1 सहृदस्मिन्—व० । 2 नादम व० । 3—तिरचयापत्ते अययानुप—आ० । 4 प्रमाणं प्रमेय-  
व० श्लो० । 5 नागरिक व० । 6 पश्यत्य व० । 7—नत्यात् न च व०, आ० ।

सादृश्यस्य वा ? प्रथमपक्षे 'स एवायम्' इत्यादि प्रतीतेरपि प्रत्यभिज्ञानता न स्यात् उत्तरपर्यायावच्छेदस्य पूर्वमननुभवात् । अथात्र अरच्छेदकस्य उत्तरपर्यायस्य पूर्वमननुभवेऽपि अवच्छेदस्य अन्वितद्रव्यस्य अनुभवात् प्रत्यभिज्ञानता, तदन्यत्रापि समानम्-अवच्छेदकस्य गवयस्य तदानधिगमेऽपि सादृश्यस्य अवच्छेदस्य अधिगमात् । कथम-प्रतीतस्य गवयस्य सादृश्यविशेषणतेति चेत् ? कदा तदप्रतीति-गोदर्शनसमये, उत्तर-काल वा ? प्रथमविकल्पे उत्तरपर्यायस्यापि द्रव्यविशेषणत्वाभावप्रसङ्ग, पूर्वपर्यायप्रतीति-समये तस्याप्यप्रतीति । अथ उत्तरप्रत्यक्षेण प्रतीतस्य तस्य तद्विशेषणता, तदेतदन्यत्राप्यविशिष्टम् । तत्र गवयावच्छेदस्य अनुभवाभावात् ।

नापि सादृश्यस्य; तद्वि असन्निहितत्वान्नुभूयते, प्रतिबन्धकसङ्गावादा ? न तावदसन्निहितत्वात्, सन्निहितपदार्थवृत्तित्वेन असन्निहितत्वाऽसिद्धे । नापि प्रतिबन्धकसङ्गावात् तस्यानुपलम्भ, गोपिण्डोपलम्भवत् सादृश्योपलम्भेऽपि प्रतिबन्धकस्य कस्यचिदप्यनुपलम्भात् । ननु उभयवृत्तित्वात् सादृश्यस्य कथमेकपिण्डोपलम्भममने प्रतियोगिग्रहणमन्तरेणोपलम्भ स्यात् ? इत्यप्यसुन्दरम्, एकैवत्र अस्य समाप्ततया प्रतियोगिग्रहणमन्तरेणापि उपलम्भोपपत्ते । कथमन्यथे शोभेत-

"सामान्यवच्च सादृश्यमेकैकत्र समाप्यते । प्रतियोगिन्यदृष्टेऽपि तैत्तस्मादुपलभ्यते ॥"

[ मी० श्लो० उपमान० श्लो० ३५ ] इति ।

'इदमनेन सादृशम्' इति सादृश्यव्यवहार एव हि प्रतियोगिग्रहणापेक्षो न पुन नञ्-

- (१) उत्तरपर्यायनिष्ठमिदमवत्त्वमित्याकारस्य । (२) एकत्वप्रत्यभिज्ञाने । सामान्यवच्छेद-मानस्य प्रास्तपादनाप्यादिषु आगमस्मरणयोरप्यन्तर्भाव प्रादासि, तथाहि-"आप्तनादनिष्ठ-कथं च गवा गवयप्रतिपादनादुपमानमाप्तवचनमेव ।"-प्रश० भा० पृ० ५७६ । "किञ्च स्मृतिव्यवहारानु-प्रमाणमुपमान स्मृत्यन्तरवत् एव तु युज्यते तत्र गोरूपावयव सह । गवयावयवा क्विन्नुपलम्भ-तव ॥ तत्रास्य गवये दृष्टे स्मृति समुपजायते ।"-तत्त्वसं० पृ० ४४८ । "भवतु क्वा द्वादिनन मन्त-गो तथापि स्मृतित्वा न प्रमाणफलम् ।"-व्यास० पृ० १४६ । "तस्मात् गवयग्रहणं तत्रि अन्विष्टिग-पिण्डावलम्बिनी सादृश्यप्रतीति सादृशानामिष्यक्तमस्वारजया स्मृतिरेव न प्रमाणात्तरम् ।"-प्रश० क० पृ० २२१ । 'सादृश्यमानस्य चोत्पत्तावयवम-पूर्व तावत् गोगवययावयवविशेषण-मन्तरेण गवयप्रत्यक्षेण प्रतिपद्यते, पश्चाद् गवयमानानन्तर 'यदेतद् विपाणित्वात्सादृश्यं निरूप्यते' इति मया तद् गव्यपुपलम्भम् इति स्मरति तदनन्तर विपाणित्वादिमादृश्यप्रतिपादनं कथं 'अन्वितेन सादृशा-गो' इति । एवञ्च स्मार्तमेतद् पान कथं प्रमाणान्तरे भवेत् ?"-सामानि० टी० पृ० ५८० । (३) सादृश्यप्रत्यभिज्ञानपि । (४) स एवायमिति एकत्वप्रत्यभिज्ञानस्यैव । (५) तस्यानुपलम्भापि । (६) उत्तरपर्यायस्य-आ० श्लो० । (७) अन्वितद्रव्यस्थानीयमत्र गोगवयगत-मन्तरेण विवक्षितम्, अत्रापि गवयप्रत्यक्षण प्रतीतस्य सादृश्यस्य गोविषयणत्वोपपत्तेरिति तात्पर्यम्-आ० श्लो० । (८) सामान्यस्य । (९) 'तस्मात्सादृशाने'-मी० श्लो० । 'तस्मात्सादृश्यत्व'-व्यास० पृ० १८० । 'सादृश्यत्व-व्यास० पृ० १४७ । प्रमयक० पृ० ३४६ । प्रश० क० पृ० २२१ । नूनान्-सामान्यवच्छेद सादृश्य-प्रत्यक्षं च समाप्यते । प्रतियोगियदृष्टेऽपि यस्मात्सादृश्यमेव ॥"-तत्त्वसं० पृ० ४४५ ।

1 गवय एवायम् ब० । 2 प्रतीतस्य तद्वि-य० ।



रूपप्रतिपत्ति । प्रतिपत्ता हि गवयमुपलभ्य पूर्वानुभूत गोपिण्डसस्थानविशेषम् अवहि-  
 तचेतसा परिभाष्य तयो सादृश्यव्यवहार प्रवर्त्तयति सङ्कलयति चैवम्—'मया पूर्वमेव  
 गौ अनेन प्राणिना तुल्यसस्थान प्रतिपत्ता, ततस्तां तुल्यसस्थानता स्मृत्वा सादृश्य  
 व्यवहरामि' इति । ततो यं सङ्कलनात्मक प्रत्यय स प्रत्यभिज्ञानमेव यथा 'स एवा-  
 5 यम्' इति प्रत्यय, सङ्कलनात्मकश्च 'अनेन सदृशो गो' इति प्रत्यय इति । सङ्कलन  
 हि पूर्वोत्तरसमयमधिगतयो वस्तुरूपयो ऋधर्मयोगितया सद्द्रादिधर्मयोगितया  
 वा प्रत्यवमर्शनम् । तदात्मकत्वञ्च अत्रास्ति, गोगवययो सदृशधर्मावितत्वेन प्रत्यव-  
 मर्शसम्भवात् ।

ननु चास्य प्रत्यभिज्ञानत्वे स्मृतिप्रत्यक्षप्रभवत्प्रसङ्ग तत्सामग्रीत एवास्य आवि-  
 10 भावात्, न चात्र सास्ति, गवयप्रत्यक्षादिसामग्रीमात्रात्तदुत्पत्ते । न च त्रिलक्षणसामग्री  
 प्रभव ज्ञान प्रत्यभिज्ञान युक्तमितिप्रसङ्गात्, इत्ययसाम्प्रतम्, अत्रापि तत्सामग्र्या  
 विद्यमानत्वात् । तथाहि—स्मरणापेक्ष गवयप्रत्यक्षम् एवविध ज्ञानमुपजनयति, अनपेक्ष  
 वा ? तत्र अनपेक्षस्य जनकत्वे अप्रसिद्धगोपिण्डस्यापि ण्तत् स्यात् । अथ स्मरणापेक्ष  
 जनकत्वम्, तत्रापि किं स्मरणमात्रापेक्षम्, गोपिण्डस्मरणापेक्ष वा तैत्तज्जनयेत् ?  
 15 यत् स्मरणमात्रापेक्षम्, तत्र अश्वादिस्मरणेऽपि तत् तज्जनयेत् । अथ गोपिण्डस्मरणा-  
 पेक्षम्, तत्रापि किं गोपिण्डस्मृतिमात्रापेक्षम्, सादृश्यावच्छिन्नगोपिण्डस्मरणापेक्ष वा ?  
 प्रथमपक्षे महिष्यादिस्मरणेऽपि तस्य तज्जनकत्प्रसङ्ग, सादृश्याप्रतिपत्ते उभेयत्राप्य  
 विशेषात् । गवयसादृश्यावच्छिन्नगोपिण्डस्मरणापेक्षित्वे तु सिद्ध पूर्वमेव सादृश्यानु-  
 भव, तदसिद्धौ सस्फारविशेषाभावात् तैत्स्मरणस्यैवाऽनुपपत्ते । पूर्वं तदननुभवे च

(१) अनन सदृशो गौरिति प्रत्यय प्रत्यभिज्ञानात्मक सङ्कलनात्मकत्वात् । (२) स एवाय  
 मिति प्रत्यभिज्ञाने—आ० टि० । (३) तुलना— तत्र किं स्मरणापेक्षामिन्द्रियमव ज्ञान जनयति अनपेक्ष  
 यति ? अनपेक्षस्य पानजनकत्वे अप्रसिद्धगोपिण्डस्य स्मरणव्यतत् स्यात् । अथ पिण्डमात्रस्मरणे  
 अश्वादिपिण्डस्मरणे स्यात् । अथ गवयसादृश्यावच्छिन्नस्मरणपेक्ष जनकम् तत्रापि यत् स्मरणमात्रम्  
 पेक्षेन गजादिस्मरणेऽपि स्यात् । अथ गोपिण्डस्मरणपेक्षम् तत्रापि किं गोपिण्डमात्रस्मरणपेक्षते,  
 गवयसादृश्यावच्छिन्न गोपिण्डस्मरण वेति ? गोपिण्डमात्रस्मरण अश्वादिपिण्डस्मरणेऽपि स्यात् ।  
 गवयसादृश्यावच्छिन्नगोपिण्डस्मरणपेक्षित्व पूर्वमेवानुभवो बाध्य तन्त्रेण सस्कारानुत्पत्ते स्मरण  
 स्थवाभावात् । अन सविकल्पपानाभावेऽपि गवयसादृश्यावच्छिन्ने गोपिण्ड पूर्वमनुभवोऽभ्युपगन्तव्य ।  
 यत् हि सस्कारोत्पत्तौ स्मरणामनीयया गवा सदृशोय गवय इति ज्ञान स्यात् । पूव च गवयसादृश्या  
 वच्छिन्नगोपिण्डेऽनुभवप्रसिद्धौ गवयोपलम्भात् मनीया गौरनन सदृशी' इति कथमेतत् स्मरण न स्यात् ?  
 तथा पुष्टो भवीति एतत्सादृशी मयोपलम्भा न तु प्रमाणात्तरं निमित्तमिति । —प्र० ० ध्यो० प० ५८८ ।  
 (४) अनन सदृशो गौरिति—आ० टि० । (५) गवयप्रत्यक्षम् । (६) गवयप्रत्यक्षस्य । (७) यथा  
 हि महिष्यादिस्मरण न गोमात्रस्य प्रतीयते तथा गोपिण्डस्य स्मरणमात्रेऽपि न सादृश्यस्य प्रतिपत्ति ।  
 (८) सादृश्यस्मरणस्यव ।

1 सङ्कलयति व० । † एतन्तगन पाठो नास्ति आ० । 2 एकधर्मयोगितया वा प्र- व० ।  
 3-विषयज्ञान-व०, -विषयिज्ञान-प्र० । 4-शापेक्षत्वे व० ।



यथा सनिहितो गवयपिण्ड , तथा चायम्, तस्मात्तथेति । यदि वा, अविलक्षणविषाणा-  
द्यवयवयोगित्वादिति हेतु , साय दृष्टातौ तौ एव ।

ननु माभूत् मीमासकाभ्युपगतमुपमान प्रत्यभिज्ञानादे प्रमाणान्तरम्, नैयायिकै-

रभ्युपगत तु भविष्यति । 'ते हि "प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुप-

सामञ्जिसम्बन्धज्ञान  
फलम् उपमानस्य  
पृथक् प्रामाण्यं बण  
यत् नैयायिकस्य  
पूर्वपद -

मानम्" [ 'पायसू० १।१।६ ] इत्युपमानलक्षण वर्णयन्ति । तत्र

प्रसिद्धञ्च तत्साधर्म्यञ्च, प्रसिद्धेन वा गवा साधर्म्यं गवयस्य, प्रसिद्ध

वा साधर्म्यं यस्य स प्रसिद्धसाधर्म्यो गवय तस्मात्, तमाश्रित्य

साध्यस्य सज्ञासङ्गिसम्बन्धस्य साधन बोधनम् उपमानम् । श्रुताति-

देशावाक्यस्य हि प्रमातु अप्रसिद्धे पिण्डे प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञान यद् इन्द्रियज

10 मज्ञानमितिसम्बन्धप्रतिपत्तिफल तदुपमान प्रतिपत्तव्यम् । तद्धि इन्द्रियजनितमपि धूम-

ज्ञानमिव तद्गोचरप्रमेयप्रमितिप्रसाधनात् प्रमाणांतरम् । श्रुतातिदेशवाक्यो हि नाग

एव वानने परिभ्रमन् गोसदृशप्राणिदर्शनानन्तरम् आटविस्रञ्च 'यादृशो गौस्तादृशो

(१) 'प्रनातेन सागायात प्रनापनीयस्य प्रज्ञापनमुपमानमिति । यथा गौरेव गवय इति । किं

पुनरत्र उपमानं क्रियते ? यदा सख्यय गवा समानधम प्रतिपद्यते तदा प्रत्यक्षतस्तमय प्रतिपद्यते इति

समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानाद्य इत्याह । यथा गौरेव गवय इत्युपमानं प्रयुक्ते गवा समानधममर्थम्

इन्द्रियाधमनिर्वाणदुपलभमानाऽस्य गवयगच्छ सन्निति सज्ञाननिसम्बन्धं प्रतिपद्यते इति । यथा मुदगस्तथा

मुद्गपर्णी यथा मापस्तथा मापपर्णी इत्युपमाने प्रयुक्ते उपमानात् सनासङ्गिसम्बन्धं प्रतिपद्यमानस्ता

सोपधो भयज्यायाहरति । -न्यायभा० १।१।६ । (२) प्रसिद्धसाधर्म्यान्ति-प्रसिद्ध साधर्म्य यस्य,

प्रसिद्धेन वा साधर्म्यं यस्य साऽय प्रसिद्धसाधर्म्यो गवयस्तस्मात् साध्यसाधनमिति समाख्यासम्बन्धप्रति

पत्तिरुपमानाद्य । किमुक्तमभवति ? आगमाहितसस्कारस्मृत्यपेक्ष साहचर्यज्ञानमुपमानम् । यत्र ह्यनन

श्रुतं भवति यथा गौरेव गवय इति प्रसिद्धे गोगवयसाधर्म्यं पुनर्गवा साधर्म्यं पश्यतोऽस्य भवति अयं

गवय इति समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्ति । -न्यायवा० पृ० ५७ । प्रसिद्धसाधर्म्यात् इयत्र प्रसिद्धिरुभयी

श्रुतिमयी प्रत्यक्षमयी च । श्रुतिमयी यथा गौरेव गवय इति । प्रत्यक्षमयी च यथा गोसादृश्यविशिष्टोऽ-

यमीदं विष्णु इति । तत्र प्रत्यक्षमयी प्रसिद्धिरागमाहितस्मृत्यपेक्षा समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिहेतु ।

तस्मान्नायमप्रत्यक्षमाभ्याम् यत्वेदमागमस्मृतिसहित सादृश्यज्ञानमुपमानाख्य प्रमाणमास्ययम् । -न्यायवा०

भा० पृ० १९८ । (३) 'अद्यतनास्तु व्याचक्षणे-श्रुतातिदेशवाक्यस्य प्रमातुरसिद्धे पिण्ड प्रसिद्ध

पिण्डमाह्वयानमिति तत्र सज्ञासङ्गिसम्बन्धप्रतिपत्तिफलमुपमानम् । तद्वीन्द्रियजनितमपि धूमज्ञानमिव

तत्प्राणिप्रमेयप्रमितिप्रसाधनात् प्रमाणान्तरम् । श्रुतातिदेशवाक्यो हि नागरक वानने परिभ्रमन् गोस

दृशं प्राणिनमवगच्छति ततो वनेचरपूरुपकथित यथा गोस्तथा गवय इति वचनमनुस्मरति, स्मत्वा

च प्रतिपद्यते अयं गवयगच्छाख्य इति । तत्रैतत्सज्ञासङ्गिसम्बन्धज्ञानं तज्ज यमित्युपमानकर्ममित्युच्यते ।

-न्यायभा० पृ० १४२ । 'पायकलि० प० ३ । सम्बन्धस्य परिच्छेदे सज्ञाया संनिना सह । प्रत्यक्षादेर

साध्यत्वाद्दुपमानवत् विदु ॥ -न्यायकूट० ३।१० । - प्राणीणस्य प्रथमतः पश्यतो गवयाधिकम् । सादृ

श्यपीगवापीना या स्यात्सा करण मतम् ॥ वाक्याप्यस्यातिशेयस्य स्मितिर्व्यापार उच्यते । गवयापिपदाना

त् गणिधीरगमाफलम् ॥ सक्ता का० ७९८० । तर्कसं० उपमानपरि० । (४) साहचर्यज्ञानम् ।

(५) इन्द्रियागाचर ।



नागरकस्य अटव्या गत्रय पश्यत प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञान तत्सम्बन्धप्रतिपत्तिं विद-  
 ध्यात् । अथ तद्वाच्यश्रवणमहायस्यैवास्पर्शं तत्प्रतिपत्तिरनेन सामर्थ्यं न केवलस्य, तेना  
 यमदोष, तर्हि श्रुतस्मृतातिदेगवान्यस्यापि प्रतिपत्तु तत् तत्प्रतिपत्तिं विदध्यात् ।  
 अथ नेतस्मृतिमहाय मत् तत् तत्प्रतिपत्तेरङ्गम्, तर्हि प्रत्यभिज्ञानप्रमादादेन साक्षाद्  
 6 तत्प्रतिपत्तिरङ्गीकृता स्यात्, तस्यैव गोगवययो सादृश्यपरामर्शद्वारेण सज्ञासङ्घिसम्बन्ध-  
 प्रतिपत्तिहेतु उपपत्ते । तत्समृतिमहायेन हि गवयप्रत्ययेण उपलक्ष्योपलभ्यमानयो  
 गोगवययो सारूप्यपरामर्शप्रत्यभिज्ञास्य ज्ञान चयते अर्थतत्परामर्शयोगात् ।  
 नहि गवयप्रत्यय गोस्मरणमुभय वा तत्परामर्शं समर्थमित्युक्ते मीमांसकोपकल्पितोपमान-  
 रिचारासरे । तेन च तत्परामर्शं कर्तृता सज्ञासङ्घिसम्बन्धप्रतिपत्तिरिधीयते इति ।

19 णेन 'परम्परया तत्प्रतिपत्त्यङ्गस्य उपमानता' इत्यपि प्रत्युक्तम्, साक्षात् तत्सम्ब-  
 धप्रतिपत्त्यङ्गप्रत्यभिज्ञानजनकत्वेन प्रसिद्धसारूप्यज्ञानादेरपि उपचारेण उपमानताभ्यु-  
 पगमे सिद्धसाध्यताप्रमद्धान् । चक्षुरादिना अतिप्रमद्धान्, तस्यापि परम्परया तज्जनकत्व  
 सभवात् । तत्र 'तद्धि त्रिधनैतमपि' इत्यादिप्रत्याख्यातम्, प्रत्यभिज्ञानस्यैव इति  
 यागोचरमज्ञासङ्घिसम्बन्धप्रतिपत्तिप्रसाधनात् प्रमाणान्तररूपोपपत्ते ।

15 यत्प्युक्तम्—'नाप्यागमस्य तत्फलम्' इत्यादि, तत्र सिद्धसाधनमेव, तत्सम्बन्ध  
 ज्ञानस्य प्रत्यभिज्ञानफलत्वात् । किञ्च, साक्षात्तुल्यमानत्वाद्वास्य आगमाऽफल्यम्,  
 तत्प्रतीतावुपायस्य अपरस्योपदेशान्, यान्यमविच्यपेक्षणाद्वा ? तत्रायपत्ते किं सामाय  
 वोऽतिदेशवाच्यात् सज्ञासङ्घिसम्बन्धज्ञानानुत्पत्ति, निरोपतो वा ? यदि सामायत,  
 तदा 'अयमसौ गत्रय यस्य मया पूज सज्ञा श्रुता' इत्येवमाकारा प्रतिपत्तिरतिदुर्घटा स्यात्,

(१) प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानस्य । (२) अनिर्णवाक्य । (३) प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानम् ।  
 (४) गवयपयसात्-आ० टि० । (५) प० ४०४ प १२ । (६) प्रत्यभिज्ञान । (७) साक्षात्सम्ब-  
 धबोधकारण यत्र प्रत्यभिज्ञान तस्य जातत्वेन कारण कार्यविचारान्तिवय । (८) प० ४९६ प० १० ।  
 (९) प० ४९७ प० ४ । (१०) तुलना- यान्गो गोस्तांशो गवय इति ध्रुतातिर्णवाक्यस्य वन गवय  
 मुपलक्ष्यमानस्याय गवय इति पतीतिरूपमानकामुच्यते । तत्र तावत् गोसदृशा गवय इति प्रथमावगति  
 पुरुषवाक्यमानप्रभवा नोपमान भवति । यत्पि वनगमस्य गवय तत्पत्ते च गोसादृश्य ज्ञान तत्पि  
 प्रत्यभिज्ञाप्रयत्नम् । या एतस्य गवयान्वाच्यनावगति मापि गवयान्वाद्ययोगान्मानिकी । यस्य  
 सङ्घट्टय यत्र प्रयोग तस्य तन्वाच्यवया सम्बन्धनियमोवगत । वा च मञ्जिनमुपलभ्यनम्यव सा मया  
 सञ्चनऽप्रगतेन तन्नान स्मरणमेवेति नोपमानमवावकाश । -प्रक० प० ७० ११२ । प्र० प० १० २२१  
 २२ । तथा गोसदृशो गवय इति सङ्केतकाले गोसङ्गा-गवयान्वाच्यनावगति वाच्यवाचकसम्बन्धं प्रतिपद्य  
 पुनर्गवयान्वाच्यत्वनिर्णयं प्रत्यभिज्ञाविनियतम् । -प्रमेयक० प० १४७ । ख्या० २० प० ४९८ ।  
 (११) 'न निगवकदृशात्तुद्विस्मन्नामुपजायते । तत्प्रतीतयन्तं तन्वाच्यपार इत्यत ॥ न चापि  
 निवन्ध्य वाच्यतां विरयेभवात् । शब्देन तन्निर्वाहान् स्वकार्यं कृत भवेत् ॥ -न्यायमं० ४० १४४ ।

1-तद्वाच्यत्वं-व० । 2-वत्तत्प्रति-प्र० । 3-यत्तत्प्रति-व० । 4-जनकमपि व० ।  
 5-तिरितिपुं-व० ।

अतिदेशवाक्योच्चारणैयर्थ्यश्च । यत् यत्प्रतिपत्त्यर्थिन तद्विषया प्रतिपत्ति मनात् न  
 नोत्पादयति न तत् प्रति प्रेक्षापद्धि प्रयुज्यते यथा जलप्रतिपत्त्यर्थिनोत्पत्त्याश्च  
 नोत्पादयति च गत्यप्रतिपत्त्यर्थिन तत्प्रतिपत्ति मनागपि अतिदेशवाक्यमिति । इय  
 विशेषत, तथा आगमप्रमाणाय दत्तो जलाञ्जलि, तस्य प्रत्यक्षवद् देहक प्रत्यक्ष-  
 विशेषत क्वचित्पि विषये विज्ञानजनकत्वासम्भवात्, सामान्यत एवात्मन् चरित् ।  
 सवित्तिसम्भवात् ।

अथ तैत्प्रतीत्युपायस्य अपरस्योपदेशान्नास्य आगमफलत्वम्, यत्र हि उप-  
 यादेव अर्थतत्त्वम् उपायान्तरनिरपेक्षमवधार्यते स आगम, यत्र तु सुदूर उर्ध्व-  
 प्रतीतो उपायान्तरमपरमुपदिशति तत्र तत् एवोपायान् प्रतिद्वेषान्तरादिद्वेषान्  
 सन्नामक्षिसम्बन्धावधारणम्, उपायमात्रावगम एव तु अद्वेषान्तरं वृत्तान्तरम्, ३.  
 शब्दव्यापारप्रभञ्जस्याप्यस्य एतौपना विशेषेण यदागन्तुं प्रकृतत्वमिच्छते,  
 तदा प्रमाणानामानन्त्यप्रसङ्गात् नैयायिकस्य 'चित्तवृत्ति प्रमाणम्' इति शब्दव्यापार-  
 स्यात् । तैथाहि—'य सिंहासनाधिरूढ स राणा, पयोऽम्बुनेने हत्- ५३३ न्वर

सप्तपर्णैर्विपमच्छद्' इत्येवमात्रिवाक्यैर्ननितसस्कारस्य यथोक्तत्रिशेषणविशिष्ट रात्रादिक  
पश्यत 'अयमसौ रात्रा' इत्येवमात्रि सज्ञानक्षिमम्बन्धप्रतिपत्तिरूपयते सा भवमते  
प्रमाणचतुष्टयान्तर्भूतत्वात् प्रमाणात्तर स्यात् । न ह्यसौ उपमानम्, प्रसिद्धसाधर्म्यान-  
पक्षणात् । नाप्यागम, वत्प्रतीतो' मिहामनाधिरूढत्वादेरुपायात्तरस्योपदेशात् । तथा-  
० प्यस्य आगमेऽतर्भावे उपमानस्यापि तत्रातर्भावेऽस्तु अनिशेषात् ।

एतेन 'त्रान्यसत्रिस्वपेक्षणात्' इत्यपि प्रतिव्यूढम्, उक्तप्रतीतेस्तदपेक्षणेऽपि  
आगमे अतर्भावाऽऽभ्युपगमात् । ननु उपायात्तरादर्थप्रतीतावपि उपमानस्य आगमेऽ-  
तर्भावाभ्युपगमे 'अग्निमानय पवतो धूमउत्त्वात् महानसवत्' इत्यादे परार्थानुमानस्य  
कुनस्तत्रान्तर्भावे न स्यादिति चेत् ? 'अनुमानकारणकार्यत्वात्' इति धूम । तथाहि—प्रति-  
१० पादकस्त्रार्थानुमानकार्यत्वात् प्रतिपाद्यस्वार्थानुमानकारणत्वाच्च घचनरूपस्यापि परार्थानु-  
मानस्य अनुमानता न विरुध्यते । नचैतद् भयत्कल्पितोपमाने सभवति । न खलु  
उपदिष्टप्रसिद्धसाधर्म्यलक्षणोपायादर्थप्रतीतिं निहाय अन्यदुपमानं किञ्चिद् भवत  
प्रसिद्धमस्ति यत्कारणकार्यतया अर्थ उपदेशप्रभृतस्याप्युपमानता स्यादिति ।

एतेन वृद्धनैयायिकैर्यदुक्तमुपमानलक्षणम्—'प्रसिद्धेतरयो साहचर्यप्रतिपाद्यम-  
१५ तिदेशवाक्यमेव उपमानम्' इति, तदपि प्रत्याख्यातम्, अतिदेशवाक्यात्मनोऽस्य आगम-  
स्वभावनया उपमानत्वायोगात् । किञ्चिद्विशेषमादाय अस्य अनागमस्वभावत्वाभ्युपगमे  
प्राक्प्रतिपादितानेपदोपापुपद्म स्यात् । ततो गोगत्रयो मारूप्यपरामर्शात्मक ज्ञानमेव  
प्रत्यभिज्ञारय मुच्यत उपमान युक्त नायदिति प्रेक्षादक्षै प्रतिपत्तव्यम्, अत्र उक्तदोषाणा  
लेशतोऽप्यवकाशासम्भवात् ॥ छ ॥

१० कारिकायामनुक्तमपि दूषण 'प्रसिद्ध' इत्यादिना दर्शयन्नाह—प्रसिद्धार्थसाधर्म्यम्  
विवृतिमाह्वयानम्— अन्यथानुपपन्नत्वेन साध्यामावप्रकारेण निर्णीत चेत् यदि तर्हि

दीनवञ्जय तथा सत्यापयति यत्र तत्रा तत्सङ्कृतमपि प्रत्यभिज्ञानमुक्त दशनस्मरणकारणत्वाविपात्तात् ।  
परंपरा तु तत्प्रमाणान्तरमेवोपयत्त उपमानादौ तस्यान्तर्भावाभावात् । '—प्रमेयर० पृ० ८४ । स्या० २०  
पृ० ४९८ । प्रमाणवी० प० ३४ । जनकभा० पृ० १० ।

(१) नयायिकगते । (२) तुलना— वाक्यान्व सङ्कृतस्य प्रतीतत्वात् । तथाहि—सादृश्यवाक्य  
स्यायमर्थो यो गामदूरा स गवय इत्येव व्यवहृतव्य । स च वाक्यादुपलक्ष्यसङ्कृत सादृश्यावच्छिन्न  
पिण्डमुपक्रमान पर व्यवहरति अर्थ गवय इति । —प्रण० ध्यो० पृ० ५८९ । 'उपमान तावत् यथा  
गोस्तथा गवय इति वाक्यम् तज्जनिता धीरागम एव । —सांख्यतत्त्वकी० पृ० ३९ । वशे० उप० पृ०  
३३७ । (३) अतिशयावाक्यावगतप्रसिद्धविण्डमारूप्यज्ञानात् । (४) आगम—आ० टि० । (५) तद्  
चनमपि तद्वेतुत्वात् —परीक्षा० पृ० ३५६ । (६) मन्तार्थनिसम्बन्धस्य—आ० टि० । (७) अतोऽप्याग  
मन्तर्भावे मुक्त इति तात्पर्यम्—आ० टि० । (८) पृ० ४९७ प० ९ ।

१—विगवविनि—अ० । २—मादिवाया स—व०—मादित्यास—अ० । ३—सो तु उप—अ० ।  
४—सो हि सिहा—अ० । ५—त प्रमाण मुक्तं व० । ६—वादिति व० ।

लिङ्गमेव तद्वैक्षणत्वात् लिङ्गस्य । अथ तथात्वेन तदनिर्णीत तत्र दूषणमाह—‘ततः’ इत्यादि । ततः प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् प्रतिपत्तिः साध्यसवित्ति अन्यथा अन्यथानुपपन्नत्वनिर्णयाभावप्रकारेण न युज्यते । ‘प्रत्यक्ष’ इत्यादिना प्रथम कारिकाद्ध व्याचष्टे—प्रत्यक्षे दर्शनेन विपयीकृते अर्थे गवयलक्षणे ‘गवय’ इति सज्ञा तस्या गवयलक्षणोऽर्थे सज्ञी तयोर्वाच्यवाचकभावलक्षण सम्बन्धः तस्य प्रतिपत्तेः ‘गवयोऽयम्’ इति सवित्ते प्रमाणान्तरत्वे अङ्गीक्रियमाणे दूषणमाह—‘वृक्ष’ इत्यादि । अयं दृश्यमानो भाव वृक्षः इति यत्ज्ञानं तत् ‘प्रमाणान्तर स्यात्’ इत्यध्याहार । कस्य तज्ज्ञानम् ? इत्याह—वृक्षदर्शिनः । अत्र निदर्शनमाह—‘गवय’ इत्यादि । ‘अयं गवयः’ इति ज्ञानं यथा गवयदर्शिनः उपमानारय प्रमाणान्तर तथा प्रकृतमपि तदन्तरं स्यात् । उपमानं कस्मात् तन्न भवतीति चेत् ? अत्राह—‘प्रसिद्ध’ इत्यादि । प्रसिद्धार्थसाधर्म्याद् या साध्यसिद्धिः तस्या अभावात् तत्प्रमाणान्तरम् । कथं तज्ज्ञानमुत्पद्यत इति चेत् ? उच्यते वृक्षानभिज्ञो यदा कश्चित् कश्चित् पृच्छति ‘कीदृशो वृक्ष’ इति ? स तं प्रत्याह—‘शागादिमान् वृक्ष’ इति । तदाक्याशाहितसस्वार प्रष्टा पुनः शागादिमन्त पदार्थं पश्यन् ‘अयं वृक्ष’ इति प्रतिपद्यते । अनेन च तद्वैधर्म्यात् तत्प्रतिपत्तिरैर्लक्ष्यत्वात् इत्ययमर्थो व्यौरयात् ।

तथाऽपरमपि प्रमाणान्तर परस्य आपादयितुं ‘गौरिव’ इत्यागाह । अस्यायमर्थः - यदा कश्चिदादिक नगरस्थेन ‘कीदृशो गवयः’ इति पृष्ट इदमाह—‘गौरिव गवय’ इति । तदा तस्य नागरकस्य ‘गौरिव गवयः’ इत्येष वाक्यं श्रुत्वा पर्यटतो गवयदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिवत् । तच्छब्देन दृष्टो गवयः पराश्रयते, तस्य ‘गवय’ इति नाम तस्य प्रतिपत्तिः सेव्यं तद्वदिति । प्रत्यक्षेषु दर्शनविपयीकृतेषु इतरेषु प्रसिद्धार्थविसदृशेषु तिर्यक्तुं महिष्यादिषु तस्यैव ‘गौरिव गवय’ इति वाक्यं श्रुतवत् पुनः पश्चाद् ‘अगवयोऽयम्’ इति निश्चयः किन्नाम किमभिधानं प्रमाणं स्यात् ? सानान्तेन

(१) तुलना—‘योऽप्ययं गवयशब्दो गोसदृशस्य वाचक’ इति प्रत्यय सोऽप्यनुमन्तव । यो हि शब्दो यत्र बुद्धं प्रयुज्यत सोऽपि वस्तुन्तरे तस्य वाचकं यथा गोशब्दो गान्धर्व, इत्यनुमन्तव गवयशब्दो गोसदृश इति तस्यैव वाचक इति तज्ज्ञानमनुमानमेव । -साध्यतरत्वको० पृ० ४० । न्ययती० पृ० ५६ । वगै० उप० पृ० ३३७ । (२) अन्यथानुपपत्तिलक्षणत्वात् । (३) तुलना—‘वृक्षानभिज्ञानं’ -परीक्षामु० ३१० । प्रमेयक० पृ० ३४७ । (४) प्रमाणान्तरम—आ० टि० । (५) न दृश्यमानं न रूपम्—आ० टि० । (६) महिष्यादिषु वधर्म्यान् प्रमाणान्तरत्वात्—आ० टि० । (७) इत्यनुमन्—आ० टि० । (८) यथा तन्नामप्रतिपत्तिर्भवत् प्रमाणान्तरं तथा गवय इत्यनुमन्—आ० टि० ।

१ अपातथा—आ० । २ तत्प्रसिद्धा—व० । ३ प्रत्यक्षत इत्या—व० । ४ वृक्षानभिज्ञानं

५ गवयोऽयमित्या—व०, व० । ६ वृक्षाशो आ०, वृक्षायशो व० । ७ इत्यनुमन्—आ०

८ गवय इति वर्णनं—व० ।



निश्चयवचनम् अंशद्वयं मीमांसकसम्प्रतिपत्तिं शीघ्रं च नैयायिकसम्प्रतिपत्तिं  
निश्चयस्य सङ्ग्रहार्थम्, तेन मीमांसक प्रतिपत्तिं व्याख्यानं तदपि महद्गृहीतम्, इतरथा  
'अगवयनामनिश्चय' इति ब्रूयात् । अथ अगवयज्ञानं प्रमाणं न भवतीत्युच्यते,  
अत्रोत्तरमाह—'हानोपादानं' इत्यादि । हानोपादानोपेक्षाप्रतिपत्तिः फलं यस्य अगव  
यज्ञानस्य तन्न अप्रमाणं भवितुमर्हति किन्तु प्रमाणमेव तदिति प्रमाणयत्ताव्याघातः ।

तथाऽपरमपि परस्वाऽनिष्टं प्रमाणं दर्शयन्नाह—

प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा सम्बन्धप्रतिपत्त्यतः ।

तत्प्रमाणं न चेत्सर्वमुपमानं कुनस्तथा ? ॥ २० ॥

विद्युति—आगमाहितसंस्कारस्य तदर्थदर्शिनं तन्नामप्रतिपत्तिः साकल्येन  
10 प्रमाणमप्रमाणं वा न पुनरुपमानमेव । यथा एतस्मात् पूर्वं पश्चिममुत्तरं दक्षिणं  
वा ग्रामधानं क्रमेतन्नामकमित्याहितसंस्कारस्य पुनस्तद्दर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिः ।  
कश्चायं निश्चयः सनामत्रिसम्प्रतिपत्तिसाधनमेव समन्वेऽर्थे प्रमाणान्तरं न पुनः  
मर्यादाप्रतिपत्तिसाधनमिति ?

प्रत्यक्षश्च तदर्थान्तरश्च तस्य अपेक्षा र्यस्या सा तथोक्ता । कासौ ? इत्याह—

15 सम्बन्धप्रतिपत्तौ वाच्यवाचकयोः सम्बन्धं तस्य प्रतिपत्तिं  
कतिपय—  
यतः यस्मात् 'जायते' इत्यप्याहारः, तत्प्रमाणम् । तदनभ्युपगमे  
दूषणमाह—'न चेत्' इत्यादि । न चेत् प्रमाणं सर्वं मीमांसकं नैयायिकवर्तिपत्तम  
उपमानम् कुतः ? न कुतश्चित् प्रमाणमिति सम्बन्धं तथा तेन तदप्रामाण्यप्रकारेण ।

(१) मीमांसका इति सावयज्ञानमुपमानवययन्ति अतस्तेषामुपमानं न गण्यते इति । (२)  
मयायिकास्तु सनामत्रिसम्बन्धानमुपमानं वणयति त अतस्तेषामभिप्रायेण तच्छान्दोग्यात्मकं भवति ।  
(३) सूत्रवार—आ टि । अकलङ्किते । (४) यतो यस्माज्ज्ञानं भवति । का ? सम्बन्धप्रतिपत्तौ  
सम्बन्धस्य वाच्यवाचकभावस्य प्रतिपत्तिं ज्ञप्तिः । किं विशिष्टा ? प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा प्रवृत्तानां शब्द-  
क्षणवर्षादयोर्धार्थान्तरप्रत्ययश्च तदर्थान्तरस्य प्रत्ययार्थान्तरं वृद्धादि तत्तथोक्तम्, तस्यापेक्षा यस्या  
सा प्रत्ययार्थान्तरापेक्षा । तन्नामं चेत् यत् न प्रमाणं स्यात्तन् तद्दि सव नैयायिकमीमांसकान्कल्पितमुप-  
मानं कुतः प्रमाणं स्यादिति शङ्कायात् । न हि सादृश्यसम्बन्धज्ञानं प्रमाणं न पुनर्वाच्यवाचकसम्बन्धज्ञानमिति  
विशयोक्तिः । तत्र सजातसिसङ्कलनमपि प्रमाणान्तरमेव भविष्यतीति कुतः प्रमाणनभ्यानिवम ? —  
लघ्यां तां ५० ४० । (५) तुजना— तथा अस्मात्पूर्वमिदं पश्चादीपं ह्यस्वमित् महत् । न्ययवमा-  
निविधानं प्रमाणनिष्ठा प्रसूयति ।—तत्त्वसं० १० ५० ४५० । तत्त्वायश्लो ५ २४२ । (६) उप-  
मानम्—आ० टि० ।

1 असादृश्यामीमां—ब० । 2 सादृश्यं च व० । 3 इतरथा गव—आ व० । 4—ज्ञानोपेक्षा-  
फलं ज्ञा० व० । —धानकं यत्प्रा—ई० वि० । 5 मयायिक—ब० वि० । 6 यस्या सा श्र० ।  
७—स्मात्जायते श्र० । 8—लपितं कुत व, आ० ।

कारिका विवृण्वन्नाह—‘आगम’ इत्यादि । यो यस्य अत्रिसवाद्कं पुंस्त्वं स तस्य  
 आप्त तस्य वचनम् आगमः तेन आहितः मस्कारो यस्य तदर्थदर्शिन  
 विवृति याव्यानम्—  
 आगमार्थदर्शिनं तन्नामप्रतिपत्तिः आगमार्थाभिधानप्रतिपत्ति साक-  
 ल्येन अनवयवेन या काचित् तदर्थदर्शिनं तन्नामप्रतिपत्ति सा प्रमाणमप्रमाण वा ?  
 ‘स्यात्’ इत्यव्याहार । यदि प्रमाणम्, प्रमाणमरथाव्याघात । अथ अप्रमाणम्, 5  
 तर्हि उपमानमप्यप्रमाणं स्याद्विज्ञेपात्, अतः न एव तत्प्रख्याव्याघात । ननु तस्यै  
 तत्प्रतिपत्तिरूपमानमेव तर्ह्ये प्रमाणमिष्टमेव इत्युक्तोपानवनाश इत्याशङ्क्याह—‘न पुनः’  
 इत्यादि । न पुनः नैव उपमानमेव तत्प्रतिपत्तिरित्यनुवर्तते । किन्तु ततोऽन्यापि विद्यते  
 इत्यभिप्रायः । अत्रोदाहरणमाह—‘यथा’ इत्यादि । ‘यथा’ इत्युदाहरणप्रदर्शने, एतस्मा-  
 द्भगवादे पूर्वं पदिचममुत्तरं दक्षिणं वा ग्रामधानकं ग्रामविशेषस्यैव सहा एतन्ना- 10  
 मकं एतदनिर्दिष्टं नाम यस्य तत्तथोक्तम् इत्येवमाहितसस्कारस्य पुनः पुनस्तदर्शिनो  
 यत् तत् ‘एतस्मात्’ इत्यनेन ‘ग्रामधानकम्’ इत्यनेन चोक्तम् तत्प्रत्यतीत्येनगीलस्य  
 तन्नामप्रतिपत्तिः ग्रामधानकनामप्रतिपत्तिः । चशब्दोऽत्र द्रष्टव्यः । ‘एतस्मात्’ इत्यनेन  
 अपेक्ष प्रत्यक्षार्थान्तरमुक्तम् ‘पूर्वम्’ इत्यादिनां तु तदपेक्षं ग्रामधानकम् । अतः एतस्य  
 विशेषः । भवतु इयं प्रमाणको दोष इति चेत्? अत्राह—‘कश्च’ इत्यादि । कश्च ? 15  
 न कश्चिद् अयम् परेणोच्यमानो निश्चयोऽवश्यभावः । कोऽसौ ? इत्याह—सर्वांसि-  
 समप्रतिपत्तिसाधनमेव समक्षेऽर्थे प्रमाणान्तरं न पुनः मर्यादादिप्रतिपत्तिसाधनमिति  
 किन्तु तदपि स्यादिति भावः । एतदेव दर्शयन्नाह—

इदमल्पमहद्वूरमासन्नं प्रांशु नेति वा ।

व्यपेक्षात् समक्षेऽर्थे विकल्पः साधनान्तरम् ॥ २१ ॥ 20

(१) तुम्हा—“रजस्तमोभ्या निमुंस्तान्मपोनानब्रलन ये । येषां त्रिकालमल्पं ज्ञानमत्राहृतं  
 सत् ॥ आप्ता शिष्टा विबुद्धास्त तेषां वाक्यमसक्षयम् । सयं वर्थात न कस्मादसत्यं नीरजस्तमा ॥’  
 -चरक० सू० ११।१८-१९ । ‘आप्तं सत् साक्षात्तन्मार्गं यथादृष्टस्यायस्य चित्यापिपया प्रयुक्तं उप-  
 देष्टा ।’-न्यायभा० १।१।७। साध्यका० माठर० का० ५ । युक्तिवी० प० ४६ । ‘आप्तोच्छिन्नदोषेण  
 सवज्ञानमग्निना । भवितव्यं -रत्नक० श्लो० ५ । यो यथाविसवाद्कं स तत्राप्यतः ततोऽपरो  
 ज्ञाप्तः ।’-अष्टा० अष्टसह० पृ० २३६ । (२) आगमाव्यति । (३) तन्नामप्रतिपत्तिः । (४)  
 उपमानम् । (५) भगवात् -आ० टि० । (६) प्रतिपत्तिसाधनभावात् -आ० टि० । (७) नामप्रति-  
 पत्ति -आ० टि० । (८) द्वित्वान्तिप्रत्यया अपि अपेक्षाबुद्धिजन्यत्वात् प्रमाणान्तरत्वप्रसक्तिरिति भावः  
 -आ० टि० । (९) साधनान्तरं प्रमाणान्तरं स्यात् । किम् ? विकल्पान्तरं । तस्योत्पत्त्याह—  
 इदमस्मान्मल्पम्, इदमस्मान्महत् इदमस्मादासन्नम् इदमस्मात्प्रांशु दीघञ्च इदमस्मान् प्रांशु इति ।  
 वाग्यं परस्परसमुच्चये । कस्मिन् ? समक्षे प्रत्यक्षे पदार्थे । कुत ? व्यपेक्षात् विबुद्धस्य प्रतिपत्ति-  
 स्यापेक्षा कथञ्चिच्चत्तद्वृत्तिस्तं इति । एवम् अल्पमहत्त्वादिसङ्कलनमपि परप्रमाणसंख्यानिमित्तं विषय-

विवृति-दृष्टेऽर्थेषु परस्परव्यपक्षालक्षणम् अल्पमहत्त्वादिज्ञानमधरोत्तरादि-  
ज्ञान द्वित्यादिमग्याज्ञानमन्य च प्रमाणमग्निमात्रादुपमानत् । अर्थापत्ति  
'अनुमानात् । प्रमाणान्तर न वा' इति किन्नश्चिन्तया सर्वस्य परोक्षेऽन्तर्भावात् ।  
तत्त्वमज्जम् अन्यक्ष परोक्षश्चेति द्वे एव प्रमाणे अन्यथा तत्संग्रहानरस्थानात् ।

- 5 विकल्पप्र- प्रत्येकमभिसम्बध्यते, इदमल्पमिति विकल्प, इद  
कारिकाय - महदिति विकल्प, इद दूरमिति विकल्प, इदमासन्नमिति  
विकल्प, इद प्राशु इति विकल्प, तथा अल्प नेति विकल्प-  
महत्त्वेति, दूर नेति, आसन्न नेति, प्राशु नेति । चाशु द पक्षान्तरसूचक ।  
कुतोऽसौ विकल्पो जायते ? इत्याह--'व्यपेक्षात्' इति । आमलनापक्षया नित्य  
10 महत् देवदत्तसमीपवृत्तापेक्षया परवर्तिक दूरम्, एवमयत्रापि बोध्यम् । इदमल्प-  
मित्यान्निग्रहणमुपलक्षणम्, तेन अधरोत्तरादिविकल्पस्य द्वित्यादिविकल्पस्य च ग्रहणम् ।  
कासौ जायते ? इत्याह--समक्षेऽर्थे । स किम् ? इत्याह--साधनान्तर प्रमाणात्तरम् ।  
कारिका विवृण्वत्तहाह--'दृष्टेषु' इत्यादि । दृष्टेषु अन्यत्रेषु अर्थेषु परस्परम् अन्यो य  
व्यपक्षालक्षण यस्य तत्तथोक्तम् । किं तत् ? अल्पमहत्त्वादिज्ञानम्,  
विवृण्वत्तयाग्न्यात्- आदिशब्देन दूरादि गृह्यते । तथा अधरोत्तरादिज्ञानम् अत्रापि  
15 आदिशब्देन मध्यादिज्ञानपरिग्रह । द्वित्यादिसरयाज्ञानम्, इहापि आदिशब्देन  
त्रिरादिसरयानानपरिग्रह । अन्यच्च पूर्वापगादिज्ञानम् । तस्मिन् ? इत्याह--प्रमाणम् ।

यतीत्ययः । -रूपी० ता० पृ० ४० । तुलना- एवविपाणो खङ्ग सप्तपर्णो विपमच्छ इत्याहित  
सस्काराणा पुनस्तत्प्रत्यक्षान्निगमभिमान वित्राम प्रमाण स्यात् ? तथा स्यादिलक्षणप्रवणत् तयाशिन  
समभिज्ञान सख्यान्निप्रतिपत्तिश्च पूर्वपरिनिरीभयान पश्यताञ्च नामधेयना उपमानवत् सर्व प्रमाणात्त  
रम् । -सिद्धि वि० टी पृ० १५ B । परोक्षामु० ३५-१० । प्रमाणनय० ३५-६ । प्रमाणमी० १।२।४।  
उद्घनोज्ज इलोक -समक्षार्थे -स्या० २० प० ४९८ । प्रमेय० ३५ । प्रमाणमी० ५० ३५ ।

(१) तुलना- तेषा द्विधा निव्यानात् प्रमाणात्तरम् गणितज्ञसख्यावाक्याहितसस्कारस्य  
प्रतिपाद्यस्य पुनद्वयान्पि सख्याविगिष्टव्यग्नानानेतानि द्वघातानि तानीति सनामज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्ति  
द्विधासिद्ध्याज्ञानप्रमाणफलमिति प्रतिपत्तव्यम् । तयोत्तराद्यप्यज्ञान सोपानान्पि स्वविष्टानान पर्वान्पि  
महत्त्वानान स्ववशात्पि सस्थानज्ञान श्रम्यान्पि वक्त्वादिज्ञानञ्च क्वचिदप्रमाणात्तरमायानम् ।  
-सर्वशब्दलो० पृ २४२ । (२) तुलना- अनुमानोपमानागमार्थापत्तिसंभवाभावात्पि प्रमाणातीति  
केचिन्मन्ने तत्त्वधर्मतानि ? अत्रोच्यते-मर्वाण्येतानि मनिधुतयोत्पन्नभूतानि इन्द्रियाद्यसन्निकयनिमि  
त्तत्वात् । -सर्वशब्दलो० भा १।१२ । उपमानार्थापत्याग्नीनामत्रवात्तर्भावात्-सर्वार्थोत् १।११ ।  
अर्थापत्यात्तरनुमानव्यतिरेकेपि परोक्षान्तर्भावात् । -अच्छ० अच्छ० पृ २८१ । (३) तुलना-  
तरपठकयानिसदृष्टो एकपात्पत्तात् । त्रितीयशास्त्रिविनाशान्त्रोत्साविति निश्चय ॥ प्रमाणा  
त्तरमायान मानश्याद्यनपेक्षणात् । -सर्वशब्द० पृ० ४५० ।

1 परस्पर व्य- वि० । 2 अल्पबहुत्वादि-ई० वि० । † एतदतगतः पाठो नास्ति ई०  
वि० । 3 जात व० । 4 दृष्टशब्दादि व० । 5 इत्यत्राह व० थ० ।

कुत ? अविश्रयदकत्वात् । किमिव ? इत्याह—उपमानादिति । एव नैयायिकमीमा-  
सकुर्यो प्रमाणान्तरसम्प्लव तद्विमितप्रमाणसख्यानिर्यमनागक निरूप्य इदानीं मीमांसका-  
भिताऽर्थापत्तिं विचिन्तयन्नाह—‘अर्थापत्तिः’ इत्यादि । याऽसौ—

“प्रमाणपट्टविज्ञाता यथार्थोऽनन्यथाभवन् ।

यद्यद्यत् कल्पयेदन्य साध्यापत्तिरुदाहृता ॥” [मी० श्लो० अर्था० श्लो० १]

इत्येतल्लक्षणलक्षिता मीमांसकैः परिकल्पितार्थापत्तिं सा ‘अनुमानान् प्रमाणान्तरं  
नरा’ इति किन्नश्चिन्तया ? अयमभिप्राय—अर्थापत्त्युत्थापनार्थस्य साध्याभावे नियमे-  
नाऽनुपपन्नमानस्य अविनाभाप्रम्वभात्रलिङ्गलक्षणलभितत्वात् लिङ्गत्वमेवोपपन्नम् ।  
तत्रमयञ्च ज्ञानमनुमानमेवेति । अत—

“प्रत्यक्षमनुमानञ्च शाब्दञ्चोपमया सह ।

अर्थापत्तिरभावश्च पट्टप्रमाणानि जैमिने ० ॥” [पट्ट० समु० श्लो० ७२ (?) ]

इति कुमारिलस्य वक्त प्रमाणसर्वाध्याघात, प्रमाकरस्य च अभाव प्रत्यक्षविशेष वदत  
‘पञ्च प्रमाणानि’ इति ।

ननु चार्थापत्ते स्वरूपादिभेदात् प्रत्यक्षादिभ्यो भेदप्रसिद्धे कथं प्रमाणसंरयाध्या-

घात ? तथा च प्रयोग—अर्थापत्तिं प्रत्यक्षादिभ्यः प्रमाणान्तरम्, 16  
अर्थापत्तिं अनुमा- घात ? तथा च प्रयोग—अर्थापत्तिं प्रत्यक्षादिभ्यः प्रमाणान्तरम्,  
नादतिरिक्त प्रमाणमि विभिन्नस्वरूपत्वात्, यद्यतो विभिन्नस्वरूपं तत्तत् प्रमाणान्तरं यथा  
ति वदता मीमांसक प्रत्यक्षादनुमानम्, प्रत्यक्षादिभ्यो विभिन्नस्वरूपा चार्थापत्तिरिति । नच  
स्य पूर्वपक्ष— विभिन्नस्वरूपत्वमभिद्धम्, तथाहि—तस्या स्वरूपम्—दृष्टं श्रुतो वाऽ-

(१) एवत्र प्रमेये बहूना प्रमाणानां प्रवृत्ति सम्प्लव । (२) व्याख्या—‘यत्र देवनालादौ प्रत्य-

क्षानुमानोपमानाणां अर्थापत्त्यभावलक्षणं पट्टमि प्रमाणं परिच्छिन्नोऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यत यद्यवम्भूताज्यो  
न भवन्तिव या परोपयोगविषया कल्पना साऽर्थापत्तिं प्रमाणमुदाहृता शबरस्वामिना ।”—तत्त्वम०  
प० पृ० ४५६ । (३) उदनाज्यम्—नान्यथा भवेत्—मी० श्लो० । प्र० पृ० ५९० । तत्त्वाय  
श्लो० पृ० २१६ । समति० टी० पृ० ५७८ । ‘कल्पयत्यय—तत्त्वम० प० ४५६ । समति० टी०  
पृ० ५७८ । प्रवृत्तपाठ—प्रमेयक० प० १८७ । स्या० २० प० २७६ । रत्नाकराव० २।१ । (४)  
पानत्वस्य—आ० टि० । (५) रात्रिभोजनाभाव—आ० टि० । (६) लिङ्गप्रभवञ्च । (७) तुलना—  
‘प्रत्यक्षमनुमानञ्च शाब्दञ्चोपमया सह । अर्थापत्तिरभावश्च पट्टेने साध्यसाधकाः ।”—तत्त्व स० प०  
प० ४५० । (८) अर्थापत्तिरनुमानान्तभावान् पञ्चमख्यापत्त—आ० टि० । (९) ‘तत्र पञ्चविध  
मानं प्रत्यक्षमनुमा तथा । ‘तासु तद्योपमानार्थापत्तीति गुरोमतम् ॥ —प्रक० प० प० १२७ । (१०)  
प्रमाणसख्याध्याघात इति सम्बन्ध तस्य चत्वारि [ एव स्यु ]—आ० टि० । (११) “अर्थापत्तिरपि  
दृष्टं श्रुतो वाऽर्थो—यथा नोपपद्यत इत्यपकल्पना यथा जीवति दवदते गृहामावृत्तान्नं बहिर्भावस्या  
दृष्टस्य कल्पना ।”—शाबरभा० १।१।५ । ‘विना कल्पनयार्थेन दृष्टानानुपपन्नताम् । नयना दृष्टमर्थं  
साध्यापत्तिस्तु कल्पना ॥ दृष्टेनार्थेन दृष्टस्यावसाध्यापत्तिरकल्पनायामनयामनुपपत्तिमापादयता साध्यान्त-

१ इत्यध्या० व०, अ० । २—नियमविना—अ० । ३—सकपरिचित्य—व० । ४ न चेदिति व० न  
चेति अ० । ५ प्रत्यक्षादिविशेष व० अ० ।

योऽयथा नोपपद्यते इत्यन्वयार्थकल्पना । तत्र दृष्टं प्रत्यक्षादिभिः पञ्चमि प्रमाणैरपि लभ्य, श्रुत लौकिकाद् वैदिकाद्वा चान्यान्प्रगत तस्मादनुपपत्तमानाद् या अर्थात्तर-  
कल्पना सा अर्थापत्तिः । सा च पञ्चप्रकारा भवति प्रत्यक्षादिनिमित्तमेत्यात् । तत्र प्रत्य-  
क्षप्रतिपत्तौ द्वाहायनार्या यथानुपपत्त्या नद्वेर्नादृशकिकल्पना प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति ।  
देशान्तरप्रतिर्लिङ्गानुमिताऽऽदित्यगत्य यथानुपपत्त्या आदित्ये गमनशक्तिरूपना अनु-  
मानपूर्विका । तथा उपमानज्ञानानुगतगमयसौख्यनिशिष्टगोपिण्डायथानुपपत्त्या तस्यै  
तेज्जानप्राद्यशक्तिरूपना उपमानपूर्विका ।

ता गता अर्थापत्त्या प्रमाणात्तरम् अतीन्द्रियशक्तिरूपत्वात् । न यत्तु ज्ञक्य  
प्रत्यक्षपरिच्छेद्या अतीन्द्रियत्वात् । नाप्यनुमानपरिच्छेद्या, प्रत्यक्षपरिच्छेद्या अनुमान-  
स्याऽप्रवृत्ता तैत्पूर्वकत्वात्तस्यै । प्रत्यक्षेण हि प्रतिपन्ने प्रैतित्रय अनुमान प्ररर्षते । न  
च ज्ञेयतीन्द्रियत्वेन अध्यक्षागोचरत्वे तैत केनचिल्लिङ्गेन सह अस्या प्रतिषेधप्रतिप-  
त्तियुक्ता । नाप्यन्वयव्यतिरेकाभ्या तैर्प्रतिपत्ति, प्रत्यक्षादिपये तैस्प्रवृत्तैरेवाऽसम्भवा ।  
नाप्यनुमानात् प्रतिषेधप्रतिपत्ति, तद्धि इदमेव अन्यद्वा तत्प्रतिपत्तौ प्रयत्तैत ? न ताव  
दिदमेव, चरुप्रमद्वात्—सति हि प्रतिषेधग्रहणे अनुमानप्रवृत्ति, तद्ग्रहणञ्च शक्तिप्रति-  
रूपना साऽर्थापत्तिः ।—प्रक० प० प० ११३ । प्रमितस्याधस्य अर्थान्तरण विनाऽनुपपत्तिप्रालोच्य  
तदुपपत्तये याऽप्यन्तरकल्पना साऽर्थापत्ति ।—शास्त्रदी० प० २९० । नयवि० पृ० १५२ । तत्ररह०  
पृ० १३ । प्रभाकरदि० पृ० ५३ ।

(१) 'दृष्टं पञ्चभिरप्यस्मान् भवनोक्ता श्रुतौ भवा । प्रमाणप्राहिणीत्वेन यस्मात्पुत्रवि-  
णा ॥—मी० श्लो० अर्था० श्लो० २१ । 'दृष्टं'नेन यद्यप्युप-  
घमात्रमुच्यते तथापि श्रुतान्तरसिद्धान्त  
गात्राविव्यायन शब्दप्रमितव्यतिरिक्तमच्यते ।—ग्रह० प० पृ० ११७ । मी० श्लो० व्यावर० पृ० ४५० ।  
(२) स्फोट—आ० टि० । (३) मादुप्य । (४) साहचर्यविशिष्टगोपिण्डस्य—आ० टि० । (५) उपमा  
नमान । (६) गमनयोग्ये च भावाना कार्यार्थापत्तिकल्पना । प्रमिद्धा पारमार्थिक्य प्रतिषेध व्य-  
थिना ।—मी० श्लो० शृ० प० श्लो० २५४ । 'तेनार्थापत्तिपूर्वत्वमत्र यत्र च कारण । कार्यान्त-  
रान्तरित्वत्वं सम्प्रतीयते । कायस्य तु लिङ्गत्व न सम्बधानपेक्षणात् । दृष्ट्वा सम्बन्धनां चया  
गतिरगम्यत मायया । तद्गमन तन्मनी च प्रयक्षान्तरसम्भवात् । अर्थापत्ते प्रमाणत्व प्रत्यक्ष्याद्विना  
भवेत् । गतिरकल्पनाप्यर्थापत्तिरेवेत्याह यप्रति । चाप्यनि कायस्वति । कारणवत्तया शक्ति कल्प्यते  
कामाच्च कारणवद्विरनुमानमिति । निराकराति भेति । कारणमाह सम्बन्धति । बीज सत्यकुरोत्य  
तिन्नाद् बीजकारणत्वमवगम्यते मत्पि तस्मिन् मूषिकाघाते अठकुरान्तरकारणत्व तन्नि कारण  
कारणत्वव्याघातपरिजिहीषया गतिकल्पनम् सम्बन्धानानपक्षत्वात्प्रानुमानम् इत्यत्र नानुमान  
मित्याह—दृष्टवेति साद्वेन । सम्बन्धग्रहणपूर्वक हि सम्बन्धग्रहणम् न च शक्य प्रत्यक्षग्रहण सम्भवति  
अनोऽवश्य सम्बन्धग्रहणवेत्याया शक्तिग्रहणमभ्युपगन्त्यम् । अर्थापत्तिहि प्रत्यक्ष्याविजना शक्योति ता  
ग्रहीतुमिति ।—मी० श्लो० अर्था० व्यावर० पृ० ४६२ ६३ । शास्त्रदी० पृ० ३०६ । (७) प्रत्यक्ष  
पूर्वकत्वात् । (८) अनुमानस्य । (९) अविनाभावे—आ टि० । (१०) प्रत्यक्षान—आ० टि० ।  
(११) अविनाभाव । (१२) अन्वयव्यतिरेक ।

पत्तौ, तत्रातिपत्तिश्चानुमानप्रवृत्तौ, तत्रप्रतिपत्ति (तत्रप्रवृत्ति)श्च प्रतिबन्धग्रहणे इति। अथान्यतोऽनुमानात्तत्रातिबन्धप्रतिपत्ति, ननु तदपि प्रतिबन्धप्रतिपत्तौ सत्या प्रवर्तते, तत्र च प्रतिबन्धप्रतिपत्ति प्रथमानुमानात्, तदन्तराद्वा स्यात् ? प्रथमपक्षेऽन्योन्याश्रय - सिद्धे हि द्वितीयानुमाने तत्र प्रसिद्धप्रतिबन्धाल्लिङ्गात् प्रथमानुमानसिद्धि, तत्सिद्धौ च अत्र प्रसिद्धप्रतिबन्धाल्लिङ्गाद् द्वितीयानुमानसिद्धिरिति । द्वितीयपक्षे त्वनवस्था-अनुमानान्तरेऽपि प्रतिबन्धप्रतिपत्ते अनुमानान्तरादेव प्रसिद्धे । नहि तत्र प्रतिबन्धप्रतिपत्तिं विना स्वमाध्यसिद्धये प्रभवति । शब्दोपमानयोस्तु शक्तिप्रतिपत्तौ समावनेव नास्ति, शब्दसादृश्याभ्या विनैव तत्रातिपत्तिप्रतीते । अत अर्थापत्तेरेव शक्तिविषयत्व युक्तम् ।

तथा शब्दसाधर्म्यप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या शब्दस्य वाचकशक्तिमयगम्य तदन्यथानुपपत्त्या तस्यै नित्यत्वकल्पना अर्थापत्तिपूर्विकाऽर्थापत्ति ।

‘पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते’ इति वाक्यश्रवणात् राज्ञो भोजनकल्पना श्रुतार्थापत्ति । नहीद श्रूयमाण वाक्यमेव तत्रप्रतिपत्तिनिबन्धनम्, पीनादिपदाना स्वार्थप्रतिपादनपरतया रात्रिभोजनलक्षणार्थप्रतिपादनसामर्थ्यानुपपत्ते । अथ पदसमुदायान् तत्रप्रतिपत्ति, तत्र, अस्य अन्यैर्ार्थप्रतिपादनपरत्वात् । श्रूयमाणेन हि पदसमुदायेन देवदत्तस्य पीनस्य रसायनाद्यभावे दिवाभोजननिषेध एव प्रतिपाद्यते न तु रात्रि

(१) प्रथमानुमानात् । (२) अनुमानान्तरम् । (३) शक्तिप्रतिपत्ते । (४) वाचकशक्त्ययथानुपपत्त्या । (५) शब्दस्य । (६) वचनस्य श्रुतस्यैव सोऽप्यर्थे वक्षिष्यते । तदर्थोपपत्तुस्तस्यापरिष्टा वाक्यान्तरस्य तु । न तावद्भूयमाणस्य वचसाऽर्थोऽप्यभिध्यते । न ह्यनेवाधता युक्ता वाक्ये वाचकता तथा । पदार्था वयरूपेण वाक्यार्थो हि प्रतीयते । न रात्र्यादिपदार्थश्च दिवावाक्येन गम्यते । न दिवादिपदार्था गमणौ रात्रिभोजनम् । न भद्रा यत्र तद्वाक्य तस्य स्मात् प्रतिपादकम् । अथाव्याप्यपूतत्वाच्च न द्वितीयपक्षेऽपि न । तस्माद्वाक्यान्तरेणार्थं बुद्धिमन् प्रतीयते । प्रमाणं तस्य वचनस्य प्रत्यक्षात्पि यद्भवति । न ह्यनुच्चारित वाक्य प्रत्यक्षं तावद्विष्यते । नानुमानं न चेद हि दृष्टं तत्र राह क्वचित् । यत्र त्वनुपपत्त्यपि सम्बन्धे लिङ्गतप्यते । तदुच्चारणमात्रेण सर्ववाक्यमिति भवति । श्रुतस्यैव शब्दस्य तत्रप्रतिपादनस्यै वैचित्त्यल्पयति, अथ तु शब्दान्तरमेव तत्रप्रतिपादकमिति, तत्रानन्तरणं निराकराति न तावदिति । कारणमाह-न हीति । किञ्च यत्र वाक्यं वाचकं स्यात् स्यात्प्यनवाप्यता न तु वाक्य वाचकमि याह वाचकतेति । यत्र तत्र वाक्यायप्रतीतिरत अह-पदार्थेति । किमिति रात्रिभोजन दिवावाक्यस्यार्था न भवत्यत्र आह-न रात्रीति । न हि रात्र्यादिपदार्था दिवावाक्यपदरमिधीयन्ते त वचनवितरूपतया तत्रावधारणार्थमवपुरिति । यद्यप्यपदार्थोऽपि रात्रिभोजन दिवादिपदाना समगौ भद्रा वा स्यात्ततोऽपि तस्यैव वाक्यस्यार्था स्यात् न तु तदस्तीत्याह न विद्येति । यद्यपि चानवाप्यता, तथापि एकस्मिन् प्रयोगे व्याप्य तस्य नार्थान्तरं संभवतीत्याह-अपार्थेति । तस्माद्वाक्यान्तरस्यैव वक्ष्यितस्यायमर्थो न तु श्रुतस्यैवाह तस्मादिति । तस्य तु वाक्यस्य कि प्रमाणमिति विचारणीयमि याह-तस्यति । यच्च तदर्थान्तरं तदा यद्यपि वाक्यार्थेऽसादागमिकं न निष्प्रमाणकं तथापि तत्रैव वाक्य कि प्रमाणमिति विस्वमिति । तत्रापीतिरेव प्रमाणमिति अत्र तु पूर्वोपायसम्भवदगमिनुमाह न हीति । 'मो० इत्ये० अर्था०, वापर० १० ४६४-६५ । (७) दिवा न भुङ्क्ते इति निषेधार्थप्रतिपादनपरत्वात् ।

- भोजनत्रिभिः, विधिप्रतिषेधयो परस्परपरिहारस्थितिलक्षणविरोधतो मिथ ममर्गा-  
 भावात् । न चानैतिस्य पदार्थसमुदायस्य वाक्यार्थता दृष्टेया वा, प्रतीतिविरोधात् ।  
 नापि तैर्वाचिषे पदसमुदाये अभिधायी तात्पर्यशक्तिर्वाऽस्तीति । अत अर्थापत्तित  
 एव रात्रिभोजनलक्षणोऽयं प्रतीयते इति प्रमाणात्तर श्रुतार्थापत्ति मिद्धा । तदुक्तम्—  
 5 तत्र प्रत्यक्षता ज्ञातादाहाद् दहनशक्तिता । वह्नेरनुमितात् सूयै यानात्तच्छक्तियोगिता ॥  
 गव्यैोपमिताया गास्तज्ज्ञानग्राह्यशक्तिता । अग्निधानप्रसिद्धयर्थमर्थापत्त्याऽवबोधितात् ॥  
 शब्द वाचकमामर्थ्यात् तन्नैत्यत्वप्रमयता । अग्निधा नान्यथा सिद्धेरिति वाचकशक्तिता ॥  
 अथापत्यावगम्यैव तैर्देवत्व (दनन्य) गते पुन । अर्थापत्त्यन्तरेणैव शब्दनित्यत्वनिश्चय ॥  
 दशनस्य परार्थत्वादित्यस्मिन्नेभिधास्यत ।” [ मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३-७ ]  
 10 “पीनो दिवा न भुङ्क्ते चेत्येवमादिवच श्रुतौ । रात्रिभोजनविज्ञान श्रुतार्थापत्तिरुच्यते ॥”  
 [ मी० श्लो० अर्था० श्लो० ५१ ] इति ।

अभानार्थापत्तेस्तु लक्षणम्—

“प्रमाणाभावात्तच्चैत्राभावविरापितात् । गेहाच्चैत्ररहिर्भासिद्धिया त्विह दैर्शिता ॥  
 तामभावोत्थितामन्यामर्थापत्तिमुदाहरेत् ॥” [ मी० श्लो० अर्था० श्लो० ८-९ ] इति ।

(१) मा भूमस्य को दोष इत्याह—आ० टि० । (२) ससगरहितस्य । (३) अयायप्रति  
 पादनत्परे । (४) साक्षात् शक्ति । (५) लक्षणा । (६) गमनशक्ति—आ० टि० । नानादा  
 हाह्वनशक्ता । वह्नेरनुमिता सूयै यानात्तच्छक्तियोगिता ॥—मी० श्लो० । स्या० १० प० २७८ ।  
 उद्धृतायम्—तत्त्वसं० प० ४५७ । प्रमेयक० प० १८८ । समति० टी० प० ५७९ । (७) गवयो  
 पमिता या गोस्त ज्ञानग्राह्यता मता—मी० श्लो० । ग्राह्यशक्ता—स्या० १० प० २७८ । उद्धृतोऽ  
 यम्—प्रमेयक० पृ० १८८ । समति० टी० प० ५७९ । तुलना—गवयोपमिता या गोस्त नानग्रा  
 ह्यशक्ता । उपमावत्प्रभूतसामर्थ्येन प्रतीयते ॥—तत्त्वसं० पृ० ४५९ । (८) गच्छे बोधकसामर्थ्या  
 त्नित्यत्ववप्रवत्पनम्—मी० श्लो० । (९) तस्य शब्दस्य नित्यत्वेन प्रमेयत्वं परिच्छेद्यत्वम्—आ० टि० ।  
 उद्धृतोऽयम्—प्रमेयक० प० १८८ । समति० टी० प० ५७९ । स्या० १० प० २७८ । (१०)  
 ‘अग्निधा नायथा सिद्धपदिनि वाचकशक्ताताम् । अर्थापत्त्यावगम्यैव तदनभ्यगते पुन ॥’—मी०  
 श्लो० । अर्थापत्त्यावगम्यैव—तत्त्वसं० पृ० ४५९ । वाचकशक्ताताम् । अथापत्त्यावगम्यैव  
 —स्या० १० प० २७८ । प्रकृतपाठ—प्रमेयक० पृ० १८८ । अग्निधानमभिधा अथप्रतिपादनमिति  
 यावत् । सा गच्छेत्य अयथा—वाचकशक्ताया विना न सिद्धयन्तित्वेव बोधकशक्ताताम् अवगम्य बुद्ध्या,  
 तदनयगते तस्या बोधकशक्तराया गतिविरहिते गच्छेन्नित्यत्वमन्तरणनि । पुनरर्थापत्त्यन्तरेणैव शब्दस्य  
 नित्यत्वनिरचय ।—तत्त्वसं० पृ० ४५९ । (११) एकया अथापत्या वाचकशक्तिमवगम्य अन्यया  
 गच्छेत्य नित्यत्वं निश्चिन्यात् प्रमाणा—आ० टि० । (१२) मीमांसामूत्र । (१३) शब्दाथार्थापत्तिरुच्यते  
 —स्या० १० प० २७८ । उद्धृतोऽयम्—तत्त्वसं० पृ० ४५७ । प्रमेयक० पृ० १८८ । समति० टी० प०  
 ५७९ । (१४) वर्णिता—तत्त्वसं० पृ० ४६० । उद्धृतायम्—प्रमेयक० पृ० १८९ । समति० टी०  
 प० ५७९ । स्या० १० प० २७८ । व्याख्या—प्रत्यक्षादे प्रमाणास्याभावन निवर्त्या निर्णीतो निश्चितो  
 यश्चत्राभाव तत्र विरापिताद् गहात् इह गच्छे चत्रो नास्तीत्यत चैत्रस्य जीवन सति या बहिर्भावसिद्धि

1 तथार्थापत्त्यन्तरेण—अ० । 2—शक्ताता ब० । 3—स्याधिबोधि—आ० ब० । 4—शक्ताता ब०,  
 थ० । 5—धृते ब० ।

जीवतो हि चैत्रस्य गृहेऽभावमत्रगम्य तदन्यथानुपपत्त्या बहिर्भावकल्पना अभावा-  
पूर्विका अर्थापत्ति । अथ दृष्टेन अदृष्टसिद्धे अनुमानमेवेयमित्युच्यते, तन्न, तस्मा-  
मग्र्यभावात् । पक्षधर्मतादिसामग्र्या हि यद्विज्ञान जन्यते तदनुमान प्रसिद्धम, मां  
चेह नास्ति । तर्थाहि—बहिर्भावविशिष्टे चैत्रे चैत्रविशिष्टे वा बहिर्भावे अनुमेये कस्य  
हेतुत्वम्—किं गृहाभावाविशिष्टस्य चैत्रस्य, चैत्राभावाविशिष्टस्य वा गृहस्य, गृहे चैत्रा-  
भावास्य वा, गृहे चैत्रादर्शनस्य वा ? तत्र नैतेषा मध्ये अन्यतमोऽपि हेतुर्घटते, पक्ष-  
धर्मत्वाभावात् । नह्येते चैत्रधर्मा तद्विहिर्भावधर्मा वा ।

किञ्च, प्रमेयानुप्रवेशप्रसङ्गात् नेयमनुमानम्; तथाहि—आगमावगतजीवनस्य

बहिश्चत्रो विद्यत इत्यत्र निश्चयरूपा, इह भाष्ये वर्णिता गवस्वामिना, तदयासामयापत्तीनामुपलक्ष  
णायमुदाहृतानि यावन् । यथा जीवति त्वेवदत्ते गृहेऽग्नान्न बहिर्भावस्य अदृष्टस्य कल्पनानि । —  
तत्त्वसं० पं० पृ० ४६० ।

(१) पक्षधर्मतादिसामग्र्या । (२) "पक्षधर्माद्यनङ्गत्वाद् भिन्नवाप्यनुमानन । बहिर्भावविशि  
ष्टस्य दत्त वा तद्विशेषित । प्रमेय यो गृहाभाव पक्षधर्मस्त्वमो कथम् ॥ तदभावविशिष्ट तु गृह धर्मो न  
कस्यचिन् । गृहाभावविशिष्टस्तु तदामो न प्रतीयत ॥ गम्यते तु गृहं तत्र न च चत्र प्रतीयत । न  
चात्रादशन हेतुयथाऽभावेऽभिधास्यत ॥ तत्र वचनयदृष्टत्वादिति हतुन वच्यते । अदशनान्भावे च  
प्रमेयस्यावधारित ॥ बहिर्भावमनिनासी तेनादशनहतुत्वा । चत्राभावस्य हेतुत्व गृहेऽभावश्च मस्थिन ॥  
पक्षधर्मत्व तावन्निराकरोति बहिरिति । गृहगतो ह्यभावो न देवदत्तास्य बहिर्देशस्य वा धम अभाव  
विशिष्ट तु गृह न कस्यचिद्धम इत्याह गृहाभावेति । अमो देवदत्तो बहिर्देशो वेति । कथमित्याह गम्यते  
इति । चत्रग्रहणमुपलक्षणम् गृहमेव गम्यत न चत्रो बहिर्देशो वा । न चानवगतस्य धमावगति सभव  
तीति । यदि तु चत्रादशन हेतुरित्युच्यते अत आह न चेति । यथा ह्यभावेऽनुमेय तदङ्गत्वमभावस्य न  
सभवति तथाऽत्रापि पक्षधर्मत्वाभावादव । इतश्च नादशनस्य हेतुत्वमित्याह—अदशनानिति ।  
अग्नान्नादभावेऽवगत पदचातुपजायमाना बहिर्भावमतिनादशननिमित्ता भवितुमर्हतीति नाभावस्य लिङ्गत्व  
न च तस्य पक्षधर्मता इत्याह चत्राभावस्यति ।—मी० श्लो०, "यावर० पृ० ४५४-५५ । तुलना-  
यागम० पं० ३७ । (३) प्रथमहेतुद्वयापेक्षया—आ० टि० । (४) द्वितीयहेतुद्वयापेक्षया—आ० टि०  
(५) प्रमेयस्य साध्यस्य हतुग्रहणवाल एव अनप्रवेश ज्ञानम् । 'जीवतश्च गृहाभाव पक्षधर्मोऽत्र  
कल्पने । तस्मिन्विशिर्बहिर्भाव न चाबुद्ध्वोपजायते ॥ अग्निमत्तानपेक्षा तु धूमवत्ता प्रतीयते । न तद्ग्र-  
हणवलायामग्यधीन हि किञ्चन ॥ गृहाभावस्तु य गृहो विद्यमानत्ववर्जित । स मतेष्वपि दृष्टत्वाद्  
हित्तन साधक ॥ विद्यमानत्वसत्पृष्टगृहाभावधियाऽनया । गेहादुत्कलितश्चत्रो विद्यत बहिरेव हि ॥  
गृहाभावत्वमात्र तु यत्स्वतत्र प्रतीयते । न तावता बहिर्भावश्चत्रस्यवावधार्यते ॥ सिद्धे सदभावविज्ञान  
येहाभावधियाऽत्र तु । महादुत्कलिता सत्ता बहिरेवावतिष्ठते ॥ तेनास्य निरपेक्षस्य व्यभिचारो मृतादिना ।  
यस्य त्वव्यभिचारित्व न ततो यत्प्रतीयते ॥ तस्मात् प्रत्यक्षतो गृहे चत्राभावे ह्यभावत् । ज्ञाते यत्स-  
त्त्वविज्ञान तदवद बहि स्थितम् ॥ पक्षधर्ममललाभाय बहिर्भाव प्रवेष्टिन । तद्विशिष्टोऽनुमेय स्यात्  
पक्षधर्मावयानिभि ॥ पक्षधर्मान्निविज्ञान बहि संबोधतो यन् । तश्च तद्वोधतोऽवश्यमयो यास्यता  
भवेत् । अन्यथानुपपत्ती तु प्रमेयानुप्रवेशिता । ताद्रूप्येणव विनानात्र दोष प्रतिभाति न ॥ यत्र बहिर्भा-  
वन विशिष्टश्चत्रोऽनुमातव्य स पक्षीकृतजीवच्चत्रधर्मतया गृहाभावस्यात्मलाभाय तत्प्रतीतिवेलाया  
मेवानुप्रवेशिन इति । तदत्र सत्यपि यद्यनुमानत्वमिष्यत तत्सकृन्मितरेन राशयमित्याह—पक्षधर्मादीति ।

1 जीवतोऽस्य हि श्र०। 2 चत्रस्य विनिष्टे बहिर्भावे श्र०। 3 'गृहे चैत्राभावस्य वा' नास्ति आ०।



चैत्रस्य गृहाभावेन बहिर्भावं कल्प्यते, अन्यथा मृतेन अनेकान्तं स्यात् । अभावश्च गृहीत, सन् बहिर्भावमवगमयति नागृहीतो धूमवत् । अभावप्रहणश्च सदुपलम्भ-  
 कप्रमाणपञ्चभावापूर्वकम् । इह च सदुपलम्भकमस्त्येव जीवनप्राप्त्यागमाख्य प्रमाणम्,  
 मति तस्मिन् कथमभावप्रहणं प्रवर्त्तते इति ? प्रवर्त्तमानमेव एतत्सदुपलम्भक प्रमाण  
 5 पृथग्विषयमवस्थापयति । जीवनं हि अस्तित्वम्, आगमात् सामान्यतो यत्तस्यै प्रतिपन्नं  
 तद् गृहेऽभार परिच्छिन्ना प्रमाणेन बहिर्भवात् यत्र सद्बोध्यते 'बहिरस्य भाव गृहे  
 त्वभावं' इति । तेन जीवतो गृहेऽभारलक्षणसाधनप्रतिपत्ते बहिर्भावलक्षणसाध्य-  
 प्रतिपत्तिपूर्वकत्वसिद्धे सिद्ध प्रमेयानुप्रवेश, अतः नेयमनुमानम् । नहि बह्वथाद्यनुमाने  
 धूमादिलिङ्गप्रहणसमये अनुमेयप्रतिपत्तिः प्रतीता, धूमादिप्रहणोत्तरकाले तत्र प्रति  
 10 पत्तिप्रतीते । ननु अर्थापत्तावपि प्रमेयानुप्रवेशो दोषः समान एव, सत्यमेव तत्,  
 तथापि प्रमाणद्वयसमर्पितैर्यस्तुविषयभावाभावात्ममर्थनार्थं प्रवर्त्तमाना अर्थापत्ति  
 परामृशत्वेन प्रमेयद्वयम्, अन्यथा तत्सिद्धटनायोगात् । अतश्च येयम् आगमाद-  
 नित्यतदेशतया क्वचिदस्तीति मवित्तिरभूत् सैवेयं गृहाभावे गृहीते 'बहिरसि' इति मवितं  
 सद्बुत्ता । तदतो नैलक्षण्यात् नानुमानमर्थापत्तिः ।

11 मन्त्र-यमहणाभावाच्च । भौवाभावाच्च हि न युगपद् बहिर्धूमज्ज् एतरेन्द्रियप्रभ-  
 न-वर्षापत्तावपि तुल्योऽप्येव तत्रापि हि गृहाभावमात्रं मरणनाप्युपपन्नं न बहिर्भाव कल्पयति  
 विद्यमानत्वमनुपपत्तु कल्पयन् स त्वनवगतं बहिर्भावेन न ज्ञयत्यवगतुम् न चानवगतं कल्पको भवति  
 तत्रवगमं च प्रथमाभाव स्यात् आह-अप्रथमि । अयथानुपपत्तिरूपे प्रमाणान्तरे योऽप्य विद्यमान  
 त्वमनुपपत्तगृहाभावबुद्धावेव प्रथमस्य बहिर्भावम्यानुप्रवणं स न शीघ्रं । कस्मान् ? तादृक्ष्यणव शानान् ।  
 ईदृशमत्र हि एतत्प्रमाणं यत्रचच यस्यास्त्यर्थान्तरे मिय प्रतिघातेनासम्भवमागोच्य अर्थात्तर  
 कल्पयन्वा प्रतिघातं परिहृत्य सम्भवतीत्या एव विन्क्षणसामग्रीत्वेन प्रमाणात्तरत्वम् अनुपपत्तिरिति  
 चावगन्म्यार्थान्तरेण प्रतिघातसंबोध्यते दर्शनं । -मी० श्लो० 'यावर० पृ० ४५५-७७ । शास्त्रदी०  
 प० २९७ । तुलना-न्यायम० पृ० ३७ ।

(१) केवलं गृहाभावेन यदि बहिर्भाव कल्प्यते । (२) जीवित्वप्राप्त्यागमाख्य प्रमाणम् ।  
 (३) न हि निरूपय प्रमाणं भवति एव च भावो गृहीतो नाभावरत्त्वम स हेतु भाववत्त्वापि  
 माध्यतवान्-आ० टि० । (४) चत्रस्य । (५) अभावप्रमाणन । (६) गृहलक्षणान । (७) बहि ।  
 (८) बहि । (९) जीवति चत्र इति आगमाख्य प्रमाणम् गृहं च नाम्नीयभावप्रमाणम्, तत्सम्यनाथ  
 बहिरस्तीत्यर्थापत्तिः प्रवर्त्तने अन्यथा प्रमाणान्यस्य प्रवर्त्तितं स्यात्-आ० टि० । आगमप्रमाणन हि  
 चत्रस्य भावा विषयीकृतः अभावप्रमाणन च तस्याभाव इति अतः चत्रविषयकसत्त्वाभावभावयो अविरो  
 धस्यापनाथम् अर्थापत्तिः प्रवर्त्तते सा च चत्रा गृहे नाम्नि बहिरसि इति प्रथमद्वय परामुक्तिः (१०)  
 अर्थापत्ति विना । (११) भावाभावयो-आ० टि० । भावाभावयो सघटनस्य अविरोधस्य अयानात्  
 अभावापत्त । (१२) नयमनुमानामिति गणन सम्भव । (१३) गणाभावबहिर्भावा न च बुद्धीनियोगन ।  
 माहित्यं नु प्रमाणञ्च तयो-यत्र विधानं ॥ -मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३१ । तुलना-न्यायम० पृ० ३७ ।

1 सद्य आ० व० । 2 जीवप्राप्त्याग-आ०, व० । 3 वर्त्तमा-अ० । 4 बहिर्भावलक्षणसाध्य-व० ।  
 5 एवाभावेनेतत् व० । 6 यो-यम् अ० । 7-प्रहणाभावाभावाच्च अ० ।

वप्रत्यये प्रतिपद्धतया वोढु शम्भौ, गृह्णाभावस्य हि व्याप्यत्वे नहि मद्भावो व्यापक, स च प्रत्यक्षेण अर्वाङ्दर्शिभि साक्षात्कर्तुमशक्य अनन्तेशशुचित्वात् । ननु कश्चिद् द्वारि रिप्त कस्यचिद् देवदत्तादे भावाभावा गह्णाति—'यदा गतस्य गृहेऽभावा तदा अन्यत्र सद्भाव' इत्येव व्याप्तिग्रहणोत्तरकाल चैत्रादेर्निश्चितजीवनस्य गृहेऽभावाद् बहि मद्भावो निश्चीयते, सत्यम्, तथाप्यनुमानादस्या उलक्षण्यम्—तेत्र हि मामान्येन अनियतदेशेन व्यापकेन सम्बन्धग्रहे मति उत्तरकाठ पञ्चधर्मतानिश्चयममये व्यापनस्य नियतदेशतया प्रतिपत्ति, अत्र तु वेपरीत्यम् । नहि गृहेऽभावात् नियतदेशतया चैत्र प्रतीयते\* । यादृश एव हि व्याप्तिफले तादृश एव प्रयोगकालेऽप्यनियतदेशोऽसौ प्रतीयते ।

किञ्च, गृहद्वारवर्तिनो गृहेऽभावात् नहि मद्भावेन सम्बन्धग्रहे गृहे चत्र-मद्भावेन बहिस्तद्भावात्माधने कथं सम्बन्धग्रहं स्यात् ? तदुक्तम्—

“नैवस्त्येव गृहद्वारवर्तिन सङ्गतिग्रह ।

भावेनाभावसिद्धौ तु कैथमपै भविष्यति ॥” [यापम० प० ३८]

न गच्छे चैत्रस्य मद्भावाऽन्यथानुपपत्त्या देशान्तरेषु तत्रास्तित्वात्प्रसाधे गृहे तमद्भावात्स्यै देशान्तरे तत्रास्तित्त्वेनै अशक्यत सम्बन्धग्रहो घटते, दशान्तराणामानन्त्यात् । कैथमेव धूमस्य अनग्निव्यतिरेकनिश्चय इति चेत् ? किं तेन गृहीतेन प्रयोजनम् ? धूमज्वलनयो अन्वयग्रहणसभवे व्यतिरेकग्रहणे तात्पर्याऽसम्भवात् । नहि भूयोऽर्जनसुल-मनिर्येभजानसम्पाद्यमानसाव्याधिगमेनिर्गुत्तचेतमाम् अनग्निव्यतिरेकनिश्चयेन किञ्चित् प्रयोजन साध्याधिगमस्य सम्पन्नत्वात् ? इहै पुन अन्वयाधिगमममय एव गम्यवर्मस्य

(१) गृहद्वारि स्थिता यस्तु बहिभाव प्रबन्धयत । यदवस्मिन्नय न्ने न तत्राप्रयत्न विद्यत ॥ तत्राप्यवियमानत्वं न सत्र प्रतीयत । न चकल्गे नास्ति वाद् व्याप्तिर्हेताभविष्यति । —मौ० श्लो० अर्था० श्लो० ३४-३५ । (२) अनुमानं हि । (३) प्रयागवात् । (४) अग्न । (५) पवतास्थितया-आ० टि० । (६) अथापत्तो । (७) अपि तु वहि यत्र कुत्राप्यस्ति इत्यनियतस्येण । (८) 'गृहद्वारवर्तिनः—यापम० । (९) 'भावेन भावसिद्धौ—यापम० । (१०) मन्वच्च । (११) व्याप्यभूतस्य । (१२) व्यापकभूतत । (१३) 'ननु चाग्याधभावपि धूमादियतिरेकियाम । तदग्यागमनात् स्पष्टा व्यतिरेको न मिद्धघनि । यस्य वस्त्वन्गभाव प्रमयस्तस्य दुष्यति । मम त्वदृष्टमात्रेण गमका मह-चाग्नि । य खत् वत्तरतरेषु विपक्षेषु त्तिज्ञस्याभावावधारणमनुमानाय प्राथम्यत तस्यैव दाप वय तु द्विपिचतुरेषु अवगतान्निहाहकपति धूमाद्विपक्षान्तरमात्रेण सहचारिणमिति मनुमिमाना न सवविपक्षेषु धूमाभावावधारण प्राथम्यमह । नापि सवधूमवनामप्यन्वयमिति । —मौ० श्लो०, यापम० पृ० ४६० । (१४) अनग्निप्रत्यागामानन्त्यात्—आ० टि० । (१५) प्रतिपत्तौ । (१६) जयापनी । (१७) वहि मद्भावरय—आ० टि० ।

१ यदि तस्य व० । २ गृहे भावाभावात् अ० । ३-द्वारप्रवृत्ति-व० । ४-ग्रहो गृहे चत्र व० । ५ 'गृहे' नास्ति आ०, अ० । ६ उक्तस्य व० । ७ न-वस्त्येव आ० । ८-द्वारवर्तिन व० । ९ अथमेव अ० । १०-निश्चयपत्तान-ध० । ११-निश्चये-व० । १२ अथवावगम-व०, अ० ।

दुरधिगमत्वमुष्णम अन-तदेशनृत्तित्वात् । अध अनुपलभ्या तनिश्चयः, तन, गृह-  
व्यतिरिक्तसन्देशवर्तिन तदभावस्य नियतदेशया अनुपलभ्या निश्चेतुमशक्यत्वात् ।  
तेषु तेषु देशा-तरेषु गत्वा अनुपलभ्या तदभावात्, इत्यप्यसुन्दरम्, यत -

“गत्वा गत्वापि तान् देशान् नास्य जौनासि नास्तिताम् ।

कौशाम्यास्त्वयि निष्कात तत्प्रवशौमिशङ्कया ॥” [ यायम० प० ३८ ]

तस्मादभूमिरिधमसर्वज्ञानाम । जतो नियतदेशोपलभ्यमानपरिमितैपरिमाण-  
पुष्पशरीराऽन्यथानुपपत्त्यैव तदितरसन्देशनास्तित्वाऽऽधारण तस्यै इत्यर्थापत्त्यैव तत्र  
तदभावनिश्चय इति ॥६॥

अत्र प्रतिविधीयते । यत्पावदुक्तम्—‘दृष्ट श्रुतो वा’ इत्यादि, तत्र दृष्ट श्रुतो वाऽ-

10 अयापत अनुमान  
प्रमाण अन्तभाव  
समयनम्-

यं स्वसौध्येन सम्प्रद, अमम्प्रदो वा त कल्पयति । यदि अमम्प्रद,  
कथ तत्कल्पनाकारणम् ? नहि यत्किञ्चिद् दृष्टा य कश्चिदर्थ कल्प-  
यितु शक्य अतिप्रसङ्गात् । अथ सम्प्रद, तर्हि अतो जायमाना

(१) यत्र नोपलभ्यत तत्र नास्ति चत्र-आ० टि० । (२) व्यतिरेकमुखन सम्बधनित्वय ।

नववमितरत्राणि सम्बधोऽनुपलभित । चत्राभावस्य भावेन दृष्टत्वाद्गुणपद्यत ॥ साहित्य मित्वा  
त्वात्प्रमिद्व चाग्निधूमयो । व्यतिरेकस्य चादृष्टगमकत्व प्रकल्प्यत ॥ इह साहित्यमवन्वयस्य सह  
भाविन । अन्तर्गतवित्वात् न तावदुपपद्यत ॥ -मी० श्लो० अर्था० श्लो० १-४३ । (३) नववना  
विद्यमानव गम्यतेऽनुपलभित । सा चाप्रत्यनसाध्यत्वात्कस्यस्यव सिद्धयति ॥ ननयाऽनुपलभ्याऽत्र  
वम्बभाव प्रनीयते । तद्गाऽगमनान सा हि दूरस्येवस्ति सत्त्वयि ॥ गत्वा गत्वा तु तान् देशान्  
यद्यर्था नोपलभ्यत । ततो न्यकारणाभावात्सन्तत्यवगम्यते ॥ -मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३६-३८ ।

(४) जानामि-न्यायम० । (५) गत्वा-न्यायम० । (६) अनुपलभि । (७) चत्रस्य ।

(८) वहि । (९) चत्राभावनित्यय । (१०) पृ० ५०५ प० १८ । (११) रात्रिभोजनान्तिना-

आ० टि० । तुटना- एया विचायमाणा तु भिद्यत नानुमानत ॥ प्रतिवधान्तिना वस्तु न वस्तवन्तर

बोधकम् । यत्किञ्चित्प्रमाणोक्त्य न च वदितप्रतीयत ॥ प्रतिवधोऽपि नागत प्रयानि मनिहनुताम् ।

न सद्योजानब्रालोकेऽभक्षन्ति तथा विषः ॥ न विशयात्मना यत्र सामोयपानसम्भव । तत्राप्यस्यव

साधारण्यं तदुपपद्यत ॥ -यायम० प० ४१ । अर्थापत्तरन्वयमान एवान्तरावो विनाभावबलेनाथ

प्रतिपत्तिसाधनत्वात् । अ यथा नोपपद्यते इत्युक्त सत्येवोपपद्यत इति लभ्यते । अयमवधिनाभाव इति ।

-न्यायसा० प० २२ । अयापत्युत्पापको-योऽन्यथानुपपद्यमानत्वेनानवगत अवगतो वाऽदृष्टापपरिक

ल्पनानिमित्त स्यात् ? -प्रमेयक० प० १९३ । इया० २० २८३ । (१२) दृष्टात् श्रुतादर्थान्-

आ० टि० । तुलना- त्शानार्थान्यार्थापत्तिविरोध्यव धवणादनुमितानमानम् । -प्रग० भा०, कृ०

प० २२३ । प्रग० श्लो० प० ५९० । गत्वा एतिह्यानर्थान्तरभावाद् अनुमानव्यापत्तिसम्बधान्तर

भावाच्चाप्रतिपद्य । -न्यायसू० २।२।२। प्रत्यभणाप्रत्यक्षस्य सम्बद्धस्य प्रतिपत्तिरनमान तथा

चार्यापत्तिमभवाभावा । वाक्यार्थसम्प्रत्ययेनानमिहितस्याथस्य प्रत्यनीकभावाद् ग्रहणमर्थापत्तिरनुमान

मव । -न्यायसा० २।२।२। कथमर्थापत्तिरनमानत समुह्यते ? द्वयोरेकतरप्रतिपद्यस्य त्रितीयाप्यनुना

विषयत्वात् । यत्र यत्र द्वयावस्तुनोरेकतरदस्तु प्रतिविध्यते तत्र तत्र द्वितीयाप्यनुना दृष्टा यथा त्विवा न

भुङ्क्ते न इत्यभिधानात् रात्रौ भुङ्क्ते इति गम्यते । -न्यायसा० प० २७६ । यायली० प० ५७ ।

1 नियतदेशतया द० थ । 2 तेषु देशान्त-आ० थ० । 3-तमानो पु-थ ।

प्रतीति अनुमानमेव, तथाहि—दृष्टात् श्रुताद्वाऽर्थाद् अर्थान्तरे प्रतीति अनुमानमेव, अविनाभावनलेन उपजायमानत्वात्, यद् यद् अविनाभाववलेनोपजायते तत्तदनुमानेव यथा धूमाद्द्विप्रिज्ञानम्, अविनाभावनलेनोपजायते चार्थापत्त्यभिमत प्रतीतिरिति ।

किञ्च, असौ तत्सम्बद्धोऽपि तद्रूपतया ज्ञात, अज्ञातो वा तत्कल्पनानिमित्त स्यात् ? न तावदज्ञात, जालादेरपि अतोऽदृष्टार्थकल्पनाप्रसङ्गात् । अथ ज्ञात, तत्रापि किं साध्यप्रतिपत्तिकाले तत्सम्बद्धतया असौ ज्ञात, पूर्वं वा ? प्रथमपक्षे किं प्रमाणा-न्तरात् तत्सम्बद्धतया तदाऽसौ ज्ञात, तत एव वा ? तत्राद्यविकल्पोऽप्युक्त, तत्प्रति-पत्तिकाले तत्सम्बन्धप्राहिण प्रमाणान्तरस्थासभवात्, सभवे वा साध्यस्यापि अत एव सिद्धे निमर्थापत्त्या ?

अस्तु वासौ, तथापि—अनुमानान्न भिद्यते, तथाहि—अर्थापत्ति अनुमानमेव, प्रमाणान्तरावगतसाध्यसम्बन्धाद् हेतोरुपजायमानत्वात्, यद्यत्प्रमाणांतरावगतसाध्य-सम्बन्धाद् हेतोरुपजायते तत्तदनुमानमेव यथा धूमाद् द्विप्रिज्ञानम्, प्रमाणान्तराव-गतसाध्यसम्बन्धाद्धेतो उपजायते चार्थापत्त्यभिमत ज्ञानमिति । अथ तत एव साध्य-सम्बद्धतया असौ ज्ञात, तदा अन्योन्याश्रय—सिद्धाया हि अर्थापत्तौ तर्हुत्थापकार्थस्य तत्सम्बद्धतया ह्यसिद्धि, तत्सिद्धौ च अर्थापत्तिसिद्धिरिति । अथ पूर्वं तत्सम्बद्धतयाऽ-सौ ज्ञात किं साध्यधर्मिण्येव, दृष्टा-तधर्मिणि वा ? प्रथमविकल्पे अर्थापत्तेर्वैयर्थ्यम तत्साध्यस्य प्रागेव प्रसिद्धत्वात् । दृष्टान्तधर्मिण्यर्थेनभ्युपगमात्त्रासौ तत्सम्बद्धतया ज्ञातव्य ।

किञ्च, तत्रासौ साध्यसम्बद्धतया भूयोऽर्जनात्, विषं चेऽनुपलम्भात्, अर्थापत्त्य-

“न चार्थापत्तिरनुमानतो भिद्यत, त्रिके तदसं द्धीर्णोऽहरणाभावात् प्रद्वारान्तराभावाच्च । —न्यायकुसु० ३।१९। ‘सिद्ध साध्याविनाभावो ह्यर्थापत्ते प्रभावक । नभवात्स्व यो हेतु गोपि लिङ्गात् भिद्यत ॥ दृष्टान्तनिरूपेणत्व लिङ्गस्यापि निवेन्तितम् । तत्र मानान्तर लिङ्गादप्यपत्त्यान्वितम् ॥’—तत्त्वार्थ श्लो० प० २१७ । प्रमेयक० पृ० १९३ । समति० टी० पृ० ५८५ । जनतकवा० पृ० ७७ । स्या० १० प० २८३ । रत्नाकराव० २।१ ।

(१) दृष्टं श्रुतो वाच्य—आ० टि० । (२) सम्बद्धरूपतया—आ० टि० । (३) तुलना—“अस्यान्यथानुपपद्यमानत्वावगम अर्थापत्तेरेव प्रमाणान्तरादा ?”—प्रमेयक० पृ० १९३ । स्या० १० पृ० २८४ । (४) साध्यप्रतिपत्तिका—(५) सम्बन्धप्राहिण प्रमाणान्तरात् । (६) पीनत्वगहामावा—आ० टि० । (७) मीमांसका हि अर्थापत्तौ सम्बन्धावगम दृष्टान्ते न स्वीकृत्वन्ति अर्थापत्त्यनुमानयोर्भेदा भावप्रसङ्गात् । अविनाभाविना चात्र तदव परिवर्त्यते । न प्रागवपुनेत्यव न्यप्यया न कारणम्” (मी० श्लो०, अर्था० श्लो० ३०) इत्यभिधानात् । (८) दृष्टान्तधर्मिणि चेद् दृष्टं श्रुतो वाच्य पूव प्रतिपन्न तदा साध्यधर्मिणि किमायात्रम्—आ० टि० । (९) दृष्टान्तधर्मिणि । तुत्रा—‘अथ प्रमाणान्तरात्तदवगम, तन्नि भूयोऽर्जनात् विषयेऽनुपलम्भो वा ?’—प्रमेयक० पृ० १९४ । स्या० १० पृ० २८४ । (१०) विषया हि अनग्निगोषा अनन्ता एव—आ० टि० ।

१—निरप्रतीति—श्र० । २—द्विप्रिज्ञानम् व० । ३ वा कल्पना—आ० । ४—सम्बद्धाद् व० । ५—सम्बद्धाद्—आ० । ६ प्रागेव सिद्ध—श्र० । ७—सौ सम्बद्ध—व०,—सौ साध्यस्य सम्बद्ध—श्र० ।

न्तराद्वा प्रतीयेत ? न तावद् भूयोदर्शनात्, शक्तेरतीन्द्रियतया भूयोदर्शनाऽसम्भवात् ।  
नापि त्रिपक्षेऽनुपलम्भान्, तस्यापि उपलब्धयोग्येष्वेवार्थेषु सम्बन्धप्रतिपत्तिहेतुत्वात् ।  
नापि अर्थापत्त्यन्तरात्, अनवस्थाप्रसङ्गात् । कथं तर्हि साध्यसाधनयोः सम्बन्धप्रति-  
पत्तिर्भवतोऽपीति चेत् ? उद्हास्यप्रमाणात्तरात् । अस्माकं तदभ्युपगमे को दोष  
इति चेत् ? प्रमाणसरयाव्याघातः, तथा “प्रत्यक्षेण हि प्रतिपक्षे प्रतिपक्षे अनुमान  
प्रवर्तते” [ ] इत्यादिप्रत्यक्षविरोधश्च, सर्वत्र उद्हास्यप्रमाणादेव सम्बन्ध  
प्रतिपत्तिप्रसिद्धे । न गच्छतस्य कश्चिदगोचरोऽस्ति येन शक्तेरतीन्द्रियतया केनचिच्छब्देन  
सह सम्बन्धाऽप्रतिपत्तेः अनुमानतोऽप्रतिपत्तिः स्यात् ।

यदपि—‘प्रत्यक्षप्रतिपक्षदाहाराद्यकार्या यथानुपपत्त्या’ इत्यादि प्रत्यक्षपूर्विकार्था  
पक्षेर्लक्षणमुक्त्वा, तत्र अनुपपत्तिस्वरूपं यत्कव्यम्—किं साध्यैव विना स्फोटोदेरभावात्  
अनुपपत्तिः, प्रमाणविरोधो वा ? प्रथमपक्षे तेन विना नोपपद्यते इति व्यतिरेकमिति,  
व्यतिरेकश्च प्रतीयमानः ‘तस्मिन् सति उपपद्यते’ इत्यवयवमाक्षिपति, अवयवव्यतिरेको  
च लिङ्गस्यैव गमकस्य धर्माविति कथमर्थापत्तिरनुमानादतिरिच्येत ? प्रमाणविरोधोऽपि  
वाध्यबाधकभावान्नायः । तथा च श्रुक्तिनाया रजततदभावात्प्राहिणोचिज्ञानयोः वाध्यबाध-  
कभावे सति रजताद्यथानुपपत्त्या अर्थात्तरकल्पनानुपपन्नं स्यात्, तैल्लक्षणाया अनुप-  
पत्तेरप्राप्त्यविशेषात् ।

निश्च, प्रमाणयोः परस्परप्रतिपक्षत्वे सति अर्थापत्तिः प्रवर्तते, ते च यत्तव्ये ।  
ननु किमत्र यत्कव्यं सुप्रसिद्धत्वात् ? तथाहि—‘स्फोटस्वरूपं तावद् अध्यक्षं परिच्छिनत्ति’,  
‘न च तस्य इष्टं कारणं सम्भवति, कारणान्तरञ्च नोपलभ्यते, कारणभावे च कार्याभा-  
वो दृष्टः, अतः कारणाभावोऽयं लिङ्गप्रभयानुमानात् तस्याभावः प्राप्तः’ इत्येव प्रमाणद्वय-  
विघटनायाः तत्सङ्घटनास्मिन् तयोर्विषयभेदः दर्शयन्ती अर्थापत्तिः प्रवर्तते । स्फोट-  
ज्ञानं हि स्फोटविषयम्, कारणाभावानुमानञ्च परिच्छिद्यमानकारणनिर्वाधनकार्याभावा-  
न्विषयमिति, तत्प्रत्यक्षसमीचीनम्, यतः कारणाभावोऽत्र कार्याभावनिश्चये लिङ्गम्, स च  
निश्चितः, अनिश्चितो वा तल्लिङ्गं स्यात् ? न तावदनिश्चितः, बाष्पादेरपि धूमादि-

(१) तुलना— भूयोऽनुपपत्त्या च व्याप्तिः—मी० श्लो० अनु० श्लो० १२ । (२) प०  
५०६ पं० ४ । (३) दृष्टमवस्था । (४) तुलना— तेन विना नोपपद्यते इति च व्यतिरेकमिति  
विषयं व्यतिरेकं च प्रतीयते तस्मिन् सत्युपपद्यते इत्यवयवमाक्षिपति अवयवव्यतिरेको च गमकस्य  
निष्पत्त्यर्थं धर्म इति च कथमर्थापत्तिरनुमानम् ।—यावत्प० पृ० ४१ । (५) प्रमाणविरोधलक्षणायाः ।  
(६) कश्चित्प्रमाणम्—आ० टि० । (७) गमकप्रमाणम्—आ० टि० । (८) स्फोटस्य—आ० टि० । (९) स्फोट-  
प्रमाणं तावत्स्फोटस्यैव भावः आवृत्तिः शक्तिरूपकारणाभावानुमानान् तु स्फोटाभावोऽनुमित इति  
स्फोटविषयं प्रमाणानुमाने विघटते अतस्तयोर्विषयभेदे प्रमाणयन्ती अर्थापत्तिः सघटनकारिणी भवति ।

१ सम्बन्धं प्रति हेतु—आ० । २ कृतान् अस्मा—प० । ३—कल्पनानुपपन्नत्वात् प० पं० ।  
४ प्रवर्तते च वदत—प० । ५ दृष्टकारणं थ० । ६—निश्चयलिङ्गम् थ० ।

तथा सन्दिग्धस्य लिङ्गताप्रसङ्गात् । अथ निश्चित , कुतस्तन्निरचय ? कारणानुपल-  
ब्धेश्चेत्, सा किं दृश्यानुपलब्धि , अदृश्यानुपलब्धिर्वा ? यद्यदृश्यानुपलब्धि ,  
कथमतोऽभावसिद्धि , परमाणुपिशाचाग्निना अनेकान्तात् ? अथ दृश्यानुपलब्धि ,  
तर्हि अतः कारणाभावसिद्धे कथमर्थापत्ते कारणसद्भावावेदिकाया प्रामाण्य स्यात् ?  
चक्रकप्रसङ्गाच्च न कारणाभावस्य लिङ्गता, तथाहि—कार्यकारणयो सम्बन्धग्रहणे  
सति कारणाभावाद्यमनुमानं प्रवर्तते, सम्बन्धग्रहणञ्च कारणग्रहणे सति, कारणग्रहणञ्च  
अर्थापत्तित्, अर्थापत्तिश्च कारणाभावानुमाने सति, तच्च सम्बन्धग्रहणे सति इति ।  
न च अर्थापत्तित् ग्व स्फोटान्तौ कारणसद्भावमिद्धि , अनुमाननोऽपि तत्सिद्धे । तथाहि—  
स्फोटादि कारणपूर्वकम्, कार्यत्वात्, यत् कार्यं तत् कारणपूर्वकम् यथा धूमान्, कार्यश्चेद्  
स्फोटात्, तस्मात् कारणपूर्वकमिति ।

एतेन अनुमानोपमानपूर्वकाऽर्थापत्तिद्वयमपि प्रत्याख्यातम्, तस्यापि शक्तिविषय-  
त्वेन प्रत्यक्षपूर्वकार्थापत्तिपक्षनिश्चिन्नाऽशेषान्तेषामनुपपन्नात् ।

यापि शब्दनित्यत्वसिद्धौ अर्थापत्तिपूर्विकार्थापत्तिरुक्ता, साप्ययुक्ता, शब्दस्या-  
नित्यत्वेऽपि वाचकत्वस्योपपत्ते, तदनित्यत्वञ्च अग्रे प्रसाधयिष्याम ।

यापि 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यादि श्रुतार्थापत्तिरुक्ता, सौप्यनुमानमेव,  
कार्यतः कारणप्रतिपत्तेः । असति हि रमायनाद्युपयोगे पीनत्व स्वात्मनि अन्वयत्र च  
भोजनकार्यत्वेन अचगतम्, तच्च देवदत्तारये धर्मिणि आप्तवाक्यात् कालविशेषे भोजन-  
निषेधेन निश्चीयमानं प्रतिपिध्यमानकालव्यतिरिक्तकालेऽप्रतिपिद्धे श्वोर्पपादकस्य कार्यणस्य  
सत्तामवगमयति । नहि कारणं विना कार्यस्योदयो घटते, अहेतुत्वेन सदा सत्प्रस्य

(१) पृ० ५०६ पं० ५, ६ । (२) तुलना—'उपमानस्य तु स्मरणादभेदं तत्पूर्विकाऽर्थापत्ति  
रनुमानमेव, व्याप्ते पूव ग्रहणात् । तथा च सादृश्यावच्छिन्नो गोपिण्डो वाहादिसमथ गोपिण्ट्वात्  
पूर्वोपलब्धविविधगोपिण्डवन ।—प्र० १० पृ० ५९० । (३) पृ० ५०७ पं० ९ । (४) पृ० ५०७  
पं० ११ । (५) तुलना—'श्रुतार्थापत्तिरपि वराकी नानुमानाद् भिद्यते, वचनकदाकल्पनाया अनुपप  
प्रत्वात्प्रस्य च कायलिङ्गस्य सत्त्वात् । यथा शितिधरक-घराधिकरण धूममवलोक्य तत्कारणमनलमनु  
मिनोति भवान् एवमागमात्पीनत्वात्स्य कायमवधाय तत्कारणमपि भोजनमनुमिनोतु कोऽत्र विगप—  
'पायमं० पृ० ४५ । "क्षयाभोजनसम्बन्धी पुमानिष्ट प्रतीयते । दिवाभोजनवकल्पपीनत्वेन तदयव ॥  
भाजने सति पीनत्वमवयव्यतिरेकत । निश्चितं तन सम्बद्धाद्वस्तुनो वस्तुतो गति ॥"—तत्त्वसं० पृ०  
४६५ । सप्तमि० टी० पृ० ५८७ । स्या० २० पं० ३०६ । "पीनो दिवा न भुङ्क्ते इति वाक्यश्रवणाद्वात्रि  
भोजनवल्पानुमितानुमानम्, लिङ्गभूतेन वाक्येन अनुमितात् पीनत्वात् तत्कारणस्य रात्रिभोजनस्य  
अनुमानात् ।"—प्र० १० पृ० २२३ । "देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते दिवाऽभाजित्वे मति पीनत्वानिति ।'  
—वने० उप० १।२।५ । (६) स्यूते पुरयान्तरे । (७) दिवा । (८) पीनत्वापपादकस्य—आ० डि० ।  
(९) भाजनस्य । (१०) तुलना—'नित्यं सत्त्वमसत्त्वं हि हतोरयानपेक्षणात् । अपेक्षानश्च भावाना  
वाच्यत्वेनत्वसम्ब ॥—प्रमाणवा० ३।३४ ।

१ वाचकत्वोपपत्ते जा० । २ योऽपि व० । ३ प्रतिपेक्ष्यमान—जा० । ४ स्वोत्वावकस्य व०, थ० ।  
५ कारणसत्तामव—व० ।

असत्प्रत्ययै वा प्रसङ्गात् । प्रयोग—रात्रिभुक्तिमान् देवदत्त, रसायनाद्युपयोगाभावे दिवामुक्तिरहितत्वे च सति पीनत्वात्, यो यो रसायनाद्युपयोगाभावे दिवामुक्तिरहितत्वे च सति पीन म स रात्रिभुक्तिमान् यथा एकश्चर, रसायनाद्युपयोगाभावे दिवामुक्तिरहितत्वे च मति पीनश्च देवदत्त, तस्माद् रात्रिभुक्तिमानिति । ततो 'नहीद वाक्यमेव तत्प्रतिपत्तिनिवृत्तधनम्' इत्याद्युक्तमुक्तम्, यैधोक्तविशेषणविशिष्टस्य पीनत्वलक्षणलिङ्गस्यैवातो वाक्यात् प्रतिपत्ते, तैत्प्रतिपत्त्याश्च लिङ्गात् रात्रिभोजनप्रतिपत्तिसिद्धिरिति ।

याप्यभावपूर्विकाऽर्थापत्ति साध्यनुमानमेव, जीवतश्चैत्रस्य गृहाभावेन लिङ्गेन बहिर्भावगमात् । तथाहि—जीवतश्चैत्रस्य गृहेऽभाव बहिर्भावेन तद्वान्, जीवमनुष्यगृहाभावत्वात्, पूर्वोपलब्धैर्विधगृहाभाववत्, यथा धूमोऽग्निमान धूमत्वात् पूर्वोपलब्धधूमवत् । ततश्च गृहादीना लिङ्गत्वनिराकरण शब्दाडम्बरमात्रम् अस्म मताशाऽस्पृशित्वात् ।

यत्पुन प्रमेयानुप्रवेशो दूषणमुक्तम्; तदपि न युक्तम्, यैत किं प्रमेयमत्राऽग्निमेतम्— किं सत्तामात्रम्, बहिर्देशविशेषित वा सत्त्वम् ? तत्र सत्तामात्रं तावद् आगमादेवाऽवगतमिति न प्रमाणात्तरप्रमेयतामत्रलम्बते । बहिर्देशविशेषित तु सत्त्व भवति प्रमेयम्, न च तस्य तदानीमनुप्रवेश । गृहे चैत्राभावप्राहक हि प्रमाणं तत्रैव तत्तद्भावावेदक प्रमाणमपारोति न पुन बहिस्तत्सदसत्त्वचित्ता करोति ।

“मृतस्य जीवतो दूर तिष्ठत प्राङ्गणोऽपि वा ।

गृहाभावपरिच्छेद न विशयोस्ति कश्चन ॥” [ न्यायम० पृ० ४३ ]

(१) प० ५०७ पं० १२ । (२) रसायनाद्युपयोगाभावेत्यादि—आ० टि० । (३) वाक्यप्रतिपत्तात् । (४) तुटना— साध्यनुमानमेव व्याप्ते पूर्वमेव ग्रहणात् । तथाहि—देवदत्तो बहिर्भावेन जीवतस्यैव सति गृहेऽनुपयोगमात्रत्वात् विष्णुमित्रवत् ।—प्रश० श्लो० पृ० ५९१ । तदापि गृहायुक्तत्वं दृष्ट्यादृष्टविनिश्चिनम् । अत्रस्तत्र बहिर्भावो लिङ्गात्वावसोपेत ॥ सयना यो ह्यसदृष्टो नियत बहिरस्त्यसौ । गृहाङ्गणस्थितो ह्यप्युमान् द्वारिस्थितरिव ॥ विपणोऽपि भवत्यत्र सदनान्तर्गतो नर । अर्थापत्तिरियं तस्मान्नमानात्र भिद्यते ॥—तत्त्वस० प० ४७० । प्रमेयक० प० २०३ । सप्तति० श्लो० प० ५८६ । इया २० प० ३०८ । चत्रस्य गृहाभावो धर्मो बहिर्भावेन तदानीति साध्यो धर्मो जीवमनुष्यगृहाभाववत् पूर्वोपलब्धैर्विधगृहाभाववत् ।—न्यायम० पृ० ४३ । 'तत्प्यनुमानमेव, यथा सक्तु सप्रकत्र नास्ति तदानीन्वशास्ति, यथा वाऽव्यापक एव नास्ति तदाऽन्यत्र नास्ति सोऽयं स्वगरीर एव ज्ञापितः सुवर । तथा च सतो गृहाभावशनेन लिङ्गेन बहिर्भावशानमनुमानम् ।—न्यायवा० श्लो० पृ० ६३८ । साध्यतत्त्वकी० पृ० ४४ । प्रश० पृ० २२३ । न्यायकुमु० ३।१९ । प्रश० किरणा० पृ० ३२४ । यण० उप० ९।२।५ । (५) पृ० ५०९ प० ८ । (६) तुटना— किं प्रमेयमभिमतमत्र भवता किं सत्तामात्रम् बहिर्भावापि सत्त्वम् ।—न्यायम० पृ० ४३ । इया० २० प० ३०९ । (७) गृह एव । (८) वृत्तस्य—न्यायम० । मृतस्य जीवतो वा दूरे प्राङ्गणपि वा । निच्छेदश्चत्रस्य गृहाभावपरिच्छेद विपणाभावान् ।—स्मा० २० पृ० ३०९ ।

1—इय प्रस—प्र० । 2—यथात्प्रति—प्र० । 3—प्रतिपत्तिरिति आ० । 4 मत्प्रमा—आ० ।

5—यान्तरं प्रमे—व० । 6—परिच्छेदवदि—य ।

जीवनविशिष्टस्त्वसौ' गृह्यमाणो लिङ्गतामेव प्रतिपद्यते व्यभिचाराभावात् । न च विशेपणग्रहणमेव प्रमेयग्रहणम्, यतो जीवनमन्यद् अन्यच्च बहिर्भावाख्य प्रमेयमिति ।

अथ मतम्--जीवनविशिष्टगृहाभावप्रतीतिरेव बहिर्भावप्रतीतिरिति, तदप्यविचारितरमणीयम्, यतो जीवनविशिष्टगृहाभावप्रतीतेर्बहिर्भावप्रतीतिर्भवति, न तु तत्प्रतीतिरेव बहिर्भावप्रतीतिः । न हि दंहनाधिकरणधूमप्रतीतिरेव दहनप्रतीतिर्दृष्टा । अथ घूमादन्यो दहन तेनात्र तत्प्रतीतिभेदो युक्तः, तदेतदन्यत्रापि समानम्--गृहाभाव-जीवनाभ्या तद्बहिर्भावस्यापि अन्यत्वात्, तत्त्वधमत्रापि तत्प्रतीत्योरभेदः स्यात् ? यथा च पर्वत-बहुयो सिद्धत्वात् भेदवर्धमात्र तत्र अपूर्वमनुमेयमेवमिष्टम्, एवमिहापि वैदिकदेशमात्रम् अपूर्वमनुमेयमस्तु । यदि तु तदधिक प्रमेयमिह नेष्यते, तदा गृहाभावजीवनयोस्वप्रमाणाभ्यामवधारणाद् आनर्थक्यमेव अर्थापत्तेः । तस्मात् प्रमेयान्तरसद्भावात् तस्य चाऽननुप्रवेशात् कश्चिदोषः । अर्थापत्तापि च तुल्य एवायं दोषः, तत्रापि अर्थादर्थान्तरकल्पनाभ्युपगमात् । तस्य तस्मात् प्रतीतिरिति यत्र व्यवहारः तत्रावश्यं तत्प्रतीतो तदनुप्रवेशदोषोऽनुपज्यते, स्वभावहेताविव तद्बुद्धिसिद्ध्या तत्सिद्धेः प्रमाणान्तरवैफल्यात् ।

ननु चाभावो निश्चितो लिङ्ग भविष्यति, सत्सत्त्वग्राहिणोश्च प्रमाणयोः विरोधे च तन्निश्चयः ? अतो यावदागमस्य बहिर्भावविषयता न प्रतीयते तावन्न गृह्णात्वाऽभावनिश्चय इति, तस्यै निश्चये प्रमेयानुप्रवेशदोषानुपपन्नः, अर्थापत्तिस्तु प्रमाणद्वयविरोधे सत्येव

(१) गृहाभाव-आ० टि० । (२) तुलना--"जीवनविशिष्टगृहाभावप्रतीते बहिर्भाव प्रतीतः न तत्प्रतीतिरेव बहिर्भावप्रतीतिः । न हि दंहनाधिकरणधूमप्रतीतिरेव दहनप्रतीतिः, किन्तु घूमादन्यो दहन, इहापि गृहाभावजीवनाभ्यामन्य एव बहिर्भावः, पवनहतवह्योस्मिद्धत्वात् सत्त्वधमात्रं तत्रापूवमनुमेयम्, एवमिहापि बहिर्भावयोगमात्रमपूवमनुमेयम् ।"--श्यायनं० पृ० ४३ । स्वा० १०४० ३०९ । (३) जीवतो गृहाभावबहिर्भावयो-आ० टि० । (४) 'पवतो बह्निमान्' इति रूपम् । (५) भावस्य जीवनस्य सिद्धत्वात्-आ० टि० । (६) गृहाभावग्राह्यं हि अभावप्रमाणम्, जीवनग्राह्यञ्च आगमप्रमाणमिति । (७) बहिः सद्भावः । (८) तुलना--"अर्थापत्तापि च तुल्य एवायं दोषः तत्राप्यर्थादर्थान्तरकल्पनाभ्युपगमात् । दृष्टं श्रुतो वार्थाज्यया नापपद्यते इत्यर्थव्यनेत्येव ग्रन्थोपनिबधान् । तस्य तस्मात्प्रतीतिरिति तत्र व्यवहारस्तत्रावाप्य (?) तत्प्रतीतो तदनुप्रवेशो दोष एव । स्वभावहेताविव तद्बुद्धिसिद्ध्या तत्सिद्धेः प्रमाणान्तरवैफल्यमिति ।"--श्यायनं० पृ० ४४ । स्वा० १०४० ३०९ । (९) तस्य ग्राह्यस्य तस्मान् साधनान् प्रतीतिरिति व्यवहारस्तत्र अनुमान इवार्थापत्ताव्यति-आ० टि० । (१०) यथा स्वभावहेतोः विगताबुद्धयश्च गृहाबुद्धौ जातया प्रमाणान्तरेण न वार्यम्, तथात्रापि गृहाभावस्य लिङ्गन बहिर्भावस्यावगतत्वात्प्राधान्यस्य वार्यम्-आ० टि० । (११) अति नु स्वप्रभावाभाव-आ० टि० । (१२) य एव जीवन्तो गृहाभावनिश्चयः न एव बहिर्भावनिश्चय इति, अतो गृहाभावाद्योऽनु प्रमेयं बहिर्भावान्नमनुप्रविष्ट इति भावः-आ० टि० ।

1-निष्कर्षागो व० । 2 विरोधग्रह-अ० । 3 दंहनाधिकरण-अ० । 4 तेन तत्प्र-अ० । 5 प्रतिप्रतीतिरिति अ० । 6-निश्चि आ०, व० ।



प्रसूते इति कथं तदनुपपत्तेः ? तदसमीभिताभिधानम्, सैदमत्वज्ञानयो असमान  
 विपरतया विरोधाऽसिद्धे । आरम्भेन हि देसविशेषानवच्छिन्नस्य चैत्रस्य सत्ता प्रतिपाद्यते  
 न गृहे बहिर्भा, प्रत्यक्षेण तु गृहान्निष्ठस्य चैत्रस्याभाव इति । ममानविपरतये तु तयोरेत-  
 न्यथासिद्धाऽध्यवसायत्वेन आगमनज्ञानस्य मिथ्याज्ञानस्येव ताऽर्थान्तरकल्पनाकारणत्वम् ।

- 5 अथ मनसै-अनुमाने गमकविशेषणम् अथानुपपन्नत्वं 'बहि विना धूमो नोप-  
 पद्यते' इति, अर्थापरौ तु विपर्यय गमनं विना गम्यो नोपपद्यते । गम्यो हि बहिर्भा,   
 स जीवतो गृहभावात् विना नोपपद्यते, गृहान्निगतो जीवन् बहिरेस्तीत्येव गम्यगमकयो  
 रनुपपत्तौ न वे विपर्ययात् प्रमाणात्-गमनुमानादर्थोपत्तिरिति, तैदप्यसङ्गतम्, 'साध्या  
 विनाभाविनो लिङ्गात् लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानम् इत्यनुमानलक्षणम् । तच्चार्थापरौ  
 10 अरयेत् । न हि तदुत्पापकार्यस्य माध्येन अभिनाभायोऽसिद्धे, तर्तै तैत्सिद्धभाव  
 प्रसङ्गात् । स चाभिनाभात् अथानुपपन्नत्वापरपर्याय उभयनिष्ठत्वात् गमकवि-  
 शेषणं तास्तु गम्यविशेषणं वा नैतान्ता अर्थापरत्यनुमानयो भेद, अथवा 'सूर्यस्य गम-  
 शक्तिरस्ति गतिमत्राऽऽद्यथानुपपत्ते' इति पक्षधर्मत्वसहिताया अर्थापरते 'बह्वेर्वाह-

(१) तुलना- तथाहि-सत्त्वमात्रं वा विर-यने वनस्य गृहभावेन महमत्त्वं चकत्रास्य । न तावच्च  
 कचन सत्त्वस्यास्ति विरोधः पृष्ठसत्तया समानविषयत्वाभावात् गृहभावावच्छिन्नाभावेन गृहसत्त्वं  
 विरुद्धत्वात्प्रतिषिध्यते न तत्त्वमात्रं तत्र तस्योत्पत्त्याभावात्, तस्माद् गृहभावेन सिद्धेन सत्ता बहिर्भावोऽ-  
 नुमीयते इति युक्तम् । एतेन विरुद्धया प्रमाणयोरेवविरोधापादनं विषयव्यवस्थया अर्थापरतिविषय-  
 परास्य अवाच्छिन्नानवच्छिन्नयोरेवविरोधात् । -न्यायप्र० ता० प० ४३९ । साध्यतरवक्रौ० प०  
 ४४ । अनियमस्य नायुक्तं नातिन्यतोपपत्तौ । न मानयोर्विरोधाऽस्ति प्रसिद्धे वाच्यतो सम ॥ -  
 ग्यायकुमु० ३।१९ । (२) विपर्ययविपर्ययेन सिद्धमध्यमम्-आ० टि० । (३) अवलगागम-  
 गानमनियतैर्विपर्ययत्वात्-आ० टि० । (४) प्रभावस्य । 'यं यद्यन विना नोपपद्यते तदेवाव-  
 गमकं स्यात्, इह तु यतोपपद्यते तदेवावगम्यते । किं चानुपपद्यते ? जीवतो गृहभावात्-गानात्  
 अथभावावो नोपपत्ता । तत्र किं ? नात्राभावस्य गम्यता । कस्य तर्हि ? भावस्य । न चासी  
 गृहभावात्-गाननापद्यते । बाह्वे नोपपद्यते । न हि गृहभावावगमनेन विना बहि भाव उपपद्यते । -गार-  
 भा० बृ० १।१।५ । विना कल्पनया-र्थेन दृष्टानुपपन्नताम् । नयता दृष्टमथ या साऽयापत्तिस्तु  
 कल्पना ॥ अभावेन गृह भावो बहिर्वपनया विना । नयताऽनुपपन्नत्वं कल्प्यमाना बहिषया ॥  
 गम्यस्यानुपपन्नत्वमिह कल्पनया विना । मानात्तदविरोधतः सदेहापत्तिरक्षणम् ॥ देशेन हि विना  
 भावा न कल्पनं दृश्यते । विना भावेन सिद्धोपि ते सन्नेहमा-उक्ति ॥ तन्मन्देव्युदासाय कल्पना या  
 प्रवर्तते । सन्नेहापादाकार्थोपपत्तिरसौ स्मता ॥ गमकस्यानुमाने तु विपर्ययत्वलक्षणम् । गम्यतेऽ  
 नुपपन्नत्वं विना गम्येन वस्तुना ॥ तस्मात्परीविधत्-मिन्न एत परस्परम् । अर्थापरत्यनुमानाख्ये प्रमाणे  
 इति निश्चयम् ॥ -प्र० प० १०८ । तुलना-न्यायप्र० प० ४४ । (५) तुलना-एतदपि  
 अथवपम्योपपत्तमात्रम् न तु नूननविशयतो-प्रथमं गम्यं तावत्गृहीते सति तन्गतमनुपपद्यमानत्व  
 कथमवधारणे गृहीते तु गम्यं किं तद्व्यानुपपद्यमानत्वप्रदं माध्यस्य सिद्धत्वात् -न्यायप्र० प०  
 ४४ । (६) अर्थापरदुत्पापपरि । (७) सा-य ।

शक्तिरस्ति स्फोटान्यथानुपपत्ते' इति तद्रहितार्थापत्तिः प्रमाणान्तर स्यात्, तथा च प्रमाणसखाव्याघात । नियमप्रतोऽर्थाद् अर्वान्तरप्रतिपत्तेरविशेषात्तयोरेभेदे स्वसाध्याविनाभाविनोऽर्थाद् अर्वान्तरप्रतिपत्तेरप्यविशेषात् कथमनुमानादार्थापत्तेर्भेदः स्यात् ?

असिद्धश्चात्र अविनाभावस्य गम्यविशेषणत्वम् ; गृहे चैत्राभावेण्य वहिस्तत्सद्भावनगमके तस्यै विशेषणत्वसम्भवात् । नहि तस्यै तद्विशेषणत्वे कश्चिद्द्वीप सम्भवति येन गम्यविशेषणता कल्प्येत । न च सर्वस्वामर्थापत्तौ गम्यविशेषणता अविनाभावस्य सम्भवति, प्रत्यक्षादिप्रमवाऽर्थापत्तौ गमकस्यैव स्फोटादे अविनाभावविशेषणत्वसम्भवात् । न खलु तत्र गम्याया शक्ते स्फोट विनाऽनुपपत्ति सम्भवति, तन्मन्तरेणापि अस्या सद्भावाभ्युपगमात् ।

यच्चान्यदुक्तम्—'पञ्चधर्मतानिश्चयसमये सायस्य नियतदेशतया अत्राऽप्रतीति अनुमानाद्वैलक्षण्यम्' इत्यादि, तदप्युक्तिमात्रम्, गृहाभावाख्यधर्म्यवच्छेदेन वहिर्भावनस्य प्रतीति, धर्माण्य हि देशान्देन उच्यते, तदवच्छेदश्च अत्रान्येवेति न ततस्त्वैलक्षण्यम् ।

यदपि 'सम्बन्धग्रहणाभावाच्च' इत्याद्युक्तम्, तदपि न, यत 'सर्वत्र सम्बन्धग्रहणस्य ऊहाख्यप्रमाणप्रसादादेव प्रसिद्धे' इत्युक्तम् । अतश्च 'देशान्तराणामानन्यात्र न तत्र नास्तित्वेन सम्बन्धग्रह' इत्याद्युक्तम्, अनियतसाध्यमाधनव्यक्तिसम्बन्धग्रहणस्य भावत्वात्तस्यै । कथमन्यथा धूमस्य अनग्निव्यतिरेकनिश्चय तत्रापि अस्य दोषस्याऽविशेषात् ? न च भूयोदर्शनावगम्यमानाऽन्वयमात्रेण गमकोऽसौ<sup>१६</sup> युक्त, अनिश्चितव्यतिरेकस्य साध्यनिश्चयाऽहेतुत्वात् । न च सत्तामात्रेणामौ तद्धेतु, अन्वयवद् व्यतिरेकस्यापि निश्चितस्यैव अनुमानाद्गतोपपत्ते ।

किञ्च, अर्सेवगतद्रव्यस्य चैत्रादे नियतदेशवृत्ते<sup>१७</sup> तन्व्यदेशे प्रतिनियते प्रत्यक्षत,

(१) नाकिनबहो स्फोटश्च करतलादो इति न स्फास्य पक्षधर्मता-जा० टि० । (२)

पक्षधर्मत्वसहिततद्रहितयोरर्थापत्तेर्व्येदभ, तत्रानुमानापापत्त्यारणि तथास्तु-आ० टि० । पडव प्रमाणानीति प्रमाणमत्याव्याघात सप्तमस्य प्रतिद । (३) पक्षधर्मत्वसहित तद्रहितार्थापत्त्या ।

(४) अर्थापत्तावपि । (५) गमकस्य विशेषणमविनाभाव-आ० टि० । (६) अविनाभावस्य । (७) गमकविशेषणत्वं । (८) स्फोटानिश्चिनार्थापत्ति । (९) तत्रने । (१०) पृ० ५११ पं० ६ । (११) अथापत्तौ ।

(१२) पृ० ५१० पं० १५ । (१३) तरुनिष्पणप्रसङ्ग पृ० ४२६ । (१४) ऊहस्य । (१५) तुल्या-

"अनग्निव्यतिरेकनिश्चये च धूमस्य भवता वा गति । या तत्र घातां सवहापि ना भविष्यति । न च भूयोदर्शनावगम्यमानावयमात्रकारणतया यस्य वस्त्वन्तराभावो गम्यमन्यव दुष्यति । मम त्वदुष्टिमात्रेण गमका महकारिण ॥ (मी० इत्ये० अथा० ८०) इति कथयितुमुचितम्, अनिश्चितव्यतिरेकस्य साध्यनिश्चयाभावात्तानि पक्षधर्मावप्यन्येवोपि नागृहीतोऽनुमानाङ्गम् । -न्यायमं पं० ४५ ।

(१६) धूमो हेतु । (१७) तुलना- जगवगतस्य द्रव्यस्य नियतवृत्तत्वेन तन्निश्चयान्तरान्तरात्वावधारणम् । -न्यायमं पृ० ४५ । न्यायवा० ता० पृ० ४३८ । मांघयतस्त्वकी० पृ० ४३ । 'दुष्टमतन-

अव्यापक' द्रव्यमेव नास्ति तदवयव नास्तीति यथा प्राचीप्रनीच्यानेवत्रापलभ्यमान सविनाऽयत्र न भवतीती- दृगनवर्तनवमवधारण । -प्रण० ब० २२३ । (१८) परिमितवृत्तित्वानि हेतो ।

१ पूर्वव्यापकता-व० । २ प्रतीति आ० । ३ धर्म वहिरेण-व० । ४ तदप्युक्तम् यत थ० व० ।

५ सम्बन्धग्रहणमित्या-व० । ६-सौ । ७ तदवयवेने प्रतिनियते च धनु-व० ।

अप्रतिनियते चानुमानतोऽभाससिद्धे ऋधमुक्तदोषानुपह्न ? तच्चानुमानम्—देशान्तराणि चैत्रशून्यानि चत्राधिष्ठितदेशानि चैत्रिरिक्तत्वात् तत्समीपदेशयन् । न च 'दशांतराणि चैत्रयुक्तानि तत्समीपदेशव्यतिरिक्तत्वात् चैत्राधिष्ठितदेशयन्' इति प्रत्यनुमानोपहृतमेतदित्यभिधातव्यम्, तैत्पशस्य प्रत्यभ्राष्टिवाधितत्वात् । तदेवमर्थापत्तेः अनुमानादर्थापत्तेर-

8 त्वाऽसिद्धे सिद्धे परेषा प्रमाणसंख्यायाधान ।

ननु भूतैतामप्येव प्रमाणसंख्यानियमविरोधस्तुल्य 'उपमानादेः प्रदिपादितप्रमाण-  
प्रपञ्चस्य प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यामर्थान्तरत्वाऽप्रिशेषात्' इत्यारेकापनोद्गार्थमाह—'सर्वस्य'  
इत्यादि । सर्वस्य अनन्तरोक्तस्य उपमानादिप्रमाणपञ्चस्य परोक्षेऽन्तर्भावात् नाऽस्माक  
कश्चिदोप । कस्मान् तस्य तत्रातर्भाव इति चेत् ? तैल्लक्षणलक्षितत्वात् । यस्य यल्लक्षण-  
लक्षितत्वं तस्य तत्रान्तर्भाव यथा रूपसुगन्धादिसंवेदनस्य प्रत्यक्षे, परोक्षलक्षणलक्षितत्वञ्च  
10 उपमानादेरिति । यथैव हि रूपादिमवेदनस्य सुगन्धादिसंवेदनस्य च विपर्ययेभ्यान् सार्थभ्री  
भेदान्च अयोय वैलक्षण्येऽपि वैशङ्क्यरूपप्रत्यक्षलक्षणलक्षितत्वात् प्रत्यक्षत्वम्,  
तथा उपमानादेरपि अवैशङ्क्यरूपानुपरोक्षलक्षणलक्षितत्वात् परोक्षत्वमिति ।

न चैवमपि परोक्षस्य स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतराऽनुमानागमभेदे परिगणितत्वात्  
15 कथमुपमानादेस्तत्रातर्भाव, तदन्तर्भावे वा परिगणनविरोध ? इत्यममीचीनम्, 'उप  
मानादेः प्रत्यभिज्ञानादिरूपतया तत्परिगणनाऽप्रिरोधस्तत्रात् । दर्शनस्मरणकारणक हि  
संस्कलन प्रत्यभिज्ञानमुच्यते, इदमप्युपमानादिज्ञान दर्शनस्मरणकारणक सादृश्यादि-

(१) तुलना— देशान्तराणि चत्रशून्यानि चत्राधिष्ठितदेशानिरिक्तत्वात् तत्समीपदेशवर्तिना'—  
म्यायम० पृ० ३८ । (२) नन देशान्तर शून्यं चत्रणव प्रतीयेने । तद्देशव्यतिरिक्तत्वात् समीपस्थित  
देशवत् । विरुद्धाव्यभिचारित्वे तद्देशव हि गम्यते । समीपस्थमिभ्रत्वाच्चत्राधिष्ठितदेशवत् । एतदुक्त  
भवति—न तावद्देशान्तराणि चत्रशून्यानि तत्सम्यक्त्वव्यतिरिक्तत्वात् शून्यानि इत्तु गभवति, सति  
त्वात् देशान्तराण्यपि तत्सम्युक्तानि न वयनावप्ये विचायते । कथं तथा तत्सम्युक्तत्वाद् व्यति  
रवर्तिद्वि । यदि परमवमुच्यते—यमेवाधुना चत्रोधिष्ठितोपवरकत्वं तद्व्यतिरिक्तत्वात्ति एव  
विषयवाच्यप्रयाजको हेतु इतरया हि शक्यते—चत्रयुक्त देशान्तर तत्समीपव्यतिरिक्तत्वात् तन्धिष्ठि  
तदेशवर्तिनि । —मी० लो० अर्था० पापर० पृ० ४६१—६२ । (३) प्रतिपन्नप्रयोगस्तु प्रत्यक्षा  
विशिष्टत्वाद्वात्वाभात् एव । —म्यायम० पृ० ४५ । (४) मीमांसकानाम् । (५) जनानामपि ।  
(६) उपमानात् पराशन्तर्भवन्ति परागलणनक्षितत्वात् । तुलना— यत्कृत्वाणलक्षित  
तन्धित्तमप्येकमव यथा वशाकलभलणलिन चक्षुरातिप्रत्यक्षम अवशाकलणलक्षितञ्च गला  
दीनि । —प्रमेयक० पृ० १९२ । समीप० टी० पृ० ५९५ । स्था० १० पृ० २८३ । (७) रूपादि  
सुगन्धलक्षण । (८) चक्षुरादिमानसादिरूप । (९) लघीयव्यवस्य ज्ञानमाय स्मृति' (पा० १०)  
इति वारिकायाम् परीक्षामु० ३।२ । प्रमाणनय० ३।२ । प्रमाणमो० १।२।२। इत्यादिषु च । (१०)  
तुलना—प्रमेयक० पृ० १९३ । स्था० १० पृ० २८३ ।

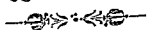
१ अतिनियते वा । २-न्तरतासिद्धे २० । ३ प्रमाणपञ्चकस्य व० । ४ अयोयवैल-आ०  
व० । १० सकल्पन् ध० ।

सङ्कलनस्वभावश्च, अतः कथं प्रत्यभिज्ञानात् व्यतिरिच्येत ? यद् दर्शनस्मरणभोगाणां मादृश्यादिसङ्कलनस्वभावश्च तत् प्रत्यभिज्ञानमेव यथा प्रसिद्धप्रत्यभिज्ञानम्, तैत्कारणात् मादृश्यादिसङ्कलनस्वभावश्चोपमानमिति ।

‘तद्’ इत्यादिना प्रकृतोपसंहारमाह—यस्माद् उपमानादेः परोक्षेऽन्तर्भावे तत् तस्मात् समञ्जसम् उपपन्नम् ‘प्रत्यक्षं परोक्षञ्च इति एव द्वे एव प्रमाणे’ इति । कुत एतन् ? इत्यत्राह—‘अन्यथा’ इत्यादि । अन्यथा अन्येन प्रकारेण तेषां प्रमाणानां संख्यायाः अनवस्थानादिति ॥ ७ ॥

मिथ्यायुक्तिपलालमूढनिचय प्रज्जाल्य नि शेषतः,  
मन्यग्युक्तिर्महाशुभि पुनरियं व्याख्या परोक्षे कृता ।  
येनासौ निखिलप्रमाणकमलप्राज्यप्रयोधप्रदः,  
भास्वानेयं जयत्यचिन्त्यमहिमा ग्रास्ताऽकलङ्को जिन ॥ ७ ॥

इति श्रीप्रमाणचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयस्त्रयालङ्कारे तृतीये परिच्छेदे ॥ ७ ॥



## प्रमाणप्रवेशे चतुर्थे आगमपरिच्छेदे ।

प्रत्यक्षेतररूपमानमपि व्याख्याय माभासताम्,  
तस्यै रयापयितुं कथञ्चिदधुना प्रारभ्यते प्रथमम् ।  
मिथैवान्तमहान्धकूपपतन्यामुग्धबुद्धे स्फुटम्,  
क मन्मार्गनिरूपणेऽत्र कुशलं स्याद्वाभानो पर ॥ १ ॥

अथ प्रमाणाभासत्वेन प्रसिद्धं विद्वान् कथञ्चिदेव तदाभासं न सर्वधेति प्रसिद्धं—

प्रत्यक्षाभं कथञ्चित् स्यात् प्रमाणं तैमिरादिकम् ।  
यत्रथैवाऽनिमवादि प्रमाणं तत्तथा मतम् ॥ २० ॥

(१) उपमात् प्रत्यभिज्ञानात्मकमेव दर्शनस्मरणभोगाणां तद्वत् मति मादृश्यादिसङ्कलनस्वभावश्च तस्मात् समञ्जसम् उपपन्नम् । (२) मादृश्यादिसङ्कलनस्वभावश्च तत् प्रत्यभिज्ञानमेव यथा प्रसिद्धप्रत्यभिज्ञानम्, तैत्कारणात् मादृश्यादिसङ्कलनस्वभावश्चोपमानमिति । (३) मादृश्यादिसङ्कलनस्वभावश्च तत् प्रत्यभिज्ञानमेव यथा प्रसिद्धप्रत्यभिज्ञानम्, तैत्कारणात् मादृश्यादिसङ्कलनस्वभावश्चोपमानमिति । (४) मादृश्यादिसङ्कलनस्वभावश्च तत् प्रत्यभिज्ञानमेव यथा प्रसिद्धप्रत्यभिज्ञानम्, तैत्कारणात् मादृश्यादिसङ्कलनस्वभावश्चोपमानमिति ।

विवृति'-तिमिराद्युपसृवचान चन्द्रादावविसनादक प्रमाण यथा तत्सङ्ख्यादौ  
 विमवादरूपादप्रमाणम्, प्रमाणेतरव्यपस्थाया तल्लक्षणत्वात् । नहि ज्ञान यदप्य  
 नुरुति तत्र प्रमाणमेव ममारोपव्यवच्छेदाकाङ्क्षात् । रुथमन्यथा दृष्टे प्रमा  
 णान्तरवृत्ति' ? ऋतस्य करणापोगात्, तदेकान्तहाने कथञ्चित्करणान्तिष्ठे । तदस्य  
 5 निमवादोऽपि अस्तुनिर्भासात्, चन्द्रादिवस्तुनिर्भासानामविसवादकत्वात् ।

प्रकारेण प्रमाण मनमिष्ट परोक्षकरिनि । तथाहि-सर्व सग्यादिक प्रमाणाभास स्वरूपापेयया  
 द्रव्यापयया वा प्रमाण भवति तत्राविसवात्स्वत्वात् यद्यत्राविसवादि तत्तत्र प्रमाण यथा रस रमज्ञानम्,  
 अविसवात् च सग्यादिक स्वरूप द्रव्यरूपादौ वा तनस्तत्र कथञ्चित्प्रमाणमिति । विसवाद एव  
 स त्रप्रामाण्यनिवर्धनम् अविसवात् च प्रामाण्यनिवर्धनमिति यावस्य सकलवादिस्मृतत्वात् सर्वथा  
 प्रमाणाभासस्य यावत् यत्वात् । बहि प्रमेयापेयाया प्रमाण तन्निभञ्च ते (आप्तमी० श्लो०  
 ८३) इति वचनान् । न हि ज्ञान स्वरूप विसवात् तस्याह्प्रत्ययसिद्धत्वात् । प्रसिद्धे च विषय  
 प्रवृत्तमान कथमप्रमाण स्यान्मिति । -लघी० ता० प० ४२ । अस्या कारिकाया यद्दिनानानिनि  
 तिमिरान्ति प्रयोगाभासपुत्रम् तस्य कथञ्चिदेव प्रत्यशाभासता दग्यति । त्निनामादे प्रत्यक्षाम  
 स्वरूपप्रत्याका प्रत्यास्वित्यम्- भ्रान्तिस्मवतिस ज्ञानमनुमानानुमानिकम् । स्मरणञ्चामिलापश्चत्य  
 क्षामान सन्मिरम् ॥ अथ मराचिकात्पि जलादिकत्पनात् भ्रमज्ञान प्रत्यक्षाभासम् । सवृत्तिस्य हि  
 स्वमिन्नु अर्थान्तरमारोप्य तस्वरूपवत्पनात् प्रत्यशाभासम् । अनुमान तत्फलञ्च पूर्वानुभवकल्प  
 नात् प्रथमम् । -प्रमाणम्० प० १६० । त्रिविध कलनापानाम् योपप्लवोदभवम् । अविकल्प  
 कभवञ्च प्रथमम् चतुर्विधम् ॥ त्रिविध कलनापान प्रत्यक्षाभम्-मरीचिकाया जलाध्यवसायि भ्रान्ति  
 पानम् । मृत्तौ विसवात् प्रवसायमावतनानम् पूर्वदृष्टकत्ववत्पनात्प्रवृत्त लिङ्गानुमेयादिपानम् ।  
 अविकल्पकञ्च प्रत्यशाभासम् कीलाम् ? आश्रयस्य द्विद्रयस्य उपप्लवस्तिमिराद्युपघात तस्या  
 दभवो यस्य तत्तथा । एवञ्च चतुर्विध प्रत्यशाभासम् । नचविकल्पकं प्रत्यक्षम् ततस्त्रयमपी  
 गवित्पत्तत्वात् प्रथमाभाम् । तस्मिन् ? भ्रान्तिपान मृगतणिकाया जलावसायि । सवृत्तित्तो  
 द्रव्यापानम् । अनुमान लिङ्गज्ञानम् आनुमानिक लिङ्गज्ञानम् । स्मानम् स्मृति । आभिलाषिक  
 च्चनिति चित्तप्रभञ्च आवायित्नागेनोत्त । -प्रमाणवा० मनोरथ० २।२८८ । तुलना- पीतस्रावादियु  
 विज्ञान तु न प्रमाणमेव तथाचक्रियाव्याप्यन्तरभावात् सस्यानमात्राधिन्याप्रसिद्धावयत्के ज्ञान प्रमाण  
 मममानम् ततोऽनमान सस्यानि सग्य परत्रनि प्रयप्यमेतत् प्रमाणमप्रमाणञ्च । -प्रमाणवात्काल०  
 प्रथमपरि० । (५) तुलना- 'यथा यत्र विगत् तथा तत्र प्रत्यक्षम् । यथा यत्राविसवाद तथा तत्र  
 प्रमाणता ॥ (पु ६५ B) तथा च सर्व स्वभावे परभाव वा कथञ्चिदेव प्रमाण न सर्वथा । -  
 सिद्धिवि० टी० पु० ८६ । यथा यत्राविसवात्स्तथा तत्र प्रमाणता । -तत्त्वार्थश्लो० प० १७० ।  
 सिद्धिवि० टी० पु० ६९ B । यथा यत्राविसवात्स्तथा तत्र प्रमाणतत्त्वकलङ्कैवरस्युक्तत्वान् ।  
 -अष्टमहू० प० १६३ । यद्यप्यवामवात् प्रमाण तत्तथा मनम् । विमवाद्यप्रमाणञ्च तदध्ययपरो  
 क्षया ॥ -सम्मति० टी० प० ५९५ ।

(१) तुलना- यनाकारेण तस्वपरिच्छेत् तत्पेक्षया प्रामाण्यमिति । तत्र प्रत्यक्षताभासयो  
 रति प्रयय सङ्कीर्णप्रामाण्येन तस्मिन्निदप्रतव्या । प्रसिद्धानुपहृतदृष्टरपि कर्त्तव्यापि देशप्रत्यासत्या  
 यभूतापारावभासतात् । तयोपानाक्षारपि सत्यापि विसवात्पि चन्द्रादिवसावतत्त्वोपप्लवमात् ।  
 तत्रप्रवृत्तियाया व्याप्यव्यवस्था गद्यव्यापिकम् । -अष्टम० अष्टमहू० पु० २७७ । 'अनुपप्लुत  
 त्त्वानां कर्त्तव्यव्यवस्था । तत्त्वव्यापि मवात् न प्रययप्रत्यापि ॥ -तत्त्वार्थश्लो० प० १७० ।  
 उद्वेगं सप्तया विवृति -सम्मति० टी० पु० ५९५ ।

प्रत्यक्षाभम् इत्युपलक्षणम्, तेन परोक्षाभमपि यदेकान्तेन चादिना लोकाना

कारिकार्थं- वा प्रसिद्ध तत्कथञ्चित् स्याद् भवेत् प्रमाणम् नैकान्तेन तन्ना-  
भासम् इत्यभिप्राय । किं तद् ? इत्याह-तैमिरादिकमिति ।

तिमिरादागत तैमिरम् आदिर्यस्य आद्युभ्रमणादिज्ञानस्य तत्तथोक्तम् । कुत एतद् ? इत्याह-

‘यद्यथा’ इत्यादि । यतो र्यद्विज्ञानं येनेव प्रकारेण अविस्वादि तद् विज्ञान तेनैव

प्रकारेण प्रमाणमभिप्रेतम् । तथा च “कल्पनापोढमभ्रान्तम्” [न्यायवि० १।४] इत्यत्र,

“इन्द्रियाथसन्निरूपोत्पन्नमव्यभिचारि” [यावसू० १।४] इत्यत्र, “सत्सम्प्रयोग”

[जमिनिसू० १।१।४] इत्यादौ च यदभ्रान्तोद्दिग्रहण भ्रान्तनिवृत्त्यर्थं तद् यदि सर्वथा अप्रत्य-

क्षत्वात् तेनापसार्यते तदा प्रमाणविरोध । अथ कथञ्चित्, तदा एकान्तहानिरित्युक्तं भवति ।

कारिका व्याचष्टे ‘तिमिर’ इत्यादिना । तिमिरादीना कार्यभूत यद् उपस-

वज्ञान द्विचन्द्रान्दिविषय तत् चन्द्रादौ आदिशब्देन धावल्यवर्तुलत्वा-

द्विपरिग्रह तत्र प्रमाणम् । कुत एतत् ? अविस्वादक यत् तत्राक्षे ।

अत्र दृष्टान्तमाह-यथा इत्यादि । यथा तत् तिमिराद्युपलब्धज्ञान सन्त्यादौ द्वित्वस्थि-

रत्वादौ विसवादकत्वादप्रमाणम् । यदि नाम तत्तथाविध किमेतावता प्रमाणेतर-

रूप भविष्यति इत्याशङ्क्य आह-‘प्रमाण’ इत्यादि । प्रमाणञ्च इतरञ्च अप्रमाण तयो

व्यवस्थायाः तल्लक्षणत्वात् सवादविसवादलक्षणत्वात् । ननु कथं तदेव प्रमाणमि-

तरञ्च युक्त विरोधादिति चेत् ? अत्राह-‘नहि’ इत्यादि । हिर्यस्मात् न ज्ञान

भयत्कल्पित निर्विकल्पकवेदन यदपि इत्यपिशब्दोऽभ्युपगमे, परमार्थत अर्था-

कारताया ज्ञानेऽसंभवात्, तदसंभवञ्च प्रपञ्चत प्रागेव तत्प्रतिषेधात् सिद्धं । अभ्यु-

(१) ‘तिमिरमणोर्विप्लव, इन्द्रियगतमिदं विभ्रमवारणम् । आद्युभ्रमणमलातापे, मदं हि

प्रम्यमाणऽज्ञातादौ न चत्र भ्रान्तिरत्पद्यते, तदभ्रमागुपहणेन विशेष्यते भ्रमणम्, एतच्च विषयगत

विभ्रमवारणम् । सक्षोभो वातपित्तश्लेष्मणाम वातादिषु हि क्षोभ गतेषु ज्वलितस्तम्भाभ्रान्तिभ्रान्ति

रूपयने, एतन्वाध्यात्मगत विभ्रमवारणम् । सर्वरेव च विभ्रमवारण इन्द्रियाविषयवाद्याध्यात्मिका

श्रयगततिन्द्रियमेव विवक्ष्यम् । अविष्टुन इन्द्रिय इन्द्रियभ्रान्त्ययोगात् । आदिग्रहणन वाचकामाश्रय

इन्द्रियस्या गृह्यन्ते । आद्युनयातावनादयो विषयस्या । आगुनयनानयने हि वायमाणऽज्ञातागुनि

यणदण्डाभासा भ्रान्तिभवति । हस्तियानादयो बाह्याध्ययस्या गाढममप्रहारादय आध्यात्मिकराशयस्था

विभ्रमहेतवो गृह्यन्ते ।-न्यायवि० टी० पृ १६-१७ । (२) ‘प्रत्यक्षम् इति चेत् । (३) ‘इन्द्रि

यार्थमनिवृत्त्यन्तं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायत्तमं प्रत्यक्षम् ।-न्यायसू० १।१।४ । (४)

‘सत्सम्प्रयोगे पुरूपस्यन्द्रियाणां बुद्धिजम तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपसंभनत्वात् ।-जमिनिसू०

१।१।४ । (५) आदिपदेन अव्यभिचारिसत्सम्प्रयोगजयो परिग्रह । (६) भ्रान्तम्-आ० टि० ।

(७) अभ्रान्तादिग्रहणन । (८) अप्रत्यक्षत्वात्तेनापसायन इति सम्भव । (९) मयान्विमवा

१ यदेकान्तवादिनां थ० । २ यदि ज्ञानं आ० । ३-समानं आ० । ४ एकागतं हानि थ० ।

५ न तत्राज्ञानं थ० । ६-न सर्ववेदनम् थ० । ७ तद्वि भ्रान्तोऽभ्युप-थ०, थ० ।

पगन्वाप्युच्यते—यथोक्तं ज्ञानं यदपि वस्तुनुकरोति यदाकारं भवति तत्र वस्तुनि प्रमाणमेव, 'नहि' इत्यभिमन्वधः, किन्तु अप्रमाणमपि इत्येवकारार्थः । कुत एतद् ? ईत्याह—'समारोप' इत्यादि । क्षणिकेऽक्षणिकज्ञानं समारोपः तस्य व्यवच्छेदो निराम तस्य आकाङ्क्षाणात् । तन्भ्युपगमे दूषणमाह—'कथम्' इत्यादि । कथमन्यथा तदा वाङ्मनाभावात्प्रकारेण ह्ये दर्शनत्रिपयीकृते भणभङ्गादौ प्रमाणान्तरस्य अनुमानस्य वृत्तिः ? न तथमपि इत्यर्थः । नहि समारोपज्वञ्छेदात् अयत्तस्यै फलम् । अथ न समारोपनिषेधार्थं तत्रास्य प्रवृत्तिः । किं तर्हि ? ग्रहणार्था, इत्याह—'कृत' इत्यादि । कृतस्य अनुभवेन अनुभूतस्य भणभङ्गादेः अनुमानेन करणस्य ग्रहणस्य अयोगात्, अन्यथा अनवस्था स्यात्, तद्गृहीतेष्वस्मिन् अनुमानात्परेण ग्रहणप्रसङ्गात् ।

- 10 अथ अर्थदर्शनेन नीलादिकमेव गृहीतं न क्षणभङ्गादिकं तेनायमदोषः, अत्राह—'तद्' इत्यादि । तदेकान्तः कृतेरान्तं "एकस्यार्थस्वभावस्यै" [ प्रमाणवा० ३।५२ ] इत्यादिचयनात् । यत्कृतं तत्कृतमेव तस्य हानेः हानिप्रसङ्गात् कथं प्रमाणान्तरवृत्तिः ? तद्धानि कुत ? इत्याह—'कथञ्चिद्' इत्यादि । कथञ्चित् नीलादिरूपेण न क्षणभङ्गादिरूपेण यत् करणं वस्तुनो ग्रहणं तस्याऽनिष्टे, अन्यथा गृहीतेतररूपता एकस्य स्यात् । उपसंहारयाजेन दूषणात्तरमाह—'तद्' इत्यादि । यत् एव तत् तस्मात् अस्य अर्थान्तरदर्शनस्य त्रिसरादोऽपि विप्रलम्भोपि न केवलं कथञ्चित् प्रामाण्यमेव । कुत एतत् ? इत्याह—अनस्तुनिर्मासात् । अनस्तुनी भयमते बहिरन्तर्वाऽसत एव स्थूलायारस्य निर्मासाद् अनुकरणेन दर्शनं प्रमाणं न स्यादिति भावः । व्यवहारेण प्रामाण्येऽपि न सौगतस्य इष्टतत्त्वमिद्धि । अथ निरवयविनश्चरान्विस्तुस्वरूपान्तुं
- 15 करणेऽपि नीलादिमन्चेतनादिवस्तुस्वरूपानुकरणात् तव्यामाप्यम्, इत्याह—'चन्द्रादि' इत्यादि । चन्द्रादि च तद् वस्तु च तस्य निर्मासानाम् उपप्लवज्ञानसम्बन्धिप्रतिभासानां प्रामाण्यं स्यात् 'प्रमाणम्' इत्येतदनुवर्तमानं लक्ष्मभावप्रत्ययमिह सम्बद्धवते । कुत एतद् ? इत्याह—अनिसरादकथान् । न खलु चन्द्रादिविप्लवज्ञानं धावत्यवर्तुलत्वाद्दौ त्रिसरादिति इति । एव तावत् यत् परेण प्रत्यक्षाम् 'तेमिरिकादीन्द्रियज्ञानमुक्तं तदपि कथञ्चिन् प्रत्यक्षमिति व्यवस्थापितम् ।

(१) क्षणिकान्तरप्रमाणं निविकल्पकम् यदि हि क्षणभङ्गात् निविकल्पकप्रत्ययमव गृहीतं ग्यात् तत्साधनायमनुमानं किमयं प्रयुक्तं इति ह्यप्यम्—आ० टि० । (२) अनुमानस्य । (३) निविकल्पकप्रत्ययमव । (४) यदि वस्तु तत्सर्वस्मिन्ना कृतं गृहीतं निविकल्पेन इत्येवात्तं कृतकान्तं । (५) एवस्याप्यवधारणस्य प्रत्ययस्य सत एवम् । कोऽयं भागो न दृष्टं स्यात् य प्रमाणं परीक्ष्यत । प्रमाणवा० । उद्गुणश्चायम्—न्यायम० पृ० ९३ । अत्रि० आलोक० पृ० १५२ । सिद्धिवि० टी० पृ० ७१ A । तत्साधनालो० पृ० ४०५ । प्रमेयक० पृ० २३६ । समति० टी० पृ० ५०७ । न्यायवि० वि० पृ० ४९६ B । स्या० २० पृ० ९३४ । सात्त्विका० दण्डो० पृ० १५८ B । (६) अग्रहणं—आ० टि० ।

1 तथोक्तं पृ० । 2 इत्यत्राह पृ० वं । 3 करणस्यायोगात् वं । 4 क्षणकान्तं वं । 5 न च क्षण—पृ० । 6 विप्रलम्भोपि—पृ० ।

माप्रत कल्पनापदेन यत् परेण विकल्पज्ञान तदाभासमुक्त तदपि प्रत्यक्ष साधयन्नाह—  
स्वसवेद्यं विकल्पानां विशदार्थावभासनम् ।

सहृताशेषचिन्तायां सविकल्पावभासनात् ॥ २३ ॥

विवृति.—सर्वतः संहृत्य चिन्तां स्तिमितान्तरात्मना स्थितोऽपि चक्षुषा रूप  
संस्थानात्मक स्थूलात्मकमेक सूक्ष्मानेकस्वभाव पश्यति न पुन. असाधारणैकान्त 5  
खलक्षणम्, प्रतिसंहारव्युत्थितचित्तस्य तथैवास्मरणात् । तरमादविशदमेव अत्रि-  
रूपकं प्रत्यक्षाभम् । न च विशदेतरनिकल्पयोः निपयभेदैकान्तः प्रत्यासन्नेतरा-  
र्थप्रत्यक्षणाम् एकार्थविपयतोपपत्तेः ।

स्वसवेद्यं स्वमवेदनाध्यक्षग्राह्यम् । केपाम् ? इत्याह—विकल्पानाम् । किं तद् ?

परिहायं - इत्याह—विशदार्थावभासनम् । कुत् एतत् ? इत्याह—'सहृत्' 10

इत्यादि । सहृता अशेषाश्चिन्ता यस्यामनस्थाया तस्यामपि सविकल्पकस्यैव  
ज्ञानस्य अवभासनात् । ततो यदुक्त परेण—“न विकल्पानुविद्धस्य स्पष्टार्थप्रतिभा-  
सतो ।” [ प्रमाणवा० २।२८३ ] इत्यादि, “प्रत्यक्ष कल्पनापोढ प्रत्यक्षेणैव सिद्धयति ।”  
[ प्रमाणवा० २।१२३ ] इत्यादि च, तन्निरस्तम् ; प्रत्यक्षनाधितत्वात् ।

(१) द्रष्टव्यम्—पृ० ५२१ टि० ४।(२) भवति । किम् ? स्वसवेद्यं स्वेन तदवज्ञानात्मना संवेद्य

ग्राह्यम् स्वसवेद्यं नानस्वरूपमित्यथ । वेद्यवदकारद्वयाविरापात् ज्ञानस्य अथवा अवस्तुत्वापत्तेः ।  
किं विशदम् ? विशदार्थावभासनम् अथस्य परमाथसतो वभासनमवबोधनमर्थविभासनम् विशद स्पष्ट  
तच्च तदर्थविभासनं च तत्तथोक्तम् । केपाम् ? विकल्पानाम्, घटोऽथ गौरस्य शुभ्रश्रेष्ठ गायकाश्रमि  
त्यादिनिश्चयनानाम् । कुत् ? सविकल्पावभासनात् विकल्पो जात्याद्याकारावबोध सह विक  
ल्पनेन सविकल्पकं तस्यावभासनाद्भवत् । क्व ? सहृताशेषचिन्तायां, सहृता नष्टा अशेषा  
स्मृत्याऽपि विवृता विकल्पा यस्यामवस्थाया सा तथान्ना तस्याम् । चक्षुरादिबुद्धौ जात्याद्याकारविशेषस्य  
अवबोधनस्य अप्रतिहतत्वात्, ततो विकल्पज्ञानस्य प्रत्यक्षाभासत्वमयुक्तमित्यथ । —रघी० ता० पृ०  
४३ । (३) धमकीनिर्नोक्तं यत्—शा तच्चेतस्कनया चक्षुषा यद्रूपज्ञानं भवति तन्नविकल्पकम् । तस्मिन्च  
रूपस्वरक्षण क्षणिकपरमाण्वात्मकं प्रतिभासते । तथाहि— 'सहृत्य सवनचिन्ता स्तिमितान्तरात्मना ।  
स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीदृशे साऽप्यजा मति ॥'—(प्रमाणवा० २।१२४) ग्रथवृता तत्प्रतिविहितम-  
यत्तदवस्थायांमपि सविकल्पकमेव नान स्थिरस्थूलाद्यग्राह्यनुभूयते । तुलना—'सहृत्य सवनचिन्त  
स्तिमितेनान्तरात्मना । स्थितोऽपि चक्षुषा रूपं स्वञ्च स्पष्टं व्यवस्यति ।'—सत्वायश्लो० पृ० १८६ ।  
(४) तुलना— न हि जातुचिदसहायमाकारं पश्यामी यथा व्यावर्ण्यते तथकानिगयात्, नानावयव  
रूपाद्यात्मनो घटादे वहि सम्प्रतिपत्तेः न परमाणुसचयरूपस्य ।—सिद्धिबि०, टी० पृ० ३६ B ।  
(५) “न विकल्पानुबद्धस्यास्ति स्पृष्टार्थावभासिता । न विकल्पेनानुबद्धस्य सस्तुतस्य ज्ञानस्य स्पृष्टा-  
र्थावभासितास्ति ।”—प्रमाणवा० मनोरथ० २।२८३ । उद्धतोऽथम—तत्त्वोप० पृ० ३४ । सिद्धिबि०  
टी० पृ० २८ B, १५ A । तत्त्वायश्लो० पृ० १२० । समति० टी० पृ० ५०२ । यायवि० वि०  
पृ० ७७ A । 'न विकल्पानुबद्धस्य'—नात्प्रथा० घशो० पृ० १५७ B । 'नविकल्पानुबद्धस्य स्पष्टार्थं  
प्रतिभासते—न्यायवि० टी० टि० पृ० ३५ । (६) 'प्रत्यक्ष कल्पनापोढ प्रत्यक्षेणैव सिद्धयति ।



इदमपि ध्यात्मानम्-स्वसचेद्यं स्वसवेदनप्राप्त यद्रूपम् । केपात् ? विकल्पानाम् अनुमानादिमानसज्ञानानाम् । तत्किम् ? विशदार्थावभासनम् निर्विकल्पकमध्यातम् इत्यर्थः । कदा ? सहताशेषचिन्तायाम् । केन रूपेण ? 'स्वमवेद्येन' इति विभक्तिपरिणामेन सम्प्रथ । किं कृत्वा ? सविकल्पावभासनात् तदवभासनमाश्रित्य इत्यर्थः । ततस्ते विकल्पा कथञ्चित् प्रत्यक्षाभा इति भावः ।

कारिका त्रिवृणनाह- 'सर्पत' इत्यादि । सर्पत, मजातीयाद् निजातीयाच्च

सहृत्य त्यक्त्वा । काम् ? चिन्ताम् परामर्शबुद्धिम । स्थितोऽपि प्रतिपत्ता । केन रूपेण ? इत्याह- 'स्तिमितेन' इत्यादि । स्तिमितः

स्वरीभूत अपरिस्पन्द अन्तरात्मा मन तेन । स किं करोतीत्याह- 'चक्षुषा'

इत्यादि । चक्षुर्महणमुपलक्षण श्रोत्राद्, तेन रूप पश्यति, रूपग्रहणमपि रसादीनामुपलक्षणम् । कथम्भूतम् ? सम्यानात्करु यर्जुलत्वादिधर्मस्वभावात् । पुनरपि कथम्भूतम् ?

स्थूलात्मक स्थूलस्वभावमेकम् । पुनरपि विशिष्टम् ? सूक्ष्मानेकस्वभावात्, सूक्ष्मोऽनेन स्वभावो यस्य तत्तथोक्तम् । ननु सरानादिक गुणत्वाद् द्रव्यस्य न रूपस्य, अस्य गुणत्वेन निर्गुणत्वात्, इत्यध्यसमीक्षिताभिधानम्, अनेनात्ते द्रव्यगुणयोरभेदार्पणया

रूपस्यापि द्रव्यधमाऽविरोधात् । ननु चक्षुषा रूप दृश्यमानम् अन्योऽप्यविलक्षणानेकानशरपरमाणुरसैर्भावस्त्रलक्षणरूपमेव दृश्यते ननु स्थूलादिस्वरूपम्, इत्याह- 'न पुन'

त्यादि । पुनरिति भावनायाम्, न स्वलक्षण पश्यति, कथम्भूतम् ? असाधारणम्, असाधारण सनातीयनिजातीय-यौवत्त एकोऽसहाय अन्तो धर्मो यस्य तत्तथोक्तम् ।

हुत पतन् ? इत्याह- 'प्रतिमहार' इत्यादि । सहा अशेषविकल्पाभाव, प्रतिमहार

पुनर्विकल्पप्रवृत्ति, तमाश्रित्य व्युत्थित प्रतिबुद्ध चित्त यस्य स तथोक्त तस्य, तथैव असाधारणैका तप्रकारेण अस्मरणात् स्मरणाभावात् स्वलक्षणस्य, अतो न तस्य कदाचिद् दर्शनम् स्थूलादिस्वभावस्यैव तु स्मरणात् सत्ता दर्शनमिति ।

'तस्मात्' इत्यादिना उपसहारमाह- यस्माद्विर्विकल्पक ज्ञान परस्य प्रत्यक्षात्वेनाऽभिप्रेत न कदाचिद् विशदस्वरूपतया प्रतिमाति तस्माद् अपिशदमेव अत्रिकल्पक

प्रत्यक्षाभम् । ननु विशदेतरज्ञाना विभिन्नप्रतिभासतया विभिन्नविषयत्वात् 'स्थूलादि-

प्रत्यात्मवेद्य सर्वेषा विकल्पो नामसधय ॥ यत्प्रत्यक्षमिति प्रसिद्ध तत्कल्पनाया अपोऽद्रष्टव्य कल्प नापरेरहितमित्यय । तच्चतदोद्गम प्रयत्नेन स्वसवेद्येनैव सिद्धमिति । क-पनारहितस्यापस्य रूपस्य सवेदनस्यापरोपत्तवान् । यदि तु कल्पनास्वभावत्वमस्य स्यात्तथैव प्रकाशत विकल्पस्यापरोपत्त्वात् । तथाहि -प्रत्या मवेद्य सर्वेषा प्राणिना विकल्पो नामसधय चालससर्गवान् । स यदि स्यादुपलभ्य एव भवेत् । -प्रमाणवा० मनोरथ० २।१२३ । उद्वनोऽयम्-अनेकातजय० प० २०७ । ग्यापवा० ता० प० १५४ । सिद्धिदि० टी० प० १७ A, ३१ A । प्रमेयक० प० ३२ । समिति० टी० प० ५०३ । ग्यापदि० वि० प० ४५ A, ८३ B, ४९५ A । स्या० २० प० ८२ । नास्त्रवा० यगो० प० १५७ B

1 तेन किं च । 2-स्वभावलक्षणरूपमेव थ० । 3 असाधारणम् नास्ति जा० य० । 4-असाधारण म एको-य० । 5-इत्यादिना-य० । 6-विभिन्नविषय-य० । 7-विभिन्नविषय-य० ।

स्वभाव रूप पश्यति' इत्यादि युक्तम्, ययोर्विभिन्नप्रतिभासत्वं तयोर्विभिन्नविषयत्व यथा रूपरसज्ञानयो, विभिन्नप्रतिभासत्वं च प्रत्यक्षेतरज्ञानयोरिति । तथा च, विशदस्वभावस्य अध्यक्षस्य स्वलक्षणविषयत्व सिद्धम्, अविशदस्वभावस्य तु विकल्पस्य स्थूलादिविषयत्वम् इत्यादिभ्यः—'नच' इत्यादि । नच नैवं विशदेतरविकल्पयोः अवग्रहादिस्मरणयो विषयभेदैकान्तः, 'परमार्थवस्तुनि विशदविकल्प प्रवर्तते, कल्पिते अविशदविकल्प' इति, किन्तु विशदविकल्पविषय एव अविशदविकल्पस्य विषय । यच्च 'विभिन्नप्रतिभासत्वात्' इत्युक्तम्, तदप्यनैकान्तिकमित्युपदर्शयन्नाह—'प्रत्यासन्न' इत्यादि । प्रत्यासन्नश्च इतरश्च अप्रत्यासन्न अर्थो येषां तानि च तानि प्रत्यक्षाणि तेषां विशदेतररूपप्रतिभासभेदसभवेऽपि एकार्थविषयतोपपत्तेः । नहि दूरासन्नपुरुषाणां पादपादिप्रत्यक्षेषु प्रतिभासभेदोऽसिद्धः । नापि विषयाभेदः, पादपादेरेकस्यैव तद्विषयत्वात् ।

यदप्युच्यते—'प्रत्यक्षे न सन्ति कल्पना उपलब्धिलक्षणप्राप्तानामनुपलब्धे, यद्यत्र उपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते तत्तत्र नास्ति यथा क्वचित् प्रदेशविशेषे घट, नोपलभ्यन्ते च प्रत्यक्षे तथाविधा सत्यं कल्पना इति । न च उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वं तासामसिद्धम्, 'नहि इमा कल्पना अप्रतिसविन्तिता एव उच्यन्ते व्ययते च यत् सत्योऽप्यनुपलक्षिता स्यु' इति, तद्दूषयन्नाह—

प्रतिसंविदितोत्पत्तिव्ययाः सत्योऽपि कल्पनाः ।

प्रत्यक्षेषु न लक्ष्येरन् तत्स्वलक्षणभेदवत् ॥ २४ ॥

(१) प्रत्यक्षेतरज्ञाने विभिन्नविषय विभिन्नप्रतिभासत्वात् । (२) [अ]सिद्ध इत्यत्रापि योज्यम-  
शा० टि० । (३) "यदाह—न चेमा कल्पना अप्रतिसंविदिता एवोदयन्त व्ययते चेति । नापि तत्प्रति-  
पत्तो विज्ञानुसरणन तदाकारसमारोपमशय शक्यते कल्पयितुम् —प्रमाणवा० स्वव० टी० १।५० ।  
(४) 'न लक्ष्येरन् विविच्येरन् । का ? कल्पना विवृत्ता । केषु ? प्रत्यक्षेषु स्वसंबन्धानिषु ।  
किं विवृत्ता अपि ? सत्योऽपि विद्यमाना अपि । पुन कथंभूता ? प्रतिसंविदितोत्पत्तिव्यया, उत्पत्ति-  
स्वल्पत्वात् व्ययोऽभावप्रत्यय, प्रतिसंविदिता प्रतिप्राणि समुपलब्धौ उत्पत्तिव्ययौ यासां तास्तयोक्ता ।  
न सुखं सत्त्वं विना उत्पत्तिव्ययवत्त्वमनुभूयते, अयथाऽतिप्रसङ्गात् । ननु सता विकल्पानां प्रत्यक्षबुद्धाव-  
मुपलक्षणं किं कारणमिति चेत्, प्रतिपत्तुरशक्तिरप्रणिधानञ्चेति ब्रूम । अत्र निदर्शनमाह—तन्व्यादि ।  
तेषां विकल्पानां स्वलक्षणं स्वरूपं तस्य भेदं सजातीयविजातीयव्यावृत्तिं स इव तद्वत् । अयमर्थ—यथा  
प्रतीतोत्पत्तिव्यया सत्यपि स्वलक्षणव्यावृत्तिं कल्पनासु न लक्ष्यते अनुमानत एव तत्सिद्धं तथा प्रत्यक्षेषु  
कल्पना अपि न लक्ष्यन्ते इति । तर्हि कथमलक्षितानां तासां तत्रास्तित्वसिद्धिरिति चेत् ? न पुनस्त-  
न्विषयस्मरणा यथानुपपत्त्या तत्सिद्धे । सहृत्सकलविकल्पावस्था हि अत्र विकल्पयतो गोप्ताभावस्था  
तत्रापि गोप्तात्वं निश्चयात्मकमेव पुनस्तद्विषयस्मरणा यथानुपपत्तः ।—रुघो० ता० पृ० ४४ । तुलना-  
'न हि सवितं बहुबहुविधप्रभत्याकृतय स्वयमसंविदिता एवोदयन्त अत्ययन्ते वा यत् सत्योऽप्यनुप-  
लक्षिता स्यु कल्पनावत् ।'—सिद्धिवि०, टी० पृ० ९८ A ।

१ नैव ब० । २—विकल्पकस्य आ० । ३ 'प्रत्यासन्नेत्यादि' नास्ति आ०, श्र० । ४ प्रत्यक्षेण सति  
श्र०, ब० । ५ सत्योऽप्यनु-आ० ।

विधृति'-सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भात् तद्विज्ञेया'र्शिनोऽनवधारणम् अम  
मीक्षिताभिधानम्; सर्वाथा तसादृश्याऽनिष्टे । प्रतिमहारैकान्त' सभवति न वेति  
चिन्त्यमेतत् । कथञ्च प्रत्यक्षयुद्धय सर्वाथाऽपिरूपा' पुनर्विरूपणम् ?

प्रति प्राणि सविदिता उत्पत्तिरूप्यौ वासा ता तथोपा ता तथाविधा

5 सत्योऽपि विद्यमाना अपि न केवलमगत्य, प्रत्यक्षेषु, बहुयत्ना  
कारिण्यं - चतुर्विधस्यापि प्रत्यक्षस्य सहप्रहार्थम् । कल्पना न लक्ष्येरन् ।

न च सत प्रतिसविन्तितविर्भावविनाशरतोऽनुपलक्षण विरुद्धम्, इत्यस्यार्थस्य समर्थ  
नाथ तत्प्रसिद्धमेव निर्दर्शन प्रदर्शयन्नाह- 'तत्स्वलक्षणभेदयत्' इति । तामा कल्प-  
नाना स्वलक्षण स्वस्वरूप नश्य भेद संजातीयाद्विजातीयाच्च व्यावृत्ति म इव तद्वदिति ।

10 तैतदुक्त भवति-यथा प्रतिसविन्तितोत्पत्ति-यय सतापि कल्पनासु तद्वेदो न लक्ष्यते,  
अथवा क्षणश्रयानुमात्मनश्च स्यात्, तथा प्रत्यक्षेषु कल्पना सत्योऽपि न लक्ष्यते इति ।

तद्वेदानुपलक्षणे परस्वीया युक्ति सदूपणा 'सदृश' इत्यादिना प्रदर्श्य कारिकायं

विद्वृत्ति-यत्नानाम- 'प्रतिमहारैकान्त' इत्यादिना दर्शयति-सदृशस्य समानस्य अपर-  
स्यापरस्य उत्पत्ति तया विप्रलम्भ अज्ञानात्प्रयत् चक्षुषो धम'

15 तस्मात्तद्विशेषादर्शिनः, त प्रयत्न मनातीयव्यावृत्तिलक्षणविशेषम् अज्ञातपक्षय-  
पश्यतीत्येवशीलस्य सौगतस्य अनवधारण यद् भेदानुपलक्षणम्, तदममीक्षिता-  
भिधानम्, उत एतन् ? इत्यत्राह-'मर्षया' इत्यादि । मर्षया भेदाभेदोभयातुभय-  
प्रकारेण तामां कल्पनाना सादृशस्य अनिष्टे तत तद्वेदानुपलक्षणमेव स्यात् इत्यभिप्राय ।  
नचैतदस्ति, अतो यथा तद्वेद सतापि नोपलक्ष्यते तथा प्रत्यक्षेषु सत्योऽपि कल्पना

0 इति । तत प्रतिसहारैकान्त, प्रत्यक्षेषु सत्कारणरूपनारिरहणात् 'ममस्ति न वा' इति  
चिन्त्यमेतत् पर्यालोच्यमेतत् 'न सभवति' इत्यर्थ । तत्स्वलक्षणभेदयत् तासा  
सत्रानुपलक्षिताना समयान् । 'तु यद्यपि तासा तद्वेदो न लक्ष्यते तथापि अभिलाष-  
ससर्गयोग्यप्रतिभागो विद्यमानो लक्ष्येत, न च उपलक्ष्यते । अत ईस्याऽनुपलक्षणात्  
अभावसिद्धे सिद्ध प्रतिसहारैकान्त, इत्यत्राह-'कथञ्च' इत्यादि । कथञ्च न कथञ्चिदपि

(१) स्वहृत्तोरेव तथापस्त क्षणस्थितिधर्मना तत्त्वमात्रं पश्यन्प्रति मन्बुद्धि सत्तापरलम्भेन  
सवना तथाभावस्य नञ्क्या सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भो वा न व्यचरयति । -प्रमाणवाच० स्ववृ०  
१।३४ । 'ता पुनरनित्यना पश्यन्प्रति मन्बुद्धि नाध्यवस्यति सातोपलम्भेन सवना तन्मात्राणाञ्चाविप्र-  
लम्भ सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भो वा । -प्रमाणवातिकार्य० लि० प० २३७ । (२) इन्द्रियमन  
स्वमवेत्नयोगिलक्षणस्य । (३) क्षणभङ्गत्वम् स्वरूपभेदस्य । (४) उवाह(?) -आ० टि० । (५)  
भम् । (६) कल्पनानाम । (७) कल्पनाया लक्षणमिदम् तथाहि-'अभिलाषसंगयोग्यप्रतिभाग  
प्रतीति कल्पना' 'यापदि० पृ० १४ । (८) अभिलाषसंगयोग्यप्रतिभासरय ।

1 सजातीयाश्च स्या-आ० । 2 तदुक्तं व० । 3 तथा आ० । 4 तत् थ० । 5 'सवयत्यादि  
नारित थ० । 6 सादृश्यानिष्ठ व० । 7 ततस्तदवधारण-आ० । 8 'पर्यालोच्यमेतत्' नारित आ० ।  
9 तत व० । 10-सिद्ध प्रति-थ० । 11 कथञ्चेदित्यादि व० ।

प्रत्यक्षबुद्धयः, बहुवचनम् अशेषाध्यक्षबुद्धिसङ्ग्रहार्थम्, सर्वथा स्वरूपगद् वहिरपि  
अपिकल्पाः, पुनरिति वितर्कः निकल्पेरन् वहिर्निकल्पात्मिका भवेयु अनेकान्त-  
प्रसङ्गादिति मन्यते । अथवा तद्बुद्धय सर्वाऽनिकल्पा. सत्य' कथञ्च न पुनः  
पश्चाद् निकल्पेण् विकल्पान् कुर्यु । न हि अपिकल्पादनुभवाद् अर्थान्वि विकल्प  
सम्पत्तिल्युक्त सविकल्पसिद्धिप्रघट्टके । तत स्थितमर्थमुपदर्शयन्नाह-

अक्षवीस्मृतिसंज्ञाभिः चिन्तयाभिनिबोधिकैः ।

व्यवहाराऽविसंवादः तदाभासस्ततोऽन्यथा ॥ २५ ॥

विवृतिः-प्रत्यक्षस्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानादिभिः अनिसनादसिद्धेः अर्थेषु  
तत्प्रामाण्यम्, अन्यथा तदाभासव्यवस्था । तथैव श्रुतज्ञान तदाभासव्यवस्था ।

अक्षाणां चक्षुरादीना कार्यभूता धीर्बुद्धि अवग्रहाद्यात्मिका मति सा च

कारिका -

स्मृतिश्च संज्ञा च तामि, चिन्तया तर्केण, आभिनिबो-  
धिकैः अनुमानै व्यक्त्यपेक्ष नहुवचनम् ते समस्तैर्व्यस्तैश्च व्यव-

हाराविमवादः, अतस्तेषा प्रामाण्यम्, अन्यथा एकान्तवादिपरिकल्पितप्रकारेण  
तदाभासः प्रमाणाभास । नहि एकान्तवादिपरिकल्पितस्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्काऽप्रामा-  
ण्यप्रकारेण अनिकल्पाक्षज्ञान-कार्यादिपरिगणितलिङ्गप्रभवानुमानप्रकारेण च प्रवृत्त्यादि-  
व्यवहाराविसवान्ने लोके प्रसिद्ध ।

कारिका विवृण्वन्नाह-'प्रत्यक्ष' इत्यादि । प्रत्यक्षस्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानु-  
मानादिभिः अनिसनादसिद्धेः कारणाद् अर्थेषु घटादिषु तेषा प्रत्य-  
क्षादीना प्रामाण्यम्, अन्यथा एकान्तवादिपरिकल्पितप्रकारेण तदाभास-  
व्यवस्था प्रामाण्याभासव्यवस्था । एतदेव शान्दे श्रुतेऽतिदिशन्नाह-'तथैव' इत्यादि ।  
स्मरणादिना अर्थस्य श्रुतस्य उक्तत्वात् शब्द श्रुत श्रुतज्ञानशब्देनेह गृह्यते, तथैव  
व्यवहारसंवात्-निसनादप्रसारेणैव श्रुतज्ञान तदाभासश्च तयोर्व्यवस्था ।

ननु श्रुतज्ञान प्रमाणमेव न भवति तत्कथ तद्व्यवस्था इत्याशङ्क्याह-

प्रमाण श्रुतमर्थेषु सिद्ध द्वीपान्तरादिषु ।

अनाश्वास न कुर्वीरन् क्वचित्तद्व्यभिचारतः ॥ २६ ॥

(१) यथाहि अभिलाष अभिलष्यमानजातिपूणत्रियांरहितात क्षणिकार्थात् न शब्दसर्गा  
विकल्पो जायते तथैव निविकल्पानुभवानपि शब्दश्रुयात् न शब्दात्मको विकल्प समुत्पद्यते । (२) प्र०  
५१ । (३) 'प्रमाणमित्यनुवतते । तेनाभिसम्बन्धाद् अक्षध्यादाना प्रथमा'तत्वम्'अथवसाद्विभक्तिविपरि-  
णाम' इति 'यायात् तत एव व्याख्यायते-अक्षधीस्मृतिमज्ञाभि चिन्तयाऽऽभिनिबोधकश्च व्यवहारे हानो-  
पादानरूपे अविसंवादाव्यभिचार सक्त्यवहारिणा प्रतीतिमिदं ततस्तानि प्रमाणानि भवन्तीत्यर्थ ।'  
-लघो० ता० प० ४५ । (४) परोमस्य-आ० टि० । (५) परोमम-आ० टि० । (६) 'व्यवहाराविमवाद

१ कथञ्च पुन आ० । २ विकल्पेनैव विक-प्र० । ३-निबोधक व० । ४ अभिनिबोधिक  
व०, प्र० । ५ प्रथम आ० । ६-संवात्प्रकारे-प्र० ।

विवृति'-श्रुतज्ञान वक्रमभिप्रायादर्थान्तरेऽपि प्रमाणम्, कथमन्यथा द्वीप  
 दशनदीपर्वतादिकम् अदृष्टस्वभावकार्यं दिग्निभागेन देशान्तरस्थ प्रतिपत्तुमर्हति  
 निरारेकमविसवाद्दञ्च ?

श्रुत धर्मि, प्रमाणमिति साध्यो धर्म 'अविसरादसिद्धे' इत्येतदनुषर्तमान

साधन तेन 'अविसवादक श्रुत प्रमाण न सयम्' इत्युक्त भवति ।

कारिकाय -

तन्वित्थम्भूत श्रुत क प्रमाणमित्याह-अर्थेषु, न पुन अभिप्रायमात्रे ।

त्रिंशद्विधेषु तेषु ? इत्याह-द्वीपान्तरादियु सिद्ध शास्त्रान्तरे लोके या प्रसिद्धम् ।

ननु अर्थाभावेऽपि शब्दाना प्रवृत्तिप्रताते कथ तेषां प्रमाणमित्याह-'अनाश्यासम्'

इत्यादि । अनाश्यासम् आश्यासामाव न कुर्वीरन् कचिद् 'अङ्गुल्यम हस्तियूयसत-

मास्ते' इत्याद्यौ तस्य श्रुतस्य व्यभिचारतो व्यभिचारमाश्रित्य, इन्द्रियज्ञानेपि श्रुत

एव तद्द्वीपापत्तेरित्यभिप्राय ।

ननु श्रुतस्य अनुमानाद् व्यतिरेकाऽसिद्धित तत्रामाण्यप्रसाधनादेव प्रमाणप्रसिद्धे

सुतज्ञानमनुमानाद्

तिरिक्त प्रमाणमन्यम्

गच्छावशापिचा

दया पूर्वपक्ष -

'प्रमाण श्रुतमर्थेषु' इत्याप्युक्तम्, तथाहि-शब्दोऽनुमानान्न व्य-

तिरिच्यते तदभिन्नरिपयत्तान् तदभिन्नसामग्रीसमवित्तयाश्च, यद्

यत् तथापिध तत्तदनुमानान्न व्यतिरिच्यते यथा कुतश्चिदनुमानाद्

अनुमानान्तरम्, तथापिधक्षाय शब्द इति । न चास्य तदभिन्न-

इत्यनुवचते । आणवचनानिबन्धन मनिबूवमथनान भुत्त तत्र प्रमाण सिद्धमव । का सिद्धमिति  
 वत ? व्यवहाराविसवाणित्युष्यत प्रत्यक्षान्वित । केषु ? अर्थेषु प्रमेयेषु । कीदृशु ? द्वीपान्तरान्पि  
 प्रकृता जम्बूनीप तस्मान्प धानकीलवृक्षाद्यो द्वीपान्तराणि तायागिण्यां कास्वभावव्यवहिताना ते  
 तयोक्ता तेषु दगावालाकारविप्रवृष्टिष्विषय । न हि श्रुतादथ परिच्छिद्य प्रवनमानो रसायनाग्नि  
 क्रियाया विसवाचने ग्रहणात् वा मलयाग्निप्राप्तो वा । तत्रोक्तावासमविवाम न कुर्वीरन् परीणका ।  
 कुत ? कश्चित्तन्वभिचारत । कश्चिप्रनीर मोक्षान्प्रतिपात्ते तस्य श्रुतस्य व्यभिचारो विवृता  
 तस्मात् । नहि क्वचिद्विवाणाम्प्रामाण्य धानस्य सवनाप्रामाण्य गच्छनीय प्रत्यक्षान्विष्वि तथात्वं  
 प्रमज्ञात सकलव्यवहारविशेषापत्ते । -सूची० ता० प० ५६ ।

(१) तत्साध्य-शब्दवार्तिकानो नयायिक मोमासवाग्निप्रत्य वा । (२) श्रुतमर्थे । (३) सुतना-

एतत्साध्यपशो कोज्य सल शो वक्तुमीदृते । अदृष्टपुवमस्तीनि तुणाये करिणा सतम् । -प्रमाणवा०

१।१६७ । प्र०० व्यो० प० ५८१ । 'अङ्गुल्यम हस्तियूयसतमास्ते' इति च -परीक्षा० ६।५३ । (४)

ववविद् द्विव द्वाग्निज्ञाने चाक्षुषप्रत्यक्षस्य व्यभिचारोपलम्भात् एवचन्द्रविज्ञानेऽपि अविसवासप्रमज्ञान् ।

(५) अनाश्यासापत्त । (६) गदादीनामप्यनुमानोत्तमवि समानविधित्वात् । यथा प्रसिद्धसममस्य

असिद्धशक्तिज्ञानप्रसिद्धपनुस्मरणभ्यामतीत्येत्वं भवयनुमानमेव शास्त्रिद्व्योगीति । धुतिस्मति

लक्षणोप्याम्नायो वक्तप्रामाण्यापेक्ष -प्रश० भा० प० ५७६ । 'अन्तर्भावव्यवहार च समानवि

धित्वात् समानलक्षणयोगित्वाग्नि हेतुपमासः -प्रश० व्यो० प० ५७७ । प्रसिद्ध समयोविना

1 बं नास्ति इ० वि० ज० वि० । 2-भूत एव वा० । 3 शास्त्रे लोके श्र० । 4 इत्या  
 धारस्य श्रुतस्य श्र० । 5 तस्य व्यभि-व० । 6-वाप्रति-श्र०, व० ।

विषयत्वमसिद्धम्, शब्दानुमानयोरविशेषत सामान्यगोचरचारित्वात् । सम्बन्धार्थप्र-  
तिपत्तिहेतुत्वाच्च, न हि शब्दः अमन्वद्बन्धं प्रतिपादयति अतिप्रसङ्गात्, सम्बन्धश्च त  
प्रतिपाद्यन्नसौ तल्लिङ्गत्वा नातिवर्त्तत । नापि तदभिन्नसामग्रीसमन्वितत्वमसिद्धम्,  
धूमादिवत् शब्दस्य अर्थप्रतीतौ सम्बन्धस्मृत्यपेक्षत्वात् । अन्वयव्यतिरेकत्वाच्च,  
यो हि शब्दो यत्रार्थे लोके दृश्यते स तस्य वाचक यत्र तु न दृश्यते न तस्य वाचक ।  
पञ्चधर्मत्वोपेतत्वाच्च, तथाहि—विद्यक्षित शब्द अर्थवान् शब्दत्वात् पूर्वोपलब्धशब्दत्वात्,  
यथा अय धूमोऽग्निमान् धूमत्वात् पूर्वोपलब्धधूमवत् । यथा च प्रत्यक्षतो धूम इन्द्रो  
चहि प्रतीयते तथा शब्द श्रुत्या तदर्थोऽपि । दृष्टान्तनिरपेक्षत्वञ्च अभ्यस्तविषये द्वयो-  
रप्यनयोरविशिष्टम् ।

किञ्च शब्दो विवक्षायामेव प्रमाण न बाह्ये व्यभिचारात् । न हि 'अङ्गुल्यग्रे  
हस्तियूथशतमास्ते' इत्यादि शब्दाना बाह्येऽर्थे प्रामाण्यमुपपद्यते प्रतीतिविरोधात् । तस्याञ्च  
एतस्य लिङ्गत्वैवेति ॥६॥

भावो यस्य पुरुषस्य तस्य लिङ्गदशनप्रसिद्धधनुस्मरणाभ्या लिङ्गदशन यत्र धूमस्तत्राग्निगित्यवम्भूताया  
प्रसिद्धरजुस्मरणञ्च ताभ्या यथाजीन्द्रियार्थं भवत्यनुमान तथा गणादिभ्याऽपीति । तावद्धि गणा नाथ  
प्रतिपादयति यावदयमभ्याव्यभिचारो येव नावगम्यते, ज्ञातत्वव्यभिचारे प्रतिपाद्यन् धूम इव लिङ्ग  
स्यात् 'प्रश० ब० ५० २१४ । 'अत्र हेतुमाह—समानविधिवात् । समानप्रवृत्तिवारणवात्  
विज्ञानीयत्वमनाश्रान्तत्वान्नि यावत् । अप्रतिबन्धकत्वे अप्रामाण्यमेव साक्षात्प्रतिबन्धकत्व प्रत्यगा  
न्तर्भाव, परम्पराप्रतिबन्धकत्वे चानुमान एवान्तर्भाव '—प्रश० किर० ५० ३०९ ।

(१) तुलना—'परोभविषयत्व हि तुल्य तावद् द्वयोरपि । सामान्यविषयत्व च सम्बन्धा-  
पक्षणात् द्वयो ॥'—यायम० ५० १५२ । (२) 'यद्यप्येते पदाया मिय मसगवन्तो वाचयत्वादिनि  
व्यधिकरणम्, पण्यत्वादिनि चानकान्तिकम्, पन् म्मारितार्थमसगवन्तं तत्समावृत्त्वात्त्यागो साध्या  
भाव तथापि आकाशकान्तिर्दूमि पद स्मारितत्वात् गामभ्याजनि पण्यवन्ति स्यात् ।'—प्रश० किर०  
५० ३०९ । ब० ५० ५० ३३१ । पदानि स्मारितायवितान्तिपूर्वकाणि योग्यनामत्तिमत्त्वे सति  
समुपलभ्यपरत्वात् गामभ्याजनि परत्वात् गामभ्याजनि पदकदम्बवदित्यनुमानादव साध्यसिद्ध । 'यायली०  
५० ५५ । (३) तुलना—'अव्यव्यतिरेकी च भवताऽपि लिङ्गवत् । यो यत्र दृश्यते सञ्च स तस्या  
घस्य वाचक ॥'—यायम० ५० १५२ । (४) लिङ्गाब्धयो । (५) 'वचाम्ना निमित्तेभ्योऽपि  
विवक्षापाञ्चमीयत । प्रयथानुपलम्भाभ्यां तद्वत् सा हि निश्चिता ॥१५१५॥ विवक्षायाम् च गम्याया  
विष्यत्वे निरूपता । पुंसि धर्मिणि सा साध्या कारणेण वचसा यत् ॥१५०२॥ पादपाथविवक्षावान  
पुदयोर्धं प्रतीयत । वक्ष्यन्प्रयोजनत्वान् पूर्वावस्थाम्बहू यथा ॥१५०२॥'—तत्त्वस० ५० ४४१ ४३ ।  
'प्रथमे गान्गदुष्कारिताङ्कु वकुटादिमन्धविषया गम्यते स्वसन्तान गान्गोच्चारणस्य तन्धविषया  
पूवकत्वोपलम्भात् तन्धविवक्षया धार्यानुमानम् । अयञ्चात्र प्रयोग—पुदयो धर्मी वकुटादिमन्ध  
विवक्षावान् गोदाब्दाच्चारणवत्त्वान् अहमिवेति ।'—प्रश० ब० ५० २१५ । (६) विवक्षायाम् ।  
'विवक्षाकारणाधिगम लिङ्गत्वात् । यथाहि आकाशाधिगमे मव गान्गोऽनुमानम्, विवक्षाकामस्तु  
विवक्षाधिगमपि इति ।'—प्रश० ब० ५० ५०८ ।

1—हेतुत्वात्तद्दि व० । 2 तत्र लिङ्गतां आ० श्र० । 3—व्यतिरेकत्वाच्च आ०, व० ।  
4 यत्र तत्र श्र० ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तापदुक्तम्—'मीनेऽनुमानान व्यनिरिच्यते' इत्यादि,

तत्समीचीनम्, अभिन्नविषयत्वस्य अनयोरसिद्धे । अर्धमात्र हि  
 तत्प्रतिविधानपुस्तकम् शब्दस्य विषय, अनुमानस्य तु साध्यधर्मनिर्दिष्टो धर्मो इति । किञ्च,  
 श्रुतज्ञानस्य अनुमाना- अर्धयोर्विषयाभेद सामान्यमागोचरचारितया, तद्वन्मात्रविषयतया,  
 दिभ्यानिरन्तेण प्रामा- सम्यग्दार्ढ्यप्रतिपत्तिहेतुतया वा ध्यात् ? प्रथमपक्षे निमित्त सामान्य  
 ध्यममर्षान- नाम-सकल-वक्तव्यनुस्यूत नित्यैकत्वान्निधिमौपेतम्, अयव्यावृत्तिरूप वा ? पक्षद्वय-  
 मप्येतदनुपपन्नम्, उभयरूपस्यापि सामान्यस्य सामान्यपरीक्षावसरे प्रतिक्षिप्तत्वात्,  
 अ-यापोहमात्रविषयत्वस्य अनयो प्रतिपेत्यमानत्वाच्च । नित्यादिभ्यभावसामान्यविषयत्वे  
 चानयो मीमांसकमतानुप्रवेश सौगतस्य स्यात्, स चानुपपन्न, तद्विषयत्वस्याप्यप्रे  
 10 निगृह्यमाणत्वान् । अथ तद्वन्मात्रविषयतया तयोर्विषयाभेदोऽभिप्रेत, नन्वेव प्रत्यक्ष-  
 स्यापि अनुमानत्वप्रसङ्ग तथा तदभेदस्यात्राप्यविशेषात्, मन्त्रप्रमाणाना सामान्यविशे  
 पात्मकार्यविषयत्वप्रतिपात्नात् ।

एतेन सम्प्रदायप्रतिपत्तिहेतुतयाप्यनुमानत्वं शब्दस्य प्रत्याख्यातम्, प्रत्यक्षस्यापि  
 सम्प्रदायप्रतिपत्तिहेतुतया अनुमानत्वानुपह्वान् । तदपि हि स्वविषये सम्प्रद्व सत्  
 15 त्वप्रतिपत्तिहेतु नायनाऽतिप्रसङ्गात् । अथ तत्र सम्प्रद्वस्यार्थं प्रतिपत्तिहेतुव्यतिशेपोऽपि  
 सामग्रीभेदाद् अनुमानाद्भेद, कथमेव शब्दस्यापि अतो भेदो न स्यात् तद्विनिशेषान् ?  
 तन्न अभिन्नविषयत्वात् शब्दस्यानुमानत्वं युक्तम् ।

नापि अभिन्नमासमीक्षमवित्त्वात्, शब्दे तदसम्भवात् । पक्षधर्मत्यादिरूपत्रय  
 रूपा हि अनुमाने सामग्री, सा च शब्द न सम्भवति । तथाहि—न तावत् शब्दस्य

(१) पू० ५३० पू० १३ । तुलना- विषयोऽप्यात्परास्तावद् दृश्यत िङ्गशब्दयो । सामान्य  
 विषयत्वञ्च पत्स्य स्थापयिष्यति । धर्मी धमविनिष्पद्यत् लिङ्गीत्यतश्च सापिप्तम् । न तावन्नुमान हि  
 यावत्तन्निषय न तत्त ॥ -मी० लो० शब्दपरि० श्लो० ५५-५६ । अथमात्र हि शब्दस्य गाचरोऽनु  
 मानस्य तु साध्यधमविनिष्पद्यो धर्मीति । -स्वा० २० पू० ६२० । विषयस्यावन्निष्पद्य एव पत्त  
 ज्ञया । तस्मात्त पदस्याप इति स्थापयिष्यति । अनुमान तु वाक्यविषयम् अत्रानिर्गन्निमान् पवत  
 दन्ति प्रतिपत्त । -न्यायम० पू० १५३ । (३) अनुमानाश्रयो । तुलना- अपि चानयोर्गोचराभेद  
 सामान्यमात्रविषयतया तद्वन्मात्रगोचरतया वा भवेत् ? -स्वा० २० पू० ६२० । (४) पू० २८५ पू०  
 २८० । (५) शब्दानुमानयो । (६) मीमांसकमतानुप्रवेश (७) नित्यादिस्वभावसामान्यविषयत्वस्यापि ।  
 (८) सामान्यव्यविषयतया । (९) सामान्यव्यविषयत्वत्वं विषयाभेदस्य । (१०) स्वविषये । (११)  
 प्रथमस्य । (१२) अनुमानात् । (१३) सामग्रीभ्यस्य समानत्वात् । (१४) तुलना- तस्मादननुमानत्व  
 गच्छे प्रत्यक्षवत् भवन् । शब्दपरिहितत्वेन तादृग्विषयवचनात् ॥ -मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ९८ ।  
 स्वा० २ पू० ६२० । (१५) तुलना- अय शब्दोऽप्यवत्त्वेन पदा कस्मान् कल्पते । प्रतिज्ञार्थकदेशो हि  
 हेतुत्वं प्रसज्यत । पश्च घूमविषय च सामान्य हेतुरिष्यते । शब्दत्वं यमवन्नात्र गाशब्दत्वं निषेत्स्यते ।  
 व्यक्तिरेव विनिष्पद्यो हेतुत्वं प्रसज्यते ॥ -मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ६२ ६४ । 'ननुवर्त





भावात् । न गलु धूमेन अग्निर्नयते किन्तु गम्यते, शब्देन तु अर्थप्रतीतिर्नम्यते अतः  
अस्यामेव सिद्धामिद्विकल्पावतार । तत्र शब्दस्य धर्मित्वं घटते ।

नाप्यर्थस्य, तेन सह शब्दस्य भवति सम्यग्धानम्युपगमात् । न हि शब्दार्थ-  
योस्तादात्म्यलक्षणस्तदुत्पत्तिरूपो वा सम्बन्धसौगतेरभ्युपगम्यते । “न ह्यर्थे शब्दा

० सति तदात्मानो वै’ [ ] इत्यादिवचनविरोधानुपपन्नात् । न च अर्थेनाऽ-  
सम्बद्धोपि शब्द तस्य धर्मं अतिप्रसङ्गात् । अथ अर्थप्रतीतिहेतुत्वात् तद्वर्माऽसौ, न,  
इतरेतराश्रयानुपपन्नात्-पक्षधर्मत्वसिद्धौ हि शब्दस्य अर्थप्रतीतिहेतुत्वमिद्वि, तन्मिद्धौ च  
पक्षधर्मत्वसिद्धिरिति । तत्प्रतीतिहेतुत्वेन चास्यै तद्वर्मत्वे चक्षुरादेरपि पक्षधर्मतासिद्धे  
तैत्वभावापि प्रतीति आनुमानिक्येव स्यात् । तत्र पक्षधर्मत्वं शब्दे सम्भवति ।

10 नाप्यत्रयव्यतिरेकौ, देशे काले च शब्दार्थयोरनुगमाभावात् । नहि यत्र देशे

(१) अर्थेन स्वल्पदशामकन । (२) बौद्ध । (३) उक्तञ्च-न ह्यर्थे गत्वा तदात्मानो  
वा यत्र तस्मिन् प्रतिभासमाने तेऽपि प्रतिभासरन्नित्यादि । -न्यायप्र० घ० पृ० ३५ । ‘यथाहि बह्वी  
धूमो जपजनकसम्बन्धसम्बद्ध उत्तरभावन भवति एव नाथं जपजनकसम्बन्धसम्बद्धा गत्वा उत्तर  
भावेन सन्ति । एतेन तदुत्पत्तिरसम्बन्ध समय ( गत्वा ) योर्नास्ति इत्याचष्ट । स एवाय आत्मा  
येषा गत्वात्ता ते तदात्मान अनन तादात्म्यसम्बन्धोऽपि नास्तीत्याह तस्मिन्निति । अर्थे प्रतिभासमाने  
प्रत्यक्षेण परिच्छिद्यमाने प्रतिभासेन प्रतीप्यन् शब्दा इति । अयमभिप्राय-‘विधो हि सम्बन्ध  
मीगनाना तादात्म्यलक्षणस्तुत्पत्तिलक्षणश्च । तत्र तादात्म्यलक्षणो कर्त्तव्यतात्पर्योऽपि तदुत्पत्ति  
लक्षणत्वानिधूमयोरिव । शब्दाद्योर्विधोऽपि सम्बन्धोऽपि न घटते । तथाहि-न तावतादात्म्य  
लक्षण । तादात्म्यं हि गत्वायवो घटते वा स्यात्तर्था वा न द्वयम् । तथा गत्वायवोस्तादात्म्ये  
धारिकावन्ताङ्गिगन्तोच्चारण मुखपातनपूरणादिप्रसङ्ग न च दृश्यते । तदुत्पत्तिलक्षणोऽपि न घटते ।  
यत्र केच तदुत्पत्तिर्नाम ? किं शब्दाद्योर्वतिरर्थान् शब्दोत्पत्ति ? यदि गत्वादर्थोत्पत्ति स्यात्तदा  
विश्वमन्दिं स्यात् हिरण्यमिगन्तोच्चारणानेव तदुत्पत्ति । नाप्यर्थोऽन्तोत्पत्ति तादात्म्यकारण  
कलापात्तदुत्पत्तिर्चनात् ।’ -न्यायप्र० घ० पृ० ७६ । “उक्तञ्च धमकीतिना-न ह्यर्थे शब्दा  
सन्ति तदात्मानो वा यत्र तस्मिन् प्रतिभासेन । -अनेकात्मजय० पृ० ११९ । उद्गीर्णमन्त्र-अष्टसह०  
पृ० ११८ । सिद्धिवि० टी पृ० ७५ B । स्या० २० पृ० ६२१ । वज्र० ३४० पृ० १६ । न ह्यर्थे  
शब्दा सन्ति तदात्मानो वा तथा सत्यव्युत्पत्तिस्यापि व्युत्पन्नवद् यवद्धार स्यात्स्थितम् ।” -न्यायवा०  
ता० पृ० १३३ । (४) अथधर्मोऽस्ती गत्वा । (५) तुत्वा- गमक वाक्य धमत्व धमत्वात् धमको यदि ।  
स्यादयोऽप्यवत्व हि तस्मान्नपापि कल्पना ।’ -मी० श्लो० गत्वापरि० श्लो० ७७ । प्रतीतिजनकत्वेन  
तद्वर्मात्तायाम्यमानाया पूर्ववन्तिरतराश्रयत्वम् । प त्थमन्वित्वं प्रतीति, प्रतीती च सयां पक्षधर्म  
रूपगत्र इति । -न्यायप्र० पृ० १५४ । स्या० २० पृ० ६२१ । (६) गत्वात् । (७) चक्षुरा  
दिभ्यः । (८) तुत्वा- जवयो न च शब्दस्य प्रमेयण निरूप्यन् ॥ व्यापारेण हि सर्वेषामन्वेतृत्व  
प्रतीयते । यत्र धूमोऽस्ति तत्राग्निरस्ति-नेनावय स्फुट । न त्वेव यत्र शब्दोऽस्ति तत्रार्थोऽस्तीति निरुच्ये ।  
न तावत्तत्र शब्दो तत्वा वाच्यम्यन । -मी० श्लो० गत्वापरि० श्लो० ८५ ८६ । अवयव्यतिरे  
कवपि तस्य दुष्टापात्तो गत्वात् किं च शब्दाद्ययोरनुगमाभावात् । नहि यत्र तेन गत्वा नत्राय । यथोक्तं  
योगिने-मुखं हि गत्वाद्युत्पत्तिमात्रे भूमावर्षमिति । -न्यायप्र० पृ० १५५ । स्या० २० पृ० ११२ ।

1 सिद्धिवि-आ० । 2-स्वाद्धर्मोऽसौ आ० ।

शब्द तत्रार्थे "मुवे हि शब्द उपलभ्यत भूमानर्थे" [ शाबरभा० १।१।५ ] इति भवद्विरेजा-  
भ्युपगमात् । नापि व्यवहारिणा तदन्वयाध्ययसाधोऽस्ति, न गच्छेत् यत्र यत्र पिण्डरज्जू-  
रादिशब्द शृण्वन्ति तत्र पिण्डरज्जूरागर्थोऽस्ति व्यवहारिण प्रतिपन्ते । यत्र हि धूम  
तत्रादयः प्रह्विरस्ति त्वेन प्रमिद्धोऽन्वेता भवति धूमस्य, न त्वेन दशदृष्ट शब्दस्य अर्थेना-  
ऽवयोऽस्ति । नापि कालकृत्, न हि यत्र काले शब्द तत्र तन्र्थोऽवश्यं स भवति,  
राजशब्दवक्रवर्त्यादिशब्दा हि वर्तमाना तदर्थस्तु भूतो भविष्यश्चेति कुतोऽर्थाना  
सद्भावत्वं ? अन्ययामांवे च व्यतिरेकस्याप्यभाव तत्पूर्वकत्वात् ।

यदप्युक्तम्—'यो हि शब्दे यत्रार्थे दृष्ट' इत्यादि, तदप्युक्तम्, एवविधाऽन्वय-  
व्यतिरेकाभ्या तद्वाचकत्वस्य अस्माभिरमीष्टत्वात् । न चैवविधान्वयव्यतिरेकत्वमात्रेण  
अस्यानुमानत्वं ज्ञान्यम्, प्रत्यक्षस्यापि तत्प्रमत्त्वात् तन्मात्रस्य तत्रार्थविशेषात् । यत्र हि  
घटसद्भावोऽस्ति तत्र तत् प्रत्यक्षं भवति, यत्र तु स नास्ति तत्र तन्न भवतीति ।

यदपि—'सम्बन्धस्मृत्यपेक्षत्वात्' इत्युक्तम्, तदप्यनुपपन्नम्, अर्ननुमानेऽपि  
सशयोपमानादौ अस्य सद्भावेनाऽनैकान्तिकत्वात्, अननुमानत्वं च उपमानादे प्रागेव  
प्रसाधितम् ।

यथा यदुक्तम्—'शब्दो विवक्षायामेव प्रमाणम्' इत्यादि, तत्प्यनल्पतमोऽत्रि-  
मितम्, तत्र तत्प्रमाणस्य 'वर्णा' पदानि वाक्यानि प्राहुरर्थान्वाच्छितान्'  
[ लघो० वा० ६५ ] इत्यत्र प्रपञ्चत प्रतिपेत्यमानत्वात् ।

तत्र शब्दो नानुमान तद्विभिन्नत्रिपयत्वात् तद्विभिन्नमामभीसम्बन्धित्वाच्च  
प्रत्यक्षवत् । इतोऽयननुमानममौ पुनैवैवैष्ये नियुज्यमानस्य अर्थप्रतीतिहेतुत्वात्, यत्पु-  
ननुमान न तत्तथा यथा कृतकत्वादि, तथा च शब्द, तस्मान्नानुमानमिति । न च  
साधनाऽव्यतिरेकोऽयं दृष्टान्त इत्यभिधान्धम, तथा तैर्नियुज्यमानस्यार्थे साध्य-  
प्रतीत्यननकत्वात् । न हि कृतकत्वं नित्यत्वंसाध्येच्छया धूमत्वादिक वा जलात्साये-  
च्छया नियुज्यमान तदर्थप्रतीतिहेतु, अन्यथा न कश्चिद् विन्दो हेतु स्यात् । तथा,

(१) बोद्धव्यम् । (२) व्यतिरेकस्य । (३) पु० ५३१ प० ५ । (४) जन । (५) शब्दस्य ।  
(६) प्रत्यक्षेऽपि । तुङ्गा—'अवयवव्यतिरेकोपपत्ति प्रत्यक्षेऽपि, यथा यत्र घटस्तत्र घटनानम् यत्र नास्ति  
तत्र तन्भाव इति ।—न्यायवा० प० २६१ । (७) पु० ५३१ प० ४ । (८) तुङ्गा—'यत्तावत्सु  
त्यपेक्षत्वात्नुमां शब्द इति, तत्र अनकान्तात् । अनु (अननु) मानेऽपि स्मृत्यपभित्त्वमस्ति, यथा सगय  
यथा तर्कं यथापमान इति ।—न्यायवा० प० २६० । (९) सम्बन्धस्मृत्यपेक्षस्य । (१०) पु० ४९५ ।  
(११) पु० ५३२ प० १० । (१२) विवक्षायाम् । (१३) तुङ्गा—'एवविधविषयमदात्त मामभी  
भदाच्च प्रत्यक्षवत्नुमानात्सः शब्द इति सिद्धम् ।—न्यायम० प० १५५ । (१४) तुङ्गा—'मामपि  
त्याच्छब्दात्प्रत्ययस्य । जानि विगये चानियमात् । ऋष्यायच्छब्दाना यथाकाम शब्दप्रयोगोऽयत्र या  
यनाय प्रवर्तते —न्यायमा० २।१।५५ ५६ । यद्यद्विनिर्गोर्णं प्रतीतियापि शब्दत । न धूमात्  
रिति ।—मो० ग्लो० गव्यपरि० ग्लो० १९ । (१५) कृतकत्वात् ।

१ यत्र पिण्ड-व० १-ति नापिदे-व० ५-भावे व्यति-व० ४ ग्लो० कृष्टार्थे गव्य इत्यादि श्र० ।

शब्दे नानुमानम् आतोक्तत्वेनैवाऽव्यभिचारिज्ञानजनयत्वात्, यत् पुनरनुमान न तत्तथा तज्जनकम् यथा कृतकत्वादि, तथा तज्जनकश्च शब्द इति । एतावत्यान्निमाधनस्य हि साध्येऽव्यभिचारिज्ञानजनने अविनाभाव एव निमित्त नैतोक्तत्वमनातोक्तत्व या शब्दस्य तु आतोक्तत्वमेवेति ।

सत्यम्, अननुमानम्भाव एवाय शब्द अप्रमाणत्वात्, प्रमाणत्वे हि तस्य अनुमानेऽतर्भावप्रयास फलान् । न चास्यैतदस्ति, वस्तुनि सम्बन्धाऽसमभ्यात् । सम्प्रयो हि शब्दार्थयोर्भवन् तादात्म्यलक्षण, तदुत्पत्ति-  
 ५ शब्द निरूपणाम  
 नामात्रत्रयत्वदया  
 सम्पर्गां श्रुत एव च  
 नतप्रामाण्यम् इति  
 १० नैदस्य पूर्वपक्ष -  
 रभाषो वा भवेत् ? न तावत् तादात्म्यलक्षण, विभिन्नेदेशनया तयो प्रतीयमानत्वात्, मुखे हि शब्द प्रतीयते भूमावर्थ इति । तैसादात्म्ये च धुरमोक्तशब्दोच्चारणे मुगस्य पाटनपूरणप्रमङ्ग । नापि तदुत्पत्तिस्वभाव, 'अङ्गुल्यभे हस्तियूथशतमास्ते' इत्यादि शब्दानाम अर्थाभावेऽप्युत्पत्तिप्रतीते, स्थानररणप्रयत्नप्रभवत्वाच्च । अतोऽर्थाऽमस्पर्शिन शब्दानां न याह्यार्थ प्रतीतिं जनयितुमल तत्कथ प्रामाण्यभातो भयेयु ? ते हि विरलपमात्राधीनमानस्य महिम्ना विरस्कृतनाह्यार्थान् प्रत्ययानुत्पादयति यथा 'अङ्गुल्यभे हस्तियूथशतमास्ते' इति ।

(१) तुलना- आतोक्तेः प्रामाण्यच्छब्दात्स्य सम्प्रत्यय । २।१।५२ । स्वग अण्वरस उत्तरा कुरव सप्त द्वीपा समुद्रो लोकसन्निवेश इत्यवमानेः प्रत्यक्षस्यायस्य न शब्दमात्रान् प्रत्यय । किन्ति ? आप्तरयमुक्त्वा शब्द इत्यत सम्प्रत्यय विषययण सम्प्रत्ययाभावात् नत्वेवमनुमानमिति । -न्यायशा० -वायवा०, २।१।५२ । (२) नान्तरियवताभावाच्छब्दाना वस्तुभिस्सह । नाथसिद्धिस्ततस्ते हि वचनप्रियायमूचवा ॥ अधुना नव बाह्यस्यैव्य प्रामाण्यमित्याह-अपि वेत्यानि । वस्तुभि स्वलक्षण सह शब्दान्तरियवताभावावस्याभावात् तस्य शब्देभ्यो नाथसिद्धिं बाह्यवस्तुनिश्चय यस्मात् वचनप्रियायमूचवा । -प्रमाणवा० स्वव० टी० ३।२।१२ । 'वचसो प्रतिवचो वा को बाह्यव्यपि वस्तुषु । प्रतिपात्यतो तानि यनपा स्यात्प्रमाणना ॥ भिन्नाक्षप्रहणाभ्यो नकाभ्यं न तदुद्भव । व्यभिचारात् चतस्य युयने व्यभिचारिना ॥ न हि वाच्य वस्तुभि सह कश्चित्तादात्म्यलक्षणस्तुल तिलक्षणो वा प्रतिवचो वचनमस्ति यन तानि वस्तुनि प्रतिपात्यतामेया वचना प्रामाण्यं स्यात् । तत्र तावत् तादात्म्यलक्षणप्रतिवचोस्ति भिन्नाक्षप्रहणाभ्यो ह्यनुभ्य । तत्र भिन्नाक्षप्रहण भिन्नाक्षप्रहणम् । तथाहि-धोत्रद्वियण शब्दे गृह्यते अथस्तु चक्षुराणि । आत्मानेन वाग्नेः प्रतिभासकार णभ्यो गृह्यते -तत्त्वस० पृ० ४४० । वायप्र० वृ० ५० पृ० ७६ । तुलना- मूल हि शब्दमुपलभामह भूमावयमिति । -पाबरभा० १।१।५ । (३) तुलना- पूरणप्रदाहापाटनानुपलक्षणम् सम्बन्धाभावात् । -न्यायसू० २।१।५३ । स्याच्चेत्थेन सम्बन्धे धुरमोक्तशब्दोच्चारण मुगस्य पाटनपूरण स्थानाम् । -पाबरभा० १।१।५ । शास्त्रवा० इलो० ६४५ । अनेकान्तत्रय० पृ० ४२ A । वायकु० पृ० १४४ टि० ३ । (४) विवरपचासोऽभूताः समारोपितगोचरा । जायन्ते बुद्धयस्तत्र केचन नाथगोचरा । अनानि समानजातीयो यो विवरपस्तेन आहिता या वासनागणिस्तत उभूता उत्पन्ना यथागम समारो पिता य आकाशादाकारा नदगोचरा न प्रतिभामिय एव केवल गता तत्र बाह्यत्वेन कल्पितेषु आकाशा णिषु जायन्ते । ननु ता बुद्धयोऽयगोचरा नाकाशात्स्वलक्षणविषया । -प्रमाणवा० स्वव० टी० १।२।८८ ।



अत्र प्रतिविधीयते । यत्तायदुताम्—'वस्तुनि सम्यग्भागभयात्' इत्यादि, तदसमी-

क्षिताभिधाम्, तत्रै प्रत्यय तन्भायाऽसमभयात् । तथाहि—

अथ सम्बद्ध एव त प्रसादयति प्रतिनियततन्वयवहेतुयात् चतुर्थत्वं ।

गादप्रत्ययो वा सम्बद्धाभ्या शब्दायाभ्या तत्रते प्रतिनियतप्रत्ययचान्

ण्डीत्यादिप्रत्ययवत् । तु शब्दार्थयोगादास्यतदुपसिद्ध्यगमस्य

न्धरयाऽपारतत्वात् कथं सम्बद्धत्वम् ? इत्यनुपपत्ताम्, तदभावेऽ-

र्थनयो योग्यतालक्षणमस्य धमभयात् । तदभावे भोऽपि कथम् ? इत्याद्यथास्यम्,

चक्षुरूपयोस्तदभावेऽपि तदज्ञानम् । तस्मिन् चक्षुषो घटादित्येण महत्तादात्म्य तदुत्प-

त्ति मयोगो वा सौमनैरभ्युपगम्यते प्रतीतिविरोधात्पुनः, अप्राप्तकारिण्यनिप्रमेक्षाच्च ।

नापर्यस्य तदभावे रूपप्रकाशनयोग्यतास्वरमात्रमस्य धस्याल्यमभय, भोःप्रादिषु तैस्यापि

तदप्रसादस्यत्वप्रमेक्षाच्च ।

ननु योग्यतात शब्दस्य अपचायकत्वे अधस्यापि शब्दपाचकत्वं किन्न इयात् ?

इत्याद्यसाम्प्रतम्, प्रतिनियतशक्तिर्याद् भायानाम् । योग्यता हि शब्दार्थयो प्रतिपाद्य-

प्रतिपादकशक्ति, ज्ञानक्षेययोर्ज्ञाप्यज्ञापकशक्तिवत् । ननु ज्ञानक्षेयया पायकारणभा-

वान् तैरप्रतिनियमान योग्यतात इत्यभिधानव्ययम्, तैरकारणभावस्य 'अन्यगम्य-

तिरेकाभ्यामर्पणत्वेत् कारण विदः' [ लघी० का० ५४ ] इत्यत्र वितरतो निग-

करित्यमाणत्वात् । कथञ्चैव चक्षुरूपयो घटप्रदीपयोश्च प्रकाश्यप्रकाराकाशानुप्रतिनियम

स्यात् ? योग्यतानोऽयस्य कार्यकारणभायादिप्रतिधर्धस्यै तैरै प्रतिनियमहेतोरसमभवात् ।

ननु योन्यतावशात् शब्दो यैवथ प्रतिपादयति तदा भूमवोर्द्वितोत्थिनस्यापि

(१) ५० ५३६ ६ : (२) वस्तुनि । (३) सम्बन्धाभाव । (४) अप । (५) तात्पर्यननुप-

त्तिमन्धाभाव—आ० टि० । तुलना— सामयिकत्वाच्छब्दार्थप्रत्ययस्य ।—म्याप्यम् ० २।१।५५ । त

च वाच्यवाचकावलम्बनं सङ्कृतानामेव ।—प्रग० ध्यो० ५० ५८५ । तादृशो वाचक एव गङ्गो

यत्र वनते ।—न्यायवि० का० ४३२ । अथै त्वभिधत्तयत्वं वाच्यवाचकत्वमण । अलि तात्पर्य

वीर्योस्तत्प्रतीत्यानिस्तत ॥—शास्त्रवा० दलो० ६५२ । सहजयोग्यतामङ्कुरवगादि गलपयो

वस्तुप्रतिपत्तिहेतव ।—परीक्षा० ३।१०० । स्वाभाविकसामर्थ्यमप्याभ्यापयवोक्तिवधत्तं तद्व

इति ।—प्रमाणनय० ४।११ । (६) तात्पर्ययो । (७) योग्यतालक्षणोर्ज्ञ । (८) तात्पर्यननुपस्य

भावेति । तुलना—'नयनस्ययो क्वचित्तन्भावेति तदुपलभ्यत ।—स्वा० १० ५० ७०२ । (९)

चक्षुरूपयो संयोगाभ्युपगमे । (१०) चक्षुष—आ० टि० । (११) तात्पर्यननुपस्यभावे—आ० टि० ।

(१२) चक्षुष—आ० टि० । (१३) स्वरस्य—आ० टि० । (१४) तुलना— सहजा स्वाभाविकी योग्यता

गलपयो प्रतिपाद्यप्रतिपाद्यकचित ज्ञाननेययोर्ज्ञाप्यज्ञापकचितवत् ।—प्रमेयक० ५० ४२८ ।

स्या० १० ५० ७०२ । (१५) तात्पर्यज्ञापकप्रतिनियम । (१६) ज्ञानाधयो कार्यकारणभावस्य । (१७)

चक्षुरूपयो घटप्रदीपयोश्च । तुलना— दारया ज्ञानमेव प्रकाशकं नेयमेव च प्रकाश्यं नपुनर्ज्ञानमिति

नियमस्याघटनात् ।—स्वा० १० ५० ७०२ । (१८) प्रकाश्यप्रकाशकप्रतिनियम ।

1 इत्यनु—आ० 3 चक्षुषा न०, ध० 3—ज्ञात् ना—व० 4—स्य तत्प्रति—व० 1 ० यथार्थं व० ।

प्रतिपादयेत् त्रिशोभाभावात्, इत्यप्यपेशलम्, सङ्केतसचिवयोग्यतावशाच्चस्य तत्रप्रतिपादकत्वाभ्युपगमात्, भूभवनसङ्घितोत्थित प्रति चास्य तथाविधत्वाभावात् तत्रप्रतिपादकत्वप्रसङ्गः । सङ्केतो हि 'इदमस्य वाच्यम् इत् वाचकम्' इत्येवविधो वाच्यवाचकयोर्विनियोगः, स यस्यास्ति तस्यैव शब्द स्वार्थं प्रतिपादयति नान्यस्य, अन्यथा धूमादिसाधनमप्यस्य अग्न्यादिसाध्य गमयेदविशेषात्, अविनाभावो हि साधनस्य साध्यगमकत्वे अङ्गम्, स च सर्वदा सर्वं प्रत्यस्थास्ति । 'येनैव साध्यसाधनयोरविनाभावो गृहीत त प्रत्येव साधन साध्यस्य गमकमित्यभ्युपगमे येनैव शब्दार्थयोः सङ्केतो गृहीत त प्रत्येव शब्दोऽस्य वाचक इत्यभ्युपगम्यतामविशेषात् ।

ननु सङ्केत पुरुषेच्छाकृत, नच तदिच्छया वस्तुव्यवस्था युक्ता अतिप्रसङ्गात्, अतोऽर्थोऽपि वाचक शब्दस्तु वाच्य किं न स्यात् तदिच्छया निरङ्कुशत्वात् ? इत्यप्यसुन्दरम्, तत्सङ्केतस्य सहजयोग्यतानिवन्धनत्वाद् धूमाग्निवत् । यथैव हि धूमाग्न्योर्नैसर्गिक एवाविनाभावात् सम्बन्धः, तद्वपुत्पत्तये तु भूयोदर्शनादिनिमित्तमाश्रीयते, तथा शब्दार्थयोः स्वाभाविक एव प्रतिपाद्यप्रतिपादकशक्त्यात्मा सम्बन्धः, तद्वपुत्पत्तये तु सङ्केतसमाश्रीयते । सासिद्धिकार्यशक्तिव्यतिक्रमे च चक्षुरूपादीनामपि प्रकाश्यप्रकाशनशक्त्यव्यतिक्रमः स्यात् । तथा च चक्षुः प्रदीपादीनां प्रकाश्यत्व घटादीनां तु प्रकाशनत्वः स्यात् । प्रतीतिविरोधोऽन्यत्रापि न फलैर्भक्षितः ।

ननु शब्दस्य स्वाभाविकी शक्तिः किमेकार्थप्रत्यायने, अनेकार्थप्रत्यायने वा ? यथेकार्थप्रत्यायने, तदा सङ्केतशतैरपि ततोऽर्थान्तरे प्रतीतिर्न स्यात् धूमादनभिप्रतीतिवत् ।

(१) शब्दस्य । (२) अर्थवाचकत्वस्वीकारात् । (३) तुलना—'क पुनरय समय ? अस्य सत्येदमयजातमभिधेयमित्यभिधानाभिधेयनियमनियोगः, तस्मिन्पुन्युक्ते शब्दाद्यसप्रत्ययो भवति । न्यायभा० २ । १ । ५५ । "अभिधानाभिधेयनियमनियोगः समय उच्यते ।" न्यायम० पृ० २४१ । "अस्यायस्याय वाचक इत्यथनयन समय" —प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १ । २३० । "इदं पत्नमुभय बोधयतु इति अस्मात्पदादयमयो बोद्धव्य इति वेच्छा ।" —तत्त्वचि० गव्दपरि० । स्या० १० पृ० ७०२ । (४) पुरुषस्य । (५) भूभवनसङ्घितोत्थितस्य । (६) पुरुषण । (७) अतिप्रसङ्गमेव स्पष्टयति । (८) तुलना—'स हि पुरुषकृत सङ्केत न च पुरुषेच्छया वस्तुनियमोऽवकल्प्यते, तदिच्छया अव्याहृतप्रसरत्वात् । अर्थोऽपि किमिति वाचको न भवति । न चवमस्ति, न हि दहनमनिच्छन्नपि पुरुषो धूमात् तत्रप्रत्यति जल वा तत इच्छन्नपि प्रतिपद्यते । तत्र यथा धूमाग्नयो नैसर्गिक एवाविनाभावो नात्र सम्बन्धः अप्तय तु भूयोदर्शनादि निमित्तमाश्रीयते एव शब्दाद्ययोः सासिद्धिक एव शक्त्यात्मा सम्बन्धः तद्वपुत्पत्तये तु वृद्धव्यवहारप्रसिद्धिसमाश्रयणम् ।' —न्यायम० पृ० २४१ । "सङ्केतस्य सहजयोग्यतानिवन्धनत्वात् । यथैव हि धूमाग्नयोः स्वाभाविक एवाविनाभावः" —स्या० १० पृ० ७०३ । (९) अविनाभावग्रहणाय । (१०) आदिपदेन तर्को ग्राह्यः । (११) शब्दाद्ययोरपि वाच्यवाचकयोर्नै । (१२) तुलना—' गिरामेकाद्यनियमे न स्यादर्थान्तरे गतिः । अनेकार्थाभिसम्बन्धः विरुद्धव्यक्तिमत्तः ॥' —प्रमाणवा० १ । २२८ ।

१ प्रतिपादयतु व० । २-त्रिधावाच्यवाच-आ० । ३ साध्यसाधनं साध्यस्य व० । ४-स्पत्तये स-आ०, व० । ५-क्रमे चक्षु-य० । ६-प्रदीपानां आ० । ७ तथा व० ।

अथ अनेकार्थप्रत्यायने, तदा युगपत् ततोऽनेकार्थप्रतीतिप्रसङ्गात् प्रतिनियतेऽर्थे प्रवृत्तिर्न  
 स्यात्, इत्यप्यचर्चिताभिधानम्, सर्वशब्दानां सर्वाथेषु प्रत्यायनशक्तिसमभवात् । कथम-  
 न्यथा अनवगतसम्बन्धे शब्दे प्रयुक्ते सदेह स्यात्—'कर्मार्थं प्रतिपादयितुमनेन शब्द  
 प्रयुक्त इति । नचैव सकृत्सर्वाथप्रतिपत्तिप्रमत्ते प्रतिनियतेऽर्थे तत् प्रवृत्तिर्न स्यादित्य-  
 5 मिधातव्यम्, प्रतिनियतसङ्केतवशात्तेषां प्रतिनियतार्थप्रतिपादकत्वोपपत्तेः । एकस्यापि हि  
 शब्दस्य दशादिभेदेन प्रतिनियत सङ्केतोऽनुभूयते, यथा मौलवनादौ कर्कटिकाशब्दस्य  
 फलविशेषे, गुर्नरादौ तु योन्यामिति । दृश्यते च सर्वत्र रूपप्रकाशने योग्यस्यापि  
 चक्षुष्य प्रत्यासन्नतिमिरवशादसन्निहिते, दूरतिमिरवशाच्च सन्निहिते रूपे, त्रिशिष्टाञ्ज-  
 नादिवशात् अधकारात्तरितेऽपि ज्ञानजनकत्वम्, काचकामलादिवशाच्च त्रिर्धक्षित  
 10 रूपाभावेऽपीति । तयो यथा अनेकरूपप्रकाशनयोग्यस्यापि चक्षुषो दूरतिमिरादिप्रति-  
 नियतसहकारिवशात् प्रतिनियतदूररूपादिज्ञानजनकत्व तथा अनेकार्थप्रत्यायनयोग्यस्यापि  
 शब्दस्य प्रतिनियतसङ्केतवशात् प्रतिनियतार्थप्रतिपादकत्वमत्रिरुद्धम् ।

अथ मतम्—चतुरादिनात् शब्दस्य अर्थ योग्यतालक्षणसम्बन्धसमभवे तद्वदेव अत  
 सङ्केतानपेक्षा अर्थप्रतीति स्यात्, तदप्यसङ्गतम्, तस्य ज्ञापकतया तत्सापेक्षस्यैव अर्थ-

(१) तुटना—'सर्वाकारपरिच्छेदात्कर्मार्थं वाचकेऽपि वा । सर्वाकारावविधानसमर्थे नियम  
 कृत ॥ —मी० श्लो० १० २०२ । सर्वशब्दानां सर्वाथप्रत्यायनशक्तिरनुभवत्वात् क्वचिद्दश केनचित्पथेन  
 व्यवहार । अन एव चानधिगतसम्बन्धं श्रुते सति सदेहो भवति कथम प्रत्याययितुमनेन शब्द प्रयुक्त  
 स्यादिति । —न्यायमं० १० २४२ । 'समयापक्षणं नेह तदशयोपगम विना । तत्त्वतत्त्वेन सङ्गत योगिना  
 तु न विद्यते ॥ सर्ववाचकभावत्वाच्छब्दानां विचित्राकित । वाच्यस्य च तथागन्ध नागास्य समयऽपि  
 हि ॥' —शास्त्रवा० श्लो० ६६३ ६४ । 'तथा च सर्वे शब्दा प्राय सर्वाथवाचकान्कितमन्त सर्वे चार्था  
 मवगन्वाच्यान्कितयुक्ता इति विचित्रपथोपगमादिसहकारियोगत तथा तथा प्रवृत्तन्ते इति न वाचि  
 द्वापा'—अनेकान्तजय० १० ३६ A । सर्वस्य शब्दस्य सर्वाथप्रतिपादनान्कितवचिन्व्यसिद्ध । पदापस्य  
 च सर्वस्य सर्वशब्दवाच्यत्वान्कितानात्वात् । —अष्टसह० १० १४३ । शब्दस्थानेकाथप्रतिपादने  
 नसर्वाकारकितसद्भावेऽपि प्रतिनियतसङ्केतसामर्थ्यात् प्रतिनियतार्थप्रतिपादकत्वोपपत्त । —स्या० १०  
 १० ७०३ । (२) गब्दान् । (३) गब्दानाम । (४) तुटना— तथाहि—यवशब्द आर्यदीर्घगुके पदाय  
 प्रयुज्यते ते हि यवशब्दान् दीर्घगुक् पदाय प्रतिपद्यन्ते श्लेषास्तु प्रियङ्ग प्रतिपद्यन्ते । एव शिवत  
 गन्मुपय श्लोभादानवके प्रयुज्यन्ते आर्यास्तु लताविणय । —न्यायवा० ता० १० ४२० । 'एकस्यापि  
 हि गब्दस्य देगाग्निभेदेन प्रतिनियत सङ्केतोऽनुभूयते यथा गजराज्ञे चोराब्दस्य तत्सरे द्राविष्ठाज्ञे  
 पुनरोत्त इति । दृश्यते च सर्वत्र रूपप्रकाशने योग्यस्यापि चक्षुष्य प्रत्यासन्नतिमिरवशात्सन्निहिते  
 दूरतिमिरसामर्थ्याच्च सन्निहिते रूपे विशिष्टाञ्जनादिवशात् अधकारात्तरितेऽपि ज्ञानजनकत्वम्, काचका  
 मलादिदूषणवशाच्च विविधरूपाभावेऽपीति । —स्या० १० १० ७०३ । (५) 'एवं क्वटीशब्दादयोऽपि  
 तत्तद्भाषेभया योन्यात्वाच्चका जया ।' —स्या० मं० १० १७८ । (६) पीतरूपाभावेऽपि गत्त पीतना  
 नजनकत्वम् । (७) चक्षुष्येव । (८) गब्दान् । (९) शब्दस्य । तुटना—'वाच्यवाचकक्षणो हि  
 शब्दापयो प्रतिवच्य तथाहि वाच्यस्वभावा अर्था वाचकत्वभावाच्च गब्द इति तज्ज्ञातिनात् । यत्वं

प्रतीत्यङ्गतोपपत्ते । यद्भाष्ये तत् ज्ञाप्ये प्रतिपन्नप्रतिबन्धमेव प्रतीतिमुत्पादयति यथा धूमादि, ज्ञापकश्च शब्द इति । चक्षुरादीनां तु कारकत्वात् युक्तं स्वार्थसम्बन्धग्रहणानपेक्षायां तदुत्पादकत्वम् । स्वयं हि प्रतीयमानम् अप्रतीत्यर्थप्रतीतिहेतुत्वात्प्रकमुच्यते । तद्रूपता च शब्दादेरेवास्ति न चक्षुरादे, अतः स एव प्रतिपन्नप्रतिबन्ध स्वार्थं गमयति । शक्तिस्तु स्वाभाविकी यथा रूपप्रकाशने चक्षुरादे तथा अर्थप्रकाशने शब्दस्य ।

यदप्युक्तम्—'अतोऽर्थासस्पर्शिनं शब्दा' इत्यादि, तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, यत् किमाप्तप्रणीतस्य शब्दस्य अर्थासस्पर्शित्वं प्रसाध्यते, अनाप्तप्रणीतस्य, शब्दमात्रस्य वा ? तत्राप्यत्र प्रत्यक्षवाच्यै, आप्तप्रणीतात् 'नद्यास्तीरे फलानि सन्ति' इति वाक्यादतिरस्कृतवाह्यार्थप्रत्ययप्रतीते तत्र प्रवृत्तस्य तदर्थप्राप्ते । अथाऽनाप्तप्रणीतस्य, तर्हि तस्यैव अर्थाऽसस्पर्शित्वं युक्तं नान्यस्य, अन्यथा काचादिदोषदुष्टचक्षुः प्रभवप्रत्यक्षस्यै अर्थासस्पर्शित्वोपलम्भात् गुणवच्चक्षुः प्रभवप्रत्यक्षस्यापि तेत्स्यात् ।

एतेन तृतीयविकल्पोऽपि प्रत्याख्यातः, आप्तानाप्तप्रणीतशब्दव्यतिरिक्तस्य शब्दमात्रस्याऽसम्भवात् । नद्याप्तप्रणीताद् अङ्गुल्यादिवाक्याद् विपर्ययज्ञानोत्पत्तिप्रतीते शब्दस्यैव महिमा न यद्वृत्तदोषाणाम्, इत्यप्यचर्चिताभिधानम्, अत्रैरेवविधवाक्याऽप्रयोगात् ।

यत्तु—'आप्तोऽपि कस्मैचिदुपदिशति' इत्याद्युक्तम्, तत्र निषेधपरत्वेनार्थे यथार्थ-

व्ययसंज्ञकतमन्तरेण ततस्तद्व्ययगति ? उच्यते—तथाविधयोपपत्तिसम्भवात् । न हि रूपप्रकाशनस्वभावोऽपि दीपोमति चक्षुषि तत्प्रकाशयति, चक्षुः कल्पश्च क्षयोपपन्नः, स च सङ्केतनपञ्चरणभावनात् 'जयस्तथोपलब्धः ।'—अनेकांतजय० पृ० ३६ A । "नान्यस्य ज्ञापकत्वात् । ज्ञापकस्य धूमादेरेतद्रूपयत्सम्बन्धग्रहणपक्षे स्वज्ञाप्यज्ञापकत्वम् । तद्योग्यतादयस्तु प्रत्यक्षसामर्थ्यन्तगतत्वात् व्युत्पत्त्यपेक्षा भवति । शक्तिस्तु नसंगिकी यथा रूपप्रकाशनी दीपान्तेस्तथा शब्दस्याप्यप्रतिपादनम् ।—न्यायम० पृ० २४१ । (१०) सङ्केतग्रहणसहितस्य ।

(१) ज्ञापकत्वम् । (२) शब्दात् । (३) पृ० ५३६ प० १२ । (४) तुलना—'यत् किमाप्तनिगदितशब्दस्यार्थासस्पर्शित्वं'—न्याय० २० पृ० ७०३ । (५) तुलना—'भवेद्वैतदेव यदि न वत्तद्विधेयि यथाय शब्द प्रत्ययमुपजनयेत् । अयसंस्पर्शित्वमेवावयव स्वभाव इत्यवगम्यते । भवति तु गुणवत्पुरुषभाषिताद्यस्तीरे फलानि सन्ति वाक्यादतिरस्कृतवाह्यार्थो यथायप्रत्यय तत्र प्रवृत्तस्य तदर्थप्राप्ते ।'—न्यायम० पृ० १५८ । (६) आप्तोक्तशब्दात् । (७) शुक्रे दाक्षे पीतावारावभासिनः । (८) शुक्रे दाक्षे शुकलत्वावभासकस्यापि । (९) अर्थासस्पर्शित्वमतश्च मिथ्यात्व स्यादिति भावः । (१०) अङ्गुलपत्रं हस्तिपूषणमास्ते इत्यादिवाक्यात् । (११) यत् तिरस्कृतवाह्यप्रत्ययोत्पादकत्वम् । (१२) तुलना—'गुणवतामेवविधवाक्योच्चारणचापलाभावात् ।'—न्यायम० पृ० १५८ । 'आप्तरेवविधवाक्यप्रयुक्तम्'—न्याय० २० पृ० ७०४ । (१३) पृ० ५३७ प० ११ । (१४) तुलना—'यत् आप्तोऽपि कश्चिदनुशास्ति मा भवानभूताय वाक्यं यानी अङ्गुलिकोटौ करिष्येदानमास्ते' इति तत्र इतिकरणावच्छिन्नस्य दृष्टान्ततया शब्दपरत्वेनोपादानात् प्रतिषेधकवाक्यतया यथायत्वमेव । अथपरत्वे तु निषेधकवाक्यतया न स्यादिति । तस्मादाप्तवाक्यागमयथायत्वाभावात् स्वनोर्थासस्पर्शिनं शब्दात् पुरुषदोषानुपपन्नत्वात् एवाय विकलम् ।—न्यायम० पृ० १५८ । न्याय० २० पृ० ७०४ । (१५) अङ्गुल्यादिवाक्यप्रयोगनिषेधकस्य आप्तोपपत्तेः ।

१ अतस्तदेव थ०, व० । २—यप्रतीति प्रवृत्तस्य आ० । ३—प्रवृत्तत्वात् व०, थ० ।



तेव, वार्क्यैकदेशस्यापि उदाहरणत्रिरक्षायाम् इतिपरणावच्छिन्नस्य शब्दपरत्वेनोपादानात् प्रतिषेधैश्चाक्यतया यथार्थैव । अर्थपरत्वे तु नियेधेनैकाक्यतैव न स्यात् । तस्माद् आप्तप्रणीतशब्दानामयथार्थत्वाभावात् न स्वतोऽर्थासस्पर्शिन शब्दा, किन्तु पुरुषदोषवशात् ।

न चाप्तैरेवविधवाक्याप्रयोगेऽपि सद्भिर्गो व्यतिरेक 'किं शब्दाभावादयथार्थ-  
 ४ ज्ञानानुत्पत्ति, वक्तृदोषाभावाद्वा', इत्यप्यविचरितरमणीयम्, अनुच्चारितशब्दस्यापि  
 नोपपत्त पुरुषस्य हस्तसजादिना प्रतारणत्वप्रतीते । न च हस्तसजादिना शब्दानुमान  
 ततो वितथप्रत्यय इत्यभिधातव्यम्, तैथाप्रतीत्यभावात् । नद्यादिवाच्यदुत्पत्ते च  
 वचचिद्विज्ञाने तरङ्गिणीतीरमनुसरन् अनासादितफल पुरुष पुरुषमेवाधिष्णिपति  
 'दुरात्मनाऽनेन विप्रलम्भोऽस्मि' इति, न शब्दम् । ननु पुरुषस्य गुणवतो दोषवतो वा  
 10 शब्दोच्चारणमात्र एव व्यापार, अर्थप्रतिपत्तिस्तु शब्दनिबन्धनैवेति तद्विपर्यये शब्दस्यैव  
 व्यापारो न वक्तृदोषाणाम्, इत्यप्युक्तम् यतो गुणवद्वक्तृप्रणीतान् 'तरङ्गिणीतीरे फलानि  
 सन्ति' इति वाक्यात् सत्यप्रत्ययोदयेऽप्येव शब्दस्यैव व्यापार स्यात् तद्वक्तु तदुच्चा-  
 रणमात्रे चरितार्थत्वान् । अत एवमेकात्त शब्दस्याऽर्थमस्पर्शित्वमेव स्वरूप स्यात् ?

किञ्च, विपर्ययज्ञानोत्पत्तेर्यावद्वि सद् तद्भावभावित्वमयगम्यते तावता तत्र  
 15 व्यापार, सां चान् शब्दोच्चारणे सत्यपि अनाप्तयोगिता विना न दृष्टेति शब्दवत्तदा-  
 शयस्यापि तत्र व्यापार ।

'किञ्च, चक्षुरादिवद्विप्रनाशन्तमात्र शब्दस्य स्वरूप न पुन यथार्थप्रकाशक-

(१) अङ्गल्यप्र हस्तयूथशतमास्ते इति वाक्यस्य एकदेश अङ्गल्यप्र इत्यादिरूप । (२) तुलना-  
 अनुच्चरितान् नोऽपि पुत्रो विप्रलम्भक । हस्तसजाद्युपायन जनयत्येव विप्रत्वम् ॥ -न्यायम० प०  
 १५८ । श्या० १० प० ७०४ । (३) तुलना- इत्यमप्रतीति । उतात्र च वचचिद्विज्ञानिवाचयानिज्ञाने  
 तरङ्गिणीतीरमनुसरन्तानासादितफल प्रवृत्तबाधकप्रत्यय पुरुषमेवाधिष्णिपति धिग् हा तेन दुरात्मना  
 विप्रलम्भोऽस्मि' इति न शब्दम् पाठकश्च पुष्टामेव फलवते साधु साधना तनोपदिष्टमित्यत  
 पुरुषदोषावधानुविधानात्तत्त्वभाववृत्त एव आप्तेषु तूष्णीमासीनेषु विप्रमानुत्पाद इति न सन्निधो  
 व्यतिरेक । पुरुषनोपवृत्त एव शब्दनिष्कानो न स्वरूपनिबन्धन । -न्यायम० प० १५८ । श्या० १०  
 प० ७०४ । (४) अयप्रतीतिविषयम् । (५) तुलना- इत् तर्हि वक्त्रि गुणवति सति सरितस्तीरे  
 पत्तानि सन्तीति सम्यक्प्रत्ययस्य शब्दस्यैव व्यापारात् पुरुषस्य उच्चारणमात्र चरितापत्वात्प्रवृत्त  
 शब्दाभावात्प्रतीत्यमेव स्वभाव । -न्यायम० प० १५६ । (६) कायकारणभाव । (७) विपर्यय  
 ज्ञानोत्पत्ति । (८) अनाप्ताभिप्रायस्य । (९) विषयज्ञानोत्पत्तौ व्यापार । तुलना-श्या० १० प०  
 ४०७ । (१) तुलना- युक्तश्चदेव यत् दीपवन प्रकाशत्वमात्रमेव शब्दस्य स्वरूप न यथार्थत्वमय  
 याथव वा, विपरीतेऽप्यर्थे दीपस्य प्रकाशत्वानतिवत्त । अयं तु विगण-प्रणीये व्युत्पत्तिरिरेषामय  
 प्रकाशत्वत्त गच्छे तु व्युत्पत्त्यपक्षमिति । प्रकाशात्मनस्तु शब्दस्य वक्तृगुणदोषाधीन यथार्थत्वे । अत  
 एव अङ्गलिसिद्धाधिकरणकरणेणतवचसि वाधिनेऽपि पुन पुनश्चव्यमाण भवति विप्रम प्रकाशत्व  
 तदुत्पत्तिपाशात् न त्वय शब्दस्य दोष । पदार्थानां तु ससगमसमीप्य प्रजन्त्यन । वक्तुरेव प्रमाणोऽयं न  
 शब्दोऽनापराध्यति । -न्यायम० प० १५९ । श्या० १० प० ७०४ ।

त्वमयथार्थप्रकाशकत्व वा, तस्य गुणदोषनिबन्धनत्वात् । सति हि नैर्मल्यादिगुणे चक्षुर्यथावद्वस्तु प्रकाशयति काचादिदोषे तु सति अयथान्त, एव शब्दोऽपि वक्तृगुण-  
दोषापेक्ष सत्येतरूप वस्तु प्रकाशयति । अत एव अङ्गुलिशिखराधिकरणकरेणुगतवैचमि  
वाध्यमानेऽपि पुन पुनरुच्चार्यमाणे भवति भ्रान्ति प्रकाशकत्वस्य तैत्त्वरूपस्य बाधक-  
शतोपनिपातेऽप्यनपायात् ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘नेन्द्रियवदुदास्ते’ इति, तदप्युक्तिमात्रम्, बाधकप्रलयप्रवृत्ता-  
यपीन्द्रियस्य चन्द्रद्वयविषयमिध्याज्ञानजनकत्वप्रतीते । न च तैत्प्रवृत्तौ तत् तद्विषय  
विज्ञान नोत्पादयतीत्यभिधातव्यम्, प्रतीतिपरोधान् ।

यदप्युक्तम्—‘विकल्पयोनय शब्दा’ इत्यादि, तत् मज्जिकल्पकसिद्धौ कृतोत्तर-  
त्वादुपेक्षते । तत् प्रमाण शब्द अर्थपलब्धिनिमित्तत्वात् प्रत्यक्षादिवत्, स्वपरपक्ष-  
साधनदूषणसमर्थत्वाच्च सम्यग्ज्ञानवत्, तथा सकलतत्त्वप्रतिपत्तिनिवृत्तिनिमित्तत्वात्  
योगिज्ञानवत् । न खलु देशकालस्वभावविप्रकृष्टाऽखिलार्थानां शब्दादन्यतो प्रति-  
पत्तिनिवृत्तिः सम्भवति तदुपायान्तराऽसम्भवात् । लिङ्ग तदुपायान्तर सम्भवीति चेत्,  
न, तदतिप्रद्वलिङ्गस्य कस्यचिदप्यप्रतिपत्ते । ततो योग्यतालक्षणसम्बन्धात् शब्दस्यैव  
तत्रै प्रमाण्यमभ्युपगन्तव्यमिति ॥ छ ॥

नन्वस्तु शब्दस्यार्थे सम्बन्ध, स तु अनित्य, नित्यो वा स्यात् ? तत्रापपक्षोऽ  
‘शब्दार्थान्नित्यसम्ब  
न्धसमवधानास्ति पुरुष  
इति सङ्केतः’ इति  
मीमांसकस्य पूर्वपक्ष  
तुपपन्न, अनित्यस्य सम्बन्धस्य वर्तुमशक्यत्वान् । समयो हि क्रिय-  
माण प्रतिपूरूपम्, प्रतिशब्दम्, प्रत्यर्थं सर्गादौ सकृदेव क्रियते  
प्रकारान्तरासम्भवात् । उक्तञ्च—

‘समय प्रतिमर्थं वा पत्युच्चारणमत्र वा ।

क्रियते जगदादीं वा सङ्घटकेन केनचित् ॥’

[ मी० श्लो० सम्बन्धा० श्लो० १३ ]

प्रथमपक्षे पुरुषेण प्रतिपुरुष सम्बन्ध क्रियमाण किमेक क्रियते, अनेको वा ?

(१) यथायाययायप्रकाशकत्वस्य । (२) अङ्गुल्यग्र हस्तिशतमास्त इतिवचन । (३) तद  
स्वरूपस्य । (४) पृ० ५३७ प० १४ । (५) बाधकप्रत्ययप्रवृत्तौ । (६) इन्द्रियम—आ० टि० । (७)  
चन्द्रविषयम्—आ० टि० । (८) प० ५३७ प० १६ । (९) पृ० ४७ । (१०) मेघवतरामरावणा  
न्तरमाषवादीनाम् । (११) विप्रकृष्टाद्यप्रतिपत्तिसाधनम् । (१२) देशकालस्वभावविप्रकृष्टाद्य—आ०  
टि० । (१३) विप्रकृष्टार्थे । (१४) एतावताऽत्र भग्या क्रम उक्त—आ० टि० । (१५) व्याख्या-  
द्वयमस्य सजति समय, स प्रत्यय प्रतिपुरुष वा क्रियते प्रतिपुरुषमेव प्रत्युच्चारण प्रतिप्रयोग वा ।  
अथवा जगदानो जगत् मष्टिकाके केनचित् ईश्वरादिना धात्रा सङ्घट एकमेव ह्युपा क्रियतेति त्रयो  
विवत्वा ।—तत्त्वस० प० पृ० ६२२ । उद्धृतोपम्—प्रमाणवा० स्वय० टी० १२३० । तत्त्वस० प०  
६२२ । जनतत्त्वा० पृ० ३१ ।

येनेन, कथं कृते ? पूर्वमप्यस्य सद्भावतोऽष्टकपदमित् । तदि गतो यस्तु  
 पुण्यात्तम युक्तम्, अभिव्यक्तेरर्थास्तन्मोपपत्तेः । अथापि, कथमेकार्थमिति ?  
 यथा गोदानस्य सात्तादिमाथं केमेतदिमात्त्वमदस्यति ।

त्रिंश, प्रैतिपुरुषसम्बन्धकण विमोदरात्ता, यदतो या ? यत्र, मक्षामो द्वा-  
 5 -तरुवस्थिताना कथं समय विदध्यात् ? तत्र तत्र गत्वाऽगो करोति चेत्, तर्हि पुण्यायुप  
 णापित्तरणानुपपत्ति सेषामानन्त्यात् । अथैक मसिदितेषु बहुपुमपकेगोति, ते च ह्य  
 समया अयेपार्त करिष्यति, तेऽप्ययेपाम्, इत्येव मर्थत्र व्यपहार व्यस्यते, तत्र, सेषं  
 प्रयोजनाभावात् मर्थत्र गमता उपपत्तेः, जनो यत्रैव ते न गच्छन्ति तत्र व्यपहारो न प्राप्नोति ।  
 अथ यद्वय समयस्य कत्तार, तर्हि मक्षद्वाराणे पुण्यरूपता समयस्य न प्राप्नोति,  
 10 तस्या निमित्ताभावात् । न च ते मर्थे सम्भूय पर्याप्तो न्य या एवमेव समय शुभती त्वमि  
 धातव्यम्, परस्परतापेक्षणा स्यात्कथं समय कुंवात् तथैव तत्करणा उपपत्तः ।

प्रतिराद्धमपि उच्चाय समय त्रियत्, अनुच्चार्य या ? न तावदुच्चार्य,  
 अस्य निराश्रयत्वप्रसङ्गात् । न च निराश्रय सम्बन्धो युक्त अनिप्रमद्वारा । तापि  
 उच्चार्य, पुरुषायुषेणापि तेषां सम्बन्धस्य फलुमदास्यत्वात् ।

त्रिंश, प्रैतिपुरुषमुच्चाय अभिवाय सम्बन्धो किरियते, प्राक्तन एव या ?  
 15 अभिनयम्य विधातो कथंमस्य अर्थप्रत्यायामाभ्यावगति ? नैदानवगो च सम्बन्ध  
 करणानुपपत्ति । प्राक्तनस्य तु पूर्वमपि मत्तारा करणानुपपत्ति । एवस्य हि वस्तुतो  
 क्षमिरेव अमृदावत्तते न नृपत्ति ।

नापि प्रत्यर्थं सम्बन्ध कर्तुं शक्य, अथात्मानत्यात् विद्वैदेवात् । मगादा

- (१) प्रत्येक कार्णि सम्बन्धा मिलनको वयो भवत । एवमेव कृतको न स्यात् मिप्रसवर्ध  
 मधीभवत् ॥ एवमेव ताकृत्तनैव न स्यात् न हि एवमेव बहुभि जित मभवनोप्याह एवमेव इति ।  
 -मी० इलो० म्या० १० सम्बन्धा० इलो० १४ । एवमेव जातिवृत्तमन्त्रेणानुयायित्वावृत्तको न  
 स्यात् निय एव स्यान्नि यावत् । -वत्स० १० पु० ६२२ । (२) गमनेकारमावागोतामेवमस्य  
 नियत्वाविनामूनत्वात् एवमेव हाकृत्तरम् तच्च त्रिपमाणय विनयति-आ०टि० । (३) सम्बन्धस्य ।  
 (४) पुण्यापारात् । (५) यथास्मिन्ने सास्नामिति गागत् एवं मर्थेपु दुर्गमेवति । बहव  
 सम्बन्धार कथं गंरस्यते ? एको न वक्तव्यात् । अतो मर्थित सम्बन्धस्य कर्ता । -गावरा० ११।५ ।  
 (६) मङ्कनकरणानुपपत्ति । (७) गेगनराणाम् । (८) समयम् । (९) अन्यपुदराणाम् । (१०)  
 सङ्कनस्य एकपनानाम् । बहुभि कृतसम्बन्धे न चैको गमको भवेत् । -मी० इलो० पु० ६४४ । ११)  
 समुच्चयोति नयेवा व्यवहारेऽवगम्यत । -मी० इलो० सम्बन्धा० म्नी० १७ । (१२) पुण्याणाम् ।  
 (१३) मित्त्वा सङ्कनकरण प्रयोजनाभावात् । (१४) सङ्कनस्य । (१५) प्रतिगाम्मुच्चार्य उच्चाय ।  
 (१६) तुलना-प्रत्युच्चारण प्रावतन एव त्रियत् नूनतो वा ? नवम्य तावत्त्रिपमाणय कथमथ  
 प्रत्यापनसामर्थ्यमवगम्यते तन्वगतो वा कि तत्वरणेन ? पूवद्वयस्य तादृत्तत्वादेव पुन करणमनुपपन्नम् ।  
 एवस्य वस्तुतो क्षतिरसङ्कनवते नोपपत्ति । -म्याम० ५० २४२ । 'प्रयुच्चारणनिर्मुक्तिर्न मुक्ता  
 यवत्तत । -तत्त्व० ७० २२७४ । (१७) नूनतसङ्कनस्य । (१८) अभिनवमङ्कनस्य अर्थप्रत्या  
 यनसहितविरचानाभावे । (१९) सङ्कनस्य । (२०) पुन पुनः । (२१) विप्रकृष्टावदित्वात् ।

१ कृत यो २ वेगरा-आ० । ३ करोतीति ते च आ० । ४-च्चार्य निरा-य० । ५ कारणात्तु-आ० ।

वैपि सकृत्सम्बन्धकरणमयुक्तम्, तत्रापिलनाच्यवानाना संकृत्सभवाभावात् । शब्दार्थ-  
व्यवहारैरिदं कालस्य चाऽमभवात् । अतो नित्यं एव शब्दार्थयो सम्बन्धोऽ-  
भ्युपगन्तव्य ।

तत्प्रतीतिश्च प्रमाणत्रयसम्प्राप्त्या, तथाहि—यदैकोऽन्यस्मै प्रतिपन्नसङ्केताय प्रतिपात्-  
यति 'देवदत्त गामभ्यान् शुक्ला दण्डेन' इति, तदा पार्श्वस्थोऽन्योऽव्युत्पन्नसङ्केत  
शब्दार्थो प्रत्यक्षत प्रतिपद्यते, श्रोतुश्च तद्विषयेपणादिचेष्टोपलम्भानुमानतो गराणि-  
विषया प्रतिपत्ति प्रतिपद्यते, तत्प्रतिपत्त्यन्यथानुत्पत्त्या च शब्दस्यैव तत्र वाचिका शक्ति  
परिकल्पयतीति । उक्तञ्च—

“शब्दवृद्धाभिधेयानि प्रत्यक्षेणात्र पश्यति ।

श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमुमानेन चेष्टया ॥

अन्यथानुपपत्त्या तु वेत्ति शक्तिं द्वयाधिताम् ।” [मी० श्लो० सम्बन्ध० १४० ४१] इति ।

(१) 'न हि सम्बन्धव्यतिरिक्तं कश्चित्कालोऽस्ति, यस्मिन्न कश्चिन्पि शब्द केनचित्कालेन सम्बद्ध  
आसीत् ।'—शाबरभा० १।१।५ । 'सर्गादी हि त्रिया नास्ति तादृक्कालो हि नेष्यते ।'—मी० श्लो० सम्ब  
न्ध० श्लो० ४२ । शास्त्रदी० पृ० ४१८ । तत्त्वसं० पृ० ६२७ । न्यायम० पृ० २४२ । (२) "ओत्प  
त्तिरन्तु गन्तव्यार्थेन सम्बन्ध'—जमिनिमू० १।१।५ । 'ओत्पत्तिक इति नित्यं भ्रूम् । उत्पत्तिर्हि भाव  
उच्यते लक्षणया । अविप्लव गन्दाययोर्भावं सम्बन्ध'—शाबरभा० १।१।५ । 'अपीत्येव शब्दस्यार्थेन  
सम्बन्ध'—शाबरभा० १।१।५ । पृ० ४१ । 'अपीत्येव सम्बन्धे शब्द प्रामाण्यमुच्छति ।"—प्रक० प०  
पृ० १६१ । नित्या गन्दायैगम्बन्धा"—शाबरभा० १।२३ । (३) प्रत्यक्षानुमानार्थपत्तिरूप प्रमाण  
नयम् । (४) गन्तव्यत्वावश्यात् अथञ्च वाच्यत्वावश्यात् प्रतिपद्यते । (५) गवादिविषय । (६)  
दण्डतस्य श्रोतु देवदत्त गामभ्याजति वाक्यान् गोभेपणविषयिणी प्रतीतिर्जाता तद्वाक्यव्यवधानान्तरमेव  
गोभेपणवेष्टान्यथानुपपत्त । (७) देवदत्त गामभ्याजति वाक्ये गवादिविषयवक्षेपणात्वाच्चिक्वा गकिन  
रस्ति ततस्तत्प्रतीत्यथानुपपत्ते । (८) गोविषयवक्षेपणार्थं । (९) 'शब्दवृद्धाभिधेयार्थ'—मी० श्लो०,  
प्रमाणवा० स्वव० टी० १।२२८ । न्यायम० पृ० २४५ । 'प्रत्यक्षेणैव—स्या० २० पृ० ६७७ । (१०)  
'अन्यथानुपपत्त्या च बुद्धयेच्छक्तिं द्वयाधिताम् । अर्थापत्त्या बुद्धधन्ते सम्बन्ध त्रिप्रमाणवत् ॥ —मी०  
श्लो० पृ० ६८० । प्रमाणवा० स्वव० टी० १।२२८ । 'वेत्ति गकिन द्वयात्मिकाम्'—न्यायम० पृ० २४५ ।  
श्याख्या—'शब्दवृद्धाभिधेयानि सम्बन्धप्रतिपत्तरथ याप कुमारिलेन बर्णित—यस्मात् प्रथमं तावन्  
प्रथमं शब्दं वृद्धं च शब्दस्याव्यापारम् अभिधयन्त्वाच्च धन्तु पश्यति, तत पश्चात् अनुमानेन चेष्टा  
लक्षणेन तद्वन् श्रोतु प्रतिपन्नत्वं पश्यति अवधारयतीत्यर्थं । करणं कारकं कृत्वा चेष्टाया अनुमानत्व  
मुक्तम् । ततश्च पश्चात्प्राप्त्या द्वयाधितां गन्तव्यार्थिना शक्तिं वेत्ति । अर्थापत्त्या तु साक्षादवबुद्धधन्त  
त्यनोर्थापत्त्यावबुद्धधन्त इत्युक्तम् ।—तत्त्वसं० पृ० ७०६ । "वृद्धाना स्वार्थं सम्बन्धहरमाणाना  
मुपगृणन्तो वाग्य प्रथममप प्रतिपद्यमाना दृश्यन्ते ।—शाबरभा० १।१।५ । पृ० ५६ । 'विञ्चा  
स्त्युपायो बालानाम्, नावश्य सम्बन्धकथनवाक्येनैव वृद्धेभ्यो बाला सम्बन्धं प्रतिपद्यन्ते किन्तु यदा वृद्धा  
प्रसिद्धसम्बन्धा स्वकार्यायैव व्यवहरन्ति तदा तेषामुपगृणन्तो बालाः सम्बन्धं प्रतिपद्यन्त । यदा हि  
केनचित् 'गामानय' इत्युक्तं कश्चित् साक्षात्प्रतिपद्यति तदा समीपस्थो वाग्येऽवगच्छति—यस्मादय

१ सङ्कृतसभवाभावात् आ०, सङ्कृतसभवात् व० । २-विकल्पय च का-आ० । ३ तद्विषय  
पक्षेणा-२० । ४ प्रतिपत्त्युत्पत्तेने य० । ५ नू आ०, व० ।



रूप हि वस्तु यदि व्यक्त तदा सर्वदा व्यक्तमेव अभिन्नस्वभावत्वात्तस्य ।

किञ्च, सङ्केत पुरुषाश्रय, स च अतीन्द्रियार्थज्ञानविकलतया अन्यथापि वेदे सङ्केत कुर्यात् अतो मिथ्यात्वलक्षणमस्याऽप्रामाण्यं स्यात् ।

किञ्च, नित्यसम्बन्धवशात् शब्द एकार्थनियत, अनेकार्थनियतो वा स्यात् ? एकार्थनियतश्चेत्, किमेकदेशेन, सर्वात्मना वा ? सर्वात्मनैकार्थनियमे अर्थान्तरे वेदात् प्रतिपत्तिर्न स्यात्, ततश्चास्याज्ञानलक्षणमप्रामाण्यम् । चोरशब्दो वा नित्यसम्बन्धात् तस्करे रूढ कथं दाक्षिण्यै औदने प्रयुक्तं तमभिदध्यात् । अवैकदेशेनासौ तन्नियत, स किमेकदेशे अभिमतैकार्थनियत, अनभिमतैकार्थनियतो वा ? अनभिमतैकार्थनियमे मिथ्यात्वलक्षणं वेदस्याऽप्रामाण्यं स्यात् । अथाऽभिमतैकार्थनियत, किं पुरुषात्, स्वभावाद्वा ? प्रथमपक्षे अस्यापौरुषेयत्वसमर्थनप्रयासो व्यर्थः । पुष्पो हि रागाद्यन्ध-

(१) नित्यकरूपस्य सम्बन्धस्य । (२) तुलना—“अथज्ञानहेतुर्हि सङ्केत पुरुषाश्रयः । गिराम पौरुषेयत्वेऽप्यतो मिथ्यात्वसम्भवः ॥ किं ह्यस्यापौरुषेयतया ? यतो हि समयादयप्रतिपत्ति, स पौरुषेयवितयाऽपि स्यात्, शीलं साधनं स्वगवचनम्, अयथा समयेन विपर्यासयेत् तेनायथाभमपि प्रकाशानसंभवात् ।”—प्रमाणवा० स्वव० १।२२८ । “सङ्केतमन्तरेणापौरुषेयादपि वाक्यादथप्रतीतरभावात् । अथज्ञानहेतुरिह सङ्केतस्वीकृतव्य, स च पुरुषकृतत्वात्पुरुषाश्रयः । अतः सङ्केतस्य पुरुषाश्रयत्वात् गिराम पौरुषेयत्वेऽपि मिथ्यात्वस्य सम्भवः । सङ्केतव्रतनं वाचोऽप्यश्रुते । स च दोषात्रयण पुरुषेण श्रियत इति तासां न विसवान्शङ्कानिरासं पौरुषेयवाक्यव्यतिथि व्यथमपौरुषेयत्वव्यन्यतम् ।”—प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२२६ । “अर्थद्योतनहेतोश्च सङ्केतस्य नराश्रयात् । शक्ताविनरजयायामपि मिथ्यात्वसम्भवः ॥ —तत्त्वस० पृ० ७१० । प्रमेयक० पृ० ४३० । (३) पुरुषः । (४) वेदस्य । (५) तुलना—“किञ्च वाचा किमेवेनाप्येन सह वाचवाचवसम्बन्ध, अयानेव ? गिरामेकाश्रयनियमे न स्यादर्थान्तरे गतिः । अनेकार्थनियतस्यैव विरुद्धव्यक्तिसम्भवः ॥ गिरामकस्मिन्नर्थे वाचवचनतया नियमे सति सङ्केतवशादन्यत्रार्थे न स्यादगतिः, दृश्यते च विवक्षातोऽनेकार्थभिधानम् । अनेकर्थेर्गवचनत्वाभिसम्बन्धे विरुद्धत्वापस्य व्यक्तेः प्रतीतिः संभवः स्यात् । अग्निष्तोम स्वगस्य साधनमिति विषययोप्यवसीयत । ततश्चाप्रवृत्तिरेव स्यात् स्वर्गाधिपः ।”—प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२२८ । “सा शक्तिरेकाश्रयनियता वा भवेन्नानाश्रयनियता वा ।”—तत्त्वस० पृ० ७१० । प्रमेयक० पृ० ४३० । ‘यदि पुनः शब्दस्य वस्तुनि स्वत एव योग्यत्वको दोषो येन सङ्केतस्तत्रापश्यत ? इति चेदुच्यते—तत्सवविषय नियतविषय वा ? पूर्वविकल्पे ततो युगपत्सवाथ प्रतीतिप्रमङ्गात् तथा च न ततो नियतविषयप्रवृत्त्यादिरिति व्यवहारविकलोपः । तत आह—न सवयोग्यता साध्यो सङ्केताश्रययो यदि । द्वितीयविकल्पे दोषमाह—सम्बन्धनियमेऽत्र सङ्केतेऽपि न घतताम् ॥”—म्यायविक० का० ४३१ । (६) वेदस्य । (७) ‘चोरशब्दो (यथा) लोके भक्ष्याय प्रतिपादयत् । येषाञ्चिच्चोरमेवाह तत्रेप्येव वदास्तथा ॥’—ज्ञानसि० पृ० ७५ । “यथा चौरशब्दस्तस्करवचनं औदने दाक्षिणात्यै प्रयुज्यते ।”—न्यायम० पृ० २४२ । प्र० क० ६० पृ० २१५ । (८) एकदेशेनाश्रयनियतः । तुलना—“य एवार्थो वस्तुस्थित्या स्वगसाधनं किन्तत्रव समयवारेणग्निहोत्रादिगन्तव्यव्यक्तं किन्वाऽप्यस्मिन्नर्थे स्वगसाधनविरुद्धे बुद्धिमान्धादिति सदेह एव ।”—प्रमाणवा० स्वव० टी० १।२३० । (१०) वेदस्य । तुलना—‘स इति शब्दः सर्वस्मिन् वाचवचनानियत नियमं नवविदये पुरुषात् पुरुषसङ्केतात् प्रतिपद्यते । स च पुरुषो विरुद्धव्यर्थे सङ्केतं कुर्यात् । तथा च न केवलं विरुद्धव्यक्तिसम्भवः । यार्थाद्यमपौरुषेयता वेदस्येष्टा तस्या व्यर्था स्यात् परिकल्पना ।—प्रमाणवा० स्वव० टी० १।२३० । ‘अयानेव

त्यात् प्रतिक्षिप्यते तस्माच्चेद् वेदैकदेशोऽर्थनियम प्रतिपद्येत निमपौरुष्यत्वेन ?  
रैमावाभिमतैरार्थनियमे तु भावनाद्यर्थभेदानुपपत्ति । अनेकार्थनियतत्वे तु वेदस्य  
मन्त्रार्थसाधारणत्वात् कथमिष्टव्यक्तावेव समयकार समय कुर्यात् ?

“तेनाऽग्निहोत्र जुहुयात् स्वगन्तमै इति श्रुतौ ।

सादत् श्रमासमित्यप नार्थ इत्यत्र वा प्रमा ॥” [ प्रमाणवा० ३।३१८ ]

तन्न स्वरूपत मन्त्रघो नित्य ।

नैपि सम्बन्धिनित्यत्वात्, यत् कोऽत्र नित्यं सम्बन्धी-शब्द, अर्थ, द्वय वा ?  
न तावच्छब्द, तस्यामेऽनित्यत्वप्रसाधनात् । नाप्यर्थ, घटादेस्तदर्थस्य अनित्यतया  
प्रत्यक्षादित प्रतीते । अथ सामान्य तदर्थ, तच्च नित्यम्, अतस्तद्विश्रित सम्बन्धोऽ-  
पि नित्य इत्युच्यते, तस्मात्, सामान्यस्य तदर्थरानुपपत्ते, तद्वानेव शब्दार्थ  
इत्यमे समर्थयिष्यमाणत्वात्, परंपरिकल्पितसामान्यस्य निषिद्धत्वाच्च । उभयपक्षोऽपि  
उभयपक्षनिक्षिप्तदोषानुपपन्नादयुक्त ।

षामिषाप्यपि सत् पुरुषण सङ्कृताभिमनार्थभिधावित्त्वन नियम्यते तदा-अपौरुष्यतायाञ्च व्यर्थं  
स्यात्परिबलपना । वाच्यश्च हेतुभिधाना सम्बन्धस्य व्यवस्थिते ॥ -प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२२९।

(१) तुलना- असस्वायतया पुंभि सक्वा स्यान्निरयता । सस्वारोपगमे मुख्य गजस्तानामिद  
भवेत् ॥ -प्रमाणवा० ३।२३० । प्रमेयक० प० ४३० । (२) तुलना- प्रकृत्यव स्वभावेनव वदिका  
गणा नियता अभिमतेरर्थं ततो न पुरुषसस्वारहृतो दोष इति चेत् एव सत्यप्रकाशन तोपनेगमपेक्षरन्  
अपेक्षन्ते च, स्वतस्तेभ्योर्थप्रतातेरभावात् । यत् च ते स्वभावन एव प्रतिनियता स्यु त्वा यत्र क्वचित्प  
एकदा ममिता पुन क्यञ्चित ततोऽयथा सङ्कृतेनार्थांतर न प्रकाशययु प्रकाशयन्ति च ततो न  
प्रकृत्यकार्थनियता इति । स्वभावनश्चकार्थनियमे योज्य धर्मेषु वाक्यपु व्याख्यातृणां याख्याविकल्पश्च  
अपरापरव्याख्याभन्वच न स्यात् एकाग्रप्रतिनियमान् भवति च तस्मात् पौरुष्यवाक्यवन्नकार्थनियता  
यन्ति वा न निति । -प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२३० । (३) भावनाविधिनियोगरूपेण भाटटवेण  
निप्रामाकाराणा वन्त्यविवये व्याख्याभेदे न स्यान्ति भाव । (४) तुलना- सवत्र योग्यस्यवाच  
द्योगन नियम कुत । -प्रमाणवा० ३।३२६ । नानाद्यद्योगने गणितभवत्यकस्य हि ध्वने । नाग्निहो  
त्रान्यस्त्वर्था सर्वे सर्वोपयोगिन । तन्निष्ठविपरीतायद्यातनस्यापि सभवात् । नियम दाथसम्बन्धकल्पना  
वो निरविवरा ॥ -तत्त्वस० प० ७११ । (५) ‘अग्निहोत्रं जुहुयात् -मन्त्रु० ६।३६ । (६) व्याख्या  
तेनति अपरिजानायत्वेन अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वगन्तमै इति श्रुतौ वेदवाक्य स्यात्तच्छ्रमासमित्यप नार्थं  
वित्त्वयाभिमनोश्च इत्यत्र वा प्रमा ? नव किञ्चित्प्रमाणम् । -प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।३२० ।  
आग्निहोत्रं अग्निहोत्रं इवा तस्योत्रं मास जुहुयात् स्यात् । अथवा अग्नि गच्छतीत्यग्नि इवा ह्यतः  
द्यन यत्तन होत्र मासम अग्नेहोत्रमित्यग्निहोत्र इवमासं तज्जुहुयात् स्यात् स्वगन्तमै पुमान् द्विज ।  
-प्रमेयपरलमा० टि० प० १३४ । उन्मृतोऽयम्-गास्त्रवा० श्लो० ६०५ । न्यायम० प० ४०५ ।  
निरिषयप० पु १९ । (७) तुलना- सम्बन्धिनामनित्यत्वात् सम्बन्धस्तं नियता । -प्रमाणवा०  
३।२३१ । (८) सत्त्वस्य (९) सम्बन्धविषयभूतस्य अथस्य । (१०) गणाय -आ० टि० । (११)  
सामान्यायित । (१२) सामान्यवानेव । (१३) मीमांसकनयायितानि । (१४) पृ० २८५ ।

अस्तु वा कृतश्चिन्तित्य सम्बन्ध, तथोप्यसौ किमैन्द्रिय, अतीन्द्रिय, अनुमानगम्यो वा स्यात् ? नतोवदैन्द्रिय, नित्यस्वभावस्यै कचिदपीन्द्रियेऽप्रतिभासमानत्वात् । अथोतीन्द्रिय, कथमर्थप्रतिपत्त्यङ्गम् अज्ञातस्य ज्ञापकत्वविरोधात् ? “नाज्ञात ज्ञापक नामै” [ ] इत्यभिधानात् । सन्निधिमात्रेण ज्ञापकत्वेऽतिप्रसङ्गात् । नाप्यनुमानगम्य, सम्बन्धस्याप्रत्यक्षत्वे तत्पूर्वकत्वेनात्राऽनुमानस्याऽप्रवृत्ते । न ह्यगृहीतर्पतिबन्ध किञ्चिल्लिङ्गमनुमानमाविर्भावयत्यतिप्रसङ्गात् । अथास्याप्रत्यक्षत्वेऽपि अनुमानात् प्रतिबन्धप्रहो भविष्यति, ननु किमत एवाऽनुमानात्, तदन्तराद्वा तद्द्वै स्यात् ? यद्यत् एव, अन्योन्याक्षय-सिद्धे हि अनुमाने तद्ब्रह्मसिद्धि, तत्सिद्धेश्चानुमानसिद्धिरिति । अनुमानान्तरात्तत्सिद्धौ अनवस्था, तत्रापि तद्ब्रह्मस्य अनुमानान्तरात् प्रसिद्धे । न चोत्र किञ्चिल्लिङ्गमस्ति ।

नित्यसम्बन्धस्य हि लिङ्गम्-अर्थज्ञानम्, अर्थ, शब्दो वा ? न तावदर्थज्ञानम्, सम्बन्धासिद्धौ तैर्कार्यत्वेनास्याऽनिश्चयात् । नार्थार्थ, तस्य तेन सम्बन्धासिद्धे, नहि सम्बन्धार्थयोस्तादात्म्यं सम्भवति घटाद्यर्थवत् सम्बन्धस्यानित्यत्वप्रसङ्गात् । नापि तदुत्पत्ति सयोगादिर्वा, अनभ्युपगमात् । नापि शब्दो लिङ्गम्, अर्थपक्षोपक्षिप्तदोषानु-

(१) तुलना-‘किञ्चासौ सम्बन्ध ऐन्द्रिय अतीन्द्रिय अनुमानगम्यो वा स्यात् ।’-प्रमेयक० पृ० ४३० । (२) तुलना-‘न च नित्य सम्बन्ध शब्दाद्ययो प्रमाणेनावसीयते, प्रत्यक्षण तस्याननुभवत्, तदभावे नानुमानेनापि, तस्य तत्पूर्वकत्वान्युपगमात् ।’-सामति० टी० पृ० ४३६ । (३) शब्दाद्य सम्बन्धस्य । (४) तुलना-‘नातीन्द्रिय सम्बन्ध, ततोऽतीन्द्रियात् सम्बन्धात् अथस्याप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । किं कारणम् ? अप्रसिद्धस्य स्वेन रूपेण अनिश्चितस्य अज्ञापकत्वात् । न हि येन सह यस्य सम्बन्धो न गृह्यते तदद्वारेण तस्य प्रतीतिर्युक्ता । अपाज्ञात एव सम्बन्धोऽर्थं ज्ञापयतीन्द्रियवदित्याह-सन्निधिमात्रेणत्वादि । सम्बन्धस्य सन्निधिमात्रेण सत्तामात्रेणाथनापनेऽभ्युपगम्यमाने शब्दाद्यसम्बन्ध प्रत्यव्युत्पन्ना नामपि अथस्याय वाचक इति प्रतिपत्ति स्यात् ।’-प्रमाणवा० स्ववृ० १।२३८ । तत्त्वस० पृ० ७१२ । प्रमेयक० पृ० ४३० । (५) उद्धृतमिदम्-प्रमेयक० पृ० १२४, २०६ । (६) प्रत्यक्षपूर्वकत्वेन । (७) गत्यासम्बन्धे । (८) प्रतिबन्धोऽविनाभावसम्बन्ध । (९) शब्दाद्यसम्बन्धस्य । (१०) अनुमानान्तरात् । (११) अविनाभावग्रहः । (१२) अविनाभावग्रहणे । (१३) अनुमानान्तरेऽपि । (१४) शब्दाद्यसम्बन्धाधिगमे । तुलना-‘नानुमानात् प्रतिपत्ति सम्बन्धस्य । कृत ? लिङ्गाभावात् । नहि सम्बन्धसाधन किञ्चिच्छ्लेषमस्ति । अथप्रतीतिरपि न लिङ्ग दृष्टान्तासिद्ध । न हि क्वचिद् दृष्टान्त सम्बन्धकार्या अर्थप्रतीति प्रतिपन्ना । किङ्कारणम् ? तत्रापि दृष्टान्तत्वेनापनीते सम्बन्धस्यातीन्द्रियत्वेन कारणन साधनापेक्षणात् । न चास्ति साधन तत्रापि दृष्टान्तासिद्ध ।’-प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२३८ । (१५) ‘तस्य हि लिङ्गं ज्ञानमप्य शब्दो वा ?’-प्रमेयक० पृ० ४३० । (१६) प्रतिपत्ते हि सम्बन्ध तस्य चार्थमथज्ञान निश्चीयते स चाद्यापि न सिद्ध-आ० टी० । (१७) तुलना-‘शब्दाद्यो लिङ्गमिति चेत्-नहीत्यादि । न हि तत्र सम्बन्धविदापे धादरूपमर्थो वा लिङ्गम् । किङ्कारणम् ? तयो शब्दाद्ययो सवश योग्यत्वात् । सवस्य शब्दास्य सर्वस्मिन्नर्थे वाचकत्वेन योग्यत्वात् सवस्य चापस्य सवस्मिन् शब्दे वाच्यत्वेन योग्यत्वात् । अर्थविदापेप्रतीतिद्वय कारणं सम्बन्धविदाप, तस्य च अथविदापेप्रतीतिसमाश्रयस्य सम्बन्धस्य अनियताम्ना गत्यार्थाभ्यामप्रत्यायनात् ।’-प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२३८ । (१८) सम्बन्धस्य । (१९) सम्बन्धस्य ।



पङ्गात् । ततो नित्यसम्बन्धस्य कुतश्चिदप्रसिद्धे अनित्य एवाऽसौ अभ्युपगन्तव्य ।

यदपि तदनित्यत्वे 'प्रतिपुरपम्' इत्यादि दूषणमुक्तम्, तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, अनादित्वात् शब्दव्यवहारस्य । नहि सर्वथा सतो जगतो निर्मूलनाशत्वयो महाप्रलय असत्तद्वात्मलामलक्षणा सृष्टि ईस्मान् भङ्गता वा प्रसिद्धा येन अपूर्व सृष्टिप्रादुर्भावाश्रयणेन 'समय प्रतिमत्य वा' इत्यायुक्त शोभेत । नित्यत्वेऽपि च तत्सम्बन्धस्य अभिव्यक्तिरनित्याऽभ्युपगन्तव्या, अतस्तत्रोपीदं दूषणं तुल्यम् । कथञ्चैवर्षादिनोऽग्निधूमयोरपि सम्बन्धं सिद्धयेत् तत्राप्युक्तनिकल्पानां समानत्वात् । अथाग्निधूमत्वसामान्ययोर्नित्यस्वरूपयोः सम्बन्धित्वेन तत्सम्बन्धनित्यत्वसमभवात् नोक्तविकल्पानां तत्रावकाशः, तदप्यपेशलम्, केवलसामान्ययोः सम्बन्धित्वस्य व्याप्तिविचारप्रघट्टके प्रतिपिद्धत्वात् । नित्यत्वत्र सामान्यस्य प्रागेव प्रतिपिद्धम् । अतो यथा सादृश्यप्रधानतया सादृश्योपलभितानां मध्यसाधनव्यक्तिविशेषाणामनतानामपि व्याप्तिज्ञानेन श्रौचीकरणं तथा ग्रन्थवाचकव्यक्तिविशेषाणामपि । अतः "सम्बन्धसिप्रमाणक" [ मी० श्लो० प० ६८० ] चर्चयोन्यते, तत्र 'गर्भवृद्धाभिधयानि प्रत्यक्षयाऽपश्यति' इति युक्तम् । श्रावणं प्रतिषन्तमनुमानं चेट्या' इत्यप्युपपन्नम्, 'अन्यथापुपत्त्या तु वृत्ति शक्ति इयात्रिताम्' इत्येतरनुपपन्नम्, नित्यशक्तौ सम्बन्धाख्यायामन्यथानुपपत्तेरभावात् । वह्निधूमैर्दिशक्तिरन्तु शक्तार्थाश्रिताया शक्तेरनित्यत्वेऽपि श्रोतुर्थप्रतिपत्त्युपपत्तेः ।

एतेनेदमपि निरस्तम्-

"नित्या शब्दाथसम्बन्धा तत्रान्नाता महर्षिभिः ।

सुत्राणां श्रोतुत्राणां भाष्याणाञ्च प्रणुतुभिः" ॥" [ वाचस्प० १।२३ ] इति,

(१) पृ० ५४३ प० १३। (२) अनानाम् । (३) मामासकानाम्-आ० टि० । तस्मादद्यकैवात्र मगप्रत्ययकल्पना । समस्तप्रयजमभ्या न सिद्धयत्यप्रमाणिका । -मी० श्लो० सम्बन्धा० श्लो० ११३ । (४) अभिव्यक्त्यावपि । (५) शान्तययो नित्यसम्बन्धवान्ति । (६) अग्निधूमसम्बन्ध । (७) नाग्निधूमत्वयोरविनाभावो गच्छते किन्तु अग्निधूमविशिष्टाग्निना सह धूमत्वविशिष्टधूमस्याविनाभाव गृह्यते इति भावः । (८) पृ० ४२३ । (९) पृ० २८५ । (१०) साध्यसाधनव्यक्तीनामानन्त्वेऽपि मानशब्दाद् व्याप्तिज्ञानेन श्रौचीकृत एव वाच्यवाचकव्यक्तीनामपि सादृश्यवशात्तत्र श्रौचीकरणम् अस्ति इत्यत्रापि सादृश्यम् घटशब्दाख्याय पृथुबुध्नोर्लघाकारत्वात् पूर्वोपलक्ष्येणान्तरवन् । -आ० टि० । (११) तुलना- अतएव च सम्बन्धसिप्रमाणक इति यत्त्वयोन्यते तस्मात्तत्र मूयते । शब्द वृद्धाभिधयान्च प्रत्यक्षयाऽपश्यतीति सत्यं श्रोतुद्वयं प्रतिषन्तत्वमनुमानेन चेट्यावत्यतपि सत्यम् । अयं यथानुपपत्त्या तु वृत्ति शक्ति इयात्रितामित्यतस्तु न सत्यम् अन्यथापुपत्तेरित्युक्तत्वात् । -न्यायप० पृ० २४५ । (१२) मीमांसकेन कुमारिलभट्टेन । (१३) भाष्यनापकशक्ति-आ० टि० । (१४) यथाहि बह्विधमयोः शाब्दानापकशक्तिरनित्याऽपि अनुमयाप्रतिपत्तिप्रयोजिका तथैव शान्तययो वाच्य वाचकशक्तिरपि । (१५) सर्वात्तिकाणां (ना) म्-आ० टि० । अनुत्तत्र वार्तिकम् -वाचस्प० पु० टी० । (१६) 'सिद्धे गन्धसम्बन्धे । सिद्धे गन्धेऽप्येव सम्बन्धे चेति । -वा० महाभा० प० ५५ । 'नित्य

१ भवतो वा थ० । २-वादिनो धूमत्वयोरपि थ० । ३-विद्ध यथा थ० ।

सम्बन्धस्यानित्यत्वसमर्थनात्, शब्दस्य तदर्थस्य चोभे अनित्यतया ममर्थविष्य-  
माणत्वाच्च, सर्वथा नित्यस्य वस्तुन क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियानारित्वाभाजप्रतिपाद-  
नाच्च । कथञ्चैवचांदिन रैर्येथे चोत्नाया प्रामाण्य स्यात् कार्यस्याऽनित्यत्वात् ?  
तत सिद्ध कथञ्चिदनित्ययोग्यतालक्षणसम्बन्धज्जात् श्रुतस्यार्थप्रतिपादकत्वम् । अत  
सूक्तम्—‘सनादक श्रुत प्रमाणम्’ इति ॥ छ ॥

ननु श्रुतस्याविसरान्तरमिदम्, अर्थाभावेऽपि शब्दानामुपलम्भात् । य एव  
‘शब्दस्यायापान्ता  
आमिषायस्त्वम् । इति  
विधिद्वरेणाऽर्थाभिवायकत्वानुपपत्ते  
अन्यापोहमात्रामिषायकत्वमेवो-  
क्तस्य पूर्वपक्ष -  
पपन्नम् । उक्तञ्च—“अपोह शब्दलिङ्गाम्या न वस्तु विधिनोध्यते”

शब्द नित्योऽथ निय सम्बन्ध इत्यथा शास्त्रव्यवस्था । तत्रान्ता महर्षिभि मूत्रादीना प्रणतमि ।  
व्याकरण एव य मूत्रादीना प्रणतारस्त व्यपदिश्यन्ते । तत्र मूत्राणामारम्भादेव शब्दाना नित्यत्वमभि  
मतम् । न ह्यनित्यत्व शब्दादीना शास्त्रारम्भे निश्चिदपि प्रयोजनमस्ति । व्यवहारमात्र ह्यतदनयक न  
महान्त गिप्टा समनुगन्तुमहतीति तस्मात् व्यवस्थितमाधुत्वेपु गच्छेपु स्मृतिशास्त्र प्रवृत्तमिति ।—  
वाक्यप० हरि० १।२३ । उद्धतोऽयम्—सिद्धिदि० टी० पृ० ५०५ । प्रमेयक० प० ४२९ ।

(१) प० ३७२ । (२) नित्यसम्बन्धवाग्नि -आ०टि० । (३) अभ्यायस्य क्रियात्वात् -  
जमिनिहू० १।२। १ । “चोत्ननि क्रियाया प्रवतक वचनमाहु । -शब्दरभा० १।१।२ । (४) अग्नि  
प्टोमादियज्ञरूपकमण । (५) ‘अतीनाजातयोर्वापि न च स्यान्नुताथना । वाच कस्याश्चित्तिवेपा  
वीदायविपया मना । -प्रमाणवा० ३।२०७ । (६) “गिपपप्रतिविम्बपु तन्निष्ठेषु निवध्यते । ततोऽ  
यापोहनिष्ठत्वादुक्ताऽन्यापोहश्चक्षुति ॥ विकल्पाना प्रतिविम्बेष्वाकारेषु तन्निष्ठेषु तन्व्यावसितरतुत्वेन  
व्यवस्थाविषयतया तद्व्यवहारव्यवस्थितिपु सङ्गतवाल निवद्धपते ततो विकल्पप्रतिविम्बाना बाह्यव्या  
वृत्तात्त्वत्वेन व्यवहारविषयत्वात् अयापोहनिष्ठत्वान कारणात् उक्ता श्रुतिरयापाहृत । अयव्याव  
त्ताकारविकल्पजनना अय पावत्तपु प्रवतनाच्च शब्दोऽयापोहदुक्ता । ननु गच्छे जान बाह्य बाह्य  
तयव प्रतीयते न चानावागतया इत्याह—व्यतिरेकीव यज्जाने भात्यप्रतिविम्बकम् । शब्दात्तदपि नार्था  
त्मा भान्ति सा वासनोमवा ॥ यथा तमिरिकदृष्टेषु क्षेत्रेषु बाह्यभ्रम एव विकल्पाकारेषु ग्राह्य  
व्यवहारोऽविद्यावशान्दियथ । -प्रमाणवा० मनोरथ० २।१६४ ६५ । ‘तत्र यत्तदारोपित विकल्पधिया  
अर्थोऽभिन्न रूपं तदव्यव्यावृत्तपदार्थानुभववन्मायातत्वात् स्वयञ्च अव्यव्यावृत्ततया प्रग्यानात् भान्तस्त्वा-  
व्यव्यावृत्तार्थेन सत्त्वनाध्यवसितत्वात् अयापोहपदायाधिमनिपत्त्वाच्चायापोह इत्युच्यते । तनापोह  
शब्दाय इति प्रसिद्धम् । -तत्त्वस० प० पृ० २७४ । “अपोहो बाह्यतया आरोपित आकारोऽपाह्यत  
नन्ति कृत्वा यदा अपोह्यतस्मिन्त्यपात् स्वल्क्षणम् तस्मान्न विकल्पाना स्वरूपेण बाह्यो ग्राह्योपि  
तु स्वाकारेण सहकीकृत एव बाह्यो विषय, स चामत्यो‘पोह्यतेऽयदनन्ति अपोह उच्यते । -प्रमाणवा०  
स्वयं० टी० १।४८ । “ननु कोऽयमपोहो नाम ? यथाव्यवसाय बाह्य एव घटादिरर्थाऽपोह इत्यभिधीयत  
अपोह्यतेऽस्मादयद्विजातीयमिति क्त्वा । यथाप्रतिभास बुद्धघाकारोऽपोह अपोह्यते पयविक्रयतेऽस्मिन्  
बुद्धघाकारे विजातीयमिति कृत्वा । यथातत्त्व निवृत्तिमात्र प्रसह्यस्पोऽपोह अपोहनममोह इति  
कृत्वा । -तत्त्वभा० मो० प० २६ । (७) उद्धृतोऽयम्—अष्टसह० पृ० १४० । स्याम० पृ० १८० ।  
तुलना—‘कथ स एव व्यवच्छेद शब्दलिङ्गाम्या विधिना प्रतिपाद्यते न वस्तुपमिति गम्यते ?’ -

[ क्षणभङ्गाध्याय (?) ] इति । प्रयोग—यद्यत्र प्रतिभाति तत्तस्य विषय यथा अक्षजे  
 सवेदने परिस्फुटप्रतिभासमानवपुरर्धात्मा नीलादिस्तद्विषय, शब्दलिङ्गप्रभवे च प्रत्यये  
 बहिरर्थतत्त्वरहित स्वरूपमात्रमेव प्रतिभाति अतस्तदेव तस्य विषय इति । न च  
 तत्रप्रथमप्रत्यये बहिरर्थाऽसस्पर्शस्वरूपमात्रवभासित्वमभिद्धम, शब्दलिङ्गयोर्बहिरर्थ-  
 5 विषयत्वायोगतस्तस्मिद्धे । तैदाहि—शब्दस्य बहिरर्थो विषयो भवन् स्वरक्षणस्वभावो  
 भवेत्, सामा यस्वरूपो वा ? तत्राद्यप्योऽनुपपन्न, तत्र सङ्केताभावत शब्दानां प्रवृत्त्य-  
 नुपपत्तौ । सङ्केतो हि सङ्केतव्यवहारकालानुयायिस्वरूपेऽर्थे निधीयते, न च स्वलक्षणस्य  
 तथात्रिध स्वरूपं सम्भवति देशकालान्तरसङ्कुचितत्वेन अननुयायिस्वरूपत्वात् । ये  
 10 सङ्केतव्यवहारकालानुयायी न तत्र व्यवहारिभि शब्द सङ्केत्यते यथा उत्पन्नामात्र-  
 प्रवृत्तिसिद्धिश्चिदर्थे, नावेति च निरक्षितनेशाभिभ्य ज्ञानलेयादिर्देशी तरादाविति ।

रिद्ध, 'अस्येदमभिधानम्' इति यस्मिन् ज्ञाने सम्बन्ध प्रतिभाति न तत्र ज्ञाने  
 प्रतिनियतेन्द्रियविषययो शब्दार्थस्वरक्षणयो प्रतिभास । न च तत्राप्रतिभासनयो

प्रमाणवा० स्ववृ० १।४४ । 'अयोर्होविषया आचार्येण प्रोक्ता 'अयोर्हो गन्तव्याभ्या प्रतिपाद्यत  
 इति द्रुवता । -प्रमाणवा० मनोरथ० ३।१३३ ।

(१) शब्दलिङ्गप्रभवप्रत्यययो बहिरर्थरहित स्वरूपमात्रमेव विषय तत्र स्वरूपमात्रस्यैव  
 प्रतिभासवान् । उच्यते विषयाप्रतीया धी वनीता न कश्चन । अ तर्मानि विष्णु तु वीजमेधा निबन्ध  
 नम् । तथाहि—अस्माभिरप्यत्र एवयामलज्ज यवामनाप्रबोधो निमित्तम् न तु विषयमूत भान्तत्वेन पूर्वस्य  
 गन्त्रपयस्य निविषयत्वान् । अन्तर्भावानि विष्टमिति विधानसन्निविष्ट कासनेति यावत् । एतदवागमेन  
 सम्बन्धन्नाह यस्य यस्येत्यादि—यस्य यस्य हि शब्दस्य यो यो विषय उच्यते । स स मविद्यत नव ब्रह्मना  
 मा हि घमना ॥ -तत्त्वसं० पं० पृ २७५ । (२) 'यत् स्वलक्षणं जानिस्तद्योगो जानिमास्तथा ।  
 वृद्धावागो न गार्थे घटमिच्छति तत्त्वतः ।'-तत्त्वसं० पं० २७६ । (३) शब्दा सङ्कृतिस्तु प्राहु  
 व्यवहाराय स स्मत् । तत्र स्वलक्षणं नास्ति सङ्कृतस्तेन तत्र न ॥ -प्रमाणवा० ३।१९ । 'तत्र व्यव  
 हारात् तत्त्वव्यवस्था नास्ति यत् सङ्कृतं कृत । एतस्यापि स्वलक्षणस्य क्षणिकत्वात् कालान्तरे तेनैव  
 एतेषानुगमो नास्ति अक्षयिकत्वे वा सङ्कृतमनाभावादेव तद्विषयत्वस्य कालान्तरेऽनुगमो नास्ति किमुत  
 गार्थाभिन्नपुं स्वलक्षणयु, तेन कारणत तत्र स्वलक्षणयु सकलानि क्रियते ।'-प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ।  
 तत्र स्वव्यवस्था तावत्प्रतिपाद्यते । सङ्कृतव्यवहारात्कालव्याप्तिवियोगत ॥ एतदुक्तं भवति—  
 समयो हि व्यवहाराय क्रियत न अक्षयिनया तेन यस्यैव सङ्कृतव्यवहारात्कालव्यापकत्वमस्ति तत्रैव  
 समया व्यहृत्वा यत्नो नायत् । न च स्वलक्षणस्य सङ्कृतव्यवहारात्कालव्यापकत्वमस्ति । तस्मात्  
 तत्र समय इति । व्यक्त्यात्मनोऽनुपपत्त्यनेन परस्पररूपतः । देशकारिकायां कतिप्रतिभासादिभेदत ॥  
 नन्मात्सङ्कृतदुष्टोर्धो व्यवहारे न दृश्यते । मन्वागहीनमङ्कृतो बोद्धवता य इव ध्वन ॥'-तत्त्वसं० पं०  
 २०७ । (४) तत्रपरमाण्वाकारतया एकगण्यमितया निरगता च न देशकालाकारान्तरव्याप्ति  
 स्वगण्यमिति भावः । तस्य देशकारभेदनास्तन्नात तस्मिन् सङ्कृतकालदुष्टस्य व्यवहारावस्था  
 नापि देशकारभेदनास्तन्नात अननुगमात् । न हि एकत्र दुष्टो भेदेऽप्यत्र संभवति । -प्रमाणवा०  
 स्ववृ० टी० १।४४ । (५) स्वलक्षणं नास्ति सङ्कृतं सङ्कृतव्यवहारकालानुयायित्वात् । (६) यो हि  
 रिषी तस्मिन् मोक्षे यस्य गान्तरयानि सोऽप्य क्षणिकत्वात्—आ० टी० । (७) शेषवधुयो ।

स्तयोस्तेन सम्बन्धकरण युक्तमतिप्रसङ्गात् । यौ अस्येदमिति सम्बन्धकारिणि ज्ञाने न प्रतिभासेते न तयोस्तेन ज्ञानेन सम्बन्धकरण यथा गोशब्दतदर्थयो मन्बन्धज्ञानेऽप्रतिभासमानयो अश्नशब्दतदर्थयो न तेन ज्ञानेन सम्बन्धकरणम्, न प्रतिभासेते च स्वेन्द्रियज्ञानप्रतिभासिनौ शब्दार्थस्वभावौ अस्येदमिति मन्बन्धकारिणि ज्ञाने इति । न चार्थेनाऽकृतसम्बन्ध शब्दस्त प्रत्याययितुमीश अतिप्रसङ्गादेव । यौ येन सहाऽकृतसम्बन्धो न न तमर्थं प्रत्याययति यथा अश्नेन सहाकृतसम्बन्धो गोशब्द, अकृतसम्बन्धश्च स्वलक्षणनेन सर्वं शब्द इति । स्वलक्षणविषयत्वे च शब्दप्रत्ययस्य इन्द्रियप्रभवप्रत्ययवत् स्पष्टप्रतिभासप्रसङ्ग, न चैवम्, प्रतीतिनिरोधात् । तदुक्तम्-

“अयदेवन्द्रियग्राह्यमयच्छब्दम्य गोचर ।

शब्दात्प्रत्येति मित्राक्षो न तु प्रत्यक्षमीक्षत ॥” [ ]

10

“अयदेवैवाग्निस्त्वन्धाद् दाह दग्धोऽभिमन्यत ।

अन्यथा दाहशब्देन दाहार्थं सम्प्रतीयते ॥” [ वाक्यप० २।४२५ ] इति ।

(१) शब्दात्स्वलक्षणयो-आ० टि० । (२) ज्ञानन-आ० टि० । (३) शब्दार्थो-आ० टि० । सम्बन्धग्राह्यज्ञानन न शब्दात्स्वलक्षणयो सम्बन्धग्रहणम् सम्बन्धग्राह्यज्ञानेऽप्रतिभासमानत्वात् । (४) गोशब्दात्स्वलक्षणयो-आ० टि० । (५) चक्षुःशब्देऽस्वलक्षण श्रोत्रज्ञाने शब्द प्रतिभाति-आ० टि० । (६) ‘एतदुक्तं भवति-यद्यगहीतसङ्केतमयं शब्दं प्रतिपादयेत्तदा गोशब्दोऽप्यश्व प्रतिपादयत सङ्केतकरणानयत्रयञ्च स्यात् तस्मात्प्रतिप्रसङ्गापत्तिं बाधकम् ।’-तत्त्वसं० प० पृ० २७७ । (७) शब्दं न स्वलक्षण प्रतिपादयति तस्मिन्प्रवृत्तसङ्केतत्वात् । “प्रयोग-ये यत्र भावत कृतसमया न भवन्ति न त परमार्थनस्तमभिन्धति यथा सास्नात्प्रतिपिण्डे ‘इव’ शब्दोऽकृतसमय न भवन्ति च भावन कृतसमया सवस्मि वस्तुनि सर्वे ध्वनय इति व्यापकानुपलब्धे कृतसमयत्वेनाभिधायकत्वस्य व्याप्तत्वात् ।’-तत्त्वसं० प० पृ० २७६ । (८) व्याख्या-“अयदेव रूपादिस्वलक्षणमिन्द्रियग्राह्यम् तस्मादयं शब्दस्य गोचरा विषय इति गद्यनाम् । शब्दात्प्रत्यनि मित्राक्ष प्रध्वस्तनयन न तु प्रत्यक्ष यथा भवति तथक्षते । समान विषयत्वे बाज घस्येवा’घस्यापि शब्दादपरान्भव प्रतिपत्तिः स्यात् । तथात्वे इन्द्रियाग्निस्त्वन्धादिवद् दाह शब्दात्प्रति दाहाद्यप्रतिपत्ति स्यादित्याह-अययव -प्रश० श्लो० पृ० ५८४ । “अयदेवैन्द्रियग्राह्य स्वलक्षणम् अयच्छब्दम्य गोचर सामान्यलक्षणम् कुत ? शब्दात्प्रत्यनि मित्राक्ष अघोऽपि घटादि, न तु प्रत्यक्षमीक्षते चक्षुष्मानि । एतेव भावयति-अयथा स्पष्टानुभवेन दाहसम्बन्धात् इन्द्रियाद्य योगेन दाह स्वगत दग्धो’भिमन्यत एव पुमात्र जानाति, अयथा स्वम्यप्याननुभवन दाहशब्देन तत्र दाहाद्य सम्प्रतीयते यात्रा ।’-शास्त्रवा० टी० श्लो० ६६६-६७ । (९) स्फटितनेत्र-आ० टि० । (१०) उदृताज्यम्-अयं शब्दस्य-प्रश० श्लो० पृ० ३८४ । ‘वाक्यसं० पृ० ३१ । शास्त्रवा० श्लो० ६६६ । अनेकान्तत्रयं पृ० ४५ । प्रमेयक० पृ० ४४६ । समति० टी० पृ० २६० । धर्मसं० व० पृ० १४९ । स्या० १० पृ० ७१० । (११) व्याख्या-“दाहाद्यर्थं प्रतीयते-यदि शब्देन मयावद्दाहोऽयं प्रत्याय्येन तदा शब्दसंप्रिधापित्तो’मी तामाधिप्रिया वयन्न कुर्वति यत्रचाग्निस्त्वन्धाद्दग्धो दाहमय धानुभवति दाहशब्देन च दाहमयथा’गच्छतीति शब्दात्प्रत्यनि मित्राक्ष इन्द्रियात्स्वत्व समन्वय इति बोद्धव्यम् ।’-वाक्यप० पृ० टी० । उदृताज्यम्-प्रश० श्लो० पृ० ५८४ । ग्यायमं० पृ० ३१ । शास्त्रवा० श्लो० ६६७ । अनेकान्तत्रयं पृ० ४५ । त्ति० पृ० ४४ B । ‘मप्रवायन’-तत्त्वसं०

नैकैकस्य वस्तुनो रूपद्वयमस्ति येन अस्पष्ट वस्तुगतमेव रूप शब्दप्रत्यये प्रतिभासेत्, एकस्य द्वित्वविरोधात् । प्रयोगे—यत्कृते प्रत्यये यत्न प्रतिभासते न तत्तस्य विषय यथा रूपप्रभवप्रत्यये रस, न प्रतिभासते च शब्दप्रत्यये स्वलक्षणमिति । वस्तुविषयत्वे च शब्दानां मतभेदेन अर्थभेदाभिधायित्वात्तुपपत्तिः । उक्तञ्च—

४ "परमार्थैकतानत्वे शब्दानामनिबधना ।

न स्यात् प्रवृत्तिरथेषु समैयातरमदिपु ॥" [ प्रमाणवा० ३।२०६ ] इति ।

तत्र स्वलक्षणरूपभाव शब्दस्य विषयो घटते ।

नापि सामान्यरूप, बौस्तवस्य सामान्यस्यैवाऽसमवायान्, तत्समभन्ध अत्र विषयवदनर्थत्रियाकारित्वात् सुप्रसिद्ध । न खलु नित्यैकस्वभावस्यैव क्रमयौगपद्याभ्या-

प० प्र० २८० । प्रमेयक० पृ० ४४७ । समति० टी० प० १७७, २६० । स्या० १० पृ० ७१० । तुलना— (उष्णान्तिप्रतिपत्तिर्था) नामान्तिध्वनिमाविनी । विस्पष्टा (भासते यथा) तत्समभन्धवद्विषयः ॥ यथा ह्युष्णाद्यविषयविषयवद्वि स्पष्टप्रतिभासा वेद्ये न तथाष्णान्तिगन्धमाविनी । न ह्युष्णपहतनयन रसनघाणान्त्यो मानुलिङ्गान्तिश्रवणात्तद्रूपरसाद्यनुभावितो भवन्ति यथाऽनुपहतनयनात्प इन्द्रियविषयानुभवन्तः ।—तत्त्वस०, प० प० २८० ।

(१) न एकस्य वस्तुनो रूपद्वयमस्ति स्पष्टास्पष्टम् । यथास्पष्ट वस्तुगतमेव रूप शब्दरभिधीयते इति स्यात् एकस्य त्वित्वविरोधात् ।—तत्त्वस० प० प० २८१ । न हि स्पष्टास्पष्टे द्वे रूप परस्परविरुद्धे एकस्य वस्तुन स्त यत् एकेन्द्रियवृद्धौ प्रतिभासत अयत्न विरुद्धे । तथा सति वस्तुन एव भेदप्राप्ते ।—अपोहसि० प० ७ । (२) स्वलक्षण न गन्धप्रत्ययविषय शब्दप्रत्ययप्रतिभासमानत्वात् । न स तस्य च गन्धस्य यत्नोयोगो न तत्कृते । प्रत्यये सति भात्यर्थो रूपबोध यथा रस ॥ प्रयोग—यो हि तत्कृते प्रत्यय न प्रतिभासते न स तस्याथ यथा रूपजनिते प्रत्यय रस, न प्रतिभासते च गन्धे प्रत्यय स्वलक्षणमिति व्यापकानुपपत्तिः ।—तत्त्वस० प० पृ० २८० । (३) याव्या— परमाथ स्वलक्षणम तस्मिन् एकस्थान (एकस्तान) प्रवृत्तिर्येषा तदभावस्तत्त्व तस्मिन् सति शब्दानामनिबधना परमाथनिबधनरहिता प्रवृत्तिरस्यात् दशानान्तरभिनयवर्धेषु सिद्धात्तदभदभिन्नपु ।—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२०९ । परमार्थैकतानत्वे परमार्थैकपरत्वे शब्दानामर्थेषु दशानान्तरभिनयु प्रतिदान भिन्नाभ्युपगमन नित्यत्वानित्यत्वत्रिगुणीमयत्वादिक्लिप्तभेदेपु अनिबधना परमार्थनिबधनरहिता प्रवृत्तिर स्यात् । न हि परस्परविरुद्धा बहवो धर्मा एकत्र सन्ति ।—प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२०६ ।

(४) दशान्तरभिनयु—प्रमाणवा० । शास्त्रवा० श्लो० ६४७ । अनेकान्तजय० पृ० ३५ A । प्रवृत्तपाठ—अष्टसह० प० १६८ । सिद्धिसि० टी० पृ० २६८ A । तस्मात्प्रवृत्तिरथेषु समयान्तरभिनयु—स्या० १० पृ० ७१ । (५) अपि प्रवृत्तेषु गुमान् विनायाथक्रियाक्षमात् । तत्साधनायत्यर्थेषु सयो यन्तर्भवायका ॥ तत्रानर्थक्रियायोग्या जाति ।—न खलु लोकोऽन्येतेत्यन् शब्दानप्रयुञ्जानो वा बुद्धिन स्यात् । ध्यसनापन्न अथ किमिति चेत् सब एवाधय आरम्भ फलाय । निष्पन्नारम्भस्य उपशान्तीयत्वात् । तस्य क्वचिच्छब्दं नियुञ्जान किञ्चित्फलमवन्ति युक्त । तच्चेत् सबम् इष्टानिष्टानित्यागलक्षणम् । तेनायमिष्टानिष्टसाधनासाधन कृत्वा तत्र प्रवृत्तिं निवृत्तिं वा कुर्यात् कारय्य वेति नियोग आ यत् गन्धान वा नियुञ्जीत अयत्नोपे रणीयत्वान् । तत्र जातिरन्यक्रियायोग्या । नहि जातिर्वाह्योहादौ क्वचिन्पि प्रत्युपस्थिता । न वा तादृगप्रकरणाभावे लोकव्यवहारेषु गन्धप्रयोग ।—प्रमाणवा० स्ववृ० १।१५ । (६) सामान्यस्य ।

मर्थक्रियाकारित्व समन्तीत्युक्त सामान्यनिषेधावसरे<sup>१</sup> । तन्नार्थगोचरा शब्दा किन्तु अन्यापोहगोचरा ।

स चार्धपञ्चमाकार , तथाहि—न जातिव्यक्तयोस्तैद्रोचरत्त्र पूर्वोक्तदोषात् । नापि ज्ञानतन्त्राकारयो , तयोरपि स्वेन रूपेण स्वलक्षणत्वात् , तस्यै च सङ्केताविषयतया शब्दगोचरतानुपपत्ते , किन्तु स एव ज्ञानाकारो दृश्यविकल्पात्रेकीकृत्य बहीरूपतया- 6  
ऽध्यस्तोऽर्धपञ्चमाकार अन्यापोह । बाह्यत्र हि तस्य अर्धाकार ।

अपोहश्च निषेध । स च द्विविध —पर्युदास , प्रसज्यश्च । पर्युदासोऽपि द्विविध - बुद्ध्यात्मा, अर्थात्मा च । तत्र बुद्ध्यात्मा, बुद्धिप्रतिभासोऽनुगतैकरूपत्वेन अर्थेष्वध्य-  
वमित । अर्थात्मा अर्थस्वभावो विजातीयव्यावृत्तमर्थस्वलक्षणम् । तत्र बुद्ध्यात्मनो

(१) पृ० २८५ । (२) जातिव्यक्तिज्ञानतन्त्राकार एते सत्या , अघपञ्चमाकार अधत्व तु दृश्यस्य सत्यत्वात् विकल्पस्यासत्यत्वात्—आ० टि० । (३) शब्दविषयत्वम् । (४) ज्ञानरूपेण । (५) ज्ञानस्वलक्षणस्य । (६) “व्याख्यातार एव विवेचयन्ति न हि व्यवहर्तार । ते तु स्वात्मन्मनमेव अधश्चि यायोग्य मयमाना दृश्यविकल्पार्थावकीकृत्य प्रवतन्त । ते हि यथावस्थित वस्तु व्यवस्थापयन्त एव विवेचयन्ति । अथो विकल्पबुद्धिप्रतिभास अयत्स्वलक्षणमिति, न व्यवहर्तार एव विवेचयन्ति । त तु व्यवहर्तार स्वात्मन्मनमवति विलम्पप्रतिभासमवाधक्रियायोग्य बाह्यस्वलक्षणरूप मयमाना । एतदेव स्पष्टमिति—दृश्योऽथ स्वलक्षणम् विकल्प्याथ सामान्यप्रतिभास तावकीकृत्य स्वलक्षणमवद विकल्पबु द्ध्या विषयीणियत शब्देन बोधत इत्येवमधिभुक्त्यायक्रियाकारिण्यर्थे प्रवतन्त, तदभिप्रायवशाद् व्यवहर्तृ-  
णामभिप्रायवशादादवमुच्यते विवक्षिपु भावपु विकल्पबुद्धिभवतीति । दृश्यविकल्प्यावकीकृत्य प्रवृत्तरिति वदन्तान् स्वाकारे बाह्यारोप इत्युक्तं भवति अथवा स्वाकार एव प्रवृत्तिप्रसगात् मराचिकाया जलारो पादिव । नापि बाह्ये स्वाकारारोप , आरोप्यमाणपलायित्वनव प्रवृत्तिप्रसगात् जलाधिनि इव जल-  
भ्रान्तौ । अर्थानुभवे सति तत्तत्स्कारप्रबोधेन तदाकार उत्पद्यमानो विकल्प स्वाकार बाह्याभिन्नम ध्यवस्मति न त्वभिन्न करोति । तेन विकल्पविषयस्य दृश्यात्मनाध्यवसायाद् दृश्यावकल्पयारोकीक रणमुच्यते ।’—प्रमाणवा० स्व०, टी० १७२ । (७) ‘तथाहि द्विविधोऽपोह पर्युदासनिषेधत । द्विविध पर्युदासोऽपि बुद्ध्यात्मा—अर्थमभेदत ॥ तत्र बुद्ध्यात्मा बुद्धिप्रतिभास , अर्थेष्वनुगतैकरूपत्वेना ध्यवमिन । अर्थात्मा लयस्वभाव विजातीयव्यावृत्तमर्थस्वलक्षणमित्यथ ।’—तत्त्वस०, प० पृ० ३१६ । तुलना—“त्रिविधो हि वापोह—एकस्तावद् व्यावृत्त स्वलक्षणमेव अयोपोह्यतऽस्मिन्निति कृत्वा, यदधि-  
कृत्याह—स्वभावपरभावाम्ना मस्माद् व्यावृत्तिभागिन इति व्यञ्छदमात्र द्वितीय अयापोहनम-  
मापोह इति कृत्वा, विकल्पबुद्धिप्रतिभासस्तु तृतीय अपोहानुत्पन्नेति कृत्वा, अयञ्च शब्दस्य निवृत्त प नतयाऽम्पुपगम्यते ।’—अनेकालजप० प० ३७A । (८) “तत्र बुद्ध्यात्मन स्वरूप दशम ताह—एव-  
त्यानि । एकप्रत्ययमास्य य उक्ता हेतव पुरा । अभयादिसमा अर्था प्रकृत्यैवायभेदिन ॥ तानुपा धित्य यजाने भात्ययप्रतिविम्बकम् । क-पकेऽर्था मनाऽभावप्यर्थ इत्येव निदिचतम् ॥ यथा हरीत कयादयो बहुवोऽन्तरणापि सामान्यमेव ज्वरादिमनलक्षण काय कुवन्ति तथा गावलेयाऽयाऽयर्थो सत्यपि भेद प्रकृत्या एकाकारप्रत्ययमास्य हतवो भविष्यन्तीत्यन्तरणापि वस्तुभूत सामान्यमिति । अभयान्तिस्मा इति—हरीतकयादिनुल्या एकायकारितया साम्यम् । तानुपाधित्य इति—नान्नभयादिम मानर्थानाधित्य हेतुकृत्य तदनुभववलेन यदुत्पन्नं विकल्पक पान तत्र यदर्थवारतयाऽयप्रतिविम्बकमर्था

विशेषलक्षणम्—स्वभावत परस्परविलक्षणानर्थानेकार्यकारितया समानहेतुत्वेनाश्रित्य यदेकप्रत्यवमर्शरूपमर्थप्रतिनिम्नस्वभावात् ज्ञानमुत्पन्नं तस्य 'अपोह' इति सज्ञा । वस्तु-  
भागच्छायो विकल्पेनोल्लिख्यमानो बाह्यत्वेनाऽभिमतमानो निरुत्पाकार स्वानार-  
विपरीतानारोमूलकोऽपोह 'अपोहते अनेन' इति, विकल्पान्तरवर्त्यानाराद् भेदेन स्वय  
5 प्रतिभासमानत्वात् । 'अपोहते अन्यस्मात्' इत्ययापोह, अयं हि मुरयतयैव अन्योपोह-  
शब्दाभिधाय । त्रिभिस्तु कारणे औपचारिक—कारणे कार्यधर्मादीपात्, कार्ये कारण  
धर्मोपचाराद्वा, विजातीयव्यावृत्तस्वरूपेण सहकत्वात् अयसायाद्वा ? कार्यं हि ययो-  
क्तान्यापोहस्य अयव्यावृत्तवस्तुप्राप्ति, अतस्तत्कारणनया कार्यधर्मोऽयव्यावृत्ति तत्रो  
ध्यायोग्यते । कार्य कारणधर्मो वा, कारणं हि एकप्रत्यवमर्शात्मनोऽयापोहस्य अयास-  
10 सुष्ट स्वलक्षणं तदनुभवेन तस्यै जनितात्वात्, अस्ति च कारणभूते स्वलक्षणे अन्यव्या-  
वृत्ति अतस्तस्या कार्यभूते प्रत्यवमर्शे उपचार । विजातीयव्यावृत्त यस्वरूपेण तेन  
सह प्रत्यवमर्शप्रतिभासिनो रूपस्य एकत्वेनाध्यवसितत्वाद्वा अन्यापोहतेति प्ररूपित  
पर्युदासरूपोऽपोह ।

प्रसज्यरूपस्तु 'गोरयम् अगौर्न भवति' इति व्यवच्छेदमात्रपर्यवसित इति ।

15 प्ररूपितप्रकारस्य अयापोहस्यैव वाचक शब्दोऽभ्युपगतव्य । वाच्यवाचकभावश्च  
भासा भवति तात्पर्यतत्रायापोह इत्येवा सज्ञा उक्तेति सम्बन्ध । कल्प इति—विकल्पने सविकल्प  
इति यावत् । एतच्च पान पत्यनन समानाधिकरणम् । अर्थात्मताभावप्रति इति । बाह्यार्थात्मताया  
अभावेऽपि । निश्चितमिति अध्यवसितम् । —तत्त्वसं० प० पृ० ३१७ ।

(१) अर्थात्मविकल्पान्यो गवादिविकल्प—आ० टि । (२) 'अयं कथं तस्यापोह इत्येव  
व्यपन्न इत्याह—प्रतिभासान्तराश्रित्यात् । प्रतिभासान्तरात् भेदादन्यव्यावृत्तवस्तुन । प्राप्तिहेतुतयाऽ-  
श्रितवस्तुद्वारा गतेरपि ॥ विजातीयपरावत् तत्पत्र यत्स्वरूपेण । तस्मिन् अध्यवसायाद्वा तादात्म्य  
मास्य विप्लव । तत्रायापोह इत्येवा सज्ञोक्ता सनिबधना । चतुर्भिनिमित्तरपोह इति तस्याख्या ।  
विकल्पान्तरारोपितप्रतिभासान्तरात् भवेन स्वयं प्रतिभासनान् मून्यत् अपोह्यत इत्यपोह, अयस्माद्  
पोहोऽयापोह इति व्युत्पत्त । उपचारात् त्रिभिः । १—कारण कार्यधर्मोदीपाद्वा यदाह अयव्यावृत्त  
वस्तुन प्राप्तिहेतुतयति । २—कार्ये वा कारणधर्मोपचारात् तद्दशयति—अश्रितवस्तुद्वारा गतेरपि ।  
अश्रितवस्तु अन्यासम्बन्धेन अयनो व्यावृत्तमिति यावत् तदव वस्तु द्वारमुपाय, तदनुभववर्त्तन तथावि  
धविकल्पोत्पत्ते । ३—विजातीयपोहप्राप्तयेन सहकयन भास्यं प्रापितुमिरध्यवसितत्वाच्चेति चतुर्थ  
कारणम् । तद्दशयति—विजातीयत्वान्ति । अस्वति । विकल्पवृद्ध्याऽऽद्यस्य अथप्रतिबिम्बस्य सनिबधनति ।  
सह निरूपयेन प्रतिभासान्तरात् भन्तिनोक्तेन चतुर्विधेन वनत इति सनिबधना । —तत्त्वसं० प०  
पृ० ३१७ । (३) अयापोह कारणम् अयव्यावृत्तवस्तुप्राप्ति कायम्—आ० टि० । (४) अपोहे  
कारणे—आ० टि० । (५) एतत्कारणम् । (६) एतत्कारणम्—आ० टि० । (७) अयापोहस्य—आ०  
टि० । (८) अयापोहस्वरूप—आ० टि० । (९) प्रसज्यप्रतिपक्षश्च गोरपीन भवत्ययम् । अनि  
विस्त्य एवायमयापोहोऽवगम्यते ॥ —तत्त्वसं० पृ० ३१८ । (१०) तत्त्वे त्रिविधमपोह प्रतिपाद्य  
प्रकृत गच्छात्स्व वाच्यग्राह—तत्रायमिति । तत्राय प्रथम गच्छात्स्वोह प्रतिपद्यते । बाह्यार्थाध्यवसा  
यिया बुद्ध शब्दात्म्यमुद्भवत्वात् ॥ प्रथम इति यथोक्ताथप्रतिबिम्बात्मा । तत्र कारणमाह—बाह्यार्थाध्य

कार्यकारणभाजान्त्व, बुद्धिमन्त्रिधिनो हि प्रतिबिम्बस्य शब्दजन्यत्वात् तद्वाच्यत्व  
तज्जनकत्वाच्च शब्दस्य वाचकत्वमिति ॥ छ ॥

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘अपोह शब्दलिङ्गाभ्याम्’ इत्यादि, तन्ममी-

अपह्वादनिरूप्य  
पुरम्मा शब्दस्य  
परमाणुसत्त्वान्त्व  
विशेषमन्त्रावाच-  
कत्वसमर्थनम्-

चीनम्, यत् प्रमाणत कुतश्चित्प्रतिबिम्बौ तस्य तद्विषयत्व युक्तम्,  
न चासौ कुतश्चित् प्रमाणात्प्रसिद्ध, तथाहि—अपोहं प्रत्यक्षत सिद्धयेत्,  
अनुमानाद्वा ? न तान्त्वत्यन्त, स्वलक्षणविषयत्वात्तस्य । नाप्यनु-  
मानत, तन्निनाभावलिङ्गाभावात् । नहि अमन्निवृत्त्या अगोनि-  
वृत्त्या चाविनाभूत् किञ्चिल्लिङ्गमस्ति । तान्त्वत्यतदुत्पत्तिप्रतिबन्ध-

वसायिष्या इत्यादि । यदव हि गान् ज्ञाने प्रतिभासते स एव शब्दार्थो युक्त । न चात्र प्रसज्यप्रतिषे-  
धाध्यवसायोऽस्ति, न चापीन्द्रियानवन् स्वलक्षणप्रतिभास । किं तर्हि ? बाह्यार्थाध्यवसायिणी केवल  
गान्ो बुद्धिरुपजायत । तेन तन्वाच्यप्रतिबिम्बक गान्ो नाने साभ्यतदात्मतया प्रतिभासनाच्छब्दार्थो  
युक्तो नाय इति भाव । एव तावत्प्रतिबिम्बलक्षणोपोह साक्षाच्छब्दरूपजयमानत्वा मुष्य शब्दाथ  
इति दर्शितम् । शेषयोरप्यपोहयो गौण शब्दाथत्वमुपबन्धमानतविरुद्धमेवति दग्यद्राह—साभासाकार  
एतस्मिन्नेवञ्च प्रतिपादिते । प्रसज्यप्रतिषेधोऽपि सामर्थ्येन प्रतीयते ॥ न नान्त्वा परात्मेनि सम्बन्ध  
सति वस्तुभि ॥ व्यावृत्तवस्त्वधिगमोप्यथदिव भवत्यत ॥ तेनाममपि शब्दस्य स्वार्थे इत्युपच्ययत ।  
न तु साक्षादय शब्दो द्विविधोऽप्योह उच्यते ॥ एवञ्चेति । जयत्वेन । कस्मात्पुन सामर्थ्येन प्रसज्य  
प्रतिषेध प्रतीयत इति दर्शयन्नाह—न तदा मेति । तस्य गवादिप्रतिबिम्बस्यात्मा य परस्य अश्वादि  
प्रतिबिम्बस्यात्मा स्वभावो न भवतीति कृत्वा । एव प्रसज्यलक्षणापोहस्य नान्तरीयकतया प्रतीनेर्गौण  
गान्वायत्व प्रतिपाद्य स्वलक्षणस्यापि प्रतिपादयन्नाह—सम्बन्धे सतीत्यादि । तत्र सम्बन्ध शब्दस्य वस्तुनि  
पारम्पर्येण कायकारणभावलक्षण प्रतिबन्ध । प्रथम यथावस्थितवस्त्वनुभव तदा विवक्षा तत तात्वा  
न्पिरिस्पर्श तन गब्द इत्येव परम्परया शब्दस्य वस्तुभि बाह्यरूप्यान्नि सम्बन्ध स्यात्तदा तस्मिन्  
सम्बन्धे सति विजातीयव्यावृत्तस्यापि वस्तुनोऽप्यापत्तितार्थधिगमो भवति । अतो द्विविधोऽपि प्रसज्य  
प्रतिषेध अयव्यावृत्तवस्त्वात्मा चापोह गान्वाय इत्युपचयत । अयमिति स्वलक्षणात्मा अपिगान्वात  
प्रसज्यात्मा च ।—तत्त्वस०, प० पृ० ३१८-१९ ।

(१) ननु सौगतस्नातम्पतदुत्पत्तिरूप एव सम्बन्ध इत्यने तत्किमत्र वाच्यवाचकभावोपो  
प्यने इत्याह—आ० टि० । ‘यद्वापि शब्दस्यार्थेन स वाच्यवाचकभावलक्षण सम्बन्ध प्रसिद्ध नासौ  
कायकारणभावाद योऽवनिष्ठत, अपि तु कार्यकारणभावाभव एवेति दशयति—तद्रूपप्रतिबिम्बस्यत्यादि ।  
तद्रूपप्रतिबिम्बस्य धिय शब्दाच्च जमनि । वाच्यवाचकभावोऽप्य जातो हतुफलतमक ॥ गब्द प्रतिबि-  
म्बस्य जनकत्वाद्वाचक उच्यते, तच्च प्रतिबिम्ब गद्देन जयमानत्वाद्वाच्यम् ।—तत्त्वस० प० पृ० ३१८-  
१९ । (२) तेन शब्देन तत्प्रतिबिम्बस्य वाच्यत्वम्—आ० टि० । (३) पृ० ५५१ प० ९ । (४) अपोह  
स्य । (५) शब्दलिङ्गावाचरत्वम् । (६) तुलना— ‘इन्द्रियार्थाप्यपोह प्रथम व्यवसीयत । नायत्र  
गब्दवृत्तिश्च किं दृष्टत्वा स प्रयुज्यताम् ॥७८॥ पूर्वोक्तेन प्रबन्धन नानुभाष्यत्र विरक्त । सम्बन्धानुभवोऽ-  
प्यस्य तन नवोपपद्यते ॥७९॥ नागहीनश्च गमक गान्वापोह कथञ्चन । प्रत्यय न च तच्छब्दत न च स्तो  
लिङ्गवाचको ॥१०६॥ यत् स्याद् ग्रहण तस्य, लिङ्गातीनाञ्च यपने । न व्यवस्थति वाच्यव विना  
प्रत्यक्षमूलत ॥१०७॥—मी० इलो० अपोहो ७८-७९, १०६ ७ । प्रमेयक० पृ० ४३५ । प्रमेयर०  
३।१०१ । (७) अपोहविनाभावः ।



प्रकारेण हि भ्रममते अत्रिनाभावो व्यवस्थित । नचान्यव्यावृत्ते केनचित्सह तादात्म्य-  
तदुत्पत्ती घटेने । तथाहि—अकृतकत्वव्यावृत्ति कृतकत्वम्, तत् स्वलक्षणात्मकम्, नित्य-  
व्यावृत्तिरूपाऽनित्यत्वात्मक वा स्यात् ? न तावत्स्वलक्षणात्मकम्, अवस्तरूपत्वात्, यद्-  
वस्तरूप न तत् स्वलक्षणात्मक यथा ररविपाणम्, अवस्तरूपश्च अकृतकत्वव्यावृत्ति-  
रूपतया कृतकत्वमिति । नापि नित्यव्यावृत्तिरूपाऽनित्यत्वात्मकम्, उभयो नीरूपतया  
तादात्म्यसम्प्रधामावात् । यैयो नीरूपत्व न तयोस्तादात्म्यसम्बन्ध यथा स्वपुष्पव्या-  
मुनयो, नीरूपत्वश्च अययानृत्तिरभावयो कृतकत्वानित्यत्वयोरिति । तन्नानयोस्ता-  
दात्म्य घटते । नापि तदुत्पत्ति, नीरूपत्वादेव । तथाहि—यनीरूप तत्र कस्यचिज्जन्य  
जनक वा यथा ररविपाणम्, नीरूपश्च साध्यसाधनत्वेनाऽभिप्रेत प्रकृतैर्मन्यापोहद्वयमिति ।

नैनु चार्थाभावेऽपि अर्थान्तर यत् प्रतिबिम्बमुत्पन्न तदेवान्यापोह, स च स्वसवे-  
दनप्रत्यक्षत एव सिद्धवति, इत्यनर्थक तजानुमानम्, इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, ज्ञानेऽ-  
र्थान्तरधारित्वस्य तन्निराकारत्वसिद्धौ<sup>६</sup> प्रतिषिद्धत्वात् ।

अस्तु वा तत्, तथापि—अत्र कस्य प्रतिबिम्बनम्—स्वलक्षणस्य, सामान्यस्य वा ?  
न तावत्स्वलक्षणस्य, तस्य व्यावृत्ताकारत्वात् । अनुगतैरूपश्च प्रतिबिम्बम् अन्यापो  
होऽभिप्रेत, अत स्वलक्षणेनापि तद्व्यावृत्तेनैव भवितव्यम् । तथाहि—यस्यै हि यदाकार  
प्रतिबिम्ब तत् स्वयमपि तदाकारमेव यथा मुग्धवद्वादि, अनुगतैरान्तरश्च स्वलक्षणस्य  
ज्ञाने प्रतिबिम्बमिति । अथ सामान्यस्य ज्ञाने प्रतिबिम्बनमिष्यते, तत्प्यसत्, तस्या-  
ऽसत् प्रतिबिम्बनानुपपत्ते । यद्दसन्न तत् कश्चित् प्रतिबिम्बवति यथा स्वपुष्पम्, अमञ्च  
भ्रममते सामान्यमिति । तत्रै तर्पतिबिम्बाभ्युपगमे वा प्रतिबिम्बोदयात्प्राग्योन्यवि-  
विक्तद्रूपद्वयोपलम्भप्रसङ्ग । यैन्न यत् प्रतिबिम्बवति तद्द्वय प्रतिबिम्बोदयात्प्राग्योन्यवि-  
विक्तमुपलभ्यते यथा सुखादर्शादि, प्रतिबिम्बवति च ज्ञाने सामान्याकार इति ।

अथ चाहदोहाद्येनार्थत्रियाकारितया स्वलक्षणमेवानुवृत्ताकार मत् सामान्यम्,  
अतो नोक्तदोषापाकश, तदयुक्तम्, एवार्थत्रियामनुवृत्तस्तत्कारित्वाभावात् प्रतिबिम्बो-

(१) सोपनिषदान्त । (२) अकृतकत्वव्यावृत्तिरूप कृतकत्व न स्वलक्षणात्मकम् अवस्तरूप  
त्वात् । (३) अकृतकत्वव्यावृत्तिरूपकृतकत्व नित्यत्वव्यावृत्तिरूपाऽनित्यत्वयोरेव । (४) अयव्यावृत्ति  
रूपयो कृतकत्वानित्यत्वयो तादात्म्य न भवति नीरूपत्वात् । (५) कृतकत्वमनित्यत्वश्च—आ० टि० ।  
(६) सू० १६७ । (७) प्रतिबिम्बम् । (८) अनुगतकरूपेण । (९) स्वलक्षणमनुगतकारकारम् अनुग  
तकारकारण्येण प्रतिबिम्बनत्वात् । (१०) सामान्यस्य अयपोहत्तमत्वेन अथत्रियाकारित्वाभावेन  
बामन । (११) न सामान्य ज्ञान प्रतिबिम्बवति असत्त्वात् । (१२) बौद्धमते । (१३) ज्ञाने । (१४)  
सामान्य । (१५) प्रतिबिम्बाधारतस्य ज्ञानस्य प्रतिबिम्बस्य च सामान्यस्य विविक्त स्वरूपद्वयं प्रति  
भेदत इति भाव । (१६) ज्ञान सामान्यश्च विभिन्नतया उपलभ्यताम् तत्र प्रतिबिम्बमानत्वात् ।  
(१७) प्रतिबिम्बाभावलक्षणो दोष । (१८) सामान्यम् ।

१-क तयो थ० । २-ननु चार्थान्तर आ० । ३-इत्यसमी-थ० । ४-तस्य तास्ति आ० । ५-तस्य  
स्य स्य हि आ०, थ० । ६-विविक्तस्तद्वय-थ० । ७-विभक्ते थ० । ८-विभक्ते थ० । ९-विभक्ते थ० ।

दयामावापुण्ड्रात् । अर्थक्रियायाश्च कान्चिन्न्यात् तदुद्योऽपि कान्चिदेव स्यात् ।

निश्च, एकार्यप्रियाकारित्वात् एतन्नणे यत्रैकमभ्युपगम्यते तथा धाव्यावमाभि-  
नयोपलभ्यमानप्रतिभामवगन् तत्रैव प्रतिभास्यमस्तु किं प्रतिभिन्नाग्रहप्रहेण ?

निश्च, यदि स्वप्रतिभिन्नाग्रहमाप्यत्र शान्तविकल्पस्य स्यात् तर्हि अंत  
तुतो बहिरर्थे प्रवृत्तिः स्यात् ? स्वप्रतिभामेऽनर्थे अर्थाध्ययमायाचेत्, ननु कोऽयमर्थाध्य-  
यसायो नाम-वाच्यस्यार्थस्य ग्रहणम्, केरणम्, योननम्, समागोपो वा ? प्रथमप्रहे पर-  
मतसिद्धि, शक्ये शान्तप्रत्ययाना बहिरर्थग्रहणानभ्युपगमान् । द्वितीयपशोप्यनुपपन्न,  
नहि वाच्यार्थकरणे ज्ञानाना सामर्थ्यम्, स्वमामपीनस्तेषामाविर्भागाः, अन्यथा अप्रति-  
हता मयस्य सर्वार्थसिद्धिः स्यात् ।

अथ एकार्का विनन्पो धाहेनार्थन चोचयति, तदन्तु, तथाप्रतीतेरसमधान् । नद्येव  
कस्यचित् प्रतीति 'योऽयमाकारो मदीय म वाच्यार्थविशिष्ट' इति, वाच्यार्थेन महस्वार्थारभ्य  
सम्बन्धमावितो विशेषणविशेषभावानुपपत्ते । न च परस्परया तदुत्पत्तिमन्वन्थोऽ-  
स्यास्तीत्यभिप्रायान्तरम्, व्यावृत्ताकारार्थस्य अनुवृत्ताकारप्रतिभिन्वनेऽनुत्पत्तिप्रतिषेधान् ।

अथ वाच्यमर्थं विकल्प स्यादरे समागोपयति, तत्प्यमास्त्रतम्, समागोपो हि  
उभयग्रहे मति स्यात्, असति वा ? न तावत्सति, उभयग्रहणपुरस्मरत्तात्पर्य । ये  
समागोप स उभयग्रहणपुरस्मर यथा गोर्वाहीने मैमागोप, समागोपश्च विकल्पान्तरे  
वाच्यार्थस्येति । न चेत् निदर्शन माध्यविकल्पम्, येनैव हि गौरनुभूत वादीकश्च, स

(१) 'तयापि विनन्पो धाहेनार्थन चोचयति तदन्तु, तथाप्रतीतेरसमधान् । नद्येव कस्यचित् प्रतीति 'योऽयमाकारो मदीय म वाच्यार्थविशिष्ट' इति, वाच्यार्थेन महस्वार्थारभ्य सम्बन्धमावितो विशेषणविशेषभावानुपपत्ते । न च परस्परया तदुत्पत्तिमन्वन्थोऽस्यास्तीत्यभिप्रायान्तरम्, व्यावृत्ताकारार्थस्य अनुवृत्ताकारप्रतिभिन्वनेऽनुत्पत्तिप्रतिषेधान् । अथ एकार्का विनन्पो धाहेनार्थन चोचयति, तदन्तु, तथाप्रतीतेरसमधान् । नद्येव कस्यचित् प्रतीति 'योऽयमाकारो मदीय म वाच्यार्थविशिष्ट' इति, वाच्यार्थेन महस्वार्थारभ्य सम्बन्धमावितो विशेषणविशेषभावानुपपत्ते । न च परस्परया तदुत्पत्तिमन्वन्थोऽस्यास्तीत्यभिप्रायान्तरम्, व्यावृत्ताकारार्थस्य अनुवृत्ताकारप्रतिभिन्वनेऽनुत्पत्तिप्रतिषेधान् । अथ वाच्यमर्थं विकल्प स्यादरे समागोपयति, तत्प्यमास्त्रतम्, समागोपो हि उभयग्रहे मति स्यात्, असति वा ? न तावत्सति, उभयग्रहणपुरस्मरत्तात्पर्य । ये समागोप स उभयग्रहणपुरस्मर यथा गोर्वाहीने मैमागोप, समागोपश्च विकल्पान्तरे वाच्यार्थस्येति । न चेत् निदर्शन माध्यविकल्पम्, येनैव हि गौरनुभूत वादीकश्च, स

तद्धर्मान् बहुभारोद्धटनादीन् वाहीके निश्चित्य गोत्रमारोपयति 'गौर्वाहीर' इति ।  
अधोभयग्रहणे सति आरोप स्यात्, ननु उभयोर्ग्रहण विकल्पेन, निर्विकल्पेन वा  
स्यात् ? न तावन्निर्विकल्पेन, अस्य स्वरक्षणगोचरतया अयापोहस्वरूपविकल्पाकारे  
प्रवृत्त्यनुपपत्ते । नापि विकल्पेन, अस्य बाह्यार्थपरिमर्शपराद्युत्पत्त्यात्, अतः कथमसौ  
स्वाकारे बाह्य तर्क वा स्वाकारमारोपयेत् ?

अस्तु चाऽऽश्वोभयग्रहणम्, तर्थापि-पूर्व स्वप्रतिभासमनर्थमनुभूय पश्चार्थ-  
मारोपयति, युगपदेव वा स्वप्रतिभासश्चानुभवति अर्थश्च समारोपयति, किं वा  
यावदयोक्त भवति-स्वाकारमनुभवतीति तावदोक्त भवति अर्थमध्यवस्यतीति ? न  
तावत्स्वरूपानुभव पूर्वं पश्चादर्थसमारोप, अणद्वयावस्थानविनलत्वाज्ज्ञानानाम्,  
अन्यथा श्वणभैरवभङ्गप्रसङ्ग । अथ युगपदेव स्वप्रतिभासमनुभवति अर्थश्च समारो-  
पयति, तर्हि ब्राह्मणप्राद्वारात्मके विकल्पस्वरूपे सवेद्यमाने स्वानुभवममानकाल  
एवार्थ समारोप्यमाणो विकल्पस्वरूपाद् बहिरेवाऽऽतिष्ठते तत्कथमात्मनमनर्थम् अर्थ-  
मारोपयेदसौ ? अथ स्वाकारानुभव एव अर्थसमारोप, तदप्यसुन्दरम्, अनुभवितव्य-  
विकल्पयितव्ययोर्भेदात् । शब्दसमृष्ट हि स्वरूप विकल्पयितव्यम्, अशब्दसमृष्ट तु  
स्वमनन्दनेनानुभवितव्यम्, तत्कथमनयोरेकत्वम् ?

एतेन 'दृश्यनिर्गल्यानेऽऽनृत्य वहीरूपतयाऽध्यस्त' इत्यादि प्रत्युक्तम्, तद्वी-

(१) जिका नाम वाहीवास्तेषां क्त मुनिन्तितम् । -महाभार० कण्व ७० २०० ।  
जात् इति भाषायाम् । यथा गोगात्रस्य जाड्याङ्गिगुणनिमित्तोऽर्थो वाहीक । -महाभा० प्र० १।१।  
१५ । (२) तुलना- क सलु विकल्पमव दृश्यमित्यध्यवस्यति । विकल्प एवनि चेत् न तत्र सामा-  
यावभागात् अथवा विकल्पत्वायोगात् । अन्य इति चेत् न आत्मवाङ्मते तत्तथाध्यवसायनिमित्ता  
भावाच्च । -अनेकात्रय० प० ३५ B । न च बाध्यवसायोऽपि दृश्य सृजति जातुचित । विकल्प  
स्यायथा निद्वयत्वं दृश्यस्याविवक्षसा । -तत्त्वावच्छेद० प० १०९ । तत्रैव हि दृश्यमध्यवस्यति  
तन्मूर्त्तौ व्यवसायां गतान्तरं वा । -प्रमाणप० प० ५३ । प्रमेयक० प० ३१ । सप्तमि० टी० प०  
५०० । स्वा० १० प० ८२ । (३) निर्विकल्पस्य । (४) अवस्तविषयत्वात्-आ० टि० । (५) विकल्प ।  
(६) बाह्यार्थे । (७) तुलना- न च स्वाकारमनर्थमर्थ आरोपयति ; न तावत्प्रहीत स्वाकार  
पञ्च आरोपयितमिति तदग्रहमपिनियमः । तर्हि गहीत्वा आरोपयति, अथ यदव गह्णाति तदवारो  
पयति । न तावत्पञ्च न हि विकल्पान् शक्ति क्रमवत्तौ ग्रहणसमारोपो क्तुमर्हति । उत्तरस्मिस्तु  
पञ्च विकल्पविकल्पप्रत्ययाविकल्पाकारात् ह्यङ्कारास्पाद् अनहङ्कारास्त समारोप्यमाणो विकल्पो  
मास्वगोचरो न गत्वोर्भिन प्रतिपत्तुम् । नापि बाह्यस्वरूपवत्त्वेन गत्व प्रतिपत्तु विकल्पानान  
स्वरूपस्य बाह्यस्याप्रतिभासनात् । -न्यायपा० ता० पृ ४८५ । (८) स्वाकारानुभवमेव अर्थाध्य-  
वसाय इति भावः । (९) यत् यदव विकल्पाकार स्वप्रतिभासमनर्थमनुभवति तत्तार्थे समारोपयति,  
तत्र विकल्पस्य स्वानुभवव्यापुनन्वार्थोऽवकाशमनमान तत्स्वरूपाद् बहिरेवास्ते विकल्प न सन्नमति,  
तत्रैवमात्मनि अनधमूने अथ विकल्पाकार आरोपयतीति तावदयम् । -आ० टि० । (१०) आत्मनि  
अनर्थे त्वर्थे । (११) पृ० ५५० प० ५ ।

१-परामगप्राद्वारात् अ० । २ पूर्व प्रतिभासमानार्थमनु-प्र० । ३-भास वानुभ-व० ।

४-भंगभंगान्तरसंग व० ।

कणश्च किं तेनैव ज्ञानेन, ज्ञाना तरेण वा ? न तावत्तेनैव स्वाद्या...  
पद्यैस्य प्रतीयते, तथा प्रतीयमानात्, क्षणिकत्वाच्च । नापि ज्ञानान्तेन,  
अनेक वा ? यद्यनेकम्, त्वमैक्य प्रतिपद्येत ? स्वसक्तेनेन किं ज्ञानम्वक्तव्यं  
तु इत्ययम् । एक तु यदि द्वय प्रत्येति, कथमैक्यम् ? अयं न्य प्रत्येति, क्व द्वय विना ?

विञ्च, अयमपोहो भावे भावस्य प्रतीयते, केनलो वा ? प्रत्येति न्य  
प्रतीति किं शब्दादेव, प्रमाणान्तराद्वा ? न तावत् शब्दादेव, अन्य शब्दात्  
प्रवृत्त्यनभ्युपगमात् । अभ्युपगमे वा किं भावो प्रतीत्य अतोऽपी  
प्रतीय भावाविति ? तत्राद्यविकल्पे नान्यापोह शब्दार्थ, मुख्यतो भावयोग्य  
प्रतीत्युत्तरकाल सामर्थ्यादेव वा अन्यव्यावृत्ते प्रतीते । नीलश्च प्रतीत्य  
प्रतीत्यभ्युपगमे स्मरन्ती तैप्रतीति स्यात् । अतो नीलस्य अनाद्यवृत्त्यादेव  
प्रत्यक्षादिव शब्दात्प्रतीतिरभ्युपगन्तव्या । द्वितीयविकल्पे तु प्रतीतिविगत  
लोऽपोह प्रथम शब्दात् प्रतीयते पश्चाद् भावाविति कस्यचिन्मन्त्रेण प्रतीतिरिति ।  
एतेन प्रमाणांतरादपि तैप्रतीति प्रत्याख्याता, ततोऽपि भावयो प्रतीत्यो  
निशेषात् । अस्तु वा कुतश्चिदर्थे प्रतीति, तथापि-भावाभ्या मिश्रम्यात्तद  
कथमर्थे भावसम्बन्धिता स्यात्, भावाभाजयोस्तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणमन्त्र

'केनलोऽपोह प्रतीयते' इत्ययमपि पक्षोऽनेनैव प्रतीयते, यदि च  
शब्दाल्लिङ्गाद्वा प्रतीयेत, तर्हि सर्वशब्दाना पर्यायता स्याद् अपोह  
शेषशब्दै प्रतिपादनात् । अत्र निशेषैविशेष्यभेद अतीनात्

(१) तुलना- 'नत' दुःखविकल्पार्थकीकरणन भवन । एवप्रमाणान्तरात्  
द्वि १'-शास्त्रया० १११० । अतीत तात्मवचनया अभावसमारोपानात्  
३२० । (२) तुलना-'यश्चायमन्यापोह अगोन भवतीति गात्रव्याय क्व  
इति ?'-न्यायवा० पृ० ३२९ । इति प्रसज्य-आ० टि० । (३) प्रत्येति न्य  
प्रवृत्तौ । (४) शब्दायत्वात्-आ० टि० । (५) भावस्य प्रतिनियतमगम  
त्मक भवत्येव । (६) सापेक्षत्वात्-आ० टि० । (७) जनीत्यावृत्त्या  
पुरुषस्य । (८) भावया प्रतीति । (९) अपोऽस्य । (११) अनाद्य  
सामायवचना विशेषवचनादच य । सर्वे भवेयु पयाया यत्परोहस्य  
इलो० ४२ । यामम० प० ३०४ । 'अपि च ये विभिन्नसामायशा शब्दा  
दयस्ते भवन्मिप्रायण पर्याया प्राणुवन्ति अयभदाभावात् वृणपान्ति  
प्रमेयर० ३१०१ । (१३) तुलना-'अपोहमात्रवाच्यत्व यदि चाभ्युपगम  
धाभिधावपि ॥ विशेषणविगप्यत्वसामानाधिकरण्यया । न सिद्धि  
-मी० लो० अपोह० इलो० ११५-१६ । प्रमेयक० प० ४३६ । (१५) प्र  
न वाऽरोहस्य विद्यते । व्यक्तेरव्यपदेश्यत्वात्तद्द्वारेणापि नास्त्यपी

१ प्रमित्यभा-अ० । २ 'क्षणिकत्वाच्च' नास्ति अ० । ३ प्रमेयक० प० ४३६ ।  
-आ० । ४ प्रतीतिरिति अ०, प्रतीतिरस्ति अ० । ५-ति किं शब्दात् १६ अन्वयात्  
४ एवं विने-अ०, अ० ।

लिङ्गभेद एतद्विनहुवचनादिभेदश्च दुर्लभ । लिङ्गलिङ्गिभेदश्च दूरोत्सारित एव स्यात्,  
यदेव हि लिङ्गशब्दाच्यमपोहमात्र तदेव लिङ्गिशब्दापि ।

अथापोहस्य भेदाभ्युपगमान्नाय दोष, तदयुक्तम्, तस्यै भेदाऽसिद्धे । तस्य हि  
भेद अपोहभेदाद्, वासनाभेदात्, विभिन्नसामग्रीप्रभवत्वात्, विभिन्नकार्यकारित्वात्,  
आश्रयभेदात्, स्वरूपभेदाद्वा स्यात् ? न तत्राप्यपोहभेदात्, सर्व प्रमेयादिशब्दानाम  
पोहभेदाभावात् पर्यायताप्रसङ्गात् । न हि अस्य सर्वराशेर्यतिरिक्तम्, अप्रमेय घा  
न्निश्चिदस्ति यदपोहेन सर्वादिषु सिद्धेत । कथं वा सत्त्वं कृतकत्वादिहेतो सिद्धि ?  
न हि अमदकृतक वा जगति निश्चिदस्ति यदपोहेन सत्त्वाविसाधन सिद्धेत । अपो-  
हभेदादपोहभेदे चा योन्यात्स्यै - सिद्धे ह्यपोहभेदे अपोहभेदसिद्धि, तत्सिद्धौ चापोहभेद-  
सिद्धिरिति । तत्राप्यपोहभेदात्पोहस्य भेद । नापि वासनाभेदात्, तद्वेदर्याप्यनुपपत्ते ।  
अनुभवभेदनिश्चयनो हि वासनाभेद, अपोहस्य चैव रूपत्वे अनुभवभेदो दुर्घट । नापि  
विभिन्नसामग्रीप्रभवत्वात्पोहभेद, अस्य कल्पितरूपतया सामग्रीविशेषत प्रादुर्भावस्यै-  
वाऽनुपपत्ते । यत् कल्पितरूप तत्र कुतश्चित्प्रादुर्भवति यथा तुरङ्गमोत्तमाङ्गे शृङ्गम्,  
कल्पितरूपश्च भवन्मते अपोह इति । तैस्तदुत्पत्ते वा कल्पितरूपत्वव्याघात । यत्  
कुतश्चिदुत्पत्ते तत्र कल्पितरूप यथा म्यलक्षणम्, उत्पद्यते च सामग्रीविशेषतोऽपोह इति ।

(१) तुलना- ननु भेदादपोहाना प्रमदोऽप्य न युज्यते । सामान्यापोहत्वात्प्या वेदस्तुमात्रं सर्वं  
तव ॥ भिद्यन्ते मम वस्तुत्वात्मानान्यानि परस्परम् । असङ्कीर्णस्वभावानि न चकत्व विनवते ।  
समुद्रवत्त्वाना चवित्तरहितान्त्वनाम । अवस्तुत्वात्पोहाना तव स्यात् भिन्नता कथम् ॥ -मी० श्लो०  
अपोह० श्लो० ४३-४५ । (२) अपोहस्य । (३) तुलना- 'अथापोहस्य गन्दाद्य इत्ययुक्तम्,  
अव्यापकत्वात् । यत्र द्वारायं भवति तत्रतरप्रतिषेधान्तर प्रतीयते यथा गोरिति पत् गौ प्रतीयमान  
अगौ प्रतिषिध्यमान । न पुन सवपत् एतस्ति न ह्यसव नाम विश्वस्तित यत्सवपत्नेन निवर्त्येन ।  
-न्यायवा० प० ३२९ । ननु चापोहभेदेन भेदोऽपोहस्य सत्स्यति । न विशय स्वतन्त्रस्य परतरयो  
पचारित ॥ ४७ ॥ प्रमेयवत्पत्तेरपोहं कुत एव तु । -मी० श्लो० अपोह० श्लो० ४७ १४४ ।  
प्रमेयक० प० ४३४ । प्रमेयर० ३।१०१ । (४) तुलना- 'यद्यप्येयं दाल्पेयु वस्तुन स्यात्पाह्यता ।  
माल्पस्य स्वभावाव्यापाराशाय भिन्नमिष्यते ॥' -मी० श्लो० अपोह० श्लो० ९८ । (५) तुलना-  
अपोहभेदवत्त्वत्वात् न भावाऽभेदो भवेत् । तद्भेदोपोहभेदाच्चेत् प्राप्तामन्यो यस्यवयम् ॥ गोसा  
मायस्य भिन्नत्वात्गोरित्यप भिद्यते । अगोरित्यस्य च भेदेन गोसामान्यं च भिद्यते ॥ -मी० श्लो०  
अपोह० श्लो० ६५-६६ । ग्यायमं० प० ३०४ । (६) तुलना- नचापि वासनाभेदाद् भेद सद्रूप  
तापि वा । अपोहानां प्रकल्प्यत न ह्यवस्तुनि वासना ॥ स्मृति मुक्त्वा नचास्त्यस्या गत्रितयोप  
त्रियान्तरे । तन्मात्राप्यात्ते साऽर्थे करोत्ययादुगी मितिम् ॥ भवन्मि गदभेदोऽपि तत्रिमिती न  
लभ्यते । -मी० श्लो० अपोह० श्लो० १००-२ । प्रमेयक० पृ० ४३९ । (७) वासनाभेदस्य ।  
(८) अभावरूपतया तुल्यत्वमावये । (९) अपोहस्य । (१०) अपोहो न कुतश्चित्प्रादुर्भवति  
कल्पितरूपत्वात् । (११) गौणतमे । (१२) कारणगामधीत अपोहोत्पत्तौ । (१३) अपोहो न  
कल्पित कारणानुपपत्तमात्रत्वात् ।

१ विभिन्नसामग्रीप्रभवत्वात् नास्ति श्र० । २-भेदे वायो-व० श्र० । ३ तदभेदव्याप्यनुभव  
-श्र० । ४-न्यायपोहस्य कल्पित-व० । ५ प्रादुर्भावानुप-श्र० ।

एतेन विभिन्नकार्यकारित्वार्त्तद्वेद प्रत्याख्यात, अपरमार्थसतो विभिन्नकार्य-  
कारित्वानुपपत्ते रपुष्पवत् । तत्कारित्वे चाऽपरमार्थसत्त्वाऽसमवात् स्वलक्षणवत् ।  
कुतरच कार्यकारणयोर्भेद सिद्धो यत तद्वेदादपोहस्य भेद सिद्धयेत्-अपोहभेदात्,  
स्वरूपतो वा ? अपोहभेदान्नेद, अन्योन्याश्रय-सिद्धे हि कारणभेदे कार्यभेदे च  
तत्रभवतया तत्कारितया च अपोहभेदसिद्धि, तत्सिद्धौ च कार्यकारणयोर्भेदसिद्धि-  
रिति । स्वरूपतस्तद्वेदसिद्धौ च अपोहस्वरूपनाऽनर्थक्यम् ।

अथाश्रयभेदादपोहभेद, तन्न, अवस्तुरूपस्यास्य क्वचिदाश्रितत्वानुपपत्ते ।  
यदवस्तुरूप न तत् क्वचिदाश्रितम् यथा गगननलिनम्, अवस्तुरूपश्चापोह इति ।  
आश्रितत्वे वा किमसौ प्रतिव्यक्ति भिन्न, अभिन्नो वा स्यात् ? यदि भिन्न, तदा  
द्रव्यगुणकर्मणा मध्ये अन्यतरूपतैवार्थस्याभ्युपगता स्यात्, प्रतिव्यक्तयन्यस्य आश्रि-  
तत्वानुपपत्ते । अथाभिन्न, तदा सामान्यरूपतैव नामान्तरेणोक्ता स्यात् इत्युभ-  
यथाप्यन्यापोहरूपतानुपपत्ति ।

अथ स्वरूपभेदादपोहस्य भेद, तन्न, अपरमार्थसत्त्वेऽर्थे स्वरूपभेदानुपपत्त ।  
यदपरमार्थसन्न तस्य स्वरूपभेद यथा रपुष्पत्तरविषाणादे, अपरमार्थसश्चापोह  
इति । स्वरूपभेदे चाऽर्थे स्वलक्षणवत् परमार्थसत्त्वप्रसङ्ग ।

किञ्च, पर्युदासंरूप, प्रसज्यरूपो वाऽपोह स्वरूपतो भिन्न शब्दैरभिधीयेत ?  
यदि पर्युदासरूप, तदास्य भिन्नान्तररूपताभ्युपगन्तव्या । भिन्नान्तरश्च विशेष, सामान्यम्,  
तदुपलक्षितो वा विशेष, तत्समुदायो वा स्यात् इति पक्षचतुष्टयेऽपि विधिरेव शब्दार्थ  
स्यात् नाऽपोह । अथ प्रसज्यरूप, तदा निषेधमात्रमेव शब्दैरभिहितं स्यात्, तच्चायुक्त

(१) अपोहभेद । (२) अथप्रियाकारित्वे । (३) कायभेदात् । (४) भिन्नकारणप्रभवतया ।  
(५) भिन्नकार्यकारितया । (६) कायकारणयो भदसिद्धौ । (७) तुलना- 'तेनवाधारभेदेनाप्यस्य  
भेदे न युज्यते । न हि सम्बाधभेदेन भेदो वस्तुमधीप्यते । किमुतावस्त्वसप्तमयतस्त्वानिर्दिष्टतम ।  
अनवाप्तविशेषात् मत्किमप्यनिरूपितम् ।'-मी० श्लो० अपोह० श्लो० ४८-४९ । (८) अपोहान्न  
क्वचिदाश्रित अवस्तुरूपत्वात् । (९) अपोह । (१०) अपोहरूपस्य सामान्यस्य लाध्यमूलानि  
द्रव्यगुणकर्मण्येव भवितुमर्हन्ति, सामान्यस्य द्रव्यादिद्रव्यवृत्तित्वात् । (११) अपोहस्य । (१२)  
अपोहस्य । (१३) नापोहस्य स्वरूपभेद अपरमार्थसत्त्वात् । (१४) अपोहस्य । तुलना- 'यदा  
भिद्यमानत्वादस्त्वसाधारणाश्रवत् । अवस्तुत्वं त्वनानात्वात् -मी० श्लो० अपोह० श्लो० ४६ ।  
स्याप्यमं पृ० ३०४ । (१५) "किञ्चापोहस्य सामान्य वाच्यत्वनाभिधीयमान पयुदासलक्षणञ्चा  
भिधीयेत प्रसज्यलक्षणं वा ?'-प्रमेयक० पृ० ४३२ । प्रमेयक० ३।१०१ । (१६) यथा घट पटान्  
स्वरूपतो भिन्नं सन् भावान्तर-आ० टि० । तुलना- 'अगोनिवृत्ति सामान्यं वाच्यं य परिवर्तितम् ।  
गोव वस्त्रेव तद्वक्तमगोपोहगिरा स्फुटम् ॥ -मी० श्लो० अपोह० श्लो० १ । प्रमेयक० पृ० ४३२ ।  
(१७) तुलना- 'नन्वयापोहस्यैव युष्मत्पक्षानुवर्णित । निषेधमात्रं नवेद प्रतिभासऽवगम्यत ॥  
किन्तु गोगवयो हन्ती वृक्ष इत्यादिगन्त । विधिस्त्वावसायनं मनि ग्राह्यी प्रवचने ॥ (पूर्वपक्ष)  
-तत्त्वतः० ७।० ११०-११ । प्रमेयक० पृ० ४३२ ।

तयाप्रतीत्यभावात् । परप्रतिपादनार्थो हि शाब्दप्रयोग, परश्च नीलार्थी न अनीलनिषेधमात्र  
 विज्ञामते, अविज्ञासितञ्च प्रतिपाद्यत प्रतिपादकस्याऽप्रेक्षापूर्वकारित्वप्रसङ्गः ।

निषेधमात्राभिवायित्वे च नीलोत्पलशब्दयोः सामानाधिकरण्यञ्च प्राप्नोति,  
 नीलशब्दो हानीलव्यवच्छेदमात्रे चरितार्थ, उत्पलशब्दोऽपि अनुत्पलव्यवच्छेदमात्रे ।  
 न चैतौ व्यवच्छेदो ऋस्मिन् धर्मिणि सम्प्रदाौ, भावाभावेयोस्तादात्म्यात्सिम्बधा-  
 सभवात् । नपि तौ शब्दो ऋधर्मिविधेयौ, घटपटशब्दयोस्त्विवाऽनयो एवैधर्मिविषय-  
 त्वानभ्युपगमात् ।

किञ्च, नत्रेव पर्युदासवृत्तिः प्रसज्यवृत्तिर्वा भवति, गौरिति च नाय नञ्, अतः  
 कथमगोपर्युदासमेव गोशब्दवृत्तिः ? गौरयमिति त्रिधिरूपेणैवास्य प्रवर्तमानत्वात् । ततः  
 10 सामान्यविशेषधानर्थं शब्दस्य विशेषोऽभ्युपगतव्य अल प्रतीत्यपलापेन । तस्यै च  
 सङ्केतव्यवहारकालानुयायित्वप्रसिद्धे नेर्धम्भूते स्वल्पे संज्ञेतरणवैफल्यम् । भवत्स्व-  
 ल्पितस्य तु स्वरक्षणस्य सुगतमतपरीक्षायाः प्रपञ्चत प्रतिक्षिप्तत्वात् तत्रैतत्करण विफल  
 मेव । अतो य 'सङ्केतव्यवहारकालानुयायी' इत्यादि' सिद्धसाधनत्वाद्युपेक्षणीयम् ।

सम्प्रधश्च वान्यत्राचकयो उद्धारयप्रमाणेन प्रतीयते, सर्वत्र सम्बधप्रतीते-  
 1. र्नेर्धनत्वात् । अतः 'अश्वेदमभिधानमिति सम्प्रधकारिणि ज्ञाने प्रतिनियतेन्द्रियरि-  
 पययोः शब्दार्थानि प्रतिमास' इत्याद्यप्ययुक्तमुक्तम्, सामान्यविशेषात्मनोरेव शब्दार्थयो  
 प्रतिनियतेन्द्रियरिपयतोपपत्ते, अतः कथं तयोर्नेर्धकारिणि ज्ञाने प्रतिभामाभावः ?

ननु 'रातीतानागतार्थशब्दानां नद्यास्तीरे मोदकराशय मति' इत्यादिशब्दानाञ्च  
 अथाभावोऽपि प्रवृत्तिप्रतीते कथमर्थे प्रतिप्रधसिद्धिस्तेषाम् ? इत्यप्यममीक्षिताभिधानम्,

(१) भिन्ननिमित्तयोः न्यायारेकस्मिन्प्रधिकरणवृत्ति सामानाधिकरण्यम् -- प्रमाणवा० १२३०  
 श्लो० ११६४ । तुला- यस्य चायापोहः शब्दायस्तेनानीतानुत्पलक्युदासो कथं समानाधिकरणाविति  
 वक्तव्यम् । अस्य पुनर्विधीयमानं न्यायरेकस्य जातिगुणविशिष्टं नात्रोत्पलक्युदासाभ्यां द्वयमभिधीयते,  
 जानिपुनो द्वये वर्तते न यतस्तीतानुत्पलक्युदासो तस्मात् समानाधिकरणार्थो नास्तीति । - न्यायवा०  
 पृ० ३३१ । न्यायमं० पृ० ३०५ । सामानाधिकरण्यञ्च न भिन्नत्वात्पोह्याः । अथनश्चनप्यित  
 कीदृश्याधवता तयोः ॥ न चागाधारण वस्तु सम्यगव्यक्तं नास्ति ते । अगम्यमानमवार्थं शब्दयो  
 क्ताभ्युपगयोः ॥ -मी० श्लो० अपोहो० श्लो० ११८-१९ । अनेकान्तजय० पृ० ४० । प्रमेयक० पृ०  
 ४३६ । (२) धर्माभावात्कथं अभावात्तयोः च अनीलानुत्पलक्युदासात् । (३) नीलमुत्पलमिति  
 लो० । (४) सामानाधिकरण्यं हि भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोः न्याययोः एकत्वार्थं वृत्ति-आ० श्लो० । (५)  
 सामान्यविशेषात्मनोरेव । (६) सामान्यविशेषादके । (७) सौगतकल्पितस्य । (८) पृ० ३७९ ।  
 (९) शक्तिव्यवस्था । (१०) गद्वतकरणम् । (११) पृ० ५५२ पं० ९ । (१२) उद्धारयप्र-  
 माणाभावात् । (१३) पृ० ५५३ पं० ४ । (१४) सङ्कतकारिणि । (१५) शब्दानाम् ।

१ त्रिज्ञातवि० । २-विषयो घट-आ० । ३-न्यायप्रवृत्ति-य० श्लो० । ४-वास्तव वस्त-आ० ।  
 ५-संज्ञेयव्यव-य० । ६-प्रतिज्ञाप्रतीति-य० ।

यतो न वयं सर्वशान्तानामर्थनान्तरीयकत्व प्रतिपन्ना । किं तर्हि ? मुनिश्चितताप्रणेतृका-  
णामेव । न च कैषाञ्चिच्छब्दानामर्थव्यभिचारित्त्वं दर्शनात् सर्वेषां तद्व्यभिचारित्व  
युक्तम्, मरीचिकानौ जलाद्यवभासिनोऽध्यक्षस्य अप्रामाण्योपलम्भात् सत्यजलाद्यवभा-  
सिनोऽप्यस्याऽप्रामाण्यप्रसङ्गात् । मरीचिकानौ जलाद्यवभासिन एवास्याऽप्रामाण्य  
बाधकमद्भावान्तेतरस्य इत्यन्यत्रापि ममानम् । तन्न प्रत्यक्षशब्दयो परमार्थविषयत्वे  
कश्चिद्विशेष ।

अतो निराकृतमेतत्—‘अ यदेवेन्द्रियग्राह्यम्’ इत्यादि । नहि प्रतिभासभेदो विषय-  
भेद प्रसाधयति, अस्मिन्नेऽप्यर्थे स्वसामग्रीविशेषात्तद्भेदस्योपपद्यमानत्वात् दूरासन्ना-  
र्यापनिबद्धदृष्टिप्रेम्भकजनत्वात् । यथैव हि दूरासन्नदेशादिसामग्रीविशेषवशात् पादपादेरभि-  
न्नस्यापि विभिन्नप्रतिभासविषयत्व तथा शाब्द प्रत्यक्षप्रत्यययोरभिन्नविषयत्वेऽपि  
शब्देन्द्रियादिसामग्रीभेदाद् अस्पष्टेतरप्रतिभासभेदो न विरोधमध्यास्ते । अत अन्धस्य  
चतुष्पतश्च अभिन्नेऽपि विषये सामग्रीभेदात् प्रतिभासभेदोपपत्ते अयुक्तमुक्तम्—  
‘शब्दात्प्रत्येति मि नात्रा नतु प्रत्यक्षमीक्षते ।’ इति ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘वाच्यवाचकभावश्च कार्यकारणभावान्नान्य’ इत्यादि, तन्प्य-  
चारु, यत सति बुद्धिसम्बन्धिनि प्रतिपिन्वे अस्य शब्दजन्यत्वात् तद्व्यर्थत्वं स्यात्  
शब्दस्य च तज्जननत्वाद् वाचकत्वम्, न च तदस्ति, प्रागेवास्य प्रपञ्चत प्रतिषेधात् । यदि  
च कार्यकारणभाव एव वाच्यवाचकभाव स्यात्, तदा श्रोत्रज्ञाने प्रतिभासमानोऽपि शब्द

(१) जना । तुलना—‘न हि वयं सर्वशान्तानां प्रामाण्य प्रतिपद्येमहि किं तर्हि मुनिश्चि-  
ताप्रणेतृकाणामेव । तत्र प्रामाण्य प्रति प्रत्यक्षशब्दयोर्विशेषमुपलभामहे ।’—न्यायावता० टी०  
प० ६ । (२) अर्थाविनाभावित्वम् । (३) अनाप्तप्रणेतृकाणाम् । (४) जलज्ञानस्य । (५) तुलना—  
‘न च ग्राहकप्रत्यक्षस्मृतिप्रतिभासभेदात् विषयस्वभावाभेदाभाव, सद्दृढकार्योपनिबद्धदशनप्रत्या-  
सप्रेतरूपरूपानविषयवत् । यथा हि सद्दृढेकस्मिन्नर्थे पादपादौ उपनिबद्धदशनयो प्रत्यासन्नविप्रकृष्ट-  
पुष्पयोर्भान्ध्या विषयीकृते स्पष्टास्पष्टप्रतिभासभेदात् स्वभावभेद पादपस्य तस्यैकत्वाव्यतिरिक्तात्,  
तथैव ग्राहकयो प्रत्यक्षस्मृतिप्रतिभासयो भेदेऽपि स्पष्टमदतया न तद्विषयस्य भेद स्वल्पणस्यैव  
स्वभावत्वाभ्युपगमात् ।’—अष्टग०, अष्टसह० पृ० १२४ । ‘वरणभेदेन प्रतिपत्त्योर्भेदात् । अन्धस्य हि  
शब्दाद्रूपविषय विज्ञानमुत्पद्यते न तु चाक्षुषमिति । यस्य चापरोक्ष चाक्षुष विज्ञानमस्ति असावनय ।  
—प्रग० ध्यो० पृ० ५८६ । स्पष्टास्पष्टाकारतयाऽथप्रतिभासभेदश्च सामग्रीभेदात् विरुद्धते दूरासन्ना  
र्यापनिबद्धेन्द्रियप्रतिभासवत् । —प्रमेयक० प० ४४६ । समति० टी० पृ० २५९ । स्या० १० प० ७१५ ।  
(६) प्रतिभासभेदस्य । (७) पृ० ५५३ प० १० । (८) पृ० ५५६ प० १५ । (९) बुद्धिगतप्रतिबिम्बस्य ।  
(१०) इयता काय वाच्यं कारण वाचकमिति सिद्धम्—आ० टि० । (११) बुद्धी प्रतिबिम्बम् । (१२)  
‘नन्दिनिबद्धप्रत्यक्षस्य कारणम्, ‘नाकारण विषय’ इत्यभ्युपगमात् । तुलना—‘यतो यदि कायकार-  
णभाव एव वाच्यवाचकभाव स्यात् तदा श्रोत्रज्ञाने प्रतिभासमान गच्छ स्वप्रतिभासस्य भवत्येव  
कारणमिति तस्याप्यसौ वाचक स्यात् । यथा च विवक्ष्यस्य गच्छ कारणम् एव परम्परया स्वप्रत्यक्षणमपि  
अनस्तत्रापि वाचक स्यात् ।’—रत्नाकराय० ४।११ ।



स्वप्रतिभासस्य भवत्येव कारणम् अतस्तस्योप्यसौ वाचकै स्यात् । यथा च दिक्ल्पस्य  
कारणम् एव पौरुषपर्येण स्वलक्षणमपि, अतस्तदपि वाचक स्यात् । अत  
प्रतिनियतवान्यवाचकभावन्यवस्थाविलोप स्यात् । ततो यच्च यथा निर्वाधबोधे  
प्रतिभासते तत्र तथैवाऽभ्युपगन्तव्यम् यथा अन्त मुपमाह्वानानारतया, प्रतिभासते  
च अवाधे शब्दे प्रत्यये सामान्यविशेषात्मनतया वहिर्घटादिषु वस्त्विति ॥ छ ॥

ननु सामान्यनिर्ज्ञापकतया शब्दप्रत्यये वहिर्घटादिवस्तुन प्रतिभासमानत्व-  
शब्दस्य सामान्य मसिद्धम्, शब्दानां सामान्यमात्रगोचरत्वारितया तदभिव्यक्तप्रत्ययस्य  
मात्रवाचकत्वमिति तन्मात्रविषयताया एवापपत्ते । सामान्यमात्रमेव हि शब्दानां  
मीमांसकस्य पूर्वपक्ष - गोचर, तस्यै क्वचित् प्रतिपन्नस्य एकरूपतया सर्वत्र सङ्केतविषय-

(१) स्वप्रतिभासस्य-आ० टि० । (२) कारण यतो भवमनेन वाचकम् । (३)

स्वल्पाणाञ्च प्रातिनिविकल्पक तस्माच्च सविकल्पकम् अथवा स्वलक्षणाप्रिविकल्पक तस्माच्च  
विकल्पकमिति । (४) स्वलक्षणमपि कारणत्वाद्वाचक स्यात् । (५) स्वलक्षणस्यावाधकत्वं  
प्रसक्तम् । (६) गान्ते बोधे सामान्यविभाषात्मकतयव अथ प्रतिभासति तत्र तथैव निर्वाधबोधप्रती  
निविषयवान् । (७) तुलना- अन्तकमेकञ्च पदस्य वाच्यम् - अहस्त्व० इलो० ४४ । 'अन्तकमे  
कात्मकमेव वाच्यं द्वयात्मकं वाचकमप्यवश्यम् ।'-अप्यो० ग्लो० १४ । (८) आकृतिस्तु क्रिया  
यवान् - अमिनिसु० १।३।३३- तु शब्द पशान्तरं व्यावर्तयति । आकृति शब्दाय - गाबरभा०  
१।३।३३ । आकृतिगन्धेन जानिरेवाभिप्रयता मीमांसक तयाहि- 'जानिमेवाकृतिं प्राहुः व्यक्तिराक्रियते  
यथा । सामान्यं तच्च पिण्डानामकवृद्धिनिवर्धनम् ॥३॥ तत्रिमिश्रञ्च व्यक्तिवत्सामान्यं गन्  
गोचरम् ॥६॥ सामान्यमाकृतिर्जाति शक्तिर्वा साऽभिधीयताम् ॥१८॥ यद्यमेव वस्तुनेकाकार  
तत्तद्दि तादृशेव गन्धोऽभिभूत सामान्यमाणाभिधायी न स्यादन आह-न चेति । न च तत्ता  
कश्चित्कञ्च नानाभि भाषितुम् ॥ ६३ ॥ सामान्यासानयोद्धत्य पदं सव प्रवर्तते । -मी० इलो०  
आकृति० ग्लो० ३४, १८, ६३ । 'पूर्व सामान्यविभाषानां चित्रवृद्धेरनुद्भवत् । गामानयति  
वाचकाच्च प्रयार्थं परिग्रहात् ॥ गोशब्देन चारणं हि पूर्वमेवागृहीतामु शक्तिषु सामान्यं प्रतीयते तत्र  
कारणानात्ते परचात् व्यक्तय प्रतीयन्ते अतश्चाकृतिप्रत्ययस्य निमित्तान्तराभावाद व्यक्तप्रत्यये च  
पूर्वप्रतीनसामान्यनिमित्तात्वात् आकृति गन्धाय इति विनायत । यत् च व्यक्तयोऽभिधेया भवेयुस्त  
तस्मात्सा चित्रसङ्गमुष्णविशेषरूपग्रहणाद्विचित्रा गन्धोच्चारणं वृद्धि स्यात् । एकाकारा तु  
उत्पद्यन्ते । तेनाप्याकृति गन्धाय इति निश्चीयन्ते । गामानयति बोधिते अथप्रकरणमात्रं या कश्चित्  
सामान्यपुक्ता व्यक्तिमानयति न सत्वा न विशिष्टाम् । यत् च व्यक्तेरभिधेयत्व तत सर्वासा युगपद  
भिहितत्वात्पानयन स्यात् । या वाऽभिधेया सत्वा जानीयत यतस्त्वविशेषण जातिमानपुक्ता  
जानीयन्ते तेनापि सामान्यस्य पशायत्व विज्ञायते ।'-तत्रवा० १।३।३३ । 'आनन्धव्यभिचारार्थां  
शक्यत्वात्पानयनः । सन्नेहाच्चरमेणात्तच्चित्रवृद्धरभावत् ॥ अवयवनिरेकाभ्यामेकरूपप्रतीतित ।  
आकृते प्रथमानानासया एवाभिधेयता ॥ यक्त्याकृत्पोरनदाच्च व्यवहारोपयोगिता । निष्कृत्या  
निस्त्वञ्च सामानाधिकरण्यापि ॥ सर्वे समञ्जसा ह्यनदस्त्वनकान्तवान्ति । -शास्त्रवी० १।३।३५।  
सर्व्वधनतात्मतव मिश्रमाणा गवात्पि । जातिरित्युच्यते तस्या सर्वं गन्धं व्यक्तयता ॥'-  
वाचप० ३।३३ । (९) गन्धप्रभव-आ० टि० । (१०) सामान्यस्य-आ० टि० । (११) व्यक्ति  
विषय । (१२) वाचकान्तास्वपि व्यक्तिषु ।

१ गन्धप्रत्यय श्र० व० । २-विषयतया व० । ३ तस्य प्रति-आ० । ४-गोचरगान्ते व० ।

तोपपत्ते, न पुनर्विशेषी तेषामानन्वयत कास्त्र्यनोपलब्धुमशक्यतया तद्विषय-  
तानुपपत्ते । अथ यावतामुपलम्भ तावत्त्वेन सङ्केतक्रियोपगम्यते, तर्हि विशेषा-  
न्तरेषु सङ्केताऽसम्भवात् शाब्दव्यवहारानुपपत्ति । न चाऽयोगिन प्रतिपत्तु प्रत्येक-  
मशेषविशेषोपलम्भ संकृत क्रमेण वा सम्भवति, अयोगित्वविरोधानुपपत्तात् । योगिनस्तु  
विशेषोपलम्भत्वात् तदुपलम्भो दूरोत्सारित एव । न चानुपलब्धेषु तेषु 'इदमस्य  
वाचकम्, इच्छन्तं चान्यम्' इत्यभिधानाभिधेयप्रतिपत्तिनियमलक्षण सङ्केत सम्भवति,  
तत्सम्भव च शास्त्रप्रणादर्थप्रतिपत्त्यनुपपत्ते सिद्ध शाब्दव्यवहारोच्छेद । ततस्तद्व्यव-  
हारमिच्छता सामान्यमात्रे सङ्केतोऽभ्युपगन्तव्य अतस्तदेव शान्त्यर्थं सिद्ध ।

किञ्च, जातिमद्विशेषशान्त्यर्थवादिना किं जातिमभिधाय शब्दो व्यक्तिमभिधायो,  
अनभिधाय वा ? न तावदभिधाय, जातिलक्षणविशेषणविशेषप्रतिपत्तावेव उपक्षीण-  
शक्तिरत्वेनास्य विशेष्याप्रतिपादकत्वप्रसङ्गात् । उक्तञ्च—

“विशेष्य नाभिधायो गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेष्ये ।” [ ] इति ।

नाप्यनभिधाय, विशेषमात्रप्रतिपादकत्वेन जातिमद्व्यवचकत्वाभावाऽनुपपत्तात् । न  
च सामान्यमात्रस्य अभिधानैरभिधाने विशेषणामनभिधानात् प्रयोजनार्थिन शब्दात्प्र-  
वृत्तिर्न प्राप्नोति, प्रतिपन्नस्यापि तैस्तैः सामान्यस्य प्रयोजनाप्रसाधकत्वादित्यभिधातव्यम्,  
तैस्तैः प्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या विशेषणामपि प्रतिपत्तिः सम्भवात् । प्रथमतो हि शब्दात्मा-

(१) शब्दविषया इति सम्बन्ध । (२) “न ह्यनन्तासु व्यक्तिषु सत्त्वं शक्यतेऽप्यनुपपत्तुम् ।”—  
शास्त्रद्वी० १।३।३५ । (३) सङ्केत-आ० टि० । (४) अशपव्यक्त्युपलम्भ हि सवत्त्वमेव स्यादिति  
भाव । (५) मीमांसको हि सवत्त्वं न मनूने-आ० टि० । (६) तस्य व्यक्तीनामुपलम्भ । (७)  
विशेष्य-आ० टि० । (८) अभिधानाभिधेयप्रतिपत्तिनियमलक्षणमङ्गुताभाव-आ० टि० । (९)  
शाब्दव्यवहार-आ० टि० । (१०) सामान्यत्व-आ० टि० । (११) उद्वेगोऽप्यम-प्रश्न० ध्यो० पृ०  
१९१ । काव्यप्र० पृ० ४४ । मुक्ताव० दिन० प० ३७३ । काव्यानु० प० २५ । ‘अभिधा पञ्चकित्ति,  
विशेष्य न गच्छेत् न प्राप्नोति । कुत इत्यागच्छायामाह-क्षीणेति । क्षीणशक्तिविशेषण इत्यनन्तर  
सदिदि पुरणीयम् । तथा च यतो विशेषण प्राप्य पदगति क्षीणशक्ति क्षीणसामर्थ्या भवत्यतो  
विशेष्य नाभिधा गच्छेत् न प्राप्नुयादिति पयवसिनाथ ।”—रामह० प० ३७३ । (१२) ‘स मुक्त्यो-  
धस्तत्र मुक्त्यो व्यापारो स्यामिधोच्यते ।”—काव्यप्र० प० ३९ । (१३) गच्छेत्-आ० टि० । (१४)  
सामान्यमात्रस्य-आ० टि० । (१५) सामान्यप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या । ‘न ह्यनभिधाय गोत्वमुपलक्षण  
गोव्यवचनाविव प्रयोगव्यवस्था लभ्यत । तच्चेत्प्रतिपत्ति सिद्धमाहृतिशान्ताच्यत्वमिति ।’—तत्रवा० १।३।३३ ।  
“न ह्यनभिधाय जाति तज्जातीयत्वेन रूपेण व्यक्तिरभिधातु शक्यत । ततश्च विशिष्टाभिधानमेव  
वाचायुक्त्यन्तरेणापन्न न शुद्धाभिधानम् । विशिष्टाभिधानं च पूर्वतर विषयणमभिधातव्यम् । तदभिधानं  
च तत एव अत्यन्ताविशेष्यव्यक्तिप्रतिपत्तिसिद्ध न तत्र अभिधानशक्तिरन्वयतावसर ।”—शास्त्रद्वी०  
१।३।३५ ।

मायमात्र प्रतीयते, पश्चात्तदन्यथानुपपत्त्या पिण्डविशेषो लक्षणार्थं प्रतीयते निराशरस्य सामा यस्य अश्वनिपाणनदसभनात् । उक्तञ्च—

“सोभिधयाविनाभूतप्रतीतिलक्षणोच्यते ।” [ तत्रवा० १।४।२३ ] इति ।

तैल्लभितगोपिण्टादिविशेषप्रतीय यथानुपपत्त्या तु बाह्योहादिप्रयोनविशेष

४ प्रतीति लभितैल्लभणेति ॥३॥

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—सामायमात्रमेव हि शदाना गोचर इत्यादि,

तन्निरसनपुरम्पर तदसमीभिताभिधानम्, मङ्केतानुमारेण शब्दस्य वाच्यत्वोपपत्ते ।

शब्दस्य वस्तुमत्ता मङ्केतश्चास्य तद्वैत्येव प्रतिपत्तो न पुन सामायमात्रे, प्रवृत्त्याग्नौ

मन्व्यविशेषमकारं चरतया बाह्योहाप्रयैक्रियाकारित्वात्प्रत्ययतया च वेत्तलेऽस्मिन् शब्द-

१० वाच्यत्वमप्यनम्— व्यवहारासभनात् सङ्केतप्रतिपत्तेर्निष्कलत्वात् । ‘प्रविधाद्धि शब्दा

देवनिधोऽर्थं तया प्रतिपत्तय, प्रज्ञातीय के चार्थे शब्दोऽप्येवज्ञातीयक प्रयोक्तव्य’

इति सट्टपरिणामापन्नयोरेव वाच्यवाचकयो मङ्केतयिना सङ्केत प्रतिपाद्यो ग्राहित ।

यदपि ‘विशेषाणामभिधेयत्वे आनत्यत कार्त्तयेनोपलभुमशक्यतया’ इत्या

नुक्तम्, तदप्यसाम्प्रतम्, साध्यसाधनव्यञ्जित् सट्टपरिणामापन्नाना वाच्यवाचक-

१५ व्यक्तीनामान्त्येऽपि उद्घञ्जनेन कार्त्तयेत प्रतिपत्तु शक्यत्वात् । एतच्च शब्दार्थयो

(१) जाह च—तेन तल्लभितव्यक्त क्रियासम्बन्धवत्त्वात् । जातिव्यक्तयोरभेदो वा वाक्या

येषु विवक्षित ।—नाहप्रदी० १।३।३५ । लक्षणाया स्वरूपम्—मुन्याथराधे तद्योग इदितोऽथ

प्रयाजनात् । जयोऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणाऽऽरापिता क्रिया ॥—काव्यप्र० पृ० ४० । सा० २० । १९ ।

वाच्यस्याथस्य वाच्यार्थे सम्बन्धानुपपत्तिन । तत्सम्बन्धवत्त्वात्प्रत्ययवाच्यलक्षणोच्यते ॥—प्रक०

वाक्याय० पृ० १३ । (२) अभिधयाविनाभूत प्रकृतिरूपणव्यत—तत्रवा० १।४।२३ । उद्गतोऽयम्—

अभिधयाविना—काव्यप्र० पृ० ५० । प्रकृतिरूपणाव्यते—तीता० पृ० २०४ । पदार्थदी० पृ०

३१ । (३) सामायलक्षित । (४) यत्र तु वाक्याथस्य परम्पराम्बन्धत्वा लक्षणा सा लक्षितल

गणत्वोच्यते । यथा रिरेकान्पि रणद्वयसम्बन्धो भ्रमरपत्तं नायत, भ्रमरपदस्य च सम्बन्धो भ्रमरे

पापते तत्र लक्षितलक्षणा ।—मन्ता० प० ३८९ । (५) पृ० ५६६ प० ७ । (६) सामायवति विशय-

आ० टि० । (७) जानिमात्रे हि सङ्कता व्यक्तेर्भानि सुदुष्करम् ।—शब्दप्र० का० १९ । (८)

तुङ्गा—तत्र जानिरनश्रियायोग्या । नहि जानिर्बाह्योहात्नी क्वचिदपि प्रत्यपस्थिता । न वा तादृ

गप्रररणाभावे लोचयवहारं प्रयोग । न जातिर्बाह्योहात्क क्तु समर्था । ततश्च बाह्योहा

व्यधिनो जानिबोत्ना निष्कलति न तदथ गन्प्रयोग । यापि स्वप्रतिपत्तिलक्षणाऽप्यक्रिया जातस्य

व्ययन न तन्धम्पूरुष प्रवतन गन्प्रयोगान्ने तस्या सिद्धत्वात् । जातिमात्रप्रतिपत्त्वथ शब्दप्रयोगो

भक्तिप्रतीति चन् आह—नवत्यापि । तादृगमिति बाह्योहादिप्रकरण निष्कलस्य शब्दप्रयोगस्योपेक्षणी

यवात्तियुक्तत्वात् । जानी च वाच्याया सया गामानियतत्र वाक्य न वाक्याथप्रतीति स्यात् गोत्वस्य

क्रियत्वैव्यवसायवान् ।—प्रमाणवा० स्वब० टी० १।९५ । न खलु सर्वतन्ना सामाय वाच्य तत्र

निपनः अथक्रियां प्रत्यनुपयोग्यात् । न हि गोत्व बाह्योहात्प्रवृत्तयत् ।—अष्टा०, अष्टसह० प०

१३९ । तत्रवापन्तो० पृ० १०२ । (९) पृ० ५६७ प० १ ।

निन्यसम्बन्धनिपेधे' अपोहप्रतिपेदे च प्रपञ्चितमिर्त्युपरम्यते । तथा च 'न चायोगिन प्रतिपत्तु प्रत्येकमशेषविशेषोपलम्भ सकृत् क्रमेण वा समरति' इत्यादि<sup>३</sup> प्रत्युक्तम्, अयोगिनोपि अशेषविशेषाणांमुक्तप्रिधिनोपलम्भसम्भवप्रतिपात्नात् ।

यत्प्युक्तम्—'किं जातिमभिधाय शब्दो व्यक्तिमभिधत्ते' इत्यादि, तत्रयसाम्प्रतम्, जातितद्वतोयुर्गपदेन एकत्र ज्ञाने प्रतिभासमम्भरात् । नचैकज्ञानत्रिपयत्वे त्रिगेषणविशेष्यमात्रप्रतिनियमो न स्याद्, त्रिपर्ययो वा स्यात् त्रिगेषणस्यापि विशेष्यरूपतानुपद्गाद्वि-  
 लम्भिधातयम्, दण्डपुरुषयोर्युगपदेकत्रापि ज्ञाने प्रतिभाममानयो विशेषणविशेष्यभाव-  
 प्रतिनियमप्रतीते । तत्रप्रतिभामात्रविशेषेऽपि हि येन विशिष्टं यत् प्रतीयते तद्विशेषणम्  
 इतरद् विशेष्यम् । न रातु ण्डादे पुरुषे विशिष्टप्रतीतिजननात्तन्वद् विशेषणत्वं  
 सम्भवति । यथा च चाक्षुषे ज्ञाने दण्डपुरुषयो विशेषणविशेष्यभावापन्नयोर्युगपत्प्रति-  
 भासमानत्वात् तत्रप्रतिनियमात्रविरोध तथा दण्डविशिष्टेऽपि । नह्यत्र दण्डमात्र पुरुष-  
 मात्र वा प्रतिभामते, विशेषणविशेष्यभावापन्नस्य युगपदुभयस्य प्रतिपात्नात् । अतो  
 दण्डेऽपि ण्डविशिष्ट पुरुषो यथा प्रतिभासते तथा गोशब्दात् गोत्वविशिष्ट पिण्ड  
 इति प्रतिपत्तयम् । अथ गोशब्दश्रवणात् शब्दलेयादिविशेषाऽप्रतीतेर्न विशेषे शब्दार्थं,  
 तत्र, तद्विशेषाप्रतीतापि सामान्ययुक्तं कर्तुमात्रं जातिमात्रं विशेषो गोशब्दात् प्रतीयत एव  
 शास्त्रेणादिविशेषास्तु ननुक्ता शब्दलेयादिशब्देभ्यः प्रतीयन्ते । नचैतावता सामान्यमेव  
 शब्दार्था युक्तं, प्रधानोपसर्जनभावेन उभयो प्रतिभासनात् । 'गामानय' इत्यादि-

(१) पु० ५५० प० ११ । (२) पु० ५६४ प० १४ (३) पु० ५६७ प० ३ । (४) उक्तविधिना

उत्तरप्रमाणेन (ऊत्तरवेन) —आ० टि० । (५) पु० ५६७ प० ९ । (६) तुना—'प्रत्यय तावद्  
 द्वयोरपि विगणविशेष्ययोरिति द्वयविषयत्व सामाये हि मयुक्तसमवायादिद्वय प्रवर्तमान विगणवद्वि-  
 गप्यमपि विषयोवरोति । न हि सामाये प्रत्यय विशपोऽनुमेय इति व्यवहार । एव गुणत्वव्यतिष्ठी  
 द्वय गुणिनोऽनुमेय व स्यात्, नचवमस्ति । तस्माद् विगणयपत्तय प्रत्यय तथा पत्तयि नतु यविषय न तु  
 सामायेमात्रनिष्ठमिति युक्तम् यथा विषयतपयन्तो वाक्यव्यापार इत्यने । नयव व्यक्तिपयन्त एव  
 व्यापार इत्यताम् ।'—न्यायभा० प० ३२४—२५ । (७) दण्ड एव विशेषण पुरुष एव च विगप्यमिति ।  
 (८) एकत्र ज्ञाने प्रतिभासमानाऽपि । (९) दण्डयुक्तोऽप्यमिति । (१०) गात्रं ज्ञान । (११) तुना—  
 'अथ गोशब्दश्रवणाच्छाब्दव्यतिष्ठीविशेषाप्रतिपत्तेन विशय गच्छार्थं, सत्यम् किं तन्नि ? सामायेयु  
 क्तोऽय प्रतीयते न शब्दलेयादिविशेषे, स च शब्दलेयादिगच्छार्थे एव प्रतीयत इति नचतावता सामा  
 यमेव गच्छार्थे प्रधानोपसर्जनभावेनाभयो प्रतिभासनात् । तथा गामानय यादिप्रतीतेः सामा यवक्तोऽयस्य  
 आनयनात्किंत्वता सम्बन्धात् ।'—प्र० १०० प० १०२ । (१२) गात्र्यादिगच्छार्थे विशयस्य अप्रति  
 भासनाऽपि । (१३) गात्रविगप्यता । (१४) तुना— व्यवयाद्विजातस्तु पदाव । तुगच्छे विगेष  
 णाय किं विशिष्यत । प्रधानाद्भावस्यानियमेन पत्तयत्वमिति । यदा हि मन्त्रव्यापार विगप्यावगतिश्च  
 मन्त्र व्यक्तितः प्रधानम् अङ्ग तु आध्यात्मिणी यथा तु भवो विवक्षितं माना रसिद्धिर्न तदा जाति प्रधानम्  
 अङ्ग तु व्यक्त्यादृशी । तदतद् बहुलं प्रयोगेषु । आदृशस्तु प्रधानभाव इत्येवम् ।'—न्यायभा० २।२  
 ६७ । न्यायभा० पु० ३२९ । न्यायभा० पु० ३२५ ।

१—नित्यव्ययने ब० । २ युगपत्तदुभयस्य ब०, थ० । ३ गामानय-पु० ।

प्रयानेषु सामान्यतोऽर्थस्य आनयनादिप्रियाभिसम्बन्धप्रतीतिश्च तद्वानेन शब्दार्थः ।

यन्चायदुक्तम्—‘विशेष्य नामिषा गच्छत्’ इत्यादि, तदप्यपेशलम्, ‘विशेषण प्राप् प्रतिपाद्य पुनर्विशेष्य शब्द प्रतिपादयति’ इति निरर्थस्य व्यापारानभ्युपगमात्, युगपदेवास्यै विशेषणविशेष्यप्रतिपादनव्यापारप्रदशनात् । क्षीणशक्तित्वञ्चार्थाऽनुपपन्नम्, शक्ते कार्यानुमेयत्वात्, विशेषणविशेष्यप्रतिपत्तिलक्षण हि कार्यमुपलभ्यमान तत्रार्थ्य शक्तिमनुमापयति । मित्रज्ञानालम्बनयोश्च विशेषणविशेष्यत्वे इदं चोच्य स्यात्, न त्वेकज्ञानालम्बनयोः । भवतोऽपि चैतच्छोच्य नमानम्—उपलब्धस्य हि शब्दस्य अर्थप्रतिपादकत्वं स्यात्, अतः स्वात्मप्रतिपत्तावे रास्यै क्षीणशक्तित्वात् सामान्यलक्षणाऽर्थप्रतिपादनमपि न स्यादिति लाभमिच्छतो मूलोच्छेदः स्यात् ।

10 अथ सामान्यप्रतिपत्तेदृष्टत्वान्न तत्रैस्य शक्ते प्रक्षयः, तर्हि विशेषणविशेष्यप्रतिपत्तेरप्यतो दृष्टत्वात् कथं तत्राप्यर्थै तर्ह्यक्षयः स्यात् ।

यदप्यभिहितम्—‘तत्प्रतिपत्त्यर्थयथानुपपत्त्या’ इत्यादि, तदप्यभिधानमात्रम्, यतो यदि शब्दात्सामान्यमेव प्रतीयते तर्हि व्यक्ते किमायात येन तत्ता लक्षयति ? अथ

(१) तुलना—अथप तु प्रयोगेषु वा दहीत्यवमान्पि । तद्वतोऽर्थप्रियायोगात्तस्यबाहु पण धनात् ॥’—प्रायम० प० ३२३ । (२) सामान्यविशयवान्—आ० टि० । (३) पृ० ५६७ प० १२ । (४) तुलना—प्रथमं जातिमात्रमवबोधधापयवसानादनन्तरं विगममवबोधनि, किं वाऽतर्भावविगमि विगमामव जातिम् ? तत्र पदबुद्धयो विरम्य व्यापाराभावात् ।—‘वित्तु० प० २६३ ।’ गन्तव्यविक्रमणा विरम्य व्यापाराभाव इति वादिभिरेव ।—सा० द० परि० ५ । (५) गन्तव्यः । (६) शब्दस्य । तुलना—ननुक्तं क्षीणशक्तिविशेषणनि विशेष्य नामिच्छ्यात् इति तावच्छक्ते कथयिष्यतवान् । कामञ्च विगमणनिपत्तिवत् विगम्यप्रतिपत्तिलक्षणमपलभ्यमानं गन्तव्यवस्थापकम् । अथ कायस्य वामाव यथा स च व द्रुवाण स्वमवेदनमपि बाधने विगम्यप्रतिपत्ते सवेत्नात् ।—प्रश० ध्यो० पृ० १९२ । (७) विगमणविशयोभयप्रतिपत्तो । (८) गन्तव्यः । (९) मीमांसकस्यापि । तुलना—समानञ्चत् उपलभ्यमानस्य गन्तव्य अथप्रतिपात्त्वाम्युपगमात् स्वात्मप्रतिपत्तौ च क्षीणत्वात् सामान्यप्रतिपात्त्वत्वं न स्यात् ।—प्रश० ध्यो० पृ० १९२ । (१०) गन्तव्यः । (११) सामान्यप्रतिपत्ती गन्तव्यः । (१२) गन्तव्यः । (१३) गन्तव्यः । (१४) गन्तव्यः । (१५) पृ० ५६७ प० १६ । (१६) तुलना—व्यक्तेरशक्यचोदितत्वात् लक्षितलक्षणया जानिस्त्वते इति चेत् अशक्त्योदिते सम्बन्धे सत्यपि कथं प्रवर्तते ? न हि कश्चित् लक्ष्यं छिद्योत्युक्ते दण्डिनं छिनत्ति । लक्षितलक्षणत्वादि पर । मय न सामान्यमयिक्रियाकारि किन्तु व्यक्तिरव, केवलं व्यक्तेरशक्यचोदनात् कारणात् सामान्यं नियुक्तं गन्तव्यं सामान्यं लक्षयति । तेन सामान्येन गन्तव्यमितेन सम्बन्धात् व्यक्तेरपि लक्षयत इति न हि गोपान्दुर्बलितान् गोल्व प्रतीयते अपि त गोरेत्वावमीपते । न नामव तथाप्युच्यते । अगन्तव्योदिते यति । यति नाम जातितन्तोस्सम्बन्ध तथापि अगन्तव्योदिते व्यक्तिविशय कथं प्रवर्तते ? नव । दण्डिनोस्सत्यपि सम्बन्धे न हि कश्चित्प्रमाणपूर्वकारी दण्डं छिद्ये इत्युक्ते दण्डिनं छिनत्ति अगन्तव्योदितवान् । तथा जाती चोदितया व्यक्तौ प्रवृत्तिन युक्तत्पथ ।—प्रमाणया० स्वव० टी० ११९५ । लक्षितलक्षणया वृत्तिरत्तात्तमे न भवेत् सम्बन्धान्तरामिदं कामुकात्त्वम् ।—अष्टश० अष्टसह० पृ० १३९ । तत्त्वार्थेणो० पृ० १०२ । किञ्च यति नाम गन्तव्यजाति प्रतिपत्त्या व्यक्त किमायात यथाद्यो तां गमयति ।—प्रमेयक० पृ० ४१२ । (१७) सामान्यं ता व्यक्तेरम् ।

१ गच्छेत् तदप्य—आ० । २ गच्छतामा—व० ।

व्यक्त्या सह तस्य सम्बन्धसद्धानात् तत्रैस्तत्प्रतीयमान ता लक्षयति, क पुनस्तस्यो-  
स्तेन सम्बन्धो नाम-सयोग, समवाय, तदुत्पत्ति, तात्पर्य वा ? न तावत्सयोग,  
अद्वयत्वात् । नापि समवाय, अपसिद्धान्तप्रसङ्गात् । तदुत्पत्तिरपि अत एवानुपपन्ना ।  
तादात्म्याभ्युपगमे तु सामान्यविशेषयो तादात्म्यापन्नयो एकस्मादेव गवादिशब्दात्  
विशेषणविशेष्यरूपतया प्रतीयमानयो कथमेकस्यैव शब्दार्थत्व वक्तु युक्तम्, अप्रामा-  
णित्वप्रसङ्गात् ?

किञ्च, अनयोस्तल्लक्षण सम्बन्ध शब्दप्रयोगकाल एव प्रतिपन्न, पूर्वं वा ? न  
तात्पर्यकाल एव, व्यक्ते शब्दोच्चारणकालेऽप्रतीते, प्रतीतो वा किं लक्षणया ? तत्काले  
तत्रैतीतिश्च किं प्रत्यक्षत, अनुमानात्, शब्दादेव वा स्यात् ? न तात्पर्यकाल, देसकाल-  
स्वभावरिप्रकृष्टाया व्यक्ते इन्द्रियसम्बन्धाभावतस्तत्प्रभवप्रत्यक्षेण प्रत्येतुमशक्यत्वात् ।  
नाप्यनुमानत, तत्प्रतिपन्नलिङ्गाऽदर्शनात् । शब्दादेव तत्रैतीतो तु सिद्ध व्यक्तेरपि  
शब्दार्थत्वम् । अथ पूर्वं जातिव्यक्तयोस्तादात्म्यलक्षण, सम्बन्ध प्रतिपन्न, यदि नाम  
तत्रै तयोरसौ दृष्टो नैतीपता सर्वत्र सर्वदा तयोस्तेनै भाव्यम्, अन्यथा पदस्य शुक्लरू-  
पेण केचित् कदाचित्तादात्म्यदर्शनात् सर्वत्र सर्वदा तयोभाव स्यात् ।

अथ जातेरित्येव स्वरूप यद् व्यक्तिनिष्ठता, ननु किं सर्वमवगतायास्तस्यास्तद्रूप  
स्यात्, व्यक्तिसर्वगताया वा ? तत्राप्यपक्षोऽनुपपन्न, व्यक्त्यन्तराले तदभावेऽप्रसङ्गात्  
तत्र तद्रूपस्थासम्भवात् । व्यक्तिसर्वगतायास्तु तस्या तद्रूपोपगमे व्यक्तिवजातेरप्यनेक-  
त्वप्रसिद्धे उभयोरविशेषत शब्दार्थत्व स्यात्, न वा कस्यचित् । अस्तु वा अधिचारित-  
स्वरूपायास्तस्यास्तन्निष्ठत्वभावता, तथाप्येसौ 'सर्वत्र सर्वदा व्यक्तिनिष्ठा' इति प्रत्यक्षत  
प्रतीयेत, अनुमानतो वा ? प्रत्यक्षतश्चेत्, किं युगपत्, क्रमेण वा ? तत्राप्यपक्षोऽनुपपन्न,

(१) सामान्यस्य । (२) शब्दात् । (३) व्यक्ते । (४) द्रव्यधारेव सयोगात्, सयोगस्य  
गुणत्वेन द्रव्याधितत्वात् । (५) न हि भीमासवा समवाय स्वीकृवति । (६) अपसिद्धान्तप्रसङ्गादेव,  
गहि शब्दाययो परस्परमुत्पाद्योत्पादकभाव । (७) सामान्यव्यक्त्यो । तुलना-“सम्बन्धस्तयोस्तदा  
प्रतीयते पूव वा ?”-प्रमेयक० पृ० ४१२ । (८) शब्दोच्चारणसमये । (९) तादात्म्यलक्षण  
सम्बन्धप्रदानि । (१०) इन्द्रियायसन्निरपेक्षता । (११) सामान्यव्यक्त्यास्तादात्म्यस्य प्रतीतो ।  
(१२) न हि व्यक्त्यनधिगतावपि तन्निष्ठ सम्बन्धो प्रहीतु शक्य इति । (१३) पूवम् । (१४)  
सम्बन्धन । (१५) शुक्लतादात्म्यम् । (१६) जाते यद् व्यक्तिनिष्ठताख्यं स्वरूपमुक्त तस्य अभाव  
प्रसङ्गात् । (१७) व्यनयनराते । (१८) व्यक्तिनिष्ठताख्यस्य स्वरूपस्य असभाव्यमानत्वात् । -यक्य  
भाव हि न व्यक्तिनिष्ठताख्य स्वरूपं सिद्धयति अनश्च स्वरूपामावात स्वरूपवन सामान्यस्याप्यभाव ।  
(१९) जाते । (२०) व्यक्तिनिष्ठताख्यस्वरूपस्वीकारे । (२१) जान । (२२) व्यक्तिनिष्ठ ।  
(२३) जाति-आ० टि० । तुलना-“किञ्च, सर्वदा जातिव्यक्तिनिष्ठति प्रत्यक्षण प्रतीयते अनुमानत  
वा ?”-प्रमेयक० पृ० ४१२ ।

1-विषयोत्ता-आ० । 2-तादात्म्यापन्नविशेषयो थ० । 3-तापता सर्वदा थ० । 4-कवचि  
स्वतावा-आ० । 5-सर्वदा भाव व० । 6-तदभावप्र-आ०, थ० । 7-स्य सम्भवात् थ० । 8-सम्बन्धु जा० ।



अथ गोशब्दाद् गोत्व प्रतीयमान गोव्यक्तिसम्बद्धमेव प्रतीयते, कथमेव सामान्य-  
मेव शब्दार्थ स्यात् ? विशेषणविशेष्यभावापन्नयो सामान्यविशेषयो तर्तुं प्रतीते ।  
ननु गोशब्दात्साक्षाद् गोत्वमेव प्रतीयते, व्यक्तिस्तु तदन्यथानुपपत्त्यैव प्रतीयते इति,  
तन्मयसुन्दरम्, एव जातिरेव शब्दार्थत्वमायात व्यक्तेस्तु प्रमाणातरगम्यता, तथा च  
शब्दस्य लक्षणया विशेषप्रतिपादकत्व दुर्घटम् । अथ शब्दस्यैव अयमान्तरो व्यापार  
यत् सामान्य प्रतिपाद्य तर्त्तुतिपत्तिसहकारी व्यक्तिसमिपि गमयति लक्षणयेति, तदसाम्प्रतम्,  
यतो यत्रैव सम्बन्धस्मरणमहकारी शब्द प्रवर्त्तते स एव तस्यार्था न पुनस्तदर्थानिना-  
भाजित्वेन यद्यत्प्रमाणान्तरत प्रतीयते तत्तत्सम्बद्धोदरे प्रक्षेपव्ययम्, अन्यथा प्रत्यक्ष-  
मिद्धधूमान्यथानुपपत्त्या सिद्धो नहि प्रत्यक्षमिद्ध एव स्यात् । तन्न विशिष्टव्यक्तितादा-  
त्म्यकृतमर्थं वैशिष्ट्य घटते ।

नापि तत्रैव तत्प्रवृत्तिहेतुत्वकृतम्, अन्योन्याश्रयानुपपत्त्यात् । तथाहि—सामान्यस्य  
विशिष्टत्वसिद्धौ सत्या विशिष्टविशेषेणैव प्रवृत्तिहेतुत्वमिद्धि, तस्याच्च सत्या सामान्यस्य  
विशिष्टत्वमिद्धिगिति ।

तृतीयपक्षे तु चत्रमाम् अते—सिद्धे हि सामान्यस्य वैशिष्ट्ये विशिष्टविशेषेण प्रतीति-  
हेतुसिद्धि, सत्या सत्याम् 'अस्येत्' इति प्रतीतिसिद्धि, तस्याच्च सत्या तस्य वैशिष्ट्य-  
मिद्धिरिति । तत प्रमाणतो वस्तुन्यवस्थामिच्छता यद् यथा यत् प्रतिभासते तत् तस्य  
मद्देशेतररूपतया विषयोऽभ्युपगन्तव्यम् यथा चक्षुरादिप्रत्ययस्य नीलादिरूपतया प्रति  
भासमान रूपादि, गगान्निशब्दात् प्रतिभासते च गगान्नि वस्तु, तस्मात्तदेव तच्छब्दाना  
विषय, न पुन सामान्यमात्रमिति ॥७॥

एतेन विधिरेव वाक्यार्थ इति विधिनाम्नैतमप्यपास्तम् । ते हि ब्रुवते—विधि-  
रेव वाक्यार्थ अप्रवृत्ताप्रवर्त्तनरभाप्रवृत्तात्स्य । तदुक्तम्—“विधौ  
विधिवद् विधिषव  
पक्षा—  
क्षिण्णमतावदप्रवृत्तप्रवर्त्तनम् ।” [ ] इति । तल्लक्षणे च विधौ  
वादिना त्रिप्रतिपत्ति, तथाहि—वाक्यरूप शब्द एव प्रवर्त्तन्त्याद्

(१) गगान । (२) अर्थापत्ति—आ० टि० । (३) चत्रेण हि सामान्य गहीत विशेषस्त्वर्था  
पत्त्या, किं लक्षणया ?—आ० टि० । (४) सामान्यप्रतिपत्ति । (५) सङ्केतस्मरण । (६) अर्था  
पत्तेरनुमानाद्वा । (७) सामान्यस्य । (८) अस्यमिति प्रतीतिवृत्त वा इति तृतीये विकल्प । (९)  
विध । (१०) 'अनुष्ठय हि विषय विधि पुमा प्रवत्तक ।'—मी० श्लो० वाक्या० श्लो० २७४ ।  
'तत्राज्ञाताथज्ञापको वदभागा विधि ।'—अयस० पू० २९ । 'प्रवतकचिकीपाया हनुधीविषयो विधि ।  
—गदग० का० १०१ । 'या हि विष्ययेन लिङा लोटा कृयवाऽपूर्वोपदेश कियने स विधि ।'—मुक्ति  
दो० पू० २० । (११) 'ननु चाहु विधेऽलक्षणमतावदप्रवृत्तप्रवतनम् । अतिप्रसङ्गदोषेण नानानज्ञापन  
विधि ॥'—न्यायम० पू० ३४० ।

१ प्रतीयत एव व्य-अ० । २-सहकारि व्य-व०, अ० । ३ तदव्ययता-अ० व० । ४ प्रतिक्षेपव्यय  
व०, अ० । ५ तत्रय प्रवृ-व०, अ० । ६-हेतुत्वसिद्धिरिति तृतीय-व० । ७ तस्याच्च सत्यां तत्रय तस्य  
प्रवृत्तिहेतुत्वसिद्धिरिति आ० । ८-मतमपास्तम् व० । ९ विधिलक्ष-व० ।



विविधित्वेके । तद्व्यापारो भावनाऽपरपयायो विधिरित्येये । नियोगरित्यपरे । प्रैपादय  
 न्त्येके । तिरस्कृततदुपाधिप्रवर्त्तनामात्रम् इत्येये । प्रवर्त्तकत्वात् फलमेव इत्यपरे ।  
 फलभिलाष एव इत्येके । कर्मैव इत्यन्ये । आत्मनोऽप्राप्तत्रियासम्बन्धावगम इत्यपरे ।  
 श्रेयसाधनत्वाख्यधर्म इत्येके । उपदेश इत्येये । कर्त्तव्यताप्रतिपत्तिरेव इत्यपरे ।  
 5 प्रतिभैर इत्येके । भक्तिरेव इत्येय । इत्यैव इत्यपरे । प्रयत्न एव इत्येके इति ।

तत्र शब्दविधियादिनो भ्रुयते—अन्यव्यतिरेकाभ्या प्रवर्त्तकत्वमवधार्यते, तौ च  
 अन यथासिद्धौ शब्दस्यैव प्रवर्त्तकत्वमवगमयत, अत म एव विधि । अर्थस्य  
 विधित्वे “क्रियाया प्रवक्तक वचाम्” [ गारभा० १।१।२ ] इति विरुध्यते । प्रवर्त्तकार्थ-  
 प्रनिपादनद्वारेण वचनस्य प्रवर्त्तकत्वे च औपचारिक प्रवर्त्तकत्वमस्यै स्यात्, मुख्यञ्च वस्तु-  
 10 वृत्त्या तत्रै तद्व्यवस्थितम् इत्यर्थनिरपेक्षमेवास्यै तत्प्रतिपत्तव्यम् । व्यापारातिशयप्रवर्त्त-  
 कत्वपक्षेऽपि न शब्दस्य मुख्यप्रवर्त्तकत्वमिति, व्यापारातिशयसमाश्रयणेनैव सर्वस्य  
 सौम्यवस्तुसम्पादकत्वात् । न गलु काष्ठादीना ज्वालाधवान्तरव्यपारावल्म्बनेऽपि पाने  
 मुख्य कारकत्वाभिधान विरुध्यते । प्रवर्त्तकत्वञ्च यद्यपि सामायेन शब्दस्योच्यते  
 तथापि लिङ्गोद्भूतप्रत्ययान्तस्यैव तद् युक्त शब्दान्तराणा प्रवृत्तिहेतुत्वाऽदृष्टे ।

1. अत्राये<sup>१</sup> शब्दस्य विधित्वमसहमाना प्रमाणत्वात्, अनियमाद्यवृत्ते, सविदा  
 श्रयणीत्<sup>२</sup> इत्यादियुक्तिनिरोध दर्शयति । तथाहि—प्रमाणत्व तावत् प्रवर्त्तकार्थाऽवबोध

(१) भाटा । (२) प्राभाकरा । (३) परित्यक्तबुद्ध्यादिविगम-आ० टि० । (४)  
 गलस्य । (५) ग<sup>३</sup> । (६) प्रवक्तकत्वम् । (७) ग<sup>३</sup>स्य । (८) प्रवक्तकत्वम् । (९) पंचमा  
 -आ० टि० । पञ्चमो लकार इत्येय । (१०) लो<sup>३</sup> सप्तमी-आ० टि० । सप्तमी लकार इत्येय ।  
 (११) मण्णमिधायम् । (१२) प्रमाणत्वादनियमात्प्रवक्त संविगधयात् । समभिव्याहृते  
 गण्णेन विधि कायकल्पनात् ॥ -विधिवि० प० ५ । तत्र शब्द स्वरूपेण वायुवच्चत्प्रवक्तक ।  
 प्रमाणत्व विहयेन नियमान्च प्रवतयत् ॥ -न्यायसु० पृ० २६ । (१३) प्रमाणं हि ग<sup>३</sup> प्रतिज्ञायते,  
 वाचकञ्च प्रमाणम्, तत्र प्रवृत्तिहेतु कञ्चनार्थातिशयमवगमयन् ग<sup>३</sup>स्योत्पानात्वेन प्रमाणतामश्नुते  
 स्वयमेव तु प्रवृत्त कारकस्ता प्रमाणतामपजह्यात् । न हि कारको हेतु प्रमाणमपि तु ज्ञापक । -प्रमाण  
 हि ग<sup>३</sup> प्रतिज्ञायते चोत्पानात्प्रणो<sup>३</sup>र्थो धम इति । बोधकञ्च प्रमाणम अबाधितानधिगतासदिग्धा  
 र्थप्रमाणनम् । स्वयमेव तु प्रवृत्तरप्रमाया कारक ता प्रमाणतामपजह्यात् । न च प्रमाया अपि  
 प्रवृत्ते कारक कस्मान्न प्रमाणमन आ<sup>३</sup>-नहि कारको हेतु प्रमाणम् । मामूद बीजाणीनामडकुरादिका  
 र्काणा प्रामाण्यम् । किं तर्हि प्रमाणमित्याह-अपि तु ज्ञापक इन्द्रियादौ तथा भावान् । -विधिवि०, टी०  
 पृ० ५ । अन एव ग<sup>३</sup>नेपि न स्वरूपमात्रेण प्रवक्तक वाग्यान्तियत्वप्रसङ्गात् । यन्नि पवन इव पिगाव  
 इव कुनप इव ग<sup>३</sup> प्रवक्तको भवत् अनवगतग<sup>३</sup>स्यसम्बन्धोऽपि श्रवणपरवत् प्रवर्त्तक न चवमस्ति ।  
 तस्मान्प्रवर्त्तकानिमुपजनयन दास्यस्य प्रवर्त्तकत्वम् । न च नाम लिङादिरेव शब्द प्रवतकामिधानद्वारेण  
 प्रवतनो भवितुमर्हति । दास्यस्य च ज्ञापकत्वाच्चभुरा<sup>३</sup>कारकत्वलक्षण्य सत्यपि प्रतीतिजननि कारण  
 त्वमपरिहायम् । कारण च कारकम् कारकञ्च न निर्मापारं स्वकार्यनिवृत्तिक्षममिति व्यापारस्त  
 स्यावश्यम्भावी -न्यायसु० पृ० ३४२ ।

१ प्रेयणादय थ । २ इत्यपरे व० । ३ इत्येके तत्र थ व० । ४-व्याख्यति ती थ० ।  
 ५ क्रिययो प्र-व० । ६-पसोपि व० । ७ साध्यस्तु-आ० । ८ लिङ्गोद्भूत प्र-व० । ९ व० ।

एव चिना स्वतः प्रवृत्तिकारकत्वे अस्य दुर्घट चाग्नादिवत्, कारकहेतोः प्रमाणत्वानुपपत्तेः, बोधनस्यैव तत्त्वमत्रात् । अथोच्यते—वाय्नादिजनितभूतप्रवृत्तिलक्षणैवेयमइन्द्रादिसमानरूपा चिद्रूपात्मप्रवृत्तिः त्रिपयात्रयोधापेक्षिणी लिङ्गादिभिः क्रियते, तत्र, प्रवृत्तिकारकत्वात् परिकारकाणामिव प्रामाण्यानुपपत्तेः । बोधकत्वमात्रेणापि प्रामाण्ये वर्तमानाद्यपदेऽकालप्रवर्तकत्वाद्वाद्युक्तेष्वपि वाक्येषु तैत्रयसङ्गात् 'तत्र प्रवृत्तक वाक्ये शाश्वत्सिद्धोदनीच्यते ।' [मी० श्लो० बोधनासू० श्लो० ३१] इत्यस्य विरोधः । तस्मान्माध्यस्वभावयागादिद्वयापारलभ्यणविषयावबोधकत्वेनैव लिङ्गाद्यन्तस्य शब्दस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः न शब्दस्य स्वरूपेणैव विधितम् ।

तथा, अनियमात्प्रवृत्तेः, शब्दस्य हि त्रिपयावबोधनिरपेक्षस्य स्वरूपेणैव विधित्वे चेत्तन्नामस्यपि पुरुषस्य अभिप्रायतिरस्कारेण मन्त्रादिजन्यविक्षोभस्यैव त्रिविशस्य बलाकारेण शब्दात्मवृत्तिरुद्भवन्ती न वाय्नादिजनितप्रवृत्तिरैलक्ष्यमशुनीत । तथा चास्याः हेतुदेव भेदन्त्या पुरुषस्वातन्त्र्याश्रितविहिताऽन्तरणापराधनिर्वन्धनप्रायश्चित्ताप्रतिपादनस्य निर्विषयत्वप्रसक्तेः अयुक्तमुक्तम्—

‘श्रुतान् विहितं कर्म निन्दितञ्च समाचरन् ।

प्रसजश्चेन्द्रियाण्येषु प्रायश्चित्तीयत नर ॥’ [मनुस्म० ११।४४] इति ।

(१) प्रवृत्तिकारकात्प्रामाण्यम्, बोधकारकात् प्रामाण्यमिति—आ० टि० । (२) चिन्तुविधिप्रवृत्तौ कर्तव्येनैव प्रामाण्यम्—आ० टि० । “विषयावबोधनात् क्षोप इति चक्षुः तन्मात्रस्याप्यत्रापि तुल्यत्वात्, चान्नालक्षणोऽर्थो धर्म इत्यभ्युपगमानयवयात् । निराकरानि, नति । कुत ? तन्मात्रस्य अयत्रानि वनमानापत्तेःपि चक्षुः पचनीत्यादौ तुल्यत्वात् । न हि तत्र भावना नावगम्यत । अस्तु तुल्यता, वा नो ह्यनिर्वृत्यत आह—चोत्नालक्षणोऽर्थो धर्म इत्यभ्युपगमानयवयात् । प्रवृत्तकत्वं चोत्नात्वं प्रवृत्तिरुद्भवत्त्वात् । तस्माद्यन रूपेण प्रामाण्यमशुनीत न भावनामात्रवचनत्वेन तस्य अन्यत्रापि तुल्यत्वात् । तस्माद्यन रूपेण प्रामाण्यं न तेन चोत्ना येन चोत्ना न तेन प्रामाण्यं तस्य प्रवृत्तिः प्रतिपादयामात् ।—विधिवि०, टी० ५० ६ । (३) वक्तव्यम्—आ० टि० । (४) चक्षुः पचनीत्यादियु । (५) प्रामाण्यप्राप्तेः । (६) अग्निहोत्र जुहुवाम्भ्याम् । (७) ‘शब्दस्वात्मस्य च नियोगाऽवश्यं प्रवृत्तिर्यात्, तथा च श्रुतान् विहितं कर्मैति निर्विषयं स्यात् । न हि तन्नामि यत्रवन्तिलक्ष्मिणोः पनुत्मानस्यवच्छादपि तत्र प्रवृत्तिः प्रतिपादयामात् ।—विधिवि० ५० ६ । (८) शब्दस्वात्मस्य च नियोगाऽवश्यं प्रवृत्तिर्यात् । (९) पुरुषस्वात्मस्य च नियोगाऽवश्यं प्रवृत्तिर्यात् । अथवापि प्रायश्चित्तं भवन् यथा तु पुरुषस्य प्रवृत्तौ स्वतन्त्रमेव नास्ति तथा च तन्नामि प्रायश्चित्तभावात् । (१०) व्याख्या—‘प्रसजश्चेन्द्रियाण्येषु त्रिविधं यद्विहितं तच्छोभासनात् नमिनिन्दितञ्च तदवगम्यतीति स्मार्त्तं तन्नुत्तं तथा प्रतिनिर्दिष्टं तस्मात्तन्निन्दितं अविहितं त्रिविधं तन्नामिनिन्दितं बुवदत्तं मनुष्यत्रात्मात्र प्रायश्चित्तं तन्नुत्तं ।’—मनुस्म० ११।४४ ।

१ लिङ्गादि—आ०, ४० । २ परिकारका—आ०, ४० । ३ अग्निहोत्र—व० । ४ लिङ्गाद्यन्त—आ०, ४० । ५ विक्षोभस्य—व०, ४० । ६ शब्दादि—ध० । ७ अचर्या—व०, ४० । ८ शब्दस्व—आ०, ४० । ९ अयत्रानि—व० ।

नथा, 'स्विताश्रयणात् शब्द प्रवृत्ते कारक । नहि वीजातीना मद्येत्नसापेक्षणा  
स्वकार्यकृत्त दृष्टम्, ज्ञापकस्यैव धूमात्सैतदपेक्षाप्रतीते ।

त्रिञ्च, औक्षुतफलेषु त्रिञ्चनिदात्पि वास्येषु फलस्य स्वर्गाद् अधिकारिणश्च स्वर्ग-  
कामान् अध्याहार, अग्निष्टोमादिषु च स्वर्गकामादो ज्ञापदार्थोपसर्जनीभूतस्वर्गान्  
पदार्थाना फलत्वात्प्रवृत्तमाय एवमाद्यर्थाभिसम्प्र-धो व्यर्थ, वैश्यादिवत् फलादिस-  
म्प्रधानपक्षस्यैव शब्दस्य प्रवृत्तिहेतुत्प्रसङ्गात् । तत्र शब्दो विधि ॥६॥

शब्दव्यापारविधिवान्निस्तु युवते-लिङादि( लिङान् )शब्दश्रवणात्तर वृद्ध-  
शब्दश्रवण प्रवृत्त्यात्पर्यायार्थानात् तत्कारणत्वेन कल्पितस्य शब्दव्यापारस्य मे-त्रपत्रैनात्-  
वैलम्बयेत प्रवृत्तिहेतो समवान्त पूर्वोक्तदोषानुपपन्न । तदुक्तम्-

10 'अग्निधामानामाहुरयामा लिङादय ।' [ तन्त्रवा० २।१।१ ]

(१) तापकश्च स्वरूपमसन्त्वधविषयानामपे ते लिङादिस्वरूपान् प्रवृत्त कारकमित्यनु-  
पयुक्तस्वरूपनत्वमसम्प्रधविषयमविशेषिषु प्रवृत्तिप्रसङ्ग । -विधिवि० प० ७ । (२) स्वयन्नेत्या-  
पेता । (३) विद्वज्जिज्ञान्निष्ठेषु स्वर्गादिषु न श्रुती कथाकथनत तत्र सामान्यरूपेण स्वयंरूपस्य फलस्य  
अध्याहार क्रियत । तथा चोक्त जमिनिषायमालायाम्-(४।३५) 'नवार्थान् विद्वज्जिज्ञान् फलमस्मृत्त-  
नाश्रुते । भात्यापनाद्विषयस्य फलस्य प्रवृत्तय ।' इष्टव्यम्-गावरभा० शास्त्रदी० ४।३।१०-१७ ।  
'अपि वाधुनस्येषु फलात्प्राहार क्वचित्त्रूपकारकत्वेना श्रुतानामपि स्वर्गातीना फलत्वात्प्रवृत्तमाय-  
र्त्तन सव एव महिमा विधे । स शब्दस्य तदभावजन्यपपन्न-अपि चाश्रुतफलेषु पिण्डपितयज्ञादिषु  
स्वर्गादिषु प्राध्याहार क्वचित्फलरूपकारकत्वात् समिन्नादी श्रुतानामपि पूर्वपवितोपपत्तया स्वर्गातीना  
फलत्वात्प्रवृत्तमाय इति सव एव महिमा विधे । स शब्दस्य तदभाव विधिभावजन्यपपन्न ।'-विधिवि०  
टी०पृ० १४ । (४) अत्र हि श्रुतिवाक्यविषय अधिकारी चोक्तो न त फलस्य तन्त्र स्वयंकारमाख्याधि-  
वारिलक्षण पदार्थे स्वयंकारमाख्यायि ममास्य पूर्वपदतया उपसर्जनीभूत स्वयं फलतयाध्यवसोयत-आ०  
टि० । (५) 'प्रवृत्तकर्मणि चेन्न तस्यापि पवनान्निर्वर्तित बोधपत्त फलरूप कारक विना । तस्मान्न  
विधि फलमस्तद्व्यापारो वा । अत-प्रवृत्तकर्मणि चत् लिङान्त्य स्वटु पुमा प्रवृत्तका न चन  
निष्फले प्रवृत्तयिषु पूर्वपमीगत इति तन्व्यथानुपपत्त्या फलत्वानत्यथ । विराकशति न । तस्यापि  
प्रवृत्तकर्मण्य पवनान्निर्वर्तित इवापपत्त । नहि यो य प्रवृत्तयति स सव फलमपक्षाने पवनादीना  
प्रवृत्तयनामपि तन्त्रपेक्षत्वात्प्रातिह्यस्य । -विधिवि० टी० पृ० १४ । (६) भट्टकुमारिलान्त्य ।  
'भावनैव च चाकषाद्य सवशास्त्रयानवशतया । अतकगुणजात्यान्कारकापान्नीरुञ्जता ॥ एकयत्तु  
वृद्धघानी गहान चित्रग्याया । -मी० श्ला० प० ९३९ । 'वत्रार्थात्मिकाया भावनाया लिङादि  
गणनाय पुरुष प्रति प्रयोजकव्यापार सात्त्विकीया गन्धमोऽग्निधात्मिका भावना विधिरित्यख्यते ।'  
-तन्त्रवा० २।१।१ । (७) यथा कश्चिन्मत्रेण अभिचारिकात्तिना पारवस्य नीनाऽनिच्छयापि प्रवृत्तत  
-आ० टि० । (८) व्याख्या- 'वत्त व्युत्पत्त्या करणव्युत्पत्त्या वा अभिधानात्स्य शब्दरूपत्वमङ्गीकृत्य  
अभिधाया तास्य भावना भावना व्यापार प्रवृत्तनासामान्यव्यक्तिभूत लिङादय प्रवृत्तनासामान्य  
मभिधाना निर्विधानासाधारण्येण प्रयागे च लोकदृष्टस्य विशयस्य पुरुषधमत्वेन अपरीहय  
वेऽसम्प्रदान प्रवृत्तनासामान्यस्य च प्रयागिप्रवृत्तकव्यापारवर्तित्वानान् लिङान्त्रेव च वेत्ते प्रवृत्तैव

1 बीजाना आ० । 2-अग्निविषु फलस्य आ०, व० । 3-मंत्रपवृत्तयदि-आ०, मन्त्रपवृत्तयदि-  
व० । 4-वाप्रत्युर्वा-आ० ।

अभिधाया शब्दस्य लिङादेर्यामौ भावना पुरुषप्रवृत्त्युत्पत्तिं प्रति स्वीयप्रयो-  
जकव्यापार तस्य अभिप्रायका लिङान्त्य । भाव्यनिष्ठश्च भावकव्यापारो भावना । अन्व-

त्वावधारणान् लक्षणया गमयन्तीत्यर्थः ।'-वायसु० प० ५५९ । जमिनिन्या० पृ० ७५ । तत्ररह० पृ०  
४७ । मानमेयो० पृ० २७२ । धयाकरणभू० द० पृ० १५६ । मुक्ता० दिन० पृ० ५१५ । "अभिधीयत  
इति अभिधा प्रवतना क्तव्यता वा सैत्र च पुरुषप्रवृत्तिं भावयतीति भावना तामाहुरिति । अथवा  
अभिधाया शब्दस्य भावना अभिधाभावना सव प्रवतना परममवतापि शब्दन् पुरुष प्रवतयता  
तस्मिद्ध्य अभिधीयमाना शब्दव्यापारत्वनाच्यन् तामाहुरिति । अथवा इष्टसाधनताभिधानमभिधा सव  
विधान विधिरिति व्युत्पत्त्या विधिरित्युच्यते । मव च भक्तिरूपं प्रतिपद्यमानाया पुरुषप्रवृत्ते  
प्रयोजकस्य शब्दस्य व्यापारो भावना तामाहुः ।'-न्यायरत्नमा० प० ५३ । मीमांसायाय० प० १८१ ।  
उद्धतीयम-'शब्दमभावनामाहुः'-अष्टसह० पृ० १९ । तत्त्वव्यश्लो० प० २६२ । विधिवि० प० १५ ।  
न्यायम० पृ० ३४३ । चहदा० भा० वा० टी० प० ५९० । 'अभिधा भावना'-न्यायकु० प्र० ५१३३ ।  
मीमांसाप्र० प० ८ । मीमांसायाय० प० १८१ । शास्त्रदी० २।१।१ । 'वायरत्नमा० प० ४७ ।  
मीमांसाबाल० पृ० ७५ ।

(१) 'तेन भूतिषु क्तत्वं प्रतिपन्नस्य वस्तुन । प्रयोजकक्रियामाहु भावना भावनाविद ॥'-  
तत्रवा० २।१।१ । 'इह हि लिङान्तियुक्तेषु वाक्येषु द्व भावन गम्यते । शब्दात्मिका च अयात्मिका च ।  
तत्र लिङादीना प्रयोजकत्वं पुरुष प्रयोज्य, तेन किमित्यपेक्षाया पुरुषप्रवृत्तमिति सम्बध्यते ।  
अथ तु याग्यतयव लिङादिविषया त्रियोच्यते प्रवतयन्ति तत किमित्यपेक्षित पुरुषमित्येव सम्बध्यन् ।  
अथ केनेत्यपेक्षित पूर्वसम्बन्धानुमवापेक्षेण विधिज्ञानमिति सम्बध्यते । कथमिति प्रागस्त्यज्ञानानुगही  
तेनिति । कुत एतत् ? बुद्धिपदकारिणो हि पुरुषा यावत् प्रशस्तोऽयमिति भावबुध्यते तावन् प्रवतन्त  
तत्र विधिविभक्तिरवमीदिति ता प्रागस्त्यज्ञानमुदाह्नान्ति । तच्च पुरुषार्थात्मिकं फलाश सवस्य स्वयमे  
वानुष्ठान भवतीति प्रसिद्धत्वान्न वदादुत्पद्यमानमपेक्ष्यते । साधननिकृतव्यतयास्तु अप्रवतपुरुषनिधा  
गच्छाश्रयमेव प्रागस्त्यप्रतिपादनायावाट् द्वयने ।'-तत्रवा० १।२।१ । 'वायसु० पृ० ३२- । 'भाव्य  
भावनतमर्थो हि व्यापारो भावना ।'-भावनावि० प० ६ । "भाव्यात्पादानुकूलस्य व्यापारस्य भाव  
नात्वप्रसिद्ध ।'-न्यायसु० पृ० ३१ । 'भावना नाम भवितुमवतानुकूला भावयितुर्व्यापारविशेष ।'-  
अथस० प० ११ । "भवितुमवतानुकूलो भावकव्यापारविशेष ।'-मीमांसायाय० प० २ । "तत्र  
प्रवत्यनुकूला व्यापारोऽभिधा, फलानुकूला व्यापारो भावनति विवेक ।'-मीमांसाप्र० प० ८ ।  
"भाव्यनिष्ठा भावकव्यापारो भावना । भाव्य हि स्वर्गादिफल माध्यमानत्वात् तनिष्ठस्तदुत्पादकश्च  
पुरुषव्यापारो यस्य भावना ष्यन्तेन भवतितीत्येव । प्रवृत्त्यस्य भवते वर्तय स्वर्गादि स एव ष्यन्तस्य  
कमना प्रतिपद्यत । क्त्वा त्वस्य प्रयोजक पुरुष णदवाध णिज्वाध्य प्रयोजकव्यापार पुरुषो हि भवत  
स्वर्गादि स्वव्यापारण भावयति सम्प्राप्यति, स तत्सपादको व्यापारो भावनेत्युच्यते ।'-न्यायम०  
पृ० ३३५ । भावनात्व नाम भवितु पयोजकव्यापारवत्त्वम् । तत्राथभावनाया भवितुर्जायमानस्य  
स्वर्गादि प्रयोजकव्यापारत्वात् लक्षणसगति शब्दभावनायामपि पुरुषप्रवृत्तिरूपस्य भवितु प्रयोजकव्या  
पारत्वात् लक्षणसङ्गति ।'-मी० परि० पृ० २० । (२) तस्मान्ति पुरुषप्रवृत्तिक्रिया विधिज्ञान  
करणिका अथवादोत्पादितविषयप्राप्त्यज्ञाननिकृतव्यतोपेक्षा लिङान्त्यव्यापार प्रेरणात्मिका शब्दभावना  
अभिधानलक्षणोपि च दवदरातेरिव व्यापार शब्दभावना ।'-भावनावि० टी० पृ० ९४ । 'तत्र  
पुरुषप्रवत्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेष शब्दी भावना । ना च लिङप्रवणेऽय मा प्रवतयति मत्प्र  
वत्यनुकूलव्यापारवानिति नियमन प्रतीति । यद्यस्माच्छब्दान्वयमन प्रतीयत तदास्य वाच्यम यथा

भाषनायाश्च भाष्या पुरुषप्रवृत्तिः, प्रवृत्तिर्मानं वा पुरुष । प्राशस्त्याभिधानञ्च विना  
 विधिश्चित्तिनिमित्तंयमुपगतापि प्रवृत्तिनाया न समर्था भवति । न हि 'इमा गा  
 वीणीपत्र' इति शनकृतोप्युक्तं कश्चित् प्रेतु प्रवृत्तिं यावत् 'धटोष्ठी सम्पन्नश्रीरा'  
 इत्यादि प्राशस्त्यैज्ञानं न प्रवृत्तिः । अतः अर्थनादोपजनितप्राशस्त्यज्ञानमचिवा शब्द-  
 5 भावना प्रवृत्तानाम् । सा च ईशपरिपूर्णा भवति—'किम्, केन, कथम्' इति । किं  
 भावयेत् ? स्वर्गम् । केन ? ईशपौर्णमासाभ्याम् । कथम् इति ? इतिवर्तयता दर्शयति  
 प्रथानादिन्यापाररूपाम् । सेत्थ त्र्यशपरिपूर्णा शब्दभाषना फलभावनाया पुरुष

गामानयत्यस्मिन् वाक्ये गोशब्दस्य गोत्वम्, स च व्यापारविणो लौकिकवाक्ये पुष्टनिष्ठा मिश्राय  
 विधेयं वक्तृवाक्ये तु पुरुषामावालिङ्गानिष्ठ एव । अत एव गार्गी भावनेति व्यर्थाह्वयत । —अथ  
 स० प० ११-१३ । मीमांसायाव० प० ३ १७८ । मीमांसायप्र० पृ० ८ ।

(१) एतावता अथवात्वाक्यानां माभूत्प्रामाण्यमिति—आ० टि० । (२) प्रवृत्तिर्दुःखमञ्च प्रवृत्ति  
 न्ति प्रवृत्तानाम्—विधिपि० प० २४३ । प्रवृत्तिरेतुभूत प्रवृत्तयितुभूत प्रवृत्तानाम् ।—मीमांसाबाल० प०  
 ७५ । मीमांसायाव० प० १८० । (३) तुलना— लौकिकानि वाक्यानि भवन्तो विदाहकुचन्तु ।  
 तद्व्याप्यं गो प्रवृत्त्या नैवन्त्याया । ग्या हि बहुश्रीरा स्यपत्वा अनष्टप्रजा चति ।—गार्गीभा० ११२ ।  
 २० । (४) 'सा च भावनागत्यमपेक्षते साध्य साधनमितिकृतव्यताञ्च, किं भावयत केन भावयत  
 वयं भावयेति । नत्र साध्याकाङ्क्षायां कथ्यमाणान्नयोपेक्षा आर्थाभावना साध्यत्वेनान्वेति एकप्रत्य  
 यगम्यत्वं समानाभिधानधुन । मन्व्यानेनामेकप्रत्ययगम्यत्ववर्ष अथाप्यत्वात् साध्यत्वेनावय ।  
 साधनाकाङ्क्षायां लिङ्गानिष्ठान् करणत्वेनान्वेति, तस्य च करणत्व न भावनोत्पन्नत्वेन तत्पुत्रमपि  
 तस्यां शब्दे सत्त्वात् किन्तु भावनात्पन्नत्वेन शब्दाभावनाभाव्यनिवृत्तत्वेन वा । इतिकर्तव्यताका  
 ङ्क्षायाम् अथवात्वाप्यप्राशस्त्यमितिकृतव्यतात्वेन अन्वति ।—अथस० प० १६-१८ । मीमांसा  
 म्याव० प० ३ । करणागो विधिनान् किमस्य पस्पवतनम् । इतिकृतयता चात्र ह्यथवादप्रामनम् ।  
 —बृहदा० भा० वा० प० ५९० । 'प्रवृत्ताप्लिकायाञ्च अभिधायामपि साध्यभाषनेतिकृतव्यतरूप  
 मशत्रयमपेक्षितम् अन्यथा तस्य स्वरूपेण फलनदवानानान्प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । तत्र लिङ्गानि विधिज्ञानं  
 करणत्वेनावेति माग इव अथभावनायाम् । प्रवृत्तिरथ च साध्यत्वेन स्वयं इव अथभावनायाम् । अथवा  
 शत्रिय प्रागम्यतानमितिकृतव्यतात्वेन प्रयाजाद्यङ्गानामिव अथभावनायाम् । तत्पुत्रम्—लिङ्गाभिधा  
 मव च शब्दाभावना भाष्यं च तस्या पुष्टप्रवृत्तिः । सम्बन्धबोधं करणं तनीयं प्ररोचनां चाङ्गतयो  
 पयज्यते ।—मीमांसाय० प० ११ । प्ररोच्यतेऽनपेक्षितं प्ररोचनां प्राशस्त्यतानं तच्छाङ्गं फलोपकारिप्रयाजा  
 निवन्—मीमांसाबाल० पृ० ८१ । मीमांसापरि० प० १८ । "तत्र किं भावयेत् केन भावयत्कथं भाव  
 योत्वाकाङ्क्षायां स्वर्गं भावयत यागनं भावयत अग्न्यावाधानप्रयाजावघातानिभिरुपकारं सम्पाद्य भाव  
 यतिव्यं भाष्यकरणेनिकृतव्यताममयनं आकाङ्क्षापूरणात् प्रकरणाम्नात् सकलं शब्दसम्बन्धं भाव  
 नवाचिन आख्यानस्य प्रपञ्च । भाष्याद्यत्रयवती संयमर्थाभावनोप्युच्यते । सा सर्वापि शब्दाभावना  
 या भाष्या विधायको लिङ्गानि करणम् अथवादसम्पादितं स्तुतिरिति कृतयता । सेयं शब्दाभावना  
 लिङ्गानिभिरैव गम्यते । अथभाषना सर्वोत्पन्नप्रत्ययगम्यत्वं इत्युक्तम्—जमिनिग्या० प० ७६ ।  
 (५) अभावस्यायां क्रियमाणो दणविणो दणं पीणमास्याञ्च विधीयमानं यनान्छानं पीणमाम  
 इति । (६) यत्रे क्तव्यताविणो—आ० टि० । 'आरादुपकाररूपा प्रयाजादि—न्यायस्त्र  
 मा० प० १२० । (७) आर्थाभावनायाम् ।

1-प्रवृत्तिमानवाव । 2-मान् पुष्ट-प्र० । 3-स्वमुपाग-आ० । 4-घटादिस-व । 5-घटादिस  
 -प्र० । 5-प्रशस्तज्ञानं अ० । 6-तत्र अ० । 7-इतिमिति कथमिति यमुपपन्नकृतव्यता अ० ।

प्रवर्तयति । यद्यपि चेच्छास्त्रस्थान्य पुरुषप्रवृत्तिहेतव तथापि न तेषां मुख्य प्रवर्तना-  
व्यपदेश, शब्दभावनायास्तु साध्यावगतिकारित्वेन मूलभूतत्वात् मुख्यै । 'शब्दभावना'  
इति शब्दशब्देन शब्दधर्मतया व्यपदेशात्, यथा भ्रामादिदेवैः राज्ञो दातृत्वव्यपदेशो  
मुख्य लौकिकान्तिना तु राजादेशानुसारेण प्रवृत्तानामौपचारिक एवमत्रापि । तदुक्तम्—

“साध्यत्वे हेतुव्यापार कथ्यते शब्दभाषना ।

शब्दधर्मतयाख्यात वैर्यससुचितस्थिति ॥” [ ]

तथा च शब्दभावनासद्भावे किं प्रमाणमिति पर्यनुयोगोऽनुपपन्न, यथैव हि अर्थ-  
प्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या शब्दस्य अभिधात्मको व्यापार परिक्ल्प (कल्प) ते तथा प्रवृ-  
त्त्यन्यथानुपपत्त्या लिङ्गादे प्रवर्तनात्मकोऽपीति । तत्र 'यजेत स्वर्गनाम' इत्यत्र द्वे भावने  
प्रतीयेते शब्दात्मिका पुरुषप्रेरणारूपा अर्थात्मिका च पुरुषव्यापाररूपा इति । तत्र लंकार-  
सामान्यस्यार्थ अर्थभाषना । उक्तञ्च—

“इयं त्वन्यैः सर्वार्थां सर्वार्यातेषु विद्यते ।” [ तत्रवा० २।१।१ ] इति ।

पुरुषव्यापारस्य हि सर्वत्रैर्ये विद्यमानत्वात् सर्वार्था अर्थभाषना, 'यजते,

- (१) लौकिकप्राया—आ० टि० । द्वारपालसदृशा इत्यथ । (२) इच्छास्मृत्यादीनाम् ।  
(३) प्रवर्तनाव्यपदेश । (४) लौकिक-व्यपहारिणाम द्वारपालादीनाम् । (५) पुरुषरूपण वार्येण तस्या  
मित्व मूच्यत—आ० टि० । (६) आख्यातविभक्ति—आ० टि० । (७) “प्रयोजनेच्छाजनितत्रियया  
विषयव्यापार आर्थिभावना । सा चाख्यातत्वाक्षनोच्यते आख्यातसामायस्य व्यापारवाचि-वात । साप्य  
त्रयमपेक्षते साध्य साधनमितिकृतव्यताञ्च किं भावयत्वेन भावयेत्कथं भावयेदिति । तत्र सात्याका  
दक्षाय स्वगादिपत्र माध्यत्वेनान्वेति, इतिवत्तत्प्यताकादक्षाय प्रयाजादञ्जजातमितिवत्तव्यतात्वे  
नान्वति ।”—अथस० पृ० १९ २३ । “प्रवृत्तिश्चाथभावनव—मीमांसाथ० प० ९ । 'स्वर्गच्छाजनितो  
यागविषयो य प्रयत्न स भावना । स एव चाख्यानाक्षेनोच्यते । यजत इत्याख्यातश्रवणे यागे यतत  
इति प्रतीतिर्जायमानत्वात् अनश्च प्रयत्न एवार्थी भावना । यथाहु—(पायसु० पृ० ५७९) प्रयत्न  
व्यतिरिक्तार्थीभावना तु न शक्यत । वक्तुमाख्यातवाच्येह प्रस्तुतेत्युपरम्यते ॥—मीमांसाया० प०  
१८५ ८७ । (८) आर्थिभावना । “अर्थात्मभाषना त्वमा सर्वख्यातपु गम्यते ॥”—तत्रवा० २।१।१ ।  
शब्दा० भा० वा० टी० पृ० ५९० । शास्त्रदी० २।१।१ । पायसु० प्र० ५।१३ । जमिनि-या० पृ०  
७५ । मीमांसाशाल० प० ७५ । 'सर्वख्यातस्य गोचरा'—मीमांसाथ० प० ८ । प्रवृत्तपाठ—अष्टसृ० पृ०  
१९ । तद्वार्थश्लो० प० २६२ । अर्थात्मा भावना त्वया सवत्राख्यातगाचर ।—तत्ररह० प०  
४७ । मानमेयो० पृ० २७२ । 'सा चाख्यातस्य—व्याकरणभू० व० पृ० १५६ । मुक्ता० विन०  
पृ० ५१५ । व्याख्या—“विषयाया भावनाया पुरुषाथरूपभा-प्रनिष्ठत्वसूचनाय इच्छायोमित्व सूच  
यितुम् इच्छाया अथपने णिजन्ताचयत इति वत्तु विवक्षायामेरजित्यचप्रत्ययोत्पान्नेन अधिन पुरु  
पस्य अथपनेन अभिधाना भावनायाश्च पुरुषधर्मत्वात् धर्मधर्मिणोश्चात्पन्न भेदाभावात् तादात्म्य  
विवक्षित्वा अर्थात्मा चामो भावना चति विप्रह वाय । अयामिति अर्थभाषनापत्तित्वं शब्दभावनाया  
सूचिनन ”—व्यायसु० पृ० ५६० । (९) अतीतान्ते—आ० टि० । “यदा हि सर्वार्यातानुवर्तिनी  
करोतिमानुवाच्या पुरुषव्यापाररूपा भावनाऽवगता शक्यति, तदा तद्विधाया सामायाख्यातव्यतिरिक्त  
शब्दविशेषवाच्या विधिप्रतिपद्यन्तुनभविष्यद्वृत्तमानान्य प्रतीयन्त । तथा च सवत्र सामायत करा  
१—याने थ० । २ साध्यत्वेतव्यापार—थ० । ३—हेतुव्यापार आ० । ४ अभिधानात्मको व० थ० ।

अयजत, अयष्ट' इत्यादि मर्वात्प्रायेतेषु च विद्यते । न हि तत्र पुरूपप्रेरणारूपा शब्द-  
भावनाऽनुभूयते मिद्वयस्य आत्मव्यापारस्य अर्थभावनापरपर्यायस्य अनुभवात् । लिङ्गान्-  
त्रिपये तु 'यचेत' इत्यागो द्वयमनुभूयते-एवार्थं त्रिप्समानो हि पुरुष स्वव्यापारे याग-  
विधानरूपे प्रवर्तते इति अर्थभावना, तमय लिङ् प्रवर्तयनीति शब्दभावना चेति ॥४॥

6 तदेतद्भारनादादिनो मतमयुक्तम्, यत् शास्त्रस्य भावना, शब्द एव वा भावना  
शब्दभावनया स्यात् ? प्रथमपक्षे शब्दस्य भावना प्रकृत्यम्, तत्र प्रपणाध्येषणरूपम्,  
तस्य चेतनात्मकपुरुषधर्मत्वात् अथ शब्दऽनुपचरितस्य समर्थ ? वैद्वर्माध्यासितपुरूप  
प्रयुक्ताद् वाक्याद्वयं हि शब्दे तत्त्वभाष्यते न मुरयत ।

10 किञ्च, 'प्रेर्यप्रेरकयोर्निष्फला प्रवृत्तिः । किञ्चिद्धि स्यात्तन्नि परत्र वा अर्थो  
नर्थप्राप्तिपरिहारादिप्रयोजनमभिमन्धाय कश्चित् प्रेरकः प्रेर्यश्च प्रसिद्धः । नै चाचेतने  
शब्दे तदभिसन्धानं सम्भवति तत्रैव तस्य प्रेरकत्वम् ? वैद्वर्माध्यासितपुरूप  
अनभिप्रायस्यापि प्रेरकत्वे शास्त्रविधिपद्धतिज्ञानाऽप्येवोपोषेण निपातः स्यात् ।

त्यर्थोऽवगम्यत । किं करोति ? पचति । किमकार्यान्पाशीत । किं करिष्यति पच्यति । किं कुर्यात्  
पचत । किं कुर्यात् पचति । -तत्रवा० २।१।१ ।

(१) आख्याते । (२) सिद्धकत त्रियावाचि याख्यातप्रत्यय सति । सामानाधिकरण्येन करोत्य  
र्थावगम्यते ॥ तस्मात् आत्मककत यापारवचनानि करोत्यवन्त्याख्यातानि । -तत्रवा० २।२।१ ।

(३) नतस्मात्प्रथमं न प्रयोगानिरूप्यत्वात् अर्थानि पूर्वोपेत । अप्रवृत्ते फलायोगात् रूपोक्तेर्व्यपृत्ति  
श्रुते ॥ -विधिबि० पृ० १६ । असत्त्वादप्रवृत्तस्य नाभिधापि गरीयसी । वाचकस्य ममानत्वात्  
परिणोपेति दुर्लभ ॥ -वाचकु० ५।१३ । (४) मन्नापुरस्तरा यापारणा प्रपणम् निवृत्त  
विषयो निपात इत्ययम् । यत्पुनरुपहितं व्यापारयति तदध्येषणम् अर्थानि विषय प्रवाधनमित्ययम् ।

-वाचप० प्र० त० वा० प० २५७ । प्रवृत्तपुरूपपेक्षया ज्यायसा वक्रा प्रतिपालमान काय प्रय इति  
व्यपत्तिरित्ये । समन आमन्त्रणम् । हीनेनाध्ययणमिति । -प्रक० प० प० १८० । (५) न हि प्रेपणा  
भ्यनुनाल्लभणा शास्त्रस्य यापारो निरूप्यते तस्य पुरुषधर्मत्वात् । न हि प्रपणाध्येषणाभ्यनुनाल्लभण  
शास्त्रस्य प्रयोगो व्यापारो निरूप्यते । ननु शब्दोच्चारणानन्तरं तन्व्यगमात्तनोक्तमिति कथं प्रपणादिलक्षण  
शास्त्रप्रयोगो न निरूप्यते इत्याह-तस्य पुरुषधर्मत्वात् । सत्यं शब्दविधानानन्तरमुपक्रम्यते । न त्वसी  
शास्त्रस्य अभिप्रायमन्वत्वात् । प्रपणात् अचेतनत्वेन शास्त्रसम्भवात् । -विधिबि०, टी० प० १६ । (६)

शास्त्रस्य अचेतनत्वात् पुरधाभिप्रायरूपा प्रपणादय उपचरिता एव सम्भाव्यन्ते न तु मुख्या इति ।

(७) प्रपणाध्येषणाधिर्मन्त्रकपुरूपम् । (८) प्रपणाध्येषणरूपम् । (९) न प्रवर्तते पुरुष प्रवर्तयतीति  
शास्त्रमदान्तुरोपेतत्वात् । न हि सर्वस्मिन् प्रवर्तयितरि प्रवर्तित प्रक्षावताम अपि त्वनुविधय । न चार्था  
नर्थप्राप्तिपरिहारादनुविधानकारणं स्वाम्यादाविव शब्दे समस्ति । पश्चात्प्रवृत्तौ तद्व्यप्यम् । -विधिबि०

प० १८ । (१०) अर्थानर्थप्राप्तिपरिहारादिप्रयोजनानुसन्धानम् । (११) शब्दस्य । (१२) 'स्यात्त  
पवनात्त्रिपयत्ति प्ररयति परयम् तन्मत, अर्थान् अन्वयान् व्यापारस्यापि वाच्यत्वरिव

स्वभावात् प्रकृत्यात् पूर्वोक्तनोपापालात् । न वाच्यत्वं सन्नि तन्व्यापारा  
भिधानमङ्गलं अनभिहितव्यापारस्य वा

प० १८ । (१३) शास्त्रस्य । (१४)

किञ्च, अस्या सद्भावे प्रमाणम् लिङादिश्रवणानन्तरभाविनी प्रवृत्ति, लिङादि-  
शब्द एव वा ? न तावत्प्रवृत्ति, नैस्यास्तन्निवन्धनत्वेन क्वचिन्व्यापारोऽदृष्टत्वात् । यत्रि-  
वन्धना हि प्रवृत्तिर्लोके दृष्टा तदेव ता दृष्ट्वाऽनुमातु युक्तम्, न पुन अप्रतिपन्नपूर्व  
शाब्दव्यापारविशेष अप्रामाणिकत्वप्रसङ्गात् । नैपि लिङादिशब्द एव तत्र प्रमा-  
णम्, अगृहीतसम्बन्धस्य शब्दस्य अवाचकत्वात् । तदप्रहश्च तद्व्यापारविशेषलक्षणस्य  
सम्बन्धिनोऽनवधारणात् सिद्ध । नहि अनवधारिते सम्बन्धिनि सम्बन्धनोप समवति,  
अतिप्रसङ्गात् ।

किञ्च, शब्द स्वव्यापार विधिज्ञानसव्यपेक्षो जनयति, अनपेक्षो वा ? न  
तावदनपेक्ष, विधिज्ञानस्य पुरुषप्रेरणाया करणत्वाभ्युपगमात् । अथ शब्दे विधिज्ञान  
जनयित्वा तत्करणानुगृहीतस्तत्प्रेरणारूप स्वव्यापारमारभते, तदिदमलौकिकम्, न हि  
कस्यचिद्वस्तुन स्वज्ञानम् उत्पादहेतु लोके प्रतीतम् । यदि च शब्द स्वव्यापार करोति  
अभिधत्ते च, तदा उत्पाद्य पश्चात्तमभिधत्ते, युगपद्वा उत्पादयति अभिधत्ते च ? तत्र  
प्रथमपक्षोऽनुपपन्न, न खलु शब्द स्वव्यापारमुत्पाद्य पश्चात्तमभिधत्तीति श्राद्धिना-  
दन्य प्रतिपद्यते । द्वितीयपक्षोऽप्यप्रतीतिक, नहि 'सकृदुचरित शब्द स्वव्यापारस्य  
कर्त्ता यत्का च भवति' इति प्रामाणिक प्रतिपद्यते । सिद्धे हि वस्तुनि प्रतिवन्धारणमपूर्विका  
वचनस्य प्रवृत्ति प्रतीयते ।

ननु लिङादिशब्दश्रवणानन्तर प्रवृत्त्याख्यकार्यस्य प्रवर्त्तिनोऽहमिति प्रतिपत्तिव  
प्रतीते कथं तत्र तत्कर्त्तृत्वाप्रतिपत्तिरिति चेत् ? तदयुक्तम्, यतो द्विविधा प्रवृत्ति प्रती-

(१) शब्दभावनाया । (२) प्रवृत्ते । 'लिङादिश्रवणानन्तरभाविना प्रवर्त्तित्व प्रमाणमिति  
चम्र तन्निवन्धनत्वेन प्रवृत्तरयथाददृष्टत्वात् । त (घ) त्रिवन्धना हि प्रवर्त्तित्वात् तत्र ता शब्दा  
गकथमनुमानुम्, न पनरप्रतिपन्नपूर्वकरणभाव शब्दव्यापारविशेष । -वाक्यापारम० पृ० १७ । (३)  
शब्दभावना-आ० टि० । (४) शब्दभावनास्य-आ० टि० । (५) 'प्रमाणमिति' एव प्रमाणमिति  
माहसम्, अगृहीतसम्बन्धस्य शब्दस्यावाचकत्वात् । अनवधारित हि सम्बन्धिनि सम्बन्धनोपवयुयान् ।  
-प्रक० प० पृ० १७२ । (६) सम्बन्धाप्रमाणम् । (७) पुरुषप्रवृत्तिरूपम् । (८) 'म्यापन शब्द  
विधिज्ञान जनयित्वा तत्करणानुगृहीत प्रेरणारूप स्वव्यापारमारभत' इति न श्रवणानान क्रियासि  
पत्तावेव वरणत्वात् तदिदमलौकिकम् न हि कस्यचिद्वस्तुन स्वज्ञानमप्याहमिति प्रतीतम् । -प्रक०  
प० पृ० १७३ । (९) विधिज्ञानरूपकरणम् । (१०) पुरुषप्रेरणा । (११) 'तत्रा-य-वाक्यानि व्यापार  
त्रियत चाभिधीयत च स हि पूर्वमभिधीयत तत्र त्रियत पूव वा श्रित्त क्वाभिधीयत युगपदव  
वा अस्य वरणाभिधान इति । न तावत्पूर्वमभिधीयते अनुत्पन्नस्य क्वचिन्व्यापारविशेषतः युगपदव  
नामधयकरणम्, अर्थात्मसर्गा च शब्द स्यात् । तत्र एव न युगपत्प्रथमं क्वचिन्व्यापारविशेषतः, न ह्यत्रानुप  
रवप्रसङ्गाच्च । नापि कृत्वा अभिधानम् विरम्य व्यापाराद्यविद्वान् इत्यत्र वाक्यापारानु प्रयत्नगी  
वाच्यवाचकसम्बन्ध । (१३) शब्द । (१४) प्रवृत्ति-आ० टि० । -प्रमाणं पृ० ३४७ । (१२)

1 अस्य सद्भा-ब० । 2-नुमान यु-ब० । 3 पुन प्रतिप-य० । 4-शब्दप्रवृत्ति व० ।  
५० । 6 शब्दो व्यापार-य० । ७ कारणत्वा-ब० । 8 तत्करणानु-न० । 9-प्रमाणं पृ० ३४७ । 10-  
व० । 10-रवाप्रतीतिरि-य० ।



यते—एका परवशस्य, अया तु प्रेक्षापूर्वकारिण । तत्रान्यक्षे हठाद् यागान्कर्मणि  
 बौद्धादेरपि प्रवृत्ति शब्देन क्रियता पुरुषस्मान् यामावात् । न गलु बल्यज्जलप्रभञ्जन  
 प्रेरितस्य स्वात्त्रयाभावे हठात्प्रवृत्तिर्नि दृष्टा 'अनिच्छन्नप्यह प्रभञ्जनात्पिना प्रेरित प्रवर्त्तौ'  
 इति प्रतीते । द्वितीयपक्षे तु 'येनाह शब्देन प्रवर्त्तित म नि प्रवर्त्तनायोग्यो न चा' इति  
 ५ यात्र प्रेक्षापूर्वकागी विमृशति तावच्च प्रवृत्ति चिन्धाति । नहि 'शब्देनाह प्रवर्त्तित' इति  
 'अवश्य प्रवर्त्तौ' इत्यसौ शब्दमात्रे समाश्रयसिति तैत्कारित्वविरोधानुपपन्नात् । अतोऽपौरुषे-  
 यान् कारुण्यसितप्रख्यात् शब्दान् कथं कस्यचित् प्रवृत्ति स्यात् ? पौरुषेयस्यैव शब्दस्य  
 प्रवर्त्तनायोग्यत्वोपपत्ते । तत्रणेतु कुतश्चिन्नाप्ततामवसाय प्रेक्षापूर्वकारिण सद्द्वैद्यानुपदे-  
 शादिव नि शङ्क प्रवृत्तिसम्भवात् । तस्मादपौरुषेयत्वे शब्दस्य पुरुषप्रवृत्तेरनङ्गत्वान्  
 10 'शब्दस्य भावना—प्रवर्त्तित्व शब्दभावना' इति पक्षो घटते ।

अथ शब्द एव भावना, तदप्यसाम्प्रतम्, शब्दस्वरूपमात्रस्य भावनास्वभावत्वे  
 घटान्शब्देनपि भावनाप्रमद्वात् तस्मात्प्रत्ययत्रायात्रिशिष्टत्वात् । तथा च 'लिङ्गो-  
 दूतप्रत्ययप्रत्याख्या विधि ।' [ ] इति वचो विन्ध्यते । तदेव शब्दभावना-  
 स्वरूपस्य विचार्यमाणस्याऽव्यवस्थिते कथं तया अर्थभावना भाव्येत ? यतो 'भाव्य-  
 15 निष्ठो भावकस्यापारो भावना' इति मुख्यवस्थित स्यात् । द्वैविधोपवर्णनञ्चास्या  
 यपुष्पसौरभयात्रणानां निशिष्यते । तत्र भावनाहर्षोऽपि विधिर्घटते ॥ छ ॥

अपरे पुन नियोगे एव प्रवृत्तिहेतुत्वाद् विधि इत्याचक्षते । तत्र चानेकधा

(१) प्रज्ञापूवकारी । (२) अवयवा-गल्मात्र समावासे प्रज्ञापूवकारित्वविरोधात् । (३)  
 'अथ मतम-अभिधेव भावना विधिलिङ्गाद्य इति अत्राच्यते—प्रवृत्त सवतोऽर्थे वा प्रमद्वात् कायतो  
 गत । अस्थानाभिधेयतैतोरभावान्वाभिधेव न ॥ विधिरित्यनुपपत्त । अभिधा चेद्विधि सवगान्ता  
 मयास्वमभिधेयत्वं तदभाव इति घटान्निष्कम्भोपि प्रवृत्तिप्रसङ्ग अस्याविगात्ता ।—विधिवि ५०  
 २१ । (४) गल्स्वरूपमात्रस्य । (५) लिङ्गोदूतव्यपञ्चमलसाराणा विधिर्विध्य ।—न्यायसु  
 ५० ५६० । लिङ्गोदूतत्वव्यप्रयमात्रगता शब्दभावना—जमिनिन्या० ५० ७५ । (६) शब्द  
 भावनाया । (७) तुलना— यत्तावत्कथं गल्म्यापार शब्दभावनेति, तत्र शब्दात्तद्व्यापारोऽनभान्तर  
 भूतोऽनभान्तरभूतो वा ?—अष्टसह० ५० ३१ । तत्त्वाथश्लो० ५० २६२ । या तु शब्दभावनेव लिङ्गाद्य  
 दति कीमारित्कसति सा तु प्रतीतिविमवात्,दिप्रतिहृता । न हि विधिवाक्यथाविपुण्यो लिङ्गात्  
 स्वव्यापारमभिधत्त अतो मया प्रवर्त्तितव्यमिति मन्यते ।—न्यायपरि० ५० ३९८ । तत्ररह० ५० ४८ ।  
 तस्मालिङ्गादिजन्मबोधविषयाऽभिधाया दृष्टयाधत्तत्वात्तान्तिरपेक्षाया प्रवृत्तकत्व नियक्तत्वमव ।  
 —व्याकरणभू० ६० ५० १५७ । (८) प्रभाकरमतानुयायिन । (९) तुलना— कोऽयं नियोगो नाम ?  
 निगन्ते निगपाथ यागार्थो युक्ति निरवगो यो ग नियोग । निरवशपत्वम् अयोगस्य मनागम्भ  
 भावान अवश्यकृतव्यता हि नियोग । नियोगप्रामाणिका हि नियोगप्रतिपत्तिमात्रत प्रवतन्त ।  
 —प्रमाणाधत्तकाल० ५० १४ । 'नियक्तोऽहमेनेन वाक्यनेति निरवगो यो ग नियोग तत्र मनागम्भ  
 यागार्थकाया मभवाभावान् ।—तत्त्वाथश्लो० ५० २६१ । अष्टसह० ५० ५ । यदपि दशानम्-  
 प्रमाणान्तरागोचर शब्दभावालम्बना नियुक्तोऽस्मीति प्रत्यात्मवेत्नीय सुखान्वित अपगमप्टवालम्बनी

१ तत्र पौठ-ब० । —रूपापि २० —हपोविधि-ब० ।



कार्यस्त्वेन उपचारत प्रवर्त्तकत्वं नियोग इत्यपरे ।

“प्रेरणाविषय काथे नै च तत्प्रेरक स्वत ।

व्यापारस्तु प्रमाणस्य प्रमय उपचयत ॥” [ प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३० ]

कार्यप्रेरणयो मन्त्रधो नियोग इत्यथे ।

6 “प्रेरणा हि निना काय प्ररिका नैव कस्यचित् ।

कौय वा प्रेरणायोग नियोगैस्तन सम्मत ॥” [ प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३० ]

तत्समुदाया नियोग इत्येके ।

“परस्परानिनाभूत द्वयमतत् प्रतीयत ।

नियोग समुदायोऽस्मात् कायप्रेरणायायामत ॥” [ प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३० ]

10 तदुभयस्त्रभावैविनिमुक्त परमात्मस्त्रभावो नियोग इति केचित् ।

“सिद्धमक यता ब्रह्मे गतेमाम्नायत सदा ।

सिद्धत्वेन न तत्काय प्रेरक कुत एव तत् ॥” [ प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३० ]

यैत्राकूढो नियोग इत्यपरे ।

“कामी यत्रैव य कश्चिनियोगे सति तत्र स ।

15 विषयारूपमात्मान मयमान प्रवर्त्तत ॥” [ प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३ ]

भोग्यरूपो नियोग इत्यपर ।

“ममेद भोग्यमित्येव भोग्यरूप प्रतायत । ममत्वन च विज्ञान भातय्य व्यग्रस्थितम् ॥

स्वामित्वनामिमानो हि भोक्तुयत्र भवदयम् । भाग्य तदव विज्ञय तदव सैव निरुच्यत ॥

साध्यरूपतया यन ममदमिति गम्यत । तत्प्रसाध्यन रूपेण भोग्य स्व व्यपदिश्यत ॥

20 सिद्धरूप हि यद् भोग्य न नियोग स तावता । साध्यत्वनह भोग्यस्य प्रेरस्त्राबियोगता ॥”

[ प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३० । ]

पुरुष एव नियोग इति चापर ।

“ममद कायमित्येव मन्यत पुरुष सदा ।

पुस कायविशिष्टत्व नियोगोऽस्य च वाच्यता ॥” [ प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३० । ] इति ।

(१) प्रवनकत्वम-आ० ङि । (२) कायप्ररणयो योग -तत्त्वापश्लो० । (३) विनया ज्यत्वम्-आ० टि० । (४) नानम-आ० टि । (५) ज्ञातम्-आ० टि० । (६) यत्राकूढो कृष्टा न्ततया यत्र स यत्राकूढो विषयारूढत्वाभिमानो नियोग इत्यथे । यत्रन स्वयकाम इत्यनो यागारू ङ्त्वामिमानवान स्वगकाम इति बोधः । -अष्टसह० पृ० ४९ B । (७) स्वस्वामिभावा नावित -आ० ङि० । स्व निरुच्यते -प्रमाणवार्तिकाल० । (८) नियोग स्यात्वाधित -तत्त्वापश्लो० । कायस्य सिद्धी जानाया तदुक्त पुरुष सत्ता । भवत्साधित इत्येव पुमान वाचयाध उपयते ॥ -प्रमा णवार्तिकाल० पृ० ३० । अष्टसह० पृ० ६ । तत्त्वापश्लो० पृ० ७

1 न तावत्प्रे-ब० नत्तत्प्रे-थ० । 2-विनिम

० व० । ३ तदेव

स्व० आ० । 5 निरुच्यते आ० व । 6-ता

तन्प्यविचारितरमणीयम्, यतो नियोज्यप्रेरणानिरपेक्षस्य कार्यस्य नियोगरूप-  
तोपगम्यते, तत्सापेक्षस्य वा ? तत्रान्निकल्पोऽनुपपन्ने, तन्निरपेक्षस्य कार्यमात्रस्य  
अप्रवृत्तिहेतुतया नियोगतानुपपत्ते । तत्सापेक्षस्य तु नियोगत्वे कथं कार्यस्यैव नियोग-  
रूपता ? त्रितयस्यापि प्रवृत्तिहेतुतया तद्व्यपत्ताप्रसङ्गात् । 'प्रेरणा नियोग' इत्यप्यनेनापा-  
स्तम्, नियोज्यादिनिरपेक्षोऽपि प्रेरणाया प्रलापमात्रतया नियोगरूपतानुपपत्ते ।  
प्रेरणामहितं कार्यं नियोग, इत्यप्ययुक्तम्, नियोज्याभावे नियोगस्यैवानुपपत्ते । कार्य-  
महिता प्रेरणा नियोग इत्यप्यनेन निरस्तम् । कार्यस्यैवोपचारात् प्रवर्तकत्व नियोग,  
इत्यप्यसारम्, नियोज्यादिनिरपेक्षस्यास्य प्रवर्तकत्वोपचारायोगात् । कार्यप्रेरणयो  
सम्बन्धोऽपि सम्बन्धिभ्योऽर्थान्तरभूतं सन्, अनर्थान्तरभूतो वा नियोगरूपता प्रति-  
पद्यते ? न तावदर्थान्तरभूतं, तथाभूतस्य सम्बन्धस्यैवाऽसंभवतो नियोगरूपतानुपपत्ते ।  
सम्बन्ध्यात्मनोऽपि सम्बन्धस्य प्रेर्यमाणपुरूपनिरपेक्षस्य नियोगरूपतानुपपत्तिरेव । समु-  
दायनियोगवत्तोऽप्यनेनैव प्रतिव्यूढ । कार्यप्रेरणानिनिर्मुक्तस्तु नियोगो ब्रह्माद्वैतमव-  
लम्ब्यते, तच्च प्रागेव कृतोत्तरम् । यत्पुन 'स्वर्गकामं पुरुषोऽग्निहोत्रादिवाम्यनियोगे  
सति यागलक्षणं त्रिपयभारूढमात्मानं मन्यमानं प्रवर्तते' इति यन्त्रारूढनियोगाभिधानम्,  
तन्प्यचारि, अपौनपेयवास्ये नियोज्यत्वस्य निराहृतत्वान्निराकरिष्यमाणत्वाच्च ।

(१) नियोज्य प्रेरणाञ्चानपेक्षमाणस्य-आ० टि० । तुलना-प्रेरणारहितं कार्यं नियोज्येन  
निर्वाजितम् । नियोगो नव कस्यापि नियोग इति वीर्यम् ॥ वृत्तिनियोगात्स्य गुद्धं कार्यं यदा मता ।  
सनामात्राद्वियोगत्व भवन्नेन निवायते ॥ युक्तस्तु पुरप कार्यं यत्र नैव प्रतीयते ॥ नियोग स कथं  
शाम सिद्धातोनाद्विषयवत् ॥ नियोजकस्य धर्मोऽपि नियोगो लोकसम्मत । तदेव वायमिति चेत्,  
सिद्धत्वात्प्रास्य साध्यता ॥ साध्यत्वेन नियोज्यमिति चेद्व्यपदिश्यते । विषये तस्य तत्त्वेनोपचारात्  
प्रतीतम् । अमिदस्य च तस्यास्तु कथं प्रेरणरूपता ॥ साध्यत्वेनावबोधोऽस्य प्रेरकत्वं यदीप्यते ।  
अप्रमिदस्य साध्यत्व बाधं सिद्धात्मकस्य च ॥ परस्परविरोधत्वमेकस्य कथमिप्यते । साध्यरूपतया तस्य  
प्रतीतिं प्रतीका यदि । नियोगत्व प्रतीते स्यात्तं नियोगस्य तत्त्वेन ॥"-प्रमाणवातिशाल० पृ० ३२  
३३ । 'प्रेरणानियोज्यवर्जितस्य नियोगस्यासंभवात् । तस्मिन्निर्वागकरणे स्वकम्बलस्य कूर्दालिचेति  
नामात्तरकरणमात्रं स्यात् ।'-तत्त्वाथ० लो० पृ० २६५ । अष्टसह० पृ० ९ । (२) नियोज्यप्रेरणायाम्  
रूपस्य-आ० टि० । (३) नियोगरूपता-आ० टि० । (४) "नियोज्यफलरहिततया प्रेरणाया  
प्रलापमात्रत्वात् ।'-तत्त्वाथ० लो० पृ० २६५ । अष्टसह० पृ० १० । (५) "नियोज्यविरहं नियोगवि-  
रानात् ।'-अष्टसह० पृ० १० । तत्त्वाथ० लो० पृ० २६६ । (६) अत्रापि नियोज्याभावात्-आ० टि० ।  
(७) "नियोज्यादिनिरपेक्षस्य कार्यस्य प्रवर्तकत्वोपचारायोगात्, कदाचित् क्वचित् परमाथतस्तस्य तथा  
गुणलम्भात् ।'-तत्त्वाथ० लो० पृ० २६६ । अष्टसह० पृ० १० । (८) "ततो भिन्नस्य सम्बन्धस्य  
सम्बन्धिनिरपेक्षस्य नियोगवाच्यत्वात् । सम्बन्ध्यात्मन सम्बन्धस्य नियोगत्वमित्यपि दुरन्वयम्, प्रेर्य  
माणपुरूपनिरपेक्षयो सम्बन्ध्यात्मनोरपि कार्यप्रणयानियोगत्वानुपपत्ते ।'-अष्टसह० पृ० १० ।  
तत्त्वाथ० लो० पृ० २६६ । (९) सम्बन्ध्या भिन्नस्य । (१०) पृ० १५० । (११) तुलना- 'यत्रा  
रूपतया भोग्यभोग्यो सम्बन्ध उच्यते । न सम्बन्धोऽस्ति भोग्यात्मा रूढश्च न नरस्तदा ॥ प्रतीतिकाले

१-निरपेक्ष० । २ नियोज्यनिर-आ० ।



सौगतमतानुसरणप्रमङ्ग । अथ तैत्काले सोऽस्ति, एवमपि न नियोगो वाक्यार्थ, तस्य यागादिनिष्पादनार्थत्वात् । न चानैयोस्तादात्म्ये स्थात्मैव स्थात्मनो निष्पादको युक्तो विरोधात्, निष्पन्नस्य यागादे पुनर्निष्पादननिरोधाच्च । अथ तस्य क्रिञ्चिदनिष्पन्न रूपमस्ति तन्निष्पादनार्थो नियोग, तर्हि तत्सम्भावो नियोगोऽप्यनिष्पन्न इति कथं वाक्यार्थ ? कल्पनारूढस्य वाक्यार्थत्वे स एव सौगतमतानुप्रवेश । फलस्वभावो नियोग, इत्यप्ययुक्तम्, नहि स्वर्गादिफल नियोगो घटते फलान्तरपरिकल्पनप्रसङ्गात्, निष्फलस्य नियोगस्यानुपपत्ते । फलांतरस्य च फलस्वभावनियोगनादिना नियोगत्वापत्तौ तदन्वयफलरूपने अनवस्थाप्रसङ्ग । फलस्य च वाक्यकालेऽसन्निहितत्वात् तत्सम्भावो नियोगोऽप्यसन्निहित एवेति कथं वाक्यार्थ ? बुद्धयारूढस्य वाक्यार्थत्वे परमैतप्रवेश-प्रमङ्ग । 'नि स्वभावो नियोग' इत्यप्यनेन प्रत्युक्तम्, नि स्वभावस्यास्य अन्यापोह-त्वानतिक्रमात् ।

क्रिञ्च, अयं नियोग प्रवर्तकस्वभाव, अप्रवर्तकस्वभावो वा ? प्रथमपक्षे प्रभाकरवत् तांश्रागतादीनामपि प्रवर्तकं स्यात् तस्यै सर्वथा प्रवर्तकस्वभावत्वात् । तेषां विपर्ययात्प्रवर्तक इति चेत्, न, 'भ्रंशतामपि विपर्ययात्प्रवर्तक' इत्यपि वक्तुं सुशक्यत्वात् । अथाप्रवर्तकस्वभावोऽसौ, तर्हि मिद्धस्तस्य प्रवृत्तिहेतुत्वाभाव, स च वाक्यार्थ-त्वाभाव नाधयति । न च अग्निष्टोमादिवाक्ये विपर्यादिपदार्थवाचकपदव्यतिरेकेण विपर्ययफलयो मध्यवर्तिन तदस्थस्य वा नियोगस्य वाचकं क्रिञ्चित्पन्मस्ति, यत मोपि विपर्याचित् पदार्थता प्रतिपद्येत । न चापेदायो वाक्यार्थो भवितुमर्हति, अन्यो-

(१) वाक्यप्रयोगना ? तुलना—“अथ तद्वाक्यकालं विद्यमानोऽसौ, तर्हि न नियोगो वाक्य स्यात्, तस्य यागादिनिष्पादनायत्वात्, निष्पन्नस्य च यागादे पुनर्निष्पादनायत्वात् ।—अष्टसह० पृ० ८ । (२) नियोगस्य । (३) विपर्ययनियोगया—आ० टि० । (४) यागात् । (५) तुलना—“द्वितीय पक्षेऽपि नासौ नियोग, फलस्य भाव (भावि) त्वेन नियोगत्वाप्रसङ्गात्, तदा असन्निधानाच्च । तस्य वाक्या पत्वं निरालम्बनगल्पात्प्रमणात् पुन प्रभाकरमतसिद्धि ?”—तत्त्वार्थदली० पृ० २६२ । अष्टसह० पृ० ८ । (६) सुगतमत । (७) “स हि प्रवर्तकस्वभावो वा स्यादनत्वभावो वा ?”—तत्त्वार्थदली० पृ० २६४ । अष्टसह० पृ० ८ । (८) तुलना—“नियुक्तेन निवृत्तिश्चेत् (?) सर्वस्यात् प्रसज्यते । तत्स्वभावनया प्रादमनाकारं न वक्ष्यति ॥ स्वभावोऽपि विपर्ययादयथा यति गम्यते । विपर्यया विपर्ययात्स्ववस्था क करिष्यति ॥”—प्रमाणवातिहास० पृ० १५ । (९) नियामस्य । (१०) सौगता दीनाम् । तुलना—“तेषां विपर्ययात्प्रवर्तक इति चत, परेषामपि विपर्ययात् प्रवर्तकोऽस्तु । तस्य हि वक्तुम्—प्राभाकरा विपर्ययस्त्वान् शब्दनिष्पादात् प्रवर्तकं न तरे, तेषामविपर्ययस्त्विति । सौगतायां विपर्यया तमनस्य प्रमाणवाधितत्वात् न पुन प्राभाकरा इत्यपि पक्षपातमात्रम्, तमनस्यापि प्रमाणवाधितत्वाविभागात् ॥”—अष्टसह० पृ० ९ । तत्त्वार्थदली० पृ० २६४ । (११) प्राभाकराणामपि । (१२) तुलना—“पदाथ एव वाक्यार्थो न च सोऽन्ययोगेन । तत्र पदाथस्यैव पदार्थान्तररोपकल्पित विपर्यय वाक्यार्थत्वात्पदार्थत्वे तदनुपपत्ति ।”—विधिवि० पृ० ४९ ।

१-तानुसारेण प्र-आ० ब० । २ अथ क्रि-थ० । ३ इत्यप्यनेन व०, थ० । ४ तथान्ता-थ० । ५-स्वभावात् आ० । ६ इति वक्तुं आ०, थ० ।

यसापेक्षपदान्तरनिरपेक्षपदार्थसमुदायलक्षणत्वाद् वाक्यार्थस्य । तन्न नियोगोऽपि वाक्यार्थो घटते ॥ छ ॥

येऽपि प्रेषणान्वयपणाभ्यनुज्ञालक्षण प्रयोक्तृधर्म प्रवृत्तिहेतुत्वेन प्रसिद्धो विधि इत्योमनति, तेप्यतस्त्वज्ञा, पुरूपसम्यग्बशयेषु वेदवाक्येषु पुरुषधर्मतया प्रसिद्धानां प्रपणादीनाम अत्यन्तसमन्वो विधित्वकल्पानुपपत्तेः । तत्र तेषां कल्पने वा पौरुषेयत्वानुपपन्ना अपौरुषेयत्वकल्पनानुपपत्तिरिति एक सन्धित्सोरन्यत्रान्यवते । असत्कारपूर्विका हि व्यापारणा प्रेषणा उच्यते, मत्कारपूर्विका तु अध्येषणा, परेष्टस्य अप्रतिकूलवृत्तिरभ्यनुज्ञेति सर्वे एते प्रेषणादय पुरुषगताशयप्रिरोपसम्भावत्वाद् अपौरुषेयेषु वेदवाक्येषु न मनागपि सङ्गच्छन्ते इति ॥ छ ॥

१० अथे तु प्रेषणीना प्रत्येक व्यभिचारात् अनेकशक्तिवत्पनादोपाच्च सर्वत्राऽन्यभिचारिण प्रवर्तनामात्रस्यैकस्य विधित्वमिति प्रतिपन्ना, तेप्यसमीक्षिततत्त्वा, निर्विशेषे-

(१) तत्र विधि प्ररणम् भूत्वादेर्निवृष्टस्य प्रवतनम् । निमग्नं विभागकरणम्, आशयके प्ररणत्वम् । आयत्रण वामचारानुना । अधीत् सत्कारपूर्वको व्यापार । -समाकरणम् ० १४२ ।

(२) न्यायिनाऽपि । विधिनिर्वाहक । यत् वाक्य विधायक चोक्त स विधि, विधिस्तु नियोगोऽनुना वा । यथा अनिहोत्र जुष्टान स्वगकात्र इत्यादि । -न्यायभा० २।१।६३ । 'यदावयं विधत्त इदं नुर्याति स नियोगः । अनुनात् मत्कारमनुजानाति तत्पुनावाक्यम् । -समाधत् ० १० २६९ । 'विधिवत्तुरभिप्राय प्रवृत्त्यादौ लिङ्गादिभिः । अभिधयोऽनुमेयां तु क्त्वरिप्टाभ्युपायता ॥ प्रवत्यादौ इत्यादिपदात्रिवृत्ति, विषयसत्प्रतीयम् । तेन प्रवृत्तिनिवृत्तिविषय आत्माभिप्रायो लिङ्ग इत्ययम् । प्रवृत्तकमिष्टसाधनतत्तानामव लिङ्गवस्त्वभिप्रायो लाघवादिनि भावः । -न्यायकुसुं, प्रका० ५।१५ । (३)

'अपौरुष्य प्रपादिनुधर्मो नावकल्पते । लोके ऽत्र प्रतीत प्रपणाध्यपणाभ्यनुज्ञालक्षणोऽभिप्रायातिगमप्रयोक्तृधर्मो ऽऽद्य, तस्यापौरुष्यपदु वेदवाक्यप्यसम्भवः । प्रतीते समव इति चत, न, पौरुष्यत्वापत्तः । -विधिवि० ० २३ । आज्ञान्तिस्तु न वदाय पद्यमत्वेन युज्यते । -न्यायसु० १० ३७ । (४) के । (५) पुरुषाभिप्रायरूपणा प्रपणीनाम् । (६) इष्टव्यम्-पु० ५८० टि० ४ । (७) मीमांसनव्याकरणात् । एतच्चतुष्टयानुगतप्रवतना न वाच्यता लाघवात् । उक्तञ्च-अस्ति प्रवर्तनारूपमनुस्यूत

चतुष्टयि । तत्र त्रिंशद विधानव्य किं भन्स्य विवक्षया ॥ नायव्युत्पान्नाथ वा प्रपञ्चार्थमयापि वा । विध्यानीनाभुपान्ना चतुर्णामान्ति कृतमिति । प्रवतनात्वेन प्रवृत्तिजनकज्ञाविषयतावच्छेदत्वम् । तच्चेत्साधनत्वस्यास्ति इति तत्रैव विध्यम् । -समाकरणम् ० ५० १४५ । 'तत्र च प्रपणादीनां विशेषाणा व्यभिचारित्वेन अवाच्यत्वात् सर्वाणुपार्थान प्रवर्तनासामास्य वाच्यत्वात् उच्यते । -न्यायसु० १० ३० । 'तत्र चावागोद्वाप्याम्ना प्रवतनाया विधिवाक्यमवधारयति । प्रवत्येनुक्त्वा व्यापार प्रवतनात्तत्र व्यापार प्रपणादीनां विधिव इति प्रत्येकं व्यभिचारित्वात् विगन्वाच्यत्वाणुपपत्त प्रवतनासामान्यमेव विधिगन्वाच्यमिति कथयति । -मीमांसाभाष्ये ० १८० । (८) न च प्रवतनामात्रमविधायकसत्तम् इति मतम्-अनेकसामर्थ्यपरिकल्पनालोपाद् व्यभिचारान्च प्रपणीनामवाच्यत्वादेव्यभिचारित्ववचनामात्र लोके ऽऽद्य तस्य वन्त्युपपत्तिरिति, इदमव्यचतुरक्षम् निविशपसामान्यायोगान् अत्रतृत्वे व्यापारानुपपत्तेश्च । न तावत् प्रपणयो विज्ञाया सम्भविन । नप्ययो विशयकान्दुपपद्यते । तदुपपन्नि वा सामान्यस्याभिधानमभिप्रायवत्त्वव्ययम् । तदेतन्प्राप्तसकलभद प्रवतनामात्रायं ब्राह्मण्यदिन समुत्पन्नान्तिभद स्यान् । प्रवतना च प्रवतयितुर्व्यापारः स तमन्तरेण नातिविराजते पुरुषस्याभावात् । -न्यायसु० १० २५ २६ ।

पस्य सामान्यस्यैवाऽसभवात् । यथैव हि गण्डादिनिशेषशून्य गोत्वादि न सभजति, एव परित्यक्तप्रैपादिनिशेष प्रवर्तनामात्रमपि । वेदस्य चाऽपौरुषेयत्वाभ्युपगमे पुष्पग-  
ताशयविशेषरजभावात्ना प्रैपान्निविशेषाणामसभवात् का प्रवर्तनामात्रस्य सभावनापि ?

यन्चोक्तम्—‘प्रैपादीना व्यभिचारात्’ इत्यादि, तदयुक्तम्, यथासंभव यथास्व-  
रूपश्च प्रवर्तकत्वाभ्युपगमात् । यदा हि प्रेपणात् प्रवर्तते तदा तस्या प्रवर्तकत्वम्, यदा  
तु अध्येपणात् तस्या इति । नहि ‘कदाचिद्दीर्घा शुक्लादिस्वरूपास्तन्त्र पदस्य  
जनका कदाचित्तु ह्रस्वा रक्तादिस्वभावा वा’ इत्येतावता तन्तुव्यतिरिक्तस्यान्यस्यैव  
कस्यचित्पदोत्पत्तिं प्रति उपादानकारणत्व युक्त प्रतीतिविरोधात् ॥ छ ॥

अन्ये त्वाहुः—फल प्रवर्तकम्, तद्व्यापार प्रवर्तना । सर्वोऽपि हि प्रेक्षापूर्वकारी  
फलोद्देशेन प्रवर्तते, अतः फलस्य प्रवर्तकत्वम् । प्रीत्यात्मकता तस्य प्रवृत्तो व्यापार  
स एव च प्रवर्तना विधिरिति, तदप्यसङ्गतम्, फलस्य प्रवृत्तिहेतुत्वानुपपत्तेः । नहि  
अप्रगतमपि फलम् अर्थिता विना प्रवृत्तिहेतुः । सर्वस्य सर्वत्र प्रवृत्तिप्रसङ्गात् ।  
अर्थिता च न फलस्य व्यापार, किन्तु प्रतिपत्तुरिच्छारूपतया तद्धर्मत्वात् । अर्थ  
फलस्य प्रीत्यात्मकत्वमन्तरेण इच्छाया एवानुत्पत्ते तर्दुत्पादनद्वारेण फलधर्मस्य प्रीत्या-  
त्मकत्वस्य प्रवृत्तिहेतुत्वम्, नन्वेवमपि प्रीत्यात्मकत्वस्य फले एवाऽऽस्थानात् तत्रैव  
आत्मनः प्रवृत्तिः स्यात् न कर्मणि । अतोऽर्थान्तरत्वात्तस्य । नह्यन्यैदभिलषितम् अन्यैत्र

(१) पृ० ५८८ प० १० । (२) प्रपणाया विधित्वे अध्येपणाया विधित्वे न स्यात् अध्येपणाया  
विधित्वे च प्रेपणाया विधित्वाभाव इति परस्पर व्यभिचारः । प्रेपणादिषु प्रत्येक शक्तिवत्पने गौरवमिति  
भावः । (३) जयन्तभट्टप्रभृतयः । ‘फलस्यव्यप्यमाणस्य पश्यन् प्रेरकता मतः । तस्मात्पुंसः प्रवृत्तो प्रभवति  
न विधिर्नापि गन्धो लिङ्गादिः । व्यापारोप्येतदीयो न हि पटुरभिधा भावनानामधेया ॥ न श्रेय साधनत्व  
विधिविषयगतं नापि रागादिरेव । तेनास्त्यत्नाम्यमान फलममलमिति प्ररक सूत्रकारः ॥ वचिरेका  
क्षात्पदापात्त वचिप्रवरणागतम् । वचिचिन्तलोचनालम्ब्य फलं सवत्र गम्यते ॥ तस्मात्फलस्य साध्यत्वात्  
सवत्र तदवजनात् । क्रियादीनाञ्च तादर्थ्यात् तस्य वाक्याद्यतेष्यते ॥ प्राध्यायवोगादथवा फलस्य  
वाक्यायता तत्र सता हि यत्नः । प्रयोजन सूत्रवृत्ता तदेव प्रवतकत्वेन किलोपदिष्टम् ॥’—पापम०  
पृ० ३६२-६५ । (४) ‘यदि मयत् फलं प्रवत्तकं तद्व्यापार प्रवत्तना फलायिनः पुष्टस्य तत्साधने  
प्रवृत्ते अयथाऽभावात् । न कश्चिद्व्यापारविशेष प्रवत्तना अपि तु प्रवत्तिसमय व्यापारमात्रं च प्रयाज  
क्यापार, भिक्षा वासयति कारीयोऽग्निरध्यापयतीति दग्नात्, तदस्य, अर्थिता व्यापृतिः पुंसो नियम  
निप्रवचनः । फलसाधनता कर्मनिश्चेया साध्यता कदा ॥’—विधिर्वि० पृ० २६ । (५) आत्मन-  
आ० टि० । (६) पुरुषधर्मत्वात् । ‘फलायिता चेतः प्रवृत्तिहेतुः, सच्छा तद्वोगो वा इच्छासमवायो  
वा ‘वृत्तद्विनसामसेषु सम्बन्धाभिमानं त्वतल्भ्याम्’ इति वचनात् पुष्टपथम इति न फलं व्यापृतिः ।  
—विधिर्वि० पृ० २७ । (७) ‘अथ तदिच्छोपहारमुखेन फलस्य प्रवृत्तिहेतुधम प्रीत्यात्मता फलव्यापार  
प्रवत्तना सापि तत्रैव न कर्मणि । फलव्यापाराच्च प्रवत्तमानः सवत्र प्रवर्तते नियमनिमित्ताभावात् ।  
—विधिर्वि० पृ० २७ । (८) इच्छोत्पादात्मुच्यते । (९) तूरि—आ० टि० । (१०) फले एव । (११)  
फलात्—आ० टि० । (१२) कर्मण—आ० टि० । (१३) फलम् । (१४) कर्मणि यागादौ ।



प्रवृत्ति अतिप्रमद्भात् । अथाऽभिप्रेतफलमाधनत्वात् कर्मण्येव प्रवृत्तेर्नातिप्रमद्ग, न गलु  
प्रेम्नापूर्वकारिण उपाय परित्यज्य अनुपायेऽसाधने वा साध्ये प्रवर्तन्ते, कथमेव फलस्य  
प्रवृत्तकता तत्साधनस्यैव तत्प्रसङ्गात् ।

- नैनु निर्यतकर्मसाध्यताया फलसमवेताया प्रवृत्तिहेतुत्वात् फलस्य प्रवर्तकत्वम्,  
नियते च उपायभूते कर्मणि प्रवृत्तिरविरुद्धा, ननु केय तत्साध्यता फलस्य स्वरूपम्,  
शक्तिभेदे वा ? यदि स्वरूपम्, तदा तस्य सत्राविशेषात् निर्यतकर्मणीर अर्थान्तरऽपि  
प्रवृत्ति स्यात् । नहि वृत्ति मुज्यपेक्षयैव वृत्तिर्भवति नाग्न्यपेक्षया इति, वृत्त्यर्थिना  
अत्रापि प्रवर्तितव्यम् । शक्तिभेदेऽपि फलस्य स्वसत्त्वकाले, अभावकाले वा स्यात् ?  
तत्राद्यत्रिकल्पोऽयुक्त, यत प्रतिनियतादेव कर्मण प्रतिनियतस्य फलस्योत्पत्त्यर्थं तच्छक्ति-  
भेदे परिकल्प्यते । न चोत्पन्नस्य सम्बन्धिनी शक्ति उत्पादनियमे समुपयुज्यते । न गलु  
उत्पन्न शक्तिप्रशादुत्पद्यते विरोधात् । द्वितीयत्रिकल्पोऽप्यसुन्दर, नहि फलमत्रिद्यमान  
समुप्यप्रत्य माध्यताप्यशक्तिभेदाश्रयो भवितुमर्हति । तदाश्रयत्वे वा तस्मात्सत्त्व-  
विरोधे, असत् सकलशक्तिविरहलक्षणत्वात् ।

किञ्च, इत् फल विद्यमान संत् पुन्प प्रेरयति, अविद्यमान वा ? यदि विद्य-

- (१) "तत्साधनत्वात् कर्मण्येव प्रवर्तते न सवत्र तत एव तर्हि तत्साधनत्व प्रवृत्तिहेतु  
कर्मणि न फलस्य तत्र कर्मसमवायिनी कर्म प्रवर्तक स्यात् । चोत्पत्ति-तत्साधनत्वात् कर्मण्येव  
प्रवर्तते सवत्र सर्वेषा फलसाधनत्वाभावात् । परिहरति-तत एव तत्साधनत्वे सति प्रवृत्तिभावादेव ।  
भवतु तर्हि तत्साधनत्व प्रवृत्तिहेतु कर्मणि न फलरूपम् । भवतु कोऽपि ? इत्यत आह-ततश्च कर्मसम  
वायि न फलसमवायिनी कर्मैव प्रवर्तक स्यात् । -विधिवि०, टी० पृ० २७ २८ । (२) फलसाधन  
भनस्य यागस्यैव प्रवर्तकत्व स्यात् यागस्य तत्साधनत्वे निरिच्छत सत्येव प्रवृत्तिदक्षानात् । (३) एव  
तर्हि तत्साध्यता प्रवृत्तिहेतु सा च फलसमवायिनीति न दोष तयाहि समभिपत्तितस्य तुत्पाद कर्म  
विशेषण साध्यतासाधनं प्रवृत्ति का पुनरिय साध्यता ? यदि रूप फलस्य सवत्र प्रवृत्तिप्रसङ्ग ।  
एतदुक्तं भवति-फलसमवायिनी साध्यता साधनाधीननिरूपणतया साधनमपि गोचरयति न पुनर  
साधनमपि तेन तस्मात्साधनात् साधन एव प्रवर्तयति न तु सववति । तदेतत् दूषयति-का पुनरियं  
साध्यता ? यदि रूप फलस्य तनस्वस्य साधनाधीननिरूपणत्वामावान साधने प्रवर्तयत् प्रवर्तयद्वा  
सवत्रव अन्यत्वाविशेषान् । -विधिवि० टी० पृ० २८ । (४) ज्योतिष्मोमादियागजयता हि स्वर्गा  
न्फलसमवायिनी अत्र वस्तुन यागसाध्यताया प्रवृत्तिहेतुत्वे फलस्यैव प्रवर्तकत्व पश्चितमिति भावः ।  
(५) निमतकर्मसाध्यता । (६) फलभूतस्वगस्वरूपस्य । (७) ज्योतिष्मोमादिवत् (८) गोवपादी-  
आ० टि० । (९) शक्तिविशेष । (१०) कर्म पुनरिय शक्तिभेदे साध्यताभिधाने ? फलस्य भाव  
समय न तावत् कथमपि प्रवृत्तिहेतुत्वाच्च । न खलूत्पन्नस्योत्पाद यद्योगिनी शक्तिरयवनी । नापि  
सिद्ध फले तत्साधने निरिच्छप्रवर्तत । -विधिवि० पृ० २९ । (११) उताप्रस्य उत्पत्तिविरोधान  
अनुत्पन्नस्यैव हि समुत्पादे दृश्यते । (१२) अभावकालेष्वसत् कथं शक्तिमत् समुत्पन्नवत् -  
विधिवि० पृ० २९ । (१३) साध्यतारूपशक्तिविशेषाधारत्व । (१४) फलस्य । (१५) शक्त्याधारत्वे  
सर्वमव स्यान्मि भावः ।

मानम्, किमर्थं प्रेरयति ? फलार्थी हि पुरुष प्रवर्त्तते, तेषुद् विद्यते, अत्र प्रवृत्त्या । नहि लोके यस्य यन्मि न तदर्थं पुन प्रवर्त्तते इति प्रतीतम् प्रवृत्त्यनुपरमप्रसङ्गात् । सतोऽपि फलस्य आत्मसम्बन्धिता कर्त्तुं प्रवर्त्तते, इत्यप्ययुक्तम्, यत फल सुखम्, दुःखाभावश्च, तदुभयमप्युपजायमानम् आत्मसम्बद्धमेवोपजायते । अथ स्वर्गं नाम पुरुष स्वर्गादे फलस्य विद्यमानस्यैव आत्मसम्बद्धता कर्त्तुं प्रवर्त्तते, नन्वेव पुत्रकामान्यौ का वात्ता ? नहि पुत्रादिफलस्य तदा विद्यमानता सभरति प्रतीतिविरोधात् ।

किञ्च, इदं फल सत्तामात्रेण प्रवृत्तिहेतु, साध्यताविशिष्ट वा ? प्रथमपक्षे मिद्वेषि फले पुरुषप्रवृत्तिहेतुत्व स्यात्, सत्तामात्रस्य तत्राप्यविशेषात् । न च मिद्वस्य मिद्वेषे प्रेक्षानता प्रवृत्तिर्युक्ता तन्नुपरमप्रसङ्गात् । अथ साध्यतावच्छिन्न फल प्रवृत्तिहेतुर्न कैवल्यम्, तदप्यनुपपन्नम्, अनर्थिनोऽप्यर्थं प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । फल हि साध्यतया विशिष्ट प्रतीयमान यदि प्रतिपत्तार प्रवर्त्तयति तदा अनर्थिनमपि प्रवर्त्तयेत्तदविशेषात् । तत्र विद्यमानस्यास्य प्रेरकत्व युक्तम् । नाप्यविद्यमानस्य, अस्याऽर्भत कारकत्वानुपपत्ते, 'असच्च प्रेरकञ्च' इति प्रतिपेधात् ॥ छ ॥

येऽपि 'फलाभिलाप एव' प्रेर्यगत प्रेरकत्वाद् विधि, अनर्थिन प्रवृत्त्यप्रतीते, स हि जन्मन्तरेणापि क्वचिदभिलषिते वस्तुनि अर्थिन पुरुष प्रवर्त्तयति इत्याचक्षते, तेऽप्यसमीक्षितत्राच, अभिलापस्य अव्यापकतया प्रवृत्त्यङ्गतानुपपत्ते । तदव्यापकता च त्रालनप्रवृत्तौ तन्मभवात्सुप्रसिद्धा । तथाहि—कश्चित्नाचार्यप्रेरितो वालक कार्यं किमपि कुर्वन् केनचित् प्रयोजनं पृष्ट सञ्जुत्तरमाह—'न वेद्मि करणे अम्य किमपि प्रयोजनम्, केवलमाचार्यप्रेरित करोमि' इति । तत फलाभिलापमन्तरेणापि पुरुषप्रवृत्तिप्रतीते अव्यापक मर्प्रवर्त्तनाना फलाभिलाप ॥ छ ॥

अन्ये तु 'कर्मैव अभिप्रेतार्थप्रसाधकत्वाद् विधि' इति प्रतिपत्ता, तन्मतमप्यमङ्गतम्, कर्मणो विधिविषयतया विधिस्वभावत्वानुपपत्ते । 'विधेः प्रियो हि कर्म

(१) फल स्वर्गादि । (२) निष्पन्नेऽपि कर्त्तुं प्रवृत्तौ प्रवृत्त्यनुपरम स्यात् । (३) पुत्रकामनया क्रियमाणे पुत्रपिष्टये न हि पुत्र स्वर्गादिवत् विद्यमानोऽस्ति । (४) प्रवृत्त्यविरामप्रसङ्गान् । (५) अर्थिनारहितम्—आ० टि० । (६) साध्यतावच्छिन्नता फलात् । (७) अविद्यमानफलस्य । (८) असत्त्वात् । (९) प्रेरकत्वे सत्त्वमेव स्वादिति भाव । (१०) पुरुषनिष्ठ । (११) 'अस्तु तर्हि कर्म प्रवर्त्तकम्, अभिमानसाधनता तस्य प्रवर्त्तना प्रवृत्तिहेतुरूपत्वात्, न विषयत्वात् । तन्तद् दूषयति न तस्य विषयत्वात्, प्रवृत्तिकर्त्तु प्रयोजक प्रवर्त्तक । सिद्धश्च स भवति । तर्हि सिद्ध चेत् कर्म प्रवर्त्ते प्राक् प्रवृत्त भावनाया विषयो न भाव्यम् । न जातु गगनमस्या भाव्य भविष्यमिति । विषय इत्थेन कर्म असिद्धवान् कथं प्रवर्त्तकमित्ययम् ।—विधिवि०, टी० पृ० ३५ । (१२) न हि घटस्य पानविषयत्वे पानस्वभावता युक्ता—आ० टि० ।

१ अर्थिनोऽ—आ० । २ अर्थिनमपि आ० । ३—येदविधे—श्र०, व० । ४—मानस्य प्र—आ० । ५ विधिविषय—श्र०, विधिविषय—व० ।

लोने प्रमिद्ध न तत्त्वभावम्, अतोऽयेनात्र प्रवृत्तकेन हि भवितव्यम् । नहि स्वयमेव  
स्वात्ममिद्धत्वं प्रवृत्तत्व युक्तं विरोधान् ।

- मिद्ध, उत्पन्नं क्व आत्ममिद्धत्वं पुनश्च प्रवृत्तयति, अनुत्पन्नं वा ? तत्र उत्प-  
न्नस्य स्वरूपमिद्धेनातत्त्वात् पुनश्च प्रेरणा व्यथा । अनुत्पन्नस्य तु प्रवृत्त्यानुपपत्तिः ।  
४ सदेव हि विश्वित् कर्म्यचित्प्रेरकं नामत् गरविषाणादिकम्, तदाविधस्य फारफरा-  
योगात् । असता चोनेन सैह अपौरुषेयचम मन्व-धासभवात् पथ तद् वेद-  
वाक्यं प्रतिपाद्येत यत् पुनश्च प्रवृत्तिहेतुत्वात् तद् वाक्यार्थं स्यात् । अथ सामान्योपा-  
रेण सन् कर्म विशेषाकारसम्पादनाय पुरुष प्रेरयति, तन्न, येनाशेन तत् मम तेना-  
शेन पुनश्च माध्यम्, येन चाशेन माध्यं न तेन तदभिधेय सम्प्र-धासभवात् । नहि  
१० सम्प्र-धासभिधेयाभिधानाना नित्यत्वाम्युपगमे अनित्ये कर्मविशेषे नित्यस्य सम्प्र-धस्य  
समावनापि सम्भवति । अथप्रयत्नप्रतिपत्ति, इत्यप्युक्तम्, तस्मैस्त्वैदं शब्दार्थनि-  
रूपणान्तरे निरस्तत्वात् ॥ छ ॥

- अथ आत्मनोऽप्राप्तत्रियामन्व-धप्रतिपत्ति प्रवृत्तत्वाद् मिथि, 'तदेव कर्म'  
इत्युक्ते हि त्रियासम्प्र-धमात्म-यगम्य प्रवृत्तमाणा प्रतीयन्ते लौकिका इति, तदप्य-  
१५ युक्तम्, नहि त्रियासम्प्र-धप्रतिपत्तिमात्रेण प्रवृत्तिलोने प्रतीयते, अपि तु तन्पुरोधि-  
तया, अथवा सर्वस्यैव 'तदेव कर्म' इति कर्ममन्व-धप्रतिपत्तिमात्रेण प्रवृत्ति प्रसज्येत,

(१) विधिस्वभावम् । (२) कर्मणि पागा १ । (३) अमन प्रवृत्तिकाशया कर्तृत्वरूपस्य  
प्रवृत्तकत्वस्य असम्भवात् । (४) कर्मणा । (५) याग इति-आ० टि० । (६) कारीयाणि-आ० टि० ।  
(७) सामान्यन-आ० टि० । (८) विगयरूपेण-आ० टि० । (९) वेदवाक्येनाभिधयम् । (१०)  
मङ्गल-अथ गजानाम् । (११) ननु विधिलिङ्गात्त्रियासम्प्र-धमात्म-यगम्यमात्रं प्रागसिद्धत्वे सति  
अगहीतसम्प्र-धत्वेन वाच्यत्वायागाल्लिङ्गाच्चान्तराणां प्रागव सिद्ध तत्परत्वं न युक्तमित्याशयव सन्ध-  
धानन्तरभाविप्रवृत्तिहेतुप्रयणाध्ययनाभिव्यापारानुत्पन्नप्रवृत्तनामायाभिधानं तद्विशेषोपायामापोह  
पथ वेने पुनश्च प्रवृत्तस्य प्रयणोत्सम्भवात् तद्विधितिरिक्तविध्याम्यस्य विगयस्य परित्यज्यालक्षणया गम्यमा  
नस्य सम्प्र-धप्रवृत्तान्तेन प्राक् सिद्धघनपक्षान्तिरिद्धा गन्ध्यापरतेति 'न्यायसु० प० ५५९ तथा  
प० ३० । सीमासायाय० प० १८० । (१२) विधि । (१३) लक्षणया । (१४) सम्प्र-धत्वे ।  
(१५) प० ५७० । (१६) यत्पि समयनम-अप्राप्तसम्प्र-धया क्रिया आत्मन सम्प्र-धस्य प्रतीयत्या  
प्रवृत्ति यथाच तदेव कर्मति लोके । अतएव अनात्तापनप्रवृत्तप्रवृत्तनमुभयविधप्राप्तिप्रतिपद्येत् अप्रा-  
प्तक्रियायन्तुसम्प्र-धो विधिरिति विधिविगमुद्गारा । -विधिवि० प० ४० । (१७) "नन्तस्तारम्  
मस्मान-न प्रवृत्तियोगधियो लोकेऽभिप्रायवन्तान् । मया प्रवेत्तया काग किं मूधैव प्रयस्यति ॥ प्रणि  
पदानानामायमात्मन त्रियायोग गन्तान् त च तथाभावे तथेति निश्चिनोतु विषयमेव नतदवमिति । प्रयत्ने  
तु कस्मान् ? एते त्वय तदेव कर्मति वचनान्धिगततवत्रभिप्रायो यो यत्प्रियायानुरोधी स प्रवृत्तितुमर्हति  
अथवा सर्वस्य प्रवृत्त । -विधिवि० प० ४१-४२ । (१८) वाक्यप्रयोक्तृपुरुषस्य अभिप्रायानुरोधात्  
प्रवृत्तिमवति अत्र अभिप्रायानुरोध एव विध्यथ स्याति भाव ।

१-तत्केन भवि-श्र० वं० । २ सह पोह-श्र । ३ तदेव कर्म श्र० । ४ तदविरोधितया वं० ।  
५ तदेव कर्म, श्र० ।

अतस्तानुरोधितापि प्रवर्तन्त्याद् विधि प्रसज्येत । मापि वा न प्राप्तोति, स्वामि-  
वाक्यद् वेदवाक्ये तस्या सत्त्वाऽसम्भवात् । 'इत्तु इत्तु' इति वाक्याद्धि स्वामिनोऽभि-  
प्राय विहित्या तच्छिद्यनतिक्रमेण तदनुरोधितया प्रवर्तते । न च तद् वेदवाक्ये सम्भ-  
वति यत्तुरमत्त्वात् ॥ ७ ॥

येऽपि स्वर्गादिफलसाधनत्वेन धात्वर्थं प्रतीत्य पुण्यार्थमाधनत्वान्मिने 5  
प्रवर्तमाने इति श्रेय साधनत्वाख्यप्रमाणगम प्रवृत्तिहेतुत्वाद् विधि' इत्याचक्षते,  
तेऽप्यशान्तर्यविन्, श्रेय साधनाताया विधित्वेन लोकेऽप्रसिद्धे, प्रैपान्तीनामेव तत्रै  
तत्त्वेन प्रसिद्धे । लिङ्गादिशब्दाच्यो हि विधि । न च श्रेय साधनता तच्छब्द-  
धान्यतया लोके प्रसिद्धा, येनास्या विधित्व स्यात्, लोकानुसारेण च पदार्थव्यवस्था ।  
'य एव लौकिका शब्दा त एव वैदिका,' [ शाबरभा० १।३।३० ] इत्यादिप्रचनान् । 11

विद्म, कस्येय श्रेय साधनता-भावनाया, धात्वर्थस्य वा ? न तावद् भाव-  
नायाः, तस्या प्रागुक्तप्रकारेण असिद्धस्वरूपत्वात् । नापि धात्वर्थस्य, यागादे पशु-  
धप्रधानस्य श्रेय साधनत्वानुपपत्ते । न यत्तु हिंसा श्रेय साधनम्, ब्राह्मणप्रधा-  
देरपि तैत्तप्रमद्धान । 'विहितानुष्ठानत्वात्तत्साधनत्वे 'मधन ब्राह्मण हन्यात्' इत्यादेरपि

(१) प्रयाक्तपुण्याभावात् अभिप्रायानुरोधितायाऽवभावात् । (२) मण्डनमिश्राख्य । मण्ड-  
नमिश्रा हि 'इदं मच्छय साधनम्' इत्यवगमस्यैव प्रवृत्तिहेतुता स्वीकृतान्ति, तथा चातत त - 'पुसा नेष्टा-  
भ्युपायत्वात् त्रियास्यय प्रवक्तव । प्रवृत्तिहेतु धर्मश्च प्रवदन्ति प्रवर्तनाम् ॥ प्रवृत्तिसमयो हि वदित्वा  
भावातिगो ध्यापाराभिधान प्रवचना । सा च त्रियाणामपिनितोपायवत् । न हि तथात्वमप्रतिपद्य तत्र  
प्रवने कदित्त । याप्यानादिम्य प्रवृत्ति साऽपि कर्षचिदनेगिननिधनत्वमपाधियव श्रेययाऽभा-  
वात् ।'-विधिवि० पृ० २४३ । 'तया चोक्तम्-तया धात्वर्थक्यात्वं पदं श्रुत्योपदर्शिते । भावनाया  
विधिप्रत्यया पुनर्भाषणमाप्यतेति ॥ श्रेय साधनता ह्यया नित्य येनात् प्रतीयते (मी० श्लो० पृ० ४९ ।)  
इति च । तस्मान्निष्ठसाधनत्व विधि लिङ्गादिभिधेयेति तदुक्तताया भावनाया पणमेव भाव्यं धात्वर्थं ग्नु  
करणमिति (पृ० ४६) तेनाभिधाव्यापारप्रवचनाभिधानवत् प्रवचनाप्यण इष्टसाधनता गण्यभिधते  
न स्वस्वनेति न प्रतानिविरोध । इत्थमेव भगवतो मण्डनमिश्रस्यापि 'पुसा नेष्टाभ्युपायत्वत् त्रियास्त्वय  
प्रवर्तक । प्रवृत्तिहेतु धर्मश्च प्रवदन्ति प्रवर्तनाम् । एव श्रुतश्च प्रवर्तनाप्रत्यय इत्यादि वक्तो भिमतम् ।  
तदत्र गच्छन्तु' प्रवचनाप्येष्टसाधनत्वाभिधानमेव गच्छन्तु इति गीष्ये ।'-म्यावरस्तमा० पृ० ४७,  
५३-५४ । इष्टसाधनत्वम विधित्वम्' तत्प्ररह० पृ० ४५ । 'तया च प्रवचनत्वानुरोधान विधेरपि  
इष्टसाधनात्त्विति मवाय -'मुक्ता० पृ० ५१६ । (३) ज्यातिष्टामान्तिवाम । (४) लो० । (५)  
विधिनेः । (६) श्रेय साधनताप्रवचनाप्यण इष्टसाधनताया । (७) उद्गमिन्ध-तीनादि० पृ० १३४ ।  
(८) मुक्ता- विष्णु, भावनागतं श्रेय साधनत्वं प्रवक्तवमिष्यते न, तच्च न पुनरभिधानं युक्तम् ।  
भावनाया अंगत्वेन तत्त्वत्त्वापगमगमये एवदगाया स्वगयानयो साध्यसाधनभावविधिविधिः ।'-  
म्यावरस्त० पृ० ३६१ । (९) श्रेय साधनत्वप्रमद्धान् । (१०) यतो हि वेदे विहितोऽय म श्रेय साध-  
नमिष्यत्त स्यात् । मुक्ता-'विधिरुक्तस्य पण्यविधित्वस्य विहितानुष्ठानत्वेन विहितेयुक्ताभावात्  
अभिधो हेतुविधि भव, श्रेयसाधनत्वस्य सात्त्विकानां विहितानुष्ठानत्वेन विहितेयुक्ता  
सा भवति ।

'निहितानुष्ठानत्यात् श्रेय साधनत्वानुपङ्ग । अप्रामाण्यञ्च ठक्शास्त्रन्द वेदेऽप्यविशिष्टम् ।

अये तु 'उपदेशो विधि' इत्यामनति । उपदेशशब्देन च विषयो लिङ्गादि अभिधा चोच्यते । तत्र उपदिश्यते प्रत्याप्यते इत्युपदेशो विषयो यागादि, उपदिश्यतेऽनेन इत्युपदेशो लिङ्गादि, उपदेशनमुपदेश अभिधा उच्चारणमुच्यते, तदप्यसङ्गतम्, ठक्पोपदेशस्यापि विधित्वप्रसङ्गात् । भन्तपरिक्ल्पितप्रक्रियाया "अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम" [ ] इत्यादिवत् 'सधन ब्राह्मण ह्याङ्गुलिकाम' इत्यादावपि तुल्यत्वात् ।

विञ्च, परानुग्रहप्रवृत्तस्य आतस्य उचनम् उपदेश प्रसिद्ध । न च वेदे तौ विध कश्चित् पुनरोऽस्ति अपोरुपेयत्वाभावाप्रसङ्गात्, तत्कथमस्य उपदेशतापि ? न सतु उपदेष्टव्यतिरक्तेण उपदेश फदाचित्प्रतिपत्त । गुरुरेयानुपदेष्टसद्भावे

(१) बोरशास्त्रविहितत्वात् । (२) 'उपदेश इति विशिष्टस्य शब्दस्योच्चारणम् - गावरभा० १।१।५। ननु चोत्पन्नाया प्रामाण्य प्रतिपात कथमुपदेशस्य साध्यते ? अत आह- ' चोत्पन्ना बोपदेशस्य विविश्ववापवाधिन । -मी० लो० सू० ५ लो० ११ । ' उपदेशो नियोज्यायकमप्रस्थितचोदना । प्रथितो गुरुवद्यात् नित्यस्य न न कल्प्यते ॥ यद्यप्याज्ञाऽभ्ययना वेदेऽनुपपन्ना उपदेशस्तु युज्यते । सोऽपि तदेव प्रेरणात्मकश्चतुर्थो लोके प्रनायने । तथाहि- आनाऽभ्ययन हि नियोकत्रयमनाहितनियो- यफल कम गोचरयन । नियोज्यार्थं सूत्रम् । अनुत्पन्ना तु यद्यप्येव क्वचित् तथापि प्रवत्पुस्तकविषयत्वानोपदेश । नियो यायकमगोचरमप्रवत्प्रवचनमुपदेशमाचरणे धारा । न हि गामभ्याज माणवकमध्यापय गुरु यथाभिमतमित्युपदेशप्रतीति । नापि भक्ष्य त्त (चर) उचरित पथ्यमस्नीयादादिनि प्रतीति, भूयसा चष पीरुषपुषु कामाथरास्त्रान्पिडावादिभिरनास्त्वित्ना लोके प्रजायते गोपानादिवच मु च माणास्थान परेषु अनन पथा गच्छति । प्रस्तनायञ्चन्म अतोऽप्यनामिधोच्चारणात्पिज्ञानञ्च कमकतुकरणभाव साधनन उपदेशान् उच्यते । प्रपणादिवन तरपि हि यथाविवक्षितमर्थान्यो नित्यस्यने सिद्धान्त मुपक्रमते- उच्यते- उपदेशो नियो उपदेशस्तु युज्यत तस्य अपोषपयस्य सभवात् । न ह्यसौ नियोजका यकमेति वच्यन्ति यन चेतनकतक स्थान न चामी न लौकिक अप्ररणात्मको वा यनाविधि स्यात्पित्याह सोऽपि तन्व आनाकव प्रेरणात्मकश्चतुर्थो लोके प्रनायने । एतदुक्त भवति- आज्ञाभ्ययनोपदेशा कमणि प्रवृत्तिजननन तन्गोचरयनो भवन्ति प्ररणात्मनशा समाना । तेषामानाभ्ययनाभ्यां गोचरी त्रियमाय कम अनात्तनियो- यप्रयोजनमाणापितुरुभ्ययमानस्य वा प्रयोजनायावकल्प्यते । उपदेश गोचरस्तु कम अनादतोपदेशकप्रयोजनमुपदेशव्याथमनेत्ययम् आनाऽभ्ययनाभ्यामुपदेशस्य भद प्रेरणात्मकत्व चेति नियो याय कम यस्योपदेशस्य न तु नियोषत्रय स तथोक्त इत्यक्षरयोजना । अप्रस्थितस्य अप्रवृत्तस्य पुम प्रस्थापना चोत्पन्ना ननुपदेशा विधि स चापभदाभिधायक, शब्द इति क्वचित्क्वचिदुच्चारणमाह शब्दस्योच्चारणमिति । क्वचित्क्व विध्यद्गनकवायवत्वात्पिति । क्वचित्क्वचनम चोत्पन्नति क्रियाया प्रवतक वचनमिति । क्वचित् तान गास्त्र शब्दविचानादस्तिनष्टुत्पये विनात्ममिति वापित्क नास्त्र अभिधा भावनामाहुरित्यभिधामिति । अत आह- प्रदनाय चैत् विशिष्ट शब्दो विधिरिति । अतोपदेशाभिधोच्चारणात्पिज्ञान च कर्मकर्तकरणभावसाधनेनोपदेशानेन यथाययमुच्यते - विधिबि०, टी० प० २३८-२५१ । (३) कमवरणभावसाधनेषु क्रमा । (४) ठक्शास्त्रीयवाचयत्पवि (५) परानुग्रहप्रवृत्त । (६) अलिप्तानन यजन स्वगकाम इत्यादि विधिवान्वयस्य ।

सत्येन 'भिक्ष चर, ध्यानाध्ययने कुरु, ज्वरितं ओषध पिबेत्, पथ्यमदनीयात्' इत्या-  
द्युपदेशस्य प्रतीते । न च शब्द एव उपदेश इत्यभिधातव्यम्, अव्युत्पन्नस्यायतोऽर्थ-  
प्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । अथ शब्दार्थमन्वयव्युत्पत्तिसव्यपेक्ष एतासो तत्रैवमुपदिशति,  
ननु कुनस्तश्रुत्वत्ति ? विशिष्टपुरुषान्चेत्, स एव उपदेशाऽस्तु किमनया परम्परया ?  
प्रतिपेत्स्यते च अपौरुषेयत्वमस्य अग्रे इत्यलमतिप्रमङ्गेन ॥ छ ॥

येपि विषयस्य यासौ कर्तव्यताप्रतीति सैव प्रवर्त्तकत्वाद्धिधि इति प्रतिजानते,  
नहि 'इत् मे कर्त्तव्यम्' इत्यप्रतिपत्त्यमान कश्चित्प्रवर्त्तते इति, तेऽप्यसमीभितवचस,  
यत किं कर्त्तव्यताप्रतिपत्ति निर्विशिष्टा प्रवृत्तिहेतु, श्रेय साधनताविशिष्टा वा ?  
तत्रागोपक्षोऽयुक्तं, सर्वस्य सर्वत्र कर्त्तव्यताप्रतिपत्तिमात्रेण प्रवृत्तिप्रसङ्गात्, तथा च  
ब्राह्मणान्विधकर्त्तव्यताप्रतिपत्तिमात्रेण भवतर्त्तद्विधानात्पि प्रवृत्ति स्यात् । अथ श्रेय -  
साधनताविशिष्टा सा प्रवृत्तिहेतु, तर्हि श्रेय साधनतेव प्रवृत्तिहेतुत्वाद् विधि स्यान्न  
कर्त्तव्यता तस्यास्तामन्तरेणाऽप्रवर्त्तकत्वात् । नचैतदप्युपपन्नम्, श्रेय साधनताया  
विधित्वस्य प्रागेव प्रत्याख्यातत्वात् ॥ छ ॥

अपरेषा मत प्रतिभेय प्रवर्त्तकत्वाद् विधि । नहि प्रतिभाव्यतिरेकेण लिङ्गा-

(१) "ननुवनमुपदेश इति विशिष्टस्य शब्दस्योच्चारणम्, यद्येवमव्युत्पन्नस्यापि प्रवृत्तिप्रसङ्ग ।  
उच्यते-विशिष्ट पुरुषायास्य शुद्धस्योपायमाह य । पुरुषार्थो यदा यन यो तरेणाभिव्यङ्क्ष्यते ॥ पुरुषा  
यस्योपायमनवगतमवगमय नुत्वपाङ्गिण्टि शब्द उक्त, अथया सब एव शब्द शब्दातराद भिन्न  
व्यक्तिपणमेव स्यात् । अतो नाऽविदितायस्य प्रवृत्ति ।'-विधिवि० पृ० २४० । (२) पुरुषार्थोपा  
यताम । (३) वेत्स्य । (४) तुलना-'ननु कर्त्तव्यमिति प्रतिपत्ते प्रवृत्ति । अत्र केचिदान्नाय प्रति  
श्राद्धमानिन प्राहु-ननु कर्त्तव्यमिति प्रतिपत्तेः प्रवृत्ति । इदमावूनम्-वायदशनोन्नयप्रवृत्तय खल्वभो  
लिङ्गात् । वायञ्च प्रवृत्तिलक्षण वृद्धानां लिङ्गात्प्रवृत्तिसमनन्तरमुपलभ्यते । तच्च बुद्धिपूर्वक स्वत  
प्रवृत्तित्वात् अस्मत्प्रवृत्तित्वत । अनुमिता च बुद्धि अस्मत्प्रवृत्तिहेतुबुद्धिगोचरचारिणी प्रवृत्तिहेतुवु  
द्धित्वान् अस्मत्प्रवृत्तिहेतुबुद्धित्वत । तस्याश्च विषय स्वयमेव चपुरु मील्य पिण्डकरोम (डिण्डकरोम)  
परित्यज्य पर्यालोचयन्त शब्दव्यापारपुरुषाणामतस्समीहिततत्साधनताव्युदासेन कर्त्तव्यतामेव प्रतिपद्या  
महे । तथाहि-स्तनपानादावपि न जातु समीहितोपाय इत्येव प्रवृत्ता स्म विन्तु कर्त्तव्यमेतदिनि लिङ्गा  
दिश्रवणानन्तरा प्रवृत्ति कर्त्तव्यताभिधानमेव लिङ्गादीनामापादयति । तथा च विन्तिसङ्घतितया  
लिङ्गायो वेदेऽपि ताभेवाभिरुच्यते ।'-विधिवि० टी० पृ० २४४ । (५) तुलना-'नवनेभितोपायनाम  
न्तरेण कर्त्तव्यमिति गतगोप्यभिधीयमान न प्रवृत्तये कल्प्यत इत्यत आह-अथ हि तथा प्रतिपद्यमानो  
न प्रवृत्ते ? शब्दस्तावत्कतव्यताया विदितसङ्गति तामवगमयति । तथा नमित्तिवनिपथाधिकारयो  
रसौ प्रतीयमाना न शक्या नेति वक्तुम् ।'-विधिवि० टी० पृ० २४५ । (६) ब्राह्मणवधानिनिपिदे  
कमणि । (७) कर्त्तव्यताप्रतिपत्ति । (८) कर्त्तव्यताप्रतीति । (९) अथ साधनताम् । (१०) अथ  
साधनताविशिष्टकर्त्तव्यताप्रतीतिविधित्वम् । (११) व्याकरणानाम् । "अभ्यासात्प्रतिभाहेतु शब्द  
सर्वोपर स्मृत । वाकाना च तिरश्चा च यद्यर्थप्रतिपत्तौ ॥११९॥ विच्छेदग्रहणेऽर्थाणा प्रतिभाऽयव  
जायते । वाक्याय इति तामाहु

१-त ओषध आ० । २- ३-उ प-थ०, व० । ४-वन सवप्र आ० । ५-नामा विधि-व०, थ० ।

दिव्यापारोऽपि बलवत्सलिलसमीरणयायेन पुरप प्रवर्त्तयति मर्षस्य प्रवृत्तिप्रसङ्गात् ।  
 नापि विषयप्रतिपत्तिमात्रम्, अत एव । अतो वा काचित् प्रवृत्ति सा सवा प्रतिभा-  
 समानाकारनिर्णयैरूपप्रतिभापूर्विकैः । नैहि प्रतिभातेऽप्यर्थे यावत् सुखमाधनमि-  
 मिति प्रतिभा नोत्पद्यते तावत् कश्चित् प्रवर्त्तते । अत साधनविशेषे 'पुरस्कृते' त्रिया-  
 ६ विशेषपरिस्फुरण प्रतिभा । उक्तञ्च—“ विशिष्टसाधनाव्यवच्छिन्नक्रियाप्रतीत्यनुकूला  
 प्रज्ञा प्रतिभा ” [ विधिवि० प० २४६ ] इति, तदप्यसारम्, यत 'सिद्धे प्रतिभास्वरूपे  
 विधिरूपता स्यात् । न च भवत्प्रतिपादित प्रतिभाया स्वरूप युक्तम् । इन्द्रियाणि  
 बाह्यमात्ममीतिरपेक्ष हि मनोमात्रसामग्रीप्रभवम् अर्थतथाभावप्रज्ञाज्ञान प्रतिभेति  
 प्रसिद्धम्—‘श्रो मे भ्राता आगन्ता’ इत्यादिषु, न पुन प्रतिभाममानाकारनिर्णय  
 १० रूपतामात्रम्, निर्धिकल्पकान्यक्षोत्तरकालभाविन सखिकल्पकप्रत्यक्षस्यापि तद्रूपतया  
 प्रतिभात्वानुपपन्नात्, तथा च सखिकल्पकप्रत्यक्षवाचोच्छेद स्यात् ।

यदपि साधनविशेषे त्रियाविशेषपरिस्फुरणम्, तत्किं पूर्वोहितसत्कारत्वज्ञान,  
 प्रत्यक्षान्तिप्रमाणयापारानुसारत, चोदनात्, श्रो मे भ्रातेत्यादिवत् मनोमात्रतो वा  
 स्यात् ? तत्राऽन्त्यविकल्पोऽयुक्त, अश्रुतचोदनावाक्यस्य यागादिसाधने त्रियाविशे

प्रया मवृत्तिमिद्धा सा क्वर्षिपि न निरूप्यते ॥१४६॥ उपर्युक्तमिवावर्तिना सा करोत्यविचारिता । साव  
 रूप्यमिवापरा विषयत्वेन वर्त्तते ॥१४७॥ सात्वाच्छब्देन जनिता भावनानुगमेन वा । इतिवत्तद्व्यताया  
 ता न कश्चित्तिवर्त्तते ॥१४८॥ प्रमाणत्वेन ता लोक सव समनुपपद्यति । समारम्भा प्रतीयत तिर  
 १३चामपि तद्वान् ॥१४९॥ —वाक्यप० २।११९, १४५ ४९ ।

(१) सवस्य श्रोतु प्रवृत्तिप्रसङ्गादेव । (२) प्रतिभासमाकारतो यो निषय तद्रूपा प्रतिभा  
 -आ० टि० । (३) तुलना- न हीनमित्यमनेन वत्त्वमित्यनुपजातप्रतिभाभेत् प्रवर्त्तते प्रत्यक्षाद्यव  
 यतऽप्यर्थे । तत्र हि प्रमाणत्रयसमाप्त । प्रतिभानया हि लान क्वचित्तद्व्यतानु समीहते । -विधिवि०  
 पृ० २४७-४८ । (४) यागात्-आ० टि० । (५) साधनविषयमृद्ध्य वत्तुमध्यवसित-आ० टि० ।  
 (६) व्याख्या- न हि ते प्रतिभादि य संवेदनमनिश्चयात्मकं प्रतिभासाध्यम् । सप्तयो हि स ।  
 यथ तु साध्यसाधनतत्कत्वव्यवच्छिन्नायाः क्रियाया प्रतिपरावावुकूलं तत्प्रतिपत्या कार्येऽनुष्ठान  
 लक्षण वत्तत्रे सहकारिणा वत्त्वमित्यति प्रज्ञा प्रतिभामध्यगीमोहि । -विधिवि० टी० प० २४७ ।  
 'नियतसाधनावच्छिन्नक्रियाप्रतिपत्त्यनुकूल प्रज्ञा प्रतिभा'-सत्त्वस० प० पृ० २८६ । (७) तुलना-  
 आत्मनायविधातुणामुपीणामतीतानागतवत्तमानव्यवच्छिन्नद्विषयैषु धर्मादिनिबद्धेषु यथापनिबद्धेषु च  
 आत्मनसो सयोगात् धर्मविषयाच्च यत प्राणिम यथावतिवत्त्वं तानमुच्यते तन्नापमित्याचरते । तत्तु  
 प्रस्तारण देवर्षिणाम् । कदाचित्त्वेन पीकवाना यथा कयका ब्रवीति श्रो मे भ्राताऽऽगन्तेति हृदय मे  
 वययनीनि । -प्रण० भा० पृ० २५८ । प्रमाण प्रतिभ श्रो मे भ्राताऽऽगन्तेति दृश्यते । -व्यायम० पृ०  
 १०६ । 'प्रतिभा उह तद्वन्व प्रतिभम्'-योग० तत्त्वत्र० ३।३३ । प्राणिम स्वप्रतिभोत्वमनीपनिव  
 पानय । -वाणवा० ३।३३ । तत्र द्रष्टव्यारण विनव अवत्माद् व्यवहितविप्रवृष्ट्यातीतानागतसूक्ष्माद्यव  
 स्फुरण साम्य प्रतिभा । -योगस० प० ५५ । 'इन्द्रियलिङ्गात्तथावै यदर्थप्रतिभानं सा प्रतिभा -प्रज्ञा  
 बन्ध० पृ० २५८ । प्रज्ञा नवनवात्त्वान्ती प्रतिभाऽप्यधी । -अलं० चि० पृ० २ । (८) आलोचना  
 ज्ञान-आ० टि० । (९) निषयवत्तया । (१०) अग्निहोत्र जुहुयात् इत्यादि प्रवक्तुं हि वाक्यं चोदना ।

१ क्रियाविषयो न पुरुषं प्रवर्त्तयति सवस्य प्रवृत्तिप्रसङ्गात् परित्स्फुरण व० १ सिद्धे प्र-थ० ।

पस्य म्प्रेऽयस्फुरणात् । प्राक्तनपितृस्पर्शे तु प्रतिभात्व विरुद्धेत, अन्यथा सस्व-  
रात्त्रिय ममुत्पन्नाना स्मृत्यादीनामपि प्रतिभात्वानुपह्नात् तैदयैक प्रमाण स्यात् ॥७॥

“केचिद् भक्तिरेव प्रवर्तकत्वाद् विधि इत्याचक्षते । न गलु श्रद्धापरपर्याया  
भक्तिं विना परमात्मश्रवणानुमननध्यानानौ यागानौ वा प्रवृत्तिं सभजति । तदुक्तम्—

“अनश्चित्तपूर्णत्वस्पर्शो नो भक्तितो विना ।” [ ]

भक्त्यशासुप्रेवेशेनैव च शास्त्रस्यापि राजशामनाद्देव । तद्धि अन्तर्भक्तिशून्य  
राजभयानीनामेव अन्त परिस्फुरणात् । उक्तञ्च—

“तथैा शून्य भवत् पुसा शास्त्र शासनमात्रहृत् ।

भक्त्यशेन च तद्धि लोक राजानुशासनात् ॥” [ ] इति ।

तत्प्यमम्यन्, यस्मादुत्पन्ना सती भक्ति प्रवृत्तिनिमित्त स्यात्, उत्पत्तिश्चास्या  
शब्दात्, निग्रहानुग्रहसमर्धपुरूपविशेषाद्वा ? न तावच्छब्दादेव, “द्रष्टव्योरयमात्मौ”  
[वृ० ४।५।६] इत्यादिशब्दश्राविणोऽशेषस्यापि प्रतिपत्तु आत्मादौ भक्त्युत्पत्तिप्रसङ्गात्  
तैर्दर्शनादौ प्रवृत्ति स्यात् । तच्छब्दश्रवणाविशेषेऽपि अशेषस्य तन्मुत्पत्तौ नौमौ तैमात्र-  
हेतुना । यैद्विशेषेऽपि यत्रोत्पद्यते न तत् तन्मात्रहेतुकम् यथा अविशिष्टेऽपि बीजे अनु-  
त्पद्यमानोऽङ्कुर, नोत्पद्यते च अविशिष्टेऽपि शब्दे तच्छब्दश्राविणोऽशेषस्य आत्मानौ  
भक्तिरिति । अथ निग्रहानुग्रहसमर्धात् पुरुषाविशेषाद्भिर्मत फल वाञ्छता सोत्पद्यते,  
युक्तमेतत्, तस्यैवैव भक्तिशब्दान्यत्वप्रसिद्धे । अपौरुषेयत्व तु वेत्त्याऽयुक्तम्,  
तस्यैवैव पौरुषेयत्वप्रसिद्धे । अन्तश्चित्तपूर्णत्वधर्मोपेतस्य चात्मन ब्रह्माद्वैतप्रघर्षद्वै-  
प्रत्याख्यातत्वात्तद्वध कस्यचिर्चात्र तयोविधपुरुषादन्वयो वा गुरप्रियाणांभिय भक्ति  
स्यात् ॥ छ ॥

(१) आदिनेन प्रत्यक्षव्यापार गत्नी ग्राह्यी । (२) यया [ प्रम ] स्मृयमानागत्तानाम्  
-आ० ति० । (३) प्रतिभात्वम् । (४) “एव च तत्र लिट्वा बोध्यमय परिगृहीत इति तत्र,  
यत्र दवन्त्रायामिति दवन्त्रायामनुत्पत्त्यात् प्रवृत्त्यपस्य वन् व्यापारमाध्यतां द्युत्पत्तिद्वारा लिट्वाद्योऽ-  
भिप्रायानि न निश्चितानुपपन्नम् ।—वेदाथं० पृ० २२५ । (५) “भक्तिस्तु निरतिवादान्प्रियाणामप  
प्रयोजनमन्तर्वैतुष्यव गानविगप एव ।”—सवद० पृ० ३४४ । वेदाथं० पृ० १५० । (६) गत्तया  
समम् । (७) धर्म्या । (८) शास्त्रम् । (९) “आमा वा अरे द्रष्टव्यः योत्रव्यो मन्त्रव्यो निष्प्रायितव्या  
मैवत्यामिति सन्त्यरे दृष्टे धुत मने विज्ञान इत् सर्वं विन्तिम् ।”—बृहदा० २।४।१, ४।५।६ । (१०)  
आत्मानुग्रहवामनननिष्प्रायितम् । (११) भक्ति । (१२) शास्त्रवचनमात्रनिवृत्त्या । (१३) भक्ति  
न शब्दधरमानानुक्ता शास्त्रवचनेऽपि अनुत्पद्यमानत्वात् । (१४) गमयैवराशनाया । (१५) यत् ।  
यत्र ईश्वराराधनार्थं भक्तिं विधीयते तत्र धर्मोऽपि ईश्वरस्यैव प्राणाप्यं स्यात् तथा च वत्स्य अतीश्वर  
न्यायात्त ईश्वरस्य निग्रहानुग्रहत्वात् वेत्तन्मुत्पत्तिमपि स्मृतिं भाष । (१६) निष्प्रायितुत्पत्त्य  
विष्णुस्य वदाम् । (१७) पृ० १७०-१ । (१८) धर्म्या । (१९) ईश्वरत्वात् । (२०) धर्मवचनार्था ।

१-स्पर्शस्फुरणात् ध० । २-वेचित्तु भ-य० । ३-भक्ति सव मत्त-य० । ४-प्रवृत्तिनिमित्त-ध० । ५-  
तत्प्यमम्य-ध० । ६-मन्त्रवत् १०१ । ७-तस्यैवैव य० । ८-स्पर्शप्रतिपत्ते आ० । ९-आदिनेनभक्ति य० ।





स्वभावाप्रतिबन्धमन्तरेण तथैव अदृष्टप्रतिबन्धार्थाभिधानं ज्ञानमपिसमादकम् । न हि दृष्टेऽनुपपन्न नाम । क्वचिद्व्यभिचारात् साकल्येनानाश्वासे वैवत्रभिप्रायेऽपि वाचः कथमनाश्वासो न भ्यात् तत्रापि व्यभिचारसमवात् ? तथानिच्छत, श्रुतिकल्पना-दुष्टादेः उच्चारणात् ।

प्रायो वाहुल्येन श्रुतेः शब्दस्य तज्ज्ञानस्य वा चिसंवादात् सर्वत्र सत्य-  
श्रुतावपि चेद् यन् अनाश्वासः । केनाम् ? अपश्यतां  
कारिका-मन्वानम्- सौगतानाम् । किम् ? इत्याह-प्रतिबन्धम्, सम्बन्ध सन्तमपि  
योग्यतारूपमपिनाभायम्, [सः] मर्षत्रानाश्वास अक्षलिङ्गधियां समः तासामपि  
प्रायो मिसत्रान्दर्शनात्त्व्यभिप्राय ।

व्यतिरेकमुत्पेन कारिका व्याचष्टे 'नहि' इत्यादिना । नहि नेव इन्द्रियज्ञान  
प्रमाणम् । केन विनेत्याह-अभ्रान्तमव्यभिचारीति' वा विशेषण  
विबुद्धि-वाद्यानम्- मन्तरेण, तद्विशेषणे सत्येव तत्प्रमाणमिति । कुत एतदित्याह-अति-  
प्रसङ्गात्, द्विचन्द्रादिज्ञानस्यापि प्रामाण्यप्रसङ्गात् । नहि निर्विशेषणस्य ज्ञानमात्रस्य  
प्रामाण्याभ्युपमे द्विचन्द्रादिज्ञानस्य प्रामाण्यव्यवच्छेदं कर्तुं शक्य । अथ तद्विशेषणे  
सत्येव तत्प्रमाण तेनायमदोष, अत्राह-'तथा' इत्यादि । तथा अभ्रान्ताऽव्यभिचारि-  
प्रकारेण विशेषणे इन्द्रियज्ञानस्य अङ्गीक्रियमाणे श्रुतज्ञाने कोऽपरितोषः ? तस्यापि  
तद्विशेषणविशिष्टस्यैव प्रामाण्यमस्तु । ननु इन्द्रियज्ञानस्य अर्थकार्यत्वात् युक्तम्  
अभ्रान्तरमव्यभिचारित्वं वा न पुन श्रुतज्ञानस्य विपर्ययात्, इत्याह-'यथा'  
इत्यादि । यथा चेन योग्यताप्रकारेण कृत्तिकादेः सकाशात् यत् शकटादिज्ञानं तत्  
स्वभावाप्रतिबन्धमन्तरेण, स्वभावप्रतिबन्धशब्देन तादात्म्यप्रतिबन्धस्तदुत्पत्तिसम्ब-  
न्धश्च गृह्यते 'सो भाव कारणम्' इति व्युत्पत्तेः, तन्मन्तरेण अविसर्पादकं तथैव तेनैव  
प्रकारेण अदृष्टप्रतिबन्धार्थाभिधानज्ञानम् अदृष्ट तादात्म्यान्प्रतिबन्धो यस्मिन् अर्था-

(१) तुलना- 'स्वभावेऽध्यभूत सिद्धे पर पयनुयुज्यते । तत्रोत्तरमिदं वाच्यं न दृष्टेऽनुपपन्नता ।'  
-प्रमाणवातिहाल० पृ० ६८ । 'न हि दृष्टेऽनुपपन्नता ।'-धवला० टी० पृ० ३२० । (२) तुलना-  
'विवक्षाप्रभव वाच्य स्वार्थे न प्रतिबध्यते । यत् कथं तत्सूचितेन लिङ्गेन तत्त्वव्यवस्थिति । वक्ष्यभि-  
प्रायगात्र वाच्य सूत्रयन्तीत्यविशेषणाभिपन् न पारम्पर्येणापि तत्त्व प्रतिपद्येत । न च वक्ष्यभिप्रायमवा-  
न्नेन सूचयन्ति श्रुतिदुष्टान्तरयत् एव प्रसिद्धे ।'-सिद्धिबि० पृ० २६४ । (३) अभ्रान्तादिविषयपण  
सहितत्वे । (४) इन्द्रियज्ञानादिकम् । (५) अभ्रान्तादिविषयपणयुक्तस्यैव । (६) अथमन्तरेणापि  
अतीतानागतान्ते गल्पप्रयोगदर्शनात् । (७) तुलना-'स्वभावप्रतिबन्ध इति सत्यर्थो यं गमयत् । तदप्र-  
तिबन्धस्य तत्त्व्यभिचारनियमाभावात् ।'-यावबि० पृ० ४० ।

1-थमि-ज० वि० । 2-धानमवि-ई० वि० । 3-श्रुतकल्प-ई० वि० । 4-स्य ज्ञानस्य थ० ।  
5-प्रतिसंबध आ० । 6-श्वास तासामपि थ० । 7-रीतिविश-आ० । 8-इन्द्रियस्य थ० । 9-शात  
शक-आ० । 10-तिप्रतिबन्ध-व० । 11-वादकत्वं त-थ० ।

भिधानज्ञाने तत्तथोक्तम्, तदित्यम्भूत ज्ञानमप्रिसवादकम् । कुत एतन्तित्याह—‘नहि’ इत्यादि । हिर्यस्मात् न दृष्टे प्रणेपरागादौ श्रुताविसवादकत्वे अनुपपन्न नाम । इन्द्रिय-ज्ञानाप्रिसनात्कत्वेऽपि अनुपपन्नत्वप्रसङ्गात् । बहिरर्थे अस्य प्रायो व्यभिचारदर्शनात् सर्वत्रानाश्वासे च वक्त्रभिप्रायेऽपि प्रामाण्यत्र स्यादिति नर्शयन्नाह—‘क्वचिद्’ इत्यादि । क्वचित् नियते निपये व्यभिचारात् साकल्येनाऽनाश्वासे श्रुतेरङ्गीक्रियमाणे वक्त्रभि-प्रायेऽपि न केनल बहिरर्थे वाच, कथमनाश्वास साकल्येन न स्यात् ? अपि तु स्यादन । कुत एतन्तित्याह—‘तत्रापि’ इत्यादि । तत्रापि वक्त्रभिप्रायेऽपि व्यभिचार-सम्भवात् । एतदेव दर्शयन्नाह—‘तथा’ इत्यादि । येन हि ‘यौ भवत प्रिया’ इत्यादि-प्रसारेण ‘पर प्रहृत्य विश्रान्त पुरुषो धीर्यवान्’ इत्यादिप्रकारेण च श्रुतिदुष्टे कल्पनादुष्ट-श्रोक्त तथा तेन प्रसारेण अनिच्छत तथाभिप्रायरहितस्यापि श्रुतिकल्पनादुष्टादे आदिश-देन गोत्रस्खलनादिपरिमह उच्चारणात् भाषणात् । विश्व-

आतोक्तेहेतुनादाच बहिरर्थाविनिश्चये ।

सत्येतरव्यवस्था का साधनेतरता कुतः ॥ २८ ॥

विवृति—नहि पुरुषार्थाभिसन्धय सर्वेऽर्थान् व्यभिचरन्ति, अन्यथा वागर्थव्य-भिचारैकान्तसम्भवात् । वाचोऽभिप्रायप्रिसवादे कुतस्तदनुमानम् ? सुगतेतरयो आसे तरव्यवस्था कुतश्चित् साधनामाधनाङ्गव्यवस्था वा स्वयमुपजीवन् “वक्तुरभिप्रेत तु वाच” सूचयन्ति अत्रिशेषेण नार्थतरमपि” [ ] इति कथमविक्रम ?

(१) श्रुतत्व । तुलना— अपि चायविवशामाम्यशास्त्रज्ञानात् विवशायामपि क्वचिद्व्यभि-चारात् सर्वज्ञानाश्वासान कथ विवशाविशामसूचना अपि ते स्युः । —सामति० टी० प० २६६ । (२) अन्यविवशायामयानो चारणमपि प्रतीयते यथा देवत्ताविवशायामयानो चारण गोत्रस्खलनं ज्ञुभूयत । (३) श्रुतिदुष्ट श्रुतिकटु । श्रुतिकटु परुषवणरूपम दुष्टम् ।—काव्यप्र० पृ० २६७ । या भवत प्रिया इत्यत्र शृङ्गाररसवणनावसरे निषिद्धस्य रेफस्य प्रयोगान्नेव श्रुतिकटुत्व नयम् । प्रिया इत्यत्र रेफस्ययोग स्यात् एव । (४) कथनादुष्टञ्च विरुद्धकल्पनायुक्तत्वात् अनुचितकल्पनागालित्वादा बोध्यम् । परं प्रहृत्य इत्यत्र हि यदा वीर्यवान् पुरुष पर प्रहृत्य प्रहारानन्तर विश्रान्त विशेषण श्रात कथान तत्र तस्य वीर्यवत्त्वन वणनमनुचितमेव । यदि हि प्रहारानन्तर कलान् कथ वीर्य वान ? कथान्तत्ववापवस्वयोविरोधात् । (५) अयमथ—आप्तोक्तबहिरर्थाविनिश्चये सुगतेतरवच नया सत्यतरव्यवस्था का अपाविपयत्वाविपात् । हेतुनादाञ्च बहिरर्थाविनिश्चये साधनेतरता कुत बहिरर्थगुणत्वाविपात्तिः । —लघी० ता० प० ४८ । सत्यतरव्यवस्था हि बाह्यायप्राप्त्यप्राप्तिनिवचनव तथा चोक्तम्—आप्तमीमांसायाम (का० ८७) बुद्धिगणप्रमाणत्व बाह्यायै सति नासति । सत्या ननव्यवस्थव यु-यने-र्षादियनादियु । तुलना— वाचयानामविशेषण वक्त्रभिप्रेतवाचिनाम् । सत्यानृत व्यवस्था न तरवमिध्यात्वान्नात् ॥ मिध्यागानज्ञानात् मिध्यायत्व गिरा मतम् । —सिद्धिवि० प० ५०२ । (६) तुलना— नान्तीयवताभावाच्छब्दानां वस्तुभिः सह नापसिद्धिनस्तते हि वक्त्रभिप्राय सूचना ॥ ३।२।२२ ॥ वक्तृव्यापारविषयो योऽर्थो बुद्धौ प्रकाशान् । प्रामाण्य तत्र गणस्य नापतद्व

1—नं तरज्ञान-व० थ० । 2—प्राय प्राया-आ० थ० । 3—प्राह यन हि आ० । 4 स्वभावत व० । 5—न धु-व० । 6 धृतविकल्पना-आ० थ० । 7—दिप्रहृवरिपह थ० । 8 सर्वर्षान् ज० वि० ।

यो यस्याऽनञ्च स तस्य आप्तः तदुक्तेः तद्वचनात् हेतुवादाच्च लिङ्गादि-  
वचनाच्च घट्टिर्याचिनिश्चये अङ्गीक्रियमाणे सत्य सुगतप्रचनम्  
कारिकायाख्यातम्-  
इतरदसत्य कपिलाण्विचनम् तयो व्यवस्था का ? न-काचित्,  
सर्वममत्यमेव स्यात् । अत सुगतवचनान्पि न क्वचित्प्रवृत्ति स्यात् । तथा साधनेतरता  
कुतः ? पक्षाण्विचनानि साधनम्, इतरत् तद्द्वैतूपणवचन तयोर्भाप्रस्तत्ता सापि कुत ?  
नैव स्यात् । तथा च 'यत् मत्तत् सर्वं क्षणिकम्' इत्यादेरसाधनाङ्गतया निप्रहस्थानता  
स्याण्विभिप्राय ।

व्यतिरेकद्वारेण कारिकार्थमाह- 'नहि' इत्यादिना । न खलु पुरुषाभिसन्धयः  
पुरुषाभिप्रायाः सर्वे अर्थान् व्यभिचरन्ति । कुत एतन्वित्याह- 'अन्यथा'  
विवृति-याख्यातम्-  
इत्यादि । अन्यथा तेषा तद्व्यभिचारप्रकारेण वागर्थव्यभिचारैका-  
न्तसम्भवात्, नाचामर्थस्य बाह्यस्य अन्यस्य वा यो व्यभिचारैकान्त तस्य सम्भवात् ।  
वाचोऽभिप्रायसिद्धादे मति कुतः न कुनञ्चित् तस्य अभिप्रायस्य अनुमानम् । अथे-  
तानीं परस्यो मत्तच्छेष्टित 'सुगत' इत्यादिना दर्शयन्नाह-सुगतस्य हि आप्तैस्त्वव्यवस्था

निवर्धनम् ॥ ११४ ॥ यद्यथा वाचकत्वेन वक्तव्यविनियम्यते । अनपक्षितग्राह्यात् ततथा वाचक मतम्  
॥११६७॥"-प्रमाणवा० । "साक्षाच्छ्रुतानां वाह्याथप्रतिप्रधिविवेकत । गमयन्तीति च प्रोक्त विवशासूच  
कास्त्वमी ॥"-तत्त्वस० प० ७०२ । "यथोक्तम्-वक्तुरभिप्राय मूचययु ऽन्वा ।"-तकभा० मौ० पृ० ४ ।

(१) "आप्त खलु साक्षात्कृतयमा यथादुष्टस्याथस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा ।  
साक्षात्कृत्यमथस्य आप्ति तथा प्रवर्तते इत्याप्त ।"-न्यायभा० ११७। "आप्ति साक्षादथप्राप्ति यथार्थो  
पलम्भ तथा वर्तत इत्याप्त साक्षात्कृत्यमार्थं यथाथप्राप्त्या श्रुतार्थग्राही । आगमो ह्याप्तवचनमाप्त दोषश्च  
याद्विदु । क्षीणदोषोऽजत वाक्य न दूयाद्वैत्वसम्भवात् । स्वकमण्यभियुक्तो यो रागद्वेषविवर्जित । पूजितस्त  
द्विधनित्यमाप्तो नैव स तादृश ।"-साह्यका० माठर० प० १३ । यो यत्राविगवादेव स तत्राप्त  
परोऽज्ञान् तत्त्वप्रतिपादनमविसावाद तदयानानात् ।"-अष्टश० अष्टसह० पृ० २३६ । (२) "तत्र  
पक्षाण्विचनानि साधनम्"-न्यायप्र० पृ० १ । (३) 'साधनदोषोद्भावनानि दूषणानि"-न्यायप्र० पृ०  
८ । (४) 'तद्वत् प्रमाण भगवान् यथाभिहितस्य सत्यचतुष्टयस्यावितर्कवादनात्सत्य पररतातस्य प्रकाश  
नाच्च ।"-प्रमाणवा०, मनोरथ० ११९ । 'तावित्वाच्च भगवत सुगतस्य प्रामाण्य तथाहि- "ताय स्वदृष्ट  
मार्गोक्ति वक्त्वाद्वाङ्मि नानूनम् । दयादुत्वात् परायञ्च सर्वार्गभ्याभियोगत' । तस्मात्प्रमाण तायो वा  
चनु सत्यप्रकाशनम् ॥-दुःखहेतुनिवर्तकत्वेन स्वय दष्टस्य मागस्याकिर्तदेशना ताय करण कार्योपचारात् ।  
तथा हि सत्त्वान तायते तद्योगात्तावित्वम् । स च वचन्याद्वैति नानूनम् । आमसुवाचभिलाषादिना कश्चि  
दसत्य वदति अज्ञानात् । प्रहीणात्मदशनस्य साक्षात्कृततत्त्वस्य तदुभय नास्ति । विशयत सत्याभिधान  
हेतुरेव कृपास्तीत्याह-दयादुत्वाच्च परायञ्च सबस्य मार्गभ्यासादारम्भेऽभियोगत परार्थमेवोद्दिश्य भग  
वानभिसम्बुद्ध कथन्नस्य मिथ्याभिधानैत सत्त्ववचननाशङ्कापि । तस्मात्तावित्वात् प्रमाण भगवान् ।  
यथादुष्टार्थप्रवचनत्वं हि सत्त्ववचनमेवेति प्रथमप्रमाणलक्षणयोगात् प्रामाण्यमनेनोक्तम् । द्वितीयलक्षण-  
योगमप्याह-तायो वा चनु सत्यप्रकाशनम् । पररतानस्य सत्यचतुष्टयस्य प्रकाशन वा ताय तद्योगात्  
तायो प्रमाणं भगवानुक्त । -प्रमाणवा०, मनोरथ० ११४७ ४८ । 'तत् सुगतमेवाह सर्वं मतिशा  
लिन । प्रपान्दुरुषायनं त चवाहुभिपवदम् ॥ -तत्त्वस० पृ० ८७८ ।

कुतश्चिद् अनुपदेशाऽल्लिङ्गानिमिदादिचतुरार्यसत्योपदेशात् कपिलादेस्तु अनाप्तत्वव्यवस्था  
 निमित्तान्निप्रधानान्तिचत्त्रोपदेशात् स्वयम् आत्मना उपजीवन्, साधनासाधनाङ्गव्य-  
 वस्था वा, त्रिरूपहेतुवचनस्य हि स्वसाध्यमिद्धरङ्गव्यवस्था पथादिवचनस्य तु तद-  
 मिद्धरङ्गव्यवस्था ता वा उपजीवन् "वन्तुरभिप्रेत तु वाच. सूचयन्ति अविशेषण  
 नार्थतत्त्वमपि" [ ] इति पञ्चदशो धर्मश्रीर्त्योनि कथमपिक्कनः स्वस्थ ?  
 अत्राह सौगत - वन्तुरभिप्रायेऽपि यदि वचनस्य प्रामाण्यतास्ति, मा भूत्, चित्रष्ट प्रमाण  
 द्वयनादिन ? व्यवहारिजनानुरोधादेव तत्र तस्य प्रामाण्याभ्युपगमात्तित्याशङ्क्याह-

"पुसश्चित्राभिसन्धेश्चेद् वागर्थव्यभिचारिणी ।

कार्यं दृष्ट विजातीयाच्च उक्त्य कारणभेदि किम् ? ॥२९॥

निवृत्ति-श्रुतेर्गुल बहिरर्थानिसवादेऽपि तदर्थप्रतिबन्धासिद्धे. वन्तुरभिप्रा  
 यानुविधायिन्या सर्वत्र तदर्थानाश्रय इति चेदुक्तमत्र- 'तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्या  
 पिनापि परोक्षार्थप्रतिपत्तेरनिसवाद' इति। अपि च वृक्षोऽय शिंशपात्वात् अग्निरत्र  
 धूमादिति वा कथमाश्वास ? कचिल्लताचूतादेरुपलब्धे. शिंशपाया स्वयमवृक्षत्वेऽ-  
 प्यपिरोधात्, कौष्ठजन्मनो मण्यादिसामग्रीप्रभञ्जस्य अशनिजन्मन. तदर्थान्तर-  
 जन्मनश्च साकल्येन अग्निस्रभायात्रिरोधे पुन अग्निजन्मैव धूम' नार्थान्तरजन्मा  
 इति कुतोऽय नियम ? यत कार्यहेतोरव्यभिचारात् 'धूमादग्निरत्र' इत्याश्वास ।  
 कस्यचिदन्यथानुपपत्त्या परोक्षार्थप्रतिपत्तौ श्रुतज्ञानस्य स्वयमदृष्टतादात्म्यतदुत्पत्ते

(१) चत्वार्यावसत्यानि तस्यैवा दुःख समुत्थो निराधो मागश्चेति । - धर्मस० पृ० ५ ।

सत्यायुक्तानि चत्वारि दुःख समुत्थस्येति । निराधो माग एतथा यथाभिसमय क्रम ॥ - अभिध  
 मसो० ६१२ । (२) अथवा साध्यने येन परेषामप्रतीतोऽय इति साधन त्रिरूपहेतुवचनसमुदाय,  
 तस्याङ्ग प त्पमार्तिवचन अथवा तस्यैव साधनस्य यन्नाङ्ग प्रतिनोपनयनिगमनात् ' - वाद' वाय०  
 ५० ६१ । (३) वन्तुरभिप्राय । (४) गच्छस्य । (५) तुलना- विचित्राभिसा धतया व्यापारव्याहारात्  
 साक्येण क्वचित्प्यानिगानियये कमयक्याः शपष्टि चानवतोऽपि विमवागत नव पुनराश्वास लभे  
 महि । - अष्टा० अष्टसह० पृ ७१ । चंचलि वागाप्तवचनम अथव्यभिचारिणी बाह्यार्थाविम  
 वात्तिनी स्यात् । कस्मात् ? चित्राभिमाध चित्र सयासत्वादिन्पो नानाभिसा धरभिप्रायो विवशा  
 तस्मान । कस्य ? पुनो वक्त सरगा अपि वीतरागवच्चेष्टने इति वचनात् । तर्हि विजातीयादपि  
 कारणान् काय दष्टमविरद्ध स्यात् । ततस्तत् कारणभित् कारण प्रतिनियत स्वात्मलाभनिबन्धन  
 भिनत्ति विजातीयात्तिगिन्पटीयव गोल वि शक्य स्यात् ? न स्यात्वेत्यथ । तस्य यत कुनश्चिदुत्पत्त  
 रविरोधान । न सत्त्वनिपयकारणत्रय काय कारणभञ्जमयव्ययकने । - लघी० सा० पृ० ४९ । (६)  
 तुलना- न च व वात्ति विश्विचनुमान नाम निरभिसधीनामपि बहु कायस्वभावानियमोप  
 लम्भान् । तनि काष्ठात्तिसामग्रीविनाप क्वचिदुत्पत्तस्य तन्भाव प्रायगाऽनुपलक्षस्य मण्यादिकारण  
 कल्पने वि मन्वान । यत्रापीयो यत संप्रतिनन्त ज्ञानायात्तादुगिति दुःखनिनियमताया धूमधूमकत्वा  
 दीनामपि व्यायथापवभाव क्यमिव निर्णीयन वृत्ति गिगा वात्ति अनाचूनात्तरपि क्वचित्क दानान  
 प्रेगावना विमिव वि नैव स्यात् - अष्टा० अष्टसह० पृ० ७२ । समति० टी० पृ० २६६ ।

1 अनुपदेशान् लिगादि-व० । 2 ख व० । 3-वत्या वा थ० । 4 कार्यदृष्ट ई० वि० ।



णात् । तथा च 'शिक्षापाया' स्वयम् आत्मना अष्टवृक्षत्वेऽप्यनिरोधात् कथमाश्वासः ?  
 काष्ठजन्मनः पावकस्य मण्यादिसामग्रीप्रभवस्य तथाऽशनिजन्मनः तस्मादशनि  
 भागात् काष्ठानर्थं तदन्तरतज्जन्मनश्च साकल्येन अनन्यत्वेन अप्रिस्वभावाविरोधे पुनः  
 अङ्गीक्रियमाणे अप्रिजन्मैव धूमो नार्थान्तरजन्मा' इति कुतोऽयं नियमः यतो  
 5 नियमात् कार्यहंतोरप्यभिचारात् 'धूमादग्निरत्र' इत्यादौ आश्वासः स्यात् । अथ  
 "सुविचिन्तितं कायं कारणं व्यभिचरति" [ ] इत्युच्यते । अत्राह—'कस्यचिद्'  
 इत्यादि । कस्यचित् स्वभावकार्यप्रतिपत्तयः या अन्यथा साध्याभासप्रकारेण अनु-  
 पपत्तिः तथा परोक्षार्थप्रतिपत्तौ अङ्गीक्रियमाणाया श्रुतस्य स्वयम् आत्मना अदृष्टता  
 दात्म्यतदुत्पत्तेः 'भादौ गोकुपुस्क पुवत्' [ जनेद्रव्या० ५।१।५३ ] इत्यतो नपुसकत्या-  
 10 भासः । क्वचिद् द्वीपादौ य तस्य अविस्मयः तस्य अन्यथानुपपत्तेः सिद्ध-  
 प्रामाण्यमिति ॥ छ ॥

प्रमाणं साभाम् विषयफलसंयान्ति इहै,  
 प्रमत्तैर्गम्भीरैः कतिपयपर्यैर्न गन्तव्यम् ।

स जीयाद् दुस्तरं प्रतिमिररवि न्यायजलधिः,

15 जगज्जनुस्वान्तप्रवरकुमुदे दुर्जिनपति ॥ छ ॥

इत्थं समस्तमतयादिकरी द्रवपमुन्मूलयन्नमलमानदृढप्रहारे ।

स्याद्वातवेसरसटाशततीघ्नमृत्ति पञ्चाननो भुवि जयत्यकलङ्कदेव ॥ छ ॥

इति प्रभाचद्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयस्त्रयालङ्कारे चतुर्थे परिच्छेदे समाप्तः ।



अथप्रमाणं तर्भृतप्रत्यक्षादिपरिच्छेदचतुष्टयं प्रमाणप्रवेशं परिच्छेदं समाप्तं ॥ छ ॥

अथप्रमाणं ११३० ॥ छ ॥



(१) आदिपदेन तुण-अरिगणनिमयनायो ग्राह्या । (२) तुणा- 'यत्नतः परीक्षितं कायं  
 कारणं नातिवन्ते इति चेत् स्तुतमं प्रस्तुतम् -अष्टा०, अष्टमह० ५० ७२ । प्रमेयरत्नमा० ३।१०।१ ।  
 लघी० ता० ५० ४९ । अथ सुविचिन्तितं कायं कारणं न व्यभिचरतीति 'यायात्' । -संमति० टी० ५०  
 २६६ । (३) अदृष्टतादात्म्यतत्पत्तौ यस्य तत् अदृष्टतादात्म्यतत्पत्तिः तस्य अगृहीतस्वभावकार्यान्तरूपस्य  
 धृतज्ञानस्य इत्यर्थः । अत्र अदृष्टतादात्म्यतत्पत्तिगता धृतस्य विगणनत्वात् नपुसकलिङ्गोऽपि भादौ  
 इत्यादि मुनान्तारेण भादौ अजादौ भुवि उत्तपुस्कमिगतं नपु (नपुसक) वा पुवद् भवति इति पुल्लिङ्गे  
 प्रमुनं नपुसकलिङ्गं तु नुमागमं मतिः अदृष्टतादात्म्यतत्पत्तिः इति प्रयागः स्यात् इति भावः । (४)  
 धनस्यः । (५) अस्मिन् अथ । (६) प्रभाचद्रवणं अथयुता । (७) 'यायकुमुदचन्द्रं तत्त्वर्त्तं  
 प्रभाचद्रवणं अननं विगणनं सूचितं । (८) त्रिनं पतिर्यस्य ।

१ अथप्रवेशे-आ० । २ भादौ धोवन-व भादौ धोवन-अ० । ३ चतुष्टयपरि-आ० । ४-अथप्रमा-  
 न्य० । ५-अथ प्रथमं परिच्छेदं व० ।







धिःकश्च, द्रवति द्रोष्यति अदुद्रवदिति ना द्रव्यम्, तदेव अर्थोऽस्ति यस्य सः  
द्रव्यार्थिकः सोऽभेदाश्रयः ।

भेदो विशेष, अभेद सामान्यम्, तौ आत्मानौ यम्य तस्मिन् तदात्मके

कथञ्चित्तत्प्रभावे प्रस्तुति, न नैयायिकादिपरिकल्पिते, तस्य प्रागेया-  
कारिकायाः यानम्-

पास्तत्वात् । कथम्भूते तस्मिन्नित्याह—ज्ञेये प्रमाणपरिच्छेदे । एतच्च

विशेषणमपि साधन प्रत्येयम् । तत 'सर्वं प्रस्तु भेदाभेदात्मकं ज्ञेयत्वात्' इति गम्यते,

यथा 'मन्त्रित्यम्' इत्युक्ते मन्त्रानिति । नचायमनैकान्त्रिको हेतुर्विज्ञेयो वा, सर्वथा

भेदे अभेदे वा प्रमाणपरिच्छेद्यत्वस्य विषयपरिच्छेदे प्रतिक्षिप्तत्वात् । तत्र भेदाभेदा-

भिसन्प्रयः सामान्यविशेषप्रियया पुण्याभिप्राया चे ते' लक्ष्यन्ते निश्चीयन्ते

नयाः दुर्नयाश्च । काभ्यामित्याह—अपेक्षाऽनपेक्षाभ्याम्, अपेक्षया नया

इतरया दुर्नया इति ।

भिनक मानवापदास्तिक च द्रव्यनय । उत्पन्नात्मिक पयापारिक च पयायनय । -तत्त्वावहृत् ५ ।

३१ । तत्त्वावहृत् ५ । ३१ । 'द्व्यद्विभो य पञ्जवणत्रा य समा विषयानिति ।' -सम्मति० १ । ३ ।

'नया द्विविध द्रव्याधिक पयापारिकश्च । -सर्वाधिक० १ । ६ । द्वौ मूलभेदो द्रव्यात्मिक

पयापारिक इति । अथवा द्रव्यात्मिक पयापारिक ।' -राजवा० १ । ३३ । 'तत्र मूलनयो द्रव्यपयाया

संयोगोऽत्र । मिथ्यात्वं निरपगतत्वं सम्पन्नत्वं तद्विषयम् ॥ -मिद्विधि० टी० पृ० ५२१ । १ । द्रव्यद्वि

यस्य मूलं यं पञ्जवनपरम पञ्जाजो ।' -विषया० गा० ४ । ३३१ । तयो वा पयापारिकानामपि-द्रव्या

पयापारिकयो द्वौ समागतौ मूलभेदौ तन्प्रभेदा गणहान्य ।' -नयवचन० पृ० ५२६ । १ । धवता टी०

कारिण निवृण्णनाह—‘द्रव्य’ इत्यादि । अत्र वस्तुतत्त्व धर्मि द्रव्यत्वात्प्रतिशेष-

प्रतिशेषमिति सा यम् । तत्त्वग्रहण किमर्थमिति चेत् ? आश्रयासिद्धि-

निषेधार्थम्, तथाहि—न जीवादि भ्रात नापि शून्य कल्पित वा नितु

तत्त्व परमाथसन् । प्रमाथितञ्च जीवादिवस्तुन परमार्थमत्त प्रागेरै इत्यलमतिप्रम-

द्भेन । अस्त्वेवम्, तथापि एकातरूप तद् भविष्यतीत्याह—‘द्रव्य’ इत्यादि । वक्ष्यमाण-

लक्षणा द्रव्यपर्याया आत्मानो यस्य तत्राथोक्तम् । कुत एतत्प्रित्याह—उत्पादव्यय

ध्रौव्ययुक्तम् । उत्पात्तात्मन यत ततस्तथाविध नत् । एवविधमपि ध्रुत इत्याह—

‘सत्’ इति । सद् अथक्रियाकारि यत । तत्कारित्व कथ तस्येत्याह—‘प्रमेयम्’ इति ।

प्रमेय यतो जीवात्प्रित्यस्तु ततोऽर्थक्रियाकारि । नहि सात्त्विकल्पितस्य आत्मन काश्चि-

दर्थक्रियामवुर्तते प्रमेयत्वं घटते इत्युक्त प्रागेरै । नन्वेकस्मिन् वस्तुतत्त्वे प्रतीयमाने

प्रतिभासभेदासम्भवात् कथ प्रतिपन्नभिप्रायाणा नयरूपतोपपन्नते इत्याशङ्क्याह—‘तत्रैव’

इत्यादि । तत्रैव अनन्तरोक्तस्वरूपे च द्रात्प्रित्यस्तुनि कथञ्चित् सत्त्वधावल्यादिप्रकारण

यत् प्रमाण यश्च कथञ्चिद् द्वित्वात्प्रिकारण तदाभाम् तयोर्भेदात् भेदप्रतीतेः ।

एतच्च प्रागेव समर्थितत्वात् दृष्टान्ततयोपात्तम् । तस्मादेकस्मिन्नपि वस्तुनि प्रतिपत्ति-

भेदसम्भवात् युक्तो विमलादेशप्रित्येवमाश्रित्य ज्ञानुरभिप्रायो नय । तस्य भेदमाह—

‘स’ इत्यादिना । स नयो द्रव्यार्थिकः, पर्यायार्थिकश्च । तत्र प्रथम व्याचष्टे—

‘द्रव्य’ इति । ‘द्रवति द्रोष्यति अदुद्रवत्’ इति वा द्रव्यम्, तदेवार्थ सोऽस्ति

यस्य न द्रव्यार्थिकः । कुत स इत्यन्भूत इत्याह—सोऽभेदाश्रयो यत ।

ननु मन्त्रभाषाणा देशकालाकारैरत्यन्तभेदान्न अभेदो नाम, अत कथसौ अभे-

दाश्रय स्यात् ? इत्यारम्भानोदाहमाह—

जीवाजीवप्रभेदा यदन्तर्लीना तदस्ति मत् ।

एक यथा स्वनिर्भासिज्ञानम् जीव, स्वपर्ययै ॥३१॥

(१) विषयपरिच्छेदे । (२) परमाथसत् । (३) ए० १९१ । (४) अस्ति विद्यते प्रतीयते ।

तत्त्वम ? सत् सत्तासामायम । किंविशिष्टम् ? यत्प्रित्यादि यस्मिन्नन्तर्लीना अन्तर्भूता । के ?

जीवाजीवप्रभेदा जावश्चेतनाऽप्यण अजीव पुनस्तद्विषय पुद्गलात्प्रि प्रभेदाच्च त्रसस्थावराद्यवान्त

रविद्या जीवाजीवी च प्रभेदात्तत्त्वे तथोक्ता । न सत्तु द्रव्य पर्यायो वा सत्त्वयतिरिक्तमस्तीति

किञ्चिद्वक्तुं गत्य स्ववचनविराधात्प्रित्यसद्भाव । न वक्तव्य कथमनन्तर्जीवात्प्रिभ्यापकत्वमिति

चन्नाह एकमिदानीं । यथा एक ज्ञान चित्रपटात्प्रि विषय स्वनिर्भासि स्व आत्मीया ज्ञानात्मानो निर्भासा

नोऽत्राकाशा विद्यते अस्यति स्वनिर्भासि । यथा चको जीव आत्मा स्वपयय स्वे चिद्रूपा पयया

रागादय परिणामा तराकान् प्रतीतिपत्त्याह न विरुध्यते तथा सत्त्वमपि जीवाद्यनकभेदात्तान्त न

विरुध्यते इत्यय । —लघी ता० प ५२ ।

१ आत्मा यस्य आ० व । २ तत्र य० । ३—इत्येव इत्यति आ० व० । ४—भेदाधितो

यत आ० ।

प्रिवृतिः—यथैव ज्ञानस्य आत्मनिर्भासभेदा नैक्यत्र बाधन्ते जीवस्याजीवस्य वा कस्यचित् स्वगुणपर्यायाः तथैव सत्त्वस्य भेदाः जीवाजीवादयः । तदेवम्—

जीवश्च अजीवश्च तयो प्रभेदा अग्रन्तरनिशेषा यदन्तर्लीना यस्य अन्तःप्रविष्टा तदस्ति प्रिवृते । किं तदित्याह—‘सत्’ इति । सत्तामामान्यम् । केन प्रप्रारेण ‘एकम्’ इत्यादि । स्वे आत्मीया न ज्ञानात्तरगता निर्भासा नीलाग्राकारा ते यस्य सन्ति तद् स्वनिर्भासिर्ज्ञानम् एतद् ‘चित्तैकज्ञानम्’ इत्यर्थे । यथा येन प्रतिभासादिप्रकारेण अस्ति तथा प्रकृतमपि, मौगनापेक्षया इत्युक्तम् । इतरापेक्षया तु ‘जीव. स्वपर्ययै’ इत्याह । जीवप्रहणमुपलक्षणम् सत्त्वजीवतत्त्वस्य, तेन जीवात् स्वपर्ययैर्युक्तो यथा एकोऽस्ति तथा सदेकमिति सिद्धम् ।

कारिका प्रिवृष्टन्नाह—‘यथैव’ इत्यादि । यथैव येनैव अशक्यविवेचनाऽभिन्नयोगक्षेमप्रकारेण ज्ञानस्य आत्मनः स्वरूपस्य ये निर्भामभेदाः प्राह्यादिनीलाग्राकारा ते नैकत्वं बाधन्ते, जीवस्य आत्मनः अजीवस्य वा घटादे कस्यचित् सकलजनप्रसिद्धस्य न नैयायिकात्कल्पितस्य तस्य पूर निरस्तत्वात् । स्वगुणपर्याया ‘यथैव नैकत्व बाधन्ते’ इति सम्बन्ध । तथैव तेनैव प्रप्रारेण सत्त्वस्य सत्तामामान्यस्य भेदा । के इत्याह—जीवाजीवादयः, नैक्यत्र बाधन्ते । तस्मिन् सति किंजातमित्याह—‘तदेवम्’ इति । तस्मिन् सत्त्वे एवम् उक्तप्रकारेण जीवाजीवात्मके स्थिते सति—

शुद्धं द्रव्यमभिप्रैति संग्रहः तदभेदतः ।  
भेदानां नासदात्मैकोप्यस्ति भेदो विरोधतः ॥३॥

(१) अशक्यविवेचनं हि एकचित्तज्ञानस्य नीलाग्राकाराणां ज्ञानान्तरं अनुभवस्यैवम् । (२) ‘अशक्यवर्मानुवर्तियोगे । लक्षणवर्मानुवृत्ति क्षेमः ।’—प्रमाणवा० स्वयं० टी० १।२४ । ‘यद्यप्यत्रातिपयस्य परिच्छिन्नलक्षणा प्राप्ति, क्षम तदर्थक्रियानुष्ठानलक्षण परिपाठनम् ।—शुद्धि० टी० १०० ५५ । (३) ‘अभिप्रति विषयीकरोति । क ? सग्रह संग्रहनय । किम् ? शुद्धं द्रव्यं मन्मानार्थं मन्मानोपाधिरहितजन तद्विमभवात्, तद्विषयो हि नय सग्रह । सजात्यविराधेन परायादाशानुवर्तयवप्यमपुनीय समस्तग्रहण संग्रह इति निवचनान् । कुत ? सत्त्वं तस्य मन्मानात्प्रमाणं शुद्धद्रव्यस्य अभदान् मन्मैव जीवाजीवपु अश्वनिरकान् । ननु प्रागभावात् सत्त्वकगनिरैकान् कथं नैक्यत्र इत्यादि कथाह—ज्ञाना जीवाजीवात् सद्भिदापाणां मध्य एकोऽपि भवे जीवतत्त्वपर्यायाज्यो वात्सल्यमा अगम्यव्यो नाम्नि त विषये । विरोधत—यद्यमगत्या कथमग्नि ? यद्यग्नि, कथमग्न्यात्सि ? इत्यवतविराधादस्य अतिद । तत्र प्रागभावादिरो वा कथञ्चिद्व्यग्नमक तवाभ्युत्पन्नं इति ? इत्यवतविराधा ता० १०० ५२ । (४) शुद्धता—‘संग्रहिय विप्रत्यं मगहकथं त्नामशा विनि ।’—लघी० टी० १। आ० नि० गा० ७५६ । विनेया० गा० २६९९ । अपानां शुद्धतात्पुन संग्रह । आह कथमगतीवचनं सामांय दानेनाथ न विनाय । तस्मिन् हनयनियतं नान विनायविषय ॥—तत्त्वार्थ

१ जीवादय ज० वि० ११—ज्ञानमित्यर्थं ५०। १ आत्मनः ५०। १—यात्राय आ० १० अनेन

त्रिवृति -सर्वमेक सदप्रशेषात् इति मग्रह' । सताश्च स्वभावाना भावैकत्वाऽ-  
वाधनात् । नहि कश्चिद् अमदात्मा भेदोऽस्ति त्रिवृतिपेधात् । नहि किञ्चिज्ज्ञान  
सद्रूप द्रव्यमननुद्धय भेद गृह्णाति नाम ।

शुद्ध द्रव्य मत्तालम्बणम् अभिप्रैति निपथीरुति न सतोऽपि आत्मानि-

विशेषान् । कोऽसौ इत्याह-सग्रह' मग्रहनय । कुत एतन्वित्याह-  
कारिकायास्त्यानम्-  
तदभेदतः तस्य सत्त्वस्य मयप्रशेषेषु अविशेषत । एतन्पि कुत  
इत्याह-'भेदानाम्' इत्यादि । भेदाना जीवादिविशेषाणा मध्ये असदात्मा  
असत्त्वभावा एकोऽपि न केवलम् अनेको नास्ति भेदो विशेष, किन्तु सदात्मैव  
'अस्ति' इति सम्बन्ध । कुतो नास्तीत्याह-विरोधतः । तथाहि-'यदि असन्  
कथमस्ति, अग्नि चेत् कथममन्' इति । एतेन अभावाचतुष्टय चर्चितम्, तथाहि-  
यदि नत् अस्तीतिप्रत्ययवेष्यम् कथसदात्मकम् ? स्वरूपेण तस्यापि सत्तात्मकत्वात् ।  
अथाऽसदात्मकम्, न तर्हि तैत्प्रत्ययवेष्यमिति कथ तैत्त्वमित्यभिद्धि ?

कारिका त्रिवृण्यजाह-'सर्वम्' इत्यादि । सर्वं चेतनाचेतनस्वभावा वस्तु एकम्

अभिन्न सदप्रशेषात् सत्ताऽविशेषमाश्रित्य इति एव सग्रह । सदवि-  
विवृतिनिवरणम्-  
शेषेऽपि सत्त्वात् तद्वता भेदप्रसिद्धे सर्वमेकम् इत्याद्युक्तमित्याहङ्-

क्याह-'सताश्च' इत्यादि । सताश्च त्रिवृण्यमानाना पुन स्वभावाना भावधर्माणाम्  
भावैकत्वावाधनात् सत्त्वैकत्वानिराकरणत्वात् । एतदेव समथयमान प्राह-'नहि'  
इत्यादि । हिर्धस्मात् न असदात्मा असत्तास्वभावा कश्चित् द्रव्यादीनामयतमो  
भेद विशेष अस्ति । कुत इत्याह-त्रिवृतिपेधात्, विरोधात् । इतश्च असत्तात्मा भेदो  
नास्तीति दशयजाह-'नहि' इत्यादि । किञ्चित् प्रत्यक्षमनुमान वा ज्ञान मद्रूप सत्त्व-  
म्यरूपम् अननुद्धय अगृहीत्वा भेद विशेष द्रव्य द्रव्यरूपम्, द्रव्यग्रहणमुपलक्षण गुणादे ;  
तत्त्वमित्याह-'नहि गृह्णाति नाम' इति । ततो निराकृतमेतत् 'न द्रव्यादि स्वत सत्

पि० भा० १।३५ । तत्त्वापहरि० तत्त्वापसिद्ध० १।३५ । स्वजात्यविरोधनकध्यमुपनीय पर्यायाना  
त्रान्भानविशेषेण समस्तग्रहणात् सग्रह । -सर्वार्थति० १।३३ । राजवा० १।३३ । विधिध्वतिरि  
कप्रतिपयानुत्पन्नाभिधिमात्रमेव तत्त्वमित्यध्यवसाय समस्तस्य ग्रहणात् सग्रह । द्रव्यव्यतिरिक्त  
पर्यायानुत्पन्नात् द्रव्यमेव तत्त्वमित्यध्यवसाया वा सग्रह । -धवलाटी० ५० ८४ । 'गुड द्रव्यमभिप्रति  
सामात्रं सग्रह पर । स चानेवविपपु सतोऽसीन्यमागिहः । -सत्त्वापश्लो० ५० ७० । नयविव० श्लो० ६७ ।  
प्रमेयक० ५० ६७ । 'शुद्धं द्रव्यं समाप्तं सग्रहस्तत्तुद्धित -समति० टी० ५० २७२ ३११ । नयचक्र  
गा० ३४ । तत्त्वार्थमार ५० १०७ । प्रमाणनय० ७।१३ । स्या० म० ५० ३११ । जनतकभा० ५० २२ ।

(१) तुलना- यथा सर्वमेक सत्त्वापात् । -तत्त्वापभा० १।३५ । अहं महासामर्थं सग्रहिय

विदित्यपिपरि ति । सत्त्वमित्येतन्न सामग्रं सवहा भणिय । -विगया० गा० २७०१ । 'विश्वमेक  
सत्त्वोपात् इति यथा । -प्रमाणनय० ७।१६ । (२) अभावचतुष्टयस्यापि । (३) अस्तीतिप्रत्य  
यप्राप्तम् । (४) अभावचतुष्टयसदभावसिद्धि ।

1 तस्य सर्व-आ० । 2 कथमस्तीति चेत आ० थ० । 3 द्रव्यस्वरूपम् च० थ ।

नायमत् सत्ताममघात्सत्' [ ] इति, सद्रूपरहितस्य हि द्रव्यादे तैत्स्य-  
मायशून्यस्य च सद्रूपस्य ग्रहणे मति एतत् स्यात्, न च तद्रूपग्रहणमस्ति, सर्वदा उभयो  
उभयात्मनो वेदनामिति भाव । पूर्वोण परपक्षे विरोधोद्भावनम्, अनेन तु प्रतीतितो  
भेदस्य मन्वात्मकत्वसाधनमिति विभाग ।

अत्राह सौगत — 'यदुक्तम्—यथैत्र ज्ञानस्य आत्मनिर्भासभेदाः नैकत्वं प्राधन्ते' 5  
इति, तन्प्युक्तम्, निरशकज्ञानोपगमात्, सर्वोऽयय निरद्धधर्माध्यामी स्तम्भादिप्रति-  
भामो विभ्रमो मरीचिकाचक्रे जलरविति कथ तन्निराशनेन अभिमततत्त्वसिद्धि स्यात् ?  
पुष्पाद्वैतशागपि आह—निस्तरङ्ग पुष्पमात्र तत्त्वम्, जीवाजीवप्रभेद पुन उपपन्न,  
ततो 'जीवस्य अजीवस्य वा' इत्याद्यप्युक्तम्, इत्याशङ्क्याह—

प्रत्यक्षं वह्निरन्तश्च भेदाज्ञान सदात्मना । 10

द्रव्यं स्वलक्षण शसेद्भेदात् सामान्यलक्षणात् ॥३३॥

विद्विति—स्वार्थभेदानवोधेऽपि भ्रान्त ज्ञान सर्वं सद्रूपेण प्रत्यक्ष द्रव्य  
स्वलक्षण विधात्, अन्यथा भ्रान्तेरभासप्रसङ्गात् ।

प्रत्यक्षमुक्तलक्षणम्, कथम्भूत तदित्याह—भेदाज्ञानम्, भेदस्य निरशक्षणिक-  
विभ्रमविविक्तविशेषस्य अज्ञानम् अप्रहणम् येन यस्मिन् वा तत्त- 15  
धोक्तम् । क्वेत्याह—'वह्निरन्तश्च' इति, वह्निर्घटादौ भन्त ज्ञान-  
पुरुषरूपम् । नहि तत्रैत्र निरशक्षणिकादिरूप परपरिकल्पित विशेष जातु प्रतिपद्यते  
विभ्रमाभावानुपह्वान्तं । यदि तत्रैत्र भेदाज्ञानम्, केन तर्हि प्रकारेण प्रत्यक्षमित्याह—  
'भेदात्मना' इति । सद्रूपमुपलक्षण तेन 'मन्चेतानीलाद्यात्मना' इति गृह्यते ।  
तत्किं कुर्यादित्याह—'द्रव्यम्' इत्यादि । द्रव्यमनन्तरोक्त स्वलक्षण यन्तु शसेत् 20  
स्तुयान् न परपरिकल्पित परमाण्वादि । त्वमपि पुष्पादिद्रव्य स्वलक्षण शसेत्त्याह—

(१) द्रव्यान्निस्वभावरहितस्य । (२) सर्व द्रव्या । (३) मत्स्यस्य द्रव्यान्निस्वभावता  
प्राप्तया, द्रव्यस्य च मत्त्वनिष्पत्त्यापदातया । (४) तद्दि अगता मा' इत्यादि विवृतिप्राप्तया । (५)  
'नहि विद्विष्यन्तात्' इत्याद्यंता । (६) विप्रभातदुष्टात्ता । (७) 'संज्ञतं स्तुयान् कथयन्त्यस्य ।  
विम् ? प्रत्यक्षं विद्वन्निर्दिष्टयानि द्रव्यालम् । विविधित्वम् ? भेदाज्ञानम् भवान् परपरिकल्पितान्  
निराशक्षणात् जातानि । गुह्यत्वोक्ति भगवतात् । किं त्वम् ? इत्यं पुष्पमात्रं वा स्वलक्षण यन्तुभूतं  
न कथितमित्यर्थं । क्व ? वह्निरन्तश्च पदानी अन्तर्धानेन । केन ? मन्चेतानीलाद्यात्मना न मन्तु मन्तुत्वात्  
नर मन्तुत्वं प्रत्यक्षमो ज्ञानं मा प्रत्यक्षं इत्यं न । क्वमात् ? भगवत् भगवन्निष्पत्त्या । किं  
विद्विष्यन्ता ? सामान्यलक्षणात्, सामान्यमन्तुत्वात् । मन्तुत्वात् किं मन्तुत्वात् सामान्यलक्षणात् । तद्दि  
भगवन्निष्पत्त्याभेदं प्रत्यक्षमन्तुत्वात् प्रमाणं मायवदित्यं मन्तुत्वात् । ता प्रत्यक्षमिति इत्यं विद्विष्यन्तात्  
नमस्ति कृतं मन्तुत्वात् मन्तुत्वात् ?—तदी० ता० पू० ५३ । (८) प्रत्यक्षम् (९) वह्निरन्तश्च ।  
(१०) प्रत्यक्षम् । (११) वह्निरन्तश्च ।

१-जीवप्रभेद ५० । २-विभ्रमविशेष-५० । ३-ज्ञाने पुर- ५० । ४-म ॥ ८ ॥ वह्नि  
५० । ६-द्रव्यमन्तुत्वात् ५० । ७-संज्ञतं स्तुयान् विवृति-५० ।

‘भेदात्’ इत्यादि । भेदात् विशेषात् सामान्यलक्षण स्वरूप यस्य, सामान्येन वा लक्ष्यते य म तथोक्त तस्मात् तमाश्रित्य इत्यर्थः । यथा च श्रणिकनिरापरमाणा विरूप पुरुषाद्वैतरूप वा तत्त्व न व्यवतिष्ठते तथा प्रागेव प्रपञ्चन प्रतिपान्तिम् ।

‘भेदान् सामान्यलक्षणान्’ इति धा पाठ । तत्र तौर प्रत्यक्ष शसेत् इत्यथ । कारिका विवृण्वन्नाह—‘स्वार्थ’ इत्यादि । भ्रान्त विच्छ्रुत ज्ञान मयं निरवरोप

लौकिक शास्त्रीयञ्च, यदि वा मौगतकर्तृपत पुरुषाद्यद्वैतयान्त्रिकल्प-  
विभूतिविवरणम्—

तच्च । कथम्भूत प्रत्यक्ष निरादमभ्रान्तम् । केन रूपेणेत्याह—  
सद्रूपेण सदादिस्वभावेन । कस्मिन् सत्यपीत्याह—‘स्वार्थ’ इत्यादि । स्वञ्च अर्थश्च  
तयोर्भेदो विवेक अर्थस्य परमाणुलक्षणस्य परस्परम् १ स्वज्ञानस्य विलवाकाराद् [३]

भेदो नावबुध्यते सर्वं हि ज्ञान नात्मान विलुत जानाति १ स्वस्य विच्छ्रुतानारात् तस्य  
अनवबोधेऽपि । तत्किं पुर्यादित्याह—द्रव्य स्वलक्षण विद्यात् । ननु स्यादेतत् यदि  
तद्भेदानवबोध स्यात् यात्रता स्वार्थयो सद्रूपेणैव भेदरूपणाप्यवबोधोऽस्तीत्याशङ्क-

क्याह—‘अन्यथा’ इत्यादि । उक्तप्रकाराद् अन्येन प्रकारेण अन्यथा भ्रान्तेरभावप्रसङ्गात्  
तैर् तंक्तुर्यात्’ इति सम्प्रथ । तथाहि—यथा तैत् प्रत्यक्ष सद्रूपेण तथा यदि स्वार्थभेद-

रूपेणापि, तर्हि स्थूलाकारो भ्रान्ति कुत ? प्राह्यादिचेतनेतरादिभ्रान्तिर्वा ? नहि यथा  
चद्रूपेण वस्तुन प्रतिभासे मा युक्ता, कदाचिदपि तदनुपरतिप्रसङ्गात् । तथा तद्भेदानव-  
बोधवत् सद्रूपेणापि यदि तदप्रत्यक्षम्, तदा कस्यचिदपि प्रतिभासाभावात् कुतो भ्रान्ति ?

ननु प्रतिक्षणविलक्षणज्ञानादिर्क्षेणव्यतिरिक्तस्य जीवादिद्रव्यस्यासम्भवात् कथ  
‘द्रव्य शसेत्’ इत्युक्त शोभेत इत्याशङ्क्याह—

सैदसत्स्वार्थनिर्भासै सहकमविजर्तिभि ।

हृद्याहृद्यैर्विभात्वेक भेदै स्वयमभेदकै ॥ ३४ ॥

(१) प० ३७५, १५० । (२) बहिरत । (३) भ्रान् । (४) स्वज्ञानस्य इत्यादि १  
एतच्चिह्नान्तगत पाठ न०, थ० प्रत्यो वृष्टिताया पू० प्रती च नास्ति । अर्थातुरोधात् स्वस्य विच्छ्रु-  
ताकारात् स्वस्य टिप्पण्यात्मक एव भानि । (५) स्वायभ्रान्तवबोध । (६) प्रत्यक्षम् । (७)  
स्वभ्रमण द्रव्य गमन् । (८) द्रव्यम् । (९) स्थूलाकारा प्रतीति कथ भ्रान्तिरुपा स्यात् ? (१०)  
भ्रान्ति । (११) यथावद्वस्तुप्रतिभास एव हि भ्रान्तिनिवर्तकारणम् । यत् च यथावद्वस्तुप्रहणेऽपि  
भ्रान्ति न निवर्तेत तदा न कदापि तस्या निवृत्ति सम्भाव्येति भाव । (१२) स्वायभ्रान्तानवत ।  
(१३) द्रव्यम् । (१४) कस्यचिदपि पुण्यस्य सामान्येनो विशयतो वा प्रतिभासाभावात् न भ्रान्ति स्यात्,  
भ्रान्त सामान्यप्रतिभासनिवर्तनत्वान्ति भाव । (१५) सौगत । (१६) अयमथ—यथा सदभि  
पानगताकार असन्निर्हराकार नीलान्ति सहक तान विभाति तत्र न विरुध्यत तथा अपयञ्जन  
पर्याय सहकमविजर्तिभि व्यञ्जनपर्याय सहक द्रव्यमपि विभाति १ विरुध्यते इति । दृश्या स्थूला  
व्यञ्जनपर्याया अदृश्यामूमा क्वचानामगम्या अधपर्याया । —एथो० ता० पू० ५५ ।

१ परमाथोहि ह्यपव । २ भेदात् व० । ३ च थ० । ४ विच्छ्रुतं ज्ञा—आ० । ५—पित  
कथ—थ० । ६ एतन्तगत पाठो नास्ति थ० थ । ७ द्रव्यस्त्वल—आ० । ८ विद्यादेतद्यवि आ०, थ० ।  
९ तत्कु—व० । १० यथा ज्ञा० । ११—क्षणाना आ० । ११—दिलक्षण—थ० ।

निवृत्तिः—यथैक क्षणिक ज्ञान सद्भिरसद्भिर्वा प्रतिभासभेदे स्वयमभेदकैरिष्ट  
तथा एकद्रव्य सहक्रमभाविभिः स्वयमभेदकैः भेदैः दृश्यैरदृश्यैश्चानादिनिधनमव-  
गन्तव्यम् । बहिरिव ज्ञानपरमाणुसञ्चये पुनः अन्योन्यानात्मकत्वे सर्वथाऽमद्क्रम-  
व्यवस्थायाम् एकस्थूलनिर्भासनिरोधात् ।

मन्तश्च अमन्तश्च ते च ते स्वस्य अर्थनिर्भासाश्च नीलस्थूलादिप्रति-

भासास्तैः, कथम्भूतैः ? स्वयम् आत्मना अभेदकैः, यथा एकं ज्ञान  
निशेषेण देशकालनरातराणाधितरूपेण भाति भासते । कदा ?  
सह एकमिन् काले तथा क्रमविवर्तिभिः तै एक विभाति । कथम्भूत  
इत्याह—‘दृश्यादृश्यैः’ । वर्तमानकालापेक्षया दृश्ये अतीतकालापेक्षया चाऽदृश्ये ।  
यदि वा सद्भिः स्वनिर्भासे सदादिभिः असद्भिः अर्थनिर्भासे एव यथा, तथा क्रमवि-  
वर्तिभिः सुरादिभिः एक विभातीति ग्राह्यम् ।

कारिका व्याख्यातुमाह—‘यथैकम्’ इत्यादि । यथा चेन प्रकारेण एक क्षणिक  
ज्ञानम्, उपलक्षणमेतत् तेन पुरूपस्यापि ग्रहणम् । सद्भिः विद्यमानै  
अमद्भिर्वाऽविद्यमानैर्वा । कै ? प्रतिभासभेदैः । कथम्भूतैः ?  
स्वयमभेदकैः इष्टम् अङ्गीकृतम्, तथा एकद्रव्यमभ्युपगन्तव्यम् । कै ? भेदैः  
निशेषे । कथम्भूतैः ? सहक्रमभाविभिः सहभाविभिः गुणे क्रमभाविभिः पर्याये ।  
पुनरपि क्विचिद्विष्टे ? दृश्यैरदृश्यैश्च । अनेन एतत्त्वे प्रमाणान्तरवृत्तिं दर्शयति ।  
कथम्भूत तद्रव्यमित्याह—अनादिनिधनम् । प्रमाधितश्च अनादिनिधनत्व प्रागेवास्य  
इत्यल पुनस्तत्प्रसाधनप्रयासेन । ननु ज्ञानमपि तैरेक नेष्यते “किं स्यात्सा चित्रतैस्त्वा  
न स्यात्तत्त्वम्या मताधेपि” [ प्रमाणवा० २।२१० ] इत्यभिधानात् । अत्राह—‘बहिरिव’  
इत्यादि । यथा बहिः परस्पराससृष्टनिर्गन्तव्यपरमाणुसञ्चय तथा तद्वाहिणा  
मन्येषा वा ज्ञानपरमाणूना सञ्चये अङ्गीक्रियमाणे, ‘पुनः’ इति पक्षात्तरसूचक ।

(१) योगाचार । (२) द्रष्टव्यम्—वाचकुमु० पृ० १३० टि० ६ । शास्त्रवा० योगो० पृ० ४९ ।  
व्याख्या—“ननु यदि सा चित्रता बुद्धौ एकस्या स्यात् तथा च चित्रमकं द्रव्य व्यवस्थाप्यत तदा वि-  
दूषणं स्यात् ? आह—न स्यात्तस्या मतावपि । न केवलं द्रव्यं तस्या मतावपि एकस्या न स्याच्चित्रता  
वाकारानामात्तरूपत्वाद् भेदस्य, नानात्वरूपि चित्रता कथमनेकपुरूपप्रतीतिवत् । कथन्तहि प्रतीतिरि-  
त्याह—यदीदं स्वयमर्थेभ्यां रोचते तत्र के वयम् । यदीदम अताद्रूप्यं वि ताद्रूप्यप्रथनम अथाना भासमानाना  
नीगताना स्वयम अपरप्ररणया रोचते, तत्र तथाप्रतिभाते के वयममहमाना जपि निपद्रुम, अवस्तु च  
प्रतिभासत्र चति “यस्मात्तमालीक्यम्” —प्रमाणवा० मनोरथ० २।२१० । (३) सीगत । ‘तस्मान्नायं  
न तान स्थूलाभासस्त्वानमन । एकत्र प्रतिपिद्धत्वात् बहुत्वपि न सम्भव ॥ तस्मान्नायं वाह्यं  
न तान तत्राह स्वलाभास स्थूल आकार सङ्गच्छते । तदात्मन स्थूलस्वरूपस्यैवत्रावयवे परमाणो  
वा प्रतिपिद्धत्वात् । बहुत्वपि तेषु सम्बन्धो नास्ति मिलिता अपि हि त एव । ते च प्रत्येक स्थौल्यविकला  
१ भाति प्रतिभासते व०, थ० । २ वाद—व० । ३—स एकं—थ० । ४ क्षणिकं क्षणिक  
ज्ञानम् वा० । ५ एकत्वप्रमा—थ० ।



अन्योन्य परस्परम् अनात्मकत्वम् अस्वरूपत्व तस्मिन् मति, सर्वथा सर्वेण साक्षा-  
त्करणप्रकारेण स्वरूपमिक्षणप्रकारेण वा असङ्क्रमेण असङ्करेण वा व्यवस्था अव-  
स्थिति तस्या सत्याम् एकस्थूलनिर्भासनिरोधात् कारणात् एव द्रव्यमभ्युपगन्तव्यम् ।  
तैदुक्तं भवति—स्थूलप्रतिभासनिरोद्धा ज्ञानेतरपरमाणव, तत्प्रतिभासोपगमे तद्वि-  
रोध नीले पीतनिरोधवत् । तथाभ्युपगच्छतश्च अध्यक्षविरोध निरदाशिरूपतया  
शतधा तस्य विचाम्यतोऽपि स्थूलादिप्रतिभासानिवृत्ते ।

एव प्रतिभासबलेन स्वपरमतविधिप्रतिषेधौ अभिधाय साम्प्रतम् अर्थक्रिया  
कारित्यबलेन तौ प्रतिपाद्यितुमाम प्रथम क्षणिकैकान्ते अर्थक्रिया निराकुर्वन्नाह—

लक्षण क्षणिकैकान्ते नार्थस्याऽर्थक्रिया सति ।

कारणे कार्यभावश्चेत् कार्यकारणलक्षणम् ॥ ३५ ॥

निवृत्ति.—सह क्रमेण वा अर्थक्रियाम् अक्षणिकस्य निराचिकीर्षुः कथञ्चित्  
क्षणिके अर्थक्रिया साधयेत् अन्यथा तल्लक्षण सत्य ततो व्यापत्तैत । न च क्षणिका-  
नामनिश्चयात्मना भावाना प्रत्यक्षानुपलम्भसाधन' कार्यकारणभावः सिद्धयेत्  
त्रिक्रमोऽर्थान्तरवत् । 'यैस्मिन् सत्येव यद्भाव, तत् तस्य कार्यम्' इति लक्षण  
क्षणभङ्गे न समवत्येव कार्यकारणयो सहभावापत्ते, अन्यथा क्षणभङ्गमङ्गप्रसङ्गात् ।

लक्षणम् अर्थस्य परमार्थसतो वस्तुन नार्थक्रिया अर्थस्य कार्यस्य क्रिया

कारिकायाः प्रमाणम्—

करणम् । व ? क्षणिकैकान्ते । कुत इत्याह—'मति' इत्यादि ।

सति विद्यमाने कारणे हेतो कार्यभाव कार्यात्वत्ति चेद् यति

न कार्यकारणलक्षण कार्यस्य कारणावयव्यतिरेकानुविधायित्व यल्लक्षणम् कारण  
स्य च तैवजननत्व यल्लक्षणं तन्न । पूर्वाद्गतौ 'न' इत्यनेन सम्बन्ध । क्षणिकैकान्ते  
वादिना कारणभाव एव कार्यात्वत्यभ्युपगमात् । इदमपर व्याख्यानम्— स्वोत्पत्तिशालयत्

इति समान्ता अपि तस्य स्युः । तथा तीलादीकारणु प्रत्यक् चित्रस्य स्वोपस्थाभावात् समान्यप्य  
भाव —प्रमाणवा० मनोरथ० २।२११ ।

(१) सूत्रकारप्रतिभासविरोध । (२) सूत्रकारप्रतिभासस्य असत्त्व भ्रान्तत्व वा स्वीकृतव । (३)

स्वमनविधिवरमतप्रतिषेधौ । (४) तुम्हा— कार्यकारणता नास्ति बन्धिरन्त सन्नति कुत । निरवयवात्  
वृत्तान्तस्य सारूप्यमित्यवयवत् ॥ सति क्षणिके कारणे मति काय स्यात् क्षणिकमक्रम जगन्नि सन्तानि  
स्यात् । तस्मिन्सति भवन् कुत पुन कारणान्तरोत्पत्तिनियम ? सत्येव कारण स्वसत्तावात्तमेव  
वाय प्रसङ्ग जनयत् । स्वरसन एव कार्यात्वत्तिकालनियम स्वतन्त्रस्य कुत एव कार्यत्वम् ? मरुत्पर्यमथा  
स्वमननियम सवन्न सर्वेषामविषय वृत्त प्रगवन्तियम ? द्रव्यस्य प्रमननियमे न किञ्चिन्निप्रस यने ।  
—तिष्ठिषि० प० ३६३—६४ । (५) कि पुनरसौ वायकारणभाव अनुपलम्भमहायप्रत्यक्षनिबन्धन ?  
इत्याह—ननुभाव भाव सम्भावभावश्चेति ? —हस्तुषि० टी० प० ९९ । (६) वायनवत्त्वम् ।

१ ध्यवस्थिति थ० । २ तदुक्तं थ०, व० । ३ गतपासव आ० । ४ कारिकेयं मुद्रितलघीयस्यैव  
नास्ति । ५ लक्षणभव न ज० रि । ६ कारणम् आ० । ७ स्य तज्ज—आ० । ८ कारणभाव आ० ।

कार्योत्पत्तिकालेऽपि सति कारणे कार्यभावश्चेत् कार्यकारणयो यल्लक्षण म्वरूप ग्रहण या अत्र प्रमाणभावान् 'घटते इत्यध्याहार, किन्तु क्षणभङ्गाय दत्तो जलाञ्जलि' स्यात् ।

यस्माद्—'नार्थक्रिया अर्थलक्षण त्रिचरतस्तदयोगात् । मा हि सती, अमती वा तल्लक्षणम् ? न नाप्यमती, यत्र त्रिपाणवत् तथा त्रिधायास्तस्या तलेलक्षणता-योगात् । अथ सती, किं स्वत, परतो वा ? यन्ति म्यत, अर्थन किमपराद्ध चेनास्य 5 मत्र सत्त्व नेप्येते ? अथ परत, तदा अनवस्था' इति ।

त 'सह' इत्यादिना नित्यदिना समान व्यवचस्थाप्य 'यस्मिन्' इत्यादिना कारिकार्थं प्रकटयति—सह युगपत् क्रमेण वा परिपाट्या वा अर्थ- विवृतिविवरणम्—

क्रिया अक्षणिकस्य नित्यस्य मन्वन्निनी या ता निराचिकीर्षुः सौगत कथञ्चिन् योगपद्यप्रकारेण क्रमप्रकारेण वा प्रत्यक्षानुमानप्रकारेण वा क्षणिकेऽर्थे अर्थक्रिया साधयेत्, अन्यथा तदसाधनप्रकारेण तल्लक्षणम् अर्थक्रियालक्षण सत्त्वं ततः क्षणिकान् नित्यादिव द्यापत्तैत । साध्यत एव तत्र सौ इति चेत्, अत्राह— 'नच' इत्यादि । नच नैव भावना कार्यकारणभाव' सिद्धयेत् । कथम्भूतानाम् ? क्षणिकानाम् । पुनरपि कथम्भूतानाम् ? अनिश्चयात्मनाम् न विद्यते निश्चयो निर्णयो यस्य न तथात्रि आत्मा म्यभावो येषाम् । तद्वान् कथम्भूत इत्याह—'प्रत्यक्ष' 15 इत्यादि । प्रत्यक्षानुपलम्भौ साधन यस्य, प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनतादेव च अनिश्चयात्मना "तेषा तद्वानो न युक्त । अत्र परप्रसिद्ध निदर्शनमाह—'विप्रकृष्ट' इत्यादि । पूर्वोत्तरकोटिविच्छिन्नार्थाद् अन्य त्रिकालानुयायी अर्थ तदन्तरम् तस्य च ग्रहणो-पायाभावाद् त्रिप्रकृष्टत्वम्, त्रिप्रकृष्टत्वं तद् अर्थान्तरञ्च तस्यैव तद्वत् । एतदुक्त भवति-यथैकस्य कालत्रयानुयायिन कुतश्चिद्व्यतिपत्तुमशक्ते न तत्र प्रत्यक्षानुपलम्भसाधन 20 कार्यकारणभाव सिद्धयति तथा प्रतिपरमाणुनियतेन ज्ञानेन क्षणिकभावानामप्रतिपत्ते न तत्सार्धनस्तद्वान् सिद्धयेत् ।

(१) कायन्पित्तकालेऽपि कारणसदभाव तस्य द्विक्षणावस्थापित्व स्यान्निति भाव । (२) योग । तुलना—'अथक्रियाकारित्वेन सताभ्युपगमे समानञ्चत्त्वं रूपगम—किं सतामर्थक्रियाका रित्वमथामतामिति ? सतामर्थक्रियाकारित्वे सताभ्युपगमे तथा दुरुत्तरमितरेन राशयत्वम् । तथा हि अथक्रियाजनवत्त्वे सत्त्वम सतद्वचायक्रियाजनवत्वमित्यनाप्रसिद्धावितराप्रसिद्धि । अथ अथक्रिया मन्त्रेण सतोऽथक्रियाजनवत्वम तत्राप्यप विवृण इत्यनवस्था । असत् एवायक्रियाजनवत्त्वं सत्त्वविषा णादिषु तथाभाव स्यात् । अवशिष्टायाश्चाथक्रियान्तरेण सत्त्वजनवस्था । अथ स्वम्पेणेति चत पदार्थेषु तथाभावप्रसङ्ग । 1—प्र० ७० पृ० ५० १२७ । प्र० ७० पृ० ५० १२ । (३) असद्भूताया । (४) अथक्रियाया । (५) अथलक्षणत्वविरायात् । (६) अथस्य । (७) प्रकृताथक्रियाया सत्त्वव्यव स्थापित्वा अनारम्भक्रिया तस्या अप्यपरा इत्यनवस्था । (८) क्षणिकेऽर्थे । (९) अथक्रिया । (१०) कायकारणभाव । (११) क्षणिकार्यानाम् । (१२) कायकारणभाव । (१३) त्रिकालानुयायिनोऽथस्य । (१४) नित्यस्य । (१५) प्रत्यक्षानुपलम्भसाधन । (१६) कायकारणभाव ।

1—योल्लेख-ब० थ० । 2 अनवस्थितिरिति थ० । 3 व्यावृत्तते थ० । 4 इत्यादि आ० । 5—कायकारणभाव-थ० ।

माभ्रत तेषां तत्सौधन तद्भावमभ्युपगम्य तत्र दूषणमाह—'यस्मिन्' इत्यादि । यस्मिन् वस्तुनि सत्येव विद्यमान एव यद्भावो यस्य वस्तु भाव आत्मलाभ तद्वस्तु तस्य पूर्वस्य कार्यम् । 'यस्मिन् सत्येव' इत्यनेन यन्निर्दिष्टम् तद्, इतरत् कारणम् इति एव लक्षणकार्यकारणयोः क्षणभङ्गे न सम्भवत्येव । कुत एतत् ? इत्यत्राह— 'कार्यं' इत्यादि । अत्रायमभिप्राय—कारणसत्ताफल एव कार्यस्य भावे 'यस्मिन् सत्येव' इति घटते, परंतु कार्यकारणयोः सहभावापत्तेः सत्तानोच्छेदः स्यादिति । ननु स्यात्त्य दोष यन् यदैव कारणमुत्पद्यते तदैव स्वकार्यं कुर्यात्, यावता पूर्वमुत्पद्य पुन कार्यकाले सम् कार्यमुत्पात्यति, इत्यत्राह—'अन्यथा' इत्यादि । उक्तप्रकारादयेन प्रसारेण क्षणभङ्गभङ्गप्रसङ्गात् । भणमङ्गे कार्यकारणयोः 'लक्षण न सम्भवत्येव' इति सम्बन्ध । ननु 'यस्मिन्' इति सप्तमी कारणभावे कार्यभाव सूचयति, स च पूर्वमेव स्वमत्ताक्षणे कारणे मति उत्तरक्षणे कार्यभावो न निरर्थक्ये, यथा गोपु दुह्यमानसु गत दुग्धासु आगत इति । ममसमयभावित्ते चार्णयोः कार्यकारणभावविरोधात् सत्येतर-गोविपाणयत् इत्यारेकापनोदाह्यमाह—

कार्योत्पत्तिर्विरुद्धा चेत् स्वयं कारणसत्तया ।

युज्येन क्षणिकेऽर्थेऽर्थक्रियाऽसम्भवसाधनम् ॥ ३६ ॥

निरवृत्ति—नहि कार्योत्पत्ति कारणभ्याभाव प्रतीक्षते यत् तदर्थक्रिया अक्षणिके निरुद्धयत् । निष्कारणस्य अन्यानपक्षया देशकालस्वभाननियमायोगात् सर्वत्र सर्वदा सर्वथैव भवानुपद्गात् । तदयं भावाऽभावयोः कार्यकारणता लक्ष्येत् सर्वथा भावस्यैव वा । स्वलक्षणस्य क्वचित् प्रत्यक्षानुपलम्भासिद्धे कुत कार्यव्य निरेकोपलक्षण कारणशक्ते ?

(१) गणितानाम् । (२) प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनम् । (३) वायुकारणभावम् । (४) तुलना-क्षणस्यापि कारण स्वमत्तया वायु कुवत्भ्युपगच्छन् क्रमोत्पत्तिगपरुणद्धि सत्त्वजगत्कक्षणवत्तत्त्वप्रसङ्गात्—अष्टा०अष्टसह०५०११ । सत्येव कारण यदि वायु बलवत्प्रवृत्तवति स्यात् कारणक्षणकोऽपि गवस्य उत्तरोत्तरक्षणसन्तानस्य भावान् तत् सन्तानाभावात्—अष्टा०अष्टसह०५०१८७ । (५) न हि गोरोहणकाल गमनकार्यवत् सम्भवति ; (६) कारणकारणयोः । (७) चेत् यन् विरुद्धा विप्रतिपिदा स्यात् वा ? कार्योत्पत्ति वायुस्यात्परिणामस्योत्पत्ति स्वरूपलाभ । कया ? स्वयं कारण सत्तया स्वयं कारणं विवर्तित्वायजनय द्रव्यस्वरूपमुपागतं तस्य सत्तया भावेन । तद्धि युज्येत, युक्त स्यात् । किम् ? जयक्रियासम्भवसाधनम् जयस्य अभिमतप्रयोजनस्य क्रिया निर्णति तत्त्वमय साधनम् नित्य वमधीनपदाविरुद्धातिरपनुमानम् । क्व ? अर्थे । किञ्चिन्दिष्ट ? क्षणिके निरवृत्तक्षणान्तरे । सम्मतिरतिवचनम् । न च सा विरुद्धा वायुकारणं एव कारणत्वान् अन्यथा वायुस्य आकस्मिकत्व पमङ्गान्—तथी० ता० ५० ५६ । तुलना—'कार्योत्पत्तिविरुद्धयत् न च कारणमत्तया । यस्मिन् सत्येव यन्माव सत्तस्य कार्यमिनरत्कारणमिति क्षणिकत्व न सम्भवत्येव महोत्पत्तिप्रसङ्गात् कुत सन्तानवृत्ति ।'—तिरिद्धि० ५० १६० ३२६ ।

१ सदाभावो आ० । २ इत्येव लक्षण आ० । ३ सभावोच्छेद य० । ४-गतक्षण-य० । ५-त्यनेनेति आ० । ६ स्वतो शशा-य० । ७-क्षणजनय-आ० । ८ कार्यस्योत्प-ई० वि० । ९ कारणसिद्ध ई० वि० ।

कार्यस्य उत्पत्तिः आत्मलाभ विरुद्धा चेत् यदि स्वयम् आत्मना,  
 न्या ? कारणमत्तया । एतदुक्तं भवति—यन्नि कारणसत्तया  
 कार्यात्पत्तिर्विरुध्यते तदा युक्तमेतत् पूर्वमेव तद्भावे तद्भाव इति ।  
 तत्रा चेत्त्र दूषणमाह—'युज्येत' इत्यादि । युज्येत उपपद्येत अर्थक्रियाऽसंभव-  
 मा'पनम् । क ? अर्थे । कथम्भूते ? क्षणिके 'दिनष्टे कारणे तदैसभवात्' इति 6  
 मन्यते । यन्नि या, तथा तदुत्पत्तिर्विरुद्धा यन्नि तथा युज्येत अर्थे क्षणिके  
 अर्थक्रियाऽसंभवसा'पनम्, न च तयो सा विरुद्धेति प्रतिपादयिष्यते ।

व्यतिरेकमुपेन कारिका विवृण्वन्नाह—'नहि' इत्यादि । हिर्यस्मात् न कार्यस्य  
 उत्पत्तिः कारणस्य अभावा प्रतीक्षते यावत् कारण निर्मूलन नश्यति  
 तावत् स्वयं नोपपद्यते इति । यत् तदपेक्षणात् तदर्थाक्रिया क्रमयो- 10  
 गपद्यार्थक्रिया अक्षणिकत्वे अपि विरुध्यते । 'यतः' इति च आक्षेपे, नैव विरुध्यते ।  
 कुत्र एतदित्याह—'निष्कारणस्य' इत्यादि । इदमत्र तात्पर्यम्—त्रिष्टे कारणे यदा कार्यं  
 जायते तदा तद्विष्कारणं भवति, तस्य च अन्यस्य देशात् अनपेक्षा अपेक्षाऽभावा  
 तथा देशकालस्वभावनियमायोगात् सर्वत्र सर्वदा सर्वथैव भावानुपज्ञात् कार- 15  
 णात् 'नहि तद्भावे सा प्रतीक्षते' इति मन्वन्ध । तथा तैस्यास्तपेक्षणे दूषणान्तर-  
 माह—'तदयम्' इत्यादि । तत् तस्मात् तदपेक्षणात् अयं सौगतं कार्यस्य यो भाव  
 आत्मलाभ यश्च कारणस्य अभावः तयो यथासम्भवेन कार्यकारणता लक्षयेत् ।  
 यदि कार्यम् आत्मलाभे अपेक्षते तत् कारणम्, अपेक्ष्यते च तेन तद्भावे तद्भावा  
 इति मन्यते ।

इदमपरं व्याख्यानम्—यदा कारणात् कार्यं विन्दु कारणात् तद्भावा ततश्च 20  
 कार्यं तत्राह—'तद्' इत्यादि । तत् तस्मात्कारणात् अयं भावाभावायोः कारणतन्निवृत्त्यो  
 कार्यकारणता भावस्य कारणताम् अभावास्य कार्यता लक्षयेत् । कार्यसत्त्वस्य पर-  
 प्रयोगप्रसङ्गेऽपि अल्पात्तरत्वात् पूर्वनिपातः । अथ मतम्—न अभावा प्रथोपाख्या-  
 विहीनत्वात् कस्यचित् कारण कार्यश्च, इत्यत्राह—सर्वथा भावस्यैव वा सत एव वा

(१) कारणसदभावे । (२) कायसत्भाव । (३) अयत्नित्वात् । (४) कार्योत्पत्तिवत्  
 उपादानकारणसत्तया । (५) कार्यात्तत् । (६) कारणभावापेक्षणे । (७) कर्म । (८) कर्तु ।  
 (९) कार्येण । (१०) आत्मलाभे । (११) कारणाभाव । (१२) कार्येण आत्मलाभे अक्षयमा  
 गत्वात् कारणभावे एव कारण इत्यन्ति भाव । (१३) कारणाभाव । (१४) "अन्याचनरम्"—वेने-  
 व्या० १३।१००।— इन्द्रे म (समास) अन्याचनरमेकं पूव प्रयुज्यत ।—अवशाणव० १।३।११। (१५)  
 प्रत्यायत इति प्रथ्या विकल्प उपाख्यायन इति उपाख्या यन्नि ताभ्या विकल्पगत्याभ्यां रहित्वात् ।

1—समास प्र० । 2—विषयि आ० । 3—कथ्ये विरुद्धपत्ते आ० । 4—अपेक्षणे व० प्र० ।  
 5—यदि का—प्र० । 6—अन्याचनरम् आ०, अल्पत्वत्त्वान् व० । 7—एव वाप—आ० ।

‘कार्यकारणता लक्षयेत्’ इति सम्प्रथ । कारणत् कार्यस्याप्यसत्त्वाऽसम्भवात् अतः साध्यमतप्रसङ्गः सौगतस्य इत्यभिप्रायः । ननु मा भूत् क्षणिके प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनं कार्यकारणमात्रं, कार्यव्यतिरेकसाधनस्तु इन्द्रियगतिरस्त्यात्, इत्यत्राह—‘स्वलक्षणस्य’ इत्यादि । स्वलक्षणस्य परपरिक्लिप्तपरमाणुलक्षणस्य क्वचिद् अत्रर्हिर्वा प्रत्यक्षानुपलम्भासिद्धे, प्रत्यक्षपूर्वभेदेऽनुपलम्भः प्रत्यक्षानुपलम्भः तस्य असिद्धे कारणानुपलम्भस्य व्यतिरेकेणोपलक्षणकारणशक्तेः ? न ह्युच्यते । एतदुक्तं भवति—यदा तस्य तद्रूपं वायुं युतश्चित् प्रत्यक्षं सत् पुनः इतरकारणमद्भावेऽपि नोपलभ्यते तदा युक्तं तेनोपलक्षणं तैच्छक्ते, न चैवमस्तीति ।

ननु यदुक्तम्—‘बहिरिव चानपरमाणुमञ्चय’ इत्यादि, ‘नहि कार्योत्पत्तिः’ इत्यादि च, तदयुक्तम्, यथाप्रतिभासः चित्रज्ञानोपगमात् । ‘चित्रप्रतिभासाप्येतेन बुद्धिः’ [ प्रमाणवार्तिककाल० लि० प० ३९५ । ] इत्यादिवचनात् । तथा कार्यस्य देशान्तकालेऽपि असत् एव कारणदेव न्योपगमात् कथमयथा जौप्रद्विज्ञानात् प्रबोधभाविमरणादेर्षा अरिष्टादिकम् इत्याशङ्क्य आह—

यैकैकं भिन्नदेशार्थान् कुर्याद् व्याप्नोति वा सकृत् ।

तथैकं भिन्नकालार्थान् कुर्याद् व्याप्नोति वा क्रमात् ॥३७॥

(१) कार्यव्यतिरेकेण कारणव्यतिरेको जायते, क्षणिके च न कार्यव्यतिरेकः अतः क्षणिकेऽर्थे कार्यकारणभावः माचनीयः यथा हि—रूपज्ञानोत्पत्त्यभावेन रूपज्ञानजननशक्त्यभावः व्याप्तः चक्षुषि अविचलं सति न रूपज्ञानोत्पत्त्यभावः अतस्तत्र रूपज्ञानजननशक्तिरव्यवस्थाप्यते । नहि चक्षुषि रूपज्ञानजननशक्तिरव्यवस्थापनं प्रत्यक्षानुपलम्भो प्रभवति, शक्तेरतीन्द्रियत्वात् प्रत्यक्षानुपलम्भाज्ञोचरत्वात् । तद्यथा क्षणिकेऽर्थे प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनं कार्यकारणभावो मायेत्यनं कार्यव्यतिरेकज्ञानोपलम्भो मानस्तु मिद्वयवयव इत्यभिप्रायः । (२) क्षणिकस्य । (३) कार्यव्यतिरेकेण । (४) अनुमानम् । (५) कार्योत्पत्तिशक्तेः । (६) प्रमादरगुत् । (७) प० ६१३ ६१६ । (८) चित्रप्रतिभासापि बुद्धिरैकवद्वाह्यचित्रविलक्षणत्वात् । शक्यविवेचनं चित्रमनवम् अशक्यविवेचनादश्च बुद्धिर्नीलान्त्यः । —प्रमाणवार्तिककाल० प० ३९५ । उद्गमिन्म—प्रमेयक० प० ९५ । ‘वायुकुमु० प० १३० । सम्प्रति० टी० प० २४१ । ‘वायवि० वि० प० १०१ A । प्रमादरगुत्तेनाप्यक्तम्—चित्रप्रतिभासा—सिद्धवि० टी० प० ५५ A । (९) यथाहि कार्यस्य देशऽविविधमानमपि कारणं कार्योत्पादकम् तथा कार्यकालऽविविधमानमपि कार्योत्पादकं भवति । (१०) यत् कार्यकारणव्यतिरेकेण कारणान्तं कार्योत्पत्तिरिति न स्वीक्रियत तथा । (११) प्रमादरगुत्तो हि प्रमाणवार्तिकवद्भूतकारणः स च भाविनं भूतञ्चायं कारणमाचक्षते, तथाहि—अविद्यमानस्य कारणमिति कोऽर्थः ? तन्नन्तरभाविनी तस्य सत्ता तन्नेतन्नान्तप्रमुभयपेक्षयापि समानम् । यद्यत्र भूतापेक्षया तथा भाव्यपेक्षयापि । न चानन्तरभावः निवर्धनम् व्यर्थाहृतस्यापि कारणत्वात् । गान्मुत्तस्य विनाशं प्रबोधं पूर्ववेत्नात् । जायते यवधानं कालेनति विनिश्चितम् ॥ तस्मात् कार्यव्यतिरेकानुविधायित्वं निवर्धनम् । कार्यकारणभावस्य तत्र भावियपि विद्यतः ॥ भूत्युपलम्भव्यप्रभवेऽनुपलम्भस्य विनिश्चितम् । —प्रमाणवार्तिककाल० प० १७६ । (१२) यथा येनाविरोधः

१—धनवस्तु ध० । २—ब्राह्म स्वलक्षणस्य पर—आ० । ३—रेकोपोप—आ० । ४ ननुक्तम् आ० ।

५ प्रबोधोदयो भा—व० । ६ तद्यथा आ० ।

विवृतिः—यथा क्षणिकं स्वलक्षण नानादिग्देशभावीनि कार्याणि स्थानसङ्कर-  
व्यतिकरव्यतिरेकेण करोति तत्करणैकस्वभावत्वात् । नहि सामग्रीभेदात् कार्यभेदेपि  
तत्कारणस्वभाभेदः, तथैकमक्षणिक यद्यदा उत्पित्सु कार्यं तत्तदैव करोति तत्करणै-  
कस्वभावत्वात् । सर्वदा कार्यकालानतिक्रमेण करणसामर्थ्यात् तदात्मकमेकमेव  
इत्यविरुद्धम् । यथा विज्ञान स्वनिर्मासभेदान् गुणी गुणान् अवयवी अवयवान्  
व्याप्नोति सकृदपि तदात्मकत्वात्, तथैव द्रव्य स्वपर्यायभेदान् स्वयमभेदकत्वात्तेषा  
समाधानामिति । एवम्—

यथा येन योग्यताप्रकारेण तंक्रं निरक्ष ऋणिक वस्तु भिन्नो देशो येषाम-  
थानाम्, देशग्रहणमुपलक्षण तेन प्रज्ञाकरगुणापेक्षया भिन्नकाल-  
कारिकापारत्यानम्—  
ग्रहणम्, तान् कुर्यात् सकृद् एकदैव । तथाहि—प्रदीपक्षण प्रमा-  
तरि स्वज्ञान स्यौल्या तैलशोप दशौननदाहश्च उपरि वज्रलम् इत्यादि भिन्नदेश सकृदेवाऽ-  
नेन कार्यं कुर्याद् एवमन्यदपि चिन्त्यम् । तथा यदैव जाग्रद्विज्ञान स्वापानतर व्यापा-  
रादिकार्यं कुर्यात् तदैव कालान्तरभाविस्वकालनियत प्रबोधम्, यदैव च भाविराज्यादिक  
स्वकालनिर्यत दर्शनं कुर्यात् तदैव चिरातीतकाल हस्तरेखादिकम्, तथैक नित्य  
भिन्नकालार्थान् । कुत ? क्रमात्, क्रममाश्रित्य । एकदैक कृत्वा पुनरन्य  
कुर्यात् तैकालेऽपि तैकत्वात् । तथा चेदमयुक्तम्—“नाऽक्रमात् क्रमिणो भावा”

प्रकरणेक सौगताभिमत क्षणिकस्वलक्षण सकृदेकक्षण भिन्नदेशार्थान् भिन्नो विप्रकृष्टो देशो येषा ते  
भिन्नदेशा ते च तेषांश्च कार्याणि तान्, स्वस्तानवतिनमुपादानत्वेन सन्ताना तरवतिनञ्च निमित्त  
त्वेन जनयदित्यथ । यथा वा एक ज्ञान भिन्नदेशार्थान् विप्रकृष्टनीलाद्याकारान् व्याप्नोति न विरुध्यते  
तथा एकमभिन्नद्रव्य क्रमात् कालभेदेन भिन्नकालार्थान् भिन्न पूर्वापरभूत कालो येषा ते च तेषांश्च  
कार्याणि तान् कुर्यात्, पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिरूपेण परिणमत इत्यथ । तानेव व्याप्नोति  
वा तादात्म्यमनुभवति वा, न विरुध्यते । —सूत्रो० ता० पृ० ५६ । ‘तयवोक्त भट्टाकलङ्कदेव—  
यथैव भिन्नदेशा ।’—सत्यशासनप० प० १५ B ।

(१) सर्वेषा युगपत्प्राप्ति सकर । (२) परस्परविषयगमन व्यतिकर । (३) प्रदीप  
विषयक पानम् । (४) तलपात्रे । (५) दशा वतिका तस्या आनन मुखम् अग्रभाग तस्य दाहम् ।  
(६) न हि स्वापानन्तरभाविव्यापारादीना प्रबोधस्य च जाग्रद्विज्ञान विभिन्नकालवति सत् समुत्पादक  
घटते तस्य एकक्षणमात्रवृत्तित्वात्स्वित्वाशयेनाह—यदवेति । (७) स्वावपयव’ दशन प्रत्यक्षम् । (८)  
अयपदाथोत्पादकालेऽपि । (९) नित्यस्य सद्भावात् । (१०) “नाश्रमात्रमिणो भावो नाप्यपेक्षा  
ऽविशेषिण । त्रमाद भवन्ती धी कायात् त्रम तस्यापि शसति ॥ नाऽक्रमात् त्रमिण कायस्य भाव,  
त्रमरहितत्वात् कारणस्य तन्निष्पाद्यानि कार्याणि सकृज्जायेरन् । त्रमवत् सहकारिणोऽप्यत्रमाज्जनि  
प्यतीति चेत्, नाप्यविशेषिण स्थिरैकरूपस्य पररनाधेयविशेषस्य परेषा सहकारिणामपेक्षाऽस्ति । तस्मात्  
त्रमाद् भवन्ती धी कायात् त्रमन्तस्यापि कायस्य शसति । —प्रमाणदा० मनोरथ० १।४५ । उदुतो  
ज्यम्—नाश्रमात् त्रमिणा भावा धीशब्देन त्रमं —तिद्धिवि० टी० पृ० १६१ A, १९७A ।  
धीर्जायात् —सामति० टी० पृ० ३३६ । प्रश्रुतपाठ—प्रमेयव० पृ० ३२५ ।

[ प्रमाणवा० १।४५ ] इत्यादि । यथा चैक ज्ञान क्षणिक भिन्नदेशार्थान् नानादेश नीलाद्याकारान् व्याप्नोति तदात्मक भवति । वाशब्द पञ्चातरसूचक, सकृद्दृष्ट्वा तथा एकमात्मतत्त्व भिन्नकालार्थान् सुगतीन् व्याप्नोति चाक्रमत् ।

कारिका विवृण्वन्नाह—'यथा' इत्यादि । यथा येन प्रकारेण स्वलक्षणम्,

कथम्भूतम् ? क्षणिकम् करोति कार्याणि । कथम्भूतानि ? नाना-  
विभूतिविवरणम्— दिग्देशभावीनि, दिग्ग्रहणमुपलक्षण तेन नानाकालभावी-यपि गृह्यन्ते ।

कथं करोति ? स्थानसङ्करव्यतिकरव्यतिरेकेण । कुत एतदित्याह—तत्करणैकस्वभा-  
वत्वात् । तद्वच समर्थयते 'नहि' इत्यादिना । हिर्यस्मात् न सामग्रीभेदात् कार्ये

भेदेऽपि कारणस्वभाभेद, तथा एकमक्षणिक कारण यद् यदा उत्पित्सु कार्यं तत्र

तद्वच करोति । कुत एतदित्याह—तत्करणैकस्वभावनत्वात् । ननु प्रभभावी-यनेक-  
कार्याणि कुर्वन्तु कथं तद्वचम् तावद्वा भेदप्रसङ्गात् ? इति चेदत्राह—'सर्वदा' इत्यादि ।

सर्वदा सर्वकाल कार्यकालानतिक्रमेण करणसामर्थ्यात् कारणात् तदात्मक तत्करण-  
सामर्थ्यात्मकम् एकमेवेत्यनिरुद्धम् । अस्यैव समर्थनार्थमाह—'यथा' इत्यादि । यथा

सौगतस्य विज्ञान स्वनिर्भासभेदान् आत्मनीलाद्याकारविशेषान् नैयायिकस्य गुणी

गुणान्, अवयवी अवयवान् व्याप्नोति कथञ्चित्तदात्मको भवति । कदा ? सकृदपि,

न केवलमसकृत् । ननु ज्ञानतन्निर्भासयो गुणगुणिनो अवयवावयविनोश्च अत्यन्तभेदान्

युक्तमेतदित्यत्राह—तदात्मकत्वात्, ज्ञानोदे स्वनिर्भासभेद गुण अवयवात्मकत्वात् ।

अथवा घटपटवत् तज्ज्ञानस्य गुणगुण्यादिभान चित्रज्ञानरूपता च न स्यादित्युक्तं

निस्तरत प्रागेव । तथैव द्रव्य जीवादि स्वपर्यायभेदान् व्याप्नोति । स्वग्रहणात्—

'सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराहृत ।

चोदिता दधि सादेति किमुष्ट नाभिघावति ? ॥' [ प्रमाणवा० ३।१८१ ]

(१) प्रतिनियतस्यमेव । (२) चित्रज्ञानम् । (३) आग्निपेन गुणी अवयवी च ग्राह्यौ ।  
(४) घटपटज्ञानवत् । (५) व्याख्या— सर्वस्योभयरूपत्वम्—उभयग्रहणमनन्तत्त्वोपलक्षणायम् तस्मिन्  
सति तद्विशेषस्य उष्ट उष्ट एव न दधि दधि दध्यव नोत् इत्येव लक्षणस्य निराकृते, दधि  
षाद इति चान्ति पुष्य किमुष्ट खान्ति नाभिघावति ? उष्टोपि लध्यभिजात द्रव्यत्वाव्यतिरेकात्  
स्याद्दधि नापि स एषीति उष्ट उष्ट एव इत्यकालतवात् यथा योऽपि दध्यादिक (त) स्यादुष्ट ।  
तथा दध्यापि स्यादुष्ट उष्टाभिन्न द्रव्यत्वेन दध्नेस्तात्पर्यताभिसम्ब धात । नापि तद्वेति दध्यव  
दधि यथा यपि उष्टादिक (त) स्याद्दधि । एतेन सर्वस्योभयरूपत्व व्याख्यातम् ।—प्रमाणवा०  
स्ववृ० टी० १।१८३ । मतेोरथ० १।१८३ । उद्धतोऽयम्—अनेकात्तजय० पृ० १८ । नोदितो  
—अनेकात् प्र० प० ७ । अष्टसह० पृ० ९२ । समति० टी० पृ० २४२ । यापवि० वि० पृ० ९२  
A । निराहृत । प्ररितो दधि —स्या० २० प० ८३७ ।

1 ज्ञानक्षणिक आ० । 2 सकृद्व्यतिरेकेण अ० । 3 तावद्वा आ० । 4 कापकार—आ० ।  
5—समकमेवेत्य—आ०, व० ।

इत्येतन्निरस्तम्, दध्यादे उष्ट्रादिस्वरूपभूतपर्यायत्वासभवात् । कुतस्तत्  
तान् व्याप्नोतीति चेत्त्राह—‘स्वयम्’ इत्यादि । स्वयं स्वरूपेण अभेदकत्वात्तेषाम् ।  
इतिशब्द द्रव्यसिद्धिप्रघट्टकपरिसमाप्तौ । तदेव सिद्धे परापरद्रव्ये परापरसमह  
प्रवर्तते । तत्र परसमह प्रदर्शयितुमाह—

संग्रहः सर्वभेदैक्यमभिप्रैति सदात्मना ।

ब्रह्मवादस्तदाभासः स्वार्थभेदनिराकृतेः ॥३८॥

विवृतिः—नहि कारिचदसदात्मा भेदोऽस्ति विरोधात् । यद् यदात्मकं तत्  
तदेव, यथा स्वनिर्भासभेदात्मकं ज्ञानम्, तस्मात् सदात्मनो भेदाः सन्मात्रमेव  
नान्यदिति संग्रहः । तत्रोधान्यात् न तु भेदप्रतिज्ञेपात् । स्वपर्यायभेदानपेक्षया  
तत्प्रतिरूपकत्वं ब्रह्मवादवत् ।

संग्रहः समहहनय सर्वेषां भेदानां जीवादिविशेषाणाम् ऐक्यमभिप्रैति

केन रूपेण ? इत्याह—सदात्मना । ब्रह्मवादेऽपि सदात्मना तेषा  
कारिसायास्थानम्—

समहः सभवति इति सोऽपि समहहनय स्यादित्याशकापनोदार्थमाह—

ब्रह्मवादस्तदाभास इति । कुत एतत् ? इत्याह—‘स्वार्थ’ इत्यादि । स्वार्थः  
सन्मात्र तस्य भेदो जीवादि तस्य निराकृतेः असौ तदाभासः समहाभासः,  
तन्निराकृतौ सन्मात्रस्यापि निराकृतिसिद्धे । न खलु निराश्रय सामान्यं नाम अश्ववि-  
षाणादेरपि तच्चवप्रसङ्गात् ।

व्यतिरेकद्वारेण कारिका विवृण्वन्नाह—‘नहि’ इत्यादि । हिर्यस्मात् न कश्चित्

चेतन इतरो वा भेदो विशेष असदात्मा अस्ति, कुत एतत् इत्याह—  
विवृतिविवरणम्—

विरोधात् । असदात्मनोऽस्तित्वविरोधश्च प्रागेव समर्थितः । ननु-

(१) तुलना—‘मुगतोऽपि मृगो जातः मगोऽपि मुगतः स्मृतः । तथापि मुगतो बन्धो मृग  
मगो वयेष्यते ॥ तथा वस्तुबन्धदेव भदाभेदव्यवस्थितः । चोन्तिरेदधि स्तान्ति किमुष्टमभिधावति ॥  
—व्याख्यं ० का० ३७२-७४ । अनेकातजय० प० २८१ । “न ह्यस्माभिदध्युष्टयोरेकं नियकसामान्यं  
वस्तुत्वादिदं व्यत्यभेदेन व्यवस्थितं तथाभूतप्रतिभासाभावादभ्युपगम्यते । याद्गभूतं तु प्रतिव्यक्ति  
मिन्नं ‘सामान्यं’ इति प्रत्ययविषयभूतमभ्युपगम्यते तथाभूतस्य तस्य शब्देनाभिधाने किमित्यत्र प्ररितो  
ऽयत्र सादनाम धावेत् यद्यु मतो न स्यात् । —संमतं ० टी० प० २४२ । (२) पर्यायाणाम् । (३)  
तुलना—‘निराकृतविषयस्तु मत्तादनपराधणः । तदाभासः सामान्यतः सदभिदष्टेष्टबाधनात् ॥’—  
तत्त्वापत्तौ ० पृ० २७० A । नवविद्य० ० स्तो० ६८ । प्रमेयक० पृ० ६७७ । यायावता० टी० प० ८५ ।  
प्रमाणतय० ७११५, २१ । जनतकभा० प० २४ । (४) स्वस्य ब्रह्मवात्स्य अर्थो विषयः सन्मात्रं तस्य  
भेदा जीवादिविशेषो तथा निराकृतेः प्रतिषेधान् । न खलु गवया सत्त्वे भूतानामवकाशाऽस्ति ।  
भेदरहितं च तत्त्वं सामान्यं नाम निराश्रयत्वात् अर्थत्रियादिरहाच्च । —सूयो० ता० पृ० ५८ । (५)  
गत्वप्राधान्यात् । (६) समहाभिसत्त्वम् । (७) सामान्यत्वप्रसङ्गात् ।



भवत्वेनम्, तथापि भेदेभ्यो भिन्न सत्त्वम् न्यत्राह-यद् यदेत्यादि । यद् द्रव्यादि  
 यदात्मकं यत् सत्त्वमात्मा यस्य तद् यदात्मकम् तद् द्रव्यादि तदेव भवति मद्रूपमेव  
 भवति, यथा स्वनिर्भासभेदान्मक सशयेतरत्रिपर्यासेतरविशेषात्मक ज्ञान सशयादि-  
 रूपमेव भवति । यत एव तस्मात् सदात्मनो भेदा' मन्मात्रमेव नान्यत् भावाद्विभ्र  
 5 प्रागभावादि इति एव सग्रह । कुत म इत्याह-तत्प्राधान्यात्, मन्मात्रप्राधान्यात्  
 नतु न पुन भेदप्रतिषेधात् । कुत एतद्विद्याह-स्वपर्यायभेदानपेक्षया, यत तत्प्रति  
 रूपकं च सप्रहाभासत्वं । त्रिचिदिन्याह-ब्रह्मनादवत् इति ।

अधुना नैगमतदाभासप्ररूपणाधमाह-

अन्योन्यगुणभूतैरुभेदाभेदप्ररूपणात् ।

नैगमोऽर्थान्तरत्वोक्तौ नैगमाभास इष्यते ॥३९॥

विवृतिः-स्वलक्षणभेदाभेदयोः अन्यतरस्य प्ररूपणायाम् इतरो गुण' स्यात्  
 इति नैगम' । यथा जीवस्वरूपनिरूपणाया गुणा. सुखदुःखादय, तत्प्ररूपणाया

(१) इष्यते मयत् स्यात्निभि । क ? नगम निगमा मुख्यगौणकल्पना, तत्र भवो नैगम  
 इति । कुत ? अन्यायत्यानि । गुणभास अग्रधानभूत एकरच प्रधानभूत, अयोमं परस्पर गुणभूतयो  
 तो च तो भेदाभेदो च तयो प्ररूपणात् ग्रहणात् । तथाहि गुणगुणितामवयवावयविना त्रियावारवाणा  
 जानितद्वान्च कश्चिच्च भेद गुणीकृत्य अभद रूपयति अभद वा गुणीकृत्य भेत् प्ररूपयति । नैगमन  
 यस्यविधत्वात् प्रमाण भ्याभयोरनकात्प्रहृणात् । ननु गुणगुण्यातीनामत्यन्तभेद एवनि चन्नाह-अर्थ  
 त्यानि । अर्थान्तरत्व गुणगुण्यातीनामत्यन्तभेद । तस्योक्तौ प्ररूपणाया नगमाभास इष्यते तस्य प्रमाण  
 बाधितत्वात् । 'रुधी० ता० प० ५७। तुक्ता- जगहि माणहि मिणइति नैगमस्स य निहत्तो । ससाणपि  
 नयार्ण लखणमिणमो सुणह वाळ्ळ ॥ -अनयोद्धार० ४ द्वा० । आव० नि० गा० ७७५ । विणोवा० गा०  
 २६८२ । निगमपु यऽभिहिता गन्थात्तेधामय गन्थापरिज्ञान च देगसमग्राही नगम । 'आह च  
 -नगमगन्थापिनामवानन्वायनयगमापेक्ष । देशसमग्रग्राही व्यवहारी नगमो नय । -तत्त्वार्थाधि० भा०  
 १।३५ । तत्त्वायहरि०, त वायसिद्ध० १।३५ । अभिनिवत्तायसकल्पमात्रग्राही नगम । -सर्वाधिति०  
 १।३३ । राजवा० १।३३ । यन्तिन १ तत् द्वयमनिलद्वय वस्तने इति नक गमो नय सप्रहासप्रहृस्वरू  
 पन्थाधिको नगम इति यावत् । -गदलाटी० प० ८४ । जयप० अ० प० २७ । 'तत्र सकल्पमात्रस्य  
 ग्राहको नगमो नय । यद्वा नक गमो योऽत्र स सता नगमो मत । धमयो धमिणा वापि विवक्षा धर्मध  
 मिणो । पयायनगमाभिन्न नवविधा नगम । -तत्त्वाधश्लो० प० २६९ । नयविव० ३३ ३७। प्रमेयक०  
 ५०६७६ । स'मति० टी० प० ३१० । 'यच्चक गा० ३३ । तत्त्वायसार प० १०७ । 'नकर्मन महास  
 तासामायविशपवि'धविनाम मिमीते मिनोति वा नकम । निगमेषु वा अवबोधेषु कु'ग'त्रो भवो वा  
 नगम । अथवा नके गमा प'धाना यस्य स नकगम । -स्थानाङ्गसू० टी० प० ३७१ । 'धमयो धमिणो  
 धमवर्धमिणो'च प्रधानोपसजनभावेन यद्विवक्षण स नकगमो नगम -प्रमाणतत्र० ७।७ । रया० म प०  
 ३११ । जनतकभा० प० २१ । (२) तुक्ता- ज सामप्रवितसे परोपर कल्पुभो य सो भिन्नो । मप्रद  
 अच्वन्मजो मि'उद्विष्टी कणादो'व ॥ -विशया० गा० २६९० । तयोस्त्यन्तभन्तिकिरयोन्य वाथ  
 या'पि । तयो व्यजनपर्यायनगमाभो वि'पण ॥ -तत्त्वाधश्लो० प० २७० । नयविव० ६३ । प्रमेयक०  
 ५०६७७। यायावता प० ८२। प्रमाणतय० ७।११। जनतकभा० प० २४ ।

१-कं द्रव्या-आ० । २ तदेवमेव ध० । ३ एव आ० । ४ सवात्मानो आ० व० । ५-न्तरतीवती

ज० वि०-न्तरत्वोक्तौ आ० ।



इति प्रश्ने उत्तरमाह—गुणगुणिनाम् अत्रयत्रायपरिना क्रियाकारकाणां जातितद्व-  
 ताश्च मिथः परस्परमर्थान्तरत्वे अङ्गीक्रियमाणे, निम् इत्याह—‘सर्वथा’ इत्यादि । सर्वण  
 वक्ष्यमाणप्रकारेण सर्वथा वृत्ते गुणादीनां गुण्यान्वौ वर्त्तनस्य निरोधात् ‘नैगमाभाम्’  
 इति मन्त्रध । तद्विरोधं दर्शयितुमाह—‘एकम्’ इत्यादि । एकम् अवयव्यादिकम् ।  
 6 अनेकत्र देशालाकारभित्ते अवयवाद्दौ वर्त्तमान एवमेक प्रति प्रत्येक सर्वाभाम्ना  
 सामन्त्येन यदि स्याद् भवेत् वर्त्तमान तदवयव्यादिकम् ‘एकम्’ इत्येव न स्यात्,  
 अपि तु यान्तोऽवयवाद्दय तावत् एव अवयव्यान्वय स्यु । नहि एकस्य निरस्यस्य  
 क्रियातो भिन्नस्य परमाणुवद् युगपद् देशादिभिन्नेष्वधारेषु वर्त्तन युक्तम् । परस्य  
 पक्षान्तरमाशङ्क्य दूषयन्नाह—‘यदि पुनः’ इत्यादि । पुनरिति पक्षांतरसूचक,  
 10 एवमेकत्र प्रत्येक यद्येवदेशेन वर्त्तेत तर्हि तस्य अनेकदेशा कल्पनीया तेषु चास्य  
 वृत्ति कल्पनीया, अथवा कथं ते ‘तस्यै’ इति व्यपदिश्यन्ते ? तत्कल्पने च दूषणमाह—  
 ‘तद्’ इत्यादि । ‘ते च ते एकदेशाश्च तेष्वपि तथैव सर्वात्मनैरेकदेशप्रकारेणैव प्रसङ्गात्  
 दोषादनसत्या स्यात् इत्यभिप्राय । तथाच क्व अवयवाद्दौ किम् अवयव्यादि वर्त्तेत ?  
 निराकृता च अवयवाद्दौ अवयव्यादेर्वृत्ति विषयपरिच्छेदे प्रपञ्चत इत्यलमनिविस्तरेण ।  
 15 एव गुणगुण्यादीनां भेदेनात निराकृत्य मत्तातद्धता तै निराकर्तुमाह—

स्वतोऽर्थाः सन्तु सत्तायत् सत्तया किं मदात्मनाम् ।

असदात्मसु नैपा स्यात् सर्वथातिप्रमद्गत ॥ ४० ॥

निवृत्ति—यथा मदर्थान्तराणि सन्त सन्ति तथैव द्रव्यगुणरूपार्थेषु सन्तु किं  
 तत्र सत्तामत्रायेन ? स्वत सता तद्वैयर्थ्यात् अमतां चाऽतिप्रसगात् । तदेवम् अवा-

(१) अवयवविच्छेदा क्रिया एवा निरस्यापि सती भिन्नैषु अवयवेषु वर्त्तनापि, न तु क्रियानो  
 भिन्नोऽयं कश्चिन्निरसोऽपि भिन्नैष्वधारेषु वर्त्तने इति भाव । (२) अनेकदेशेषु । (३) अनेकदेशा ।  
 (४) अवयविन । (५) प० २२४ । (६) भक्तान्तम । (७) योगमत भावानां सन्त सत्तात्मना सत्ता  
 समवाय असत्तात्मना वति विक्ल्पद्वय मनमिदृश्य प्रथमप तेषु गुणमात्र—स्वत स्वरूपेण अर्था पदार्था  
 सन्तु । विवत ? सत्तावत यथा सत्तान्तराद्रिनाऽपि सत्ता परसामांय स्वत एवास्ति तथा द्रव्या  
 दीपपि स्वत एव सन्तु विद्यन्ताम् । तथा च स्वत सत्तात्मना सत्तया किं साध्य न विमपीत्यर्थ । विनापि  
 तथा तेषा सत्त्वान । द्वितीयविकल्प दूषयति—सवया सत्तात्मसु द्रव्यान्पि परा सत्ता न स्यात् न वर्त्तेत  
 अनिप्रसङ्गात् सारविषयाणां वपि सवयाऽस्ति सत्तासमवायप्रसङ्गात् ।—लघी० ता० प० ५९ । तुक्ता—  
 सत्ताज्ञानासञ्ज्ञो सञ्ज्ञो व सत्त हवेज दवस्स । असञ्ज्ञो न स्वपुष्पस्य व सञ्ज्ञो व किं सत्तया कञ्ज ॥  
 —विशया० गा० २६९४ । स्वरूपेणासन सत्त्वसमवाय च खाम्बुज । स स्यात्किञ्च विशयस्याभावात्तस्य  
 तनोऽजसा ॥ स्वरूपेण सत्त सत्त्वसमवायस्य सवया । नामायां भवत्सत्त्वसमवायोऽविशयत ॥ —  
 आप्तप० गा० ६९७ । उदयेय वारिका—सूत्रकृतां प० १० २२७ ।

1 गुणादीनां गुणादीनां आ व० । 2 यदि पुनरित्यादि इति पाठ आत्मीयं चिह्नित्वापि निष्का  
 सित । 3 कथं तस्य थ । 4 ते च ते तदेकद—थ० व । 5 इत्यलमिति—व० । 6 निराकर्तुमाह—थ० ।



प्रकारेण द्रव्यगुणकर्मण्येव न ररत्रिपाणादीनि स्वतः सन्तु किं तत्र तेषु द्रव्यादिषु सत्तासमवायेन ? कुन एतदित्यौह—'स्वत' इत्यादि । स्वतो हि सता द्रव्यादीना सत्तासमवायात् सत्त्व स्यात्, असता वा ? तत्राय पक्षोऽनुपपन्न, स्वतः सता तद्वै- यर्ध्यात् सत्तासमवायवैयर्ध्यात् । स्वतोऽसताञ्च अतिप्रमङ्गात् रपुष्पादौ तत्समवा- यात्मरप्रसङ्गात् । एतदेव दूषणमन्यत्राप्यतिदिशनाह—'तदेवम्' इत्यादि । तद् अनन्तरोक्त दूषणम् एवम् उक्तत्रिधिना योज्यम् । क ? अत्रान्तरजातिष्वपि द्रव्य- त्वान्सामायेष्वपि । तथाहि—यथा सद्रव्य सन गुण सन् कर्म स्वत तथा स्वतो द्रव्य द्रव्य गुणो गुण कर्म कर्म रण्डान्तिर्गां कर्मादिरश्च, किं तत्र द्रव्यत्वान्समवाये- न ? स्वतो द्रव्यगुणकर्मणा तद्वैयर्ध्यात्, अद्रव्यगुणकर्मणाञ्चातिप्रसङ्गात् । नहि तैषाऽ- परिणतमयसम्नधात् तथा भवति आकाशजरोशयस्यापि तैषात्वप्रसङ्गात् । अत्र दूषणात्तर दर्शयनाह—'गोत्वादे' इत्यादि । अत्र आन्तिशब्देन अश्वत्वान्तिपरिग्रह, सर्गगतवे अङ्गीभ्रियमाणे तत्प्रत्ययसाङ्कर्यम् गोत्वादिप्रत्ययसाङ्कर्यम् रण्डादिवत् कर्त्वावपि गोप्रत्यय स्यात् । उपलक्षणमेतत् तेन अभिवानव्यवहारसाङ्कर्यं गृह्यते । तत्साङ्ग्ये च अवात्तरजातिर तस्य अतिदुर्नयम् । निराकृता च विशेषतो नित्या सर्वगता चाति सामान्यपरीक्षाजमरे इत्यलमिह विस्तरेण । अथ असर्वगतत्वपक्षे जातेदूषणमुपदर्शयनाह—'अन्यथा' इत्यादि । अन्यथा अयेन असर्वगतत्वप्रकारेण 'निष्क्रियस्य गोत्वाद्, अर्थ उत्पित्सु' यस्मिन् देशे तमव्याप्नुवत् 'इच्छातो विशेष- पणविशेष्यभाव' इति अर्थस्य विशेषणत्वमिति न उत्पित्सुशब्दस्य पूर्वनिपात । अनशस्य निरवयवस्य अनेकर स्वाधारे कादाचित्क वर्त्तनमयुक्तम् । स्वमते लोपाभाज र्शयितुमा—गुणगुण्यादीनामन्योन्यात्मकत्वे न किञ्चिद्विरुद्धमिति । एतच्च अनेका तसिद्धिप्रघटके सप्रपञ्च प्रपञ्चितम् इत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

प्रमङ्गात् । विशेषत्वपि सामान्यमभावे सायस्यापि सम्भवात् निगयाय विशेषानुसरणऽप्यनवस्थव । समवायपि सत्ताभ्युपगम तद्रत्यय समवायाभ्युपगमात्निष्ठापत्तिरेव दूषणम् । —प्रश० भा० क० व० प० १९ । 'मस्य हि अनवस्थानिषाधकोपपत्त -प्रश० व्यो० प० १४२ । व्यक्तरभस्तु यत्त्व सङ्करोऽ धानवन्मिति । रूपहानिरसम्बन्धो जानिवाधकमद्रष्ट ॥ —प्रश० वि० प० ३३ ।

(१) सत्तासमवायात् । (२) द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वसमवायवयवध्यात् । (३) न हि स्वतोऽज्ञाया भूतस्वायात्वमवायभाव । —आप्तप० का० ७२ । (४) सत्तासमवायात्मत्वप्रसङ्गात् । (५) कर्त्वावपि गोर्गोरिति गच्छप्रयोगे गौरिति ज्ञान वा स्यात् । (६) गोचस्य । (७) दुर्णयम् यतो हि गोत्व गोत्रत् सत्त्वं अश्वानो स्यात् तथा च सन महासामान्यमेव स्यात् त्ववान्तरसामान्यमिति भाव । (८) पृ० २५८- । (९) सुत्ता—'तत्र देगान्तरे वस्तुप्राप्तमिति कथयते । दुस्यते वृत्तिभाजो वा तस्मिन्निति न गम्यते ॥ न हि तेन सहोत्पन्ना नित्यत्वान्नाप्यवस्थिता । तत्र प्रागविभुत्वेन नचायात्ययतोऽज्ञिया ॥' —तात्पर्यं का० ८०६-७ ।

१-ह स्वतो हि आ० । २-जाति-आ० थ० । ३ द्रव्यादि-व० । ४-णाञ्चातिप्र-थ० । ५ गोत्वप्रत्यय-थ० । ६-ग असव-थ० थ० । ७ निष्क्रियत्व व०, आ० । ८-व्ययभाव थ० । ९-चित्तवत्तन-व० ।

अथरमपि नैगमामास दर्शयितुमाह—'गुणानाम्' इत्यादि । गुणाना सत्त्वरज-  
स्तमसा वृत्त वर्तन चलम् अत्रिर्भावतिरोभाववत् । एतदेव 'सुरा' इत्यादिना व्याचष्टे-  
सत्त्वस्य हि सुप्तान्लिक्षणं वृत्तम्, रजसो दुःखादिलक्षणम्, तमसोऽज्ञानादिवमिति ।  
पुरुषस्य किं स्वरूपमित्याह—'चैतन्यम्' इत्यादि । चैतन्य दर्शनं पुरुषस्य स्वरूपं आत्मी-  
यमसाधारणं रूपम् । " न प्रवृत्तिं विवृतिं पुरुष " [ साख्यका० ३ ] इत्यभिधानात् ।  
कथम्भूतम् ? अचलम्, आविर्भावतिरोभावविकलम् । इतिशब्द परपक्षसमाप्त्यर्थः ।  
अत्र दूषणमाह—'एतदपि' इत्यादि । एतदपि साख्यमतमपि न केवलं वैदोषिकमत  
तादृशेन नैगमामास एव । कुत एतदित्याह—'तद्' इत्यादि । तयोः सुप्तादिवृत्त-  
पुरुषयो अर्थान्तरताम् व ( ताव ) स्तन्तरत्व तस्य अमिद्वेः अनिश्चयात् । अत्रैव  
नोपान्तरमाह—अतिप्रमङ्गलचैरमिति । सुप्तान्निवृत्तपुरुषयो परमार्थतोऽभेदेऽपि प्रतीय-  
माने एव परे स्मृतदुराग्रहाभिनिवेशप्रकारेण भेदे अभ्युपगम्यमाने अतिप्रसङ्ग स्यात्  
'एकमेव न किञ्चित् स्यात्' इति भावः । च शब्द पूर्वोपसमुच्चये । ननु तदभेदवि-  
रोधात् सिद्धैव तदर्थान्तरता इत्याह—'तदभेद' इत्यादि । तयोः पुंस्त्ववृत्तयोरभेदे  
एकत्वे सति विरोधाभावात् सहानवस्थानलक्षणस्य परस्परपरिहारस्थितिस्वरूपस्य  
प्रमाणसाधारण्यस्य वा विरोधस्याभावात् इति भावः । अथ मतम् अचलपुरुषपररूपे  
चलवृत्तानुप्रवेशे द्वयोश्चलत्वमचलत्व च रूपं स्यात् अतो विरोध इत्यत्राह—'गुणानाम्'  
इत्यादि । गुणाना सत्त्वरजस्तमोलक्षणाना दृश्यादृश्यात्मकत्वे व्यक्तापेक्षया  
दृश्यात्मकत्वे प्रधानापेक्षया अदृश्यात्मकत्वे अङ्गीक्रियमाणे पुंसामेव तदात्मकत्व  
दृश्यादृश्यात्मकत्व युक्तम् उपपन्नम् । प्रसावित्तञ्च सुप्तान्निवृत्तौत्मकत्वमात्मन प्रागेव  
प्रवचनेन इत्यलमनिप्रसङ्गेन । तत्र किं जातम् ? इत्याह—'कृतम्' इत्यादि । कृत

(१) 'प्रीत्यप्रानिधिवात्प्रात्मका अत्राय समास प्रीतिदचाप्रीतिश्च विपादश्च ते आत्मा स्वरूप  
येषा गुणाना ते भवन्ति प्रीयप्रीनिधिवादात्मका । तेषा लक्षणमुच्यते तत्र प्रीत्यात्मक भवत्वम् । आत्म  
शब्द स्वभावे वतने । कस्मात् ? सुखजन्य वा । यो हि कश्चित् क्वचिन् प्रीतिं लभते तत्र आज्ञव  
मादवसत्यपि बह्वीबुद्धिशामानुकाभ्याज्ञानादि च, तत्सत्त्व प्रत्येन एव । अतीत्या मत्र रजः । कस्मात् ?  
दुःखजन्य वात् । या हि कश्चित् क्वचिन् क्वचिन् प्रीतिमुपलभते तत्र द्वेषद्रोहमत्सरनि दास्तन्मोक्षपृष्टा  
निकृतिवञ्चनापचलनानि च, तत्र प्रत्यतयम् । विवादात्मक तम् । कस्मात् ? मोहलक्षणत्वात् ।  
यो हि कश्चित् क्वचिन् क्वचिन् मोहमुपलभते तत्र अनानमालस्यमपदवाचमप्यतानास्तिभ्यविपादस्व  
जादि च, तत्र प्रत्यतयम् ।" —साख्यका० माठर०, जयम०, का० १२ । साख्यसूत्रवि० पृ० १०६ । (२)  
वापि । (३) सुप्तान्निवृत्तयोः । (४) सुप्तान्नि । (५) 'द्विविधो हि पदार्थानां विरोधः, अविच्छेद-  
णस्य भवतोऽन्यभाव-भावादिरोधमिति शीतोष्णस्पर्शान् । परस्परपरिहारमित्यलक्षणतया वा भाववत् ।  
—न्यायवि० पृ० १७-१८ । (६) पृ० १११ ।

1-चत् सत्त्वस्य वर्तनं पुरुषस्य आ० । 2-दि यत्पुरुषयो पर-आ० । 3-तामवलस्यन्त-आ० ।  
4 तदभेदेविरो-आ०, व० । 5-प्रवेगादयो-आ० । 6-त्राह दृश्यात्-प्र० । 7-कच्यप्यता-आ० ।  
8-तमश्च दुरत आ० ।

पर्याप्त गुणकल्पनया प्रधानरूपनया, तस्य तदौत्मकत्वान्मित्यभिप्राय । निरस्तञ्च प्रधान प्रपञ्चत प्रकृतिपरीभाप्रघट्टके<sup>३</sup> इत्युपगम्यते ।

अधुना प्रमाणाभावात् तदाभासिता तैयोर्दर्शयितुमाह—

प्रामाण्य व्यवहाराद्धि स न स्यात् तत्त्वतस्तयो ।

मिथ्यैकान्ते विज्ञेयो वा कः स्वपक्षविपक्षयोः ॥ ४१ ॥

निवृत्ति-शुद्धमशुद्ध वा द्रव्य पर्याय समस्त व्यस्त वा व्यवस्थापयता तत्सा धन प्रमाण सृग्यम् अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । तत्प्रामाण्यञ्च व्यवहारैरेव । स च सग्रहे भेदाश्रयो मिथ्यैव । ततः सप्र (स प्र) तिपक्ष कथमतिशयीत सत्येतरस्वरूपवत् ? मिथ्यैकान्ताविशेषेऽपि तद्व्यवस्थापनमयुक्तम्, तदुभयोपलब्धेरवितथात्मकत्वात्, अन्यथा स्वमान्तरत्त तद्विसमादान् किञ्चित् प्रमाणम् । नैगमेऽपि 'चल गुणप्रवृत्त नित्य चैतन्यम्' इति व्यवहारासिद्धे स्वरुचिपिरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम् । नहि

“गुणानां परम रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।

यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायैव (यैव) सुतुच्छकम् ॥” [ ]

(१) पुरुषस्य । (२) मुक्ताद्यात्मकत्वान् । (३) पृ० ३५४ । (४) सप्रहाभासनगमाभासयो । (५) व्याख्या- प्रमाण स्वेष्टानिष्टसाधनरूपणनिबधन प्रयत्नमयदा सर्वैरभ्युपगन्वव्यमवधाऽति प्रसङ्गानि । तच्च व्यवहारात् । विधिपूर्वकमवहरण विभजन भन्वल्पन व्यवहारस्तस्मान् तमात्रित्यस्य । स च तस्य परमायतो न स्यात् । नव ? तयो सप्रहाभासनगमामासयो । न खलु निरपेक्ष भावकान्ते प्रमाणान्मिथ्यव्यवहारोस्ति निराकृतत्वात् भदकान्ते वा प्रमाणफलव्यवहारोऽस्ति सम्बन्धाभावात् । औपचारिक प्रमाणफलव्यवहारस्तवास्तीति चेदत्राह-मिथ्येत्यादि । मिथ्यैकान्ते प्रमाणफलव्यवहारस्या वास्तवात् अङ्गीक्रियमाणे विषय भन्तेऽपि क ? न कोपीत्यस्य । कयो ? स्वपक्षविपक्षयो स्वपक्षो ब्रह्मवात् भन्वान्ते वा, विषय क्षणिकवागोऽद्वैतवात् वा तयो सवरप्रसङ्गान्मिथ्यस्य । तत कथञ्चिद्व्यवहारापि वास्तवाऽङ्गीकृतस्य । -लघी० ता० पृ० ६० । तुलना- प्रामाण्य व्यवहारेण । -प्रमाणवा० १।७ । (६) उक्तार्थे गास्त्र प्रमाणयति-तथा चेति । परम पारमायिक नित्यमिति यावत् । मायव लौकिकमायावत् क्षणभङ्गरम अत सुतुच्छकम् अत्यन्ततुच्छमल्पसार स्थिरताभावात् निति । अत्र सुगन्धेन परिणामितया गुणानामपि तुच्छत्व मूचित गुणा एव परिणामितया नूटस्पनित्या पेक्षया तुच्छा गुणकाय तु द्रव्यमानं गणापेक्षयापि तुच्छम अत सुतुच्छमिति । -योगवा० पृ० ४१४ । 'परम रूपं मूलरूपमव्यक्तावस्था न दृष्टिपथमृच्छति गच्छति व्यक्त दृष्टिपथ प्राप्य यद् गुणरूप तद् मायव सुतुच्छक मायया प्रशित प्रपञ्च यथा तुच्छं तपति ॥ -योगसू० भास्व० पृ० ४१४ । कारिकय निम्नप्रथमु समद्वैताऽस्ति- तथा च गास्त्रान्तासनमगुणाना । -योगभा० ४।१३ । पठितत्रगास्त्रस्यानितिष्टि-गुणाना । -योगभा० तत्वव० ४।१३ । योग० भास्वती, पाठ० रह० ४।१३ । भगवान् वापगण्य-गणाना । -शां० भा० भासती पृ० ३५२ । नयचक्रव० पृ० ४३ A । तस्योपप्लव० पृ० ८० । साक्ष्यतत्त्वा० पृ० ६ । गुणाना सुमहद्रूपम् । -प्रमाणवा तिकाल० परि० ४ पृ० ३३ । मिडिवि० टी० पृ० ७४ B । अष्टसह० पृ० १४४ । 'दृष्टिपथ प्राप्य तमायावस्तु तुच्छकम्-जयमं० पृ० ६३ ।

1 गुणपरिह-पृ० । 2-भाषयतां शः । 3 प्रमाण वः । 4-व्य ह्य-ई०वि० । 5-स्तं ह्य-ज० वि० । 6 बलं ई०वि० ।

इति प्रमाणमस्ति समवायेन स्वावयवेषु अवयवी वर्तेत । 'शृङ्गे गौः शाखाया वृक्षः' इति लोकोच्यवहारमतिवर्तेत निपर्ययात् । स्वयमज्ञस्वभावात्मा ज्ञानसमवाये कथमिव ज्ञः स्यात् ? नहि तथाऽपरिणतस्य तत्त्वम्, समवायस्यापि ज्ञत्वप्रसङ्गात् । न वै ज्ञानसमवायोऽस्ति समवायस्येति चेत् ; कथं स्वस्वभावरहितः सोऽस्ति वर्तेत वा समवायान्तराभावात् तदनवस्थानुपज्ञात् ।

प्रामाण्य व्यवहारात् व्यवहारमाश्रित्य, हिः अवधारणार्थं । व्यवहारादेवं न ज्ञानाद्यद्वैताद्याश्रित्येत्यर्थं । तत एव तदस्तु को दोष इति कारिकायास्थानम्-  
चेदत्राह—'स' इत्यादि । स व्यवहारो न स्यात् तच्चत परमा-  
र्थतः तयोः समह्नैगमाभासयो । ननु यदि तयोर्व्यवहारो वास्तवो नास्ति, मा भूत्  
अथास्तवस्तु भ्रमिष्यति इत्यत्राह—'मिथ्यैकान्त' इत्यादि । अयमभिप्राय—यत्र  
व्यवहारो मिथ्या तत्र तदाश्रित प्रमाणमप्येकात्तेन मिथ्या, तस्मिन् मिथ्यैकान्ते  
अङ्गीक्रियमाणे विशेषो भेद कः न कश्चित् । कयो ? स्वपक्षविपक्षयोः ।  
तत उभयो सिद्धिरसिद्धिर्वा स्यादिति भाव । चाशब्द अपिशब्दार्थे ।

कारिका व्याख्यातुमाह—'शुद्धम्' इत्यादि । शुद्ध द्रव्य पर्यायरहित ब्रह्मादि, शुद्ध  
पर्याय द्रव्यरहित क्षणिकनिर्गणपरमाणुरूपम् । अशुद्ध द्रव्य सपर्य-  
वृत्तिव्याप्यानम्-  
यम् । अशुद्ध पर्याय सद्रव्यम् । अस्यानन्तरस्य विशेषणमाह—  
'व्यस्तम्' इत्यादि । व्यस्तम् अन्योन्यनिरपेक्षम्, अनेन नैयायिकमत दर्शितम् ।  
समस्तम् अन्योन्यात्मकम्, अनेनापि साख्यदर्शन प्रवाशितम्, विकारविकारिणो  
माख्यैस्तादात्म्याभ्युपगमता । 'व्यस्तस्थापयता' इत्येतत् प्रत्येकमभिसम्बध्यते । तत्सा-  
धन तयो शुद्धाशुद्धव्यस्तममस्तद्रव्यपर्याययो साधन मृग्यम् अन्वेद्यम् । तद्य नय-  
त्किञ्चिद् भवितुमर्हति किन्तु प्रमाणम्, मत्पक्षविपक्षस्तु न्यवस्थायामन्यस्याऽनधिकारात् ।  
अन्यथा प्रमाणावेपणाभावप्रकारेण तद्व्यवस्थापने अतिप्रमङ्गात् मरुत सर्वस्य सर्वार्-  
थमिद्विप्रमङ्गात् । ननु समह्नैगमाभामप्ररूपणप्रस्ताये किमर्थमप्रस्तुत 'शुद्ध पर्यायम्'  
इत्येतत् प्रस्तूयते इति च न वाच्यम्, दृष्टान्तार्थत्वात् । यथैव शुद्ध पर्याय व्यवस्था-  
पयता सौगतेन प्रमाण मृग्यम् तथा अयैद्वि अन्येन व्यवस्थापयता तै-मृग्यमिति ।  
यदिवा, उत्तरत्र श्रुजसूत्राभासे इदमवश्यं यत्तद्व्यम्, तै-द्वैवोक्तम् । मृग्यत एव तर्हि

(१) तुलना— पदसन्तुल्यव्यवहारिणोऽपि स्वयं ज्ञता । गुह्यं गवीति लोक स्यात् गुह्यं  
गीतिपयोविषयम् । प्रमाणम् ३१५० । 'दूरे वाणा गिलादवाण इत्यपि लोकिवा मति । गिला  
व्यतिरिक्तदृष्टान्तैरन्यथैरलम्बनात् ॥ तौ पुनस्ताम्विति ज्ञानं लोकापिज्ञानमुच्यते ।—तत्त्वतः ५०  
२९७ । (२) गुह्यं वा । (३) यद्वा इति वादिवादिता । (४) प्रमाणम् ।

१-तत्त्वतः ६० वि० । २-प्रमाणं ६०, ५० । ३-वेदज्ञाना-आ० । ४-ज्ञानाज्ञाना-व० ।  
५-तत्त्व ५० । ६-पथा तयोः ६० । ७-अथाज्ञाना-आ०, अथाज्ञाना-व० । ८-प्रमाणमिदं-आ० ।  
९-इत्यवयव-व० । १०-आ० । ११-तर्हि लोकाव ६० ।



प्रमाणमिति चेदत्राह—‘तद्’ इत्यादि । तस्य तद्व्ययस्य प्रामाण्यञ्च व्ययहा-  
रेणैव न परपरिक्लिप्तपरमार्थप्रकारेण तत्र तन्मिद्रे । स च व्यवहार सग्रहे मिथ्यैव  
लेशतोऽपि सत्यो न भवति इति एवमार्थ । कुत एतदित्याह—भेदाश्रयो यत ।  
भयत्वेवम्, को दोष ? इति चेदत्राह—‘तत्’ इत्यादि । तस्मात् मिथ्यारूपात् प्रमाणादि  
5 व्यवहारात् सग्रहः प्रतिपक्ष भेदेकात् कथमतिशयीत ? न कथञ्चित् । तत्रापि-  
मिथ्याप्रमाणादिव्यवहारभावात् “श्रेयास्य व्यवहारेण” [ प्रमाणवा० ११७ ] इत्यादि-  
वचनात् । ननु अभेदात्मक सग्रह भेदात्मकश्च प्रतिपक्ष, तत्कथं स त नातिशेते ?  
इत्याह—‘सत्य’ इत्यादि । सत्यम् अतिथम इतरं पितथम् ते च ते स्वरूपे च  
ते यस्य स तत् तद्वत् । त्रियात्रिशेषणमेतत्—सत्यरूपतद् यथा भवति तथा सग्रहोऽ-  
10 तिशयीत, इतरस्वरूपवत् यथा भवति तथा प्रतिपक्षमिति, प्रतिपक्षवत् सग्रहोऽपि  
मिथ्यैव स्यात् इत्यर्थ । तत् को दोष इत्याह—‘मिथ्या’ इत्यादि । मिथ्यैकान्तस्य  
सग्रहप्रतिपक्षयो योऽत्रिशेष तस्मिन्नपि न केवल विशेषे तस्य सग्रहस्य व्यवस्था-  
पनमयुक्तम् । उपसंहारमाह—‘तद्’ इत्यादि । यत एव तत् तस्मात् उभयोपलब्धे  
समहेतरयो उपलब्धे अवितात्मात्मकत्वात् सत्यस्वभावत्वात् ‘स कथं प्रतिपक्षमति-  
15 शयीत’ इति मन्व व । तस्यावितथात्मकत्वे दूषणमाह—‘अन्यथा’ इत्यादि । अन्यथा  
अवितथात्मकत्वाभावप्रकारेण स्वप्नान्तरवत् स्वप्नभेदवत् तस्या विसरादान्न  
रिञ्चित् प्रमाणम् ।

एव सग्रहाभासे प्रमाणाभास प्रदर्श्य इदानीं नैगमाभासे त दर्शयन्नाह—‘नैगमेऽपि’  
इत्यादि । न केवल सग्रहे अपि तु नैगमेऽपि न रिञ्चित् प्रमाणम् । एतदेवाह—  
0 ‘चलम्’ इत्यादि । चलम् आविर्भावतिरोभाववत् । किं तदित्याह—‘गुण’ इत्यादि ।  
गुणाना सत्त्वादीना वृत्त महदादिरूपेण परिणमन निरत्य चैतन्यम् इति ण्य स्वरुचि-  
निरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम् । कुत ? व्यवहारासिद्धे । एतद्वच दर्शयन्नाह—‘नहि’  
इत्यादि । हियस्मात् न गुणाना सत्त्वरजस्तमसा परम प्रधानलक्षण रूप न दृष्टिप-  
थमृच्छति, यत्तु रूप महदादि दृष्टिपथप्राप्त तन्मायेव सुतुच्छकम् इति एव प्रमाणमस्ति  
2 प्रत्यभादेरत्राऽनवतागदिति ।

सारयनैगमाभासे प्रमाणाभास प्रदर्श्य अधुना नैयायिकतैगमाभासे तं दर्शयन्नाह—

(१) व्यवहारो हि भन्माश्रिय प्रवतते अत अमदप्राहितग्रहनपदृष्ट्यामिथ्यव । (२) उद्धृती  
अम-नस्त्रायलो० प० १७३ । तिडिवि० टी० प० १८ A, २३२ B, २९४ B ३०५ B ३२४  
५२० B । प्रमेयक० प० २१७ ३८३ । सन्मति० टी० प० १११, ४९७ । श्वायवि० वि० प० ३८  
B । गालत्रवा० प० १५८ B । (३) नयमाभास । (४) प्रमाणाभावम् ।

1-माप्य व्यव-आ । 2-एव तद्विष-प्र० । 3 यो वि-व० वा० । 4 सत्य व्यव-आ । 5 सग्रहेतरौपल-व० अ० । 6 सत्त्वव-अ० । 7 निरवचतन् अ०, निरपचेतना-व० । 8 त मायव  
व० । 9 इत्यलं प्र-व० ।

'ममवायेन' इत्यादि । समवायेन सम्बन्धेन स्वावयवेषु अवयवी वर्त्तेत [ ति ]  
 'नहि प्रमाणमस्ति' इति सम्बन्ध । ननु 'शृङ्गे गो शाराया वृक्ष' इति प्रतीति तत्र  
 प्रमाणमस्तीति चेद्ब्रह्म- 'शृङ्गे' इत्यादि । शृङ्गे गौः शाराया वृक्ष इति एव यत् प्रमाण  
 तत् लोकोप्यवहारमतिवर्त्तेत तत्र तथाप्रतीतेरभावात् । कुत एतन्वित्याह- विपर्ययात्,  
 'गवि शृङ्ग वृक्षे शारा' इति लोकोप्यवहारे प्रतीतिसद्भावात् । अत्रैव दृषणान्तरमाह-  
 'स्वयम्' इत्यादि । स्वयम् आत्मना अज्ञरवभावात् अचेतन सन् आत्मा ज्ञान-  
 समवाये सति कथमिदं ज्ञः स्यात् चेतनो भवेत् ? नहि तथा ज्ञत्वप्रकारेण अपरि-  
 षत्तस्य तत्र ज्ञत्व युक्तम् । कुत एतत् ? समवायस्यापि ज्ञत्वप्रसङ्गात् । 'नवै'  
 इत्यादिना परमतमाशङ्कते- नवै नैव ज्ञानेन समवायस्य समवायोऽस्ति तत्कथमस्यै  
 ज्ञत्वप्रसङ्ग इति चेत् तत्राह- 'कथम्' इत्यादि । कथं केन प्रकारेण समवायोऽस्ति ?  
 न केनचिद्, व्यरस्थापरुप्रमाणानां समवायपरीक्षाया प्रपञ्चत प्रतिपिद्धत्वात् । इतश्च  
 नास्त्यसौ स्वभ्रभावात् इति यत् । तस्यै हि स्वभावोऽयुतसिद्धसम्बन्धत्वम्, तत्र तत्रैव  
 विस्तरतो निपिद्धम् । कथं च समवायिप्रवर्त्तमानस्य अश्रुनिपाणस्येव अर्थे अयुतसिद्ध-  
 सम्बन्धत्व युक्तम् ? अथ वर्त्तेत एतासौ तत्र, अत्राह- 'वर्त्तेत वा' इत्यादि । अत्रार्थ  
 ज्ञत्वलक्षण दृषणमुक्तमिति मत्त्या दृषणान्तरमाह- 'वर्त्तेत वा' कथं समवायान्तराभावात्  
 एतत्वात्तस्य । विशेषणीभावाद् वर्त्तेत इति चेद्ब्रह्म 'तद्' इत्यादि । समवायस्य  
 तदन्तरकल्पने या अनवस्था तस्य अनुपङ्गात् पथमसौ कापि वर्त्तेत ? अयमभिप्राय -  
 अनवस्थाभवात् समवायस्य समवायान्तर परण न फल्यते, सा च विशेषणीभावक-  
 ल्पनेऽप्यविशिष्टा सम्बन्धान्तरकल्पनाय अत्राप्यपिशोपात् । नहि अगम्यद्वो  
 विशेषणीभावात् समवायस्य समवायिषु वृत्तिहेतु इत्युक्तं समवायनिषेधप्रवृत्ते ।

इदानीं व्यवहारनय दर्शयितुमाह-

व्यवहारीं विसवादी नयैः स्याद् दुर्नयोऽन्यथा ।

यद्विरथींस्ति विज्ञप्तिमात्रं शून्यमिनीदृशः ॥४२॥

(१) लोकोप्यवहारे । (२) समवायस्य । (३) प० २०७ । (४) अदुर्नयोऽन्यथा ।  
 रभूतात् य सम्बन्ध दृष्टप्रत्ययहेतु स समवाय । (प्र० भा० प० १४) इति चेत् तत्र (१)  
 समवायपरीक्षायाम् (प० २९७) । (२) समवायस्य । (३) समवायिषु । (४) एतत्त्वं । (५)  
 'तत्त्वं भावेन-यने० सू० ७ । २ । २८ । 'तस्माद् भावव-सुवचन इत्यत्र 'सुवचन' इति प०  
 ३२६ । (६) प० ३०३ । (७) व्याख्या- 'स्याद् भवेत् । क ? नर इति प० ३०३ ।  
 बहिरर्थोऽस्तीतीदृशः । इति चेत् प्रमाणमस्ति साध्यमाधनभावोऽस्तीति । इति चेत् तत्र  
 राविगं वी हेतुपदभावात् इत्यस्या व्यवहार तस्याविवक्षात् इति चेत् तत्र  
 १ वर्त्तेत नहि य०, वर्त्तेत नहि य० । २-प्रतीति-व०, व० । ३-प्रतीति-व०, व० ।  
 ४ चेद्ब्रह्म य० । ५-प्रतीति-व०, व० । ६-व्याप्ति-व०, व० । ७-व्याप्ति-व०, व० ।  
 ८-व्याप्ति-व०, व० । ९-व्याप्ति-व०, व० । १०-व्याप्ति-व०, व० ।  
 ११-व्याप्ति-व०, व० ।

निवृत्ति - प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्य व्यवहारपेक्षम् । स पुन' अर्थाभिधानप्रत्ययात्मकः । कथम् ? उपादविगमध्रौव्यलक्षण सत्, गुणपर्ययवद्द्रव्यम् जीवश्चैतन्यस्वभाव इति । श्रुते प्रमाणान्तरानाधन पूर्वापरानिरोधश्च अविसवादः । तदपेक्षोऽय नय, ततोऽन्यथा दुर्नय' । कथम् ? बहिरपि स्वैलक्षणमर्थक्रिया समर्थं सद् अगीकृत्य तत्प्रतिक्षेपेण विज्ञप्तिमात्रमन्तस्तत्तम् इति प्रत्ययस्थाप्य तदपि सूक्ष्मेक्षिकया निरीक्ष्यमाण न परीक्षाक्षममिति स्वभावेनैरात्म्यमसाध्यसाधनमाहुल प्रलंपन्न क्वचिद् व्यतिष्ठेत स्वपरिसमादव्यसनीयेन प्रत्यक्षादिनिरोधात् । तदन्यतमस्याभिमतं जातं पुनरल शेषप्रलापेन ।

हेतुफलभावादिव्ययस्था व्यवहार तदविसवादी नय' स्यात् ।

अन्यथा तद्विसवादाप्रकारण दुर्नय नयाभास स्यात् । अत्रो-  
त्पाहरणमाह- 'यत्ति' इत्यादि । 'यत्तिरर्थोऽस्ति' इति नयस्य  
उदाहरणम्, शेष दुर्नयस्य । यत्तिरर्थप्रहणमुपलक्षण तेन प्रमाणमस्ति कार्यकारणभा-

व्यवहारस्य हि मुनयत्वे तत्राश्रया हेतुफलभावादिसिद्धि स्यात् अथवा व्यवहारविभवादी दुर्नय स्यात् ।  
कीदृश ? विज्ञप्तिमात्रम विज्ञप्तिविधानमेव तत्त्व नायत् । मूलम् समस्तज्ञाननयोपप्लव एव तत्त्व  
मितीश । द्वितीया प्रकारवाची समाप्तमेव तत्त्व विधम एव तत्त्वमित्यादिप्रकारान मूचयति ।

-लघी० ता० प० ६१ । तुलना- बच्चद विणिच्छिदत्य व्यवहारो स तत्त्वेषु । -अनुयोगद्वार० ४ द्वा० ।  
आद० नि० गा० ७५६ । विज्ञप्ता० गा० २७०८ । लौकिकसम उपचारप्रायो विस्ततार्थो व्यवहार ।  
जाट् च-लोकोपचारनियत व्यवहार विम्बुनं विद्यात् । -तत्त्वार्थाभि० भा० १३५ । तत्त्वार्थाभि० हृदि०,  
तत्त्वार्थाभि० १३५ । 'सप्रहणयामितानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरण व्यवहार । -सर्थाभि० १३३ ।  
राजवा० १३३ । 'व्यवहारपरतन्त्रो व्यवहारनय इत्यय । -धवलाटी० । तत्त्वार्थाभि० पृ० २७१ ।  
नयविव० ७४ । प्रमेयक० पृ० ६७७ । समति० टी० प० ३१० । नयविव० गा० ३५ । तत्त्वार्थाभि० प० १०७ ।  
प्रमाणनय० ७ । २३ । स्या० म० पृ० ३११ । जनतर्कभा० प० २२ । (१२) कल्पनारोपितद्रव्यपर्याय  
प्रविभागभाक । प्रमाणवाधितोऽयस्तु तदाभासोऽवसीयताम् ॥ -तत्त्वार्थाभि० प० २७१ । नयविव०  
७६ । प्रमेयक० पृ० ६७८ । 'यायावता० टी० प० ८६ । प्रमाणनय० ७ । २५, २६ । जनतर्कभा० प० २४ ।

(१) तुलना- त्रय पदार्था अर्थाभिधानप्रत्ययभवात् -राजवा० पृ० १७ । (२) द्रष्टव्यम-  
प० ६०५ टि० ७ । (३) तुलना- गणानामासञ्चोत्थ एवदव्यवस्थिता गुणा । लक्षणं पञ्जवोण तु उभयो  
अस्मिन्मा भवे ॥ -उत्तरा० २८६ । दत्त्वं स लक्षणवियं उत्पन्नं व्ययव्यवसमजुत । गुणपञ्जयामय वा  
ज त भणनि सञ्चह ॥ -पञ्चासि० गा १० । गुणपर्ययवद् द्रव्यम -तत्त्वार्थाभि० ५ । ३८ । 'त  
परियाणह्नुत्तु तुद्वं ज गुणपञ्जयवुत्तु । सहभुव जाणहि ताह् गण कमभुव पञ्जज वुत्तु ॥ -परमात्मप्र०  
गा० ५७ । 'यायवि० लो० १११ । (४) तुलना- उवओपलक्षण जीव । -भयवतीसू० २ । १० ।  
उत्तरा० २८१० । उपयोगो लक्षणम् -तत्त्वार्थाभि० २ । ८ । (५) 'अर्थत्रियासमर्थं यत्तदत्र परमा  
पत्तन । -प्रमाणवा० २ । ३ । (६) विज्ञप्तिमात्रमेवेत्प्रमाणमस्ति । यथा तमिदिकृत्यासत्के  
धचत्तान्प्रमाणम् ॥ -विज्ञप्तिमात्रमेवेत्प्रमाणमस्ति ॥ श्लो० १ । (७) तुलना- अपि च बाह्यावधिज्ञानगूयवा  
दप्रयमितरेतद्विच्छेदमुपनिना मुगनेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसम्बद्धप्रलापित्व प्रद्वयो वा प्रजामु विरुद्धाय  
प्रतिपत्त्या विमूह्यपरिमा प्रजा इति । -गा० भा० २ । २ । ३२ ।

१ पूर्वापरविरोधश्च विसवाद ई० वि० । २ तदतिशय-ज० वि० । ३-रत्नं प्र-ई० वि० ।

वान्तिरिति इत्योऽपि सर्वा नय सगृहीतः । 'विज्ञप्तिमात्रं तत्त्वम्, अन्य तत्त्वम्' इतीहशो दुर्नय स्यात् ।

कारिका निवृण्वन्नाह—'प्रत्यक्षस्यापि' इत्यादि । न केवलमनुमानादे अपि तु प्रत्यक्षस्यापि ग्रामाण्य व्यवहारापेक्षम् । अतः "प्रमाणम्-विबुधिप्रामाण्यम्-निसादिज्ञानम् इत्यादि व्यवहारण, आज्ञातार्थप्रकाशो वा इत्यतस्तु परमार्थेन प्रमाणम्" [ ] इत्ययुक्तम्, व्यवहारव्यतिरिक्तस्य परमार्थ-स्याऽसभवात् । कुत एतन्त्याह—'स' इत्यादि । योऽनौ प्रामाण्येन अपेक्ष्यते स पुनः व्यवहार अर्थाभिधानप्रत्ययात्मकः, तद्व्यतिरिक्तस्तु अन्यो न कश्चित्त्वभयति य परमार्थ स्यान्तित्यभिप्रायः । अर्थाभिधानयोरर्थत्वेऽपि अत्र अर्थ-शब्देन विप्रभात तद्विषयो गृह्यते तैदमन्यनमापाये व्यवहारानुपपत्ते । स्वप्नेनोऽपि-शेषचोचनाया कुनो नानाविज्ञानमन्तानव्ययस्था विध्नमव्ययस्था अन्या वा स्यात् इत्युक्त बाह्यार्थसिद्धिप्रस्तावे । 'कथम्' इति परप्रश्नः । कथं केन प्रकारेण अर्थात्मनो व्यवहारस्य स्वरूपं स्थितमिति ? उत्तरमाह—'उत्पाद' इत्यादि । उत्पादवि-गमध्रौव्याणि लक्षण स्वरूपं यन्म तत्तथोक्तम् । किं तदित्याह—'सद्' विद्यमान घटादि प्रमेयम् । प्रसाधितश्च उत्पादविनाशात्मकत्वमर्वाणा साख्य प्रति प्रकृतिपरीक्षा-यार्थः । कथं बौद्ध प्रति ध्रौव्यं सिद्धमित्याह—'गुण' इत्यादि । संहभुवो गुणाः सुखज्ञानवीर्यान्वय, क्रमभुव पर्यायाः सुखदुःखद्वय, तद्वद्द्रव्यम् । इदञ्च प्रमद्व-साधनं मौगत प्रत्येन व्याख्येयम्—सहभाविनानाधर्मात्मक चित्तमन्यद्वा चेन्नीकियते, क्रमभावनैरधर्मात्मकमप्यङ्गीकृतव्ययम् । नो चेत्, युगपत्पि तर्त्तवा नाङ्गीकृतव्यय-विशेषात् । नैयायिक प्रति पुनरेवम्—इच्छादिगुणसमवायित्वं चेत् कस्यचित्पिर्त्येतेऽप-

(१) तुलना— तदा यदुक्तं प्रमाणमविसर्वादिनामित्यादि व्यवहारण प्रमाणलक्षणमुक्तम् अजातार्थप्रकाशा वा इति परमार्थेन, प्रमाणात्तरेणानातस्य अद्वयप्रतिभाभाषस्य आत्यन्तिकात् एवमभिधानात् ।—सिद्धिदि० टी० पृ० ९ B । 'साध्यवहारिकस्येदं प्रमाणस्य लक्षणं प्रमाणमविसर्वादिना नमिति ।—तत्त्वसं० पृ० ७७४ । (२) प्रमाणविषय अभिधानप्रत्ययविषयो वा । (३) अर्थाभिधानप्रत्ययपु एवत्याप्यभावे । (४) योगाचारा माध्यमिवाश्च अर्थं स्वप्नवत मिथ्यारूप वासना कल्पितमवन्ते तथा चोक्तम्— फनपिण्डोपम रूप वेत्ना बुद्बुदोपमा । मरीचिन्मत्स्यो मत्ता मस्कारा बदलीनिभा । मायापमञ्च विनाममूकनमादित्यवधुना ।—भा० ध० पृ० ४१ । मायास्वप्नेद्रजा लमदुगा द्रष्टव्या—नरात्मवप० पृ० १८ । यावदुक्तं पृ० १३२ टि० ४ । तान प्रयाह—स्वप्नेनाविषयव्याप्तिः । (५) पृ० ११९ । (६) पृ० ३५४ । (७) तुलना— अवयिनो गुणा, व्यतिरेकिण पर्याया—सर्वावसि० पृ० ५१३८ । गुणपययत्तद्व्य त सहक्रमवृत्तय ।—न्यायवि० श्लो० १११ टि० पृ० १६१ । 'सहभुवो हि गुणा—घबलाटी० पृ० १७४ । (८) चित्तं नानाधर्मित्ययम् । (९) आमन ।

१—दि सर्वो आ०, थ० । २ सह हि इ—थ० । ३—हारायांभि—आ० । ४ तद्विषयवोय थ० । ५ स्वप्ने-विशेषचोद-थ० स्वप्नेनाविषयवोव-आ० । ६ कुला ज्ञानाविना-आ० । ७—वस्यामव्यवस्था अया थ० । ८ सहमुखो गु-थ० । ९ प्रसाधन थ० । १०—प्यते परा-व० ।

रापरपर्यायात्मकत्वमेष्टव्यम् । नो चेत्, तत्सामग्रायित्वञ्च स्यात् । ततो यत् एव गुण-  
 पर्यायत्रयव्य तैत् एव उत्पादनिगमत्रौ यल्लक्षण सदिति । केनत्प्रतिपद्यते ? इति  
 चेदत्राह—‘जीव’ इति । जीव आत्मा उत्पादात्स्वरूप सन् घटादिप्रमेय ‘प्रतिपद्यते’  
 इत्यध्याहार । तस्य अनादिनिधनत्वभावतया तत्प्रतिपत्तौ मामर्ध्वमभवात् । प्रमा-  
 5 धिश्चात्मा तत्त्वान्तरम् अनादिनिधनत्वभावात् च चार्वाकमतपरीत्याया सन्ताननिषेधाव-  
 सैर च । ननु यन्नि सत्सामग्रेण शैमौ तैत्प्रतिपद्यते तदाऽतिप्रसङ्ग । अथ प्रत्य-  
 क्षान्तिना, तैत्ता[ऽ]शक्तिरिति चेत्त्राह—‘चैतन्यस्वभाव’ इति । चैतन्यस्वभाव’ स्वपर-  
 ग्रहणस्वरूप इति हेतोः प्रत्यक्षान्तिपर्यायपरिणत सैन् तैत्प्रतिपद्यते । तथा च उत्पा-  
 दात्मात्मकार्थलक्षणोऽर्थात्मको व्यवहार सिद्ध, तत्प्रतिपत्तिलक्षण प्रत्ययात्मक, तत्प्र-  
 10 रूपकशब्दलक्षण शब्दात्मक इति ।

अथ शब्दात्मके व्यवहार को निसवाद् ? इत्याह—‘श्रुतेः’ इत्यादि । श्रुते  
 अभिधानस्य प्रमाणान्तरेण प्रत्यक्षान्तिनाऽनाधनम् अत्रिसवाद् । कथमत्यन्तपरोक्षेऽर्थे  
 तैत्प्रिसवाद् प्रमाणातरानाधनस्य अन्यस्य वा प्रहीतुमशक्यत्वात्तित्यत्राह—‘पूर्व’  
 इत्यादि । पूर्व’ यद्वाक्य यच्च अपर तयोर्पिरोधश्च अत्रिसवाद्, न केवल प्रमाणान्त-  
 15 रावाधनमेव, अस्ति चाय स्याद्वात्ताञ्छितागमस्य । अतो “न हि स्यात् तत्र (तथा) भूतानि”  
 [ ] ‘यज्ञार्थं पशु सृण स्वयमेव स्वयम्भुवौ’ [ मनुस्म० ५।३९ ] इत्यागमस्य

‘गंगाद्वारे कुशावर्त निरुके नीलपरित ।

स्नात्वा वनगन्ते तीर्थ सम्भवेव पुनर्भव ॥” [ ]

‘दुष्टम तगत चित्त तीर्थस्नानात् शुद्धमिति ।

शतशोऽपि तलेर्षीत सुराभावरडमिनाशुचि ॥ ’ [ जाबाल० ४।५४ । ]

इत्यागागमस्य च नाविसवाद् पूवापरत्रिरोर्धसद्भानात् इत्युक्त भवति ।  
 एव व्यवहार प्रदर्श्य तदाश्रय नय प्रदर्शयन्नाह—‘तदपेक्ष’ इत्यादि । तस्मिन्

(१) पृ० ३४३ । (२) पृ० ९ । (३) आत्मा । (४) उत्पादात्स्वरूप प्रमेयम् । (५)  
 मुमुक्षाद्यवस्थास्वपि प्रमेयबोधप्रसङ्ग । (६) यन्नि प्रत्यक्षान्तिद्वारेण जानानि तदा स्वयमात्मन प्रमेय  
 बोधशक्ति प्राप्ता अत आह चतयस्वभाव इति । श्रुतिताया पू० प्रनावपि तदाशक्ति इत्येव पाठ ।  
 (७) आत्मा । (८) प्रमेयम् । (९) श्रुतेरविसवात् । (१०) अपक्रियास्थितिरूपस्य वाऽविसवा  
 दस्य । (११) ‘यस्य (एव) भूय सवस्य तस्माद्यने वधोवध । इयुत्तराधम । उद्धृतोऽयम-  
 यत् ३० पृ० ९१, ३५७ । (१२) उद्धृतावधो-प्रमाणवातिकाल० परि० ४ पृ० १४० । चित्तमन्तगत  
 दुष्टं तीर्थस्नानं -जाबाल० । (१३) न हि स्यात् इत्यादिवाविधान यज्ञे पशवधन विरुध्यते गंगा  
 रान्तिनापस्नानविधानञ्च तीर्थस्नानात् शुद्धमिति इति तापस्नानस्य निरवयवत्वप्रतिपादनन विरुध्यते ।

१-वायित्व स्यात् श्र०-वायित्व तस्यैव व० । २-पययव-व० । ३ अत एव श्र० व० । ४ वस्त  
 त्र प्र-आ० । ५ स घटा-आ० । ६-पद्यते आ० । ७-भावत्कार्य-आ० । ८ ननु च यदि श्र० । ९ सत्तान  
 मात्रेण श्र० । १० चतय स्वभाव इति नास्ति आ० । ११-ति घत-प्रत्यय स्वभाव इति घत-प्रत्यय स्वभाव स्वपर  
 -श्र० । १२ वस्त-प्र-आ० । १३ १९ शतशोऽपि १४ तिलं श्र० । १५ एवर्षीयित्वात् व० श्र० ।

व्यवहारे अपेक्षा यस्यासौ तदपेक्षोऽय लोकसिद्धो व्यवहारस्यो नयः । ततोऽन्यथा तन्पेक्षामावप्रकारेण दुर्नयः । ननु तदपेक्षं एव दुर्नय अप्रमाणभूलस्य व्यवहारस्यावलम्बनात्, न ततोऽन्यो<sup>१</sup> निरशक्षणिकपरमार्थाश्रयणात् । एतदेवाह—‘कथम्’ इति । न कथञ्चित् ‘ततोऽन्यथा दुर्नयः’ इति सम्बन्ध । अत्रोत्तरमाह—‘बहिरपि’ इत्यादि । न केवलमन्त किन्तु बहिरपि स्वलक्षण क्षणिकनिरशपरमाणुलक्षणम् अर्थत्रियासमर्थं यत् तत् मद् दिद्यमानम् अङ्गीकृत्य पुन तस्य स्वलक्षणस्य प्रतिक्षेपेण निरासेन ‘विज्ञप्तिमात्रमन्तस्तच्च नात्मादिकम्’ इति एव प्रत्यवस्थाप्य पुनरस्थाप्य तदपि विज्ञप्तिमात्रमपि सूक्ष्मेक्षिकया निरीक्ष्यमाण पर्यालोच्यमान नित्यान्वित्र परीक्षा क्षमते इति एव स्वभावनैरात्म्य नि स्वभावत्वम्, कथम्भूतम् ? असाध्यसाधन माध्यमावनविकलम् आकुल यथा भवति तथा प्रलपन् सौगतो न क्वचिद् अन्तर्बहि सकलशून्यताया वा व्यवतिष्ठेत यत् ‘तदपेक्ष एव दुर्नयः’ इत्युक्त शोभेत । ननु विमुच्यते स्वभावनैरात्म्यमसाध्यसाधनम् यान्तत्र साधन विचार एव इति चेदत्राह—‘स्वपर’ इत्यादि । स्वः सौगत परो नैयायिकात् तयो विसमाद, तत्त्वाप्रतिपत्ति व्यसन समारसरित्पात्तार्ति ते<sup>२</sup> अधिकृत्य कृतेन पुनः पश्चाद् अल पर्याप्त शेषप्रलापेन अमम्यद्वाभिधानेन । कुत एतन्वित्याह प्रत्यक्षादिविरोधात्, प्रत्यक्षमादिर्थस्य अनुमान-लोकप्रसिद्ध्यादे तत्तथोक्त तेन तस्य वा विरोधात् । अथ प्रत्यक्षादेरनभ्युपगमात् दोषोऽयमत्राह—‘तद्’ इत्यादि । तेषा प्रत्यक्षादीना मध्ये अन्यतमस्य अभिमतत्वाद् अङ्गीकृतत्वात् सौगतै, कुतोऽन्यैवा तेषा स्वपराभिमतमाधनदूषणमित्यभिप्राय ?

एव व्यवहारनय साभास प्रतिपाद्य इदानीं ऋजुसूत्रनय साभास दर्शयन्नाह—

**ऋजुसूत्रस्य पर्यायः प्रधान चित्रमविदः ।**

**चेननाणुसमुहत्वात् स्याद्भेदानुपलक्षणम् ॥ ४३ ॥**

(१) मीगन । (२) प्रमाणाप्रसिद्धकल्पित लोकव्यवहारपक्षी । (३) असमन्भिमत प्रमाणसिद्धक्षणि कायविणी । (४) विषवादव्यसने । (५) प्रत्यक्षाद्यस्वीकारे । (६) सौगतात्मा । (७) व्याख्या—‘ऋजु पत्रमानपमायलक्षणं प्रगुण सूत्रमिति निरूपयतीति ऋजुसूत्रस्य प्रधान विषय स्याद भवत । क ? पर्याय वतमानविवर्त । अतीनस्य विनष्टत्वेन भविष्यतश्चासिद्धत्वेन व्यवहारानुपयोगात् व्यवहारादविवक्षणी नय इति वचनात् । ननु चित्रानामेकमनकाकार व्यवहारोपयोगि स्मार्ति चेन्नाह—‘चित्रे याति’, चित्रा सविन् जानं तस्या चेतनाणुसमुहत्वात्, चेनना पान तस्याणव अंशा अविभागप्रतिच्छन्नास्तेषा समूह समुदाय तत्त्वात् । चित्रसविन् ऋजुसूत्रनयस्य विषय । न सल्लु समुदाय नीलपीतानिानारूप प्रतिनि यतव्यवहारोपयोगीति । नवेव तत्र भद किमिति नापलक्ष्यत इति चेदत्राह—‘भेदानुपलक्षणानि । सद्गुणपरापरोत्पत्तिविप्रलम्भानि यध्याहार । ततो भदस्य नानात्वस्यानुपलक्षणमन्तर्गनं सद्गुणपराप

१ मय्य तदपे—प्र० । २ तदपेक्षणं च दु—व०, तदपेक्ष एव दु—आ० । ३ मय्यत प्र० । ४ स वि—आ० । ५ क्षायं क्षय—व० । ६ मसिद्धसाधन व० । ७ यावतातत्र व०, थ० । ८ तार्ति न आ० । ९ तस्य चाविरो—व०, तस्य विरो—आ० । १० प्रतिपाद्येदानीं ऋजुसूत्रस्य नयस्य तदभि—आ०, व० ।

निवृत्ति.—यथा वहि' परमाणव सन्निविष्टा स्थवीयासमेवैकमाकारमभूत्  
दर्शयन्ति तथैव सन्तिपरमाणवोऽपि । तन्नैकमनेकरूप तत्त्वमक्रमम्, यत् सक्रम  
माधयेत् भेदस्य अभेदनिरोधात् । क्वचिद्ज्ञानात्वमेव अन्यथा न स्यात् । सापेक्षो  
नय । निरपेक्षो दुर्नयः । प्रतिभासभेदात् स्वभावभेद व्यवस्थापयन् तदभेदादभेद  
प्रतिचुमर्हत्येव विशेषाभावात् । तदन्यतराभावे अर्थस्यानुपलब्धे ।

ऋजुसूत्रस्य नयस्य तन्भिप्रायगतो वा पर्यायः प्रभेत् प्रधानम्, प्रधान-

वारिकाथ -

शब्दस्य सम्बन्धिशब्दत्वात् द्रव्य तस्य अप्रधानम् । ननु तस्यापि  
चित्रैना सन्निदन्ति तत्कथ पर्याय प्रधानमित्याह—चित्रसंविद'

चेतनाणुसमूहत्वात् 'नैका चित्रा सन्निस्ति' इति भावः । अथ मतम्—पर्यायत्वे-  
ऽर्थोऽस्वैयैयोपलक्षणं स्यादत प्रतिममय भेदानुमानमनर्थकमित्यत्राह—'स्यात्' इत्यादि ।  
स्याद् भवेद् भेदस्य नानात्वस्य अनुपलक्षणम् अनिश्चयन सन्शापरापरो-  
त्यत्तिविप्रलम्भात् मायागोलन्यन्ति ।

वारिना निवृण्णत्राह—'यथा' इत्यादि । यथा येन दूरस्थितविरलवेशनिदर्शनप्रद-

शैलप्रकारेण वहि परमाणव जडपरमाणव सन्निविष्टा' रचनाविशेषेण  
व्यवस्थिता स्थवीयासमेव न सूक्ष्मम्, एकमेव नानैकम् आकारम्

निवृत्ति-यात्यातम्—

रोत्यत्वा विप्रलम्बवृद्धि स्यान्नि याम्थायत । जयमथ—मयाऽयोगोल्कानौ पयायभने विद्यमानो पि  
विप्रलम्बवृद्धिना न निश्चीयते तथा चित्रमविद्यपि तन्मभ्या वसत्रपि गोपलभ्यत इति । अथवा स्यात्  
क्वचिन्व द्रव्याविनाभावपर्याय ऋजुसूत्रस्य प्रधानम् मद्यथा द्रव्यनिरपेक्षस्य पर्यायस्यावस्तुवात् ।  
निरवयवश्च क्षणिकवान्त ऋजुसूत्रमासा र्थन व्याप्ययम् । —लघी० ता० पु० ६२। तुङ्गा—'पञ्चमुपपन्न  
गगाही उज्जुमुओ गयविही मुणप्रव्यो । —अनुभोगद्वार० ४ द्वा० । आब० ति० गा० ७५७ । विनोपा०  
गा० २७१८ । सता साम्प्रानामर्थात्तर्माभधानपरिनातमृजुसूत्र । —आह्व—साम्प्रतविषयप्राह्वमजु  
सूत्रनय समासना विद्यात । —तत्त्वाधार्थि० भा० १।३५ । तत्त्वाचहृरि०, तत्त्वाचसिद्ध० १।३५ ।  
ऋजु प्रगुण सूत्रपति तत्रयत इति ऋजुसूत्र । —सर्वायसि० १।३३ । घबलाटी० पु० ८६ ।  
सूत्रपातव' ऋजुसूत्र । —राजवा० १।३३ । ऋजु प्रगुण सूत्रपति नयत इति ऋजुसूत्र । सूत्रपातवद  
ऋजुसूत्र इति । —नयचक्रव० प० ३५४ B । ऋजुसूत्र क्षणव्यसि वस्तुसत्सूत्रयत्जु । प्राधा'यन  
गुणीभावात् द्रव्यस्यानपणान सा । —तत्त्वायश्लो० पु० २७१ । नयसि० ७७ । प्रमेयक० पु० ६७८ ।  
सामति० टी० पु० ३११ । नयचक्रगा० ८ । तत्त्वायसार प० १०७ । प्रमाणनय० ७।२८ । स्या०म०  
प० ३१२ । जनतकभा० पु० २२ ।

(१) परिभमेति गच्छतीति पर्यायः । —घबलाटी० पु० ८४ । (२) चित्रसंविद । (३)

भन्रूपेणव । (४) तुङ्गा— समानज्वालामभूतयथा दीपेन विभ्रम । नरन्तयस्थितानेकसूक्ष्मवित्तो  
तथवथा ॥ यथा हि दीपादौ नरन्तयेण सन्शापरापरवालापत्तायसमवात् सत्यपि भेद एकत्वविभ्रमो  
भवति तथा नरन्तयेणानेकसूक्ष्मतरपत्तायसवदनतोऽयमभेदत्वविभ्रम । —तवस० प० पु० १९७ ।  
यन्तुनश्चोक्त प्रनाकरगुप्तेन—अतयाक्षिप्यान्त्याविषयसिद्धि दूरस्थितविरलकेणानु अतन्तमसु  
तथाविधापास्तस्या दानान । —सिद्धिबि० टी० प० १०० B ।

१—मित्यत्राह व० ३० । २—सवेदन थ० । ३—गोलव—आ०—गोलान्त्य—व० । ४—निदगन  
प्रकारे दानपरमाणव भा० । ५ स्वकीयांगमेव व० थ० ।





विद्यति'—कालभेदात्तानद् अभूत भवति भविष्यति इति । कारकभेदात् करोति क्रियते इत्यादि । लिङ्गभेदात् देनदत्तो देवदत्ता इति । तथा पर्यायभेदात् इन्द्र शक्र' पुरन्दर इति । तथैतौ शब्दसमभिरूढौ । क्रियात्रय एवम्भूत । कुर्वत एव शारकम् । यदा न करोति तदा कर्तृत्वस्यायोगात् । तत्कथ पुन' शब्दज्ञान विवक्षाव्यतिरिक्त वस्तु प्रत्येति ? कथं च न ? तदप्रतिबन्धात्, 'नहि युद्धेकारण निपय.' इत्येतत् प्रतिव्यूढ निबानस्य अनागतत्रिपयत्वनिर्णयेन ।

सर्वावसि० १।३३। शपत्यर्थमाह्वयति प्रत्यायनीति शप् । '—राजवा० १।३३। 'गच्छन्तो'यग्रहण प्रवण शन्नय लिङ्गसत्याकारकपुरुषोपग्रह्यभिचारनिवृत्तिपरत्वात् । —धवलाटी० पृ० ८६। 'काला दिभन्तो'यस्य भव य प्रतिपादयत । साज्ञ गच्छन्तः गच्छप्रधानत्वादुदाहृत । —तत्त्वायदलौ० पृ० २७२। नयविव० ८४। प्रमेयक० पृ० ६७८। समति० टी० पृ० ३१२। नयचक्र गा० ४०। तत्त्वायसार प० १०७। कालादिभ्येन ध्वनरयभ्यं प्रतिपद्यमान गच्छ । यथा वभूव भवति भविष्यति सुमस्तित्यादि । —प्रमाणनय० ७।३२ ३३। स्या० म० प० ३१३। जनतर्कभा० प० २२।

(१) तुलना—'वभूत्वा सक्रमण होइ अवत्युतए समभिरूढ । —अनुयोगद्वारा० ४ द्वा० । आव० नि० गा० ७५८। सत्त्वर्थेष्वसद्वचन समभिरूढ । —तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५। तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वायसिद्ध० १।३५। 'ज ज सण्णं भासइ त त चिम समभिराहुए जग्हा । सण्णतरत्यविमूहो तओ तओ समभिरूढोति ॥ —विशया० गा० २७२७। नानायसमभिरोहणान् समभिरूढ । अथवा यो यत्राभिरूढ स तत्र समेत्याभिमुख्यनारोहणान् समभिरूढ । —राजवा० १।३३। धवलाटी० पृ० ८९। समभिरूढ एव मत्वकीभावन आभिमुख्य एक एव रूपादिरथ एवेति या नानानां (?) समभिरूढ । नयचक्रव० प० ४८३। B पर्यायगच्छन्तं भिन्नाधस्याविरोहणात् । नय समभिरूढ स्यात्पूर्व वच्चास्य निदचय । —तत्त्वाय तो० पृ० २७३। नयविव० ९२। प्रमेयक० पृ० ६८०। समति० टी० प० ३१२। नयचक्रगा० ४१। तत्त्वायसार प० १०७। प्रमाणनय० ७।३६। स्या० म० प० ३१४। जनतर्कभा० प० २२। (२) तुलना— वज्रण अत्यनदुभय एवभूओ विसमेइ । '—अनुयोगद्वारा० ४ द्वा० । आव० नि० गा० ७५८। व्यञ्जनाद्ययीरेवभूत । —तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५। तत्त्वार्थहरि० तत्त्वायसिद्ध० १।३५। यनात्मनो भूतस्तेनवाध्यवसाययनि इत्यवभूत । अथवा येनात्मना यन ज्ञानन भूत परिणय तनवाध्यवसाययनि । —सर्वावसि० १।३३। राजवा० १।३३। वज्रणमत्यणत्य च वज्रणमोभय विमेमइ । जहू धटसइ वेण्ठावया तथा त पि तेणव । —विशया० गा० २७४३। "एव भन्ते भवनावेवभूत । न पदाना समानो स्ति भिन्नकालवतिना भिन्नाधवतिनाञ्चकत्वविरोधात् । न परस्परव्यपे ताव्यस्ति वर्णाधसख्याकालादिभिभिज्ञाना पाना भिन्नप्रापेणयोगात् ततो न नावयमव्य स्तीति सिद्धम । तत पन्मेकमेकाधस्य वाचकमित्यध्यवसाय एवम्भूतनय । —धवलाटी० पृ० ९०। एव भवनावेवभूत अस्मिन्नय न पाना समानोऽस्ति स्वरूपन कालभन्ते च भिन्नानामेकत्वविरोधात् । न पानामेककालवृत्ति समास त्रयोत्पन्नानां क्षणक्षयिणा तदनुपपत्ते । नकार्ये वृत्ति समास भिन्नपदा नामेकार्ये वृत्त्यनुपपत्ते । न वर्णममामाव्यस्ति तत्रापि पन्समासोक्तनोपप्रसङ्गात् । तत एक एव वर्ण एकार्यवाचक इति पन्गतवर्णमात्राद्य एकाध इत्यवभूताभिप्रायवात् एवम्भूतनय । —जयप० प० २९। तत्त्व्यापरिणामोऽप्यस्यधेनि विनिश्चयात् । एवम्भूतेन नीयत क्रियान्तरपरामुल । —तत्त्वायदलौ० पृ० २७४। नयविव० ९४। प्रमेयक० पृ० ६८०। समति० टी० पृ० ३१४। नयचक्र गा० ४३। तत्त्वायसार प० १०७। प्रमाणनय० ७।४०। स्या० म० पृ० ३१५। जनतर्कभा० पृ० २३।

कालादीना भेदात् शब्दः शब्दनय अर्थस्य जीवादे भेद करोति प्रतिपा-  
दयति इति तद्भेदकृत् । अभिरूढनयः पुन पर्यायैः पर्यायशब्दै  
कारिका -  
अर्थभेदकृत् । इत्यम्भूतः क्रियाशब्दभेदात् अर्थभेदकृत् इति ।

कारिका निवृण्णत्राह 'काल' इत्यादि । तावच्छब्दः प्रमवाची, कालभेदात्  
कालविशेषाद् अर्थभेदस्तावदुदाह्रियते-अभूत् अतीतकालसम्बन्धनु- ६  
निवृत्तिव्याख्यानम्-

भगदिपर्यायात्मना जीवादि, भवति वर्तमानकालसम्बन्धस्मरणान्ति-  
पर्यायरूपेण जायते । हेतुहेतुमद्भावश्चात्र द्रष्टव्य -यस्माद् भवति तस्माद् अभूत्, परि-  
णाम्युपात्तानकारणमन्तरेण 'भवति' इत्यस्यायोगात् । भविष्यति अनागतपर्यायस्वभा-  
वेन उत्पत्स्यते, अत्रापि यस्माद् भवति तस्माद् भविष्यति अन्यथाभवतोऽभाव कार्या-  
भावात् इति मन्यते । इतिशब्द कालभेदाद् भावभेदपश्चममाप्त्यर्थ । कारकभेदादर्थ- 10  
मुत्पादार्त्तुमाह-'कारक' इत्यादि । कारकाणां कार्यानां भेदात् 'शब्दोऽर्थभेदकृत्' इति  
सम्बन्ध । अत्रोत्तरणम् 'करोति' इत्यादि । यदा हि देवदत्त स्वतन्त्रो विवक्षितो  
घटादिकार्यं तदा 'करोति घट देवदत्त' इति भवति । यदा तु स एव अन्योपकार्य-  
त्वेन प्रियस्यते तदा 'क्रियते देवदत्त' इति । आदिशब्दात् 'देवदत्ते निवेहि, देवद-  
त्तादपर' इत्यादि पट्टारकीपरिग्रह । तथा लिङ्गभेदात् शब्दोऽर्थभेदकृत् यथा 15  
'देवदत्तो देवदत्ता' इति ।

यथा शब्द कालादिभेदाद् अर्थभेदकृत् तथा अभिरूढ पर्यायभेदात् 'इन्द्रः,  
शक्रः, पुरन्दर' इति । तथा प्रागुक्तप्रकारणैव एतौ अनन्तरोक्तौ शब्दसमभिरूढौ कथितौ ।

इत्यम्भूत कीदृश ? इत्याह क्रियार्थयः एवम्भूत इति । ननु च इत्यम्भूत-  
स्वरूपप्ररूपणे प्रस्तुते एवम्भूताभिधाने हि केन सङ्गतम् ? इत्यसत्, यस्मात् इत्यम्भू- 20  
तस्यैव इदम् 'एवम्भूत' इति नामान्तरम् । यस्मादसौ क्रियाश्रय इत्याह कुर्वत एव कार-  
कत्वयत् इति । एतदपि कुत इत्याह 'यदा' इत्यादि । यदा यस्मिन् काले न करोति  
कार्यम् इत्यादि शचीपति तदा कर्तृत्वायोगात् न इन्द्रादिव्यपदेश स्यात् । अत्राह  
सौगत -त्रयोऽप्येते नया शब्दतोऽर्थ प्रतिपद्यन्ते अत कालान्तिभेदादर्थभेद प्रतिपत्त-  
मान तत्र शब्दज्ञानम् कथ पुनर्विवक्षाव्यतिरिक्त वस्तु म्वलक्षण प्रत्येति ? तमाचार्य 25  
पृच्छति, कथञ्च न 'प्रत्येति' इति सम्बन्ध । स उत्तरमाह तदप्रतिबन्धात् तेन  
वस्तुनाऽप्रतिबन्धात्, तदात्म्यतदुत्पत्तिप्रतिबन्धाभावात् शब्दज्ञानस्य इति सम्बन्ध ।  
तन्भावेऽपि' तत्रै तत्प्रत्येति इति चेदत्राह-'नहि' इत्यादि । नहि नेव बुद्धे शब्दज-

(१) सौगत । (२) तावत्प्रत्येतिप्रतिबन्धभावावपि । (३) शब्दज्ञानम् ।

1 क्रमभावी का-व० । 2-सम्बन्धानुभ-आ० । 3-दि भय-आ० । 4-वतो भाव व०, थ० ।  
5 इति यथा च आदिशब्दात् आ० व० । 6-भवानन्तरो-थ० । 7-श्रय इत्येवम्भू-आ० । 8-एवप्रस्त-  
थ० । 9-माह तेन वस्तुना आ० । 10 तच्छब्द-थ० । 11-वि तत्प्र-आ० ।

निताया यदकारण म्वलक्षणरूपं तस्तु तत्तस्या विषयः । 'ताननुक्ता म्यव्यतिग्य कार-  
णम्, नाकारण विषयः' [ ] इत्यभिधानात् । इति शब्द पूर्वपक्षपरि-  
समाप्ते । अत्र दूषणमाह- 'एतद्' इत्यादि । एतत् परलोक्त प्रतिच्युदम् निरस्तम् ।  
केन इत्याह- विज्ञानस्य अनागतविषयत्वनिर्णयन, प्रतिपान्तिश्राम्य अनागतविषय-  
त्वनिर्णय 'भविष्यत् प्रतिपद्येत्' [ लघी० वा० १४ ] इत्यादिना ।

ननु शब्दा मद्भेदितमेवार्थं प्राहु नायम् अतिप्रमङ्गात् । मद्भेदश्च न अवि-  
षयीकृताना शब्दार्थाना युक्तं, तत्रविषयताप्राप्ते । तद्विषयीकरणञ्च नाध्ययेण, शब्दा-  
ध्यक्षस्य अभिधेये तदध्यक्षस्य वाऽभिधाने अप्रवृत्ते । नापि स्मृत्या, तस्या निविषय-  
यत्वात् इत्याशङ्क्याह-

10 अक्षयुद्धिरतीनार्यं वेत्ति चेन्न कुत स्मृतिः ।

प्रतिभासभिदैकार्यं दूरासन्नाक्षयुद्धियत् ॥ ४० ॥

प्रवृत्ति-क्षणिकाक्षाननेययो कार्यकारणान्नियमे निर्विषय प्रत्यक्षम् त कार-  
णस्य अतीतस्य तदनात्मकत्वात् । प्रागभावप्रधत्ताभावयो ममनन्तरेतरविनाश-  
योश्च अभावाऽविशेषात्, तदुत्पत्तिसारूप्ययो असभनात् व्यभिचाराच्च किं कस्य  
15 नानमित्युक्तम् । यदि पुन अतीतमथ प्रत्यक्ष कथंचिद्वेत्ति, स्मृतिः कथं न  
सन्निधात् ? साक्षादतदुत्पत्तेरतादृश्याच्च इति वेयात्यम्, व्यवहितोत्पत्तावपि तदुत्पा-  
नुकृतेर्दर्शनात् दृष्टार्थस्वमत् । प्रत्यक्षस्मृत्योः प्रतिभामभेदात् नैकार्थत्वमनैका-  
न्तिकम्, दूरासन्नैकार्यप्रत्यक्षयो भिन्नप्रतिभासयोरपि तदेकार्यविषयत्वात् ।

(१) वृद्धे । (२) उद्वृत्तमित्यम्-आप्तप० प० ४२ । सिद्धिवि० टी० पृ० ३०६ A ।  
सामति० टी० प० ५१० । स्वा० प० १०८८ । प० ३७ । प्रमाणमी० प० ३४ ।  
शास्त्रवा० यशो० प० १५१ A । नाकारण विषय-अनेकान्तजय० पृ० २०७ । धर्मस० पृ० १७६  
B । बोधिवर्ण० प० ३९८ । तत्वाय० लो० प० २१९ । प्रमेयक० प० ३५५ ५०२ । स्वा० प०  
प० ७६९ । याववि० वि० प० १९ B । स्वा० म० पृ० २०६ । (३) धावणप्रत्यक्षस्य । (४)  
अभिधेयार्थप्राहिषानुपानिप्रत्यक्षस्य । (५) 'अप्रजनिता बुद्धिर्गान्मतीताय स्वकारणभूत शब्द-  
वाच्यञ्च वेत्ति वेत्ति जानाति । सौगते मने हि विषयस्य पानकारणत्वात् कारणञ्च वाय एणात्  
पूर्वक्षणवर्तीत्यव्यने । तदा कुत कारणान् स्मृतिरपि अतीताय न वेत्ति अपि तु वेत्तेवेत्यय । नच  
स्मृते कथं प्रामाण्यं गहीनप्राहित्वात्प्राप्त्याह-प्रतीत्याम् । एकोऽभिप्रोऽनीतत्वाविषयान् साधारणा धीं  
विषयं ध्यात्वात्प्रत्यक्षस्मिन्मपि स्मृतिः प्रमाणमिति नपि । कुत ? प्रतिपत्तिप्रति  
प्रतिभासस्य  
अतीताकारणरामस्य भिन्न भस्त्वया । प्रत्यक्षेण हि ह्यमिति यन्नुभूयते तत्रेव कालान्तरे पुनस्तदित्य  
तीनाकारणतया स्मृत्या विषयीक्रियते इति । अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह-दूरेत्यादि । दूरत्वासावासप्रत्य  
दूरासन्नस्मिन्नर्थे पाण्डित्ये अशब्दवित । यथा प्रत्यक्षज्ञानाना स्पष्टास्पष्टप्रतिभासमेणात् प्रामाण्यं  
तथा स्मृतेरपीयय । -लघी० ता० पृ० ६५ । (६) तु-ना-वागम्यमविषयमविषयगोचरत्वेऽपि युज्यते ।  
प्रतिभामभिनो दूरासन्नकार्यप्रत्यक्षेण-सिद्धिवि० टी० प० ४७० A ।

दूराक्षार्थज्ञान भ्रान्तेरप्रत्यक्षम्, प्रमाणान्तर स्यात् । नहि ततोऽर्थं परिच्छिद्य प्रवृत्तौ 'विसर्वादिकान्तः तदप्रमाण यतः स्यात् । तदयं शब्दाद्यौ स्मृत्या संङ्कलय्य सङ्केते पुनः शब्दप्रतिपत्तौ तदर्थं प्रत्येति स्मृतिप्रत्यभिज्ञानादेरपि परमार्थ- विषयत्वात् । तदर्थाभावेऽपि प्रत्यक्षत्वं शब्दार्थज्ञान वस्तुन्यपि सङ्केतसभवात् ।

अक्षाणा चक्षुरादीना कार्यभूता बुद्धिः अतीतार्थं वेत्ति विषयीकरोति ५

चेद् यदि न कुतः कारणात् स्मृतिः, अतीतार्थं वेत्ति ? किन्तु कारिकायाप्रत्यानम्- वेत्ति एव । अथैव सति अवबुद्धिस्मृत्योरभिन्न प्रतिभास स्यात्

अभिन्नविषयत्वात् 'नीलाक्षबुद्धिद्वयजद् इत्युच्यते, तत्राह—'प्रतिभास' इत्यादि । अथबुद्धिस्मृत्यो एकार्थं एवार्थत्वे मत्पि भावप्रधानोऽयं निर्देश । स्मृति प्रतिभा- सभिदा अस्पष्टप्रतिभासात् ईतरप्रतिभासनिशेष (पे) णार्थं 'वेत्ति' इति सम्बन्ध । अत्र 10 दृष्टान्तमाह—'दूरासन्न' इत्यादि । सुप्रसिद्धो हि दूरासत्रावबुद्धीना विषयभावेऽपि स्पष्टतररूप प्रतिभासभेत् पान्पस्यैकस्यैव तर्थाप्रतिभासनात् ।

कारिका व्याख्यातुमाह—'क्षणिक' इत्यादि । क्षणिकौ च तो अक्षज्ञानज्ञेयौ

च तयोर्थथारम्भ कार्यकारणत्वनियमे अभ्युपगम्यमाने निर्दिष्य निरालम्बन प्रत्यक्ष स्यात् । कुत णत्तित्याह—'तद्' इत्यादि । तस्य 15 प्रत्यक्षस्य कारण यद्बस्तु तस्य । कथम्भूतस्य ? अतीतस्य, तदनात्मकत्वात् । स प्रत्यक्ष- विषयोऽनात्मा स्य (त्माऽस्य) भावो यस्य तत्तयोक्त तस्य भावात् । प्रत्यक्षकाले हि सर्वा- त्माना अर्थं त्रिनष्टस्य स्वरूपाभावात् न तद्विषयत्व घटते । स्वरूपात् सत्त्वात् तद्विषयत्वम्, कुत स्मृतेर्निर्दिषयत्वम् ? तैर्न्यस्यापि स्वरूपात् सत्त्वादिशेषात् । अतस्तु अज्ञान प्रति 20 अतीतस्य कारणत्वमभ्युपगम्य दूषणमुक्तम् । दृष्टान्तीं तन्नभ्युपगम्य तदर्शयन्नाह— 'प्रागभास' इत्यादि । तस्माद् विषयाभिमतत्वाद् उत्पत्तिसारूप्ये तदुत्पत्तिसारूप्ये, 'का भीमि (भीमि )' [ जनेद्रव्या० १।३।३२ ] इत्यत्र 'का' इति योगनिभागात् अविधि । अथवा, तदिति निपात 'तस्माद्' इत्यस्यार्थं वर्तते । तयोरसभवात्

(१) प्रत्यक्षबुद्धितो भिन्नत्वेण । (२) पादपल्लवविषयस्य एकत्वोऽपि । (३) स्पष्टाऽस्य पदरूपण । (४) अयस्य । (५) प्रत्यक्षविषयत्वम् । (६) प्रत्यक्षबुद्धिविषयत्व । (७) स्मृतिविषयभूतस्य अतीतायस्यापि । (८) श्रुतिताया पू० प्रती भीमि' इति पाठ प्रतिभानि । 'का भीमि ॥१।३।३२॥ वान्तस्य (पञ्चम्यन्तस्य) सुन्तस्य भीवाचिभि सुवत् सह पम (तत्पुण्यसमास ) भवति । वृत्तेभ्यो भी वक्भी वक्भयम वृक्भीत । केति विभागत परेभ्यस्त्रायन्ते परत्रा इत्यपि । —जनेद्रप्र० । (९) योगविभाग सति 'का भीमि' इति सूत्रस्य अयमय स्यात्—यथा वान्तस्य भयवाचिभि गण समानो भवति तथा वान्तस्य अथरपि षाद् समास स्यात् । (१०) तत्पुण्यसमास । 'स' इति समासस्य सत्ता जनेद्रव्याकरण ।

१ विसर्वाद्यते सदप्र-ज० वि० । २ सकल्पय्य ई० वि० । ३-प्रवृत्तौ ई० वि० । ४ नीलाक्षवु- आ० । ५-स्योरेकायत्वे थ० । ६-पम्यथ थ० । ७-यो नात्मा थ०, व० । ८ एतच्चाक्ष-थ० । ९ प्रतीतस्य थ० ।

कारणात्, किं प्रत्यक्षमन्वद्वा कस्य प्रत्यक्षाभिमतस्य अन्यस्य वा विषयस्य ज्ञान 'प्राह-  
 कम्' इत्य आहार, 'सम्बन्धिर्वा' । कुत एतत्तिल्याह—'प्राग्' इत्यादि । उत्पत्ते पूर्वम-  
 भाव प्रागभावः, एधात्मलाभस्य स्वरूपप्रच्युति प्रध्वसाभावः, तथोरभावाविशेषे  
 पात् अभावत्वाऽभेदात् । अयमभिप्राय—यदा सति कारणे कार्यं न भवति अमति च  
 ६ भवति तदा तद् औत्सन्न्येन कारणाभिमतस्याऽभाव कारण सूचयति । तथा चाऽनात्ति-  
 भूतैतत्प्रागभावकालेऽपि तदभावस्याप्रिशेषात् कार्योत्पत्ति स्यात् । अथ कारणप्रध्वसा-  
 भाव एव कार्योत्पात्को न तत्प्रागभाव, अत्रा—'समनन्तर' इत्यात्ति । कार्योत्पत्ते  
 प्रागनन्तर जात कारणप्रध्वस समनन्तर, इतर' अनाद्यतीतकाले चिरजात तयो  
 विनाशयोश्चाप्रिशेषात् । अयमभिप्राय—यदि अभावत्वाविशेषेऽपि प्रध्वसाभाव एव  
 10 कार्योत्पात्को न प्रागभाव तर्हि अनाद्यनन्ततातानागत प्रध्वसाभावा कार्योत्पात्का  
 स्यु तथा च कार्यस्य अनाद्यनन्तताप्रसङ्गः । अथ कारणप्रध्वस एव कार्योत्पात्को  
 नेतर, न प्रध्वसस्यैव कारणत्वाभ्युपगमे अस्य परिहारस्याऽनुपपत्ते । न च प्रागनन्तर  
 एव प्रध्वस तन्नैको ताव इत्यभिधातव्यम्, देशकालयोरनभ्युपगमे अस्यापि परिहा-  
 रस्य दुर्घटत्वात् । आनन्तय हि देशकालकृता प्रत्यासत्तिरिति । इतश्च किं यस्य ज्ञान-  
 15 मिति दर्शयन्नाह—'व्यभिचाराच्च' कारणात् किं कस्य ज्ञानमिति ? एतच्च ज्ञानस्य  
 निराकारत्वसिद्धौ<sup>१३</sup> प्रपञ्चितमिति नेहोच्यते ।

ननु नैव प्रत्यक्षस्य अन्यस्य वा अतीतोऽन्यो वा भौततो विषयोऽस्ति भिन्नो यन्तू-  
 च्यते स व्यग्रहारेण इत्याशङ्क्याह—'यदि पुन' इत्यात्ति । यदि पुन अतीतमर्थं  
 प्रत्यक्ष कथञ्चिद् व्यग्रहारेण अन्येन वा प्रसारण वेत्ति विषयीकरोति तदा स्मृति  
 ० कथं न सन्निधात् 'अतीतमर्थम्' इति सम्बन्ध । परे प्राह—'साक्षात्' इत्यादि ।  
 साक्षात् अव्यवधानेन अतदुत्पत्ते अतीतार्थादुत्पत्तरभावात् स्मृते अताद्वृत्त्येवाच्च  
 अतीतार्थेन साक्षात्सासभवाच्च नासौ<sup>१६</sup> 'त'<sup>१०</sup> सन्निधात्' इति सम्बन्ध । अत्रोत्तरम्  
 'इति' आदि । इति एव वैयात्य नियातस्य दुर्विगन्धस्य भावो वैयात्य परस्य । कुत

(१) इत्यप्याहार इति योग्यम् । (२) कायम् । (३) स्वस्य । (४) कारणरूपम् । (५)

कारणप्रागभावकाले कारणमभिधानाविशेषामित्ययम् । (६) कारणाभावस्य । (७) कारणप्रा-  
 गभाव । (८) अव्यवहितपूर्वक्षण जात । (९) अभावरूपेण भवाभावात् । (१०) अनाद्यनन्तानी  
 तानाद्यनन्तप्रध्वस । (११) कार्योत्पात्क । (१२) बोद्धमते हि कारणकार्याभिमतक्षणया एकस्या  
 भावात् एककालाभावाच्च न देशकालवृत्तमानन्तय सम्भवात् । तस्मिन् हि कारणाभिमतस्य अन्यो दण  
 कालश्च कार्योभिमतस्य चाय दणकालयोरपि क्षणिकत्वात् । न च त आवाग कालो वा वस्तुभूत  
 स्वीक्रियत, छिन्त्य आकाशत्वान् पूर्वापरान्निबुद्धरेष च कालव्यपदेशाहत्वात् । (१३) प० १६९ ।  
 (१४) परपापन । (१५) बोद्ध । (१६) स्मृति । (१७) अतीतायम् । (१८) बोद्धस्य ।

१-प्रत्यक्षस्याभि-अ० । २-सम्बन्धि-थ० । ३-भावत्वा-आ० । ४-अभावत्वाविशेषात्  
 आ० । ५-तथातानादिभूत-आ० । ६-चिराज्जात थ० । ७-अनाद्यनन्तानामसा-आ० । ८-सक्ते ।  
 ९-नक्तो आ० । १०-तत्संबन्धि-व० ।

एतत्प्रित्याह—'व्यग्रहित' इत्यादि । व्यग्रहितोऽन्तरितो योऽर्थोऽस्तुभवेन तस्मात् परम्य-  
रयोत्पत्ति स्मृते तस्यामपि तस्य व्यग्रहितस्य यद्रूप तस्य अनुकृतेर्दर्शनात् । अत्र दृष्टान्त-  
माह—'दृष्टार्थ' इत्यादि । जाम्बुशया यो दृष्टोऽर्थः स दृष्ट', तस्य स्वप्नः तत्रैव तद्वदिति ।

स्यान्मतम्—प्रत्यक्षस्मरणे नैकार्थे भिन्नप्रतिभामत्वात् रूपाण्यज्ञानप्रित्यत्राह—  
'प्रत्यक्ष' इत्यादि । प्रत्यक्षशब्दस्य अभ्यर्हितत्वात् पूर्वनिपात । प्रत्यक्षस्मृत्योः प्रति- 5  
भामभेदात् हेतो एकार्थत्वात् इति यत् परस्याभिमत तदनेकान्तिरुम्—अनेकान्ति-  
हेतुनिपयत्वादुपचारेण अनेकान्तिरुम् । एतदेव 'दूरासन्न' इत्यादिना समर्थयते—  
दूरासन्ने च ते एकार्थप्रत्यक्षे च तयो । ऋग्भूतयो ? भिन्नप्रतिभासयोरपि तदेका-  
र्थनिपयत्वात् दूरासनेकार्थविपयत्वात् । ननु दूराणामक्षाणाम् अर्थज्ञानमप्रत्यक्ष  
प्रत्यक्षत्र भवति । कुत ? भ्रान्तेः अस्पष्टस्य दर्शने स्पष्टस्य प्राप्तेः इति परे । अत्रोत्त- 10  
रमाह 'प्रमाण' इत्यादि । प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् अन्यत् प्रमाण तैज्ज्ञान स्यात् अस्पष्ट-  
त्वाऽल्लिङ्गजत्वाभ्या प्रमाणद्वयानन्तर्भूतत्वात् । ननु विमतादात्तत् प्रमाणमेव न भवति  
तत्त्वथ तदन्तैरम् ? इति चेत्प्राह 'नहि' इत्यादि । नहि नैव तेन दूराभ्यर्थज्ञानेन अर्थ  
वृक्षादि परिच्छिद्य प्रवृत्तौ क्रियमाणाया विसवादेकान्त', अस्पष्टाकारतया विसवादेऽपि  
वृक्षाद्याकारतया तर्दभावात् तदप्रमाण तदूरार्थज्ञानम् एकान्तेनाप्रमाण यतः स्यात् । 15

प्रवृत्तार्थोपसंहारमाह—'तद्' इत्यादि । यस्माद् उक्तप्रकारेण प्रत्यक्षवत् स्मृतेर-  
स्तुनिपयन्व सिद्धम् तत् तस्माद् अय मौगतो व्यग्रहारी वा शब्दार्थो पूर्वदर्शनेन निपयी-  
वृत्तौ स्मृत्या करणभूतया सङ्कलग्न्य प्रत्यभिज्ञाय सङ्केते 'एवनिधोऽर्थ एवनिधशब्द-  
वाच्य' इति समये सति पुनः पश्चाद् व्यग्रहारकाले शब्दप्रतिपत्तौ सत्याम् अर्थं सम्प्र-  
त्येति विपयीरुति । 'स्मृत्या सङ्कलग्न्य' इत्येतत्प्रापि सम्बन्धनीयम् । ननु स्मृत्वा- 20  
देवस्तुनिपयत्वाद् अस्तुनि सङ्केत तत्प्रतिपत्तिश्च, इत्यत्राह—'स्मृति' इत्यादि । आदि-  
शब्देन तर्नादिपरिग्रह, तस्यापि न केवल प्रत्यक्षस्य परमार्थनिपयत्वात् । ननु परमा-  
र्थनिपयत्वे शब्दाना न कश्चित् तर्भावे तैज्ज्ञान स्यादित्यत्राह—'तद्' इत्यादि । तस्य  
शब्दस्य अर्थं तदर्थः तस्य अभावेऽपि न केवल भाव एव शब्दार्थज्ञान शब्दस्य  
कार्यभूतमर्थज्ञान 'जगत्प्रपञ्चस्य प्रवृत्ति कारणम्, ईश्वर कारण, नक्ष कारणम्' इत्यादि । 25  
अत्र दृष्टान्तमाह—'प्रत्यक्षवत्' इति । यथा प्रत्यक्ष द्विच द्राक्षार्थाभावेऽपि भवति तथा  
तदपीति । कुत एतदिति चेत्प्राह—'वस्तुन्यपि' इत्यादि । अपि शब्दाद् अवस्तुन्यपि  
सङ्केतमभ्यगात् ।

(१) बोद्धस्य । (२) बोद्ध । (३) दूराक्षाधज्ञानम् । (४) प्रत्यक्षानुमानलक्षणम् । (५)  
प्रमाणातरम् । (६) विसवादाभावात् । (७) अथाभाव, अतीतनागनात्कालव्यतिथयः । (८)  
शब्दानाम् । (९) शब्दानामपि ।

१ प्राप्तिरिति थ० । २ च व० । ३ अथ प्रत्येति थ० । ४—इत्याह व० । ५ तत्रपि कुत थ० ।

ननु यन् अर्थाभावेऽपि तज्ज्ञानं स्यात् तर्हि मयमेव शाब्दज्ञानमप्रमाणं स्यात् ।

प्रयोग—निवात्पत्नीभूत शब्दार्थज्ञानमप्रमाणं तर्त्वात् प्रकृतज्ञानत् इत्याशङ्क्याह—

अक्षशब्दार्थविज्ञानमविसवादनं समम् ।

अस्पष्टं शब्दविज्ञानं प्रमाणमनुमानत् ॥ ४६ ॥

विवृति—तदुत्पत्तिसारूप्यदिलक्षणव्यभिचारेऽपि आत्मना यदर्थपरिच्छेदलक्षणं ज्ञानं तत्तस्येति सम्बन्धात् । वागर्थज्ञानस्यापि स्वयमविसवादात् प्रमाणत्वं समक्षवत् । विप्रक्षायतिरेकेण वाग् अर्थज्ञानं वस्तुतत्त्वं प्रत्याययति अनुमानत् सम्बन्धनियमाभावात् । वाच्यत्राचकलक्षणस्यापि सम्बन्धस्य बहिरर्थप्रतिपत्तिहेतुतोपलब्धेः ।

अक्षाणि च शब्दाश्च तेषाम् अर्थज्ञानं समम् । केन इत्याह अविस्वा-

दादत् , अविस्वादेन यथा अश्वज्ञानमविस्वादात् तथा शब्दार्थज्ञानमपि । अयमभिप्राय—यथा अश्वज्ञानस्य कस्यचिद्विस्वादिनो दर्शने-

कारिका—

ऽपि न 'सर्वमश्वज्ञानमप्रमाणं तच्चात् द्विचन्द्रादिज्ञानवत्' इत्यभिधातुं शक्यम्, तथा शब्दार्थज्ञानमपि । तर्हि प्रत्यक्षात् कोऽस्य विशेषः ? इति चेत्—अस्पष्टमविशब्दं शब्दविज्ञानम्, अश्वज्ञानं तु स्पष्टम् इत्यनयोर्विशेषः । तर्हि तत्रमाणं किमिवेति चेदत्राह—प्रमाणं शब्दज्ञानम् अनुमानवत् । अपापि 'अविस्वादादत्' इति सम्बन्धनीयम् ।

ननु चाश्वज्ञानस्य अर्थोत्पत्तिमारूप्यसमभावात् युक्तमविसवादात्कत्वं न शब्दज्ञान-

स्य तद्विपर्ययात् अतः 'अक्ष' इत्याद्युक्तम्, इत्यारंकादृषणपुर-

विवृति—मात्स्यलम्—

मरं नारिका विवृण्वन्नाह—'तदुत्पत्ति' इत्यादि । तस्माद् अर्थाद्

उत्पत्तिश्च सारूप्यश्च आदिर्भेदस्य तन्मध्यस्तायस्य स तथोक्तः, स एव लक्षणं प्रामाण्यस्य अविस्वादादस्य वा तस्य व्यभिचारेऽपि तदुत्पत्तेः चक्षुरादिना, सारूप्यस्य

(१) शब्दज्ञानम् । (२) शब्दज्ञानं वात् । (३) शब्दविषयाणादित्यश्वज्ञानवत् । (४)

'समं समानं प्रमाणं भवति । किम् ? अक्षशब्दार्थविज्ञानम् अक्षमिन्द्रियशब्दादविसवादात्कत्वात्कौ-  
ध्वनिं ताभ्यां जनितमप्यस्य सामान्यविषयात्मकवस्तुनो विशिष्टं सगत्यादिनिवृत्तं ज्ञानमवबोधनम् ।

कुन ? अविस्वादात् जयक्रियायामन्यविचारात् । यथाऽऽजनितामध्यायनमविसवादात् प्रमाणं तथा शब्दज्ञानमपि । तत्र शब्दानां प्रमाणं स्पष्टत्वात् न शब्दमस्पष्टत्वादित्याशङ्क्याह—अस्पष्टमिति ।

अस्पष्टमविज्ञानमपि न जनिता ज्ञानं प्रमाणमभ्युपगमनमविसवादात्कत्वं । न हि स्पष्टमस्पष्टत्वात् प्रमाणं वा प्रामाण्यनिरन्तरं तयोः सवात्परिनिवृत्तत्वात् । किन्तु ? अनुमानवत्—लघी० भा० पृ० ६६ ।

(५) तुलना—तस्मात्स्पष्टतदुत्पत्ती यन् सवेद्यत्तन्मयम् । सवेद्यं स्यात्समानाद्यं विज्ञानं समनन्तरम् ॥ —  
प्रमाणवा० ३।३२३। अष्टसह० प० २४० । प्रमाणनय० ४।४७ । (६) चक्षुरादिभ्यः घटज्ञानमुत्पद्यते न च तत्र चक्षुरादिप्रादृक् भवति ।

१—ज्ञानं न प्र-जा० । २—प्रकृतज्ञानवत्कत्वं । ३—अज्ञानं शब्दा-ई० वि० । ४—न च ध्य-  
ई० वि० । ५—सत्तापत्तिं ज० वि० । ६—पुरस्तरा का-व०—पुरस्तरा का-आ० । § एतन्नगन-  
पाठो नास्ति आ० ।





कालादिलक्षण न्यक्षेणान्यत्रेक्ष्य परीक्षितम् ।

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्माथनिष्ठितम् ॥४७॥

विधृति - नखेकान्ते वैर्त्तनालक्षणं कालस्य समवति, भूतमविष्यद्रूर्त्तमान-  
प्रभेदो यन् स्यात्, तदर्थाक्रियानुपपत्तेः । न च द्रव्य शक्ति तदुभय वेति  
कालकलक्षण शक्तिशक्तिमतोर्व्यतिरेकैकान्ते सम्बन्धासिद्धि अनवस्थानुपपत्तात् ।  
तदव्यतिरेकैकान्ते 'शक्ति शक्तिमत' इति रिक्ता याचोयुक्तिः । तन्नैकान्ते पट्टा-  
रकी व्यतिष्ठते । कुत, पुनः स्स्यायत्यस्या गर्भ इति स्त्री, प्रवृत्ते खान् पर्यायान्  
इति पुमान् तदुभयात्यये नपुमकम् इति शब्दार्थप्रत्ययानामन्यतमस्यापि लिङ्ग-  
व्यवस्था ? तथा एरुस्यार्थस्य 'इन्दनादिन्द्र, शकनात् शक्र, पुरदारयतीति  
पुरन्दर' इति पर्यायभेदाद् भिन्नार्थता तद्वाचिना शब्दाना न समवत्येव व्यति-  
रेकैकैकान्तयोः तत्र विरोधात् । तत एव क्रियाकारकयो तत्रासभयो निज्ञेयः ।  
तदनेकान्तसिद्धि विधिप्रतिषेधाम्या तदर्थाभिधानात् । नाभायैकान्त', कुत  
तदभिधानलिङ्गाद्यसभवोपालम्भ स्याद्वादमनुवर्त्तत ?

काल आदिर्द्वैतस्य कारकादे म तथोक्त तस्य लक्षण स्वरूप प्रमाण वा

अन्यत्र तत्त्वार्थभाष्यादौ परीक्षित विचारितम् ईदृश्यम् अन्ने-  
कारिकविवरणम्-  
प्यम् न्यक्षेण आत्मना, 'निश्चित पूर प्रमाणेन व्यवस्थापितोऽक्षो

(१) ईदृश्यमवलोकनीयम् । किम् ? कालादिलक्षणम् काल आदिर्द्वैतस्य कारकलिङ्गमवस्थासाधनो  
पप्रहादाना ते कालादय तदा लक्षणमसाधारणं स्वरूपम् । किं विशिष्टम् ? पराक्षित विचारित स्वामिस  
मन्तभद्राद्य सूरिभिः । कथम् ? यक्षण विस्तरणेन । क्व ? अन्यत्र तत्त्वार्थमहाभाष्यादौ । किं विशिष्टम् ?  
द्रव्यस्यापि । द्रव्य पूर्वोपरिगणामव्यापकमध्वतासामायम् पर्याया एकस्मिन् द्रव्ये त्रपभाविन परि  
णामा सामाय सद्गुपरिणामलक्षण नियक सामायम् विन्पोऽर्धन्तरगतो व्यतिरेक द्रव्य च पर्याया  
न च सामायश्च विशेषश्च द्रव्यपयादसामायविशेषा ते आत्मा स्वभावो यस्यासौ तयोक्त । स चासा  
वर्षश्च तस्मिन्निष्ठित नियत तन्मात्मकमिति यावत् । एवविधस्यैव अथक्रियासमवात् निरपेक्षकान्ते  
तद्विराधात् । -लघी० ता० प० ६७ । (२) वत्तनालक्षणेणो कालो 'उत्तरा० २८।१० । 'काल  
स्य वटटणा से -प्रवचनता० २।४२ । ववगदपणवण्णरसो ववगदनेगधजट्टुफातो य । अगुह्लहुगो  
अमुतो वट्टणत्ततो य कालोति । -पञ्चा० गा० २४ । द्रव्यस० गा० २१ । वतनापरिणामक्रि  
यापरत्वापरत्ये च कालस्य । -तत्त्वार्थसू० ५।२२। (३) शक्तिकारकवादिन भतट्टिप्रभृतय, तथाहि-  
'स्वान्ये समवेताना तद्गन्वाथयान्तरे । क्रियाणामभिनिष्पत्तौ सामव्य साधन विट् ॥ क्रियानिवत्तौ  
द्रव्यस्य शक्ति साधन साध्यतन्नेन त्रियति भाष्यकारप्रभृतयो विट् ।' -वाक्यप० त० का० पु० १७३ ।  
(४) तुतना- न च द्रव्यमात्र कारक न च क्रियामात्रम् कारकान्तो हि क्रियासाधने क्रियाविगणयुक्तं  
प्रवर्तते । -न्यायशा० पु० ६ । चात्पर्याय प्रकारो म सुवध सोऽन कारकम् -शब्दश० का० ६७ ।  
(५) 'सस्त्यानप्रवर्षो लिंगमात्स्यो सृष्टतान्तन । अधिकरणसाधना लोके स्त्री सत्यावत्यस्या गभ  
इति । वतुसाधनश्च पुमान् सूते पुमानिति । सस्त्यानविवक्षाया स्त्री, प्रसवविवक्षाया पुमान्,  
उभयविवक्षाया नपुमकमिति । -पात० महा० ४।१।३ ।

1-निश्चितम् ज० वि० । 2-वेति ई० वि० । 3-शक्तिशक्ति-ई० वि० । 4-तदुभयाभावे  
नपु-ई० वि० । 5-कान्तयो ज० वि० । 6-अवेक्ष्यम् आ० ।

न्यक्ष' इति व्युत्पत्ते । न्यक्षेण निस्तरेण इति वा । कथन्भूत तत् तेनेक्ष्यम् इत्याह—  
 'द्रव्य' इत्यादि । द्रव्यम् ऊर्ध्वतासामान्य तस्य सहक्रमभुवो निवर्त्ता पर्यायाः,  
 सहशपरिणाम सामान्यम्, प्रसहशपरिणामो विशेषः ते एव आत्मा यस्या-  
 र्थस्य तत्र निष्ठितम् तदात्मरुमिति यावत् । ततो निराकृतमेतत्—“कालाद् स्वयम-  
 भेदात् कथं तद्भेदात् कश्चिदर्थमदेदत्” [ ] इति । सहकार्युपायानमन्तानरद् अन्योन्य 5  
 कालानीनाम् अन्यथाभावविवर्त्ताविरोधात् । यदि चा (वा), अन्यार्थपरिणति कालापेक्षा  
 कालपरिणतित्तु स्वरूपापेक्षा, यथा घटादिप्रकाश प्रदीपनिवन्धन प्रदीपप्रकाशस्तु  
 स्वनिवन्धन इति, अत अनवस्थाऽन्योन्याश्रयासभव । अधवा, तदर्थेन लिङ्गभूतेन निष्ठा  
 स्वरूपव्यवस्थितिर्ज्ञाता अस्थेति तन्निष्ठित तल्लक्षणम् तत्प्रमाणकम् इत्यर्थ । तथाहि—अय 10  
 तदर्थ अस्मान् पूर्वं पश्चात् अनेन सह वा भवतीति प्रतीति तदर्थव्यतिरिक्तार्थपूर्विका,  
 पूर्वोपरादिप्रतीतित्वात्, अय तदर्थोऽस्मात्पूर्वदेश अयमपरो देश इत्यादिप्रतीतिवत् ।  
 यश्चासौ तत्कारण स काल इति । एव कारकादावपि योज्यम् । तथाहि—‘करोति क्रियते’  
 इत्यादिप्रतीति विभिन्नशक्तिर्कार्थनिवन्धना, विलक्षणप्रतीतित्वात्, जलानलप्रतीतिवत् ।  
 तथा, ‘देवदत्तो देवदत्ता’ इत्यादिप्रतीति विभिन्नस्वरूपार्थनिवन्धना, विशिष्टप्रतीतित्वात्,  
 घटपटप्रतीतिवत् । 16

कारिका व्यतिरेकमुखेन व्याचष्टे—‘नक्षेकान्त’ इत्यादिना । हिर्यस्मात् न  
 क्षणिकाद्येकान्ते वर्त्तना स्वयं त्रिकालगोचरै पर्यायै वर्त्तमानान्  
 विकृति-वाक्यान्—  
 भावान् प्रति प्रयोजकत्व लक्षण कालस्य समवति यतो लक्षणात्  
 भूतमग्निव्यवर्त्तमानप्रभेदः कालादे स्यात् । ‘यत्.’ इति आक्षेपे वा, यत् तत्प्रभेद 20  
 स्यात्, नैव स्यात् । कुत एतदित्याह—‘तदर्थ’ इत्यादि । या भूताद्यर्थस्य क्रिया  
 निष्पत्ति तस्या अनुपपत्ते ‘एकान्ते’ इति सम्बन्धः । यथा च एकान्ते कालस्य  
 अतीताद्यर्थक्रियानुपपत्ति तथा कालपरीक्षाधमर<sup>३</sup> विशेषतश्चिन्तितम् ।

एव कालस्य एकान्ते लक्षण वर्त्तमानान भावान् प्रति प्रयोजकत्व निराकृत्य  
 कारकस्य तन्निराकुर्वन्नाह—‘नच’ इत्यादि । नच नापि कारकलक्षणम् । किंतदित्याह—  
 ‘द्रव्य शक्तिः तदुभय वा’ इत्येतत्, ‘एकान्ते तदर्थक्रियानुपपत्ते’ इत्येतद्रापि 25

(१) पूर्वोपरान्तिप्रतीतिकारणम् । (२) ‘सवभावाना वतना कालाध्या वति । वतना उत्पत्ति  
 स्थितिरप गति प्रथमसमयाध्यायय ।”—तत्त्वापभा० ५।२२ । ‘वृत्तजिन्नात्मर्षिण भावे वा मुटि  
 स्त्रीलिङ्गे वर्त्तनति । वर्त्तते वर्त्तनमात्र वा वतनेति । । धर्मादीना द्रव्याणां स्वपर्यायनिवर्त्ति प्रति स्वात्म  
 नैव वतमानाना बाह्योपप्रहादिना तद्भूत्यभावात् सम्प्रवत्तनोपलक्षित काल इति वृत्त्वा वतना कालस्यो  
 पकार । —सर्वावर्त्ति० ५।२२ । प्रतिद्रव्यपर्यायमन्ताननिवन्धनसमया स्वसत्तानुभूतिवर्त्तना ।—रात्रवा०  
 ५।२२ । (३) ५० २२५ ।

1—न्य इति आ० । २—तिर्ज्ञाता आ०, व० । ३ भवतीति विभिन्नस्वरूपापेक्ष्यतिरिक्तार्थपूर्विका  
 4—कापनि—आ० । 5 इत्यादि न हि आ० । 6 लक्षणं निराकृत्य व०, थ० । 7 स थ० ।

सम्प्रधानीयम् । दूषणा तरमाह—‘शक्ति’ इत्यादि । शक्तिशक्तिमतोः व्यतिरेकैकान्ते  
 अङ्गीक्रियमाणे मन्वन्धांसिद्धिं साधविध्यवत् । अत्र तदेकान्तेऽपि राजपुरुषवद्  
 उपकार्योपकारकभावात् सम्प्रधानसिद्धिरिष्यते, अत्राह—अनवस्थानुपज्ञात् इति । अत्रा-  
 यमभिप्राय—यथा राजपुरुषयोरयो-यमुपकार्योपकारकभावात् तथा चेत् शक्तितद्वतो-  
 स्तैर्ज्ञाव तदा तत्र प्रत्येकम् अपरा शक्ति कर्तवनीया तत्राप्येव चोपमित्यनवस्था । एतेन  
 अन्वयो समवाय विशेषणीभावात् अयो वा भिन्न सम्प्रधान चिन्तित । तयोरभेदे-  
 कात् दूषयन्नाह—‘तदव्यतिरेकैकान्ते’ इत्यादि । तयो शक्तिशक्तिमतो अव्यतिरेकै-  
 कान्ते अभेदेकाते अङ्गीक्रियमाणे ‘शक्ति शक्तिमत’ इति एव या परस्य वाचोयुक्ति  
 वचनोपपत्ति सा रिक्ता निरर्थिका । तस्मिन् सति शक्तिरेव स्यात्, न च सौ परस्य  
 निराधारा युक्ता द्रव्यादिकल्पनावैक्यप्रसङ्गात् । शक्तिमद्वयं वा स्यात्, तैःपि शक्त्य  
 भावेऽनुपपन्नम् । न च द्रव्यादिस्त्वमेव शक्तिरित्यभिधातव्यम्, शक्तिपरीक्षार्या तस्यां  
 ततो व्यतिरिक्ताया प्रमाधितत्वात् ।

प्रकृतमुपसहरत्राह—‘तद्’ इत्यादि । यतो भेदाभेदैकान्ते शक्तिशक्तिमद्भावो नोपप-  
 द्यते ‘तत्’ तस्मान्नैकान्ते पञ्चार्थकी कर्त्रादीना पण्णा कारकाणा समाहारो व्यवतिष्ठेत,  
 कारकाभावे तत्समाहाराभावात् इत्यभिप्राय । तथा अयञ्च यत्राह तद्वाह—‘कुतः’ इत्या  
 दिना । कुत ? न कुतश्चित् । पुन इति दूषणान्तरसूचनार्थ । लिङ्गव्यवस्था लिङ्गाना  
 स्तीत्वादीना स्थिति । कस्य सा न ? इत्यत्राह—अन्यतमस्यापि । केषामन्यतमस्य ?  
 इत्याह—शब्दार्थप्रत्ययानाम् । केषामन्यतमस्य तेषामेव त्रयाणा लिङ्गव्यवस्थोप-  
 गमात् । ननु यदि कारकव्यवस्था नास्ति किमायात् लिङ्गाव्यवस्थाया येन सापि  
 न स्यात् ? इत्याह—‘स्थापति’ इत्यादि । स्थापति सङ्घातीभवति अस्या गर्भ  
 इति स्त्री । प्रतूते जनयति म्यान् आत्मीयान पर्यायान् इति पुमान् । तदुभया  
 त्यये स्थानप्रसवोभयाभावे नपुमकमिति । एव या व्यवस्था, सा कुत ?  
 लिङ्गव्यवस्थाया कारकनिर्धनत्वेन तदभावेऽभावादिति मथ्यते । अत्रैव एकान्ते

(१) उपकार्योपकारकभाव । (२) शक्तितद्वतो । (३) शक्ति । (४) मोक्षसकले । (५)  
 शक्तिमन्ति । (६) प० १६० । (७) शक्ति । (८) द्रव्यात् । (९) ‘नित्या घटशक्तयोऽप्येवा भग्नमे  
 दसमविना । क्रियामसिद्धयश्चैव जातिवत्समवस्थितान् ॥ —वाक्यप० साधनसम० श्लो० ३५ । (१०)  
 तुलना— सस्थानप्रसवो लिङ्गमास्थयो इति परिभाषितं भाष्य लिङ्गमुक्तं तथा चाह—सस्थान स्थाप  
 वेऽट स्त्री सूनस्तप्रसवे पुमानिति । स्थान महान प्रपञ्च उपपद्यो रूपादीना सत्त्वादिगुणानाम् ।  
 स्थापति संहननमापचनऽस्या गम इत्यधिकरणं स्त्री । सूनर्घातीभावे प्रसव उपपद्य इत्युक्तं प्रत्यय  
 परतस्सकारस्य पकारात्ने इते पुमानिति । यत्राह—सञ्चिति सकारस्य पकारात् इत्ययम् । अनन च  
 प्रकारेण विषये मूलार्थेऽस्ति मूलपति । उभयधर्मसाम्यत्वा स्थितिनपुसवधर्मोक्तं भवति । —वाक्यप०  
 लिङ्गसम० प० ४३६ ।

दृपणान्तरमाह—‘तथा’ इत्यादिना । तथा तेन कारकाभावप्रकारेण एकस्य अभिन्नस्य  
 अर्थस्य मुरपतिलक्षणस्य ‘इन्दनाद् इन्द्रः’ ‘शक्रनात् शक्रः’ ‘पुरन्दारयति इति पुर-  
 न्दरः’ इत्येव पर्यायभेदात् इन्दनात्परिणामभेदात् । अथवा, इन्द्रादिशब्दपर्यायभेदात्  
 मकारात् तद्भेदश्चाश्रित्य यामौ परेणाभ्युपगता । का ? इत्याह—भिन्नार्थता नानार्थता ।  
 केषाम् ? इत्याह—तद्वाचिनाम् एकार्थवाचिना शब्दानाम् इन्द्राद्यभिधानानाम् । सा 5  
 किम् ? इत्याह—न मंभ्रत्येव, मनागपि तन्मभनो नास्ति इत्येवकारार्थ । कुत एतत्-  
 लमाह—‘व्यतिरेक’ इत्यादि । य मुरपतिलक्षण एकार्थ यश्च शक्रनादि तयो पर-  
 स्पर व्यतिरेकैकान्त भेदेकान्त यश्च इतरैकान्त अभेदकान्त तयो तत्रैकान्ते  
 विरोधात् । व्यतिरेकैकान्ते हि सम्बन्धसिद्धेरनवस्थानुपपन्नाद्य विरोध सिद्ध । ईत-  
 रकान्ते च इन्दनादे एकार्थसिद्धे स सिद्ध इति । ननु न द्रव्य नापि शक्तिस्तदुभय वा 10  
 कारकलक्षणम्, किन्तु ‘क्रियाविष्ट द्रव्य कारकम्, इति चेदत्राह—‘तत् एव’ इत्यादि ।  
 ‘तत् एव’ अनन्तरोक्तविरोधादेव क्रियाकारकयोः क्रिया अधिश्रयणात्तिलक्षणा, कारक  
 कर्त्रादि, तयो तत्र मिथ्यैकान्ते असमनो विज्ञेय ।

उपसहारमाह—‘तद्’ इत्यादि । यस्माद् एतन्ते कालकारकलक्षण नोपपद्यते  
 तत् तस्माद् अनेकान्तसिद्धिः तत्रैव अस्योपपत्ते । काभ्या तसिद्धि ? इत्याह—विधि- 15  
 प्रतिषेधाभ्याम्, स्वपररूपान्तिचतुष्टयापेक्षसदसत्त्वाभ्याम् । समर्थितश्चैतद् अनेकान्त-  
 सिद्धयसरे’ इत्यलमतिप्रसङ्गेन । ननु एकान्तव्यतिरिक्तस्य शब्दार्थस्यासभवात् सर्वत्र  
 लिङ्गात्समनो भवत स्यादिति चेदत्राह—‘तद्’ इत्यादि । तस्य अनेकान्तरूपस्य अर्थस्य  
 अभिधानात् प्रतिपादनात् । अत्रापि ‘विधिप्रतिषेधाभ्याम्’ इति सम्बन्धनीयम् ।  
 कुत ? न कुतश्चित् तदभिधानलिङ्गाद्यसमनोपालम्भ’, तस्य अनेकान्तार्थस्य अभि- 20  
 धान प्रतिपात्न वचन तस्य लिङ्गादिः, आदिशब्दात् वचनादिपरिमह तस्याऽसमन’,  
 स एव उपालम्भ कुत न कुतश्चित् स्याद्वादम् अनेकान्तवादम् अनुत्तैत्र यायात् ।  
 ननु सर्वथा भावानामभावात् तदर्थाभिधानमसिद्धम् इत्यत्राह—नाभावेकान्त शून्यते-  
 कान्त । यथा चासौ नास्ति तथा विषयपरिच्छेदे व्यासतश्चिन्तितम् ।

यतश्च अनेकान्ते तदुपालम्भाभावात् अत —

20

(१) बभूवत् । (२) विरोध । (३) ‘क्रियाविष्ट द्रव्य कारकमिति प्रसिद्ध ।’—युक्त्यनु०  
 टी० प० २८ । (४) प० ३६६ । (५) प० ११९ ।

१ तदभेद वाश्रित्य थ०, व० । २-गता केषाम् आ०, -गता केषाह भिन्नायता केषाम् थ० ।  
 ३ समन मनाग-आ० । ४-इत्याह थ० । ५-स्पर व्यति-थ० । ६ विरोधसिद्ध आ०, विरोधसिद्धि  
 थ० । ७-द्वे त्त-थ० । ८ क्रियाविष्टथ० । ९-धवणा-थ० । १० एकाते कारक-आ० ।  
 ११-रिक्तशब्दा-आ० । १२ तस्याकात्-आ० । १३ तत्रापि आ० । १४ विधिनियेधा-आ० ।  
 १५-सम्भस्यानेका-थ० । १६-काते न तद्-आ० । १७ ‘अत’ नास्ति थ० ।

एकस्यानेरुसामग्रीसन्निपातात् प्रतिक्षणम् ।

पट्टकारकी प्रकृतेन तथा कालादिभेदतः ॥ ४८ ॥

विवृतिः—प्रतिक्षण प्रत्यर्थं च नानासामग्रीसन्निपातात् पट्टकारकीसभवेऽपि यथैक स्वरक्षण स्वभावकार्यभेदाना तदभेदकृत्वात् तथा कालादिभेदेऽपि ।  
 5 तत्प्रतिक्षेपो दुर्नयः तदपेक्षो नय, स्वार्थप्राधान्येऽपि तद्गुणत्वात् । तदुभयात्मार्थ ज्ञान प्रमाणम् ।

एकस्य वस्तुन, अपिशब्दोऽत्र द्रष्टव्य ततोऽनेरस्यापि प्रकल्पेत । का ?

इत्याह—पट्टकारकी । कुत इत्याह—अनेरुसामग्रीसन्निपातात्

कारिकायात्पदान्—

अनेका नाना या सामग्री अनेकराज्योत्पादकारणममप्रता तस्या

10 सन्निपातात् । कथं प्रकल्पेत इत्याह—प्रतिक्षण, क्षण क्षण प्रति प्रतिक्षण यथा भवति तथा प्रकल्पेत । तथाहि—यथैव चन्द्रादिसन्निधानात् घटस्य करणाद् देवदत्त

(१) 'प्रकल्पन घटन । का ? पट्टकारकी पण्णा कारवाणा समाहार पट्टकारकी । कस्य ?

एकस्यापि जीवान्वित्तुन अपिशब्दस्याप्याहागत । कथम् ? प्रतिक्षणम् क्षण समय क्षण क्षण प्रति प्रतिक्षणम् । वस्मात् 'अनकसामग्रीसन्निपातात् अनेका बहिरङ्गाऽतरङ्गा सामग्री कारणकलाप तस्या सन्निपात सन्निधिस्तस्मात् । तथाहि—यत् चन्द्रादिसन्निधानात् घटस्य कां देवदत्त तत् स्वप्रसक्तजनसन्निधानात् स एव पश्यते इति कम् प्रयोजनापेक्षया देवदत्तन कारयताति कारणम् दीप मानद्रव्यापेक्षया देवदत्ताय वनातीति सम्प्रदानम् अपायापेक्षया देवदत्तादपतानि ज्ञानानम् तत्रस्यद्रव्यापेक्षया देवदत्त कुण्डलमित्यधिकरणमित्यविरोधात्तथाप्रतीत । न हि प्रतीयमान विरोधो नाम । तथा युगपन्विकालादिभेदत् कालदेवाकाराणा भेद त्रम् तेनापि पट्टकारका प्रकल्पेत । तथाहि अकराद्देवदत्त करोति करिष्यतीति प्रतीतिवलायात्तत्त्वान् । अथवा तथा एकस्य पट्टकारकीप्रकल्पनवत् कालाद्यपि प्रकल्पेन । कुत ? भेदतः कथञ्चित्प्रत्यर्थं भेदात् । सर्वथाऽभिन्नमवलकारकादिभेदानपपत्त । —लघी० सा० प० ६८ । (२) तुलना— एवमेव गणसमभिव्यक्तव्यमूना तथा परस्परापेक्षा सम्यक् अचोयमान वेनास्तु मिष्यति प्रतिनिरतव्यम् । —प्रमाणक० प० ६८० । अथभन् विना गणनामेव नानात्ववान्तस्तना भास । —प्रमेयर० ६।७।४ । 'एव गणादयाऽपि सवया गणाव्यतिरेकमथ समययतो दुनया । — ग्यावावता० टी० प० ९० । तन्भेदे तस्य तमव समययमानस्तनाभास । यथा वभूव भवति भविष्यति सुमेरुतिर्याप्यो भिन्नकाला गणा भिन्नमेवाद्यमभिदधति भिन्नकालात्त्वात्तात्त्वसिद्धाया देवदित्या निरिति । —प्रमाणनय० ७।३४ ३५ । जननकभा० प० २४ । पर्यायनानात्वमन्तराणापि इन्द्राभिन्ने कथन तनाभास । —प्रमेयर० ६ । ७४ । 'पर्यायवतीनामभिधेयनानात्वमेव कशीकुर्वाणस्तनाभास इति । यद्यत्र गत्र पुरन्दर इत्यादय गणा भिन्नाभिधया एव भिन्नगणावान करिकुरङ्कतुरङ्गमशब्द वन्तित्यानिरिति । —प्रमाणनय० ७।३८ ३९ । जननकभा० प० २४ । 'त्रियातिरेकत्वेन क्रियावाचकेषु काल्यतिवो व्यवहारस्तनाभास इति । —प्रमेयर० ६।७४ । त्रियानाविष्ट वस्तु गणाव्यत्यया प्रतिशि पस्तु तनाभास । यथा विगित्तेष्टानुय घटान्य वस्तु न पटशब्दवाच्य घटना द्रवृत्तिनिमित्तमूर्तक्रियानुपत्त्वान् पटातिवित्यानिरिति । —प्रमाणनय० ७।४२, ४३ । जननकभा० प० २४ ।

1 प्रकल्पेत श० व० । 2 यथक्त्व—ज० रि० । 3—यै नान ज० वि० । 4 प्रकल्पेत श०, व० । 5 प्रकल्पेत व०, श० । 6 प्रतिक्षण क्षण प्रति जा० व० । 7 प्रतिक्षण नास्ति आ० । 8 प्रकल्पेत श० व० ।

र्त्ता तदैव प्रत्यक्षदेशादिमामग्रीसन्निधानात् स एव कर्म, अन्यकर्मापेक्षया करणम्, तस्मै  
दीयमानदृष्ट्यापेक्षया सम्प्रदानम्, तस्माद् आकृत्यमाणमावापेक्षया अपादानम्, तत्र  
स्वाप्यमानार्थापेक्षया अधिकरणमिति । तथा तेन प्रकारेण कालादिभेदतः काल आदि-  
र्यस्य देशादे स तथोक्त तद्भेदत 'एकस्य पट्टकारकी प्रकटपेत' इति सम्बन्ध ।  
तद्यथा आसीद् देवदत्त कर्त्रादिसवभावो भवति भविष्यति वा । एवमन्यत्रापि योज्यम् । 5

कारिकार्थं दर्शयन् अत्र सुनयदुर्नयभेद दर्शयति—'प्रतिक्षणम्' इत्यादिना ।  
क्षण क्षण प्रति प्रतिक्षणम्, अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थञ्च नानासामग्री-  
सन्निधापातात् पट्टकारकीसभवेऽपि तत्प्रतिक्षेप तस्याः पट्टकारक्या  
प्रतिक्षेपो निरास दुर्नयः । कथं तत्संभव ? इत्यत्राह—यथैक स्वलक्षणम्, यथा  
एक स्वलक्षण व्यवस्थित तैर्था यथा भवति तथा तत्संभवेऽपि इति । नन्वेकस्य 10  
स्वलक्षणस्य अनेकस्य स्वभानस्य कार्यस्य च सभवे तद्वदन्यत्रापि तत्संभव स्यात्, नचा-  
सावस्ति, तत्संभवे तस्यावश्य भेदात् इत्यत्राह—'स्वभाव' इत्यादि । स्वभावभेदाना  
कार्यभेदानाञ्च तदभेदकत्वात् स्वलक्षणाभेदकत्वात् । न खलु मजातीयेतरकार्यभेदे  
तत्कारणस्वभावभेदे वा स्वलक्षणस्य भेदोऽस्ति । एव कालादिभेदे पट्टकारकी-  
सभवेऽपि तन्निरासो दुर्नय इति दर्शयन्नाह—'तैया' इत्यादि । यथा मामग्रीभेद 15  
एकस्य पट्टकारकीसभवेऽपि तन्निरासो दुर्नय, तथा कालादिभेदेऽपि 'पट्टकारकी-  
सभवेऽपि' इति सम्बन्ध । अत्रापि 'स्वभाव' इत्यादि अपेक्षयम् । कस्तर्हि नय ?  
इत्यत्राह—'तदपेक्षो नय.' इति । तस्या पट्टकारक्या अपेक्षा यस्य असौ नय ।  
एत स नय ? इत्यत्राह—'स्वार्थ' इत्यादि । स्व विपयीत्रियमाणो योऽर्थः तस्य  
प्राधान्येऽपि तद्गुणत्वाद् अविचक्षितधर्माणामप्रतिक्षेपेण गुणीभूतत्वात् । यदि एव 20  
विधो नयो भवति, प्रमाण तर्हि कीदृशम् ? इत्याह—'तद्' इत्यादि । तद् अगुणीभूत  
विषयविचक्षितधर्मोभयम् आत्मा यस्य अर्थस्य तस्य ज्ञान प्रमाणम् । अनेन  
"प्रमाणनयेरधिगम" [ तत्त्वापसू० १।६ ] इत्येतत् महद्गृहीतम् ।

नैनुनय सर्वोऽपि मानसो विकल्प, विकल्पश्च निर्विषय एव तैत्वान् प्रधान-  
दिविरन्वयत्, तत्कथं तेन कस्यचिदधिगम स्यात् ? इत्याशङ्क्य 'विरन्वयत्' 2.  
इत्यस्य हेतोः तर्वादिना अनैकान्तिकत्वं दर्शयन्नाह—

(१) शब्दादिषु । (२) एकम् । (३) एत प्रकारेण । (४) कालादिभेदकत्वकर्मव  
रूपम् । (५) अनेकस्वभावभावसम्भव । (६) अनेकस्वभावकार्यसम्भव । (७) रूपम् । (८)  
पट्टकारकीसन्निधानम् । (९) विषयत्वम् । (१०) नयेन ।

1-स्वापेक्षया ध० । 2 तदभेदत धा० । 3 प्रत्यक्षेण ध० य० । 4 स्वप्रतिक्षणम् य० ।  
5 ताया निरा-ध० । 6 यथा तथा भवति ध० । 7 अनेक स्वभावा-धा०, य० । 8 तत्कारण-धा० ।  
9 तद्विषयि ध० । 10 तद्गुणी-ध० । 11 स्वार्थं ध० । 12 तद्विनय ध० ।

व्याप्तिं साध्येन हेतोः स्फुटयति न विना चिन्तयैरुत्र दृष्टिः,  
सकत्वेनैव तर्कोऽनधिगतविषय तत्कृतार्थैरुदेशे ।

प्रामाण्ये चानुमाया स्मरणमधिगतार्थाविमर्शादि सर्गम्,  
सज्ञानञ्च प्रमाण समधिगतिरतः सप्तधार्यैर्नयोः ॥४९॥

- 5 व्याप्तिम् अविनाभाव हेतोः लिङ्गस्य साध्येन लिङ्गिना मद स्फुटयति  
प्रकाशयति न, काऽमौ ? दृष्टि दर्शनम् एरुत्र एरस्मिन् देशे,  
कारिमायाख्यातम्- उपलक्षणमेतत् तेन 'एरदा च या दृष्टि' इति गृह्यते । सकलदृष्टिरेव  
स्फुटयति, तत्र च अनुमानमनर्थकमित्यभिप्राय । केन विना इत्याह-विना चिन्तया,  
तया सहिता तु स्फुटयति । अत मौ प्रमाणात्तर स्यादिनि भाव । कथं तया विना मौ  
10 र्ता न स्फुटयति इत्याह-साकत्वेन मामस्त्येन । दशतस्तु यदि स्फुटयति तदा  
स्फुटयतु, किंतु तैथाऽनुमानानुदय । कस्तर्हि साकत्वेन ना स्फुटयति ? इत्याह-'एषः'  
इत्यादि । एष. प्रतिप्राणित्वसवेदन प्रत्यक्षप्रमिद्ध तर्क मानसोऽस्पष्टविकल्प । कथ-  
न्भूत ? इत्याह-अनधिगतविषय अनधिगत प्रमाणात्तरेणाऽपरिच्छिन्न विषयो  
यस्य स तयोक्त । स किम् ? इत्याह-सज्ञानमेव, च शब्द एवकारार्थ, अत  
15 एव प्रमाणम् । यथा चामौ' साकत्वेन व्याप्तिप्रकाशक अनधिगतविषय सज्ञानञ्च

(१) 'न स्फुटयति न प्रकाशयति । वा ? एरुत्र दृष्टि एरस्मिन् महानसातो साध्यमाधनयो  
दृष्टिर्गत प्रत्यक्षमित्यथ । काम ? व्याप्तिमविनाभावम् । कस्य ? हेतो साधनस्य धूमान् । केन  
मह ? साध्यत अग्न्याग्निना सह । केन ? सावत्पन मवलाना एरुत्रात्तरितसाध्यसाधनव्यक्तीना  
भाव साकत्वे तेन । कथम् ? चिन्तया विना उप्रमाणाभाव इत्यथ । न हि दुष्टान्तर्धामिणि साध्य  
साधनसम्बध् घट्टान साकत्वेन व्याप्तिप्रतिपत्ती समथमनुमानानयव्यप्रसादान्नात तद्दृष्टुर्भित्वापत्तश्च ।  
तर्हि किं प्रमाणं ता स्फुटयतीति चेदुच्यते ? एष तत्र य साकत्वेन साध्यमाधनयो व्याप्ति स्फुटयति  
चान स एव च सकलानुमानिकप्रसिद्धमन्तक इत्युच्यते । ननु गरीतप्राहित्वात्स्याप्रामाण्यमित्यागक्याह-  
अनधिगतविषय । किंविशिष्ट ? सज्ञान सम्यक्ज्ञानमर्थे प्रमाण भवतीति । तथा स्मरण स्मृतिश्च  
प्रमाणम् । किं विशिष्टम् ? अधिगतार्थाविसर्वादि, अधिगत प्रत्यक्षणानुभूतोऽर्थो विषयस्तत्र अविस्वादि  
विस्वादिहितमिति । एतच्च सन्तानमिति । कस्मिन् सति ? प्रामाण्ये प्रमाणत्वे सति । कस्या ?  
अनुमाया अनुमानस्य । क्व ? तत्कृतार्थैरेण तेन तर्केण हेतो निश्चित अर्थोऽविनाभावस्तस्यकदेश  
साध्य तत्रानुमानप्रामाण्यस्य स्मृतिनकप्रामाण्याविनाभावित्वात्त्यथ । अथवा सज्ञानञ्च प्रत्यभिना  
नञ्च प्रमाणमविस्वादिविशेषान । न केवलमेतत् पराभवेन विकल्पात्मक प्रमाणमपि तु सव प्रत्यक्षमपि  
विकल्पात्मक प्रमाण तस्यव व्यवहारोपयोगित्वात् निविकल्पकस्य क्वचित्प्यनुपयोगान् । अत वारणा  
त्कर्षितव विकल्पामकरेव नयोप समधिगति सम्यग्धिगमो जीवन्निस्त्वनिगयो भवति । किं भूत ?  
सप्तधार्य सप्तधा नगमासिप्तप्रकारा आरया यथा तरिति । -लघी० ता० पृ० ७० । (२)  
सकत्वेदुष्टो मवन्तामाम । (३) दृष्टि । (४) चिन्तया । (५) दृष्टि । (६) व्याप्तिम् । (७)  
एरुत्रेन व्याप्तिग्रहण सति । (८) याप्तिम् । (९) तत्र ।

1 वानमा-ज० वि० । 2-धाविस-मु० लघा० । 3-यो य आ० । 4 च दृष्टि आ० ।  
5 विना तासां न आ० ।

भवति तथा व्यतिज्ञानपरीक्षायां प्रपञ्चत प्रकृषितमित्यलमतिप्रसङ्गेन । तत सिद्धम्-  
नयस्य निर्विषयत्वे माध्ये 'त्रिकल्पत्वान्' इत्यस्य हेतो तर्केण अनैकान्तिकत्वम् । तथा  
स्मरणेन च, इत्याह—'स्मरणम्' इत्यादि । स्मरण सर्वं मज्जान 'प्रमाणम्'  
इति मन्त्राय । कथम्भूतम् ? इत्याह—अधिगतार्थाविमंवादि, स्वयं स्मरणेन  
अधिगतो योऽर्थं तन्विमत्रादि, यदि वा, प्रमाणान्तरेण अधिगतार्थाविसर्वादि ।  
कस्मिन् सति ? इत्याह—प्रामाण्ये सति । कस्या ? अनुमाया. । क ? इत्याह—  
'तत्कृत' इत्यादि । तेन तर्केण कृतो निश्चितोऽर्थः अनिनामावलक्षण तस्य आधार-  
भूते एकदेशेऽपि माध्यम्यरूपे, च गच्छेत् मित्रप्रमम अपिप्रमार्थ । तत किं जातम् ?  
इत्याह—'समधिगतिः' इत्यादि । अतः अस्मात् नयाना निर्विषयत्वप्रसाधरहेतो  
तर्कस्मृत्यनुमानज्ञानं व्यभिचारित्वलक्षणात् न्यायान् समधिगतिः जीनायर्थाना  
सप्तधान्यैः नयौघैः ।

तेषु तेषां समधिगतौ मत्या यज्जात तद्दर्शयति—  
मर्त्यजाय निरस्तनाधकारिणे स्याद्वादिने ते नम-  
स्तात्प्रत्यक्षमलक्षयन् स्वमतमभ्यस्याप्यनेकान्तभाक् ।

तच्च शक्यपरीक्षण सकलविज्ञैकान्तवादी तत,  
प्रेक्षाद्यानकलङ्क याति शरण त्वामेव वीरं जिन्म ॥ ७० ॥

(१) प० ४२३ । (२) अनैकान्तिकत्वम् । (३) नयं । (४) जावाद्ययानाम् । (५) 'न स्यात्  
मन्त्रविन् विना' गोचराणपद्रव्यपर्यायवेदा न भवेत् । क ? एवान्तवाणी गुणताम् । किं कुतम् ?  
अन्वयन ज्ञानान् । किम् ? तत्रवम् किं विगिष्टम् ? अनेकान्तभाव अनैकान्त इत्यपर्यायात्मता  
भङ्गमात्ममात्वरानि इत्यनैकान्तभाक् । पुन कथम्भूतम् ? शक्यपरीक्षण शक्यपरीक्षण स्यात्प्रत्यक्ष  
वच्छेत् विनयनं यस्य नयाकन गौत्रिकगोचरमपीयथ । कथम् ? प्रत्यक्षम् किं वा ? अन्वयस्य भाव  
विश्या । किम् ? स्वमतम् स्वयकतात्मानं निरन्वयविनागादिभावतावहितवचनमाजनान्तत्त्वमधिगन्तु  
मनश्चिन्ति तर्षं सचवन्ति तपामित्यथ । तत कारणात्, भा अन्वयं गानावरणात्किञ्चिद्व्यति,  
नमन्वरवाणि । कथम् ? तुभ्यम् । कथम्भूताय ? सवताय पुन किं विगिष्टाय ? निरस्तमनवा  
नन्वयभावतावगादिदृष्टेयिन्न बाधकं गोपावरणद्वयं यस्या मा निरन्वयवापता तादृगी धीयस्य  
तथास्तन्यतम् । भूय किम्भूताय ? स्याद्वादिने । न क्वचनमहमव तं नमरतागामि चिन्तु प्रेक्षाद्यान  
परीक्षण सर्वोपि त्वामेव शरण याति प्रतिपद्यत नियप्रवृत्तमानविवशया एव वचनान् । किन्ना  
मानम् ? वार पचिन्वमपीयथ कथमातम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? जिन्म कृद्विषयविषयगतन्न  
मन्त्रावरो दुष्टं जयतीति जिन्मन्मन् '—सर्षी० ता० पृ० ७२ । (६) पालीनायाया तु जितानेधाना  
'जिनातीति चिन' इति गिद्धपति । (७) एतन्मन्त्रानन्तरं परिच्छेत्समापि विषय ज० वि०  
प्र० निम्नस्याक गमुन्निगित, परञ्च म तात्त्ववृत्तिरुता अभयपद्रेण न्यायतुमुद्गता चाप्या  
स्यां शान् अर्धप्रवृत्तदृष्ट्या गङ्गातवाच्यं प्रविज्य एव भाति— माहेनैव (ताहेनैव) परात्परि कथमिच्छ  
प्रशाभिवाच पुन । भोक्ता कर्मणस्य जानुषिन्ति प्रभञ्जवत्प्रन । कथमिच्छतयाभिरुत्तम  
गन्ध्यात्किञ्चिद्व्यति । किं वा तत्रतारान्ति केर्त्तमम पूर्ववदा चिन्वता ॥ (४) इत्यं इत्यां चान्तिन  
कथम्भूतायभागेऽपि प० २५७) प्रथुतिरुत्तम निरुद्धम् ।



तत' तस्या ममधिगते सकाशात् एकान्तप्रादी सुगतादि सकलचित्  
 मर्याप्तो नेति 'ज्ञायते' इयप्याहार । किं पुनः ? अलक्षणम्,  
 अनिश्चिनन् । किम् इत्याह-तत्र जीवादि । कथम्भूतम् ? इत्याह-  
 अनेकान्तभाक् अनेकातात्मकम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? इत्याह-शास्त्र्यपरी-  
 क्षणम्, अपिशब्दोऽत्र द्रष्टव्य । शास्त्र्य परीक्षणं सशयादिव्यवर्द्धेदेन स्वरूप-  
 निवेचनं यस्य तत् तथोक्तम् । तदपि पृथग्जनलक्ष्यमपि इत्यर्थं । पुनरपि कथम्भूतम् ?  
 प्रत्यक्षम्, प्रत्यक्षमाह्वयमपि, अत्रापि अपिशब्दो द्रष्टव्य । किं कृत्वाऽलक्षयन् ? इत्याह-  
 अभ्यस्य, किम् इत्याह-स्मनन्, एकात्मम्, अथवा सुष्ठु अमतमज्ञानं क्षणिकं  
 निरस्तत्तम् । अनेन जीवादितत्त्वालक्षणे कारणमुक्तम् । ननु तल्लक्षणे किं प्रयोजनम् ?  
 इति चेदत्राह-प्रेक्षावान् इत्यादि । अत्रापि 'तत' इत्येतदपेक्ष्यम्, ततोऽयमर्थं  
 सिद्धं-तत' तज्ज्ञानात् प्रेक्षावान् परीक्षको लोके अकलङ्कः निर्दोष अतत्त्वा-  
 भ्यासरहित । तत्रामेव याति शरणम् । त्रिविशिष्टत्वाम् ? वीरम्, वीरनामानम्  
 अतिमं तीर्थकरदेवम् । यदि वा, विशिष्टाम् अयचनासाधारणाम् ईम् अन्तरङ्गबहि-  
 रङ्गलक्षणां श्रियं रातीति वीरं तीर्थकरसमुत्पद्य तम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? जिनम्,  
 ससागसमुद्रावर्त्तपरिभ्रामन्कर्मचक्रो मूलम् । न केवलं त्रामुक्तविशेषेण शरणमेव  
 यात्ययं प्रेक्षावान् जन, त्रितु नमस्करोति च । केन विशेषणेन ? इत्याह-सर्वजाय  
 सम्लविदे । कथम्भूताय ? इत्याह-निरस्तबाधकधिये, निरस्ता बाधकानाम्  
 एकात्मवादिना धीर्येन । यदि वा, निरस्त बाधकं यस्या सा तथाविधा धीर्यस्य,  
 निरस्ता वा बाधिका धीर्यस्य तस्मै । पुनरपि कथम्भूताय ? स्याद्वादिने ते  
 तुभ्यं नमः स्तात् नमस्करोऽस्तु इति । 'अकलङ्काय वीराय जिनाय' इति विभक्ति-  
 परिणामेन उत्तरं पदत्रयं योज्यमिति ।

स्याद्वादोपरवेरशेषविषयप्रद्योतिनो देशत ,

तत्प्रतिरूपणाय गदिता समैत्र ते सन्नया ।

किं भास्वानिपिलप्रकाशनपटुर्वालाप्रमप्युच्चै ,

शक्तो द्योतयितुं विनोन्नतकरैर्निर्मूल्यं बाढं तम् ? ॥ छ ॥

इति प्रभाचद्रविरचिते न्यायकुमुदचद्रे लघीयस्रयालङ्कारे पञ्चमं परिच्छेदं ॥ छ ॥



एवं प्रेक्षा तत्प्रत्यक्षादिपरिच्छेदपञ्चमो नयप्रवेशो द्वितीयपरिच्छेद समाप्तः ।



1-च्छेदे इव-आ । 2-पेक्षाम् आ० । 3-ततोप्यय आ० । 4-तत् ज्ञानात् आ० । 5-कोऽकल-  
 थ० । 6-एवं वीरनामानं आ० । 7-मतीय-थ० व० । 8-मुदायं थ० । 9-दिने सुभ्यं आ० ।  
 10-उत्तरपदत्रय आ० । 11-इति धीमत्प्रभाचद्रवेववि-य० । 12-व समाप्त व । 13-एकान्त-व० ।

# तृतीये प्रवचनप्रवेशे

षष्ठः प्रवचनपरिच्छेदः ।



मलास्रच्छजल सुरजनिचय सञ्ज्ञानवीचीचय ,  
 युक्त्यावर्त्तितस्वरूपकुमतप्रौढोपनेकक्रम ।  
 स्फारागाधगभीरमूर्तिरसमध्वानो जनानन्दन ,  
 स्याद्वाग्नेधिरेप वाञ्छितफल तद्यात् सैमासेवित ॥ १ ॥

अथ प्रमाणनयस्वरूप निरूपय इदानीं प्रमाणविशेषस्य आगमस्य स्वरूप पृथक्  
 निरूपयितुमुपक्रमते, तत्र अनेकधा विप्रतिपत्तिसद्भावात् । तत्रादौ च शास्त्रस्य मध्य-  
 मङ्गलभूतम् इष्टदेयताविशेषगुणस्तोत्रमाह—

प्रणिपत्य महावीर स्याद्वादेक्षणसप्तकम् ।  
 प्रमाणनयनिक्षेपानभिधास्ये यथागमम् ॥ ५१ ॥

प्रणिपत्य नत्वा । कम् ? वीरम् अन्तिमतीर्थं च तीर्थं चरसमुत्थाय वा ।

किं विशिष्टम् ? स्याद्वादेक्षणसप्तकं । स्यादस्तीत्यादिसप्तमङ्गमयो  
 वाद स्याद्वाद् ईक्षणसप्तक यस्य स तथोक्तं तम् । ननु  
 स्याद्वादस्य ईक्षणव्यपदेशं मुरयत, उपचारतो वा स्यात् ? न तावत् प्रथम पक्ष ,  
 चक्षुष्येव मुरयत तद्व्यपदेशप्रसिद्धे । द्वितीयपक्षोऽप्यनुपपन्न , यतो रूपादिप्रतिपत्ते  
 हेतुभूतं चक्षु ईक्षण लोके प्रसिद्धम् । न च भगवत तत्प्रतिपत्तौ स्याद्वादो हेतुभूत ,  
 तत्पर्यमेव उपचारतोऽपि ईक्षणव्यपदेश ? अथ अपरमनेनैवो बोधयतीति तत्प्रति-  
 पत्तेर्हेतुभूतत्वात् तद्व्यपदेश , तर्हि परस्यैव तदीक्षणसप्तकं न भगवत , अन्यदीयात्ततो  
 अन्यस्य प्रतिपत्तेरयोगात्, तदमगीचीनम्, अन्यथा व्याख्यातात् । स्याद्वाद एव  
 ईक्षणसप्तकं यस्माद् भज्याना स तथोक्तस्तम् । यन्ति वा, ईक्षणसप्तकमिव ईक्षण-

(१) स्यात्स्तीत्यादिसप्तमङ्गमयो वाद स्याद्वाद ईक्षणाना सप्तकम् ईक्षणसप्तकम् स्याद्वाद  
 एवमङ्गलभूतं यस्माद्भज्याना भक्त्यमो तपोनस्तम् । न तत्र विशिष्टं प्रभावता प्रणामार्होर्जनप्र  
 सद्भावात् । —सपी० ता० पृ० ७४ । (२) ईक्षणव्यपदेशः । (३) रूपादिप्रतिपत्तौ । (४) स्याद्वाग्नेयः ।  
 (५) स्याद्वाग्नेयः । (६) भगवान् । (७) ईक्षणव्यपदेशः । (८) स्याद्वादः ।

१-वक्त्रम थ० । २ तदा सेविष्य व०, थ० । ३ वां वारं आ० । ४ अन्तिमतीर्थं चरसमुत्थाय  
 वा आ० । ५-अथ एवमेव—आ०, अथ परमतेना—व० ।

सप्तक स्याद्वादः तत् सप्तन यस्यासौ म तथोक्तं तमिति । किं पुन तैमप्रयेने  
 स्याद्वात्स्य साधम्य येनैवमुच्यते इति चेत्, उपदेशात्प्रपञ्चाऽप्रमानननरत्तम् । यथैव  
 हि ईक्षणान् परोपदेशलिङ्गावयव्यतिरेकनिरपेक्ष रूपान्निष्ठान जायते तथा स्याद्वादोद्  
 भगयत केवलज्ञानमिति । तमित्यभूतम् इष्टदयताविशेष प्रणिपत्य घट्यमाणलक्षण  
 लक्षितान प्रमाणनयनिक्षेपान् अभिधास्ये । कथम् ? यथागमम्, आगमा  
 नतिव्रमेण । अनेन तत्र आत्मन स्वातन्त्र्य परिहृतम् ।

नत्र प्रमाणात्मीना समामतो लक्षण प्रतिपात्यत्राह-

ज्ञान प्रमाणमात्मादे उपायो न्यास इत्यते ।

नैयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः ॥७०॥

निवृत्ति-ज्ञान प्रमाण कारणस्याप्येतनस्य प्रामाण्यमनुपपन्नम् अमन्त्रिकृष्टे-  
 न्द्रियार्थवत् । प्रिमोऽयमुपन्याम अमन्त्रिकृष्टस्य तदकारणतादिति, नैतत्मारम्,  
 अर्थस्य तदकारणत्वात् तस्येन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वात् अर्थस्य प्रियत्वात् । न हि  
 तत्परिच्छेद्योऽर्थं तत्कारणतामा मसात्कुर्यात् प्रदीपस्येव घटादिः ।

ज्ञानमेव प्रमाणमेव इत्याशयकारण सर्वत्र द्रष्टव्यम् । कस्य तत् ।

इत्याह-आत्मादे । आदिशब्देन पुत्रलात्परिग्रहः । ननु ज्ञाना

५ वारिणस्य -

र्थयो तादात्म्यादिमन्त्रधासभवात् यथ तैस्य इत्युच्यते इति

चेत्, न, तदभावोऽपि विषयविषयिभावलक्षणमन्त्रप्रसभवान् । नैदभावे 'मोऽपि

(१) लक्षणसत्त्वेन । (२) प्रथक्त्वे । (३) इत्यने अभ्युपगम्यत सच्च-विप्रतिपत्तीना

प्रागव निरस्तत्वात् । किम् ? प्रमाणम् । विविचिष्यम् ? ज्ञान जानानि पापननन पतिमात्र  
 वा ज्ञानमित्युच्यते द्रव्यपर्याययो भदाभ-विवक्षाया कर्त्राणिमापनोपपत्ते । कस्य ? आत्मान्  
 आमा स्वरूपमान्निष्ठस्य बाह्याथस्य म आत्मानि तस्य स्वापस्य ग्राहकमयय । अथवा ज्ञाना  
 चिन्द्रश्चमान्निष्ठन आवरणाना धयापगम धयश्चान्तरङ्ग बहिरङ्ग पुनरतिद्रयानिष्ठस्य गृह्यन  
 तस्मादुपत्रायमानमित्यध्याहार । तथा इत्यते । क ? नय । किं रूप ? अभिप्राय विवक्षा । कस्य ?  
 ज्ञातु धुतज्ञानिन । तथा इत्यते । क ? यामो निष्प । विविचिष्य ? उपाय अधिगमहतुः नामा  
 निरूप । अथस्य स्वत सिद्धत्वात् किमेत प्रमाणादिभिरित्यागस्याह-युक्तीत्यादि । युक्तिन प्रमाणा  
 यनिष्परेवाथस्य जीवात् परिग्रह प्रमितिन स्वत इति । -लघी० ता० प० ७१ । तुलना- 'ज्ञान प्रमा  
 णमित्याहुनयो नातुमन मन । -सिद्धिबि० टी० प० ५१८ A । प्रमाणस० प० १२७ । उद्धृतायम्-  
 'ज्ञान प्रमाणमित्याहु -धवल्लाटी० पृ १७ । (४) तुलना- 'नातुणामभिमाधय सलु नयास्त द्रव्य  
 पर्यायित तत्र द्रव्यमनतपययपद भदात्मका पयया । -सिद्धिबि० टी० ५१७ A । (५) तुलना-  
 'ज्ञान प्रमाण नानानिष्ठित्याथसनिवर्षाणि ' -प्रमाणवा० मनोरथ० प० ३ । लघी० टि० प० १३२ ।  
 'ज्ञानमेवेत्यवधारणान मन्त्रिकपरिग्रहविनिता मनो व्युत्पान । -सिद्धिबि० टी० प० ५१८ A । (६)  
 तुलना- 'नार्थागोको कारण परिच्छेद्यत्वात्समोवत । -परीक्षासु० २।६ । प्रमाणमी १।१।२५ । (७)  
 जानम् । (८) अथस्य । (९) तादात्म्यादिमन्त्रधाभावे । (१०) विषयविषयिभावोऽपि ।

1-कतमिति व । -केन स्याता-जा० । ३ अनेन आत्म-ध० । 4 उच्यते ज० वि० ।  
 5-च्यतेति व० ।

कथम् ? इत्यपि चार्त्तम्, तादात्म्यतदुत्पत्त्योरभावेऽपि प्रदीपार्थयो प्रकाश्यप्रकाशक-  
भाववत् ज्ञानार्थयो विषयविषयिभावस्य समर्थितत्वात् । ननु च आत्मादेरभावान्न  
किञ्चित्तस्य ज्ञानम् ? इत्यपि श्रद्धामात्रम्, तस्य विषयपरिच्छेदे<sup>२</sup> प्रपञ्चेन प्रसावि-  
तत्वात् । यद्वि वा, आत्मा स्वरूपम्, आदिशब्देन अर्थपरिग्रह, तेन स्वार्थयो  
इत्ययमर्थ सिद्धो भवति । प्रसाधितश्च स्वपरव्ययमायात्मकत्वं ज्ञानस्य प्रपञ्चत स्वस-  
वेदनसिद्धो<sup>३</sup> इत्यल पुनस्तद्वसाधनप्रयासेन । अथ को निक्षेप ? इत्याह—'उपाय'  
इत्यादि । उपायः कारणम् आत्मादिज्ञानस्य नामादि न्यासो निक्षेप इष्यते ।  
नयो जातुरभिप्रायः, प्रमाणविषयीकृतेऽर्थे एकाशविषयो जातुः प्रमातुरभि-  
प्रायः । किं फलमेतेषा स्वरूपव्यावर्णने ? इत्याह—'युक्तिनः प्रमाणादिलक्षणाया  
अर्थस्य परिग्रहः स्वीकार । उपलक्षणमेतत् तेन अनर्थपरिहारोऽपि गृह्यते ।

कारिका निवृत्तग्राह—'ज्ञान प्रमाणम्' इत्यादि । प्रमाण धर्मि ज्ञानमिति साध्यम्,  
'प्रमाणत्वान्यथानुपपत्ते' इति हेतुरत्र द्रष्टव्य । ननु सन्निकर्पादिना अय  
विनृति-याख्यात्म-  
हेतुर्व्यभिचारी, तस्याऽज्ञानरूपस्यापि अव्यपदेश्याव्यभिचारिव्यवसा-  
यात्मज्ञानजनकत्वेन प्रमाणत्वसम्भवात् इत्यग्राह—'कारणस्यापि' इत्यादि । कारण-  
स्यापि यथोक्तज्ञानजनकस्यापि सन्निकर्पादेरचेतनस्य सत् प्रामाण्यमनुपपन्नम् । अत्र  
दृष्टान्तमाह—असन्निकृष्टेन्द्रियार्थवत् । सन्निकर्प सन्निकृष्ट तच्च इन्द्रियञ्च अर्थञ्च  
सन्निकृष्टेन्द्रियार्था, विवक्षितेभ्यस्तेभ्य अन्ये असन्निकृष्टेन्द्रियार्था' तेषामिव तद्वत् ।  
यद्वा, असन्निकृष्टौ च तौ इन्द्रियार्थां च तयोरिव तद्वत् । यद्वा, प्रयोग-विवाङ्मोचरा-  
पन्न सन्निकर्पादि अप्रमाणम् अचेतनत्वात् अप्रवक्षितसन्निकर्पादिवत् । यथा च अचेत-  
नस्य सन्निकर्पादे प्रामाण्यन्नोपपद्यते तथा प्रत्यक्षपरिच्छेदे<sup>४</sup> प्रपञ्चत प्रतिपादितम् ।

अग्राह पर—'त्रिपम' इत्यादि । त्रिपमः दार्ष्टान्तिकेन समानो न भवति  
उपन्यासो दृष्टान्तरूप । तदेव वैषम्य दर्शयति—'असन्निकृष्टस्य' इत्यादिना ।  
असन्निकृष्टस्य इन्द्रियार्थलक्षणस्य वस्तुन तदकारणत्वात् विवक्षितज्ञानहेतुत्वात् ।  
एतदुक्तं भवति—यदि नैयायिकादि चेतनत्वेन क्वचित् प्रामाण्यमभ्युपगच्छति तर्हि दृष्टान्ते  
चेतन्याभावे यथा प्रामाण्याभाव तथा दार्ष्टान्तिकेऽपि स्यात्, यावता ज्ञानकारणत्वेन  
तदभ्युपगतम् । तत्कारणत्वञ्च दृष्टान्ते यद्यपि नास्ति तथापि दार्ष्टान्तिके अस्ति इति

(१) आत्मान् । (२) पृ० ३४३ । (३) पृ० १७६ । (४) तुलना—'एष्य विमटठ णयपरुवण  
मिदि ? प्रमाणनयनिक्षेपयोऽर्थो नाभिसमीक्ष्यते । युक्तञ्चायुक्तवद् भाति तस्यायुक्तञ्च युक्तवत् ॥"—  
धवलाढी० पृ० १६ । (५) तुलना—'सम्यग्ज्ञान प्रमाण प्रमाणत्वा यथानुपपत्ते । —प्रमाणप० पृ० ५१ ।  
प्रमेयक० पृ० ७ । स्या० १० पृ० ४१ । प्रमेयर० ११ । प्रमाणमी० पृ० २ । (६) तुलना—'न ह्यचेत  
नोऽथ स्वप्रमिती करण घटादिवत् ।'—प्रमाणप० पृ० ५१ । (७) पृ० २९ । (८) प्रामाण्य स्वीकृत  
न चेतनत्वेन नाप्यचेतनत्वेनेति भाव ।

सिद्धमर्थस्य प्रामाण्यमिति । अत्र दूषणमाह—‘नैतत्सारम्’ इत्यादि । एतत् ज्ञानकारणत्वेन प्रमाणत्व न सारम् । कुत ण्तदित्याह—‘अर्थस्य’ इत्यादि । अर्थस्य ज्ञानविषयस्य घटादे तदकारणत्वात् स्वप्नाहिज्ञानाजनत्वात् । एतदपि कुत इत्याह—‘तस्य’ इत्यादि । तस्य घटान्ज्ञानस्य इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वात् । अर्थनिमित्तत्वं कुतो नति चेदत्राह—अर्थभ्य विषयत्वात् परिच्छेद्यत्वात् । ननु ‘विषयश्च स्यात् कारणञ्च’ इति कोऽनयोर्विरोधः ? इत्याह—‘नहि’ इत्यादि । हिर्धस्मात् न तस्य ज्ञानस्य परिच्छेद्योऽर्थः’ तत्कारणता ज्ञानहेतुताम् आत्मसात्कुर्यात् । अत्र परप्रसिद्ध दृष्टातमाह—प्रदीपस्येव घटादिरिति । अत्रायमभिप्रायः—यथा प्रदीपप्रकाशयो घटादि नै प्रदीपकारणतामात्मसात्करोति तथापि प्रदीपेन प्रकाशयते तथा ज्ञानप्रकारयोऽप्यसौ तत्कारणतामात्मसात्कुर्यान्नपि त्वेवमाशय इति । अनेन परैपरिकल्पित ‘नाकारण विषय’ [ ] इति नियमो निरस्तः, प्रदीप प्रत्यकारणस्यापि घटादे तत्प्रकाशनविषयतोपलब्धे ।

किञ्च, ‘नाकारण विषय’ इत्यभ्युपगच्छता किं कारणमेव विषय इत्यभिप्रेतम्, कारण विषय एव इति वा ? प्रथमपक्षे विज्ञानस्वरूपसत्त्वनानुपपत्तिः । नहि स्वरूप स्वस्यैव कारणम्, स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । द्वितीयपक्षे तु चक्षुरादेरपि विषयत्वं प्रसक्तिः कारणत्वाविशेषात् । किञ्च, अर्थस्य ज्ञान प्रति कारणत्वे सिद्धे अथ नियम परिकल्प्येत, असिद्धे वा ? न तावदसिद्धे, अतिप्रसङ्गात् । अथ सिद्धे, कुतस्तत्सिद्धिः—तत एव ज्ञानात्, अयतो वा ? न तावत् तत एव, यत—

अयमर्थ इति ज्ञान विद्यान्नोत्पत्तिमर्थतः ।

अन्यथा न विवाद स्यात् कुलालादिघटादिवत् ॥ ५३ ॥

(१) सन्निकपस्य । (२) घटाद्य । (३) ज्ञान प्रति हेतुताम् । (४) ज्ञानन प्रकाशयो भवतु । (५) शीघ्रम् । (६) कारणभावो हि विषयीभाव उच्यतेऽप्रमाभिन सम्बन्धः । तथाहि—रूपान्निविषयश्च क्षुधा विज्ञानोत्पत्तौ सहकारिता प्रतिपद्यमानो विषयीभवतीत्युच्यते । द्विविधश्च सहकाराय परस्परकारणो वा यथा एकार्थक्रिया वा यथाविधिपितृमात्रण रूप गल्लत । उभयथापि विज्ञानस्य कारणविषय एव विषय उच्यते । १—तत्त्वस्य प० पृ० ६८३ । (७) तुलना— तथाहि—किं कारण विषय एव उक्त कारणमेव विषय ? प्रथमपक्षे रूपान्निविदा क्षुधाराद्यपि विषयो भवतु द्वितीयपक्षे हि अविष्यति रौद्रिभ्युदय वृत्तिकोत्यान्तीनक्षपाद्यामिव इत्यस्मानुमानस्य भावी राहिष्युदयोऽकारणत्वादिपयो न स्यात्—सामति० टी० प० ५१० । (८) विज्ञानस्वत्पसत्त्वेन हि तत्र स्याद यथा विज्ञानस्य स्वरूपं स्वसत्त्वेन प्रति कारण स्यात् । न चतदस्ति । (९) विद्यात् जानीयात् । किम् ? ज्ञानम् । कथम् ? अयमर्थ इति । पुनश्च विद्यात् काम ? उत्पत्तिम् अहमस्मानुत्पत्तिमिति स्वजम् । कस्मान् ? अथ घटात् तत्रात्मात् । इच्छ प्रमेय प्रतीतिरिद्धमव जयथा यद्यथा स्वोत्पत्तिं ज्ञान विद्यात् तत्रात्मात्प्रतिवात्तिविधाने ज्ञानमयात्पन्न न वति विप्रतिपत्तिः किञ्च ? कुलालादिघटात्पन्न यथा कुलात्पन्नं मकारात् घटात्पन्नं मति प्रतीतिरिद्धे कस्यापि न विवादोऽस्ति तथाऽर्थात् ज्ञानज मयपि विधाने मा भूत् अस्ति चाय विवात् स्याद्वात्ति ज्ञानजमनानि । —सूचो० ता० प० ७६ ।

१—प्राप्तामा—श्र० । २ न शीघ्र—आ० श्र० । ३ कारणहेतव विषय श्र० । ४ परिकल्पेत आ०, व० ।

विवृतिः-अर्थं परिच्छिन्दद्विज्ञानम् आत्मनः कारणान्तरमपर सूचयत्येव । नहि ततः स्वभावलाभ प्रति व्याप्रियमाणस्य तत्परिच्छिञ्चतिः अनुत्पन्नत्वात् । उत्पन्नास्यापि न कारणे व्यापारः करणादिवत् । यदि कारणकार्यभाजम् आत्मार्थयोर्विज्ञान परिच्छिन्द्यात् न करिचद् विप्रतिपत्तुमर्हति कर्तृकरणकर्मसु ।

घटार्थब्राह्मणं हि ज्ञान 'देशकालाकारविशिष्टो घटार्थोऽयम्' इत्यनेनोल्लेखेन अर्थमेव विद्यात्, न उत्पत्तिम् आत्मलाभमर्थतो विद्यात् । अथ तत्तत् तौ वेत्ति इत्युच्यते, अत्राह- 'अन्यथा' इत्यादि । अन्यथा अन्येन तत्परिज्ञानप्रकारेण न विवादः स्यात् । यस्य यस्मादुत्पत्तिः, प्रत्यक्षत प्रतीयते न तस्य तदुत्पत्तौ कश्चिद् विवादात् यथा कुलालाद् घटस्य, विवादश्च ज्ञानस्य अर्थादुत्पत्तौ, तस्मात् सौ तस्यै प्रत्यक्षतो न प्रतीयते इति ।

अर्थं प्रमाणान्तरात्तस्य अर्थकार्यता प्रतीयते-ननु तत्किं प्रत्यक्षरूपम्, अनुमानरूप वा स्यात् ? यदि प्रत्यक्षरूपम्, तत्किं ज्ञानविषयम्, अर्थविषयम्, उभयविषय वा स्यात् ? तत्राद्यविरुद्धये तौ कार्यकारणभावप्रतीतिरनुपपन्ना, एकैकविषयज्ञान-प्राह्यत्वात्, ययो ष्टैः विषयज्ञानप्राह्यत्व न तयो कार्यकारणभावप्रतीति यथा रूपरसयो धूमपौषकयोर्था, ष्टैः विषयज्ञानप्राह्यत्वश्च अर्थज्ञानयोरिति । अथ उभय-विषयप्रत्यक्षात् तद्वितीति, तन्न, तदाविधप्रत्यक्षस्य यस्मादशां समभवात् ।

किञ्च, तदुभयविषय प्रत्यक्ष नाभ्यामुत्पन्नं सत् तयो कार्यकारणभाव प्रत्येति, अनुत्पन्नं वा ? न तावदनुत्पन्नम्, आद्यज्ञानस्यापि अर्थादनुत्पन्नस्य अर्थप्राह्यत्वप्रसङ्गात् । अथ उत्पन्नम्, तर्हि तस्यापि तदुत्पत्ति अपरस्मात् तैत उत्पन्नाज्ज्ञानात् प्रत्येतव्या तस्याप्यन्यस्मान्निवृत्तत्वात् । आद्यात् द्वितीयस्य, द्वितीयाच्चाद्यस्य तैतप्रतीतौ अन्योन्या-श्रय । तन्न प्रत्यक्षरूपमाणांतरात् ज्ञानस्य अर्थकार्यतासिद्धि । नापि अर्थान्वयव्यतिरेकानुनिधायित्वलक्षणानुमानरूपात्, तस्य अनन्तरकारिकाया निराकरिष्यमाणत्वात् ।

कारिका विवृण्वन्नात्- 'अर्थम्' इत्यादि । अर्थं घटादिक परिच्छिन्दद् विज्ञानम् आत्मनः स्वस्य कारणान्तरमपर परपरिच्छिपितार्थलक्षणकारणाद् अपरमेव चक्षुरादिलक्षण कारणान्तर सूचयति । पुत एतदित्याह-

(१) ज्ञानम् । (२) अर्थम् । (३) उत्पत्तिम् । (४) उत्पत्ति । (५) ज्ञानस्य । (६) तु- 'विज्ञानावकायतया ज्ञान प्रत्यक्षत प्रतीयते प्रमाणान्तराद्वा ? प्रत्यक्षतश्चेत्, किं तत एव प्रत्यक्षान्तराद्वा ? अथ प्रमाणान्तरात्तस्यावकायता प्रतीयते, तत्किं ज्ञानविषयमर्थविषयमुभयविषय वा स्यात् ?'-प्रमेयक० पृ० २३२ । (७) जानाश्रयो । (८) जानार्थोभयप्राप्ति । (९) उभयान्वा जानार्थान्भ्याम् । (१०) ताभ्यामयज्ञानान्भ्यामुत्पत्ति । (११) उभयात् । (१२) तदुत्पत्तिप्रतीतौ ।

१ विद्यात अथ श्र० । २-स्मात्तस्य श्र० । ३-पाचकयोर्था आ० । ४-मभावात् श्र० । ५-वात्तदुभय-य० । ६-ज्ञानत्वात् श्र० ।

‘नहि’ इत्यादि । न हिर्यस्मात् ततोऽर्थात् स्वभावलाभ प्रति व्याप्रियमाणस्यै स्वरूप-  
 लाभमर्थयमानस्य तत्परिच्छित्तिः अर्थपरिच्छित्ति । कुत इत्याह—अनुत्पन्नत्वात् ।  
 यदनुत्पन्न सद् यदा यत् आत्मलाभ लभते न तत्तर्था तस्य परिच्छेदकम् यथा अलब्धा  
 ललाभावस्थाया पितु पुत्र, अनुत्पन्न सदर्थादात्मलाभ लभते च उत्पत्तिक्षणे  
 5 ज्ञानमिति । अथ उत्पन्नस्य सतो ज्ञानस्य अर्थग्रहणे व्यापारो भविष्यति इत्युच्यते,  
 अत्राह—‘उत्पन्नस्यापि’ इत्यादि । न केवलमनुत्पन्नस्य अपि तु उत्पन्नस्यापि  
 ज्ञानस्य कारणे स्वजनने न व्यापार तद्ग्रहणलक्षण । अत्र दृष्टान्तमाह—  
 करणादिवत् । करण चतुराणि आदिर्यस्य अदृष्टाद तत्रेव तद्वदिति । प्रयोग—अर्थो  
 न ज्ञानकारणम्, तेन परिच्छिद्यमानत्वात्, यत्तु तत्कारण न तत्तेन परिच्छिद्यते यथा  
 10 चक्षुराणि, परिच्छिद्यते च ज्ञानेनार्थ, अतस्तत्कारणन्न भवतीति । न च आलोकेन  
 अनेनात्, तत्र ज्ञानकारणत्वस्य निराकरिष्यमाणत्वात् । तर्हि पुत्रेण अनेकान्त,  
 पितुरुत्पन्नस्याप्यस्यै तत्परिच्छेदकत्वात्, इत्यप्यसत्, पुत्रशरीरस्यैव तैत उत्पत्ते, न च  
 तैत् तत्परिच्छेदक किन्तु ज्ञानम्, तच्च तैतो नोत्पद्यते चक्षुरादित एवास्योत्पत्ते । क्व  
 मेव पूर्वप्रयोगे तस्यै दृष्टान्ततोपपद्यते ? इत्यप्यचोद्यम्, शरीरतै तद्विशिष्टज्ञानतो वाऽ  
 15 लब्धात्मलाभस्य परिच्छेदकत्वाभावात्प्रापेक्षया तस्यै तदुपपत्ते सम्भवात् ।

ननु च अर्थकार्यतया ज्ञान स्वयमेव आत्मान प्रतिपद्यते, अत तद्विधितकर्म-  
 निर्देशानन्तर प्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्ट ‘परिच्छिद्यमानत्वात्’ इति हेतु, इत्यत्राह—  
 ‘यदि’ इत्यादि । यदि कारणकार्यभावम् आत्मार्थयो, आत्मन कार्यभावम् अर्थस्य  
 कारणभाव विना कर्तृ परिच्छिन्न्यात्, तदा न कश्चिद्विप्रतिपत्तुमर्हति । क ? इत्याह—  
 20 कर्तृकरणकर्मसु । अर्थ कर्ता, चक्षुरादि करणम्, ज्ञान कर्म, तेषु इति । यत्र कारण-  
 कार्यभावो निर्वाधाया सत्रिदि प्रतिभासते न तत्र कर्त्रादित्रये कश्चिद् विप्रतिपद्यते यथा  
 कुलालपटयो, विप्रतिपद्यते च अर्थज्ञानयो कर्त्रादौ जैनादिरिति ।

‘ननु सर्वत्र अवयव्यतिरेकसमधिगम्य कार्यकारणभाव, तौ चात्रापि विद्येते—अर्थे

(१) ज्ञान नामस्य परिच्छेदकम् अनुत्पन्न सन्त्याल्लघातलाभत्वात् । (२) उत्पत्तिक्षणे ।  
 (३) पुत्रस्य । (४) पितृपरिच्छेदकत्वात् । (५) पितु । (६) पुत्रशरीरम् । (७) पितृपरिच्छेदकम् ।  
 (८) ज्ञानम् । (९) पितु । (१०) ज्ञानस्य । (११) यन्नुत्पन्न सन्त्यादिप्रयोगे । (१२) पुत्रस्य ।  
 (१३) शरीररूपेण । (१४) शरीरविशिष्टज्ञानरूपेण चानुत्पन्नस्य । (१५) पुत्रस्य । (१६) दृष्टा  
 न्तनोपपत्त यथा हि शरीररूपेण विशिष्टज्ञानात्मकतया वाऽनिपन्न पुत्र न पितृपरिच्छेदक तथैव  
 ज्ञानमनुत्पन्नं सन्नायस्य परिच्छिन्नकम् । (१७) स्वसत्त्वेन प्रत्यक्षावधितसाध्यप्रयोगानन्तरम् । (१८)  
 स्वस्य-ज्ञानस्य । (१९) ज्ञानस्योत्पादकत्वादय कर्ता । (२०) अयाज्यायमानत्वा ज्ञान कम ।

1 न हि यस्मान् आ व० । 2-स्वरूपला-व० । 3 यत् व० । 4 सदर्थात्मनाम् आ०,  
 थ० । 5-तिलक्षण थ० । 6 पदज्ञानस्य व० । 7-कवलनव्यापा-थ० । 8 च तत्परि-थ०, व० ।  
 9 अतस्तदाधि-आ० । 10-नन्तरप्रपु-आ०, व० । 11 परिच्छेद-व० ।

सत्येव ज्ञानस्योत्पत्ते तत्भावे चाऽनुत्पत्ते । प्रयोग—यद् यस्यान्वयव्यतिरेकावनुरोति तत्तस्य कार्यम् यथा अग्नेर्धूम, अन्वयव्यतिरेकावनुरोति च ज्ञानमर्थस्य' इत्याशङ्क्याह—

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थश्चेत् कारण विदः ।

मशयादिर्विदुत्पादः कौतस्कुत इतीक्ष्यताम् ॥ ५४ ॥

प्रवृत्तिः—युद्धेरेव व्यभिचारो नार्थस्य कथमव्यभिचारिणोऽर्थस्य अन्वय- 5  
व्यतिरेकावनुरोति व्यभिचरेन्नाम ? ततः सशयादिज्ञानमहेतुकं स्यात् । तिमि-  
राशुभ्रमणनौयानसक्षोभादिहेतुत्वे कैमर्थमर्थः पुष्पाति इति मृग्यम् । सत्यज्ञानेऽपि  
तिमिराद्यभावस्य इन्द्रियमनोगतस्य कारणत्वात् । ततः सुभापितमै—'इन्द्रियमनसी  
कारण विज्ञानस्य अर्थो विषयः' इति ।

अर्थसद्भावे भावोऽन्वयः तदभावेऽभावो व्यतिरेकः ताभ्यामर्थश्चेद् यदि 10  
कारण विदो ज्ञानस्य । अत्र दूषणमाह—'सशय' इत्यादि । सशयः  
कारिका - आदिर्यस्था मा चासौ चित् च तस्य उत्पाद आत्मलाभ कौत-  
स्कुत इत्येवमीक्ष्यता पर्यालोच्यताम् ।

कारिका व्याख्यातुमाह—'युद्धेः' इत्यादि । युद्धेरेव व्यभिचारः अन्यदेशात्-  
विशिष्टस्यार्थस्य अन्यदेशादिना ग्रहणलक्षणो नार्थस्य, 'व्यभिचारः' 15  
निवृत्ति-व्याख्यातम्—  
इति सम्प्रन्ध । स हि यथार्थामयथार्था वा अन्वयव्यतिरेकावनु-

(१) ज्ञानमथकार्यम् अर्थावयव्यतिरेकानुविधायित्वात् । (२) 'चेद्यदि कारणं कथ्यते । क ?  
अर्थो विषय । कस्या ? विज्ञे ज्ञानस्य । काभ्याम् ? अवयव्यतिरेकाभ्याम् सति भवतमवयव  
अवयवभवन व्यतिरेक ताभ्याम् । तथाहि—ज्ञानमथकारणक तन्वयव्यतिरेकानुविधानादिति । तत्र  
कोनस्तुन स्यात्, युतम्बुन आगतः कौतस्कुत । क ? सशयादिविदुत्पाद संशयविषयासंज्ञानात्सति ।  
इत्येवमीक्ष्यता तद्भादिभि स्वमनसि पर्यालोच्यताम् अर्थाभावोऽपि मशयाद्युत्पत्त । न हि स्यान्पुष्पात्मक  
वेसोऽङ्गुलस्वभावो वार्थस्तज्ज्ञानोत्पत्ती व्याप्रियते, ततो भागासिद्धमर्थावयव्यतिरेकानुविधानं ज्ञानस्यति ।'  
—सूची० ता० पृ० ७६ । (३) अत्रार्थं पूषणम्—अथस्य च ज्ञानजनकत्वमवयव्यतिरेकाभ्यामवयव  
भ्यते । यदा हि देवतांती कश्चित् ब्रजति तद्गृहम् । तत्रासीत्प्रहितं चन गत्वापि न त एत्यति ॥  
क्षणान्तरे न आयात्तं देवदत्त निरीशत । तत्र तत्सत्सत्त्वन तथात्वं वति तद्विद्य ॥ अनागते देवत्ते न  
देवत्तानामुदपादि तस्मिन्नागते तदुत्पत्तिमिति तद्भावभावित्वात्तज्जयत्वं तन्वयमायते ।"—म्यायम० पृ०  
५४४ । (४) 'निमित्तमणोर्विषय', इन्द्रियगतमिदं विभ्रमकारणम् । आशुभ्रमणमलाताद, मन्द हि  
भ्राम्यमाणऽज्ञातादो न चक्रभ्रान्तिरुत्पद्यत तदभमाणुग्रहणेन विशद्व्यतं भ्रमणम् । एतच्च विषयगत  
विभ्रमकारणम् । नावा मयनं नोदानम् । गच्छत्या नावि स्थितस्य गच्छद्दशाभिर्भातिरुत्पद्यत इति  
दानग्रहणम् । एतच्च बाह्याश्रयस्थित विभ्रमकारणम् । संशोभो वातपित्तदुष्मणाम् । वातादिषु हि  
दानं गतपु ज्वलितस्तन्भातिर्भातिरुत्पद्यते । एतच्चाध्यात्मगत विभ्रमकारणम् ।—म्यायवि० टी०  
पृ० १६ । (५) उदुर्गमदम्—'इन्द्रियमनसी विज्ञानकारणमिति यानान ।'—म्यायवि० वि० पृ० ३२  
A । 'तस्मान्निन्द्रियमनसी विज्ञानस्य कारणं नार्थोपीयकारणम् —सत्त्वार्थान्त्रो० पृ० ३३० ।



कार्येन बुद्धिं जनयत्येव । “सर्वं सालम्बनं ज्ञानम्” [ ] ईत्सम्बुपगमात् ।  
 केशोण्डुकादिज्ञानस्यापि अत्रिपैक्ष्मादिनिर्घनत्वादिति । पूर्वोद्धं व्याख्यातम् । उत्तर-  
 मुत्तराद्धं व्याचक्षाण प्राह—‘कथम्’ इत्यादि । कथं चेत् प्रसारेण अव्यभिचारिणोऽर्थस्य  
 अन्वयव्यतिरेकायनुकुर्यात् बुद्धिं अर्थं व्यभिचरेन्नाम् ? नैव व्यभिचरेत् । यथैव हि  
 व्यवस्थिनोऽर्थं तथैव गृहीयात्, तत् आत्मलाभलक्षणत्वात् व्यभिचारस्य । व्यभिचरति  
 च । अतो यथा अ यदेशादिसंभ्रमस्य धर्मस्यासन एव ग्रहणं तथा धर्मिणोऽप्यसन एव  
 ग्रहणसम्भवात् निपरीतयात्यं (त्ये)नात् श्रेयान्, असत्त्वयातेरपि प्रसङ्गात् इत्यभिप्राय ।  
 एतदेव दर्शयन्नाह—‘ततः’ इत्यादि । तत, तस्माद् बुद्धेर्भविचारत्वात् सशयादिज्ञानमहे  
 तुकम्, अर्थलक्षणकारणत्वात् स्यात् धर्मवत् धर्मिणोऽपि असत् एव प्रतिभाससम्भवात् ।  
 10 ईदृश्यंते हि तानद् अक्षिपक्ष्माद्यपायेऽपि तैमिरिकस्य केशोण्डुकादिज्ञानम् ।

ननु केशोण्डुकादिज्ञानं भ्रातृत्वाद् अर्थापायेऽपि उत्पद्यते, नायद् विपर्ययात् ।  
 नचायस्य व्यभिचारः अयस्य व्यभिचारः अतिप्रसङ्गात्, इत्यप्यसमीक्षिताभिधारम्,  
 परानिरेपेक्षतया हि स्वपरप्रकाशात्मकत्वं ज्ञानस्य स्वरूपं न पुन सत्यत्वमसत्यत्वं वा ।  
 तत्र च यथा सत्याभिमतं ज्ञानं स्वपरप्रकाशात्मकं तथा केशोण्डुकादिज्ञानमपि । एतावास्तु  
 15 विरोध—किञ्चित् सत्परं प्रकाशयति सवात्समघात्, किञ्चित्तु असद् विस्वादात् ।  
 न चैतन्निवृत्ता जाल्यं तरत्वेन अनयोरेत्यत्र व्यभिचाराभासो वा, अन्यथा ‘प्रयत्नान्तरी  
 यः शब्दः कृतवत्त्वाद् घटान्वित्’ इत्यादेरपि अप्रयत्नान्तरीयकं विगुह्ननकुमुमा

(१) यथा चिरवालीनाध्ययनान्वितस्योत्पत्त्यन्वयस्य नीलोत्पत्त्यादिगुणविशिष्टं केशोण्डुकाद्य  
 क्वचित्प्रयत्नात् परिस्फूर्तिं जपवा करसमृत्तिलाचनरश्मिषु यथा कशापिण्डवत्त्वात् स केशोण्डुकः । -  
 शास्त्रदी० युक्ति० पृ० ९९ । केशोण्डुका नाम पक्षिण यो केशमूलायुत्पाटयति - निष्ठासमू० पृ० ७० ।  
 ‘तैमिरिकाणामिव केशोण्डुकाभ्यां विनाप्यथसत्त्वानिति । - मध्यात्तवि० पृ० १५ । केशोण्डुकं यथा  
 मिस्या गृह्णन् तमिरजम् । - लङ्कावतार० पृ० २७४ । (२) तुलना— कामाक्ष्यपूजितचक्षुषो हि न  
 केशोण्डुकाद्येभ्यः कारणत्वेन व्याप्रियते—तत्र हि केशोण्डुकस्य व्यापारो नयनप्रभादेर्वा कामलादेर्वा  
 गत्यन्तगमात् ? न तावदाद्यविवक्ष्य, न यत् तत्रात्र केशोण्डुत्वलक्षणार्थं सत्येव भवति भ्रमाभाव  
 प्रसङ्गात् । नयाप्यभासत्कारणत्वे तस्यैव प्रतिभासप्रसङ्गात् गगनतलावलम्बितया पुर स्थतया केशो  
 षडुवाकारतया च प्रतिभासो न स्यात् । न ह्ययत्नया यथा प्रत्यक्षेण शक्यम् । अथ नयनकेशा एव तत्र  
 तथाऽम्बुतोमि प्रतिभासन्ते तर्हि तद्विदितस्य कामलिनोऽपि तत्प्रतिभासाभावः । - प्रमेयक० पृ० २३३ ।  
 (३) स्वपरग्रहणत्वात् हि ज्ञानम् तत्र च यथा सत्याभिमततया स्वपरग्राहकं तथा केशोण्डुकादि  
 ज्ञानमपि । एतावास्तु विरोधं किञ्चित्सत्परं गच्छानि सवात्समघात्वात् किञ्चिदसत्प्रसङ्गात् । -  
 प्रमेयक० पृ० २३५ । (४) सयत्नानम् । (५) अमत्यत्नानम् । (६) सत्परत्व-असत्परत्वग्रहणमात्रेण ।  
 (७) सयाप्रत्ययानया ।

1-यत् पृ० १३ ज्ञानम् नास्ति थ० । 2 इत्युप-व० । 3-पक्षादि-थ० । 4-सम्ब-धस्य थ० ।  
 5-युक्तं हि लोचनपदमाद्यपायेर्नि व० । 6 नचायस्यस्य व्यभिचारोति-व० । 7 स्वहृत्परप्रका-  
 थ० । 8 विसंवायसंभवात् थ० ।

दिभिर्न्यभिचारो न स्यात्, ताल्वादिदण्डादिजनितात् शब्दघटादे तद्विपरीतस्य विमुक्तौ-  
रन्यत्वात् । न चा यस्य व्यभिचारे अन्यस्य व्यभिचारोऽतिप्रमङ्गात् । तथाप्यत्र व्यभिचारे  
प्रकृतेऽपि सोऽस्तु विशेषाभावात् ।

'तिमिर' इत्यादिना परमतमाशङ्कते-तिमिरादीना द्वय, पुन अन्विष्टेन  
वृत्तीदि । आन्विष्ट इत्यत्र प्रत्येकमभिमन्व्यते । तेन एतत्र आन्विष्टेन कृत्वा-  
मन्वलेन्द्रियदोषपरिग्रह, अन्यत्र दृढप्रहारान्निरीकार, इतरेषु अत्र प्रकृतौ-  
अपरं चोद्वानुपयोगप्रदणम् । तद्वैतुत्वे अङ्गीक्रियमाणे कर्मर्थे हि प्रकृतौ-  
पुष्पाति इति एव मृग्य न कश्चिदित्यर्थ । फुत एतदित्यत्राह- 'सन्पुष्पाति-  
न केवलमसत्यज्ञाने अपि तु सत्यज्ञानेऽपि तिमिराद्यभावस्य, इत्यत्र-  
मनोरगतस्य । इन्द्रियगतस्य तिमिराद्यभावस्य, मनोगतस्य सत्यज्ञाने-  
यमनोगतस्य आशुभमणायभावस्य कारणत्वात् इन्द्रियान्निष्ठं च तद्वैतुत्वं-  
इति म यते, भावान्तरस्वभावात्त्वादभावस्य । यथा च अन्विष्टे-  
अनतोऽकारणस्य अर्थस्य ग्राहक तथा सत सत्यज्ञानेति-  
माह-'तत' इत्यादि । यस्मादुक्तपत्रेण अयं चिदत्र इति-  
शुभापितम्-इन्द्रियमनमी कारण विज्ञानस्य अर्थे-  
ननु च इन्द्रियार्थो मतोरपि अन्विष्टे-  
मत्येव न्त्यते तस्यैव तत्र भावकनमन्वो-  
पनोर्थाह-

सन्निधेरिन्द्रियार्थानामन्य इत्यन्विष्टयोः ।

कार्यकारणयोश्चानि बुद्धिरन्यवगामिनी ॥ ५० ॥

विशुद्धिः-सन्निधेर्यादयः साध्यान्तर्गतत्वात् । बुद्ध्याऽन्यवगामिनी च तैर्बुद्धिः  
प्रागन्वयमायात्, अन्यथा कस्यैश्चात् बुद्धेरन्विष्टासु ? आ मननइन्द्रियायाना

- (१) तिमिर । (२) आशुभक । (३) अन्विष्ट । (४) अन्विष्ट । (५) तिमिरादिगहितम् ।
- (६) अन्विष्टभाव । (७) इन्द्रियार्थानामन्य । (८) अन्विष्टेन । (९) अन्विष्टेन । (१०) अन्विष्टेन ।
- (११) बुद्धौ । (१२) अन्विष्टेन । (१३) अन्विष्टेन । (१४) अन्विष्टेन । (१५) अन्विष्टेन ।

१) अन्विष्टेति-आ०, य० १) अन्विष्टेति-आ०, य० १) अन्विष्टेति-आ०, य० १)

८) अन्विष्टेति-आ०, य० १) अन्विष्टेति-आ०, य० १) अन्विष्टेति-आ०, य० १)

कारणानामतीन्द्रियाणा सन्निकर्षो देववप्रोष । कथ तस्य विज्ञानोत्पत्तावङ्गीकृ-  
णमिति चिन्त्यम् ? प्राग्विज्ञानोत्पत्तेः अर्थमनप्रबुद्ध्यमाना कारणमकारण वा  
कथ ब्रूयुः ? उत्पन्न हि विज्ञानमर्थस्य परिच्छेदक न तत्कारणताया । आलो-  
कोऽपि न कारण परिच्छेद्यत्वादर्थवत् ।

कार्यकारणयोश्चापि इत्यपिशब्द सन्निकर्षेः इत्यस्यान्तर द्रष्टव्य , ततो-  
ऽयमथा चायते-न केवलमर्थस्य नितु सन्निकर्षेण सन्निकर्षस्यापि बुद्धिरं-  
कारिणो-  
ध्यवसायिनी । वेदा तस्यै इत्याह-इन्द्रियार्थानाम् । तथा अन्य  
व्यतिरेकयोः सन्निकर्षाभावात्तयो बुद्धि अध्यवसायिनी । न केवलमनयो अपितु  
कार्यकारणयोश्च, कार्यं सन्निकर्षं कारणम् इन्द्रियादि । यत्ति या, कार्यं  
ज्ञानम्, कारण सन्निकर्षं तयोश्च बुद्धिरध्यवसायिनी । एतदुक्तं भवति-सन्निक-  
पादिसद्भावेऽपि यावद् बुद्धिर्नात्पद्यते तावत्तस्य तन्न्यव्यतिरेकयो तैत्कार्यकारणभावस्य  
अन्यस्य वा न व्यवसाय, बुद्धिकल्पनावेफल्यप्रसङ्गात् । उत्पत्ताया तु तस्यैव अयापे  
क्षामन्तरेणैव तत्र व्यवस्येति, अत सर्वे साधकतमत्वात् प्रमाण न सन्निकर्षादि ।

कारिका विवृण्वन्नाह-‘सन्निकर्ष’ इत्यादि । सन्निकर्ष आदिर्येषाम् अन्यव्य-  
तिरेकान्तीना ते तयोक्ता , कारणान्तरात् इन्द्रियमनोत्पत्त्याद् उत्पन्न-  
या बुद्ध्या अध्यवसायन्ते । न च नेव तैः सन्निकर्षाभिर्बुद्धि-  
अध्यवसायते । कुत एतदित्याह-‘प्राग्’ इत्यादि । प्राग् बुद्धुत्पादात् पूनम् अनध्य-  
वसायात् सन्निकर्षादीना बुद्धिनिषयव्यवसायरहितत्वात् । तन्नभ्युपगमे दूषणमाह-  
‘अन्यथा’ इत्यादि । अन्यथा अयेन प्रागध्यवसायप्रकारेण कर्मव्यवसायं बुद्धे  
अन्वेषणम् । बुद्धेरिव अन्यस्यापि सन्निकर्षाभ्य एव सिद्धे । न चैवम्, अतो बुद्धे-  
रव मर्षेण साधकतमत्वात्प्रामाण्यमित्यभिप्राय । यत्पुनरतेत्-‘आत्मा मनसा युज्यते,

(१) तुलना- आलोकेनापि जयत्ये नालम्बनतया भिन् (विद) । किन्तिन्द्रियवलाघानमात्र  
त्वेनानुमयते ॥ -तत्त्वावशलो० प० २१८ । नार्थालोको कारण परिच्छेद्यत्वात्तमोवत । तन्नव्यवसायि-  
रेकानुविधानाभावात्तत्तानुक्तानवप्रकृतञ्चरणवच्च । -परीक्षामु० २१६ ७ । 'नार्थालोको कारण  
मव्यतिरेकत । -प्रमाणमी० १११२५ । (२) सन्निकर्षस्य । (३) सन्निकर्षस्य । (४) सन्निकर्षबुद्धयोर  
व्यव्यतिरेकयो । (५) इन्द्रियसन्निकर्षयो सन्निकर्षनानयोर्वा कायकारणभावस्य । (६) बुद्धो । (७)  
बुद्धि । (८) यत्ति बुद्धयुत्पत्तान्तरणापि सन्निकर्षाभिः अथपरिच्छेत्क स्यात्तदा । (९) तन्वेद  
प्रत्यं चतुष्टयत्रयद्वयसन्निकर्षाप्रवन्ते । तत्र बाह्य रूपादी विषय चतुष्टयसन्निकर्षाज्ज्ञानमुत्पद्यते  
आत्मा मनसा समुज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेनिति । सुखान्तो तु त्रयसन्निकर्षाज्ज्ञानमुत्पद्यते तत्र  
चक्षुरादित्रयापाराभावात् । आत्मनि तु योगिनो द्वयोरुत्तममनमारेव सयोगाज्ज्ञानमपजायते तत्तीयस्य  
प्राहस्य प्राहस्य तत्राभावात् । - पायमं प० ७४ । उदतमित्म-प्रमाणवा० हवव० टी० प० १४० ।

१. देववप्रोष प्राग्विज्ञानोत्पत्तेरयमनवबुद्धयमाना कारणमकारणं वा कथं ब्रूयुः । कथं तस्य  
विज्ञानोत्पत्तावङ्गीकरणमिति वित्यासाधिज्ञानोत्पत्तरथमवबुद्धयमाना कारणमकारणं वा कथं ब्रूयुः ?  
उत्पन्न ज० वि० । २ तत्कारणतया ई० वि० । ३-रध्यवसाय-थ० । ४ अयव-थ० । ५ काय आ०, थ० ।  
तावन्न तस्य थ० । ७ अयपि आ० ।

मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन" [-यायम० पृ०७४] इति तत्राह—'आत्मन' (त्ममन) इत्यादि । आत्मनो मनसा मनम इन्द्रियैः इन्द्रियाणामर्थेन । कथम्भूतानाम् ? अतीन्द्रियाणाम् इन्द्रियातिक्रान्ताना य सन्निकर्षः स दुरजयोधः ज्ञातुमशक्य । अत कथं केन प्रकारेण तस्य सन्निकर्षस्य विज्ञानोत्पत्तौ अङ्गीकरणम् ? इति एव चिन्त्यम् । यत्कृतं श्रिञ्जातुत शक्यते न तत् ज्ञानोत्पत्तौ कारणत्वेन प्रेक्षायता अङ्गीकर्तव्यम् यथा ग्रन्थिपाणम्, कुनश्चिन्पि प्रमाणात् ज्ञातुत शक्यते च सन्निकर्षादिरिति । यथा चासौ कुतश्चिदपि प्रमाणात् ज्ञातुमशक्य तथा प्रत्यक्षपरिच्छेदे<sup>१</sup> प्रपञ्चत प्रतिपात्तम् । भूतकल्पितश्च आत्मा मन इन्द्रियमर्थश्च निरशान्तिरूपो यथा नोपपद्यते तथा निषय-परिच्छेदे सप्रपञ्च प्रपञ्चितम् । अत कस्य केन सन्निकर्षं स्यात् ?

प्वम् 'सञ्ज्ञादिविदुत्पादः' इत्यादिना अर्थव्यतिरेके ज्ञानज्यतिरेकाभावात् प्रतिपाद्य साम्प्रतम् अर्थान्वयग्रहणाभावात् दर्शयितुमाह—'प्राग्' इत्यादि । प्राक् पूर्वं विज्ञानोत्पत्तेः अर्थमनवबुद्धयमाना नैयायिकादयः कारणमकारणमेव वाच्यं विज्ञानोत्पत्तेः कथम् न कथञ्चिद् द्रूयु । एतदुक्तं भवति—यथा अग्निदर्शनानन्तर धूमदर्शनं तथा यन्ति अर्थदर्शनानन्तर ज्ञानदर्शनं स्यात् तथा स्यादर्थकार्यं तत्, न चैवमस्ति । ननु तदुत्पत्ते पूर्वं प्राहकाभावात् तत्रै कारणकारणविभागप्रतिपत्ति तदुत्पत्ते तु भविष्यति, इत्यत्राह—'उत्पन्नम्' इत्यादि । उत्पन्न एतन्नात्मलाभ हि स्फुटं विज्ञानम् अर्थस्य परिच्छेदकं न तत्कारणतायाः । अधुना आलोकस्य ज्ञानकारणता निराकुर्यत्राह—'आलोकोऽपि' इत्यादि । न केवलम् अर्थादि, किन्तु आलोकोऽपि न कारणम् 'विज्ञानोत्पत्ते' इति सम्बन्ध । कुत एतन्त्याह—परिच्छेद्यत्वात् । प्राक् प्रमाथितं दृष्टान्तमाह—'अर्थप्रत्' इति । अर्थ इव अर्थवत् ।

मनु यद्यालोक तदुत्पत्ते कारणं न स्यात्तर्हि तन्भावेऽपि रूपज्ञानोत्पत्ति कुतो न स्यादित्याशङ्क्याह—

तमो निरोधि वीक्षन्ते तमसा नावृत परम् ।

कुड्यादिकं न कुड्यादितरोहितमिवेक्षकाः ॥५६॥

(१) सन्निकर्षादि न नानात्पत्तिकारणं कुतश्चिदपि प्रमाणाज्ज्ञातुमशक्यत्वात् । (२) पृ० २० । (३) नयायिककल्पित । (४) नानम् । (५) अर्थे । (६) प्राहकमूतानस्योत्पत्तौ । (७) आलोककारणतावादी बौद्ध, तथा च तत्राप्य—'यथा इन्द्रियालोकमनस्कारा आभेदप्रमनस्कारा वा रूपानमेव जनयन्ति'—प्रमाणवा० स्वद्व० १।७५ । (८) आलोकभावेऽपि । (९) 'वीक्षन्ते विगर्षेण नीलातिरूपनया पश्यन्ति । के ? ईशवा चक्षुष्मन्तो जना । किम् ? तमो-यकारं पुनर्गल्पयामिम् । किंविशिष्टम् ? निरोधि प्रमेयान्तरनिरोधायकम् । पुनर वीक्षन्ते । किम् ? पर घटादिकम् । किंविशिष्टम् ? केन ? तमसा । तत कथमालोको ज्ञानकारणं तन्भावसि कथम्भूतम् ? क्वनम दृष्टान्तमाह—इव यथा कुड्यादिकमीक्षन्ते ईशवा कुड्यादितिराहितं पुनर्गल्पयामि नयन्ते तथा तमो वीक्षन्ते तन्नावृतं तु परं नक्षन्ते इति ।—सूची० ता० पृ० ७७ । उदगोऽयम्—सिद्धिवि० टी० १८७ । तमोनिरोधे घटादिकं ।—सामति० टी० पृ० ५४४ ।

१ एतस्य व० । २ य कुत-व० । ३-चिदुत्पा-श्र०, व० । ४ प्राक्सापि—आ० । ५ की-व०

विवृतिः—नहि तमः चक्षुर्ज्ञानप्रतिषेधक तमोविज्ञानाभावप्रसङ्गात् । अन्यत्र विज्ञानाभावहेतुरिति चेत्, आलोकोऽपि तमोविज्ञानाभावहेतुत्वात् तमोवदभाव हेतु' स्यात् । अर्वागभागदर्शिन' परभागपरिच्छेदाभावात् तस्यापि ज्ञाननिरोधित्व स्यात्तमोवत् । प्रत्यर्थमावरणपरिच्छेदापेक्षया ज्ञानस्य परिच्छेदकत्वात् । नावरण तिमिरादि परिच्छेद्यत्वादर्थम् ।

तम. अधकार वीक्षन्ते 'प्रिशेषेण अवाध्यमानतया प्रस्फुटरूपतया वा

ईक्षन्ते पश्यति जना । कथम्भूत तत् ? इत्याह—निरोधि

करिमाय -

प्रच्छादकम् । तथा च आलोकाभावेऽप्युपजायमान तज्ज्ञान कथ

तत्कार्यं स्यात् ? चैदभावेऽपि यदुपजायते न तत् तत्कार्यम् यथा चक्षुषोऽभावेऽप्युपजा-

यमान रसज्ञान न तत्कार्यम्, आलोकाभावेऽप्युपजायते च अधकाररूपादिज्ञानमिति ।

अथ मतम्—आलोकस्य तज्ज्ञानाहेतुत्वे तमसि स्थिताना घटाग्नीना ग्रहण स्यात्, तदयु-

क्तम्, तस्यै तत्रिरोधित्वात् । एतदेवाह—'तमसा' इत्यादि । तमसा अन्धकारेण

आवृत प्रच्छान्ति पर घटाग्निक न ईक्षते । अत्र दृष्टातमाह—'कुड्यादिकम्'

इत्यादि । इव शब्द यथाऽर्थ । यथा कुट्ट्यादिक नेक्षन्ते ईक्षकाः । कथम्भूतम् ?

कुट्ट्यादितिरोहित परेण कुट्ट्याग्निना यमहित तथा प्रकृतमिति ।

नेनु ज्ञानानुत्पत्तिव्यतिरेकेण अपरस्य तमसोऽमभवात् कस्य तैन्नरोधित्व

ज्ञानानुत्पत्तिरिति स्यात् ? नहि असत् कस्यचिन्नरोधकत्वात् अश्वविषाणादेरपि तत्प्रस-

क्षणमस्ति तमाऽप्य ज्ञात् ? न च तदनुत्पत्तिव्यतिरेकेण अयस्यास्य असभवोऽसिद्ध,

नन्तरमिति शानिक- सालोकेऽपि गर्भगृहादिप्रदेशे बहिर्देशादागतस्य प्रतिपत्तु असत्य-

नायस्य तमाभाव प्यधकार ज्ञानानुत्पत्तौ तम प्रतीत्युपलब्धे । द्रव्यान्तरत्वे तस्य

रूप एव तम इति यागस्य च पूर्वपक्षे चक्षुष तैत्प्रकाशने आलोमानपेक्षा न स्यात् । आलोकमेव हि

(१) तमोज्ञानम् । (२) आलोकावयवम् । (३) तमोज्ञान नालोकावयव आलोकाभावे

प्युपजायमानत्वात् । (४) तमस । (५) गालिकावयवम् । (६) य पुनर्निशि नीलिमेवाव

लोकरते नागो नमस । कस्य तहि ? न कस्यचित् । कय पुनगुणो न कस्यचिन् ? सत्यम्, गुण

एवावयवप्रसिद्ध । ननु प्रतीतिवत्त्वं सिद्ध एव । सिद्धयद्यदि प्रसिद्धिरेव सिद्धयेन सा तु कारणमा

वाप्त मिद्धा । ननु चक्षुरेव कारणम् न आलोकोपकारानपेक्षस्य चक्षुषोऽप्रकाशकत्वात्, तेन

अप्रतीतिवत्त्वात् प्रतीतिभ्रमो भवति । अत एव त्विदानीं अयथा सोरीभि भागिरनुगृहीत

चक्षु स्फुटतर व्योम्नि नीलिमानं प्रकाशयत् । तमसो निष्प्रत्ययवत्त्वे रूपवत्त्वं हि तमो द्रव्यं

स्यात् तज्ज्ञानवत्त्वात् सत्त्वात्पु भवेत् । न च द्रव्याणि सन्ति सति चेद्द्विवाप्यारम्भम् ।

अघानामिव नालिमाभिमानो नमम एवेत्युक्तम् ।—प्रक० प० प० १४३ । 'तमो नाम द्रव्यात्तर न

भवति, अघानामिव केवर्त्त नीलिमाभिमान ।—तत्प्रह० प० २१ । (७) घटान्तिरोधावयवत्वम् ।

(८) ज्ञानानुत्पत्ति । (९) तमस । (१०) तमस । (११) तम प्रकाशने ।

१—ज्ञाने प्रति—३० वि । २ ज्ञानविरो—६० वि० । ३ विगयावाच्य—४० । ४ न तत्का—४० ।

५—ने कुट्ट्यादि—४० । ६—तिपरेण व० ।

चक्षु आलोकनिरपेक्ष प्रमाशयति न द्रव्यान्तरम् । ननु तमो [५]द्रव्यान्तरत्वे छायायाश्छात्रादेरर्थांतरभूताया प्रतीतिर्न स्यात् । अस्ति चास्यै तथैभूताया प्रतीति ततो बीजादङ्कुरवत् ततोऽसौ द्रव्यान्तर सिद्धा । तथाभूता चासौ सिद्ध्यन्ती तमो द्रव्यान्तरत्व साध्यतीति, तत्समीचीनम्, आलोकाभावरूपतया अस्या द्रव्यान्तरत्वामभवेऽपि विभ्रमवशात् तत्र तत्प्रतीतिरूपपत्ते । तथाहि—येन येन प्रदेशान्तरेण छात्राद्यावारकद्रव्यप्रतिरुद्ध तेजो न सयुज्यते तत्र तत्र छाया प्रतीयते, प्रतिरुद्धकस्य आतपत्रादेरपाये तु स्वरूपेण आलोक प्रतीयते, इत्यालोकाभा एव छाया । द्रव्यान्तरत्वे तु तस्यास्तर्दीपायेऽपि आलोकेन महानस्थिताया प्रतीति स्यात् । न हि जातु किञ्चिद्द्रव्य द्रव्यान्तरेण महानस्थायि प्रतीतम् ।

एतेन 'छाया द्रव्यान्तर देशादेशान्तरप्राप्तिमत्त्वेन त्रियावत्त्वात्' इत्येतत् प्रत्याख्यातम्, तथाहि—यत्र यत्र आतपत्राद्यावारकद्रव्येण तेनस सन्निकर्षं प्रतिषिध्यते

(१) श्रुतिताया पू० प्रती 'तमोद्रव्या-' अयमेव पाठो भाति । (२) छायाया । (३) छायाद्भिन्नाया । (४) छात्रात् । (५) छाया । (६) छाया । (७) 'यच्चेदमुच्यते छायाव तम सा चल्त्वा चल्त्वमहत्त्वमहत्त्वदूरत्वात्तत्रत्वादिगुणयोगिनी वस्तुभूतेति, तदिदमप्यसारम्, अनवकल्पतेरेव । मच्च छाचलत्वादिवमुपयस्त तदपि स्थूलदर्शिताया । तथाहि—आलोकेऽपवारिते छायाप्यपथते । ततोऽपवारितालोकभूभागात्त्रिभावाद्यनिरिक्तीणी न रूपावन्तरवच्छाया दृश्यते । तेन मयामहे व्यपवारितालोकभूभागादिवमेव छायाति ।'—प्रक० प० प० १४४। 'अपवारितालोक केवल भूभागादिवमेव छाया ।'—तत्ररह० प० २१ । 'आलोकज्ञानाभाव इति प्राभाकरव्यतिनि ।'—सवद० प० २२९ । (८) छायायाम् । (९) छात्राद्यन्तरत्वप्रतीति । (१०) "द्रव्यगुणकमनिष्पत्तिवधर्म्यादिभावस्तम ।"—वशा० सू० ५।२।१९ । 'उदभूतरूपवद्यावत्तत्र ससर्गाभावस्तम ।'—वशा० उ० ५।२।२० । (११) छात्राद्यपायपि । (१२) 'तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च ।'—वशा० सू० ५।२।२० । 'द्रव्य छाया गतिमत्त्वात्ति हेतु साध्यना विगिष्ट साध्य तावदेतत्—वि पुरपवच्छायापि गच्छति, आहोस्वित् आवारकव्य ससर्गति आवरण सन्तानात्प्रतिधिस तानोऽप्य तेजसो गृह्यते इति ? सपता खटु द्रव्येण यस्तजोभाग आविष्यते तस्य तस्या सन्निधिरैवावच्छिन्नो गृह्यते इति ।'—यावशा० १।२।८ । 'आवारके द्रव्ये प्रसर्पति तजसोऽसन्निधिवि सिष्टं द्रव्य यद्रूपलभ्यते तत् छायेत्युच्यते ।'—यावशा० १।२।८ । 'भासामभावरूपत्वाच्छायाया ।'—प्रग० ध्यो० प० ४६ । 'न तावच्छाया सामायविशेषसमवायान्तभूता, अनित्यत्वात्तस्या । नापि वम, समयोगविभागासमवायिकारणत्वाभावात् । न गुणो द्रव्यासमवायात् । न मनात्किञ्चाल्गुण, तद्गुणा नामप्रत्यभवात् । नाप्यात्मगुण बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् । नापि नमोनमस्वतो, तद्गुणानामचागुपत्वात् । नापि तेजस, तद्विद्विधत्वात् तत्सहचरितगुणान्तरानुपपत्त्येव । अत एव न पुत्रिबीपायसारपि । अपि च तद्गुणस्वचागुपो नाप्यात्मन्तरेण रावयग्रह, छाया तु तमन्तरेण गृह्यते तस्मिन्सु सति न गृह्यत इति दुषटम् । नापि द्रव्यम्, तदिष्टपुषिव्यानीनाम यतममव भवत्पन्ना दगमम् । न तावत्पनमम्, तद्गुणानामनुपलब्ध । नाप्य यद्रूपवन्ति युज्यते । तस्याद्द्रव्यस्य प्रपक्षत्वानुपपत्ते, अम्पगवत्त्वात्पारम्भकवेदानेव द्रव्यत्वाभावात् । तस्मादभव एव छाया न तु सतीति सिद्धम् ।'—यावशा० ता० प० ३४५ । प्रग० किर० प० १९ । श्रीपरस्तु आरोपितरूपविगपात्मनं तम स्वीकराति । 'तस्माद्रूपविशयोऽप्यमयन तेजोभाव गति सवत समारोपिनस्त्वम इति प्रतायत । त्वा बोधे नयानात्परस्य नीतिमावभास इति

तत्र तत्र अयाऽया छायोपलभ्यते, न पुन पूर्वदेशोपलब्धा अन्यत्र देशे, इति आचार्यद्रव्यगत कर्म तत्राध्यारोप्य प्रतिपत्ता 'छाया गच्छति' इति प्रतिपत्तये, यथा अन्धाचारुड स्वगत कर्म वृक्षेऽध्यारोप्य 'वृक्ष आगच्छति' इति । देशान्तरप्राप्ति-  
 ५ आसौ देशान्तरेण सयोग, समवायो वा ? यन्ति सयोग, अयोन्याश्रय - तद्रव्य-  
 ल्यमिद्धो हि सयोगमिद्धि, तत्सिद्धौ च तद्रव्यत्वसिद्धिरिति । अथ समवाय, तद-  
 प्यनुपपन्नम्, एतत्र समवेतस्य द्रव्यस्य अयत्र समवायाऽसमवादिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम् - 'ज्ञानानुत्पत्तिव्यतिरेकेण नापरतम' इत्यादि,

तत्र द्रव्यस्या पुद्गल  
 द्रव्यमिद्धि -

नदसमीक्षिताभिधानम्, प्रतीतिनिरोधात् । सुप्रसिद्धा हि आलोका-

तमसो रसस्वरूपण अयोयत्रिलक्षणयो प्रतिप्राणि प्रत्यक्षतो विल-

१० क्षणा प्रतीति । न च विषयवैलक्षण्यव्यतिरेकेण प्रतीतिवैलक्षण्य युक्तम्,

पुष्पाद्यद्वैतमिद्धिप्रसङ्गतो भेत्वादोच्छेदप्रसङ्गे । तमनिष्ठता प्रतीतिवैलक्षण्य विषय-

वैलक्षण्यपूर्वक प्रतिपत्तयम् । प्रयोग - तत्र प्रतीतिवैलक्षण्य विषयवैलक्षण्यपूर्वक तत्त्वात्

घटापटाप्रतीतिवैलक्षण्यवत् । भावाभावरूपविषयवैलक्षण्यपूर्वकत्वेन आलोकतम-

प्रतीतेरिष्टत्वात् सिद्धमाध्यता, इत्यप्यभिचारितरमणीयम्, तमसो रूपादिमत्त्वेन आलो-

१ कनद् अभावरूपत्वानुपत्ते । तद्वैलक्ष्ये वा रूपादिमत्त्वनिरोधात् । 'धोऽभावो नासौ

रूपादिमान् यथा घटाद्यभाव, आलोकाभावरूपतयोष्टञ्च तम इति । न चास्य रूपादि-

मत्त्वमसिद्धम्, आलोकात् तत्रापि तत्सद्भावप्रतीते । यथैव हि आलोके भासुर रूपम्

कथाम् । यत्र तु नियतदशाधिकरणो भासाप्रभावस्तत्र तद्दशासमागमित नालिम्नि छायात्यवगम । अत

एव नीचां हृष्टा महती अन्वीर्यो छायात्यभिमान तदशयापिन नीलिम्नि प्रतीते ।' - प्र० १० प० ५०

१ । तथाहि - यत्र वारकद्रव्येण तेजस सन्निधिनिषिध्यत तत्र तत्र छायाति व्यवहार । वारकद्रव्येण

ताञ्च क्रियात् आनपाभावे समारोप्य प्रतिपद्यत छाया गच्छतीति अयथा वारकद्रव्यगत क्रियापेत्वं

न स्यात् । - प्र० १० प० ५० ४७ । यत् तेज प्रतिरोधि द्रव्य तद्यथा यथा सञ्चरति तथा तया लोका

प्रतिमुच्यते प्रतिरुच्यत चति चलतीव छाया प्रतिभाति अयथा गरीरेऽपि चलति किमिति छायाऽपि

चलन हृत्तरभावान् ।' - प्र० १० प० ५० १४४ ।

(१) तजोऽभाव । (२) प्रतिपद्यते इति शय । (३) छायाया । (४) यच्चैद दशान्तरप्रा

प्तिमत्त्वं तत्किं देशान्तरेण सयोग तस्यापि साध्यत्वान् । तथाहि - द्रव्यत्वसिद्धौ सयोग सिद्धयति,

सवागान् द्रव्यवमिति एतरेतराध्ययत्व स्यात् । - प्र० १० प० ५० ४७ । (५) 'अथ देशान्तरप्राप्ति

समवाय साध्यसिद्ध । न ह्यकथ समवेत अयत्र समवति । छाया त्वक्त्र सम्बद्धोपलब्धा पुन देशान्त

रेष्युपपन्नम् । न च क्रियावत्त्व देशान्तरसमवायान सिद्धयति तस्याप्ययुतसिद्धेप्येव भावान्ति ।' -

प्र० १० प० ५० ४७ । (६) पु० ६६६ प० १६ । (७) तुलना - अन एव नागोक्तानाभाव, अभावस्य

प्रतिपादिघातेऽप्यप्राप्त्यव नियमन मानसत्वप्रसङ्गात् । - सवद० पु० २३० । न चाप्रतीतावेव प्रती

तिभय न व्यपहारस्य तत्प्रतिपत्तिस्तरेषानुपपत्त ।' - वित्तु० प० २९ । (८) आलोकतमसो

प्रतिभासम् । (९) नयाविकरणापितान्य । (१०) हृष्णरूपीतस्यावत्तादिक्रियागालित्वेन ।

(११) अभावरूपत्व वा । (१२) तमो न रूपादिमत्त्व अभावरूपत्वान् । (१३) तमस्यपि ।

उष्णस्पर्शश्च लोके प्रसिद्ध तथा उद्यादितमसि कृष्ण रूप शीतस्पर्श इति । ततो द्रव्य तम गुणवत्त्वात्, यद् यद् गुणवत् तत्तद् द्रव्यम् यथा आलोकादि, गुणत्रय तम इति । न केवल उद्यादिलोक एव गुणत्रय प्रसिद्धम्, अपि तु वैद्यकशास्त्रेऽपि । तदुक्तम्—

“आतप कटुको रूक्ष छाया मधुरशीतला ।

कषायमधुरा ज्योत्स्ना सर्वव्याधिहर (वर) तम ॥” [ राजनि० ।

(१) जना हि तम पुद्गलद्रव्यात्मक स्वीकुवन्ति, तथाहि—‘गोयमा दिया सुभा पोगला मुभ पोगलपरिणामे, राति अमुभा पोगला अमुभ पोगलपरिणामे ।’—भगवतीसू० ५ । १ । २२४ । “सद्घ यारउज्जोओ पहा छायातव इ वा । वण्णरसगधपासा पुगलाण तु लवणम ॥”—उत्तरा० २८।१२ । नवतत्त्व० गा० ९ । “अद्घ घसीम्यस्यी यसस्थानभेदतमदछायातपोद्योतवन्तश्च । —तत्त्वायसू० ५।२४ । “सद्घ व घो सुद्धो यूलो मठाण भेत् तम छाया । उज्जादादवसहिया पुगलत्त्वस्स पज्जाया । —द्रव्यस० गा० १६ । वयाकरणास्तम अणुरूप स्वीकुवन्ति—‘अणव सवशक्तित्वाद भेदसमगत्रय । छायातपतम शब्दभावेन परिणामिन ।’—वाचस्प० १।१११ । अयायपि तमसो द्रव्यरूपतामुररीकुवन्ति मतान्तराणि—‘तमात्तर्शन तु भूच्छायादशनम् । कतमत्पुनद्रव्यादीना तम ? ननु द्रव्यमेव कालिमगुणशक्तित्वात् स्पन्दवत्त्वाच्च । तथाहि—कालिमवास्य रूपमुपलभ्यते अत्येजसोरिव श्वेतिमा । एव सन्व्याप्यकवदादिवा परिमाण तच्चतुर्विध पृथि-याद्यणुनामिव तमोऽणुनामप्यनुमानात् पृथक्त्वसयोगविभागपरत्वापरत्वस स्काराश्च । पञ्चविधमपि कम अध्यायीकते । मयाहात्र भवा वातिवकार—ननु नगमावमात्रस्य तमस्त्व बद्धसम्मतम । छायाया वाण्यमित्येव पुराण भूगुणश्रुते ॥ भूगुणस्य वाण्यस्य छायाया द्रव्यान्तरश्रुते रित्यथ । दूरसन्नप्रदीपादिनेहचेष्टानुसारिणी । आसन्नदूरदीपादिमहत्त्वचलाऽचला । दहानुवर्तिनी छाया न वस्तुत्वादिना भवेत् ॥ इति । न च पृथिव्यादीमनायतनम् तस्मात्प्रत्यक्षसिद्धमसति वाक्ये द्रव्यान्तरमेकादश तमो नवगुण चेति सिद्धम् । नादृष्टी दशन छाया नचाऽभावोऽस्मृती गते । रूपादुपा यसमावान् द्रव्य द्रव्यान्तरानुगम ।’—विधिधि० टी० प० ७६-७९ । ‘किमिद तमो नाम ? द्रव्यगुणकमनिष्पत्तिवधर्म्याद् भाभावस्तम इति वाक्यपीया, तथा तु नीलवृद्धिनिर्निमित्ता स्यात् अभावस्य नीलिमाभावात् । न चामतो नीलिम्न किञ्चित् ग्राहक स्मारक वाऽस्ति । आलोकादानमात्रेण तु तदध्रमो भवस्तच्छूयमाणेऽपि स्यात् अतो द्रव्यात्तरमिद वायुवत्रीलिमगुणम् वायुस्वरूप स्पर्शान् इदञ्चाऽस्पर्श रूपवदित्यनावाविशेष । अथवा य एते पार्थिवास्त्रसरेणवो वातायनविवरेषु दृश्यमाना सवतो भ्रमन्ति तेषा ये नीलगुणवा तदगतमिद नीलरूप गृह्यमाण गुणान्तराणा द्रव्यान्तराणाञ्च तत्तरात्स्य च अग्रहणाद् व्याप्तमित्यग्रह्याण्डवच्चकारित । नीलरूपग्रहणे चालाकापक्षा नास्तीति तानवलाभ्युपगम्यते ।’—भी० श्लो० यावर० प० ७४० । “तमालस्यामलज्ञाने निर्वाध जाग्रति स्फुटे । द्रव्यान्तर तम कस्मादकस्मादपल्प्यत ॥”—चित्तसु० पृ० २८ । “अस्पर्शत्वं सति रूपवत्तम । तच्च नत्र द्वयमात्रग्राह्यमालोकाभावप्रकाश्य कृष्णरूपम् । कलायवोमलच्छाय दानीय भूग दृगाम । तम कृष्ण विज्ञानीयादागमप्रतिपात्तितम् ॥ गुणकमादिसत्त्वाभावादस्तीति प्रतिभासत । प्रतियोग्यस्मृतेश्च भावरूप प्रव तम ।—मानमेयो० प० १५९ । (२) आतप कटुको रूक्ष स्वेदमूर्च्छातयावह । दाहवष्य जननो नत्ररोगप्रकोपन ॥ छाया दाहधमस्वेदहर मधुरशीतला । ज्योत्स्ना कषायमधुरा दाहासृक्पित नाशिनी । तमो भयावहं निवत दपित्तेजोविरोधनम् ।—राजव० ५।२२ । ‘आतप त्रिदोषगमनी ज्योत्स्ना सवव्याधिहरं तम ।—राजनिष० । उदताश्रम—‘आतप कटुको रूक्ष छाया मधुरशीतला ।’—प्रग० ध्यो० पृ० ४६ । स्या० २० प० ८५५ । ‘छाया मधुरशीतला’—समति० टी० पृ० ६७२ ।



अथ मर्तम्-औपचारिकस्तत्र माधुर्यादिगुणो भुञ्जे वाधकसद्भावात् । तथाहि-  
रसनेन्द्रिययापाराद् यथा धीराणिपु माधुर्यप्रतिपत्ति न तथा छायायाम् । तस्मात्  
'मधुराणिद्रव्यनिपेवणाद् यौ गुणदोषौ ऋष्टौ छायानिपेवणादपि तावेय' इति घैद्यकशास्त्र-  
तात्पर्यम्, अतोऽमिद्ध गुणत्रय्य छायादे, इत्यप्यनल्पतमोविलसितम्, तत्रास्य अवाध-  
वोधाधिरूढप्रतिभासतया औपचारिकत्वात्प्रपत्ते । यद्यत्र अवाधवोधाधिरूढतया  
प्रतिभासते न तत्र औपचारिकम् यथा तेजमि भासुरत्वादि, अवाधवोधाधिरूढतया  
प्रतिभासते च छायाद्यधकार शीतलत्वादिगुणसद्भावात् इति । तथैविधस्याप्यस्य अत्रौ-  
पचारिकत्वे ष्योस्त्राऽऽतपयोरपि सुव्यतो गुणमिद्धिर्मा भूत्, कटुकत्वादिगुणाना  
तत्रा औपचारिकत्वप्रसङ्गात्, प्रागुक्तैश्च प्रथमप्रक्रियाया तत्रापि कल्पयितुं मुशकत्वात् ।  
तत प्रतीति प्रमाणयता प्योस्त्रान्वित् छायाद्यधकारेऽपि अनुपचरितगुणसद्भावसिद्धि-  
रभ्युपगतव्या, इति सिद्धमस्य गुणवत्त्वाद् द्रेव्यत्तम् ।

यदप्युक्तम्- 'अमत्यपि अधकारे गर्भगृहादौ ज्ञानानुत्पत्तौ तम प्रतीयते'  
इत्यादि, तत्रापि सर्वथा ज्ञानानुत्पत्तिस्तत्प्रतीतिहेतु, तदन्तर्वर्त्तिपदार्थेषु वा ? प्रथमपक्षे  
स्वैवचनविरोध 'माता मे वध्या' इत्यादिवत् । न गलु सर्वथा ज्ञानानुत्पत्ति वदत  
तम प्रतीतिरितिद्धा, तैप्रतीतौ वा सर्वथा ज्ञानानुत्पत्तिरिति । द्वितीयपक्षे तु प्रचुरतरा-  
लोत्पोषहतज्जि प्रतिपत्ता तत्रस्थानर्थान् यथात्रप्रतिपत्तुमसमर्थं जलरूपतया मरीचिका-  
चक्रमिव आलोस्त्रमेव तमोरूपतया प्रतिपद्यते । न च मिध्यातम प्रतिभासेन अमि-  
ध्यातम प्रतिभामस्य साम्यमापात्तयितुं युक्तम्, मत्यजलादिप्रतिभामस्यापि अस-  
त्यजलादिप्रतिभासेन साम्यापात्नप्रसङ्गतो वस्तु यस्त्वाभावात्प्रसङ्गात् ।

- (१) यच्च मागमात् माधुर्य वा छायाया तदप्युपचारात् । य हि मधुरद्रव्यस्य शीत  
द्रव्यस्य वा गुणा तं छायासत्त्वनाद भवतीति तत्कायकत्वेन तथोक्त । -प्रग० ध्यो० पृ० ४७ ।  
(२) छायादौ । (३) छायात्तौ माधुर्यात् । तुलना- 'छायापि शिगिरत्वात्प्यायवत्त्वाज्जलवातादिवत् ।'  
-तत्त्वावभा० ध्या० पृ० ३६३ । मस्यायवाधायामुपचारप्रवत् न चेषमत्रास्ति । -स्या० पृ० ८५६ ।  
(४) छायात्तौ माधुर्यात् नोपचारिकम् अवाधवोधाधिरूढप्रतिभासत्वात् । (५) अवाधितप्रतिभास  
विषयत्वे नि । (६) माधुर्यात् । (७) छायादौ । (८) तुलना- 'तत्तज्जस्यपि समानम् । -सप्तमि०  
टी० पृ० ६७२ । स्या० २० पृ० ८५६ । (९) तुलना- न च तमस पीद्गालित्वत्वमसिद्धम्  
वाग्नुपत्वाज्जधानुपपत्त प्रतीपात्तवत् । रूपवत्त्वाच्च रूपवत्त्वमपि प्रतीयते शीतस्पशप्रत्ययज  
नकत्वात् । -स्या० मं० का० ५ । 'तम रूपवत्त्वं रूपवत्त्वात् पूर्णविवत् । न च रूपवत्त्वमसिद्धम्,  
अधकार कृष्णोऽयमिति कृष्णाकारप्रतिभासात् । -रत्नाकराव० पृ० ६९ । (१०) तम प्रतीतिका  
रणम् । (११) तुलना- 'कि पुनरधकारावस्थाया पान नास्ति ? तथा चत् कथमधकारप्रतीति  
तन्मारेणापि प्रतीतौ अत्रापि ज्ञानकल्पनानयक्यम् । प्रतीयते पान नास्तीति च स्ववचनविरोध  
प्रतीतिरव ज्ञानत्वात् । -प्रमेयक० पृ० २३८ । (१२) तम प्रतीतौ । (१३) अविच्छेदा इति नेव ।  
(१४) अधकारान्तवनिपेवणात् ।

त्रिञ्च, ज्ञानानुत्पत्तिव्यतिरेकेण अपरस्य तमसोऽनभ्युपगमे विशैः ज्ञानोत्पत्ति-  
व्यतिरेकेण अन्यस्य आलोः स्यापि अभ्युपगमो मा भूत् । अमत्यपि हि आलोः बहला-  
न्कारनिशीथिनीममये नक्तञ्चरणाम् अङ्गनामिसकृतचक्षुपाञ्चं प्रस्फुटज्ञानोत्पत्तो मप्र-  
काञ्च ईकञ्च वस्तु प्रमाशते । लोः प्रतीतिनाथा उभयत्र तुल्या । यथैव हि 'मध्याह्ने अति  
तीत्रालोःने ऋर्हिर्गन्तुमममर्था ' इति लौकिकी प्रतीति तथा 'ऋह्यन्धकाराया रात्रो ऋर्हिर्गन्तु  
ऋस्ता ' इत्यपि । ततो निर्वाधनोवाधिरूढप्रतिभासत्वेन आलोः ऋद्रव्यस्य बान्धवत्वाभ्युपगमे  
तमोद्रव्यस्यापि तदभ्युपगन्तव्य विशेषाभावात् ।

तथा, द्रव्य छायाद्यधकार घटाद्यावारकत्वात् काण्डपटादिवत् । गतिमत्त्वा-  
न्चामौ याणादित् द्रव्यम् । न च गतिमत्त्वमसिद्धम्, 'वेगेन छाया गच्छति' 'शूनै-  
दद्याया गच्छति' इति प्रतिप्राणि प्रसिद्धप्रतीतित तस्या तैत्वसिद्धे । अनुमानान्च,  
तथाहि-गतिमती छाया देशादेशान्तरप्राप्तिमत्त्वात् याणान्वित् ।

यदप्यभिहितम्- 'देशान्तरप्राप्ति देशान्तरेण सयोग समवायो वा' इत्यादि, तत्र  
देशान्तरेण अस्या प्राप्ति सम्यन्धोऽभिप्रेत, स च सयोग एव पर्यवस्यति । न चैवम-  
न्योन्याश्रयत्वम्, अतश्च छायाया द्रव्यत्वाऽप्रसाधनात् । देशान्तरप्राप्तितो हि तस्या गति-  
मत्त्वप्रसाध्यते, तस्माच्च द्रव्यत्वमिति । न चैव चक्रप्रसक्तिरित्यभिधातव्यम्, तत्रापि  
प्रत्यक्षत एव प्रसिद्धस्वरूपत्वात् । यदि हि द्रव्यत्वसिद्ध्या तैव्याप्ति प्रसाध्येत ततश्च  
गतिमत्त्व तदा स्याच्चक्रम् । कथमन्यथा 'गतिमान् आदित्यो देशान्तरप्राप्तिमत्त्वात्'  
इत्याद्यावपि इतरेतराश्रयादिनोपानुपपन्नो न स्यात् ?

(१) यद्यवमानेकस्याप्यभाव स्यात् विशान्तानुत्पत्तिरेकेणाप्यस्य अस्याप्यप्रतीति । तद्वच  
बहारेस्तु लोके विज्ञानानुत्पत्तिमात्र । -प्रमेयक० प० २३८ । (२) पुरपाणान । (३) तुल्या-  
'तमन्वावत्सुदाल्यारणाम दष्टिप्रतिवचकारित्वान् कुड्यादिवत्, आवारकत्वान् पटान्वित् ।'-तत्त्वाद्य  
भा० व्या० पृ० ३६३ । 'तमो भावरूपं घटाद्यावारकत्वान् काण्डपटान्वित् । नचास्य घटाद्यावारकत्व  
मसिद्धम्, विषयाभिमुखप्रवतमाननयनध्यापारनिरोधित्वात्तद्वदेत्येतस्तत्सिद्धे ।'-स्या० २० प० ८५१ ।  
(४) छाया द्रव्य क्रियावत्त्वान् कुम्भवत् ।'-स्या० २० प० ८५३ । (५) छायाया । (६) गतिमत्त्व ।  
(७) 'अनुमानावमेयमपि तथाहि-गतिमती छाया देशादेशान्तरप्राप्तिमत्त्वाभवन्ति ।'-स्या०  
२० प० ८५३ । (८) प० ६६८ प० ३ । (९) यतोऽन छायाया देशान्तरेण प्राप्ति सयोगोऽभि  
धोयते । यत्र वास्तवरेतशश्रयादभावन तदनुस धान् यतावधान । न हि देशान्तरप्राप्तिमत्त्वाद द्रव्यत्व  
प्रसाधयितुमुचना स्म किन्तु गतिमत्त्व तस्मात् द्रव्यत्वमिति ।'-स्या० २० प० ८५४ । (१०)  
सम्भव । (११) देशान्तरप्राप्तिरसयोगात् । (१२) गतिमत्त्वाच्च । (१३) 'नैवेवमपि महत्तरे  
चक्रप्रसक्त एव पतिता । तथाहि-देशान्तरमयोगात् क्रियावत्त्वम्, क्रियावत्त्वान् द्रव्यत्वम्, द्रव्यत्वान्  
देशान्तरसयोगवत्त्वमिति, उत्स्वजायिनमतत देशान्तरप्राप्ते प्रत्यक्ष एव छायाया प्रसिद्धस्वरूप  
त्वान् । यदि हि द्रव्यत्वसिद्ध्या देशान्तरप्राप्ति प्रसाध्येत तदा स्यात्तद्वचपणम् । प्रत्ययेणति सिद्धेन  
देशान्तरप्राप्तिमत्त्वेन सिद्धात् क्रियावत्त्वात्सिद्ध छायाया द्रव्यत्वम् ।'-स्या० २० प० ८५५ ।  
(१४) देशान्तरप्राप्ति ।

यश्चायमुत्तमं—‘आवारकद्रव्यगत कर्म छायायामध्यारोप्य ‘छाया गच्छति’ इति प्रतिपत्ते’ इत्यादि, तदप्यपेशलम्, छायाया अमत्त्वे तत्र आवारकद्रव्यगताया गनेरा रोपानुपपत्ते । सत्येन हि वृक्षादौ अश्वात्कारूढं पुष्पं स्वगत कर्म तत्र अध्यारोपयति नामति इति, अत त्र्यध्यारोपायवानुपपत्ते छायाया वास्तव सत्त्वं सिद्धम् । प्रयोग— छाया परमार्थसती अध्यारोप्यमाणगतित्वात्, यद् अध्यारोप्यमाणगति तत् परमार्थसत् यथा वृक्षात्, अ यारोप्यमाणगतिश्च छाया इति । तत्र ज्ञानानुपपत्तिमात्रं तम ।

ननु सिद्धस्यापि द्रव्यांतरभूतस्य तमस चक्षुर्ज्ञानप्रतिपक्षकत्वादयुक्तमुत्तमं—

विद्विष्यन्त्यान्वयम्— ‘तमो निरोधि वीभ्रन्ते’ इत्यादि, तद्व्याप्रणम्, यत् तैत्तिक

स्वात्मनि तैत्प्रतिपक्षकम्, अन्यत्र वा ? तत्राप्यक्षे—‘नहि’ इत्यादिना

दूषणमाह—नहि नैव तम चक्षुर्ज्ञानप्रतिपक्षकं ‘स्वात्मनि इत्यध्याहार । कुत एतदित्याह । तमोविज्ञानाभावात्, अस्ति च तज्ज्ञानम्, अतो न तत् तैत्प्रतिपक्षकम् । प्रयोग—यद् यज्ज्ञानस्य निषयो न तत् स्वात्मनि तज्ज्ञानस्य प्रतिपक्षकम् यथा काण्डपटादि, चक्षुर्ज्ञानस्य निषयश्च तम इति । अथ अन्यत्र घटानौ न स्वात्मनि, तैत् तद्विज्ञानाभावाद्हेतुरिति चेत्, तर्हि आलोकोऽपि तमोविज्ञानाभावाद्हेतुत्वात् तमोऽदभावाद्हेतु म्यात् । चक्षुर्विज्ञानस्य अभावात् अनुत्पत्ति उत्पत्तस्य वा प्रध्वस, तस्य हेतु कारण म्याद् भवेत् । तथा च ‘तेजस चक्षु रूपादीना मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वाद् आलोकरत’ इत्यत्र प्रयोगे मौर्वनविश्लो ष्ट्यात् । अथ आलोको तमोविज्ञानाभावाद्हेतु स्वरूप घटादिविषयज्ञानहेतुश्चेत्येते, तर्हि तमोऽपि घटादिविषयज्ञानाद्हेतु स्वरूपविषयविज्ञानहेतुरेव यत्तामनिरोपान् । अथ आलोके सत्येव केषाञ्चिद् रूपज्ञानोत्पत्ते तदभावे चानुपपत्ते असौ तैत्हेतु, तर्हि तमसोऽप्यभावे केषाञ्चिच्चक्षुर्ज्ञानानुत्पत्ते तैत्स्मिन् सत्येव

(१) पृ० ६६८ पं० २ । (२) छायायाम् । (३) वृक्षादौ । (४) आवारकद्रव्यगतत्वारोपायवानुपपत्ते । (५) ‘भावरूपा छाया अध्यारोप्यमाणगतित्वात् वक्ष्यते ।—स्या० २० पं० ८५४ । (६) तमो तैत्प्रतिपक्षकारणं प्रकाशविरोधि ।—सर्वाथसि०, राजवा० तत्वायभा० ध्या० ५।२४ । (७) तमः । (८) ज्ञानप्रतिपक्षकम् । (९) स्वात्मनि ज्ञानप्रतिपक्षकम् । (१०) तमो न स्वचक्षुर्ज्ञानप्रतिपक्षकम् चानुपपत्तौ विषयत्वान् । (११) तमः । (१२) तुज्ज्ञान— प्रदीपस्य च घटस्यैव विषयकत्वात् कर्मोपपत्तौ तत्रैव च रूपज्ञाना मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् प्रतीपवन्ति साध्याविकलत्वात् दृग्ज्ञानस्य निरस्तं दृग्ज्ञानम् ।—पञ्चमि० टी० पृ० ५४४ । (१३) ग्यायकु० पं० ७६ टि० २ । (१४) आलोको हि न तमसा रूपस्य प्रकाशक अत स रूपादीना मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् इति साधनस्य । (१५) स्वस्य आलोकस्य रूपम् भापुराध्यम् । (१६) तमोविषयः । (१७) अमपत्तौ नाम् । (१८) आलोको । (१९) रूपज्ञानहेतुः । (२०) तमोत्तमः । (२१) तमतिः ।

१ अस्तत्यत्वे व० । २-य कर्म जा० व० । ३-ज्ञानप्रति-ध० । ४ आलोकेऽपि श्र० । ५ तमोत्तम-आ० । ६ घटादिविज्ञानहेतु जा व० । ७ केषाञ्चिच्चक्षु-आ० व० ।



निवृत्तिः—यथास्व कर्मक्षयोपशमापेक्षिणी करणमनमी निमित्त विज्ञानस्य न बहिरर्थादयः । “नाननुकृतान्वयव्यतिरेक कारण नाकारण विषयः” [ ] इति बालिशगीतम्, तामसरगकुलाना तममि सति रूपदर्शनम् आररण-  
निन्देदात्, तदनिन्देदात् आलोके मत्यपि सशयादिज्ञानसभनात् । काचाद्युप-  
हतेन्द्रियाणा शसादौ पीतायाकारनानोत्पत्तेः । मुमुर्षूणा यथासभवम् अथे  
सत्यपि विपरीतप्रतिपत्तिसङ्घातात् नार्थादय कारण ज्ञानस्य इति स्थितम् ।

मलैर्विद्धुः सम्बद्धो यो मणिः तस्य व्यक्तिः आविर्भावो यथा येन

कारिकाय -

विश्वसोपयोगप्रकारेण अनेकप्रकारतः विशेषतरप्रकारम् एकदेश-  
साकल्यप्रकार निम्नदूरदेशत्रित्वप्रकारादयप्रकाराशनप्रकारम् । अय

10 वा विषयापहाराच्छिन्नमाश्रित्य, तथा तेन प्रकारेण कर्मभिः ज्ञानावर्णीयाभिः  
विद्धस्य प्रच्छादितस्य आत्मनो जीवस्य विज्ञप्तिः अर्थप्रकाशकत्वलक्षणा अनेक-  
प्रकारतः इन्द्रियाऽनिन्द्रियाऽतीन्द्रियप्रकारम् सकलविकलसन्निकृष्टप्रतिप्रवृत्त्यर्थप्रकाशन-  
प्रकारम् स्वपररूपोद्योतनप्रकारम् प्रत्यक्षेतरत्वप्रकार वा आश्रित्य भवति । नैतु  
पूर्वोत्तरज्ञानश्रणव्यतिरिक्तः, कायान्तरपरिणतभूतचतुष्टयव्यतिरिक्तो वा न कश्चिदात्मा-  
13 ऽस्ति तत्तस्य अनेकप्रकारतो विज्ञप्ति स्यादिति सोगत-चात्राकौ, तौ च प्रतिपादित-  
विस्मरणशीलो, सताननिषेधान्मरै हि पूर्वोत्तरज्ञानक्षणव्यतिरिक्त अनादिनिधन  
प्रतिपादित प्रमाता, चार्जामतपरीश्यायाञ्चै कायान्तरपरिणतभूतचतुष्टयव्यतिरिक्त  
इत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

कारिका निवृण्वन्नाह—‘यथास्वम्’ इत्यादि । यस्य ज्ञानस्य यद् आवारक

20

विद्वेषव्याख्यानम्—

स्वम् आत्मीय कर्म तस्यानतिरमेण यथास्वम् । कर्मक्षयोपशमा-  
वपेक्षेते इत्येव शीले तदपेक्षिणी करणमनमी इन्द्रियानिन्द्रिये  
निमित्त विज्ञानस्य, न बहिरर्थादय, एतज्ज्ञान-तरमेव प्रपञ्चितम् । दृष्टे च करण-  
मनसी स्वावरणरजोनीहारादिक्षयोपशमापेक्षिणी पादपादिविज्ञानस्य निमित्तम् ।

कमविद्धात्मविनप्ति कर्माणि पातावरणादीनि तराविद्ध सम्बद्ध स चासावात्मा च तस्य विनप्ति  
र्यागर्थात् । कथम् ? अनकप्रकारत अनके नानारूपा प्रत्यक्षेतरदूरासन्नापप्रतिभासतविगपा  
शयोपशमाविगपाश्च तानाश्रित्यत्यय । तदावरणविगपिनराम तु सकलायविज्ञप्तिरात्मन उपपद्यते  
एव ज्ञानस्वभावत्वात्तस्यति । -लघी० ता० प० ७८ । उदतोऽयम्—सिद्धिवि० टी० १९३ A ।  
आद्य० नि० मलय० प० १७ । नदि० मलय० प० ६६ । इष्टोप० टी० प० ३० । कमप्र० टी०  
प० ८ । तुन्ता—‘मलावनमपेय्यक्तिययाऽनकविघटयते । कर्मावृतात्मनस्तद्वद्योग्यता विविधा न  
विम् । -तत्त्वापलो० प० १९१ ।

(१) द्रष्टव्यम्—प० ६४० टि० २ । (२) सोगतचात्राकौ । (३) प० ९ । (४) प० ३४३ ।

1—स्वकम्—ज० वि० । 2 विषयोपयोग—व० विशेषोपयोग—श्र० । 3 विद्धस्य आ० ।

4—विषयप्रका—श्र० । 5 मयावारकं आ० । 6—य तत्त्वा—आ ।

दृष्टेन च अदृष्टेसिद्धि । 'नाननुकृत' इत्यादिना परमतमाशङ्कते—कार्येण अननुकृता वन्द्यव्यतिरेकौ यस्य तत् तथाविध न कारणम् अपि तु अनुकृतान्द्वयव्यतिरेकमेव कारणम् । यच्च अकारण तत्र त्रिपयो<sup>१</sup> ज्ञानस्य, इति शब्द परमतपरिसमाप्तौ । अत्र दूषणमाह—'बालिशगीतम्' इत्यादि । बालिशस्य अविवेकिनो गीत भाषितम् । कुत एतदित्याह—तामसखगकुलानां समसि सति रूपदर्शनम् आवरणविच्छेदात्, नालोकात् इत्यभिप्राय । तथा तदविच्छेदात् तस्य आवरणस्य विच्छेदाभावात् हेतो आलोके सत्यपि भगयादिज्ञानसम्भवात् । इतश्च नालोकात् तदर्शनम् इत्याह—'काच' इत्यादि । काचः चक्षुषो व्याधिविशेष आदिर्यस्य तिमिरादे स तथोक्त तेन उपहतानि इन्द्रियाणि येषां तेषां शृङ्खे शङ्खादौ पीताद्याकारज्ञानोत्पत्तेः 'सत्यपि आलोके बालिशगीतम्' इति सम्बन्धः । तथा मुमुर्षूणां प्राणिना यथासम्भवं सभवानतिक्रमेण अर्थे सत्यपि विपरी- 10 तप्रतिपत्तिसद्भावात् कारणात् न अर्थादयः आदिशब्देन आलोकादिपरिमह, कारण विज्ञानस्य इति स्थितम् । पूर्वं नैयायिकमपेक्ष्योक्तम्, इत् सौगतमिति प्रथिभाग ।

अत्रैव दूषणान्तरमाह—

न तज्जन्म न ताद्रूप्यं न तद्बन्धवसिति सह ।

प्रत्येकं वा भजन्तीह प्रामाण्यं प्रति हेतुताम् ॥५८॥

15

(१) सौगतमतम् । (२) प० ६६३ । (३) प्रहजाने । प्रामाण्यं प्रति प्रमाणत्वमुद्दिश्य । हेतुता निमित्तभाव न भजति । किं इत्याह—तज्जन्म तस्मादर्थान्जन्म उत्पत्ति, तस्य कारणवशात् व्यभिचारात् । न च ताद्रूप्य तस्यापस्य रूपमिव रूपमाकारो यस्य तत्तद्रूप तस्य भावस्ताद्रूप्यम्, तस्य समानाधि समान्तरत्वात् न व्यभिचारात् । नापि तद्बन्धवसिति तत्रार्थे व्यवसितिव्यवसायो निश्चय, तस्य द्विचन्द्रा विध्यवसायत व्यभिचारात् । ययम् ? प्रत्ययम् एवमेव प्रतिनियामेव कमित्यर्थः । सह मिलित्वा वा तानि प्रामाण्यहेतुता न भजति । तत्रैतत्तस्यापि सूक्ते साय पीताकारज्ञानजननेन समन्तरप्रत्ययन व्यभिचारात् ।"—लघी० ता० पु० ७९ । तज्जन्मादित्रयस्य प्रामाण्यहेतुतानिरूपका बोद्धव्या—“विषया वारणवास्य प्रमाणं तेन गीयते ।—प्रमाणसमु० १।१० । 'तस्मात्त्वक्षुरश्च रूपञ्च प्रतीत्योऽपि तत्रधी । ३।१९० । भिन्नकालं च घ्राह्यमिति चेत् घ्राह्यता विद्मः । हेतुत्वमेव युक्तिगारादाकारापक्षमम् ॥ कार्ये ह्यनेकहेतुत्वेष्वप्युक्तुदुष्टेति यत् । तत्तत्ताप्यत्र तद्रूपं गृहीतमिति चोच्यते ॥ ( ३।२४।४८ । ) अपरेण पटयत्पतां न हि मुक्त्यापरूपताम् । तस्मात्प्रमेयाभिगतं साधनं मेयम्पता ॥—प्रमाणवा० ३।३०५ । 'तत्राकरं हि संवदनमयं व्यवस्थापयति नीलमिति पीतञ्चेति ।—प्रमाणवात्तिकाल० पु० २ । 'विमथ तर्हि साहचर्यमित्यते प्रमाणम् ? प्रियाकार्यव्यवस्थापास्तत्तरे स्थावित्रवचनम् साहचर्यताञ्च यथा न भवति नीलस्य वमणं सविति पीतस्य यदि प्रियाकार्मप्रतिनियमाद्यमित्यन ।—प्रमाण वात्तिकाल० पु० १।१९ । अत्रुक्तं विषयापार्षात्तत्त्वं अध्यवसायं तथाहि— अविक्त्यमपि प्रपञ्चं विव पोत्तित्तिप्रतिनयम् । नि गपव्यमहाराज्ञं तद्धारणं भवत्यन ।—सहस्रं० का० १३०६ ।

१-तद्विद्मः २-घो विज्ञानस्य ३-व० ४-सत्तालोके ५-१ । १ मुमुर्षूणां २-१ । ३ प्रति भाग भा० ।

प्रितृतिः—नार्थ' कारण विज्ञानस्य कार्यकालमप्राप्य निवृत्ते' अतीततमवत् । न ज्ञान तत्कार्यं तदभाव एव भावात् तद्भावे चाभावात् भविष्यत्तमवत् । नार्थसारूप्यभृत् विज्ञानम् अमूर्त्तत्वात् । मूर्त्ता एव हि दर्पणादथ मूर्त्तमुखादिप्रतिबिम्बधारिणो दृष्टा', नार्मूर्त्तं मूर्त्तप्रतिबिम्बभृत्, अमूर्त्तं च ज्ञान मूर्त्तिधर्माभावात् । नहि ज्ञाने अर्थोऽस्ति तदात्मको वा येन तस्मिन् प्रतिभासमाने प्रतिभासेन शब्दवत् । तत' तदध्यवसायो न स्यात् । कथमेतदपिद्यमान प्रितय ज्ञानप्रामाण्य प्रति उपकारक स्यात् लक्षणत्वेन ?

तस्माद् अर्थात् जन्म तज्जन्म न ज्ञानस्य प्रामाण्य प्रति हेतुता भजन्ती(ती)ह लोके, न ताद्रूप्य तस्य अर्थस्य रूपमिव रूप यस्य तस्य

कारिकाय -

भाव ताद्रूप्य न तस्मिन् ता 'भजति' इति सम्बन्ध । न तद्व्य-

वसितिः तस्य अर्थस्य व्यवसिति निर्णीति न तस्मिन् ता भजतीति, सह युगपत् प्रत्येकत्रा एवमेक वा एकमेक प्रति प्रत्येकम्, 'वा' इति समुच्चये । तत्र न तावत् प्रत्येकम्,

(१) तुलना- कायकालमप्राप्यवत् कारणत्वानुपपत्तिश्चरतरतीतवत् । -अष्टा०, अष्टसह० प० ८९ । (२) तुलना- यथवाशविषयेऽभिधान नास्ति तथा'क्षज्ञान विषयोऽपि नवास्ति ततस्तत्र प्रतिभासमानोऽपि न प्रतिभासेत । -अष्टा० अष्टसह० प० ११८ । (३) पृ० प० प्रती 'भजतीति इत्येव पाठ । तज्जन्म इति कत्रनुरोचान् भजतीति पाठ एव समुचित । (४) प्रामाण्य प्रति । (५) हेतुताम् । (६) तज्जन्माण्य प्रत्येक प्रामाण्यं प्रति हेतुता न भजन्ति । तुलना- तदध्यवेदन केन ? ताद्रूप्यान् व्यभिचारि तत । तस्यसारूप्य व्यभिचारि द्वित्रिद्वकशोषद्वकज्ञानाद्याकारस्य अयमन्तरणापि भावात् । यन्वाधमास्यमनुभवनिवर्धनमुक्त तस्यैवसम्भवि इति दर्शयन्नाह-सारूप्ययति तत्केन स्थूला मामञ्च ते'णव ॥३२१॥ तत्रायोरूपता तस्य सत्यायाव्यभिचारिणी । तत्त्ववेदनभावस्य न समर्था प्रसाधन ॥३२२॥ तस्मात्तु यज्ञानस्य नायरूपताऽस्ति । सत्या वा'रूप्यताया व्यभिचारिणी सा द्वित्रिद्वकानां ताद्रूप्यात् । तदस्य तत्त्ववेदनभावस्य अथसत्वे'तत्वस्य प्रसाधनपु साऽथरूपता न समर्था । न वेवलादयमा रूप्या'यसत्वे'नत्व यत् व्यभिचार स्यात् । किं तर्हि ? सारूप्यतदुत्पत्तिभ्यां ते च द्वित्रिद्वकानादीनां न स्त च'त्यस्वाभावात् तत्पत्तरथापान् । एत'वाह-तत्सारूप्यतदुत्पत्ती यत् सवेद्यलक्षणम् । सवेद्य स्यात् समानार्थं विधान समन्तरम् ॥३२३॥ तत्र ग्राह्येण सारूप्ये तस्मात्पत्ति स्वमवेद्यस्य लक्षणं यत् सम्मत्तम तत्रापि समन्तरं ज्ञानमन्तरज्ञानेन समानाप समानग्राह्य मवेद्य स्यात् तत्सरूपतदुत्पत्त्यो सम्भवात् । -प्रमाणवा० मनोरथ० २।३२०-२३ । किञ्च यत्कार यतश्च संबन्धनमुत्पत्तये यत् तालम्बनं तर्हि धारावाहिकविधानानां पूर्वपूर्वमा'म्बनमुत्सरोत्तरस्य स्यात् उत्पा'वत्वात् सरूपत्वाच्च -बहूतीप प० ७९ । तत्पुन तज्जन्मसारूप्या'लक्षण समानायनानवसन्तानपु सम्भवात् व्यभिचरति तदध्यवसायहेतु स्वञ्च । 'निद्विधि० टी० पृ० ५६६ । न केच' विषयवलाद् दृष्टरूपत्तरपि तु चानुरादिशक्तश्च । विषयाकारानुवरणाद्'नस्य तत्र विषय प्रतिभासेत न पुन करणम् तत्कारानुवरणा'ति चेतर्हि तस्यैव'रणमनु'स्तुम'ति न चाप वि'याभावात् दानस्य तज्जन्मरूपावि'प'पि तदध्यवसायानि यमाद् व'त्यविषयत्वमि'यमारम् वर्गा'निव उपानान'व्यवसायप्रस'ज्ञात् । -अष्टा० अष्टसह० पृ० ११८ । प्रमेयर० पृ० १०८ । सामति० टी० पृ० ५१० । प्रमेयर० २।९ । 'अपि च व्यस्तै

१-कारिणो ई० वि० । २-मूत्तमूत्तप्र-ज० वि० । ३ अथस्य नास्ति आ० । ४ भजतीति ध० । ५ भजतीति ध० । ६ 'एवमेक' वा नास्ति ध०, य० ।

तज्जमन करणप्राप्तेण व्यभिचारात्, तादृष्यस्य समानार्थसमनन्तरज्ञानेन, तद्व्यवसिते द्विचन्द्राध्यवसायेन । नापि सह, शुक्ले शङ्खे पीतभ्रान्तिकारणेन पीतज्ञानेन अनेकात्तात् ।

एतत्त्रितयमममदोषेण दूपयन् कारिका व्याचष्टे 'नार्थः' इत्यादिना । सो गतस्य

विवृतिव्याख्यानम्-

नार्थः कारण विज्ञानस्य । कुत इत्याह—'कार्यकालम्' इत्यादि ।

कार्यस्य स्वज्ञानस्य कालमप्राप्य निवृत्तेः विनाशात् । अत्र दृष्टान्त-  
माह—'अतीततमत्' इति । प्रयोग—अनन्तरातीतोऽर्थ न ज्ञानकारणम्, तत्काले सर्वथा-  
ऽविद्यमानत्वात्, यस्य तत्काले सर्वथाऽविद्यमानत्व नासौ तत्कारणम् यथा अतीतत-  
मोऽर्थ, तत्काले सर्वथाऽविद्यमानश्च अनन्तरातीतोऽर्थ इति । एतेन भाविनोऽप्यर्थस्य  
तत्कारणत्व प्रत्याख्यातम् । यथा च अर्थो न तज्ज्ञानकारण तथा न तज्ज्ञान तत्कार्यम् ।  
कुत एतदित्याह—'तद्' इत्यादि । तस्य परपरिकल्पितस्य अर्थस्य अभावे एव भावात्  
उत्पत्ते तज्ज्ञानस्य तद्भावे च अभावाद् अनुत्पत्ते, अन्यथा सन्तानोच्छेद स्यात् ।  
अत्र दृष्टान्तमाह—'भविष्यत्तमत्' इति । निषिद्धा च अर्थकार्यता ज्ञानस्य प्रपञ्चत  
प्राग् इत्यल पुन प्रमङ्गेन ।

सारूप्यनिषेधार्थमाह—'नार्थः' इत्यादि । विज्ञान न अर्थसारूप्यभूत् । कुत ?  
अमूर्त्तत्वात् । ननु अमूर्त्तश्च स्यात् तद्वृत्त, को विरोध ? इति चेदत्राह—'मूर्त्ता एव'  
इत्यादि । मूर्त्ता एव हिर्यस्मात् दर्पणादयो मूर्त्तमुद्रादिप्रतिबिम्बधारिणो दृष्टाः ।  
अमूर्त्तमपि किञ्चिन् दृष्टम् इति चेदत्राह—'नाऽमूर्त्तं मूर्त्तप्रतिबिम्बभृद् दृष्टमिति ।  
प्रयोग—ज्ञान नार्थप्रतिबिम्बभृत्, अमूर्त्तत्वात्, यत् पुनरर्थप्रतिबिम्बभृत् तन्नामूर्त्तम् यथा  
दर्पणात्, अमूर्त्तश्च ज्ञानमिति । कुतोऽस्य अमूर्त्तस्य सिद्धमिति चेत् ? मूर्त्तिधर्मा-  
भावात् । तद्वर्मा हि रूपरमगधस्पर्शवत्त्वे सति अचेतनत्वम्, नच ज्ञाने तदस्ति ।  
निराकृतञ्चास्य व्यामत सारूप्य तत्रिरानीरत्प्रमिद्धिप्रमृष्टे' इति इत प्रयासेन ।

ममस्ते वत ग्रहणवारण स्याताम् ? यदि ध्वस्त, तथा कपालावक्षणी घटान्त्यक्षणस्य जलचन्द्रो वा नभ  
स्पन्दस्य ग्राहक प्राप्नोति तदुत्पत्तेस्तत्कारित्वाच्च । अथ ममस्त, तर्हि घटांतरक्षण पूर्वघटक्षणस्य  
ग्राहक प्रमत्रति । ज्ञानरूपस्य सयेन ग्रहणवारणमिति चत तर्हि समानजातीयज्ञानस्य समन्तरपूर्व  
ज्ञानग्राहकत्व प्रमयेत ।—प्रमाणमी० पृ० २० । प्रमाणनय० ४।४७ । रत्नाकरा० ४।४७ ।

(१) तज्जमात्प्य सह मिलित्वापि प्रामाण्य प्रति ह्युक्ता न भजन्ति । (२) तज्जमात्प्रियम् ।  
(३) यदि कारणभूतस्य अयस्य वाक् एव कार्यभूत ज्ञान समुत्पद्यते तथा वायुकारणयो समवायत्वात्वात्  
कारणभूतस्यैस्यापि स्वकारणत्वात् तस्यापि स्वकारणत्वात्तेत्यर्थं तत्रांतराणानामाद्यनवृत्तित्वा  
दिनीय च क्षण तां इति सारलसन्धानोच्छेत्प्रमङ्ग इति भाव । मुद्रा—'सयव कारण यदि वायु  
न्यायमक्षणावति स्वायु, कारणगणना एव मवस्य उक्तान्तराणानामानस्य भावान् तत गताता  
भावान् ।—अष्टम०, अष्टसह० पृ० १८७ । (४) मूनिषमो दि । (५) पृ० १६७ ।

। एव तदुत्पत्ते ध० । १ सज्ज्ञानोच्छे-ध० । २ मूत्तधर्मा-ध० । ३-कारणवि-धा० ।



तद्व्यवसितिं निराहुराह—'नहि' इत्यादि । हिर्यस्मात् न ज्ञाने अधिकरणभूते अर्थो घटादि अस्ति, किन्तु बहि सोऽस्ति, तदात्मको वा ज्ञानस्वभावो वा 'अर्थः' इति सम्बन्ध, सारूप्यनिषेधात्, अन्यत्र तद्व्यतिभासनात् इति मयते । येन तत्रै सत्त्वेन तन्मत्त्वेन वा तस्मिन् विज्ञाने प्रतिभाममाने प्रतिभासेत, 'अर्थ' इति घटना । क इय सँ तत्रै नास्ति तदात्मको वा न इति चेदत्राह—शब्दवत्, शब्द इय तद्वदिति । ततः किं जातम् ? इत्याह—'तत्' इत्यादि । यतो ज्ञानस्वरूपे प्रतिभासमानेऽपि तदाधेय तदात्मकतया शब्दार्थयो प्रतिभामो नास्ति तत, तस्यार्थस्य अध्यवसायो न स्यात् । अर्थव्यसंयो हि अभिलाषती प्रतीति, न चासौ तयोरननुभवे घटते अतिप्रमद्नात् । विस्तरतश्च अविकल्पकान् तदव्यवसायप्रतिषेध सन्निकल्पक-सिद्धौ" प्ररूपित इत्युपरम्यते । अत सिद्धं च 'कथम्' इत्यादिना दर्शयन्नाह—एतत् परेणोक्तमपिद्यमान त्रितय तदुत्पत्तिसारूप्याध्यवसायलक्षण ज्ञानप्रामाण्य प्रति कथमुपकारकम् ? न कथञ्चित् । केन रूपेण उपकारक नैतत् स्यात् ? इत्याह—लक्षणत्वेन । असम्बिलक्षणमेतत् इत्यभिप्राय ।

ननु ज्ञानस्य तदुत्पत्तित्रितयासभवे कथमर्थग्राहकत्वमितिप्रसङ्गादित्यारेकायामाह—  
स्वहेतुजनितोऽप्यर्थः परिच्छेद्यः स्वतो यथा ।

तथा ज्ञान स्वहेतुत्थ परिच्छेदात्मक स्वतः ॥५९॥

निवृत्ति—अर्थज्ञानयो, स्वरूपादात्मलाभमासादयतोरेव परिच्छेद्यपरिच्छेदरूभाव' नाऽलब्धात्मनो कर्तृकर्मस्वभावात् । तत तदुत्पत्तिमन्तरेणापि ग्राह्यग्राह्यरूभासमिद्धि स्वभावत स्यात्, अन्यथा व्यवस्थाभावात्प्रसङ्गात् ।

स्वेन आत्मीयेन हेतुना जनितोऽप्यर्थः घटाद्य परिच्छेद्य स्वतः स्वरूपेण तत्रैवभावात्तयैवार्थे एतदुत्पत्ते । नहि ज्ञानेन अर्थस्त-स्वरूपात् जयते, अयोयाश्रयानुपद्नात्—सिद्धे हि ज्ञाने तथाविधार्थ-

(१) बहिर्देश भूतलादी जयस्य प्रतिभासनात् । (२) ज्ञाने । (३) ज्ञानात्मकत्वेन वा हेतुना । (४) अर्थ । (५) ज्ञान । (६) ज्ञानात्मक । (७) विकल्प । (८) तुजना-प० ४६ टि० २ । (९) ज्ञानी प्रतानि । (१०) ज्ञानार्थयो । (११) पृ० ४८ । (१२) यथा स्यात् । क ? घटादि । किं विशिष्ट स्यात् ? परिच्छेद्या नेय । कथम् ? स्वतः स्वभावान्तेव न ज्ञानादुत्पत्त्यादे । विम्बूनीपि स्वहेतुजनितोपि स्वस्य हेतुमन्त्रिणामधी तेन जनितोपि निष्पादितोऽपि । तथा ज्ञान परिच्छेदात्मकमप्यग्रहणार्थक स्यात् । कुत ? स्वभावान्तेव नार्थादुत्पत्त्यात् । किंविशिष्टमपि ? स्वहेतुत्थ मर्त स्वस्य हेतुरतरन् आवरणभयोपशमलक्षण वन्निर्द्ग पुनरिन्द्रियानिन्द्रियरूप तस्मादुत्पत्त्या उत्पत्तिरप्य तत्तद्योवन तात्पर्यमतीत्यत्र । —रघी० ता० प० ८० । उदनेय कारिका निम्नग्रन्थयु-सिद्धि० टी० पृ० १० B । म्यायवि० वि० प० ३३ A । (१३) परिच्छेद्यस्वभावेन । (१४) अथस्य ।

1-दिनादर्शयतो ज्ञान-प० । 2-यो हि न आ० । 3 योपि अभिलाषयतीति न आ० । 4-ज्ञान प्रतीति व । ५ अत्रसि-ग्र० । 6 अस्तभवति लम्-ग्र० । 7-हेतुत्वं ज० वि० । 8-ध्याताकत्त ई० वि० । 9 जनितोपि घटा-व० । 10 अथस्वभावो आ० अर्थ स्वतः स्वभावो व० ।

सिद्धि, तत्सिद्धो च ज्ञानमिद्विरिति । यथा येन योग्यताप्रकारेण तथा ज्ञानं स्वहेतुत्वं करणमनोलक्षणस्वकारणप्रभव परिच्छेदात्मकम् अर्थग्रहणस्वभाव स्वतो न अर्थात्पर्यादे ।

कारिका व्याख्यातुमाह—'अर्थज्ञानयो' इत्यादि । स्वकारणात् न परस्परत आत्मलाभमासादयतोरेव यथासङ्ख्येन परिच्छेद्यपरिच्छेदकभाव',<sup>5</sup>  
 विवृति-यात्मानम्- न अलब्धात्मनोः सर्वा नित्ययो क्षणिकयोर्वा । अत्र दृष्टान्तमाह—  
 'कर्तृकर्मस्वभावात्' इति । यथा स्वकारणाद् आत्मलाभमासादयतोरेव अनयो कर्तृकर्मस्वभावात् नैकान्तेन मतो नाप्यमतो, तथा प्रकृतोऽपि ईति । उपसहारार्थमाह—  
 'ततः' इत्यादि । यत स्वकारणादुत्पन्नयो तैयो तथाभाव सिद्ध ततः तस्मात् अर्थाद् उत्पत्तिमन्तरेणापि अर्थज्ञानयो ग्राह्यग्राहकभावासिद्धिः स्यात् । कुत ? स्वभावात्ः<sup>10</sup>  
 स्वयोग्यताया । अन्यथा अन्येन प्रकारेण व्यवस्थाभावात्प्रमङ्गात् ।

ननु सिद्धेऽपि स्वरूपतस्तैद्भावे तत्फल वक्तव्यम्, तच्च 'अधिगतिमात्रम्' ईत्येके, 'स्वरूपस्यैव अधिगति' इत्यन्ये,<sup>8</sup>, 'अर्थस्यैव' इत्यपरे इत्याशङ्क्याह—

व्यवसायात्मक ज्ञानमात्मार्थग्राहक मतम् ।

ग्रहण निर्णयस्तेन मुख्य प्रामाण्यमश्नुते ॥ ६० ॥<sup>15</sup>

विवृति—अनिर्णीतफलस्य नाधिगमोऽस्ति विचार्यमाणायोगात् । अनिसनादकत्वञ्च निर्णयायत्तं तदभावेऽभावात्तद्भावे च भावात् । व्ययमायफल ज्ञान मुख्य प्रामाण्यमिति व्ययस्थितम् । स्वतोऽव्ययमायस्य विकल्पोत्पादन प्रत्यनङ्गत्वात् । तदुत्पत्ति प्रत्यङ्गत्वे अभिलाषससर्गयोग्यता न प्रतिषेध्या, अन्यथा

(१) ज्ञानाययो । 'ज्ञान घट जानानि इत्यत्र ज्ञानस्य वनता घटस्य च कर्मत्वमिति । (२) ग्राह्यग्राहकभावात् । (३) नाताययो । (४) वतकमभाव । (५) ग्राह्यग्राहकभावे । (६) बोद्धाचाया । 'उभयत्र तन्व ज्ञान फलमधिगममरूपत्वात् । - वायप्र० पृ० ७ । 'तत्रेव च प्रत्यभ पात प्रमाणफलमर्थप्रतीतिरूपत्वात् । - न्यायवि० पृ० २५ । तत्त्वसं० का० १३४३ । (७) 'स्वसंविद्धि फलत्वात् । - प्रमाणसं० १।१०। 'फल स्ववित् । - प्रमाणवा० ३।३६६ । (८) नयाविचार्य । 'प्रमितिद्रव्यादिविषय पातम् । - प्रसा० भा० पृ० १८७ । (९) "मतमिष्टं नातश्च । किम् ? पातम् । किं स्वरूपम् व्यवसायात्मक विचार्यस्य जात्याद्याकारस्य अवसायो निश्चिद्य स एवाभा स्वरूपं परय तत्त योऽस्मत् । अनन प्रत्यक्ष वन्वनायोऽमित्यतन्निरस्तम् । पुन विविदिष्टम् ? आत्माद्यग्राहकम् आत्मस्वरूपमयो वाह्यो घटानिस्तौ गुल्लति निणयतीत्यात्माद्यग्राहकम् अनन पातमयग्राहकम् न स्वरूपग्राहकम् स्वग्राहकम् नार्थग्राहकमित्येकान्तरम् निराश्रयम् । तन कारणन अश्रुत भवति किम् ? घटणं ना कत् । किं नाम् ? नियम स्वाधव्यवसायस्तद्रूपमित्यय । किं वमतानत्रम् ? प्रामाण्यम् प्रमाणभावम् । किं विदिष्टम् ? मुख्यमनुमचितम् पातकारणत्वाद्दुपचारेणव इति द्रव्यलिङ्गात् प्रमाणत्वात् । - लघु० ता० पृ० ८१।

1 स्वरूप हेतुत्वं थ० । 2 इति तास्ति थ० । 3 मन्व्यप्रामा-ज० वि० । 4-फलरूपताय-६० वि० । 5 स्वतोऽप्यवसा-६० वि० ।

विरूपोत्पत्त्यभाप्रमज्ञात् । सति मुग्धे निर्णयात्मके ज्ञाने मरुलपरहार-  
नियामके ऋथममवेद्यमकिञ्चित्करमनुपायमनुपेय मुनाणं स्वम्य ?

व्यग्रमायः स्वार्थनिश्चय आत्मा स्वभावो यस्य तत् तत्त्वानाम् व्यवसा-

यफलतात्मकमित्यर्थः । अनेन 'निश्चिन्त्यन विभिन्नाऽधिगतिमात्रफै-

रकार्थं -

लप्रमाधन प्रमाणम्' इति प्रत्याख्यातम् । तथाविधफलतात्मकश्च प्रमाण

म् ? इत्याह-ज्ञानम् । अनेनापि 'चक्षुरान्निमज्ञान प्रमाणम्' इति प्रतिश्रुद्धम्,

सत्यं तदात्मनस्त्वविरोधात् । प्रसाधितश्च प्रपञ्चत प्रमाणात् स्वपरव्यवसायात्मन फल

कथञ्चिदभिन्नम् 'पूर्वपूर्वप्रमाणत्व फल स्यादुत्तरोत्तरम्' [ लघी० ११० ७ ]

इत्यत्र । पुनरपि कथम्भूत तत् ? इत्याह-आत्मार्थग्राहकम्, स्वरूपवेदनम् ।

मतम् स्वसदेनाध्यक्षेण ज्ञातम् । समर्थितश्च ध्यामतो ज्ञानस्य आत्मप्रादुर्भाव स्वमवे

दनसिद्धौ, अर्थप्रादुर्भूतश्च बाह्याधिसिद्धौ' इत्यलमनिविस्तरेण । तत् किं सिद्धम् ?

इत्याह-'ग्रहणम्' इत्यादि । येन कारणेन व्यवसायात्मक ज्ञानम् आत्मा-

र्थग्राहक तेन कारणेन ग्रहण स्वार्थाधिगति निर्णयो मुख्यमनुपचरित प्रामा-

ण्यमश्नुते, न निर्विकल्पक चक्षुरादि वा ।

कारिका व्यतिरेकमुपेन 'याग्यातुमाह-'अनिर्णीतिफलस्य' इत्यादि । अनि-

र्णीतिफलस्य निश्चयफलरहितस्य अविकल्पकस्य इत्यर्थः । नाधि

विगुनिज्जान्यालम्-

गमोऽस्ति नानुभयोस्ति, कुत एतदित्याह-निर्धार्यमाणायोगात्,

यस्य विचार्यमाणस्यायोगो न तस्यानुभयो यथा अद्वैतशून्यादितत्त्वस्य, विचार्यमाण

स्यायोगश्च निर्विकल्पकदर्शनस्य इति । यथा चास्य विचार्यमाणस्याऽयोग तथा सनि-

कल्पकमिद्धौ प्रपञ्चत प्रतिपादितम् । अथ अविकल्पकस्य अविसवाद्यत्वात् प्रामाण्य

प्राप्यते, अत्राह-'अविसवाद' इत्यादि । अनिसवादकृत्व गृहीतार्थतथाभाव तदायत्त

निर्णयायत्तम् । कुत एतदित्याह-'तद्' इत्यादि । तस्य निर्णयस्य अभावे क्षणक्षया-

दिदर्शने मरीचिकादिदर्शने वा सशयकारिणि अभावाद अविसवादकृत्वस्य, तद्भावे

च निर्णयमज्ञावे च भावाद अविसवादकृत्वस्य इति । व्यवसायफल ज्ञान मुख्य

प्रमाणम् इति एव व्यग्रस्थितमित्युपसंहारः ।

माभून्निर्विकल्पक स्वयमव्यवसायात्मकत्वात् तैत्तफल तैत्तजनकत्वात् स्यात् इति

(१) चक्षुरात् । (२) व्यवसायफलतात्मकत्वं । (३) प० २०९ । (४) प० १७६-१ । (५) प०

११९-१ । (६) प० ४७ । (७) प्रमाणकृत्वम् । (८) व्यवसायात्मकविकल्पोत्पादकत्वात् । पवपम -

'तस्मात्प्रवसाय कुवदेव प्रत्यक्ष प्रमाण भवति अत्र ते त्वध्यवसाय नीलबोधरूपत्वेना प्रवसायपित भवति

विज्ञानम् । --वाचि० टी० प० २७ । तत्त्वस० का० १३०६ । तुलना-अन्वेष्ये प्रत्यक्षस्याध्यव

सायधनु वाग्नित्यनिरूपिताभिधान सौगन्ध्यं तथाभिलाषाभावात् । -अष्टम० अष्टसह० प० ११८ ।

१-निष्पद्य व । २-फलसाध-व थ० । ३-करवाधि-व० । ४-णेन यवग्रहणं व० ।

५-सवादिक्त्वात् वा सगय-व० । ६-निष्पद्यसदभावे च नास्ति व० ।

चेदत्राह—‘सत्’ इत्यादि । स्वतोऽव्यवसायस्य स्वय निर्गिकल्पकस्य विकल्पोत्पादन प्रत्यनङ्गत्वात् । एतच्च सन्निकल्पकमिद्वौ सप्रपञ्च प्रपञ्चितमिति नेहोच्यते । तदङ्गत्वे वा दूषणमाह—‘तत्’ इत्यादि । तस्य विकल्पस्य उत्पत्ति प्रत्यङ्गत्वे स्वतोऽव्यवसायस्य अभिलाषमसर्गयोग्यता न प्रतिषेध्या । अभिलाषतेऽनेन अभिलष्यत इति वा अभिलाषः शब्दजात्यात्पी तयो ससर्गो वाच्यवाचनभावलक्षण सम्बन्ध नस्मै योग्य तस्य भावस्तत्ता न प्रतिषेध्या । यथैव हि विकल्पस्य अर्थाकारलेऽदर्शनात् दर्शनस्य तर्कान्तरताऽनुमीयते तथा तस्य अभिलाषससर्गयोग्यतादर्शनात् दर्शनस्यापि साऽनुमीयतामविशेषात् । दर्शनेऽसभविनी तस्य तर्कयोग्यता भवति नार्थाकार इति विस्तृतोऽय विर्भाग ? तन्निषेधे ‘अन्यथा’ इत्यादिना दूषणमाह । अन्यथा तर्कयोग्यता निषेधप्रकारेण विकल्पोत्पत्त्यभावात्प्रसङ्गात्, सा ‘न निषेध्या’ इति सम्बन्ध । 10 ननु विकल्पवामनात् एव विकल्पोत्पत्ति, दर्शन तु केवल तत्प्रबोधकम् ततोऽयमदोष, इत्याह—‘सति’ इत्यादि । सति विद्यमाने मुरये स्वपरव्यवस्थायाम् अन्यनिषेधे निर्णयात्मके ज्ञाने । पुरापि कथम्भूते इत्याह—‘सकल’ इत्यादि । अर्थाभिव्यक्तकार- तत्त्वोत्तरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानप्रवृत्तिलक्षण सकलो व्यवहारः तन्नियामके 15 तुवाण सौगत कथं स्वस्थः ? किं तुवाण इत्याह—ज्ञानम् । कथम्भूतम् ? अकि- च्चित्कर निर्गिकल्पक असवेद्य ‘न सवेद्यते’ इत्यसवेद्यम्, न विद्यते वा सवेद्य प्राह यस्य, अत एव अनुपायमनुपेयमिति ।

(१) प० ४७ । (२) बोद्धा हि प्रत्यक्ष निविकल्प्यवत्कमुररीकुवन्ति अतस्त गच्छससर्गयोग्यता प्रत्यक्षस्य निषेध्यते । तथा चान्नम्— अभिप्रायससर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीति कल्पना, तथा रहितम् ।— यायवि० पृ० १३ । (३) नीलमिदमित्याकारविकल्पस्य । (४) नीलाकारतादर्शनात् । (५) निविकल्पकप्रत्यक्षस्य । (६) नीलाकारता । (७) निविकल्पक नीलाकार तत् उत्पत्ते विकल्पे नीलाकारत्वाऽयं यत्तुपत्त । (८) विचिन्त्यस्य । (९) अभिलाषससर्गयोग्यता । निविकल्पके अभिलाषससर्गयोग्यताऽस्ति तत् उत्पन्न विकल्प अभिलाषससर्गयोग्यताऽयवानुपपत्ते । (१०) विकल्पस्य । (११) अभिलाषससर्गयोग्यता । (१२) यदि दशनऽसभविनी अभिलाषससर्गयोग्यता विकल्पे घटेत तर्हि दशनोऽसभवप्रति नीलाकार विकल्पे स्यात् तथा च नीलविकल्पस्य सागानीलस्वलक्षणविषयताप्राप्ते ‘विकल्पोऽस्तु निर्भास’ इति सिद्धान्तविराध इति भाव । (१३) तुलना—‘यथैव हि वर्णादावभिप्रायाभाव तथा प्रत्यक्षापि तस्य अभिलाषकत्वनतातो पोत्वात् अनभिलाषात्मकाथसामर्थ्येनात्पत्ते । प्रत्यक्षस्य तदभावेऽप्यध्यवसायकल्पनाया प्रत्यक्ष विनाध्यवस्यत स्वलक्षण स्वयमभिलाषानुपेयमपि । प्रत्यक्षमध्यवसायस्य हेतुत्वं पुना स्थानिरिति कथं मुनिवृत्तिनाभिधानम् ? यन्नि पुनरविकल्पकान्पि प्रत्यक्षाद्विकल्पात्मनोऽव्यवसायस्योत्पत्ति प्रतीपादि बजालादिवन् विनानीयान्पि कारणात् वायस्यात्पत्तिदशनान्पि मतम्, तदा तादृशोऽर्थाद्विकल्पात्मन प्रत्यक्षस्योत्पत्तिरस्तु तत् एव तद्वदिति । जानिद्व्यगुणक्रियापरिभाषाकल्पनारहि तादर्थान् कथं जात्यादिवत्पनतात्मक प्रत्यक्ष स्यादिति चेत्, प्रत्यक्षात्तद्विहाद्विकल्प कथं जात्यादिवत्पनात्मक स्यान्पि सम पयनुयाग ।’—अष्टा०, अष्टसह० प० ११८ । (१४) विकल्पवासाः ।

१ तच्च थ० । २-स्यादि तयो थ० । ३-थ विर-थ० । ४-नादानस्य थ० । ५ तथा सत्यभि-थ० । ६ विकलोत्प-थ० । ७ अनुपेयमिति व० ।

एव सामायेन व्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण व्यवस्थाप्य, अधुना तद्देद दर्शयन्नाह—

तत्प्रत्यक्ष परोक्षञ्च द्विधैवात्रान्यसप्रिदाम् ।

अन्तर्भावात् युज्यन्ते नियमाः पररूपलिपताः ॥६१॥

त्रिवृति—इन्द्रियार्थज्ञान स्पष्ट हितहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं प्रादेशिकं प्रत्यक्षम्

- ५ अग्रग्रहणायधारणात्मकम् । अनिन्द्रियप्रत्यक्ष स्मृतिगज्ञाचिन्ताभिनिरोधात्मकम् ।  
अतीन्द्रियप्रत्यक्ष व्यपसायात्मक स्फुटतरमवितथमतीन्द्रियमव्यपधान लोकोत्तर-  
मात्मार्थविषयम् । तैदस्ति सुनिश्चितामभवद्वाधकरुप्रमाणत्वात् सुखादिवत् । श्रुत  
परोक्ष सकलप्रमाणप्रमेयेयत्तान्तरूपाभिधायि बाधारहित प्रमाणम् । अत्र अर्थाप-  
स्यनुमानोपमानादीन्यन्तर्भवन्ति । परपरिरूपितप्रमाणान्तर्भावनिराकरणमन्यत्रो-  
क्तमिति नेहोच्यते ।

यद्व्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण प्रतिपादित तत् 'द्विधैव', नैकविध नापि न्यादि-

विधम् इत्येवकारार्थं । क्व तद्द्विधैव ? इत्याह—प्रत्यक्ष परोक्षञ्च ।

वपरिभाष - इतिशब्दोऽत्र द्रष्टव्य, इति एवम्, न प्रत्यक्षानुमानप्रकारेण । ननु

अनुमानोपमानादे ततोऽर्थांतरत्वात् क्व 'द्विधैव' इति नियम स्यात् ? इत्याह—

- १५ 'अत्र' इत्यादि । अत्र प्रत्यक्षपरोक्षयो अन्यामा समीचीनसविदाम् अन्त-

र्भावात् द्विधैव इति । अतभावञ्च परोक्षपरिच्छेदे चिन्तित । अतश्च न युज्य-

न्ते नियमा परैः सौगतादिभि ररूपलिपताः ।

कारिका त्रिवृण्वन्नाह—'इन्द्रिय' इत्यादि । इन्द्रियाणा चक्षुरादीना कार्यभूतम्

त्रिवृतिव्यपधानम्— अर्थस्य घटादे प्राह्वय न मरीचिकातोयादे, ज्ञान प्रत्यक्षम् ।

(१) यत्सम्भ्रान्तात्मक प्रमाण तत्र द्विधैव द्विप्रकारमेव । तावत् प्रकारावह—प्रत्यक्ष परोक्ष इति ।

न वनुमानान्तिप्रमाणभन्मत्यापि समाख्यत इत्याह—अथत्यादि । न युज्यन्ते न सर्वत्र । के ? नियमा

नित्यान्तिमस्याप्रतिता । किञ्चिद्विष्टा ? परपरिरूपिता पर सौगतादिभि ररूपिता रचिता ।

कुतान युज्यन्ते ? अन्तर्भावात् सग्रहात् । वासाम् ? असविदाम् अनुमानान्तिज्ञानानाम् । क्व ?

अत्रव प्रत्यक्षपरोक्षसग्रह एव । १—लघी० ता० प० ८१ । (२) तुलना— ज्ञाननिवृधना तु सिद्धिर

नुष्ठानम् हेयस्य हानमनुष्ठानमुपायेयस्य चोपादानम् । ततो हेयोपायेययो हानोपादानरक्षणो तु सिद्धि

रित्युच्यते । —न्यायवि० टी० पृ० ८ । हितहितप्राप्तिपरिहारमथ हि प्रमाण ततो ज्ञानमेव तत । —

परोक्षाम् १२ । प्रमाणनय० १३ । (३) सायबहारिक प्रत्यक्षम् । तुलना—लघी० टि० प० १३२

प० १० । (४) लक्षण सममेतावान् विगोपापगोचरम् । जयम करणानीनमकलङ्क महीयसाम् ॥

—न्यायवि० वा १९८ । प्रमाणसं० वा० ९ । तुलना—न्यायवि० टि० प० १६२ प० २५ । न्याय

कुम० पृ० २५ टि० २ । (५) तुलना— अस्ति सवन सुनिश्चितामभवद्वाधकरुप्रमाणत्वात् सुखादिवत् । —

सिद्धिवि० टी० पृ० ४२१ B । अष्टम० अष्टसह० पृ० ४४ । आप्तप० प० ५६ । तत्रवाधद्रलो

पृ० १८५ । प्रमाणनि० प० २९ । प्रमाणमी० पृ० १४ । घटद० वह० पृ० ५३ ।

१—ननु यु—ज वि० । २ द्विविधव व० । ३—चीनविदाम व० । ४ ज्ञान कत प्रत्यक्षम् व० ।

किंविशिष्टम् ? स्पष्टम् विशदम् । निर्विकल्पकं परोक्षं ज्ञानान्तरप्रत्यक्षं वा तर्था  
 स्यात् इत्याह—‘हित’ इत्यादि । हितं सुखं तत्साधनञ्च अहितं दुःखं तत्कारणञ्च  
 तयोः प्राप्तिपरिहारौ तत्र समर्थं योग्यम् । नच निर्विकल्पकत्वादे तत्रै सामर्थ्यम्  
 अर्थमात्रमहणेऽप्यस्यै सामर्थ्यासम्भवात् इत्युक्तम् सन्निकल्पकादिसिद्धिप्रघटके । ननु  
 मविकल्पकप्रत्यक्षेण सर्वात्मना अर्थस्य गृहीतत्वात् तत्र प्रमाणान्तराप्रवृत्तिः स्यात् इत्य- 5  
 आह—प्रादेशिकम् । सर्वमस्मदादिप्रत्यक्षं प्रदेष्टुं एव नियतम् । द्विचन्द्रादिदर्शनेऽपि  
 तमिरिकज्ञानेन गन्तव्याद्यदर्शनरतं, नीलादिदर्शनेऽपि श्वणपरिणामादर्शनयद्वा । साम्प्र-  
 तमिन्द्रियज्ञानस्य स्वरूपेण प्रत्यक्षं दर्शयन्नाह—‘इन्द्रिय’ इत्यादि । इन्द्रियाणां कार्यम्  
 आत्मनः मविदा स्वरूपस्य ज्ञानं स्पष्टं हिताहितप्राप्तिपरिहारमर्थं प्रादेशिकं प्रत्य-  
 क्षम् इति । तदुभयमपि किं भेदम् ? इत्याह—अप्रहेहाप्रायधारणात्मकम् । व्याख्याता 10  
 जवप्रहादयः प्रत्यक्षपरिच्छेदे, ते आत्मा यस्य तत् तत्प्रत्यक्षम् ।

इदानीम् ‘अनिन्द्रिय’ इत्यादिनाऽनिन्द्रियप्रत्यक्षं दर्शयति—अनिन्द्रियस्य मनस  
 कार्यं ज्ञानम् अनिन्द्रियप्रत्यक्षम् । ननु च इन्द्रियज्ञानमपि अनिन्द्रियस्य भवत्येव  
 कार्यं तत्कथमयं प्रतिभाग इति चेत् ? प्रानेतरभावात् । इन्द्रियज्ञाने हि इन्द्रियाणां  
 प्रधानमात्रं, अत्र तु अनिन्द्रियस्यै इति युक्तं प्रतिभागं । किं रूपं तद् ? इत्याह— 15  
 स्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिर्गोधात्मकम् । ननु स्मृत्यादीनां परोक्षतया पूर्वं प्रतिपादित-  
 त्वात् कथमत्र प्रत्यक्षतया प्रतिपादनं युक्तं पूर्वापरनिरोधप्रसङ्गात्, इत्यप्यचर्चिताभिधा-  
 नम्, यत्राद्ये तेषां स्पष्टत्वं तत्रैव प्रत्यक्षत्वं प्रतिपादनात् । स्वरूपे एव हि 7 तेषां स्पष्ट-  
 त्वम् अतस्तत्रैव प्रत्यक्षत्वम् ‘आत्मज्ञानम्’ इत्यभिमतत्वात् । बहिरर्थं त्वर्यं अस्प-  
 ष्टत्वात् परोक्षता इति न तद्विदोषः । अत्रापि ‘हित’ इत्यादि, ‘प्रादेशिकम्’ इति च 20  
 सम्प्रथ्यते । स्मृत्यादिग्रहणमुपलक्षणं तेन ‘सुग्राहात्मकम्’ इत्यपि गृह्यते ।

अधुना अतीन्द्रियप्रत्यक्षप्ररूपणार्थम् ‘अतीन्द्रिय’ इत्याद्याह । इन्द्रियेभ्योऽति-  
 नात्मं अतीन्द्रियं प्रत्यक्षम्, कथम्भूतम् ? व्यवमायात्मकम्, अनेन सात्त्विक-  
 तिकरूपितं निर्विकल्पकं तन्निरस्तम् । स्फुटतरम्, अस्मदादिप्रत्यक्षात् समस्ते  
 स्वगोचरे अतिशयेन विशदम् । अविद्यतम्, अज्ञातम् । अनेन “भिन्नवोऽहमपि मायो- 25

(१) सौमताभिमतम् । (२) मीमांसाकाद्यभिमतम् । (३) नयायिकाभिमतम् । (४)  
 प्रत्यक्षमप्यग्रहकं वा । (५) हितप्राप्ती अहितपरिहारे वा । (६) निर्विकल्पादे । (७) प० ४७ ।  
 (८) अर्थे । (९) प० ११६ । (१०) तुलना—इन्द्रियप्राचायादनिन्द्रियबलाघानादुपजातमिन्द्रिय  
 प्रत्यक्षमनिन्द्रियात्वेन विदुद्विसव्यपेक्षादुपजायमानमनिन्द्रियप्रत्यक्षम् । —प्रमेय० २।४ । प्रमाणमी०  
 प० १६ । (११) अनिन्द्रियप्रत्यक्षं । (१२) अनिन्द्रियस्यैव इत्यवधारणं द्रष्टव्यम् । (१३) प० ४०३ ।  
 (१४) स्मृत्यादीनाम् । (१५) स्वरूपे एव । (१६) स्मृत्यादेः ।

1—स्वाहात्प्रमा—अ० । 2—ज्ञानं स्व—आ० । 3—अवग्रहेहादयं च० । 4—इदानीमनिन्द्रियप्रत्यक्षं  
 दग—व० । 5—प्रतिभागं व० । 6—प्राचायेतर—अ० । 7—प्रत्यक्षप्रति—आ० । 8—परोक्षत्वमिति अ० ।

पम स्वप्नोपमं” [ ] इति प्रत्याख्यातम् । तस्य इन्द्रियातिष्ठातत्त्व समर्थ-  
यमान ‘अतीन्द्रियम्’ इत्याद्याह । अतीन्द्रियम् इन्द्रियव्यापाराज-यम्, कुत  
अव्यवधानम् देशादिव्यवधानरहितं यत्, यत् स्वगोचरे देशादिव्यवधानरहितं न  
तद् इन्द्रियव्यापार-यम् यथा सर्वैस्वप्नज्ञानम्, स्वगोचरे देशादिव्यवधानरहितञ्च  
अतीन्द्रियप्रत्यक्षमिति । तथा च ‘ईश्वरज्ञानम् इन्द्रियार्थसन्निर्णय प्रत्यक्षत्वे सति ज्ञान-  
त्वात् इतरज्ञानवत्’ [ ] इति निरस्तम् । तज्ञानस्य इन्द्रियप्रभवत्वे प्रत्यक्ष-  
परिच्छेदे असर्वविषय-प्रतिपादनात् । लोकोत्तरसकललोकोक्त्यमात्मार्थनिपयम्,  
‘आत्मनिपयम्’ इत्यनेन अस्वसन्निहितमीश्वरायक्ष निराकृतम् । तस्य आत्माऽगोच-  
रत्वे अर्थगोचरत्वानुपपत्तिप्रतिपादनात् । ‘अर्थविषयम्’ इत्यनेन तु “नैन्योऽनुभाव्यो

(१) तुलना- मायास्वप्नोपमं जगतं ‘मायास्वप्नापमं लाकम- लङ्कावतार० प० ३२९, ३३४।

‘मायास्वप्नोपमं सत् सत्कार सत्त्वहिनाम् ।’-नरात्म्य० प० २१ । न हितयागता क्वाचिदप्यात्मन  
स्वभावानां यास्तित्वं प्रपयन्ति । यद्योक्तं भगवत्याम-बुद्धोप्यायत्मानं सुभूते मायोपमं स्वप्नोपमं, बुद्ध  
धर्मा अप्यायुष्मन् सुभूते मायापमा स्वप्नोपमा इति । तथा-धमस्वभाव तु गूयविविधतो वाधिस्वभाव तु  
गूयविविधतो । यो हि चरत्स वि गूयस्वभावो जानवता न तु बालजनस्य इति । यद्योक्तं भगवता-  
गूया सवधर्मा नि स्वभावयोगन । निनिमित्ता सवधर्मा निनिमित्ततामुपात्ताय यद्योक्तं सूत्र-मायोपम  
जगत् भवता नटरङ्गस्वप्नसत्त्व विहितं । नात्मा न सत्त्वं न च जीवगतो धर्मा मरीचिचक्षुःद्रसमा ।  
-माध्यमिक० प० ४४२ ४५ । ‘तस्मात्मायास्वप्नादिस्वभावाः सवधमा इति निश्चितमेतत् । स्या  
दतत्-यत् सवध्यापिनी मायोपमस्वभावता बुद्धोऽपि तर्हि मायापमं स्वप्नापमं स्यात् । उक्तञ्चतत्  
भगवत्याम-एवमुक्ते सुभूतिस्तान् दवपुत्रानेतन्बोचत-मायोपमास्ते दवपुत्रा मरुधा स्वप्नोपमास्ते  
नेपुत्रा सत्त्वा इति हि माया च सत्त्वास्त्वाद्यमत्तद्वधोवारम् । सवधर्मा अपि नेवपुत्रा मायोपमा  
स्वप्नोपमा । सोऽत आपत्ताऽपि मायोपमं स्वप्नोपमं सोऽत आपत्तित्वमपि मायोपमं स्वप्नोपमम् ।  
एव सत्त्वागाम्यपि महदागामिपत्तमपि । अनागाम्यपि अनागामिपत्तमपि । अहन्नि अहत्त्वमपि मायो  
पमं स्वप्नोपमम् सम्भ्यसत्त्वोऽपि मायोपमं स्वप्नोपमं । सम्भ्यसत्त्वत्वमपि मायोपमं स्वप्नोपमं याव  
निर्वाणमपि मायोपमं स्वप्नोपमम् स चेत्निर्वाणदपि वदित्तदमो विणिष्टतर स्यात्तमप्यह मायोपम  
स्वप्नापमं क्वाचि । -बोधिचर्या० प० ३७९ । आयत्तलिनविस्तरेप्युक्तम् (प० २०९ ११) सत्कार  
प्रत्यक्षविधेन शिप्रमुदात्तिनिरोधधमता । अनवस्थितमास्तोपमा फनपिण्डव असारबुद्धत्वा ॥ सत्कार  
निराठगूयत्वा क्वाचीस्व-धसमा निरीणते । मायोपमचित्तमोहता वाऽ उल्भापनरिक्तमुष्टिवत् ॥’  
-बोधिचर्या० प० ५३२ । ‘मायास्वप्नमराचिविम्बमत्ता प्रोद्भासथुत्वोपमा । विनयात्क्वच द्विविध  
सद्गता निर्माणतुल्या पुन । -महायानसू० प० ६२ । उद्धतमित्-स मति० टी० प० ३७१, ३७७ ।  
गास्त्रदा० यगो० प० २१५ A । (२) तुलना-‘स्वयम्रमूरलङ्घनार्हं स्वर्वालोकपरिस्फुटमवभासने  
सत्यस्वात्तम् ।’-प्रमाणम्० प० १९ । प्रमाणम्० टि० प० १७२ प० २३ । (३) ईश्वरज्ञानस्य ।  
(४) प० १०८ । (५) नायोनुभापस्यनाम्नि तस्य नानुभवोपरः । तस्यापि तुत्यथोद्यत्वात् स्वर्थ  
मेव प्रकाशत ॥ यथा च स्वस्वात्तयो बुद्ध्या अनुभाव्यो नास्ति तथा तस्य जानस्य चात्परोऽनुभवो  
नास्ति । तस्य ज्ञानग्रहणस्यापि तुयाथबोधवान्, स ह्ययत्वनिराधनो ब्राह्मणब्राह्मणव तत्त्वानप  
प्रमिचुत्तम् । तस्मात्तानमपरोऽपनया उदात्तं स्वयं प्रकाशते नायन प्रकाशते । -प्रमाणवा०  
इत्याह य० । । इतिप्रवचनं य० ।

बुद्ध्यास्ति" [प्रमाणवा० २।३२७] इत्येतन्निरस्तम् । तद्विषयत्वे बुद्धे बुद्धिरूपत्वस्यै-  
वानुपपत्ते स्वरूपव्यवसायस्वभावात्तत्त्वस्यै । प्रसाधितश्च चाहोऽर्थं प्रपञ्चतो वाच्यार्थ-  
सिद्धयसरे<sup>३</sup> । ननु ग्रन्थ्यासुतमौभाग्यव्यावर्णनप्रत्ययमेतत् अतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य सद्भाव-  
वेदकप्रमाणाभावात् स्पुष्पवदसत्त्वात् इत्याशङ्क्याह—'तदस्ति' इत्यादि । तद्  
अतीन्द्रियप्रत्यक्षम् अस्ति सुनिश्चितासभवाद्वाधकप्रमाणत्वात् सुखादिनात् इति । 6  
समर्थितश्चास्य सुनिश्चितासभवाद्वाधकप्रमाणत्व प्रत्ययेन सर्वज्ञसिद्धिप्रघट्टके<sup>४</sup> इत्यल-  
पुनस्तत्तन्मर्थनप्रयासेन ।

परोक्षमिदानीं व्याचष्टे 'श्रुतम्' इत्यादिना । श्रुतम् अत्रिस्वष्टतर्कणम् तत्प्रमा-  
णम् । किं सर्वम् ? न, चाप्रारहितम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? इत्याह—'सकल'  
इत्यादि । सकल यत् प्रमाण यच्च प्रमेय तयो इयत्तास्वरूपाभिधायि, अनेन च 10  
प्रत्यक्षाऽनुमेयाऽन्यन्तपरोक्षलक्षणैः स्थानत्रयेऽप्यस्यै प्रामा य दर्शयति । तथा च निरा-  
कृतमेतत्—'तृतीयैस्थानसङ्क्रान्ता न्यैव्य (न्याय्य) शास्त्रपरिग्रहं ।' [प्रमाणवा० ४।५१]  
इति । नहि प्रमाणानां सांपत्त्यन्यायोऽस्ति चेन एकविषये द्वितीयस्याप्रवृत्ति स्यात् ।  
अथ मतम्—अर्थापत्त्यादे प्रमाणान्तरत्वप्रसिद्धे कथं प्रत्यक्षपरोक्षरूपतया प्रमाणद्वित्व-  
मिद्धि, यतो 'द्विधैव' इति नियम सुघट स्यात् ? इत्याह—'अत्र' इत्यादि । 15  
अत्र परोक्षे अर्थापत्त्यनुमानोपमानादीनि, आदिशब्देन अत्रिस्वष्टमन्यदपि प्रमाण  
गृह्यते, अन्तर्भवन्ति । तत्र तदन्तर्भावश्च परोक्षपरिच्छेदे प्रपञ्चित । नन्वेव सौगता-  
दीनामपि स्त्रोपकल्पितप्रमाणसत्त्वायाम् इतरप्रमाणानामन्तर्भावो भविष्यति, इत्याह—  
'पर' इत्यत्रि । परैः सोगनादिभिः परिकल्पितस्य प्रमाणान्तर्भावस्य निराकरणम्  
अन्यत्र परोक्षपरिच्छेदे उक्तमिति नेह प्रघट्टके पुनरुच्यते । 20

मनोरथ० २।३२७ । उद्धतोऽप्यम-प्रश्न० प्यो० पृ० ५२५ । अष्टसह० पृ० ११० । सिद्धिवि० टी० पृ०  
१६६ A । शास्त्रदी० पृ० १९५ । स्या० ७० पृ० १५० । शास्त्रवा० यज्ञो० पृ० १७४ B, २१५  
B । पापकुमु० पृ० १३३ टि० ४ ।

(१) अर्थापत्त्यत्वं । (२) बुद्धे । (३) पृ० ११९ । (४) पृ० ८९ । (५) श्रुतस्य ।  
तु'ना—'स्थानत्रया-विसर्वा' श्रुतानां हि यक्ष्यते । तेनाधिकम्यमानत्व सिद्ध सर्वत्र वस्तुनि ॥ १० ॥'  
—सत्त्वय० श्लो० पृ० १३ । (६) 'तद्विरोधेन चिन्ताया तत्सिद्धार्थेष्वयोग्यता । ततीयस्थानस-  
द्भवान्तो 'याप्य शास्त्रपरिग्रहं ॥ तस्य शास्त्रस्य विराधेन तत्सिद्धत्वेषु लिङ्गादिष्वसिद्धकल्पपु-  
गमकचिन्ताया अव्योग्यता । यस्मात् प्रत्यक्षपरोक्षाययानागमाधिकार तस्मात् ततीयस्थान अतीन्द्रिये  
विषये विचारसङ्क्रान्ते 'शास्त्रपरिग्रहो 'याप्य प्रवारान्तरागभवात् ।'—प्रमाणवा० मनोरथ० ४।५१ ।  
(७) यथा यदका सपत्नी पतिममीरे समुपतिष्ठति तदा द्वितीया ईर्ष्यावत्किन्ता अनवकाशतया पत्युपकण्ठ-  
नोपसपति न तथा प्रमाणानां सांपत्त्यभावो इर्ष्यावत्किन्ता अनवकाशता वा समस्ति एति भाव ।  
(८) सम्भवतिहासिकम् । (९) परोक्षे ।



श्रुतस्य भेद दर्शयताह-

उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसञ्जितौ ।

स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसकथा ॥६२॥

विरुद्धि -अनेकान्तात्मकार्यकथन स्याद्वाद, यथा जीव पुद्गलः धर्मोऽधर्म आकाश काल इति । तत्र जीवो ज्ञानदर्शनरीर्यमुखं असाधारणैः अमूर्त्तत्वाऽ-संग्यातश्रदेशत्वसूक्ष्मत्वं. साधारणासाधारणं सत्त्वप्रमेयत्वागुरुलघुत्वधर्मित्वागुणि-न्यादिभिः साधारणैः अनेकान्त. । तस्य जीवस्यादेशात् प्रमाण स्याद्वाद. । तथा इतर परमाणमतो योज्या । ज्ञो जीवः मुखदुसादिवेदनात् इत्यादि विकलादेशो नयः । साकल्यम् अनन्तधर्मात्मकता । वैकल्यम् एकांश धर्मान्तरानिवक्षात्. ।

(१) भवन । की ? उपयोगी व्यापारौ । कस्य ? श्रुतस्य, श्रुयत इति श्रुतमाप्तवचन वणपन्वाव्यात्मक द्रव्यरूप तस्य भावश्रुतस्य वा श्रवण श्रुतमिति निश्चये । कति ? द्वौ । विप्रामाती ? स्यात्पाननयसञ्जितौ स्यात्कथञ्चिन प्रतिपत्तापेक्षया वचन स्यात्, नयन वस्तुना विवक्षितधमप्रापण नय स्याद्वादश्च नयश्च स्यात्पाननयो इत्य सने व्यपदेशो ययोस्तौ तथोक्तौ । तौ लक्षणता निर्दिष्टि-स्यात्पद उच्यते । क ? सकलात्प सक्त्तस्य अनेकधमणो वस्तुन आन्त कथनम्, यथा जीवपुद्गल धर्मधर्माकाशकाल पदार्था । 'पुननयो भवति । वा ? विकलमकथा विकल्पस्य विवक्षितकथमस्य सम्पक् प्रतिपक्षापेक्षया कथा प्रतिपत्तन यथा जीवा पानव द्रष्टव इत्यादि । -लघी० ता० प० ८३ । तुलना- तदुक्तम्-उपयोगी धुनस्य द्वौ प्रमाणनयभन्त । -सिद्धिदि० टी० पृ० ४ A । (२) निर्दिष्टमानधमव्यतिरिक्तान्तापधमन्तरसमूहचन स्याता युक्तो वागोऽभिप्रतधमनचन स्याद्वाद । -न्यासाव० ता० टी० पृ० ९३ । 'यामकु० पृ० ३ जि० १० । (३) तुलना- स्यात्पदप्रयोगात्तु म नानेर्शनमुपाधिषा असाधारणा य चामुत्तत्वाभ्यान्तप्रयोगमूर्त्तत्वलक्षणा धर्मधर्माधमगगनास्ति कायपुद्गल साधारणा यन्नि च सत्त्वप्रमेयत्वधर्मित्वगुणित्वात्प सवपत्तार्थे साधारणास्तेऽपि च प्रतीयन्ते । -आव० नि० मलय० प० १७० A । (४) सकलात्पविकलादेशयो स्वरूप प्राप्त सर्वेयामकमत्यर्पि केचित्कलङ्काचाया सप्तसु भगपु सर्वापि भङ्गान एकधममुपेन अशेधधर्ममकच स्तुप्रतिपत्तनकते सकलात्पकथान एकधम प्रधानतया अयधर्माश्च गौणतया भिधानसमय विकलात्पेतात्मकान् स्वाधुचन्ति । कश्चित्च सिद्धसेनगणिसमृतय मदसत्त्वकव्यरूप भङ्गत्रय सकलात्पत्वेन पिप्ताश्च चतुरो भगान् विकलादेशरूपेण मयन्ते । अकलङ्कादीनां प्रथा - 'तथा चोक्तम्-सकलादेश प्रमाणात्तानो विकलादेशो नयाधीन इति । -सर्वापि० ११६ । यत्र यथा योगपद्य तदा सकलात्प । एकगुणमुलनाशापवस्तुत्पमप्रधान सकलादेश । तयाशेवतान सप्तमगी प्रतिपत्तम् । यथा तु क्रम तदा विकलादेश (पृ० १८०) निरंस्यापि गुणभन्दागकल्पना विकलादेश । तत्रापि तथा सप्तमगी । -राजवा० प० १८१ । नयचक्र० प० ३४८ B । सकलात्पेगो हि योगपद्यनागपधर्ममव वस्तु कालाभिभनदवृत्त्या प्रतिपत्तयति अभदापचारण वा तस्य प्रमाणाधीनत्वात् । विकलात्पेस्तु त्रयेण भदोपचारेण भेदप्राधायन वा । -तत्त्वार्थदश० प० १३६ । प्रमेयक० पृ० ६८२ । सप्तभगित० प० ३२ । प्रमाणनय० ४१४४ ४५ । अनतकभा० पृ० २० । 'इय सत्त्वभङ्गी प्रतिभङ्ग सकलात्पेस्वभावा विकलात्पेस्वभावा च । -प्रमाणनय० ४१६३ । गुरुत्ववि० प० १५ A । नास्त्रवा० टी० पृ० २५४ A । 'यथा मध्यस्थभावतादित्वकाल विचिद्धम प्रतिपत्तयिपव धपधमस्वीतरणनिराकरणविमुत्तया धिया वाचं प्रयुञ्जते तदा तत्त्वचिन्तना अपि लौकिकत्रन् सम्मुधाकारतयाचन्ते-यदुत जीवोऽस्ति

तत्र जीव इत्युक्ते जीवशब्दो योग्यतापेक्षोऽनादिसकेतः स्वभावाभूताऽन्यापोहस्वार्थ-  
प्रतिपादनः न्यक्षेण प्रतिपक्ष निरस्य जीवमात्रमेव अभिदध्यात् ततः स्यात्पदप्रयो-  
गात् सर्ववैकान्तत्यागात् स्वरूपादिचतुष्टयप्रियेणप्रियेण जीवः अभिधीयते इति

कता प्रमाणा भोक्तेत्यादि, अतः सम्पूर्णवस्तुप्रतिपादनाभावात् विकलादेशाऽभिधीयते नयमतेन सम्भव-  
द्वमाणा दानमात्रमित्ययम् । यदा तु प्रमाण-यापारमविकल परामश्य प्रतिपादयितुमभिप्रयन्ति तदाङ्गी-  
तगुणप्रधानभावा अशपथमसूचकव्यञ्जित्पयायस्याच्छ दभूपितया सावधारणया वाचा दशयन्ति 'स्या-  
दस्यव जीव इत्यादिकया, अतोऽय स्याच्छ दससूचिताभ्यन्तरीभूतानन्तधमवस्य साक्षादुपयस्तजीव-  
शब्दत्रियाभ्या प्रधानीकृतात्माभावस्यावधारणव्यवच्छिन्नतत्सम्भवस्य वस्तुन सदशकत्वात् सकलादेश-  
इत्युच्यते । प्रमाणप्रतिपन्नसम्पूर्णार्थकथनमिति यावत् । तदुक्तम्—सा ज्ञेयविशेषगतिनयप्रमाणात्मिका  
भवत्तत्र । सक्त्वाहि तु मान विकलग्राही नयो ज्ञेय ।'—यापावता० टी० पृ० ९२ । सिद्धसेनगणिप्र-  
भतीनां प्रया—एवेमेते त्रय सकलादेशा भाष्येणैव विभाविता सप्रहृन्ववहारानुसारिण आत्मद्रव्ये ।  
सम्प्रति विकलादेशाश्चत्वार पर्यायनयाश्रया वक्त्रव्यास्तत्प्रतिपादनाथमाह भाष्यकार—देशादेशेन  
विकल्पितव्यमिति विवशायत्ता च यच्च सकलादेशता विकलादेशता च द्रष्टव्या । द्रव्याथजात्यभेदात्  
सद्वद्रव्याथभेदानेव द्रव्याथ मयत, यदा पर्यायजात्यभेदाश्च पर्यायथ सवपर्यायभान प्रतिपद्यते,  
तदा त्वविवाशितस्वजातिभेदत्वात् सकल वस्तु एकद्रव्याथभिन्नम् एकपर्यायार्थभेदापचरितं तद्विपका  
भेदापचरितं वा तन्मात्रमेवमद्वितीयाश युवन् सकलादेश स्यान्नित्य इत्यादिस्त्रिविधोऽपि नित्यत्वानित्य-  
त्वयुगपत्भावकत्वरूपवार्थाभिधायी । यदा तु द्रव्यपर्यायसामान्याभ्या तद्विशेषाभ्या वा वस्तुन एकत्व-  
तत्तत्तात्मक समुच्चयाश्रय चतुषविकल्प, स्वाशयुगपदत्त त्रयवत्तत्र पञ्चमपट्टसप्तमपूच्यते तथावि-  
वशावगानं तदा तु तथा प्रतिपादनं विकलादेश । '—सत्त्वाथभा० टी० पृ० ६१५ । तत्र विवशाश्रुत-  
प्रधानभावसत्त्वाश्रयधर्मस्मकस्यापक्षितापरानोपधमश्रीकृतस्य वाक्याथस्य स्यात्कारपदलाञ्छितवाक्यात्  
प्रतीक स्यान्ति घट स्यान्नास्ति घट स्यादवक्त्रयो घट इत्येत त्रयो भङ्गा सकलादेशा विवशाविर-  
चितद्विधर्मनुरक्तस्य स्यात्कारपदससूचिनसकलधमस्वभावस्य धर्मिणो वाक्याथरूपस्य प्रतिपत्ते-  
चत्वारो वक्ष्यमाणका विकलादेशा—स्यान्ति च नास्ति घट इति प्रथमो विकलादेश, स्यान्ति  
चावक्त्रयश्च घट इति द्वितीय, स्यान्नास्ति चावक्त्रयश्च घट इति ततीय, स्यादस्ति च नास्ति चावक्त्र-  
व्यश्च घट इति चतुर्थ ।'—समति० टी० पृ० ४४६ । उ० यशोविजय यद्यपि शास्त्रवा० टी० जन-  
तकभा० गुरतत्त्वविनिश्चयादौ सप्तानामपि भङ्गाना अवलङ्कापज्ञाना सकलविकलादेशोभयरूपता  
शिद्धान्तीकृता तथापि त अष्टसहस्रीविवरणे 'आद्यास्त्रया भङ्गा सकलादेशा गिष्टाश्च चत्वारो विक-  
लादेशा' इत्यपि तत्त्वाथभाष्यसंगृहितं सिद्धसेनगणिव्यावर्णितं कृतातीकृतम् । तथाहि—'किन्तु आद्यभ-  
ङ्गद्वयपत्तनविजयरूपयो गृह्यग्राहिकया व्यवस्थापन एव नयभदो मतभदो वा युज्यते ततीयभङ्गस्तु अव-  
क्त्रयलक्षण ताभ्या युगपदादिष्टाभ्या तदभन्नेवभेत् इत्यत त्रयो निरवयवद्रव्यविषयत्वान् सकला-  
देशा, सत्सत्त्व सदवक्त्रय्यादपश्चत्वारस्तु चरमा सावयवद्रव्यविषयत्वाद्द्विकलादेशरूपा, तत्रभद-  
विचित्रं तु त्रयेथापि सत्सत्त्वविवक्षा सम्प्रदायविशदत्वात्प्रोत्ति इति न निरवयवद्रव्यविषयत्वमपामि-  
त्यस्मदभिमतोक्तमव युक्त्वमिति मन्तव्यम् ।'—अष्टसह० वि० पृ० २०८ B । अयमेव सिद्धान्त-  
शास्त्रवातांसमुच्चयनोपायाम् क्वचित्तु इति कृत्वा निर्दिष्ट । तथाहि—'क्वचित्तु अनन्तधर्मस्मकवस्तु-  
प्रतिपादकत्वाविशेषेण आद्याश्रय एव भगा निरवयवप्रतिपत्तिद्वारा सकलादेशा अग्रिमाम्नु चत्वार-  
मावयवप्रतिपत्तिद्वारा विकलादेशा, इति प्रतिपन्नम् ।'—शास्त्रवा० टी० पृ० २५४ B ।

स्वेष्टमिद्धि । नयोऽपि तथैव मय्यगेरान्तः । 'स्याजीव एव' इत्युक्तेऽनेरान्त-  
त्रिपयः स्याच्छब्दः, 'स्यादस्त्येव जीव' इत्युक्ते एकान्तत्रिपयः स्याच्छब्दः ।

उपयोगौ व्यापारौ, कैतिमग्यौ ? द्वौ । कस्य ? श्रुतस्य श्रुताग्य-  
प्रमाणस्य । निमाग्यौ ? स्याद्वादनयसञ्ज्ञितौ, स्याद्वादमञ्ज्ञित  
नयमञ्ज्ञितश्च । कोऽसौ स्याद्वात् कश्च नय इत्याह—'स्याद्वादः'  
इत्यादि । स्याद्वादो भवति, कोऽसौ ? सकलादेशः, मन्त्रस्य सम्पूर्णस्य वस्तुन  
आदेशः कथनम् । नयस्तु विकलसकथा वस्तुनेदेशकथनम् ।

(१) मलयगिरिर्वाच्यः स्यात्प्रयोजनं प्रमाणवाक्य एव उररीकुचन्ति । एतन्मानुसारेण  
सर्वेषां नयना मिथ्यारूपत्वात् । अतस्तु स्यात्प्रयोजनं नयं सम्यग् इत्यवलङ्कनस्य समाप्तिर्वाच्यता  
कृता । प्रत्यागोचिना च सा उ० यगोत्रिपयः । तेषां समन्तभद्रसिद्धसन्निवाकराणिभिर्यत्रान्तम्  
ज्वलङ्कृतैव विवृणोते मत हेमचन्द्रादयः नयमथयति । मलयगिरिरुक्ता समालोचना इत्यम्—'नयवि-  
तायामपि च ते णिगम्बरा स्यात्प्रयोजनमिच्छति तदा चानलङ्क एव प्राह—नयोऽपि तथैव सम्यगवा-  
न्त्रिपयः स्यात्' इति । अत्र टीकाकारेण ध्यात्वा कृता—नयोऽपि नयप्रतिपादकमपि वाक्यं न केवल  
प्रमाणवाक्यमित्यपि गत्याय तथैव स्यात्प्रयोगप्रकारेण च सम्यगकान्तत्रिपयः स्यात्, यथा स्यात्प्रयोजनं  
जीव इति । स्यात्प्रयोगाभावे तु मिथ्यवान्तगोचरतया दुनय एव स्यात्ति ।' तत्रैतन्पुस्तकम्, प्रमाण  
नयविभागाभावप्रमत्ते तथाहि—स्याज्जीव एव इति किं प्रमाणवाक्यम् स्यात्प्रयोजनं जीव इति  
नयवाक्यम् । एतच्च द्वयमपि लघीयस्रयालङ्कारे साक्षात्कृतं नोद्दिष्टम् अत्र चोभयत्राप्यपि,  
तथाहि—स्याज्जीव एवेत्यत्र जीवशब्देन प्राणधारणनिर्वाहना जीवत्वाच्चत्ताप्रतिपत्ति अस्तीत्यनेनो  
दमनाकारेण प्रयोगो जीवत्वाच्चत्ताप्रतिपत्ति, स्याच्छब्दप्रयोगो साधारणसाधारणधर्माक्षय ।  
स्यात्प्रयोजनं जीव इत्यत्र जीवशब्देन जीवत्वाच्चत्ताप्रतिपत्ति अस्तीत्यनेनोद्दिष्टं विवक्षितास्तिरवाच-  
यति एवकारप्रयोगात्तु यथासञ्ज्ञितं सञ्ज्ञितं जगति जीवस्य नास्तिरव तन्प्रयोजनं, स्यात्प्रयोगात्  
साधारणसाधारणप्रतिपत्तिरित्युभयनाप्यविशेष एव । —आद्य० नि० मलय० प० ३७१ A । उ०  
यशोविजय एतन्मलयगिरिरुक्तम् आङ्गलङ्कनान्तगोचनं पवक्षीरुत्वं इत्थं समाहितम्— अत्रान्वयधयम्—  
यो नाम नयो नयान्तरापेक्ष तस्य प्रमाणान्तर्भावे व्यवहारनय प्रमाण स्यात् तस्य तप मयमप्रवचन  
प्राहकत्वेन सयमप्राहिनश्चयविषयकत्वेन तत्सापेक्षत्वात् । सादनयानाञ्च नि तपचतुष्टयाभ्युपगन्तुणा  
मावाभ्युपगतान्दनयविषयविषयकत्वेन तत्सापेक्षत्वात्प्रमाणत्वापत्ति । यथातरवाक्ययोगेन सापेक्षत्वे  
च साह्य स्यात्प्रयोगेण सप्रतिपत्तयः विषयवाच्यदकस्यैव लभात् तेनाऽन्तर्धर्मात्मकत्वापरत्वात् ।  
न चैव तदाऽनेवाते सम्यगकान्तप्रयोगानुपपत्ति अवच्छेत्कमन् विना सप्रतिपक्षविषयसमावेगस्य दुव-  
चत्वान् इत्यने चायम् । स्यात्प्रयोजनमवच्छेत्कमन् प्रदशकतयैव विवृतम् । अत एव स्यात्प्रयोजनमनेवा  
तद्योनिकमेव साञ्ज्ञिकरुच्यते । सम्पन्नकान्तसापेक्षस्य अनवान्ताक्षयकत्वात् न त्वनन्तधर्मपरामर्शकम्  
अतो न स्यात्प्रयोगमात्रापीनमादेशसावक्यं यत् प्रमाणनयवाक्ययोर्भेदे न स्यात् किन्तु स्वार्थोपस्थि-  
त्यनन्तरमपधमभिर्भोपस्यापक्षविषयपवृत्त्यधीनम् । सा च विवक्षाधीनत्यागेशसावक्यमपि तथेति  
नयप्रमाणवाक्ययोरित्येव एव । मलयगिरिर्यादवचनं तु अप्रतिपक्षधर्माभिधानरहले ज्वलङ्कनभदा  
भिधानानुपपत्तेन स्यात्प्रयोजनं साक्षात्प्रयोजनमवच्छेत्कमन् विना तत्र प्रमाणनयमदानभ्युपगतं तद्विदग्ध  
णिगम्बरनिराकरणाभिप्रायेण योजनीयम् । —गुह्यतत्त्ववि० प० १७ B ।

1 स्वेष्टमिद्धि अ वि० । 2 क्विसृष्टो व० थ० । 3 इत्याद्याह व०

तत्र स्याद्वादपत् व्याचष्टे 'अनेकान्त' इत्यादिना । अनेकान्तात्मकस्य अने-

तिवृत्तिर्यायानम्-

'यथा' इत्यादि । यथा इत्युदाहरणप्रदर्शने, जीवः पुद्गलः धर्मोऽ-

धर्म आकाश काल इति पदद्रव्यरूपोऽर्थ, तस्य अनेकान्तात्मकत्वनिरूपणं स्याद्वाद ।

तत्र जीवे तावदनेकान्तात्मकत्व 'तत्र' इत्यादिना निरूपयति । तत्र तेषु जीवादिपदप-

नार्थेषु मध्ये जीव आत्मा 'अनेकान्तः' इति सम्यन्व । कैर्धर्मैः इत्याह-ज्ञानदर्शन-

वीर्यसुरैः । ननु दर्शनमेव पुरुषस्य स्वरूपं न ज्ञानादय, तेषां प्रकृतिधर्मत्वात् तत्कथ-

त्तरसौ<sup>३</sup> अनेकात् ? इत्याययुक्तम्, प्रकृतिधर्मता निराकृत्य तेषां तद्धर्मताया प्रत्यक्षप-

रिच्छेदे<sup>४</sup> प्रतिपादितत्वात् । तत सूक्तम्-'ज्ञानादिभिः जीवोऽनेकान्त' इति ।

कथम्भूतैस्तै इत्याह-असाधारणैः पुद्गलाद्यसभविभि । ननु बुद्ध्यादयो नत्र आत्म-

नोऽसाधारणा गुणा सन्ति तत्किमर्थमेते चेत्यार एव दर्शिता इति चेत् ? तेषामेव

सहभुवा तद्गुणत्वप्रतिपादनार्थम् । इच्छादयो हि क्रमभाविन पर्यायां न गुणा,

अन्यथा भयहर्षशोक करुणामर्षादासीन्यादीनामपि तद्गुणत्वप्रसक्ते 'नत्रैव' इति सत्था-

नियमो दुर्घट स्यात् । परैरपि तदनेकान्तं दर्शयितुमाह-'अमूर्त्तत्वं' इत्यादि । रूपा-

निरहितत्वम् अमूर्त्तत्वम्, न पुन असर्गगतद्रव्यपरिमाणाभाव, जीवस्य मूर्त्तत्वप्रसङ्गात् ।

तस्यै असर्गतत्वेन त्रिपयपरिच्छेदे प्रसाधितत्वात् । असहजातप्रदेशत्वम् असरयाता-

ययोपेतत्वम्, सूक्ष्मत्वं शुद्धस्य तस्यै केवलज्ञानादान्यतोऽसाक्षात्करणम्, ते अनेकान्तो

'जीवः' इति सम्यन्व । किं विशिष्टे साधारणामाधारणैः, साधारणैः गगनादावपि

भावात्, असाधारणैः पुद्गलेष्वभावात् । पुनरन्यैस्तदनेकान्तं दर्शयन्नाह-'सत्त्वं'

इत्यादि । सुप्रसिद्धा सत्त्वप्रमेयत्वाऽगुरुलघुत्वधर्मित्वगुणित्वादयो धर्माः तै । कथ-

म्भूतैः ? साधारणैः पदेष्वपि द्रव्येषु भावात् । तस्य एवनिधस्य जीवस्य आदेशात्

कथनात् प्रमाणं स्याद्वाद तत्र तदविसनादात् इति भाव । तथा तेन असाधारणोभय

(१) साध्य । 'द्रष्टा दक्षिमात्रं बुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्य । -योगसू० २।२०। (२) 'प्रवृत्ते-  
महानुत्पद्यते । महान बुद्धिर्धत्तप्रज्ञा पृति क्वातिरीश्वरो विपर इति पर्याया आह-उक्तं प्रधाना  
द्रष्टृक्यते इति ? तत्र वचनस्य किं लक्षणा पुनबुद्धिरित्युच्यते-अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञान विराग  
एतद्यम् । सात्त्विकमतद्रूपं तामसमस्माद्विपयस्त्वम् ॥'-साध्यका० युक्तिदी० पृ० १०८। (३) जीव ।  
(४) अनवधर्मत्वम् । (५) ज्ञानादीनाम् । (६) जीवपमताया । (७) पृ० १९१। (८) वगणिका ।  
'नवानामाभ्यगुणानां यद्विगुणदु चेच्छाप्रपल्लयधर्ममसस्वाराणाम् -'न्यायम० पृ० ५०८। (९)  
गान-नवीयमुखाख्या । (१०) आत्मगुणत्वम् । (११) जीवस्य अनवधर्मत्वम् । (१२) 'इयत्ता  
यच्छिन्नपरिमाणयोगित्वं मूलत्वं तन्भावो'मूर्त्तत्वम् ।'-सप्तप० पृ० ७२ । 'असवगनद्रव्यपरिमाणं  
मूर्तिरिति विपणयवि' -सत्त्ववि० पृ० १५८। (१३) जीवस्य । (१४) पृ० २६१। (१५) भाग्यम् ।

१ इत्याद्युदा-व०, थ० । २-धारणागुणा थ० । ३-पान्त् गुणा थ० । ४-तदेव-थ० । ५-वि भवान्  
थ० । ६ पुनरप्युच्यं थ० । ७-ह सुप्रसि-थ० । ८ अटत्यपि द्रव्येषु आ० । ९ तथा तथा तेन थ० ।

साधारणवर्माधिकरणत्वेन अनेना तप्रकारेण इतरे पुत्रलान्य पत्न्यां परमागमनः  
परमागममाश्रित्य योज्याः ।

इदानीं नय दशयन्नाह—'ज्ञ' इत्यादि । जीम इति धर्मिणो निर्देश, ज्ञः चेतना-  
स्मान् इति माध्यस्य, सुखदुःखादिवेदनादिति हेतो, इति एव प्रयोग आदिर्यस्य  
अनित्यशब्दे स तथोक्त, स चासौ विरलस्य धर्मांतरनिरपेक्षस्य धर्मस्य आदेशश्च  
नयः । ननु किमिदं मानस्य वैमल्यञ्च आदशस्य यत् 'स्याद्वाद' सकलादेशो  
नयो विरलसकथा' इति स्यात् ? इत्यत्राह—'साकल्पम्' इत्यादि । सकलस्य  
अनंतधर्मात्मकस्य यस्तुनो भाग साकल्पम् अनन्तधर्मात्मकता । तत्प्रतिपादक  
वचनम् एवमुक्तम्, विपर्ययस्य विपर्ययिण्युपचारात् । विरलस्य एकदेशस्य भागो वैक  
ल्पम्—एकान्त, तदादेश तथोक्त । कुत ? इत्याह—'धर्मान्तर' इत्यादि । विषधित-  
धर्माद् अयो धर्म' तदन्तर तस्य अत्रिधर्मात्, नायथा दुर्नयत्प्रसङ्गात् । नैतु  
शब्दस्य अर्थे सम्बन्धाभावात् प्रवृत्तेरवाऽसम्भवात् न सकलविकलादेशप्ररूपण युक्तम्,  
इत्यत्राह—'तत्र' इत्यादि । तत्र अनन्तात्मके तत्त्वे स्थिते सति, यदि या तत्र एव  
स्याद्वादनयस्वरूपे निरूपिते सति 'जीम' इत्युक्ते जीमशब्द अयातरनिशेपरहित  
जीममात्रमेव अभिदध्यात् । कथम्भूतम् ? इत्याह—'योग्यता' इत्यादि । योग्यतायाम्  
अपेक्षा यस्य योग्यता या अपेक्षते इति योग्यतापेक्ष, अनादि सङ्केतो यस्य स  
तथोक्त । 'योग्यता' इत्यनेन तात्पर्यतदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्धविरहे नित्यैकरूपसम्ब-  
न्धाऽसत्त्वेऽपि च शब्दार्थयो वाच्यवाचकभावात् दर्शयति, योग्यतास्वभावासम्बन्धसम्भ-  
वात् । एतच्च सप्रपञ्च प्राक् प्रपञ्चितम् ।

ननु योग्यतातोऽपि शब्दस्य अथप्रतिपात्कत्वे एकस्माच्छब्दात् युगपदनेकार्थ-  
प्रतिपत्ति स्यात्, सर्वस्य शब्दस्य सर्वत्रार्थे प्रतिपादनयोग्यतासम्भवात्, तन्नुपपन्नमिति  
'सङ्केत' इत्यनेन दशयति—मत्यामपि अनेनार्थप्रतिपादनयोग्यतायां विनियतसङ्केत-  
वशाद् विनियताथप्रतीत्युपपत्ते । एतच्च 'प्रमाण श्रुतम्' [ लघी० ३१० २६ ]  
इत्यत्र प्ररूपितम् । ननु यदा जीवशब्दोऽधमभिधत्ते न तदा पूर्वसङ्केतोऽस्ति तत्कथ  
तदपेक्षस्यास्य नियताथप्रतीतिहेतुत्वमिति चेत्, न, 'अस्येदं वाच्यम् इदं वाचकम्' इति  
चित्तस्य सङ्गतत्वात्, तस्य च तत्रापि भावात् । न चेदमत्रान्तरकल्पितम् इति अनादि-  
पदेन दशयति । ननु जीममात्रमभिदध्यात् इत्युक्तम्, अयापोहस्यैव जातेरेव

(१) सावस्यगत्वेन । (२) अनन्तधर्मात्मकत्वरूपसाकल्पस्य वाच्यस्य । (३) वाचके स्या  
द्वान्ते सकलात्ने । (४) न तु धर्मान्तरस्य प्रतिपत्ति । (५) सौगत । (६) सवगत्स्य सर्वार्थ  
प्रतिपादनमनपपन्नम् । (७) अनादिसङ्कृतापेक्षस्य जावशब्दस्य । (८) चित्तस्य । (९) बोद्धा ।  
(१०) मीमांसना ।

१-वातन प्रका-व० । २ इतरेषु पु-थ । ३-कल्प वादे-थ० । ४ अनन्तात्मकत्वे तत्त्वे  
व० । ५-दो निपत्त-थ० । ६ पूव सङ्केतो-व० थ० । ७ चेतस्य सवेतस्यात् व० ।

अन्यो यत्रिभिर्नतद्द्वयस्यैव वा शब्दार्थत्वात्, इत्यत्राह—‘स्वभावात्’ इत्यादि। स्वभावात् भूत  
 अन्यत सर्वतोऽप्योह पररूपेण असन्न यस्य म तथोक्त स चासौ स्वार्थश्च स्वाभि-  
 धेय तस्य प्रतिपादनः जीवशब्दः तन्मात्रमभिदध्यात् । किं कृत्वा ? निरस्य । कम् ?  
 प्रतिपक्षम्, प्रत्यनीक मतम् अपोहात्स्मात्स्वामिवाधित्वात्क्षणम् । कथम् ? न्यक्षेण  
 सामत्येन । यथा च अपोहादे शब्दार्थता न घटते तथा ‘प्रमाण श्रुतमर्थेषु’  
 [ लघो० का० २६ ] इत्यत्र प्रपञ्चत प्रतिपादितम् । तत तस्मात् न्यायात् स्यात्पदप्रयो-  
 गात् सर्वथैकान्तस्य ‘सन्नेव जीव, असन्नेव, द्रव्यरूप एव, पर्यायरूप एव वा’ इत्येव-  
 रूपस्य त्यागात् निरासात्, स्वरूपादिचतुष्टयत्रिणेषणविशिष्टः स्वद्रव्यक्षेत्रादित्रिणेषण-  
 विशिष्ट जीव जीवशब्देन अभिधीयते इति स्वैष्टस्य अनेकान्तात्मनो जीवस्य सिद्धिः ।

एव प्रमाणवाक्यमुपलब्धं माम्प्रत नयराक्य दर्शयत्राह—‘नयोऽपि’ इत्यादि ।  
 नयोऽपि नयराक्यमपि न केवल प्रमाणवाक्यम्, तथैव स्यात्प्रयोगप्रकारेणैव सम्य-  
 गेकान्तः सम्यगेकान्तविषय स्यात्, अन्यथा मिथ्यैकान्तगोचर स्यादिति । अधुना  
 एकारप्रयोगोपयोग दर्शयत्राह—‘स्यात्’ इत्यादि । ‘अनेकान्तः’ इत्येतदनुवर्त्तमानमिह  
 मन्व्यथते । ततोऽयमर्थे सिद्ध—स्यात् कथञ्चित् जीव एव ज्ञानदर्शनसुखमीथैः धर्मै  
 अनेकान्त नान्य इति एकारार्थे । इत्येवमुक्ते एव वाक्ये प्रयुक्ते मति नैकान्त-  
 विषय किन्तु अनेकान्तविषयः स्याद् भवेत् शब्दः ‘स्याज्जीव एव’ इतिवाक्यम्  
 अनेकान्तरूपस्य तस्यै अभिधानात् । ‘स्यादस्त्येव जीवः’ इत्युक्ते सति एकान्त-  
 विषयः सम्यगेकान्तगोचर स्याद् भवेत् शब्द ‘स्यादस्त्येव’ इति वाक्यम्, प्रधानत  
 तदस्तित्वैकान्तप्रतिपादनात् । एवमुत्तरभङ्गेऽपि यत्तद्व्ययम् ।

ननु न सर्वत्र वाक्ये लोकिता स्यात्कारमेवकारश्च प्रयुज्यते, अन्यथैव तत्प्रयोग-  
 दर्शनात्, अतो न युक्तमेतत्प्रकारकापनोद्यार्थमाह—

अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र स्यात्कारोऽर्थात् प्रतीयते ।  
 विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र कुशलश्चेत् प्रयोजकः ॥ ६३ ॥

(१) योगा । (२) स्यात्पदप्रयोगाभावे । (३) जीवस्य । (४) स्यात्पदस्त्वैवत्यापि ।  
 (५) स्यात्पदप्रयोगनियम । (६) ‘प्रतीयतेऽधिगम्यते । क ? स्यात्कार स्यात्प्रति पदमव्ययम्, क्व ?  
 सर्वत्र एकारे लवि वा । कस्मिन् विषय ? विधौ सत्त्वादौ साध्ये । न केवल विधौ किन्तु निषेधेऽपि  
 यत्प्रकारावपि साध्य । अयथापि अयस्मिन् अनुवादातिदेशात्प्रतिपक्षे । किंविशिष्टोऽपि अप्रयुक्तोऽपि  
 स्यादस्ति जीव इत्यनुवर्त्तोऽपि । तर्हि कुत प्रतीयते इति चेदत्राह—अथात् सामर्थ्यात् । चेन्न किं कुशल  
 स्यात् व्ययहार प्रबुद्ध स्यात् । क ? प्रयोजक प्रतिपादक । ”—लघो० ता० पृ० ८६ । उदताऽप्यम्—  
 ‘विधौ निषेधे यथापि’—आध० नि० मलय पृ० ३६९ B । गृहतरुष्वधि० पृ० १६ A । तुलना—  
 ‘विश्वामृतोऽप्ययोगेऽपि सर्वोऽर्थात् प्रतीयते ॥ व्ययच्छेत् वाक्य यथा धनुषः । पार्थो धनुषो

१—प्रबुद्ध—आ०, प्र० । २ लघो स आ० । ३ नयोऽपि नास्ति व० । ४ ‘नयवाक्यमपि’ नास्ति  
 वा० । ५—प्रयोग—श्र० । ६ प्रयुज्यते आ० । ७—युक्तेऽपि मु० लघो० ।

विवृति-कचित्स्यात्कारमनिच्छद्भि सर्पथैकान्तोऽभ्युपगतः स्यात् । अव  
घारणाभावेऽपि अनेकान्तनिराकरणस्य अपश्यभाषित्वात् अन्यथा प्रमाणनययोर-  
भेदप्रसङ्गः । किं बहुना विधिनिषेधानुवादातिदेशादिवाक्येषु कारकेषु कर्त्रादिषु  
स्वार्थादिषु प्रातिपदिकार्थेषु साधनदूषणतदाभासवाक्येषु स्याद्वादमन्तरेण प्रस्तुताऽ-  
प्रमिद्धि इत्यावालप्रसिद्धम् ।

अप्रयुक्तोऽपि न केवलं प्रयुक्तं सर्वत्र वाक्ये स्यात्कारः, उपलक्षणमेतत् ।

तेन प्यनारोऽपि प्रतीयते । कुत इत्याह-अर्थात् सामर्थ्यात् ।

कारिका -

तथाहि-‘पानीयमानय’ इत्युक्ते यदि पानीयस्य अन्यस्य धानयन

लौकिकानामभिप्रेतं स्यात्तदा पानीयपानोपादानमनर्थकं स्यात् । अथाप्यनानयनमभिप्रेतम्,

आनयनग्रहणं व्यर्थम् । अस्ति च तदुभयग्रहणम्, अत एवकारप्रतीति इति । ४ ?

विधौ निषेधेऽपि, भिन्नप्रथम अपि गद् ‘अन्यत्र’ इत्यन्यन्तरं द्रष्टव्यं ।

अन्यत्रापि अनुवाद-अतिदेशादावपि । अथ यदि सर्वत्र स प्रतीयते ‘बहुगुल्यमेतस्ति-

यूयशतमास्ते” [ ] इत्यादावपि प्रतीयते । तथा च “सर्वस्योभयस्त्वत्”

[ प्रमाणवा० ३।१८१ ] इत्यादिोपात्तुपह्नं स्यात् इत्याह-‘कुशलः’ इत्यादि । यथा

योऽर्थं प्रमाणतः प्रतिपन्नं तथैव तस्य प्रतिपात्तकं प्रयोजकं कुशलो भवेत्

नायथा, स चेत् यदि प्रयोजकं शब्दानामिति ।

व्यतिरेकमुपेन कारिका विवृण्वन्नाह-‘कचिद्’ इत्यादि । कचिद् विध्यान्विताक्ये

स्यात्कारमनिच्छद्भिः प्वान्तगादिभिः सर्वथा धर्मापेक्षया इव

विवृति यारयानम्-

धर्मपेक्षयाऽपि, यद्वा यथा धर्मपेक्षया तथा धर्मापेक्षयापि एकान्त

सर्वथैकान्तं सोऽभ्युपगतं स्यात् तत्र च प्रमाणविरोध इत्यभिप्रायः । अतस्तद्विरोध

परिहर्तुमिच्छता सर्वत्र स्यात्कारोऽभ्युपगन्तव्यः । एव व्यतिरेकमुखेन सर्वत्र स्यात्कार

प्रसाध्य इदानीं तथैव एवकार प्रसाध्यन्नाह-‘अवधारण’ इत्यादि । अवधारणस्य

प्यनारस्य अभावेऽपि न केवलं स्यात्काराभास ‘सर्वथैकान्तोऽभ्युपगतः स्यात्’ इति

सम्बन्धः । कुत एतदित्यत्राह-अनेकान्तनिराकरणस्य अपश्यम्भाषित्वादिति ।

नीलं सरोजमिति वा यथा । -प्रमाणवा० ४।१९१ १२। सामर्थ्यान्वाप्रयोगस्यो गम्य स्यात्वेवकारयो ।

-मिद्धिवि० टी० प० ५०७ B । यापवि० का० ४५३। साप्रवृत्तापि वा तज्ज्ञैः सवन्नार्थात् प्रतीयते ।

पथववार्तोयोगान्ब्यवच्छेदप्रयोजनः ॥ -तत्त्वार्थश्लो० प० १३७। स्वा० रत्ना० पृ० ७१। रत्नाक

रावता० पृ० ६१ । सप्तमगिन० प० ३१ । स्या० म० पृ० २७९ । नयप्रदीप० पृ० ९६ A ।

(१) कुन्ता- अत्रायनापि इति-अनुवादातिदेशान्विताक्यप । -आव० नि० मत्तव० पृ०

३६९ B । (२) प० ५३० नि० ३ । (३) पृ० ६२० नि० ५ ।

1-निराकाराभ्युपगमस्यावश्य-३० वि० । 2-प्रवृत्ते न व० । 3-अमेतेन एव-व । 4 धानपत्तं  
व० थ० । 5 द्रष्टव्यं व० । 6-वेपथु तया धर्मापेक्षयाप्येकान्तं थ० । 7-मुखेण आ० । 8 अभावे  
न के-व० । 9-दित्याह व० ।

तथाहि—‘ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणो जीव एव’ इति अन्ययोगव्यवच्छेदेन जीवस्यैव तैल्लक्षणलक्षितस्य अनेकान्तानभ्युपगमे अजीवोऽपि तैल्लक्षणस्यादिति बहिरर्थव्यवस्थानिलोप, तद्विलोपे च सकलप्रमाणप्रमेयादिव्यवहारापहार । ‘तल्लक्षण एव स’ इति अयोगान्यवच्छेदानभ्युपगमे च रूपादिरप्येतल्लक्षण स्यात् इति जीवेतरविभागाभावस्यात् । ‘अथत्येव’ इत्यवधारणाभावे अत्यन्तायोगान्यवच्छेद स्यात् ।

ननु साक्षात्प्रयुक्तस्य सामर्थ्यगम्यस्य वा एवकारस्यैव प्रतीत्युक्ता तत्तत्माध्यैस्य अयोगान्यवच्छेदफलस्य सर्वत्र वाक्ये सभवान पुन स्यात्कारस्य निष्फलत्वात् । उक्तञ्च—  
‘श्रौयोगमपरैर्यागमस्य तायोगमेव च ।

व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य निपातो व्यतिरेचक ॥” [ प्रमाणवा० ४।१९० ]

(१) “विशेष्यसङ्गतवकारोऽययोगव्यवच्छेदबोधक, यथा पाथ एव धनुर् । अययोगव्यवच्छेते नाम विशेष्यभिन्नतादात्म्यादिव्यवच्छेद । तत्र एवकारेण पार्थायनादात्म्याभावो धनुर्धरे बोध्यते । तथा च पार्थायतादात्म्याभाववदधनुर्धराभिन्न पाथ इति बोध ।”—सप्तमि० पृ० २६ । तत्र विशयगतवस्थे पाथ एव धनुर्धर इत्यादौ अयनादात्म्यव्यवच्छेदाऽय । अयत्वञ्च समभिव्याहृतपाथपिक्षिकम् । तथा च पार्थायतादात्म्याभाववदधनुर्धराभिन्न पाथ इति वाध । —व्याकरणभू० ६० पृ० ३७० । “यदा पार्थायस्मिन् प्रसस्तधनुर्धरत्व व्यवच्छिद्यते ।”—वाच० । ‘यायको० पृ० १९१ । (२) ज्ञानदर्शनोपयोग । (३) एवकाराभावे अजावाऽपि ज्ञानादिमान स्यात्तथा च सर्वस्य चेतनात्मकत्वप्राप्त्या बाह्यद्वयस्य अचेतनस्य सर्वथाऽभाव स्यादिति भाव । (४) बाह्यार्थापलाप हि प्रमाणादिव्यवस्थाऽभाव, बाह्यापिक्षयन हि जाने प्रमाणतदाभास व्यवहारो भवति ‘वहि प्रमया पलाया प्रमाण तन्निभञ्च ते” (आप्तमी० वा० ८३) इत्यभिधानात् । (५) तानि ज्ञानदर्शनादीनि लक्षणानि यस्य जीवस्य असौ तल्लक्षण । (६) “विशेषणसङ्गतवकारोऽयोगव्यवच्छेदबोधक, यथा शङ्ख पाण्डुर एवेति । अयोगव्यवच्छेते नाम उद्देश्यतावच्छेदसमानाधिकरणाभावा प्रतियोगित्वम् ।”—सप्तमि० पृ० २५ । ‘विशेषणसङ्गतवस्थे अयोगव्यवच्छेद’ शङ्ख पाण्डुर एव इत्यादौ शङ्खत्वावच्छेतेन पाण्डुरत्वसमवायाभासव्यवच्छेदबोधनात् ।”—व्याकरणभू० ६० पृ० ३७० । “अत्र शङ्खत्वावच्छेतेन पाण्डुरत्वायोगव्यवच्छेदो बुध्यते । अथवा विशेष्य शङ्खे पाण्डुरत्वायोगव्यवच्छेदो बाध्यत ।”—(म० प्र० १ पृ० ७)”—न्यायको० पृ० १९१ । (७) एतस्य जीवस्य लक्षण स्यात् । (८) जीवज्ञानानुपयोगलक्षणो भवत्येव । (९) “त्रियासङ्गतवकारोऽत्यन्तायोगव्यवच्छेदबोधक यथा नील सरोज सवत्येव ।”—सप्तमि० पृ० २६ । व्याकरणभू० ६० पृ० ३७० । ‘सरोजे नीलत्वात्तथायोगो व्यवच्छिद्यते ।”—वाच० । ‘यायको० पृ० १९२ । (१०) एवकारसाध्यस्य । (११) ‘अयोग योगमपरस्य निपात एवकारो व्यतिरेचक नियामक क्वचिद धर्मस्य विशेषणस्य अयोग व्यवच्छिनत्ति । क्वचिदपर विशयान्य योग व्यवच्छिनत्ति क्वचिदत्यतायोग व्यवच्छिनत्ति । ननु निपातो न स्वयं वाचक किंतु घोनक तदस्य कथमयमथप्रभेद इत्याह—विशेषणविशेष्याभ्या त्रियया च सहोदित । घानवत्वात् न निपातो विशेषणेन सहोदितोऽयोगस्य व्यवच्छेदक । विशेष्येण सहोक्तोऽययोगस्य, त्रियया च सहोक्तोऽयतायोगस्यति विशेषणादिपत्वाच्च एव अयोगव्यवच्छेदात्” तत्सहोक्तनिपातघोय इत्यथ । —प्रमाणवा० मनोरथ० ४।१९० । तुलना—सिद्धिवि०, टी० पृ० ५०७ A । “यदविनिश्चय—त्रयार्थयोगमपर—पड० बृह० पृ० १४ । ‘यायाव० टी० टि० पृ० १७ । “यदुक्तम्—अयागमययोगञ्च अत्यतायोगमेव च । व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य एवकारस्त्रिधा मत ॥”—काव्यप्र० टी० पृ० ८८ ।

१—त्यानभ्यु—आ० । २—क्षण स्यात् आ० । ३—एव योगादि—द० ।



निपात एवकार व्यतिरेचन निवर्त्तक । तत्र 'चैत्रो धनुर्धर एव' इत्यत्र अयो गव्यवच्छेत्, तथाहि-परप्रतिपत्तये वाच्य प्रयुज्यमान यद्व परेण व्यामोहादाशङ्कितम् तदेव व्यवच्छिनत्ति, चैत्रश्च लोके धनुर्धरो न प्रतीत, ततश्चैत्रस्य अधनुर्धरत्वशङ्काव्यवच्छेदेन धनुर्धरत्वविधानार्थं 'चैत्रो धनुर्धर एव' इति वाक्य प्रयुज्यते । 'पार्थ एव धनुर्धर' इत्यत्र अ-अयोगव्यवच्छेद । नहि पार्थे अधनुर्धरत्वाशङ्का कस्यचिदस्ति धनुर्धरत्वेन असिलजनप्रसिद्धत्वात्तस्य । तस्मात् यदतिशययद्बधुर्धरत्व तत् पुरुषातरसाधारणमाशङ्कितमिति तद्व्यवच्छेदाय 'पार्थ एव धनुर्धर' इति वाक्य प्रयुज्यते । 'नील सरोज भवत्येव' इत्यत्र तु अत्यन्तायोगव्यवच्छेद, यदा हि सरोज नीलवर्णविषिक्त प्रसिद्धमिति नीलत्वमस्य नास्तीति आशङ्कित भवति तदा तद्व्यवच्छेदाय 'नील सरोज भवत्येव' इति वाच्य प्रयुज्यते इति ।

तैदसमीक्षिताभिधानम्, स्यात्कारमन्तराण इष्टानिष्टयोर्विधिनिषेधानुपपत्ते, तथाहि 'पार्थ एव धनुर्धर' इत्युक्ते सर्वत्र सधदा सर्वेषामन्यपुरुषाणा धानुर्धर्याभाव प्रतीयते, तत्र च प्रत्यक्षादिनिरोध । अथ विशिष्टे तदन्यपुरुषेषु प्रतिनियनदेशकालापेक्षया प्रतिषेद्धुमिष्ट न धनुर्धरत्वमात्र ततोऽयमदोष, ननु अयमर्थं स्यात्कारप्रसादादेव प्रत्येनु शक्य इति, एतत्प्रयोजनत्वात् कथं सौ निष्फल यत् साक्षात्प्रयुक्तस्य सामर्थ्यगम्यस्य वा अस्य सर्वत्र वाक्ये प्रतीतिर्न स्यात् ? तथा 'चैत्रो धनुर्धर एव'

(१) यत्र धर्मिणि धमसद्भाव सन्दिह्यते तत्राऽयोगव्यवच्छेदस्य यावत्प्राप्तत्वात् । अत्र दृष्टान्तो यथा चैत्रो धनुर्धर इति । नभे हि धनुर्धरत्व सन्दिह्यत किमस्ति नास्तीति । ततश्चैत्रो धनुर्धर इत्युक्ते पश्चान्तरधनुर्धरत्व श्रोतुराकाङ्क्षोपस्थापित निराकरोति अयोगव्यवच्छेदोऽत्र यावत् प्राप्त । -प्रमाणवा० स्वव० टी० पृ० १५ । चत्र धनुर्धरत्वसद्देहात् विशेषणन अयोगमात्रं व्यवच्छिद्यते । -प्रमाणवा० मनोरथ० ४।१९२ । (२) 'यथा पार्थे धनुर्धर इति सामान्यशब्दोऽप्ययं धनुर्धरत्व' प्रकण्यसामान्यात्किंवा प्रकृष्टगुणवृत्तिरिह पार्थे हि धनुर्धरत्व सिद्धमेवेति नाऽयोगाङ्का । तादृशान्तु सात्त्विक किमयथास्ति नास्ति इत्यन्ययोगाङ्काया श्रोतुयदा पार्थे धनुर्धर इत्युच्यते तदा सात्त्विक पार्थ एव धनुर्धरो नाय इति प्रतीयते । तेनाथ अयोगव्यवच्छेदो यावत्प्राप्त । -प्रमाणवा० स्वव० टी० पृ० १५ । "पार्थे धनुर्धरत्व प्रसिद्धमेव किन्तु सामान्यस्यापि किमस्तीति सद्देहे अन्ययो गम्यवच्छेदोऽत्र विशेषणम् । -प्रमाणवा० मनोरथ० ४।१९२ । (३) अर्जुने । (४) 'न खलु सर्वमेव नीलं सरोजं वनापोषव्यवच्छेद स्यात् नापि सरोजमेव नीलं येन अयोगव्यवच्छेदो भवेत् । किन्तु नीलं सरोजं समवति न वा इत्यन्तायोगव्यवच्छेदे विषयणन एव व्यवच्छिद्यते । -प्रमाणवा० मनोरथ० ४।१९२ । (५) यादृशं धनुर्धरत्व पार्थे न तादृशं यत्र इति । (६) तुलना- 'यत्रापि अययो गम्यवच्छेदो निप्रवृत्तवापि योगविधौ व्यवच्छिद्यते न योगसामान्यं यान्त्पार्थे धनुर्धरता तादृशं यत्र नास्तीति । -तत्त्वापभा० ध्या० पृ० ४०९ । (७) स्यात्कार ।

‘नील सरोज भवत्येव’ इत्यत्र अयोगाऽत्यन्तायोगयो सर्वथा व्यञ्छेदे चैत्र-धानुर्धर्ययो नीलमरोनयोश्च अन्यतरदेव स्यात् । अथ स्वस्वरूपापरित्यागेनैव अनयो अयोगाऽत्यन्ताऽयोगव्यञ्छेदं नतु अन्योन्यस्वरूपस्वीकारेण अतोऽयमदोषः, तत्र, स्यात्कार-मन्तरेण अस्यार्थस्य प्रत्येतुमशक्यत्वात् ।

किञ्च, ‘चैत्रो धनुर्धर’ इत्यादिवाक्येषु धनुर्धरत्वादिभिः अयोगादिव्यञ्छेदं कुर्वता एवकारेण अधनुर्धरत्वादीनामशब्दवाच्यानामपि तैतोऽन्यत्वात्प्रवृत्तिर्यदि विधीयते, तर्हि शूरत्प्रोत्तरत्वादिधर्माणामपि विधीयता शब्दवाच्येभ्यो धनुर्वरत्वादिभ्योऽन्यत्वाविशेषात् । अथ यो धर्मो यत्र नियम्यते तद्विरोधिन एव तत्र निवृत्तिः चैत्रे च धनुर्धरत्वनियमे अधनुर्धरत्व विरुद्धम्, पार्थे च असाधारणधनुर्धरत्वविधौ सकलजगत्साधारण तद् विरुद्धम्, सरोजे च नीलत्वसम्भवविधौ तद्सम्भवमात्र विरुद्धम्, अत तस्यैवाऽतो निवृत्तिः नतु शूरत्वादिधर्माणाम् तेषां तदन्यत्वेऽप्यविरुद्धत्वात् इति, तदेतदन्ध-सर्पविलप्रवेशन्यायमनुसरति, एवत्रिवप्रविभागस्य स्याद्वादानभ्युपगमे अनुपपत्तेः । नतु तदभ्युपगमेऽपि शब्दानभिधेयत्वाविशेषे कथं विरोधिन एव निवृत्तिः नतु सर्वस्य इति चेत्, तथा सामर्थ्यात् । स्वार्थप्रतिपादनाय हि शब्दप्रयोगो न व्यसन्नितया । स्वार्थश्च भावाभावात्मक प्रत्यक्षवत् शब्देऽपि प्रतिभासते । भावाभावव्यवहारश्च स्वरूपप्रतियोग्यपेक्षानिग्रहण । नच अत्रिरुद्धस्य प्रतियोगित्वं युक्तम्, अत कथं सर्वस्य निवृत्ते शक्यमिति ? तत्र स्थितम् ‘अप्रधारण’ इत्यादि ।

(१) तुलना-‘ अयोगव्यञ्छेदेन हि अस्तित्वा योग इष्यते । स च योग वि सामान्यरूपेण अस्तित्वा प्रत्याव्यतेऽयं विशेषरूपेण उतोभयरूपेणति सवथा प्राकानदोषप्रसङ्गः । व्यञ्छेदोऽपि अस्तित्वसामान्यायोगस्य वा अस्तित्वविनोपायोगस्य वा उभयायोगस्य वा ?’-तत्त्वावभा० ध्या० पृ० ४०९ । ‘चत्रस्य धनुषा अयोगे व्यञ्छेद्रे योग प्रतिपादितो भवेत् इतरथा चत्रो धनुषर एवेति प्रयोगानुपपत्तिः । सैव सवथा कथञ्चिद्वा स्यात् ? आचे पद्ये चत्रस्य धनुषाऽयोग व्यञ्छेद्रे सति न चत्रता सिद्धयेत् धनुर्भव मिद्धपत् । वेपामित्याह-स्याद्वादविद्विषाम् एवान्तवादिनामित्यप । -तित्दिवि० टी० प० ५०८ B ।

(२) ‘अत्यन्तायोगव्यञ्छेदोऽपि अत्यन्तमयोगो नास्ति योग एव सवथा, अथवा कदाचित्स्ति कदाचिद्वा स्तीत्यव च विकल्पद्वयेऽपि प्राच्य एव प्रसङ्गो योग्यः । -तत्त्वावभा० ध्या० पृ० ४०९ । ‘यच्चायुक्तं क्रियया सहोदितोऽत्यन्तायोगमेव च व्यञ्छेदति निपातो व्यतिरेक इति, तत्र दूषणमाह-प्राप्तमित्यादि । नील सरोज भवत्येवति चेत् यत् तर्हि समन्तात् नित्यं सर्वदा नील सरोजरूप व्यक्त्वं यथा भवति तथेदं जगत् प्राप्तम् । अयमभिप्राय-सर्वथा कथञ्चिद्वा नील सरोज भवत्येव ? प्रथमपक्षेऽयं दोषः, अयत्र अनेवान् इति । -तित्दिवि० टी० प० ५१० A । (३) धनुर्धरत्वात् । (४) निवृत्ति विधीयताम् । (५) धनुर्धरत्वम् । (६) नीलत्वसम्भवमात्रम् । (७) एवकारात् । (८) धनुर्धरत्वात्प्रवृत्तेऽपि । (९) धनुर्धरोऽपि स्यात् शूरत्वे उदारत्व इति न कोऽपि विरोधः । (१०) स्वल्पस्य प्रतिपादित्वापेक्षा स्वरूपापेक्षा भावव्यवहार प्रतियोग्यपक्षाऽभावव्यवहार-आ० टि० ।

१ व्यञ्छेदवाच्य-य० । २ अयं स्वरूपा-य० । ३ विधीयत प्र० । ४-यस्यते आ० । ५-वृत्ते य० । ६ नतु आ० । ७ स्वार्थत्वभावात्मक-य० । ८-स्मरं प्र-य० । ९ निवृत्ते नकारि आ०

ननु 'जीवोऽस्ति' इत्युक्ते तत्र अस्तित्वम्, 'नास्ति' इत्युक्ते नास्तित्वम्, उभय-  
 वचनेन उभय प्रतीयते अतो न युक्तम् 'अवधारण' इत्यादि, इत्याह—'अन्यथा' इत्यादि ।  
 अनेनातनिरासस्य अवश्यभाषित्वाभावप्रकारेण अन्यथा प्रमाणनययोरभेदप्रसङ्गात्  
 कारणात् 'सर्वथैकान्तोऽभ्युपगत स्यात्' इति सम्बन्ध । अवधारणाभावे धर्मिवत्  
 धर्मेऽपि अनेनातप्रसङ्गात् । अपरमपि स्याद्वात्मन्तरेण नश्यति इति दर्शयन्नाह—'किं  
 बहुना' इत्यादि । किम् ? न किञ्चित् बहुना 'उक्तेन' इत्यध्याहार । मिथिनिषेधा  
 नुनात्प्रतिदेशादिवाक्येषु, आदिशब्देन नियमादिवाक्यपरिग्रह, कारकेषु कर्त्रादिषु,  
 स्वार्थादिषु आदिशब्देन लिङ्गादिपरिग्रह, प्रातिपदिकार्येषु साधनदूषणतदाभास  
 वाक्येषु, चशब्द अत्र समुच्चायार्थो द्रष्टव्य । म्याद्वादमन्तरेण 'प्रस्तुताऽप्रसिद्धि'  
 इति सम्बन्ध । इति एवम् आवालाप्रसिद्धम् न स्वेच्छया कल्पितमिति यावत् ।

ननु शब्द सर्वाऽपि विवक्षाप्रतिबद्धत्वात् तामेव गमयति नार्थम्, अतोऽयुक्त-  
 मुक्तम्—'तत्र जीव इत्युक्ते' इत्याद्याशङ्क्याह—

वर्णा पदानि वाक्यानि प्राहुरर्थानवाञ्छितान् ।

वाञ्छिताश्च क्वचिन्नेति प्रसिद्धिरियमीहशी ॥६४॥

स्वेच्छया तामतिक्रम्य वदतामेव युज्यते ।

वैरत्रभिप्रेतमात्रस्य सूचक उचन त्तिरिति ॥६५॥

मिथिति—वर्णपदवाक्याना वाचकत्वं यथास्वम् आगमात् प्रतिपत्तव्यम् ।  
 वक्त्रभिप्रायाद् भिन्नस्यार्थस्य वाचका शब्दा, सत्यानृतव्ययस्थाऽन्यथानुपपत्तेः ।  
 अयं च प्रमगोऽन्यत्र विस्तरेणोक्तः इति नेह प्रतन्यते । अज्ञानामर्थव्यभिचारित्वे

(१) अनवान्तनिरामोऽन्य भवतीति न—आ० टि० । (२) स्याज्जीव मन्त्रेति हि नयवाक्यम्,  
 अत्र चेन्वधारण न त्रियते तत्र यथा धर्मिणि जीव अवधारणरहिते अनवान्तोऽस्ति तथा धर्मेऽपि  
 अस्तित्वात् स प्राप्नोति नयव्यञ्जेत्तम धर्मिण्यनवान्त धम एकान्त—आ० टि० । (३) बोद्ध ।  
 (४) प्राहुरभिप्रेतानि । क ? वर्णा अत्राणि गनाराणीनि । तथा पदानि गवादीनि तथा वाक्यानि  
 च गमानयत्यानीनि । वान् ? अथान अभिधेयान् । किं विशिष्टान् ? अवाञ्छितान् अविवक्षितान  
 भूम्यानीन् वाञ्छितान्च विवाहितानपि सास्त्राणिमन्त्राणीनि । क्वचित् मन्त्रबुद्धिषु प्रतिपाद्येषु न प्राहु तेषा  
 सतोर्वाधिगमाभावात् इत्येव प्रकारा सकजनप्रतीता प्रसिद्धि इति । ईदृशी विचिन्ना व्यवहारिभिरभ्यु-  
 पगन्त्या तथवापत्रियोगपत् । ता प्रसिद्धिमतित्रम्यव उल्लध्यव । स्वेच्छया स्वरभावेन वदता  
 वदयता गीयताना युज्यते युक्त भवन्ति अधिभपवचनम् । कथम् ? गत् सूचक वाचकम् । कस्य ?  
 वक्त्रभिप्रेतमात्रस्य वक्त्रु प्रयोजकस्याभिप्रेतमभिप्रायो विवक्षा तावमात्रस्यैव न वहिरथस्वति । नु  
 अहा आचर्षमित्याक्षर । गम्यते सामास्यविभाषात्मना वहिरथस्य गत्प्रयोगात्प्रतीतस्तस्यैव तत्पर्यत्वात्  
 अभिप्रायस्य तत्र स्वल्पप्रतीते ।—लघी० ता० पृ ८७ । (५) तुलना— तदुक्तम्—विवक्षाप्रमत्वा हि  
 शब्दानामेव संसूचयम् ।—तत्त्वोप० पृ० १२० ।

१ 'नास्तीत्युक्ते' नास्ति आ० । २ त्वेच्छया व० । ३ विति आ०, म० लघी० ।

अभिप्रेतव्यभिचारित्त्वं कुतोऽपनीयते सुपुत्रादौ वाग्वृत्तेर्दर्शनात् । अनिच्छतामपि अपशब्दादिभाषणसद्भावात् वाञ्छतामपि मन्दबुद्धीना शास्त्रवक्तृत्वाभावात् । उभयत्र व्यभिचारान्न कस्यचिद्वाचकाः शब्दा इति अलौकिकप्रतिभानम् । लोको हि अर्थम्याप्यनासिषु सत्यानृतव्यवस्थामातिष्ठेत शब्दस्य नाभिप्रायमात्रे तत्र शब्दव्यवहारबाहुल्याभावात् । अघाथिता तत्प्रतीतिमतिक्रम्य स्वेच्छया प्रमाणप्रमेयस्वरूपमातिष्ठमानाना युक्तम्—अभिप्रेतमात्रसूचकत्वं शब्दानाम् ।

वर्णपदवाक्यानि प्राहुः, कान् ? अर्थान् घटादीन् । क्रिदिशिष्टान् ?

कामिकाय -

अवाञ्छितान् वाञ्छयाऽभिपयीकृतान् वाञ्छितांश्च तद्विपयी-

कृताश्च शास्त्रव्याख्यानाद्यर्थान् क्वचित् मन्दबुद्धिप्राणिषु न प्राहु-

इति एवं प्रसिद्धिं लोकप्रतीतिरियं सकलजनसाक्षिकी । ईदृशी विचिन्ना । तदनभ्युपगमे दूषणमाह—'स्वेच्छया' इत्यादि । स्वेच्छया स्याभिप्रेतप्रक्रियामात्रेण तां प्रसिद्धिमतिक्रम्यैव वदता सोगताना युज्यते । किं तद् ? इत्याह—वक्त्रभिप्रेतमात्रस्य सूचक वचन त्विति ।

ननु वर्णादयोऽर्थानवाञ्छितान् किमनित्या मन्त प्रतिपादयन्ति, नित्या वा ?

तत्राद्य पक्षोऽनुपपन्न, अनित्यत्वे तेषाम् उत्पन्नमात्रप्रध्नसित्त्वेन

शब्दनित्यत्ववादिना  
मीमांसना पूर्वपक्ष -

सङ्केतव्यवहारकालाननुयायित्वत् तद्व्यतिपादकत्वानुपपत्ते । द्वितीय-

पक्षस्तु उपपन्न, नित्याना तेषा तदनुयायित्वेन तत्प्रतिपादकत्वोपपत्ते ।

प्रमाणत तन्नित्यत्वस्यैव प्रसिद्धेश्च । तथाहि—'स एवाऽय गकार' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा-

(१) तुलना- विवक्षामन्तरेणापि वाग्वृत्तिर्जातु वीक्ष्यते । वाञ्छन्तो वा न वक्तार शास्त्राणा मन्दबुद्धयः ॥ -न्यायवि० का० ३५४ । 'विज्ञानगुणदोषाभ्या वाग्वृत्तगुणदोषता । वाञ्छन्ता वा न वक्तार शास्त्राणा मन्दबुद्धयः ।' -प्रमाणसं० का० १६ । प्रमाणसं० टि० पृ० १७३ प० २३ । (२) तुलना-'बुद्धिगदप्रमाणत्व बाह्यार्थे सति नास्ति । सत्यानृतव्यवस्थय युग्मतेऽप्यतिपत्तासिषु ॥ -आप्तमी० का० ८७ । (३) अर्थप्रतिपादकत्वाऽनुपपत्ते । 'यदा हि क्षणिक शब्दो न गन्तोऽर्थावधारण । न हि क्षणिकस्य सम्बन्धग्रहण संभवति' -मी० श्लो० गार्वाक्ये० श्लो० ३, 'वावर० । (४) कुमारिलमते हि शब्दो नित्य इत्यर्थवत् । 'श्रोत्रमात्रेऽप्यप्राह्य गत् शब्दत्वजानिमान् । इव्यं सवपतो नित्य कुमारिलमते मत ॥ -मानमेयो० पृ० २१८ । प्रभाकरमते च गत्वा नित्योऽपि आनाम्य गुणो न तु स्वतन्त्र इत्यम । इष्टव्यम्-'आनाम्यं च शब्दानिति, न एव श्रोत्रं तन्गुणश्च शब्दः' -प्रह० प० व्याप्त्युद्धिप्रकरणम् । (५) सङ्केतव्यवहारकालव्यापकतया । (६) 'य एवावत्प्रत्यभिज्ञानीमो न करणदीवन्त्यम्, एवमन्येऽपि प्रत्यभिज्ञानान्ति, स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानानाः प्रत्यभिज्ञानान्ति वेद्व्यमिवाऽपि नाय इति वक्तुमर्हति । -वावरभा० १।१।२० । 'प्रत्यभिज्ञयव कालान्तरावस्थापयित्वा सिद्धमिति, कालान्तरावस्थानिश्च सप्रत्यभिज्ञप्रत्यभिज्ञानम्येवुक्तम् । -बहती० १।१।१८ । 'गत्वापि

१ कुतोऽप्रतीयते ज० वि० । २ अर्थप्रदानास्ति-ज० वि० । ३ तत्र गदव्यवहारत्पत्तिम प्रतिश्रम्य स्वेच्छ-६० वि० । ४ अघाथितामतिक्रम्य ज० वि० । ५-सं सिद्धि श्र० । ६ चिति जा० । ७-स्वा प्रति-य० । ८ 'वा' नास्ति थ० ।

रयप्रत्यश्वत्त एव तावच्छदाना नित्यत्वं प्रतीयते । त चास्य अज्ञानलक्षणमप्रामाण्यम्, प्रतिप्राणि सवेगमानत्वात् । नापि सशयरूपम्, एकाशावलम्बित्वात् । उभयाराजालम्बी हि प्रत्यय सशय, न चेद् तथा । नापि मिथ्यास्व(त्वं) रूपम्, अत्राप्यमानत्वात् । यदेव हि ज्ञान बाध्यते तदेव मिथ्या प्रसिद्धं यथा शुक्तिः काया रजतज्ञानम्, न चेत्<sup>३</sup> दशरालनरातरेऽपि बाध्यते । न च दुष्टकारणप्रभवत्वादस्याप्रामाण्यम्, तर्कारणात् दुष्टत्वानिश्चयात् । नापि अविगताधिगच्छत्वात्, स्मर्यमाणानुभूयमान विशेषणार्च्छित्तस्य गमारादे पूर्वसवेदनाप्रियत्वात् । तदुक्तम्—

‘ वै पूर्वागतोऽशोऽत्र स न नाम प्रतीयत ।

इदानीं तनमस्तित्व न हि पूर्वधिया गतम् ॥”

[ मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० २३३ ३४ ] इति ।

प्रत्यक्षत्वञ्चास्य श्रोत्रेन्द्रियाद्यव्यतिरेकानुविधायित्वात् सुप्रसिद्धम् । न च स्मृतिपूर्वकत्वादस्य अप्रत्यक्षत्वं युक्तम्, तत्पूर्वकत्वेऽप्यस्य संसम्प्रयोगत्वेन प्रत्यक्षत्वोपपत्तेः । उक्तञ्च—

प्रत्यभिज्ञानात् प्रागस्तीत्यवगम्यते । -मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३३ । भाट्टटिप्प० पृ० २६ । ‘एतदुक्तं भवति—प्रत्यभिज्ञानात्प्रत्ययव्यतिरेकेण ह्यस्तानाद्यननकारकार्यारकत्वावगमात्प्रत्ययत्वमाधीयते अतो गत्वानिज्ञानायतिवधनय प्रत्यभिज्ञा सिद्धयति । एव सति ध्येयनिमित्ते सामान्ये तदभावात् नान्ति सामान्यमित्यव वक्तव्यम्, अतः सिद्धं प्रत्यभिज्ञानात्प्रत्ययत्वम् ।’ -शास्त्रदी० पृ० ५४०, ५६८ । तत्ररह० पृ० २६ ।

(१) प्रत्यभिज्ञानस्य । (२) प्रत्यभिज्ञानस्य मिथ्यास्वरूपमप्रामाण्यम् । (३) प्रत्यभिज्ञानम् । (४) प्रत्यभिज्ञानकारणानामिन्द्रियाणीनाम् । प्रमाणं प्रत्यभिज्ञानं दृग्द्रियतयोच्यते । -मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३७२ । (५) स एवायम्-आ० टि० । (६) पूर्वप्रत्यक्ष । (७) ‘ननु गृहीतमपि गृह्यते इति कथं प्रामाण्यमन आह य इति । तस्मिन्नाशमा भूत्प्रामाण्यम् अगृहीतकालान्तरसम्बन्धापेक्षं नेव तु प्रामाण्यमिति ।’ -यापर० । ‘ननु न वेदलमधिकं गम्यते किं तु प्रागवगतमपि इति कथं प्रामाण्यमन आह य पूर्वमिति । सविकल्पके हि गत्यायस्वरूपसम्बन्धकालसम्बन्धा प्रयन्ते तत्र गत्यादि रणो स्मृतिविषय इति मा नाम प्रमाणविषयो भवतु इत्यान्तीन्ती नु वस्तुसत्ता न पूर्वमवघतेत्यस्ति तत्र प्रमाणावसर इति रिथत प्रामाण्यम् । इन्द्रियव्यापारानुविधानाच्च प्रत्यक्षत्वमिति । एवाञ्चेद् पूर्वविज्ञानजनितमस्कारप्रत्युत्पन्नान्द्रियान्कारणकं धन्तिव्यम् । -काशिका । पूर्वमवगतोऽश स न नाम-प्रमेयक० पृ० ३३९ । पूर्वमवगतो नाश स च नाम-सामति० टी० ३३९ । य पूर्वावगतोऽशोऽत्र स नो नाम-स्या० १० पृ० ६७५ । उत्तरायम्-तत्त्वोप० पृ० २७ । प्रमाणवा० स्व० टी० पृ० ७७ । तत्त्वस० पृ० १५९ । (८) स एवायम्-इति प्रत्यभिज्ञानस्य । (९) प्रत्यभिज्ञानस्य । ‘तत्र शब्दायमन्वय प्रमातु स्मरताऽपि वा । दुष्टं पूर्वगृहीतायसंघानात्प्रजायत ॥ अमुया सन्निकृष्टार्थं ताऽप्रत्ययमसौ भवेत् ॥’ -मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० २२९-३० । (१०) संस्वासी सम्प्रयोगश्चेति कथं प्रमाणं तथा च इन्द्रियाणामर्थेन साकं सम्बन्धं विद्यमानं सतीत्यर्थं । तुलना- किं पुनरिदं प्रत्यभिज्ञान्यं प्रमाणम् ? प्रत्यक्षमिति श्रुत्वा । पूर्वानुभवजनितमस्कारसंघीचीति प्रत्यक्षं यत्वात् ग्रहणस्मरणरूपमित्येवं ज्ञानम् । -शास्त्रदी० पृ० ५६८ ।

“नहि स्मरणतो यत् प्राकृतत्प्रत्यक्षमितिदृशम् । वचन राजनीय वा लौकिक नापि विद्यते ॥१॥  
 न चापि स्मरणात् पश्चादिन्द्रियस्य प्रवर्त्तनम् । धार्यते केनचिनापि तत्तदानीं प्रदुष्यति ॥२॥  
 तेनेन्द्रियाथमस्य घात् प्रागूर्ध्व्वापि यत्स्मृते । विज्ञान जायते सर्वं प्रत्यक्षमिति गम्यताम् ॥३॥”  
 [ मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० २३४-३७ ] इति ।

एतमर्तं शब्दस्य नित्यत्वे सिद्धे इदानीमिव अन्यदापि यच्छब्दस्योच्चारण न  
 तत्तस्यै जननं किन्तु अभिव्यञ्जनम् । अत इदमुच्यते—अन्यदापि यत् शब्दस्य उच्चारण  
 तस्याभिव्यञ्जनम् उच्चारणत्वात्, यद् यद् उच्चारण तत्तदभिव्यञ्जनम् यथा एतत्का-  
 लोपलभितमुच्चारणम्, तथा च प्रकृतम्, तस्मादिदमपि तथा ।

तथा, त्रिनादाध्यासितो वा काल गान्धिसम्बद्ध कालत्वात् प्रतिपादितशब्द-  
 सम्बद्धकालत्वं । अत मिद्धमस्य अनुमानतोऽपि नित्यत्वम् । इतोऽप्यनुमानात्  
 तत्सिद्धम्—नित्य शब्द, श्रावणत्वात्, यद् यदेव तत्तथा यथा शब्दत्वम्, तथा चाऽ-  
 यम्, तस्मान्मयमपि तथा । तथा, देशकालादिभिन्ना गोशब्दव्यक्तियुद्धय एकगोशब्दविषया

(१) “नविद भवत्यधिकविषय स्मरणोत्तरकाले भवत कथं प्रत्यक्षम् ? न हि निविकल्पकस्य  
 प्रत्यक्षमप्यप्यपमो दृष्ट अत आह—नहीति । न हि स्मरणात् प्राग्भाविता प्रत्यक्षरक्षणम्, अपि तर्हि  
 इन्द्रियज वम्, तच्चात्राप्यविशिष्टमिति भावः । यदि स्मरणनिद्रियप्रवृत्तिरिव वापन तदा दूष्यते, तत  
 स्मृत्तरकालं जायमान सविकल्पक प्रत्यक्षं भवेदपि, न त्वनदस्ति इत्याह न चेति । यत स्मृत्या नान्द्रिय  
 विरुध्यत न वा दूष्यत एत प्रागुच्ये वा स्मृतयदिन्द्रियाथसम्बन्धात् तान जायत सव तत्प्रत्यक्षमभ्युप  
 गन्तव्यमित्याह—ननति ।”—वाग्वि० । (२) अर्थान् मन्व स्मरणादुच्ये तत्प्रत्यक्षम्—आ० टि० । (३)  
 ‘राजकीय वा धार्मिक वापि—मी० श्लो० । ‘राजकीय वा लौकिक नापि—सामति० टी० पृ० ३१९ ।  
 उद्धृता इमे—प्रमेयक० पृ० ३३९ । सामति० टी० पृ० ३१९ । स्वा० र० ४९९ । (४) प्रत्यभिज्ञानात् ।  
 (५) गणस्य । (६) “यत् विरुध्यत हतुना गणस्य नित्यत्व वक्तुं शक्याम ततो नित्यप्रत्ययसामर्थ्यात्  
 प्रयत्नेनाभिव्यज्यते इति भविष्यतीति ।—भावरभा० १।१।१२ । “शब्दस्य प्रयत्न एव कारणतया  
 समाहितः । स च प्रत्यभिज्ञावलेन द्वितीयादिदगान्धिसम्बद्धकालमापादित इति प्रथमदशनप्यसौ  
 अभिव्यञ्जक एव अत कारणरहितत्वेन मत्त्वात्तस्य गण गगनात्तत्रिंशत् तास्यानित्यतति ।—प्रक०  
 पृ० पृ० १७० । भाट्टटि० पृ० २६ । “एवञ्चोच्चारण गणस्य न कारणं किन्तु अभिव्यञ्जकमिति  
 सिद्धम् । न चोच्चारणात्कारणं सम्भवतीत्युक्तव्यत्वेन अत एवाविनाशान्नित्यत्वसिद्धिः ।—  
 गान्धर्वी० पृ० ५९० । ‘शब्द प्रयत्नाभिव्यक्तस्य यथा तदनुत्पाद्यत्वं सति तन्तन्तरमुपलब्धे यो  
 यदनुत्पाद्यत्वं मनि यन्तन्तरमुपलभ्यते स तत्प्रत्यक्षस्य यथा प्रदीपानन्तरमुपलभ्यमानो घट ।’—  
 तत्ररह० पृ० २६ । भावमेयो० पृ० २२१ । (७) ‘धीयता चेयं हेतु गणत्ववत्त्वत् । यदा श्रोत्रप्रत्य  
 क्षतमत्र हेतु, तद्धि गणत्वदृष्टान्तं शक्योति नित्यत्व साधयितुमित्याह श्रीनेति ।—मी० श्लो० ‘याय०  
 गण्डनि० श्लो० ३९३ । प्रयोगश्च भवति नित्य शब्द श्रावणत्वाच्छब्दत्ववत् ।—गान्धर्वी० पृ०  
 ५८५ । (८) देशकालादिभिन्ना वा समस्ता गोवयुद्धय । एकगोशब्दजया स्पुर्गोपीत्वात्कबुद्धिवत् ॥  
 गोशब्दबुद्धयोर्व्येवमकगोनादगोचरा ॥ गोशब्दविषयत्वेन कल्प्यतामकबुद्धिवत् ॥ “गोशब्दबुद्ध्या  
 ह्यस्तया गोशब्दोऽयं प्रकाशितः । गोशब्दविषयत्वेन यथावाच्यप्रसूनया ॥ इयं वा त विज्ञानानि तद्वेतो  
 पूर्वबुद्धिवत् । उभे वाप्यत्रविषये भवेतामेतबुद्धिवत् ।—मी० श्लो० गण्डनि० श्लो० ४१८-२१ ।

1 प्रागुच्चारणं वा० । २-पि गणस्य शब्द० । ३ प्रकृतत्वं त-प्र० ।

न चानेनार्थगोचरा गौरित्युत्पद्यमानत्वात् सम्प्रत्युत्पन्नगोशब्दबुद्धिवत् । 'गोशब्दव्य-  
क्तिबुद्धय' इत्युच्यमाने सिद्धसाध्यता स्यात्, एकगोशब्दव्यक्तिबुद्धे एकविषयताभ्यु-  
पगमात्, तत्रिवृत्त्यर्थं बहुवचनम् । तथा 'सामान्ये गोशब्दनिबन्धना समाना एव  
धिय प्रभवति' इति तत्रिरामार्थं व्यक्तिसहणम् । एकस्मिन् देशे काले वा बहूना  
5 प्रमातृणा गोशब्दज्ञानानि एकगोशब्दव्यक्तिगोचराणि इति सिद्धसाध्यताप्रसङ्गव्यव-  
च्छेदार्थं 'देशकालादिभिन्ना' इत्युक्तम् । ह्यस्तनो वा गोशब्द अद्याप्यनुपपत्ते गौरिति  
ज्ञायमानत्वात् अद्योच्चारितगोशब्दवत् । अद्यतनो वा गोशब्द ह्योऽपि आसीत् गौरि-  
ति ज्ञायमानत्वात् ह्य उच्चारितगोशब्दवत् । 'शब्दो वा वाचनं तीर्षकालावस्थायी  
सम्बन्धबलेन अर्थमतिचननत्वात् धूमसामान्यवत् । यस्तु अस्थिर स सम्बन्धबलेन  
10 नार्थं बोधयति तादात्मिकनिमित्तत्वात् प्रतीपविद्युत्प्रकाशवत् । तदेवम्-

तुन्ना- देशकालादिभिन्नाश्च गोशब्दव्यक्तिबुद्धयः । समानविषया सवान वा नानाव्यगोचरा ॥ गौरि-  
त्युत्पद्यमानत्वात् सम्प्रत्युत्पन्नबुद्धिवत् । गोशब्दव्यक्तिबुद्धयः वा बुद्ध्या देशकालद्रुतमध्यविलम्बितान्प्रति  
भ्रमासभिन्नास्ता एकाविषयया नानाविषयया न वा भवति गौरित्याकारोपग्रहेणोत्पद्यमानत्वात्  
सम्प्रत्युत्पन्नगोशब्दवत् । अथवा या वा गोशब्दविषयया बुद्धि साध्यतनगोशब्दविषयया गोशब्द-  
विषयत्वात् अद्यप्रमूतगोशब्दवत् । गोशब्दविषयया च ह्यस्तनी गोशब्दबुद्धिरिति स्वभावहेतुः ।  
अथवा अह्यस्तनी गोशब्दबुद्धिर्धर्मिणी ह्यस्तनगोशब्दविषयत्व साध्यम गोशब्दविषयत्वादिति हेतुः  
ह्यस्तनी गोशब्दबुद्धिद्वयान्तं अथवा उभ ह्यस्तयद्यतयो बुद्धी एकविषय गोशब्दविषयत्वात्कगो-  
शब्दबुद्धिवत् । अथवा, ममस्ता गोत्वबुद्धय द्वाभ्याम्भेदभिन्ना एकगोशब्दजया गोधीत्वान्बुद्धिवत् ।  
पूर्व गोशब्दविषयया बुद्धय धर्मिण्य एकविषयवत्त्व साध्यम्, तन्नीच गोत्वजातिविषयया बुद्धयो-  
धर्मिण्य एकगोशब्दजयत्व साध्यमिति विशयः । -तत्त्वसं० पृ० ५०५९२ । स्या० २० पृ० ६७६ ।  
(१) नियतु सति गोशब्द बहुवृत्त्व उच्चरित श्रुतपूर्वश्चायासु गोशब्दव्यक्तिबुद्धयः अत्रयव्यतिरे-  
वाभ्यामाकृतिवचनमवगमयिष्यति तस्मादपि नित्यः । -गाव० भा० १।१।१९। ह्यस्तनोच्चारितस्तस्मा-  
द्गोशब्दोच्चारि विद्यते । गोशब्दानवगमत्वाद्ययोक्तोच्य गौरिति ॥ -मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ४१६।  
(२) ह्यो वाऽऽप्यत्र गोशब्द पूर्ववचनव हेतुना । यदा गोवाभिधायित्वं वाच्यो हेतुद्वयोरपि ॥ -  
मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ४१७ । तुन्ना- गौरिति ध्रुवमाणोऽह्य ह्योऽपि शब्दो मया श्रुतः ।  
हेतो पूर्वोन्तित्वं ह्य उच्चारितगोशब्दवत् ॥ -तत्त्वसं० पृ० ५९२ । स्या० २० पृ० ६७६ । (३)  
अत्रोच्यते स्थिर शब्दो धूमसामान्यविजातिवत् । सम्बन्धानुभवापेक्षसामान्यार्थवबोधनात् ॥  
-मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३११ । तुन्ना- शब्दो वा वाचको यावान् स्थिरोऽसौ दोषकालभाक् ।  
सम्बन्धानुभवापेक्षानवगमनप्रवचनान् । य इत्क स स्थिरो दष्ट धूमसामान्यभाववत् ॥ -तत्त्वसं० पृ०  
५९२ । स्या० २० पृ० ६७६ । (४) वाच्यवाचकभावत-आ० टि० । (५) तुन्ना- अस्थिरस्तु  
न सम्बन्धनानाशो बबोधनः । तादात्मिकनिमित्तत्वात् दीपविद्युत्प्रकाशवत् ॥ -तत्त्वसं० पृ०  
५९२ । स्या० २० पृ० ६७६ । (६) न हि प्रतीपान्प्रकाशस्य नियतेन घटान्निता सम्बन्धोऽस्ति,  
तादात्मिकनिमित्तत्वात् यत्र यत्र याति तत्र तत्र प्रकाशयति । सम्बन्ध हि स्मृत्यपेक्षा भवति, न  
च परप्रतीपान्प्रकाश-आ० टि० । 'तादात्मिकं तावत्कालिकं व्यवहारवाङ्मनूयापि निमित्तं सम्बन्धो-  
यस्य स तयोस्त तद्भावस्तत्त्वम् । -तत्त्वसं० पृ० ५९३ । स्या० २० पृ० ६७६ ।

1 ह्यापि यं । 2 गोशब्दो वा श्रं । 3 बोधयति थं ।

“कश्चित् काल स्थिरः शब्दः सर्वकालमपि स्थिरः ।

विनाशहेतुशून्यत्वात् सामान्याकाशकालवत् ॥” [ ]

तथा, विनाशोपध्यामित षाड् गादिशब्दशून्यो न भवति चाल्त्वात् इत्यानीन्तनचाल्त्वात् ।

तथा, अर्थोपचित्तोप्यस्य नित्यत्वं मिद्धम्, तथाहि—नित्यः शब्दः ततोऽर्थप्रतिपत्त्ययथानुपपत्तेः । न चेयमर्थान्यथापि अन्यथैव वा उपपद्यते, शब्दस्यानित्यत्वे सर्वथानुपपन्नमानत्वात् । प्रतिपन्नप्रतिपत्त्यन्वाद्धि शब्दादर्थप्रतिपत्तिः स्यात्, नान्यथा अतिप्रसङ्गात् । न चाऽनित्यत्वे शब्दस्य प्रतिपन्नप्रतिपत्त्यस्य उत्तरकालमनुपपत्तिः सम्भवति, तस्यै तदैव विनाशात् । तदुक्तम्—

“अर्थोपचित्तोरिय चोक्ता पक्षधर्मादिवर्जिता । यदि नाशिनित्ये वा विनाशियव वा भवत् ॥१॥

(१) ‘अनपेक्षत्वात् १।१।२१ । यथामावगतोत्पत्तीनां द्रव्याणां भाव एव लक्ष्यत तेषामपि कश्चित् नित्यता गम्यते यथा विनाशकारणमुपलभ्यते, यथा अभिनय पट दृष्टवा । न च न प्रियमाणमुपलब्धवान् अथ चानित्यत्वमवगच्छति एवमव दृष्टवा । तन्तुव्यतिपङ्कजनितोऽप्य तन्तुव्यतिपङ्कविनाशात्तन्तुविनाशात्ता विनाशनीत्यवगच्छति । नव शब्दस्य विशिष्टकारणमवगम्यत यद्विनाशान्तिरूपमिति इत्यवगम्यते ।—अमिनिसू०, शाबरभा० १।१।२१ । “एव स्थितस्य शब्दस्य श्रुतिवालाशान्तरः । समाख्येन विनाशित्वे न भूयोऽप्यन हेतुना ॥ यथा शब्दादिभिर्भेदाञ्जरया वा पण्यः । ननु दृश्यतीत्यवगम्यन्ते नव शब्देऽस्ति कारणम् ॥—मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ४४२-४३ । उदनाश्रयम्—स्या० २० प० ६७६ । “अस्यार्थं—शब्दः सर्वकाल स्थिरः विनाशहेतुशून्यत्वात् । विनाशहेतुशून्यत्वाच्च विशिष्टकाल स्थिरत्वात्सिद्धम् । स हि सम्प्रधारणकालं यावदनुपपन्नत्वात्पि विनाशोपध्यायामिति ।—स्या० २० प० ६७६ । (२) तुलना—स्या० २० प० ६७६ । (३) नित्यस्तु स्याद्गानस्य पराधत्वात् । नित्य शब्दो भवितुमर्हति । कुत ? दर्शनस्य पराधत्वात् । दानमुच्चारण तत्पराध परमय प्रत्याययितुम् । उच्चरितमात्रे हि विनष्टे शब्दे नचाज्योऽयानय प्रत्याययितुं शक्नुयात्, अतः न परायमुच्चार्येत । अथ न विनष्टस्ततो बद्धं उपलब्धत्वादर्थवगम इति युक्तम् ।—अमिनिसू०, शाबरभा० १।१।२८ । “अथप्रतिपत्त्ययथानुपपत्त्या तु नित्यत्वमेव युक्तम् । न हि प्रत्युच्चारणमयस्यायस्य प्रियमाणस्याप्यप्रत्यायकत्व सम्भवति सम्बन्धग्रहणासम्भवात्, अगृहीतसम्बन्धस्य चाऽप्रत्यायकत्वात् । न चायस्मिन् गृहीतसम्बन्धेऽयस्य प्रत्यायकत्व सम्भवति । न हि गौशब्दगृहीतसम्बन्धेऽप्यशब्द प्रत्याययति ।—शास्त्रदी० पृ० ५५९ । ‘शब्दो नित्यः पराधदानसम्बन्धित्वात् घूमादिवन्ति ।—नयवि० पृ० २४२ । (४) अथप्रतिपत्तिः । (५) नित्य च अनित्ये [च]—आ० टि० । (६) अनित्ये एव—आ० टि० । (७) अनित्यशब्दस्य । (८) शब्दा नित्य दानस्य पराधवाज्ययथानुपपत्तेः, पराधवाक्याच्चारणा यथानुपपत्तेः, अथप्रतीययथानुपपत्तेर्वा । (९) अनुमानत्वात्भाव—आ० टि० । (१०) अथापत्तो हि द्वावेव दोषो अयथाप्युपपत्तिरयथोपपत्तिश्च । तन्निहापि यच्चनित्यत्वदप्ययप्रत्यायकत्वमुपपद्येन अनित्यत्व एव वा ततो द्रूपणं स्यात् ननु तदस्तीत्याह यतीति ।—न्याय० पृ० ७९० । “यदि शब्दे नाशिनित्ये वा वाचकसामर्थ्यमित्यनेन सहाय उक्तं विनाशिनित्ये वा शब्दे वाचकसामर्थ्यमित्यनेन तु विषय उपदर्शितं तदा द्रूपणमुच्यतामिति । यद्व शब्द वाचकसामर्थ्यं सा दग्ध विषयस्तच्च स्यात्तत्र द्रूपणावमर एतच्चात्राभयमपि नास्तीति भावः ।—स्या० २० पृ० ६७८ । (११) नाशिनित्ये वेति निरवधारणत्वात् मिलितमेव ‘अयथापि इत्यस्य व्याख्यानम्, विनाशियेव इति तु ‘अयथव’ इत्यस्य—आ० टि० ।



शब्द वाचन्यामर्थं तदा दूषणमुच्यताम् । फलवद्भवहारङ्गभूतार्थप्रत्ययाङ्गता ॥२॥  
 निष्कलत्वेन शब्दस्य योग्यत्वादेवैगम्यत । परीक्ष्यमाणास्तैस्तस्यै युक्त्या नित्य-विनाशयो ॥३॥  
 स धर्मोभ्युपगतयो य प्रैधान न वाधते । नहि श्रङ्गाङ्ग-अनुरोधेन प्रधानफलनाधनम् ॥४॥  
 युज्यते, नाशिपक्षे च तदनातात् प्रसज्यते । नहि अष्टाष्टार्थसम्बन्ध शब्दो भवति वाचक ॥५॥  
 तथा च स्यादपूर्वोऽपि सव सर्व प्रकाशयेत् । सम्बन्धदर्शनञ्चास्य नाऽनित्यस्योपपद्यते ॥६॥  
 सम्बन्धज्ञानमिद्विश्वेद्भुव कालांतरस्थिति । अन्यस्मिन् ज्ञातसम्बन्धे न चान्यो वाचको भवत् ॥७॥  
 गोगदे ज्ञातसम्बन्धनाशशब्दा हि वाचक । [मी० श्लो० गम्बनि० श्लो० २३७-४४] इति ।

अथ मन्त्रशतया शब्दस्य अर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वोपपत्ते नार्थापत्तितोऽस्य नित्यत्व-  
 सिद्धि, तन्मुक्तम्, तत्सादृश्यस्य निचार्यमाणस्यानुपपत्तित तैश्चा तस्यै तद्वैतुत्वा-  
 नुपपत्ते । उक्तञ्च-

(१) ननु माभुर्दर्थप्रत्यापनं तथापि विमित्यनित्यता न भवति ? अत आह-फलवदिति । फल  
 यना गवानपनादिन्यापारस्य अङ्गभूतोऽप्यप्रत्यय तत्फलत्वेनैव फलवान् फलस्योच्चारणसंस्कारभाज  
 स्वयमपत्यस्य फलवत्प्रत्ययाङ्गता गम्यत इति । तत विमित्याह-परीक्षमाण इति । अथप्रत्ययाङ्गस्य  
 गत्यस्य स एव धम स्वाङ्गत्वेन प्रतीतव्यो यदत्र प्रधानमथप्रत्यय न वाधत इति । कारणह-नहीति ।  
 अथप्रत्ययाङ्गमनस्य गत्यस्य यदङ्गमनित्यत्व तन्नुरोधेन यत्तत्प्रधान गत्वं तत्फलस्य अर्थप्रत्ययस्य  
 वापनमपुनमिति । तथापि कथं नानित्यत्वमत्राह-नापीति । कथमित्याह-नहीति । विमित्य  
 वाचक ? अत आह-नया चेति । सम्बन्धनानञ्च त क्षणिकस्य मगवतीत्याह-सम्बन्धेति ।  
 -ग्यापर० पृ० ७९० । (२) अथप्रत्ययान्तरव-आ० टि० । (३) दवधायत-मी० श्लो० ।  
 (४) गत्यस्य । (५) प्रथमं व्यवहारार्थं फलम्-आ० टि० । (६) अङ्गाङ्गानुरोधेन-मी०  
 श्लो० । अर्थप्रत्यय-आ० टि० । (७) गत्-आ० टि० । (८) व्यवहार-आ० टि० । (९)  
 'ननु त्रियत्वं विनात्मवदित्वात् गत्वं, यावमम्बन्धेन तस्य व्यवहारस्य सम्भवति, ननाक्ता  
 नित्यप्रतिपत्तिरत आह-गम्बपति । नन्वयस्यैव गोगत्यस्य सम्बन्धं गृहीत्वा अयस्मादथ प्रत्यय्यामो  
 नापयनमप्यैव ग्याविषयत आह-अयस्मिन्प्रति, एव ह्यव्यवस्था स्यादिति । -ग्यापर० पृ० ७९१ ।  
 (१०) यत्र हि सम्बन्धा नात मोत्य यदत्र वाचक साऽप्य विनागित्वात्-आ० टि० । (११)  
 उद्गा इवे-प्रमेयक० पृ० ४०५ । त्रितीयतनीयवत्पदगोरान विना-स्या० २०९० ६७८ । पञ्चम  
 पत्यगत्तमत्रोरा विञ्चिन्नाटमन्-तत्त्वतः० पृ० ६१७ । (१२) अथत्वसादृग्यान्वयवगम इति चेत्,  
 न कश्चिन्वयवान गवेना नववात् । कस्यचित्पुत्रस्य कृत्रिमसम्बन्धो भविष्यतीति चेत् तदुक्तम, सटण  
 इति चारुतम सामोहाप्रत्ययो व्यावर्तते सात्वात्सात्वात्प्रत्यय इव । -पावरभा० १।१।१८ । "ननु  
 तन्मुत्पात्तानमन्त्रमुत्पात्त विषयि पारार्थ्यं दर्शनस्य, सत्यम्, सिध्यति, किन्तु नन्वम्भूतत्वे प्रमाण  
 मिति । न कस्यचित्पुत्रमगारं त्रयो पूर्वोक्तमदुगामुच्चारयामि तत्तदुग एवायमिति ज्ञानोत्पत्ते  
 स्य । अत एव वाचिणीं प्रतिपत्तय । अथवा सात्वात्प्रत्ययपरयव सात्वात्प्रत्ययवन्नाद्विपर्यय  
 स्यत् । -अपनी० १।१।१८ । पावरवी० पृ० ५६० । मयति० पृ० २४ । (१३) सादृश्यदारेण ।  
 (१४) सात्वात् । (१५) अर्थापत्ति (अथप्रतीति) हेतुत्वानुपपत्त-आ० टि० ।

१ तयो दू-३० । २ नि-फल-प० ४० । ३ अतदुगतया थ० । ४-त्वोपपत्तार्थाप-थ० ।  
 ५-वत्प्रत्यया थ० ।

“सदृशत्वात्प्रतीतिश्चेत् तद्द्वारेणाप्यवाचक । कस्य चैकस्य सादृश्यात् कल्प्यता वाचकोऽपैर ॥  
 श्रद्धासङ्गतित्वेन सर्वेषां तुल्यता यदा । अर्थान् पूर्वदृष्टैश्चेत् तस्य तावैन् क्षणं कुत ॥  
 द्विर्ज्ञानानुपलब्धो हि अर्थान् सम्प्रतीयते ॥” [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २४८-५०]

“तथा मित्रमग्निं वा सादृश्यं व्यक्तितो भवत् । एवमेकमनेकं वा नित्यं नाऽनित्यमेव वा ॥  
 मित्रे चैकत्वमित्यत्वं जातिरेव प्ररल्पिता । व्येक्यनन्यदथैकं च सादृश्यं नित्यमित्यते ॥  
 व्यक्तित्वमित्यत्वं तथा सत्यम्मीहितम् ॥” [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २७१-७३] इति ॥४॥

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘स एवायं गकार’ इत्यादि, तदसमीक्षिता-  
 तत्प्रतिविज्ञानपुरस्सरं भिधानम्, अस्वैयं प्रत्यभिज्ञानस्य सादृश्यनिवन्धनतया एकत्वाऽप्रसा-  
 शब्दस्य अनित्यत्व धर्मत्वात् प्रदीपादिप्रत्यभिज्ञानात् । न खलु ‘स एवायं प्रदीप ,  
 प्रमाणम्—  
 अङ्गहार , लूनपुनर्जातनपक्वशादिर्वा’ इत्यादि प्रत्यभिज्ञान प्रदीपादी-  
 नामेकत्व प्रसाधयति । अथाऽऽर्कत्वाभावात्तस्यै तदप्रमा प्रकृत्य तन्न्यत्रापि समानम् ।

(१) “शब्दस्तु न तथा बालानामपि प्रतीतिप्रसङ्गादित्यथवत्सादृश्यादपावगम इति भाष्यम्,  
 तस्यापमाह—सदृशत्वादिति । शब्दान्तरे गृहीतसम्बन्धस्यवति शब्दान्तरं तत्सादृश्यात् तत्त्वेन भ्रातृत्ववगत  
 तस्य प्रत्याययतीति । परिहरणि तद्द्वारेणेति । कारणमाह—कस्यति । च शब्दो हेतो । इदञ्च न हि  
 कश्चिदर्थवानित्यनेन भाष्यणोक्तमिति एतदेवोपपादयति—अदृष्टेति । शङ्कते—अथवानिति । निरा-  
 करोमि तस्यनि । अवसरामावमेव दशयति—द्विस्त्रिरिति ।—न्याय० पृ० ७९३ । (२) सादृश्यन-  
 आ० टि० । (३) त्रिन्तु वैसदृश्यम—आ० टि० । (४) वाचक—आ० टि० । (५) वाच्योपलम्भ  
 कां यावत्—आ० टि० । ‘तावदान् कुत क्षण—मी० श्लो० । (६) ‘द्विस्त्रिर्वाऽनुपलब्धो हि नाथ  
 वान् सम्प्रतीयते ।’—मी० श्लो० । तत्त्वसं० पृ० ६१९ । (७) उद्वृता इमे—प्रमेयकं पृ० ४१० ।  
 तत्त्वसं० पृ० ६१९ । (८) ‘भिन्नत्वकत्वमित्यत्वे जातिरेव प्रकल्प्यते । अभेदाऽनित्यनानात्वे पूर्वोक्तेनैव  
 तु यता ।’—मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २७२ । (९) ‘व्येक्यनन्यदथैकं च—मी० श्लो० । (१०)  
 उद्वृता इमे—प्रमेयकं पृ० ४११ । (११) पृ० ६९७ पृ० १८ । (१२) तुङ्गा—‘किमिदं प्रत्यभिज्ञानम् ?  
 तत्प्रत्ययविषयत्वम् ? तत्प्रत्ययविषयत्वम् यत्वेपीत्यनेकात् ।’—न्यायशा० २।२।३३ । अनियत्वेऽपि  
 सादृश्यवगात्प्रत्यभिज्ञानमुत्पद्यते एवेति । विवादगोचरापन्नं गणोर्भिव्यन्यत्वं प्रत्यभिज्ञानवाच्यं याव  
 प्रावतिष्ठते गणप्रत्ययविषयत्वान् पूर्वानुभूतगणवत् ।—प्रण० ध्यो० पृ० ६४७ । ‘नृत्ताभिनयचष्टा  
 णिप्रत्यभिज्ञानतो वयम् । विशेषेण प्रत्यभिज्ञाने न पदयामो मनसगणि ॥ उच्यते प्रत्यभिज्ञानमयया  
 प्युपपद्यते । गत्वादिजानिविषयं यद्वा सादृश्यहेतुकम् ॥’—न्यायसं० पृ० २२३ २४ । तथा ह्यनि-  
 त्येऽपि प्रदीपादौ प्रत्यभिज्ञानं दृष्टं तस्मादनकार्त्तिकमततः, यथा क्षणिते ‘पि कर्मणि प्रयोगे दृश्यते’—  
 प्रमाणवा० स्वव० टी० पृ० ३७९ । ‘सादृश्याप्रकल्पत्वात् एवापमिति स्थिति ॥ यत्ति चर्चविषय  
 नित्यो नित्यान्ते विद्युत्पदय । प्रत्यभिज्ञाप्रमाणं स्याद् युगपद् भिन्नयोगो ।’—न्यायवि० का० ४२५ २६ ।  
 ‘सादृश्याप्रकल्पणेनापि तत्त्वसमवात् क्षणिकत्ववि करणाद्गृह्यारान्पि प्रत्यभिज्ञानाद्विरुद्धा हेतु । तत्रि-  
 यं कल्पेऽपि किमिदं नामेव’ स्यात् ।—अष्टा० अष्टाहं पृ० १-६ । तत्त्वाप० श्लो० पृ० ५ । ‘गाद्य  
 कत्वशाद्विवादा लूनपुनर्जातनेगणगादिव्यव तस्या भ्रान्तरत्वात् ।—ग मनि० टी० पृ० ३४ । स्या० १०  
 पृ० ६८० । रत्नाकराव० ४।९ । गार्त्तवा० टी० पृ० ३७६ १ । (१३) नृत्पविज्ञानविषय, कुञ्चि-  
 गमनादिभेदेन भावविषय । (१४) प्रदीपादी । (१५) प्रत्यभिज्ञानस्य । (१६) एवाप्रमापकत्वम् ।

ननु तैत्तिरीयकारणस्य उत्तरत्र त्रयोपलम्भत प्रदीपादे प्रतिक्षणमयत्प्रसिद्धे युक्तमेकत्वा-  
सत्त्वं न शक्यं विपर्ययात्, इत्याद्यनुपपन्नम्, अस्यापि तात्त्रात्मियोगविभागलक्षण-  
कारणस्य उत्तरत्र प्रथमप्रतीतित प्रतिसमयमयत्प्रसिद्धे एकत्वासत्त्वोपपत्ते । तैत्स-  
योगविभागयो तैदभिव्यञ्जनायूत्पादे कारणत्व न शक्ये इत्यभ्युपगमे धर्तिकासुखतै-  
लानलसयोगादरपि प्रतीपात्रभिन्यञ्जनायूत्पादे कारणत्व न तदुत्पादे इत्यप्यभ्युपगम्य-  
तामविशेषात् । प्रतीतिनिरोध अत्रापि न शक्यैर्भवेत् ।

यदपि प्रत्यभिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वमुक्तम्, तन्प्ययुक्तम्, प्रत्यक्षपरिच्छेदे विगदम्ब-  
भावस्यैव ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनात् । न चेद् तत्त्वभावम्, अतः कथमस्य प्रत्यक्ष-  
ताशङ्कापि ? अत्रात्रयतिरेकानुविधायित्वात्तस्यै तद्वृत्ता, इत्यप्यसत्, तस्य तन्व्यव्य-  
तिरेकानुविधायित्वाभावात्, दशोत्स्मरणाय यतिरेकानुविधायितया तस्य प्रत्यभिज्ञा-  
परीक्षाप्रयत्नैः प्रकृषितत्वात् । प्रत्यक्षत्वे चास्य अतीतकालपरिगतत्वेन शब्दग्राहकत्वानुप-  
पत्ति, सम्बद्धवत्तमानात्पेगोचरचारित्वात्तस्यै । तद्ग्राहकत्वे वा कथं योगिप्रत्यक्षस्य  
प्रतिभेप प्रत्यक्षत्वेऽप्यस्यै तद्वद् अतीताद्यथाहकत्वापिरोधात् ?

अस्तु वा यथात्रयञ्चिन् तैत्प्रत्यक्षम्, तथापि न तैत् शक्यैकत्रप्रसाधकम्, तदु-  
त्पात्प्रिनाशप्राहिणा प्रमाणांतरण बाध्यमानत्वात्, यन् प्रमाणान्तरेण बाध्यते न तत्  
स्वविषययस्वधापन्नम् यथा शुक्तिशकले रजतप्राहिप्रत्यक्ष शुक्तिस्वरूपप्राहिप्रत्यक्षान्तरेण,  
बाध्यते च तदुत्पादविनाशप्राहिणा तेन तदेकत्रप्राहिप्रत्यभिज्ञानमिति । न चेद्मसिद्धम्,  
प्रत्यक्षस्यैव तावत् तदुत्पात्प्रिनाशप्राहकत्वेन तद्ग्राहकत्वसंभवात् । तथाहि—‘उत्पन्न-  
त्वाद् विनष्ट’ इति प्रतीति इन्द्रियज्यापारानन्तर प्रतिप्राणि संवेद्यमानोपनायते । न

(१) तुलना—‘गल्स्य तात्त्रात्मियोगविभागलक्षणकदम्बकस्य उत्तरत्र क्षयप्रतीतित प्रति  
क्षणमयत्प्रसिद्धेरेवत्वासत्त्वोपपत्त । —स्या० २० प० ६८१ । (२) तात्त्रा—आ० टि० । (३) शब्द-  
भिञ्जक । (४) प्रतीप—आ० टि० । (५) ५०६९८ प० ११ । (६) प्रत्यभिज्ञानम् । तुलना— एवम्यते  
—प्रथमे क्षणे शब्दग्रहण द्वितीयक्षणे पूर्वगृहीतगल्पाहितसंस्कारप्रबोध ततोऽयस्मिन् क्षणे शब्दस्मरणम्,  
तदस्वतुष्ये क्षणे त्रिराहिते तस्मिन् न एवाय घटगल् इति प्रत्यभिज्ञानं कथं प्रत्यक्षं स्यात्सन्निहितवि-  
षयत्वात् । —प्रमाणवा० स्व० टी० प० ३७८ । (७) प्रत्यभिज्ञानस्य । (८) प्रत्यभिज्ञानस्य (९)  
प० ४१५ । (१०) प्रत्यभिज्ञानस्य ; (११) स इति—आ० टि० । (१२) प्रत्यक्षस्य । तुलना—  
पूर्वज्ञानमर्गा धन्वस्यगानीमसन्निहितत्वनाऽग्रहणात् । ग्रहणे वा श्रोत्रज्ञानवत् स्पष्टप्रतिभास  
स्यात् । —प्रमाणवा० स्व० टी० प० ३५२ । (१३) अतीतग्राहकत्व—आ० टि० । (१४) प्रति  
तिपन्ति हि भौमामका सवनम्—आ० टि० । (१५) योगिप्रत्यक्षस्य । (१६) प्रत्यभिज्ञानवत्—आ०  
टि० । (१७) प्रत्यभिज्ञानम् । (१८) तुलना—‘गल्’ विनाशविनाशात् न सा नित्यत्वसाधिका । —  
ध्यायमं० प० २२४ । (१९) प्रत्यक्षण—आ० टि० । (२०) शब्दोत्पात्प्रिनाश । (२१) स एवायं  
शब्द इति प्रत्यभिज्ञानबाधकत्वमभवात् ।

1-क्षयोपपन्नं प्र-थ । 2-सानिल-आ० । 3-ध्ववस्थाप्राहकम् आ० । 4-य तावदुत्पाद-ब०  
-च तदुत्पाद-थ० ।

येय मिथ्या, देशकालनान्तरेषु अजाध्यमानत्वात् 'उत्पन्नो घट विनष्टो घट' इति प्रतीतिरनु । अथ प्रत्यभिज्ञानेनैव इयं कस्मान्न बाध्यते ? तत्र, अस्य सादृश्यनिग्रन्धनतया तन्नित्यत्वाप्रमाथकत्वात् ।

ननु एकज्ञानमसर्गिणैरर्थान्तरौपलम्भात् कैचिद् घटाद्यभाजप्रतीतिर्युक्ता, ननु शब्दाभाजप्रतीति, तत्रैकज्ञानमसर्गिण कस्यचिदप्यसभवात्, इत्याद्यचोद्यम्, विवक्षित- 5  
शब्दाभावप्रतीतौ शब्दान्तरस्यैव एकज्ञानमसर्गिण सभवात् । नि शब्दप्रदेशे सर्वज्ञ-  
भाजप्रतीतौ तद्दिसभज इति चेत्, न, तत्रापि आत्मस्वरूपसवेत्नस्य तदेकज्ञान-  
मसर्गिण सभवात् । यथैव हि घटभूदेशादीनाम् एकत्र ज्ञाने ससर्ग तथा स्वपररूपयो-  
रपि, अग्निलज्जानाना स्वपररूपायभासिम्बभावत्वात् । न चैव शब्दाभाजप्रतीतिरूपाद्यभा-  
वोऽपि र्थतोऽनुपपद्यते, तेषां प्रतिनियतेन्द्रियप्राप्ततया तदभाजस्यापि प्रतिनियतादेव 'इन्द्रि- 10  
यात् प्रसिद्धे । यो हि र्थेन्द्रियप्राह्य तदभावोऽपि तद्विन्द्रियादेव व्ययस्थाप्यते ।  
यदिन्द्रियोपयुक्तो ह्यात्मा यत्र यदा यद्विषयमुपलब्धिबलक्षणप्राप्त नोपलभते तत्र तत्र  
तस्याभाजमधिगच्छतीति ।

नित्यत्वे च शब्दस्य प्रागुच्चारणादनुपलम्भ कुत स्यात्-इन्द्रियाभाजत्वात्, शब्द-  
स्यामन्निहितत्वात्, आवृत्त्याद्वा ? न तावदिन्द्रियाभाजत्वात्, उच्चारणानन्तर शब्दो- 15

(१) उत्पन्न शब्द विनष्ट शब्द इति प्रतीति । तुलना-"प्रत्यभिज्ञा हि सापक्षा निरपेक्षा  
त्वमावची । तेनवमादौ विषये प्रत्यभिज्ञैव बाध्यते ॥ शब्दाभावस्य ग्रहणात् प्रत्यभिज्ञायाश्च पूर्वा  
नञ्जातान्मन्यपेक्षत्वात् । अपि च प्रत्यभिज्ञा व्यभिचरति कर्मादिषु गृह्यते । तेनास्या शब्दप्यभाव  
प्रत्यभिज्ञात्कतुपि क समाश्वास ? न च प्रत्यक्षेप्यनकान्तिक्त्वोत्भावनमपि तु विनाशप्रत्ययप्रतिहत  
प्रत्यावा प्रत्यभिज्ञा नित्यत्व कर्मादिविव शब्दोऽपि न साधयितुं प्रभवति "-आयम० प० २२४ ।  
स्या० १० प० ६८१ । (२) भ्रान्तिवगाद्भवत स एवाय शब्द इति प्रत्यभिज्ञानस्य । (३) भूतल-  
भा० टि० । (४) भूतलात् । (५) शब्दाभावप्रत्यये । (६) तुलना-"विवक्षितशब्दाभावप्रतीतौ शब्दान्त  
रप्यज्ञानसर्गिण सभवात् ।"-स्या० १० प० ६८२ । (७) तुलना-"तत्राप्यात्मस्वरूपस्य तदेकज्ञान  
सर्गिण सम्भवात् । स्वपररूपावभासकस्वभावस्य ह्यात्मन परस्मिन् योग्यदेशावस्थिते वस्तुनि न  
केवलात्मस्वरूपसवेत्न भवेत् यावन्ति सन्तु वस्तुनि प्रतिपेक्ष्यत्वसम्मतवस्तुना साकं योग्यदेशावस्थितानि  
मन्त्यद्वर प्रतिभासन्ते तानि सर्वाण्येकज्ञानमसर्गिणि । तत्र कुम्भादौ प्रतिपेक्ष्यो भूतलादि आत्मस्वरूप  
स्वकज्ञानसर्गिणि । शब्दे तु प्रतिपक्ष्ये ससर्गके प्रत्ये शब्दान्तरमात्मस्वरूपञ्च, नि गदके तु केवला  
त्यन्तम् । अथवा मा भवत्वेकज्ञानसर्गिणपदार्थान्तर प्रमाणातरगृहीत तु भविष्यति । यथा स्मृति  
शब्दे चचकुलात् क्वचिदभावप्रमाणेन भवतामभावग्रहणे चत्यकुलादि ।"-स्या० १० प० ६८२ ।  
(८) परवादिगोषान् यथा शब्दाभावो ज्ञात तथा रूपाभावोऽपि ज्ञायतामित्यथ-आ० टि० । स्वपररूप-  
प्राप्ति कर्मादिव्यपि ज्ञानात् । (९) ह्यपादीनाम् । (१०) यदग्रह यदपक्ष चक्षु तदभावग्रहेऽपि  
कण्ठेन इति किरणावशीवचनात् यदभावो यावत्त्या साम्या गृह्यते तदभावोऽपि तावत्प्यव-आ०  
टि० । (११) यन्निद्रियण यद्गृह्यत तेन तन्निष्ठा जानिस्त्वभावश्च गृह्यते इति नियमान् ।

1-भूतदेशादीनाम् १० प० ६८२

पलम्भात् । न च प्रागसत् तत्रैव इन्द्रियस्य प्रादुर्भावे, प्रतीतियिरोधात् । नापि शब्द-  
स्यासन्निहितत्वात्, नित्यैव्यापितया मर्त्रेण सर्गना तस्यै मन्निहितत्वात् । नाप्यावृत्तत्वात्,  
नित्यैस्वभावत्वेन तस्य आवृत्तत्वानुपपत्ते । न गलु दृश्यस्वभावपरित्यागेन अदृश्यस्वरू-  
पाऽस्मीकारे शब्दस्य आवृत्तत्व घटते अनिप्रसङ्गात् । यद् यदा यत्स्वरूप न परित्यजति  
न तस्य तदा तत्प्रत्यनीकस्वरूपसम्भवे यथा अनावृतावस्थाया दृश्यस्वरूपमपरित्यजतो  
नादृश्यस्वरूपसम्भव, न परित्यजति च आवृतावस्थाया दृश्यस्वरूप शब्द इति । तत्र  
नत्वरूपपरित्यागे वा सिद्धमस्य अनित्यत्वम्, स्वरूपभेदस्वभावत्वात्तस्यै । ननु घटादीना  
स्वरूपभेदेऽपि अकारान्तिना आवृत्तत्व दृश्यते, इत्यप्युक्तम्, तत्रापि स्वरूपभेदे सत्वेव  
आवृत्तत्वोपपत्ते । स्वरूपमरणद्वयत कस्यचित्त्वावरणत्वानुपपत्ते ।

(१) उच्चारणात् प्राक् तद्प्राहक श्रोत्रमिन्द्रिय नामीत् उच्चारणकाल एव शब्दन सहोत्पद्यते  
इत्युक्ते सत्याह न चेति । (२) नित्यतया व्यापितया च-आ० टि० । (३) शब्दस्य । (४) गलस्य  
आवृतावस्थाया न अदृश्यस्वरूपसम्भव अपरित्यक्तपूर्वस्वरूपवान् । तुलना-“यद्यदा यत्स्वरूप न परित्य-  
जति -स्या० १० पृ० ६८२ । (५) आवृतावस्थाया दृश्यस्वरूपयाम् । तुलना-‘तदय ता वा  
न्व्यापारजनितश्रावणस्वभाव परित्यज्य विपरीतस्वभावमासादयत्रपि नित्यश्चन किञ्चित् नित्यम् ।’  
-अष्टा०, अष्टसह० पृ० १०७ । (६) अनित्यत्वस्य । (७) स्वरूपभेदाभावेऽपि । तुलना-  
स्यामित यथा घटादेरात्मनोमवप्यत्तमस्तस्यावरण तथा शब्दस्यापीति तदसत्, तस्यापि  
तेन व्यात्मलक्षणोपगमात् दस्यस्वभावस्य स्रष्टवता तमसस्तत्त्वावरणत्वसिद्ध भवस्य परिणामित्व  
साधनात् । तमसाऽपि घटात्स्रष्टवत्त्वं पूर्ववदुपलब्धि किन् भवितुमर्हति तस्य तेन उपलभ्यतयाऽप्य  
स्रष्टवतात् । -अष्टा०, अष्टसह० पृ० १०५ । प्रमेयक० पृ० ४२१ । स्या० १० पृ० ६८२ । स्ति  
मितेन वायनावरणादित्य नोपलभ्यत इति चेत्-नापीत्यात् । तस्य बाह्यस्य उपलभ्यात्मनो  
दृश्यस्य किञ्चित्पूर्वत्वावरणं सम्भवति । तस्मिन् प्रमाणाभावात् । सतोऽपि वा विद्यमानस्यापि  
चावरणस्य तत्त्वानामलक्षण्यतो नित्यगन्तव्यत्वात्तमप्रचयावयत सामर्थ्यतिरस्कारायोगान् नान  
जननवायमिभवायोगान् । यस्मान्न हि तत्र शब्दात्मयनिशयमनुत्पान्नावरणाभिमत किञ्चित्करो  
नाम । अकिञ्चित्करत्वाय क कस्यावरण नानविवचकमर्हति प्रकारान्तरेणोपघानक नवति  
यावत् । अकिञ्चित्करस्य आवरणत्व दष्टमिति कथयन्नाह पर-कुडयान्य इत्यादि । कुड्यादयो  
घटादीनां वमनित्यायमुत्पान्ति कम्वा सामर्थ्यातिगय स्रष्टवन्ति यनावरणमिष्यन्ते । तस्माद् यथा  
ते नित्यायमनुत्पान्ति घटादीनामावरणमिष्यन्ते तथा नित्यस्यापि शब्दस्य किञ्चिदावरण भविष्यती  
त्यभिप्राय । न ब्रूम इत्यादिना परिहरति । ते कुडयान्य किञ्चित् घटादिकमतिज्ञायन्ति विनिष्ट  
स्वभाव कुञ्चतीति न ब्रूम । कथन्तर्ह्यावरणमुच्यन् इत्या-अपि तु न सव इत्यादि । न सवघटक्षणा  
भवस्य पुरुषस्य इन्द्रियज्ञानदेव किन्तर्हि परस्परसहितास्तु विषयद्वयाश्रयाः परस्परतो विनिष्ट  
क्षणात्तत्त्वत्वात् कारणान् विज्ञानहेतव ते च विषयद्वयादय तेन प्रतिघातिना कुडयान्तिनाऽप्यव  
हिता यथा भवन्ति तदाऽप्योन्वयस्योपकारिण सति च व्यवधायके कुडय अयस्योत्पित्तो समयस्य  
क्षणस्य यथोक्तवारणाभावानुत्पत्तनवारणवक्यमन कारणवत्त्वान् घटात्पि कुडयान्तिव्यवहितप  
ज्ञानानुत्पत्तिरिति क्त्वा कुडयान्य आवरणमुच्यते न पुन प्राग्विज्ञानजननयोग्यस्य घटादे प्रति  
घातान् -प्रमाणवा० स्व० टि० पृ० ३६१ ६२ । (८) उपलम्भानुपलम्भहेणेन ।

१-अत्वे तस्य व० । २ आवृतावस्थायां आ० व० । ३ इत्यप्य-अ०, व० ।

किञ्च, व्यञ्जकव्यापारात् पूर्वं शब्दस्य कुतश्चित् प्रमाणात् सिद्धे सद्भावे आवरण सिद्धयेत्, स्पर्शनप्रत्यक्षप्रतिपन्ने घटे अन्धकारादिवत्, न चासौ सिद्ध । 'प्रत्यभिज्ञानात्-रिमिद्धि' इत्यपि मनोरथमात्रम्, तस्य एकत्वाप्रसाधकत्वप्रतिपादनात् ।

अस्तु वा यथाकथञ्चित्तेषामावरणम्, तथापि तत् दृश्यम्, अदृश्यम्, नित्यम्, अनित्यम्, व्यापकम्, अव्यापकम् एकम्, अनेक वा स्यात् ? न तावद् दृश्यम्, प्रत्यक्ष-प्रमाणत तैत्प्रतीत्यैभावात् । तैतस्तत्प्रतीतौ वा विप्रतिपत्त्यभावात् । नहि नीले नीलेतया प्रतीयमाने कश्चिद्विप्रतिपद्यते । अथादृश्यम्, कथं तैदस्ति अतिप्रमङ्गात् ? ननु नित्यस्य सत् शब्दस्य उच्चारणात् प्रागनुपलब्धौ निमित्तान्तरासम्भवात् तन्निमित्तमदृश्यमप्यावरण कल्प्यते, इत्यप्यसाधीय, अन्योन्याश्रयानुपङ्गात्-सिद्धे हि शब्दस्य आवरणे नित्यस्य सतोऽस्य उच्चारणात् प्रागनुपलब्धिसिद्धिः, तस्याश्च सत्या तदावरणसिद्धिरिति । ननु प्रत्यभिज्ञानात् शब्दस्य नित्यत्वसिद्धे उच्चारणात् प्राक् तदनुपलब्धौ नावरणादन्यन्नितिम्, इत्यपि श्रद्धामात्रम्, प्रत्यभिज्ञानस्य तन्नित्यत्वप्रसाधकत्वप्रतिपेधात् ।

नित्यत्वे च आवरणस्य सदा शब्दस्यानुपलब्धिः स्यात् । अनित्यत्वे त्वस्य प्रथस्तस्य पुनरुत्पादे कारणाभावात् सर्वदा सर्वस्य उपलम्भप्रसङ्गः । नहि प्रतिनियतावरणोत्पादे प्रतिनियत किञ्चित्कारणमुपलभ्यते ।

व्यापकत्वञ्चास्य अतीव दुर्घटम्, बाधकप्रमाणसद्भावात् । तथाहि-आवरणत्वेनाभिमतो वायुरव्यापक स्पर्शवद्द्रव्यत्वात् लोष्ट्रवत् । व्यापकत्वे चास्य उभयोरपि आचार्योचारकयोः सर्वगतत्वात् किं कस्य आवारक स्यात् ? न हि आकाशमात्मैदी-

(१) तुलना- स्वानेनायधीहेतु सिद्धेऽर्थे व्यञ्जको मत । यथा दीपोऽयथा वापि को विषापोऽस्य कारकात् ॥ स्वप्रतिपत्तिद्वारेण अयप्रतिपत्तिहेतुल्लोके व्यञ्जक सिद्धा दीपादिवत्, स चत्प्राक्सिद्ध स्यात् । समानजातीयोपादानलक्षणसिद्धेन तस्यवातिगयस्य नानहेतौ तस्य तत्सामग्रीत्वात् । यपुन असि द्वालम्भना कारका एव कुलालादिवद् घटादौ । स्वानेन कारणेन अयधीहेतुर्यो व्यञ्जको मत । कदा ? सिद्धेऽर्थे । यद्यसौ व्यङ्ग्य प्रागसिद्ध स्यात्तदा को विषापोऽस्य व्यञ्जकस्य कारकादनी ।'-प्रमाणवा० स्वव० टी० ११२६४ । यत् प्रमाणात्तरण गच्छसद्भावे सिद्ध तस्यावरण सिद्धयत् स्पाननप्रत्यक्षप्रतिपन्ने घटञ्चकारादिवत् ।'-प्रमेयक० पृ० ४२१ । (२) सम्भाव-आ० टि० । (३) शब्दानाम्-आ० टि० । (४) तुलना-'तथापि तदावरण दृश्यदृश्य वा नित्यमनिय वा व्यापकम् व्यापक वा एकमनेक वेत्यप्यौ विवल्पा ।'-स्या० २० पृ० ६८३ । (५) आवरणप्रतीत्यभावात् । (६) प्रत्ययत् । (७) आवरणम् । (८) अनुपलब्धि-आ० टि० । (९) साम्यम् । (१०) आवरणस्य । (११) एककवणस्य एककमावरणम्-आ० टि० । (१२) तुलना-'आवरणत्वनाभिमत् प्रमञ्जन न व्यापक स्वगवद्द्रव्यत्वादुपलब्धवत् ।'-स्या० २० पृ० ६८३ । (१३) आवरणस्य । तुलना-'तद्वत्तदाकारवमपि सर्वगतमिति चन्, न मङ्गाभाषम्, न एवावागामात्मीनामा वारकम् ।'-प्रमेयक० पृ० ४२१ । स्या० २० पृ० ६८३ । (१४) दार्ष्टान्तिकमवाद्या । (१५) पगमिसा घना-आ० टि० ।

१ वा कर्माञ्च-प्र० । २-स्पर्शनवान् प्र० । ३ नीलताया प्र-प्र० । ४ दृश्यदृश्य-आ०, प्र० । ५-आ गच्छस्य व०, प्र० । ६-सामभावान् आ० । ७ स्वाननद्वय-प्र० ।

नामाचारक प्रतीतम् । जन्मापकत्वे त्वस्य नितरा तेन शब्दस्य आचार्यत्वानुपपत्तिः, तन्मध्ये तद्देशे पार्श्वे च विद्यमानत्वान्, प्रत्युत शब्द एवास्य आचारक स्यात्, अन्यथा सर्वेषोऽपि घटस्य आचारको भवेत् । ननु भूम्यान्ना आकाशस्य तथात्रिधस्यापि आश्रियमाणत्वोपलम्भाद्दोषोऽयम्, इत्यप्यसन्, तत्रप्रदेशस्यैव तेन आश्रियमाणत्वाभ्युपगमात् । शब्दप्रदेशस्यापि वायुना आश्रियमाणत्वाभ्युपगमे शब्दस्य सापेक्षत्वमनित्यत्वञ्च स्यात् । तथा निगितशब्दानां यदि एकमेवावरण कल्प्यते, तदा एकोपलम्भे सर्वेषामुपलम्भप्रसङ्गः, तदावरणापगमे तद्वत् सर्वपामनावृत्तत्वात् । तदनुपलम्भे वा विघ्नितशब्दस्यापि तदनुपलम्भ स्यादप्रतिशेषान् । अथ विभिन्नम्, तन्न, सर्वशब्दानां व्यापितया

(१) वायो-आ० टि० । (२) वायुना-आ० टि० । (३) आवरणात्मकवायुमध्ये । (४)

व्यापित्वन-आ० टि० । (५) वायो-आ० टि० । (६) मध्यपरिमाणमपि वस्तु महत् आचारक स्यात् तदा । (७) व्यापिनोऽपि-आ० टि० । (८) आकाशप्रदेशस्यैव । (९) भूमिना । (१०)

जन आकाशस्य अनतप्रदेशित्यप्रतिज्ञानात् । (११) आवरणापाये नस्यविवेकस्य गण्यत्वं उपलब्धत्वात् । तुलना-

यथा ज्वनिकापायप्राप्तप्रसरतीक्षणम् । रङ्गभूमिषु तद्दृशमशेष वस्तु पश्यति ॥ तथा

प्रसरतीक्षणीरोत्सारण सति । श्रोत्र तद्दृशनि शपण्णाहि भवित्यति । -न्यायम० पृ० २२१ ।

कश्चिच्छब्दास्माभिव्यक्तो तस्य व्यापकतया सर्वदशावस्थितपुरुषाणामुपलम्भ स्यात् निरावरणस्य

व्यापकत्वाविशेषात् । -प्रज्ञ० व्यो० पृ० ६८४ । (१२) शब्दानाम् । (१३) विघ्नितशब्दस्य आवर

णस्य विनाशः । (१४) एकशब्दत्वं-आ० टि० । (१५) सर्वगलानुपलम्भः । (१६) सर्वशब्दत्वं । (१७)

अनावृत्तत्वाविशेषात् । (१८) तुलना- 'नियमश्च न स्यात्, यदि चानके गण्य युगपदाकाश वतन्ते

इति एवञ्च मत्किञ्चित् व्यञ्जकमुपात्त समानदेशान समानभिव्यक्त्याति यदा धीणा वाद्यते तदा

रासभध्वनिरपि श्रूयते । न हि समानद्वयप्राह्याणा समानदेशाना व्यञ्जकपु नियमो दृष्टः । यद्यस्य

व्यञ्जक तेन तस्य व्यक्तिरिति चत् तन्न अदृष्टत्वात् । अथमयसे आकाशस्यसन्निपाते सति

व्यञ्जकानि भिद्यत व्यञ्जकभदानुविधायि वा व्यक्तय प्रतिशब्दमुपजायत इति, तन्न अदृष्टत्वात् ।

न हि प्रतीप एते द्वयप्राह्यमनकमथ युगपत्सन्निपातितं न प्रकाशयति । -न्यायम० पृ० २८८ । वायवा०

ता पृ० ४४६ । 'न च गोलान्भिव्यक्तयः प्ररितो वायुनाश्रित्य व्यनक्तीति वाच्यम्, व्यञ्जकेषु

नियमानुपलम्भः । यथा घटाभिव्यक्तयमुत्पादित प्रतीप समानद्वयप्राह्यसमानदेशावस्थितप्राह्यव्य

ञ्जक इति । तथाहि-न श्रोत्र प्रतिनियतप्रस्कारकसत्त्वाय समानद्वयप्राह्यसमानदेशावस्थितवस्तुप्रकाश

कत्वान् चक्षुषत । शब्दा वा विद्याविषया प्रतिनियतव्यञ्जकव्याया न भवन्ति समानद्वयप्राह्यसमा

नदेशावस्थितत्वान् पद्यादिवत् । -प्रज्ञ० व्यो० पृ० ६४८ । 'न च समानावरणानां समानद्वयप्राह्याणाञ्च

भावानां प्रतिनियतव्यञ्जकव्यत्यत्वमुपलम्भः । गृहे दधिधनी द्रव्यमानतो गृहमेधिना । अपूपानपि तद्

ज्ञान प्रकाशयति दीपकः ॥ -न्यायम० पृ० २१२ । श्रोत्र तावत्समानद्वयप्राह्यसमानदेशावस्थितवस्तुप्र

प्राथम्यात्प्रहृणाय प्रतिनियतप्रस्कारकसत्त्वाय न भवति इन्द्रियत्वाच्चक्षुषत । शब्दा वा प्रतिनियत

प्रस्कारकसत्त्वान् न भवन्ति समानद्वयप्राह्यसमानपर्यायत्वे सति युगपत्प्रिन्द्रियसम्बद्धत्वात् पद्यादि

वत् । -न्यायम० पृ० ३० । ननु नियतव्यञ्जककृता नियतश्रुतिरित्यत्राह-नहीत्यादि । न हि यस्मात्

समानावरणानाम् समानावविषयाणामेतत् नियतव्यञ्जकत्वं 'वाच्यम् । -सिद्धिवि०, टी० पृ० ५५४B ।

समानावरणानां तादृगामभिव्यक्तिनियमायोगात् सवत्र सवदा सर्वेषां मनुजा भुक्ति स्यात् । -अष्ट

श्लो०, अष्टश्लो० पृ० १०५ । प्रमेयक० पृ० ४२३ । समति० टी० पृ० ३६ । स्या० र० पृ० ६८३ ।

प्रमेय० ३।१०० । तावत्पृ० टी० पृ० ३७८A ।

समानदेशत्वे समानेन्द्रियप्राहृत्ये च आवरणभेदस्य व्यञ्जकभेदस्य चानुपपत्ते । तथाहि—  
शब्दा प्रतिनियतारणावार्या प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्या वा न भवन्ति, अभिन्नदेशत्वे  
सति एकेन्द्रियप्राहृत्यात्, यदित्य तत्तथा यथा एरुघटवृत्तिसामान्य-सगत्या-रूप-परिमाण-  
कर्मादि, तथा चैते शब्दा, तस्मात्तथेति । 'अभिन्नदेशत्वात्' इत्युच्यमाने रूपरसादिभि-  
र्व्यभिचार, तेषामेकद्रव्यवृत्तित्वेऽपि प्रतिनियतव्यञ्जनप्रतीते, अत 'एकेन्द्रियप्राहृत्यात्'  
इत्युक्तम् । तस्मिन्श्चोच्यमाने भिन्नदेशव्यवस्थितघटानिष्ठे सामान्यादिभि अनेनान्त,  
तत्रिवृत्त्यर्थम् 'अभिन्नदेशत्वात्' इत्यभिहितम् । तद्वतोऽनुमानात् शब्दाना प्रतिनियत-  
व्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वाऽव्यवस्थिते अयुक्तमुक्तम्—

“अन्यार्थं प्रेरितो वायु यथा य न केरोति वै । तथान्यार्थसंस्कारशक्तो नान्यं करिष्यति ॥१॥”

[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ८० । ] इत्यादि । 10

यदि च ताल्वाद्यो ध्वनयो वा शब्दाना व्यञ्जका, तर्हि तद्व्यापारे नियमेन  
उपलब्धिर्न स्यात् । कारकव्यापारो ह्येव —स्वसन्निधाने नियमेन कार्यसन्निधाने नाम,  
न व्यञ्जकव्यापार । न खलु यत्र यत्र व्यञ्जनं प्रतीपादि तत्र तत्र व्यङ्ग्यस्य घटादे  
सन्निधानमुपलब्धिर्वा नियमतोऽस्ति कारक-व्यञ्जकयोरप्रिशेषप्रसङ्गात्, चैत्रादिव्यापार-  
वैयर्थ्यानुपपत्त्याच्च । अथ घटादेरसर्वगततत्राच्च व्यञ्जकसन्निधाने नियमत सन्निधान- 15

- (१) “अथापमिति अयवणनिष्पत्त्ययम् । अयवणसस्कारात् इति अन्यवणप्रतीत्यय  
सस्कारो य श्रोत्रस्य स्रोत्रवणसस्काराच्छेतोक्तं न तु वणसस्वार एव श्रोत्रसस्कारस्य प्रकृतत्वात् ।  
नायं करिष्यति इति नान्यं वणं धात्रसस्वारद्वारेण सस्कारिष्यतीत्यय ।” —तत्त्वस० प० पृ० ६०८ ।  
(२) 'करोति च'—स्या० र० पृ० ६८४ । 'करोति स'—तत्त्वस० पृ० ६०८ । प्रकृतपाठ —प्रमेयक०  
पृ० ४२३ । समति० टी० पृ० ३६ । (३) भो जना—आ० टि० । (४) 'एकोपलम्भे सर्वेषामुपलम्भ  
प्रसङ्ग' इत्युपात्तस्य समाधानमिदं मीमांसकेन प्राक्तन-आ० टि० । (५) तुलना—'कारणाना  
समग्राणा व्यापारादुपलम्भित । नियमेन च कायन्व व्यञ्जके तदसम्भवात् । नहि क्वाचिद व्याप-  
तपु करणेषु गत्यानुपलम्भे न चावश्यं व्यञ्जकव्यापाराऽप्युपलम्भयति क्वचित् प्रकाशेऽपि घटानु-  
पलम्भे । सय नियमेनोपलम्भे तद्व्यापाराच्छब्दस्य तदुदभवे स्यात् । अफतुर्व्यापारेऽपि तत्सिद्धययो  
गत । किञ्च कणाणा समग्राणा व्यापारात् परिस्पदादिलक्षणान् नियमेन शब्दस्य उपलब्धित  
कारणात् कायत्व प्राप्तम् । किं कारणम् ' व्यञ्जके हेतौ तदसम्भवात् नियमेन व्यङ्ग्यस्योपलम्भा  
संभवात् । —प्रमाणवा० स्वब्र० टी० १२६५ । व्यञ्जकव्यापृती न स्यात् व्यङ्ग्यस्य नियमात् गति  
नावश्यम्भावनियम स्याच्छ्रुतश्चाराणात्त ।” —सिद्धिषि०, टी० पृ० ५५५A । 'न कश्चिद्विनेप  
हनु तात्वाद्यो व्यञ्जका न पुनश्चक्रादयोऽपि इति । तं वा घटादे कारका न पुन गदस्य तात्वा  
दयोऽपीति । न हि व्यञ्जकव्यापृतिनियमेन व्यङ्ग्यं सन्निधापयति । सन्निधापयति च तात्वादिव्यापृति  
निषमन शब्द ततो नासौ तात्वात्वेना व्यङ्ग्यं चनादीना घटादिवत् ।’ —अष्टस०, अष्टसह० पृ०  
१०३ । 'यदि च तात्वाद्यो ध्वनयो वास्य’—प्रमेयक० पृ ४१५ । स्या० र० पृ० ६८४ । (६)  
वायव—आ० टि० । (७) 'प्राक् सत स्वरूपसस्वारक हि व्यञ्जकम्, असत स्वरूपनिवर्तक कार  
कम् ।’—प्रमेयक० पृ० ११६ । (८) घटाद्युत्पादने । (९) प्रदीपात्निव साध्यसिद्ध —आ० टि० ।



मुपलम्भो वा, शब्दस्य तु भवति विपर्ययात्, तदप्यचर्चिताभिधानम्, तत्सर्वगतत्वा-  
सिद्धे । तथाहि-शब्द सर्गगतो न भवति सामान्यनिशेषवत्त्वे सति बाह्येन्द्रियप्रत्य-  
क्षत्वात् घटादिवत् । ततो घटादिभ्यः शब्दस्य विशेषाभावाद् उभयो कार्यत्व  
व्यङ्ग्यत्व वाऽविशेषतोऽभ्युपगतव्यम् ।

किञ्च, एते ध्वनय कुत प्रतिपत्ता येन तन्धीना शब्दश्रुति स्यात्-प्रत्यक्षेण,  
अनुमानेन, अर्थापत्त्या वा ? प्रत्यक्षेण चेत्, किं श्रौत्रेण, स्पर्शनेन वा ? न तावत्  
श्रौत्रेण, तथा प्रतीत्यभावात् । नहि शब्दवत् श्रोत्रे ध्वनय प्रतिभासन्ते, विप्रति-  
पत्त्यभावात्प्रसङ्गात् । तत्र तत्प्रतिभासाभ्युपगमे च अपरशब्दरूपनावैयर्थ्यम्, ध्वनीना-  
मेव श्रावणस्वभावात्तथा शब्दत्वप्रसङ्गात् । अथ स्पर्शनप्रत्यक्षेण ध्वनय प्रतीयन्ते,  
स्वकरपिहितवदनो हि वदन् स्वनरस्पर्शनेन तान् प्रतिपद्यते, इत्यप्यसाम्प्रतम्, चायुर्वत्  
ताल्वादिव्यापारानन्तर विष्णुपामुपलम्भत शब्दाभिर्व्यञ्जकत्वप्रसङ्गात् । वक्त्वमुरप्रदेश  
एव तासां प्रसूयत श्रोत्रश्रोत्रप्रदेशे गमनाभावात् तद्, इत्ययत्रौपि समानम् । न खलु  
वायवोऽपि तत्र गच्छन्त प्रत्यक्षत प्रतीयन्ते । शब्दप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या तु प्रतीति  
उभयत्र तुल्या । यथा च स्तिमितभाषिणो न विष्णुपामुपलम्भ तथा वायूपलम्भोपि नास्ति ।

(१) तुलना- व्यापिन गन्त नित्याश्च ततो व्यापिनित्यत्वाच्छब्दानां व्यञ्जकस्य कारणस्य  
व्यापारात् सर्वत्रोपलम्भि घटादिवस्तु न व्यापिन नापि नित्या तेन ते व्यञ्जकव्यापारेण नावश्यमुप-  
लभ्यन्त इति यद्यव क इदानीं घटादियु समाश्वास निश्चय, यथा त न नित्या नापि व्यापिन इति  
यावता तेषुपि नित्या व्यापिनदच भवन्तु । -प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३८५ । नप दोष सर्वगत  
त्वाद्गणनामित्यपि वातम्, प्रमाणबलायानत्वाभावात् अ यथापि तथाभावानुपलम्भान् । -अष्टा०, अष्ट  
सह० प० १०३ । स्या० २० प० ६८४ । (२) सामान्यनिरासाय विशेषणमुक्तम्-आ० टि० । तुलना-  
तदुक्त न च सर्वगताऽमूर्तनित्यत्वात्माऽत्र युज्यते । वर्णो बाह्याद्रियबाह्यस्वभावत्वाद् घटादिवत् ॥  
-प्रमेयक० प० ४१५ । सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् घटादिवत् ।  
-प्रमेयक० प० ४१५ । सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्याद्रियप्रत्यक्षत्वात् । -स्या० २० पृ० ६८४ । (३)  
तुलना-प्रमेयक० पृ० ४१८ । स्या० २० प० ६८४ । (४) श्रोत्र । (५) तुलना- ध्वनय एव हि विशिष्टा  
वणरूपा वाचका । तस्याः भिन्नोऽर्थान्तर वाचक गुरुत्वमस्तीत्यतस्तत्प्राहकपमाणाभावात् अतिबह्विध  
श्रद्धयम् । किं कारणम् ? यतो न वचनवाचक ध्वनि गन्तव्य वाचक पुनःपूर्वमिति ध्वनिभ्यो भिन्नत्व  
भावमुपलक्षयाम तस्मान् ध्वनिविशेष एवाकारान्तरूप स्थित वणस्थि ' -प्रमाणवा० स्ववृ० टी०  
पृ० ३६८ । यथा ध्वनिविशेष एव वण उच्यते । तेन ह्युक्तोच्चारितो ध्वनिविशेष ह्युक्त गव्यन्तिरुच्यते,  
मध्योच्चारितो मध्यगन्तव्यत्वं बिलम्बितोच्चारितो ध्वनिविशेषो विरम्बिता गव्यन्ति न तु व्यञ्जकेभ्यो  
ध्वनिभ्योऽप्यो गकार प्रतिभासते " -प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३८२ । (६) ध्वनीन । (७) तुलना-  
वायुवत्त्वादिव्यापारानन्तर कफागानामप्युपलम्भन शब्दाभिव्यञ्जकत्वप्रसङ्गात् । -प्रमेयक०  
पृ० ४१८ । स्या० २० प० ६८४ । (८) यथात्वादिव्यापारानन्तरमुपलभ्यते तत्राच्छब्दाभिव्यञ्जक  
यथा वायु तथा च विष्णु इति-आ० टि० । (९) विष्णुपामु कफरूपानाम् । (१०) शब्दाभिव्य-  
ञ्जकत्वम् । (११) ध्वनावरि । (१२) श्रोत्रोद्योतकदश । (१३) वायुवत् कफाशब्दपि समाना ।  
१ घटादिवत् नास्ति आ । २ श्रोत्रेण श्र० व० । ३ स्वर्गनेन श्र० । ४ शब्दवत्तत्र ध्वनयः  
श्र० व० । ५ विष्णुपामु-आ० । ६ तेषां आ० । ७ प्रत्यक्षत प्रसूयत व० । ८ विष्णुपामु-आ० ।

स्तिमितस्य कल्पनमुभयत्र तुल्यम् । एतेन वदतो मुद्राप्रस्थिततूलादे प्रेरणोपलम्भात् अनुमानतो ध्वनीन् प्रतिपद्यते, इत्यपि प्रत्युक्तम्, तद्वद् विष्णुपामपि अतः प्रतिपत्तिप्रसङ्गात् ।

अथ अर्थापत्त्या ध्वनयः प्रतीयन्ते, तथाहि—शब्दस्तावत् नित्यत्वात् नोत्पद्यते, सङ्कृतिरेव तु क्रियते, सा च विशिष्टा नोपपद्येत यदि ध्वनयो न स्युः । उक्तञ्च—

“शब्दात्सत्तेर्निपिद्धत्वात् अन्यथानुपपत्तित् । विशिष्टसङ्कृतेर्जन्म ध्वनिभ्योऽववसीयते ॥” 5

[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १२६ २७ । ] इति ।

तत्प्यचारु, यतः केयः विशिष्टा सङ्कृतिर्नाम—शब्दसङ्कार, श्रोत्रसङ्कार, उभयसङ्कारो वा ? त्रिप्रधो हि सङ्कारो मीमांसकैरिष्टः ।

“ध्वनीशब्दस्य हि सङ्कारादिन्द्रियस्योभयस्य वा ।”

[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ५२ । ] 10

“स्थिरवाच्यपनीत्या च सङ्कारोऽस्य भवन् भवेत् ।”

[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ६२ । ] इत्यभिधानात् ।

तत्राप्यप्ये कोऽयः शब्दसङ्कारो नाम—शब्दस्योपलब्धिः, आत्मभूतः कश्चित्-

(१) वायु-आ० टि० । (२) 'मुद्राद्विप्रुयो नि सरन्ति मुद्रायस्थितवस्त्रे आद्रतादक्षानात्' इत्यनुमानात् । (३) विष्णुषो हि मुद्राप्रस्थवस्त्राणां दृश्यन्ते—आ० टि० । (४) ध्वनयः सन्ति विशिष्टसङ्कृत्ययथानुपपत्तेः । “तथा हि सन्ति शब्दव्यञ्जका ध्वनयः शब्दप्रतिपत्त्ययथानुपपत्तेः ।”—स्था० १० प० ६०५ । (५) “नन्वेवमविद्ये किमिति सङ्कारविशेषोपनिरेवाऽङ्गीक्रियते न शब्दविशेषोत्पत्तिरत आह—शब्दनि । प्रागनुपपत्तौपत्त्यादुपजातगण्योपलम्भानुपपत्त्याऽवस्य कल्पनीये कस्मिंश्चित् प्रत्यक्षतया गन्तोत्पत्तेर्निषेधात् सङ्कारकल्पनव्युक्तेति ।”—वायव० । ध्वनिभ्यो व्यवसीयते—प्रमेयक० प० ४१८ । प्रकृतपाठ—तत्त्वस० प० ६११ । (६) 'इन्द्रियस्यैव सङ्कार गण्यस्योभयस्य वा । क्रियते ध्वनिभिर्वादास्त्रयाऽभिध्वनिवादिनाम् ॥’—वाक्यप० १।७९ । (७) 'सा हि स्याच्छब्द’—मी० श्लो० । तत्त्वस० प० ५९८ । अनेनैव रूपेण उदृतोऽयम्—प्रमेयक० प० ४१९ । “साऽभिव्यक्तिगण्यस्य भवन्ती वायवीयः संयोगविभागः गण्यसङ्काराद्वा भवत इन्द्रियसङ्काराद्वा उभयस्य वा गण्यस्यैव तस्य च सङ्कारात् ।”—तत्त्वस० प० ५९९ । (८) 'द्विप्रधो हि वायुः स्थिरोऽस्थिरश्च । तत्र यः स्थिरः सघनापवाङ्मवतः शब्दावृत्त्यास्तं तस्य च वक्तृप्रवृत्तममृत्येन वायुना संयोगविभागा उत्पद्यतः । तद्वचः संयोगविभागे तस्य स्थिरस्य वायोरपनयः क्रियते स एव च शब्दस्य सङ्कारो नायः स्वल्पगण्यपुट्यादि तस्य नित्यत्वेनैककल्पत्वात् ।”—तत्त्वस० प० ५९९ । (९) तुलना—“भवन्ती वा कारणभ्योऽतिगण्यवत्ता वा शब्दस्य व्यक्तिः आवरणविगमो विगान वा गत्यन्त राभावात् । यत एव तस्मान् न व्यक्तिः शब्दस्य कारणभ्यः किन्तत्पत्तिरिव । भवन्ती वा कारणभ्यः सत्त्वात् व्यक्तिसिद्धया भवेत्—पूर्वावस्थापरित्यागेन अतिगण्यवत्ता वा शब्दस्य व्यक्तिर्भवेत् उपलम्भात् आवरणविगमो वा, शब्दालम्बन विगान वा व्यक्तिः, प्रकारप्रयथानिरेवेण गण्यन्तराभावात् ।”—प्रमाणवा० स्वपु० टी० प० ३८६ । इमे सर्वे विवक्ष्यन्ते—प्रमेयक० प० ४१९ । “य एव शब्दसङ्कार—विमनिगण्यघनमननिगण्यव्यवहनमावरणापयमा वा”—स्था० १० प० ६८५ । रत्नाकराव० ४।९।

१ किन्तितत्त्व-आ० । २ विष्णुपामपि आ० । ३-भ्योऽवसी-घ० । ४ एतदप्य-आ० ।

५ सङ्कार इति-घ० ।

तिशय , अनतिशयव्यावृत्ति , स्वरूपपरिपोष , व्यक्तिसमाश्रय , तद्ग्रहणापेक्षग्रहणता , व्यञ्जकसन्निधिमात्रम् , आवरणविगमो वा ? यदि शब्दस्य उपलब्धि , कथमसौ ध्वनीना गमिका शब्दश्रोत्रमात्रभाषित्वात्तर्या ? तद्व्याप्येयनिमित्तात्तरूपने हेतूनामनवस्थिति । आत्मभूत कश्चिदतिशय अनतिशयव्यावृत्तिर्वा , इत्यत्रापि अतिशयै -  
 5 दृश्यैस्त्रभाव एव , अनतिशयव्यावृत्तिश्च अदृश्यस्त्रभावरूपणमेव । 'ते' च ततो भिन्ने, अभिन्ने वा विधीयेते ? यदि भिन्ने, तदा तत्करणे शब्दस्य न किञ्चित्कृतमिति तदवस्था अस्य अश्रुति स्यात् । अथ अभिन्ने, तर्हि शब्दस्यापि तद्वत् कार्यतानुप  
 10 द्वादनित्यत्वप्रसक्ति । 'यो हि यस्माद्भिन्नस्वभावात् तत्करणे तस्यापि करणम् यथा अतिशयानतिशयव्यावृत्तिस्वरूपस्य, ताभ्यामभिन्नस्वभावात् शब्द इति ।

रिञ्च, श्रोत्रप्रदेश एव अस्य ध्वनिभिः सस्कारं क्रियेत, सर्वत्रापि वा ? प्रथमं-  
 पक्षे तावन्मात्र एव शब्दः स्यात् न सर्वगतः । तस्यैव अर्थे तद्विपर्ययरूपतया जव-  
 स्थाने दृश्यादृश्यत्प्रमद्वात्रिरक्षताव्याघातं । दृश्येतररूपता चेकस्य ब्रह्मनाद समर्थयते,  
 चेतनेतररूपतयापि एकस्य तद्वैदवस्थित्यविरोधात् । घटादेरपि चैव सर्वगतत्वानुपपन्न ,  
 सोऽपि हि दृश्यप्रदेशे दृश्य अन्यत्र चादृश्य इति वदतो न क्वत्र क्वपीभवेत् । सर्वत्र  
 15 चार्थं सस्कारं सर्वत्र सर्वदा उपलब्धि स्यात्, न वा क्वचित् कदाचिद्विशेषात् ।  
 स्वरूपपरिपोषोऽप्यनुपपन्न , नित्यस्य स्वभावाऽवधारणासम्भवात् । करणे चा

(१) शब्दोपलब्धि । (२) शब्दश्रोत्रव्यतिरिक्त-आ० टि० । (३) तुलना- तत्र नातिशयान्ति अनित्यताप्रसङ्गान्न तस्या पूर्वापररूपहायुपजननलक्षणत्वात् । -प्रमाणवा० स्वयं० १।२६५। विशयाधानमप्यस्य नाभिव्यक्तिविभायने । नित्यस्यातिशयोक्त्यविरोधात्स्वात्मनागतत्वात् ॥ -तत्त्वाश्लो० पु० २३८ । (४) अनिशायो दुश्यस्त्रभाव एव अनतिशयव्यावृत्तिस्त्वदृश्यस्त्रभाववर्णनमेव तच्चेतनो-य तत्करणस्य शब्दस्य न किञ्चित्कृतमिति तदवस्थाऽस्याऽश्रुति । अधानये, तत्र शब्दस्यापि कायतया अनित्यत्वानुपपन्न । -प्रमेयक० पृ० ४१९ । स्या० २० पु० ६५। (५) अदृश्यं सन् अनिशाये जाते दुश्यो जाते -आ० टि० । (६) अतिशय-अनतिशयव्यावृत्तौ । (७) शब्दात् -आ० टि० । तुलना- विशिष्टसंस्कृति सा हि न शब्दव्यतिरेकिणी । शब्दस्यान्यताप्राप्ते तत्तत्संस्कृति जायते ॥ -तत्त्वश्लो० का० २५७० । (८) अनिशायोपपन्न अनतिशयव्यावृत्तौ वा । (९) शब्दस्य-आ० टि० । (१०) अनिशाये-अनतिशयव्यावृत्तिवत् । (११) शब्दं कार्यं कायरूपाभ्यामनिशाये-अनतिशयव्यावृत्तिभ्यामभिन्नस्वभावत्वात् । (१२) शब्दस्य । (१३) श्रोत्रप्रदेश एव चास्य सस्कारे तावन्मात्रक एव शब्दः न सर्वगतः स्यात् । -प्रमेयक० पृ० ४१९ । (१४) शब्दस्य । (१५) शब्दस्यान्यत्वं (१६) अदृश्यरूपतया अशब्दरूपतया वा । (१७) शब्दस्य दुश्यादुश्यत्ववत् । (१८) शब्दस्य । (१९) तुलना- सर्वेषामुपपन्न स्यात् युगपदव्यापिता यदि ॥ संस्कृतस्पोपलम्भक संस्कृतीविकारिणः । -प्रमाणवा० ३।१५३ ५४ ।

1-वृत्तस्तु व० थ० । 2-तौ च ततो भिन्नौ अभिन्नौ वा आ० । 3 भिन्नौ आ० । 4 अभिन्नौ आ० । 5-वृत्तं थ० । 6 तत्करणे थ० । 7 एवञ्च-थ० । 8 क्रियते आ० । 9-तस्यैव वृत्त-थ० । 10 दृष्टं-थ० । 11-चित् स्वरूप-थ० ।

अतिशयपञ्चभाविदोषानुपपन्न । नापि व्यक्तिममवैय, अनभ्युपगमात्, अन्यथा शब्दस्य सामान्यान्तिरूपताप्रसङ्ग । अत एव न तर्द्धहणापेक्षग्रहणता । नापि व्यञ्जनसन्निधि-  
मात्रम्, सर्वत्र सर्वथा सर्वप्रतिपत्तिं सर्वशदाना ग्रहणप्रमद्वात् । आवरणविगमरूपे  
तु तत्संस्कारे युगपत्त्रिखिलशब्दानामुपलब्धि स्यात् । प्रतिनियतव्यञ्जनव्यङ्ग्यत्वादय-  
मन्तेषु, इत्यपि मनोरथमात्रम्, तेषा तद्व्यङ्ग्यत्वस्यापास्तत्वात् ।

मा भूतर्हि शब्दसंस्कारोऽभिव्यक्ति, इन्द्रियसंस्कारस्तु भविष्यति । तदुक्तम्—  
“अर्थापीन्द्रियसंस्कार सोप्यधिष्ठानदेशतः । शब्दं न श्रोष्यति श्रोत्र तेनासंस्कारगण्डुलि ॥१॥  
श्रेयासंस्कारात् शब्दात् ध्वनेर्न श्रोत्रसंस्कारात् । अतोऽधिष्ठानभेदेन संस्कारनियम स्थित ॥२॥”

[ मी० श्लो० गवदनि० श्लो० ६९-७१ ] इति,

तदप्यविचारितरमणीयम्, इन्द्रियसंस्कारपक्षेऽपि सकृत् संस्कृतस्य श्रोत्रस्य युगपत्त्रिखिल-  
शब्दप्रकाशकत्प्रमद्वात् । नहि अञ्जनानिना संस्कृतं चतु सन्निहितं स्वप्रिय नीलधवला-  
न्कि कश्चित् पश्यति कश्चिन्नेति, वैलैतलानिना संस्कृतं श्रोत्रं वा काश्चित्देव गकारादिव-  
र्णान् शृणोति कश्चिन्नेति नियमो दृष्ट, येनात्रापि तथा कल्पना स्यात् । ततोऽयुक्तमेतत्—

(१) शब्दोऽपि व्यक्तिषु समवति—आ० टि० । (२) यदि शब्दं व्यक्तिषु समवयात् तदा । (३)  
सामाय हि व्यक्तिषु समवति—आ० टि० । (४) आदिपदन संयोगादमोऽनेकस्था पदार्था ग्राह्या । (५)  
सामाय रूपान्तिप्रसङ्गादव—आ० टि० । (६) व्यक्तिग्रहणापेक्षया स्वतन्त्रजननता । (७) गणसंस्कारे ।  
तुलना—‘तद्गवावरणानाञ्च व्यक्तिस्ते विगमो यदि । अभावे करणग्रामसाम्यं किन्न तद्भवतः॥’—प्रमा  
णवा० १।२६६ । (८) ‘अधिष्ठानम—कणगण्डुली । तत्संस्कारद्वारेण श्रोत्रस्य संस्कारो न केवलस्य ।  
तेनासंस्काराधिष्ठानत्वाच्च विदूरस्यायचित्तमुत्तमूर्च्छिताना श्रोत्रं न गणोति । असंस्कृता कणगण्डुली  
यस्य तत्तद्योक्तम् । अधिष्ठानत्वेन इति सप्तम्यर्थे तसि । यद्यप्यधिष्ठानमस्कारकारिणो नात्  
स्तद्देशाद्भिन्नसंस्कारवा वा, तथापि प्राप्ता एव सन्त संस्कारमात्रं पण्ये संस्कारं कुवन्ति नाप्राप्ता  
इत्यनो न सर्वपुरुषाधिष्ठानादिसंस्कारः—तत्त्वसं० प० प० ६०६ । (९) सप्तमी—आ० टि० ।  
सप्तम्यर्थे पञ्चमीविभक्तिरित्यथ । (१०) ‘अतो न श्रोष्यति—स्या० २० पृ० ६८५ । (११) यस्यैव  
कण्ठे ध्वनि प्राप्त तस्यैव श्रोत्रसंस्कार—आ० टि० । अप्राप्तकण्ठदेशत्वात् ध्वनिना श्रोत्रसंस्कारात्  
—स्या० २० पृ० ६८६ । (१२) ‘संस्कारनियमस्थिति—मी० श्लो० । प्रमेयक० प० ४२४ ।  
‘संस्कारनियम स्थित—तत्त्वसं० पृ० ६०६ । स्या० २० पृ० ६८६ । (१३) तुलना—‘इन्द्रियस्य  
स्यात्संस्कार शृणुयादिति लब्धं तत् । संस्कारभेदमिन्त्वात्वेवायनियमो यदि ॥ अनेकगणसंघाते  
श्रुति कल्पने कथम् ।’—प्रमाणवा० ३ । २५५ ५६ । ‘तेषामपि श्रोत्रस्यावारकापनयन संस्कार  
शब्दग्रहणयोग्यतोपपत्तिवा ।’—तत्त्ववाच्यश्लो० पृ० ५ । ‘इन्द्रियसंस्कारस्यो मीलनालोकादे सृष्टिर्दि  
यसम्बन्धयोग्यसर्वार्थोपलब्ध्यनुकूलमस्कारजनकव दृष्टं तद्व्याप्यरूपि सकृदेव सर्वशब्दोपलब्ध्यनुकूल  
श्रोत्रे संस्कारमाध्यात् तथा च सर्वशब्दोपलब्धि स्यात् ।’—तत्त्ववाच्यश्लो० पृ० ४०५ । ‘न चेवमपि  
अपेक्षागणोपलम्भप्रसङ्ग मस्ते हि श्रोत्रे सर्वेषा साधिष्यात् ।’—प्रश्न० व्यो० पृ० ६४८ । (१४)  
‘ध्वनिलानिना संस्कृतं श्रोत्रं वा काश्चित्देव गकारादीन् शृणोति कश्चिन्नेति नियमो दृष्ट ।’—  
प्रमेयक० पृ० ४२४ । समन्ति० टी० प० ३६ । स्या० २० पृ० ६८६ । शास्त्रवा० टी० पृ० ३७७B ।

१—रो भक्ति श्र० । २ शृणोतीति नियमो आ० व० ।

“यथा घटाददीपादिरभिव्यञ्जक इष्यते । चक्षुषोऽनुग्रहादव ध्वनि स्यात् श्रोत्रसंस्कारः ॥  
न च पर्यनुयोगोऽत्र केनाकारेण संसृतिः । उत्पत्तात्रपि तुल्यत्वात् शक्तिस्तत्राप्यतीन्द्रिया ॥”

[ भो० श्लो० शब्दत्रि० श्लो० ४२-४३ ] इति,

प्रतीपात्रनुगृहीतचक्षुषा युगपद् घटाद्यनेकार्थग्रहणवत् ध्वन्यनुगृहीतश्रोत्रेण एवदा अनेक-  
ग्रन्थग्रहणप्रसङ्गान् । प्रयोगे — श्रोत्रम् एवेन्द्रियमाह्याऽभिन्नदेशस्थितार्थग्रहणाय प्रतिनियत-  
संस्कारकसंस्कार्यं न भवति इन्द्रियत्वात् चक्षुर्वत् । तन्न श्रोत्रसंस्कारोऽप्यभिव्यक्तिर्घटते ।

अस्तु तर्हि उभयसंस्कारोऽभिव्यक्तिः, तत्र उक्तदोषासम्भवात् । तदुक्तम्—

“द्वयसंस्कारपक्षे तु वृथा दोषद्वये वच । येनान्यतरधेनत्वात् सर्वे सत्रो न गृह्यते ॥”

[ भो० श्लो० शब्दत्रि० श्लो० ८६ ८७ । ] इति,

तदप्ययुक्तम्, उक्तदोषानुपपन्नादेव, तथाहि—यदा एकवर्णप्राह्वकत्वेन संसृत्त श्रोत्र संसृत्त  
वर्णं प्रतिपद्यते तदा तत्रत्यसर्ववर्णानपि प्रतिपद्यते, मसृत्तश्च वर्णं सर्वत्र सर्वदा स्थित  
त्वेन, अन्यथा तत्प्रतीतिरेव न स्यात् तदात्मकत्वात्तस्य ।

ततो नित्यैरूपत्वे शब्दस्य आचार्याचारकभावस्य व्यङ्ग्यव्यञ्जकभासस्य  
धाऽनुपपत्तेः नावरणकृता प्रागुच्चारणादस्याऽनुपलब्धिः । अतः तात्वादिव्यापारान-

(१) कीदृशं पुनर्ध्वनीनामभिव्यञ्जकत्वम् ? तद्दशयति ययति । तेजसश्चाक्षुषस्य आप्याय  
नानुग्रहं कुर्वन् प्रदीपो यथा चाक्षुषाणां घटादीनां व्यञ्जको भवति तथा ध्वनयोऽपि श्रोत्रसंस्कारं कुर्वन्  
गणस्याभिव्यञ्जका भविष्यन्तीति । —आयर० । उदघताविमो—प्रमेयक० प० ४२४ । तत्त्वसं० प०  
६०२ । (२) श्रोत्रसंस्कारेऽनुग्रहाद् ध्वनिः शब्दस्य व्यञ्जक—आ० टि० । (३) द्रष्टव्यम्—प० ७०८  
टि० १८ । (४) श्रोत्रसंस्कारकत्व्याच्च सर्वे पुरुष भूयते शब्दसंस्कारवक्तव्याच्च न सर्व शब्द  
समुच्चितयोद्भवो कारणत्वात् । प्रत्यक्कारणत्वे हि दोषद्वयं स्यादिति । —आयर० । संस्कारद्वयपक्ष  
तु वृथा दोषद्वयं हि तत् । यथा यत्रवचमानं सर्वे शब्दो न गम्यते । अयत्रस्य श्रोत्रसंस्कारस्य  
अथसंस्कारस्य वा वक्तव्यात् न शब्दो न गम्यते । तथाहि—सत्यपि शब्दसंस्कारे वधिरस्य श्रोत्रसंस्कारव  
क्तव्यात् शब्दग्रहणम् अबधिरस्याप्यनभिव्यक्तो गणस्याग्रहणम् । नवचित्पाठो मुपा दोषद्वयं वच  
इति । —तत्त्वसं० प० प० ६१२ । (५) मया दोषद्वयं वच—भो० श्लो० । स्या० १० प० ६८७ ।  
प्रवृत्तपाठ—तत्त्वसं० प० ६११ । प्रमेयक० प० ४२४ । (६) शब्दसंस्कार श्रोत्रसंस्कार—आ० टि० ।  
(७) तुलना— तथाहि संसृत्ता श्रोत्रवर्णाभिव्यञ्जक पुरा । न नष्पास्ते च्युतिप्राप्ते सर्वे सवधनिस्ततः ।  
—तत्त्वसं० का० २५७३ । यदवर्णप्राह्वकत्वेन संसृत्त श्रोत्र संसृत्त वर्णं प्रतिपद्यते तदा तत्रत्यसर्ववर्णान्  
प्रतिपद्यते । —प्रमेयक० प० ४२५ । स्या० १० प० ६८७ । (८) तत्राकारादेशे सर्वेषामपि वर्णानां व्यापितया  
नित्यतया च विद्यमानत्वात् । (९) यदि संसृत्त वर्णं सर्वत्र सर्वदा बस्थितत्वेन न जानाति तदा ।  
(१०) नित्यव्यापिरूपत्वात् । (११) तुलना— प्रागुच्चारणात्तनुपलब्धेरावरणाद्यनुपलब्धश्च ॥ प्रागु  
च्चारणाश्राप्तिं गच्छ । कस्मात् ? अनुपलब्ध । सतोऽनुपलब्धिरावरणादिभ्यः । एतन्नोपपद्यते  
कस्माद् ? आवरणानीनामनुपलब्धिकारणानामग्रहणान् । अनेन आवृतं गच्छेत् नापलभ्यते असन्नि  
वृष्टिन्द्रियव्यवधानादित्यवमादि अनुपलब्धिकारणं न गृह्यते इति सोऽयमनुच्चारितो नास्तीति ।  
तस्मात् व्यञ्जकाभावाद्ग्रहणमपि त्वभावादेवेति । श्रोत्रमुच्चारणमात्रं भूयते भूयमाणश्चाऽमुत्वा

न्तरमस्योपलम्भात् तदभावे चानुपलम्भात् तत्कार्यत्वमेव अभ्युपगतव्यम् । ननु-  
सननाद्यनन्तर व्योम उपलभ्यते तदभावे च नोपलभ्यते, नैव तत्तत्कार्यम्, अतोऽ-  
नैकान्तिकत्वमस्य । उक्तञ्च-

“अनैकान्तिकता तावाद्देतूनामिह कथ्यते । प्रयत्नानन्तर दृष्टिर्नित्येऽपि न विरुद्ध्यते ॥”

[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १९ ] ५

“आकाशमपि नित्यं सद् यदा भूमिजलावृतम् । व्यज्यते तदपोहेन राननोत्सचनादिभि ॥  
प्रयत्नानन्तर ज्ञानं तदा तत्रापि विद्यते । तेनाऽनैकान्तिका रेतुर्यदुक्तं तत्र दर्शनम् ॥  
अथ स्वर्गितैमप्यतदस्त्येवत्यनुमीयते । शब्दोऽपि प्रत्यभिज्ञानात् प्रीतिरतीत्यवगम्यते ॥”

[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३०-३३ ] इति<sup>३</sup>,

तदप्यसुन्दरम्, पैकम्यभावत्वस्य आकाशेऽप्यसिद्धत्वात् । तद्धि तत्त्वभाव सत् स्ववि- 10  
पयज्ञानजननैकस्वरूपम्, तद्विपरीतं वा स्यात् ? यदि तज्जननैकस्वरूपम्, तदा तस्य  
न सननाद्यनन्तरमेव उपलब्धिः, किन्तु पूर्वमपि स्यात् । तद्विपरीतस्वरूपत्वे तु न  
कदाचनाप्युपलब्धिः स्याद्विज्ञेयाभावात् । “निशेपे वा तदैकरूपताव्याघातः । प्रत्यभि-  
ज्ञानाच्छब्दे प्राक्सत्त्वसिद्धिश्च लूनपुनर्जातनलकेशादावपि सामानाः । कथञ्चैव ध्वनीना-  
मपि प्राक्सत्त्वसिद्धिर्न स्यात् ? य एव पूर्वमकारस्य व्यञ्जको ध्वनिः स एव पश्चादपि 15  
इति प्रतीतेः । तथा च वैधङ्ग्यवद् व्यञ्जनस्यापि सर्वत्र सञ्जावसिद्धे तौलवादिव्यापारवै-  
यर्थ्यम्, सर्वत्र सर्वदा व्यङ्ग्यप्रतीतिश्च स्यात् ।

एतेनेदमपि प्रस्तुक्तम्—‘अन्यदापि यत् शब्दस्योच्चारणं तदस्याभिव्यञ्जनम् उच्चा-

भवतीत्यनुमीयते । ऊर्ध्वश्चोच्चारणात् श्रूयन् स भूत्वा न भवति अभावात् श्रूयते इति । वषम् ?  
आवरणाद्यनुपलब्धेरित्युक्तम् । तस्मादुत्पत्तिरिरोभावधमकं शब्द इति ।—न्यायभा० २।२।१८ ।

(१) ताल्वादिव्यापाररूपोच्चारणवायत्वम् । शब्दः अनित्यः तात्वादिव्यापाररूपप्रयत्नान्त-  
रीयत्ववदिति । (२) व्योम । (३) मानकायमः । (४) प्रयत्नानन्तरीयत्वान्नित्यस्य हेतोः । (५)  
“तावच्छब्देनासिद्धतापि बध्यन् इति प्रयत्नानन्तरत्वाभादित्यस्य तावदनकारित्वत्वं दशयति—प्रयत्नेति ।  
दशनं हि तत्र सत्ता गमयति न बालान्तरे नियमनि तेन विपणैः सत्त्वसंभवात्तत्र दशनं  
नकान्तिकमिति ।—न्यायप्र० । (६) प्रयत्नानन्तरा दुष्टि—मी० श्लो० । (७) उपलब्धि—आ०  
दि० । (८) व्योमनानम—आ० दि० । (९) ‘दृश्यते—मी० श्लो० । (१०) “दशनम्—प्रयत्नानन्त-  
रपानम्”—तत्त्वसं० पृ० ५० ६४० । दशनान्—मी० श्लो०, तत्त्वसं० । (११) भूम्याद्यावृत्तमपि  
आकाशम् । (१२) उच्चारणात् प्राक् । (१३) उद्धृता इमे दलोका—प्रमेयकं पृ० ४२२ । स्या० १०  
पृ० ६८९ । द्वितीपत्तीयो—तत्त्वसं० पृ० ६४० । (१४) लुत्तना—‘एकरूपता आकाशास्याप्यसिद्धा’—  
प्रमेयकं पृ० ४२२ । स्या० १० पृ० ६८९ । (१५) आकाशं नित्यत्वस्वभावम् । (१६) सननात्  
प्रागनुपलब्धिप्रसंगे स्वविषयगानाज्जननस्वभावत्वे सननात्तद्वच्च स्वविषयगानजननात्मकत्वे । (१७)  
आकाशस्य निष्कल्पता न स्यादिति भावः । (१८) गत्वत् । (१९) ध्वयुत्पत्तरेव तान्त्रादाना  
मुपयोगे ते च सर्वदा सन्तीनि ।

रणत्वात्' इत्यादि, ध्वनावप्यस्य समानत्वात् । तथाहि—अन्यदापि यद् ध्वनेरुच्चारण सत्तस्याभिव्यञ्जकम् उच्चारणत्वात् इदानीं तदुच्चारणवत् ।

एतेन "तावत्काल स्थिरश्चैन क पश्चात्ताशयिष्यति" [मी० श्लो० गदनि० श्लो० ३६६] इत्येतदपि प्रत्युक्तम्, ध्वनेरपि प्रत्यभिज्ञानात् पूर्वोत्तरकालद्वयावस्थायिन प्रसिद्धस्य पश्चात् केनचित्ताशानुपपत्ते ।

यदप्यभिहितम्—'विवादाध्यासित कालो गादिसम्बद्ध कालत्वात्' इत्यादि, तदप्यभिधानमात्रम्, गादे उपलब्धलक्षणप्राप्तस्य कालात्तरेऽनुपलम्भतोऽभावसिद्धे, तत्र तत्सद्भावावेदकानुमानस्य बाधितपक्षतया कालात्ययापदिष्टहेतुतया च अगमनत्वात् । विद्युदादरपि चैत्र नित्यत्व स्यात्, तथाहि—विवादाध्यासित कालो विद्युदादिसम्बद्ध कालत्वात् विद्युदादिसम्बद्धकालवत् । प्रतीतिविरोधोऽर्न्धत्राप्यविशिष्ट । अत एव 'नित्य शब्द श्रावणत्वात्' इत्याद्यप्युक्तम्, उदात्तादिभिर्ध्वनिधर्मैर्नैकान्तिकत्वाच्च, तेहि श्रावणत्वेऽपि अनित्या भ्रमद्भिः प्रतिज्ञाता । "तेषामश्रावणत्वे श्रोत्रेण शब्दगत-धर्मतया उपलम्भो न स्यात्, यदश्रावणस्वरूप न तस्य शब्दधर्मतया श्रोत्रेणोपलम्भ यथा नीलत्वादे, अश्रावणस्वरूपाश्च उदात्तादयो ध्वनिधर्मा इति । तथा वीणादिशब्दैश्च अनैकान्तिकत्वम्, तेषामप्यनित्यत्वेऽपि श्रावणत्वात् ।

यच्चान्यदुक्तम्—'देशकालान्भिन्ना गोशब्दव्यक्तिबुद्धयः' इत्यादि, तदपि न साधीय, गोशब्दलिपिवुद्ध्या हेतोरनैकान्तिकत्वात्, सा हि 'गौ' इत्युत्पद्यते न च सम्प्र-त्युत्पन्नगोशब्दबुद्धेर्विषया इति । नचैत्र विषयभेद कापि प्रसिद्धति, सकलबुद्धीनाम-भिन्नविषयत्वप्रमद्वात् । तथाहि—देशकालभिन्नवस्तुबुद्धय एकविषया नवाऽनेकविषया

- (१) पृ० ६९९ प० ५ । (२) ध्वनेरभिव्यञ्जकम् । (३) उद्धृतोऽयम्—यायवा० ता० प० २५४ । (४) तुलना—तत्त्वसं० पृ० ९५५ । तत्त्वचि० प० ३७९ । (५) पृ० ६९९ प० ९ । (६) तुलना—'गादेरुच्चारणानन्तरं विनाशस्य प्रत्यक्षप्रतिपन्नत्वेन प्रतिपादनात्—स्या० २० पृ० ६८९ । (७) कालान्तरेऽन्वयारणानन्तरम् । (८) गदोऽपि । (९) पृ० ६९९ प० ११ । (१०) तुलना— उदात्ता भिन्नधर्मैरनैकान्तिकत्वात् । ते हि श्रवणप्राप्तत्वरपि न नित्या भवन्भिरङ्गीकृता । तेषामश्रावणत्वे तु नीलान्नीलमित्येव श्रोत्रेणोपलम्भो न भवेत् । वीणादिशब्द-श्रावणकारित्वम् तथा श्रावणत्वेऽप्यनित्यत्वात् । —स्या० २० प० ६९० । (११) चशब्देन प्रतीतिविरोध समुच्चयने । (१२) उदात्तादीनाम् । (१३) भ्रम मते—आ० टि० । (१४) पृ० ६९९ प० १२ । (१५) तुलना— गोशब्दलिपिवुद्ध्या हेतो रनैकान्तिकत्वात् । सा हि गौरित्युत्पन्नोत्पद्यते न च गौशब्दविषया देशकालादिभिन्नत्वाद् गोशब्द-लिपिनाम् । —स्या० २० प० ६९० । (१६) अया हि लिपिवद्धि अया हि गोशब्दबुद्धि—आ० टि० । (१७) तुलना—'अयया सबुद्धीनामकालम्यनता भवेत् । नमभावविरोधश्च गणकारणसन्निधे ॥'— तत्त्वसं० का० २४६६ । स्या० २० पृ० ६९० ।

१ तदनुच्चा—व० । २-तयो श्रावणाय—व० तपोपलम्भो आ० । ३ गौरित्यु—य० । ४-भिन्ना वस्तु—य० । ५ नवानेक—य० ।

वस्तुबुद्धित्वात् सम्प्रत्युत्पन्नघटबुद्धिवत् । ततश्च अखिलवस्तुबुद्धीनाम् एकघटलक्षण-  
प्रस्तुविषयत्वे घटबुद्धित्वमेव स्यात् न गोशब्दबुद्धित्वम् । अतः कथं देशादिभिन्नगोश-  
ब्दव्यक्तियुद्धीना धर्मित्वम्, कथं वा गोशब्दबुद्धित्व हेतु, सम्प्रत्युत्पन्नगोशब्दबुद्धि-  
यदिति दृष्टान्तो वा सिद्धेत्यतः यतोऽनुमानं स्यात् ? अथ गवाशवादिवस्तुभेदस्य प्रत्यक्ष-  
सिद्धत्वात् तद्बुद्धीनामेकघटविषयत्वे साध्ये 'वस्तुबुद्धित्वात्' इत्यस्य कालात्ययापदिष्ट-  
त्वम् अग्रेऽनुष्णत्वे द्रव्यत्वप्रवृत्त्युच्यते, यद्येवम्, उपात्तादिधर्मभेदेन गोशब्दव्यक्तिभे-  
दस्यापि प्रत्यक्षसिद्धत्वात् तद्बुद्धीनामपि एकविषयत्वे साध्ये 'गोशब्दव्यक्तियुत्पद्यमानत्वात्'  
इत्यस्यापि कालात्ययापदिष्टत्वं स्यात् ।

यदप्यभिहितम्—'ह्यस्तनो गोशब्देऽद्याप्यनुवर्त्तते' इत्यादि, तदप्यभिधानमात्रम्,  
ह्यस्तनाऽद्यतनगोशब्दयोर्भेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेन तदभेदप्रसाधनस्य कालात्ययापदिष्ट-  
त्वात् । कथमयथा ह्यस्तनाऽद्यतनविद्युत्प्रकाशयोरपि एकरत्नं स्यात् । शक्यं हि वस्तु  
ह्यस्तनो विद्युत्प्रकाशोऽद्याप्यनुवर्त्तते विद्युत्प्रकाशत्वात् अद्यतनविद्युत्प्रकाशप्रदिति । अथ  
तीज्जा विद्युत् तीव्रतरा तीव्रतमेति प्रत्यक्षतः तीज्जान्धिर्मात्मकतया विद्युत्प्रकाशस्य विभि-  
न्नस्वभावस्य प्रतीते न तद्वैक्यप्रसाधकमनुमानं गमकम्, तदन्यत्रापि समानम्—गोश-  
ब्दस्यापि तीज्जादिधर्मोपेतस्य श्रोत्रप्रत्यक्षे प्रतिभासनात् । तद्वैक्यस्य अत्रौपाधिकत्वे  
विद्युत्पि अस्य तस्मिन् विशेषाभावात् । अथ शुद्धाया विद्युत् कदाचिदप्यसवेदनात्  
न तत्रास्यौपाधिकत्वम्, तदेतत् शब्देऽप्यविशिष्टम्, नहि तद्वैक्यं 'सोऽपि स्वप्नेऽपि  
प्रतिभासते । एतेन 'अद्यतनो वा गोशब्दो ह्योऽद्यासीत्' इत्यादि<sup>१</sup> प्रतिव्यूढम्, न्यायस्य  
मान्यत्वात् ।

यदप्युक्तम्—'शब्दे वाचको दीर्घकालावस्थायी' इत्यादि, तत्रापि चेष्टया अनैका-  
न्तरम्, तस्या सम्यग्धवलेन अर्थमतिहेतुत्वेऽपि दीर्घकालावस्थायित्वाभावात् ।

एतेन 'यस्त्रस्थिर स सम्यग्धवलेन नार्थं प्रोचयति' इत्यादि<sup>२</sup> प्रत्याख्यातम्,

(१) पृ० ७०० पं० ६ । (२) तुलना—'ह्यस्तनाद्यतना सर्वे गोशब्दप्रत्यया इमे । नकार्या  
त्रमसम्भूते रूपगच्छान्बुद्धिवत् ॥'—तत्त्वसं० का० २४६५ । स्या० २० पृ० ६९० । (३) तुलना—  
'स्वाभाविकत्वावधारणयाप्यस्य यत्र तत्र प्रमिदस्य अत्रापि तुल्यत्वात् । न हि पयसि शत्यद्रव्ये तेजसि  
वा भास्वरत्वेऽप्यत्वे स्वाभाविके इत्यत्रा यत्प्रमाणं प्रत्यक्षात्'—स्या० २० पृ० ६९० । (४) उपात्ता  
न्धिधमस्य । (५) सत्ये । (६) तीव्रतीव्रतरादिधमस्य । (७) तीव्रतीव्रतरान्धिधमगूयाया । (८)  
विद्युत् । (९) उपात्तानुपात्तान्धिधमरहितं गुह्यम् । (१०) दाम्बापि । (११) पृ० ७०० पं० ७ ।  
(१२) पृ० ७०० पं० ८ । (१३) आह्वानादो अत्र गुल्यान्वितया—आ० टि० । तुलना—'चिन्मात्र  
कान्तिकत्वात्—स्या० २० पृ० ६९२ । (१४) पृ० ७०० पं० ९ ।

१ यदेवम् थ० । २-क्षति-थ०, व० । ३ विद्युत्तीव्रतमेति थ० । ४ श्रोत्रप्रत्यक्षप्र-थ०  
श्रोत्रप्रत्यक्षेण प्र-थ० । ५-न्य-स्वापि स्वप्नेऽपि थ० । ६ चोदयति व० ।



चेष्टाया मन्त्र-प्रलेन अर्थबोधकत्वेऽपि तादात्म्यनिमित्तत्वसम्भवात् । ततोऽयुक्तमेतत्-

“कञ्चित्काल स्थिर शब्द सैनकालमपि स्थिर ।

विनाशहेतुशून्यत्वात् सामान्याकाशकालवत् ॥” [ ] इति,

यत् कञ्चित्कालप्रस्थायित्वात् किम् उपलम्भकालावस्थायायित्वमभिप्रेतम्, अतीतवर्त्तमान कालावस्थायित्वात् वा ? प्रथमपक्षे चेष्टाया विद्युदादेश्च सर्वकालमपि स्थायित्वप्रसङ्ग , तथाविधमित्येवकालस्थिरत्वस्य तत्राप्यविशेषात् । अतीतवर्त्तमानकालावस्थायायित्वश्चास्ये न कुतश्चित् मिद्ध्यति इत्युक्त प्रागेव । हेतुश्चात्रासिद्ध , शब्दस्य कादाचित्कतया विनाश- हेतुशून्यत्वानुपपत्ते । यत् कादाचित्क न तत् विनाशहेतुशून्यम् यथा विद्युदादि, कादा चित्कञ्च शब्द इति ।

यदपि-‘विवादा’यासित कालो गादिसाब्दशून्यो न भवति’ इत्याद्युक्तम्, तदपि विद्युदादौ समानत्वादयुक्तम् । तथाहि-विवादाध्यासित कालो विद्युदादिशून्यो न भवति कालत्रात् तत्सन्धोपेतकालवत् । प्रत्ययवाधनम् उभयत्र तुल्यम् ।

यदप्युक्तम्-‘नित्य शब्द ततोऽर्थप्रतिपत्त्ययथानुपपत्ते’ इत्यादि, तदप्यभिचारितरमणीयम्, धूमादिवन्नित्यस्याप्यस्य सादृश्यतोऽर्थप्रतिपादकत्वोपपत्ते । न ररलु 15 ‘य ष्व सङ्केतकाले दृष्ट तेनैव अथप्रतीति कर्त्तव्या’ इति नियमोऽस्ति, महानसदृष्ट- धूमसदृशान्पि पर्तधूमाद् बह्विप्रतिपत्तिप्रतीते । न च पयतमहानसप्रदेशवर्तिथो धूमव्यस्त्योरैक्य सम्भवति, प्रतीतिनिरोधात्, सर्वस्य सर्वगतत्वानुपपन्नाच्च । अथ धूम- सामान्यस्य अत्र गमकत्वम्, शब्दसामान्यस्य अत्र वाचकत्व कित्र स्यात् ? ननु 20 शब्दसामान्यस्य वाचकत्वे शब्दस्य किमायातम् ? तर्हि धूमसामान्यस्याप्यनुमापकत्वे धूमस्य किमायातम् ? अथ धूमात्तस्योऽभेदात् तदनुमापकत्वे धूमस्याप्यनुमापकत्वम्, तर्हि शब्दात् तत्सामान्यस्याप्यभेदात् तद्वाचकत्वे तस्यापि वाचकत्वमस्तु अविशेषात् । अथ शब्दे सामान्यमेव नास्ति तत्तन्मस्य वाचकत्वमुच्यते, धूमेऽपि तर्हि तत्रास्ति तत्त्वस्य

(१) उच्चारणानन्तर यदुपलभ्यत स उपलम्भकाल-आ० टि० । (२) शब्दस्य । (३) तुलना- 'वाचाचित्त्वान्च गच्छे तत्सिद्धम् -स्या० २० प० ६९२ । (४) पु० ७०१ प० ३ । (५) तुलना- तपि विद्युदादौ तु यत्त्वान्युक्तम् -स्या० २० प० ६९२ । (६) गच्छे विद्युदादौ च । (७) पु० ७०१ प० ४ । (८) तुलना- अनित्यत्वेऽपि सादृश्यापात्नने सत्यप्रतिपत्तेर्भावात् । तत्र यत्र गकारी कारविसजनीयानामित्यम्भूतानपूर्वामुपलभत तत्र तत्र गोल्वविगिष्टोऽथ प्रतिपत्तय प्रतिपादयितव्य 'चनि सङ्केतग्रहे सति तयाविष गच्छेमुपलभमान तमथ प्रतिपद्यते प्रतिपादयति चेति ।'-प्रश० ध्यो० पु० ६४९ । धूमात्तद्वदनित्यस्यापि गच्छेत्य अवगनसम्बन्धस्य सादृश्याऽप्यप्रतिपादकत्वसम्भवात् । - प्रमेयक० पु० ४०९ । समति० टी० प० ३३ । स्या० २० पु० ६९२ । प्रमेय० ३ । १०० । (९) यानि महान सोपल-ध्व धूमव्यक्ति पक्वनेऽपि स्यात्तदा । (१०) धूमसामान्यस्य । (११) शब्दसामान्यस्य शब्दत्वस्य ।

गमकत्वमुच्येत ? अथ तद्वेदस्य प्रमाणसिद्धत्वात् 'धूमो धूम' इत्यसन्दिग्धाऽप्राध्यमानाऽनुगतप्रतीतिदर्शनात् अस्ति तत्र तत्, तदेतद्व्यत्रापि ममानम् । ननु शब्दव्यक्तीना प्रत्यक्षतो भेदप्रसिद्धे तत्र इष्टमेव शब्दत्वसामान्यम्, गानीना तु एकैकव्यक्तिकत्वेन भेदाभावात् तत्र गत्वादिसामान्यं सभजतीति तत्र तस्य वाचकत्वाभावात्, तदप्यसाम्प्रतम्, तेषामपि उपात्तादिभेदतो नानाव्यक्तिरूपसभवाद् गत्वादिसामान्यसद्भावात्पक्षे । 5  
'ध्वनिधर्मा एव उपात्तान्य' इति च मनोरथमात्रम्, तेषां तद्वर्त्मत्वस्य प्रागेव कृतोत्तरत्वात् । ततोऽनित्यपक्षेऽपि इत्थं शब्दार्थप्रतिपक्षरूपक्षे नार्थापत्तितोऽपि तन्नित्यत्वसिद्धिः । अतोऽयुक्तमुक्तम्—“अर्थापत्तिरियं चोक्ता” [ मी० श्लो० ] इत्यादि । प्रसाधितञ्च नित्यमन्वन्धपरीक्षासरे अनित्यत्व एव शब्दस्य वाचकत्वमित्यलमतिप्रसङ्गेन ।

वचनान्यदुक्तम्—‘सादृश्यस्य त्रिचार्थमाणस्यानुपपत्तेः’ इत्यादि, तदप्यनल्पतमो- 10  
विलसितम्, तस्य आवाल्मनात्प्रतीतिगोचरचारितया अपह्नोतुमशक्यत्वात् । एकस्य हि स्वसामग्रीतो यादृश परिणाम तादृश एवापरस्य सादृश्यं यमलङ्घ्यत् । तच्च व्यक्तिसंभो-  
भिन्नमभिन्नञ्च सामान्यपरीक्षाप्रघट्टके सप्रपञ्च अपञ्चितमिति कृतं पुनः प्रसङ्गेन ।  
ततो यद् यद्रूपतया कृतञ्चिदपि प्रमाणान्न प्रतीयते न तत्तद्रूपतयाऽभ्युपगन्तव्यम् यथा  
जगद् अद्वैतरूपतया, सर्वथा नित्यस्वभावतया न प्रतीयते च कुतश्चित्प्रमाणात् शब्द- 16  
इति । तदन्नित्यत्वभावताया तु प्रमाणसद्भावात् तद्रूपतयाऽसौ अभ्युपगन्तव्यः ।

तच्च प्रमाणम्—अनित्यं शब्दं कृतकत्वात्, यत्कृतं तदन्नित्यं ऋ यथा घटः, कृतकश्चायमिति । न चेत्प्रमाणसिद्धम्, तथाहि—कृतकं शब्दं, कारणान्वयव्यतिरेकानु-

(१) महानमोपपत्तीयादिभिरन धूमव्यक्तीनामनक्तत्वादस्ति तत्रानुगत धूमत्वात्स्य सामान्यम् गादिगणस्तु एकं अतः कथं तत्र शब्दत्वम् व्यक्तरभदस्य जातिबाधकत्वादित्याशयान् गच्छत अथनि ।  
(२) धूमत्वात्स्य सामान्यम् । (३) गत्वादी । (४) गादीव्यक्तीनामपि । (५) उदात्तादीनाम् । (६) पृ० ७०२ प ९ । (७) तुलना—“स्वहेतोरेवस्य हि यादृश परिणाम तादृश एवापरस्य सादृश्यं न तु स एव । स च व्यक्तिसंभो भिन्नो भिन्नश्च ।”—प्रमेयक० पृ० ४११ । (८) पृ० २८९ । (९) तुलना—‘नित्यत्वेऽपि शब्दानां सर्वेषां स्यात् सकञ्चुति । समाक्षप्रहमागत्वात् व्यापिना समवस्थिते ॥ तत्कृतमुपकारमात्म सांख्येन तद्देसात्प्रतिनियमात् कृतस्यस्य न समवति । स्वगतत्वोऽपि विवक्षितकशब्दध्वनिन स्यात् ॥’—सिद्धिदि० पृ० ५५४ । “स्वतंत्रत्वे तु शब्दानां प्रथमो नथको भवेत् । व्यक्तकारणविच्छेदसम्भारादि विरोधतः ॥ वक्षान्तिस्वरधारया सकुलं प्रतिपत्तिन । क्रमेणागुप्रहेऽयुवन सद्बुद्धप्रहणविभम । तान्वा न्तिप्रधानेन शब्दोऽयं यदि जायते । को दोषो येन नित्यत्वं पुनश्चिन्वकन्त्यते ॥”—प्रायवि० का० ४२२ प ४ । (१०) तुलना—‘अनित्यं शब्दं इत्युत्तरम् । कथम् ? आदिमत्त्वाद्द्वयवत्त्वात् कृतकबुद्धुपकाराच्च ॥ आदिर्योनिं कारणम् ध्यायीते अस्मान्ति । कारणवदनित्यं दृष्टम् । समीगविभागश्च कारणवत्त्वादनित्य इति । का पुरारियमयदेशना कारणवत्त्वात्ति ? उत्पत्तिघमकत्वात् नित्यं शब्दं इति, भवात् न भवति विनाऽयमक इति । सांघिकमेतन्—किमुत्पत्तिकारणं समीगविभागो गत्स्य आहोऽन्वित्यव्य-

१ भेदसिद्धे श्र० । २-कत्वे भेदा-श्र० । ३ यथा च जगत् श्र० । ४ नित्यत्वश्च-श्र० ।  
५ कृतस्येतिप्रमा-श्र० । ६-तर्पं यथा व० ।

प्रिधायित्वात्, यदित्य तदित्य यथा घट, तया च शब्द, तस्माच्चयेति । नचेदमप्य-  
मिद्धम्, ताल्पान्तिप्रणव्यापारे मत्येन अस्यात्मलाभोपलम्भात् तदभावे चानुपलम्भात्  
भ्रष्टादिकारणव्यापारभावाभावायो घटस्य आत्मलाभाऽलाभोपलम्भवत् । न च तद्व्या-  
पारे तदभिव्यक्तेरेव आत्मलाभो न शब्दस्य इत्यभिधानव्यम्, तस्या प्रागेव प्रपञ्चतोऽ  
पास्तत्वात्ति ॥३॥

तदेव घर्णानां पौष्पेयत्प्रसिद्धौ पदवाक्यागमनायासत तत्प्रसिद्धयति तदौ-  
त्मकत्वात्तेषाम् । न वस्तु लौकिकानां तेषां तैसिद्धि न वैदिकानामिति चेत्, न, तद्व्य-  
-तवैलक्षण्यप्रतीते । 'य एव हि लौकिका शब्दा त एव वैदिना' [ गाबरभा० १।३।३० ]  
इत्यभ्युपगमव्याघातप्रमद्वाच । नदपौष्पेयत्प्रमायत्प्रमाणाभावाच्च, न च तदभावोऽ-  
सिद्ध, यत तत्प्रमाधिक प्रमाण प्रत्यक्षम्, अयद्वा भवेत् ? न तावत्प्रत्यक्षम्, तस्य  
शब्दस्वरूपमात्रग्रहणे चरितार्थत्वेन तत्पौष्पेयत्वाऽपौष्पेयत्वग्राहकत्वाऽसम्भवात् ।

क्विकारणमित्यत्र आह-एद्रियकत्वा इद्रियप्रत्यासत्तिग्राह्य एद्रियक । किमय व्यञ्जकेन समानेषोऽ  
मिध्ययने रूपादिवत् अय मयोगजाच्छ-गच्छ-सन्तान सति श्रोत्रप्रवासनो गृह्यते र्णि ? मयोगनि  
वत्तो शब्दप्रहणात् व्यञ्जकं समानेणस्य ग्रहणम् । शब्दश्चन दारपरगुमयोगनिवत्तो दूरस्थेन शब्दे  
गृह्यते न च व्यञ्जकाभावे 'यद् व्यग्रहण भवति तस्मात् व्यञ्जक सयोग इत्यत्र गच्छ उत्पद्यते  
नाभिव्ययते वृत्तवदुपचारात् । तीव्र मन्मिति वृत्तकमुपचयन नीत्र सुख मद सुख तीव्र दुःख  
मद दुःखमिति उपचयत च तीव्र गच्छे मद शब्द र्णि । -न्यायसू० भा० २।२।१३। 'अनित्य  
गच्छ नीत्रमन्मिपयत्वात् दुःखवदिति वृत्तवदुपचारात्त्येन मन्मत्र सवानित्यत्वसाधनवगसग्रह  
वृत्तवग्रहणस्य उपाहरणात्त्वान् । यथा मामाविषाणवत्तोऽस्मन्निदिवाह्यकरणप्रत्ययत्वात् उपल  
भ्यस्य अनुपलब्धिकारणाभावे समनपल्लव गणस्य सन्तोऽस्मन्निदिवाह्यकरणप्रत्ययत्वात् इत्यव  
मात्ति । -न्यायवा० प० १९० । तत्रैवन्तीवादिभदमित्वात्सुखान्तिवदनित्यत्व शब्दानाम् । व्यञ्ज  
कानुपगमो चाभूत्मा भवनस्योपलब्धे कायत्वात्नित्यत्व घटान्वित् । तथा परमात्मगुणायत्वे सति  
व्यापकविष्णुगुणत्वात् सुखान्वित् । -प्र० ४० प० ६४९ । अतो यत्नजनितवर्णाद्यात्मा श्रवण  
मध्यस्वभाव प्राक् पश्चादपि पुद्गलानां नास्तीति तावानव ध्यनिपरिणाम । -अष्ट० १०, अष्टसह०  
प० १०८ । परिणामी गच्छ वस्तु वा यथानुपपत्त । -तत्त्वायश्लो० पृ० ६ । 'अनित्य शब्द  
लौकिकान्तिधर्मिणवान् सुखत्वात्नित्यत्वात् -रत्नाकराव० ४।९। 'तस्माद्दर्शो न नित्यो नित्यो वा  
सत्त मयुत्तमित्वात् अस्मन्निदिवाह्यत्वात् सति जानिमत्वात् अस्मन्निदिप्रत्यक्षगुणत्वात्  
आमकत्वप्रत्ययत्ववपम प्रत्यक्षविष्णुगुणत्वात् व्यापकसम्बन्धप्रत्ययविष्णुगुणत्वात्, अनन्तमप्रत्यक्ष  
गुणत्वात् अध्यायवृत्तित्वात् बहिरिन्निपव्यवस्थाहेतुगुणत्वात् भूतप्रत्यक्षगुणत्वात् उत्तरप्रापकपण्य  
प्रवृत्तिनिमित्तजातिमत्त्वात्त्यात्ति । -तत्त्वधि० गच्छ० प० ४६० ।

(१) घटस्य । (२) तात्पान्तिव्यापार । (३) वर्णित्वव्यापकत्वात्मानाम् । तुलना- यथा  
च यथा एव न निदास्तथा क्व क्वया पुरुषविवसाधीनानुपुष्यान्निदिवाह्यवणसमूहरूपाणा पदाना  
वृत्तस्वरूपं तस्मद्गुणस्य वाक्यस्य वृत्तस्वरूपं तस्मद्गुणस्य वेत्त्यपि -तत्त्वधि० गच्छ० पृ० ४६४।  
(४) पञ्चात्मनाम् । (५) लौकिकवृत्तिसिद्धिः । (६) तयो लौकिकवृत्तिपञ्चात्मनाम् । (७)  
उद्गतमित्म-सामनि० टी० पृ० ३० । तोतातित० प० १३४ । भाट्टि० प० ४१ ।

किञ्च, अनादिसत्त्वस्वरूपमपौरुषेयत्वम्, तत्कथम् अन्यप्रमदवत्प्रमदमिति चेत् ।  
अक्षाणा प्रतिनियतरूपादिगोचरचारितया अनादिकालेनाऽसम्बन्धान् वेदप्रमद-  
सत्त्वेनाप्यसम्बन्धत तज्ज्ञानाऽहेतुत्वात् ।

ननु मा भूत् प्रत्यक्षतस्तदपौरुषेयत्वसिद्धिः, अनुमानान्तु ना न विद्यति ।

वेदस्य अपौरुषेयत्व- नुमानम्-अपौरुषेयो वेद कर्तुं स्मरणो न्ने मतिः  
मुररीकुर्वतां मीमास- कर्तृकत्वाद् व्योमवत् । न चायमसिद्धः, वेदकर्तुं कर्तृकत्वं  
काना पूर्वमज्ञ- स्मरणाभावात् । सतश्चास्थै तदर्थानुष्ठानममये अनुष्ठान-  
प्रामाण्याना तत्प्रामाण्यप्रसिद्धये स्मरण स्यात् । ये हि यदर्थानुष्ठाने प्रवर्तन्ते ते

(१) तुटना-“अनादिसत्त्वस्वरूपञ्च अपौरुषेयत्व कथमसप्रमदवत्प्रमदमिति चेत् ।

प० ३९१। (२) अनादिकालः । (३) अनादिसत्त्वस्वरूपाऽपौरुषेयत्वानाकारान्त्वात् । (४) अनादिसत्त्व-  
त्वात् सम्बन्धस्य सिद्धमिति । कथं पुनरिदमवगम्यत अपौरुषेय एव सम्बन्धः ।  
भावात् । कथं सम्बन्धा नास्ति ? प्रत्यक्षस्य प्रमाणस्याभावात् तत्पूर्ववन्दान्त्वात् ।  
त्वात्प्रत्यक्षस्याविषयो भवेद्विदानीन्तनानाम् । न हि चिरवृत्तं सन्न स्मर्यते । न च  
मादिवत्स्मरणं भवितुमर्हति, पुरुषविद्योगो हि तेषु भवति देवोत्सादनं कुर्वन्तः ।  
विद्योगं पुरुषाणामस्ति । स्यादेतत्-सम्बन्धमात्रव्यवहारिणो निष्प्रयत्न-  
विस्मरेयुरिति, तत्र, यदि हि पुरुषं कृत्वा सम्बन्धं व्यवहारयत् ।  
भवति । सप्रतिपत्ती हि क्व व्यवहर्त्रोरथ सिद्धयति न विप्रतिपत्ती । न  
वहरत आदश्च प्रतीयरत पाणिनिवृत्तिमननुमन्यमानस्य वा । तथा  
स्त्रियश्च प्रतीयेत पिङ्गलवृत्तिमननुमन्यमानस्य वा । तत्र कर्तृव्यवहारात्  
व्यवहारदभिरवश्यं स्मरणीयं सम्बन्धस्य कर्ता स्यात् व्यवहारस्य च ।  
न कृत्वा सम्बन्धं व्यवहाराय केनचिद्ब्रूयात् प्रणीता इति । तस्मान्ना-  
-शास्त्रभा० १।१।५। प० ५३ । चहती० प० १७७ । 'यदा चाप्त-  
न स्वशक्त्या तदाप्तत्वं मितो न स्मर्यते कथम् ॥ यदा हि विदितं  
प्रतिपादनाय वदवाक्यानि कृतवान् तदाऽवश्यमसौ सम्बन्धस्य कर्ता,  
नात्मकं व्यवहारं करोतीति समयव्यवहारयोरेवकर्तृत्वं प्रतिपत्ति-  
प्रतिपद्यमानानामवश्यं वाक्यकर्तृत्वात्प्रतिपत्तिभिः स्मृतव्यम्, त-  
प्रतिपद्यमाना समयवर्तारं तेन सह वेदकर्तृकत्वं तस्य चाप्तत्वं  
मा वामूतं कर्तृप्रतिपत्तता । वैदिको व्यवहारस्तु न कर्तृस्मरण-  
नाम समयकर्तृ व्यवहारकर्तृश्च सप्रतिपत्तिर्भूत्, वेदेऽपि प्रतिपत्ति-  
नाम । व्यवहारस्तु योऽग्निहोत्राद्यनुष्ठानात्मकं सोऽप्युष्टार्यो वा-  
त्स्मरणे सिद्धयेत् तदवश्यं स्मृतव्यस्य वेदानां सम्बन्धानाञ्च  
दभावोऽवधारिते सिद्धं वेदानां सम्बन्धानाञ्च नित्यवर्धमित्याह-  
सम्बन्धा० श्लो० १२३, १३० । "कथं पुनरपौरुषेयत्वं वदन्तान् ?  
पं० पृ० १४० । "कर्तृस्मरणान्वापौरुषेयत्वम्" -भाट्टदी० प० १०  
सत्यस्मरणाद् योगानुपलक्षितिरस्तस्य कर्तृनुमानासम्भवात्  
वन्ता इति ।' -शास्त्रदी० प० ६९ ६१६ ।

तच्छास्त्रकर्तारमनुस्मरन्ति यथा अष्टवागर्थानुष्ठानार्थिन तत्त्वणेनार मनुम्, वेदविहिता-  
 र्थानुष्ठाने बहुवित्तव्ययायाससाध्याऽप्रिष्टोमादिकर्मश्रणे प्रवर्त्तते च प्रेषापूर्यकारिण ,  
 अतस्तेषा महती तत्कर्त्तृस्मरणापेक्षा । तेहि अष्टष्टफलेषु कर्मसु एव नि मशया प्रवर्त्त  
 रन् यदि तेषा तद्विषय सत्यतानिश्चय स्यात् । न चासौ तदुपदेष्टु स्मरणाभावे षट्ते  
 5 पित्राहुपदेशनत् । यदैव हि पित्रादिकमुपदेष्टार स्मृत्या स्वयमष्टष्टफलेष्वपि कर्मसु तदुप-  
 देशात् 'पित्रादिभिरेतदुपदेष्ट तेनाऽनुष्ठीयते' इति, एव वैदिकेष्वपि कर्मसु अनुष्ठीय-  
 मानेषु कर्त्तु स्मरण स्यात् । न चाभियुक्तानामपि वेदार्थानुष्ठानात् त्रैवर्णिकाना तस्म-  
 रणमस्ति, अतोऽसौ तत्र नास्तीति निश्चीयते ।

त्रिभ्रमूलत्वाच्च तत्र कर्त्तृस्मरणाभाव । स्मरणस्य हि अनुभवो मूलम्, न चासौ  
 10 वेदे कर्त्तृस्मरणयत्नेन विद्यते तत्स्थ तत्स्मरणमभावनाशङ्काऽपि ? न च रचनावचनेन  
 अत्र भारतादिवत् कर्त्तृसङ्गानप्रसिद्धेर्नास्य त्रिभ्रमूलत्वमित्यभिधातयम्, वेदरचनया  
 कर्त्तृपूर्वस्मरणान्प्रिलक्षणत्वात् । न च रचनामात्रस्यात्रोपलम्भात् कर्त्तृनुमान युक्तम्,  
 जगतो बुद्धिमद्वैतत्त्वानुमानानुपपन्नतोऽनिष्टसिद्धिप्रसङ्गात् । अतो चादृशी रचना कर्त्तृ-  
 यव्यतिरेकानुविधायिनी प्रतिपत्ता तादृश्येव परिदृश्यमात्रा कर्त्तारमनुमापयति इत्यभ्यु  
 15 पगत्यम् । तत्स्थ वेदे तत्र कर्त्तृनुमानशङ्काऽपि सभाव्यते ? अतो वैदिकी रचना  
 अपौरुषेयी दृष्टकर्त्तृस्मरणान्प्रिलक्षणत्वात् आशयान् इति । तथा—

“वदाध्ययन सर्वं गुणध्ययनपूर्वकम् ।

वदाध्ययनान्यत्वादधुनाऽध्ययन यथा ॥” [ भी० दलो० वाक्यादि० दला० ३६६ ]

(१) कर्त्तार । आग्रहायण्या ऊर्ध्व कृष्णाष्टमोषु दिनषु क्रियमाण दिनधाढविणय । तथा च  
 मनुवचनम्— 'पितृवचवाप्टकास्वर्चते'—मनुस्मति० ४।१५० । (२) अनुभव । (३) 'विष्णवने मत्वपि  
 कश्चित्तुपकताञ्चनान्प्रत्यय न तु वचनस्य मिय्यात्वे विश्वेन प्रमाणमस्ति । ननु सामान्यतो दष्ट  
 पौरुषं वचन विनयमुपस्य वचनसाम्यान्दिमपि वितयमवगम्यते न अयवात् । न ह्ययस्य वितयभावे  
 अयस्य वतस्य भवितुमर्हति अयत्वात् । न हि देवत्तस्य श्यामत्वे यज्ञत्तस्यापि श्यामत्व भवितुमर्हति ।  
 —आशरभा० १।१२ । वाक्यत्वात् पौरुषयत्वं दुश्यान्तान्नाधिनम् । प्रतिहेतुविद्वद्वच हेतु तस्मात्कृ  
 त्रिमा ॥'—शास्त्रदी० पृ० ६१५ । प्रकृष्ट हि वचन कस्यचिन्नेव कृत्रचिदेव तावत्सघातमकत्वं न पौरुषय  
 तामनुमापमिनुपलम् वदाधविषयवाक्यरचनासामर्थ्यानिपपत्त य एव हि पदमघाता पौरुषय विरचयितु  
 शक्यन्ते तत्रच पौरुषयत्वं दष्टमित्येव वाक्यविरचनषु पौरुषयत्वानुमान न प्रमते । न च पौरुषयत्वं विना  
 पत्रमघातामकत्वं नापचयते उच्चारणवचन हि पत्रानि सहततामापद्यते । —प्रक० प० प० १८—१९ ।  
 तत्ररह० पृ० ४३ । (४) रचनामात्रात् । (५) उक्तं तु शब्दपुषत्वम् । उक्तमस्माभि शब्दपुषत्वमध्ये  
 तृणाम् ॥'—जमिनिपृ० आशरभा० १।१।३० । वदस्य कर्त्तृस्मरणम् वेदाधस्यातीत्यत्वमित्येवमाहि  
 तुमिरध्यतृणामनानिप्रवृत्ताना शास्त्रपूर्वं उच्चारणान्तरपूर्वां वेदो न केनचिच्चिन्तयित्वा प्रवर्त्तित इति अकृ  
 तकत्वहेतोरुक्तत्वात्—मीमासाभा० प० प० ७८ । सप्रतिसाधनस्य वाक्यत्वात् इति । विवादाध्यासितं  
 वेदाध्ययनं ग्वध्ययनपूर्वकं वेदाध्ययनत्वात्ततनाध्ययनवदिनि । तस्मिन्माह सूत्रकार— उक्तं तु शब्दपुष

“अतीतानागतौ कालौ षडकारविवर्जितौ ।

कालत्वात्तद्यथा कालो वर्तमान समीक्ष (इय) ते ॥” [ ]

इत्यतोप्यस्य अपौरुषेयत्वसिद्धि । नन्वाप्तप्रणीतत्वाभावे कथमस्य प्रामाण्य स्यादिति चेत् ? ‘अपौरुषेयत्वादेव’ इति नूनम् । वैचनस्य पुरुषदोषानुप्रवेशेनैव अप्रामाण्य-प्रसिद्धे † । तदुक्तम्—

5

“शब्दे दोषोद्भवस्तावद् वचनधीन ईति स्थितम् । तदभाव क्वचित्तावद् गुणवद्वर्कृतत्वात् ॥ तद्गुणैरवदृष्टानां शब्दे सक्रात्यसमवात् । यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दापा निराश्रया ॥” [ मी० श्लो० चोदना० श्लो० २६, ६३ ]

न च आप्तगुणसत्रात्तैव शब्दस्य प्रामाण्यम्, वेदे च आप्तप्रणीतत्वाभावे तत्सन्धान्त्यसमवात्र प्रामाण्यमित्यभिधातव्यम्, यतो नात्र आप्तगुणसत्रान्त्या प्रामाण्यम् 10 शब्दोच्चारणमात्रे तस्य व्यापारात्, शब्दस्तु स्वमहिम्नैव अवितथामर्थप्रतिपत्ति कुर्वाण प्रमाणम् । न वैवमनाप्रस्यापि तदुच्चारणमात्रे व्यापारात् शब्द स्वमहिम्नैवासत्यप्रतीति कुर्वाण अप्रमाणमित्यभिधातव्यम्, अनाप्तप्रणीतत्वादिदोषाणाम् अप्रामाण्योत्पादना-दन्यप्रयोजनाभावात्, आप्तप्रणीतत्वादिगुणानां तु दोषापसारणे व्यापारात् स्वतः प्रामाण्य

त्वम्’ इति । शब्दशब्देनात्र शब्दजयमध्ययनम् । तदयमर्थ—सवपुसामध्ययनमध्ययनान्तरपूर्वकम् सर्वे हि यत्र गुणोऽधीत तथवाघिजिगासन्ते न पुन स्वातन्त्र्येण कश्चिदपि प्रथमोऽध्ययता वेदानामस्ति य क्ता स्यात् तस्मात्पौरुषेया वेदाः ।—शास्त्रद्वी० पृ० ६१७ । “विमत वेदाध्ययन परतत्राध्येतुक वेदाध्ययनत्वात् सम्प्रतिपन्नाध्ययनवत्, आत्मत्व वेदकतव्यकिनसमवेत न भवति जानित्वात् गौत्व-चदिति प्रतिहेतुविरुद्धञ्च वाक्यत्वम् ।”—मानमेयो० पृ० १७३ । उद्घृतोऽयम्—प्रमाणवा० स्वयं० टी० पृ० ३३८ । ‘पापम० पृ० २३३ । ‘तदध्ययनपूर्वकम्’—अष्टसह० पृ० २३७ । तत्त्वस० पृ० ६४३ । प्रमेयक० पृ० ३९६ । समति० टी० पृ० १३७ । स्या० २० पृ० ६२७ । विश्वतत्त्वप्र० पृ० ३३ । ‘तदध्ययनपूर्वकम्’—प्रमेय० ३१९९ । रत्नाकराव० ४१९ ।

(१) ‘वेदकारविवर्जितौ—प्रमाणवा० स्वयं० टी० पृ० ३३८ । तत्त्वस० पृ० ६४३ । ‘वेदकारविवर्जितौ—प्रमेयक० पृ० ३९८ । समति० टी० पृ० ३१ । स्या० २० पृ० ६२७ । विश्वतत्त्वप्र० पृ० ३४ । प्रमेय० ३१९९ । रत्नाकराव० ४१९ । (२) वेदस्य । (३) ‘विष्णवे हि स्वल्पवि वदित्पुरुषकनाद्रुचात् प्रत्यय, न तु वेदवचनस्य मिथ्यात्वे विष्णुव प्रमाणमस्ति ।”—गावरमा० पृ० १७ । (४) ‘इति स्थिति’—मी० श्लो० । स्या० २० पृ० ६२७ । रत्नाकराव० ४१९ । प्रतपाठ—न्यायप० पृ० १६७ । प्रमाणप० पृ० ७८ । तिद्धिवि० टी० पृ० ४०६A । प्रमेयक० पृ० ३९७ । समति० टी० पृ० १९ । प्रमेय० ३१९९ । (५) चाञ्च प्रत्यये । (६) आप्तस्य । (७) “तस्माद् गुणभ्यो दोषाणामभावस्तदभावेन । अप्रामाण्यद्वयासत्त्वं तेनोत्सर्गोऽनपोदित ॥ तत्रापवादनिमुक्तिवचनभावात्लघीयसी । वेदे तेनाप्रमाणत्व नागङ्कामपि गच्छति । अतो वचन धीनत्वात्प्रामाण्ये तदुपासनम् । न युवन्म, अप्रमाणत्वे बल्पे तदुपाधना भवन् । तदन्वाप्ताऽप्रणीतत्वं न दोषायात्र जायते ।”—मी० श्लो० चोदना० श्लो० ६५ ७० ।

1—स्या प्रथा आ०, प्र० । 2—स्वमिति नत्रा—य० । [एतन्तग्न पाठो नास्ति आ० । 3—चाप्त प्रणीतकालाभावे—य० । 4—शब्दो आ० । 5—वतृत्वंत थ० । 6—शब्दसत्रा—थ० । 7—नाप्तगुण—य० ।

वेदे आत्मानात्प्रणीतत्वाभावात् प्रामाण्यमप्रामाण्य वा, इत्यप्यसु-दरम्, यत्र हि पुरुष-  
कृता पदानुपूर्वी तत्र तदपेक्ष प्रामाण्यमप्रामाण्य वा स्यात्, वेदानुपूर्व्यास्तु नित्यत्वात्  
स्वामात्मनैवार्थावबोधकत्वात् तन्निरपेक्ष प्रामाण्यम् । नहि तादृशीमानुपूर्वी कश्चित्  
कर्तुं क्षम अन्यत्राऽभिव्यक्ते । पूर्वमिद्वानुऽपूर्वीतोऽपूर्वानुपूर्वीकरणे च कस्यचित् स्यात्-  
यासभवात् । कुर्वाणो वा तां तदध्येतृभिर्नैवैवा निवार्यते । उक्तञ्च-

“अन्यथाकरणं चास्य बहुभ्य स्यान्निरायेणा ।” [मी० श्लो० चोदनाम्० श्लो० १५०] इति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘कर्त्तुं स्मरणयोग्यत्वे सति अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्’

वेदानुपूर्व्यत्वस्य इत्यादि, तदसमीचीनम्, यत्र किमिदम् अस्मर्यमाणकर्तृकत्वनाम-  
प्रतिविधानम्— किं कर्त्तृस्मरणाभाव, अकर्तृकत्व वा ? प्रथमपक्षे व्यधिकरणासिद्धौ

हेतु, कर्त्तृस्मरणाभावो हि आत्मनि वर्तते अपौरुषेयत्व तु वेदे इति । अज्ञानासिद्धञ्च,  
तद्ग्राहकप्रमाणात् । नहि प्रत्यक्ष तद्ग्राहकम्, प्रतिनियतरूपादिगोचरचारितया  
अभावे तस्य प्रवृत्त्यसभवात् । सभवे वा अभावप्रमाणकल्पनाऽनर्थक्यम् तत्साध्यस्य  
अध्यक्षादित एव प्रसिद्धे । अभावप्रमाणात्तस्मिद्धौ तु तत्र तदुत्पत्तौ कारण वान्यम्,  
निष्कारणस्य सार्थस्योदयानुपपत्तेः ।

“गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मत्त्वा च प्रतियोगिनम् ।

मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽज्ञानपक्षया ॥” [मी० श्लो० अभाव० श्लो० २७]

इति तत्कारणमस्तीति चेत्, ननु अतः प्रादुर्भूतमभावप्रमाणं तदभाव निराश्रयम्, साश्रय  
वा प्रसाधयेत् ? न तावन्निराश्रयम्, ‘गृहीत्वा वस्तुसद्भावं’ इत्यभिधानात् । अनेन हि  
नियेध्यावारवस्तुसद्भावं अभिदधता भूतेन नियेध्याभावाश्रयं सूचित एव, अथवा प्रति-  
नियतवृत्तितया कर्त्तृस्मरणाभावासिद्धिर्नोऽतिदुर्लभा । यन्निराश्रयं न तत् प्रतिनियतवृत्ति-  
यथा आकाशम्, निराश्रयञ्च भवद्भिरभिप्रेतोऽभावप्रमाणात्प्रसिद्धञ्च कर्त्तृस्मरणाभाव इति ।

(१) पौरुष्यं तु वचन प्रमाणान्तरमूहता । तन्भावे हि तत्र दुष्यदितरन्नं कदाचन ॥ —मी०  
श्लो० चोदना० श्लो० ७१ । (२) पुरुषगुणनिरपेक्षम् । (३) पूर्वानुपूर्वीतो विलक्षण आनुपूर्वी । (४)  
विशेषणोऽन्वयानुपूर्वीम् । (५) निवारणम्—मी० श्लो० १ प्रहृतपाठ—स्मर्य० २० पृ० ६२८ । (६)  
५०७२१५०५ । (७) तुम्हाना— किमिदं कर्त्तृस्मरणं नाम कर्त्तृस्मरणाभाव अस्मर्यमाणकर्तृकत्व वा ?  
—प्रमेयक० पृ० ३२२ । (८) अपौरुषेयं न कर्त्तृस्मरणात् इत्यत्र प्रयोग ह्येवमधिकरणत्वदोषात् ।  
—सप्तमि० टी० पृ० ४१ । (९) तत्रास्मर्यमाणकर्तृकत्वमसिद्धम् तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् । —  
स्या० २० पृ० ६२९ । (१०) अभावप्रमाणन क्रियमाणस्य अभावज्ञानस्य । (११) कर्त्तृस्मरणाभा-  
वासिद्धौ । (१२) अभावप्रमाणोत्पत्तौ । (१३) द्रष्टव्यम्—५०४६४टि० १ । (१४) कर्त्तृस्मरणाभावम् ।  
‘नन्वत्र प्रादुर्भूतमभावप्रमाणं तदभाव साध्यमेव प्रसाधयेत् गृहीत्वा वस्तुसद्भावमित्यभिधानात् ।’—  
स्या० २० पृ० ६२९ । (१५) गृहीत्वा वस्तुसद्भावमिति दशोक्तान । (१६) नियेधस्य च अभाव  
स्य आश्रयः । (१७) अभावप्रमाणात् ।

१-नैवावबोध-व० । २-स्वाश्रय-व० । ३-श्रयि व्यसते आ० । ४ पूर्वं ति-व० । ५ अन्य  
निवा-आ० । ६ बहुभि ध० । ७ निवा-आ० । ८ नियेध्याध्व व० ।

अथ साश्रयोऽसौ प्रसाध्यते, ननु कोऽस्य आश्रय — स्वात्मा, सर्वप्रमातारो वा ? यदि स्वात्मा 'अमुष्मिन्मदीय आत्मनि वेदकर्तृस्मरण नास्ति' इति, किमेतावता सिद्धम् ? पदार्थजातस्य अनेकस्य अत्र स्मरण नास्ति, न चैताग्रता तस्याभाव सिद्ध्यति । ममानुष्ठातुरवश्य स्मर्त्तव्योऽसौ, यदा स्मृतिपथप्रस्थायी न भवति तदाऽसन्, इत्यप्यसारम्, भवत्स्मरणाभावमात्रेण अर्थाभावाऽसिद्धे । तस्य स्वयं निहितेऽनश्य स्मर्त्तव्ये कचिद् द्रव्यान्तौ त्रिद्यमानेऽपि सद्भावेन अनेकातात् । तथा व्याधितेन उपयुज्यमानमौपध स्वयं धृत महत्यामप्यर्थिताया न स्मर्यते, नचैताग्रता तस्याऽमात्र इत्यनेन चाऽनेनान्त । अथ सर्वप्रमातार, ननु 'त्रैलोक्योदरवर्तिन प्रमातारो वेदकर्त्तार न स्मरन्ति' इत्यसर्वविदो वेदानुपपत्ति । उपपत्तौ वा सर्ववेदित्प्रसङ्ग ।

किञ्च, सर्वप्रमातृदेशान् गत्वा ताश्च पृष्ठा तत्र स्मरणाभाव प्रतीयेत, अन्यथा वा ? न तावदन्यथा, "गतां गता तु तान् देशान्" [मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३८] इत्यस्य विरोधानुपपत्तात् । गत्वा चेत्, ननु तत्र तेषु पृष्ठेषु 'न स्मराम' इति प्रतिवचनञ्च श्रुवाणेष्वपि क समाश्वास पुरुषवचसामप्रामाण्येन अर्थतथाभावानुपपत्ते ? न च सर्वेषामामानताप्रतिपत्तिरस्ति, यत तद्गुणसकान्त्या तत्र प्रामाण्य स्यात्, तत्प्रतिपत्तेरेव असर्वविदो युगपत्क्रमेण चाऽसभवात् ।

किञ्च, अभावप्रमाणस्य तत्र प्रवृत्ति यत्र वस्तुसत्तावबोधक प्रमाणपञ्चक न प्रवर्तते ।

"प्रमाणपञ्चक यत्र वस्तुरूपे न जायते ।

वस्तुसत्त्वानुबोधार्थं तत्रामानप्रमाणात्तौ ॥" [ मी० श्लो० अभाव० श्लो० १ ]

(१) कतस्मरणाभावस्य । 'अपि च किमसापजनस्मरणविनिवृत्तिरिह हेतुस्त्वेन विवक्षिता, आहो म्वित् कतिपयपुरुषस्मरणविनिवृत्ति । तद्यदि सकलजनस्मरणविनिवृत्ति, तदासिद्धा, अवधारयितुमशक्यत्वाच्चावर्गभागविन्मि । अवधारणे वा त एव सवज्ञास्य अवर्गभागविदो न भवेत् । अथ कतिपयपुरुषापेक्षया, तदाऽन्यकान्तिको हेतु, विद्यमानकर्तृष्वपि कर्ता न स्मर्यत कश्चित् ।'—तरुषोप० पृ० ११७ । 'आश्रयस्त्वारय स्वात्मा सर्वप्रमातारो वा—स्या० २० पृ० ६२९ । (२) मदीय आत्मनि । (३) "ममानुष्ठाते स्मर्त्तव्योऽसौ"—स्या० २० पृ० ६२९ । (४) वेदकर्ता । (५) "एव तर्हि पितामहस्य पितर मातामहीमातरम्, तमातापितरौ च न स्मरति तत्तेषामभावा भवेत् ।"—स्या० २० पृ० ६२९ । (६) भवत्स्मरणाभावस्य (७) स्वयं धृतीपथान्द्रव्यस्य । (८) ननु इति निश्चयार्थं । तुलना—'सर्वे पुमास कर्तार वेदस्य न स्मरन्ति इति कथं जानानि भवान् । न हि तव सकललोकहृत्यानि प्रयत्नानि सर्वान्त्वप्रसङ्गान् । न च यत त्वं न जानानि तदभ्योऽपि न जानातीति युक्तमतिप्रसङ्गान् ।'—आमम० पृ० २३७ । स्या० २० पृ० ६३० । (९) तुलना—'अपि च सर्वप्रमातृत्वात् गत्वा ताश्च पृष्ठा तत्र कतस्मरणाभाव प्रतीयता यथा वा ?'—स्या० २० पृ० ६३० । (१०) सर्वप्रमातृत्वं । (११) 'गत्वा गत्वा तु तान्देशान् यद्यथा नोपलभ्यते । ततोऽन्यवारणाभावादसद्रित्यवगम्यत ॥"—मी० श्लो० । उद्वेगोऽयम्—प्रमेयक० पृ० २२ । समति० टी० पृ० २३, ३२१ । (१२) देशान्तरे । (१३) सर्वप्रमातृत्वं । (१४) तद्वत् 'न स्मराम' इति प्रतिवचने । (१५) ब्रह्मव्यम्—पृ० ४६४ टि० ४ ।

१ शाने—आ० । २ सर्वप्रमा—य० । ३ तत्र स्मर न स्मरन्तीत्यसर्वविदो वेदानु गत्वा गत्वा आ० । ४ प्रतीयते व० । ५ सद्भाव—व० ।



चेदे आप्तानाप्तप्रणीतत्वाभावात् प्रामाण्यमप्रामाण्य वा, इत्यप्यसु दरम्, यत्र हि पुरुष-  
कृता पदानुपूर्वी तत्र तदपेक्ष प्रामाण्यमप्रामाण्य वा स्यात्, वेदानुपूर्व्यास्तु नित्यत्वात्  
स्वसामर्ग्यनैधार्थवबोधकत्वात् तन्निरपेक्ष प्रामाण्यम् । नहि तादृशीमानुपूर्वी कश्चित्  
कर्तुं क्षम अयत्राऽभिव्यक्ते । पूर्वसिद्धानुपूर्वीतोऽपूर्वाणुपूर्वीकरणे च कस्यचित् स्यात्  
यासभवात् । कुराणो वा ता तदध्येतुभि र्अन्यैर्वा निवार्येत । उक्तञ्च-

“अन्यथाकरण चास्य बहुभ्य स्यान्निवारणा ।” [मी० श्लो० चोदनाम्० श्लो० १५०] इति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘कर्तुं स्मरणयोग्यत्वे सति अस्मर्यमाणकर्तृत्वत्वात्’  
वेदा पाठ्यत्वस्य इत्यादि, तदसमीचीनम्, यत् किमिदम् अस्मयमाणकर्तृत्वत्वात्—  
प्रतिविधानम्— किं कर्तृस्मरणाभाव, अकर्तृत्व वा ? प्रथमपक्षे र्व्यधिकरणासिद्धौ  
हेतु, कर्तृस्मरणाभासो हि आत्मनि वर्तते अपौरुषयत्व तु चेद इति । अज्ञानासिद्धञ्च,  
तद्प्राह्वप्रमाणावात् । नहि प्रत्यक्ष तद्प्राह्वकम्, प्रतिनियतरूपादिगोचरचारितया  
अभावे तस्य प्रवृत्त्यसभवात् । सभवे वा अभावप्रमाणरूपनाऽनर्थक्यम् तत्साध्यस्य  
अवस्थादित एव प्रसिद्धे । अभावप्रमाणात्तस्मिद्धौ तु तत्र तदुत्पत्तौ कारण वाच्यम्,  
निष्कारणस्य कार्यस्योदयानुपपत्ते ।

“गृहीत्वा वस्तुसद्भाव स्पृत्वा च प्रतियागिनम् ।

मानस नास्तितान्नान जायतऽज्ञानपक्षया ॥” [मी० श्लो० अभाव० श्लो० २७ ]

इति तत्कारणमस्तीति चेत्, ननु अत प्रादुर्भूतमभावप्रमाण तदभाव निराश्रयम्, साश्रय  
वा प्रसाधयेत् ? न तावन्निराश्रयम्, ‘गृहीत्वा वस्तुसद्धानम्’ इत्यभिधानात् । अनेन हि  
निषेध्याधारवस्तुग्रहणमभिदधता भूतेन निषेधाभावाश्रय सूचित एव, अथवा प्रति-  
नियतवृत्तितया कर्तृस्मरणाभावसिद्धि ततोऽतिदुर्लभा । यन्निराश्रय न तत् प्रतिनियतवृत्ति  
यथा आकाशम्, निराश्रयश्च भवद्विरभिप्रेतोऽभावप्रमाणात्प्रसिद्धञ्च कर्तृस्मरणाभास इति ।

(१) ‘पौरुष्य तु वचन प्रमाणान्तरमूलता । तदभाव हि तत् दुष्येदितरत्न कणाचन ॥ —मी०  
श्लो० चोदना० श्लो० ७१ । (२) पुरुषगुणनिरपेक्षम् । (३) पूर्वानुपूर्वीतो विलक्षणा आनुपूर्वी । (४)  
विलक्षणां चानुपूर्वीम् । (५) निवारणम् —मी० श्लो० । प्रवचपाठ—स्या० १० पृ० ६२८ । (६)  
पृ० ७२१ पृ० ५ । (७) तुलना— किमिदं कर्तृस्मरणं नाम कर्तृस्मरणाभाव अस्मयमाणकर्तृत्व वा ?  
—प्रमेयक० पृ० ३९२ । (८) अपौरुषयो वा कर्तृस्मरणात् इत्येव प्रयोगे हेतुव्यधिकरणत्वदोषात् ।  
—सामति० टी० पृ० ४१ । (९) तत्रास्मयमाणवत्कर्तृत्वमसिद्धम् तत्प्राह्वप्रमाणाभावात् । —  
स्या० १० पृ० ६२९ । (१०) अभावप्रमाणन त्रियमाणस्य अभावज्ञानस्य । (११) कर्तृस्मरणाभा  
वसिद्धौ । (१२) अभावप्रमाणोत्पत्तौ । (१३) इष्टव्यम्—पृ० ४६४ टि० १ । (१४) कर्तृस्मरणाभावम् ।  
‘नन्वय प्रादुर्भूतमभावप्रमाण तदभाव साश्रयमेव प्रसाधयेत् गृहात्वा वस्तुसद्भावमित्यभिधानम् । —  
स्या० १० पृ० ६२९ । (१५) गृहीत्वा वस्तुसद्भावमिति श्लोकागत । (१६) निषेधस्य य अभाव  
तस्य आश्रय । (१७) अभावप्रमाणात् ।

१-नवाववाप-ब० । २-स्वादिश्रये-ब० । ३-प्रापि व्यक्ते आ० । ४ पृष ति-ब० । ५ अय  
निवा-आ० । ६ बहूभि ध० । ७ तिहा-आ० । ८ निषेध्याश्रय व० ।

अथ साश्रयोऽसौ प्रसाध्यते, ननु कोऽस्य आश्रय —स्वात्मा, सर्वप्रमातारो वा ? यदि स्वात्मा 'अमुष्मिन्मदीय आत्मनि वेदकर्तृस्मरण नास्ति' इति, किमेतावता सिद्धम् ? पदार्थजातस्य अनेकस्य अत्र स्मरण नास्ति, न चैतावता तस्याभावात् सिद्धयति । ममानु-  
ष्ठातुरवश्य स्मर्त्तव्योऽसौ, यदा स्मृतिपथप्रस्थाधी न भवति तदाऽसन्न, इत्यप्यसारम्, भवत्स्मरणाभावमात्रेण अर्थमावाऽसिद्धे । तस्य स्वयं निहितेऽत्रय स्मर्त्तव्ये क्वचिद्  
द्रव्यादौ विद्यमानेऽपि सद्भावेन अनेकान्तात् । तथा व्याधितेन उपयुज्यमानमौपथ स्वयं  
धृत महत्यामप्यर्थिताया न स्मर्यते, नचैतावता तस्याऽभावात् इत्यनेन चाऽनेकान्त ।  
अथ सर्वप्रमातार, ननु 'त्रैलोक्योदरवर्तिन प्रमातारो वेदकर्त्तार न स्मरन्ति' इत्यसर्व-  
विदो वेदानुपपत्ति । उपपत्तौ वा सर्ववेदितप्रसङ्ग ।

किञ्च, सर्वप्रमातृदेशान् गत्वा तत्रैव प्रष्टुं तत्र स्मरणाभाव प्रतीयेत, अन्यथा  
वा ? न तावदन्यथा, "गत्वा गत्वा तु तान् देशान्" [मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३८]  
इत्यस्य विरोधानुपपत्तात् । गत्वा चेत्, ननु तत्रैव तेषु प्रष्टुषु 'न स्मराम' इति प्रतिवचनञ्च  
ब्रुवाणेऽपि क समाश्वास पुरुषवचसामप्रामाण्येन अर्थतथामावानुपपत्ते ? न च  
सर्वेषामामाप्रताप्रतिपत्तिरस्ति, यत् तद्गुणसक्रान्त्या तत्रैव प्रामाण्य स्यात्, तत्प्रतिपत्तेरेव  
असर्वविदो युगपत्क्रमेण वाऽसंभवात् ।

किञ्च, अभावप्रमाणस्य तत्र प्रवृत्ति यत्र वस्तुमत्तावबोधक प्रमाणपञ्चक न प्रवर्त्तते ।

"प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।

वस्तुसंज्ञावबोधार्थं तत्राभावप्रमायते ॥" [मी० श्लो० अभाव० श्लो० १]

(१) कर्त्तृस्मरणाभावस्य । "अपि च किमदोपजनस्मरणनिवृत्तिरिह हेतुत्वेन विवक्षिता आहो  
स्वित् कतिपयपुरुषस्मरणविनिवृत्ति । तद्यदि सकलजनस्मरणविनिवृत्ति, तदाऽभिद्धा, अवधारयितुम  
शक्यत्वाच्चावर्गभागविन्नि । अवधारण वा त एव सवना स्यु अवर्गिभागविन्ने न भवयु । अथ  
कतिपयपुरुषापेक्षया, तदाऽनवान्तिर्को हेतु, विद्यमानवतकष्यपि कर्ता न स्मर्यते कश्चित् ।"—तत्रयोप०  
पृ० ११७ । "आश्रयस्वाराय स्वात्मा सर्वप्रमातारो वा"—स्या० १० पृ० ६२९ । (२) मदीय आत्मनि ।  
(३) "ममानुष्ठाने स्मर्त्तव्योऽसौ"—स्या० १० पृ० ६२९ । (४) वेदकता । (५) "एव तद्दि पिताम  
हस्य पितरं मातामहीमातरम्, तमातापितरौ च न स्मरन्ति तत्तपामभावो भवत् ।"—स्या० १० पृ०  
६२९ । (६) भवत्स्मरणाभावस्य (७) स्वयं धृतीपथाद्द्रव्यस्य । (८) ननु इति निश्चयार्थं । तुलना-  
'सर्वेषु मास कर्त्तारं वेत्स्य न स्मरति इति वयं जानाति भवान् । न हि तव सकललोकदृष्टयानि  
प्रपक्षाणि स्वज्ञत्वप्रसङ्गात् । न च यत् त्वं न जानाति तदन्याऽपि न जानातीति युक्तमतिप्रसङ्गात् ।"  
—स्यापर्म० पृ० २३७ । स्या० १० पृ० ६३० । (९) तुलना—"अपि च सर्वप्रमानुद्गान् गत्वा  
तत्रैव प्रष्टुं तत्र कर्त्तृस्मरणाभाव प्रतीयेतान्यथा वा ?"—स्या० १० पृ० ६३० । (१०) सर्वप्रमातृत्वं ।  
(११) गत्वा गत्वा तु तान् देशान् मद्यर्थो नोपभ्यत । ततोऽन्यकारणामावात्स्रित्यवगम्यत ॥—मी०  
श्लो० । उद्गीत्यम-प्रमेयक० पृ० २२ । सम्पत्ति० टी० पृ० २३, ३२२ । (१२) देवात्तरे । (१३)  
सर्वप्रमाणम् । (१४) तत्रैव 'न स्मराम' इति प्रतिवचन । (१५) द्रष्टव्यम-पृ० ४६४ दि० ४ ।

१ धाने-आ० । २ सर्वप्रमा-य० । ३ तत्र स्मर न स्मरतीत्यसर्वविदो वेदानु गत्वा गत्वा  
धा० । ४ प्रतीयते य० । ५ सद्भाव-य० ।

इत्यभिधानात् । वेदे च आत्मन कर्त्तृसद्भावावेदके सति कथं तत्प्रवृत्तिः ?

“स हि रुद्र वदकर्त्तारम् ।” [ ]

“यो ब्रह्माण्य निदधाति पूर्णं वदाश्च प्रहिणोति ।” [ श्वेता० व० ६।१८ ]

“तथा प्रजापति साम राजानमन्वसृजत, ततः प्रथा वदा ध्रुवसृज्यत ।” [ ]

इत्यादिको वेद कर्त्तृसद्भावावेदक अनेकधा श्रूयते । ईवरूपासिद्धरचाय हेतु, पौराणिना हि वेदस्य ब्रह्मकर्त्तृत्व स्मरन्ति—

“प्रैतिमन्व-तरञ्चैत्र श्रुतिरन्या विधीयत ।” [ मत्स्यपु० १४५।५८ ]

“अन-तर तु वक्त्रेभ्यो वदास्तस्य निनि सता ।” [ ]

इत्यभिधानात् । यौगा रुद्रकर्त्तृत्वम्, जैना कालासुरकर्त्तृत्वम् ।

10 स्मृतिपुराणादिवचनैः ऋषिनामाङ्किता वाण्व-माध्यन्दिन-तैत्तिरीयादयः शाखाभेदा कथमस्मर्यमाणकर्त्तृका ? तथाहि—एतां तत्कृतत्वात् तन्नामभिरङ्किता, तद्दृष्टत्वात्, तत्प्रकाशितत्वाद्वा ? तत्राप्येते कथमासामपौरुषेयत्वम् अस्मर्यमाणकर्त्तृकत्व वा स्यात् ? उत्तरपक्षद्वये यदि तावदुत्सर्गना शाखा कण्वादिना दृष्टा प्रकाशिता वा तदा कथमस्यां सम्प्रदायाविच्छेद अतीन्द्रियार्थदर्शिन प्रतिक्षेपश्च स्यात् ? अथ अनवच्छिन्नैव सा

(१) स्वयमेव वदस्य । (२) अभावप्रमाणप्रवृत्ति । (३) उद्धतोऽयम-स्या० २० प० ६३ । रत्नाकराव० ४।९ । (४) अपौरुष्यतापीड्या कर्तृणामस्मृते किल । सत्यस्याप्यनुवक्तार इति धिग व्यापक तम ॥ यस्मान्नि साधनमसिद्धमनकान्तिकञ्च तत्रासिद्धमधिष्ठत्याह-नथाहीत्यादि । स्मरन्ति सीगता वदस्य कतुनष्टकानिना आन्विष्टान्द वामकवामन्वविद्वामित्रप्रभृतीन् । हिरण्यगर्भ ब्रह्माण वेत्स्य कर्त्तार स्मरन्ति वाणाणा वशिपिका ततश्चासिद्ध कतुरस्मरणम् ।—प्रमाणवा० स्वव० टी० १।२६९ । मनोरथ० ३।२६९ । असिद्धोप्यय हेतु यस्मात्स्मरन्ति एव कर्त्तार वाणादा । तथा ऋषिणा अपि बहुल वक्तारो भवन्ति ब्रह्मणा वणा प्रणीता इति ।—तत्त्वोप० प० ११७ । 'नव सवन्तुणा कतु स्मृतेरप्रसिद्धिन । तत्कारणं हि वाणाणा स्मरन्ति चतुराननम् । जना कालासुर वीडा स्त्वष्टकान मकला सता ॥'—तत्त्वोप० प० २३८ । अष्टसह प० २३७ । प्रमेयक० प० ३९३ । सामनि० टी० प० ४० । स्या० २० प० ६३० । यच्चेत्प्रमस्यमाणकतवत्त्वानिति तत्सिद्धम प्रजापतिवा इन्मेक आसीन्नादृशसीन् रात्रिरासीन् स तपोऽप्यत तस्मात्तपसदवस्वरो वदा अजाप्यन्त त्व्याम्नायेनव कतुस्मरणात्, जीणकूपाणिभिव्यभिचारञ्च ।—प्रण० क० व० २१६ । 'वपिल कणादगीनमनच्छिद्यश्चाद्यपयन्त वः सक्तुवत्स्मरणस्य प्रतीयमानत्वात् ।—तत्त्ववि० शब्द० प० ३७१ । (५) उद्धतोऽयम-न्यायप० प० २३६ । प्रमेयक० प० ३९२ । स्या० २० प० ६३० । 'यायपरि० प० ३८३ । तत्त्ववि० शब्द० प० ३७३ । (६) तुलना— सज ममरणाधिगोत्रचरणादिनामधुतेरनकप महतिप्रतिनियमसन्नाता । पन्थियपुरुषप्रवृत्तिविनिवृत्तिहेत्वा मनाधु, धुनेश्च मनुमूत्रवत्पुष्पकतर्कव धुनि ॥—वात्रके० इत्थो० १४ । प्रमेयक० प० ३९२ । स्या० २० प० ६३० । प्रमेय० ३।९९ । (७) वाण्व-माध्यन्दिन-तैत्तिरीयादयः शाखा । तुलना—“एनास्तत्त्वत्वात्तन्नामभिरङ्कितास्तददृष्टत्वात् तत्प्र काशिता वा ।”—प्रमेयक० प० ३९२ । स्या० २० प० ६३० । रत्नाकराव० ४।९ । (८) विनीर्णा विस्मना वा । (९) याताया ।

सम्प्रदायेन दृष्टा प्रकाशिता वा, तर्हि यत्र द्विरुपाध्यायै सा दृष्टा प्रकाशिता वा तावता नामभि तस्या किन्नाङ्कितत्वं स्याद्विज्ञेपात् ?

अथोच्यते—अस्ति यौगादीनां वेदे कर्तृस्मरणं किन्तु सैविगानं तत्कर्तृविशेषे<sup>१</sup> विप्रतिपत्ते अतोऽप्रमाणमिति, तदप्युक्तिमात्रम्, यैतं कर्तृविज्ञेये विप्रतिपत्ते तद्विज्ञेय-स्मरणमेवाप्रमाणं स्यान्न कर्तृमात्रस्मरणम्, अन्यथा वादम्बव्यादीनामपि कर्तृविज्ञेये<sup>२</sup> विप्रतिपत्ते ऽकर्तृमात्रस्मरणस्याप्रमाणत्वेन अस्मर्यमाणकर्तृत्वस्य तथापि (तत्रापि) गतत्वाद्नेमान्तं । अथ वेदे कर्तृविज्ञेये विप्रतिपत्तिवत् कर्तृमात्रेऽपि विप्रतिपत्ते तन्मात्र-स्मरणमव्यप्रमाणं वादम्बव्यादीनां तु कर्तृविज्ञेये एव विप्रतिपत्ते तद्व्यप्रमाणमित्यतो नाने-कान्तं, ननु वेदे सौगतादयः कर्तारं स्मरन्ति न मीमांसका इत्येव कर्तृमात्रे विप्रतिपत्ते ऽयं तद्व्यप्रमाणम्, तर्हि तद्वत् तस्मरणमव्यप्रमाणं किन्न स्यात् विप्रतिपत्तोरविज्ञेयात् ।<sup>३</sup> तथा चार्थमसिद्धो हेतुः ।

विरुद्धञ्च, स्मर्यमाणकर्तृकत्वाऽस्मर्यमाणकर्तृकत्वयोः सार्थधर्मतया विपक्ष एव वर्तमानत्वात् । कार्यमेव हि किञ्चित् स्मर्यमाणकर्तृकं दृष्टं घटादि, किञ्चित् स्मर्यमाणकर्तृकं जीर्णकृपादि । ततश्च घृतको वेत् अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात् जीर्णकृपात्चित् । नहि नित्य

(१) 'सामान्यापि च शाखानां नाद्यप्रवचनादृते । वाठकं बालापकमित्यादयो हि सामान्याविज्ञेया गालाविज्ञापणामनुस्मर्यते । तच्च न प्रवचनमात्रनिवन्धना प्रवक्तृणामनन्वान् । नापि प्रकृष्टवचननिमित्ता, उपाध्यायेभ्योपि प्रकर्षे प्रत्युत्पायथाकरणदोषात्, तत्पाठानुकरणं च प्रवचनभावात् । कति चानादौ ससारे प्रकृष्टा प्रवक्तार इति को नियामक इति ।'—न्यायबुधु० ५१७ । (२) 'येऽपि हि पौरुषेयता मन्यन्त तेषु नव परम्परया तत्र कनविज्ञापस्मरणं शक्नुवन्ति वदितुम्, सामान्यतोदृष्टं कर्तारमनुभाय स्वाभिमतं कर्तारं तत्र निक्षिपति—केचिन्निश्चरम, अथ हिरण्यगभम्, अपरे प्रजापतिम् । न चायं नानाविधो विवाद परम्परया कतरि मन्वादिवत् स्मर्यमाणे कथञ्चिदवकल्पते । नहि मानव भारते गायत्र्यग्रये वा कतृविज्ञेयं प्रति कश्चिद्विद्वदने । तस्मात् स्मर्यमाणत्वे सायस्मरणात् दृश्यादज्ञानवाधिनं मामाद्यतोदृष्टं न शक्नोति कर्तारमवसाययितुम् । —गास्त्रदी० पृ० ६१७ । (३) सविवादम् । (४) रद्वे-आ० टि० । (५) तुङ्गना—'नन्वय कतृविज्ञाप विप्रतिपत्तेस्तद्विज्ञापस्मरणमेवाप्रमाणं स्यात् न कतृमात्रस्मरणम् । —प्रमेयक० पृ० ३९३ । सप्तमि० टी० ५० ४२ । स्या० १० पृ० ६३० । गास्त्रवा० षष्ठी० पृ० ३८४ । (६) वादम्बव्यादीनामपि । (७) तुङ्गना—'अथ वेदे कनविज्ञेये विप्रतिपत्तिवत् कतृमात्रेऽपि विप्रतिपत्त-स्मरणमव्यप्रमाणम्'—प्रमेयक० पृ० ३९३ । सप्तमि० टी० ५० ४२ । स्या० १० पृ० ६३० । (८) कतृमात्रस्मरणम् । (९) तुङ्गना—'ननु वेदे सौगतादयः कतृमात्रं स्मरन्ति न मीमांसका इत्येव कतृमात्रमपि विप्रतिपत्ते यन्ति कतृस्मरणं मिथ्या तदा कतृस्मरणतः अस्मर्यमाणकर्तृकत्वमपि अस्य स्याद्विप्रतिपत्तोरविज्ञेयात् तथा च पुनरप्यसिद्धो हेतुः । —सप्तमि० टी० ५० ४२ । प्रमेयक० पृ० ३९३ । स्या० १० पृ० ६३१ । (१०) कतृमात्रस्मरणम् । (११) कतृमात्रगवत् । (१२) कतृस्मरणम् । (१३) अस्मर्यमाणकतृकत्वात् । (१४) पौरुषेये अनित्ये । (१५) तुङ्गना—'नित्यं हि षट्सु न स्मर्यमाणकर्तृकं नाप्यस्मर्यमाणकतृकं प्रतिपन्नं किन्त्ववकतृकमेव ।'—प्रमेयक० पृ० ३९२ । १-नो कतृ-व० । २-यैपि विप्र-य० । ऽतदन्तगतं पाठो नास्ति य० । पुनरन्तगतं पाठो नास्ति य० । ३ अथ कतृविज्ञेये विप्रतिपत्ति कतृमात्रमपि विप्रतिपत्ते व० । ४-णमत्तो व० ।

इत्यभिधानात् । वेदे च आत्मन कर्त्तृसद्भाववेदके सति कथं तेष्ववृत्तिः ?

“स हि रुद्रं वदन्कर्त्तारम् ।” [ ]

“यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं वदाश्च प्रहिणोति ।” [ श्वेता० ६।१८ ]

“तथा प्रजापति सोम राजानमन्वृजत, ततः प्रया वदा अन्वसृज्यत ।” [ ]

इत्यादिको वेद कर्त्तृसद्भाववेदक अनेनैवा श्रूयते । ईशरूपासिद्धश्चायं हेतुः, पौराणिका हि वेदस्य ब्रह्मकर्त्तृत्व स्मरन्ति—

“प्रैतिमन्वतरश्चैव श्रुतिरन्या विधीयत ।” [ मत्स्यपु० १४५।५८ ]

“अनन्तरं तु वज्रेण्यो पदास्तस्य विनिःसृता ।” [ ]

इत्यभिधानात् । यौगा रुद्रकर्त्तृत्वम्, जैना कालामुखकर्त्तृत्वम् ।

10 स्मृतिपुराणादिवच्यं ऋषिनामाङ्किता काण्व-माध्यदिन-तैत्तिरीयादयः शाखाभेदा कथमस्मर्थमाणकर्त्तृका ? तथाहि—एतां तत्कृतत्वात् तन्नामभिरङ्किता, तद्दृष्टत्वात्, तत्प्रनाशितत्वाद्वा ? तत्राप्यप्ये कथमासामपौरुषेयत्वम् अस्मर्थमाणकर्त्तृकत्व वा स्यात् ? उत्तरपक्षद्वये यदि तादुर्त्सना शाखा कणादिना दृष्टा प्रकाशिता वा तदा कथमस्यो सम्प्रदायाविच्छेद अतीन्द्रियार्थदर्शिन प्रतिक्षेपश्च स्यात् ? अथ अनवच्छिन्नैव सा

(१) स्वयमेव वेदस्य । (२) अभावप्रमाणप्रवृत्तिः । (३) उद्धतोऽयम-स्थो० २० पु० ६३० । रत्नाकराव० ४।९ । (४) अपीग्यमतापीष्ठा कर्तृणामस्मृते बिल । सत्यस्याप्यनुवक्तार इति धिग व्यापकं तम ॥ यस्मान्निद साधनसिद्धमनकान्तिकञ्च तत्रासिद्धमधिगृह्याह-तथाहीत्याणि । स्मरन्ति सौगता वेदस्य वनूतकादीन् आदिगब्दाद् वामकवामदेवविश्वामित्रप्रभृतीन् । हिरण्यगम ब्रह्मण वन्त्य कर्तारं स्मरन्ति काणादा वशयिका ततश्चासिद्धं कतुरमरणम् । -प्रमाणवा० स्वव० टी० १।२६९ । मनोरथ० ३।२६९ । 'असिद्धोप्ययं हेतुः यस्मात्स्मरन्ति एव कर्तारं काणादा । तथा लौकिका अपि बहुत्र वक्तारो भवन्ति ब्रह्मणा वना प्रणीता इति । -तत्त्वोप० पु० ११७ । नव सवनूणा क्तु स्मरन्प्रसिद्धित । तत्कारणं हि काणादा स्मरन्ति चतुराननम् । जना काणामुर बोद्धा स्त्वन्कान सवला राणा ॥ -तत्त्ववदलो० पु० २३८ । अष्टसह० पु० २३७ । प्रमेयक० पु० ३९३ । सन्तति० टी० पु० ४० । स्थो० २० पु० ६३० । यन्कर्मस्मयमाणकनकत्वात्ति तन्सिद्धम्, प्रजापतिर्वा इत्येव आनीभाह्वगमीत्र रात्रिरामीत् स तपोऽप्यन तस्मात्सप्तसद्वत्पारो वदा अजायन्त इत्याम्नायनव क्तुस्मरणान्, जीणकूपानिभ्यभिवाराच्च । -प्रश० क० पु० २१६ । "कपिल कणादगोतमन्च्छिष्यश्चाद्यप्यन्त व" सकलकर्त्तरमरणस्य प्रतीकमानत्वात् । -तत्त्ववि० शब्द० पु० ३७१ । (५) उद्धतोऽयम-न्यायव० पु० २३६ । प्रमेयक० पु० ३९२ । स्थो० २० पु० ६३० । यावपरि० पु० ३८३ । तत्त्ववि० १० पु० ३७३ । (६) तुला- सज ममरणापिगोत्रचरणानिनामधुतेरनेकपद सङ्घनप्रतिनियमम दशनत्वात् । पलादिपुत्रप्रवृत्तिविनिवृत्तिहे वात्मनाम्, धुतेश्च मनुभूत्रवत्पुत्रपकनकव धुति ॥ -यात्रके० श्लो० १४ । प्रमेयक० पु० ३९२ । स्थो० २० पु० ६३० । प्रमेय० ३।९९ । (७) काण्वभाज्यन्दिनतैत्तिरीयाण्यं शाखा । तुला- 'एतास्तत्कृतत्वाननामभिरङ्कितास्तद्वत्त्वात् तत्र वागितत्वात् । -प्रमेयक० पु० ३९२ । स्थो० २० पु० ६३० । रत्नाकराव० ४।९ । (८) विधीयति विस्मता वा । (९) शालाया ।

सम्प्रदायेन दृष्टा प्रकाशिता वा, तर्हि यात्रद्विरुपाध्यायै सा दृष्टा प्रकाशिता वा तावता नामभि तस्या किन्नाङ्कितत्वं स्यादविशेषात् ?

अथोच्यते—अस्ति योगीना वेदे कर्तृस्मरणं किन्तु सैविगान तत्कर्तृविशेषे<sup>१</sup> विप्रतिपत्ते अतोऽप्रमाणमिति, तदप्युक्तिमात्रम्, येन कर्तृविशेषे विप्रतिपत्ते तद्विशेष-स्मरणमेवाप्रमाणं स्यात् न कर्तृमात्रस्मरणम्, अन्यथा कादम्बर्यादीनामपि कर्तृविशेषे विप्रतिपत्ते ऽकर्तृमात्रस्मरणस्याप्रमाणत्वेन अस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य तदापि (तत्रापि) गतत्वादान्तेन । अथ वेदे कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तिवत् कर्तृमात्रेऽपि विप्रतिपत्ते तन्मात्र-स्मरणमप्यप्रमाणं कादम्बर्यादीनां तु कर्तृविशेषे एव विप्रतिपत्ते तत्रमाणमित्यतो नाने-कान्त, ननु वेदे मौगतादय कर्तारं स्मरन्ति न मीमामका इत्येव कर्तृमात्रे विप्रतिपत्ते ऽ यदि तदप्रमाणम्, तर्हि तद्वत् तस्मरणमप्यप्रमाणं किन्तु स्यात् विप्रतिपत्तेरविशेषात् । तथा चार्थमसिद्धो हेतुः ।

विरुद्धश्च, स्मर्यमाणकर्तृकत्वाऽस्मर्यमाणकर्तृकत्वयोः कार्यधर्मतया विषेण एव यत्तमानत्वात् । कार्यमेव हि किञ्चित् स्मर्यमाणकर्तृकं दृष्टं घटादि, किञ्चित् स्मर्यमाणकर्तृकं जीर्णरूपाणि । ततश्च कृतको वेद अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात् जीर्णरूपाणि । नहि नित्य

(१) 'समाख्यापि च शास्त्रानां नाद्यप्रवचनादृते । वाठक बालापकमित्यादयो हि

समाख्याविशेषां शास्त्राविशेषाणामनुसम्यते । ते च न प्रवचनमात्रनिबन्धना प्रवक्तृणां मनन्त्वात् । नापि प्रवृत्तवचननिमित्ता, उपाध्यायेभ्योऽपि प्रवर्षे प्रत्युत्पाद्यकारणदोषात्, तत्पाठानुकरणं च प्रवर्षाभावान् । कति चानादो ससार प्रवृष्टा प्रवक्तार इति यो नियामक इति ।'—यावदुक्तु० ५।१७ । (२) 'येऽपि हि पौरुषेयता भयन्ते तेऽपि नव परम्परया तत्र कतविशेषस्मरणं शक्नुवन्ति वन्तुम्, सामान्यतोऽप्येन कर्तारमनुमाय स्वाभिमतं कर्तारं तत्र निक्षिपन्ति—केचिन्निश्चरम अये हिरण्यगर्भम्, अपरे प्रजापतिम् । न चायं नानाविधो विवादः परम्परया कर्तारं मन्वादिनां स्मर्यमाणं कथञ्चिदवकल्पते । गृहि मानव भारते शाक्यप्रये वा कतृविशेषं प्रति कश्चिद्विद्वदन् । तस्मात् स्मृतव्यस्य सत्यस्मरणान् दृश्यादशनवाधितं सामान्यतोऽप्येन न शक्नोति कर्तारमवसाययितुम् ।'—शास्त्रदी० पृ० ६१७ । (३) सविद्याम् । (४) रुद्र-आ० टि० । (५) तुलना—'नवव कतृविशेषं विप्रतिपत्तेस्तद्विप्रस्मरणमेवाप्रमाणं स्यात् न कतृमात्रस्मरणम् ।'—प्रमेयक० पृ० ३९३ । समति० टी० पृ० ४२ । स्या० १० पृ० ६३० । शास्त्रदी० पृ० ३८४ । (६) कादम्बर्यादीनि । (७) तुलना—'अथ वेदे कतृविशेषे विप्रतिपत्तिवत् कतृमात्रेऽपि विप्रतिपत्ते स्मरणमप्यप्रमाणम् ।'—प्रमेयक० पृ० ३९३ । समति० टी० पृ० ४२ । स्या० १० पृ० ६३० । (८) कतृमात्रस्मरणम् । (९) तुलना—'ननु वेदे मौगतादय कतृमात्रं स्मरन्ति न मीमामका इत्येव कतृमात्रं विप्रतिपत्ते यदि कतस्मरणं सिद्धं तदा कतस्मरणेन अस्मर्यमाणकर्तृकत्वमपि अस्य स्याद्विप्रतिपत्तेरविशेषात् तथा च पुनरप्यसिद्धो हेतुः ।'—समति० टी० पृ० ४२ । प्रमेयक० पृ० ३९३ । स्या० १० पृ० ६३१ । (१०) कतृमात्रस्मरणम् । (११) कतस्मरणम् । (१२) कतस्मरणम् । (१३) अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात् । (१४) पौरुषेये अनित्ये । (१५) तुलना—'नित्यं हि कतुं न स्मर्यमाणकर्तृकं नाप्यस्मर्यमाणकर्तृकं प्रतिपत्तं कित्तवकतृकमेव ।'—प्रमेयक० पृ० ३९२ ।

१-जीर्णरूपाणि । २-येषु विप्र-श्र० । ३-गतत्वादान्तेन पाठो गमिन् श्र० । ४-एतन्मननं पाठो गमिन् श्र० । ५-अथ कतृविशेषे विप्रतिपत्तिः । ६-पृष्ठे य० । ७-समति० य० ।

वस्तु स्मर्यमाणरुचृकमस्मर्यमाणकर्तृक वा प्रतिपन्नम्, किन्तु अकचृकमेव । कालात्यया-  
पदिष्टश्च, श्रुतिस्मृतिनाधितपन्ननिर्देशानन्तरं प्रयुक्तत्वात् । तन्न कचृस्मरणाभावरक्षण-  
णमस्मर्यमाणरुचृकत्व घटते ।

नापि अकचृकत्वलक्षणम्, अशङ्क्यत्वात् । नहि अस्मर्यमाणकचृकत्वशब्दस्य  
अकचृकत्वमर्थो लोके शास्त्रे वा प्रभिद्ध । प्रसिद्धौ वा साध्याविशिष्टत्वम् । अस्तु वाऽवि-  
चारितमणीयमस्मर्यमाणकचृकत्वम्, तथापि तद् वादिन, प्रतिवादिन, सर्वस्य वा सम्ब-  
न्धि हेतु स्यात् ? यदि वाग्नि, तन्नेवान्तिक्त्वम्, “वट वटे वैश्रवण” [ ]  
इत्यादिषु विद्यमानरुचृकेषुऽपि प्रयोजनाभावात् मीमांसनैरस्मर्यमाणरुचृकेषु अस्य सद्भा-  
वात् । ननु वेदे कत्रभावपूर्वमस्मर्यमाणकचृकत्व हेतु, तन्चार्यं नास्ति कर्तृनुपलम्भमात्र-  
पूर्वकन्यात्तरस्य तत्कथमनेकान्तिकत्वम् ? इत्यपि मनोरथमात्रम्, यत् कुतोऽत्र कर्त्रभाव-  
सिद्धि-प्रमाणान्तरात्, अत एव वा ? यदि प्रमाणान्तरात्, तदाऽस्य आनर्थक्यम् ।  
अत एव चेत्, अयोयाश्रय-अतो हि अनुमानात् तदभावसिद्धौ तत्पूर्वकमस्मर्यमाण-  
कचृकत्व सिद्धयति, तैस्सिद्धौ च अतोऽनुमानात्तदभावसिद्धिरिति । अथ प्रतिवादिन  
सम्बन्धि तत् हेतुत्वेन विवक्षितम्, नदसिद्धम्, तत्र हि प्रतिवादी स्मरत्येव कर्त्तारम् ।  
एतेन सर्वस्याऽस्मरण प्रत्याग्यातात्, सैवात्मज्ञानविज्ञानरहितो वा कथं सर्वस्य तत्र कर्त्त-  
स्मरणमिति ? अतोऽस्य अज्ञातासिद्धत्वम्, सतोऽप्यर्थे असवविद्रा ज्ञानुमशक्यत्वात् ।

(१) साध्य हि अपौरुषयत्वं तत्रैव च अवतृकत्वमिति साध्यावशिष्टत्वाद् असिद्धो हेत्वा  
भामो लभ्यते साध्यस्य असिद्धत्वानिति । (२) तुलना-‘किञ्च जस्यमाणकतकत्व वादिन प्रतिवा  
दिन सर्वस्य वा स्यात् । -प्रमेयक० प० ३९५ । तन्मति० टी० प० ३० । स्या० २० प० ६३१ ।  
प्रमेय० ३।९९ । ‘अपि च विनापजनस्मरणविनिवृत्तिरिह हेतुत्वेन विवक्षिता आहोस्वित कतिपय  
पुरुषस्मरणविनिवृत्ति । -तत्त्वोप० प० ११७ । (३) तुलना- अनवान्तिकत्वमप्याह-दृश्यते चेत्यादि ।  
अप्येवपारम्पय सम्प्रदाय विच्छिन्न क्रियासम्प्रदाय पुरुषवृत्तत्वसम्प्रदायो यथा वटे वट वधवणादि  
गन्ताना ते तथा । अनेन अस्मयमाणकतत्वमह । वृत्तकाश्च पौरुषेयाश्च । तत पौरुषयोरपि वाक्ये  
कनुरस्मरण वनत इत्यनवान्तिको हेतु । -प्रमाणवा० स्वव० टी० १।२४२ । स्या० २० प० ६३१ ।  
‘वाग्निश्चेत्तन्नकान्तिकम् सा ते भवतु सुप्रतित्यादो विद्यमानकतत्रेप्यस्य भावात् । -प्रमेयक०  
प० ३९५ । (४) वटे वटे श्रवण’ इत्यादिवाक्येषु । (५) अस्मयमाणकतकत्वस्य । (६) वटे ।  
तुलना- यत् कुतोऽत्र कत्रभावसिद्धि प्रमाणान्तरात् एव वा ? -स्या० २० प० ६३१ । (७)  
अस्मयमाणकतकत्वस्य हेतो । (८) वटे कत्रभावसिद्धौ । (९) अस्मयमाणकतकत्वसिद्धौ च । (१०)  
अस्मयमाणकतकत्वम् । (११) तुलना-‘तद्यच्चि सक्त्वनस्मरणनिवृत्ति तन्नासिद्धा अवधारयितुम  
शक्यत्वाच्च अर्वाग्भागविन्भि । अवधारण वा त एव सवत्ता स्यु अर्वाग्भागविदो न भवयु । -  
तत्त्वोप० प० ११७ । ‘यावत्त० प० २३७ । प्रमेयक० प० ३९५ । स्या० २० प० ६३१ । (१२)  
व विषये । (१३) भवत्तन्नाधिक्यस्मरणस्य ।

१-वाक्यस्यैव शब्दस्य व० -अकतत्वं शब्दस्य आ० । २-कतत्वभाव-श्र० । ३-स्वाहास्य  
व० । ४-अज्ञानासि-प० ।

यदप्युक्तम्—‘ये हि यथार्थानुष्ठाने प्रवर्तन्ते तेऽत्रय तच्छास्त्रर्तारमनुस्मरन्ति’ इत्यादि, तदप्यनल्पतमोपिलसितम्, निर्यमाभावात् । न हि ‘यो धर्मशील’ [ ] इत्यादिवाक्येभ्य तदर्थांनुष्ठाने प्रवर्तमानानामनुष्ठातृणा तत्कर्तृस्मरणमस्ति, तन्तरेणापि धर्मशीलतायथार्थानुष्ठाने महापुरुषार्थोपयोगिन्यैहिकपारत्रिकभयाऽभावहेतो प्रवृत्तिप्रतीते ।

यन्चान्यदुक्तम्—‘छिन्नमूलत्वाच्च’ इत्यादि, तन्प्यसुन्दरम्, यत् अध्यक्षेणानु- 5  
भावाभावात् तत्रै त्छिन्नमूलम्, प्रमाणान्तरेण वा ? अध्यक्षेण चेत्, किं भवत्सम्बन्धिना, सर्वसम्बन्धिना वा ? यदि भवत्सम्बन्धिना, तर्हि आगमान्तरेऽपि कर्तृसद्भावमाहकत्वेन भवत्प्रत्यक्षस्याऽप्रवृत्ते तत्कर्तृस्मरणस्य छिन्नमूलत्वेन अस्मर्यमाणकर्तृत्वस्य भावाद् व्यभिचारी हेतु । अथ तत्रै तद्वाहकत्वेन अस्मत्प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तापि परे कर्तृसद्भावाभ्युपगमात् व्यभिचार, तत्र, परकीयाभ्युपगमस्य भवतोऽप्रमाणत्वात्, 10  
अथवा वेदेऽपि ‘परैस्तैत्मद्भावाभ्युपगमात् अस्मर्यमाणकर्तृकत्वानित्यसिद्धो हेतु स्यात् । सर्वसम्बन्धिना चेत्, सोऽसिद्ध, अर्थादत्रै तस्याप्राप्तुमशक्यत्वात् । अथ प्रमाणान्तरेण अनुभावात्, तत्र, आर्गमस्य तत्र कर्तृसद्भावानेकस्य प्रतिपादितत्वात् । रचनापत्राद्यनुमानस्य च तत्प्रसादनस्य सद्भावात् । तथाहि पौरुषेयो वेद रचनापत्रेणात् भारतादिवत्, 15  
पदैवाक्यात्मकत्वाद्वा तद्वत् । तथा प्रमाणान्तरविषयभाञ्जि वैदिकानि ग्रन्थानि 16

(१) प० ७२१ प० ८ । (२) “न चाय नियमोऽनुष्ठानसमये तत्कर्तारमनुस्मर्यैव प्रवतत” — प्रमेयक० प० ३९५ । समति० टी० प० ४३ । शास्त्रवा० यशो० प० २८४ B । “न हि यो धर्मशील इत्यादिवाक्येभ्यस्तदर्थानुष्ठाने प्रवर्तमानानामनुष्ठातृणा तत्कर्तृस्मरणमस्ति । तदन्तरेणापि धर्मशीलता यथानुष्ठाने महापुरुषार्थोपयोगिनेहिकपारत्रिकभयाभावहेतो प्रवृत्तिप्रतीते ।” — स्या० २० प० ६३१ । (३) प० ७२२ प० ९ । (४) “यतोऽध्यक्षेण तदनुभावाभावात्तत्र त्छिन्नमूलं प्रमाणान्तरेण वा ।” — प्रमेयक० प० ३९३ । समति० टी० प० ४२ । स्या० २० प० ६३१ । (५) वेदे । (६) तत्स्मरणम् । (७) तुलना—“सर्वादष्टिश्च सा दग्धा स्वादष्टिष्वभ्यभिचारिणी । विध्याद्विरघदूवाद-रुण्यवपि सत्त्वत ॥” — तत्त्वस० प० ६५ । “यावपि० टि० प० १६७ प० ३ । “यावली० प० २२ । (८) आगमान्तरकतस्मरणस्य । (९) आगमान्तरे । (१०) भीमासकस्य । (११) जनादिभि । (१२) वतुगन्भावात् । (१३) वेदस्मृतिरूपस्य । (१४) तुलना—“बुद्धिपूर्वा वाक्यवृत्तिर्वेदे—वाक्यवृत्तिर्विक्यरचना सा बुद्धिपूर्वा वस्तुपयाथवाक्याथज्ञानपूर्वा वान्यरचनात्वात्, मनीषीरे पञ्च फलानि सतीत्यस्मदादिवाक्यरचनावत् ।” — वने० सू०, उप० ६।१।१ । “बुद्धिपूर्वा वाक्यवृत्तिर्विक्यरचना वेद तद्रचनात्वात् उभयाभिमतवाक्यरचनावत् ।” — प्रग० श्लो० प० ५८१ । प्रग० क० प० २१७ । “तथा च वत्कियो रचना वतुपूर्वा रचनात्वात् लौकिकरचनावत् ।” — न्यायम० प० २३२ । स्या० २० प० ६३२ । “ततो ये नर रचिनवचनरचनाऽविशिष्टास्ते पौरुषया यथाऽभिनवकूपप्रासादादिरचनाऽविशिष्टा जीणकूपप्रासादादय, नररचितवचनरचनाऽविशिष्टाश्च वदिक वचनमिति ।” — प्रमेयक० प० ४०२ । समति० टी० प० ३९ । (१५) तुलना—“इतश्च वणवत्त्वात्, णवन्ति लौकिकवाक्यानि अनित्यानि तथा च वेदवाक्यानि, तस्मान्नायप्यनित्यानि । इतश्च सामान्यविसयवत्त्वे मति श्रोत्रग्राह्यत्वात् लौकिकवाक्यवत् । इतश्च

1-वमिति व० । 2-त्रिरुगमयाद्धारहेतो 3-वतयाभावहेतो आ० । 3 तत्रकत्त-व० ।

4 अपतदप्रा-व० ।



आप्नोक्तानि, प्राक्यत्वे सन्ति प्रमाणत्वात्, यदित्थ तत्तथा यथा पित्रान्निघान्त्यम्, तथा चामूनि, तस्मात्तथेति ।

यन्मयभिहितम्—'वेदरचनाया कर्त्तृपूर्वकरचनापिलक्षणत्वात्' इत्यादि, तत्र किमिदं तस्या तद्वैलक्षण्यं नाम—दुर्भणत्वम्, दुःश्रणत्वम्, लोभ्यावरणप्रसिद्धशब्दवैलक्षण्येन शब्दत्रिनिवेश, अपूर्णज्ञानोन्नतत्वम्, अतीन्द्रियार्थप्रतिपादकत्वम्, महाप्रभावोपेत-  
मत्रयुक्तत्व वा ? सर्वमेतत्पुण्याणा न दुर्गरम्, विज्ञानवरणपाटवाधीनत्वाद्वाचोयुक्ते ।  
मन्त्राणाञ्च महाप्रभावोपेतत्व पुरुषप्रणीतत्वेनैरोपपन्नम्, निरतिशयप्रभावप्रता हि पुरुषेण पञ्चत्वात् लोकिन्वक्तव्यवत् । 'न्यायवा० पृ० २७२ । अनित्यानि वेदवाक्यानि वाक्यत्वाद्गुणमया भिन्नतवाक्यवत् ।'—प्रश० ध्यो० ५८१ । 'न चाश्वरराशस्पीरुपेयत्व यत् स्वतः प्रमाणं वदं स्यात् सास्त्रातरस्यापि तन्नुपज्ञातं विशयाभावाच्च ।'—सिद्धिवि० टी० पृ० ४०६ B । वेत्तव्यं वाक्यानि पौषय्याणि पञ्चत्वाच्च भारतान्पदवाक्यवत् ।—प्रमेयक० पृ० ३९१ । 'भूति-पौरुषयो वर्णाधामकत्वात् कुमारसम्भवादिवत् ।—रत्नाकराय० ४१९ ।

(१) पृ० ७२२ पृ० ११ । (२) तुलना—'दुर्भणत्वानुदात्तत्ववित्पटत्वात्प्रव्यतादयम् । वेदमयं हि दृश्यते नास्ति कान्तिवचस्त्वपि ॥ विषयगमभूत्यादि यच्च किञ्चित्समीप्यते । सत्यं तद्वननेयात् मन्त्रवातेऽपि दृश्यते । दुर्भणत्वं दुरभिधानम्, अनुदात्तव मनोनत्वम् किञ्चित् व्यवहितम्, अध्रयता धुनिदुर्भगता । आदिशब्देन पञ्चिच्छब्दोत्पत्तोत्तान्तिपरिग्रहः । विषयगमे भूति सामर्थ्य प्रभाव इति यावत् । अथवा विषयगमस्य भूतिश्चेति समास, भूतिवभूतिरदवयमिति यावत् । आदिशब्देन भूतप्रहाद्यावेगवर्गीकरणाभिचारान्यो गह्यन्ते । सयमिति अविशवात् । वनतेयात्वेत्यादिशब्देन बौद्धादिमन्त्रवात्परिग्रहः ।—तरुवत्त० पृ० ७३९ । 'सर्वेषां दुर्भणत्वान्ना मन्त्रानि सामर्थ्यानाञ्च साधारणत्वात् ।—प्रमाणवा० मनोरथ० ३२४२ । 'दुर्भणतदुःश्रवणादीनामस्मदाद्युपलभ्याना तन्तियात्तराणां शक्यत्रियत्वादितरत्रापि ।'—अष्टा० अष्टसह० पृ० २३७ । स्या० १० पृ० ६३३ । रत्नाकराय० ४१९ । (३) तुलना— अपि चेद मन्त्रा अपौरुषयश्चेति व्याहृतं पश्याम । तथाहि—'समयत्वे हि मन्त्राणां कस्यचित् कायसाधनम् । युवत यद्यते मन्त्रा कस्यचित्तमयो यथा मत्प्रणोत्तमेतदभिमतार्थोपनिबन्धन वाक्यमेव निम्नज्ञानमनेनार्थेन योजयामीति पराधपरतानुरोधेन अयतो वा कुतश्चिद्धतो स्यात् तदा मन्त्रप्रयोगात् कदाचित्कल्पितयुक्ता कविसमयादिव पाटकानाम् ।—प्रमाणवा० स्ववृ० १२९४ । अपि च न मन्त्रो नामा यत्नेव किञ्चित् । किं तर्हि ? सत्यरथादि । यथाभूताभ्यान् सत्यम्, इन्द्रियमनसोत्पन्न तपो प्रभावो विपस्तम्भनात्सामर्थ्यं स विद्यते येषां पुमा तं तथा तेषां सत्यतप प्रभाववता पुसा समीहिनाथस्य साधनं तत्रैव मन्त्रः । तद्वच्च मन्त्राणां मद्यत्वेऽपि पुरुषपुं दृश्यत एव । किं कारणम् ? यथास्व सत्याधिष्ठानबलात् विपदहनात् स्तम्भनस्य सामर्थ्योपघातस्य दशनात् । तथा ऋषराणां कथाञ्चित् स्वनिधमस्थानामद्यापि विषयपनयनशक्ति युक्तस्य कारणान् शक्युवन्त्येव पुरुषा मन्त्रान् कर्तुम् । अबदिकानाञ्च—वेदादयसा बौद्धादीनामिति, आदिशब्देन आहृतमारुडभाहृश्वरादीनां मन्त्रकल्पानां मन्त्राणां मन्त्रकल्पानाञ्च दशनात् । विद्याक्षराणि मन्त्रा तस्मात्तन्निघानोपदेगा मन्त्रकत्वात् तेषाञ्च बौद्धादीनामन्त्रकल्पानां पुरुषकृतं पुरुष करणात् ।—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३४२ । 'यद्यपि मन्त्रविन् वैचित्मन्त्रान् वाचन कुर्वते । प्रभो प्रभाव स्तेषां स तनुवन्त्यावृत्ति ॥ कृतका पौरुषयाश्च मन्त्रा वाच्या फल्गुना । अशक्तिसाधनं पुसानेनैव निराकृतम् ।—प्रमाणवा० ३३०९—१० । परोप्याया मन्त्राक्षरेऽपि दशनात् । न ह्यावयणा नामैव मन्त्राणां कतिरुपलभ्यत न पुनः सौगतादिमन्त्राणामिति शक्यं वस्तु प्रमाणवाधनात् ।—अष्टा० अष्टसह० पृ० २३७ । स्या० १० पृ० ६३३ । 'मन्त्रादीनाञ्च सामर्थ्यं सावरणामपि स्फूर्त्तम् ।

'अमुष्मान्मन्त्रादस्येदं फलं भवतु' इत्यनुमन्धाय यदा यथा कयाचित् भाषया प्रयुज्यन्ते मन्त्रा तदा तेषां तत्कर्तृप्रभावादेव तथाविधार्थक्रियाकरणसामर्थ्यं सभाव्यते । दृश्यते हि साम्प्रतमपि महाप्रभाववतो मन्त्रादिना आज्ञाप्रदानात् ज्वराद्युच्चाटन निर्विपीकरणादि च ।

निश्च, अत्र विशिष्टा रचना दृश्यमाना तत्करणासमर्थमेव कर्त्तार प्रतिक्षिपति नतु कर्त्तृमात्रम् । न हि जीर्णरूपप्रासान्नादौ विशिष्टा रचनोपलभ्यमाना तन्मात्र प्रतिक्षिपन्ती प्रतीता, तत्करणासमर्थस्यैव शिल्पिन तैर्या प्रतिक्षेपात् । नहि कर्त्तृन्व्यव्यतिरेकानुविधायिनो धर्मा कर्त्तारमन्तरेण उपपन्नन्ते । अत 'वैदिकी रचनाऽपोन्पेयी' इत्याद्यनुमानमनुपपन्नम्, दृष्टकर्त्तृकरचनाविलक्षणत्वस्य उक्तप्रकारेण तत्रोऽसभवात् । सभवे वा कर्त्तृमात्रानिषेधकत्वात् । ततोऽयुक्तमुक्तम्—'रचनामात्रात्कर्त्तृनुमाने जगतो बुद्धिमद्धेतुकत्वानुमानानुपपन्न' इत्यादि, वेदरचनाया कर्त्तृपूर्वकरचनाविलक्षणत्वाव्यवस्थिते, जगद्रचनायास्तु तैस्तिष्ठते । तत्स्थितिश्च ईश्वरनिराकरणप्रघटके सप्रपञ्च प्रपञ्चिता ।

यदप्युक्तम्—'वेदाध्ययन सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वम्' इत्यादि, तत्र निर्विशेषणमध्ययनशब्दवाच्यत्वम् अपौरुषेयत्व प्रतिपादयेत्, सविशेषण वा ? तत्र आद्यत्रिंशत्पेऽनैकान्तिरत्नम्, निश्चितकर्त्तृकेषु भारतादिष्वप्यस्य भावात् । द्वितीयपक्षे तु किं तस्य विशेषणम् ? वेदश्चेत्, ननु वेदविशिष्टमध्ययन किं तावन्मात्रेण हेतु, अपरविशेषणत्रि-

प्रतीत मन्त्रलक्षेऽपि न चाप्यर्थाभिचारि तत् ॥"—प्रमाण० १०।४४।

(१) सद्दृतरूपया प्रादृतरूपया पालिरूपया वा भाषया । (२) वेत्ते । तुलना—'अपि च यद्विलक्षण्य रचना तद्विलक्षण एव कर्ता अनुमीयता न पुनस्तदपलापो युक्त इत्यप्युक्तम् ।'—प्रायम० पृ० २३६ । "अपि चात्र विशिष्टा रचना दृश्यमाना तत्करणासमर्थमेव कर्त्तार निरागुह्ये न पुन कर्त्तृमात्रमपि ।"—स्या० १० पृ० ६३४। (३) कर्त्तृमात्रम् । (४) विशिष्टरचनया । (५) वेदे । (६) पृ० ७२२ पृ० १२ । (७) कर्त्तृपूर्वकरचनाविलक्षणत्वस्थिते, यतो हि विद्यमानवाक्येषु अक्रियादिनिर्देशपि दृष्टबुद्धिरुपजायत नतु क्षित्यादौ । (८) पृ० १०२ । (९) पृ० ७२२ पृ० १७ । (१०) तुलना—'किञ्चात्र निर्विशेषणमध्ययनशब्दवाच्यत्वमपौरुषेयत्व प्रतिपादयेत् कथस्मरणविशिष्ट वा ?"—प्रमेयक० पृ० ३६९। समति० टी० पृ० ४१। स्या० १० पृ० ६३४। (११) तुलना—'यत एवन्तस्मादध्ययनमध्ययनान्तरत्वं अध्ययनान्तरपूवकमिति साध्ये अध्ययनानिति लिङ्गव्यभिचारि, भारताद्यध्ययने पौरुषेयत्वाध्ययनत्वस्य भावात् ।'—प्रमाणवा० स्वदू० टी० पृ० ३४५ । "न हि तच्छब्दवाच्यत्वदृष्टमनादित्वमुपपद्यते । अनकान्तिकत्वाय हेतु, भारतप्यवमभिधातु दाक्यत्वात् । भारताध्ययनं सव गुवध्ययनपूर्वक भारताध्ययनवाच्यत्वादिदानीन्तनभारताध्ययनवदिति ।'—प्रायम० पृ० २३३ । प्रमेयक० पृ० ३६९ । समति० टी० पृ० ४१ । स्या० १० पृ० ६३४ । "पिटवत्रयादावपि तत्र एव वस्त्रभावप्रसङ्गात् । वेदाध्ययनवदितरस्यापि भवत्याध्ययनपूर्वाध्ययनत्वप्रकल्पौ न वक्त्रवशीभवति, यतो विद्यमानवक्त्रकेऽपि भावाद्यध्ययनवाच्यत्वस्यानकान्तिकत्वं न स्यात् ।'—अष्टम० अष्टमह० पृ० २३७ । "भारताध्ययनं सव गुवध्ययनपूर्वकम् । तदध्ययनवाच्यत्वात्पुनाध्ययन यथा ॥"—प्रमेयक० ३।९०। (१२) अध्ययनशब्दवाच्यत्वादिति हेतौ ।

1 भवति व० । 2 तदा नास्ति आ० । 3-मानतकरण-श्र० । 4 ननु आ० । 5 तथा आ० । 6-हेतुत्वानु-आ० । 7 भारतेष्वप्यस्य व० । 8 तदभावात् व०, श्र० । 9 वेदश्चेन्नतु श्र० ।

शिष्टत्वेन वा ? यदि तावन्मात्रेण, तदाऽऽतिशयैव, विपक्षेऽप्यस्यै अविच्छेदतया मद्भास-  
सभवात् । विपक्षेण विरुद्ध हि विशेषण ततो हेतु व्यावर्त्तयति नायद् अतिप्रसङ्गान् ।  
नच वेदविशेषण कर्त्तृपूर्वकत्वेऽक्षयविपक्षेण विरुद्धम् भारताध्ययनवद् वेदाध्ययनस्यापि  
सम्बन्धत्वेऽप्यविरोधात् ।

किञ्च, यथाभूतानां पुष्पाणामध्ययनम् अध्ययनपूर्वकं दृष्टं तथाभूतानामेव तत्तथा  
साध्यते, अथवाभूतानां वा ? यदि तथाभूतानाम्, तदा सिद्धसाधनम् । अथ अ-  
थाभूतानाम्, तर्हि जगतो बुद्धिमद्वैतुक्त्ये सन्निवेशान्निवदप्रयोजनो हेतु । अथ तथाभूता-  
नामेव तत्तथा साध्यते, नच सिद्धसाधनम्, सर्वपुष्पाणामतीन्द्रियार्थदर्शनशक्तिरैक्येन  
अतीन्द्रियार्थप्रतिपादनप्रेरणाप्रेणेतृत्वाऽसामर्थ्येन ईदृशैस्त्वात्, तदप्यसुन्दरम्, प्रेरणीया

(१) तुङ्गा-<sup>१</sup>वेत्न विशपणाददोष अध्ययनमात्रस्य हि व्यभिचारो न यत्ने विशिष्टस्या  
ध्ययनस्यत्वभिप्राय । न पुनरित्यादि सिद्धान्तवादी । कोऽतिशयोक्तेः अयनस्य येन तदाध्ययनमप्य  
यति स्वयं कृत्वाऽध्ययतु न शक्यत । नच कश्चिदतिशय । ततो वेदाध्ययनञ्च स्यात् न अध्ययन  
पूर्वकमिति विरोधाभावात् । स एव व्यभिचार । यस्माद्बहिर् विपक्षेण वेदत्वम अविच्छेद विपक्षेण अन-  
यनान्तरपूर्वकत्वेन सह अस्माद् विपक्षाद् हेतु निवर्तयति । किं कारणम् ? अविच्छेदयो वेदत्व-अध्यय-  
नान्तरपूर्वकत्वयोरेकत्र वेदभावस्य सम्भवात् । को ह्यत्र विरोधो यद् वेदाध्ययनञ्च स्यात् न अध्ययना-  
न्तरपूर्वकमिति । तस्माद्बहिर् विपक्षेणमध्ययनस्य हेतोरतिशयभाग् न भवति विशेषापायकत्र भवति  
विपक्षविरोधाभावेन विपक्षान्वाचननात् उपात्तमपि विपक्षेणमनुपात्तसमम् ।<sup>२</sup>—प्रमाणवा० स्व२० टी०  
प० ३४५। प्रमेयक० प० ३९७। स्या० प० ६३४। (२) अन्वयनपूर्वकाध्ययने सकलके (३) वदविशेष-  
णस्य अध्ययनान्वाच्यत्वस्य । (४) विपक्षात् । (५) अस्मन्तीनाम् अवान्तीनाम् । तुङ्गा-<sup>३</sup>किञ्च  
यथाभूतानां पुष्पाणामध्ययनमप्ययनपूर्वकं दृष्टं तथाभूतानामेव अध्ययनान्वाच्यत्वमप्ययनपूर्वकत्व  
माद्ययनवत्तथाभूतानां वा ? —प्रमेयक० प० ३९८। समति० टी० प० ४१। स्या० २० प० ६३४। (६)  
गुवध्ययनपूर्वकम् । (७) यन्वाध्ययनम् । (८) वेदाध्ययनपूर्वकम् । (९) अतीन्द्रियार्थदर्शनशक्तिर्ना  
पुष्पाणां वा । (१०) अस्मन्तीनाम् । तुङ्गा-<sup>४</sup> याद्वा त्वध्ययन स्वयङ्कृतुमग्नस्य तन्निमित्तम्  
अध्ययनान्तरनिमित्तं दृष्टं तत्तयान् अयनान्तरपूर्वकमेवति स्यात् तन्निमित्ततया शक्तिनिमित्ततया  
दृष्टव्येने विशेषे स्वयं कृत्वाऽप्ययनलक्षण तस्याग्न तस्य विपक्षस्य त्यागन वेदाध्ययनत्वसामायस्य  
ग्रहण शक्यस्याग्नस्य वा सव वन्वायनमध्ययनान्तरपूर्वक वेदाध्ययनत्वसामायान्ति त्रियमाण  
व्यभिचार्येव । किञ्चिद् ? हुतागतिसिद्धौ अग्निसिद्धौ वाङ्मदुद श्लवकन —प्रमाणवा० स्व२० टी० प०  
३४६ । (११) यादसं सन्निवर्त्तयति यदात्पि यदत्रियार्त्तात्तोऽपि कृतबुद्धमुत्पादकं दृष्टं तादगमेव जीण्  
पाणी बुद्धिमद्वैतुक्तत्वमनुमाययति ननु तद्विपक्षेणम्—अत्रियार्त्तात्तस्य कृतबुद्धचतुत्पात्तमिति स्थिति, तथापि  
सन्निवर्त्तयतामायात् पृथिव्यात्वापि बुद्धिमद्वैतुक्तत्वानुमाने मन्त्रकारत्वहेतुता वनीकस्यापि कुम्भकार  
कृतत्व स्यात् ततो यथा जगता बुद्धिमद्वैतुक्त सन्निवर्त्तयतामायमकिञ्चित्कर तथव यात्तानाम  
स्मन्तीन्द्रियार्थप्रतिपादनमध्ययनान्तरपूर्वक दृष्टं तादगतानामेव देशान्तराणी अध्ययनपूर्वकत्व साधयितुमुचिन्  
न तु अयाद्दानामतीन्द्रियार्थप्रतिपादनम् तत्र अध्ययनान्वाच्यत्वस्य अप्रयोजकत्वान्ति भाव ।  
(१२) अस्मन्तीनाम् अवात्तानाम् । (१३) अध्ययनम् । (१४) अध्ययनपूर्वकम् । (१५) अथवा  
भूतान्तीन्द्रियार्थप्रतिपादनमाद्ययनम् । (१६) अस्मन्तीनाम् अवात्तानाम् । (१७) वदस्य ।

तथाभूतार्थप्रतिपान्ने प्रामाण्याप्रसिद्धे । तत्प्रसिद्धिश्च गुणवतो वस्तुभावे तद्गुणै-  
रनिराहृतैर्दोषै तस्यापोहित्वात् सुप्रसिद्धा । तथाभूताश्च प्रेरणामतीन्द्रियार्थदर्शन-  
शक्तिरिन्द्रिणोऽपि कर्तुं ममर्था इति कुत्र तथाभूतप्रेरणाप्रणेतृत्वाऽसामर्थ्येन अज्ञेयपुरु-  
पाणामीदृशत्वसिद्धिर्यत् सिद्धसाधनं न स्यात् । अथ न गुणवद्वक्त्रत्वेनैव शब्देऽ-  
प्रामाण्यनिवृत्तिरपौरुषेयत्वेनाप्यर्थाः सभ्रजात् ततोऽयमन्येय, तदध्यसात्प्रतम्, यतोऽ-  
पौरुषेयत्वमस्या किमन्यतः प्रमाणात् प्रसिद्धम्, अत एव वा ? यदि अन्यत, तत्र  
अस्य वैयर्थ्यम् । अत एव चेत्, अन्योन्याश्रय—अतो हि अनुमानादपौरुषेयत्वसिद्धौ  
प्रेरणाया प्रामाण्यसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तथाभूतप्रेरणाप्रणेतृत्वासामर्थ्येन सर्वपुरुपाणामी-  
दृशत्वमिद्विरिति । तत्र वेत्नाध्ययनमात्रं हेतुः ।

अथ अपरविशेषणप्रतिष्ठम्, किं पुनस्तत्र विशेषणम्—कर्त्रस्मरणम्, सम्प्रदाया  
व्यवच्छेदो वा ? न तत्रात् कर्त्रस्मरणम्, तस्य असिद्धाद्यनेकदोषदुष्टत्वप्रतिपादनात् ।  
सम्प्रदायाव्यवच्छेदोऽपि आत्मगत, सर्वलोकगतो वा ? न तावदात्मगत, भारतादिवत्  
पौरुषेयत्वेऽप्यस्य सम्भवात् । नापि सर्वलोकगत, अमर्षविदा तस्य सतोऽपि ज्ञातुम-  
शक्यत्वात्, “वटे वटे वैश्रयण ” [ ] इत्यादिवत् पौरुषेयत्वेऽप्यर्थाऽविरोधाच्च ।

अत्रि, प्रामाण्यव्यवस्था भवति । सम्प्रदायाव्यवच्छेदश्च किं स्वतन्त्र प्रमाणम्,  
प्रत्यक्षान्यतमत, तदन्तर्भूतं वा ? न तत्रात् स्वतन्त्रम्, पदप्रमाणसरयाव्याघात-  
प्रसङ्गात् । नापि प्रत्यक्षान्यतमत, तस्यै तत्सामग्रीतो त्रिलक्षणसामग्रीप्रभवत्वात्,  
आद्यापारम्पर्यवत् । अत एव न तदन्तर्भूतम् । ततो वटे यक्षपारम्पर्यवत् सशयर्चनक-  
मेतैतैर् नार्थतत्त्वव्यवस्थापनप्रवणम् । अव्यवच्छेदश्चास्यै श्रद्धामात्रगम्य, नैपथ्यव्यव-

(१) अतीन्द्रियाय । (२) तुलना—“गिरा सत्यत्वहेतूना गुणाना पुस्वाधयातः अपौरुष्य  
मिथ्यार्थं किन्नेत्ये प्रचक्षते ॥” —प्रमाणवा० ३।२२५। “यावता गुणवद्वक्त्रभावे तद्गुणरनिरा  
हृतदोषपरपोहितत्वात् तत्र सापवाद प्रामाण्यम् ।” —प्रमेयक० पृ० ३९७ । समति० टी० पृ० ४१ । स्या०  
२० पृ० ६३४ । (३) वक्तृगुण । (४) प्रामाण्यस्य निराहृतत्वात् । (५) अप्रमाणभूताम् ।  
(६) अप्रामाण्यनिवृत्ते । (७) चोदनाया । “यतोऽपौरुषेयत्वमस्या किमन्यत प्रमाणात् प्रति  
पन्नमत एव वा ?” —प्रमेयक० पृ० ३९७ । समति० टी० पृ० ४१ । स्या० २० पृ० ६३५ । (८)  
अस्मदादिवदवागदित्वसिद्धिः । (९) वेत्नाध्ययनवाच्यत्वात् हेतुः । “किं तत्र विशेषणम्—कर्त्रस्मरण  
सम्प्रदायाव्यवच्छेदो वा ?” —स्या० २० पृ० ६३५ । (१०) ‘सम्प्रदायाव्यवच्छेदोऽपि आत्मगत,  
सर्वलोकगतो वा ?’ —स्या० २० पृ० ६३५ । (११) सम्प्रदायाव्यवच्छेदस्य । (१२) सम्प्रदायाव्यव-  
च्छेदस्य । (१३) विलक्षणसामग्रीप्रभवत्वादेव । (१४) प्रत्यक्षाद्यन्तगतम् । (१५) सम्प्रदायाव्यवच्छे-  
दात्मव प्रमाणम् । (१६) वेदस्य । तुलना— अपि च आदिमतोऽपि शास्त्रप्रामाण्य सम्प्रदायाव्यवच्छे-  
दोऽस्ति वेदस्य पुनरन्तरेत्तो नास्तीति च आदिको भवतोऽपर प्रतिपद्येत् ।” —स्या० २० पृ० ६३५ ।

१—नोदित—आ० । २—पादित—प्र० । ३ सवगतो व०, प्र० । ४ ततो दृष्टवद्वक्त्रपारम्पर्यवत्  
संगतवद्वक्तुमेवेतदव्यवस्था भवति । व० । १—जननेव तस्याय—आ० ।

हारवाल्ल्रीढादीनाम् औदिमतामपि निर्मूलोच्छेत्पलम्भेन अनान्यै वेदे अव्ययच्छेत्स्य  
श्रद्धामात्रादन्यत सभायितुमशक्यत्वात् ।

यदप्युक्तम्—‘अतीतानागतौ कालौ’ इत्यादि, तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, आगमा-  
न्तरेऽयस्याभिधेयात् । त्रिञ्चै, इत्यादी यथाभूतो वेदकरणेऽसमर्थपुण्ययुक्त तत्त्व-  
पुरपरहितो वा काल प्रतीत अतीतोऽनागतो वा तथाभूत कालत्वात् साध्येत, अन्य-  
थाभूतो वा ? यदि तथाभूत, तदा सिद्धमाघनम् । अथ अयथाभूत, तदा सत्रिये-  
शादिवदप्रयोजनो हेतु । अथ तथाभूतस्यैव तस्य तद्वद्विदितत्व साध्यते, नच सिद्धमाघनम्  
अयथाभूतस्य कालस्यैवाऽसभवात्, ननु ‘अन्यथाभूत कालो नास्ति’ इत्येतत् कुत  
प्रमाणात् प्रतिपन्नम्—अत एव, अयतो वा ? यदि अत एव, इतरतराश्रय—अन्यथाभूतका-  
लाभावसिद्धौ हि अतोऽनुमानात्तद्विदितत्वसिद्धि, तस्मिन्नेव अयथाभूतकालाभावसिद्धि-  
रिति । अ यत् तस्मिन्नेव चास्त्यनर्थन्यम् अपौरुषेयत्वस्यापि तत एव प्रसिद्धे । ततो वेदे  
अपौरुषेयत्वप्रमाधकस्य कस्यचिदपि प्रमाणस्यासभवात् पथमसौ अपौरुषेय स्यात् ।

अस्तु वा, तथाप्यसौ व्याख्यात, अव्याख्यातो वा स्वार्थे प्रतीतिं कुर्यात् ?  
न तावदव्याख्यात, अतिप्रसङ्गात् । अथ व्यौरथात, कुतस्तद्व्याख्यानम्—स्वत, पुनपद्वा  
न तावत् सैत एव, ‘अयमेव मनीयपन्थान्यानामथ नायम्’ इति स्वय वेदेनाऽप्रतिपा-

(१) प० ७२३ प० १ । (२) तुलना—‘कालत्वपुण्यत्वाद्दी सदिग्धव्यतिरेकिना । पूर्ववत्करण  
गत्ने नराणामप्रमाघनात् ॥—तत्त्वस० का० २७९९ । (३) तुलना—‘विचिन्तना यथाभूतो वेदाकरण  
समपपुरुषपथव तत्कतपुरुपरहितो वा काल प्रतीत अतीतानागतो वा तथाभूत कालत्वात्साप्यत  
अयथाभूतो वा ?’—प्रमेयक० प० ३९९ । सामति० टी० पृ० ३१ । द्या० २० पृ० ६३५ । (४)  
वत्कतपुरुपरहित । (५) हेतो वदकारविवर्जित इति गप । (६) वेदकतपुरुसहित । (७)  
वेदकतपुरुपरहितकालस्य वेदकारविवर्जितत्वमित्येव । (८) वेदकरणसमपपुरुसहित तत्कतपुरुस  
सहितो वा । (९) वत्कतपुरुपरहितस्यव । (१०) कावस्य । (११) वेदकाररहितत्वम् । (१२)  
वेदकतपुरुसहितकालसम्भावनाया । (१३) वदवत्पुरुसहितस्य । (१४) तुलना—‘नचयथाभूत  
कावो नास्तीत्यतुत प्रमाणात् प्रतिपन्नम् ?’—प्रमेयक० प० ३९९ । सामति० टी० पृ० ३१ । द्या० २०  
पृ० ६३५ । (१५) कालत्वात् हेतो । (१६) वेदकतुसहित । (१७) वदकारविवर्जितत्व ।  
(१८) अयथाभूतकालाभावसिद्धौ । (१९) कालत्वानिति हेतो । (२०) तुलना—सहि वेद  
वेदचिद् व्याख्यात घमस्य प्रतिपादक स्यादव्याख्यातो वा ?’—आप्तप० का० ११० । प्रमेयक०  
पृ० ४०० । स्प० २० पृ० ६३६ । प्रमेय० ३१९९ । (२१) तुलना— न हि तावत्स्वितोप्यप्य नान वेद  
करोति न । यावत्त पुरुषरेव दीपभूत प्रकाशित ॥ ततस्त्वापीरपयत्व भूतापज्ञानकारणम् । न कल्पं  
नाममत्तद्दि पुव्याख्यानात्प्रवर्त्ती ॥ सत्यप्येया निरर्थास्तो वेदस्वाचौरुपयना । यन्दि फलमस्या हि नानं  
तुलनाभित्तम ॥ स्वतदा पुरुषारवेह वेदे व्याख्या यथासि । कुर्वाणा प्रतिबद्ध ते शक्यन्ते तव  
वेनचित् ॥ मोहमानानिभिर्निरतोमी विप्लुता धुने । विपरीतामपि व्याख्या कुर्यात्प्रभिशङ्कयत ॥  
—तत्त्वस० का० २३६६—७१ । (२२) तुलना— अर्थोऽय नायमय इति गत्वा वदन्ति न । कल्पो

1 अधिमता-थ० । 2 वेदाकरणसमय-३० । 3 तदवत्पुरु-व० । ‘तत्कतपुरुपरहितो’  
इति नास्ति वा० ।

दनात्, अन्यथा व्याख्याभेदो न स्यात् । पुरुषान्चेत्, कथं तद्व्याख्यानात् पौरुषेया-  
दर्थप्रतिपत्तौ नोपाशङ्कानिवृत्तिः स्यात् ? पुरुषा हि रागादिमन्तो निपरीतमप्यर्थं व्याच-  
क्षाणा दृश्यन्ते । सवादेन प्रामाण्याभ्युपगमे च अपौरुषेयत्वकल्पनानर्थक्यम्, पौरुषेयत्वेऽपि  
वेदस्य सवादादेव प्रामाण्योपपत्तेः । नच व्याख्यानानां सजादोऽस्ति, परस्परविरुद्ध-  
भावनानियोगान् व्याख्यानानामन्योन्य विसर्वाणोपलम्भात् ।

मिथै, असौ तद्व्याख्याता अतीन्द्रियार्थद्रष्टा, तद्विपरीतो जा ? प्रथमपक्षे अतीन्द्रि-  
यार्थदर्शिन प्रतिषेधविरोधः । धर्मानौ च अस्यै प्रामाण्योपपत्तेः “धर्मो चोदनैव  
प्रमाणम्” [ ] इत्यनुधारणानुपपत्तिश्च । अथ तद्विपरीत, कथं तर्हि तद्व्या-  
ख्यानाद् यथार्थप्रतिपत्तिः, अथार्थाभिधानाशङ्कया तदनुपपत्तेः ?

अथ पुरुष ते च रागादिसमुता ॥”-प्रमाणवा० ३।३१२ । “वेदो नर निरागसो ब्रूतेऽथ न सदा  
स्वन । अधात्तयष्टितुल्या तु पुब्याख्या समपेक्षते ॥ स तथा कृप्यमाणश्च कुवर्त्मयपि सम्पनेत । ततो  
नाशोक्वद्वेदश्चक्षुभूतश्च युज्यते ॥”-तत्त्वस० भा० २३७४-७५ । प्रमेयक० प० ४०० । स्या० २०  
प० ६३६ । प्रमेयर० ३ । ९९ । “अथवा न तावदय वेद स्वस्याथ स्वयमाचष्टे सर्वेषामपि तदवगम  
प्रसङ्गात् ॥”-धवलाटी० प० १९५ ।

(१) तुलना-“व्याख्याप्यपौरुषेयस्य मानाभावान्न सङ्गता । मिथो विरुद्धभावाच्च तत्साधुत्वा  
धनिश्चिन्ते ॥”-शास्त्रवा० १०।३१ । (२) तुलना-“अथाये व्याचक्षते, तेषां तदर्थविषयपरिचान  
मस्ति वा न वा । प्रथमविकल्पेऽपि सवर्णो वा स्यात्सवज्ञो वा ?”-धवलाटी० प० १५९ । “व्याख्याता  
रागादिमान विरागो वा ?”-आप्तप० का० ११० । तत्त्वाथश्लो० प० ८ । प्रमेयक० प० ४०१ ।  
स्या० २० प० ६३६ । प्रमेयर० ३ । ९९ । (३) तुलना-“यद्यत्यन्तपरोक्षेऽर्थेऽज्ञागमज्ञानसम्भवः ।  
अतीन्द्रियाथवित् कश्चिदस्तीत्यभिमत भवेत् ॥ यद्यत्यन्तपरोक्षेऽर्थे स्वयसम्बन्धादौ जमिनादेरनागमस्य  
आगमनिरपेक्षस्य ज्ञानस्य सम्भवः तदा अतीन्द्रियाथदर्शी कश्चिदस्तीत्यभिमत भवेत् ततस्तत्प्रतिक्षयो न  
युक्तः । यत्ति तु न कश्चिदस्तीन्द्रियाथदर्शी तदा-स्वयं रागादिमात्राय वत्ति वेदस्य नायत । न वेदयति  
वेदोऽपि वेदाथस्य कुतो गतिः ॥”-प्रमाणवा०, मनोरथ० ३।३१६-१७ । (४) अतीन्द्रियाथद्रष्टुः ।  
(५) “चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥”-जमिनिसू० १।१।२ । “चोदनव प्रमाणञ्चेत्यतद् धर्मोऽवधारितम् ॥”  
-मी० श्लो० चोदना० श्लो० ४ । ‘यो धर्मः स चोदनालक्षण चोदनव तस्य लक्षणम् । -शास्त्रदी०  
१।१।२ । उद्धतमिदम्-आप्तप० प० ५७ । तत्त्वाथश्लो० प० १२ । प्रमेयक० प० ४०१ । स्या० २०  
प० ६३६ । (६) यथाथप्रतीत्यनुपपत्तेः । तुलना-‘अपि च वेदस्तद्व्याख्यानं वा पुरुषेण पुरुषायोपदि-  
श्यमानमनष्टसम्प्रदायमेवानुव्रते इत्यत्रापि शक्यं शरणम् । आगमभ्रशकारिणांमाहोपुत्रयिकया तद्दर्शनं  
विद्वेषणं वा तत्प्रतिपन्नगलीकरणाय घृतव्यसनेन जयतो वा कुतश्चित् कारणदयथारचनानामभावात् ।  
अपि चात्र भवान् स्वमेव मुखेण स्ववादानुरागान् वित्तमत्तवान् ‘पुरुषो रागादिभिरुपप्लुतोऽज्ञतमपि  
ब्रूयादिति नास्य वचनं प्रमाणम्’ इति । तदिहापि किञ्च प्रत्यवेद्यते सम्भवति न वेति । स एवोपनि-  
शुप्लवात् वेदवेदाथ वाऽयथाप्युपदिशति । श्रूयत हि कश्चिन् पुरुषस्सन्नोद्धतानि शाखातराणि  
इदानीमपि वानिचिद् विरलाध्येतकाणि । तद्वत् प्रचुराध्येतकाणामपि कश्चिद्विचत्वात् कथञ्चित्संहार  
सम्भवात् । पुनः सभावित्पुरुषप्रत्ययात् प्रचुरतोपगमनसंभावनासंभवाच्च । तेषाञ्च पुनः प्रतानयित्वा  
पुरुषाणां वानाचिदधीतवित्स्मृताध्ययनानामयथा संभावनाऽङ्गभयान्नाज्ययोपदेशसंभवात् । तत्प्रत्ययाच्च

नच मन्त्याना सातिशयप्रज्ञत्वान् तद्व्याख्यानाद् यथार्थप्रतिपत्ति, तेषां सातिशय-  
 यप्रज्ञत्वामिद्धे । तेषां हि प्रज्ञातिशय म्यत, वेत्तार्थाभ्यासात्, अन्वृत्तात्, ब्रह्मणो वा  
 स्यात् ? स्वतश्चेत्, सर्वस्य स्यादत्रिशेषात् । वेत्तार्थाभ्यासात्चेत्, ननु वेदार्थस्य ज्ञातस्य,  
 अज्ञातस्य वा अभ्यास म्यात् ? न तावदज्ञातस्य, अतिप्रसङ्गात् । अथ ज्ञातस्य, कुतस्त-  
 ५ ज्ज्ञप्ति - म्यत, अयतो वा ? म्यतश्चेत्, अन्योन्याश्रय - सति हि वेत्तार्थाभ्यासे म्यतस्तत्प-  
 रिज्ञानम्, तस्मिंश्च सति तदर्थभ्याम इति । अथ अन्यत, तर्हि तस्यापि तत्परि-  
 ज्ञानमयत इति अतीन्द्रियार्थदर्शिनोऽनभ्युपगमे अधपरम्परतो यथार्थनिर्णयानुप-  
 पत्ति । अदृष्टमपि न प्रजातिशयप्रसाधनम्, तस्य आत्मातरेऽपि सद्भावात् । न  
 तथाप्रिधमदृष्टमन्यत्र मन्वादावेय अस्य मभवादिति चेत्, कुतस्तत्रैवास्थ्यं सभव ?  
 १० वेदार्थानुष्ठानविशेषान्चेत्, सँ तहि ज्ञातस्य अज्ञातस्य वा वेत्तार्थस्य अनुष्ठानात् स्यात् ?  
 अज्ञातस्य चेद्, अतिप्रसङ्ग । ज्ञातस्य चेत्, चरुप्रसङ्ग - सिद्धे हि वेत्तार्थज्ञानातिशये  
 तदर्थानुष्ठानविशेषसिद्धि, तस्मिंदौ च अन्वृत्तविशेषसिद्धि, ततस्तज्ज्ञानातिशयसिद्धि-  
 रिति । ब्रह्मणोऽपि वेत्तार्थज्ञाने सिद्धे सति अतो मन्वादेस्तर्थापरिज्ञानातिशय सिद्धेत् ।  
 तच्चार्यं कुत सिद्धम् ? धर्मविशेषान्चेत्, म प्य चरुप्रसङ्ग - सिद्धे हि वेत्तार्थपरि-  
 १५ ज्ञानातिशये तत्पूर्वपानुष्ठानविशेष सिद्धेत्, तत तज्जनितधर्मविशेष सिद्धेत्,  
 तस्मिंदौ च वेदार्थपरिज्ञानातिशय सिद्धेत् । ततोऽतीन्द्रियार्थदर्शिनोऽनभ्युपगमे  
 वेत्तार्थप्रतिपत्तोरनुपपत्तिरेव ।

ननु व्याकरणाद्यभ्यासात् लौकिकपदान्म्यार्थप्रतिपत्तौ तद्विशिष्टवैदिकपदवा-

त्तभङ्गानामविकारेण प्रतिपत्त वन्वृत्तव्यधयतु सभावितान् पुरुषान् बन्तुल प्रतिपत्तिदानान् । ततोऽपि  
 कथञ्चिन् विप्रलम्भमभावात् । किञ्च परिमितव्यापानपुरुषपरम्परामव चात्र भवनामपि दृष्टुम् ।  
 तत्र कश्चित् द्विपानधूर्तानामयनम स्यादपीति अनाश्वस । - प्रमाणवा० स्वव० १।३२२ ।

(१) तु० - ' कुतस्तस्य तात्पर्यं प्रज्ञातिशय ? श्रुत्यधर्मत्वतिशयानिति चेत्, सोऽपि कुत ?

पूव्वमनि श्रुत्यभ्यासात्तिति चेत् स तस्य स्वतोऽयतो वा ? स्वतश्चेत् सवस्य स्यात् । तस्यादृष्ट  
 वान् वेत्तभ्यास स्वतो युक्तो न सवस्य तन्भावात्तिति चेत्, कुतस्तस्यैव अन्वृत्तविशेष सादृश ?  
 वेत्तार्थानुष्ठानान्चेत् तर्हि स वेत्तार्थस्य स्वयं पानस्यानुष्ठानात् स्यात्तातस्य वापि ? न तावदुत्तर पय  
 अनिप्रदान । स्वयं पानस्य चेत् परस्परस्य । मन्वादेर्वेदाभ्यासात्तयन एवेति चेत् सकोऽप्य ?  
 श्रुति चेत्, तस्य कुतो वेत्तार्थज्ञानम् ? धर्मविशेषादिति चेत् स एवायायाधय । - तत्त्वार्थश्लो०  
 प० ९ । प्रमेयश० प० ४०१ । श्या० र० प० ६३६ । (२) तुलना - ' यस्मान्कोऽपि तन्मध्ये नवातीन्द्रि  
 यदुक्तम् । अनात्ति क्वचिन्नायेवा तस्मान्परम्परा ॥ अधनाद्य समाकृत्त सम्यक्त्वम् प्रपद्यत ।  
 ध्रुव नव तथाप्यस्या विपलात्प्रान्तिव्ययना । - तत्त्वस० का० २३७९ - १० । ' अविरोधेऽपि नित्यस्य  
 भवेत्परम्परा । तन्वृत्तानोऽभावात्तज्ज्ञानव्यवहारवत् । - यापवि० का० ४१७ । अष्टा०  
 अष्टसह० प० २३९ । प्रमेयश० प० ४०१ । श्या० र० प० ६३७ । तत्त्ववि० शब्द० प० ३६९ ।  
 (३) प्रज्ञातिशयप्रयोजकस्य अदृष्टस्य । (४) मन्वात्ति । (५) ब्रह्मण । (६) ब्रह्मण । (७)  
 धर्मविशेषसिद्धौ ।

१ अदृष्टत्वात् य० । २-ति स्वतश्चेत्तयो-आ० ।

व्यार्थप्रतिपत्तोरपि प्रसिद्धि अश्रुतकाव्यादिवत्, अतो न वेदार्थप्रतिपत्तौ अतीन्द्रियार्थ-  
 दशिता किञ्चित् प्रयोजनम्, इत्यप्यपेशलम्, लौकिकवैदिकपदानामेकरूपेऽपि अनेकार्थ-  
 त्वव्यवस्थिते अन्यपरिहारेण व्याचिख्यासितार्थस्य नियमयितुमशक्ते । न च प्रकरणौ-  
 दिभ्यस्तन्नियम, तेषानमप्यनेरुधा प्रवृत्ते त्रिसन्धानादिवत् । यदि च लौकिकेन अग्न्या-  
 निशब्देन अविशिष्टत्वाद् वैदिकस्य अग्न्यादिशब्दस्य अर्थप्रतिपत्ति, तर्हि पौरुषेयेणैपि  
 तैर्न अविशिष्टत्वात् पौरुषेयोऽग्निसौक्यतः स्यात्<sup>१</sup> लौकिकस्य हि अग्न्यादिशब्दस्य अर्थ-  
 वत्त्वं पौरुषेयत्वेन व्याप्तम्, तत्र अयं वैदिकोऽग्न्यादिशब्दः कथं पौरुषेयत्वं परित्यज्य  
 तदर्थमेव प्रहीतुं शक्नोति ? उभयमपि गृहीयात् जह्याद्वा । न च लौकिकवैदिकश-  
 ब्दयो स्वरूपाऽविशेषे सङ्केतग्रहणसव्यपेक्षत्वेन अर्थप्रतिपादकत्वे अनुच्चार्यमाणयोश्च  
 पुरुषेणाश्रयणे समाने अन्यो विशेषोऽस्ति, यतो वैदिका अपौरुषेया शब्दा लौकिकास्तु  
 पौरुषेया स्युः । ततो ये नररचितरचनाऽविशिष्टा ते पौरुषेया यथा अभिनवकृपप्रा-  
 सादादिरचनाऽविशिष्टा जीर्णकृपप्रासादादयः, नररचितवचनरचनाऽविशिष्टाश्च वैदिक  
 पदवाक्यान्तिकमिति ॥ छ ॥

किं पुनः पद वाक्यश्च इति चेत् ? उच्यते—वर्णानामन्योन्यापेक्षाणां निरपेक्ष  
 पदवाक्यान्तिकमिति—समुदाय पदम् । पदानां तु परस्परापेक्षाणां निरपेक्ष समुदायो

(१) तुलना—'उत्पादिता प्रसिद्धवत् शब्दा शब्दाप्यनिश्चये । यस्मान्नानावृत्तित्वं शब्दानां  
 तत्र दृश्यते ॥ अयथायमभावाज्जानाशक्ते स्वयं ध्वने । अवश्यं गङ्गया भाव्यं नियामकमप  
 श्यनाम् ॥ सवत्र योग्यस्यैकार्यचोचने नियमः कुतः । ज्ञाता वाप्रीन्द्रिमा केन विवक्षावचनादुत ॥ —  
 प्रमाणवा० ३ । ३२३, २४, २६ । प्रमेयक० पृ० ४०२ । स्या० १० पृ० ६३७ । (२) आग्निपदेन  
 सगर्वात्यो गाह्या । तथा चोक्तम्—'सर्वाणि विप्रयोगदत्तं साहचर्यं विरोधिता । अर्थं प्रकरणं लिङ्ग  
 गन्त्यायस्य सन्निधि ॥ सामर्थ्यमोचितो देवः कालो व्यक्तित्वं स्वराज्यं । शब्दार्थस्यानवच्छेदे  
 विगपस्मृतिहेतवः ।'—वाक्यप्र० २।३१७-१८ । (३) इष्टार्थनियमः । (४) प्रवरणादीनामपि ।  
 तुलना—'तयामप्यनेकधा प्रवृत्ते द्विसन्धानादिवत् ।'—प्रमेयक० पृ० ४०२ । 'तयामप्यनेकताप्रवृत्तेश्च  
 सन्धानान्तिप्रतः ।'—स्या० १० पृ० ६३७ । (५) पौरुषेयत्वदृष्ट्यापि । (६) लौकिकगण्येन । (७)  
 वचिवाङ् । (८) तात्पर्यम् पौरुषेयत्वञ्च । (९) "अथ स्यात्स्वैव तयोः स्वभावभेदः इत्याह—न  
 धात्रत्याम् । अथ जगति लौकिकवैदिकयोर्वैक्ययोः स्वभावानात्वं [नच] पदयाम् । असति तस्मिन्  
 स्वरूपभेदे तयोः लौकिकवदिववाक्ययोः सामान्यस्वैव तुल्यरूपस्वैव वर्णानुक्रमलक्षणस्य दानात् एवस्य  
 लौकिकवैदिकस्य क्विद् धम विवेचयन् पौरुषेयत्वमपीरुषेयत्वं वा विभागेन व्यवस्थापयन् पुरुष आत्मा  
 कथंभिवारवात् त्रियते ।'—प्रमाणवा० स्वयं० टी० पृ० ३४१ । नच लौकिकवदिववाक्ययोः शब्द-  
 पाविपार मनेनग्रहणसव्यपेक्षान्तेनाथप्रतिपादकत्वे अनुच्चार्यमाणयोश्च पुरुषेणाश्रयणे समानो अयो विप्रयो  
 विद्यते यतो वैदिका अपौरुषेया स्युः ।'—प्रमेयक० पृ० ४०२ । सामति० टी० पृ० ३९ । स्या०  
 १० पृ० ६३७ । (१०) दृष्टव्यम्—पृ० ७२९ टि० १४ । (११) तुलना—'गुणित्वेन पदम्'—पानिनि  
 स्या० १।४।१४ । 'ते विभक्त्यानां पदम्'—न्यायसू० २।२।५९ । नाट्यशास्त्रे १।४।३९ । 'यं पुनर्वचनं

१-त आ० । २ पौरुषेयत्वस्यापि ततोऽपि-व० । ३ न लौकिक-आ०, व० । ४-वाक्य  
 पौरु-व० । ५-तरवा-आ०, व० ।



वाक्यमिति । नैवेव कथमिदं साधनमात्रं घटते—'यत् सत् तत्सर्वं परिणामि यथा घट सञ्च शब्द' इति, 'तस्मात्परिणामि' इत्याकाङ्क्षणात्, साक्षाद्भवस्य वाक्यत्वानिष्टे ? इत्यचोद्यम्, कैस्यचित् प्रतिपत्तु तदनाकाङ्क्षोपपत्ते । यस्य हि प्रतिपत्तु 'तस्मात् परिणामि' इत्यत्र आकाङ्क्षाक्षयं तदपेक्षया तद् वाक्यं भवति उक्तवाक्यलक्षणसद्भावात् नार्थापेक्षया । निराकाङ्क्षत्वं हि प्रतिपत्तुधर्मं वाक्येष्वप्यारोप्यते, न पुन शब्दधर्मं तस्याऽचेतनत्वात् । स चेत् प्रतिपत्ता तावता अथ प्रत्येति किमित्यपरमाकाङ्क्षेत् ? पक्षधर्मो र्पसंहारपर्यन्तसाधनवाक्यादर्धप्रतिपत्तावपि निगमनवचनापेक्षाया निगमनान्तपञ्चावयव- वाक्यादप्यर्थप्रतिपत्तो परापेक्षाप्रसङ्गात् न कचिन्निराकाङ्क्षत्वमिच्छि स्यात् । तर्था च वाक्याभावात् न कचिद् वाक्यार्थप्रतिपत्ति कस्यचित् स्यात् । तामिच्छता यस्य

समूह'—न्यायवा० पृ० १ । 'यापय० पृ० ३६७ । 'उक्तं पदम् । —मुक्ता० का० ८१ । 'वर्णा पद प्रयोगार्हान्वितवाक्यबोधका"—सा० द० २१५ । व्याकरणस्मृतिनिर्णान् 'निरुक्तविषयवादिभि निरुद्धस्तन्भिद्येयोऽथ तो पत्म् । —वाक्यमो० पृ० २१ । 'वर्णाना परस्परपेक्षाणा निरपेक्ष समुदाय पत्म् । —प्रमेयक० पृ० ४५८ । वर्णानामयोऽपेक्षाणा निरपेक्षा महति पदम्, पदाना तु वाक्यमिति । —प्रमाणनय० ४११० ।

(१) तु— आख्यान साव्यय सकारक सकारकविशेषण वाक्यसज्ञ भवतीति वक्तव्यम्—अपरा आह—आख्याय सवितपणमित्येव । सर्वाणि ह्यनानि विशेषणानि । एकतिष्ठ एकतिष्ठ वाक्यस्य भवतीति वक्तव्यम् । —पात० महाभा० २१११ । तिष्ठसुव तच्चयो वाक्यम् क्रिया वा वारका विना । —अमरको० । 'पूर्वपदसम्युत्पेक्ष अत्यपदप्रत्यय स्मृत्यनुग्रहण प्रतिसधीयमान विगप प्रतिपत्तिहेतुवाक्यम् ।'—न्यायवा० पृ० १६ । वाक्यमि पत्त्यपरिसमाप्ति तदेक वाक्यम् । —वाक्यय ० १०८ । पत्समहो वाक्यमिति ।'—न्यायम० पृ० ६३७ । 'यायवा० ता० ५० ४३४ । 'अथात्र प्रसङ्गा मीमांसकवाक्यलक्षणमप्यद्वारेण प्रत्यापितुमाह—नाकाङ्क्षावयव भेदे पराता वाक्यस्यैकम् । कमप्रधान गुणवैकार्यं वाक्यमिष्यते ॥ —वाक्यय० २१४ । पदाना परस्परपेक्षाणा निरपेक्ष समुदायो वाक्यम् । —अष्टा० अष्टसह० पृ० २८५ । प्रमेयक० पृ० ४५८ । प्रमाण नय० ४११० । मिथ साकाङ्क्षाक्षयस्य व्यूहो वाक्यं चतुर्विधम् । सुप्तिङन्तयो नवमनिव्याप्त्या निरपेक्ष ॥ यादृगाणाना यादृगाथविषयताकाङ्क्षयबोध प्रत्यनुकूला परस्परवाङ्क्षा तादृगाण्यस्तोम एव तथाविधार्थे वाक्यम् ।'—गद्यद० श्लो० १३ । वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासाप्तियुक्त पञ्चवयम् । —सा० द० २११ । पदानामभिधातिसत्तापप्रयनाकार सन्दर्भो वाक्यम् । —वाक्यमो० पृ० २२ । वाक्यं विगिण्यसमुदाय । यथाह—याना सज्ञनिर्वाक्य सापेक्षाणा परस्परम् । साख्याना कल्पनास्तत्र परस्परानु यथाययम् । —न्यायवा० टी० टि० पृ० ८ । (२) 'ननु यत्ति निराकाङ्क्ष परस्परपेक्षासमुदायो वाक्यं न तर्हि तदानीमिदं भवति, यथा यत्सत्सक परिणामि यथा घट सञ्च गत् इति साधनवाक्यम् तस्मात्परिणामीत्याकाङ्क्षणात् साक्षाद्भवस्य वाक्यत्वानिष्टरिति न शङ्कनीयम् कस्यचित्प्रतिपत्तुस्तन्नाकाङ्क्षात्वोपपत्त निराकाङ्क्षात्वं हि नाम प्रतिपत्तुधर्मोऽयं वाक्येष्वप्यारोप्यते न पुन शाब्दस्य धम तस्याचेतनत्वात् । स चेत्प्रतिपत्ता तावताऽथ प्रत्येति किमित्येवमाकाङ्क्षा क्षति ?'—अष्टा० अष्टसह० पृ० ८५ । प्रमेयक० पृ० ४५८ । स्या० १० पृ० ६४१ । (३) सीगनस्य । (४) सीगनपेक्षा । (५) पञ्चवाक्यववादिनिर्वापेक्षाया । (६) उपनयः । (७) पञ्चवाक्यपेक्षा । (८) वदचित्काङ्क्षापरिसमाप्त्यभावे न वाक्यपरिनिष्ठिति ।

प्रतिपत्तुर्यावत्सु परस्परापेक्षेषु पदेषु समुदितेषु निराकाङ्क्षत्व तस्य तावत्सु वाक्यत्वनिधिं प्रतिपत्तव्या । एतेन प्रकरणादिगम्यपदान्तरसापेक्षश्रूयमाणपदसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य सत्यभामादिपदवत् वाक्यत्व प्रतिपादित प्रतिपत्तव्यम् ।

एतेन यत्कैश्चित् वाक्यस्य लक्षणान्तरमुक्तम्—

“आख्यातशब्द सङ्घातो जाति सङ्घातवर्तिनी । ण्वोऽननश्च शब्द ऋमो बुद्धमनुसहती (ति) ॥ १”

पदमाद्य पदञ्चान्त्य पद सापेक्षमित्यपि । वाक्य प्रति मतिर्मिना बहुधा न्यायवेदिनाम् ॥”

[ वाक्यप० २।१-२ ] इति,

तत्प्रत्याख्यातम्, यस्मान्प्रत्यातशब्द पदान्तरनिरपेक्ष, सापेक्षो वा वाक्य स्यात् ? तत्राप्यपेक्षोऽनुपपन्न, पदान्तरनिरपेक्षस्यास्य पदत्वेन वाक्यत्वानुपपत्ते, अन्यथा आख्यातपदाभावात् स्यात् । द्वितीयपक्षेऽपि क्वचित् निरपेक्षोऽसौ, न वा ? प्रथमपक्षे अस्मन्मतसिद्धि, अस्मदुक्तस्यैव वाक्यलक्षणस्य इत्यमभ्युपगमात् । द्वितीयपक्षम्वयुक्त, पदान्तरसापेक्षस्याप्यस्यै क्वचिन्निरपेक्षत्वाभावे प्रकृतार्थापरिसमाप्त्या वाक्यत्वायोगाद् अर्द्धवाक्यवत् ।

(१) “प्रकरणादिना वाक्यत्वेनाप्यथप्रतिपत्तौ न वा प्राथमकल्पितवाक्यलक्षणपरिहार, प्रकरणादिगम्यपदान्तरसापेक्षश्रूयमाणपदसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य सत्यभामादिपद वाक्यत्वसिद्धे ।”—अष्टसह० अष्टसह० पृ० २८५ । प्रमेयक० पृ० ४५८ । स्या० २० पृ० ६४७ । (२) वयाकर्णं भवतुह रिप्रभृतिभि । (३) व्याख्या—“एतेऽष्टौ वाक्यविकल्पा आचार्याणाम् । तत्राक्षण्डपक्षे जाति सघान वनियेकोऽनवयव शब्दो बुद्धमनुसहतिरिति त्रीणि लक्षणानि । क्षण्डपक्षे तु आख्यातपदत्रयम सघात पदमाद्य पृथक् सवपद साकाङ्क्षमिति पञ्च लक्षणानि । अत्रापि सघातत्रय इत्याभिहितावयवपक्षे लक्षणद्वयम् । आख्यातपद पदमाद्य पृथक्सवपद साकाङ्क्षमित्यान्वताभिधानपक्षे लक्षणत्रयम् इति विभाग इत्यप्यष्टावेव वाक्यविकल्पा । मतभेदेन सम्पद्यत इति बोद्धव्यम् ।”—वाक्यप० टी० २।१ २। व्याख्यात शब्दसघातो—मी० श्लो० ‘वाय० २० पृ० ८६० । (४) ‘बुद्धमनुसहति—वाक्यप०, मी० श्लो० वाय० २० पृ० ८६० । स्या० २० पृ० ६४७ । प्रकृतपाठ—अष्टसह० पृ० २८४ । तत्वायश्लो० पृ० ४२७ । प्रमेयक० पृ० ४५९ । नयञ्च० वृ० पृ० १६८ A । (५) पदमाद्य पृथक्मवैपदं साकाङ्क्ष मित्यपि—वाक्यप० । ‘पदमाद्य पृथक्सवपद सापेक्षमित्यपि’—मी० श्लो० ‘वाय० २० पृ० ८६० । स्या० २० पृ० ६४७ । प्रकृतपाठ—अष्टसह० पृ० २८४ । तत्वायश्लो० पृ० ४२७ । प्रमेयक० पृ० ४५९ । (६) ‘वायवेदिनाम्—वाक्यप० । ‘वायवदिनाम्’—मी० श्लो० ‘वाय० २० । ‘न्यायवेदिनाम्’—अष्टसह०, तत्वायश्लो०, प्रमेयक० । (७) आख्यातपदस्यैव निपतं सायत यत्र गम्यते । तदप्येवं समासाय वाक्यमित्यभिधीयते ॥—यथा वर्षतीत्युक्तं देवी जलमिति वतुवमग्निषात् परिपूर्णाथत्वे वयति देवा जलमिति यथा वाक्यमव तदप्येव पदसमागार्थं परिपूर्णार्थं वाक्यमेवाभिधीयते ।—वाक्यप० टी० २।३१७ । ‘तस्य पदात्तरनिरपेक्षस्य पदत्वाद् अथवा आख्यातपदाभावात्प्रसङ्गात् । पदात्तरसापेक्षस्यापि क्वचिन्निरपेक्षत्वाभावे वाक्यवविरोधात् प्रकृतार्थापरिसमाप्तौ । निराकाङ्क्षस्य तु वाक्यलक्षणयोगादनुपपन्न वाक्यत्वम् ।’—अष्टसह० पृ० २८५ । प्रमेयक० पृ० ४५९ । (८) जनमत । (९) आख्यातपदस्य ।

1 तद्वाक्यत्व व० । 2 प्रतिपादित तस्मिन् आ० । 3 वाक्यलक्षणा—थ० ।

‘सङ्घातो वाक्यम्’ इत्यत्रापि वर्णानाम्, पदानां वा सङ्घातो वाक्यं स्यात् ? प्रथमपक्षे पदाय दत्तो जलाञ्जलिः । द्वितीयपक्षे तु वैशेषिकतः, कालकृतो वा पदानां सङ्घातः स्यात् ? तत्रापि पक्षोऽयुक्तः, क्रमोत्पन्नप्रध्वमिना तेषामेकस्मिन् देशे सकृदवस्थित्यभावतो देशकृतमघा[ता]मभवात् । द्वितीयपक्षे तु पदेभ्योऽसौ भिन्नः, अभिन्नो वा ? न तावद्विज्ञोऽनशः, तथाविधस्यास्याप्रतीतेः, वर्णान्तरवत् सङ्घातनिरोधाच्च । अथ तेभ्योऽभिन्नोऽसौ, किं सर्वथा, कथञ्चिद्वा ? यदि सर्वथा, कथमसौ सङ्घातः सङ्घातित्वरूपवत् ? अन्यथा प्रतिपद सङ्घातप्रसङ्गः । न चैकं पदं सङ्घातो नाम अतिप्रसङ्गात् । अथ कथञ्चित्, तदा जैनमतप्रसङ्गः, परस्परापेक्षाऽनाकाङ्क्षपदसमूह्यरूपतामापन्नवर्णानां कालप्रत्यासत्तिरूपसङ्घातस्य कथञ्चिद्वर्णोभ्यो भिन्नस्य जैनोक्तवाक्यलक्षणानतिप्रमात् । साकाङ्क्षाऽन्यो-यान-पेक्षाणां तु तेषां वाच्यत्वे प्राक्प्रतिपादितदोषोत्पन्नः ।

एतेन ‘जाति सङ्घातवर्तिनी वाच्यम्’ इत्यपि नोत्सृष्टम्, निराकाङ्क्षाऽन्योन्या-

(१) सघातस्य स्वरूपम्— केवलेन पदेनाथो यावानेवाभिधीयते । वाक्यस्य तावतोऽप्यस्य तद्गृह्यविधायकम् ॥ सम्प्रथं सति यत्त्वयदाधिक्यमुपजायते । वाक्यायमेव तं प्राहुरनकपदसद्वयम् ॥ केवलं पदं यस्यवाच्यस्य वाचकम् वाक्यस्यप्रति तमेवाभिधाति । तत्र समुदये पदानां परस्पराव्ययपदायवशाद् यदाधिक्यं संलग्नं स वाक्याय । उक्तञ्च—यत्राधिक्यं वाक्याय स इति । अनकपदसद्वयमित्यनेन सघातो वाच्यमिति दशितम् ।—वाक्यप० टी० २।४२ । यथा सावयवा वर्णा विना वाच्यं केनचित् । अथवा तं समुदिता वाच्यमप्यवमिष्यते ॥—वाक्यप० २।५५ । (२) तुलना—‘सघातो वाक्यमित्यत्रापि परस्परापेक्षाणां पदानामनपेक्षाणां वा ? प्रथमपक्षे निराकाङ्क्षात्वे अस्मत्पक्षसिद्धिः साकाङ्क्षात्वे वाक्यत्वविरोधः । द्वितीयपक्षे अतिप्रसङ्गः ।—अष्टसह० पृ० २८५ । पृ० २० पृ० ६४४ । (३) ‘दिसकृतं कालकृतो वा वर्णानां सघातः स्यात् ।—प्रमेयक० पृ० ४५९ । (४) पदानाम् । (५) न वर्णोभ्यो भिन्नं सघातोऽन्यं प्रतानिमागवितारी सघातत्वविरोधात् वर्णान्तरवत् । नापि ततोऽन्यन्तरमेव सघातं प्रतिवर्णसघातप्रसङ्गात् । न चको वणं सघातो भवेत्—तत्त्वप्रसङ्गो पृ० ४२६ । प्रमेयक० पृ० ४५९ । (६) पदानाम् । (७) पदान्तरसाकाङ्क्षात्वे वाक्याऽपरिसमाप्तिः, अन्योऽन्योन्यपेक्षात्वे तु पदत्वमेव स्यात् वाक्यत्वमिति । (८) अथ जाति सघातवर्तिनीत्युद्दिष्टस्य जातिस्फोटस्यापि दृष्टान्तप्रशंसनद्वारेण स्फुटीकरणायाह—यथा [क्षपविशेषेऽपि वममनो न गृह्यते । आवृत्ती व्ययतं जातिं कमभिभ्रमणादिभिः ॥ वणवाक्यपदेऽप्येव तुल्योपव्यञ्जना श्रुतिः । अत्यन्तमेतत्त्वस्य सारूप्यं प्रतीयते ॥ इह भ्रमणदक्षणा कमजातियथा विशिष्टप्रयत्नजनितेन क्षपविशेषाभिव्यक्त्या प्रत्यक्षपरिसमाप्तत्वान् । न च पार्श्वस्येन सा विनायते । भ्रमणानामावृत्ती तु भ्रमण भ्रमणं प्रति प्रतिपत्ता सा गृह्यते । एव वणपदवाक्येषु धुनिरभिव्यञ्जको ध्वनिरत्यन्तभेदे तत्त्वस्य वणपदवाक्यस्फोटदक्षणास्य साऽभिव्यञ्जिका सारूप्ये प्रतीयते, परमायतो भिन्नापि सती । कीदृशी ? तुल्योपव्यञ्जनात् । तुल्यं सदृश उपव्यञ्जनं स्थानकरणाभिघातदक्षणा यस्या सा तथति । तेन भिन्नप्रयत्नोत्पन्नित्ययमभिव्यक्तोऽयं जातिस्फोटो विलक्षण एवेति बोद्धव्यम् । युक्तञ्चतन् । यथा निरंशस्यास्य स्फोटस्य पूर्वपरिभावं उपाधित्वो न स्वतो नित्यत्वादिति ।—वाक्यप०, टी० २।२०, २१ । (९) तुलना— निराकाङ्क्षापरस्परापेक्षापदसघातवर्तिना सदृशपरिणामलक्षणाया जातेवाक्यत्वघटनान् ।—अष्टसह० पृ० २८५ । प्रमेयक० पृ० ४६० ।



सिद्धसाध्यता, पूर्वपूर्ववर्णज्ञानादितसस्कारम्यात्मनो धाम्न्यायप्रहणपरिणतस्य अन्यवर्ण-  
श्रवणानन्तर वाक्यार्थावबोधहेतोरुद्भवात्मनो भावत्रान्यस्य अस्माभिरपीष्टत्वात् । द्रव्य-  
वाक्यरूपता तु बुद्धे क सुधी श्रद्धेधीत प्रतीतिविरोधात् ?

एतेन 'अनुसङ्गतिर्वाच्यम्' इत्यपि चिन्तितम्, यद्योक्तपदानुमहतिरूपस्य 'चेतमि  
परिस्फुरतो भावत्रान्यस्य परामर्शात्मिनोऽभीष्टत्वात् ।

'आद्य पदमन्त्यमयद्वा पदांतरापेक्ष धाम्न्यम्' इत्यपि नोक्तत्रान्वाद् भिद्यते,  
परस्परापेक्षपञ्चसमुदायस्य निगमनाद्वास्य धाम्न्यत्प्रसिद्धे, अन्यथा पदस्य वार्त्ताप्युच्छिद्येत ।

'येऽपि मन्यन्ते-पदायेव पदार्थप्रतिपादनपूर्वक वाक्यार्थावबोध विदधानानि  
वाच्यव्यपदेश प्रतिपद्यन्ते-

(१) 'सहृत्सकलत्रमस्यवस्यान्गप्रत्येत्त्वप्यतरात्मास्तर्पामीत्येवमाभ्यापमानस्य प्रतिप्रा  
णिवत् सान्तस्वस्यान्तरविह्लादिभिरवाऽन्यथाभूत क्रमवद्भिर्भाग्यांश्च बुद्धेरनुसंहार प्रम  
पुत्रपुत्रभागप्राहिणीभि युद्धिभिर्जनितो य सस्कारस्त उपद्रस्य स्मरणस्य बलादन्यवणभागप्रहण  
तु यत्काल स वाच्यमिति ।'-स्या० २० प० ६४६ । (२) तुलना- भाववाक्यस्य यद्योक्तपदानु  
सहृतिरूपस्य चेतसि परिस्फुरतोऽभीष्टत्वात् । -अष्टसह० पृ० २८५ । प्रमेयक० पृ० ४६० ।  
(३) 'नियत साधन साध्यं त्रिया नियतसाधना । स सन्निधानमात्रेण नियम सन् प्रकाशते ॥-साधन  
साध्यश्च परस्पर नियतमेव केवमाकाङ्क्षादिवागान्तरपत्न्यसन्निधान सति नियम सन्नव प्रकाशते  
इत्यादिपदान्तराणि पत्न्याय वाक्यम् पदार्थाश्च वाक्याथ इति अत्यतिरिक्त संघातपसोऽप्यम् ।  
गुणभावेन साकाङ्क्षा नत्र नाम प्रवर्तते । साध्यत्वेन निमित्तानि विद्यापत्न्यपक्षे ॥ -वाक्यप० २।४८  
४९ । (४) तुलना- 'एवमाद्यन्सर्वेषा पयक सघातकल्पन । अयोऽप्यानुग्रहाभावात् पदाना नास्ति  
वाक्यता ॥ आद्य मन्त्रि पत्न्य सर्वे सस्त्रियत विनोपत । ततस्त्पदव वाक्यं स्यात्प्रत्यक्ष शोतको गुण ॥ एव  
मन्त्यपु सर्वेषु पदभूतत्वस्थितम् । स्वन्त्रपु हि वाच्यत्व वयश्चिन्नोपलभितम् ॥'-मी० श्लो० वाक्या०  
श्लो० ४९, ५१ । 'इत्यपि नाकलङ्कोकनवाक्याद भिद्यते तथा परस्परापेक्षपञ्चसमुदायस्य निराका  
ङ्क्षास्य वाच्यत्वसिद्धे । -अष्टसह० पृ० ३८५ । प्रमेयक० पृ० ४६० । स्या० २० प० ६४६ ।  
(५) मीमांसका । 'नानप्येव पदाधान् पाथगर्थो वाक्यमर्थान्तरप्रसिद्धम् । कुत ? प्रमाणाभावात् ।  
न च किञ्चन प्रमाणमस्ति यत् प्रमिमीमहे । न ह्यनपेक्षितपदाथस्य वाक्यान्त्यवणस्य दूषवणजनितसस्कार  
ररहितस्य शक्तिरस्ति पत्न्यर्थेभ्यान्तिरे वतितुमिति । पत्न्यानि हि स्व स्व पदाथमभिधाय निवसत्या  
पाराणि । अद्यत्नाना पदार्था अवगता सत वाक्याथ गमयन्ति । कथम् ? यत्र हि गुक्ल इति वा कृष्ण  
इति गुण प्रतीतो भवति भवति शल्कसावत् गुणवति प्रत्ययमाधानुम् । तत्र गुणवति प्रत्ययमिच्छन्त  
केवल गुणवचनमुच्चारयन्ति । सम्पत्स्यत एषा यथा सवपितोऽभिप्राय भवप्यनि विशिष्टाथसप्रत्यय ।  
निशिष्टाथसप्रत्ययश्च वाक्याथ । -गावरभा० १।१।२५ । साक्षाद्यपि बुवन्ति पदाथप्रतिपादनम् ।  
वर्णास्तथापि नतस्मिन् पयवस्यन्ति निष्पत्ते ॥ वाक्याथमित्ये तेपा प्रवृत्तो नान्तरायकम् । पाने  
ज्वात्वं काष्ठाना पत्न्याथप्रतिपादनम् ॥ -मी० श्लो० वाक्या० श्लो० ३४२-४३ । 'तस्मात्पदाभिहित  
पत्न्यर्थ लक्षणया वाक्याथ प्रतिपाद्यते । -गास्त्रवी० प० ६०४ । तस्मात्त वाक्यं न पत्न्यानि साक्षात्  
वाक्याथबुद्धि जनयन्ति कितु ! पदस्वरूपाभिहित पदार्थ सल्लभ्यन्तेऽसाविति सिद्धमेतत् ॥ -  
न्याय० सा० प० १०२ ।

“पदार्थानां तु मूलत्वमिष्टं तद्ज्ञानमात्रतः ।” [ मी० श्लो० वाक्या० श्लो० १११ ]

“पदार्थपूर्वकमन्तस्माद् वाक्यार्थोऽयमवस्थितः ।” [ मी० श्लो० वाक्या० श्लो० ३३६ ]

इत्यभिधानान्, तैरपि विवक्षितपदानामन्योन्यापेक्षाणां पदान्तरानाकाङ्क्षाणां वाक्यार्थ-  
प्रतिपत्तिहेतुत्वमुच्यते, तद्विपरीतानां वा ? तत्र उत्तरपक्षे अतिप्रसङ्गः । प्रथमपक्षे तु  
अधमपरिचितप्रवेशान्यायेन अस्मदुक्तवाक्यलक्षणानुस्मरणमेव ।

किञ्च, वाक्यार्थं पदार्थादन्य, अनन्यो वा ? यदि अनन्य, तदा पदार्थ एवासौ  
न वाक्यार्थः । तत्रैव ‘वाक्यार्थ’ इति नामकरणे स्वैरन्वयस्य ‘कूर्मलिका’ इति नामकृत  
स्यात् । अथान्योऽसौ क्रियाकारकमसंगरूप, ननु तथाभूतोऽसौ किं नित्य, अनित्यो

वा ? अथनित्य, किं विवक्षितपदार्थैर्जन्यते, पदार्थान्तरैर्वा ? पदार्थान्तरोत्पाद्यत्वे स्वमि-  
द्वान्तरिरोधः । विवक्षितपदार्थोत्पाद्यत्वे त एव उत्पादका त एव ज्ञापका स्युः, 10  
तत्र च किं पूर्वं ज्ञापयन्ति पश्चादुत्पादयन्ति, किं वा पूर्वमुत्पादयन्ति तदनु ज्ञापयन्ति ?

प्रथमकल्पनायाम् असति वाक्यार्थे मेये कै ते ज्ञानमुत्पादयेयुः ? उत्पादयता वा, तेषां  
न तज्ज्ञान प्रमाणम् अत्रिद्यमानविषयत्वात् केशोण्डुनादिज्ञानवत् । अथ असन्त-  
मपि न कर्तव्यतया ते प्रतिपादयन्ति तेनायमदोषः, ननु किंस्वरूपेय तत्कर्तव्यता  
नामै-भावरूपा, अभावरूपा, उभयरूपा, अनुभयरूपा व ? यदि भावरूपा, तदा त्रि- 15

(१) “सिद्धान्तमाह-अत्राभिधीयते यद्यप्यस्ति मूलान्तरं न न । पदार्थानां तु मूलत्व इष्टं  
तन्भावभावतः । सत्यं न वाचकं वाक्यं वाक्यायस्योत्पद्यते ॥ यद्यपि प्रत्येकं पदं सहतानि वा साक्षात्  
मूलं तथा ज्ञानि सम्बन्धानां सावयवनिर्गम्यवाक्यानि तथापि पदार्थां पदं प्रत्याविता प्रत्यासत्त्यपेक्षया  
योग्यत्वसनाया मूलं भविष्यति, तद्भावे वाक्यार्थप्रत्ययस्य भावादिनि ।”-मी० श्लो० न्यायर० वाक्या०  
श्लो० ११०-११ । उद्धृतोऽयम्-सामति० टी० पृ० ७४३ । ‘तद्भावनायत-प्रमेयक० पृ० ४६१ ।

(२) अयोयानपेक्षत्वे पदत्वमेव स्यात् वाक्यत्वमपि पदान्तराकाङ्क्षात्वात् वाक्याज्जरिसमाप्तिः । (३)  
‘तेष्वधमपरिचितप्रवेश’-प्रमेयक० पृ० ४६१ । (४) तुलना-“यद्यसौ पदार्थान्त्रित तदा पदाय एव  
स्यात् वाक्याय तथा च कुत पदायगम्यता ? अथ क्रियाकारकसंगरूपं पदार्थादियन्तरे वाक्याय,  
न चसावपि यत्रनित्यं तत्रा कारकसापेक्षं पदायमपाद्यो वा ?”-सामति० टी० पृ० ७४२ । (५)  
‘स्वैरन्वयस्य ब्रूदात्वेति नामान्तरत्वरणमात्रं स्यात् । -अष्टसह० पृ० ९ । (६) ‘पदार्थानाद्यत्वेऽ

पि य एव पदार्थान्त्वोत्पादकास्त एव यदि ज्ञापका, तत्रा पूर्व किं ज्ञापका उत उत्पादका इति वक्त  
व्यम् । -सामति० टी० पृ० ७४२ । (७) विवक्षितपदार्थः । (८) क्रियाकारकसंगमः । ‘भावनव  
द्वि वाक्याय सावत्राख्यातवसतया । अनेन गुणजात्यान्वित्वात्कार्यान्तरिजिता । पदार्थाहितमकारचिप्रविण्ड  
प्रमूतया । पदायपदार्थज्ञानं संतयततदपेक्षया ॥ -मी० श्लो० वाक्य० श्लो० ३३०-३३ । (९)

वत्त्वयनया ते सं ज्ञापयन्तीति चेन्न, तस्यामपि भावाभावोभयानुभयविकल्पानानिर्गमनात् । -सामति०  
टी० पृ० ७४२ । (१०) ‘आद्यविकल्पे तत्त्वत्रय्यताया भावत्वभावतया विप्रमाणावाक्यायविषया चोदना  
न्यायः तथा च विद्यनोपलम्भनत-सत्सम्प्रयोगत्वोपपत्त्या अप्यन्यत्र भावता अप्यविषया स्यात् । -  
सामति० टी० पृ० ७४२ ।

१ तद्भावना य० । २ कृते ग० । ३-किरूपेयं व०, य० । ४ तदा विद्यमानाय-य०,

तथा विद्यमानाय-व० ।

मानरूपार्थगोचरा चोदना प्राप्ता । न च तत्रास्या प्रामाण्यमिष्टम्, अनिष्टमिष्टि-  
प्रसङ्गात् । विद्यमानस्य कर्त्तव्यता च स्ववचनविम्बदा । अभावरूपतायामपि तदेव  
दूषणम्, अस्यैपि स्वरूपेणाविगमानत्वात् । तद्वृषस्य सरविपाणयत् कर्त्तव्यताविरोधात् ।  
अभावे चोदनायाः प्रामाण्यानभ्युपगमान्च । उभयरूपतापि अनेनेव प्रत्युक्ता । अनुभ-  
यरूपताया तु चोदनाया निर्विषयत्वात्प्रामाण्यमेव स्यात् । न च अनुभयरूपता एकस्यै-  
कनोपपत्ता, निधिप्रतिषेधधमयोरेकतरप्रतिषेधे अन्यतरत्रिघेरवद्यभावित्वात् । अथ पूर्व-  
सुत्पात्त्यति तदनु ज्ञापयति, तर्हि विद्यमानविषयत्वात् तत्रास्या प्रामाण्यानुपपत्ति ।  
एतेन निर्यवाकार्यपक्ष प्रत्युक्त, विद्यमानाथविषयतया अप्रामाण्यानुपपत्ताविशेषात् ।

त्रिञ्च, प्रसिद्धे पदे वाक्ये वा पदार्थैवाकार्यार्थाभिव्यक्तिर्नक्तु युक्ता, नच तत्  
प्रसिद्धम् । तद्धि वर्णैभ्यो भिन्नम्, अभिन्न वा स्यात् ? यद्यभिन्नम्, तदा वणा एव,  
पत्राक्यद्वयमेव वा । भेदेऽपि तद् दृश्यम्, अदृश्य वा ? अदृश्यत्वे ततोऽर्थप्रतीतिर्न  
स्यात् । अज्ञाताज्ञा ( ताज्ज्ञा ) पदार्थप्रतीतिप्रतिप्रसङ्गात्, प्रतीत्यनुपपत्ताच्च ।  
नापि दृश्यम्, वर्णव्यतिरिक्तस्य तस्यानुपलम्भात् । नहि देयदत्तादिवर्णेषु तद्व्यतिरिक्त  
निरशमेक पदं वाक्यं दोषलभामहे ।

विञ्च, तत् पद वाक्य वा स्वातन्त्र्येण प्रतीयते, वर्णद्वारेण वा ? न तावत् स्वातन्त्र्येण,  
वर्णाऽश्रात्रिणोऽपि पदवाक्यप्रतीतिप्रसङ्गात् । वर्णद्वारेणापि साधयत्स्यार्थं प्रतीति  
स्यात्, निरवयवस्य वा ? साधयत्त्वे प्रागुक्तमेव पदवाक्यलक्षणमङ्गीकृतं स्यात्, अयो-  
न्यापेक्षाणां वर्ण-पदातरानपेक्षणा फलप्रत्यासत्तिलक्षणस्य समूहस्यैव साधयवपद-  
वाक्यरूपतोपपत्ते । अथ निरवयवम्, तत्किं समस्तेभ्यो वर्णपदेभ्य प्रतीयते, व्यस्ते-  
भ्यो वा ? न तावत्समस्तेभ्य, उच्चरितप्रध्वसिना <sup>१५</sup>तेषां सामस्त्यामभवात् । नापि  
व्यस्तेभ्य, प्रथमवर्णपत्रवर्णकालेपि सकल्पदवान्यप्रतीतिप्रसङ्गत शेषवर्णपदोच्चा-

(१) विद्यमानार्थं । (२) चोदनाया । (३) विद्यमानोपलम्भनत्वेन सत्प्रयोगवृत्तापत्त्या  
प्रत्यसत्त्वमेव स्यात् । (४) अभावस्य तुच्छनया क्तुमगत्के अनुच्छेदेष्वपि स्वेन रूपेण विद्यमानत्वात्  
कर्त्तव्यताभंगवात् । नचाभावविषय चोदनाया पर प्रामाण्यमभ्युपगम्यते अभावप्रमाणविषयत्वाच्च  
अभावस्य, तद्विषयत्वे चोदनाया अनुवाक्यत्वात् अप्रामाण्यप्रसङ्गश्च । -संमति० टी० पृ० ७४० । (५)  
अभावस्यापि । (६) अविद्यमानस्य । (७) विद्यमानाथविषयत्वेन चोदनाया प्रत्यशाद्यवगताथगोचर  
त्वान् अप्रामाण्यप्रसङ्गे । -संमति० टी० पृ० ७४२ । (८) अथ नित्यो वाक्यार्थ पदार्थं प्रतिपाद्यते,  
न चैव विद्यमानाथगोचरत्व चोदनाया स्यात् तथा च त्रिकालशून्यवाक्यरूपाथविषयविज्ञानोत्पत्तिश्च  
चोदनाथभ्युपगमव्याधात् । -संमति० टी० पृ० ७४२ । (९) प्रत्यशाद्यन्तगन्तवात् अपूर्वार्थबोधकत्वा  
भावात् प्रामाण्यानुपपत्तिरिति भाव । (१०) पदम् । (११) अनातपत्रस्य सुप्तमूर्च्छितान्देशचायप्रतीति  
स्यात् । (१२) अनातनापवात्प्रतीति हि सत्यामपि एकपदार्थप्रतीति अयस्मादज्ञानपत्तात् पुनरर्थ  
प्रतीतिप्रसङ्ग इति प्रतीत्यनुपपत्तम् । (१३) पदस्य । (१४) पत्रस्य वाक्यस्य वा । (१५) वर्णनाम ।

१ अनायातान शापका-आ० अज्ञावापका-थ० । २-वर्षे प्र-व० । ३-तावत्प्रतिप्र-व० थ० ।

४ पदवार्थ थ० । ५ चोपलभा-व०, दोषलभा-थ० । ६-तीयेत व० ।

रणैयध्वप्रमत्ते । अथ मकल्पवर्णसकारवत्या अन्त्यवर्णबुद्ध्या वाक्यावधारणमिष्यते, न तसौ बुद्धि किं स्मरणम्, उत अध्यक्षम् ? न तावत् स्मरणम्, अंगृहीताऽन्त्यवर्णप्राहृत्वात् । नापि प्रत्यक्षम्, अविद्यमानपूर्ववर्णविषयत्वात् । अथ पूर्ववर्णस्मरण-अत्यवर्णप्रहृणाभ्यामेक विकल्पज्ञान जन्त्यते, तेनैवधारणम्, नन्वेतत् प्रमाणम्, न वा ? प्रमाणञ्चेत्, किं प्रत्यक्षाद्यन्यतमत्, प्रमाणान्तर वा ? न तावत् तदन्तरम्, प्रमाणसरया-व्याघातप्रमज्ञात् । नापि प्रत्यक्षाद्यन्यतमत्, तत्रै तर्दन्यतरूपताया प्रत्यभिज्ञान-निचारावसरे प्रतिव्यूहत्वात् । अथ कल्पनाज्ञानमेवेदं न प्रमाणम्, ऋथमतस्तत्त्व-सिद्धि अतिप्रसङ्गात् ? वाक्यस्य वा काल्पनिकत्वानुपपन्नाद् वास्तवत्वानुपपत्ति । ततो यथोक्तलक्षणमेव पत् वास्य वा अभ्युपगन्तव्यम् तस्यैव प्रसाधितप्रामाण्ये प्रत्यभिज्ञाने प्रतिभामनादिति ।

ननु वर्णपदवाक्यानामर्थप्रतिपादकत्वाभावात् तद्वक्षणप्रणयनमनुपपन्नम्, स्फोट

एव हि अर्थप्रतिपादको न वर्णा । 'ते हि समस्ता, व्यस्ता वा तत्प्रतिपादकाः स्युः ? यदि व्यस्ता, तदा एकेनापि वर्णेन गवाध्वर्थ-प्रतिपत्ते उत्पत्तित्वात् द्वितीयादिवर्णोच्चारणानर्थक्यम् । अथ ममस्ता, तत्र, क्रमोत्पन्नप्रधसिना तेषां सामस्यासम्भवात् । न च

(१) पूर्ववर्णबुद्धघगहीतस्य अन्त्यवर्णस्य ग्राहकत्वान्नास्य स्मृतिरूपता, पूर्वानुभवानुसारित्वात्स्मते । (२) प्रत्ययस्य च विद्यमानाद्यप्राहृत्वात् । (३) प्रत्यक्ष । (४) विकल्पज्ञानेन । (५) प्रत्ययस्मरणजनितविकल्पज्ञाने प्रत्यभिज्ञानरूपे । (६) प्रत्यभाषयनरूपताया । (७) पू० ४१६ । (८) पूर्ववर्णस्मरण अत्यवर्णप्रत्यक्षजनिते । (९) "पद पुनर्नादानुसहारबुद्धिनिर्ग्राह्यमिति, वर्णा एकमपासमवित्वात्परस्परनिरनुग्रहात्मान ते पदमस्यश्यानवस्याप्य आविभूतास्तिरोभूताश्चेति प्रत्येकमपदस्वरूपा उच्यते । वर्ण पुनरत्र पत्रात्मा सर्वाभिधानशक्तिप्रचिन सहकारिवर्णान्तरप्रतियोगित्वाद् वश्वरूप्यमिवापन्न पूर्ववचोतरेण उत्तरश्च पूर्वो वर्णो विशेषेऽवस्थापिन इत्येव बहवो वर्णा क्रमानुरोधिताऽस्यसङ्कृतावच्छिन्ना इत्यन्त एते सर्वाभिधानशक्तिपरिवृता गकारो गारविसजनीया सास्नात्मितमथ द्योतयन्तीति, नन्वेतेषामवसङ्कृतेनावच्छिन्नाऽमुपमहृत्त्वनिश्चमाणा य एको बुद्धिनिर्मास तत्पद वाचक वाच्यस्य सन्वेत्यते । तदेक पदमेकबुद्धिविषय एकप्रयत्नाक्षिप्तमभागमवमवणबौद्धमन्त्यवर्णप्रत्ययव्यापारोपस्थापित परत्र प्रतिपिपात्तवियया वर्णरेवाभिधीयमान श्रुयमाणश्च द्योतनिरनात्तिवागव्यवहारवासनानुबिद्धया लोकाबुद्ध्या सिद्धवत्सप्रतिपत्त्या प्रतीयते ।"-योगभा० ३ । १७ । तत्त्वव०, भास्वती योगवा० ३ । १७ । 'नानेकावयव वाक्य पद वा स्फोटवात्ताम् । निरस्तभेद पत्त-त्त्वमेतत् । -स्फोटोत्त० का० २९, ३६ । 'एकाकारधिया तावद्वर्णोभ्योऽप्यधिक पदम् । -स्फोट० भा० पू० १ । गौरित्यादिषु विनाममेक पत्तमिति स्पृष्टम् । -स्फोट० 'या० पू० १ । 'तत्त्वतस्तु वाक्यमे वासपदमयूरान्धकल्लवन्विभाग भिन्नाथप्रतीतिहेतुमुत् स्फोटोत्तमभ्युपगन्तव्यम् । -स्फोटप्र० । 'इत्यय वयव प्रत्यस्तमिनवर्णपदविभागो वाक्यस्फोट एव शेषान् । -स्फोटतत्त्वम् । 'तस्मात्तवर्णात्मकोऽल्लव वाक्यस्फोटो वाचक इति सिद्धम् । -स्फोटव० । 'वर्णानिरिक्तो वर्णाभिध्यङ्ग्योऽथप्रत्यायको नित्य एव स्फोट इति तद्विदो यदिति । अत एव स्पृष्टपते व्ययने वर्णरेरिति स्फोटो वर्णाभिध्यङ्ग्य स्पृष्टति

१ अन्त्यबुद्ध्या जा० । २-तम प्र-व० । ३-वेदमप्र-ध० । ४-वात्तल-व० ।





सवेन्नान्यपि तत्प्रभवसस्काराश्च, 'तेषामपि तैत्कालेऽसत्त्वाऽऽविशेषात् ।

किञ्च, मवेदंनप्रभवसस्कारा स्योत्पादकसवेदनविषये स्मृतिहेतव न तु अर्था-  
न्तरे ज्ञानमुत्पादयितु समर्था । न खलु घटज्ञानप्रभव सस्कार पटे स्मृति विदधत्  
दृष्ट' । न च तत्सस्कारप्रभवस्मृतीना तत्सहायता युक्ता, तौसा युगपदुत्पत्त्यभावात्,  
अयुगपदुत्पन्नानाञ्च अस्थित्यसभवात् । न च अखिलसस्कारप्रभवेका स्मृति सभवति,  
अन्योन्यद्विस्त्वानेकार्थानुभवप्रभवसस्काराणामपि एकस्मृतिजनकत्वप्रसङ्गात् । न च  
अन्यवर्णानपेक्ष एव 'गौ' इत्यत्र अन्त्यो वर्ण अर्थप्रतिपादक, पूर्ववर्णोच्चारणवैय-  
र्थ्यानुपद्गात्, घटशब्दान्यव्ययस्थितस्याप्यस्य ककुदादिमर्थप्रतिपादकत्वप्रसङ्गाच्च ।  
तत्र वर्णा समस्ता व्यस्ता वा अर्थप्रतिपादका सभवन्ति । अस्ति च गणादिशब्दे-  
भ्योऽर्थप्रतीति, अतस्तदन्यथानुपपत्त्या वर्णव्यतिरिक्त अर्थप्रतीतिहेतु, स्फोटोऽभ्युप-

(१) पूर्ववर्णजनितसवेदनप्रभवसस्कारा । "अयधीकृत सस्कारो न तच्छक्तिन तज्जधी । न  
तस्यापूर्वकल्पस्य कल्पक जनन फलम् ॥'-स्फोटसि० भा० पृ० १८ । (२) पूर्ववर्णजनितज्ञानाना  
तत्प्रभवसस्काराणाञ्च । (३) अन्त्यवर्णबाले । (४) "सस्कारा खलु यद्वस्तुरूपप्रम्याप्रभाविता ।  
विज्ञानहेतवस्तत्र ततोऽर्थे धीन कल्प्यते ॥ सस्कारा खलु यद्वस्तुरूपलम्भसभावितामान तत्रव नियतनि-  
मित्तलक्षप्रतिबोधा धियमाविर्भावयन्ति तार्थातरे । न हि जातु गवावग्रहप्रत्ययप्रभाविता सस्कारोऽव-  
स्मरणमुपकल्पयति ।'-स्फोटसि० पृ० ४४ । "स्मृतिफलप्रसवानुमितस्तु सस्कार स्वकारणानुभववि-  
षयनियतो न विपयान्तरे प्रत्ययमाधातुमुत्सहन्, अथवा यत्किञ्चित्केवमनुभूय सव सव जानीया  
दिनि ।'-योगसू० तत्त्वव० ३।१७ । "पूर्ववर्णग्रहणजसस्कारसहितादन्यवर्णात्तदर्थधीरिति चत, तदपि  
न, वस्तुनारग्रहणजस्य सस्कारस्य वस्तुवन्तरत्नानजनवत्त्वादस्यान ।'-स्फोटसि० भा० पृ० १६ । (५)  
'नचकस्मृत्युपारोहोत्त सभुदायस्य समव । वर्णेषु नमवृद्धेषु युगपत्स्मृत्यमभवात् । सभवेऽपि च तत्वेव  
विपरीतत्रभेदेषु गवारादिषु विज्ञान गौरित्येक प्रसज्यते ।'-स्फोट० पा० पृ० १ । 'अयस्तु सव-  
वर्णोपलक्ष्यनिर्वाचननिखिलभावताबीजजमा युगपत्खिलवर्णरूपपरामर्शा चरमवर्णप्रत्ययोपलक्ष्यसम-  
न्तर स्मरणरूपक सङ्गीयत, त्रमसमधिगतारतमसु न युगपदनस्मरणमित्यपि मिय्या ।'-स्फोटसि० पृ०  
६१ । (६) "न च प्रत्यक्वर्णानुभवजनितसस्कारविण्डलव्यज मस्मृतिदपणसमारोहिणा वर्णा समधिगत  
सहभावा वाचका इति साम्प्रतम, यमात्रमविपरीतत्रमानुभूताना तत्राविशपणायधीजननप्रसङ्गात् ।'-  
योगसू० तत्त्वव० पृ० ३२२ । "पूर्वोपलक्ष्यभेदेऽपि भवेदर्थस्य दशनम् । एकापलक्ष्यो नतपा भद कश्चन  
लभ्यते ॥ पूर्वोपलक्ष्यो हि षमविशेषवत्य परिगृहीताभिमतविपरीतानुपपत्त्या अत्रमादृक्कवस्तुप्रयुक्त  
वर्णविषया विपरीताश्च न पश्चाद भाविन्या समस्तवर्णावभासि यामुपलक्ष्यावतुविपरिवृतमानान वर्णा  
त्मनो भिन्न्ति ।'-स्फोटसि० पृ० ६५ । "एव तहि सवसस्कारजा सववर्णग्राहियिका स्मृतिरथ-  
धीहेतु, तदपि न, त्रमप्रत्यस्तमयेन जराराजेत्यादावयाविशपप्रसङ्गात् ।'-स्फोटसि० भा० पृ० १८ ।  
'यु'वाद् योगपद्यस्य तदा नाथधियो भिदा । सरोरसनदीदीनजरााराजाप्यु स्फुरेत् ॥'-स्फोट०  
पा० पृ० १० । (७) "न चान्यवर्णमात्रस्य पुत्र सम्भववेत्तन्म् । अक्षवर्णानिवृत्तवान् सस्कारस्य न  
उदत ॥ विदितसङ्गतयो हि घट्या यथास्वमर्थान् प्रकल्पयन्ति । नचान्यवर्णमात्रमपसम्भवि ततया प्रति-  
पद्यत पुरस्तात् ।'-स्फोटसि० पृ० १०५ । (८) "गौरव इति वा केवगोच्चारणे वा को विशर्जनी-  
यस्य भेद यत्कृतोऽयभेद प्रत्ययभावानावो च ।'-स्फोटसि० पृ० ३३ । (९) विपजनोपस्य ।

गतव्य, प्रत्यभत तस्यैव अवभासमानत्वात् । विभिन्नतनुषु हि वर्णेषु अभिन्नानार  
श्रोत्रायव्यतिरेकानुविधाय्यध्यक्ष स्फोटसद्भासमेव अवभासयति । नैहि तद् वर्णवि-  
पयम्, वर्णानामन्यो यव्यावृत्तरूपतया अभिन्नानारावभासिप्रत्यक्षोत्पादनसामर्थ्यासम्भ-  
वात् । नापि सामायविपयम्, गगारौकारधिसर्जनीयेषु वर्णत्वव्यतिरेकेण अपरसामा-  
यस्याऽसम्भवात् । वर्णत्वस्य च प्रतिनियतङ्कुदादिमदर्थप्रतिपादकत्वानुपपत्तेः । न  
चेद भ्रातम्, अवाध्यमानत्वात् । न चानाध्यमानप्रत्ययगोचरस्यापि स्फोटस्य असत्त्व  
युक्तम्, अवयविद्रव्यादेरपि असत्त्वप्रसङ्गात् ।

नित्यञ्चासौ अभ्युपगन्तव्य । अनित्यत्वे सङ्केतजालानुभूतस्य तदैव ध्वस्त-  
त्वात् कालान्तरे देशान्तरे च गोशब्दश्रवणान् षडुदादिमदर्थप्रतीतिर्न स्यात् । अमङ्गे-  
तितान्छब्दान् अर्थप्रतीतरेसम्भवात् । समवे वा द्वीपांतरादागतस्य गोशब्दाद् गवार्थ-  
प्रतिपत्तिप्रसङ्गात् सङ्केतकरणैर्यैर्व्यं स्यात् । ननु 'देवदत्त गामभ्यान्' इत्यादि वाक्य  
स्फोट अंतरालेष्वपि शब्दप्रतिपत्तय सवेद्यन्ते अतस्तत्रापि तावद्वा (द्वा) स्फोट कल्प-  
नीय तथा च स्वमतव्याघात, तस्याऽऽलण्डस्यैकस्य तत्र प्रसिद्धे, इत्यप्यचोक्षम्, अतं  
रालप्रत्ययाना स्फोटाभिव्यक्तिहेतुतया विभिन्नस्फोटायोग्यत्वात् । यथैव हि पुन पुन-

(१) 'तत्र प्रथम तावत्प्रसिद्धमेव गौरित्युच्चारण सत्यक्रमेण' पदमित्येवाकारविधानोऽयत् ।

न चेदं वणमात्रविषय भवितुमर्हति, तेषां भिन्नानामभ्रातृकारजानविषयत्वावयोगात् । न चेद भ्रातम्,  
भ्रान्तिनिमित्तानाम्भावात् । -स्फोटसि० भा० पृ० १ । 'प्रत्यक्षज्ञाननियता व्यक्ताव्यक्तावभासिता ।  
मानान्तरेषु ग्रहणममया नव हि ग्रह ॥ इन्द्रिय हि व्यक्तावभासिनोऽव्यक्तावभासिनश्च प्रत्ययस्य  
हेतु यथा दूरान् ग्रहण मूर्त्तमाथनिरूपणायाञ्च । लिङ्गशब्दान्दस्तु निश्चिन्तात्मान प्रत्ययभुपजनयन्त्य  
करूपं नव वा तत्र व्यक्ताव्यक्त्वरूपद्विभङ्गम् । अथश्च गान्प्रत्ययवसय स्फोटात्मानु प्रत्ययवेदनीय  
इति निरवद्यम् ।' -स्फोटसि० पृ० १६९ । (२) 'न च समुच्चयनानोपारोहि वणनिर्घनायत्रोधाभि  
प्राय शब्दादय प्रतिपद्यामहे इति, नापि सन्त्यात्मभिप्रायम् । तथाहि-नक्षिना जातिनामाना समुदाया  
नुपातिना । जातिमाचक्षते ते हि व्यक्तिर्वा जातिसङ्गाता ॥ न तावन्दि शब्दजायभिप्रायम् । न  
दण्जातिशोभप्रतीति गवाश्वान्पुत्रेषु तदविशयादभिधयाविषयप्रसङ्गात् । नापि गदयक्यभि  
प्रायम् सन्त्येतात् गोशब्दादित्येववचनानुपपत्तौ ।' -स्फोटसि० पृ० ७३ । (३) 'अनातिनिघन शब्द  
ब्रह्मतत्त्व यदन्तरम् । -वाक्यप० १।१ । (४) 'यत् प्रत्यक्रमपि तैऽविकल स्फोटात्मानमभिव्यञ्ज  
यन्ति । न केतरान्त्वयम्यम् अभि यक्तिभवात् । तथाहि-पूर्वं ध्वनय अनुपजातभावनाविज्ञापनस  
प्रतिपत्तौ अव्यक्तरूपोपग्राहिणी उत्तरव्यक्त्वरिचञ्छोत्पादानुगुणभावनावीजवापिनी प्रथ्या प्रादुर्भाव  
यन्ति, पश्चिमस्तु पुरस्ततध्वनिनिव घनाव्यक्त्वरिचञ्छदप्रभावितसत्त्वभावनावीजसहकारि स्फुटतरवि  
निविष्टस्फोटाविम्बमिव प्रत्ययमतिव्यक्ततरमून्भावयन्ति । यथा रत्नपरीक्षण परीक्षमाणस्य प्रथमसमया  
धिगमानुपाख्यातमनुपाख्यरूपप्रत्ययोपग्राहितसत्त्वरूपपाहितविशयाया बुद्धौ प्रथमे चरमे चेतसि चकाम्ति  
रत्नत्वम् । -स्फोटसि० पृ० १२९ । स्फोट० या० पृ० २० । स्फोटसि० भा० पृ० २१ । 'अभिव्य  
ञ्जकोपि प्रथमो ध्वनि स्फोटमस्फुटमभिव्यनक्ति, उत्तरोत्तराभिव्यञ्जकक्रमेण स्फुट स्फुटतरं स्फुट  
तमम् । यथा स्वाध्याय सङ्गत पठ्यमानो नावधायते, अभ्यासेन तु स्फुटावमाय यथा वा रत्नतत्त्व  
प्रथमप्रतीतो स्फुट न चनास्ति चरमे चेतसि यथावदभिव्ययते । -सवद० पृ० ३०३ ।

१-यच्चञ्च स्यात् थ० । २ तावद्वास्फो-श्र०, तावत्स्फो-आ० ।

रच्यमानोऽनुवाकैः प्रथमं श्लोको वा आवृत्त्या सुखेनैव अवधारयितुं शक्यते न तु सकृदुच्चरितं प्रतिगताऽऽवृत्तिः, तथैवायं स्फोटलक्षणशब्दः अन्तरालप्रत्ययैः सत्य-प्रतिभासकत्वात् न द्रष्टव्यगुणानुगुणोपायभूतैः अभिव्यज्यते । अन्त्येन हि ध्वनिना सह पूर्वभाविभिर्नादैः आहितसस्काराया बुद्धौ अयं स्फुरन्नेव अवधार्यते । उक्तञ्च—

“यथाऽनुवाकः श्लोको वा सोढत्वमुपगच्छति । आवृत्त्या नैतु स ग्रन्थः प्रैत्यावृत्तिर्निरूप्यते ॥ ६

प्रैत्यैरनुपाख्यैर्महैषानुगुणैस्तथा । ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥

नादेर्नाहितरीजायामन्त्येन ध्वनिना सह । श्रानृत्तिः (त)परिपाकाया बुद्धौ शब्दोऽनमासत ॥”

[ वाक्यप० १।८३-८५ ] इति ॥ ६ ॥

(१) ऋग्यजु सामसमूह—इत्यमरः । “वेदविशेष इति सूभूति”-शब्दकल्पद्रुमः । (२) व्याख्या—“सोढत्वमेकबुद्धिविषयत्वम्, एव वषणपदवाक्यविषया प्रयत्नविशेषसाध्या ध्वनयो वर्ण-पदवाक्याख्यां स्फोटानु पुन पुनराविर्भावयन्तो बुद्धिष्वध्यारोपयन्ति नत्वेतावता आनन्त्ये स्फोटा नाम्, यथावृत्तौ न श्लोकाद्यानन्त्यम् । तदेवाह—न तु प्रत्यावृत्त्या स ग्रन्थः श्लोकसमुदायात्मको भेदेन निरूप्यत इत्यर्थः । तत्रान्त्यया ध्वनिना सभ्यबुद्धौ निवेशः । यच्चानुपगृहीतविशेषे बुद्धावसन्नविषयतावन्नुपलब्धमेव । नहि तेन कश्चिदपि व्यवहारः प्रकल्प्यते ।”—वाक्यप० पु० टी० । वाक्यप० व० । ‘अनुवाक इति वदिक वाक्यम्, सोढत्वमिति सोढुं शक्यत्व बुद्धधात्रमणीयता स्वीकार्यत्वम्, यत्र स्वच्छ याज्वी पठनीयो भवति । आवृत्त्येति जातावेकवचनम्, आवृत्तिरेकवापि उपयुज्यत उत्तरोत्तरविशेषोपायानाम् अथवा एकावृत्त्यैव सोढता स्यादिति । यथा ह्यनुवाकः श्लोको वा पुन पुनरावृत्त्या सुख नावधारयितुं शक्यते । न च प्रत्यावृत्तिस्तत्र ईदृशी बुद्धिरुपजायते यथदं गृहीतमिदं नैति । अथ चाने-कावृत्तौ श्लोकाद्यभासः स्पष्टः सवेद्यते तथवायमपि शब्दात्मा पुन पुनरभिव्यक्तस्फोटरूपोऽवधार्यते, न च प्रत्यभिव्यक्तिस्तत्रेदृशी बुद्धिरुपजायते इदं गृहीतमिदं नैति । अथवाऽनेकाभिः यवती स्फोटावभास स्पष्टः सवेद्यते ।”—स्या० १० पु० ६५० । “अनुवाको वदिक श्लोकस्तु लौकिकः, सोढत्व जित्त्य वग्राभिति यावत्”—स्फोटसि० टी० पु० १३२ । (३) ‘प्रत्यावृत्त्या’—वाक्यप०, ‘प्रत्यावृत्ति नि’—वाक्यप० व०, स्फोटसि० । प्रवृत्तपाठ—स्या० १० । ‘यावद्वि० वि० पु० ५७६ B । ‘प्रत्यावृत्ति निरूप्यते’—प्रमाणवा० स्वय० टी० पु० ३५९ । (४) ‘यथा शब्दे एवदा प्रकाशितोऽवधारितोऽयदा प्रकाशनं त्ववधारणसहो भवति पुन पुन प्रकाशने त्ववधार्यते । तथा वाक्यं पूर्वध्वनिभावानभिव्यक्त-मपि नावधारितम्, तेन पूर्वपूर्ववाक्याभिः यत्प्रत्याहितंस्तु सस्कारवाक्यावधारणं प्रति प्रत्ययभूतरन्त्यवषण-श्रवणवाक्यं तत्रावधार्यते, तस्माद्गोर्नानुप्रभवताऽऽत्मस्य वाक्यव्यक्तिरुपयुज्यत एव ।”—प्रमाणवा० स्वय० टी० पु० ३५९ । “व्यक्तस्वरूपग्रहणानुगुणा अनुपाख्येयाकारा (इदं तन्मिति तस्य बुद्धधारुडस्याख्यातुम-शक्यत्वान्) बहव उपायभूता प्रत्यया ध्वनिभिः प्रकाशयमाने शब्दे समुत्पद्यमाना दन्तस्वरूपावग्रहहे-तवो भवन्ति ।”—वाक्यप० व० । (५) ‘ग्रहणानुग्रह’—ध्वन्या० टी० १।१६ । प्रवृत्तपाठ—स्फोटसि०, प्रमाणवा० स्वय० टी० स्या० १०, ‘यावद्वि० वि० । (६) ‘नादः शब्दात्मानमवद्योतयद्भिः यद्योत्तरोत्तरपे-णाधीयन्त व्यक्तपरिच्छदानुगुणसंस्कारभावनावीजानि, ततश्चात्स्यो ध्वनिविशेषे परिच्छन्मस्फारभाव-नावीजानुत्तिलामप्राप्तयोपनाशपरिपाकाया बुद्धौ उपग्रहेण दन्तस्वरूपाकारं सन्नियोगति ।”—वाक्यप० व० । वाक्यप० पु० टी० । ‘नादराहित’—वाक्यप०, स्फोटसि०, प्रमाणवा० स्वय० टी०, स्या० १०, ग्यावधि० वि०, सवद्व० । प्रवृत्तपाठ—तत्त्वसं० प० ७२२, प० पु० ६३६ । प्रमेयक० पु० ४५६ । (७) ‘आवृत्त

१—नादकप-आ० । २ वाक्योच्यते थ० । ३ अयेन व०, थ० । ४ स्फोटत्व-आ०, व०, थ० । ५ ननु आ०, व० । ६ इति साहित-थ० ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘स्फोट एव’ इत्यादि, तदसमीक्षिताभिधानम्, स्फोटनिरसनपुरस्कारवशानामेव अथप्रति प्रतिपादकत्वानुपपत्ते । न च अभावस्य सहकारित्वं न दृष्टम्, पादकत्वप्रतिपादनम्—वृत्तफलसयोगाभावस्य अप्रतिबद्धगुरुत्वफलप्रपातक्रियाजनने तद्वै- र्शनात्, तथा प्राक्तनसयोगाभावविशिष्टं कर्म उत्तरसयोगं कुर्वत् प्रतीतम्, परमाण्व- ग्निसयोगश्च परमाणौ तद्वैतपूर्वरूपप्रध्वंससहकृतो रक्ततामुत्पादयन् दृष्ट । यद्वा पूर्ववर्ण- विमानाभावविशिष्टं तद्वैज्ञानचनितसस्फारसव्यपेक्षो वा अत्यो वर्ण अर्थप्रतीत्युत्पादक ।

परिपाको यस्या इति, परिपाकं कार्योत्पानं प्रति विगिष्ट आत्मलाभं—वाच्यप० व० टी० । ‘आवृत्तोऽप्यस्त परिपाको यस्या सा तयोक्ता प्रथमेन ध्वनिना किञ्चित्भायनाबीजमाहितम्, तेन च वदित्परिपाकं वाचजननप्रतिविशेष एव द्वितीयमिति । यद्यपि परिपाका भिन्ना तथापि जानिमात्रित्वावृत्तवाचोयुक्ति अप्टवृत्तौ ब्राह्मणा भुक्तवन्त इतिवत् । आवृत्तेत्यस्याया व्याख्या—आवृत्तनं वावस्या वपायपरिपाको यस्यामिति । क्वचित्तु आवृत्तीति पाठः । बुद्धावन्तं करणे गणोऽवधायने अत्यन्त ध्वनिना सह यत् अत्यो ध्वनिरवधायते तदा गौरित्यव शब्दोऽप्यवधायन इत्ययम् ।—स्फोटसि० टी० पृ० १३२ । आवृत्तपरि—वाच्यप० स्फोटसि० प्रमाणवा० स्वय० टी०, तत्त्वस० पृ० ७२२ । समति० टी० पृ० ४३५ । स्फोटत० पृ० ९ । आवृत्तिपरि—तत्त्वस० पृ० ६३६ । प्रमेयक० पृ० ४५६ । स्या० र० पृ० ६५० । यापवि० वि० पृ० ५७६ B । (८) गणोऽवधायने—वाच्यप० । स्फोटसि० । प्रमाणवा० स्वय० टी० । तत्त्वस० पृ० । स्या० र० । तत्त्वस० । प्रहृतपाठ—तत्त्वस० पृ० ७२२ । प्रमेयक० । समति० टी० । यापवि० वि० ।

(१) पृ० ७४५ पं० ११ । (२) तुलना—अये तु पूर्ववर्णा तज्जानानाञ्च अतीतानामप्य- यवणसंकारित्वमव्यव्यतिरेकोपपत्त । तथाहि—वतमानस्य कारणत्वमव्यव्यतिरेकाभ्यां विगतम एवमनीनस्यापि । यदि वा पूर्ववर्णविनागास्तानानप्रध्वसाञ्च समीपयतिनोऽप्यवणसहस्यारिणः ।—प्रश० ध्यो० पृ० ५९५ । प्रमेयक० पृ० ४५३ । तत्र पूर्ववर्णा अतीता अप्यपकारित्यति, चरमवणस्तु वतमान इतीदृश एवाय कागिनः क्रियाभणसमूह इव वणसमूहोऽप्यप्रत्यायकः ।—न्यायप० पृ० ३७६ । ‘अथप्र तिपत्तिस्तु उपलभ्यमानात् पूर्ववर्णध्वंसविगिष्टान्त्यवगतान् । न चाभावस्य सहकारित्वं विरुद्धम्, पुनरुत्सयोगाभावस्यवाप्रतिबद्धगुरुत्वफलप्रपातक्रियाजननं दृष्टञ्चोत्तरसयोगं विघ्नत प्राक्तनस योगाभावाविगिष्टं कर्म परमाण्वन्तिसयोगश्च परमाणौ तत्पुत्रपूर्वरूपप्रध्वंसविगिष्टो रक्ततामुत्पादयन् ।’—समति० टी० पृ० ४३३ । (३) सहकारित्वं । (४) परमाणुगतं यामरूपं । (५) यद्वा उपलभ्यमानान्त्यवण पूर्ववर्णविनागाभावाविगिष्टं पररूपतामासादयन् पदार्थं प्रतिपत्तिं जनयति ।—समति० टी० पृ० ४३३ । प्रमेयक० पृ० ४५३ । (६) ‘पूर्ववर्णजनितसंस्कारसहितोऽत्यो वर्णं प्रत्यायकः ।—यावरभा० १११५ । ‘वाच्यस्यप सलु वर्णपूर्ववर्णस्तु प्रतिवर्ण तावच्छवण भवति श्रुत वर्णमेकमेव वा वाच्यभावेन प्रतिपत्तये प्रतिपत्तयै च व्यवस्थानि । पञ्चव्यवसायन स्मृत्वा पदाप्य प्रतिपत्तये च पञ्चमद्वैतप्रतिपत्तयै च वाच्यं व्यवस्थयति सम्बन्धाच्च पञ्चानं गृहीत्वा वाच्यस्य प्रति पत्तनः ।—न्यायप० ३१२।६० । अन्त्यवणप्रत्ययान् पूर्ववर्णप्रतिपत्तयै चान्प्रत्ययपेक्षादधप्रत्यय ।—न्यायप० पृ० ३१०—३६ । ‘पूर्ववर्णानुगृहीतस्यान्त्यवणस्य स्वानुभवसहकारिणोऽप्यप्रतिपत्तवत्वात् ।—प्रश० ध्यो० पृ० ५९५ । यद्वा पूर्ववर्णसंस्कारस्मरणयोरेवतरसापेक्षोऽत्यो वर्ण प्रत्यायकः ।—प्रश० ध्यो० पृ० २७० । प्रमेयक० पृ० ४५३ । ‘प्राक्तनवर्णसहितप्रमवसंस्कारसंस्कारस्यपक्षो वा’—समति० टी० पृ० ४३३ । तत्पुत्रपूर्वरूपसहितचरमवर्णोऽप्यत्र तद्वैज्ञानचनितसस्फारसव्यपेक्षो वा’—समति० टी० पृ० ४३३ । तत्पुत्रपूर्वरूपसहितचरमवर्णोऽप्यत्र तद्वैज्ञानचनितसस्फारसव्यपेक्षो वा’—समति० टी० पृ० ४३३ ।

ननु सस्कारस्य कथं त्रिपर्यान्तरे ज्ञानजननम् ? इत्यप्यचोद्यम्, इत्यमेव वार्थार्थ-  
प्रतीतिरुपलब्धे । पूर्ववर्णप्रज्ञानप्रभञ्जसस्कारश्च प्रैणालिकया अन्त्यवर्णसहायता प्रति-  
पद्यते, तथाहि—प्रथमवर्णे तादृजज्ञानम्, तेन च सस्कारो जन्यते, ततो द्वितीयवर्ण-  
प्रज्ञानम्, तेन च पूर्ववर्णज्ञानाहितसस्कारसहितेन त्रिंशष्ट सस्कारो जन्यते, एव  
तृतीयादावपि योजनीयम्, यान्दन्त्य सस्कार अर्थप्रतीतिजनकान्त्यवर्णसहाय ।  
अथवा, शैलार्थोपलब्धिनिमित्तादृष्टप्रतिनियमाद् अविनष्टा एव पूर्वसद्यिद् तत्सस्का-  
राश्च अन्त्यवर्णसस्कारं विदधति । तथाभूतसस्कारप्रभञ्जसृष्टिसव्यपेक्षो वा अन्त्यो

(१) अथप्रतीते । यद्विषयको हि सस्कार तद्विषयमेव स्मृति विन्धातीति नियमात् । श-  
विषयकश्च सस्कार शब्दस्मृतिमेव विदधीत नतु जयप्रतीतिनिमित्तं भाव । तुलना—“यद्यपि स्मृतिहेतुत्व  
सस्कारस्य व्यवस्थितम् । कार्यतरेषु सामर्थ्यं न तस्य प्रतिपिध्यते ॥ ननु हेतो कथं कार्यतरे सामर्थ्य  
मत आह—यद्यपि इति । सभवति ह्येकस्याप्यनेकत्र सामर्थ्यं कमवत्सयोगविभागयोरिति ।’—मी० श्लो०  
“यावर० पृ० ५३६ । “यत् पदार्थे प्रतीत्यनुगुणतया प्रत्येकमनुभवरधीयमाना वणविषया संस्कारा  
स्मृतिहेतुसस्कारविलक्षणसकथय एवाधीयन्ते, तथाभूतानामेव तेषां कार्येणाधिगमात्”—प्रश्न० क० ५०  
२७१ । (२) तुलना—“तथा चकस्मिन् वर्णे ज्ञाते तत्र क्रियते सस्कार, पुनर्द्वितीयवर्णे ज्ञानम्, तेनापि  
पूर्ववर्णसस्कारसहकारिणा सस्कार इति त्रयेणान्त्यवर्णज्ञानम्, तस्मात् पूर्वसस्काराभिव्यक्त्यावशपवर्णा  
नुस्मरणे सत्यत्यवर्णादथप्रतिपत्ति ।’—प्रश्न० ध्यो० पृ० ५९५ । प्रमेयक० पृ० ४५३ । सन्मति० टी०  
पृ० ४३३ । ‘स्मृत्यास्त्वायेव सवपदानि वाक्याधमवगमयिष्याति । तत्र चैव कल्पना वर्णक्रमेण  
तावन प्रथमपञ्चज्ञानं तत सकेतस्मरणं सस्कारश्च युगपद् भवत । ज्ञानयोर्हि योगपद्य शास्त्रे प्रनिषिद्ध  
न सस्कारानानयो । तत पन्थाज्ञानं तेनापि सस्कार, पुनर्वर्णक्रमेण द्वितीयपदनानं तत सकेतस्मरणं  
पूर्वसस्कारसहितं च तेन पटुतरं सस्कारं पुन पूर्ववर्णक्रमेण तृतीयपदज्ञानं सकेतस्मरणं पूर्वसस्कारा  
पेक्षं पटुतरं सस्कारं, पुन पूर्ववर्णक्रमेण तृतीयपदज्ञानं सकेतस्मरणं पूर्वसस्कारापेक्षं पटुतरं सस्कारं  
इत्येव पदज्ञानजनितं पीवरे सस्कारे पदाथानजनिते च तादृशं सस्कारे स्थिते अन्त्यपदायज्ञानानन्तरं  
पदसस्कारात् सवपदविषयस्मृति, पदाथसस्काराच्च पदाथविषया स्मृतिरिति सस्कारक्रमेण द्वे  
स्मृती भवत । तत्रकस्या स्मृतावुपारूढं पदसमूहो वाक्यमितरस्यामुपारूढं पदाथसमूहो वाक्याथ ।  
अथवा कृतं स्मरणकृत्पनया अत्यपदाथानानन्तरं सकल्पपदपदाथविषयो मानसोऽनुव्यवसाय शताति  
प्रत्ययस्थानीयो भविष्यति । तदुपारूढानि पदानि वाक्यं तदुपारूढश्च पदार्थो वाक्याथ ।’—न्यायमं० पृ०  
३९४-९५ । (३) तुलना—“अथ तु शब्दार्थोपभोगप्रापकादृष्टनियमिता पूर्ववर्णानुभवजनितसस्कारा  
पूर्ववर्णत्वेक स्मरणमारभते तत्सहकारी चान्त्यो वण पदम् । यत् वा सस्कारमेव विचित्रमारभन्ते  
तस्माच्च पूर्ववर्णत्वेक स्मरणमिति ।”—प्रश्न० ध्यो० पृ० ५९५ । प्रमेयक० पृ० ४५३ । सन्मति० टी०  
पृ० ४३३ । (४) तुलना—“यद्वा प्रत्यभत पूर्वं त्रमनानेषु यत्परम् । समस्तवर्णविज्ञानं तस्यज्ञानवा  
रणम् ॥ अत्यवर्णोपि विनातं पूर्वसस्कारकारितम् । स्मरणं योगपद्येन सर्वत्रान्ये प्रचक्षते ॥ सर्वेषु  
चयमर्थेषु मानसं भववादिनाम् । इष्टं समुच्चयज्ञानं त्रमनानेषु सा स्वपि ॥ न चेतदाऽप्युपेयतं त्रमदृष्टं  
नव हि । शतातिरूपं जायेत तत्समुच्चयदणम् ॥ तेन ध्यातमनोभ्यां स्यात् त्रमादृष्टेषु यद्यपि । पूर्व  
ज्ञानं परस्तात् युगपत्स्मरणं भवत ॥ तदाऽऽस्ततो वर्णा न दूरेऽर्थावबोधनात् । शब्दाऽथमस्तिस्तेन  
नियमविधीयते ।—मी० श्लो० स्फो० श्लो० १०९, ११२-११६ । तत्त्वतं० का० २७२०-२५ ।

1-अथे ज्ञानाहितसस्कारश्च आ० । 2-यर्णेन ता-आ० । 3 तेन च पूर्ववर्णविज्ञानं तेन  
विशिष्टं सस्कारो व० । 4 मावदन्त्यसत्त्वा-आ० ।

वर्णं पदाधप्रतिपत्तिहेतु । याम्यार्यप्रतिपत्तापि अयमेव न्यायो द्रष्टव्य । वैर्णाद्  
वर्णोत्पत्त्यभावप्रतिपादनञ्च सिद्धसाधनमेव । तदेव यथोक्तसहकारिकारणसव्यपेक्षा-  
दन्त्यवर्णाद् अर्धप्रतिपत्ते अत्रयव्यतिरेकाभ्या निश्चयात् स्फोटपरिकल्पनाऽनर्थिरैव,  
तदभावेऽपि अर्धप्रतिपत्ते उक्तप्रकारेण सभवे अन्यथानुपपत्ते प्रक्षयात् । न खलु  
दृष्टादेव कारणात् कार्योत्पत्तौ अदृष्टनदन्तरपरिकल्पना युक्तिसङ्गता अतिप्रसङ्गात् ।

किञ्च, यदि उपलभ्यमाना वर्णा व्यस्ता समस्ता वा नार्धप्रतिपत्तिजननसमर्था,  
तदा स्फोटाभिव्यक्तावपि न समर्था स्यु । तथाहि—न समस्तास्ते स्फोटमभिव्यञ्जयन्ति  
उक्तप्रकारेण तेषां सामस्त्यासभवात् । नापि न्यस्ता, वर्णातरोन्चारणानर्थक्यप्रसङ्गात्,  
एतेनैव वर्णेन स्फोटाभिव्यक्ते कृतत्वात् । न च पदार्थान्तरप्रतिपत्तिव्यवच्छेदायै  
तदुच्चारणम् इत्यभिधातव्यम्, तदुच्चारणेऽपि तत्रप्रतिपत्तिप्रसक्तेरवश्यम्भावित्वात् ।

'तयामूनसस्कारप्रभवस्मृतिस्वप्येतेषो वऽत्यो वण पत्त्यप्रतिपत्तिहेतु ।—प्रमेयक० पृ० ४५४ ।  
'तस्मात्पुत्रवर्णेषु स्मृतिरपजाना अन्त्यवर्णेनोपलभ्यमानान सहायप्रतिपत्तिमुत्पादयति ।'—सामति० टी०  
पृ० ४३३ । द्रष्टव्यम्—पृ० ७५० टि० ६ ।

(१) 'त्रयोपलभ्यपि वर्णेषु मानसमनुव्यवसायरूपमखिलवणविषय सकूलनाज्ञान यदुः  
जायते तत्रप्रत्ययनाङ्ग भविष्यति ।—न्यायम० पृ० ३७६ । 'सत्यपि समस्तवणप्रत्ययवर्णो यथा क्रमा  
नुरोधिय एय विपीलिका पड किनबुद्धिमारोहन्ति एव क्रमानुरोधिन एव वर्णा पदबुद्धिमारोश्यति ।  
तत्र वर्णानामविनापऽपि क्रमविनापहृता पदविशेषप्रतिपत्तिन विरुध्यते । बद्धव्यवहारे चेमे वर्णा क्रमाद्य  
नुगृहीता गृहीतापविनापसम्बन्धा सत स्वव्यवहारेऽप्यवकवणग्रहणानन्तरं समस्तप्रत्ययवर्णाया बुद्धौ  
तादृगा एव प्रत्ययवर्णासमानास्त तमथमव्यभिचारेण प्रत्यापयिष्यन्तीति वणवात्तिनो लघीयसी कल्पना ।—  
यह्य० गा० भा० १।३।२८ । ते हि पूर्वमनुभूता प्रत्ययमनुभूतताक्रमोपपत्ता एकबुद्धिसमारोहिण  
गत्रनुवन्त्यथविषयमाघातुम् ।—न्यायवा० ता० प० ४७०। (२) तुटना—'वर्णाद्वर्णोत्पत्त्यभावप्रतिपादनञ्च  
मिद्धसाधनमेव । तत्रैव यथोक्तसहकारिकारणसव्यपेक्षादन्त्याद्वणद्विधप्रतिपत्ति अव्यव्यतिरेकाभ्यामुप  
जायमानत्वेन निश्चीयमाना स्फोटपरिकल्पना निरस्यति तदभावेऽप्यथप्रतिपत्तिलक्षणप्रकारेण सभवेऽप्यथा  
नुपपत्त प्रशयान् । नहि द्रष्टान्येव कारणात् कार्योत्पत्तावत्तत्तन्तरपरिकल्पना युक्तिसङ्गता अति  
प्रसङ्गात् ।—सामति० टी० पृ० ४३३ । प्रमेयक० प० ४५४ । (३) यस्यानवयव स्फोटो व्यज्यते  
वणबुद्धिभि । सोऽत्र पयनुयोगेन नैवनेन विमुच्यते ॥ तत्रापि प्रतिवण पन्स्फोटो न गम्यते । नचा  
वयवगो अविनस्तन्भावान्न चात्र धी ॥ प्रत्यक्ञ्चाप्यङ्कानां समुदायप्यङ्कानता ।—मी० श्लो०  
स्फो० श्लो० ९१—९३ । न समस्तरमि यज्यते समुदायानभ्युपगमात् । न व्यस्ता एकेनवाभिव्यक्तौ  
वर्णोन्चारणवयवप्रसङ्गान् ।—प्रग० ध्यो० पृ० ५९५ । पन्स्फोटो नित्यो निरग्न सवगतोऽमृत  
विभाभिन्नक एवायप्रतिपत्तिहेतुरभिव्यक्तौ वा ? प्रथमपत्ते वर्णोन्चारणानवयवम । द्वितीयपत्ते  
तु पन्स्फोटोभिव्यक्तमान प्रथम वर्णोन्चारणपत्ते वणसमूहेन वा ?—युक्त्यनु० टी० प० ९६ ।  
तस्वायेऽश्लो० प० ४२६ । प्रमेयक० पृ० ४५४ । सामति० टी० प० ४३३ । (४) वर्णानाम् । (५)  
वर्णान्तरोन्चारणापि पत्त्यान्तरप्रतिपत्तरेवानुपपन्नान् । यथाहि गीरिति पन्स्वार्यो गकारोन्चारणात्  
प्रतीपन तथा औन्चारोन्चारणाद् औगनस इति पन्स्वाथ प्रतिपत्तन । आद्यन गकारेण गीरिति पदस्येव  
प्रथमोन्चारणे औगनस इति पन्स्व स्फोटस्य अभिव्यक्तन । तथा च गीरिति पन्स्वादेव गीरीगनस इति  
वाक्यप्रतिपत्ति प्रशयान् । न्यायो वा स्यात्—युक्त्यनु० टी० प० ९६ । प्रमेयक० पृ० ४५४ ।

१ बुद्धि सगता ब०, युक्ति सगता आ० । २ तथा आ० व० ।

यथाहि गौरिति पदस्यार्थो गकारोच्चारणात् प्रतीयते तथा ओकारोच्चारणाद् औशनस इति पदार्थोऽपि, तथा च गौरिति पदादेन 'गौ' 'औशनस' इत्यर्थद्वयं प्रतीयते । सप्रयो वा स्यात्—'किं पदान्तरस्फोटव्यवच्छेदेन एकरुपदस्फोटाभिव्यक्तये गत्रान्तेकरुणो-  
च्चारणम्, सिंहा अनेकरुपदस्फोटाभिव्यक्तये अनेकाग्रणोच्चारणम्' इति । नच पूर्व-  
वर्णो ऽस्फोटस्य सस्कारे अन्त्यो वर्णस्तस्य व्यञ्जक इति न वर्णान्तरोच्चारणैयर्थमित्य-  
भिधातव्यम्, अभिव्यक्तिव्यतिरिक्तस्य सस्कारस्यैव तत्रानुपपत्ते । न खलु वेगाल्य  
तत्र तै सस्कारो विधीयते, मूर्त्तमेव अस्य सभवात् । नापि वासनारूप, अचेतनत्वात् ।  
स्फोटस्य तच्चैतन्याभ्युपगमे वा स्तशास्त्रविरोध । नापि स्थितस्थापकरूप, अस्यापि  
मूर्त्तद्रव्यवृत्तित्वात्, स्फोटस्य च अमूर्त्तत्वाभ्युपगमात् ।

किञ्च, असौ सस्कार स्फोट एव, तद्धर्मो वा ? तत्र आद्यविकल्पोऽयुक्त, स्फोटस्य  
वर्णोत्पाद्यत्वात्तनुपपन्नात् । द्वितीयविकल्पोऽप्यसभाव्य, व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तविकल्पा-  
नुपपत्ते । स्फोटाद्धि तस्य अव्यतिरेके तत्करणे स्फोट एव कृतो भवेत्, तथा चार्थं  
अनित्यत्वात्तनुपपन्नात् स्वाभ्युपगमश्चति । व्यतिरेके तु सम्बन्धानुपपत्ति अनुपकारकत्वात्,  
तस्य तदुपकारकत्वे वा तदुपकारस्यापि ततो व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्तविकल्पप्रसङ्ग, तत्रापि  
पूर्वोक्तदोषोऽनवस्थाकारी प्रसज्येत । नच व्यतिरिक्तधर्मसङ्कोचेऽपि स्फोटस्य अनभिव्यक्त-  
स्वरूपापरित्यागे पूर्ववदर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वं घटते अतिप्रसङ्गात्, तस्यैवागो वाऽनित्यत्वप्रसक्ति ।

किञ्च, वर्णो सस्कार स्फोटस्य क्रियमाण त्रिकेकदेशेन क्रियेत, सर्वात्मना वा ?  
यदि एकदेशेन, तदा तद्देशानामपि अतौऽर्थान्तरानर्थान्तरपक्षयो पूर्वोक्तगोपानुपपन्न ।  
सर्वात्मना सस्कारे तु सर्वत्र सर्वदा सर्वेषा ततोऽर्थप्रतीति स्यात् ।

किञ्च, स्फोटसस्कार स्फोटविषयसवेदनम्, आवरणपानयन वा ? यदि आर-

(१) तुलना—'अभिव्यक्तिव्यतिरिक्तमस्कारस्वरूपानुपपन्नात् । तथाहि न तावत्तत्र तवेगाल्य  
सस्कारो निवृत्तये तस्य मूर्त्तमेव भावात् । नापि वासनारूप, अचेतनत्वात् —सामन्ति० टी०  
प० ४३३ । प्रमेयक० पृ० ४५४ । (२) स्फोट । (३) वर्ण । (४) स्फोटस्य अचेतनत्वात् ।  
(५) विञ्चासौ सस्कार स्फोटस्वरूपस्तद्धर्मो वा ?—प्रमेयक० पृ० ४५५ । सामन्ति० टी० पृ०  
४३४ । (६) सस्कारस्य । तुलना—'अपि च साऽभिव्यक्ति स्फोटाद्यव्यतिरिक्ता व्यतिरिक्ता वा  
ध्वनिनि क्रियेत ?—स्या० २० पृ० ६६२ । (७) स्फोटस्य । (८) स्फोटस्याय मस्कार इति ।  
(९) सस्कारस्य । (१०) स्फोटोपकारकत्वे । (११) सस्कारकृतोपकारस्यापि । (१२) स्फोटात् ।  
(१३) अतभिव्यक्तस्वरूपपरित्यागे । (१४) तुलना—'विञ्च, आद्यो वर्णध्वनि गन्दात्मा सत्स्य  
वा व्यञ्जक स्यादकल्पस्य वा ? यदि भवत्तस्य इतरेषा ध्वनीनामानर्थवयं स्यात् । अथकदेशस्य,  
निरवयवत्वमस्य हीयते ।—राजवा० ५।२४ । प्रमेयक० पृ० ४५५ । सामन्ति० टी० पृ० ४३४ ।  
(१५) स्फोटात् । (१६) 'विञ्च, स्फोटसस्कार स्फोटविषयसवेदनोत्पादनम्, आवरणपानयन  
वा ?—प्रमेयक० पृ० ४५५ । सामन्ति० टी० पृ० ४३४ ।

१ यथा गो-श्र० । २ तदा थ० । ३ प्रतीयते आ० । ४ एतदन्तगत पाठो नास्ति आ० ।  
५ वर्णो वा थ० । ६ स्फोटाद्गतस्य व० । ७-दोषानवस्था-श्र० । ८ ध्वनि-य० ।



णापनयनम्, तदा एकत्रैस्त्वा आवरणापगमे सर्वदेशाप्रस्थितै सर्वदोषलभ्येत नित्यत्व-  
व्यापित्वाभ्यामपगतावरणस्यास्य सर्वत्र सर्वदोषलभ्यस्त्रभावत्वात् । अनुपलभ्यस्त्रभावत्वे  
वा न क्वचित् कदाचित् केनचिदुपलभ्येत । अथ एकदेशेन आवरणापगम क्रियते,  
नैवेवम् आगृतानावृत्तत्वेनास्य साययवत्वसभवात् कार्यत्वाऽनित्यत्वे स्याताम् । अथ  
अविनिर्भागत्वेन एकत्राऽनावृतोऽसौ सर्वत्राऽनावृतोऽभ्युपगम्यते, तर्हि तदप्रस्थ  
अशेषदेशाप्रस्थितैरुपलब्धिप्रसङ्ग । यथा च निरवयवत्वात् एत्राऽनावृत सर्वत्राऽ-  
नावृत, तथा एकत्र आवृत सर्वत्राप्यावृत इति मनागपि नोपलभ्येत । अथ स्फोट-  
विषयसवेदनेत्पादस्तत्संस्कार, सोऽप्ययुक्त, घर्णानामर्थप्रतिपत्तिजननवत् स्फोटप्रतिपत्ति  
जननेऽपि सामर्थ्यामभवात्, यायस्य समानत्वात् ।

अथ मतम्—पूर्वघर्णश्रवणज्ञानाहितसंस्कारस्य आत्मन अन्त्यवर्णश्रवणज्ञानानन्तर  
पदादिस्फोटस्य अभिव्यक्तैर्यमदोष, तदध्यपेशलम्, पैदार्थप्रतिपत्तेरप्येव प्रसिद्धे स्फोट-  
कल्पनानर्थक्यात् । चिदात्मव्यतिरेकेण तत्त्वांतरस्यास्य अर्थप्रज्ञानसामर्थ्यासभवाच्च ।  
स एव हि चिदात्मा विशिष्टशक्ति स्फोटोऽस्तु, स्फुटति प्रकटीभवति अर्थोऽस्मिन्निति  
स्फोट चिदात्मा । पदार्थज्ञानावरणवीर्यांतरायक्षयोपशमविशिष्ट पदस्फोट, वाक्यार्थ  
ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशिष्टस्तु वाच्यस्फोट, इति भावत श्रुतज्ञानपरिणतस्य  
आत्मनस्तर्थाभिधानानिरोधात् ।

‘वायव स्फोटाभिव्यञ्जका’ इत्यप्यसु दरम्, शब्दाभिव्यक्तिरन्त स्फोटाभिव्यक्ते  
तेभ्योऽनुपपत्ते । तेषा तद्भ्रजन्त्वे च वणकल्पनावैकन्यम्, स्फोटाभिव्यक्तौ अर्थप्रति-  
पत्तौ च अमीपामनुपयोगात् ।

एतेन ‘नादनाहितवीजायाम्’ इत्यादि प्रत्याग्यातम्, नित्यत्वमन्तरेणापि च

(१) स्फोटस्य । (२) स्फोट । (३) तथैव पद्याप्रतिपत्तिमिदं स्फोटपरिकल्पनानवकात् ।

विनात्मव्यतिरेकेण तत्त्वान्तरस्य स्फोटस्याप्यप्रकाशनसामर्थ्यानुपपत्त । स एव चिदात्मा विशिष्टशक्ति  
स्फोटोऽस्तु । स्फोटति प्रकटीभवयर्थोऽस्मिन्निति स्फोटविचिदात्मा । पद्यायानावरणवीर्यांतरायक्षयोप  
शमविशिष्ट पदस्फोट वाक्यायानावरणवायान्तरायक्षयोपशमविशिष्टो वाक्यस्फोट इति । प्रकरणा  
हिक्वाध्यायशास्त्रादिरङ्गप्रविष्टा ज्ञावाहाविक्रय स्फोट प्रसिद्धो भवति भावश्रुतज्ञानपरिणतस्यात्मन  
स्तथाभिधानानिरोधात् । —पुस्तकानु० टी० प० १७ । तत्त्वार्थश्लो० प० ४२७ । प्रमेयक० प० ४५६ ।  
(४) तुलना— स्फोटवान्तिस्तु दृष्टहानिरदकल्पना च । घर्णादिवेगे प्रमेण गह्यमाणा स्फोट व्यञ्ज  
यन्ति स स्फोटोऽयं व्यनक्तोति गरीयसी कपना स्यात् । —ब्रह्म० गा० भा० १।३।२८ । (५) स्फुट  
त्यर्थोऽस्मिन् प्रकाशे इति स्फोट —तत्त्वार्थश्लो० प० ४२६ । (६) पदवाक्यान्तिस्फोटरूपेण । (७) वाय  
नाञ्च व्यञ्जकवपरिचल्पने वणवफल्यप्रसक्ति । —सामति० टी० प० ४३४ । प्रमेयक० प० ४४६ । न च  
स्फोटाभिव्यञ्जनि ध्वनय अवाक्षुप्रत्ययत्वात् गद्यवत् । —तत्त्वार्थभा० ध्या० ५।२४४ । (८) वणानाम् ।  
(९) प० ७४९ प० ७ । (१०) तुलना— समस्तवर्णसंस्कारवत्याऽन्त्यया बुद्ध्या वाक्यावधारणमित्यपि

१ कदाचित् नास्ति आ० थ० । २ तत्त्वेद आ० व० । ३ अयवण—थ० । ४ स्फोटति थ० ।

५ एतन्नपत्र पाठो नास्ति आ० ।

अर्थप्रतिपत्तिर्यथा भवति तथा प्रतिपादितमेव ।

किञ्च, सिद्धे वर्णोत्पादात् धायूत्पादाद्वा पूर्वं स्फोटसद्भावे वर्णानां धायूनां वा तद्व्यञ्जकत्व युक्तम्, न चास्य सद्भावे कुतश्चित् प्रमाणात् सिद्धम् ।

यदप्युक्तम्—‘प्रत्यक्षतः तस्यैवावभासमानत्वात्’ इत्यादि, तदपि श्रद्धामात्रम्, घटादिशब्देषु परस्परव्यावृत्तकालप्रत्यासत्तिविशिष्टवर्णव्यतिरेकेण स्फोटात्मनोऽर्थप्रकाशकस्य अध्यक्षगोचरचारितया [ऽ] प्रतीते । न चाभिन्नप्रतिभासमात्रादर्थव्यवस्था युक्ता, अन्यथा दूरान्निवृत्तरुनिकरे अभेदप्रतिभासादेकत्वव्यवस्था स्यात् । अथास्यैवाध्यमानत्वात्तत्रैकत्वव्यवस्थापकत्वम्, तदन्यत्रापि समानम्, स्फोटप्रतिभासेऽपि अनेकधा बाधकप्रदर्शनात् ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘यथानुवाकं श्लाको वा’ इत्यादि, तदप्युक्तिमात्रम्, दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यात् । अनुवाकं (क) ग्रन्थादौ हि प्रत्यक्षतः प्रतीति, पुन पुनरुच्चार्यमाणे चास्मिन् आवृत्त्या अप्रयासेनैवाऽऽधारणमनुभूयते, अतस्तत्र तैर्थां तत्कल्पन युक्तम्, स्फोटस्तु स्वप्नेऽपि न प्रतीयते, अतः कथं तस्य अन्तरालप्रत्ययैर्व्यञ्जकत्वकल्पना ज्यायसी ।

मिथ्या, तस्यावर्णरूपसंस्पर्शिनः कस्यचित्त्वाच्चिदप्रतिपत्तेः । वर्णानाञ्चाक्रमेणाऽप्रतिपत्तं कुतोऽक्रममेव बुद्धिग्राह्यं नाम । नचात्यवर्णप्रतिपत्तेरुध्वमव्यमशकलं शब्दात्मानमुपलक्षयाम् ।” — प्रमाणवा० स्वव० १।२५३ ।

(१) “स्थिते च स्फोटस्य वर्णोच्चारणात् प्राक् सद्भावे वर्णानां धायूनां वा व्यञ्जकत्वपरिवर्त्यते । नच तत्सद्भावो बुनद्धितप्रमाणादवगतः ।” —संमति० टी० प० ४३४ । प्रमेयक० प० ४५६ । (२) प० ७४८ प० १ । (३) “घटादिशब्देषु परस्परव्यावृत्तानेकवर्णव्यतिरेकस्य स्फोटात्मनोऽप्यप्रत्यायकत्वस्य अध्यक्षप्रतिपत्तिविषयत्वेनाप्रतिभासनात् ” —संमति० टी० प० ४३५ । प्रमेयक० प० ४५७ । (४) तुलना—‘दूरदेशावस्थितस्य हि विरलपदस्य घनरूपताप्रतीति उत्तरकालावधिबलिष्ठविरलरूपताप्रत्ययेन बाध्यते इति तत्र घनत्वप्रतीतिवशाद् व्यवस्थाप्यमानं घनत्वमस्तववास्तवव विमाह । वर्णाद्यव्यवभासस्य तु नोत्तरकालिणं बाधकं विशिचचेतयाम् ।” स्या० २० प० ६५८ । (५) प० ७४९ प० ५ । (६) तुलना—‘यतोऽनुवाकदलोकी सावयवी वा स्यातां निरवयवी वा ? प्रथमपक्षवप्यम् । अनुवाकादी हि सावयवत्वात् स्फुटोऽस्फुटश्चावभासो युज्यते स्फोटस्तु निरवयवत्वात् तौ सम्भवत इति । अपसिद्धात्प्रसङ्गश्चास्मिन् पक्षे वैप्यम्—इत्येकानुवाकवारपि स्फोटरूपत्वेनाभ्युपगतयोर्भवच्छास्त्रे निरवयवत्वेनाभ्युपगतत्वात् । द्वितीयविकल्पे तु ऋषदत्तगामभ्याजतिपाप्यस्फोटवत् एतावपि पूर्वपूर्वध्वनिजिगीताभिव्यक्तिवृत्तसंस्कारविशेषावन्त्यध्वनिबुद्धौ प्रथमावत्तावपि स्फुटैः प्रतिभातेयानाम् ।” —स्या० २० प० ६६० । ‘योऽपि द्वितीयो दृष्टान्त उदाहारि-यथानुवाकं श्लोको वा प्रथमतस्तस्या गृहीतोऽपि संस्थानात्तराभ्यास स्फुटतरपरिच्छिन्नो भवति तथा स्फोटोऽपि प्रथमवर्णव्यवस्थो वर्णात्तरैरतिशयिताभिव्यक्तिभविष्यतीति, सोऽपि न सदृशो दृष्टान्त इत्येकानुवाकयोरनङ्गत्वानुपपत्तेः । केचिदवयवावर्णात्मानं पण्डमानो वा प्रथमाया बुद्धावपरिस्फुरन्तं मन्थाभ्यासलभ्यानिगमायां तस्या प्रवटीभवन्ति, स्फोटस्तु एकवर्ण इव निरस इति तत्र को बुद्धेरतिशययोगस्तस्मादवयवपि न मङ्गलो दृष्टान्तः । —व्याख्य० प० ३०९ । (७) स्फुटतरमादिरूपेणाभिव्यक्तिव्ययम् ।

१ पूर्वस्फोट-आ० प० । २ पुन' नास्ति आ० । ३ तथावत्स्व-आ०, तदारमनकल्प-ध० ।

४ प्रतीतोऽतः व०, श्र० ।

त्रिञ्च, वर्णौ तद्बुद्धिभिर्वा व्यङ्ग्यो यदि शब्दस्फोटोऽभ्युपगम्यते, तदा प्रदीपा-  
 णिना तद्बुद्ध्या वा व्यङ्ग्यं प्रदीपादिस्फोटोऽप्यभ्युपगम्यतामविशेषात् । प्रत्यक्षादि-  
 निरोधात् तदनभ्युपगमे शब्दस्फोटोऽप्यत एव नाभ्युपगन्तव्यः । बाधकानुमानम-  
 द्वावाञ्च, तथाहि—न वर्णा स्फोट व्यङ्ग्यन्ति व्यङ्ग्यत्वात् । अर्थबुद्धिर्वा वर्णपदवाक्य-  
 प्रभवा तद्भावभावितात् धूमादेर्धूमध्वनबुद्धिषत् ।

यदि च अर्थप्रतीत्यर्थो वर्णाण्यतिरिक्त शब्दस्फोटोऽभ्युपगम्यते तर्हि गन्धादि-  
 स्फोटोऽप्यभ्युपगतः । यथैव हि शब्द कृतसङ्केतस्य कचिदर्थे प्रतिपत्तिहेतु तथा गन्धा-  
 दिरपि, 'एवविध गन्धमात्राय स्पर्शश्च सस्पृश्य रसश्चास्वाद्य रूपश्चायलोक्य त्वया एवविधो-  
 र्थं प्रतिपत्तव्य' इति समयग्राहिणा पुन क्वचित्तादृशगन्धाद्युपलम्भात् तथाप्रिधार्यप्रति-  
 पत्तिप्रसिद्धे गन्धान्निवेशेपव्यङ्ग्यं गन्धान्निस्फोटोऽस्तु वर्णविशेषव्यङ्ग्यपदादिस्फोटवत् ।

एतेन हस्त पाद-करण-मात्रि(वृका)-अङ्गाहारादिस्फोटोऽपि आपादितो द्रष्टव्यः ।  
 नच पदान्निस्फोट एव, नतु स्वावयवत्रियाविशेषव्यङ्ग्यो हसपद्मादि हस्तस्फोट,  
 विद्वुट्टितादिलक्षण पादस्फोट, हस्तपादसमायोगलक्षण करणस्फोट, करणद्वयरूप  
 मात्रि(वृ)कास्फोट, मात्रि(वृ)कासमूहलक्षण अङ्गाहारास्फोटो वा इति वचु युक्तम्, तस्यापि

(१) वर्णा वा ध्वनयो वापि स्फोट न पत्वाक्ययो । व्यञ्जन्ति व्यञ्जकत्वेन यथा दीपप्रभा  
 दय ॥ सत्त्वात् घटान्विबन्धति साधनानि यथाम्बु । लौकिकव्यतिरेकेण कल्पितस्यै भवन्ति हि ॥ नाथस्य  
 वाचक स्फोट वर्णभ्यो व्यतिरेकत । घनादिवत्, तदप्यत विरोधो घर्षसिद्धित ॥ -मी० श्लो० स्फो०  
 श्लो० १३१-३३ । (२) 'वर्णो वा वाग्धीरेषा तज्जानानन्तरोत्भवा । यद्गी सा तदुत्था हि धूमान्निरेव  
 बद्धिधी ॥' -मी० श्लो० स्फो० श्लो० १३५ । तत्त्वसं० का० २७३१ । (३) 'गन्धान्निस्फोटस्य तथाभ्युपगमाह  
 त्वान् । यद्यव गन्ध वक्रमकेनस्य क्वचित्प्रतिपत्तिहेतु तथा गन्धान्निरेपि विनोदाभावात् । एवविधमेव  
 गन्ध समाप्राय इत्येवविधोऽथ प्रतिपत्तव्य स्पश स्पृश्य रस वास्वाद्य रूप वालोकेत्येवम्भूतमीदृशो भाव  
 प्रत्यतव्य इति समयग्राहिणा पुन क्वचित्तादृशगन्धाद्युपलम्भात् तथाविधायनिषयप्रसिद्धे गन्धादिना  
 नाहितसंस्कारस्यात्मन तन्नाथायप्रतिपत्तिहेतु गन्धादिपदस्फोटनोपपत्त पूर्वगन्धादिविनोपानाहितस  
 स्कारस्यात्मन अन्त्यगन्धादिविशपोपलम्भानन्तरं गन्धान्निविशपसमुदायगम्याथप्रतिपत्तिहेतुगन्धादिवा  
 क्यस्फोत्त्वचनान् । -तत्त्वार्थ लो० प० ४२७ । प्रमेयक० प० ४५७ । (४) हस्तपादसमायोगो  
 नतस्य करण भवेत् । -नाटयशा० ४३० । (५) इ नृत्तकरण एव भवती नतमातृका । नृतस्य  
 अङ्गाहारास्यात्मनो मातृका उत्पत्तिकारणम् । -नाटयशा० ४३१ । (६) 'अङ्गाना देशान्तरे समुचिते  
 प्राणप्रकारो ह्रस्वर हरस्य चाय हार प्रयोग अङ्गनिवर्त्यो हार अङ्गाहार । स्पिरहस्ताग्निभेदे द्वान्नि  
 घटिप । दाम्या त्रिभिरचतुर्भिर्वायङ्गाहारस्तु मातृभि ॥ त्रिभि कलापकं चतुर्भिर्मण्डक भवेत् ॥  
 पञ्चव करणानि स्मृ सद्रपातक इति स्मृत ॥ पञ्चभिर्वा सप्तभिर्वापि अष्टभि नवभिस्तथा । करणरिह  
 सप्तका अङ्गाहारा प्रकीर्तिता ॥ -नाटयशा० ४३१ ३३ । (७) 'पदान्निस्फोट एव घटते न पुन  
 स्वावयवत्रियाविशेषव्यङ्ग्यं हसपद्मान्निहस्तस्फोट स्वाभिधयाथप्रतिपत्तिहेतुरिति स्वल्पमनिसन्द  
 धनमात्रम् । एतेन विन्दुट्टितादि पादस्फोट हस्तपादसमायोगलक्षण करणस्फोट करणद्वयरूपमात्रिका  
 सहलक्षण अङ्गाहारास्फोटश्च न घटते इति वृत्तनभिधेयवचन प्रतिपादितो बोद्धव्य तस्यापि  
 स्वस्वावयवविशेषव्यस्य स्वाभिधयाथप्रतिपत्तिहेतोरसक्यनिपाकरणान् । -तत्त्वार्थश्लो० प० ४२७ ।

१-स्फोटोऽभ्यु-व० । २-अलोके व०, थ० । ३-यशादि थ० ।

स्वस्वानयनाभिव्यङ्ग्य स्वभिनेयार्थप्रतीतिहेतोरशक्यनिराकरणत्वात् । तत्रिराकरणे वा शब्दस्फोटाप्रहाभिनिवेशो दूरत, परित्याज्य, आक्षेपसमाधानानामुभयत्र समानत्वात् । तत स्फोटस्वरूपस्य विचार्यमाणस्य अनुपपद्यमानत्वात् नासौ पदार्थप्रतिपत्तिनिबन्धन प्रेक्षादक्षै प्रतिपत्तव्य, किन्तु गवात्रिगन्तास्तत्रिबन्धन प्रतिपत्तव्या इति ।

नन्वस्तु तेषा तत्रिबन्धनत्वम्, किन्तु सस्कृतानामेव न प्राकृतानाम्, तेषामन्ना- 5  
 सस्कृतशब्दा एव ध्रुत्वात् । व्याकरणसिद्धा एव हि गवात्रय शब्दा साधनै, अत-  
 साधनार्थवाचकशब्द स्तेषामेव अर्थवाचकत्वमुपपन्न न पुन गव्यादीनाम्, तेषा तदभावात् ।  
 न तु अपभ्रंशशब्द वृद्धव्यनहारे हि अनन्यथामिद्धाभ्यामन्वयव्यतिरेकाभ्या यान्यना-  
 इति मीमांसक-वैपाक- चकमानोऽप्यर्थते, तौ च यदि एकस्य गोशब्दस्य एकत्र गोत्वलश्र-

(१) "अयं पुनरकमवानवपव वाचयम, तत्र-एकत्रेऽपि ह्यभिप्रस्य श्रमसा गत्यसम्भवात् । वाच्य एव न युज्यते । १ ह्यकस्य श्रमेण प्रतिपत्तिर्मुक्ता, गहीतागहीतयारभेदात् । श्रमेण च वाच्यप्रतिपत्तिर्दृष्टा, सववासाध्याहारश्रवणस्मरणकालस्यानेकश्रमनिमेषानुक्रमपरिममाप्ते वणन्पास सर्वाग्निस्वकवृद्धिप्रतिभासित शब्दात्मनोऽप्रतिभामनान वणानुक्रमप्रतीति । तदविशेष्येप्यनुक्रमतद्वा-  
 डाक्यस्य अनुक्रमवती वाच्यप्रतीति, वर्णानुक्रमोपकारानपसणे तयथावयञ्चित्प्रयुक्तरपि यत्किञ्चिद्वाक्य प्रतीयन विनार्थ वा वर्ण । तरनुक्रमवद्भिन्नक्रमस्योपकारामोगात् । अश्रमेण च व्यवहृतमश-  
 क्यत्वात् । गत्यन्तराभावाच्च ।"-प्रमाणवा० स्व० १।२५३ । (२) "एक शब्द सम्यग्ज्ञान गान्धान्वित सुप्रयुक्त स्वर्गे लोके कामधुमवति ।"-पात० महाभा० ६।१।८४ । "तस्माद् ब्राह्मणेन न स्लेच्छित्तव नापनापितव, स्लेच्छो ह वा एष अपगच्छ ।"-पात० महाभा० पस्पशा० । (३) 'यान् तावच्छ-सोप- विषये, गौरित्येतस्मिन्नुपदिष्ट गम्यन एतद् गाव्यान्त्याऽपशब्दा इति ।"-पात० महा० पस्पशा० । "तस्मान् यममिमुक्ता उपदिशत्येव एव साधुरिति साधुरित्यवगन्तव्य ।"-भाष्य रमा० १।३।२७ । "गिष्टम्य आगमात्सिद्धा साधवो धमसाधनम् । अथप्रत्यायनाभेदे विपरीताम्व साधव ।"-वाक्यप० १।२७ । "गान्तस्य तत्त्वमवकल्पमनपगतसम्भार साधुस्त्वम् । अये तु तत्प्रयु-  
 यदा प्रयुपमाना विवगा स्युरपभ्रसा ।"-वाक्यप० स्व० १।१३ । "स साधुर्यस्य व्याकरणावगत सम्भारो विवर्ण । तादृक्कलास्वपभ्रगा इति ।"-वाक्यप० पु० टी० १।१३ । "तस्मान लोकेवेदाभ्या कतिवद् व्याकरणादुत । वाचकाननपभ्रष्टान् यथावज्जातुमहति ।"-तत्रवा० पृ० २७८ । "तथा व्याकरणान्यत्र साधुर्न नियम्यत । अविगपण सिद्धि स्याद्विना व्याकरणस्मृते ॥"-तत्रवा० पृ० २८७ । "व्याकरणानुपानुगमविशेषित्व वाचकत्व सानुत्वम् ।"-व्यायम० पृ० ४२३ । "अभियुक्तत मरिदपतिप्रिमतिभि साधुत्वनाविगानन समयत स साधुरितरोभाधुरिति निरचीयते ।"-व्यायवा० पृ० ७१४ । "साधुत्व नाम क्वचित्कविगये स्वाभाविकप्रतिपादनगतियोगिन शब्दस्य विलक्षण रूपम् । तच्च प्रप्रिप्रयशक्तिराग व्याकरणस्मृत्या यस्य प्रतिपाद्यते तस्यैव व्याकरणस्मृतिस्मृतेन श्रानययनग अमातुगदव्यावृत्त साधुत्वम् स्मृत्तरमचतनस्वावत्प्रतीयक एव ।"-तीता० पृ० १२८ । "गवात्रय एव साधवा न गवात्रय इति साधुत्वम् नियम ।"-शास्त्रदी० १।३।२७ । 'साधुत्वेव प्रयुज्यते गवासा एव साधव । इयन्ति नियम पुवपुत्रव्यावृत्तिमुलत ॥"-जमिनिया० १।३।२७ । 'इयच्च संसृते एव शक्तिनिदी श्रमसम्भ्रमवृत्तरपि तत्रैव भावात्तत्त्व साधुत्वम् । वस्तुतो वृत्तिमत्त्वं न साधुत्वम् किन्तु व्याकरणातिपाद्यत्वम् । यत्र य गन्ते व्याकरणे व्युत्पादिन स तत्र साधु ।"-व्याकरणम्० पृ० २४९ । अनङ्गानानातिपाद्यत्वात् । व्याक्रिया व्यञ्जनीया

1 साधवयवानि-ब०, स्वपावयवानि-आ० । 2 गव्यादी-आ०, ब० ।

गेऽर्थे शक्ति कल्पयित्वा उपपत्तौ तदा ऽ द्वितीयस्य गावीशब्दस्य तत्रार्थे तौ शक्ति कल्पयन् । अनुपपत्त्या हि तयो कल्पत्वम्, यश्च येन विना आत्मान न लभते स तेन विनाऽनुपपत्त स्तोपपत्तये त कल्पयति, यत्पुन येन विनाप्युपपद्यते न तत् स कल्पयति अनुपपत्ते कल्पिकाया क्षीणत्वात् ।

न च गानीशब्दादपि अवयव्यतिरेकाभ्यामर्थप्रतीतिसभवात् कथञ्च वाचकत्वमित्यभिधातव्यम्, अवयव्यतिरेकयोस्तत्र अयथासिद्धत्वात् । अवाचकस्यापि हि गानीशब्दस्य वाचकगोशब्दस्यैव द्वारेण अर्थप्रतिपत्तौ अवयव्यतिरेकौ घटेते । दृश्यते च असाधुशब्दप्रयोगे साधुशब्दस्मरणार्थप्रतिपत्ति, यथा आमरणे 'अम्न' वा जाति वापीह साधुनेति । -शब्दको० पृ० २५। (४) 'गौरित्यस्य गणस्य गावीगोणीगोलागोपीन लिकेत्यवमादय अपभ्रंशा ।' -पाठ० महा० पस्पशा०।

(१) सामर्थ्यं सबभावानामर्थापत्त्यावगम्यते । एकसामर्थ्यसिद्धये नानक तच्च लभ्यते ॥ नाम च यवहारार्थमयस्याभ्युपगम्यते । तेनकेनच सिद्धये द्वितीयाणि च निष्पलम् ॥ -तत्रवा० पृ० १।३।२६ । किञ्च वाचकगतितर्नाम सूदमा परमाधीनतामात्रशरणावगता न तन्मन्तायामयत कुत विवक्ष्यन्नु पायते । सा चेयमयथाप्युपपद्यमाना गवादिभ्योऽप्यप्रत्ययान्त्विव्यवहारे मदीभवति तेषु शक्तिकल्पनायामर्थापत्ति एव गवादय एव वाचकगततेराश्रय न गाव्यान्वय । -वायम० पृ० ४२१ । 'अत्र च संस्कृतस्य सवदेश एकवाचकत्व शक्ति, भाषाणाञ्च प्रतिष्ठा भिन्नत्वात् संस्कृत सह पर्याय तापत्तश्च न गति । -व्याकरणभू० पृ० २४८ । "एकत्र गतनाप्ययत्र तत्रारोभात्तन्मप्रतीत्युपपत्तावेकत्रव शक्तिर्लाघवात्, अनयलभ्यस्यव गन्तव्यत्वात् । सा च शक्ति संस्कृत एव सवदेशे तस्यकत्वात् । -तत्त्वचि० गणव० पृ० ६४१ । (२) अवयव्यतिरेकी । (३) गावीशब्दे । (४) अथ यदुवनम् -

अर्थोऽवगम्यत गायादिभ्य अत एपामप्यनात्तिर्येन समर्थ इति । तदशक्तिरेषा गम्यते । गोशब्दमुच्चारयितुनामेन केनचित्शक्त्या गावीत्युच्चारितम अपरेण पाठे सास्तादिमानस्य विवक्षितस्तदर्थ गौरित्युच्चारयितुनामो गावीत्युच्चारयति । तत्र सिद्धिर्नापरेऽपि सास्तातिमिति विवक्षिते गावीःपुच्चारयति । तेन गाव्यान्त्वय सास्तादिमानवगम्यते । अनुपपत्तेः साव्यान्त्वोपात्तस्य । एव गाव्यादि

दशना गौगणस्मरणं तत्र सास्तादिमानवगम्यते । -पाठरभा० १।३।२८-२९ । 'यथा गौरित्यस्य पत्स्यार्थे गावीनि प्रयुज्यमान पद कुतुदात्तित्तथ प्रतिपादयतीति । न च गणाव्याख्यान व्ययम्, अनेन गणने गोशब्देवागौ प्रतिपद्यते गाशब्दान् कुतुदात्तित्तन्मन्तमयम् । -वायवा० पृ० ५५६ । 'ते तु वण

सारूप्यव्यवहारा गवादिगणस्मृतिमात्राणां तन्मन्तप्रतिपत्तिहेतुतामुपगच्छन्ति । -न्यायम० पृ० ४२१ । न्यायवा० ता० पृ० ७१४ । तत्त्वचि० गणव० पृ० ६४३ । न चापभ्रंशानामवाचकतया कथमर्थावबोध इति वाच्यम् । शक्तिभ्रमवता वाधकाभावात् । विशेषात्तन्स्तु द्विविधा -नतन्वाचकमसृष्टविशेषज्ञानवत् तन्विचारश्च । तत्र आद्याना साधुस्मरणद्वारा अवबोध । द्वितीयाणा तु बोध्याथसम्बद्धायान्तरवाचकस्य स्मृतौ सत्या ततो लक्षणया बोध । सधनामस्मृतेर्वा, तदयनापकत्वेन रूपेण साधुस्मृतेर्वा अर्थाध्याहार पन्थायपणाद्वा यथायथं बोध्यम् । -शब्दको० पृ० ३२ । (५) अस्वगोण्यान्वय शब्दा साधवो विपदान्तरे । निमित्तमन्तस्वत्र साधुत्वञ्च ध्ववस्थितम् ॥ ते साधुत्वनुमानन प्रत्ययोत्पत्तिहेतवः । तादात्म्य मुत्रगम्येव शब्दार्थस्य प्रचारात् ॥ न गिष्टैरनुगम्यन्ते पर्याया इव साधवः । त यत्र स्मृतिग्राहकन तस्मान्सांगान्तराचक ॥ अन्वयान्ति यथा वात् गिभमाण प्रभापते । अन्यत्र तद्विना तेन व्यक्ते भवति निरन्वय ॥ एवं साधो प्रवोक्तव्ये योऽपभ्रं प्रयुज्यते । तेन साधुत्ववहित विशिष्टार्थप्रमिधीने ॥' -

१ अनुपपत्ता हि व० । १ एतन्तगत पाठो नास्ति आ० । २ विनोप-व० ।

३ अनुपपत्ता हि व० । ३ एतन्तगत पाठो नास्ति आ० । ४ विनोप-व० ।

५ अनुपपत्ता हि व० । ५ एतन्तगत पाठो नास्ति आ० । ६ विनोप-व० ।

७ अनुपपत्ता हि व० । ७ एतन्तगत पाठो नास्ति आ० । ८ विनोप-व० ।

८ अनुपपत्ता हि व० । ८ एतन्तगत पाठो नास्ति आ० । ९ विनोप-व० ।

९ अनुपपत्ता हि व० । ९ एतन्तगत पाठो नास्ति आ० । १० विनोप-व० ।

१० अनुपपत्ता हि व० । १० एतन्तगत पाठो नास्ति आ० । ११ विनोप-व० ।

११ अनुपपत्ता हि व० । ११ एतन्तगत पाठो नास्ति आ० । १२ विनोप-व० ।

इति विवक्षाया स्थानकरणप्रयत्नवैकल्यात् प्रमादाद्वा तमुच्चारयितुमसमर्थं अस्त्विति चालोऽपभाषते । अस्या च तच्छब्दश्रवणानन्तर प्रवर्त्तमाना एव मन्यते—अनेन जालेन 'अम्ब' इति शब्दविवक्षायाम् अस्त्विति तैस्त्याने समुच्चारितमिति अस्त्विति शब्दादसाधुभूताद् 'अम्ब' इति मूलशब्द साधुभूत स्मृत्या प्रवर्त्तते । तथा, गण्ड (पण्ड) शब्दे समुच्चारयितव्ये विवक्षिते प्राच्याना सदशब्देच्चारण दृश्यते । व्यवहर्त्ता तद्व्यवश्रवणानन्तर प्रवर्त्तमान अनेन मूलशब्दोच्चिचारविषया अज्ञप्त्या प्रमादेन वा अथ सदशब्द समुच्चारित इति सदशब्दात् पटशब्द स्मृत्या ततोऽर्थं प्रतिपद्य प्रवर्त्तते । एव गायीशब्दात्साधुरूपत्वात् मूलभूत साधुरूप गोशब्द स्मृत्या व्यवहर्त्ता ततोऽर्थं प्रतिपद्यते इति, अन्वयव्यतिरेकयोरेव अन्यथासिद्धत्वान् न वाचकत्वानुधारणक्षमत्वम् । यत्रैव हि निश्चितौ तौ तत्रैव वाचकत्वनियममवबोधयत । न च गायीशब्दस्य उक्तप्रकारेण तौ निश्चितौ, अतो न तन्नियममवबोधयत । गोशब्दस्य तु उभयवादिमन्प्रतिपन्नत्वेन तौ निश्चितौ, अतोऽस्यैव गोत्वप्रतिपत्तौ वाचकत्वनियमोऽनकल्प्यते । सर्वदेशकालपुरुषपुराणवेदादिषु गोशब्दस्य एकरूपतया व्यवहारकारकत्वेन प्रतीयमानत्वान्च अस्यैव व्याकरणस्मृत्यनुगृहीतस्य वाचकत्वनियमो युक्तः न तु गायीशब्दस्य, अस्य नियतदेशादावेव व्यवहारहेतुतया प्रतीयमानत्वात् । न गलु ये देशान्तरादिप्रभवा गान्वादिशब्देष्वगृहीतसम्बन्धा तेषां तेषां व्यवहार प्रसाधयन्ति । अत अवगतप्रमाणभावेन व्याकरणेन ये अनुशिष्टा गवाद्य शब्दा तेष्वमाधव सिद्धा न तु गवाद्यादयः ।

तत्रैव वाचकत्वनियमानुगतेषु गवादिशब्दानामेव साधुत्वम्, तथाहि— 'गामानय' इत्युक्ते सास्नादिमत्त्वविशिष्टार्थानयनप्रतिपत्तिर्भवति । तत्र च यथा 'गोशब्दस्य सास्नादिमानर्थो जान्य' इत्युपार्थते, तथा 'गोशब्दस्यैव अयमर्थ' इति नियमोऽप्यवर्ग्यते । अवगतश्च नियम अन्यस्य वाचकत्व वाधते ।

अस्तु या नाम गवादीनामेव वाचकत्वानुधारणम्, तथापि वृद्धव्यवहारादेव तेषां तैत् भविष्यति, अतस्तत्साधुत्वसमर्थनाय व्याकरणारम्भो व्यर्थ, इत्यममीचीनम्, व्याकरणनिर्दिष्टत्वाद् वृद्धव्यवहारादेव सकलशब्दानां वाचकत्वस्य अवधारयितुमशक्यत्वात् । अतस्तौ हि शब्दगणि, तस्य अनन्तेनापि कालेन प्रतिपद्य वृद्धव्यवहाराद्

वाचकत्व० १।१४९-५३ । 'गामानिदानीना पुनश्चकारणामाम्यज्ञा मूर्खान्तापध्रगात् विवक्षितानु मूर्खान्तानुगारेणापत्रिणात्त्वम्, अविद्यमित्येव तु वाचकत्वान्वयेवति ।'—तीता० पृ० १३० । भाट्टवि० पृ० ९५ ।

(१) सर्वे गान्तर । 'सर्वे गलु गते गान् देशान्तरेषु प्रयुज्यन्ते ।'—पात० महा० परपत्रा० ।

(२) पुराणानाम् । (३) गाम्नात्प गान् । (४) वाचकत्वानुधारणम् ।

१ अविद्यित आ० । २ तत्र स्थाने व० । ३ गोशब्दप्रति-पद्य० । ४-रूपे आ०, व० । ५ ना तु आ० । ६ गाम्ना-व० । ७-तीति तत्र य० । ८ अस्तु नाम व०, य० । ९-निरपेक्षे व-पद्य० ।

वाचन्त्य गृहीतुमशक्यम् । व्याकरणेन तु सामान्यविशेषवता लक्षणेन उपलक्षिताना  
 स्वरूपप्रयत्नेन सर्वेषामपि शब्दानां वाचकत्वमवगच्छे शक्यमेव । अतो व्याकरणादेव  
 तेषां साधुत्वानुगमः । तथाहि—“कर्मव्ययम्” [ पाणिनि० ३।२।१ ] इत्येकेनैव सूत्रेण  
 कुम्भकार काण्डलाव वेदाध्यायादयः शब्दाः सह्य साधुत्वेन लक्ष्यन्ते । अतो व्या-  
 ५ करणानुगृहीतलोप्यन्तद्वारात् सुखेनैव साधुत्वमवधारयितुं शक्यते इत्यस्ति व्याकरण  
 स्योपयोगः । ननु चास्त्यैप्रमाणत्वात् कथं तत् केषाञ्चिन्नुक्तानां साधुत्वमवधार-  
 यितुमुचितम्, इत्यप्यसाम्प्रतम्, तदप्रामाण्ये कर्मकर्त्रादिकारकाणां सम्भवप्रसङ्गात् ।  
 न सल्लु व्याकरणमन्तरेण प्रवृत्तिप्रत्ययविभागद्वारेण कर्मकर्त्रादिकारकाणां नैयत्वेन प्रति-  
 पत्तिर्घटते, तन्नैयत्यहेतोरन्यस्याऽमभवात् । अतस्तन्नैयत्यमुपलभ्यमानं स्वरूपवस्थानि  
 १० मित्तं व्याकरणमेव व्यवस्थापयति ।

तथा व्याकरणप्रामाण्ये लोकाशास्त्रविरोधः । तत्र लोकविरोधस्तान्—सैकलं-  
 शिष्टानां तत्रामाण्यस्य अभीष्टत्वात् । शास्त्रविरोधोऽपि तदप्रामाण्ये सकलशास्त्रोद्धेद-  
 प्रसङ्गात् । सकलापि हि शास्त्राणि नियतभाषात्मकानि, नियमस्य च व्याकरणाधीन-  
 त्वात् कथं तदप्रामाण्ये तदुपपत्तिः ? शास्त्रप्रामाण्यमनभ्युपगच्छताऽपि परप्रत्यायनाय  
 १५ साधनदूषणप्रयोगं तत्रामाण्यप्रसाधनोऽवश्यमभ्युपगतव्यः । तदनभ्युपगमे स्वपर-  
 पक्षसाधनदूषणप्रपञ्चप्रत्यस्तमवप्रसङ्गात्, केवलैर्मनोत्रिरुपैः अङ्गमहाभिर्वा परप्रत्या-  
 यनानुपपत्तेः । तस्मादुक्तदोषपरिजिहीर्षता न व्याकरणप्रामाण्यमपह्नवनीयम्, इति  
 सिद्धं तत्साधुत्वप्रसाधनायास्य प्रामाण्यम् ।

ननु माधुस्य शब्दानां कुञ्चित् प्रमाणादप्रसिद्धे कथं तत्रसाधनाय व्याक-

(१) रसाहागमलध्वसन्नेहा प्रयोजनम लध्वय चाध्यय व्याकरणम ब्राह्मणनावस्य गब्दा  
 गवा इति । न चांतरण व्याकरण लघुनोपायन गब्दा गवा गानुम् । विञ्चित्तामायविशेषवलक्षणं  
 प्रवच्यम यनापन प्रयत्नम महता महत शब्दीघान प्रतिपद्यत । किं पुनस्तत् ? उत्सर्गापवात् । कश्चि  
 दुत्सर्ग क्तव्य कश्चित्पवात् । सामान्यनोत्सर्ग क्तव्य तद्यथा कर्मण्यण । तस्य विशपणापवात्  
 तद्यथा अतोऽनुपसर्गं क । १—पात० महा० पस्पशा० । ‘प्रकृत्यान्विभागकल्पनया सामान्यविशेषवता  
 लक्षणन ॥’—वाग्वि० प० १ । तत्र सामान्यवता ण्यणन प्रकृत्यान्विभागपरिकल्पनया कुम्भकार  
 काण्डलाव गारलाव त्वयवमार्त्तिक महान्त शब्दीघ प्रतिपद्यते । विशेषवता तु पाणित्रो गोद कम्भल  
 त्वयवमार्त्तिकम् ।—न्यास० प० ६ । सब० पाणिनि० । (२) ‘लोकव्याकरणाभ्यां हि मिथ्याभ्याम  
 विप्युतवाचकसिद्धिरिति ।—तत्रवा० १।३।२७ । (३) ‘व्याकरणस्य । (४) ‘नचान्तरेण व्याकरण  
 कृतस्तद्विना वा गवा विज्ञानुम् ।—पात० महा० पस्पशा० । तत्रवाववाध गणा नास्ति व्याकर  
 णानुते ।—वाग्वय० १।१३ । (५) सव्यापत्त्वान्च गणानुगामतस्य ।—हमश० बह० पृ० २ ।  
 (६) साधुत्वज्ञानविषया सया व्याकरणस्मृति । अविच्छेदेन सिष्टानामिन् स्मृतिनिबधनम् ॥ —  
 वाग्वय० १।१४३ ।

रणस्य प्रामाण्यम् ? इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, प्रत्यक्षत एव तत्साधुत्वप्रसिद्धे ।  
 तथाहि—व्याकरणसंस्कृतमते श्रौत्रप्रत्यक्षे वर्णस्वरूपवत् तत्साधुत्वमवभासते, व्याकर-  
 णानुशिष्टेषु शब्देषु उच्चार्यमाणेषु 'साधुभिरय भापते' इति प्रतीतिसद्भावात्, अन्यथा  
 चोच्चार्यमाणेषु 'असाधुभिरय भापते पाप अपशंजान् करोति' इति प्रत्यक्षप्रतीते  
 प्रत्यक्षत एव साधुत्वासाधुत्वविभागोऽवसीयते । अथोच्यते—यदि वर्णस्वरूपानिष्ठ  
 साधुत्व स्यात् तर्हि व्याकरणसंस्कारात्पूर्वं वर्णस्वरूपवत् तदपि प्रतिभासेव, तत्र-  
 भासकारणस्य श्रौत्रसम्बन्धस्य प्रागपि सद्भावात्, तदप्युक्तिमात्रम्, व्याकरणसंस्कार-  
 पेक्षस्य श्रौत्रस्य पूर्वमभावात्, कारणाभावे च कार्याभावस्य उपपन्नत्वम् । तत्र-  
 प्रहणे हि श्रौत्रस्य केवलस्यापि सामर्थ्यम्, साधुत्वप्रहणे तु व्याकरणसंस्कार-  
 रत्नैरभिभेदाना तच्छब्दास्वरूपसहाय चक्षु प्रहणे समर्थम् नन्देत् ।

ननु शब्दराशेरपर्यन्ततया प्रत्यक्षागोचरत्वात् कर्त्तव्यं तद्वत्साधुत्वम् ?  
 इत्यप्यसुन्दरम्, तद्गोचरस्यास्य अनुमानात् साधुत्वं प्रसिद्धे, तद्वत्साधुत्वम् ।  
 शब्दा साधव व्याकरणानुशिष्टत्वात् परिदृश्यमानगमादि-  
 र्भाषितव्यम्" [ ] तस्मादेवा संस्कृता वायुचत" [ तदि० ६१६ ]  
 द्विना आगमेनापि साधुत्व प्रसाध्यते । तथा उपमानेनापि  
 सूत्रकार-भाष्यकार-वार्तिककारादिभि प्रयुक्ता यथा साधव  
 प्रयुक्ता साधव एवेति । तथा अर्थापस्थापि, अनायन-  
 रेकतोऽर्थप्रतीतिसाधनत्वान्यथानुपपत्तिलक्षणया शब्दाना

(१) "साधुत्वमि द्वयग्राह्य लिङ्गमस्य च विद्यते ।

सकर ॥ व्याकरणोपदेशसाहाय्यकोपट्टतथोपदेशे द्वयग्राह्यत्वानुसृत्य

द्वयग्राह्ये अपि साधवसाधुत्वे न प्रत्यक्षतामतिवर्तेते ।

(२) "यथा च पञ्चरागादीना वाचस्पटिकमिश्रितान । परीक्षा

यथा रत्नपरीक्षाया साधवसाधुत्वलक्षणम् । तथा व्याकरणानिष्ठ

१।३।२७। (३) प्रत्यक्षागोचरस्यापि शब्दराशे । (४) "वि

मिचारि तस्वरूपावधारणे वारणं भविष्यति ।—"न्यायम० पृ० १५।

उद्धतायम—न्यायमं प० ४२३ । यावथा० ता० प० ७१४।

पृ० ६४० । 'साधुता साधुभिस्तस्माद्राज्यमभ्युदयार्थिभि

व्याहृता'—तत्रवा० १।३।२७। भाट्टवि० पृ० ९८ । (७) "तदा

पतिलभ्यस्तावन् साधुत्वनिश्चय ।—तत्रवा० १।३।२७।

१ श्रौत्रप्र—आ० व० । २—वत्साधु—व०, आ० ।

—व० । ४—स्वानुक्रोति आ० । ५ पूर्व भाषा—आ०, पूर्वप्र-

आ० । ८ सूत्रकारवार्तिक—थ० ।



अत्र प्रतिप्रधीयते । यत्तानुदुक्तम्—‘गणादय शब्दा एव साधव, तेपामेव वाचक-

श्रपन्नश्रावतादि  
भाषाप्रबन्धानां साधु  
त्वममप्यनेन वाच  
कत्वप्रसाधनम्—

त्वोपपत्ते’ इत्यादि, तन्विचारितरमणीयम्, यतो लोके व्यवहार-

समधिगम्यो हि वाच्यवाचकभावः । लोकाश्च गाव्यादिशब्दैरेव

व्यवहरणं प्रतीयते । सस्मृतत्वेदिनो हि सस्मृतान् शब्दान् परित्यज्य

व्यवहारकाले गाव्यादिशब्दैरेव व्यवहरत प्रतीयन्ते । अत

सस्मृतेतरवेत्तिना व्यवहारस्य गाव्यादिशब्दैरेव दृष्टत्वात्तेषामेव अत्रयज्यति-

रेकाभ्यां वाचकत्वमवधार्यते । नच गाव्यादिशब्दानां गणादिस्मृतिसापेक्षमर्थानुबोधकत्व

स्वप्नेऽपि प्रतीयते येन अर्थप्रतिपत्तेरन्यथाप्युपपद्यमानत्वात् तेषामवाचकत्व स्यात् ।

न खलु प्राकृतशब्देभ्यः ‘प्रथमं मस्मृतशब्दस्मरणं ततोऽर्थप्रतीतिः’ इति व्यवधानेन

अर्थप्रत्ययोऽनुभूयते, सस्मृतशब्दवत् तेषोऽपि साक्षादेव अर्थप्रत्ययप्रतीतिः, अन्यथा

यत्र सस्मृतज्ञानं न सन्ति तत्र भाषाशब्देभ्योऽर्थप्रत्ययो न स्यात् । ततो गवादिशब्दवत्

शब्दान्तस्मृतिनिरपेक्षतयैव सदा तेषामर्थानुबोधकत्वप्रतीतिः वाचकत्वमेवोपपन्नम् ।

यथैव हि गवादिशब्दस्य अत्रव्यतिरेकाभ्यां गाव्यादिशब्दस्मृतिनिरपेक्षं गोत्वाद्यर्था-

भिधायकत्वं प्रतीयते तथा गवादिशब्दस्मृतिनिरपेक्षं गवादीनामपि । एतच्च अत्रय-

व्यतिरेकाभ्यां तुल्येऽर्थप्रतिपादकत्वे यथेकस्यैव वाचकत्वं कल्पयते तद्वद्वं गाव्यादि-

शब्दस्यैव कल्पयताम्, निरपेक्षजनानां व्यवहारस्य तद्द्वारणैव प्रतीतिः ।

किञ्च, स्मरणं मूलानुभवे सति प्रमाणं भवति अनुभवानुसारित्वात्तस्य । न च

गणादिशब्दानां गोव्यवहारे प्रथमत एव स्वरसमृत्त्या वाचकत्वमनुभूतम्, गाव्यादि-

शब्दानामेव तदा तदनुभवात् । अतो येषां वाचकत्वमनुभूतपूर्वं तन्निबन्धने व्यवहारे’

अननुभूतवाचकत्वात् स्मर्यते इति महत्तयायकौशलम् ।

(१) प० ७५७ प० ६ । (२) षड्विंशति (३) प्रसिद्धिनस्त्वप्यव्यवहारं प्रवर्तते । सस्मृतरिति सर्वापि

शब्दाः भाषास्वनिरिव । —तस्याय श्लो० प० २९० । (३) गाव्यादिशब्दानामेव । (४) प्राकृतशब्दे

भ्यामपि । तुलना व्युत्पन्नान्वयनिर्णीतिरप्यत्रातिव्यतिरिक्त्यापि । वक्तुं शक्तेस्तथा दृष्टं तवमाप्यविनोपत ॥

—तरसायश्लो० प० २९० । प्रमेयक० प० ६६८ । (५) तुलना—‘स्वीकृतानामुभयप्रतीतिरभावात् ।

यः खलुमयं वेत्ति शब्दमप्यत्रैव स एव प्रतिपद्यते । यस्तु नक्कमुक्त्वाशब्देन वा वेत्ति न तामागच्छ

स कथमप्यत्रैव प्रतिपद्यत ततोऽयं प्रतिपद्यत ? दृष्ट्वा चानुभववैदिकोऽपि प्रतीतिरिति । —वादया०

प० १०३ । १—‘श्लेच्छादीनां साधुशब्दपरिज्ञानाभावात्कथं तद्विषया स्मृतिः । तदभावे न गोत्रप्रतिपत्ति

स्यात् । —तरसा० प० १२४ । (६) गाव्यादिशब्दद्वारेणव । तुलना— विषयपक्षान्नाच्च । गवादीनां

मप्रतिपद्यमाना अप्यत्रैव ज्ञानं व्युत्पद्यमानां लोके दृश्यन्ते इति व्यथं शब्दानुशासनम् । तथाहि

षड्विंशतिपरिचयवत्तद्व्युत्पन्नप्रथियो बाला प्रश्नोपक्रमं सन्तिष्ठन्ने कोऽयं वक्षः इत्यादिना । ते

चायस्य व्युत्पन्नोपायस्याभावात्प्राग्भवे व्युत्पद्यन्ते इत्यत्र आगी उपपत्तिरिति । तन्वेवमत्रासाधव

एव वाचका न साधवः सन्ताऽपि इति विषयवो दृश्यते । —वादया० टी० प० १०५ । (७)

वाचकत्वानुभवात् (८) गाव्यादीनाम् । (९) गवादीनां शब्दाः ।

१ असस्मृते-आ० । २-वोपपद्य-व० । ३ प्रथमत-प्र० । ४-व गवादि-व० । ५ तुल्याय

प्रति-व० । ६-प्रथमत एव स्वरस्य वक्ता या-आ० । ७-रे न खलु वाचकत्वा व० ।

यदप्युक्तम्—'गोशब्दे समुच्चारयितव्ये अशक्त्या प्रमादेन वा बालेन गावीशब्द समुच्चारित' इति, तदव्यसाम्प्रतम्, यतो यदि गोशब्दसमुच्चिचारयिष्या बाल अशक्ति- प्रमादाभ्या गावीशब्द समुच्चारयेत्, तर्हि परित्यक्तमालभाव प्रबुद्ध सन् 'मया अशक्त्या प्रमादेन वाँऽय प्रयुक्त' इति ज्ञात्वा त परित्यज्य गोशब्देनैव व्यवहार कुर्यात् । न च षट्कारणोऽपि गावीशब्द परित्यज्य गोशब्देनैव व्यवहरति । ननु च असंस्कृत- 5 मतिभि सह संस्कृतशब्देन गवादिना व्यवहार कर्तुं न शक्यते, लक्षणपरिज्ञानाभाव- तस्तेषां संस्कृतशब्दपरिज्ञानानुपपत्ते, अत बहुत्वादसंस्कृतमतीनाम् अशक्तिप्रमाद- प्रभवोऽपि अपभ्रष्टव्यवहार परा रूढिमागत, येन शक्तौ विज्ञातशब्दस्वरूपोऽपि जन तेनैव व्यवहरति, इत्यप्येतेनैव प्रत्याख्यातम्, प्रमादाऽशक्तिप्रभवत्वे गाव्यादिशब्द- व्यवहारस्य उक्तदोषानुपपत्तात् ।

अपभ्रष्टत्वञ्चास्य पुरुषार्थाऽप्रसाधकत्वात्, व्याकरणस्मृत्यनुगृहीतस्य सर्वत्र सर्वदाऽनैवच्छिन्नस्य एकत्वेन प्रतीत्यभावात्, सङ्केतेन अर्थाभिधायित्वाद्वा स्यात् ? तत्र आद्य पक्षोऽनुपपन्न, सकलस्य धर्मार्थादे पुरुषार्थस्य प्राकृतशब्दव्यवहारादेव प्रसिद्धे । नहि कश्चित्तादृश पुरुषार्थोऽस्ति यत्र साक्षात् परम्परया वा तद्व्यवहारो न स्यात् । तत्र प्रतिपादयिष्या प्रयुक्तानामपि संस्कृतशब्दानामर्थ सुस्पष्ट प्राकृत- 15 शब्दैरेव प्रदर्शयते इति कथं तद्व्यवहारस्य पुरुषार्थाऽप्रसाधकत्वं यतोऽपभ्रष्टत्व स्यात् ? द्वितीयपक्षे तु ठकागमस्य "साधन माह्वण हयाद् भूतिकाम" [ ] इत्यादे साधुत्वप्रमङ्ग, व्याकरणस्मृत्यनुगृहीतस्य सर्वत्र सर्वदानवच्छिन्नस्यैवत्वेन अस्यापि प्रतीत्यविशेषात् । शिष्टैरस्त्रीकृतत्वात् तत्रास्य विच्छेद पशुवधाद्यागमेऽपि समान । नहि "श्वेतमज्जालमेत" [ ] इत्यागम परीक्षाप्रधानै कृपा- 20 र्द्रिकृतचेतोवृत्तिभि आद्रियते । तृतीयपक्षोऽप्युक्त, प्राकृतशब्दवत् संस्कृतशब्दाना- मपि सङ्केतसहायानामेव अर्थप्रतिपादनसामर्थ्यसंभवात् । असङ्केतितोऽनभि(ताभि)धाने अतिप्रसङ्गान् । तदेव संस्कृतैतरशब्दाना विशेषासंभवात् उभयेषा साधुत्वमसाधुत्व वा अत्रिषेपत प्रतिपत्तव्यम् ।

किञ्च, स्वरूपत प्रसिद्धे साधुत्वे कश्चिद् विधान निषेधो वा युक्त । न च स्वरूपत तै प्रसिद्धम् । तत्स्वरूप हि वाचकत्वं, अनादिप्रयोगिता, धर्मसाधन- त्वम्, विनिष्टपुरुषप्रणीतत्वम्, विशिष्टार्थाभिधायित्वम्, आधारहितत्वं, प्रमाणा- न्तरानुगृहीतत्वं, अनुपहृतेद्वयमाहृतत्वं, अनाश्रुतत्वं, व्याकरणसिद्धस्वरूपत्व

(१) ५० ७५९ ५० ६ । (२) व्याकरणसूत्र । (३) अर्थस्मृतमतीनाम् । (४) प्राकृतार्थाभिधायित्वम् । (५) पुरुषार्थबोधनाय । (६) जनबोद्धव्येणपादिभि । (७) साधुत्वम् ।

१ इत्यादि तद-य०, ५० । २ वाच्यं य० । ३-नवस्तिपतरय य० । ४ तद्व्यवहारव्यवहारो म आ०, य० । ५-व्यवहार्यं य० । ६-अनुगृहीतमनु-आ०

वा स्यात् ? यदि वाचकत्वम्, तद् गेनादिशब्दवत् गाव्यादिशब्दानामस्त्येव, अन्व-  
यव्यतिरेकाश्च तद्वत् तेषामप्यर्थप्रतिपादकत्वप्रतिपादनात् ।

अनादिप्रयोगितापि प्रजाहापेक्षया, नित्यरूपापेक्षया वा उच्येत ? प्रथमपक्षे  
गोवादीशब्दयोरविशेष, द्वयोरपि अनादिप्रयोगिताया तथा सभवाद् उभयोरपि साधु-  
त्वमसाधुत्व वाऽपिशेषतः स्यात् । अनादिप्रयोगितयो च साधुत्वे प्राकृतस्यैव गाव्यादे  
साधुत्व स्यात्, तस्यैव तत्सभवात् । प्रकृतिरेव हि प्राकृतम्, प्रकृतिश्च स्वभाव, अत  
प्रकृतिभूतस्य अर्थस्वरूपावेदकस्य अनादिप्रयोगार्हस्य गाव्यादेरेव साधुत्व युक्तं न तु  
संस्कृतस्य गवादे, तस्य अनादिप्रयोगितानुपपत्तेः । सतो हि वस्तुनो गुणात्तरारोप  
संस्कार, स च आदिमानेव, अत संस्कृतव्यपदेशादेव संस्कारात् पूर्वं विद्यमान  
प्रकृतिभूतमन्यत्किञ्चिदस्तीत्यप्रतीयते । तच्च प्राकृतमेव, इत्यस्यैव अनादिप्रयोगितया  
साधुत्वमायातम् ।

अद्योच्यते—न प्रकृतिरेव प्राकृतम्, किं तर्हि ? प्रकृतेर्भवर्धम् । ननु केय प्रकृति-  
नाम—यतो भव प्राकृतम् इत्युच्येत ? किं स्वभावात्, धातुगण, संस्कृतशब्दस्वरूप वा ?  
प्रथमविकल्पे 'प्रकृतिरेव प्राकृतम्' इत्ययमेव पक्षोऽङ्गीकृतः स्यात्, प्रकृते स्वभावात्  
लघुधात्मलाभैर्गान्यादिशब्दैर्निग्निलोमाना व्यवहारप्रसिद्धे । द्वितीयविकल्पे तु गवादि-  
शब्दानामपि प्राकृतत्वप्रसङ्ग, धातुगणात् तत्स्वरूपसिद्धेरपिशेषात्, इति संस्कृतव्यव-  
हाराय दत्तो जलाजलि स्यात् । संस्कृतशब्दस्वरूपस्य तु प्रकृतित्वमनुपपन्नम्, विनारत्वात् ।  
सतो हि वस्तुनो गुणात्तराधानं संस्कार स विनाररूपतया कथं प्रकृतित्वं प्रतिपद्येत ?  
किञ्च, पूर्वापरकालभावित्वे सति प्रकृति-विकृतिभानो दृष्टः । न चात्रै तदस्ति,  
वैपरीत्यप्रतीतेः—'आदिमद्भिः संस्कृतम् अनादिमच्च प्राकृतम्' इति ।

(१) 'अथ गावीशब्दस्य वाचकत्वमनुपपद्यते तदयुक्तम्, गावीशब्दो बहूल्लङ्कारितः प्रमा-  
तारः ।'—तदर्थो० पृ० १२४ । (२) अनादिप्रयोगितासभवात् । (३) 'प्राकृतेति—सकलजगज्जन्तूनां  
व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारसहजो वचनयापारः प्रकृतिः, तत्र भव सव वा प्राकृतम् । आरिस्तवगण  
सिद्ध देवाणामदममहा वाणी इत्यादि वचनानां प्राक् पूर्व कृतं प्राकृतं बालमहिलादिसकलभाषानि  
वचनभूत वचनमुच्यते । मेघनिमुक्तजलमिवकस्वरूपं तदेव च देवाविगपात् संस्कारवर्णान्त्व समासादि  
तविगप सत् संस्कृताद्युत्तरविमशानोति । अत एव गान्धर्वता प्राकृतमादौ निर्दिष्टं तन्नु संस्कृतादीनि ।  
पाणिन्यादिभिरपि शब्दलक्षणेन संस्कारात् मस्कृतमुच्यते ।'—वाव्या० ६३० नमि० २।१२ । (४)  
तुङ्गा— प्रकृति संस्कृतं तत्र भव तत् आगतं वा प्राकृतम् ।—हेम० प्राकृ० प्राकृतसव०, प्राकृतच०,  
वाभट्टटा० टी० २।२ । एतदेव विषयस्तं संस्कारगुणवर्जितम् । विज्ञेयं प्राकृतं पाठयं नानावस्थान्त  
रात्प्रकृ० ॥—नाट्यगो० १७।२ । प्रकृते संस्कृतायास्तु विवृतिः प्राकृती मता ।—वदभा० । 'प्राकृ-  
तस्य तु सवमेव संस्कृतं योनिः ।—प्राकृतस० । 'प्रकृते संस्कृतान् साध्यमानात्मिदाच्च यदप्रवैत ।  
प्राकृतस्यास्य लघ्वानुरोधि लभं प्रवदमहे ॥—त्रि० प्रा० पृ० १ । (५) संस्कृतप्राकृतयोः ।

१—तथा साधु—श० । २ न च श्र० । ३ प्रकृतो भवम आ० । ४ इत्युच्यते व० । ५ धातु  
गणोक्तरूपसिद्धे व० । ६ विनारत्वात् श्र० ।

अथ मतम्—न गुणान्तराधान सस्कार, किं तर्हि ? अभिन्नस्वरूपस्य शब्दस्य सम्यगनधिगतार्थस्य प्रकृति प्रत्ययादिविभागद्वारेण तदन्तर्गतोऽर्थ प्रकाशयते इत्येव रूप शब्दस्य सस्कार इति, तदप्यसङ्गतम्, प्रकृतिप्रत्ययादिविभागद्वारेण अर्थकथनस्य व्याख्यानरूपतया सस्कारत्वानुपपत्ते । नहि यस्मादौ तथाविध सस्कार कदाचिद् दृष्ट । किं तर्हि ? गुणान्तराधानलक्षण । तथाप्यस्य सस्कारत्वाभिधाने स्वस्वत्वस्य 'वृद्धालिका' इति नाम कृतं स्यात् ।

एतेन 'ईयवहर्त्तृशक्तिद्वारेण अपभ्रंशयत शब्दस्य रक्षाद्वारेण अविचलितस्वरूपस्यैवावस्थापन सस्कार' इति मतान्तरमपि अपास्तम्, अविचलितरूपतयावस्थापनस्यापि सस्कारत्वेन क्वचिदप्यप्रतीते । अविचलितरूपतया अवस्थापनञ्च शब्दानां सादृश्यापेक्षया, नित्यैकरूपपापेक्षया वा स्यात् ? यदि सादृश्यापेक्षया, तर्हि गाव्यादि-शब्दस्यापि सस्कृतत्वं सङ्गं तदविशेषात् । अथ नित्यैकरूपपापेक्षया, तदयुक्तम्, शब्दानां नित्यैकरूपतायां प्राक् प्रसङ्गेन प्रतिषेधात् । तन्न प्रवाहापेक्षया अनादिप्रयोगितातः शब्दानां साधुत्व सिद्धयति । तथा तत्साधुत्वाभ्युपगमे च 'पितरि स्वर्गं गते ज्येष्ठेन पुत्रेण माता वोढव्या' इत्यादिस्लेच्छव्यवहाराणामपि साधुत्वप्रसक्ति, प्रवाहेण अनादिप्रयोगितायां तत्राप्यविशेषात् । अथ नित्यैकरूपपापेक्षया अनादिप्रयोगितातः तत्साधुत्वसिद्धि इत्युच्यते, तदप्युक्तिमात्रम्, शब्दानां नित्यत्वस्य प्रमाणानुपपन्नत्वात् । तदनुपपन्नत्वञ्चैव शब्दानित्यत्वमिद्वौ प्रपञ्चत प्ररूपितमित्यलमतिप्रसङ्गेन । तन्न अनादिप्रयोगितापि तत्साधुत्वलक्षणम् ।

नापि धर्मसाधनत्वम्, तद्धि तेषां साक्षात्, परम्परया वा स्यात् ? न तावत् साक्षात्, त्रैतानुष्ठानादे तदर्थस्य आनर्थक्यानुपपन्नात् । परम्परया तत्साधनत्व तु सस्कृत-

(१) "न वैव वय गुणातिशयमपरयन्त सस्कार वेपाञ्चिच्छब्दानामनुभयामहे"—वाच० ५० १०७ । (२) "रक्षाय वेदानामय्य व्याकरणम् । लोपागमवणविकारज्ञो हि सम्यग् वेदान् परिपालयिष्यतीति ।"—पात० महा० पस्पशा० । (३) पृ० ७०३ । (४) अनादिप्रयोगिताया । (५) तुलना— स्लेच्छव्यवहारा अपि केचिन् मातृविवाहादयो मदनोत्सवादयश्चानादय नास्ति वयवचासि च अपुवपरलोकाद्यपवादीनि ।—प्रमाणवा० स्वदृ० ११२४७ । (६) "लोकतोऽथप्रयुक्ते सत्प्रयोग शास्त्रेण धमनियम । ज्ञानवायोऽभिधयो नापशब्देनेति । एव त्रिममाणमभ्युदयस्तत्तुल्य वेदशब्देन ।"—पात० महा० पस्पशा० । 'साधवो धमसाधनम्'—वाच० ११२७ । (७) तुलना— "न धमसाधनता, मिथ्यावृत्तिचोदनेभ्योप्यधर्मोत्पत्ति, अयेभ्योऽपि विषयये धर्मोत्पत्ते । शब्दस्य सुप्रयोगादेव स्वगमोदनघोषणा वचनमात्रम् । नचबविधानागमानाद्रियन्ते युक्तिज्ञा । नच दानादि धमसाधनचोत्पानां यकेवलदा-दनुप्रयोगान्नगपात इति श्रुवाणस्य कस्यचिन्मुल वन्नीभवति ।"—वा० १०६ । 'तथा च सस्कृताच्छब्दात्सत्याद् धमस्तथाऽयत । स्यादसत्य यदा ( सत्याद्यदाऽ ) धम च नियम पुण्यपापयो ।'—तत्त्वाचश्लो० पृ० २९० । प्रमेयक० पृ० ६६८ । (८) शब्दादनुष्ठेयाय

१-चिद्वदृष्टम थ० । २ ध्यवहारात्तश-थ० । ३-लितस्वरूप-च०, थ० । ४-रूपतापेक्षया थ०, थ० । ५-प्रसंगतस्तद-थ० । ६-पणमेव च थ० । ७-वेदास्यनादि-च० ।

शब्दवत् प्राकृतशब्दानामप्यविशिष्टम् ।

विशिष्टैरुपपत्नीतत्त्व विशिष्टैर्थाभिधायित्व बाधारहित्व प्रमाणांतरानुगृही-  
तत्वम् अनुपहतेन्द्रियमाद्यत्रञ्च उभयत्राप्यविशिष्टमेव । अनावृतत्वमपि आवृतत्वपूर्व-  
न शब्दे सगच्छते, स्थायित्वाभावात् । स्थायिन एव हि पन्थस्य आवृतत्वानौवृतत्वे  
घटते । शब्दे च स्थायित्व प्रागेव प्रतिपिद्धम् ।

व्याकरणसिद्धस्वरूपत्वञ्च ससृष्टशब्दवत् प्राकृतशब्दानामप्यस्त्येव । यथैव हि  
ससृष्टव्याकरणेन प्रकृतिप्रत्ययविभागेन शब्दा व्युत्पाद्यन्ते तथा प्राकृतेनापि । अस्याऽ-  
व्याकरणत्वे अत्र क सामान्नाम ?

यच्चान्यदुक्तम्—‘ससृष्टता वागुद्यत’ इत्यादि, तत्राप्यसौ क्व वक्तव्या—कर्मकाले,  
अध्ययनकाले वा ? अध्ययनकाले चेत्, कस्य अध्ययनकाले प्राकृतस्य, ससृष्टस्य वा ?  
न तानत् प्राकृतस्य, तदा ससृष्टतयाचोऽनभिधानात्, अन्यथा तदध्ययनानुपपत्ति । अथ  
ससृष्टस्य, क्व तदध्ययनकाले अनधीयमानत्वात् प्राकृततयाचोऽसाधुत्वम् ? अन्यस्या-  
ध्ययनकाले अयस्याऽप्रयोगान्साधुत्वे तु पुराणाध्ययनकाले वेदवाचामप्यप्रयोगादसाधुत्व  
स्यात् । अथ कर्मकाले, कुतस्तदा प्राकृता न वक्तव्या—अर्थाप्रतिपादकत्वात्, अपशब्द-  
त्वात्, अघमहेतुत्वाद्वा ? तत्राद्यपक्षोऽयुक्त, गाव्यादिशब्देभ्य ससृष्टेतरवेदिना सुस्पष्टा-  
र्थप्रतिपत्तिप्रतीते ।

अपशब्दत्वञ्च गाव्यादिशब्दाना स्वरूपमात्रात्, व्याकरणादनिष्पत्तेर्वा ? यदि  
स्वरूपमात्रात्, तर्हि गोशब्दस्यापि अपशब्दत्वप्रसङ्ग तदविशेषात् । व्याकरणादनि-  
ष्पत्तिरपि ससृष्टतात्, प्राकृताद्वा स्यात् ? न तावत् प्राकृतात्, तत्रैतेषा स्वरूपनिष्प-  
त्तिप्रतीते । ससृष्टव्याकरणतोऽपि गावीशब्दस्य स्वरूपमात्रेणाऽनिष्पत्ति, अर्थविशेषे  
वा ? न तावत् स्वरूपमात्रेण, “यैरेये तदादि गुं ” [जनेद्र० १।२।११४] इति गुंसहाया सत्या  
गोरिय गावी प्रत्रिया इति स्वरूपमात्रेण तन्निष्पत्तिप्रसिद्धे । अथ अर्थविशेषे गोत्व-  
लक्षणे गावीशब्दस्य अतोऽनिष्पत्ते अपशब्दत्वमुच्यते, तदप्यसुन्दरम्, तत्रैतस्याऽयु-  
त्पादकत्वात् । प्राकृतव्याकरणमेव हि गोत्वलक्षणेऽर्थे गावीशब्द व्युत्पादयति नायत् ।  
वाचस्ततोऽनुष्ठान ततो घर्मोत्पत्तिरिति ।

(१) तुङ्गा- न ह्रीपा प्रनावाहुधुत्यादिक संस्कार पश्यामो नाप्यपामकान्तेन ध्रुवता । नाप्य  
धप्रत्यायने कश्चित्निश्चय । शिष्टप्रयोग संस्कार इति चत्, के शिष्टा ? य वेद्यतादिगुणयुक्ता ।  
य पुनरेषा गुणोत्कर्षानपेक्षो-त्रीवनिर्वेषो यत्तमूनव दान्नात प्रमुञ्जते नापरान -वाद्यथा० पु०  
१०७। (२) प्राकृतव्याकरणस्य । (३) प० ७६१ पं० १४। (४) प्राकृताध्ययनकाले । (५) प्राकृतव्या-  
करणे । (६) यस्य त्व अत्य तस्मिन् परत तन्ना शिष्टरूपं गुसज भवति । -शब्दाण० । (७)  
गुं इति सज्ञा अंग सनास्थानीया । (८) गोत्वलक्षणार्थे । (९) ससृष्टव्याकरणस्य ।

1-श्टाभिधा-व० । 2-नायुत्तत्वे घटते व० । 3-नस्त्यव व० । 4 वागुत्पद्यते आ० ।  
5-ले वा अप्य- । 6 अनभिधीय-व० । 7-स्वे प्राकृ-आ० । 8 प्राकृतात्सौ न व० । 9 ससृष्टव्या-  
-व० । 10-प्रतिप्रतीते आ०, व० । 11 त्वतवा-व० ।

अव्युत्पादकादनिष्पत्तेश्चास्य अपशब्दत्वे गोशब्दस्याप्यपशब्दत्वप्रमद्ग, प्राकृतव्याकरण-  
 त्तम्याप्यनिष्पत्तेरविशेषात् । अतः सस्कृतेतरव्याकरणप्रसिद्धयो गोगात्रीशब्दयो गोत्व-  
 लक्षणार्थाभिधायित्वेन प्रवृत्ते कुतोऽयं नियम 'गोशब्द एव गोत्वस्य वाचको न गात्री-  
 शब्द शब्द तथा' । यदैवं हि तुल्यप्रमाणानुधारितनाचकत्वा वृश्चतम्पादपादय पर्यायश-  
 ङ्ग तथा गोगाव्यादयोऽपि । तर्थाहि—गो-गात्री-गौणी-गोपोतल्लिवेत्यादय शब्दा गोत्वस्य 5  
 वाचका वृद्धैस्तत्र अत्रिगानेन प्रयुज्यमानत्वात् 'गौ उश्रा(म्ना)इत्यादिवत् । तथा, गाव्यादय  
 शब्दा गोत्वे अनान्प्रयोगा अनन्यगम्यमानाऽऽनधित्वात् 'गौरुश्रा(म्ना)इत्यादिवत् ।

अथ अपर्महेतुत्वाद्वासाधुत्वमस्या, ननु क्त्वा तस्या अधर्महेतुत्वम्—सर्पदा, यागा-  
 दिकर्मकाले वा ? यत्र सर्पदा, न कदाचिद् धर्मस्यावसर स्यात्, नित्य-नैमित्तिका-  
 नुष्ठानसमयेऽपि प्राकृतशब्दाना घृतसमिदाद्यभिधायिना गोभूम्यान्निनाभिधायिनाश्च 10  
 प्रयुक्तानामधर्मस्यैव हेतुत्वप्रमद्गात् । अथ यागादिकर्मकाले, महत् तत्कर्मणो माहात्म्य  
 येनान्यदा अधर्मस्याजननमपि आत्मसत्ताकाले[ऽ]धर्मजननं करोति इति ।

निश्च, प्राकृतयचसामधर्महेतुत्वनियम तदा सिद्धेत् यदा सस्कृताना तेषा  
 धर्महेतुत्वनियम स्यात् । तन्नियमाभ्युपगमे च नटभटवर्णचर्मकारादीना सस्कृतवे-  
 त्त्वचोऽभिधायिना प्राकृतवक्तृमामोपवासिन्यान्निभ्य अतीनाधिकधर्मोत्पत्ति स्यात् । 15  
 अथ ब्राह्मणस्यैव तन्निधायिनो धर्म नान्यस्येति चेत्, न, ब्राह्मण्यस्य कुतश्चिन्पि  
 प्रमाणादप्रतीते ॥३॥

ननु प्रत्यक्षेणैव ब्राह्मण्य प्रतीयते, निस्फारिताक्षस्य पुरोव्यग्रस्थितेषु क्षत्रियादिस-  
 नित्यनिर्घोषकत्वादिष- ह्येषु तद्वैलक्षण्येन 'ब्राह्मणोऽयं ब्राह्मणोऽयम्' इत्यनुगतैकाकारप्रत्यय-  
 र्पित्वा यानिनिर्घना विषयतया ब्राह्मणमह्ये मनुष्यत्वान्गतिरिक्तस्य अनुगतैकाकारस्य ब्राह्मण- 20  
 ब्राह्मण्यनातिरिप्तिमीना- (ण्य)म्य प्रतिभासप्रतीते । न चायं प्रत्यय सन्दिग्ध, उभययो-  
 सरादीना पूर्वपक्ष - टिसस्पर्शित्वाभावात् । नापि त्रिपर्यम्न, दोपरहितै कारणैरार-धत्वात्  
 यावत्प्रत्ययरहितत्वान्च । यदि च ब्राह्मण्य प्रत्यक्ष न स्यात् तदा 'ब्राह्मणोऽयं पुरुष' इति  
 विशिष्टप्रतिभामो न स्यात् । अत्र हि ब्राह्मणत्वानुरागविशिष्ट पुरुष प्रतिभामते, न पुन

(१) गात्रीशब्दस्य । (२) तुलना—'तस्मात्पर्यायशब्दत्वात् गाव्यान्तद्वृत्तवत् । आचारण  
 प्रयायव न चास्त्रस्यनिवारितम् ॥'—तत्रया० १।३।२४ । (३) तुलना—'गावीगोभ्यान्त्य गल्पा सर्वे  
 गावस्य वाचका । बृद्धस्तत्र प्रयुक्तत्वाद् गोशब्दे येवमादिवत् ॥'—तत्रया० १।३।२४ । (४) स्पष्टज्ञा  
 निविशेष । "गुल्लिना नाहला निष्पा गवरा वष्टा भटा । माला भिल्ला विरानाश्च सर्वेऽपि  
 स्पष्टज्ञानय ॥'—हम । (५) ब्राह्मणाश्च ब्राह्मणोऽयमित्यनुगतप्रत्ययः ।

1-भिषाणवत्त्वेन व० थ० । 2-स्वात धृम्-व० । 3-गौणातलि-थ० । 4 गौरुपत्वे वा-  
 च०, गोशब्दे वा-थ० । 5 गौरुपरवेरया-व० । 6-चष्ट-आ० व० । 7 यदि ब्राह्म-आ० । 8-गणतन्तगत  
 पाठा नास्ति आ० । 8-न पुन पुन्यमात्रं थ० ।

प्रतिभासते तच्छ्रय पुरुषमात्रम् । तैत्प्रतिभासे हि 'पुरुषोऽयम्' इति प्रतिभास स्यात्  
 नतु 'ब्राह्मणोऽयम्' § इति, पुरुषातिरन्वित्वाद् ब्राह्मण्यस्य । न च अप्रतिपत्ने विशेषणे  
 विशिष्ट प्रत्ययो युक्तः, अतिप्रसङ्गात् । न च तथाभूतस्य ब्राह्मण्यस्य अर्थेषु सभवे प्रथ-  
 मदर्शनेऽपि प्रतिभासप्रसङ्गः, यतः स्वप्रतिशेषव्यङ्ग्या जातिः, विशेषाच्च इतरजातिपरिहा-  
 रेण अवभासमाना जात्यंतरपरिहारेण स्वनातीव्यञ्जयति यथा गयाश्वादयः, अतः तत्रै-  
 प्रतिभासाऽपि जातिः व्यञ्जकभेदाग्रहणात्प्रोह्यति । व्यञ्जकभेदाग्रहणञ्च अत्यन्तमुमह-  
 शात्रयत्वादुपपन्नम् अत्यन्तसुसदृशगोत्रयत्नम् । दृश्यते च द्रव्यपरीक्षणणा कूटाकूटवि-  
 वेके मणिपरीक्षणणाञ्च मणिकाचादिविवेके अवधानपता नैसर्गिकभ्यासिकप्रतिभास-  
 सामग्रीसद्भाव एव कूटाकूटविवेके मणिकाचादिविवेके, एतन्नापि 'अप्रिभ्रुतेन ब्राह्म-  
 णेन अप्रिभ्रुताया ब्राह्मण्यामुत्पन्नं ब्राह्मण' इत्याद्यौपदेशिकमातापितृब्राह्मण्यज्ञानलक्षण-  
 सामग्रीसद्भाव एव 'ब्राह्मणोऽयम्' इति विवेकेन प्रतिभामानिर्भावो भवति । यत्ति वा,  
 तैद्ब्राह्मण्यनाननिरपेक्ष 'ब्राह्मणोऽयम्' इत्युपदशसदृशेन इन्द्रियेण 'ब्राह्मणोऽयम्' इति  
 ब्राह्मण्यजातिप्राप्तिः प्रत्ययो जन्यते । न च सामर्थ्यभावात् यतः प्रतिभासते तन्नास्तीति वक्तुं  
 युक्तम्, अतिप्रसङ्गात् । अप्रिभ्रुतत्वञ्च मातापितृ प्रथादाभामानिश्चीयते । व्यभिचारे

(१) ब्राह्मणत्वरहितम् । (२) ब्राह्मणत्वपूर्वपुरुषमात्रप्रतिभासे । (३) पुरुषेयम् । (४)

ब्राह्मण्या ब्राह्मणा जातो ब्राह्मण स्यात् सद्भवः । धर्मिपाया तथैव स्यात् वक्ष्यामामपि च यद् हि ॥  
 -महामा० अनु० ४७।२८। सुवर्णं व्ययते रूपात्तमत्वात्परिमाणम् । तत्त्वाद घतं विलीनञ्च  
 गन्धेन च रसेन च ॥ भस्मप्रचटादितो वल्लिं स्यान्ननोपलभ्यते । अस्वत्वादौ च दूरस्थ निश्चयो  
 जायते स्वनः । सस्यान्न घटत्वादि ब्राह्मणत्वात्ति योनिः । क्वचिदाचारतश्चापि सम्यग्ज्ञानुपालि-  
 तान् ॥ -मी० श्लो० वन० श्लो० २७-२९ । कथं पुनरिदं लोकास्य प्रसिद्धम् ? प्रत्यक्षमिति व्रूमः ।  
 कस्मान्युत मातापितृसम्बन्धानभिना चक्षुःसिद्धिदृष्टेषु मनुष्येष्वनाभ्यासः न प्रतिपद्यन्ते ? एकत्वभावात्  
 यथा कृष्णत्वं प्रायमिधानव्युत्पत्तः । तत्र यथालोकेन्द्रियालोकविष्णानुस्यूतिगल्परणव्यक्तिमहत्त्वस-  
 त्रिकर्षाकारविशेषानुस्यूतिग्रहणे कारणं तथैवात्र उत्पन्नं च ज्ञानिस्मरणम् । अयञ्चत्पाद्योत्पादकस-  
 म्बन्धो मातृत्वे प्रत्यक्षो यथा तु अनुमानात्प्राप्त्यावगतं कारणम् । न च तप आग्नीना समुदायो ब्राह्मण्यम्,  
 न तज्जनिव मत्कारः न तन्निष्कण्डा ग्या जातिः । किं तर्हि ? मातापितृजातिनामिष्यङ्ग्या प्रत्यक्षस-  
 म्बन्धग्या । -तत्रवा० १।२।२। तस्मात्समागताकारत्वात् पिण्डेषु विलक्षणब्राह्मणप्रत्ययवदब्राह्मण्या  
 निजानिर्गम्योत्पत्तौ गन्धेन । -तत्रवा० पाद्यसु० १०-१५। यथा ब्राह्मणत्वात्निजातिरूपदेशस्यैव  
 पेशचक्षुर्निर्द्रयग्राह्यापि न प्रत्यगगम्यतामप्युज्जति यथा च ब्राह्मणत्वादिजातिप्रतीती कारणान्तरमुक्तं  
 क्वचिदाचारतश्चापि सम्यग्ज्ञानुपालिनामिति मन्वादिदक्षितानुस्यूतानुसरणनिपुणनरपतिपरिपाल्य  
 मानवर्णाश्रमाणा गच्छितकपटदृशकाम्यवगुण्डुत्पूर्वव्यभिचारे दगे विशिष्टाचारगम्यापि ब्राह्मणत्वात्निजा-  
 तिभवति । -न्यायम० पृ० ४२२। (५) मातापितृब्राह्मण्यज्ञानम् । (६) स्व्यपरापात्तुं दुर्गतिर्गम्य सम्बन्ध  
 इति स्वदपक्षे चम्यति । न च तावमाश्रय प्रत्यक्षता हायते । न हि यद्गिरिशृङ्गमावह्य गृह्यत तत्प्रत्य-  
 क्षम् । न च स्त्रीणां क्वचिद् व्यभिचारदत्तानां सवन्धवत्पत्नयुक्ताः । लोकादिच्छानुमानासम्भवात् । विशि-  
 ष्टतं हि प्रयत्नं महाकुटीना परिणतत्वात्मानम् अनन्व हेतुना राजभिर्ब्राह्मणस्य स्ववित्पितामहा

१ ब्राह्मणस्य व० थ० । २ ब्राह्मणस्य व० थ० । ३ इतरजाति-आ० । ४ प्रतिपत्तापि  
 आ०, थ० । ५ सामप्यासद्भाव-व० । ६ इत्यौपदेशि-व० इत्यापदे-थ० ।

हि प्रवादेन व्याप्त, अतः प्रवादेन निवर्त्तमानं व्यभिचारं निवर्त्तयति, व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यस्याऽनिवृत्तिनिरोधात् ।

यदि च ब्राह्मणशब्दस्य ब्राह्मण्यनातिनिवर्त्तयितुं न स्यात् तदाऽयमनर्थकः स्यात्, न चैतद् युक्तम्, एतदुच्चारणानन्तरभाषिनोऽर्थप्रत्ययस्य उपलभ्यमानत्वात् । तत्रिचन्धनव्यवहारस्य च 'ब्राह्मण भोजय' इत्यादिरूपस्य असन्निधावाधितस्य सुप्रतीतत्वात् । पांशुपता- 5  
दिलिङ्गितामपि ब्राह्मणत्याजित्यनुरूपो नामचिहाचारोपदेशादिव्यवहारो दृश्यते, अतः सुपुण्ड्रव्यवहारदर्शनाद् व्यक्त्यभ्योऽर्थान्तरभूता प्रत्ययतः प्रमिद्धा ब्राह्मण्यनाति ।

तथा अनुमानतोऽपि, तथाहि—असति प्रतिबन्धके यो यदाकारः प्रत्ययः स तदाकारविषयनिमित्तः यथा नीलाग्निप्रत्ययः, असति प्रतिबन्धके भवति च 'ब्राह्मणोऽयं ब्राह्मणोऽयम्' इत्यनुगतैर्भाषारः प्रत्ययः, तस्मात् पिण्डव्यतिरिक्त-अनुगतैर्भाषारब्राह्मण्यनिमित्तः इति । यन्मारो हि प्रत्ययः विषयेणापि तदाकारेणैव भवितव्यम्, अन्यथा नीलाग्निप्रत्ययस्य अनीलादिविषयत्वप्रसङ्गात् प्रतिनियतवस्तुव्यवस्थायिलोपानुपपन्नः । 10

तथा, ब्राह्मण्यव्यक्तिव्यतिरिक्तैर्निमित्ताऽभिधेयसम्बद्धम् पदत्वात् पटादिपद-  
वत् । न चायमसिद्धो हेतुः, धर्मिणि त्रिगमानत्वात् । नापि विरुद्धः, विषय एवाऽवृत्ते ।  
नाप्यनैरान्तरिकः, पक्षमपथवद् विपक्षेऽयमवृत्ते । नापि साधनविकलो दृष्टान्तः, पटा- 15  
दिपदेषु पदत्वस्य त्रिगमानत्वात् । नापि साध्यविकलः, तेषु व्यैक्तिव्यतिरिक्तैर्निमित्ता-  
भिधेयसम्बद्धत्वाभावे व्यक्तीनामानन्त्येन अनन्तेनापि कालेन सम्बन्धग्रहणानुपपत्तेः ।

तथा वर्णविशेषाध्ययनाचारयज्ञोपवीतादिव्यतिरिक्तनिमित्तनिबन्धनं 'ब्राह्मण'  
इति ज्ञानं तन्निमित्तजुद्धिविलक्षणत्वात् गणाश्चादिज्ञानमिति ।

दिवारम्भ्याविस्मरणापि समूहेष्वेव्यानि प्रवर्तिताः । तथा च प्रतिमूलगुणदोषस्मरणात्तदनुसूपा  
प्रवृत्तिनिवृत्तयो दृश्यते । 1-तत्रवा० १।२।२। 'स्त्रीत्वस्य व्यभिचाराप्रयोजकत्वमूत्रनार्योऽनुमाने  
व्यवहारः । न च तिमूलवत्तत्र लोकात्प्राप्तमाभ्यम् प्रयत्नन रणणे योग्यानुपलब्धे मूत्रत्वमभवात्सि  
दशयिनुमाह-विगिष्टन हीति । महागुलीनानाः पुरुषाणां स्त्रीरक्षणमेव आत्मरक्षणम्, जायाया रक्ष्य  
माणायामात्मा भवति रक्षित इति स्मरणात् । यदा दुष्पुलकपूतस्य व्यभिचाराणीलत्वे प्रयोजकं न  
स्त्रीयमिति दण्डियु महागुलीनत्व स्त्रीणामुक्तम् । व्यभिचाराभावनिश्चयमेव अभियुक्तवृद्धव्यवहारेण  
द्रवयति अननवति । व्यभिचाराभावनिश्चय हि निमूलत्वात् पितृपितामहादिपरम्परालेखनसमूह  
रेण्य व्यय स्यादिति भावः । कुलपरीक्षापूर्वके दात्री तनपुरुषगतविवाहादिव्यवहारेणापि तमेव द्रवयति  
तथा चेति । 1-तत्रवा० १।२।२। 'यत्र दावदुष्पुलकं घसामप्री तावत्यां सरयामिः यथां व्यभि  
चारो न दृश्यते तासां नास्त्येव व्यभिचार इति लोचप्रमाणकमेतत् । अपि च अप्रमत्तं रिण्यो रक्षणीया,  
तासु नास्त्येव व्यभिचारसंभावनावकाशो यासु त्वस्ति मा भूत् तत्पदेषु तत्सन्ततिप्रभवत्यनिश्चयः ।  
न चतावता यत्रापि निश्चयः दावस्तत्रापि अनिश्चय इति युक्तमिति । 1-प्रश्न० पं० पृ० ३१ ।

(१) ब्राह्मणसत्त्वप्रयोगः । (२) दावादिभदानाम् । (३) ब्राह्मणोऽयमिति प्रत्ययः पिण्डव्य-  
तिरिक्तब्राह्मण्यनिबन्धनः असति प्रतिबन्धके ब्राह्मणोऽयमित्याकरतया समुत्पद्यमानत्वात् । (४)  
पटादिपदेषु । (५) पदव्यक्तित्वो व्यतिरिक्तमेक निमित्त पदत्वात्प्यम् ।



तथा 'ब्राह्मणेन यष्ट्य ब्राह्मणो भोजयितव्य' [ ] इत्यागागमादपि ब्राह्मण्यजाति प्रसिद्धा । तथा वेदेतिहासपुराणप्रसिद्धा चामौ "ब्राह्मो ब्रह्मा मुरतो ब्राह्मण्यससर्ष, बाहुभ्या क्षत्रियम्, ऊरुभ्या वैश्यम् पद्भ्या शूद्रम्" [ ] इत्यादि वैचसाभूयसा तत्र तत्प्रतिपादकाना श्रवणादिति ।

अत्र प्रतिप्रधीयते । यत्तादृक्चर्म—'प्रत्यक्षेणैव ब्राह्मण्य प्रतीते' इत्यादि, तन्ममी-

सन्शरिणामरूप एव  
ब्राह्मण्यम्, नतु  
मानिनिव धनमिति  
समर्थनम्-

चीनम्, यत् किं केन्द्रे द्वियजनितेन तेन तत्प्रतीयेत, अन्यसहृष्टे द्वियजनितेन वा? प्रथमैपक्षे किं निर्विकल्पकेन, सविकल्पकेन वा तद्व्यजनि-  
तेन तेन तत्प्रतीयेत? न तादृक्निर्विकल्पकेन, तत्रे आत्यादिप्रतिभामा-  
भावात्, भावे वा निर्विकल्पकत्वविरोध कथमयथेद शोभेत-

१० 'श्रुति रालोचनाज्ञान प्रथम निर्विकल्पकम् । बालमूमादिप्रज्ञानसदृश शुद्धवस्तुजम् ॥  
तैत् पर पुनरस्तुधर्मैजात्यादिभियथा । बुद्धयानतायते सापि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता ॥''

[मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० ११२ १२०] इति ।

नापि सविकल्पकेन, अस्य निर्विकल्पकानुपपत्ते प्रवृत्त्यनुपपत्ते । उपपत्तौ याऽति-  
प्रसङ्गे । नै च विस्फारिताश्वस्य पुरोवत्तिरण्डमुण्डकवीदियक्तिपु गत्राधादिजातिवत्

(१) ब्राह्मणोस्य मुखमानीत् बाहू राजय वृत् । ऊरु तस्य यद्वश्य पद्भ्या गृहोऽजायत ॥--  
श्रुत० पुर० १२ । 'अस्य प्रजापते ब्राह्मणत्वजातिविधिपु पुर० मुखमानीत् मुखादुत्पन्न इत्यथ ।  
योऽयं राजय क्षत्रियत्वजातिविधिपु स बाहू वृत्तो बाहुत्वेन विष्णान्तो बाहुभ्यामुत्पान्ति इत्यथः ।  
तत्तानीमस्य प्रजापतयैवावृत् सन्पुो वश्य सम्पन्न ऊरुभ्यामुत्पान्ति इत्यथ । तत्रास्य पद्भ्या पादाभ्या  
गृह पादत्वजातिमान पुनपोऽजायत । इत्यञ्च मुलाभ्याम्बो ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिषु सहितायां (३१११)  
सप्तमवाणं स मुखतस्त्रिवत् निरमिमीत्' इत्यागौ विस्पष्टमाग्नाता । -सायणभा० । (२) पृ० ७६८  
प० १८ । (३) तुलना- तत्र किं निर्विकल्पकत्वं विकल्पकादा तत्रस्तत्प्रतिपत्ति स्यात् । -प्रमेयक० पृ०  
४८२ । स्या० २० पृ० ९५८ । (४) द्वियजनितेन प्रत्यक्षण । (५) निर्विकल्पके । (६) व्याख्या-  
'यत्स्वपिशब्दसहमान सवमेव ज्ञान शानुविद्धत्वात् सविकल्पकत्वमव न किञ्चिद्विभक्तिवत्पवमस्तीति  
मायत त्र प्रत्याह-अस्तीति । बाअनामिव अन्युत्पन्नानामस्माकमपि बधु सन्निपातानन्तर सविकल्पकात्  
प्रथममन्ति निर्विकल्पक प्रतीतिस्तिद्धमालोचनविज्ञान गृहवस्तुविषयम्, तदभावे हि निनिमित्त शब्दस्मरण  
स्यात् । अस्मन्तान्म्य च (न) शानुविद्धा विवक्ष्य सभवतीति । गृहवस्तुजमित्येवद्विवृणोति- न  
विशपो न सामार्ये तानामनुभूयते । तयोराधारभूता तु व्यक्तिरेवावसीयते ॥ महात्तमायमन्यस्तु  
द्रव्य सदिति चोच्यते । -मी० श्लो० यापर० । उद्धतोऽयम- 'गानमाद्य चेद्विद्विकल्पकम्'-तत्त्वस० पृ०  
३८५ । प्रमेयक० पृ० ४८२ । प्रमेय० पृ० ७४ । स्या० २० पृ० ९५८ । स्या० म० श्लो० १३ ।  
'ह्यालोचन पान -यद्वद० बृह० पृ० ११ । (७) ततो निर्विकल्पकादुत्तरकालं आत्यादिनिर्विकल्प्य  
वस्तु यथा बुद्ध्या गृह्णे साऽपि प्रत्यक्षमेविति । -मी० श्लो० यापर० । उद्धतोऽयम-तत्त्वस० पृ०  
३८५ । प्रमेयक० पृ० ४८२ । स्या० २० ९५८ । (८) मनोरायाद्विकल्पादपि वस्तुसिद्धिप्रसङ्गात् ।  
(९) तुलना- विस्फारिताश्वस्य पुरोवत्तिरण्डमुण्डकवीदियक्तिपु गत्राधादिजातिवत् मनुष्यव्यक्तिपु  
मनुष्यत्वपुस्तवाद्यतिरकत्राह्मणस्य कस्यचित्प्रतिभासात् । -स्या० २० पृ० ९५८ ।

शुद्धत्वादिगुणवद्वा मनुष्यव्यक्तिपु मनुष्यत्वपुस्त्वौद्यतिरिक्तस्य ब्राह्मण्यस्यैकस्य अखिल-  
स्वव्यक्तिप्रनुगतस्य प्रतिभासोऽस्ति । कथमेव कचिद् ब्राह्मणत्वानुरक्तोऽनुगतप्रत्यय  
स्यान्ति चेत् ? सङ्केतवशात्, यथैव हि परस्परखिलक्षणेपु गोत्रादिपु एकगोत्ररूपसामा-  
न्याभावेऽपि 'गो गौ' इत्यनुगताकारैकप्रत्यय तथा अन्योन्यखिलक्षणेप्यपि मनुष्यव्य-  
क्तिविशेषेपु 'ब्राह्मणोऽय ब्राह्मणोऽयम्' इत्यनुगताकारैकप्रत्ययो भविष्यति । वस्तुसामर्थ्य- 5  
प्रभत्वे तु अगृहीतसङ्केतास्वपि व्यक्तिपु तन्मात्रोपलम्भेनैव अव्यभिचारिगोप्रत्ययत्र  
सं स्यात्, न चैवम् । न खलु यथा महिपादिसङ्केतगता गोजाति वैलक्षण्येन प्रतिभासते  
स्वसङ्के च गुण क्रिया वा, तथा ब्राह्मण्यमपि । नहि हस्तपादाद्याकारव्यङ्ग्यमनुष्य-  
त्वाद् व्यतिरिच्यमानपुस्त्रादिसामान्यवत् ब्राह्मणत्व वैत्रिक्तधेन औत्तु प्रतिभासते ।  
अन्यसहकृतेन्द्रियजनितेनापि तेनै निर्विकल्पकेन, सविकल्पकेन वा तत् प्रतीयेत ? 10  
उभयत्र उक्तदोषानुपपन्न ।

किञ्च, इन्द्रियाणा तद्विषय प्रत्यक्षमुपजनयता किं तन्न्यत् सहकारित्वेन अभिप्रे-  
र्तम्—ब्राह्मणभूतपितृजन्मत्रम्, पित्रोरपिप्लुतत्वोपदेश, आचारविशेष, सस्कारविशेष,  
वेदाध्ययनम्, यज्ञोपवीतादिकम्, ब्रह्मप्रभत्वं वा ? तत्रापि पक्षोऽनुपपन्नं, यत्  
पित्रोर्ब्राह्मण्ये सिद्धे तन्न्यत्त्वेन पुत्रस्य ब्राह्मण्य सिद्धयेत्, तच्चानयो ब्राह्मणभूतपितृ- 15  
जन्मत्वात् सिद्धयेत्, तथाभूतपुत्रजनकत्वाद्वा ? प्रथमपक्षे अनवस्था । वीजाङ्कुरवदना-  
दित्वात् तत्कार्यकारणप्रसाहस्य अतो नानवस्था दोषाय, इत्यप्ययुक्तम्, यतो वीजाङ्कुरयो  
कार्यकारणभाव पूर्ववीजाङ्कुरकार्यकारणभावग्रहणनिरपेक्ष प्रमाणत प्रतीयते, अत्र तु  
पूर्वपूर्वब्राह्मण्यप्रतिपत्त्यभावे परापरब्राह्मण्यप्रतिपत्ते कर्तुमशक्यत्वात् न ह्यन्त-वार्था-  
न्तिकयो मनागपि साम्यम् । द्वितीयपक्षे तु अन्योन्याश्रय—सिद्धे हि पितृब्राह्मण्ये ब्राह्मण- 20  
भूतपितृजन्मत्वेन पुत्रब्राह्मण्यसिद्धि, तत्सिद्धौ च ब्राह्मणभूतपुत्रजनकत्वात् पितृब्राह्म-  
ण्यसिद्धिरिति ।

(१) वस्तुमात्रोपलम्भेनव । (२) ब्राह्मणोऽय ब्राह्मणोऽयमिति प्रत्यय । (३) मनुष्यत्व हि  
स्थीपु पुरुषेषु च व्याप्तम्, पुरुषत्व तु पुरुषमात्र एव । (४) प्रत्यक्षेण । (५) ब्राह्मण्यम् । (६)  
“ननु किमिदमिन्द्रियसहकारित्वेनात्रप्लुतम्—ब्राह्मणभूतस्वपितृज यत्त्वम्, पितृगोचरोऽपिप्लुतत्वोपदेश,  
आचारविशेष, संस्कारविशेष, वेदाध्ययनम्, यज्ञोपवीतादिकम्, ब्रह्मप्रभत्वं वा ?”—स्या० २० पु०  
१५८ । (७) तुन्ना—“यत् पित्रादिब्राह्मण्यज्ञान प्रमाणमप्रमाण वा ?”—प्रमेयक० पु० ४८३ । (८)  
“तच्चानयो ब्राह्मणभूतपितृज यत्त्वात् सिद्धयत तथाभूतपुत्रजनकत्वाद्वा ?”—स्या० २० पु० १५९ ।

1 मनुष्यपुस्त्वा—आ०, व० । 2—स्वादाद व्यति—थ० । 3 ब्राह्मणस्य—आ०, थ० । 4—गत  
प्रत्य—व० । 5—व्यक्तिपु मनुष्यत्वपुस्त्वाद्यतिरिक्तस्य ब्राह्मणोऽय थ० । 6—चारी गोप्रत्य—आ०, व० ।  
7 महिष्यादि—थ० । 8 स्वस्वसधे व० । 9—स्वाद्यतिरि—व०, आ० । 10 जाति प्रति—थ० ।  
11—जन्मत्व व० । 12 तत्रापि—व० । 13 ब्राह्मणभूत—थ० । 14—ह्यण्यभावेपरा—थ० । 15 पुत्र  
ब्राह्मण्यसिद्धि तत्सिद्धौ च ब्राह्मण्यसिद्धि तत्सिद्धौ च ब्राह्मण—आ० ।

'अविप्लुतेन ब्राह्मणेन अविप्लुताया ब्राह्मण्यामुत्पन्नो ब्राह्मण' इत्यविप्लुतमातापित्रु-  
पदेशस्तत्सहचारी, इत्यपि श्रद्धामार्गम्, प्रमाणतोऽप्रतिपत्रेऽर्थे वास्तवोपदेशासम्भवात् ।  
यत्र कुतश्चित् प्रमाणात् प्रतीयते न तत्रोपदेशो वास्तव यथा सकलशून्यतायाम्, कुतश्चि-  
दपि प्रमाणात् प्रतीयते च भवत्कल्पित ब्राह्मण्यमिति । अथ प्रत्यक्षत एव ब्राह्मण्य प्रतीय  
5 यथोक्तोपदेशो विधीयते, तदसत्, परस्परश्रयप्रसङ्गात्-सिद्धे हि ब्राह्मण्यप्रत्यक्षत्वे  
प्रमाणभूतयथोक्तोपदेशसिद्धि, तत्सिद्धो च तथाभूतोपदेशसहसृतेन इन्द्रियेण ब्राह्मण्य-  
प्रत्यक्षतासिद्धिरिति ।

अविप्लुतत्वञ्च विवक्षितपित्रपेक्षया, अनादिकालपितृप्रवाहापेक्षया वा अभिप्रेतम् ?  
यदि विवक्षितपित्रपेक्षया, तत्रापि अनयो तज्जन्मनि अपिपुतत्वमभिप्रेतम्, अनादि-  
10 काले वा ? तज्जन्मनि चेत्, केन तत्र तयो प्रतीयेत-पुत्रेण, अन्यैर्या ? न तावत्  
पुत्रेण, स्वजन्मकालेऽपि तस्य तद्विवेचनासामर्थ्यात् । नाप्यन्ये, तद्वि तै प्रत्यक्षत  
प्रतीयेत, अनुमानात्, आगमाद्वा ? न तावत् प्रत्यक्षत, 'अयमेतस्मादेव प्तस्यामुत्पन्न'  
इत्येतरूपस्यार्थस्य अर्वागृहशा प्रत्यक्षीकर्तुमशक्यत्वात् । नाप्यनुमानात्, प्रत्यक्षाविषये  
भवता अनुमानाऽनभ्युपगमात् । लिङ्गाच्च अनुमानमुदयमासादयति । न च पित्रनिप्लु-  
15 त्वे सिद्धिलिङ्गमस्ति । तत्र हि लिङ्गम् पित्रो सञ्चुताकारादिनिशेष, अपत्येष्वविल-  
क्षणता वा ? तत्रापक्षोऽयुक्त, दुश्चारिणाम् अतीव सञ्चुताकारदर्शनात् । द्वितीयपक्षोऽ-  
प्यपेशल, यतो यन् विप्लुतेतरपितृप्रभवाऽपत्येषु विलक्षणाकारता सिद्धेत् तदा अवि-

(१) तुलना- न सत्तु द्विजाभिभाव प्रमाणगोचरचारी । स हि जातियोगलक्षण गोनलक्षण  
त्रियासामर्थ्यातिगपयोगो वा ? परीक्षणप्रामाण्य प्रत्यक्षाये न युक्तिमत् । उपदेशो हि लोकानामय  
थापि प्रवर्तते । -प्रमाणवार्तिकान्० पृ० २२ । नचोपदेशसहायाध्यक्षगम्य तत अध्यागविषय उप-  
सापेक्षयोगान् । तद्योगो वा उपदेशस्य च केवलस्य व्यापार इति उपदेशमात्रमह्यपत्तव । -समति०  
टी० पृ० १९७ । (२) ब्राह्मण्ये नोपदेशो वास्तव प्रमाणतोऽप्रतीयमानत्वात् । (३) 'विञ्च, ब्राह्म-  
ण्यजाते प्रत्यक्षतासिद्धी यथोक्तोपदेशस्य प्रत्यक्षहेतुतासिद्धि तत्सिद्धो च तत्प्रत्यक्षतासिद्धिरित्ययो  
याश्रय । -प्रमेयक० पृ० ४८३ । स्या० २० पृ० १५९ । (४) तुलना-'शुद्धिवाग्दयी'गुद्धो पित्रो  
पित्रायपेक्षया । तदानन्तकुत्तानोपात्तोपा जातिरस्ति वा । कामिनीवगससर्गन क सञ्चान्तपत्तव ।  
-नपय० १७। ४०-४१ । 'अविप्लुतत्वञ्च विवक्षितपित्रपेक्षया अनादिकालपितृप्रवाहापेक्षया वाऽ-  
भिप्रेतम् ? यदि विवक्षितपित्रपेक्षया तत्राप्यनयोस्तज्जन्मनि अविप्लुतत्वमभिप्रेतमनादिकाले वा ?  
तज्जन्मनि चत्, तर्हि केन तत्र तयो प्रतीयेत पुत्रेण अन्यैर्या ?'-स्या० २० पृ० १५९ । (५)  
विवक्षितपित्रपेक्षया तज्जन्मनि अविप्लुतत्वम् । (६) नच पित्रोरविप्लुतत्वे विञ्चिलिङ्गमस्ति, तदि  
(७) संकताकारादिनिशेष अपत्येष्वविलक्षणता वा ? -स्या० २० पृ० १५९ । (७) तुलना-  
नच विप्लुतेतरपित्रपत्येषु वृक्षाण्य लक्ष्यते । न सत्तु वडवायां गदभास्वप्रभवापत्यविव  
वाह्यतां कष्टमण्डूप्रभवापत्यव्यपि बलान्ण्य लक्ष्यते । -प्रमेयक० पृ० ४८३ । स्या० २० पृ०  
१५९ । 'न च जात्यन्तरस्य न पुरुषेण स्त्रिया क्वचित् । क्रियते गमसमूतिविप्रादीनां तु जायते ॥  
अन्वामां रासम्भवास्ति सम्भवोऽप्येति चेन्न स । निरान्तमयजातिस्य क्षणान्तिनुसाध्यत ॥ यदि वा

लक्षणाकाराऽपत्योपलम्भात् पित्रोरविष्णुत्व निश्चीयते, न चासौ' सिद्धा । न गलु वड-  
वाया गर्भान्ध्रप्रभवाऽपत्येऽपि त्रिषु ब्राह्मण्या ब्राह्मणशूद्रप्रभवापत्येष्वपि वैलक्षण्य स्वप्नेऽपि  
प्रतीयते । आगमतोऽपि अपौरुषेयात्, पौरुषेयाद्वा तयोरविष्णुत्वप्रतिपत्ति स्यात् ? न  
तावदपौरुषेयात्, तत्प्रतिपादकस्य अपौरुषेयस्य आगमस्यैवाऽसभवात् । पौरुषेयो-  
प्यागम तैत्त्रणेत्रा प्रमाणान्तरेणानयोरविष्णुत्व प्रतिपत्ते सति प्रवर्त्तमान प्रमाणता 5  
भ्रूयते, 'न तैत्प्रतिपत्ति कुतश्चिदस्ति' इत्युक्तम् । तन्न तज्जन्मनि अनयोरविष्णुत्व  
कुतश्चित् प्रत्येतु शक्यम् ।

एतेन अनादिकाले तैयोस्तत्प्रतिपत्ति प्रत्याख्याता, ययोर्हि तज्जन्मन्यप्यविष्णुत्व  
प्रत्येतु न शक्यते तयो अनादिकाले तत् प्रतीयते इति महच्चित्रम् ।

एतेन अनादिकालपितृप्रवाहापेक्षया अविष्णुत्वप्रतिज्ञा प्रतिव्यूढा ।

विश्व, सैदैव अवलाना कामातुरतया इह जन्मन्यपि व्यभिचारोपलम्भात्  
अनादौ काले ता कदा किं कुर्वन्तीति ब्रह्मणापि घ्रातुमशक्यम् । तथा च 'व्यभिचारो हि  
प्रवादेन द्याप्त' इत्याशयुक्तम्, अत्यन्तप्रच्छन्नकामुकाना प्रवादाभावेऽपि व्यभिचारसभ-  
यत तस्य तेन व्याप्त्यनुपपत्ते । अत पित्रोरविष्णुत्वस्य कुतश्चिदप्रसिद्धे न तदुपदेशो  
ब्राह्मण्यप्रत्यक्षताप्रादुर्भावे चक्षुष सहकारित्व प्रतिपद्यते । 10

नापि आर्चारविशेष, स हि ब्राह्मणस्याऽसाधारणो याजनाऽध्यापनप्रतिग्रह-

तद्व्येव स्याद द्वयोर्विसदुः सुत । नात्र दृष्ट तथा तस्माद्गुणैर्बणव्यवस्थिति ॥"-पद्यु० ११।१९६ ९८।  
"वर्णादित्यादिभेदाना देहेस्मिन्न च दशनात । ग्राह्यमथादिषु घृष्टाद्यगर्भाधानप्रवतनात् ॥ नास्ति जातिश्रुतो  
भने मनुष्याणा गवाऽववन । आवृत्तिप्रहणात्तस्मादयया परिवरप्यते ॥"-उत्तरपु० ७४।४९१-९२ ।

(१) विष्णुनेतरप्रभवापयेषु विष्णुलक्षणकारता । (२) तुलना-' न च वदवच विश्विन  
द्विजातिवप्रसाधकम् । व्यक्ते सामायवचनमनुवतममेव तत ॥"-प्रमाणवार्तिकालं० पु० २५। (३)  
आगमप्रतिपादनेन । (४) अविष्णुत्वप्रतिपत्ति । (५) पित्रोरविष्णुत्वप्रतीति । (६) तुलना-  
"यान्हु-अनात्ताविह संसारे दुवारे मवरिष्यजे । कुले च वामिनीमूले यो जातिपरिररपना ॥"-नपद्य०  
टी० १७।४०। "अनात्तियोत्रपद्धत्यामस्या न स्पलन स्त्रिया । इति ज्ञान क्यत्राम वामार्ता हि सत्ता  
स्त्रिय ॥ ब्राह्मणत्वं स्थिते पूव तद्गोत्रत्वस्य ममव । तनास्थिते वय गोत्र सेयमधपरम्परा ॥'  
-प्रमाणवार्तिकालं० पु० २५ । "अनीनश्च महान् वात्रो योपिनाञ्चातिचापलम् । तद भवत्यपि  
निरचनु ग्राह्यमत्वं न शक्यते ॥ अतीन्द्रियपदापभो न हि कश्चित् समस्ति व । स्वदवयानिगुद्विच  
नियो वेदोत्रपि नोक्तवान् ॥"-सत्त्वसं० का० ३५७९-८० । 'प्रायेण प्रमादानां वामातुरतया  
इह मन्वपि व्यभिचारोपलम्भात्पुनो यानिनिवधतो ग्राह्यमप्यनिश्चय ।'-प्रमेयक० पु० ४८२ । "अना  
त्तियोत्रपद्धती च वामातुरत्वात् रावदा प्रमाणा वस्यादिचद व्यभिचारसभवात् कुतो योनिनिवधन  
ग्राह्यमप्यनिरवधाय सस्त्रारस्य अध्ययनादेस्व अविषयस्तत्त्वनिश्चय ।"-सम्मति० टी० पु० ६९८ ।  
स्या० १० पु० ९६० । 'न विप्राविप्रयारस्ति मवदा शुद्धगीयता । वारिनागादिना गाने स्त्रालन वय  
न जायते ॥"-धमप० १७।२८। (७) 'अप्यापामप्ययनं यत्रन यात्रनं तथा । दान प्रतिग्रहश्चव  
ब्राह्मणानामप्ययत् ॥"-मनुस्मृ० १।८८।

प्रहादि, स च तत्प्रत्यश्रुतानिमित्तं भवति अथाप्तेरतिव्याप्तेऽध्यानुपह्नात्, याचनादि-  
रहितेषु हि ब्राह्मणेऽपि तद्व्यपहराभावप्रसङ्गादव्याप्ति, शूद्रेऽपि अग्निहस्तस्य यानना-  
द्याचारस्योपलब्धतो ब्राह्मण्यानुपह्नाच्चातिव्याप्ति । अथ मिव्याऽमौ आचारविशेष-  
स्तरं, अत्र कुत सत्यं ? ब्राह्मण्यमिद्वेद्येत्, अन्योन्याश्रय-सिद्धे हि आचारसत्यत्वे  
ब्राह्मण्यसिद्धि, तस्मिन् च आचारसत्यत्वसिद्धिरिति ।

किञ्च, आचाराद् ब्राह्मण्यमिद्व्यभ्युपगमे प्रत्ययान्तं पूर्वमब्राह्मण्यप्रसङ्गं ।  
तत्र आचारोऽपि तत्प्रत्यश्रुता प्रत्यङ्गम् ।

एतेन सस्कारविशेषस्यापि तदङ्गता प्रत्याग्याता, अथाप्यतिव्याप्त्योरत्राप्य-  
विशेषात् । तत्र अत्रापि-सस्कारविशेषात् पूर्वं ब्राह्मणस्यापि अब्राह्मण्यप्रसङ्गे  
स्यात् । अतिव्याप्ति पुन अब्राह्मणस्यापि तथात्रिषसृष्टस्य ब्राह्मणत्वापत्ते स्यादिति ।  
एतेन चेदाध्ययनस्य यज्ञोपवीतादेश्च तदङ्गता प्रतिव्यूढा । ब्रह्मप्रभवत्स्य च तदङ्गत्वे  
अतिप्रसङ्ग एव, सकलप्राणिना तत्रैव भवतया ब्राह्मण्यप्रसङ्गात् ।

किञ्च, ब्रह्मणो ब्राह्मण्यमस्ति, न वा ? यदि नास्ति, कथंमनो ब्राह्मणोत्पत्ति ?  
न हि अमनुष्यात् मनुष्योत्पत्ति प्रतीता । अथ अस्ति, किं सर्वत्र, मुखप्रदेशे एव  
वा ? यदि सर्वत्र, स एव प्राणिना भेदाभावानुपह्नात् । अथ मुखप्रदेशे एव, तदाऽ-  
भ्यन्तरेण शूद्रत्वानुपह्नात् न विप्राणा तत्पादादयो वत्या स्युः ।

(१) तुलना- अथाध्ययनान्त्रियात्रिणेण नायत नोत्पन्नामाश्रत, तत्प्यत, द्विजा  
नित्ये क्रिया साध्या न क्रियाता निजातिना । वचनान्पि नवास्या प्रतीतिरविरोधिनी ॥ -प्रमा  
णवार्तिककाल० पृ० २३। 'जातवर्मानयो ये च प्रसिद्धास्त तत्पयत । आचारा साधुनास्ते हि इति  
मप्यपि भाविन ॥ -तत्त्वस० क० ३५७८। अत एवाध्ययन त्रियात्रिणेण वा तत्प्रहायता न  
प्रतिपद्यते । दश्यते हि शूद्राऽपि स्वजानिविलापाह्नान्तरे गृहमणो भूत्वा वदाध्ययनं तत्प्रणीतान्च  
क्रिया कुर्वाण । -प्रमेयक० पृ० ४८५। 'अथाप्तेरतिव्याप्तेरनुपह्नात्'-स्या० १० पृ० ९६० ।  
(२) शूद्रादिषु । (३) ब्राह्मण्यप्रयक्षताम् । (४) तुलना- 'एतेन सस्कारविशेषस्य वेदाध्ययनस्य  
यज्ञोपवीतादेश्च षड्बुसहकारिता प्रत्युक्त्या, अथाप्यतिव्याप्त्योरनुपह्नात् ।'-स्या० १० पृ०  
९६१। (५) ब्राह्मण्यप्रत्यक्षतानिवर्धनत्वं । (६) तुलना- 'ब्रह्मणोऽप्यतमात्रात् ब्राह्मण्यति प्रसज्यते ।  
न कश्चित्प्रहायतनोऽप्यत्र क्वचिन्प्यते ॥ अत्रा जातिभद्वचिनिमित्तं कथं भवत । अन्तराले  
क्रियाभगात् गोत्रणार्थं न कस्यचित् ॥ अथ द्विजात्रिणोऽप्यतमात्रात् ब्रह्मण्यमस्ति इत्येते । नायता स क्वयत्राम  
प्रमाणस्याप्रवृत्तिः ॥ क्रिया तदपरिचानात्क्रियैव प्रसज्यते । अविच्छेदश्च गोत्रस्य प्रयेतु शक्यत न  
च ॥ सूतभागवतवाण्याला कथं मनविनाऽयथा । ज्ञायन्त एव त तज्जरिति चेन्निग्रहो न हि ॥ -  
प्रमाणवार्तिककाल० पृ० २४। (७) ब्रह्मप्रभवतया । (८) तुलना- किञ्च ब्रह्मणो ब्राह्मण्यमस्ति वा न  
वा ? नास्ति चेत् कथंमनो ब्राह्मणोत्पत्ति ? अस्ति चेत्, किं सर्वत्र मुखप्रदेशे एव वा ? -प्रमे  
यक० पृ० ४८४। स्या० १० ९६१। (९) अब्राह्मणाद् ब्रह्मण । (१०) सर्वत्र शरीरावयवेषु मुक्ता  
न्यादान्तेषु । (११) पात्रान्पि । (१२) ब्रह्मण ।

१ आचारसतत्र व० श० । २-ध्याप्योस्तत्रा-ध० । ३-स्वानुपपत्ते श० । ४-वत्त्वसाधनत्व  
एत्वे व० । ५ -सि प्रतीपत्ते व० -सिता प्रतीता श० ।

क्रिद्ध, ब्राह्मण एव तन्मुखाज्जायते, तन्मुखादेवं वासो जायते ? विकल्पद्वयेपि अन्यो-  
न्याश्रय - सिद्धे हि ब्राह्मणत्वे तस्यैव तन्मुखाज्जन्मसिद्धिः, तत्सिद्धौ च ब्राह्मणत्वसिद्धिरिति।  
न च ब्रह्मप्रभवत्व विशेषण ब्राह्मण्यप्रत्यक्षताकाले केनचित् प्रतीयते । न च अप्रतिपन्न विशेषे-  
ण विशेष्ये प्रतिपत्तिमाधातु समर्थमतिप्रसङ्गात् । यद् विशेषण तत् प्रतिपन्नमेव विशेष्ये  
प्रतिपत्तिमाधत्ते यथा दण्डादि, विशेषणञ्च ब्राह्मण्यप्रतिपत्तौ ब्रह्मप्रभवत्वमिति ।

एतेन 'असति प्रतिपन्नधके यो यथाकार प्रत्यय' इत्याद्यनुमानं ब्राह्मण्यसद्भाव-  
प्रसाधक प्रत्याख्येयात्, अनेकधा प्रतिबन्धकमद्भावप्रतिपत्त्यात् ।

यदपि - 'ब्राह्मणपदम्' इत्याद्यनुमानमुत्तमं, तदप्युत्तमं, पैश्वस्य अध्यक्षत्राधि-  
तत्वात्, कठकलापादिब्राह्मण्यव्यक्तिषु हि ब्राह्मणपद व्यक्तिय्यतिरिक्तैः निमित्ताभिधेय-  
सम्बन्धशून्यमेव अध्यक्षत प्रतीयते अश्रावणत्वप्रिविक्तशब्दवत् । अप्रसिद्धविशेषणश्च  
पक्ष, न खलु व्यक्तिय्यतिरिक्तैः निमित्ताभिधेयसम्बद्धत्र मीमांसकस्य अस्मान् वा कापि  
प्रसिद्धम् व्यतिरिक्तव्यतिरिक्तस्य सामान्यस्योभास्यामभ्युपगमात् । हेतुश्चानैकान्तिक,  
सत्ताऽऽकाशकालपदे अद्वैतादिपदे वा व्यक्तिय्यतिरिक्तैः निमित्ताभिधेयसम्बद्धताभावेऽ-  
पि पदत्वस्य भावात् । अत्रापि तत्सम्बद्धत्वकल्पनाया सामान्यस्य नि नामान्यत्वमनेक-  
व्यक्तिवृत्तित्वञ्च व्याहन्येत । अद्वैतादिलशून्यत्वादेश्च सामान्यवत्त्वेन परमार्थसत्त्वानु-  
पद्धान् कुतोऽप्रतिपत्ता पक्षमिद्विधश्च स्यात् ? दृष्टान्तोऽपि साध्यत्रिकल, पटादिपदे  
व्यक्तिय्यतिरिक्तैः निमित्त्वामिद्धे । नित्यैरूपसामान्यमन्तरेणापि अनन्ताना धान्य-  
वाचक यत्कीना सम्बन्धो यथा सिद्धति तथा नित्यसम्बन्धनिषेधावसरे प्ररूपितम् ।

एतेन वर्णविशेषेत्याद्यनुमानं<sup>२</sup> प्रत्युत्तमं, उक्तदोषाणामत्राप्यविशेषात् । नगरे-  
रा-

(१) तुलना - "किञ्च, ब्राह्मण एव तन्मुखाज्जायते तन्मुखादेवासो जायते ?" - प्रमेयक०  
पृ० ४८४। (२) ब्राह्मणस्यैव । (३) प० ७६९ प० ८। (४) पृ० ७६९ प० १३। (५) तुलना - 'यथा  
यदि व्यसनादिभ्यो व्यतिरिक्त निमित्तमात्रमस्य ज्ञानस्य विषयत्वा साध्यते तदा सिद्धसाध्यता,  
तत्सामुदायस्य समुदायिभ्य कथञ्चिदव्यतिरिक्तस्य तद्विषयत्वेन स्वीकारात् । अयं प्रतिव्यक्ति परि  
समाप्तमकालव्यतिरिक्तमभिधीयते, तदा एतस्य प्रतिपक्षराधित्वम्, कठकलापादिब्राह्मण्यव्यक्तिषु  
हि ब्राह्मणत्वमिदं व्यतिरिक्तसामान्यनिमित्तरहितमेवाध्यक्षत प्रतीयत अश्रावणत्वविविक्ततात्  
वन ।' - स्या० २० पृ० ९६१ । प्रमेयक० प० ४।८५ । (६) जनानाम् । (७) व्यक्तित्वेभ्यो कथञ्चिद  
भिन्नाभिन्नस्य । (८) मीमांसकजैनाभ्याम् । (९) व्यक्तित्वेभ्यो भिन्ना सत्तास्व-आकाशत्व-कालत्व  
अद्वैतवाचीना सम्बन्धस्वीकारे । (१०) अद्वैतस्य सबलपूयतायाश्च सिद्धिप्रसङ्गात् । (११) प०  
५४६ । (१२) प० ७६९ प० १८ । (१३) तुलना - "नगरात्पानवत् व्यतिरिक्तनिषेधनाभावपि  
तथाभूतत्वस्य कथञ्चिदुपपत्ते । न हि नगरात्पानेऽपि व्यतिरिक्त द्रव्यान्तरमस्ति यत्केवाकारपान  
निषेधन भवेत्, वाष्पानिनामेव प्रत्यासत्त्या कयाचित् प्रासादादित्यवहारनिषेधनाना नगरात्पानवत्  
निषेधनत्वोपपत्ते, अथवा पण्णरीत्यादिपि वस्तुन्तरकल्पनाप्रमत्ते ।' - प० मति० टी० पृ० ६९७ ।  
प्रमेयक० प० ४८५ । स्या० २० पृ० ९६१ ।

१-वेद वासो आ०, व० । २-सिद्धे श्र० । ३-अप्रसिद्ध-श्र० । ४-व्यतिरिक्तस्य सामान्यस्यो  
भास्यु-आ० । ५-भाष्याभ्युप-श्र० । ६-सामान्यनि सा-आ० ।

देहात्नेन अनेका तान्च, तत्र व्यक्तिव्यतिरिक्तनिमित्तनिर्धनत्वाभावेऽपि वर्णविशेषादिनिमित्तबुद्धिप्रिलक्षणत्वरस्योपलम्भात् । न खलु 'नगर सेना घातम्' इत्यादिद्वाने व्यक्तिव्यतिरिक्तम् अनुवृत्तप्रत्ययनियमनमिच्छिद्वस्ति । तद्धि द्रव्यम्, सत्ता, प्रत्यासत्तिविशेषो वा स्यात् ? प्रथमपक्षे नगरादिकमेव तत्र द्रव्यम्, अन्यद्वा ? न तावत् नगरादिकमेव, तस्य द्रव्यत्वाऽसम्भवात् । नहि नगर सेनादिक वा द्रव्यं सम्भवति, गृहादिभिरसयुक्तैः विजातीयैश्च तस्य आरम्भाऽसम्भवात् । कतिपयगृहाणामस्ति सयोग इति चेत्, न, तेषां स्वयं सयोगरूपतया सयोगानाश्रयत्वात् । गुणरूपतया च तेषां द्रव्यानास्मभन्तरम्, गुणैर्द्रव्यारम्भाऽसम्भवात् ।

'सत्ता नगरादिकम्' इत्यत्रापि असौ गृहादिप्रियोपिता, केवला वा तत्प्रत्ययमुत्पाद्येत् ? न तावत् केवला, गृहादिप्रियोपितेऽपि प्रदेशे तत् तत्प्रत्ययप्रसङ्गात् । अथ गृहादिप्रियोपिता, न, कूटस्थनित्यार्था विशेष्यत्वामभवात्, अकिञ्चित्करस्य अविशेषणत्वाच्च । किञ्चित्करत्वे वा तत्कूटस्थताश्चि । कथञ्चैव 'पण्णगरी' इत्यत्र समुदायोपपत्ति सत्ताया एकरूपतया समुदायतानुपपत्ते ?

प्रत्यासत्तिप्रियोपोऽपि कस्य केन सह नगरादियपदेशमर्हेत् ? गृहादीना गृहाद्यन्तरे इति चेत्, न पुनरसौ-तेषां नै सह समवाय, सयोगो वा ? न तावत्समवाय, तेषां युतसिद्धतया अनाधार्याधारभूततया च तदसम्भवात् । नापि मयोग, गृहादीना सयोगरूपतया सयोगानाश्रयत्वात् । न च नगरादिशब्दात् 'संयुक्तसयोगाल्पीयस्त्वलक्षणे प्रत्यासत्तिप्रियोपे एस्मिन् कस्यचित् प्रतिपत्ति प्रवृत्ति प्राप्तयोजुभूयन्ते, किञ्चु गृहादीवनेकर । नगरशब्दाद्धि गृहादी, सेनाशब्दाद् अश्वदी, वनशब्दान्च धवणावनेकराद्यैर्ज्ञेयैः प्रतीयन्ते इति । यत्र हि शब्दादुच्यरिर्तात् प्रतिपत्त्यादय प्रतीयन्ते स शब्दस्यार्थ तथा बृहद्व्यवहारात् । 'देशादिप्रत्यासत्तिविशिष्टा गृहादयो नगरादिव्यपदेशभाज' इत्यप्यनेनाऽपास्तम्, देशादी हि प्रत्यासत्ति-तेषां समवाय, सयोगो वा ? तत्र च

(१) गृहाणाम । (२) सयोगस्य गुणत्वेन द्रव्याभितत्वात् । (३) गृहाणाम् । (४) 'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारमन्ते गुणाश्च गुणातरम (वशे० सू० १।१।१०) इति नियमान् । (५) सत्ता । (६) नगरमिति प्रत्ययम् । (७) सत्तात् । (८) सत्ताया । (९) गृहाणे । (१०) यदि गृहाण्य सत्ताया किञ्चिन्तिगममुत्पाद्यन्ति तन् । (११) सत्ताया नित्यकरूपनाव्याघात । (१२) गृहाणानाम् । (१३) एकेन गृहण समुक्तमपर गृह तेन चापरमिति समुक्तसयोगान् अल्पीयस्त्वम् अल्पेणाशवाणित्व तत्र । (१४) गृहणस्य । (१५) प्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्तय । (१६) तुलना- सेनाशब्दान्नेकर हस्त्याद्यर्थे प्रतीतिप्रवृत्तिप्राप्तिसिद्धे वनशब्दान्च धवसन्तिरपलाशान्नेकराद्यैः यत्र हि गृहण प्रतीति प्रवृत्तिप्राप्तय समधिगम्यन्ते स शब्दस्याय प्रसिद्धस्तथा बृहद्व्यवहारात् । न च सेनावनादिशब्दात् प्रत्यासत्तिविशेषे प्रतीतिप्रवृत्तिप्राप्तयोजुभूयन्त यत्र स तस्याय स्यात् । -आप्तप० का० ४ ।

१-निर्धनत्वाभावेऽपि आ० थ० । २-त्वात् कि-व० । ३-प्रत्यासत्ति-व० । ४-तात्प्रतिपत्त्या-आ० ।

उक्तदोषोऽविशिष्ट । भवतामपि कथमेव नगरादिव्यपदेश स्यात् ? इत्यध्यचोद्यम्, देशप्रत्यासत्तिविशिष्टे प्रासादादौ तद्व्यपदेशस्य अस्माभिरभ्युपगमात् । देशप्रत्यासत्तिश्चात्र सयोगलक्षणा प्रतिपत्तव्या, प्रासादादेरवयवित्वेन अस्माकमिष्टत्वात् । विजातीयैः काष्ठेष्टिकादिभिः तस्यै आरम्भासभवात् कथमवयवित्वम् ? इत्यप्यनुपपन्नम्, विजातीयैरपि पृथिव्यादिभिः शरीराद्यन्यविन आरम्भोपलम्भात् । सजातीयानाम् आरम्भनियमस्य पदपदार्थपरीक्षायां पृथिव्यादीनां तरजान्तरत्वनिपेधावसरे निषिद्धत्वात् । ततो भवन्मते नगरादिज्ञाने व्यक्तिव्यतिरिक्तनिमित्तनियन्धनत्वामानात्, सिद्धमनेनानैकान्तिरुक्त्यम् । न चान्यत् किञ्चिद् ब्राह्मण्ये लिङ्गमस्ति यत् तत्सिद्धिः स्यात् ।

अस्तु वा किञ्चित्तत्रं लिङ्गम्, तथापि अगृहीतप्रतिबन्धं तत् न तत्प्रतिपत्तेरङ्गम्, अतिप्रसङ्गात् । प्रतिबन्धग्रहश्च अप्रतिपत्ते ब्राह्मण्ये न स भवति, अतिप्रसङ्गात् । तत्प्रतिपत्तिश्च प्रत्यक्षतः प्रतिषिद्धा । अनुमानतः तत्प्रतिपत्तौ चरुकरसङ्ग-सिद्धे हि अनुमानतो ब्राह्मण्ये तेन लिङ्गस्य प्रतिबन्धसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अनुमानसिद्धिः, ततश्च ब्राह्मण्यसिद्धिरिति ।

आगमतोपि अपौरुषेयात्, पौरुषेयाद्वा तत्प्रतिपत्तिः स्यात् ? न तावदपौरुषेयात्, तस्य कार्यं गगार्थं प्रामाण्यात्, ब्राह्मणत्वस्य च नित्यतयेष्टितोऽकार्यत्वात् । नापि पौरुषेयात् तत् तत्प्रतिपत्तिः, तस्य प्रमाणान्तरसापेक्षत्वात्, तस्य चात्राऽसभवात् ।

नाप्युपमानात् तत्प्रतिपत्तिः, तस्य सादृश्यालम्बनत्वात् । अप्रतिपत्ते च प्रमाणान्तरेण ब्राह्मण्ये कथं तेन सादृश्यं कस्यचित्प्रतीयेत यत् तद्दर्शनाद् ब्राह्मण्यं प्रतीयेत ?

नाप्यर्थापेक्षेतत्प्रतिपत्तिः, ब्राह्मण्यजातिव्यतिरेकेणानुपपद्यमानस्य प्रमाणपट्टक-विज्ञातस्य कस्यचिदप्यर्थस्य अप्रतीयमानत्वात् । अतः सद्गुणलम्बकप्रमाणपञ्चक-गोचरातिक्रान्ततया अभावप्रमाणकचलीकृतत्वात् नभोऽम्भोजवत् नास्ति ब्राह्मण्यम् । अतो ब्राह्मण्यजाते सत्प्रत्ययैवाऽसभवात् 'प्रथमदर्शने प्रतिभातापि जाति व्यञ्जकभेदा-ग्रहणाच्चोल्लिखति' इत्यादि<sup>१</sup> प्रत्याख्यातम् ।

(१) जनानाम् । (२) नगरान्त्र्यपदेशस्य । "प्रासादतोरेणपुरादीनां समुदायो नगरम् ।" -प्रमाणवा० स्व० टी० पृ० १२७ । (३) जनानाम् । (४) अवयविव्यवस्थस्य । (५) पृ० २३९ । (६) नयायिकादिमत । (७) ब्राह्मण्ये । (८) लिङ्गम् । (९) ब्राह्मण्यप्रतीतिः । (१०) "नाप्यागमनं, यतोऽभौ पौरुषेया वा स्यादपौरुषेयः" -स्वा० २० पृ० ९६२ । समति० टी० पृ० ६९८ । (११) 'आम्नायस्य त्रियायत्वान्-त्रियाय कथमनुष्ठयति तां वदितुं समाम्नानारो वाक्यानि समामनन्ति ।' -त्रिमिनिपु० 'गारुडभा०' १२।१ । (१२) आगमात् । (१३) वक्तुं प्रतिपाद्यविषयगानस्य प्रमाणयेत्तिद एव तत्प्रतीतागमस्य प्रामाण्यम् । (१४) ब्राह्मण्यमदृगवस्तुत्पन्नात् । (१५) पृ० ७६८ पृ० ६ ।



यदप्युत्तमं—'द्रव्यपरीक्षणाम्' इत्यादि, तदप्यसाम्प्रतम्, यतो न पीततामात्र  
 सुवर्णम्, विचित्ररेखारचितपरिणतिमात्र वा द्रव्यम्, वृत्तसस्थानमात्र वा मणि,  
 अतिप्रसङ्गात् । किं तर्हि ? तद्विशेष । स च न प्रत्यक्ष, दाहच्छेदादे तुपाम्बुस-  
 प्रक्षालनादे परंप्रभादेश्च वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । तस्यापि तत्प्रतिपत्तौ सहायत्वे तज्जातौ  
 निश्चित्थानिव सहाय वाच्यम् । तच्चै ब्राह्मणभूतपितृज-यत्नादिकम्, आकारविशेषो  
 वा स्यात् ? सप्तमेतत् प्रागेव कृतोत्तरत्वात् तत्प्रतिपत्तौ सहायता प्रतिपद्यते । अतोऽ-  
 युक्तमुत्तमं—'न च सामर्थ्यभावाद् यत्र प्रतिभासते तज्जास्ति' इत्यादि, तत्प्रतिभाम-  
 सामर्थ्या प्रागेव अशेषविशेषतो निरस्तत्वात् ।

ननु ब्राह्मणत्वादिमामान्यानभ्युपगमे कथं भवति वर्णाश्रमव्यवस्था तन्निवर्धनी  
 वा तपोनानादिव्यवहार स्यात् ? इत्यप्यचोद्यम्, क्रियाविशेषयज्ञोपवीतादिचिह्नोपलक्षिते  
 व्यक्तिविशेषे तद्व्यवस्थाया तद्व्यवहारस्य च उपपत्ते । तन्न भवत्कल्पित नित्यादि-  
 स्वभावाद् ब्राह्मण्यं कृतञ्चिदपि प्रमाणात् प्रसिद्धतीति क्रियाविशेषनिवर्धन एवायं ब्राह्म-

(१) पृ० ७६८ पं० ७ । (२) तुलना— वाञ्छनाद्युपपत्तस्य हि यत्प्रयत्नात्तच्छ्रुत्वा तत्र  
 प्रत्यगन्तानामो निवर्तने नव जात्याद्युपपत्तस्यास्त्यताशक्याया प्रत्यक्षात् सत्यता जानिस्वरूपग्रह  
 णाकारान् । सुवर्णान्तो हि रूपविशेषसम्भवात् एवम्भूतमेव सुवर्णं भवतीति व्यवहारस्य परिसमाप्ते  
 दृष्टस्य न वाचित्कति अत्र तु पुनरेवविषयमेव ब्राह्मण्यमिति न पात्रप्रसारणमात्र प्राणम् ।—प्रमाणवा  
 तिकालं० पं० २२ । 'यतो न पीततामात्र सुवर्णम् —प्रमेयकं० पं० ४८४ । (३) दाहच्छेदतुपा  
 म्बुप्रक्षालनात् । (४) सुवर्णातिप्रतिपत्तौ । (५) तच्चाकारविशेषो वा स्वान्ध्यानादिक वा ?"  
 —प्रमेयकं० पृ० ४८५ । (६) ब्राह्मण्यप्रतिपत्तौ । (७) पृ० ७६८ पं० १३ । (८) जनानाम् । (९)  
 तुलना— न जटाहि न गोतर्हि न जञ्जा होति ब्राह्मणो । यस्मिं सञ्चञ्च धम्मो च सो सुची सो च  
 ब्राह्मणो ॥ न चाह ब्राह्मणं भूमिं योनिजं मत्तिसभव । भो वाणि नाम सो होति स वे होति सकि  
 ञ्चनी । जञ्चञ्चनं जनात्तनं तमहं भूमिं ब्राह्मण ॥—धम्मपं० पा० ३९३ ३९६ । कम्मणा वमणो  
 हादं कम्मणा होन्वतिओ । वरिसो कम्मणा होइ सुवो ह्वइ कम्मणा ॥ —उत्तरा० २५।३३ । 'तस्माद्  
 गुणव्यवस्थिति । ऋषिगुणात्ताना च मानवाना प्रकीत्यत । ब्राह्मण्यं गुणयोगेन न तु तद्योनिः  
 भवात् ॥ चानुवण्य यथायच्च चाणालातिविशेषणम् । सवमाचारभन्तं प्रसिद्धिं भुवने यतम् ॥  
 —पद्मपु० ११।१९८—२०५ । मनुष्यजातिरेकव जातिनामोत्पाद्भवत् । वृत्तिभदाहिना भेदाच्चातुर्वि  
 ध्यमिहास्तन ॥ ब्राह्मण्यं वनमस्कारान् क्षत्रिया शस्त्रधारणान् । वणिजाश्रयिजान्याव्यान् शूद्रा  
 यगृत्तिसश्रयान् ॥—आदिपु० ३।४५५—४५ । 'आचारमात्रभेदेन जातीना भन्वल्पनम् । न जानिर्वा  
 ह्यणीयाम्नि नियता क्वचित् तात्त्विकी ॥ ब्राह्मण्यप्रतिपत्तौना चतुर्णामपि तत्त्वन । एकत्र मानुषी  
 जातिराचारेण विभिन्यते । गुण सङ्घटनं जानिगुणवसादिसद्यत् ।—धम्मपं० १७।२४—३२ ।  
 महाभाष्येऽपि गुणवाचिनं ब्राह्मण्यप्रतिपत्तौ नि पशोप्युपयस्त । तथाहि— अथवा सव एते गण्य  
 गुणसमुपायय वतन्ते ब्राह्मण्यं सत्रियो वयं गूद्र इति ।—पात० महाभा० २।२।६ । 'क्रियाविशेषय  
 शोर्बोनातिचिह्नोपलक्षिते व्यक्तिविशेषे तद्व्यवस्थायास्तद्व्यवहारस्य बोधन । ता क्रियाविशेषा  
 निवर्धन एवायं ब्राह्मण्यप्रतिपत्तौ ।—प्रमेयकं० पं० ४८६ । स्या० २० पृ० ९९२ ।

१ सुवर्णप्रसङ्गा-आ० सुवर्णप्रसङ्गा-थ० । २ परपक्षादेव व० । ३ अशेषतो व० ।  
 ४ भगवतो थ० । ५ तत्र तद्व्यवस्था-व० । ६ क्रियानिवर्धन व० ।

णादिव्यग्रहारो युक्त । कथमन्यथा वेस्यापाटकादिप्रनिष्ठाना ब्राह्मणीना ब्राह्मण्याभावे  
निन्ना च स्यात्, जातिर्यत् पवित्रता हेतु ? सा च भर्त्सनेन नित्यैकरूपतया तद-  
वस्थेन, अन्यथा गोत्वजातेरपि ब्राह्मण्य निरुद्ध स्यात् । गजादीना हि चाण्डालान्निगृहे  
चिरोपितानामपि इष्ट शिष्टैरादान न तु ब्राह्मणीनाम् । अथ क्रियाभ्रशात्तमा निन्त्यता  
अनादानश्चेत्यते, तर्हि किमनेन अन्तर्गडुना ब्राह्मण्येन कल्पितेन ? कल्पयित्वापि तत्  
क्रियाविशेषवशादेव गन्त्याया ब्राह्मणव्यग्रहारस्य चाभ्युपगमनीयत्वात् ।

किञ्च, क्रियानिवृत्तो ब्राह्मण्यजातेर्निवृत्ति स्यात्, यदि सा तस्या कारण  
व्यापक वा स्यात्, नान्यथा अतिप्रसङ्गात् । न चास्या कारण व्यापक चा किञ्चि-  
ष्टम् । नापि क्रियाभ्रशात् तस्या विकारोऽस्ति “मिन्नेष्वभिन्ना नित्या निरवयवा च  
जाति ” [ ] इत्यभिधानात् । न चाऽनिकृताया निवृत्ति सभवति  
अतिप्रसङ्गादिति । तदेव भवत्कल्पितब्राह्मण्यस्य आकाशकुशेशयजदप्रसिद्धस्वरूपत्वात्  
ब्राह्मणस्यैव सस्कृतशब्दप्रयोगात् धर्मो युक्त, किन्तु सर्वपामविशेषेणैव अतोऽ-  
सौ स्यात्, न चैवम् । अतोऽपि तथार्थाभिधायित्वमेव शब्दस्य साधुत्वमभ्युपगन्तव्यम्  
नान्यत्, उक्तदोषानुपद्वात् । तथात्रिधश्च तर्त् सस्कृतशब्दस्यैव प्राकृतशब्दस्याप्यपि-  
ष्टम्, अतो द्वयोरप्यनयो साधुत्वम् । तत् साधुत्वम्—‘वर्णाः पदानि वाक्यानि  
प्राहुरर्थानवाञ्छितान्’ इत्यादि ।

कारिकाद्वय विवृण्वन्नाह—‘वर्ण’ इत्यादि । वर्णपदवाक्याना वाचकत्वम् अर्थ-  
प्रतिपादकत्वम्, यथास्य स्वस्यार्थस्य अनतिक्रमेण आगमात् प्रति-  
विवृति वाक्यानाम्—  
पत्तव्यम् । तत्रास्य प्रत्येक प्रपञ्चत प्ररूपितत्वात् । कुत पुन  
विवक्षातोऽन्यस्य वाचका शब्दा ? इत्याह—‘वक्त्रभिप्रायात्’ इत्यादि । वक्त्रभिप्रा-  
याद् भिन्नस्य बहिर्भूतस्य अर्थस्य घटादे वाचकाः शब्दाः । कुत एतत् ? इत्याह—  
सत्यानृतव्यवस्थान्यथानुपपत्तेः । यत्र सत्यानृतव्यवस्था तद् वक्त्रभिप्रायाद् भिन्नार्थ-  
विषय यथा प्रत्यक्षादि, सत्यानृतव्यवस्था च शब्देऽपि ति । अयञ्च प्रसङ्गः बहिरर्थ-

(१) तुलना— तत् सव्यवहारमात्रप्रसिद्ध ब्राह्मण्यम् ।—प्रमाणवातिकाल ५०२६ । (२) यदि  
क्रियाविपणिवचनो ब्राह्मण्यादिव्यग्रहारो न स्यात्तदा । तुलना—‘कथमन्यथा वस्यापाटकादिप्रविष्टाना  
ब्राह्मणीना ब्राह्मण्याभावो भवेत् —स्वा० १० ५० ९६२ । प्रमेयक० ५० ४८६ । (३) जाति । (४)  
मीमांसकन्यायिकमतम् । (५) “अन्यथा गोत्वादपि ब्राह्मण्य निरुद्ध स्यात् ।—प्रमेयक० ५० ४८६ ।  
(६) ब्राह्मणीनाम् । (७) “घटामस्तययोर तरालवर्ती मामपिपडोन्तर्गडु” —प्रमाणवा० स्व५० टी०  
५० १६८ । (८) ब्राह्मण्यम् । (९) तुलना—‘किञ्च क्रियानिवृत्तो’ —प्रमेयक० ५० ४८७ ।  
(१०) क्रिया । (११) ब्राह्मण्यजात । (१२) ब्राह्मण्यजाते । (१३) उद्घृतमित्—प्रमेयक० ५० ४८७ ।  
(१४) संस्कृतगोचाराणात् । (१५) धम । (१६) अविनयायाभिधायित्वत्वात् साधुत्वम् ।

१ ब्राह्मणानां व० । २ चाण्डालादीनां गृहे श्र० । ३ ब्राह्मण्यव्य—आ०, थ० । ४ इति आ० ।  
५ ‘शब्दा’ नास्ति आ० ।

विषयतामन्तरेण सत्यानृतव्यवस्थानुपपत्तिलक्षण अन्यत्र 'प्रमाण श्रुतमर्थेषु'  
[ लघी० का० २६ ] इत्यादौ निस्तरेणोक्त' इति नेह प्रघट्टवे पुन प्रतन्यते । न चर्था-  
भावपि शब्दाना प्रवृत्तिदर्शनात् यथ तद्वाचकत्वम् ईत्यत्राह—'शब्दानाम्' इत्यादि ।  
शब्दानाम् अर्थव्यभिचारित्वेऽभ्युपगम्यमाने अभिप्रेतव्यभिचारित्व कुतः प्रमाणात्  
न कुतश्चित् अपनीयते निराक्रियते । कुत एतत् ? इत्यत्राह—'मुपुत्तादौ' इत्यादि,  
आदिशब्देन मत्तादिपरिग्रह चागृह्येदर्शनात् ।

ननु विवक्षाप्रभवाच्छब्दादन्य एव शब्द, य तद्भावे तत्र जायते । न  
चायस्य व्यभिचारे आयस्य व्यभिचारोऽतिप्रसङ्गात् । 'मुविचेचित हि कार्यं कारण  
न व्यभिचरति' इति, तदेतदत् अर्थविरोपसद्भावात्सद्भावप्रतिबद्धात्मलाभेष्वपि शब्देषु  
समानम् । साम्येऽपि तेषां विवक्षेतरप्रभवा शब्दा वैलक्षण्येनाऽवसीयते ननु अर्थ-  
विशेषसद्भावाऽसद्भावप्रतिबद्धात्मलाभा इति स्वदर्शनानुरागमात्रम् । विवक्षामात्रगो-  
चरत्वे च अमीषा बहिरर्थे प्रवृत्त्यादिहेतुत्वानुपपत्ति, तद्विषयत्वाद्, यद् यद्विषय न  
भवति न तत् तत्र प्रवृत्त्यादिहेतु यथा रूपज्ञान रसाविषयं न रसे, न भवति च  
बहिरर्थविषया भवन्मते शब्दा इति । नचैतद् युक्तम् प्रतीतिविरोधात् । सुप्रसिद्धा हि  
शब्देभ्यो बहिरर्थे प्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्तिप्रतीति आनाल प्रत्यक्षवत् । अत तद्विषयत्वमेव  
अमीषा युक्तम् । यद् यत्र प्रवृत्त्यादिहेतु तच्चद्विषयम् यथा रसज्ञान रसे प्रवृत्त्यादिहेतु  
रसविषयम्, बहिरर्थे प्रवृत्त्यादिहेतुश्च शब्दा इति । नचायमसिद्धो हेतु, प्रत्यक्षवत्  
शब्देभ्य तत्र प्रवृत्त्यादिप्रतीते । यथैव हि प्रत्यक्षात् प्रतिपत्तृप्रणिधानादिसामग्री  
सापेक्षात् प्रत्यक्षार्थे प्रनिपत्त्यादिप्रतीति सकलजनप्रसिद्धा, तथा सङ्केतादिसामग्रीसा  
पेक्षात् शब्दात् शब्दार्थेऽपि इति । न च अर्थे अर्थिनोऽर्थित्वादेव प्रवृत्ते शब्दोऽप्रवृत्तक  
इत्यभिधातव्यम्, प्रत्यक्षादेरप्येवमप्रवृत्तकत्वप्रसङ्गात्, तदर्थेऽपि अर्थित्वादेव प्रवृत्ति  
प्रतीते । परम्परयाऽर्षं प्रवृत्तकत्वे शब्देऽपि तथा तदस्तु अधिशेषात् ।

कां चैव विवक्षा नाम—शब्दोच्चारणेच्छामात्रम्, अनेन शब्देन अमुमर्थं प्रति-

(१) विवक्षाभावे । (२) बहिरर्थाविषयत्वान् । (३) शब्दो बहिरर्थविषय बहिरर्थे प्रवृत्त्या  
हेतुत्वात् । (४) तुलना—'प्रत्यक्षात् हि शब्दाद् बहिरर्थप्रतीतिसिद्धे । यथैव हि प्रत्यक्षात्  
प्रतिपत्तृप्रणिधानसामग्रीसव्यपेक्षात् प्रत्यक्षात्प्रतिपत्ति तथा सङ्केतसामग्रीसापेक्षादेव शब्दाच्छब्दात्  
प्रतिपत्ति सकलजनप्रसिद्धा, अथवा ततो बहिरर्थे प्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्त्ययोगात् । न चायंवेदनादेव अर्थ  
मुपपत्त्याद्यन स्वयमेव प्रवृत्त शब्दोऽप्रवृत्तक इत्येव वक्तुं युक्तम्, प्रत्यक्षादेरप्येवमप्रवृत्तकत्वप्रसङ्गात्  
तन्मर्थेऽपि मवस्याभिलाषादेव प्रवृत्त ।—अष्टसह० पृ० २१ । प्रमेयक० पृ० ४४९ । (५) प्रत्यक्ष  
विषयीभूतेऽप्यर्थे । (६) प्रत्यक्षे । (७) प्रवृत्तकत्वव्यपदेश । (८) परम्परया प्रवृत्तकत्वम् । (९)  
'का चैव विवक्षा नाम—किं शब्दोच्चारणेच्छामात्रम्'—प्रमेयक० पृ० ४५० ।

१ तद्वाचकम्—श्र० । २ इत्याह व० । ३ मुपुत्तादीनाम्—श्र० मुपुत्तादौ इ—व० । ४ अपरस्य  
व० । ५—स्मलाभ इति आ०, व० । ६—मुस्तद्वि—आ० ।

पादयामि इत्यभिप्रायो वा ? प्रथमपक्षे वक्तृश्रोत्रो शास्त्रश्रवणप्रणयनादौ प्रवृत्तिर्न प्राप्नोति । न खलु कश्चिदनुमत्त शब्दनिमित्तेच्छामात्रप्रतिपत्त्यर्थं शास्त्र वाक्यान्तर वा प्रणेतु श्रोतु वा प्रवर्त्तते । दशदाडिमादिनाम्नै सह सर्वत्रान्यानामविशेषप्रसङ्गश्च, सर्वेषा स्प्रभवेच्छामात्रानुमापकत्वाऽविशेषात् । अथ अनेन शब्देनामुमर्थं प्रतिपादयामीत्यभिप्रायो निवृत्ता, तत्सूचकत्वेन अपिलशब्दाना निरक्षानुमापकत्वम्, तदप्यनुपपन्नम्, व्यभिचारात् । नहि शुक्रशारिकोमत्तादय तथाभिप्रायेण वाक्यमुच्चारयन्ति ।

किञ्च, समयानपेक्ष शब्द तादृशमभिप्राय गमयेत्, तत्मापेक्षो वा ? आद्यविकल्पे न कश्चित् क्वचिद्भाषानभिज्ञ स्यात्, सर्वेषामविशेषत शब्दार्थप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । समयापेक्षस्तु शब्द अर्थमेव किञ्च गमयेत् ? नह्ययम् अर्थाद् विभेति येन तत्र साक्षात् वर्त्तते । अशक्यसमयत्वान्न शब्दोऽर्थं गमयति, इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, अभिप्रायेऽपि तदशक्यत्वानुपपन्नात्, तत्रापि तस्य अशक्यसमयत्वाविशेषात् । असिद्धास्यास्य अशक्यसमयत्वम्, 'प्रमाणं श्रुतमर्थेषु' [ लघी० का० २६ ] इत्यत्र तत्सूचक्यसमयत्वस्य प्रपञ्चत प्रतिपादितत्वात् ।

न केवलं सुपुत्तादौ वाग्वृत्तेर्दर्शनादभिप्रेतव्यभिचारित्व कुतोऽपनीयते इति, अपि तु इतश्च । कुतस्तदपनीयते इत्याह—'अनिच्छताम्' इत्यादि । अनिच्छतामपि अपशब्दाद्युच्चारणविषयविकल्पानामपि अपशब्दादिभाषणसद्भावात्, आदिशब्देन श्रुतिदुष्टादिपरिग्रह । तथा वाञ्छतामपि मन्दबुद्धीना शास्त्रनृत्वाभावात् तत्कुतोऽपनीयते ? अत्राह पर—'उभयत्र' इत्यादि । उभयत्र अर्थेऽभिप्राये च व्यभिचारात् शब्दानाम् न कस्यचिदर्थस्य अभिप्रायस्य वा वाचकाः शब्दाः, इतिशब्द परमतसमाप्त्यर्थ । अत्र दूषणमाह—'अलौकिक प्रतिमानमिति' प्रतिभोत्तरप्रतीति इत्यर्थ, अलौकिकश्च तत् प्रतिमानञ्च, लोक्याधितम् इत्यर्थ । कुत एतत् ? इत्यत्राह—'लोको हि' इत्यादि । हिर्यस्मात् लोकाः अर्थाप्यनाप्तिषु सत्यानृतव्यवस्थाम् आतिष्ठेत् । कस्य ? शब्दस्य । यदि हि न कस्यचिद्वाचका शब्दा स्यु तर्हि तेभ्यो घटागर्थस्य स्वप्नेऽप्यप्रतीति न तत्राप्या केपाश्चिच्छब्दाना सत्यत्वम् अन्येषा तु अनृतत्वं विपर्ययात् इत्येव लोको घचसा तद्व्यवस्थामातिष्ठेत् इत्यभिप्राय । ननु अभिप्रायमात्रप्रतिपादनेऽपि तद्व्यवस्थामास्थास्यत इत्यत्राह—'न' इत्यादि । अभिप्रायमात्रे शब्दार्थं 'न लोकाः तद्व्यवस्थामातिष्ठेत्' इति सम्भव । कुत एतत् ? इत्यत्राह—'तत्र' इत्यादि । 'तत्र' तत्रात्रे शब्दव्यवहारबाहुल्याभावात्, क्वचित् तत्र तद्व्यव-

(१) तुलना—'किञ्च, समयानपेक्षं वाक्य तादृशमभिप्राय गमयेत् तत्मापेक्षं वा ?'—प्रमेयक० पृ० ४५० । (२) अभिप्रायमात्रे ।

१-धवणयनादौ आ० । २ सुपुत्तादौ व० । ३-पनीत व० । ४ अशक्याद्युच्चा-थ० । ५ न तु व्यभि-आ०, व० । ६ इत्याह तत्र तत्रात्र व०, इत्यत्राह तत्र तत्रात्रे जा० । ७ विसृज्य थ० ।

हारेपि बहुल बंधि तद्व्यवहारोपलम्भात् इति भाव ।

ननु प्रतीयते शब्दादर्थं स तु विचार्यमाणो न सद्बुच्छते, तत्र तस्य सम्वन्धा-  
भावत प्रत्यायनत्वायोगात्, इत्यत्रह—‘अनाधिताम्’ इत्यादि । अत्रायमभिप्राय—यादृशेऽर्थे  
सङ्केतित यादृश शब्द देशान्तरे कालांतरे च योग्यतालक्षणसम्वन्धयश्चात् तादृशस्य  
५ तादृशो वाचन, न तत्र निश्चिन्नाधनम् इत्युक्तम्—‘योग्यतापेक्षानादिसङ्केतः’ । लघी० स्वप्न०  
भा० ६२ ] इत्यत्र । अत अनाधिता शब्दादुपजायमाना सामान्यविशेषात्मकार्यत्रिपया  
तत्प्रतीतिमतिक्रम्य स्वेच्छया प्रतीयनाश्रयणेन प्रमाणस्वरूपम्—‘प्रत्यक्षानुमानलक्षणमेव  
प्रमाण नागमादि’ इति, प्रमेयस्वरूपम् प्रत्यक्षस्य पूर्वापरकोटिपिच्छित्त रजलक्षणमेव  
प्रमेयम् अनुमानस्य तु अत्रव्यावृत्तिमात्रम्’ इत्यादिप्रमाणानां सौगतानां युक्तम्  
१० उपपन्नम् किं तत् ? अभिप्रेतमात्रसूचकम् । केषाम् ? शब्दानाम् इति ।

व्याख्यात मूलनारिकायाम् ‘ज्ञान प्रमाणमात्मादे.’ इत्येता । साम्प्रत  
‘नयो ज्ञातुरभिप्राय.’ इत्येतद्व्याख्यातुकाम आह—

श्रुतभेदा नया संस्र नैगमादिप्रभेदतः ।

द्रव्यपर्यायमूलास्ते द्रव्यमेकान्तरयानुगम् ॥ ६६ ॥

निश्चयात्मकमन्योऽपि व्यतिरेकपृथक्त्वम् ।

निश्चयव्यवहारौ तु द्रव्यपर्यायमाश्रितौ ॥ ६७ ॥

(१) बहिरर्थे । (२) गणस्य । (३) व्याख्या— ते प्रागुक्तलक्षणा नया भवति ।  
के ? त । यतस्य सवगणस्य आगमस्य भन्ना विकल्पा विवलात्तेना । कति ? सप्त । कुत  
नगमात्प्रभेदत ? किं विशिष्टम् ? द्रव्यपर्यायमूला । तत्र द्रव्यस्य स्वरूपमाह—द्रव्य सामान्य  
भवति । किं विशिष्टम् ? एकावयानुगम एकञ्चावयवञ्च एकावयौ तावनुगच्छन्ति व्याप्नोतीत्येवा  
वयानुगम् । तत्रैकानुगम अथवा ( ऊच्यता ) सामान्य पूर्वापरव्यापकम्, सद्गुणपरिणामलक्षणं निवर्क  
सामान्यमवयानुगम । पुन किं विशिष्टम् ? निश्चयात्मकम्, निगतरञ्चय पर्यायान्तरसन्तरो यस्मादसी  
निश्चय पयाय स आत्मा यस्य तत्तथोक्तम् । अपि पुनरय पर्यायो विशयो भवति । किं विशिष्टम् ?  
व्यतिरेकपृथक्त्वम् व्यतिरेकपृथक्त्वञ्च ते गच्छति तात्पर्येण परिणमतीति स तथोक्त । तत्र  
व्यतिरेक एकस्मिन् द्रव्ये त्रमभावपर्याय । पृथक्त्वम् पुनरपर्यायतरगतौ विसदृशपरिणाम । तु पुनरि  
श्वयव्यवहारौ मूलनयो आश्रितौ आश्रितवन्तौ । किम् ? द्रव्यपर्यायम् । द्रव्यं श्रितौ निश्चयनम्  
द्रव्याधिक इत्यथ । पर्यायाश्रितौ व्यवहारनय पर्यायाधिक इत्यथ । —लघी० ता० पृ० ८८ । (४)  
तुलना— सत् मूलनया पणना । तद्दृश गणने, सगृहे व्यवहारे उज्जुमुण सद् समभिच्छे एवभूए ।—  
स्था० ७।१९ । अनयोग० १३६ । नगमसंग्रहव्यवहारजुसूनगणसमभिच्छेदवन्मूता नया । —तत्त्वाथ०  
१।३४ । ‘नैगमसंग्रहव्यवहार’ जमुण होइ योधवे । सद् य समभिच्छे एवभूए य मूलनया । —याव० नि०  
गा० ७५४ । नगमसंग्रहव्यवहारजुसूनगणनया । आश्रितौ निश्चये । —तत्त्वाथ० १।३४  
३५ । सिद्धमेतन्निवाचरान्मु पठ नयान् स्वीकुर्वति, तमत्तानुसारेण नगमस्य संग्रहव्यवहारयोस्त  
भवान् । द्रष्टव्यम्—समति० १।४ ५ ।

१ चर्हिच्छेदस्यथ—व० । २ यादृशोर्थे सकेतित तादृग शब्द आ० । ३ कालांतरे च  
नास्ति व०, थ० । ४-क्षोऽनादि—व० । ५-रेवाप्य—मु० लघी० ।

विद्वृत्तिः—नहि मतिभेदा नयाः त्रिकालगोचरानेकद्रव्यपर्यायविषयत्वात्, मतेः साम्प्रतिकार्यग्राहित्वात् । मनोमतेरपि स्मृतिप्रत्यभिज्ञानचिन्ताभिनिर्गोधात्मिकायाः कारणमतिपरिच्छिन्नार्थविषयत्वात् । तत्र मूलनयो द्रव्यपर्यायार्थिकौ । द्रव्यम् एका न्वयात्मकम् । एकत्व तदतत्परिणामित्वात्, सदृशपरिणामलक्षणसामान्यात्मकत्वाद् अन्वयि । पुरुषत्वादेरपेक्षातः मत्यापि समानेतरपरिणामातिशये नानैकसन्तानामना तथाभासमकरव्यतिकरव्यतिरेकाद् अन्वयिनोरस्त्वलत्ममानैकप्रत्ययविषयत्व मनुमिमीमहे । तथाहि—स्कन्धः स्वगुणपर्यायाणामेकत्वं न समानपरिणामः पुरुषत्वं । समानपरिणामोऽपि सकलपदार्थगोऽनेकत्वम् । निश्चयनयादेको जीव कर्मनिर्मुक्तः व्यवहारनयात् सकर्मकः । पर्याय पृथक्त्वम् व्यतिरेकश्च । पृथक्त्वम् एकत्र द्रव्ये गुणकर्मसामान्यविशेषाणाम् । व्यतिरेकः सन्तानान्तरगतो विसदृशपरिणामः । व्यवहारपर्यायाः क्रोधादयः जीवस्य ससारिणः, निश्चयपर्यायाः शुद्धस्य ज्ञानादयः प्रतिक्षणम् आत्मसात्कृतानन्तभेदाः । निश्चयनयात् पुद्गलद्रव्यमेकम्, पृथिव्यादिभेदेऽपि रूपरसगन्धस्पर्शरञ्जम् आभिर्भूतानाविर्भूतस्वरूपमजहत् स्कन्धपरमाणुपर्यायभेदेऽपि रूपादिमत्रमपरिजहत् । नहि अत्रस्थादेशकालसंस्काराः मूर्त्तत्वमत्यन्त भिन्दन्ति अमूर्त्तभेदप्रसङ्गात्, सत्ताभेदाश्च जीवादयः सत्ताम् इत्युक्तप्राय नेहोच्यते । भेदवादिनोऽपि ज्ञानमेकम् एकरिमन् क्षणे स्वयमनेकाकारमात्ममात्कृत् कथं निराकुर्युः ? तैत. तीर्थकरवचनसंग्रहविशेषप्रस्तावमूलव्याकारिणौ द्रव्यार्थिरूपपर्यायार्थिकौ निश्चेतव्यौ । नहि तृतीय प्रकारान्तरमस्ति, तस्य प्रमाण एवाऽन्तर्भावात् । न नैगमस्य प्रमाण [ता] तादात्म्यविवक्षाभावात् ।

श्रुतस्य आगमस्य भेदाः विशेषा न पुनर्मतिज्ञानस्य । के ? नयाः, प्रतिपत्र 20  
 भिप्राया, नियन्त ? सप्त । कुत ? नैगमादिप्रभेदतः । कि-  
 कारिका -  
 मूलास्ते ? इत्याह—'द्रव्य' इत्यादि । द्रव्यपर्यायौ मूलम् आश्रयो  
 चेपा त्ते तपोत्ता । किं स्वरूप द्रव्यम् ? इत्याह—'द्रव्यम्' इत्यादि । एकशब्दोऽयं  
 भासप्रधान, एकत्वञ्च अन्वयश्च सदृशपरिणाम ताभ्या यथासम्येन म्यपर्यायान

(१) तुलना—उत्पन्नाविनष्टावगाहक साम्प्रतिकाविषयं मतिज्ञानं धनधानं तु त्रिकाविक्रयम  
 उत्पन्नविनष्टानुत्पन्नप्रापकत्वम् ॥ —तत्त्वार्थसिद्धि० भा० १।२० । (२) तुलना—'अर्थात्तरणाय विकल्प  
 परिणामा व्यतिरेकं नामहित्वात् ।'—परीक्षाम० ४।१ । (३) तुलना—'नियमव्यवहारादहं विम  
 गाल्यारम्भोत्पन्नरूपी । द्रव्यद्विजो य एतज्जवाया य मया विवक्ष्यामि ॥ —साम्प्रति० १।३ । (४) तुलना—  
 'प्रमाणामक एसायमुभयपक्षेऽप्येवा । इत्युक्तमित्त्वं ज्ञानं प्रमाणमूलभावात् ॥ प्राप्यायेनाभ्यासात्तदप्य  
 गृह्यति वेत्तम् । प्रमाणं नाशयित्वाऽप्यत्रानं तिरस्त्रियम् ॥ —तत्त्वार्थसिद्धि० पृ० २६० ।

द्रव्यातराणि च अनुगच्छति अनुयाति इति तदनुगम् । 'एकत्वानुगम्' इत्यनेन भेदेका  
 न्तनिषेध, 'अन्वयानुगम्' इत्यनेन तु सप्तद्रव्येकत्वनिराम । तदेवविध द्रव्य प्रमाणा  
 परिच्छेद्य भविष्यति इत्यत्राह—'निश्चयात्मकम्' इति । मशयादिव्यवच्छेदलक्षणा  
 प्रमेयस्था गृहीतिरित्या निश्चय', स आत्मा स्वभावो यस्य तत् तथोक्तम् । न केवल  
 ५ द्रव्यमेव निश्चयात्मकम्, किन्तु अन्योऽपि पर्यायोऽपि, निश्चयात्मक इति लिङ्गपरि-  
 णामेन सम्यग् । पुनरपि कथम्भूत ? इत्याह—'व्यतिरेकपृथक्त्वगः । स्वद्रव्य-  
 पर्यायातरापेक्षया व्यतिरेकपरस्परव्यवृत्तिम् एकद्रव्यापरित्यागेन गच्छतीति व्यति-  
 रेकग', द्रव्यातरपर्यायापेक्षया पृथक्त्व पृथक्द्रव्यवृत्तिरनु गच्छतीति पृथक्त्वग'।  
 ननु यदि नैगमादयो नया द्रव्यपर्यायमूला तर्हि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकलक्षणौ मूलायौ  
 १० निम्नमूलौ ? इत्याह—'निश्चय' इत्यादि । चेतनस्य अचेतनस्य वा य मन् स्वभाव न  
 कदाचिद्विनश्यति तदवलम्बी नयो निश्चय, द्रव्यार्थिकनय इत्यर्थ । यो विनश्यति  
 स्वभावात्तदवलम्बी व्यवहार पर्यायार्थिक इति यावत् तौ । तु शब्द अपिशब्दार्थे,  
 द्रव्यपर्यायमाश्रितौ । वक्ष्यति च 'तत्र मूलनयौ द्रव्यपर्यायार्थिकौ' इत्यादि ।

तत्र प्रथमकारिकाया प्रथमभाग व्यतिरेकमुखेन विवृण्वन्नाह—'नहि' इत्यादि ।

१५ नहि नैव मतिभेदा किन्तु श्रुतभेदा, के ते ? नयाः । कुत  
 विवृण्वन्नाह—  
 एतत् ? इत्याह—'त्रिकाल' इत्यादि । त्रय काला गोचरो येषाम्  
 अनेकद्रव्यपर्यायाणां ते त्रिपयो येषां तेषां भावात् तत्रात् । 'नयानाम्' इति त्रिभक्ति-  
 परिणामेन सम्यग् । मतिरपि तथा भविष्यति ? इत्यत्राह—'मते' इत्यादि । मते' इन्द्रिय-  
 जनिताया साम्प्रतिकार्थग्राहित्वात् वर्तमानकालगोचरद्रव्यपर्यायात्मकार्यग्राहकत्वात्  
 २० 'न मतिभेदा नया' इति सम्यग् । अनिन्द्रियजनितायास्तर्था ते तर्हि भेदा भवन्तु  
 तस्या त्रिकालगोचरद्रव्यादिविषयत्वात् इत्यत्राह—'मनोमते' इत्यादि । न केवलम्  
 इन्द्रियमते अपि तु मनोमतेरपि 'नहि भेदा नया' इति सम्यग् । किंविशिष्टाया ?  
 इत्याह—स्मृतिप्रत्यभिज्ञानचिन्ताभिनिर्गोधात्मिकाया । कुत एतत् ? इत्यत्राह—  
 'कारण' इत्यादि । निशदाऽनितया मति मनोमते कारणत्वात् 'कारणमति' इत्यु-  
 च्यते, तथा परिच्छिन्नो योऽर्थ तद्विषयत्वान्मनोमते । तैस्वैव कथञ्चिदधिकृतया  
 २५ तयो महणात् एवमुक्तम् ।

नयभेद इत्यत्राह—'तत्र' इत्यादि । तत्रैव श्रुतभेदेन नयाना व्यवस्थिते मूल  
 नयौ कारणनयौ नैगमादीनाम् । को ? इत्याह—द्रव्यपर्यायार्थिकौ, द्रव्यञ्च पर्यायश्च

(१) मनः । (२) इन्द्रियजनिता मति । (३) इन्द्रियमतिविषयभूतस्य अर्थस्यैव । (४)  
 अयान्तरानुगमरूपेण विचारात्मकत्वात् मनोमते । (५) मनोमत्या ।

१—सम्यक् पद्यद्रव्यमेव निश्चयात्मकं किन्तु यः १ इत्याह—व० १ तत्रैव श्रुतभेदेन व्यव—व० १

तानेव अर्थां तौ यथासग्नेन विद्येते ययो तौ तथोक्तौ । तत्र द्रव्यपद व्याचष्टे  
 'द्रव्यम्' इत्यादिना । एकत्वान्वयौ व्याख्यातौ, तौ आत्मा यस्य तत् तदात्मकम् ।  
 ऋतदेव समर्थयमान प्राह—'एकत्वम्' इत्यादि । 'द्रव्यम्' इत्यनुवर्त्तते । तस्य  
 एकत्व कुत ? इत्याह—'तद्' इत्यादि । स च विवक्षित अमश्च अत्रिवन्धित तदतौ,  
 तौ च तौ परिणामौ च तौ यस्य स तत् तदतत्परिणामि, यदि वा, तयो परिणमत  
 इत्येव शील तदतत्परिणामि, तस्य भावात् वचनात् । माम्प्रतम 'अन्ययात्मकं तत्'  
 इत्येतत् समर्थयते—अन्नायि द्रव्यान्तरेण अनुगमवद् 'द्रव्यम्' इति सम्बन्ध । कुत ?  
 इत्याह—'तद्' इत्यादि । सदृशपरिणामलक्षणसामान्यात्मकत्वात् । अत्राह  
 नौगत—असमानानपेक्ष्य समानपरिणामा अनुपादानोपादेयानपेक्ष्य एकपरिणामा  
 केचन भावा कल्पन्ते न परमार्थत, अपेक्षाकृतस्य धर्मस्याऽस्तित्त्वात्,  
 इत्याह—'पुरुष' इत्यादि । अस्यायमर्थ—नानैकमन्तानात्मनाम् नानासन्तानस्वभा-  
 वानाम् एकसन्तानस्वभावानांश्च युगपत्क्रमभाविना क्षणानाम् इत्यर्थ । तेषा यदपेक्षातः  
 यथोक्ताया अपेक्षाया सकाशान् कल्पित पुरुषत्वं तिर्यकूमासान्यम्, आदिग्रन्थेन द्रव्य-  
 त्रिपेपपरिग्रह ; तस्मात् सत्यपि त्रिमानेऽपि समानेतरपरिणामातिशये समानपरिणा-  
 मानिज्ञये तद्व्यर्थे इतरपरिणामातिशये एकत्वपरिणामप्रकर्षे । ननु इतग्रन्थस्य उक्तपरि-  
 तार्थामिधायित्वात् समानपरिणामाद् इतरो विसदृशपरिणाम एव लभ्यते, न एकत्वपरि-  
 णामातिशय इति चेत्, एवमेतत्, तथापि—इह समानैकत्वपरिणामातिशययो प्रकृत-  
 त्वान् समानपरिणामात् इतर एकत्वपरिणाम एव उच्यते । तस्मिन् सत्यपि एकत्व  
 तदतत्परिणामिन्वात् । सदृशपरिणामलक्षणसामान्यात्मकत्वाद् 'अन्यायि' इति सम्बन्ध ।  
 नहि तेषाऽपरिणतम् अपेक्षात तद् भवति विप्रतिषेधात्, अन्यथा स्वयममूर्त्तमपि ज्ञान  
 ज्ञानान्तरात् अमूर्त्तात् व्यवर्त्तमान मूर्त्तं म्यात् । ननु च विचार्यमाणस्य तदतत्परिणा-  
 मिन सदृशपरिणामलक्षणसामान्यस्य चानुपपत्ते अभिमतरूपवद् अनभिमतरूपेणापि  
 प्रसङ्गाच्च अयुक्तम्—एकत्वमित्यादि, इति चेत्प्राह—'तथा' इत्यादि । तथा तदतिशय-  
 प्रकारेण यौ सदृशव्यतिकरौ तयो व्यतिरेकाद् अभावाद् अन्ययिनो' तदतत्परिणा-  
 मिसामान्ययो अस्पृलन्समानैकप्रत्ययप्रियत्वम् सामान्येन नानैकसन्तानात्मस्व-  
 भावम् अनुमिमीमहे अनुमानेन प्रतिपद्यामहे 'अनुमाननिमित्तस्य उक्ततर्कस्य प्रविजृम्भ-  
 णान्' इत्यभिप्राय ।

(१) न हि अग्नित्वेनापरिणत अपेक्षात अनग्नित्रावृत्तपेक्षया अग्निमवति जलान्नापि  
 अनग्निव्यावृत्त्या अग्नित्वप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात् इति भाव ।

१ इव्यमित्यादि इव्यमित्यनुवर्त्तते व०, इव्यमित्यादि इत्यनुवर्त्तते थ० । २—ह सदृश—आ०,  
 व० । ३—पेक्ष एक—व० । ४—ञ्च युगपत्क्रमभाविनाञ्च युगपत्क्रमभाविना क्ष—आ० । ५—समानपरिणा  
 मातिशये नास्ति थ०, ६—रूपेणातिप्र—थ० ।



- यदि वा वैशेषिकादिराह—पुरुषत्वमपेक्ष्य समानपरिणामातिशयो नानात्मसु,  
 बुद्ध्यादिगुणसमवायित्वमपेक्ष्य एकात्मनि एतत्परिणामातिशयो न परमार्थत इति,  
 तत्राह—‘पुरुषत्रादे’ इत्यादि । पुरुषत्वम् आदिर्यस्य बुद्ध्यादिसमवायित्व-त्रिगुणमयो-  
 गित्वादे स तथोक्त तस्य वा अपेक्षा तत सत्यपि समानेतरपरिणामातिशये ।  
 5 केषाम् ? इत्याह—नानैकमन्तानात्मनाम् । नाना एकसत्तानाश्च ते आत्मानश्च तेषाम्  
 इति, शेष पूर्ववत् । ननु भवतु आत्मना समानैकत्वपरिणाम न घटादीना तत्र समान-  
 परिणामस्यैव सभवात् इत्याशङ्क्याह—‘तथाहि’ इत्यादि । तथाहि तेन अस्पृत्स  
 मानैः प्रत्ययनिपयत्वप्रकारेण च स्कन्धो घटाद्ययत्री, स किम् ? इत्याह—एकत्वम् ।  
 केषाम् ? इत्याह—‘स्व’ इत्यादि । स्वशब्देन स्वैव परामृश्यते तस्य ये गुणा रूपादय  
 10 ये च पर्याया ननुपुराणादय तेषाम् एकत्वम् न समानपरिणाम ‘अस्पृत्तदेकप्रत्य-  
 यनिपयत्वान्’ इति भाव । ननु भिन्नसत्तानात्मनामिद एव सत्तानात्मनामपि समान-  
 परिणाम एवास्तु इति सौगत । तत्राह—‘पुरुषइच’ इति । न केवल स्कन्ध किन्तु  
 पुरुषोऽपि ‘स्वगुणपर्यायाणामेकत्वम्’ इति सम्बन्ध । ननु यथा क्रमभाविना सुरग-  
 नीनामेकत्व पुरुष तथा युगपद्भाविनामात्मनाम् एतत् सौऽस्तु इति चेत्त्राह—‘समान’  
 15 इत्यादि । अपिशब्द एवकारार्थे । समानपरिणाम एव सकलपदार्थग नैकत्व  
 सत्त्वपदार्थगम् ‘पुरुषस्य’ इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्ध । अनेन ‘तथाभावा’ इत्यादि  
 समर्थितम्, द्रव्यमेकान्वयानुगम्’ इति कारिकापादश्च व्याख्यात । निश्च  
 यनयाद् द्रव्यार्थिकनयाद् एक अभिन्न जीव सर्वोऽपि सर्वसाधारणचेतनापरिणा  
 मापेक्षया । स एव द्विविधो व्यवहारनयात् इति दर्शयन्नाह—‘कर्म’ इत्यादि । कर्मणा  
 20 ज्ञानावगतीयादिना निर्मुक्तो रहितो जीव, सकर्मकरश्च । कुत ? व्यवहारनयात् पर्याया  
 र्थिकनयात् । एवमेवेन्द्रियादिभेदोऽपि चिन्त्य । अनेन द्वितीयकारिकाया उत्तराद्  
 व्याख्यातम् ।

पयाय कथयत्राह—‘पर्यायः’ इत्यादि । पर्यायः क ? इत्याह—पृथक्त्व  
 व्यतिरेकश्च । तत्र पृथक्त्वपद व्याचष्टे—पृथक्त्वम्, एकत्र एवस्मिन् द्रव्ये गुणक  
 25 र्ममामान्यनिशेषाणा परस्परपरिहारेण कथञ्चित् अवस्थानम् इत्यर्थे । व्यतिरेकपद  
 त्रिवृणोति—व्यतिरेको व्यावृत्तिः । क ? इत्याह—सन्तानान्तरगतो निसृष्टपरिणाम-  
 गोमहिष्यादिपरिणाम । तत्र जीवगतपयायान् दर्शयन्नाह—‘व्यवहार’ इत्यादि ।  
 व्यवहारपर्याया पयायार्थिनयपयाया इत्यर्थे । के ? क्रोधादय कादाचित्कत्वात् ।

(१) सौगत । (२) अनवगती । (३) पुरुषः ब्रह्मरूपा भवतु ।

1 बृहस्पतिस्तम-आ० । 2 नानैकसन्तानात्मनाम नास्ति श्र० । 3 तथा च तेन व० तथा  
 तेन आ० । 4-सन्तानानामपि व० । 5-न अनवगती आ० श्र० । 6 तत्रद्रव्यमे-श्र० । 7 निश्चयाद् आ०  
 व० । 8-केन्द्रियभेदोपि व० । 9 पर्याया क इ-व० । 10-इतवस्था-श्र० । 11 गोमहिष्यादि-श्र० व० ।

त्रिपिशिष्टस्य जीवस्य ते पर्याया ? इत्याह—ससारिणः । मुक्तस्य के पर्याया ?  
 इत्याह—‘निश्चय’ इत्यादि । निश्चयपर्यायाः द्रव्यार्थिकगोचरा पर्याया शुद्धस्य  
 ‘जीवस्य’ इति सम्बन्ध । के ते ? ज्ञानादयः अकादाचित्कत्वात् । कथम्भूतास्ते ?  
 ‘ते च’ इत्याह (इत्याह ते च) प्रतिक्षणम् आत्मसात्कृतानन्तभेदाः । न केवल द्रव्यार्थि-  
 कनयाग्नीवस्यैव अभेद अपि तु पुद्गलद्रव्यस्यापि इत्याह—‘निश्चय’ इत्यादि । निश्चय-  
 नयात् द्रव्यार्थिकनयात् पुद्गलद्रव्यम् एकम् अभिन्नम् । कस्मिन् मत्यपि ? इत्याह—  
 पृथिव्यादिभेदेऽपि । किं कुर्वन्तदेकम् ? इत्याह—‘रूप’ इत्यादि । अजहत् अपरित्यजत्,  
 किम् ? इत्याह—रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्वम् “रूपरसगन्धस्पर्शवन्त पुद्गलाः” [ तत्त्वाधसू०  
 ५।२३ ] इत्यभिधानात् । कथम्भूत तत् ? इत्याह—आविर्भूतानाविर्भूतस्वरूपम् ।  
 पृथिव्या तद् आविर्भूतस्वरूप जलादौ अनाविर्भूतस्वरूपम्, जले गन्धस्य अनले गन्धरसयो  
 अनिले रूपरसगन्धानामनाविर्भावात् ।

नैव जलादौ गन्धादिसद्भावे प्रमाणत सिद्धे अनाविर्भावो युक्त, अन्यथा सर्वस्य  
 सर्वत्राज्ञानाविर्भावप्रसङ्गात् साख्यदर्शनप्रतिप्रसङ्ग स्यात् इति चेत्, उच्यते—जलादयो  
 गन्धादिमन्त, स्पर्शवत्त्वात्, यदित्थ तदित्थ यथा पृथिवी, स्पर्शादिमन्तश्चेते, तस्माद्-  
 गन्धादिमन्त इति । यत् पुन गन्धादिमन्त भवति न तत् स्पर्शवत् यथा आत्मानि,  
 इत्यादि पदपदार्थपरीक्षाया पृथिव्यादीनामतत्त्वान्तरभाषसमर्थनावसरे प्रपञ्चत प्ररूपित-  
 मिहावगन्तव्यम् । पुनरपि किं कुर्वन्त ? इत्यत्राह—‘स्कन्ध’ इत्यादि । स्कन्धाश्च घटा-  
 दय परमाणुः अत्यन्तसूक्ष्मा पुद्गला त एव पर्यायाः परस्परत प्रादुर्भावात्, पर-  
 माणुभ्यो हि स्फन्वा प्रादुर्भवन्ति तेभ्यश्च परमाणव इति, तेपा भेदेपि रूपादिमत्त्वम-  
 परित्यजदेक । दृष्टांतार्थमेतत्, ततो यथा तत् परमाणुरूप स्कन्धीभवत् स्कन्धस्वभाव  
 वा परमाणुरूपतामादधत् रूपादिमत्त्वमपरित्यजत् एक तथा प्रकृतमपि इति । एतदेव  
 दर्शयत्राह—‘नहि’ इत्यादि । हिर्यस्मात् न अवस्था च देशश्च कालश्च सस्कारश्च  
 ते मूर्त्तत्वं रूपादिमत्त्वम् “रूपादिमयी मूर्त्ति” [ ] इत्यभिधानात् । अत्यन्त  
 सुष्ठु भिन्दन्ति ‘पृथिव्यादिभेदस्य स्कन्धपरमाणुपर्यायभेदस्य च’ इति सम्बन्ध । कुत  
 एतत् ? इत्याह—‘अमूर्त्त’ इत्यादि । अमूर्त्तो रूपादिरहितो यो भेदः व्यक्तिविशेष तस्य  
 प्रसङ्गात् । यथा च अवस्थादयो न रूपादिमत्त्वमत्यन्त भिन्दन्ति, तथा मत्ताभेदाश्च

(१) “स्पर्शरसगन्धस्पर्शवन्त पुद्गलाः । —तत्त्वाधसू० । (२) रूपरसगन्धादि । (३) कर्त्तव्यम् ।  
 (४) तुलना—पृ० २३८ टि० ४ । (५) पृ० २३८ । (६) तुलना—‘रूप मूर्त्तिरित्ययम् । मूर्त्ति ?  
 रूपादिमत्त्वानपरिणामो मूर्त्ति ।’—सर्वार्थसि० राजवा० ५।५ ।

जीवादय. मत्ताम् 'अत्यन्त न भिन्दन्ति' इति सम्बन्ध । अमद्भेदप्रसङ्गात् इत्युक्तं प्राय 'जीवाजीवप्रभेदा यदन्तर्लीनाः' [लघी० वा० ३१] इत्यत्र, नेह पुनरुच्यते । ननु जीवादिद्रव्यस्य सत्तात्सामान्यस्य वा कस्यचिदमभवात् 'निश्चयनया देको जीवः' इत्याद्युक्तम्, तत्सभवे च अवस्थादिभेदेन विरुद्धधर्माध्यासत प्रतिभ्रण भेदप्रसङ्गात् तदेकत्वम् इत्याशङ्क्याह—'भेद' इत्यादि । ये विरुद्धधर्माध्यामत सर्वथा वस्तुनो भेदं यदन्ति सौगता तेऽपि कथं नैव निराकुर्युः ? किं तत् ? ज्ञानम्, कथम्भूतम् ? एकम् । किं कुर्वत् ? स्वयम् आत्मनोऽनेकाकार नीलपीतादिविचित्राकार प्राद्यप्राहका कारत्रिविकेतररूपतया प्रत्यक्षपरोक्षानार वा जात्मसात्कुर्वत् । कदा ? एकस्मिन् क्षणे । तन्निराकरणे सकलशून्यता स्यात् । सा च प्रत्यक्षपरिच्छेदे प्रपञ्चत प्रतिभ्रिता इत्यल पुन प्रसङ्गेन । ततो यथा विरुद्धधर्माध्यासेऽपि एकमेकदा ज्ञानमनिरुद्ध तथा प्रमेण जीवादिद्रव्यमपि इति ।

उक्तार्थमप्यहमाह—'तत्' इत्यादि । यत् उक्तप्रकारेण जीवादि सुखादिपर्यायात्मक व्यवस्थित तत् तीर्थकरस्य भवावतोऽर्हतो वचन स्याद्वादप्रवचन तस्य विषयभूता, श्रुतभेदत्वात् नयानाम्, ये सद्ब्रह्मविशेषा सद्ब्रह्मविशेषाश्च व्यवहारादिनय भेदा तेषां प्रस्तारस्य प्रपञ्चप्ररूपणस्य मूलव्याकारिणो आगौ उत्पादकौ निश्चेतव्यौ । कौ ? इत्याह—द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकौ । अन्य कुतो नेति चेत् ? अत्राह—'नहि' इत्यादि । द्विर्यस्मात् न तृतीय प्रकारान्तर नयातरमस्ति । कुत एतत् ? इत्यत्राह—'तस्य' इत्यादि । तस्य तदन्तरस्य प्रमाणे एव न नये अन्तर्भावात् 'न तदस्ति' इति सम्बन्ध । प्रधानभूतायोन्यात्मकसामान्यविशेषविषयाभिर्संघे प्रमाणत्वात् । नैगमोऽपि तर्हि प्रमाण स्यात् इति चेदत्राह—'न' इत्यादि । न प्रमाणता, कस्य ? नैगमस्य । कुत एतत् ? इत्याह—'तादात्म्य' इत्यादि । तादात्म्येन प्रमाणत्वभावात्वेन विवक्षाया. अभावात्, नयत्वेन विवक्षासद्भावात् इत्यर्थ । एतदपि कुत इत्यत्राह—

गुणप्रधानभावेन धर्मयोरेकधर्मिणि ।

विचक्षा नैगमोऽत्यन्तभेदोक्तिः स्यात्तदाकृतिः ॥६८॥

(१) अमरवासी भू विषय तस्य प्रसङ्गात् असद्रूपत्वप्रसङ्गादित्यय । (२) सौगत । (३) चित्रनानम्, ग्राह्यग्राहकाद्यनेवाकार सत्त्वेनम् ग्राह्याद्याकारराहित्य मवेदनापेक्षया प्रत्यक्षपरोक्षालम्ब सत्त्वेन वा । (४) सकलशून्यता । (५) पृ० १३३ । (६) सुखाद्यनेवाकारम् । (७) अभिप्रायवतो ज्ञानस्य । (८) व्याख्या— स्यात् । क ? नगमो नय । का ? विवक्षा अभिप्राय । कयो ? धर्मयो एकरानकत्वयो । केन ? गुणप्रधानभावेन । क्व ? एकधर्मिणि एकोऽभिप्रो धर्मी इव्यं तस्मिन् । तदा इति तस्य नगमस्य आवृत्तिराभास स्यात् । का ? अत्यन्तभेदोक्तिः अत्यन्तो निरपेक्ष भेदो नानात्व तस्योक्तिवचन नयायिवाद्यभिप्रायो नगमाभास इत्यय । —लघी० ता० पृ० ९० ।

१ तत्सभवे वानत्या—थ० । २ स्याद्वाचन आ० । ३ प्रसारस्य थ० । ४ प्रकारभूता—थ० । ५-भिसम्बन्धे प्र-आ०, थ० ।

वितृतिः—जीवः सन्नमूर्तः कर्त्ता सूक्ष्मो ज्ञाता द्रष्टाऽसख्यातप्रदेशो भोक्ता परिणामी नित्यः पृथिव्यादिभूतविलक्षणः इति प्रधानवृत्त्या जीवस्वत्तत्त्वनिरूपणाया गुणीभूताः सुखादयः । सुखादिस्वरूपनिरूपणाया वा आत्मा । तदत्यन्तभेदाभिसन्धिः नैगमाभासः । गुणगुणिनाम् अवयववययाना क्रियाकारकाणां जातितद्गता चेत्यादि तादात्म्यमविवक्षित्वा गुणगुणिनोः धर्मिधर्मयोर्वा गुणप्रधानभावेन विवक्षा नैर्गमे, सग्रहादौ एकत्रिवेदेति भेदः ।

गुणप्रधानभावेन मुख्यमुख्यरूपता धर्मयो एकस्मिन् धर्मिणि विवक्षा

प्रतिपक्षरभिसंधि नैगमः स क्व प्रधानभूतोभयधर्मस्वभावधर्मि-

विषयप्रमाणरूपता प्रतिपद्येत ? तदाभासमाह—अत्यन्तभेदोक्तिः

‘धर्मयोः एकधर्मिणि’ इति सम्बन्ध, स्यात् तदाकृतिः नैगमाभासो भवेत् । 10

कारिका विष्टुष्वन्नाह—जीवः सन्नमूर्तः सूक्ष्मो ज्ञाता द्रष्टा कर्त्ताऽसख्यातप्रदेशी

भोक्ता परिणामी नित्यः पृथिव्यादिभूतविलक्षण एव प्रधानवृत्त्या

जीवस्वत्तत्त्वनिरूपणाया जीवस्वरूपरूपणाया क्रियमाणाया

गुणीभूताः सुखादयो धर्माः । आहादनाकार सुख तद्विपरीतस्वरूप दुःख स्वार्थग्रहण-

स्वभावा ज्ञानम् इत्येव मुख्यतः सुखादिस्वरूपनिरूपणाया वा आत्मा ‘गुणीभूत’ इति 15

सम्बन्ध । नैगमाभासं प्ररूपयन्नाह—‘तद्’ इत्यादि । तयोः सुखाद्यात्मनो अत्यन्त-

भेदाभिसन्धिः नैगमाभासः । उदाहरणमाह—गुणगुणिनाम् अवयवावयविना जाति-

तद्गता चेत्यादि । ‘अत्यन्तभेदाभिसन्धिर्नैगमाभासः’ इति सम्बन्ध । अनेन

कपिलीयोऽपि चैतन्यसुखाद्योरत्यन्तभेदाभिसन्धि चिन्तित । कुतोऽसौ नैगमाभास ?

इत्याह—‘तादात्म्यम्’ इत्यादि । यतोऽसौ धर्मधर्मिणोस्तदात्म्य सदपि अविवक्षित्वा 20

स्वदुरागमवासनाविपर्यासितमते प्रतिपक्षु प्रवर्त्तते ततोऽसौ नैगमाभास इति ।

धर्मधर्मिणोः इत्युपलक्षणार्थमेतत्, तेन अवयवावयविनो क्रियाकारकयो जातितद्ग-

तोश्च ग्रहणम् । धर्मयोर्वा गुणप्रधानभावेन विवक्षा नैर्गमे यत ततोऽत्यन्तभेदविवक्षा

तदाभास इत्यभिप्राय । समहादेरत कुतो भेद ? इत्याह—‘सग्रह’ इत्यादि । सग्रहः

आदिर्धस्य व्यवहारादे स तथोक्त तत्र एकस्य गुणादे गुण्यादेर्वा विवक्षा इति 25

हेतो भेदः नैगमात् समहादे इति ।

तत्र समहस्वरूप समतिपक्ष दर्शयन्नाह—

(१) विषयं यत्प्रमाण तद्रूपताम् । (२) ‘कुत्वमाह्लादनाकार विज्ञान मेयबोधनम्’—ग्यापवि० ।

द्रष्टव्यम्—अकलङ्कूप० परि० पु० ५८ ।

1-नामं ज० वि० । 2-भूतावि-ज० वि० । 3-निगमे ज० वि० । 4-भिसम्बन्धि बा० ।

5-पद्यते आ०, थ० । 6-आत्मा ब० । 7-सम्बन्धि थ० । 8-चेत्यादि बा० । 9-नगमो यत ब०, थ० ।

सदभेदात् समस्तैक्यसग्रहात् संग्रहो नयः ।

दुर्नयो ब्रह्मवाद' स्यात् तत्स्वरूपानवासितः ॥६९॥

विवृति -सर्वमेक सदनिशेषात् इति संग्रहो नयः । तदाभासो ब्रह्मवाद  
तदभ्युपगमोपायाभासात् । नापि तस्योपेयत्व एरनिषाणम् ।

समस्तस्य त्रीशरीरविशेषप्रपञ्चस्य ऐर्येन संग्रहात् कारणात् संग्रहो

नयः 'प्रवर्तते' इत्युपस्मार । कुत समस्तैक्यसग्रह इत्याह--सदभे

कारिका -

दात् । ब्रह्मवादोऽपि सदभेत्माश्रित्य समस्तैक्य सगृह्णाति इति

सोऽपि संग्रह स्यादित्यत्राह--'दुर्नय' इत्यादि । दुर्नय संग्रहाभासो ब्रह्मवादः  
स्यात् । कुत एतत् ? इत्याह--'तद्' इत्यादि । तस्य ब्रह्मण यत्स्वरूपं

निराहतसकलभेदप्रपञ्च सत्तामात्र तस्य अनवासितः प्राप्तेरभावात् ।

कारिका विवृण्व्यत्राह--'सम्' इत्यादि सर्वं चेतनाचेतनरूप वस्तुजातम् एकं

मदनिशेषात् इति एव संग्रहनयः प्रवर्तते । तदाभासः संग्रहाभास  
ब्रह्मवाद । कुत एतत् ? इत्याह--'तद्' इत्यादि । तदभ्युपगमस्य

विवृति-कारयानम्-

ब्रह्मवात्स्वीकारस्य उपायाभासात् प्रमाणभासात् । प्रमाणमूलो हि अभ्युपगम सत्य

इत्यभिप्राय । दोषात्तरमाह--'नापि' इत्यादि । नापि तस्य ब्रह्मण उपेयत्व

स्वीकरणीयत्वम् 'उपायाभासात्' इत्यभिमन्व-ध । यस्य उपायाभावो न तदुपेयम्

यथा एरनिषाणम्, उपायाभावश्च ब्रह्मण इति । यथा चास्य न कश्चिदुपायो घटते

तथा ब्रह्माद्वैतनिषेधावसरे व्यासत चिन्तितम् ।

व्यवहारनय दर्शनत्राह--

व्यवहारानुसूत्यान् प्रमाणानां प्रमाणात् ।

नान्यथा बाध्यमानानां ज्ञानानां तत्प्रसङ्गत' ॥ ७० ॥

विवृतिः--प्रमाणानां प्रामाण्य व्यवहारविसवादात् इति आकुमार प्रसिद्धम्,

(१) व्याख्या-- समस्तस्य जीवात्रीवद्विषयस्य एक्येन ऐक्येन संग्रहात् सक्षिप्य संग्रहात् ।  
व्यमोऽस्य सभ्यपणमित्यादिषु क्पाह--सदभेदात् सन सत्त्वसामास्य सत्त्वासावभदस्य तमाश्रित्य । नहि  
सत्त्वात् विश्विद् भिन्नमस्तीति वस्तु युक्त विरापात् । दुर्नय संग्रहाभास स्यात् । क ? ब्रह्मवाद सत्ता  
हनम् । कुत ? तत्स्वरूपानवासित तस्य परपरिकल्पितब्रह्मण स्वरूप भदप्रपञ्चपूर्वं समात्र तस्यान  
वाप्ति प्रमाणात्प्राप्तिस्तत् न सद्य तन् प्रत्यक्षादिप्रमाणात् प्राप्यते तथाऽस्तीति । -लघी० ता०  
प० १० । (२) पृ० १५० । (३) व्यवहारानुसूत्यात् संग्रहभेदयो व्यवहार तस्मानुक्त्यमविसवादा  
तस्मादेव । बाध्यमानानां सगादीनां विसवादिनां नागानाम् । तत्र प्रमाणेतरव्यवस्थानिबन्धनत्वात्  
व्यवहारो नय यथा तदाभास इत्यथ । -लघी० ता० पृ० ११ । उक्तनोऽयम्--'व्यवहारानुसूत्यन  
प्रमाणात् प्रमाणात् । नात्रा बाध्यमानानां तेषाञ्च तत्प्रसङ्गत । -तद्व्याख्येनो० पृ० २७१ । तुलना-  
'प्रामाण्यं व्यवहारेण' -प्रमाणवा० ३१५ ।

१ तस्योपेयत्वं ज० वि० । २ एतेन आ०, व० । ३-वित्याह श्र० ।

अन्यथा सशयत्रिपर्यासस्वप्नज्ञानादीनामपि प्रामाण्यमनिवार्यं स्यात् । प्रत्यक्षं सविकल्पकं प्रमाणं व्यवहारात्मिकात्वात् । उत्पादविगमध्रौव्यलणं सत् गुणपर्ययवद्द्रव्यम् जीवश्चैतन्यस्वभावः इत्यादि श्रुतज्ञानस्य प्रमाणान्तरानाधनपूर्वापरानिरोपलक्षणसंवादसंभवात् प्रामाण्यम्, अर्थाभिधानप्रत्ययात्मकव्यवहारानुकूल्याच्च । बहिरर्थप्रज्ञप्तिभात्रैशून्यप्रचमां व्यवहारनिरोधित्वात् दुर्नयत्नम् ।

प्रमाणानाम् अध्यक्षादीनां या प्रमाणता सौगतादिभिरिष्यते सा व्यवहारानुकूल्यादेव उपपन्ना नान्यथा, अन्यथा व्यवहारप्रातिकारिकाय - दूत्यप्रकारेण न, कुत एतत् ? इत्यत्राह—'वाध्यमान' इत्यादि ।

वाध्यमानानां व्यवहारानधिरूढप्रातीतिकद्विचन्द्रसकलशून्यताद्यर्थविषयज्ञानानां तत्प्रसङ्गतः प्रमाणताप्रसङ्गतः ।

कारिका व्याख्यातुमाह—'प्रमाणानाम्' इत्यादि । प्रमाणानां प्रत्यक्षादीनां प्रामाण्यम् अमिध्यात्वम् इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारलक्षणव्यवहारावि-  
निवृत्तियाख्यातम्—  
संवादात्, इत्येतत् आकुमारम् आनाल प्रसिद्धम् । अन्यथा व्यव-  
हाराविसंवादाभासप्रकारेण तत्प्रामाण्ये सशयत्रिपर्यासस्वप्नज्ञानादीनामपि प्रामाण्य-  
मनिवार्यं स्यात् । तद्विसंवादाच्च तत्प्रामाण्ये यत् परेषां निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं तद-

प्रमाणं व्यवहारविषयादाभावात् इति मन्यमानं प्राह—'प्रत्यक्षम्' इत्यादि । प्रत्यक्षं सविकल्पकम् प्रमाणं 'स्यात्' इत्यनेन सम्बन्धः । कुत एतत् ? इत्यत्राह—व्यवहारा-  
निसंवादात् । न पुन निर्विकल्पकं तद्विपर्ययात् इति भावः । साम्प्रतं श्रुतस्य तत्

एव प्रामाण्यं दर्शयन्नाह—'उत्पाद' इत्यादि । उत्पादविगमध्रौव्याणि लक्षणं स्वरूपं यस्य तदेतद्व्यवहारं जीवादिवस्तु सद् भवति, गुणपर्ययवद्द्रव्यं जीवश्चैतन्यस्वभावः  
इत्येवमादिश्रुतज्ञानस्य अस्पष्टतर्कणस्य 'प्रामाण्यं स्यात्' इति गतेन सम्बन्धः । कुत  
एतत् ? इत्यत्राह—'प्रमाणान्तर' इत्यादि । श्रुतात् अन्यत् प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तरं तेन  
अनाधनञ्च पूर्वापरयोः श्रुतवाक्ययोः अविरोधश्च लक्षणं यस्य संवादस्य तस्य तत्र  
संभवात् । अत्रैतार्थं हेत्यन्तरमाह—'अर्थ' इत्यादि । अर्थो जीवादि अभिधानं  
जीवादिभ्यश्च प्रत्ययं तद्विषयो ज्ञानं ते आत्मा यस्य व्यवहारस्य तस्यानुकूल्याच्च

(१) तुलना— त्रयं पदार्थां अयाभिधानप्रत्ययमन्तं - राजवा० पृ० १७ । अष्टमह० पृ० २५१ ।  
(२) व्यवहाराविगमवादात् । (३) नोक्तानाम् । (४) द्रष्टव्यम्-पृ० ६०५ टि० ७ । (५) तुलना—  
'गुणानमासत्रो दध्व एवदव्यसिसत्रा गुणा । लक्षणं पञ्चवाण तु उभयो अस्सिसत्रा भवे ॥'-उत्तरा०  
२८।६ । "दध्व सन्त्वव्यसिसत्रा उपादव्ययधुवत्तमजुत्तं । गुणपञ्चवाणं वा जं त भणन्ति सध्वम् ॥"-  
पञ्चास्ति० गा० १० । "गुणपञ्चवाणं दध्वम्"-तत्त्ववाच्यं पृ० ५।३८ । व्यायवि० वा० १११ । 'त परिषाणं हृ दध्वं  
तुहं जं गुणपञ्चवाणं । सध्वं वाणं हि तां गुणं वमभुव पञ्चउ उतु ॥'-परमाण्वप्र० गा० ५७ ।

१ भूतज्ञानं ज० वि० । २-मात्रे गुण्य-ज० वि० । ३ 'अन्यथा' नाम्नि आ०, ब० ।  
४-मात्रवाचं ध० । ५ इत्याह ब०, ध० । ६ संवादस्य तत्र आ०, ध० ।

हेतो श्रुतज्ञानम् 'प्रामाण्यम्' इति सम्बन्ध । व्यग्रहारदुर्नय दर्शयन्नाह—'वहिरर्थ' इत्यादि । वहिरर्थश्च विज्ञप्तिमात्रञ्च ताभ्या शून्य तत्प्रतिपात्कचस्य दुर्नयत्वम् । वहिरर्थशून्यचस्य विज्ञप्तिमात्रागद्वैतप्रतिपात्कचस्य तमात्रशून्यचस्य सम्बन्धयताप्रतिपात्कचस्यमिति । कुत तेषा दुर्नयत्वम् ? इत्यत्राह—'व्यग्रहारविरोधित्वात्' इति । नहि तद्वचस्सु इष्टानिष्टप्रतिपरिहारान्लिक्षणव्यग्रहारस्य अनिरोधो युक्तप्रमाणप्रमेयसङ्घाते सत्येन अस्याऽविरोधात् । ऋजुसूत्रनय दशयत्राह—

भेद प्राधान्यतोऽन्विच्छन् ऋजुसूत्रनयो मतः ।  
 सर्वथैकत्वविक्षेपी तदाभामस्त्वलौकिकः ॥७१॥

विवृति—वहिरणव. सचिर्ता\* स्थूलमेकाकारप्रत्ययमभूत् यथा दर्शयन्ति तद्वत् सत्रित्परमाणोऽपि चिन्ताकारमेकम् । ततो नैकमनेकरूप तत्त्वमक्रम यत् मक्रम साधयेत् भेदस्याभेदनिरोधान्, अन्यथा क्वचिन्नानात्मेव न स्यात् । सापेक्षो नय निरपेक्षो दुर्नय । प्रतिभासभेदात् स्वभासभेद व्यवस्थापयन् तदभेदादभेद प्रतिपद्यत एव विशेषाभावात्, तदन्यतरापाये अर्थस्याऽनुपपत्ते ।

सर्वस्य सर्वतो भेद प्राधान्यतोऽन्विच्छन् ऋजु प्राञ्जल यत्तमानपर्यायमात्र सूत्रयति प्ररूपयति इति ऋजुसूत्र. नयो मत\* । प्रधानशब्दस्य च सम्बन्धिगादत्वात् द्रव्य तस्य अप्रधानम् । तदाभासमाह—'सर्वथा' इत्यादि । सर्वथा गुणप्रधानभावाभासप्रकारेण एकत्वविक्षेपी एकत्वनिराकारक तदाभाम\* ऋजुमूत्राभास । तु यस्मादर्थे, यस्मात्लौकिकः लोकाव्यग्रहारातिश्रातोऽयमीशो भेदोऽभ्युपगम । न गन्तु सन्नधैकत्वप्रतिश्लेषेण स्थासकेश-  
 १० इच्छादौ बालकुमारानौ ना भेदव्यवहारो लोके प्रसिद्ध ।

कारिका विवृण्वन्नाह—'वहि' इत्यादि । वहिरणव. दर्शयन्ति जनयन्ति स्थूलमेकाकारप्रत्ययम्, किंविशिष्टम् ? अभूतम् अपरमार्थविषयम् । कथम्भूतास्ते ? सञ्चिता\* पुञ्जीभूता । एवविधास्ते यथा येन प्रकारेण तथा

(१) व्यवहारस्य । (२) 'प्राधायत मुन्यत्वेन, अनेन गौणत्वेन द्रव्यमप्यनेन इत्यर्थः । तु पुनस्तदाभासो भवति । किं विनिष्ट ? एकत्वविक्षेपी एकत्व द्रव्य विधिपति निराकारत्ववशीत एकत्वविशेषी । कथम् ? मवया प्राधायतोप्राधायतश्च, पुन किं विनिष्ट ? अलौकिक लोको व्यवहारस्तत्प्रयोगो लौकिक तद्विषययोऽलौकिक अलौकिकान्तिषय । न हि परस्पर सजातीयविजातीयव्यावृत्ता प्रतिक्षणविधारात् परमाणवो यवहृद्यन्त परीणव यन्तिस्त्रययो नयाभासो न स्यात् । —लघी० ता० प० ९१ । (३) सौगतमते पुञ्जीभूता परमाणव एव स्थूलाकारप्रत्यहेतव तदाहि— अर्वात्तरामिसम्बन्धाज्जायन्ते यन्वधोऽनरे । उक्तास्त सञ्चिन्वान्ते हि निमित्त ज्ञानजनन ॥ —प्रमाणव० ३।१९५ । (४) 'ऋजु प्रगुण सूत्रयति तत्रयत इति ऋजुसूत्र ।'—सर्वथपति० राजवा० १।३३ । (५) सर्वथा क्षणिकत्वव्यवहार ।

विधि प्रत्यय दर्शयन्ति तद्वत् सन्निप्तरमाणोऽपि, कथम्भूतम् ? चित्राकारम्, नीलादि-  
 प्राहाद्यनेकाकारमेकम् अत एव अभूतम् । उपसहारमाह—‘ततः’ इत्यादि । यस्मादे-  
 काकारप्रत्ययस्य अपरमार्थनिपयत्वं ततो नैकमभिन्नम्भात् तत्र जीवादिवस्तु अक्रमं  
 युगपद् अनेकरूपम् ‘युक्तम्’ इत्युपस्कार । यत् सक्रम क्रमयत् सुत्यान्भिेदभिन्नम्  
 आत्मान साधयेत् । ‘यत्’ इत्याक्षेपे वा नैव साधयेत् । कुत एतत् ? इत्यत्राह—‘भेदस्य’  
 इत्यादि । भेदस्य नानात्वस्य अभेदेन एकत्वेन विरोधात् । निपक्षे बाधकमाह—‘अन्यथा’  
 इत्यादि । अन्यथा अन्येन तेदविरोधप्रकारेण क्वचिद् घटपटाणां नानात्वमेव न  
 स्यात् इति । अस्याभिसन्वेर्नयत्व दुर्नयत्वञ्च दर्शयन्नाह—‘सापेक्ष’ इत्यादि । सह  
 प्रत्यनीरुधर्मापेक्षया वर्तते इति सापेक्षः नयः । अपेक्षातो निष्क्रान्त निरस्ता वा  
 अपेक्षा येनासौ निरपेक्षः दुर्नय । ननु प्रमाणाभावेन अभेदस्य क्वचिदनुपपत्तेः कथ  
 तदपेक्षो नय स्यात् ? इत्यत्राह—‘प्रतिभास’ इत्यादि । प्रतिभासस्य प्रत्यक्षादिसवेद-  
 नानारस्य भेदात् स्वभावभेदं चेतनेतरस्वरूपनानात्व व्यवस्थापयन् सौगत तदभेदात्  
 प्रतिभामाभेदात् अभेद प्रतिपद्यत एव विशेषामावात् । एतच्च ‘अर्थक्रिया न युज्येत  
 नित्यं क्षणिकं पक्षयोः’ [ लघो० का० ८ ] इत्यत्र सप्रपञ्च प्रपञ्चितम् । अत्रैवार्थे समर्थ-  
 नांतरमाह—‘तद्’ इत्यादि । तयोः भेदाभेदयोर्मध्ये अन्यतरस्य भेदस्य अभेदस्य वा अपाये  
 अर्थस्य उत्तरकार्यस्य सवेदनस्य वाऽनुपपत्तेः, सापेक्षो नयः निरपेक्षो दुर्नय इति ।

अथ सप्तनयेषु मध्ये के अर्थप्रधाना के च शब्दप्रधाना ? इत्याह—

चत्वारोऽर्थनया ह्येते जीवाद्यर्थव्यपाश्रयात् ।

त्रयः शब्दनयाः सत्यपदविद्यां समाश्रिताः ॥७२॥

विज्ञितिः—कालकारकलिङ्गभेदात् शब्दः अर्थभेदकत् अभूत् भवति भवि-

(१) व्याख्या— एते । के ? नगमादय प्रागुक्ता चत्वारोऽर्थनया अर्थप्रधाना नया । कुत ?

जीवाद्यर्थ प्रपाश्रयात्, जीवाजीवानीनामर्थानां व्यपाश्रयाद् आलम्बनान् । त्रय इत्यां गच्छन्ममिदृढव  
 भूता शब्दनया शब्दप्रधाना नया । किं विशिष्टा ? सत्यपदविद्या समाश्रिता, सत्यानि प्रमाणान्त  
 रामाश्रितानि पदानि कालवारकादिभेदादीनि तेषां विद्या व्याकरणस्य तामाश्रिता आलंबिता  
 व्याकरणाश्रितत्वादित्यय ।” —लघो० ता० पृ० ९२ । तुलना—“चत्वारोऽर्थनया गोपाश्रय शब्दन ।”  
 —सिद्धिदि०, टी० पृ० ५१७ B । “तत्र सप्रहव्यवहारजुमुता अर्थनया शेषा शब्दनया” —राजवा० पृ०  
 १८६ । अत्यणवरं सहोवसज्जण वत्युमुज्जुमुत्ता । सहृण्हाणमत्योवसज्जणं शेषया विति । —  
 विगया० गा० २७५३ । “तत्रजुसूत्रपय तादृचत्वारोऽर्थनया मना । त्रय शब्दनया गोपा शब्दवाच्या  
 षणोचरा ॥” —तत्त्वपरलो० पृ० २७४ । नयविद० पृ० २६२ । “एषु चत्वार प्रथमेष्वनिरूपणप्र  
 षणत्वात्तथा गोपास्तु त्रय शब्दवाच्यगोचरत्वात् गच्छन्मना ।” —प्रमाणनद० ७।४४ ४५ । जनतश्चा०  
 पृ० २३ । नयप्रदीप पृ० १०४ B । उदूतोऽयम्—“जीवाद्यर्थविनिश्चयेन ।” —आव० नि० मलय० पृ०  
 ३८१ B । सूत्रहृताग० टी० पृ० ४२६ A ।

1—विद्यप्रत्यय—थ०, य० । 2 भेदनात् थ० । 3 व्यवस्थापयेत् लो—आ० । 4 ‘प्रतिभासाभेदात्’  
 नास्ति थ० । 5—स्य धानुप—आ० । 6—दित्याममाश्रि—ज० वि० ।



प्यति, करोति क्रियते, देवदत्तो देवदत्ता इति । पर्यायभेदाद् अभिरुढोऽर्थभेदकृत्  
 इन्द्र शक्र पुरन्दर इति । क्रियाश्रय एवम्भूतः । कुर्वत एव कारकत्वम् । यदा न  
 करोति तदा कर्तृत्वस्य अयोगात् इति । कथं पुन शब्दज्ञानं निवक्ष्याव्यतिरिक्त-  
 मर्थं प्रत्येति ? कथं च न ? तदप्रतिबन्धात् । 'नहि बुद्धेरकारण विषयः' इत्येतत्  
 प्रतिव्यूढम्, विज्ञानस्य अनागतनिर्णयात् । कृत्तिकोदयदर्शने शकटोदयो भविष्यति  
 बुद्धिरपिसत्तादिनी, आदित्यः श्व उदेता, सूर्याचन्द्रमसोः ग्रहण भविष्यति, तन्तत्र  
 पटो भविष्यन्ति, भृषिण्डो घटो भविष्यति, तन्दुला भविष्यन्त्योदनम्, ग्रीहय'  
 तन्दुला भविष्यन्ति, इत्याद्यनागतविषयाणाम् अपिसवादिनाम् आनन्त्यात् ।  
 ततः शब्दज्ञानमपि निवक्ष्याव्यतिरिक्तार्थग्राहि सिद्ध प्रतिबन्धमन्तरेणापि तत्प्रति-  
 पादनस्वाभाव्यात् विज्ञानवदिति । वर्तनालक्षण, काल, क्रियाविष्ट द्रव्य कारकम्,  
 स्त्यान प्रमत्तदुभयाभासमामान्यलक्षण लिङ्गम्, कथञ्चिद् वस्तुस्वभावाभेदक तथा-  
 प्रतीते । पर्यायोऽपि अर्थभेदकृत् । क्रियाभेदात् एकोऽपि शब्दः क्रियानिमित्त-  
 व्युत्पत्ति तदभावात् तदर्थं नाचष्टे इति परमर्थमनुभवन्नेव इन्द्र' नान्यदा, तत  
 सिद्ध क्रियाभेदः पाचरूपाठकादिवत् । नहि वर्णपदवाक्याना व्युत्पादक शास्त्र  
 नित्यम् परमार्थशब्दप्राप्त्युपायकृत् ज्ञातुरभिप्रायात्मकनयनत् । व्यावहारिकप्रकृ-  
 त्यादिप्रक्रियाप्रविभागेन यथा पारमार्थिकादानेकान्तात्मकादर्थोद्धृत्य तदश-  
 मेकान्त व्यावहारिक तत्प्रतिपच्युपाय प्रकाशयन् नय, न मिथ्यात्वमनुभवेत्,  
 निरपेक्षस्यैव मिथ्यात्वात् । अनेकान्तनिराकृते' निरपेक्षत्वम् तदनिराकृते सापे-  
 क्षत्वं नान्यथा नयाना सम्यक्त्वमिथ्यात्वे इति स्थितम् ।

चत्वार एते नैगम-सप्रह-न्वजहार-ऋजुसूत्राया व्याख्यातस्वरूपा हि स्फुटम  
 अर्थनया एव अथप्रधाननया अर्थनया' । कुत ? इत्याह-  
 जीवाद्यर्थव्यपश्रयात् जीवाद्यर्थसमाश्रयणात् । त्रय' शब्द-  
 समभिर्भूतैरम्भूता शब्दनया' शब्दप्रधाना नया शब्दनया' । कुतस्ते तथाविधा ?  
 इत्याह- 'सत्य' इत्यादि । मत्वानि अविद्यमानि अपशब्दस्वरूपरहितानि यानि  
 पदानि कालकारकादिभेदाचीनि तेषां विद्या व्याकरण यत्र तानि व्युत्पाद्यन्ते ता  
 समाश्रिता यत तत ते शब्दप्रधाना ।

कारिकापूर्वार्द्धस्य अनन्तरमेव व्याख्यातत्वात् उत्तरार्द्धे विवृण्वन्नाह- 'काल'  
 इत्यादि । शब्द शब्दनय अर्थभेदकृत् । कुत ? कालकारक-  
 लिङ्गभेदात् । 'यथा' इत्यादिना एतदेव दर्शयति । तत्र कालभेदाद्

अभूत् भवति भविष्यति । कारकभेदात् करोति क्रियते । लिङ्गभेदात् देवदत्तो  
 देवदत्ता इति । पर्यायभेदादभिरुढोऽर्थभेदकृत् इन्द्र शक्र' पुरन्दर इति । क्रिया-

अथः एवम्भूतः । कुत एतत् ? इत्याह—'कुर्वतः' इत्यादि । शचीपते इन्द्रनादिक्रिया कुर्वत एव कारकत्वम्, यदा न करोति तदा कर्तृत्वस्याऽयोगात् इति । परं प्राह— 'कथम्' इत्यादि । कथम् ? न कथञ्चित्, 'पुनः' इत्याक्षेपे, शब्दज्ञानं शब्दस्य कार्यं चार्थज्ञानं तत् प्रिवक्ष्याम्यतिरिक्तमर्थं वहि स्वलक्षणं प्रत्येति विपथीकरोति । सूरि परं पृच्छति—'कथञ्च न' इति । स पृष्ट प्राह—तदप्रतिबन्धात् । तस्मिन् अर्थे अप्रति- 6  
बन्धात् तात्पर्यतदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्धासम्भवात् शब्दज्ञानस्य । तदप्रतिबन्धेऽपि तत् तन्मवे(त्रै)ति इति चेन्नप्राह—'नहि' इत्यादि । हिर्यस्मात् न बुद्धेः अकारणं किन्तु कारण विषयः इत्येतत् प्रतिब्यूढम् । कुत एतत् ? इत्याह—विज्ञानस्य अनागतनिर्णयात् । अनागतस्य अलन्धात्मलाभतया अकारणभूतस्य अर्थस्य निर्णयात् निर्णयसम्भवात् । तथाहि—कृत्तिकोदयदर्शने शकटोदयो भविष्यति बुद्धिरपिसवादिनी, एतम् आदित्यः 10  
श्च उदेता, सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहणं भविष्यति, तन्तः पटो भविष्यन्ति, मृत्पिण्डो घटो भविष्यति, तन्दुलाः भविष्यन्त्योदनः, व्रीहयः तन्दुला भविष्यन्ति इत्याद्य-  
नागतविषयाणामपिसवादिना ज्ञानानामानन्त्यात् । 'ततः' इत्यादिना प्रकृतमर्थसुप-  
सहराह—यत अनागतविषयस्य ज्ञानस्य सिद्धं ततः शब्दज्ञानमपि न केवलं प्रत्यक्षातु-  
मानज्ञानम् विवक्षाव्यतिरिक्तार्थप्राप्तिं सिद्धम् । ननु शब्दस्य अर्थप्रतिबन्धाभावात् 16  
कथं तज्ज्ञानम् अर्थप्राप्तिं ? इत्याह—'प्रतिबन्ध' इत्यादि । प्रतिबन्धमन्तरेणापि  
तादात्म्यतदुत्पत्तिसम्बन्धं विनापि तस्य शब्दस्य यत् प्रतिपादकं स्वाभाव्यं योग्यता-  
लक्षणं स्वरूपं तस्मात् तत् तद्वाहि सिद्धम् । अत्र दृष्टान्तमाह—'विज्ञानम्' इति ।  
शब्दज्ञानस्य दार्ष्टान्तिकत्वात् इह विज्ञानग्रहणेन यत् प्राग् अर्थानन्त्यतया समर्थितं  
प्रत्यक्षं तदेव गृह्यते, तदिव तद्वन्ति । 20

ननु कालादिभेदात् शब्दनयस्य अर्थभेदकत्वं प्रतिपादितम्, कालादीनां तु लक्षणं नोक्तम्, नैवालक्षितरूपाणाम् अर्थभेदप्रतीतिहेतुत्वं युक्तम् अतिप्रसङ्गात् इत्या-  
शङ्क्य तेषां लक्षणं प्ररूपयन्नाह—'वर्तना' इत्यादि । सकल्पदार्थानां वृत्तिहेतुत्वं वर्तना सा लक्षणं यस्य असौ तलक्षणं कालः । क्रियया आनिष्टं युक्तं द्रव्यं कारकम्, 25  
क्रिया कुर्वद्द्रव्यं कारकमित्यर्थः । लिङ्गं त्रिभिधम् स्त्रीपुनपुसकभेदात् । तत्र स्त्यान-  
सामान्यलक्षणं स्त्रीलिङ्गम् । प्रसवसामान्यलक्षणम् अपत्यजननत्वमात्रलक्षणं पुष्टिगम् ।  
तदुभयामासामान्यलक्षणं स्त्यानप्रसवोभयाभारमात्रलक्षणं नपुसकलिङ्गमिति । तदे-

(१) सीगत । (२) शब्दानाम् । (३) अर्थम् । (४) शब्दज्ञानम् । (५) शब्दज्ञानम् ।

1 तत्त्वमेवेति व०, तत्प्रमद्येति थ० । 2 'किन्तु कारणं नास्ति थ० । 3 शकटोदये भवि-  
ष्य०, शकटोदये च भवि-थ० । 4 अर्थं प्रति-थ०, थ० । 5 प्रत्यक्षं नास्ति थ० । 6 न चालक्षण  
संज्ञितरूपा-थ० । 7 अर्थं भद-व० । 8 क्रियाया अविनिष्टं थ० । 9-क्षणं स्त्यानप्रसवोभयाभाव  
साधारणलक्षणं स्त्यानप्रस-आ० ।

तदुत्तलक्षण कालादि कथञ्चिद् वस्तुस्वभावभेदकम् तथाप्रतीते प्रतिपत्तव्यम् ।

ननु 'पर्यायभेदादभिरूढोऽर्थभेदकृत्' इत्युक्तमुक्तम्, पर्यायस्वार्थाऽभेदकत्वात् इत्याशङ्क्याह—'पर्याय' इत्यादि । न केवल कालादय नितु पर्यायोऽपि 'इन्द्र, शत्र, पुरन्दर' इत्यादिरूप अर्थस्य शचीपत्यादे भेदकः कश्चिद् वैलक्षण्यापादक 'तथाप्रतीतेः' इत्यन तरेणाभिसम्बन्धात् । यदपि 'क्रियाश्रय एवम्भूतः' इत्युक्तम्, तत्रापि कुतोऽस्य एकत्रापि पर्याये क्रियाभेदाद् भेदहेतुत्वम् ? इत्याह—'क्रिया' इत्यादि । क्रियाभेदाद् इदनादिभेदात् एकोऽपि शब्दः इन्द्रादिपर्यायरूपः क्रियानिमित्तकव्युत्पत्ति, तदभावात् तन्निमित्तकव्युत्पत्तेरभावात् तदर्थम् इन्द्राद्यर्थं नाचष्टे इति हेतो परमैश्वर्यम् इन्दनक्रिया अनुभवत्वेन इन्द्र नान्यदा अभिपेचनादिकाले । एव शकन काल एव शक पूर्तारणसमय एव पुरन्दर नायदा 'तथाप्रतीतेः' इति गतेन सम्बन्ध । यतो यत्क्रियापरिणत पदार्थं तत्क्रियानिमित्तव्युत्पत्तिकै शब्दै तत्काल एवाभिधीयते नायदा । ततः सिद्धः क्रियाभेदो भेदको भावाना पाचकपाठकादिवत् ।

ननु क्रियामाश्रित्य शब्दा व्याकरणेन व्युत्पाद्यन्ते, तत्र मिथ्या इत्येके, वर्णा एव पदमेव वाक्यमेव वा सत्यमित्येके, तन्मतमपार्कुरुमाह—'नहि' इत्यादि । नहि न सखु वर्णपदवाक्याना व्युत्पादक शास्त्र व्याकरणलक्षण वितथम् परमार्थशब्दप्राप्त्युपायत्वात् । नहि व्याकरणासत्यत्वे अपशब्दव्युदासेन सम्यक्शब्दप्रतीत्युपाय कश्चित् सभवति । ननु घृद्धव्यग्रहारपरम्परात एव शब्दाऽपशब्दविवेको भविष्यति अनस्तैदर्थं व्याकरणसमाश्रयणमयुक्तम्, इत्यप्यविचारितरमणीयम्, व्याकरणानपेक्षाद् घृद्धव्यग्रहारादेव आनयेनाऽरितशब्दाना प्रतिपद तद्विवेकस्य कर्तुमशक्यत्वात् । व्याकरणाश्रयणेन तु सामान्यविशेषता लक्षणेन उपलक्षिताना स्वल्पप्रयत्नेनापि तेषा तद्विवेक कर्तुं सुशक । तथाहि—“कमलयण्” [ पाणिनि० ३।२।१ ] इत्येकेनैव सूत्रेण कुम्भकार-वाण्डलाव-शास्त्राध्यायादयो बहव ण्शब्दा सहस्यन्ते, अत व्याकरणानुगृहीतात लोभव्यवहारात् सुरेनैव शब्दापशब्दभिभागस्य कर्तुं शक्यत्वात् अस्ति व्याकरणस्योपयोग । न चास्याऽप्रमाणत्वात् तद्विभागे नोपयोग इत्यभिधातव्यम्, तदप्रामाण्ये कर्त्रादिकारकप्रपञ्चस्य सम्भवप्रसङ्गात् । न च तत्सम्प्लव अस्ति । अत अयमेव तदसम्प्लव स्वसिद्धये व्याकरण प्रमाणयति, अयत तत्र्यस्यानुपपत्ते । व्याकरणत एव हि प्रवृत्तिप्रत्ययविभागद्वारेण अयोयविभक्तस्य कर्मकर्त्रादिकारकप्रपञ्चस्य प्रतिपत्तिर्युक्ता नायत, तथाप्रतिपत्तिहेतोस्ततोऽयस्याऽभभावात् । ननु वर्णपदवाक्याना निरशत्वात् किं तेनै प्रवृत्त्यादि-

(१) शब्दापशब्दविवेकार्यम् । (२) प्रवृत्त्यम-प० ७६० टि० १ । (३) कर्त्रादिकारकनयत्वम् ।

(४) व्याकरणशास्त्रम् ।

१ शब्दापशब्द आ । २ नायथा थ० । ३ पाचकपाठकादि-आ० पाचकपाठकादि-थ० । ४-पाठकादि-थ० । ५-परम्परात एव थ० । ६ प्रतिपत्ति थ० । ७-विशेषवत्त्व-आ० । ८-शास्त्राध्याया-थ० । ९ तत थ० ।

प्रविभागमाश्रित्य व्युत्पाद्येत ? निरशानामपि तेषां तत्प्रविभाग परिकल्प्य व्युत्पादने  
 तच्छास्त्र वितथमेव स्यात् तैस्त्वरूपाऽसस्पर्शित्वात् इत्यत्राह—'व्यापहारिक' इत्यादि ।  
 व्यवहारे व्यवहारनयभेदप्ररूपके वैयाकरणव्यवहारे वा भवा या प्रकृत्यादिप्रक्रिया  
 तस्या प्रविभागो भेद तेन परमार्थः वास्तवो य शब्दः वर्णपदवाक्यरूपः । वर्णो  
 हि उदात्तादिभेदेन भिन्न व्यवहारे वास्तव प्रसिद्ध, पद तु सुप्तिङन्तभेदेन, वाक्यमपि 5  
 अथोयापेक्षाणा पदानां निरपेक्ष समुदाय इत्यादिभेदेन इति । यथा च नित्यनिर-  
 शादिरूपाणां वर्णपदवाक्यानामनुपपत्ति तथा 'वर्णाः पदानि वाक्यानि प्राहु-  
 रर्थनिवाञ्छितान्' [ लघो० का० ६४ ] इत्यत्र प्रपञ्चत प्ररूपितम् । तस्य प्राप्त्यु-  
 पायत्वात् स्वरूपावगतिहेतुत्वात् । 'नहि तद्व्युत्पादकं शास्त्रं वितथम्' इति सम्बन्ध ।  
 प्रयोग—य परमार्थभूतस्य प्राप्त्युपायो नासौ वितथ यथा ज्ञातुरभिप्रायात्मको नय, 10  
 परमार्थभूतस्य शब्दस्य प्राप्त्युपायश्च वर्णपदवाक्यानां व्युत्पादकं शास्त्रमिति । तत्र  
 'ज्ञातुरभिप्रायात्मकनयवत्' इत्यसु दृष्टान्त 'यथा' इत्यादिना व्याचष्टे—यथा येन  
 प्रारणेन न मिथ्यात्वमनुभवेत्, कोऽसौ ? नयः ज्ञातुरभिप्रायः । किं कुर्वन् ?  
 प्रकाशयन्, 'किं तत् ? एकान्तम् । कथम्भूतम् ? तदशम् अनेकान्तात्मकार्थकदेशम् ।  
 पुनरपि कथम्भूतम् ? व्यावहारिकम् व्यवहारप्रयोजनम् । पुनरपि किंविशिष्टम् ? 16  
 तत्प्राप्त्युपायं तस्य अनेकान्तात्मकार्थस्य प्राप्तिः तस्या उपायः सा वा उपायो यस्य ।  
 कथं तत् प्रकाशयन् ? अपोद्धृत्य पृथक्कृत्य । कस्मात् ? अर्थात् । कथम्भूतात् ?  
 अनेकान्तात्मकात् । किं कल्पनात् तथाविधात्तस्मात् ? इत्यत्राह—पारमार्थिकात् ।  
 परमार्थोऽकल्पित रूपं तेन 'संभवात् । कुतोऽयमित्थम्भूतो न मिथ्यात्वमनुभवेत् ?  
 इत्याह—'निरपेक्षस्य' इत्यादि । प्रत्यनीर्धर्मे निष्पन्ता अपेक्षा यस्यासौ निरपेक्ष, 20  
 तस्यैव नोक्तप्रकारस्य मिथ्यात्वात् । अथ कस्य निरपेक्षत्व कस्य च सापेक्षत्वम् ?  
 इत्याह—अनेकान्तनिराकृतेः निरपेक्षत्व तदनिराकृते सापेक्षत्वम् । एवविधसापे-  
 क्षानपेक्षत्वप्रकारेणैव नयानां सम्यक्त्व-मिथ्यात्वे नान्यथा इति स्थितम् ।

युक्तिस्वच्छजलं मुद्योषणमलं सद्गुण्यीचीचयम्,

गम्भीरं निगिल्यार्थैर्षण्डिकलितं सत्मायुहसायुलम् । 25

प्रज्ञाधीशपट्टिपठपरगध्यानप्रतानान्वितम्,

जीवाद् दुर्गतिर्तापवृद्धिदहननं जेनागमादय सर ॥८॥

'इति प्रभाचन्द्रविरचिते न्यायसुमुदचष्टे लघीयग्रन्थालङ्कारे षष्ठे परिच्छेदे समाप्त ॥३॥

(१) वर्णपदवाक्यानाम् । (२) वर्णपदवाक्यरूपरूपावगाहनाम् । (३) शास्त्रमयम् ।

1-एते ४०, -एत् ४० । 2-एवमार्था-४० । 3-एवमार्था-४० । 4-एवमार्था-४०, 'अन्तर्य'  
 नाम्नि ४० । 5-इति तत् नाम्नि ४० । 6-कथम्भूतं नाम्नि ४० । 7-एवमार्था-४० । 8-वाक्यत्वं त-४० ।  
 9-एवमार्था-४० नाम्नि ४०, ४० । 10-भाषात् ४० । 11-वर्णो नि-४० । 12-रवम् ४०, ४० । 13  
 पारिक्लिप्त-४० । 14-तापवृद्धिदहननं ४०, ४० । 15-इति लघीयग्रन्थालङ्कारार्थ-४० । 16-दृष्टम् ४० ।

# तृतीये प्रवचनप्रवेशे

सप्तम निक्षेपपरिच्छेदः ।



प्रादुर्भूत निग्निलविपयोऽगोतिसवित्मरस्याम्,  
शास्त्राभोज सञ्जलविपयप्रोढेपत्रप्रपञ्चम् ।

लक्ष्मीक्षेत्र प्रमितिनयसत्कर्णिकाकेसराह्यम्,  
निक्षेपोरुप्रघरमकरन्दाप्तये सेव्यता भो ॥७॥

अथेदानीं शास्त्रनिधानाध्ययनपर्यवसितफलप्ररूपणपुरस्सर निक्षेपस्वरूप प्ररूपयन्नाह—

श्रुतादर्थमनेकान्तमधिगम्याभिसन्धिभिः ।

परीक्ष्य तास्तान् तद्धर्माननेकान् व्यावहारिकान् ॥ ७३ ॥

नयानुगतनिक्षेपैरुपायैर्भेदवेदने ।

विरचय्यार्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान् श्रुतार्पितान् ॥७४॥

(१) -वाक्या- पुनरपि कथंभूत ? तपोनिर्जोणिकमा, तपसा यथाभ्यासचारित्र्यलक्षणं व्युत्पन्नक्रियानिवृत्तिगुणलक्षणानि निर्जोर्णानि निमूलितानि कर्माणि ज्ञानावरणादीनि द्रव्यभावरूपाणि यनासी तपाक्त । अनेन चारित्र्यतपस्याराधनादयं सूचितम् । भूय किंभूत ? जीवस्थानगुणस्थान मागणास्थानतत्त्ववित् अनेन ज्ञानाराधना ज्ञापिता । पुन किंविशिष्ट ? विवद्धामिनिवेगन, विशपण वृद्ध क्षायिकस्वरूपेण परिणतमभिनिवेगन सम्यग्दान यस्यासी तयोक्त । अनेन दशनाराधना निरूपिता । एवमाराधनावतुष्टयस्वव मोक्षमागत्वोपपत्त । किं कृत्वा विवद्धामिनिवेगन सजात इत्यागव्याह- अनुयज्य पुष्टवा । कानि ? द्रव्याणि । किंविशिष्टानि ? जीवादीनि । क ? अनुयोगश्च प्रश्नरेव । किं विशिष्ट ? निर्जोर्णानिभन्ना गत । तत्र किमित्यनुयोग वस्तुस्वरूपकथन निर्देश यथा चेतनात्मनो जीव इति । कस्मित्यनुयोग स्वस्य याधिपत्यनयन स्वामित्वम् । केनति प्रश्ने स्वेनेति करणनिरूपण साधनम् । कस्मिन्नित्यनुयोग स्वस्मिन्तियाधारप्रतिपादनमधिककरणम् । कियच्चिरमिति प्रश्न अनन्त कालमिति वाक्प्ररूपण स्थिति । कतिविध इत्यनुयोगे चत यस्यामायात्केविध इति प्रकारकथन विधा नम । पूव कृत्वा विरचय्य यस्य । कान् ? अथवाक्प्रत्ययात्मभेदान अथश्च वाक् च प्रत्ययश्च त आत्मान स्वभावा यपा ते च त भेदाश्च व्यवहारास्तान् । तत्र अर्थात्मानो भदो द्रव्यभावो तयोर् अथर्मत्वान् । वागात्मको नामव्यवहार । प्रत्ययात्मकश्च स्थापनाव्यवहार तस्य सत्त्वरूपत्वान् । किंविशिष्टास्तान् ? श्रुतार्पितान् श्रुतेन अनवान्तन विवन्पितान् । क ? नयानुगतनिक्षेप नयान् द्रव्यपर्यायविपयाननुगतान् अनुवृत्ता निक्षेपा यासास्त । विरूप ? उपायै कारण । क्व ? भदवेदन मुख्यामुख्यविपयनिणये कारणभरित्वयथ । आत्मी किं कृत्वा ? परीक्ष्य विचाय । क परीक्ष्य ? अभिस चभि ज्ञानुरभिप्राय नयत्त्वयथ । पूव किं कृत्वा ? अधिगम्य ज्ञात्वा । कर्मयम ? जीवादिप्रमेयम् । किंविशिष्टम् ? अनवान्तात्मकम् । कस्मात् ? श्रुतात् स्याद्वागत् । -लघो० ता० प० ९५-९७ ।

1-प्रोद्भवेप्र-व । -तां नो व०, -ता भो थ० । 3-मभिग-व० । 4-वेदनो आ०, व० । 5-विचारार्थवाक्-थ० । 6-मदाच्छ्रुता-व० ।

अनुयुज्यानुयोगैश्च निर्देशादिभिर्निदां गतैः ।

द्रव्याणि जीवादीन्यात्मा विवृद्धाभिर्निवेशनः ॥७५॥

जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानतत्त्ववित् ।

तपोनिर्जीर्णकर्माऽयं विमुक्तः सुखमृच्छति ॥७६॥ इति ।

मिथुतिः—श्रुतमनादि सन्तानापेक्षया, साधन प्रति सादि । प्रमाणम्—  
त्रिसालगोचरसर्वजीवादिपदार्थनिरूपणम्, तदर्थोऽपरीक्षाप्रणोऽभिसन्धिर्नयः ।  
ताभ्यामधिगमः परमार्थव्यापहारिकार्थानाम् । तदधिगताना वाच्यतामापन्नाना  
वाचकेषु भेदोपन्यास, न्यास\* । सोऽनरत, चर्तुर्धौ नामन्यापनाद्रव्यभाजतः ।  
तत्र निमित्तान्तरानपेक्ष सञ्चारुर्म नामै । तच्च जातिद्रव्यगुणक्रियालक्षणनिमि-  
त्तानप-सञ्चारुर्मणोऽनेकज्ञात् अनेकधा । आहितनामकस्य द्रव्यस्य सदसद्भा- 10  
वान्मना व्यवस्थापना स्थापना । अनागतपरिणामनिगोप प्रति गृहीताभिमुख्य

(१) उद्धृता इमे—“तथा चाहुमष्टाकलङ्कदेवा—“श्रुतादथ विवृद्धाभिर्निवेशन ’अनागारय०  
प० १६९। (२) तुगना—“द्रव्यादिसामान्याणान् श्रुतमनादिनिघनमिष्यन् । न हि केनचित्पुरुषेण वचि  
त्वाचित्त्वयश्चिदु-प्रमितमिति । तपामेव विनापापेभ्य आदिरत्नरत्न समवतीति मनिपुत्रमित्युच्यते  
यथाऽहुरा वीजपूर्वक स च सन्तानापेक्षया अनादिनिघन इति । ’-सर्वाधिम० १।२०। (३) तुगना—  
“विमन्त्रेण लक्षणतो विद्याननरचाधिगमार्थो ’यामा निगोप । ’-सत्त्वाधिम० १।५ । “निच्छाण निगोप  
निवृत्तिं निवृत्तेषु । सात्रि छद्मिहा नामटटवणादव्येत्तभावमगलमिति । ’-धवलाटी० पृ० १० ।  
‘य इह गुणानेव स्वातुपचरित केव स निगोप । ’-पञ्चाध्या० इतो० ७४१ । “प्रकरणदियाना  
प्रतिपत्त्यादिव्यवच्छेदक्यथास्थानविनियोगाय गन्तव्यरचनाविनोपा निगोपा । ’-जनतत्त्वभा० प० २५ ।  
(४) तुगना—‘ जस्य य ज जाणज्जा निरन्वर्ग निरन्वर्ग निरन्वर्ग निरन्वर्ग । जस्यवि अ न जाणज्जा अउवर्ग  
निरन्वर्ग तस्य ॥ आवसस्य अउवर्ग पणत्ते । त जहा—नामावसस्य उवणावसस्य उवणावसस्य भावाव  
सस्य । ’-अनु० सू० ८ । ‘ नामन्यापनाद्रव्यभाजतन् नाम । -सत्त्वाधिम० १।४ । ‘ निशापो नन्  
कन्पत्वनुरवरविध प्रस्तुतव्यात्रिधाप । तत्त्वाधिमानहनु मयद्रमविषय संशयल्लदवारी ॥ -सिद्धिदि०  
परि० १२ । मूलाधारे षड्वाक्यव्यापिहार (पा० १७) नामाधिकस्य निगोप नामन्यापनाद्रव्यभाज  
नामाव पडविध उक्त । आध्यात्मिकनिपुत्रो (पा० १२९) नामन्यापनाद्रव्यभाजकालवचनभाववि  
कन्यान् सन्निधा निगोप प्रन्वित्र । (५) “नाम स्या कर्म इत्यनर्थात्तन्नाम्-’-सत्त्वाधिम०  
भा० १।१ । ‘अनर्थात्ते वस्तुनि मय्यवहारोप पुनगावारागिदुग्जमान संशयम नाम । ’-सर्वाधिम०  
१।५ । रातवा० पृ० २० । सत्त्वाधिम० पृ० १८ । पञ्चाध्या० इतो० ७४१ । “यस्य कस्यचित्तिच्छि  
विनेपस्य निमित्तान्तरानेपं मयाकम नाम । -सिद्धिदि०, टी० पृ० ५७४ A । ‘पञ्चाध्यापनिधयं  
दिप्रमन्त्रेण तदप्यनिरन्वर्ग । ज्ञानविद्यया च नामे जावन्त य वाग्य ॥ -विष्णो० पा० २५ । जनत  
भा० पृ० २५ । ‘असाभिन्नापकया मया केवचमनवने वा वि । उवन्, अनिरन्विकया केवत् मया उ  
नामिने ॥ -उद्धृत्त्वभा० पा० १२ । “तस्य नामसंगं नामनिमित्तवर्गिणश्च मया संशय-’ । तस्य  
निमित्तं अउवर्ग जाद इत्ये नून विद्या यति । ’-धवलाटी० पृ० १७ । (६) ‘ न कन्प तुल्यविच

१-भिराल्ल भा०, म० मयी० । २-वेगल २० वि०, भा० २० । ३-परीभाष-२० वि० ।

द्रव्यम् । तच्च आगम नोआगमनिकल्पाद् द्वेषा । तथोपयोगलक्षणो भावनिक्षेपः ।  
 अप्रस्तुतार्थापारुणात् प्रस्तुतार्थं याकरणाच्च निक्षेपः फलवान् । तेन च निक्षेपा  
 पदार्था. निर्देशान्तिभि. संदादिभिश्चानुयोगैः अनुयुज्यन्ते । अनुयुक्ताः प्रयुक्ताः

वर्मान्निष्पत्तिषु स्याप्यन जीव इति स्यापना जीव देवताप्रतिवृत्तिवद इदो रुद्र स्वदो विष्णुरिति  
 -तत्त्वार्थाधि० भा० ११५ । 'वाष्टपुस्तचित्रकर्मनिष्पत्तिषु सोऽप्यमिति स्याप्यमाना स्यापना ।'-  
 सर्वाधिसि०, राजवा० ११५ । पञ्चाध्या० श्लो० ७४३ । 'ज पुण तयत्प्रमुद्र तयमिष्पाण तारिसा  
 गार । कीरद व निरागार इतरमियर व सा ठवणा । -विशेषा० गा० २६ । सभावमसत्भाव  
 ठवणा पुण इत्केउमाइया । इतरमगिरारा वा ठवणा नाम तु आवकह ॥'-बहृत्कल्पभा० गा० १३ ।  
 'सत्भावस्यापनया नियम असत्भावेन वाऽनूपेति स्पृण द्रवत ।'-नयचत्रच० पू० ३८१ A । सिद्धिवि०  
 टी० प० ४७४ B । जनतकभा० पू० २५ । अहिदणामस्स अणस्स सोयमिन्टवण ठवणा णाम । सा  
 दुविहा सत्मानासत्भावठाठवणा चेदि । -धवलाटी० पू० १९ । वरतुन वृत्तसज्ञस्य प्रतिष्ठा स्यापना  
 मया । सत्भावेनरभनेन षिधा तत्त्वाविरोधत । -तत्त्वायश्लो० पू० २११ ।

(१) द्रव्यजीव इति गुणपर्यायवियुक्त प्रनास्यापितो नान्तिपारिणामिकभावयुक्तो जीव  
 उच्यते । -तत्त्वार्थाधि० भा० ११५ । गुण द्रोप्यत गुणान द्रोप्यतीति वा द्रव्यम् । -सर्वाधिसि०  
 ११५ । 'अनागतपरिणामविशय प्रति गृहीताभिमुख्य द्रव्यम् । अतदभव वा ।'-राजवा० पू०  
 २० । सिद्धिवि० पू० ४७४ । धवलाटी० पू० २० । तत्त्वायश्लो० पू० १११ । पञ्चाध्या० श्लो०  
 ७४४ । इवे पुण तन्टडी जस्सानीता मविस्सते वा वि । जो वा वि अणुवज्जुतो इदस्स गुण परिक  
 हेई ॥ -बहृत्कल्पभा० गा० १४ । 'दण् टुयए दोरवयवा विगारो गुणान मदावो । दव्व भव्व  
 भावस्स भूअभाव च ज जोग ॥ -विशेषा० गा० २८ । जनतकभा० पू० २५ । 'भूतम्य भाविनो वा  
 भावस्य हि कारण तु यल्लोके । तद्रय तत्त्वण सचेतनाचेतन वधितम् ॥'-आव० त्रि० मलय० पू०  
 ६ B । (२) 'वतमानतयार्यायोगरुपित द्रय भाव । -सर्वाधिसि० ११५ । राजवा० पू० २१ ।  
 सिद्धिवि० पू० ४७४ । धवलाटी० पू० २९ । तत्त्वार्थश्लो० पू० ११३ । पञ्चाध्या० श्लो० ७४५ ।  
 'जो पुण जहृत्त्यज्जुना मुद्रनयाण तु एम भाविने । इस्स वि अहिगार वियाणमाणो तदुवउत्तो ।  
 -बहृत्कल्पभा० गा० १५ । भावो विवन्तिनियानुभूतियुत्तो हि व समाह्वात । सवत्तरिद्रादिवदि  
 हेत्तान्तित्रियानुमवात ॥ -आवनि० मलय० पू० ९ A । (३) तुलना- स विमय ? अप्रवृत्ति  
 राकरणाय प्रवृत्तिरूपणाय च । -सर्वाधिसि० ११५ । तत्त्वायश्लो० पू० ९८ । 'अथ किमति निष्प  
 त्रियत इति चेत् ? उच्यते-त्रिविधा शोणार अयुत्पन्न अवगततापविमत्तपणाय एकदेशतोऽवगन  
 विविसात्राण्य इति । तत्र प्रथमोऽव्युत्पन्नत्वाप्राध्यस्यतीति विवन्तिपदस्याधम । द्वितीय सशते  
 कोऽर्थोऽय पन्स्याधिष्ठत इति प्रवृत्तान्तिनियममयमाणाय विषयस्यति वा । द्वितीयवत्ततीयोऽपि सशते  
 त्रियस्यति वा । तत्र यद्यव्युत्पन्न पर्यायाधिको भवेत्त्रियपः अव्युत्पन्नव्युत्पन्नमुखन अप्रवृत्तिरिराक  
 रणाय । अथ द्रव्यार्थिक तद्दारेण प्रवृत्तप्रपणायासोपनि त्पा उच्यन्त, व्यतिरेकधमनिगयमन्तरेण  
 विधिनिष्पानाणत्त । द्वितीयतरीधयो सशयविनागायासपनि षक्यनम् । तयोरेव विषयस्यतो  
 प्रवृत्तपरिधारणाय निष्प त्रियत । उक्त हि-अवगपणिवारण्टठ पयदस्स परव्वणाणिमित्त च ।  
 ससर्वाविशागणत्त तत्त्वत्वधधारण्टठ च । -धवलाटी० पू० ३० । उद्धतमिद वीचयम-जनतकभा०  
 पू० २५ । (४) निहय पुगित कारण कहि केमु काल कइविहं । -अनु० सू० १५१ । निष्पत्तवा  
 मित्वागपनाधिकरणस्थितिनिष्पानत । -तत्त्वायश्लो० ११७ । त्रिण कस्य कत्थवि केवधिर क्तिविधी  
 य भावो य । इहि अधिआणदारे -मूलाका० ८११५ । (५) सनपरव्वणा दव्वपमाणाणुगमो  
 ससाणुगमो कोमणाणुगमो काणुगमो अंतराणुगमो भावाणुगमो अप्पावह्वणाणुगमो चेदि । -छल्लंशा०

सर्वे पदार्थाः, तथापि जीवपदार्थत्रिपयत्रिजेपप्ररूपकाणि जीवस्थानगुणस्थान-  
मार्गणास्थानानि । एष प्रमाणनयनित्येपानुयोगैः सर्वान् पदार्थानविगम्य पुरुष-  
तत्त्व जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानैः दृढतरमत्रुद्धय प्रवृद्धाभिनिवेशात्मक-  
सम्यग्दर्शनः तपसा निर्जीर्णकर्मा सर्वकर्मप्रिनिर्मुक्तः धाधारहितमव्यवच्छिन्नमनन्त-  
मतीन्द्रिय सुसमृच्छति आत्मा । नहि गुणप्रिनाशात् जडः गुणगुणप्रिनाशात्  
शून्यः, भोग्यविरहात्तदभोक्ता, तथाधिगमाभावात् तद्वाधासमवाच । शरीरादिक  
धर्मि ज्ञानापरणादिस्वरूप न भवति साध्यताऽस्य तत्सत्यपि ज्ञानोदयसमवात् ।

अर्थ शास्त्रस्य कर्ताऽध्येता वा आत्मा सुखमृच्छति सुखमयो भवति । कि-  
विशिष्ट सन् ? इत्याह—'विमुक्तः' इति । विज्ञेपेण मुक्त सकल-  
कर्मनिवर्जित । प्रिमुक्तोऽपि कथम्भूत सन्नसौ स्यात् इत्याह— 10  
तपोनिर्जीर्णकर्मा इति । तपसा यथाख्यातचारित्र्यलक्षणेन निर्जीर्णानि निर्मूलो-  
मीलितानि कर्माणि येनासौ तथोक्त । पुनरपि कथम्भूत सन्नसौ विमुक्त स्यात्  
इत्याह—'जीवस्थान' इत्यादि । प्रत्येक चतुर्दशभि जीवस्थानैः गुणस्थानैः  
मार्गणास्थानैश्च तत्त्ववित् जीवादिस्वरूपवित् । पुनरपि किंविशिष्ट सन्नसौ  
विमुक्त म्यात् ? इत्याह—'विवृद्ध' इत्यादि । विशेषेण वृद्ध क्षाधिकरूपतया परम- 15  
प्रकृतं प्राप्तम् अभिनिवेशानं सम्यग्दर्शन यस्य स तथोक्त । 'विवृद्धाभिनिवे-

सू० ७ । "म कि त अणुमे ? नवविह पण्णत्ते । त जहा—सतपय पट्ठवणा, द'वपमाण च, खित्त,  
पयमा य, कालो य, अतर, भाग, भाव, अप्पावहु चेव ।"—अनु० सू० ८० । "सत्सत्याक्षेनस्पशनका  
कान्तरनावान्यवहुत्वश्च ।"—तत्त्वार्थसू० ११८ ।

(१) "सुद्धमा वादरकाया ते खलु पज्जत्तया अपज्जत्ता । एइदिया दु जीवा जिणोहि कहिया  
चतुविणया ॥ पज्जत्तापज्जत्ता विव होनि विगालदिया दु छम्भेया । पज्जत्तापज्जत्ता सण्णि असण्णी य  
मसा दु ।"—मूला० पर्या० गा० १५२-५३ । गो० जी० गा० ७२ । कमप्र० ४१२ । (२) मिच्छान्तिट्ठी  
सामान्णो य मिसमा असजदा चेव । देसविरदो पमत्तो अपमत्तो तह य णायब्बो ॥ एत्तो अपुब्बवरणो  
अणियट्ठी सुद्धमसपराओ य । उवसतलीणमोहो सजोगवेवलजिणो जजोगी य ॥"—मूला० पर्या०  
गा० १५४-५५ । छत्तल्लडा० सू० ९-२३ । गो० जी० गा० ९-१० । कमप्र० २१२ । (३) "गइ  
एणिए जोग वेदे कसाए णाणे सजमे दसण लेस्सा भविय सम्मत्त सण्णि आहारए चेदि ।"—  
छत्तल्लडा० सू० ४ । "गइ इदिये च वाये जोगे वेत्ते कसाय णाणे य । सजम दसण लेस्सा भविया  
सम्मत्त सण्णि आहारे ॥"—मूलाचारपर्या० गा० १५६ । गो० जी० गा० १४१ । कमप्र० ४१९ ।  
(४) "अ वावाहमणियमणोवम पुण्णपावणिम्भुक्क । पुणराममणविरहिय णिच्च अचल अणालम्ब ॥"  
-नियम० गा० १७७ । "गिवमजरमरुजमक्षयमन्यावाध विगोकभयशक्वम् । काप्यागतमुवविद्याविभव  
विम भन्ननि दशनपूना ॥"—रत्नक० श्लो० ४० । सर्वार्थसि० प० १ । तत्त्वानु० श्लो० २४२ ।  
(५) पुत्रा- आत्मलार्भ विदुर्मोष जीवस्थान्तमल्पयान । नाभाव नाप्यचनय न चत्ययमनयकम् ॥"  
-निदिदि०, टी० पृ० ३८४ । मग० उ० पृ० २८० । "स्वरूपावस्थिति पुत्रमदा प्रवीणवमण ।  
नामावा नाप्यचनय न चत यमनयकम् ॥"—तत्त्वानु० श्लो० २३४ ।

१-जाव गुणगुणि-ज०धि० । २-अस्य शा-व० । ३-मुक्तोऽपि थ० । ४-निर्जीर्णानिर्मूलो-आ० ।  
५-कवशात् थ० ।



ज्ञान' इति क्वचित् पाठः । तत्रायमर्थ-विद्युद्भाऽभिनिवेशतोऽयमात्मा जीवादितश्चवित् तपोनिर्जाणंरुर्मा च भवति सम्यग्दर्शनपूर्वकत्वात् सम्यग्ज्ञानचारित्र्योरिति । अनेन च प्रथमं विमुक्ते सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यात्मिका सामग्री प्ररूपिता भवति, तन्व्यतमस्याप्यपाये तस्या अनुपपन्नमानत्वात् । तन्नुपपद्यमानत्पद्म अत्रैव अनन्तर प्रतिपादयिष्यते । किं वृत्त्याऽसौ विद्युद्भाभिनिवेशन तत्प्रतिष्ठा इत्याह- 'अनुयुज्य' इत्यादि । अनुयोगश्च प्रदने प्रतिपचने च प्रवृत्ते, तथा वा 'वृत्तानुयोगोऽपि भवान् किञ्चिद् प्रतीति तूष्णीमात्राय स्थित' इत्यत्र अनुयोगश्च प्रदने प्रसिद्धः । 'तत्तानुयोगोऽपि भवान् पुन पुन प्रच्छति' इत्यत्र तु प्रप्रतिपचने इति । तेनायमर्थ स्थितो भवति-अनुयुज्य जीवद्रव्यादे स्वरूपादि तज्जिज्ञासया प्रेक्षा । के ? अनुयोगैश्च । अनुयोगैरेव, चकार एवकारार्थे । विविशिष्टे ? इत्याह- 'निर्देश' इत्यादि । निर्देश आदिर्येषा स्वामित्वादिसदादीना तद्विदा गतैर्निर्देशादिभेदरूपे इत्यर्थः ।

निर्देशादौ च प्रदने प्रति द्वयी गति-नामनि निर्हाते लक्षणनिर्णयार्थं प्रदने भवति लक्षणे वा निर्हाते नामनिर्णयार्थं इति । तत्र पूर्वस्मिन् पक्षे 'किं लक्षण जीवादि-द्रव्यम्' इति प्रदने, 'उपयोगादिलक्षणम्' इति प्रतिपचनम् । अपरस्मिन् पक्षे 'उपयोगादिलक्षणं किन्नामा पदार्थ' इति प्रदने, 'जीवादिनामा' इत्युत्तरम् । के पुन निर्देशादय इति चेत् ? उच्यते- 'किम्' इत्यनुयोगे वस्तुस्वरूपकथनं निर्देशः । 'कस्य' इत्यधिपतित्वरथापनं स्वामित्वम् । 'केन' इति करणप्रकाशनं साधनम् । 'कस्मिन्' इत्याधाराभिधानम् अधिकरणम् । 'कियन्चिरम्' इति कालवृत्तावस्थाव्यवस्थापनं स्थितिः । 'कतिप्रिधम्' इतिप्रकारकथनं प्रिधानम् । अत्र किम्, कस्य, केन, कस्मिन्, कियन्चिरम्, कतिप्रिधम् इति प्रश्नरूपं अनुयोगः । 'वस्तुस्वरूपकथनम्, अधिपतित्वरथापनम्' इत्यादिकस्तु प्रतिपचनरूपं इति ।

अधिगता निर्देशादय । सदादयो निरुद्धतामिति चेदुच्यते-सकलपदार्थाधि-गतिमूलं द्रव्यपर्यायगुणसामान्यविशेषप्रिपय 'सत्' इत्यभिधानं सत् । सकलदेश-

(१) विमलतः । (२) 'प्रदनेऽनुयोगं पक्षश्च -इत्यमरः । (३) निर्देशं स्वरूपाभिधानम् स्वामित्वमाधिपत्यम् साधनमुत्पत्तिनिमित्तम् अधिकरणमधिष्ठानम् स्थितिं कालपरिच्छेदं विधानं प्रकारः । १-सर्वायसि० ११७ । (४) उत्तररूपं अनुयोग इति । (५) 'सदित्यस्तिस्वनिर्देशः । सध्या भगवत्पत्न्या । क्षणं निवासी वतमानकालविषयः । तत्रैव स्पष्टानं त्रिकालगोचरम् । वागे द्विविधं मन्था व्यावहारिकश्च । अन्तरं विरहकालः । भावो औपगमिकात्लक्षणः । अल्पबहुत्वम् यो-याप्यदा विगपप्रतिपत्तिः । -सर्वायसि० ११८ ।

१ च वृत्तते व० । २ पुन' तास्ति आ० । ३-इत्यादि स्व-आ० । ४ पक्षः श्र० । ५ निर्जाते श्र० । ६-लक्षणं कि-व० । ७ प्रदने जीवादीनामित्यु-व० । ८-स्वरूपाव्याप-व० । ९ विनिति व० । १०-व्यवताम श्र० ।

त्वात् सैग्रहनिमित्तम्, व्यग्रहारनिमित्तं वा विकलादेशत्वात् । भेदगणनं सख्या ।  
वर्तमाननिवाससामान्य क्षेत्रम् । तदेव त्रिकालगोचरस्पर्शनम् । कालो वर्तमानादि-  
लक्षण । कस्यचित् सन्तानेन वर्तमानस्य कुतश्चिदन्तरो विरहकाल अन्तरम् । औपश-  
मिकादि भाव । सरयाताद्यन्यतमनिश्चयेऽपि परस्परविशेषप्रतिपत्तिनिमित्तमल्प-  
बहुत्वम् इति । एवमुक्तप्रकारनिर्देशादिरूपैरनुयोगै किं कृत्वा जीवादिद्रव्याण्यनुयुङ्- 5  
क्तेऽयमात्मा ? इत्याह—‘विरचय्य’ इति । विशेषेण रचयित्वा त्रिधाय, कान् ? इत्याह—  
‘अर्थ’ इत्यादि । अर्थश्च वाक् च प्रत्ययश्च तदात्मकभेदान् । अर्थात्मको हि  
भेद—द्रव्यभावरूप, प्रागात्मक नामरूप, प्रत्यात्मकश्च स्थापनारूप इति । किं-  
विशिष्टास्तान् ? इत्याह—‘श्रुतार्पितान्’ इति । श्रुतेन अर्पितान् विवक्षितान् ।  
वै कृत्वा तान् विरचय्य ? इत्याह—‘नय’ इत्यादि । नयेषु वस्त्वशप्ररूपकेषु प्रवृत्तेषु 10  
सत्सु अनुपश्चाद्गताः प्रवृत्ता ये निक्षेपाः ते । किंविशिष्टे ? उपायैः कारण-  
भूते । क ? भेदवेदने । नामस्थापनात्स्वभावभिन्नजीवादिद्रव्यवेदने । कुत पुनरेषा  
नर्थानुगतत्वसिद्धिमिति चेत् ? नयनिरूपिते वस्त्वशे प्रवृत्ते । एतदेव दर्शयताह—  
‘परीक्ष्य’ इत्यादि । परीक्ष्य विचार्य तांस्तान् द्रव्यपर्यायातीन्, तद्वर्मान् 15  
अनेकान्तात्मकाऽर्थांशान् । कथम्भूतान् ? अनेकान् । पुनरपि किंविशिष्टान् ? व्याव-  
हारिकान् व्यग्रहारप्रयोजनप्रसाधकान् । कै परीक्ष्य ? इत्याह—‘अभिसन्धिभिः’  
इति । अभिसन्धिभिः ज्ञानुरभिप्राये । किं कृत्वा ? अधिगम्य । कम् ?  
अर्थम् । किंविशिष्टम् ? अनेकान्तम् । कम्मादधिगम्य ? इत्याह—‘श्रुतात्’ इति ।  
कारिकाचतुष्टयस्योद्देशविवृत्तयनाह—‘श्रुतम्’ इत्यादि । श्रुतम् आप्तवचनम्  
तरकव्यभूतम् ? अनादि । कया ? सन्तानापेक्षया द्रव्यापेक्षया 20  
विवृत्तियारम्भानम्—  
कथं पुनर्द्रव्यसन्तानशब्दाच्चयमिति चेत् ? ‘समीचीनत्रिकालप्रवृ-  
त्तानिखिलपर्यायानुयायी तान् विस्तारो यस्य’ इति व्युत्पत्तेः । कथं तर्हि तर्त् सौंत् ?  
इत्याह—‘साधनम्’ इत्यादि । साध्यते निर्दिश्यते इति साधनो वर्णपदादिपर्याय,  
साध्यते प्रतिपाद्यतेऽनेन इति वा, तं प्रति सादि ‘श्रुतम्’ इति सम्बन्धः । अनेन सर्वथा  
नित्यमनित्यं वा तर्त् इति प्रत्याख्यातम् । प्रपञ्चितञ्चैतत् प्रागेव इत्यलं पुनः प्रसङ्गेन ।  
तदेवविधिश्रुतप्रमाणम्, कुत इत्याह—‘त्रिकाल’ इत्यादि । त्रिकालगोचराश्च ते  
सर्वपर्यायार्थं जीवादिपदार्थाश्च तेषां निरूपणम् यथावस्थितम्ब्रह्मरूपोद्योतनं तत्र प्रवृत्त-  
दक्षम् । यत एवविधततस्तत्प्रमाणम् । प्रयोग—यत् त्रिकालगोचरसर्वपर्यायजीवा-

(१) श्रुतम् । (२) श्रुतम् । (३) श्रुतप्रमाणत्रिकालगोचरसर्वपर्यायजीवादिपदार्थनिरूपणप्रवृत्तत्वात् ।

१ सप्रहृद्यवहा—श्र० । २ सन्तानो न य० । ३—इत्ययमि श्र० । ४ वाक्प्र—श्र० । ५ नयानुगत  
श्र० । ६ द्रव्यापेक्षया नास्ति श्र० । ७—प्रवृत्ति—आ० । ८ स्यादित्याह व० । ९ जानत्य नित्यं  
या व०, श्र० । १०—इव ते जीवा—व० श्र० । ११—पर्यायवर्जजीवा—व० ।

द्विपदार्थनिरूपणप्रणय तत् प्रमाणम् यथा सवत्रित्प्रत्यक्षम्, तथाभूतञ्चोक्तप्रकारं श्रुतमिति ।  
नय नीदश ? इत्याह—'तदर्थाश' इत्यादि । नयो भवति । कौऽसौ ? अभिम-  
न्धि ज्ञात्रभिप्राय । किंचिशिष्ट ? तदर्थाशपरीक्षाप्रवण', तस्य श्रुतस्य अर्थो  
त्रिपय उक्तप्रकारो जीवति तस्य अशो धर्म इत्यत्यादि तस्य परीक्षाया प्रवणो  
दक्ष । ताभ्यां श्रुतनयाभ्याम् अविगम निश्चय । केपाम् ? इत्याह—परमार्थव्या-  
वहारिभार्यानाम् द्रव्यपर्यायाणाम् इत्यर्थ ।

अयेदानीं 'तदधिगत' इत्यादिना नयानुगतत्वं निक्षेपस्य प्रदर्श्य तत्स्वरूप  
व्याचष्टे—तदधिगतानां श्रुतनयाधिगतानां द्रव्यपर्यायरूपाणां जीवानीनां वाच्यतामा-  
पन्नानां साधारणम्बरूपाणाम्, न हि असाधारणम्बरूपा अर्थपर्याया वाच्यतामापन्ते ।  
वाचकेषु जीवन्तिज्ञादेषु भेदेन सद्भिरव्यतिकरव्यतिरेकेण उपन्यास जीवन्तीनां  
प्ररूपण न्यास, निक्षेप इति यावन् । स कति प्रकारो भवति ? इत्याह—'म,' इत्यादि । सः  
प्ररूपितस्वरूपो न्यास अवरत सङ्घेपत चतुर्धा । कथम् ? इत्याह—'नाम' इत्यादि ।  
नाम-स्थापना-द्रव्य भासैः प्रकारैः निक्षेप चतुर्धा भिद्यते । 'तत्र' इत्यादिना तान् व्या-  
चष्टे—तत्र तेषु निक्षेपप्रकारेषु नामान्येषु मध्ये किन्नाम ? इत्याह—'निमित्त' इत्यादि । किं  
पुन नाम्नो निमित्तं किं वा निमित्तात्तरमिति चेत् ? 'वर्तुरभिप्रायोऽस्य निमित्तम्,  
जात्यादिन तु निमित्तात्तरम्' इति ब्रूम । तदनेपेक्ष यत् मज्जाकर्म सजाकरणम् इच्छा-  
यशात् तन्नाम । तस्य इयत्ताव्यवच्छेदार्थमाह—'तच्च' इत्यादि । तच्च उक्तस्वरूप नाम  
अनेकधा अनेकप्रकार भवति । तर्थाहि—किञ्चिद् एकजीवनाम यथा इदित्य इति ।

(१) सर्वथा युगपत्प्राप्ति सङ्कर परस्परविषयगमन व्यतिरेक ताभ्यां पतिरेकेण प्रति  
त्रियतस्वस्वरूपस्थितत्वेनेति भावः । (२) तुलना—निमित्तात्तर पुनर्जातिद्वयगुणत्रिया । —  
सिद्धिबि० टी० ९० ४७४A । नाम्नो वर्तुरभिप्रायो निमित्तं कथितं समम् । तस्मान् यत् तु जात्यादि  
निमित्तान्तरमिष्यते ॥ —तत्त्वापःश्लो० ४० ९९ । (३) जस्य जीवस्य वा अजीवस्य वा जीवाण  
वा अजीवाण वा तदुभयस्य वा तन्प्रमाणं वा —अनु०सू०९ । व्यस्तसमस्तवानेकजीवाजीवविषयतोप  
पत्त —तथा [ व्यस्त ] जीवविषयतोपपत्त अय मासपिण्डो देवदत्तोऽय देवत्स इत्यादिवत् । समस्तजीव  
विषयतोपपत्त एते सर्वे पणान्य इत्यादिवत् । एकजीवविषयतोपपत्त नामय पुरुषेव इत्यादिवत् ।  
अनकजीवविषयतोपपत्त अय इत्य अय इविय अय जिनदत्त इति चत्वारो जीवभेदा । तथा  
व्यस्नाजीवविषयतोपपत्ते स तु त्य वय च इत्यादि । समस्ताजीवविषयतोपपत्ते भूवादयो घूरित्यादि  
वन् । एकाजीवविषयतोपपत्त आवासां काल धम अयम इत्यादिवत् । अनेकाजीवविषयतोपपत्ते ती  
सन्ति । —सिद्धिबि० टी० ५० ४७४A । तस्य मगलस्य आधारी अटद्विहो । त जहा, जीवो वा,  
जीवा वा अजावो वा अजीवा वा जीवो य अजीवो य जीवा य अजीवो य जीवो य अजीवा य,  
जीवा य अजीवा व । —धवलाटो० ५० ९९ । किञ्चिद्वि प्रतीवमेकजीवनाम यथा इत्य इति ।  
किञ्चिन्नेकजीवनाम यथा युय इति । किञ्चिदेकजीवनाम यथा घट इति । किञ्चिन्नेकजीवनाम  
यथा प्रासात् इति । किञ्चिन्नेकजीवनाम यथा प्रतीहार इति । किञ्चिन्नेकजीवनेकजीवनाम

१ 'श्रुतनयाधिगतानां' नास्ति श्र० । २-यत् स कति यावत् स कतिप्रका-आ० । ३ 'नामादिवु'  
नास्ति आ० । ४ तदनेपेक्ष पत्त व० ।

किञ्चिदनेकजीवनाम यथा यूथ इति । किञ्चिदेकाऽजीवनाम यथा घट इति । किञ्चिदनेकाजीवनाम यथा प्रासात् इति । किञ्चिदेकजीव-एकजीवनाम यथा प्रतीहार इति । किञ्चिदेकजीव-अनेकजीवनाम यथा कौहार इति । किञ्चिद् अनेकजीवाऽजीवनाम यथा नगरमिति । इत्याद्यनेकप्रकार तत् प्रतिपत्तव्यम् । कस्मात् तदनियतप्रकारम् ? इत्याह—जातिद्रव्यगुणक्रियालक्षणनिमित्तानपेक्षसज्ञारुमणोऽनेकत्वात् अनियतत्वात्, जात्यादिनियतनिमित्तापेक्षानामेव शब्दानां नियतत्वोपपत्तेः । जातिद्वारेण हि ये शब्दा द्रव्यादिषु प्रवर्तन्ते ते जातिशब्दा यथा गौ अश्व इत्यादयः । द्रव्यद्वारेण तु ये वर्तन्ते ते द्रव्यशब्दा । ते च द्विविधा—सयोगिद्रव्यशब्दा, समवायिद्रव्यशब्दाश्च । तत्र सयोगिद्रव्यशब्दा कुण्डली इत्यादयः, समवायिद्रव्यशब्दा विपाणी इत्यादयः । गुण-कर्मद्वारेण तु ये द्रव्ये वर्तन्ते ते गुणशब्दा कर्मशब्दाश्च प्रतिपत्तव्या, यथा 'शुद्धो नील' इत्यादयः, 'गच्छत्यागच्छति' इत्यादयश्च ।

अथ का स्थापना ? इत्याह—'आहित' इत्यादि । स्थाप्यते इति स्थापना प्रतिकृति, सा च आहितनामकस्य अध्यारोपितनामकस्य द्रव्यस्य इन्द्रादे 'सोऽयम्' इत्यभिसन्धानेन व्यवस्थापना । केनात्मना व्यरस्थापना ? इत्याह—'सद्भाव' इत्यादि । तत्र अध्यारोप्यमाणेन मुरयेन्द्रादिना समाना सद्भावस्थापना । मुन्याकारशून्या पुन असद्भावस्थापना ।

यथा बाहार इति । किञ्चित्नेकाजीवानेकजीवनाम यथा मदुरेति । किञ्चित्नेकजीवाजीवनाम यथा नगरमिति ।—तत्त्वायश्लो० १०९८ ।

(१) दण्डधारको द्वारपाल, तत्र एकोऽजीव दण्ड जीवश्च द्वारपाल इति । (२) एको जीव धीवर अनकाश्च अजीवा जलाहरणाय उपयुज्यमाना घटादयः । (३) तुलना—'यदच्छाशब्दपु नाम्ना विणि प्तोऽथ उच्यते इत्ये इति । जातिशब्दपु जात्या गौरयमिति । गुणशब्दपु गुणेन शुक्ल इति । क्रियाशब्दपु क्रियया पाचक इति । द्रव्यशब्दपु द्रव्येण दण्डी विपाणीति ।—प्रमाणसं० टी० पृ० १२ । 'तत्त्व जाइणमित्तं णाम गोमणुससपडत्थभवेत्तादि । सजोगदब्बणिमिदा णाम दडी छत्ती मौली इच्चेव मादि । समवायणमित्त णाम गलगडो काणो वुडो इच्चेवमाइ । गुणणमित्त णाम विण्हो रुहिरो इच्चेवमाइ । किरियाणमित्त णाम गायणो णच्चणो इच्चेवमाइ ।—घवलाटी० पृ० १८ । 'जातिद्वारेण शब्दो हि द्रव्यादिषु वर्तते । जातिहेतु स विज्ञय गौरश्व इति शब्दवत् ॥३॥ गुणप्राधायित्तो वृत्तो द्रव्ये गुणनिमित्ताक । शुक्ल पाटल इत्यादिशब्दवत्सम्प्रतीयते ॥६॥ कर्मप्राधायित्तं कर्महेतुनिवृध्यते । चरति प्लवते यद्वत्किंचित्त्वितिनिश्चितम् ॥७॥ सयोगिद्रव्यशब्द स्यात्कुण्डलीत्यादिशब्दवत् । समवायि द्रव्यशब्दो विपाणीत्यादिरास्थित ॥९॥—तत्त्वायश्लो० पृ० ९९ । (४) 'स्थाप्यत इति स्थापना प्रतिपत्ति । सा चाहितनामकस्य इन्द्रादेवास्तवस्य तत्त्वाव्यारोपात् प्रतिपत्ता सोऽयमित्यभिसम्बन्धेना यस्य व्यवस्थापना स्थापनामान स्थापनति वचनात् ।—तत्त्वायश्लो० पृ० १११ । (५) तुलना—'जण वटठक्कमे वा पोत्थक्कमे वा चित्तक्कमे वा लप्पक्कमे वा मयिमे वा वेदिमे वा पूरिमे वा सपा इमे वा अक्कमे वा बराडए वा एगो वा अपेगो वा सम्भावटठवणा वा असम्भावटठवणा वा आवस्मएत्ति ठवणा ठविज्जइ से तं ठवणावस्सयं ।—अनु० सू० १० । 'तत्त्व आगारवत्तए वत्तुम्मि सम्भावटठवणा,

अथ क्लिप्तं द्रव्यम् ? इत्याह—‘अनागत’ इत्यादि । ननु ‘अनागतपरिणामविशेष प्रति गृहीताभिमुख्य द्रव्यम्’ इति द्रव्यलक्षणमयुक्तम्, ‘गुणपर्ययवद्द्रव्यम्’ [ तत्त्वापसू० ५।३८ ] इत्यागमविरोधादिति कश्चित्, सोऽपि सूत्रकाराभिप्रायानभिज्ञ, ‘गुणपर्ययवद्द्रव्यम्’ इति हि सूत्रकारेण यन्ता त्रिकालगोचरान्तक्रमभाविपरिणामाश्रय द्रव्यमुक्तम् । तच्च यदा अनागतपरिणामविशेष प्रत्यभिमुख्य तदा वर्तमानपर्यायात्प्रान्त परित्यक्तपूर्वपर्यायञ्च निश्चीयते, अन्यथा अनागतपरिणामाभिमुख्ययानुपपत्ते ररविपाणवत् । केवल द्रव्यार्थप्रधानत्वेन यच्चे अनागतपरिणामाभिमुख्य अतीतपरिणामानुयायिद्रव्यमिति निक्षेपप्रकरणे तथा द्रव्यलक्षणमुक्तम् । सूत्रकारेण तु परमतव्यवच्छेदेन प्रमाणापणात् ‘गुणपर्ययवद्द्रव्यम्’ इति सूत्रितम्, क्रमाऽनमानेकान्तस्य तथा व्यवस्थिते । तच्चैवविधलक्षणलक्षित द्रव्य द्विधा भिद्यते आगम नोआगमवित्त्वात् । तत्र आत्मा यो जीवात्प्राभृत तत्रततो जानाति परन्तु चिन्तन परप्रतिपात्नलक्षणोपयोगाऽनुपयुक्त स आगमद्रव्यम् । नोआगम त्रैधा भिद्यते—ज्ञातृशरीर-भावि-तद्भावि-

तद्विद्वरीया अमन्भावद्रवणा । -घवलाटी० पृ० २० । ‘वाष्पुस्तचित्रकर्मान्यो ये सन्भावस्थापना रूपा तथाऽनानक्षेपादयोऽस्तभावस्थापनारूपा -तत्त्वापसू० व्या० १।५ । ‘तत्राध्यारोप्यमाणन भावे द्वादिना समाना प्रतिमा सदभावस्थापना मरुवर्षान स्वय तस्यास्तद्बुद्धिसंभवात् कथञ्चित्साद्दयसन्भावात् । मुख्याकाररूपा वस्तुमात्रा पुनरमदभावस्थापना परापनेगान्दे तत्र मोऽप्यमिति सप्रत्ययात् । -तत्त्वापसू० पृ० १११ ।

(१) सूत्रकार उभास्वाम्याचाय । तुलना- सोऽपि सूत्राधानमिन्न गुणपर्ययवद्द्रव्यमिति हि सूत्रकारेण यन्ता त्रिकालगोचरान्तक्रमभाविपरिणामाश्रय द्रव्यमकनम् । तच्च यन्तागतपरिणामविशेष प्रत्यभिमुख्य तथा वर्तमानपर्यायात् त परित्यक्तपूर्वपर्यायञ्च निश्चीयते अथवा अनागतपरिणामाभिमुख्ययानुपपत्ते ररविपाणावत् । -तत्त्वापसू० पृ० ११२ । (२) क्रमभाविपर्यायापेक्षया क्रमाऽनेकान्त सहभाविगुणापेक्षया तु अत्रमानकान्त । (३) ‘से किं त द्वावस्तय ? दुविह पण्त्त तं जहा आगमओ अ नोआगमओ अ । -अन० सू० १२ । सर्वापसि० राजवा० १।५ । घवलाटी० पृ० २० । (४) “अस्स ण आवस्सएत्ति पदं सिकिपत्तं तित्ति जित्ति मित्ति परिजित्तं नामसमं घोससमं अहीणक्खर अणक्खर अवाइद्वक्खरं न ण तत्थ वायणाए पुच्छणाए परिअट्टणाए धम्मवहाए नो अणुप्पेहाए, कम्हा ? अणुवओपो दब्बमिति कट्ट । -अनु० सू० १३ । जीवप्राभृतजायी मनुष्यजीवप्राभृतजायी वा अनुपयुक्त आत्मा आगमद्रव्यजीव । -सर्वापसि०, राजवा० १।५ । ‘आगमओ णुवउत्तो मगल सहाणुवासिओ वत्ता । तन्नाणलद्धिसहिओ णि नापउत्तोत्ति तो दव ॥ -विशेषा० गा० २९ । ‘तत्थ आगमओ दब्बमगलं णाम मगलपाहुडजाणओ अणुवजुत्तो मगलपाहुडसहरयणा वा, तस्मत्पट्टवणवक्खरयणा वा । -घवलाटी० पृ० २१ । (५) ‘से किं त नो आगमओ दवावस्सय ? निविह पण्त्तं त जहा-जाणयमरीरद द्वावस्सय भविअसरीरदद्वावस्सय जाणयसरीरभविअसरीरवतिरित्तं द्वावस्सय । -अनु० सू० १४ । नो आगमद्रव्यजीवस्त्रया व्यवतिष्ठे-ज्ञायकशरीर भावि-नद्वयतिरिक्तभेदात् । तत्र णानुपच्छरीरं त्रिकालगोचरं तन्नायकशरीरम् । सामान्यापेक्षया नोआगमभाविजीवो नास्ति जीव

१-पर्याय-आ०, घ० । २-वयाव-आ०, घ० । ३-प्रकारेण तथा व० । ४-पर्याय-आ०, घ० । ५-मूर्त्तं न जाना-अ० । ६-येनानुपयुक्तं स आ०, -तो वानुपयुक्तं स व० ।

रिक्तविकल्पात् । तत्र ज्ञशरीरलक्षण नोआगमद्रव्यमपि त्रिकालगोचर त्रिविधम-भावि-  
वर्त्तमान-परित्यक्तमेतात् । गत्यन्तरे स्थितो मनुष्यभयप्राप्ति प्रत्यभिमुखो भाविजीव ।  
स एव यत्र जीवादिप्राभृत न जानाति केवलमग्रे ज्ञास्यति तत्र भाविनोआगम ।  
तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्य कर्मनोऽकर्मभेदात्मकम् । तत्र ज्ञानापरणाद्यष्टप्रकार कर्म,  
शरीरपर्याप्तियोग्यपुद्गलानान नोऽकर्म ।

अथ को भाव ? इत्याह-‘तथा’ इत्यादि । तथा, किम् ? विप्रक्षितप्रकारेण  
उपयोगो व्यापार । यद्वि वा, तथा आगमनोआगमरूपतया उपयोगो जीवस्य उप-  
युक्तत्र भावः । अतश्च द्रव्यवद् भावोऽपि आगमनोआगमविकल्पाद् द्विविध प्रति-  
पत्तव्य । तत्र जीवादिप्राभृतविषयोपयोगादिष्ट आत्मा आगमभावे । जीवान्पर्याया-  
दिष्टो नोआगम । एव प्ररूपितनामादिचतु प्रकारो निक्षेपे सिद्ध । स किमर्थं प्ररूपयते  
निष्फलत्वात् इत्याशङ्क्याह-‘अप्रस्तुत’ इत्यादि । अप्रस्तुतार्थस्य मुख्यस्य इन्द्रादे  
अपाकरणत् निराकरणत्, प्रस्तुतस्य नामस्थापनेन्द्रादे व्याकरणाद् व्युत्पादनाच्च  
हेतो निक्षेप फलान् सार्थक । तेन च इत्थन्भूतेन निक्षेपेण निक्षिप्त्वा उक्तप्रकारेण  
प्ररूपिता पदार्था जीवादय अनुयुज्यन्ते अनु पश्चात् युज्यन्ते जीवद्रव्यादे  
स्वरूपादीनि तज्जिज्ञासया पृच्छन्ते । कै कृत्वा ? अनुयोगैः । किंविशिष्टे ?  
निर्देशादिभिः निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानलक्षणै, न केवलमेतैरेव  
अपि तु सदादिभिश्च, सत्सरयाक्षेत्रस्पर्शनफालान्तरभावाल्पवहुत्वलक्षणैश्च । एवत्रिधैश्च  
अनुयोगै अनुयुक्ता यद्यपि सर्वे पदार्थाः तथापि जीवपदार्थविषयो यो विशेषः इतरप-  
दार्थेभ्य स्वरूपातिशय तस्य प्ररूपकाणि जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानानि प्रत्येक

नसामायस्य सदापि विद्यमानत्वात् । विशेषापेक्षया त्वस्ति-गत्यन्तरे जीवो यवस्थितो मनुष्यभयप्राप्ति  
प्रत्यभिमुख मनुष्यभाविजीव । तद्व्यतिरिक्त कर्मनोकर्मविकल्प ।-‘सर्वावसि० १।५ । धवलाटी०  
प० २१ । ‘मगल्पत्यजाणयदेहो भव्वस्त वा स जीवोऽपि । नो आगमओ दव्व आगमरहिजोति ज  
भणिज ॥ अहवा नो देसमि ना जागमओ तदेगेसाओ । भूयस्त भाविणो वा जस्त ज कारण देहा ॥  
जाणयमव्वसरीराहरित्तमिह दव्वमगल् होइ । जा मगल्ला विरिया त कुणमाणो अणुवउत्तो ॥’-  
विशेषा० गा० ४४ ४६ ।

(१) ‘स किं त भावावस्सय ? दुविह पण्णत्त, त जहा-आगमतो अ, नो आगमतो अ ।’-अनु०  
सू० २२। सर्वावसि० १।५ । धवलाटी० प० २९। (२) ‘जाणए उवउत्त, सत्त आगमतो भावावस्सय ।’  
-अनु० सू० २३ । ‘तत्र जीवप्राभृतविषयापयोगाविष्टा मनुष्यजीवप्राभृतविषयोपयोगयुक्तो वा आत्मा  
आगमभावजीव ।’-सर्वावसि० १।५ । ‘मगल्पयुवउत्तो आगमओ भावमंगल होइ ।’-विशेषा०  
गा० ४९ । ‘आगम सिद्धान्त, आगमदो मगल्पपाहुडजाणओ उवउत्तो ।’-धवलाटी० प० २९ । (३)  
‘जीवनपर्यायण मनुष्यजीवनपर्यायण वा समाविष्ट आत्मा नो आगमभावजीव ।’-सर्वावसि०, राज  
षा०, तत्त्वायसलो० १।५ । ‘णो आगमदो भावमंगल दुविह उपयुक्कस्तत्परिणत्त इति । आगममन्तरण  
अर्थोपयुक्क उपयुक्त । मगल्पययिपरिणत्तस्तत्परिणत्त इति ।’-धवलाटी० प० २९ ।

1-प प्रतिद्ध थ० । 2 अनुयुज्यन्ते थ० । 3 युज्यन्ते थ० । 4 जीव इत्यादे थ० ।

चतुर्श भवन्ति । तै प्ररूपितस्वरूपातिशये जीवद्रये यथावज्ज्ञाते मुमुक्षूणा मुक्त्यद्ग  
परिपूर्णं रत्नत्रय भवति ना यथा । एतदेवाह—‘एतम्’ इत्यादि । एतम् उक्तप्रकारेण  
प्रमाणनयनिक्षेपानुयोगै पन्थप्रतिपत्त्युपायै सर्वान् पदार्थानधिगम्य पुरुषतत्त्व  
पुन जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानैः दृढतरमनुद्ध्य, इत्यनेन मुमुक्षो सम्यग्ज्ञान  
मुक्त्यद्ग प्ररूपितम् । प्रवृद्धाभिवेशात्मकमम्यदर्शनः इत्यनेन सम्यग्दर्शनम्,  
‘नपसा निर्जीर्णकर्मा’ इत्यनेन तु सम्यग्चारित्रमिति । तेन च मम्यदर्शनादित्रयेण  
निर्णीणकर्मा सर्वकर्मनिर्मुक्तं सन् अयमात्मा सुरसमृच्छति सुगमयो भवति ।  
किंविशिष्टं तत्सुखम् ? बाधारहित विगतबाधम्, अव्ययच्छिन्न शाश्वतम्, अनन्तम्  
इयत्तावधारणवर्जितम्, अतीन्द्रियम् विगुद्धात्ममात्रेत्यम् । ननु आत्मनो मुक्तौ  
बुद्ध्याद्यशेषविशेषगुणोच्छेदात् कथं सुगमयत्नमिति वैशेषिका । अत्यन्तचित्तसन्ता-  
नोच्छेदत तस्यैवाऽमभवादिति सांगता । अभोक्तृत्वादिति साग्या । अत्राह—नहि  
इत्यादि । नहि नैव गुणप्रिनाशाद् बुद्ध्यादिगुणोच्छेदात् जडः पापाणरूप मुक्तौ  
आत्मा भवति, गुणगुणिप्रिनाशात् शून्यं ‘नहि’ इति सम्बन्ध । गुणा ज्ञानान्य  
गुणी चित्तसन्तान तेषा प्रिनाशाद् अन्यतोच्छेदात् आत्मा शून्यं सकलम्वरूप  
प्रिनिक्तो भवति ‘नहि’ इति सम्बन्ध । भोग्यप्रिहात् तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानाद्  
अभोक्ता आत्मा सुगमे ‘नहि’ इति सम्बन्ध । कुत एतत् ? इत्याह—तथाधिग  
माभावात् तदुनाधासभवाच्च । यथा च मुक्तौ तथैविस्य आत्मस्वरूपस्य फुल्लिदपि  
प्रमाणादधिगमामभर तत्र च बाधासभर तथा अग्रे प्रपञ्चत प्ररूपयिष्यते ।

ननु ज्ञानानरणादिकर्मण सद्भाप्रसिद्धौ ‘तपोनिर्जीर्णकर्मा’ इत्यभिधातु

आवरणरूपविषय युक्तम् । नच तत्सद्भाप्रसिद्धौ । तद्वि शरीरम्, रागादि, देशका-  
रणात् पूर्वपद - लादिक वा भवेत् ? तत्र आग्निरूपद्वयमयुक्तम्, शरीरे रागादौ  
च सत्यपि अर्थज्ञानोदयसभवात् । यैस्मिन् मत्यपि ज्ञानोत्पत्तिसभय न तस्य ज्ञाना  
वरणादिस्वरूपता यथा चतुरादे, अर्थज्ञानोदयसभवश्च शरीरादौ मत्यपि, तस्मान्न  
तस्यै ज्ञानानरणादिस्वरूपता इति । तस्य तत्स्वरूपताया वा काण्डपटादिवत्र तत्सद्भावे  
तदुपलम्भसभवो भवेत् । तर्हि देशानादेस्तत्त्वभावताऽस्तु, सुप्रसिद्धा हि मेवादौ दूरदेश-  
ताया आनरणात् रावणादौ दूरनालताया परमाण्वादौ सूक्ष्मस्वभावताया, मूलेकीलो-

(१) आत्मन एव । (२) मुक्ताभ्यतिरिक्तरय शून्यस्य अभोक्तृत्वरूपस्य वा । (३) तुलना-  
त्तद्वि शरीर रागाद्या देवताशक्तिक वा स्यात् । -प्रमेयक० पृ० २४१ । तथा० २० प० ३५६ । (४)  
शरीर रागादिक वा आवरणस्वरूपम तत्समायेऽपि जानीत्यात् । (५) शरीरात् । (६) शरीरादि  
सद्भावे । (७) जानीरलम्भसभव । (८) आवरणस्वभावता । (९) भूम्यन्तगनस्य वृक्षमूलस्य  
कीलस्य उक्तार्थाः ।

१-रेण नयनि-आ । २-एत् सुखं श्र० । ३ अविच्छिन्न श्र० । ४ ‘आत्मा नास्ति आ० ।  
५ इत्याह-व० । ६-द्वौनिर्जीर्ण-श्र० । ७ तवभाव व० । ८ तस्मान्नात्य व० । ९ तस्य नास्ति श्र० ।

दकादौ च भूम्यादे, इत्यप्यसमीचीनम्, तदेतन्नस्य योगिनोऽप्यशक्यक्रियत्वात् । न खलु सातिशयद्विमताऽपि योगिना देशाद्यभागे विवातु शक्य । नचान्यत् किञ्चिदावरण प्रतीयते । अस्तु वा तत्, तथापि-अविद्यारूप तद् भग्नियति न पौद्गलिकम्, मूर्तिमताऽनेनै अमूर्त्तस्य ज्ञानादेरावरणानुपपत्ते, अन्यथा शरीरादेरप्यावरणत्व-प्रसङ्ग । आत्मगुणत्वात् कर्मणो न पौद्गलिकत्वमित्यन्वे । भवतु पौद्गलिकत्वम् 5  
अन्यथाभूतत्वात् वाऽस्य, तथापि न साकल्येन कचिन्निर्जरासम्भव कार्यकारणप्रज्ञाहेण प्रवर्त्तमानस्यास्य अनादित्वात्, अनादेश्च आत्मान्विद् विनाशासम्भवादित्यन्परे ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तानुसृज्य-‘ज्ञानावरणादिकर्मण सद्भावप्रसिद्धौ’  
कर्मण पौद्गलिकत्व इत्यादि, तत्र किं कर्ममात्रसद्भावे भवता निप्रतिपत्ति, ज्ञानावरणादिकर्म-  
प्रसाधन संवर्नि- विशेषे वा ? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्न, शरीरादिव्यतिरिक्तस्य कर्म- 10  
त्वा सिद्धिश्च मात्रस्य अनुमानत सद्भावप्रसिद्धे । तथाहि-स्वप्नप्रमेयप्रोचैकस्वभा-  
वस्य आत्मनो हीनगर्भस्थानशरीरत्रिपयादिषु विशिष्टाभिरति आत्मतद्भ्यतिरिक्तारण-  
पूर्विका, तत्त्वात्, कुत्सितपरपुस्पे कमनीयकुलकामिन्या तन्त्राद्युपयोगप्रभप्रविशिष्टा-  
भिरतिवत् । द्वितीयविकल्पोऽप्ययुक्त, ज्ञानावरणादिकर्मविशेषस्यापि तद्भ्यतिरिक्तस्य

(१) दूरदेशताया दूरकान्ताया सूक्ष्मस्वभावाया भूम्यादेर्वा अभावस्य । (२) वेदान्तिन ।  
‘अत एवावरणस्य अनिर्वाच्याविद्यास्वरूपत्वमङ्गीकृत्यत्वम् । न तु दुनिरूपत्वमात्रेण तदपलापो युक्त  
अनुमातसिद्धत्वात् । तथाहि-अस्ति ताव मूढानामेव व्यवहार ‘अज्ञानायाद्यतीत विवेकिप्रसिद्धमात्मतत्त्व  
नास्ति न प्रकाशते च’ इति योऽप्य व्यवहार आत्मनि भावस्वावरणनिमित्तो भवितुमहति, ‘अस्ति  
प्रकाशते’ इत्यादिव्यवहारपुष्पलकारणे सति तद्विपरीतव्यवहारत्वात्, यन्नव तन्नवं यथास्ति प्रकाशते  
घट इति व्यवहार । न च कारणोष्वल्यमसिद्धम नित्यसिद्धस्वप्रकाशतयातिरेकेणात्राप्येणाऽ  
भावात् । न चायथासिद्धि, इतोऽतिरिक्तावरणस्य मूतद्रव्यस्य आत्मनि निरवयवे सवगते दु सपाद  
त्वात् ।’-विवरणप्र० पृ० २१ । (३) पौद्गलिककर्मणा । (४) योगा । द्रष्टव्यम्-पृ० ३ टि० ५ ।  
(५) अविद्यादिरूपत्वम् । (६) कर्मण । (७) जयन्तभट्टादय । तुलना-“अय तु मिथ्यानामज  
नितसस्वारस्य सहचारिणोऽभावात् विद्यमानायपि कर्माणि न जमान्तरे शरीरारम्भवाणीनि मयन्ते ।”  
-प्र० ० ध्यो० पृ० २० ख । “सहकारिवत्त्वात् कुसूलावस्थितबीजवत् कर्मणापनारम्भत्वे सति न  
वशिवद्दोष । एष एव च तेषा दाहो यत्कार्यनारम्भकत्वम् । नचविनष्टस्वरूपाणि कुसूलबीजवत्त्वे  
क्याचिन्कारस्यते काय तस्माद्भ्रमच्छिद्यन्तामेव, किमिष्टानी नित्यमात्मानमप्युच्छत्तु यतामहे ?”-  
व्यापम० पृ० ५२३ । (८) पृ० ८०८ पृ० १९ । (९) तुलना-“चेतनस्य सत सम्बन्धन्तर मोहोऽप्यवरण  
मन्त्रादिवत् । तत्तुत सिद्धम् । विवादाध्यामितो जीवस्य मोहोऽप्य सम्बन्धन्तरकारणक मोहोऽप्य  
त्वात् मदिराकारणकमोहोदयवदित्यनुमानात् ।”-अष्टश० अष्टसह० पृ० ४९ । “ममारी वधवान  
परत यत्वादादानस्तम्भागतहस्तिवत् । परत मोऽसौ हीनस्यानिपरिग्रहवत्त्वात् कामोद्रेकपरत प्रहीनस्था-  
नपरिग्रहवच्छ्रोत्रियब्राह्मणवत् ।”-आप्तप० पृ० १ । प्रमेयक० पृ० २४२ । (१०) शरीरादिव्यति  
रिक्त । (११) शरीरादिभिन्नस्य ।



अनुमानादेव प्रसिद्धे । तथाहि—यत् सत् तत्सर्वमनेनात्तात्मविषयादि व्याप्तिज्ञानात्  
सावरणम्, स्वविषयेऽस्पष्टत्वात्, यत् स्वविषयेऽस्पष्ट तत्सावरणम् यथा रज्जोनीहारात्  
न्तरिततरुनिर्हरादिज्ञानम्, स्वविषयेऽस्पष्टञ्चेत् ज्ञानमिति । मिथैकदशा सर्वत्र अनेका-  
न्तरस्यभावे भावे विपरीतज्ञान सावरणम्, मिथ्याज्ञानत्वात्, धत्तूरवाद्युपयोगितो मृच्छरुन्ने  
वाञ्छनज्ञानमिति ।

यदप्युक्तम्—‘अविगारूप तद् भविष्यति न पौट्रलिङ्गम्’ इत्यादि, तदप्युक्ति-  
मात्रम्, अमूर्त्तस्य अमूर्त्तैव आवरणनियमाऽसम्भवात्, मूर्त्ततापि मदिरादिना अमूर्त्तस्य  
ज्ञानादेरावरणदशनात् । कथमेव शरीरादेर्न तदावरणत्व स्यादिति चेत् ? ‘तदधिकरुद्ध-  
त्वात्’ इति द्रूम । मूर्त्तत्वाविशेषेऽपि हि यदेव ज्ञानेन विरुद्ध तदेव तस्यै आवरण  
युक्त नायत्, अन्यथा अमूर्त्तत्वाविशेषात् अविगारत् आकाशादेज्ञानात्तरस्य च आवर-  
णत्वमनुपपद्येत । तस्यै तेन विरोधश्च मदिरादिवत् पौट्रलिङ्गमर्मादेये प्रवचनेन प्रवृत्त-  
मानस्य ज्ञानस्य निरोधानिश्चीयते । तथाहि—आत्मनो मिथ्याज्ञानादि पुट्रलविशेष-  
सम्प्रयत्नित्वात्, तत्स्वरूपायथाभासस्वभावत्वात्, उभयतः सादिजनितो मादादिवत् ।  
न च मिथ्याज्ञाननितापरमिथ्याज्ञानेन अनेकात्, तस्यापि अपरापरपौट्रलिङ्गमर्मादेये  
सत्येव सम्भवात् अपरापरोन्मत्तसादिरसमझावे तत्त्वतो मादादिसत्त्वानवत् ।

एतेन ‘आत्मगुणत्वात् कमणा न पौट्रलिङ्गत्वम्’ इत्यपि प्रत्युक्तम्, तेषामात्म-  
गुणत्वे तत्पारतन्त्र्यनिमित्तत्वानुपपत्तित् सदैव आत्मनो मुक्तिप्रमद्वात् । यो यस्य गुण  
स तस्य पारतन्त्र्यनिमित्त न भवति यथा वृद्धि-यादे रूपादि, गुणश्च धर्माधर्ममज्ञक  
कर्म परैरिष्टम् इति । न चैतत् युक्तम्, आत्मन परतन्त्रतया प्रमाणत प्रतीते । तथाहि—  
परतन्त्रोऽयमात्मा, हीनस्थानपरिग्रहत्वात्, मगोत्रेकपरतन्त्राऽगुचिस्थानपरिग्रहत्वात्-

(१) ‘अगोत्रेयानास्वभावस्यात्मन स्वविषयऽनवति विशिष्टद्रव्यमन्वयनिमित्ता पीनहृत्पू-  
रपुष्पस्वविषयानाप्रवृत्तिवत् । यच्च ज्ञानस्य स्वविषयप्रतिबन्धक इत्ये तन् ज्ञानावरणादि वस्तुनात्  
पुष्पगच्छप कम । -संभति० टी० १० ७३६ । यदप्रवृत्तिमत्स्वविषय तत्सावरण यथा तमिरिषस्य  
लोचनविनामकेकद्रमसि धप्रवृत्तिमन् स्वविषये समस्तार्थलक्षणस्मृत्तानामिति । -स्या० १०  
५० ३५७ । नानं सावरण विगदतमा स्वविषयानवबोधकत्वात् । -प्रमेयक० ५० २४० । (२) ‘तथा  
मिथ्यात्वपल्लविलुप्तविवेकदुगा यदेतत्सर्वस्मिन्ननेकान्तात्मक वस्तुनि विषयवार्ता तत्सावरण मिथ्याज्ञान  
नत्वात् । -स्या० १० ५ ३५७ । प्रमेयक० ५० २४२ । (३) ५० ८०९ १०३ । (४) मुराभिवर्ण-  
नात् -राजवा० ५०/१ । प्रमेयक० ५० २४३ । प्रमेय० ५० ५६ । (५) ज्ञानस्य । (६) पौट्रलविषय-  
नानावरणात्किमण । (७) ज्ञानेन । (८) आत्मना मिथ्यात्वात् । -प्रमेय० ५० २४३ ।  
(९) ५० ८०९ ५०५ । (१०) तेनात्मगुणोद्दृष्टो विराहता भवति तस्य सकारहेतुत्वानुपपत्ते । -  
सर्वायसि० ८।२ । ‘कमणा मात्मगुणत्वे तत्पारतन्त्र्यनिमित्तत्वायोगात् स्वत्वाऽऽत्मनो बधानपपत्तमुक्ति  
प्रसङ्गात् । -आप्त० का० ११३ । प्रमेयक० ५० २४३ । स्या० १० ५० ११०१ । (११) योग ।

१ मगो-थ० । २-निगारादि-थ० । ३ तस्य नास्ति आ० । ४-स्य तिरोधानाभिदधी-थ०  
-स्य तिरोधानाभिदधी-थ० । ५-पाभावत्वात् उ-१० । ६-रसदभावे व० । ७-तत्प्राप्तित्वात्-व० ।

शिष्टपुम्पयत् । हीनस्थान हि शरीरम्, आत्मनो दु गहेतुत्वात्, धारागारयत्, तत्परि-  
ग्रहवाश्च ससारी सर्वपा सुप्रसिद्ध एव । नच देवशरीरे तद्वैभावात् पलाव्याप्ति , तस्यापि  
मरणे दु गहेतुत्वप्रसिद्धे । यत्परतन्त्रश्चासौ तच्च कर्म, इति सिद्धमस्यै अनात्मगुण-  
त्वम्, अत पौद्गलिकत्वमेवास्त्योपपन्नम् । प्रयोगे - पौद्गलिक कर्म, आत्मन पारतन्त्र्य-  
निमित्तत्वात्, निगलादिवत् । नच श्रोत्रादिभिर्व्यभिचार , तेषाम् आत्मपरिणामाना पार-  
तन्त्र्यस्वभावत्वात् । क्रोत्रादिपरिणामो हि जीवस्य पारतन्त्र्य न पुन पारतन्त्र्यनिमित्तम् ।

यच्चान्यदुक्तमै- 'न साकल्येन क्वचिन्निर्जैरासभव ' इत्यादि, तदप्यनल्पतमो-  
त्रिलसितम्, कर्मणा सन्तानपरम्परयाऽनादित्त्वेपि क्वचिद् विपक्षपरमप्रकर्षसद्भावे साक-  
ल्येन प्रक्षयोपपत्ते । यस्य क्वचिद् विपक्षपरमप्रकर्षसद्भावे तस्य तत्र साकल्येन प्रक्षय  
यथा शीतस्पर्शस्य, सन्ध्यादर्शनाद्विषयतद्विषयपरमप्रकर्षसद्भावश्च क्वचिदात्मनि इति ।  
नचाय माध्यविकलो दृष्टान्त , नहि अनादिसन्ततिरपि शीतस्पर्शी विपक्षभूतस्थोष्णस्पर्-  
शस्य प्रकर्षसद्भावे निर्मूलतल प्रलयमुर्षत्रजन्न प्रतीत , कार्यकारणप्रवाहेण धीजाङ्कुरादि-  
सन्तानो वाऽनादि प्रतिपक्षभूतदहननिर्गन्धीजो निर्दग्धाङ्कुरो वा न प्रतीयते इति ।  
प्रतिपक्षपरमप्रकर्षसद्भावश्च अनुमानत प्रसिद्ध , तथाहि-ज्ञानात्स्य क्वचित् परमप्रकर्षं  
प्रतिपद्यन्ते, प्रकृत्यमाणत्वात्, परिमाणवत् । इत्थ वा साकल्येन कर्मप्रक्षये प्रयोग

- ( १ ) तुलना- 'मिथ्याज्ञानतन्मूततपसञ्चेतनावसात् । हीनस्थानगनिजम'-प्रमाणवा०  
१।२६३ । 'हीनस्थान शरीरमात्मनो दु गहेतुत्वात् कस्यचित्कारागृहवन'-आप्तप० पृ० १। प्रमेयक०  
पृ० २४३। स्या० २० प० ११०१ । (२) दु गहेतुत्वाभावात् । (३) कर्मण । (४) 'तानि च पुनः कल्प  
रिणामात्मनामि जीवस्य पारतन्त्र्यनिमित्तत्वात्निगडादिवत् ।'-आप्तप० पृ० ६१। प्रमेयक० प० २४३।  
(५) पृ० ८०९५६। (६) तुलना- 'सर्वेषा सविपक्षत्वात्निर्हारातिगय श्रित । सात्मीभावात्तदभ्यासात् ।  
हीपरतास्रवा क्वचित् ॥'-प्रमाणवा० ३।२२०। 'ये चापचयधर्माण प्रतिपक्षस्य सात्मी । अत्यन्ता  
पचयस्तेषा क्लघीतमलादिवत् ।'-तत्त्वस० का० ३४१६। 'सात्मीभावादिपक्षस्य सतो दोषस्य सङ्क्षय ।  
कर्माश्लेष प्रवृत्ताना निवृत्ति फलदायिनाम् ।'-न्यायवि० का० ४४३ । (७) 'स कर्मभूतना भेत्ता  
तद्विपक्षप्रकपन । यथा शीतस्य भेत्तह कश्चिदुष्णप्रकपत ॥'-आप्तप० का० ११०। अष्टसह० पृ०  
५४ । 'यत्कल्पनारतम्यात् यस्यापचयनारतम्य तत्प्रकपनिष्ठागमने भवति तस्य आत्यन्तिक क्षय, यथा  
उष्णस्पर्शतारतम्यात् शीतस्पर्शस्य, भवति च ज्ञानवराग्यादरुत्पत्तारतम्यात् अनानरागादेरपचयतारत  
म्यमिति ।'-सम्प्रति० टी० प० ७३७ । (८) 'विपक्षप्रवृत्तगमनात् कर्मणा सन्तानरूपतयाऽनादित्वरपि  
प्रक्षयप्रसिद्धे । न ह्यनात्मन्ततिरपि शीतस्पर्श -आप्तप० का० ११०। प्रमेयक० पृ० २४५। स्या० २०  
पृ० ३५७ (९) 'प्रतिपक्षभूतदहनादिदग्धवीजो '-आप्तप० पृ० ५९। 'प्रतिपक्षभूतदहन निर्दग्धवीजो  
-प्रमेयक० पृ० २४५। (१०) तुलना- 'शक्ति काष्ठाप्रप्ति सक्त्ववीजस्य सात्मीयत्वात् परिमाणवत् ।'  
-योगशा० १।२५। 'तत्प्रकप पुन सिद्ध परम परमात्मनि । तारतम्यप्रकपस्य सिद्धेऽष्णपचयवत् ॥ -  
आप्तप० का० ११२। अष्टसह० पृ० ५५। प्रमेयक० पृ० २४५। स्या० २० पृ० ३५८। 'गुडि प्रकपमा  
यानि परम क्वचिदात्मनि । प्रकृत्यमाणवृद्धित्वात् वनकात्त्रिविगुडिवत् ॥ -तत्त्वशास्त्रो० पृ० ३१५ ।

वर्तव्य - ज्ञानावरणाद्विहानि क्वचित्पुरुषविशेषे परमप्रकर्षमायाति, प्रकृत्यमाणत्वात्, नभसि परिमाणत् । न चात्राऽसिद्ध साधनम्, तथाहि-प्रकृत्यमाणा आवरणहानि, आवरणहानित्वात्, माणिक्याद्यावरणहानिवत् । यद्वा, ज्ञानावरणादिकर्म क्वचिदामूल प्रक्षीयते, समप्रक्षयहेतुपेतत्वात्, लोचने तिमिरादिवत् । तैत्कर्मप्रक्षयस्य हि हेतू सवर-निर्जरे, तत्र च यतिरेकानुविधायित्वात्, यो यस्यान्वयज्यतिरेकानुविधायी स तद्धेतु यथा धूमोऽग्ने, अन्यव्यतिरेकावनुविधत्ते च तत्प्रक्षय सवरनिर्जरथोरिति । सति सवरे भाविर्मनोत्पद्यते "अपूर्वकर्मणामासन्ननिरोधः सवर" [ तत्त्वापसू० १।१ ] इत्यभिधानात् । सञ्चित पुन तत्रिजरात प्रलीयते-"उपात्तमया निर्हरण निर्हरौ" [ ] इति उच्यते । सा च निर्हरा द्विजरा-औपत्रमिन्-इतरभेदात् । तत्र औपत्रमिकी तपसा द्वादशत्रयेण साध्या, अनौपत्रमिकी तु यथात्राल मसारिण स्यादिति ।

अत्र सारया ध्रुवते-सत्यम्, अनात्मगुणोऽदृष्ट प्रकृतिपरिणामत्वात्तस्य 'प्रकृति-अदृष्टकर्मव्यतिरेकं परिणाम शुद्धदृष्ट्याश्च कर्म' [ ] इत्यभिधानात् । प्रकृत्या त्रिष सारयात् प्रवपन - हि कर्म त्रियते अतस्तत् तत्परिणामो नात्मन तस्याऽकर्तृत्वात् ।

(१) 'दोषावरणयोर्हानि निरोपास्त्यनिशायनान् । क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो वह्निरन्तमलक्षय ॥ आप्तमो० १।० ४ । प्रमेयक० पृ० २४५ । (२) 'प्रकृत्यमाणा आवरणहानि आवरणहानित्वात् माणि कयाद्यावरणहानिवत् ।'-प्रमेयक० पृ० २४६ । स्या० १० पृ० ३५९ । (३) क्षीयते क्वचित्मूल ज्ञानस्य प्रतियुक्तम् । समप्रक्षयहेतुत्वात्लोचन निमिरादिवत् ॥ -तत्त्वापसू० पृ० १५ । (४) 'तेषामागमिता तावद्विषय सवरो मत । तपसा मञ्चिताना तु निजरा कमभूताम ॥ -आप्तप० १।० १११ । तत्त्वापसू० पृ० १६ । (५) 'आयवनिरोध सवर -तत्त्वापसू० १।१ । उपात्तमित्-प्रमेयक० पृ० २४५ । (६) 'एतत्कर्ममक्षयलणा निजरा ।'-सर्वापसि० १।४ । "उपात्तस्य कमणस्तपो विगणमप्रिधान सत्यवत्"समयलणा निजरा । -राजवा० १।४ । 'कमणा तु विपाकात्तपसा वा य पात् सा निजरा -तत्त्वापसू० १।४ । तत्त्वापसू० १।४ । पूर्वोपाजितकमपरित्यागो निजरा - तत्त्वापसू० पृ० ४८३ । (७) 'सा निप्रकार-विपाकजतरा च । तत्र क्लृप्ततावनकजातिविपाया यपूर्णित्रे ससारमहाणवे चिरं परिभ्रमत गुणागुणस्य कमण क्रमण परिपाककालप्राप्तस्य अनुभवोत्पया र्थान्यायोऽनुप्रविष्टस्य आरब्धकर्मस्य या निवृत्ति सा विपाकजा निजरा । यत्कम अप्राप्तविपाक कालम् औपत्रमिन्विपायविगणसामर्थ्यान्तुनीण बलादुनीण बलादुदीर्योत्पयावर्ति प्रवक्ष्य वचते आम पनमाविपाकवत् सा अविपाकजा निजरा । -सर्वापसि० राजवा०, तत्त्वापसू० १।४ । 'सा निविधा-अनुपत्रनापत्रमिकी च । तत्र पूर्वा यथाकालं ससारिण स्यात्, उपत्रमिकी तु तपसा द्वादश त्रयेण साधयेत् । -आप्तप० १।० १११ । प्रमेयक० पृ० २४४ । स्या० १० पृ० ३५७ । 'सोपत्रम निगत्रमं च कर्म-आपूर्विपाक' कर्म द्विविधम्-सोपत्रमं निरुपत्रमञ्च । तत्र यथाद्रवत्र विनामितं लघोरमा कालेन गुप्यन्तु तथा सापत्रमम्, यथा च तत्र सतिगिर्जनं विरेण गुप्यन्तं निरुपत्रमम् । यथा यथा ज्ञानि पुत्र क्वा मुक्तो वातेन समन्ततो मुक्त धारोयमा कालेन दहेताया सोपत्रमम्, यथा वा स एवाग्नि-गुणराशौ कमत्रो-उपवन्तु स्वराविचरण दहेताया निरुपत्रमम् । -योगसू० १।१२२ । (८) दृष्टकर्म-पृ० ३६ । 'तत्कार्यं धर्माणि -सर्वपसू० २।१४ । (९) तुलना- अनुपत्त्यात् सतिवर्ष कर्मजाति-इत्यां सत्त्वात्प्या पुत्रता, अनुपत्त्यात्प्या पति । -योगभा० ४।७ । 'अनुपत्त्यात्प्यकर्म १-हि क्वचित्-प० । २-सपरेतु-व०, -सपरेतु-आ० ।

साक्षित्वात्किमेव हि स्वरूपमात्मनो न कर्तृत्वादि । तदुक्तम्—

“तस्माच्च विपर्यासात् सिद्ध साक्षित्वमस्य पुरपस्य ।

कैवल्य माध्यस्थ्य द्रष्टृत्वमर्कृत्भावश्च ॥” [ साध्यका० १९ ]

तस्माच्च तस्मादेव त्रिगुणविपर्यासात् सिद्धमात्मन साक्षित्वादिस्वरूपम्, तथाहि—  
साक्षित्वं तावदात्मन गुणप्रवृत्तेरधिष्ठातृत्वम् स्वयमस्यै नैर्गुण्यात्, सुखादिभ्यो हि यतोऽयमर्थान्तरभूत तस्मात् तत्प्रवृत्तौ साक्षी । तथा कैवल्यमप्यस्य सिद्धम् ततो विविचरत्वात् । यत् खल्वयं गुणेभ्य ऋथम्भूत तस्मादेव केवलं, न तै सह ससर्गेण वर्त्तते । तथा माध्यस्थ्यमप्यस्य विपर्यित्वात् सिद्धम् । विपर्यासात् हि तुल्यबलत्वात् न्यूनाधिकतोपपत्तेश्च अन्योन्य बाधानुग्रहौ उपपन्नौ, विपर्यासात् चायम्, तस्मान्नास्य न्यूनतादि, अत एव द्वैतरयोरनुपपत्तिः । तथा द्रष्टृत्वमप्यस्य चैतन्यस्वरूपत्वात्सिद्धम् ।

स्यान्मुमुक्षोर्योगिनो यत् । कृष्णं शुक्लं तथा मिथ कर्मायेषां त्रिधा भवेत् ॥—योगका० ४।१२ । उद्धृतं मिदम्—‘प्रधानविवृतं शुक्लं कृष्णञ्च क्वम् ।—आप्तप० पृ० ६१ । ‘प्रधानपरिणामं शुक्लं कृष्णञ्च क्वम् ।—प्रमेयक० पृ० २४४, २८५ । (१०) ‘प्रवृत्तं त्रियमाणानि गुण कर्माणि सवरा । अहङ्कार विमूढात्मा कर्ताहमिति मयत् ॥’—भगवद्गी० ३।२७ ।

(१) “साक्षी चेत्ता केवला निगुणश्च”—द्वैताख० ६।११ । ‘पुरि शयनात् प्रमाणान् पुरणात् पुरुवृत्तिता । स चानादि सवगतस्चेतनो निर्गुणोऽपर ॥ द्रष्टा भोक्ता क्षत्रविदमलाऽस्रसवधमव । सूक्ष्मो नित्यो ह्यनादिस्त्वमध्यनिधनोऽपि स ॥”—सांख्यतत्त्ववि० पृ० १० । (२) ‘तस्माच्च यथावत्तत्रगुण्य विपर्यासाद् विपर्यासात् । निर्गुणं पुरुषो विवेकी भोक्तेत्यादिगुणानां पुरुषस्य यो विपर्यासात् उक्तं तस्मात् सत्त्वरजस्तमं गुणं कर्तृभूतेषु साक्षित्वं मिदं पुरुषस्यति । योऽयमधिष्ठितो बहव प्रति, गुणा एव कर्तार प्रवर्तते साक्षी न प्रवर्तते नापि निवर्तते एव । विच्छेदात्, कथन्यम्—कैवल्यभाव कथन्यमयमिति यत्र त्रिगुणेभ्य केवलं त्रयम् । माध्यस्थ्यभाव, परिव्राजकत्वमध्यस्य पुरुषः । यथा कश्चित् परिव्राजकां ग्रामीणेषु वपणार्थेषु प्रवृत्तेषु केवलो मध्यस्थ, पुरुषोऽप्येव गुणेषु प्रवर्तमानेषु न प्रवर्तते तस्मात् द्रष्टृत्वमवत्तुभावश्च । तस्मात्तस्मात्तस्माद् द्रष्टा तस्मात्कर्ता पुरुषः तथा कर्माणामिति । सत्त्वरजस्तमासि त्रयो गुणा क्वमवतुभावेन प्रवर्तते न पुरुष । एव पुरुषस्यास्तित्वञ्च सिद्धम् ।”—गौडपा० भा०, माठरख०, सांख्यतत्त्ववि०, अयमग, का० १९ । उद्धृतोऽयम्—न्यायवि० वि० पृ० ५४६ A । विच्छेदख० पृ० १४० A । (३) ‘अवतुभावश्चेत्यनेन सप्तविधमवतुभावमाश्रयति—न ह्ययं विपर्यासात् स्वस्यात्करण साक्षिभ्योऽध्यवसायं कुरुते । न च सत्त्वादीनां प्रवृत्तिनियमलक्षणमर्षं हारेतरोगकारेणाप्रवर्तमानानां स्वन शतयलक्षणैर् धर्मेण अङ्गभाव प्रतिपद्यते नाप्यङ्गिभावम् । एव सह गुणं कायं न कुरुते स्त्रीकुमारस्यत् । स्थितप्रयोगं न कुरुते रथशकटयन्त्रप्रपञ्चवत्, न स्वात्मनो मृत्पिण्डवत् न परत् कृष्णकारवत्, नाप्याग्निमान् मायाकारवत्, मोक्षयतो मान्पितृनुयत् ।’—सूक्तिरी० पृ० १०० । (४) ‘तत्र साक्षिभ्योऽध्यवसायं गुणानां प्रवृत्तौ अस्वान् व्यस्यपयति प्रधानस्य तदधनिवर्त्तयत्वात् प्रवर्तते ।’—सूक्तिरी० पृ० १०० । (५) गुणानां सत्त्वरजस्तमसा प्रवृत्तं, गुणस्य वा प्रधानस्य प्रवृत्तं । (६) पुद्गलस्य । (७) गुणात् । ‘कथन्यमित्यनेन ममादिषमत्वमात्मनो निवर्त्तयति । न यथा सत्त्वादीनां परपरत्वेन प्रवृत्तिः साक्षिभ्योऽध्यवसायं सद्य एव पुरुषस्य तत्रवर्त्तते ।’—सूक्तिरी० पृ० १०० । (८) माध्यस्थ्यमित्यत्र अतिशयनिर्हामानुपपत्तं, पुरुषस्य गुणं सह बाधानुग्रहानुपपत्तिं स्वकायप्रवृत्तौ चाप्यपार्तं दर्शयति ।—सूक्तिरी० ।

(९) बाधानुपपत्तौ ।

१-द्वैताख० ६।११ । २-प्राणान् ३० । ३-उपपत्तौ ४० । ४-अदृष्ट-अ०, ४० ।

मृत्तिविभारभूता हि सत्त्वादयः, अतस्तेभ्यश्चैतयमपोद्भूत्य पुरुष एव स्थाप्यते,  
तस्मात् पुरुष एव चैतयस्यरूपत्वात् द्रष्टा । उक्तञ्च—“चैतन्य स्वरूप पुराणस्य”  
[ योगभा० १।९ ] इति । अत्राऽभेदे पृष्ठी । चित्तिरेव हि पुरुष, रूपशब्द स्वभाववचना ।  
एतदेव हि आत्मन स्वम् आत्मीय रूप स्वभावन यत् चैतय नाम, तस्य व्यक्ता  
व्यक्तयोरसम्भवात् । तथाऽऽर्चुभावोऽपि अप्रसवधर्मिन्नादस्य सिद्ध, यस्मात् प्रस्पन्द-  
परिणामौ प्रसवार्थौ नात्मनि त्रिद्येते तस्मात्कर्त्ता इति ।

ननु सत्त्वादीना कर्त्तृत्वे 'पुरुष पुण्य करोति' इत्यात्मनि कर्त्तृत्वप्रतीति यद्य  
मुपपन्नेति चेत् ? उपचारात्, यथैव हि स्वयमचेननापि बुद्धि चेतनामसर्गात् चेतना  
उपचर्यते, तथा कर्त्तृप्रधानससर्गात् स्वयमर्चाप्यामा कर्त्तव्य उपचर्यते । तदुक्तम्—

“तस्मात्तत्ससर्गादचेतन चेतनावदिह (५) लिङ्गम् ।

गुणानर्चत्वेऽपि तथा कर्त्तव्य भवत्युदासानः ॥” [ सांख्यशा० २० ] इति ।

ततश्चिच्छक्तिरपरिणामियप्रतिसङ्क्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता चाऽभ्युप

(१) चतन्य पुरुषस्य स्वरूपमिति । यथा चित्तिरेव पुरुषस्या विमत्र केन व्यपदि  
श्यते ? प्रवति च यत्नेने वृत्तियथा चरस्य गोरिति ।—योगभा० १।९ । उद्भूतमिदम्—सर्वार्थित०  
पृ० १ । वापदि० वि० पृ० ५४७ A । (२) तावेनी भोगापवगी बुद्धिरती बुद्धावेव वतमानो  
नय पुरुष व्यपदिश्यते इति ? यथा विजय पराजयो वा योद्धु वतमान स्वामिनि व्यपदिश्यते  
स हि तस्य फलस्य भोक्तेति एव वचमोगी बुद्धावेव वतमानो पुरुष व्यपदिश्यते । स हि तत्फलस्य  
भोक्तेति । बुद्धरेव पुरुषार्थपरिसमाप्तवध तदथावसायो मोक्ष इति । एतेन ग्रहणधारणोद्वापोहोतत्त्व  
पानाभिनिवेगा बुद्धो वतमाना पुरुषाध्यारोपितसद्भावा, स हि तत्फलस्य भोक्तेति ।—योगभा०  
२।१८ । (३) “तस्मात्तत्सयोगान्चेतन चेतनावन्वि लिङ्गम् यस्माच्चेतनस्वभाव पुरुष तस्मात्  
तत्सयोगान्चेतन महत्तदिलिङ्गम् अध्यवसायाभिमानसद्बुत्वात्पेचनान्पि वृत्तियु चेतनावत् प्रवर्तते ।  
नो दृष्टान्त ? तद्यथा अनुष्णाशीतो घट शीताभिरदभि सप्तपृष्ठ शीतो भवति अग्निना मयुक्त उष्णो  
भवति एवं महदादि लिङ्गमचेतनमपि भूत्वा चेतनावद् भवति । तस्मात् अध्यवसाय कुवन्ति गुणा  
कार्यान्पि । “ तद्यथाऽग्नी अचीर तत्प्रसगदोषण चीरतया प्रतीतस्त तथा सत्त्वान्यो गुणा कर्त्तार  
त समुक्त पुरुषोऽपि अकर्तापि वना भवति, वतससर्गात् कर्त्तव्य पर परमायनया अकर्ता पुरुष ।  
—माठरव०, गौडया० साहयतस्वकी० जयमङ्ग० का० २० । ‘तस्मात् कारणस्य ग्रहणरूपता  
पुरुषस्य च क्त्वरूपता सम्बन्धन्तरमम्पकीत् अयगताज्यत्रोपलभ्यमाना भक्त्याऽव्यवसातव्या न  
परमायत । उक्तञ्च—चेतनाभिप्लाना बुद्धिश्चेतनेव विभाव्यते । कर्त्तृत्ववस्वितश्चात्मा भोक्ता कर्त्तव्य  
रूपते ॥’—युक्तिनी० पृ० १०४ । उद्भूतोऽयम्—न्यायम० पृ० ४८९ । चेतनावन्विह—अष्टसह० पृ०  
६७ । वापदि० वि० पृ० ५९ A । श्या० २० पृ० २३४ । (४) ‘चित्तिगित्तिरपरिणामियप्रति  
सङ्क्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च सुखदुःखमोहात्मकत्वमगुद्धि सुखमोहावपि विवेकिनं दुःखा  
दुःखोऽज्ञो दुःखवद् हेयो । तथा चात्तिगुत्तरमपि अन्तव दुःखोति तेन तन्पि हेयमेव विवेकिन ।  
सममगुद्धिरन्तश्च चिन्तितकर्ता पुरुष न स्त इत्यत उक्त शुद्धा चानन्ता चेति । ननु सुखदुःखमाहात्मक  
गन्तानेनिय चनवमाना तन्कारापन्ता नय विगुद्धा ? तन्कारपरिग्रहपरिवर्जने च कुवती क्व  
मनवेत्यत उक्तम—चित्तिविषया इति । चिन्तो विषय गन्तान्पिश्य सा तयोऽज्ञा । भवेत्तत्रेव यदि

गन्तव्या । न च प्रधानस्य कर्तृत्वादिधर्मसङ्गात्प्रभुपगमे पुरुषरूपनानर्थक्यमित्यभि-  
धातव्यम्, द्रष्टृत्वात्तस्य । न च द्रष्टारमन्तरेण दृश्यमुपपद्यते पैङ्ग्वन्धयोरिवानयो<sup>३</sup>  
अन्योन्यापेक्षत्वात् । यथैव हि अन्यो दर्शनशक्तिमिश्र तच्छक्तियुक्तपद्मपदेशमन्तरेण  
नेष्ट्रप्रदेशमुपसर्पति, पङ्कुरपि क्रियाशक्तिशून्य तच्छक्तियुक्ताऽन्धससर्गाद्विना इति, तथा  
प्रधान नान्तरेण पुरुष कृतमपि कार्यं द्रष्टु शक्यम्, पुरुषोऽपि सत्यपि चैतन्ये प्रधान ६  
विनो दृश्याभावात् द्रष्टा स्यात् ।

ननु चिद्रूपत्वात् पुरुष कथं समाप्रग्रन्धप्रवृत्तिहेतौ प्रधाने स्थित फलमुपभुङ्क्ते ?  
इत्यप्यचोद्यम्, चिद्रूपस्याप्यस्य अज्ञानतमरहन्नतया प्रकृतिस्थमपि सुरादिकलम्  
आत्मस्थ मन्यमानस्य तदुपभोक्तृत्वात्पत्ते, यदा तु ज्ञानमस्य आनिर्भवति 'दुःखहेतु-

बुद्धिबन्धविगमिन्विषयाकारतामापद्येत, किन्तु बुद्धिरिव विषयाकारेण परिणता सती, अतदाकारार्थं  
चिन्तितव्यं विषयमात्मगतं, तत्र पुरुषश्चेतयन् इत्युच्यते । ननु विषयाकारा बुद्धिमतास्त्वामादिचिन्ति  
शक्तं कथं विषयवेदनम् ? विषयारोहं वा कथं तदाकारापत्तिरित्यत उच्यते-अपरिणामिनी  
प्रतिमङ्गलम सञ्चार, स विनेत्यास्ति इत्यथ । स एव कुताऽभ्या नास्तीत्यत उच्यते-अपरिणामिनी  
इति । न चित्तेस्त्रिविधोऽपि घमल्यणावस्थालक्षण परिणामोऽस्ति येन क्रियाम्पण परिणता सती  
बुद्धिमयोगन परिणमेत चिन्तितव्यं ।'-योगभा०, तत्त्वक, भास्व० १।२ । 'यतापरिणामिनी अत एव  
बुद्धिशक्तिरप्रतिषट् श्रमा अमञ्चारा । यथा बुद्धिविषय गच्छति तदग्रहणाथ नव चिन्तितव्यत्वात् ।  
अथवा नास्ति प्रतिमङ्गलम सङ्गा विषयेषु यस्या इत्यप्रतिषट् श्रमा निरपत्ति यावत् । ननु अपरिणा  
मित्य चात्मनो विषयाकारत्वाभावात् कथं विषयस्फुरणम्? तत्राह-अस्तिविषया, दग्निना बुद्ध्या निवृत्ति  
विषया यस्या इति विग्रह विषयं मह बुद्धिवृत्तिरिचिनी प्रविभक्तिना मती भासत इति भाव यतोऽ-  
परिणामिनी अत एव गुदा अनन्ता च ।'-योगभा० पातञ्जलरह० १।२ । तुलना- तथा चाक्त (पञ्च  
गिखेन-तत्त्वक०) अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिमङ्गलम च परिणामियर्थे प्रतिमङ्गलान्तव  
तद्वृत्तिमनुपतति ।'-योगभा० २।२० ।

(१) "द्रष्टा दग्निमात्र गुदाऽपि प्रत्ययानुस्य ।'-योगमू० २।२० । (२) 'पुरुषस्य दग्नाय  
कवत्याय तथा प्रधानस्य । पञ्चम्वचनभयारपि सयोगस्तत्कृत सर्गः ॥ तद्वत् पञ्चम्वचन प्रधान  
पुरुषो द्रष्टव्यो । पञ्चम्वचन पुरुषो द्रष्टव्य अत्रवत् प्रधानम् । पुरुषस्य दृक्शक्ति, प्रधानस्य क्रियासा  
मय्यम् ।'-साधक० भाठर० २१ । पञ्चम्वचनान्मनु नात्तरीयकप्रधानाधम । यथा पञ्च गुर्ना  
न्तरेणाथ दग्नाकत्या विगिष्टेनार्थेन अथवान भवति, अथश्च नान्तरण पञ्च गु विगिष्टेनार्थेन । एव  
प्रधान नान्तरेण पुरुष कृतमपि कार्यं द्रष्टु शक्यमनवधिकञ्च प्रवतमान विगिष्टाभावात् नवत । तथा  
पुरुष सत्यपि चेतनत्वे नान्तरण प्रधानम् उपलभ्याभावात् उपलभ्या भवेति प्रधानमपेक्षत । -वृत्तिदी०  
प० १०७ । (३) द्रष्टृत्वात्प्रभुपगमे पुरुषप्रधानयो । (४) "पुरुष प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान  
गुणान् । कारण गुणसङ्गीभ्य तत्सथानिज मयु ॥"-भगवद्गीता १३।२१ । 'यस्तु प्रत्यक्चेतनस्य  
इवबुद्धिमयाग, तस्य हतुरविद्या'-योगद० २।२४ । 'तथा चनदत्रोक्तम् (पञ्चगिखेन) व्यक्तमव्यक्त  
वा सत्त्वमात्मत्वनामिप्रतीत्य तस्य मय्यमनुत्तन्नि आत्मसम्पद मन्वान तस्य व्यापदमनुचितव्यात्म  
व्यापद मयमान स सर्वोऽप्रतिबुद्ध ।'-योगभा० २।५ ।

प्रकृतियिवारभूता हि सत्त्वादय, अतस्तेभ्यश्चेतन्यमपोद्भूत्य पुरुष एव स्याप्यते, तस्मात् पुरुष एव चैतन्यस्वरूपत्वात् द्रष्टा । उक्तञ्च—“चैतन्य स्वरूप पुरुषस्य” [योगभा० १।९] इति । अत्राऽभेदे पट्टी । चित्तिरेव हि पुरुष, रूपशब्द स्वभाववचन । एतदेव हि आत्मन स्वम् आत्मीय रूप स्वभावं यत् चैतन्य नाम, तस्य व्यक्ता व्यक्तयोरसम्भवात् । तथाऽकर्तृभावोऽपि अप्रसवधर्मित्वादस्य सिद्ध, यस्मात् प्रसवदन-परिणामौ प्रसवार्थौ नात्मनि विद्येते तस्मादकर्ता इति ।

अतु सत्त्वादीना कर्तृत्वे ‘पुरुष पुण्य करोति’ इत्यात्मनि कर्तृत्वप्रतीति कथं सुषुप्तेति चेत् ? उपचारात्, यथैव हि स्वयमचेननापि बुद्धि चेतनाससर्गात् चेतना उपचर्यते, तथा कर्तृप्रधानसमर्गात् स्वयमकर्त्ताप्या मा कर्त्तव्य उपचर्यते । तदुक्तम्—

“तस्मात्तत्ससर्गादचेतन चेतनादिह (५) लिङ्गम् ।

गुणकर्त्तृत्वऽपि तथा कर्त्तव्यं भवत्युदासीन ॥” [तात्पर्यभा० २०] इति ।

तत चिच्छक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानता चाऽभ्युप

(१) चतय पुरुषस्य स्वरूपमिति । यत्र चित्तिरेव पुरुषस्तत्र विमत्र केन व्यपदिश्यते ? भवति च व्यपत्त्या वृत्तियथा चतस्य गौरिति । —योगभा० १।९ ; उद्गतमिदम्—सर्वावृत्तिः ५० १ । न्यायवि० वि० ५० ५४७ A । (२) तावेनी भोगापवगी बुद्धिदृष्टो बुद्धावव वर्तमानो वय पुरुष व्यपदिश्यते इति ? यथा विजय पराजयो वा योद्धु वतमान स्वामिति व्यपदिश्यते, स हि तस्य फलस्य भोक्तेति एव बन्धमोघो बुद्धावव वतमानो पुरुष व्यपदिश्यते । स हि तत्पत्त्यस्य भोक्तेति । बुद्धरेव पुरुषार्थापरिसमाप्तिवचनं तर्थावसायो भोग इति । एतेन ग्रहणघात्पोहात्पोहनत्वानानाभिनिवेगा बुद्धो वतमानो पुरुषध्यारोपिनसद्भावा, स हि तत्पत्त्यस्य भोक्तेति । —योगभा० २।१८ । (३) ‘तस्मात्तत्सयोगादचेतन चेतनावदिव लिङ्गम् यस्माच्चेतनस्वभाव पुरुष तस्मात् तत्सयोगादचेतन महदात्लिङ्गमध्यवसायाभिमानसद्बुद्ध्यालोचनादिषु वृत्तिषु चेतनावत् प्रवर्तते । को दृष्टान्त ? तद्यथा अनुष्णासीनो घट क्षीताभिरदभि सस्पृष्ट गीतो भवति अग्निना समुक्त उष्णो भवति, एवं महदादि लिङ्गमचेतनमपि भूत्वा चेतनावत् भवति । तस्मात्त अध्यवसायं कुर्वन्ति गुणा कार्यादिषु । — तद्यथाऽसौ अचीर तत्ससगदोषेण चीरतया प्रवीतस्त तथा सत्त्वादयो गुणा कर्त्तार त समुक्त पुरुषोऽपि अकर्ताऽपि कर्ता भवति, तत्ससर्गात् कर्त्तव्यं परं परमापतया अकर्ता पुरुष । —माठरव०, गौडपा० सास्यतरवकी० जयमङ्ग० का० २० । “तस्मात् कारणस्य ग्रहणरूपता पुरुषस्य च कर्तृरूपता सम्बन्धन्तरसम्पर्कत आयोगताऽयत्रोपलभ्यमाना भक्त्याऽध्यवसातध्या न परमापत । उक्तञ्च—चेतनाधिष्ठिता बुद्धिश्चेतनेव विभाष्यते । कर्तृत्ववस्थितत्वात्मा भोक्ता कर्त्तव्यं लक्ष्यते ॥ —मुक्तिदी० ५० १०४ । उद्गतोऽयम—न्यायम० ५० ४८९ । चेतनावदिव—अष्टसह० ५० ६७ । न्यायवि० वि० ५० ५९ A । स्या० २० ५० २३४ । (४) चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रति सद्वक्त्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानता च मुखदुःखमोहात्मकवमशुद्धि मुखमोहावपि विवेकिनं दुःखा कुषत्राजो दुःखं हेयो । तथा चातिसुदरमपि अतत्तवद दुनाति तेन तस्य हेयमेव विवेकिन । शेषमगुद्धिरन्तश्च चिन्तितो पुरुष न स्त इत्यत उक्तं शुद्धा चानता चेति । ननु सुखसमोहात्मक घात्तानीय चेतयमाना तत्कारापत्ता कथं विशुद्धा ? तत्कारपरिग्रहपरिवर्जने च कुवती कथं मनन्तेत्यत उक्तम्—दर्शितविषया इति । दर्शितो विषय सत्त्वान्दिस्य सा नयोक्ता । भवन्तेत्येव यदि

गन्तव्या । न च प्रधानस्य कर्तृत्वादिधर्मसद्भावाभ्युपगमे पुरुषरूपनानार्थक्यमिन्द्रभि-  
धातव्यम्, द्रष्टृत्वात्तस्य । न च द्रष्टारमन्तरेण इत्यमुपपत्तेर्यद्दृश्यन्वदोग्रिधानयो<sup>१</sup>  
अन्योन्यापेक्षत्वात् । यथैव हि अन्यो दर्शनशक्तिविकल् तच्छक्तियुक्तपद्रूपदेगमन्तरेण  
नेष्ट्रप्रदेगमुपसर्पति, पक्षुरपि क्रियाशक्तिशून्य तच्छक्तियुक्ताऽधमसर्गादिना इति, तथा  
प्रधान नान्तरेण पुरुष कृतमपि कार्यं द्रष्टु क्षमम्, पुरुषोऽपि सत्यपि चैतन्ये प्रधान  
विनो दृश्याभावात् द्रष्टा स्यात् ।

ननु चिद्रूपत्वात् पुरुष कथं समाप्रमन्वप्रगृत्तिहेतौ प्रधाने स्थित फलमुपमुद्भं ?  
इत्यप्यचोगम्, चिद्रूपस्याप्यस्य अज्ञानतमश्लक्ष्णतया प्रकृतिस्थमपि सुखादिफलम्  
आत्मस्थ मन्यमानस्य तदुपभोक्तृत्वोपपत्ते, यदा तु ज्ञानमस्य आविर्भवति 'दु नहेतु-

वृद्धिवच्चित्तित्तिरिपयावारतामापद्येत विन्दु बुद्धिरव विपयानारेण परिणता मनी, अज्ञानागय  
चित्तिगत्य विपयमात्स्यपति, तत पुरुषस्तेतयत इत्युच्यते । ननु विपयानाग बुद्धिमनात्प्रयासिननि  
शक्त कथं विपयवेदनम् ? विपयाराहे वा कथं तदावारापतिरित्यत उक्तम्-अप्रतिगदप्रमेनि ।  
प्रतिसङ्ग्रह सञ्चार, स चित्तेर्नास्ति इत्यय । स एव कुतोऽप्या नास्तीत्यन उक्तम्-अपरिणामिनी  
इति । न चित्तेस्त्रिविधोऽपि घमलक्षणवस्थालक्षण परिणामोऽस्ति येन क्रियान्पेण पणिता मनी  
बुद्धिमयोगे पणिमेत चित्तित्ति ।'-योगभा० तत्त्वथ, भास्व० १।२ । 'यतापरिणामिनी अत एव  
चित्तित्तिरप्रतिसङ्ग्रहा असञ्चारा । यथा वृद्धिविपय गच्छति तत्प्रहणाथ नव तिनिरक्रियन्वात् ।  
अथवा नास्ति प्रतिसङ्ग्रह सङ्को विपयेषु यस्या त्वप्रतिसङ्ग्रहा निर्लेपेनि यावत् । ननु अपरिणा  
मित्त्व चात्मनो विपयानारत्वाभावात् कथं विपयस्फुरणम्? तत्राह-दर्शितविपया, दर्शितो बुद्ध्या त्रिरेत्ति  
त्रिपयो यस्या इति विग्रह, विपय सह बुद्धिवत्तिश्चित्तौ प्रतिविम्बिता सती भासत इति भाव यता-  
परिणामिनी अत एव गुद्धा अनन्ता च ।'-योगभा० पातञ्जलरह० १।२ । गुत्तना- 'तथा चाकन (पञ्च  
शिखन-तत्त्वथ०) अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसङ्ग्रहा च परिणामियर्थे प्रतिसङ्ग्रहान्त्व  
तत्त्वत्तिमनुपतति ।'-योगभा० २।२० ।

(१) 'द्रष्टा द्गिमात्र शब्दोऽपि प्रत्ययातुगस्य ।'-योगसू० २।२० । (२) 'पुरुषस्य वशनाथ  
कव-याथ तथा प्रधानस्य । पञ्च भवदुभयारपि सयोगस्तद्वृत्त सग ॥ तद्वत् पञ्च भवत् प्रान  
पुरयो द्रष्टव्यो । पञ्च भवत् पुरुषो द्रष्टव्य अ एवत प्रधानम् । पुरुषस्य दुक्शक्ति, प्रधातव्यप्राना  
मध्यम् ।'-साह्यका० माठर० २१ । 'पञ्च भवदृष्टान्तस्तु नातरीयकप्रदसाधम् । यथा तद्वृत्त  
न्तरेणाथ दक्कात्या विशिष्टेनाथेन अर्थवान भवति, अथदच नान्तरेण पञ्च गु विणिष्टनात् ।  
प्रधान नान्तरेण पुरुष कृतमपि काय द्रष्टु ग्वनमनवधिवञ्च प्रयतमानं विपावाभावापैव निवृत्तेः।  
पुरुष सत्यपि चेतनत्व नान्तरेण प्रधानम् उपलभ्याभावाद् उपलब्धा भवदिति प्रधानगपेशत ।'-योग  
प० १०७ । (३) द्रष्टृत्वप्रभूतयो पुरुषप्रधानयो । (४) 'पुरुष प्रवृत्तिस्यो हि भुक्त्यात्तम्  
गुणान । कारणं गुणसङ्कोस्य तदसचोनिजमसु ॥ -भगवदगी० १३।२१ । 'यस्तु प्रवृत्तय  
इवबुद्धिसयोग तस्य हेतुरविद्या -योगद० २।२४ । 'तथा चतदशोनम् (पञ्चशिखने) क ता  
वा सत्त्वमारमत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमतुनन्ति आत्मसम्पद मन्वा तस्य व्यापक- ता  
व्यापद मयमान स सर्वोऽप्रतिबुद्ध ।'-योगभा० २।५।

1-ना कृत्याभा-प्र० । 2-भोक्तृतोप-प्र० ।



रियम् न मम अनया सह ससर्गो युक्त' इति, तदा विवेकैरयातेर्न तत्त्वम्पादित कर्मफलमुपभुङ्क्त, सौपि च 'विज्ञातविरूपाऽहं न मदीय कर्मफलमनेन भोक्तव्यम्' इति मत्त्वा न तैस्सम्पादनाय त प्रति प्रवर्त्तते कुण्डिनीस्त्रीवद् दूरादपसर्पति । अतो गुण पुरुषान्तरदर्शनाद् अपयर्गप्राप्ति । अन्ये गुणा सत्त्वाद्योऽचेनना परार्था प्रवृत्ति-विकारभूता, अन्योऽहम् "नै प्रवृत्तिर्न विवृति पुरः" [ सांख्यका० ३ ] इति भेदप्रत्यय गुणपुरुषांतरदर्शनम्, तस्मात् तद्व्यतिरिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तायदुक्तम्—'प्रवृत्तिपरिणाम' इत्यादि, तदसमीक्षिता-तप्रतिविधानपुरस्कार विधानम्, यत् सिद्धे धर्मिणि धर्मचिन्ता उपपद्यते । नच प्रवृत्ति-कमण्य पैरलिकत्व धर्मिणी कुतश्चित्प्रमाणात् सिद्धा, तद्वसाधकप्रमाणाना प्रकृतिपरीक्षा-प्रसाधनम्—प्रवृत्ते प्रपञ्चत प्रतिक्षिप्तत्वात् । अत कथ तत्परिणामतया कर्मणा व्यावर्णनमुपपन्नम् ? अस्तु वाऽसौ, तथापि—पुरुषस्य निमित्तमपेक्ष्य तयो परिणमेत्, अनपेक्ष्य वा ? न सावदनपेक्ष्य, मुक्तात्मन्यपि शरीरादिसम्पादनाय तैस्या तथा

- (१) प्रवृत्ति । (२) विवेकन्यातिरविप्लवा हानोभाय विवेकस्याति ।—योगद० व्यासभा० २।२६ । 'एव तत्त्वाभ्यासात्प्रस्मिन् मे नाहमित्यपरिणोपम ॥ अन्त्यागनय तत्त्वानंन तस्मात्त्वासात् पुरुषस्य बुद्धिस्तपचने—नास्मि तत्त्वानि न म तत्त्वानि, नाहं तत्त्वानाम विन्दु प्रधान वायनानि । तस्मान्नात्मत्वचने एवमादि । अपरिणोप निरवसपमित्यय । किं ज्ञानम् ? गुणपुरुषान्तरापत्रिचरूपमित्यथ ॥ अत्राह तेन ज्ञानन पुरुष किं करोति ? अत्रोच्यते—तेन निवृत्तप्रसवामर्थे वात्त सप्तरूपविनिवृत्ताय । प्रवृत्ति पश्यति पुरुष प्रक्षयववस्थित स्वस्य ॥—सांख्यका० भाठर० ६३-६४ । (३) प्रवृत्तिरपि । 'प्रवृत्ते मुकुमारतर न किञ्चिदस्तीति मे मनिर्भवति । मा बुद्ध्या स्मोति पुनर दशनमुपति पुरुषस्य ॥ यथा काचित् कुलस्त्री साध्वी स्वगृहकारि स्थिता पुरपण सह मवागतेन दृष्टा सहसव व्रीडमाना त्वरित गहं प्रविष्टा । सा एव मत्वा दृष्टान्मनन इति न पुन दशनमुपति पुरुषस्य । तस्याञ्च विनिवृत्ताया पुरपो मोष गच्छति ।—सांख्यका० भाठर० ६१ । तत्त्वमी० पृ० १९४ । सांख्यतत्त्वप्र० पृ० १७७ । सांख्यप्र० ३।६९ ७० । तस्या मयेत्यपेक्षक एको दृष्टान्तमित्युपस्थाऽभ्या । सति सयोगोऽपि तयो प्रयोजन नास्ति सगस्य ॥ यथमां रत्नगतानतकी सर्वाविवक्ष्यामु वर्तमाना दृष्टवा विरमति रत्नात प्रक्षक दृष्टा मययपेणव एक केवल गुड पुरुष तथा प्रवृत्तिरपि अनन अह दृष्टेति निवृत्ता । एका पलोक्यस्यापि प्रधानकारणभूता न द्वितीया प्रवृत्तिरस्ति । नतक्यपि अहमनन त्पदुपरमते तत्यान एव पुन्योऽपि दृष्टा मयय ज्ञानवक्षुया प्रवृत्ति इति प्रवृत्तवदुपरमते मोष गच्छतीत्यर्थे ।—सांख्यका० भाठर० ६६ । तदुक्ता वारदीये—सविकारापि मोक्षन विर भुक्ता गुणात्मना । प्रवृत्तिर्नानोपय लज्जयव निवर्त्तते ।—सांख्यप्र० भा० पृ० १११ । (४) जोगसम्पादनाय । (५) 'पुरुषस्तु पुनर्न प्रवृत्तिरनुत्पत्कत्वात् न च विवृतिरनुत्पत्कत्वात् । नवातो कारण न च वायमित्यथ ।—भाठर० वृ० । (६) पृ० ८१२ प० ११ । (७) प० ३५४ । (८) प्रवृत्ति । (९) वपरूपतया । (१०) तुलना—'यदि प्रधान पुरुषस्य निमित्तमनपेक्ष्य प्रवर्त्तते, मुक्तात्मन्यपि शरीरादिसम्पादनाय प्रवर्त्तत अविनायात् ।—प्र० ७० । ध्यो० पृ० २० प० । प्रमेयक० प० ३१६ । प्रमेयर० ४।१ । (११) प्रवृत्ते ।

परिणमनप्रमद्वात् । अथ अपेक्ष्य, किं तदपेक्ष्यम्—विवेकानुपलम्भ, अष्ट वा ?  
 नैतानद् विवेकानुपलम्भ, तस्य विवेकोपलम्भाभांनरूपतया मुक्तात्मयपि सभवात् ।  
 नच तदनुत्पत्तिप्रघ्नसयो कश्चिद्विशेष सभवति, अभावम्यभावत्वाविशेषात् । अष्टा-  
 पेक्षयास्तु तस्या तथापरिणामे अन्योन्याश्रय—सिद्धे हि अष्टे तत्पेक्षया प्रकृते  
 शुक्लकृष्णकर्मपरिणामसिद्धि, तत्सिद्धौ च अष्टसिद्धिरिति । अनादित्वात् तत्प्रवाहस्य  
 अयमश्रय—पूर्वं हि अष्टमपेक्ष्य अपर तस्यैस्तत्परिणामो भवति ततश्च अपर इति,  
 तदप्यनुपपन्नम्, मुक्तात्मन्यपि एवमस्या शरीरादिसम्पादनाय तथा परिणामप्रसक्ते ।  
 तत्रास्या निवृत्ताधिकारत्वात् तत्प्रसक्ति, इत्यापि घातम्, अमुक्तात्मन्यपि अस्या  
 तत्सम्पादनाय तथापरिणामाऽभावात् । तत्र प्रवृत्ताधिकारत्वात् दोषोऽयम्,  
 इत्यपि श्रद्धामात्रम्, सर्वथेकस्याऽनशस्य प्रधानस्य प्रवृत्त-निवृत्ताधिकारत्वधर्मयोर्युगपद्वि-  
 रोधात्, तद्विरोधे वा मर्वथास्यै एतदाऽनशस्यानुपपत्ति ।

किञ्चदेम् अमुक्तात्मन्यस्य प्रवृत्ताधिकारत्वनाम—तत्र सम्बद्धत्वम्, शरीरसुखादि-  
 सम्पादकत्वं वा ? न तावत् सम्बद्धत्वम्, मुक्तात्मन्यस्य गतत्वात्, प्रधानात्मनो  
 नित्यसर्वगतत्वेन सर्वत्र सर्वदा सभवात् । अथ शरीरसुखादिसम्पादकत्वम्, तर्हि  
 इतरेतराश्रय—सिद्धे ह्यमुक्तात्मानं प्रति प्रवृत्ताधिकारत्वे<sup>१३</sup> त प्रत्येव तत्सम्पादकत्वसिद्धि,  
 तत्सिद्धौ च त प्रति प्रवृत्ताधिकारत्वसिद्धिरिति ।

किञ्च, शरीरादिना तत्सम्पादितेन अस्य कश्चिदुपकार क्रियते, न वा ? यदि

(१) तुला—“अथादशानापेक्षमिति चेत्, यस्य हि गुणपुर्यान्तरविवेकदशानुपपत्ति त प्रति  
 प्रधान प्रवृत्ते, न चासौ मुक्तात्मनीति, तत्र, मुक्तात्मयपि विवेकदशानस्य विनाशनं प्रवृत्तिप्रज्ञात् ।  
 न चानुत्पत्तिविनाशयो अदशनत्वेन विशेष पश्याम ।”—प्र० ७० ध्यो० ५० २० घ० । प्रमेयक० ५०  
 ३१६ । (२) सत्सारावस्थाया विवेकस्यानुत्पत्ति मुक्तदशाया च समुत्पन्नस्यापि विवेकस्य विनाश इति न  
 अभाववन कश्चिद भेद । (३) प्रकृते । (४) वमरूपतया परिणती । (५) प्रकृते ‘गुक्लकृष्णाणि  
 वमपरिणाम । (६) तुला—“अथादृष्टापेक्ष प्रवृत्त इति चेत्, तदसत् तस्यापि प्रधात शक्ति  
 रूपतया व्यवस्थितस्य उभयत्राविशेषात् ।”—प्र० ७० ध्यो० ५० २० घ० । प्रमेयक० ५० ३१६ । (७)  
 शुक्लकृष्णाणिकमरूपण । (८) ‘वृत्ताय प्रति नष्टमप्यनष्ट तदयसाधारणत्वात् ।—वृत्तायमर्त्तं पुरुष  
 प्रति दृश्यं नष्टमपि नाग प्राप्तमपि अनष्ट तदयपुरुषसाधारणत्वात् । कुल पुरुष प्रति नाग प्राप्तमपि  
 अकुलान पुरुषान् प्रति अवृत्तायमिति तेषां दूने वमविपयतामापन्न लभत एव पररूपेण आत्मरूप  
 मिति ।—योगसू० भा० २।२२ । (९) शरीरात्सिद्धान्ताय वमरूपपरिणामप्रसङ्ग । (१०) सत्सारा  
 र्थमिति । (११) तुला—‘न ह्यत्रमेव निवृत्ताधिकारत्वं प्रवृत्ताधिकारत्वयोर्युगपदधिकरण युक्तं नष्ट  
 त्वान्तरवयोरिव विरोधात् ।—आप्तप० ५० ८३ । (१२) प्रधानस्य । (१३) अमुक्तात्मानं प्रत्यय ।  
 (१४) प्रधानसम्पादितेन । तुला—‘सहि प्रधानस्य विनाशो मन्त्राणि पुरुषार्थो भवतु(वा)  
 पुरुषस्य कश्चिदुपकार करानि न वा ? यदि करोति, पुरुषादयान्तरमनयान्तरं वा ?’—मुक्तधनु० टी०  
 ५० २९ । (१५) सत्सारात्मनः ।

१ अदृष्टापेक्षयास्तु आ० । २ तस्य तत्परि—व० । ३ प्रकृतिवितर्कना—ध० । ४ सम्बन्धत्वं व०,  
 ध० । ५ नित्यं सव—व० ।

न त्रियते, कथं तत् 'सैस्थ' इति व्यपदिश्येत ? मुक्तात्मनोऽपि तद्व्यपदेशप्रसङ्गात् । अथ त्रियते, किं ततो भिन्न, अभिन्नो वा ? यदि अभिन्न, तदा तैत्वरणे पुंसोऽपि कार्यत्वानुपपन्नात् नित्यत्वशक्ति । अथ भिन्न, तदा पुंसो न किञ्चित्कृत स्यात्, तस्येतिव्यपदेशश्च न प्राप्नोति तेनै तस्याऽसम्बन्धात्, तेनोप्युपनारात्तरकरणे अनवस्था । तत प्रधानस्य स्वरूपेण असत्त्वात्, सतोऽपि वा कर्मपरिणामानुपपत्ते, द्रव्यरूपस्य कर्मण पुद्गलपरिणामत्व भावरूपस्य तु आत्मपरिणामत्वमभ्युपगतव्यम् । पुद्गलात्मनो सद्भावस्य त्रिचित्रपरिणामाधारत्वस्य च प्राक् प्रसाधितत्वात् । न च कर्मणोऽनित्यत्वादात्मनस्तैत्परिणामोपगमे अनित्यत्वापत्तिर्दोषाय, क्वञ्चित्तदनित्यत्वस्येष्टत्वात् । सफलभावानां कथञ्चिन्नित्यानित्यात्मकतया अनेकात्तसिद्धौ प्रसाधितत्वात् । प्रधानस्यापि च तैत्परिणामोपगमे अनित्यत्वापत्तिः समाना ।

यदप्युक्तम्—'साञ्चित्यं तावत् आत्मनो गुणप्रवृत्तेरधिष्ठातृत्वम्' इत्यादि, तदपि मनोरथमात्रम्, सत्त्वरजस्तमोलक्षणगुणानां प्रवृत्ते प्रवृत्तिपरीत्यायां प्रतिक्षिप्तत्वात्, सर्वथा नित्यव्यापित्वान्निस्वभावास्य चात्मन स्वदेहप्रमितौ प्रतिव्यूढत्वात्, अतः किं कस्य अधिष्ठातृ स्यात् ?

यदपि 'अकर्तृभाजोऽपि अप्रमवधर्मित्वात्' इत्याद्युक्तम्, तदप्यविचारितरमणीयम्, सर्वथाऽनार्यकारणभूतत्वाभ्युपगमे पुंसोऽस्तुत्वापत्तिप्रसङ्गात् । प्रयोग—भवत्कल्पितपुरुषो वस्तु न भवति, सर्वथाऽनार्यकारणभूतत्वात्, गगने दीवरवत् ।

यदपि 'यस्मात् प्रस्पन्दनपरिणामौ प्रसन्नार्थौ नात्मनि विद्येते तस्मादकर्त्ता' इत्यभिहितम्, तदप्यपेशलम्, स्वदेहप्रमितौ आत्मन प्रस्पन्दनपरिणामयो प्रसाधितत्वात् । अर्कचूर्त्वे च आत्मनो भोक्तृत्वनिरोध, यदयं भुजिक्रिया कुर्वन् भोक्ता इत्युच्यते यथा गमिक्रिया क्षुर्वन् गता इति । नहि तथाऽपरिणत तद्व्यपदेशमद्विति अतिप्रज्ञात् । तथा च कर्त्तरि कृचोऽनुत्पत्ते 'भोक्ता' इत्यात्मनो व्यपदेशो दुर्लभः । ननु भोक्तेति कृचो

(१) समाहारिणः । (२) शरीरादिभ्योपकारणः । (३) उपकारेण । (४) पुंसः । (५) शरीरादिभ्योपकारेणापि । (६) ततः कमपरिणामस्य । (७) अनियमपर्यायात्मकत्वस्वीकारे । (८) प० ८१३ प० ५ । (९) पु० ३५४-१ । (१०) पु० २६६-१ । (११) प० ८१४ प० ६ । (१२) प० ८१४ प० ६ । (१३) तुङ्गा— अतः पुरुषस्य कर्त्तृत्वे युक्तं वास्तवभोक्तृत्वम् । अथवा हि भोगक्रियामनुवृत्त कथमुदासीनस्य भोक्तृत्वस्य भोगस्य सुखदुःखवेदनास्पृहात् तन्नाशरता तु भोक्तृत्वम् ।—प्र० ७ व्यो० पु० ५२३ । भोक्तात्मा चेत्त एवास्तु कर्त्ता तन्निरोधतः । निरोधे तु तयोर्भोक्तुं स्याद् भुजो कर्त्ता कथम् ॥—आप्तप० का० ८१ । कर्त्ता आत्मा स्वकर्मभोक्तृत्वात् साह्यकल्पितपुरुषो वस्तु न भवति अकर्त्तृत्वात् क्षपुण्यतः । किञ्च, आत्मा भोक्ता अङ्गीक्रियते स च भुजिक्रिया करोति न वा ? यदि करोति तन्नाशरामि क्रियाभिः किमपराद्धम् ? अथ भुजिक्रियामपि न करोति तर्हि कथं भोक्तृत्वमिति नित्यम् ।—वद० बह० श्लो० ४९ । (१४) तृचप्रत्ययस्य ।

१ यदयं भक्ति-आ० ।

दर्शनात् न चास्तव कर्तृत्व सिद्धयति शब्दज्ञानानुपातिन कर्तृत्वविकल्पस्य वस्तुशून्य-  
त्वात्, इत्यप्यसु द्रम्, भोक्तृत्वादिधर्माणामप्यात्मनोऽवास्तवत्वोपपत्ते । तथोपगमे च  
चेतयते इति चेतन पुरुष परमार्थतो न सिद्धवेत् चेतनशब्दज्ञानानुपातिनोऽपि विकल्पस्य  
वस्तुशून्यत्वाविशेषात् । अथ एतद्वोपभयाद् भुञ्जी कर्ता इत्येते, तर्हि अकर्तृत्वविरोध ।  
क्रियान्तरस्य प्रधानसाध्यस्याऽप्रसाधकत्वादकर्तृत्वे प्रधानस्याप्यकर्तृत्वानुपपन्न पुरुषमा-  
ध्यस्य भुजिलक्षणक्रियान्तरस्य तेनाप्यप्रसाधनात् । तत पुसोऽकर्तृत्वे भोक्तृत्वाभावात् एव ।  
प्रयोग—ससार्थात्मा सुवाग्युपभोक्ता न भवति, धर्मादीनामकर्तृत्वात्, मुक्तात्मवत् ।

अकर्तृभोक्तृत्वाभ्युपगमे च कृतनाशाऽकृताभ्यागमदोषप्रसङ्ग, प्रकृत्या हि कृत  
कर्म न च तस्या फलेनाभिसम्बन्ध इति कृतनाश, पुन्येण च तत्र कृतम् अथ च  
तत्फलेन तस्याभिसम्बन्ध इति अकृताभ्यागम । अकर्तृ फलाभिसम्बन्धे च मुक्तात्म-  
नोऽपि तत्त्वसङ्ग । चेतनत्वादात्मन अकर्तृत्वेपि तदभिसम्बन्ध इत्यप्यनेन प्रत्युक्तम्,  
मुक्तात्मनोऽपि अत एव तदभिसम्बन्धानुपपन्नात्, ससार्थात्मनोऽपि वा तद्वदसौ न स्याद-  
विशेषात् । प्रयोग—ससार्थात्मा फलाभिसम्बन्धवान् न भवति, चेतनत्वात्, मुक्तात्मवत् ।  
तथा प्रधान कर्मणा तत्फलस्य च कर्तृ न भवति, अभोक्तृत्वात्, मुक्तात्मवत् ।

यद्योक्तम्—‘यथैव हि स्वयमचेतनापि बुद्धि चेतनासर्गात्’ इत्यादि, तदप्यु-  
क्तिमात्रम् ‘बुद्धिचेतनयोर्भेदाऽसम्भवात्, विज्ञानस्यैव हि ‘बुद्धि, चेतना, अध्यवसाय’  
इति पर्याया, । तदसम्भवश्च सात्य प्रति स्वसवेदनसिद्धौ’ प्रपञ्चित । अत कथ  
तद्दृष्टान्तावष्टम्भेन उपचारादात्मन कर्तृत्वं स्यात् ? तत पुरुष ‘पुण्य करोति, ध्यान  
करोति’ इत्याद्यनध्यमानप्रतीतिसिद्ध कर्तृत्वमस्य अनुपचरितमेवाभ्युपगन्तव्यम् ।

(१) ‘शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प ।—सद्वद्वर्जित ज्ञा घञ्ज्ञानं तदनु पतितु  
शील यस्य स शब्दज्ञानानुपाती, वस्तुनस्तथात्वमनपेक्षमाणो योऽप्यवसाय स विकल्प इत्युच्यते ।’—  
योगसू० भोज्यं १।९ । (२) तुलना—‘भोक्तृत्वादिधर्माणामपि पुरुषस्याभ्यास्तावत्वापत्ते, तथोपगमे  
चेतयते इति चेतन पुरुषो न वस्तुत सिद्धचेत् चेतनशब्दज्ञानानुपातिनो विकल्पस्य वस्तुशून्यत्वात्  
वस्तुशून्यत्वोपपत्तिश्चाज्ञानानुपातिविकल्पवत् ।’—आप्तप० का० ८१ । (३) प्रधानेनापि । (४)  
तुलना—‘ससार्थात्मा भोक्ता न भवति अकर्तृत्वात् मुक्तात्मवत् ।’—यद्ब० बृह० श्लो० ४८ । (५)  
तुलना—‘प्रधानस्य बध्मोक्षी पुरुषस्तत्फलमनुभवतीति कृतनाशाऽकृताभ्यागमप्रसङ्गात् । प्रधानन हि  
कृती बध्मोक्षी न च तस्य फलानुभवनमिति कृतनाश, पुरुषेण तु तौ न कृती तत्फलानुभवनञ्च  
तस्यैत्यकृताभ्यागम कथ परिहर्तुं शक्यम् ?’—आप्तप० का० ११४ । यद्ब० बृह० श्लो० ४८ ५२ ।  
(६) ‘मुक्तात्मनोऽपि प्रधानकृतत्वमफलानुभवतानुपपन्नात् ।’—आप्तप० का० ११४ । (७) चेतनत्वात् एव ।  
(८) मुक्तात्मवत् बध्मपलाभिसम्बन्ध । (९) तुलना—‘वस्तु नाम विज्ञानन्ति गृहादीन् सवया गुणा ।  
भोक्तु च न विज्ञानन्ति विमयुक्तामत परम् ॥’—चतु० ग० १०।१६ । ‘वस्तु नाम प्रजानानि प्रधानं  
व्यञ्जनादिबन्ध । भोक्तुञ्च न विज्ञानानि विमयुक्तामत परम् ॥’—तत्त्वस० श्लो० ३०० । (१०)  
पृ० ८१४ पं० ८ । (११) द्रष्टव्यम्—पृ० १९३ टि० २ । (१२) पृ० १९३—। (१३) बुद्धिदृष्टान्तवलेन ।

न क्रियते, कथं तत् 'तस्य' इति व्यपदिश्येत ? मुक्तात्मनोऽपि तद्व्यपदेशप्रसङ्गात् । अथ क्रियते, किं ततो भिन्न, अभिन्नो वा ? यदि अभिन्न, तदा तैत्करणे पुसोऽपि कार्यत्वानुपद्गात् नित्यत्वक्षति । अथ भिन्न, तदा पुसो न किञ्चित्कृत स्यात्, तस्येतिव्यपदेशश्च न प्राप्नोति तेनै तस्याऽसम्बन्धात्, तेनैप्युपकारात्करणे अनवस्था । तत प्रधानस्य स्वरूपेण अमत्त्वात्, मतोऽपि वा कर्मपरिणामानुपपत्ते, द्रव्यरूपस्य र्मण पुद्गलपरिणामत्व भावरूपस्य तु आत्मपरिणामत्वमभ्युपगतव्यम् । पुद्गलात्मनो सद्भावस्य विचित्रपरिणामाधारत्वस्य च प्राक् प्रसाधितत्वात् । न च कर्मणोऽनित्यत्वादात्मनस्तैत्परिणामोपगमे अनित्यत्वापत्तिर्दोषाय, कथञ्चित्तदनित्यत्वस्येष्टत्वात् । सकलभावानां कथञ्चिन्नित्यानित्यात्मप्रतया अनेकात्तसिद्धौ प्रसाधितत्वात् । प्रधानस्यापि च तैत्परिणामोपगमे अनित्यत्वापत्तिः समाना ।

यत्प्युक्तम्—'साभित्त तावत् आत्मनो गुणप्रवृत्तेरधिष्ठातृत्वम्' इत्यादि, तदपि मनोरथमानम्, सत्त्वरजसमोलक्षणगुणानां प्रवृत्ते प्रवृत्तिपरीक्षाया प्रतिक्षिप्तत्वात्, सर्वथा नित्यन्यापित्वादिस्वभावस्य चात्मन स्वदेहप्रमितौ प्रतिब्यूढत्वात्, अतः किं कस्य अधिष्ठातृ स्यात् ?

यदपि 'अकर्तृभाजोऽपि अप्रसवधर्मित्वात्' इत्याहुक्तम्, तदप्यविचारितरमणीयम्, सर्वथाऽकार्यकारणभूतत्वाभ्युपगमे पुसोऽस्तुत्वापत्तिप्रसङ्गात् । प्रयोग—मन्त्रकल्पितपुरुषो वस्तु न भवति, सर्वथाऽकार्यकारणभूतत्वात्, गगने दीवरवत् ।

यदपि 'यस्मात् प्रस्पन्दनपरिणामौ प्रसवार्थौ नात्मनि विद्येते तस्मादकत्ता' इत्यभिहितम्, तदप्यपेशलम्, स्वदेहप्रमितौ आत्मन प्रस्पन्दनपरिणामयो प्रसाधितत्वात् । अकर्तृत्वे च आत्मनो भोक्तृत्वविरोध, धेदय भुजिन्निया कुर्षन् भोक्ता इत्युच्यते यथा गमिन्निया कुर्षन् गता इति । नहि तथाऽपरिणत तद्व्यपदेशमहति अतिप्रद्गात् । तथा च कर्त्तरि कृतोऽनुत्पत्ते 'भोक्ता' इत्यात्मनो व्यपदेशो दुर्लभः । ननु भोक्तेति कृतो

(१) साधारण । (२) शरीरात्मा पुमोऽभिन्नोपकारकरण । (३) उपकारेण । (४) पुमः । (५) शरीरात्मात्तोरकारेणापि । (६) ततः कर्म परिणाम यस्य । (७) अनियन्त्रमपर्यायात्मकत्वस्वोकारे । (८) प० ८१३ प० ५ । (९) पृ० ३५४-१ । (१०) प० २६६-१ । (११) प० ८१४ प० ६ । (१२) पृ० ८१४ प० ६ । (१३) तुटना— अतः पुरुषस्य कर्त्तृत्वे युक्तं वास्तवभोक्तृत्वम् । अथवा हि भोगक्रियामनुवृत्त कथमुदासीनस्य भोक्तृत्वं स्यात्, भोगस्य मुखदुःखवेदना रूपत्वात् तत्कारणात् तु भोक्तृत्वम् ।—प्र० ० व्यो० पृ० ५२३ । भोक्तात्मा चेत्य एवास्तु कर्त्ता तन्विरोधतः । विरोधे तु तयोर्भोक्तु स्यात् भुजो कर्त्ता कथम् ॥—आप्तप० १७० ८१ । कर्त्ता आत्मा स्वकर्मफलभोक्तृत्वात् साध्यकल्पित पुरुषो वस्तु न भवति अवनृत्वात् क्षपणवत् । किञ्च आत्मा भोक्ता अङ्गीक्रियते स च भुजक्रियां करोति न वा ? यदि करोति तदाऽपराभि क्रियाभि किमपराद्धम् ? अथ भुजक्रियामपि न करोति तर्हि कथं भोक्तृति नित्यम् ।—पद० बह० लो० ४९ । (१४) तुक्प्रत्ययस्य ।

दर्शनात् न वास्तव कर्तृत्व सिद्धयति शब्दज्ञानानुपातिन कर्तृत्वविकल्पस्य वस्तुशून्य-  
त्वात्, इत्यप्यसु द्रम्, भोक्तृत्वादिधर्माणामप्यात्मनोऽवास्तवत्वोपपत्ते । तथोपगमे च  
चेतयते इति चेतन पुरुष परमार्थतो न सिद्धयेत् चेतनशब्दज्ञानानुपातिनोऽपि विकल्पस्य  
वस्तुशून्यत्वानिशेषात् । अथ एतदोपभयाद् भुञ्जी कर्त्ता इष्यते, तर्हि अकर्तृत्वनिरोधः ।  
क्रियान्तरस्य प्रधानसाध्याऽप्रमाधरत्वादवकर्तृत्वे प्रधास्याप्यकर्तृत्वानुपपन्न पुष्पमा- ६  
ध्यस्य भुञ्जितक्षणक्रियान्तरस्य तेनाप्यप्रसाधनात् । ततः पुसोऽकर्तृत्वे भोक्तृत्वाभावात् ।  
प्रयोग—समार्थात्मा सुवागुपभोक्ता न भवति, धर्मादीनामकर्तृत्वात्, मुक्ताभवत् ।

अकर्तृभोक्तृत्वाभ्युपगमे च कृतनाशाऽकृताभ्यागमदोषप्रमद्ग, प्रकृत्या हि कृत  
धर्म न च तस्या फलेनाभिसम्बन्ध इति कृतनाश, पुरुषेण च तत्र कृतम् अथ च  
तत्फलेन तस्याभिसम्बन्ध इति अकृताभ्यागम । अकर्तृ फलाभिसम्बन्धे च मुक्तात्म- 10  
नोऽपि तत्प्रसङ्ग । चेतनत्वाद्गामन अकर्तृत्वेपि तभिसम्बन्ध इत्यप्यनेन प्रत्युक्तम्,  
मुक्तात्मनोऽपि अत एव तदभिसम्बन्धानुपपन्नान्, समार्थात्मनोऽपि चा तद्भ्रदसौ न स्याद-  
निशेषात् । प्रयोग—समार्थात्मा फलाभिसम्बन्धवान् न भवति, चेतनत्वात्, मुक्ताभवत् ।  
तथा प्रधान धर्मणा तत्फलस्य च कर्तृ न भवति, अमोहत्वात्, मुक्ताभवत् ।

यथोक्तम्—'यथैव हि स्वयमचेतनापि बुद्धि चेतनासमर्गात्' इत्यादि, तत्पु- 15  
क्तिमात्रम् बुद्धिचेतनयोर्भेदाऽसमवात्, विहीनस्यैव हि 'बुद्धि, चेतना, अध्वसाय'  
इति पर्याया । तदमभवश्च सारप्र प्रति स्वसवेदनसिद्धौ<sup>१२</sup> प्रपञ्चित । अत कथ  
तद्दृष्टौ तावदृष्टेन उपचारादात्मन कर्तृत्व स्यात् ? तत पुरुष 'पुण्य करोति, प्यान  
करोति' इत्याद्यनाध्यमानप्रतीतिसिद्ध कर्तृत्वमस्य अनुपचरितमेवाभ्युपगन्तव्यम् ।

(१) "शब्दानानुपाती वस्तुगुणो विकल्प ।-शब्दजनित नाम शब्दज्ञानं तदनु पतित्  
शील यस्य स शब्दानानुपाती, वस्तुनस्नयात्वमनपेक्षमाणो योऽप्यवसाय स विकल्प इत्युच्यते ।"-  
यागसू० भोजवृ० ११९ । (२) तुलना—'भोक्तृत्वादिधर्माणामपि पुरुषस्याप्यास्तवत्वापत्त, तथोपगमे  
चेतयते इति चेतन पुरुषो न वस्तुन सिद्धयत् चेतनशब्दज्ञानानुपातिनो विकल्पस्य वस्तुगुणत्वात्  
वस्तुत्वमोक्षरवादिशब्दानानुपातिविकल्पवत् ।"-आप्तप० का० ८१ । (३) प्रधानेनापि । (४)  
तुलना—'समार्थात्मा भोक्ता न भवति अकृतवान् मुक्तात्मवत् ।"-पद्म० बृह० श्लो० ४८ । (५)  
तुलना—'प्रधानस्य बधमोक्षी पुरुषस्तत्फलमनुभवतीति कृतनाशाऽकृताभ्यागमप्रमद्गान् । प्रधानेन हि  
कृतो बधमोक्षी न च तस्य फलानुभवत्वमिति कृतनाश, पुरुषेण तु तौ न कृतौ तत्फलानुभवनञ्च  
तस्यैत्यकृताभ्यागम कथं परिहृतुं शक्य ?"-आप्तप० का० ११४ । धरद० बृह० श्लो० ४८, ५२ ।  
(६) 'भुवनारमनोऽपि प्रधानवृत्तवमपानुभवनापुपद्गान् ।"-आप्तप० का० ११४ । (७) चेतनत्वादेव ।  
(८) मूनवत्त्वमप्यभिसम्बन्ध । (९) तुलना—'वस्तु नाम विज्ञानानि गृहादीन् सवया गुणा ।  
भोक्तु च न विज्ञानानि किमप्युत्तमत परम् ॥"-अनु० १०११६ । "कर्तु नाम प्रजांताति प्रधानं  
व्यञ्जनाग्निम् । भास्वत् न विज्ञानानि किमप्युत्तमत परम् ॥"-सत्यसं० इती० ३०० । (१०)  
प० ८१४ पं० ८ । (११) द्रष्टव्यम्-पृ० १९३ इति २ । (१२) पृ० १९३-१ । (१३) बुद्धिदुष्टान्तवन्तेन ।

१ कर्तृत्व-आ०, प्र० । २ 'एव' नाम्नि प्र० । ३ अकर्तृभोक्तृ-आ० । ४ इत्यनेन आ० ।

एतेन 'चिच्छक्तिरपरिणामिनी' इत्यादि प्रत्याख्यातम्, अपरिणामिन कस्य-  
चिद्वस्तुत्वानुपपत्ते मपुष्पनत् । ननु मुक्तस्यात्मन शुद्धस्याऽपरिणामित्वेऽपि वस्तुत्व  
भवद्विरष्टम्, इत्यप्यल्पतमोविलमितम्, तस्यापि प्रतिसमय परिणामित्वप्रतिज्ञानात्  
प्रतिममय दृश्यस्य परिणामित्वे द्रष्टुरपरिणामित्वानुपपत्ते । न च दृश्य वस्तु (वस्तुव)  
परिणाम्येव इत्यभिधातव्यम्, सार्वैस्तस्य परिणामित्वाऽभ्युपगमात् । अथ चिच्छक्ति  
अप्रतिसङ्क्रमत्वात्परिणामिनीत्युच्यते, तन्न, अस्या प्रतिविषय दर्शितविषयत्वे प्रति-  
सङ्क्रमोपपत्ते । बुद्धेरेव तथा प्रतिसङ्क्रमो न चिच्छक्ते, इत्यप्युक्तम्, बुद्धेरेवम्  
अप्रतिमङ्क्रमप्रसङ्गात्, 'विषयस्यैव प्रतिसङ्क्रमप्रसङ्गात् । बुद्ध्यायवसीयमानस्य  
विषयस्य प्रतिमङ्क्रमसमवे बुद्धे कथं तदसंभव इति चेत् ? तर्हि बुद्धे विषयप्रद-  
शिनाया प्रतिसङ्क्रमे तद्विषय पश्यत्याश्चिच्छक्तेरपि कथमप्रतिमङ्क्रम ? यथैव हि  
प्रतिनियत विषय चिच्छक्तये दर्शयती बुद्धिः सङ्क्रामति तथा क्रमेण चिच्छक्तिरपि  
त पश्यती' विशेषाभावात् । कथमन्यथा क्रमेण दर्शितविषयाऽसौ' स्यात् ?

अथ, यदा बुद्ध्या विषय तस्यै प्रदर्शयते तदा प्राचीनम् अदर्शितस्वरूपमसौ  
त्यजति न वा ? न त्यजति चेत्, कथं प्रागवच्छेदाप्यसौ दर्शितविषया स्यात् ? अथ  
त्यजति, कथमपरिणामिनी, अदर्शितविषयत्वत्यागेन दर्शितविषयत्वोपादानस्य परिणा-  
मित्वाविनाभावित्वात् ? अथ मतम्—चिच्छक्ते एव एवाऽभिन्न स्वभावस्तादृशो येन यो  
यत्र यदा यथा अर्थो बुद्ध्याऽध्यवसीयते तत्र तदा तथा पश्यतीत्यतो दर्शितविषय-  
त्वेऽपि अस्या न प्रतिविषय स्वभावभेद यत् परिणामित्व स्यादिति, तदप्यसमीचीनम्,  
बुद्धेरेवमेव स्वभावत्वमसङ्गात् । शक्यं हि वक्तुम्—बुद्धेरेव एव क्रममायनेकविषया-

(१) पृ० ८१४ व० १२ । (२) अर्णवविषयत्वत्यागेन दर्शितविषयत्वोपादानादवस्थिताया एव  
तस्या परिणामित्वसिद्धिः ।—युक्तपत्र० टी० पृ० ३० । (३) मुक्तात्मनोऽपि । "स हि सद्यः पूर्वोत्त  
स्वभाववस्थायाऽर्णवाम्यामवस्थितस्वभाव परिणाम्यत्र सर्वार्थान् पश्यति नायथा, प्रतिसमय दृश्यस्य  
परिणामित्वे द्रष्टुरपरिणामानुपपत्ते । न चायं दृश्यमयमपरिणामिन वक्तु समय, स्वयं तस्य परिणा  
मित्वोपगमात् सिद्धान्तपरिणामानुपपत्तात् ।—युक्तपत्र० टी० पृ० ३० । (४) दृश्यस्य । (५) 'प्रति  
विषयं दर्शितविषयत्वे सजमान । तथा बुद्धेरेव प्रतिसङ्क्रमो न तु चिच्छक्तेरिति चेत् न बद्धरूपप्रति  
सङ्क्रमप्रसङ्गात् विषयस्य प्रतिसङ्क्रमप्रसङ्गात् ।—युक्तपत्र० टी० पृ० ३० । (६) यथैव हि विषय  
प्रतिनियतं दर्शयती बुद्धिश्चिच्छक्तिरपि संक्रामति तथा क्रमेण चिच्छक्तिरपि पश्यती विशेषाभावात् ।  
कथमन्यथा क्रमेण दर्शितविषया स्यात् ।—युक्तपत्र० टी० पृ० ३१ । (७) विषयम् । (८) 'सत्ता  
दर्शित इति वाच्यम् । (९) चिच्छक्तिः । (१०) चिच्छक्तेः । (११) 'तथा बुद्धेरेव स्वभावत्व  
प्रसङ्गात् । शक्यं हि वक्तु बुद्धेरेव एव क्रममायनेकविषयव्यवसायस्वभावो धेन यथाकाऽयथात्वेन यथा  
प्रकारेण विषयमप्यवस्थानि न चिच्छक्तेरस्वभावं सिद्धयेत् ।—युक्तपत्र० टी० पृ० ३२ ।

1 तेन य० । 2-मित्वप्रति-आ० । 3 परिणामव य० । 4 इत्येतदप्ययु-य० । 5 विषयस्यैव  
प्रतिसङ्क्रमप्रसङ्गात् इति नास्ति य० । 6 प्रतिसङ्क्रमे बु-य० । 7 प्रतिनियतविषयं य० । 8 स्वस्य  
य० । 9 अर्णवस्व-य० ।

ध्वसायस्वभावो येन यो यत्र यदा यथाऽऽस्थितोऽर्थे त तत्र तदा तथा अध्यवस्यतीति ।  
 तथा इन्द्रियमनोऽहङ्कारादीनामपि विषयाऽऽलोचनसङ्कल्पनाऽभिमाननाद्येकस्वभावत्व-  
 प्रसङ्गात् न क्वचित् स्वभावाभेदं मिच्छेत् ।

यदपि-चिच्छक्तेरप्रतिमङ्कमसिद्धौ शुद्धत्वादिति साधनमुच्यते, तदप्यसाधु,  
 यत् शुद्धात्मनोऽशुद्धपरिणाममङ्कमप्यत्र प्रकृत्यते न पुन शुद्धपरिणामसङ्कम । ननु 6  
 शुद्धपरिणामेनापि चिच्छक्तिरप्रतिमङ्कमा अनन्तत्वात्, इत्यप्यचारः, प्रकृत्या अनेका-  
 वात्, अनन्तत्वेऽपि हि तस्या महत्त्वादिपरिणामसङ्कम सारथैरभ्युपगम्यते ।

यदप्युक्तम्-‘पद्मवन्धयोरिव’ इत्यादि, तदतीवाऽसङ्गतम्, दृष्टान्त-दार्ष्टान्ति-  
 कयोर्वैषम्यात्, पद्मवन्धयोर्हि चेतनत्वात् ईदमित्थमेव अस्मदिष्टं कार्यं सेत्स्यतीति  
 मन्त्रार्थं अन्योपापेक्षयो प्रवृत्तिर्युक्ता, ननु प्रकृतिपुरुषयो विपर्ययात् । 10

यत्पुनरुक्तम्-‘चिद्रूपस्यापि अस्य अज्ञानतमशुद्धतया’ इत्यादि, तत्र किम्  
 अज्ञानमेव तम, उत अज्ञानञ्च तमश्च इति ? प्रथमपक्षे मुक्तात्मापि प्रकृतिस्थमपि  
 सुखादिफलं किञ्च आत्मस्थ मन्येत, तदुपभोक्ता च किञ्च स्यात्, तस्यापि क्षान्ताभावतो-  
 ऽज्ञानतमशुद्धत्वाऽप्रियोपात् ? द्वितीयपक्षे तु निमिदम् अज्ञानादन्यत् तमो नाम ?  
 रागादिकमिति चेत्, न, तस्य आत्मनोऽत्यन्तार्थान्तरभूतप्रकृतिधर्मतया आत्माच्छाद- 15  
 क्त्यानुपपत्तेः । तर्थाभूतेनापि तेन तदाच्छादने मुक्तात्मनोऽप्याच्छादनं स्यादविशेषात् ।  
 अथ अधिकारिण एव तद् आच्छादकम् न मुक्तात्मा(त्म)न, ननु निमिदमधिकारित्व  
 नाम ? य प्रति प्रधानं प्रवृत्ताधिकारि सोऽधिकारीति चेत्, न, प्रधाने प्रवृत्ताधि-  
 कारित्वस्य प्रागेव कृतोत्तरत्वात् ।

यदप्युक्तम्-‘विवेकरथाते’ इत्यादि, तत्र ‘वेद्य विवेकग्यातिर्नाम ? प्रकृतिपुरु 20  
 षयो स्वेन स्वेन रूपेणावस्थितयो भेदेन प्रतिभासनमिति चेत्, सा कस्य-प्रकृते,

(१) “शुद्धात्मनोऽपि स्वशुद्धपरिणामप्रतिमङ्कमाविराधान् तत्राशुद्धपरिणामसङ्कमस्य वासभ  
 वात् । -युक्त्यनु० टी० पृ० ३१ । (२) “प्रकृत्या व्यभिचारात् । सापि ह्यन ता । सात्तत्त्वेऽपि नित्य  
 त्वविराधान् । -युक्त्यनु० टी० पृ० ३१ । (३) पृ० ८१५ पं० २ । (४) तुल्या-“अधेतने हि निरद्वन्द्वो  
 प्रधानं च परिशुद्धतामनिर्माणं स्यात् । तत्त्वविदमपि पुमानं न वदन्तानि प्रकृतिरिति कोऽस्या नियन्ता ?  
 परमव्यथापन संयोगस्य तुल्यत्वात् ।”-न्यायम० पृ० ४९१ । (५) पृ० ८१५ पं० ८ । (६) “यत्  
 किमज्ञानमव तम उत अज्ञानञ्च तमश्चेति ।”-पद्म० बृह० श्लो० ५२ । (७) मुक्तात्मनोऽपि ।  
 (८) मुक्तिदनायां ज्ञानं विनश्यति अतः तेषामपि ज्ञानप्रच्यमारमकमानमस्त्येव । (९) अत्यन्तमिदं  
 प्रकृतिधर्मात्मवेनापि रागादिना । (१०) रागादिकम् । (११) पृ० ८१६ पं० १ । (१२) “तत्र वेद्यं  
 स्थातिर्नाम-प्रकृतिपुरुषयो स्वेन स्वेन रूपेणावस्थितयो भेदेन प्रतिभासनमिति चेत्, सा कस्य-प्रकृते,  
 पुरुषस्य वा ?”-पद्म० बृह० श्लो० ५२ ।

1 इदमिच्छमेव आ०, व० । 2 विषयवत्स्यात् व० । 3 अधिकारि एव व० । 4 न मुक्तात्मानं  
 नास्ति आ०, थ० । 5-धिकारी चेत् आ०, थ० । 6 वेद्यां वि-व० ।



पुरुषस्य, तद्व्यतिरिक्तस्य वा कस्यचित् ? न तावत्तद्व्यतिरिक्तस्य, प्रकृति पुरुषव्यतिरे-  
केण अयस्य कस्यचिदपि सात्त्वैरनभ्युपगमात् । नापि प्रकृते, तस्या असवेद्यपर्वणि  
स्थितत्वात्, अचिद्रूपत्वात्, अनभ्युपगमान्च । नापि पुरुषस्य, तस्याप्यसवेद्यपर्वणि  
स्थितत्वात् । अत प्रकृतिपुरुषयो असवेद्यपर्वणि स्थितयो स्वरूपमात्रस्याप्रतिभासे  
त्रिवेकेन ख्याति' अतिदुर्घटा । घटपटादौ हि स्वस्वरूपेण सवेद्यपर्वणि स्थिते कृतश्चि-  
द्विभ्रमनिमित्तात् त्रिवेकेनाऽप्रतीते यथास्थितवस्तुप्रतिभासिप्रमाणवशाद् त्रिवेकेन  
ख्यातिर्दृष्टा, न चात्र एतदति ।

निश्च, त्रिवेकेन ख्याति तन्निश्चय, सा च बुद्धिधर्मत्वाद् भयन्मते पुरुषे न  
सम्भवति । सम्भवे वा सा ततो भिन्ना, अभिन्ना वा स्यात् ? यद्यभिन्ना, तदा आत्मवत्त-  
त्रापि नित्यत्वानुपह्नात् न कदाचिदमुक्तप्रसङ्ग । भिन्ना चेत्, अस्तु, तथापि—असौ  
नित्या, अनित्या वा ? यदि नित्या, किं सम्बद्धा असम्बद्धा वा ? असम्बद्धा चेत्, कथं  
तस्येति व्यपदिश्येत ? असम्बद्धाया अपि तस्यै तेन व्यपदेशे सर्वेण मह व्यपदेश-  
महत्वात् न कस्यचिदपि ससार स्यात् । अथ सम्बद्धा, न, नित्ययोस्तयो अन्यो यमनु-  
पकारकयो कस्यचिदपि सम्बन्धस्यानुपपत्ते । उपपत्तौ वा तस्यापि नित्यत्वात् सदात्मनो  
मुक्तिप्रसङ्ग । अथ अनित्या 'त्रिवेकख्याति, नन्वनित्या सती असौ जया, अजया वा ?  
तत्र अनित्यायास्तस्या घटादिवदजयत्वानुपपत्तिः । जयत्वेऽप्यस्या किम् आत्मना,  
प्रकृत्या, तद्व्यतिरिक्तेन वा केनचिदसौ जयेत ? न तावत् तद्व्यतिरिक्तेन, प्रकृति-पुरुष-  
व्यतिरिक्तस्य कस्यचिन्पि तज्जननस्याऽनभ्युपगमात् । नाप्यात्मना, तस्य जननत्वानभ्यु-  
पगमात् । अभ्युपगमे वा प्रकृतिवियुक्तेन, तत्सहितेन वा तेतामौ जयेत ? प्रथमपक्षे  
चत्रप्रसङ्ग—सिद्धे 'हि त्रिवेकख्याते नित्यत्वे प्रकृतिपुरुषयोर्वियुक्तत्वमिद्धि, तत्सिद्धौ  
च तद्वियुक्तेन आत्मना त्रिवेकख्याते नित्यत्वसिद्धिरिति । तत्सहितात्मजयत्वे तु सचत्र  
सर्वदा सर्वेषा मोक्ष स्यात्, तथा सर्वत्र सर्वत्राऽविशेषत तदुत्पत्तिप्रसङ्गात् ।

यदपि—'विज्ञातविरूपाहम्' इत्याद्यभिहितम्, तदप्यच्यविताभिधानम्, 'प्रकृते-

(१) प्रकृते । (२) अणवकोटी । 'तस्या असवेद्यपर्वणि स्थितत्वान्चेतनत्वान्नभ्युपग-  
मान्च ।—यद्व० बह० श्लो० ५२ । (३) तयोटी । (४) त्रिवेकख्यातावपि । (५) त्रिवेकख्याते ।  
(६) पुरुषस्यनि व्यपदेशे । (७) सम्बन्धस्यापि । (८) आत्मन । (९) त्रिवेकख्याति । (१०)  
पृ० ८१६ प० २ । (११) तुलना—'अचेतनत्वात् तथाहि—अचेतनतया प्रधानस्य अहमनन दृष्ट  
(दृष्ट) तथा विनातमिति विज्ञानाभावे पूरवत् प्रवृत्तिरविनिन्द्यलक्षणप्रसङ्गन ।—प्रण० व्यो० प०  
२० प० । दृष्टास्मीति विरमतीति चेत् भवम, न ह्यमौ एवपत्नीत्रतदुग्रहणीना नि मद्यपुरुषोपभो

1—तिरितिपुटा आ० । 2—तीत य—आ० । 3 त्रिवेकस्य ह्याति आ० । 4 तावद्व्यतिरि-  
व० । 5—ना जनक—व०, —नास्वाजनक—थ० । 6 च आ० । 7 'हि नास्ति आ० । 8 तु सचदा  
व०, थ० । 9 विज्ञानविरू—आ० ।

जडतया इत्य विज्ञानानुपपत्ते । न खलु जडस्वरूपो घटात् विरूपतकतयाऽहमनेन ज्ञातोऽतो नैतस्मै फल सम्पादयामि' इति रजय सवेदयमानो दृष्ट जडाजडयो स्वरूप-सङ्करप्रसङ्गात् । स्वरूपप्रतिपत्तौ हि परमुत्प्रेक्षित्व जडस्य स्वरूपम् तन्निरपेक्षत्वं तु अजडस्य तदित्य संङ्कीर्येत ।

किञ्च, विज्ञातापि प्रकृति ससारदशात् मोक्षदशायामपि आत्मनो भोगसम्पा- 5  
नाय स्वभावतो वायुत् प्रवर्त्तताम् तत्स्वभास्य नित्यतया तदापि सत्त्वात् । नहि प्रवृत्ति-  
स्वभावो वायु विरूपकतया येन ज्ञात त प्रति तैत्स्वभावादुपरमते, अत कुतो मोक्ष' स्यात् ?  
तदा तदसत्त्वे वा प्रकृतेर्नित्यैररूपतानुपपत्ति , पूर्वस्वभावात्प्रागेन उत्तरस्वभावोपात्तनस्य  
तत्र विरोधात्, परिणामिनित्ये एव तन्विरोधात् । प्रकृतेश्च परिणामिनित्यत्वाभ्युपगमे  
आत्मनोऽपि तन्भ्युपगन्तव्यम्, तस्यापि प्राक्तनसुगन्तुपभोक्तृस्वभावरिहारेण तदभो- 10  
क्तृस्वभावरक्षीकारात्, अमुक्तादिस्वभावत्यागेन मुक्तादिस्वभावादादानाच्च । सिद्धे चास्य  
परिणामिनित्यत्वे सुगन्दिपरिणामैरपि परिणामित्वमस्याऽभ्युपगन्तव्यम्, इति सिद्ध -  
मोक्षेऽप्यात्मा विशुद्धज्ञानादिस्वभाव इति ॥ छ ॥

ननु मोक्षे विशुद्धज्ञानादिस्वभावरताऽऽत्मनोऽनुपपन्ना बुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेत्-

विशेषगुणोच्छेत्त्वा रूपत्वात्तस्य । प्रत्यक्षात्प्रमाणेन हि आत्मस्वरूपे प्रतिपन्ने मन प्रणिधा- 15  
मुक्तिरिति र्गणस्य नपूर्विकाया भावनाया प्रर्कपप्राप्ताया परिपाक प्राप्ते तत्प्रज्ञाने नवाना-  
पूर्वपक्ष -  
मात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छेदे स्वम्बरूपेण आत्मनोऽवस्थान मोक्ष' ।

गतीभाष्या पण्यवन्तितेव नासी त्रियमेन व्यवहृतुमर्हतीत्यास्तामत् ॥'-यापम० पृ० ४९२ । 'प्रकृते  
जडतयस्य विज्ञानानुपपत्त ।'-पडद० बह० श्लो० ५२ ।

(१) घटादेरपि स्वय विवेकेन प्रवृत्तौ । (२) तुलना- 'अस्या अचेतनतया विमृश्यनारित्वा  
भावात् । मथेय कृतेऽपि गन्दात्पलभ्ने पुनस्तदथ प्रवर्तते तथा विवेकगतात् कृत्यायामपि पुनस्तस्य  
प्रवर्तित्यते स्वभावस्वानुपायित्वात् ॥'-प्रश० ब० ४० प० ४ । पडद० बह० श्लो० ५२ । (३) प्रवृत्तव  
स्वभावात् । (४) "सिद्धे चास्य परिणामिनित्यत्वे सुगन्दिपरिणामैरपि परिणामित्वमस्याभ्युपगन्त  
व्यमयया मोक्षभावप्रसङ्ग ।'-पडद० बह० श्लो० ५२ । (५) 'नवानामात्मविशेषगुणानामत्यन्तो  
च्छेत्तित्तमोक्ष ॥'-प्रग० व्यो० पृ० ६३८ । 'आत्मन्तिकी दु खभावृत्तिरपवर्गो न सावधिका द्विविध  
दुःखावर्गिणा सवनाम्ना सर्वेषामात्मगुणाना दुःखावमर्शात् अत्यन्तग्रहणेन च सर्वात्मना तद्विद्योगाभि  
धानात् नवानामात्मगुणाना बुद्धिसुपदु खच्छाद्वेषप्रयत्नधर्मधमसकाराणां निमूलोच्छदोपवग इत्युक्त  
भवति । यावदात्मगुणा सर्वे नोच्छिन्ना बासनादय । तावदात्मन्तिकी दु खव्यावर्तनाविचल्यते ॥'-  
यापम० पृ० ५०८ । (६) "ननु तस्यामवस्थाय कौटूहात्मावर्गिण्यन ? स्वरूपवर्गप्रतिष्ठां परित्यक्तो  
ऽखिलगुण ॥'-यापम० पृ० ५०८ । 'समस्तमात्मविशेषगुणाच्छोपलपिना स्वरूपस्थितिरिव ॥'-प्रग०  
ब० ४० प० २८७ । "नि थयस पुनदखनिवृत्तिरात्यन्तिकी'-प्रग० किर० प० ६ । तस्मिन्भवत् नित्य  
सवेद्यम, अनेन सुखेन विगिष्टा आत्मन्तिकी दु खनिवृत्ति पुस्यस्य मोक्ष इति ॥'-न्यायसा० प० ४१ ।

१ जडस्वरूपो ब० । २-तस्य फल ब० । ३ स्वयं वेदय-भ० । ४ सवीत्यते व० । ५ विरु-  
पतया आ०, थ० । ६-वृत्तवस्वभा-थ० । ७-च्छेदवस्वरूप-व० ।

तदुच्छेदे च प्रमाणम्—नवानामात्मविशेषगुणानां सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते, सन्तान-  
त्वात्, प्रदीपादिसन्तानत्वात् । नचायमसिद्धो हेतुः, पक्षे प्रवर्त्तमानत्वात् । नापि विरुद्ध,  
सपक्षे प्रदीपादौ सत्त्वात् । नाप्यनैरातिक, पक्षसपक्षद्वयविपक्षे परमाण्वादात्प्रवृत्तेः ।  
नापि कालात्ययापदिष्ट, विपरीतार्थोपस्थापकयोः प्रत्यक्षागमयोरत्रासम्भवात् । नापि  
सत्प्रतिपक्ष, प्रतिपक्षप्रसाधनानुमानासम्भवात् ।

ननु सन्तानोच्छेदरूपेऽपि भोक्षे कश्चिद्धेतुर्वत्तव्यं 'निर्हेतुविनाशाऽनभ्युपगमात्  
इति च न शङ्कनीयम्, तत्रैवज्ञानस्यैव तद्धेतुत्वात् । तत्तल्लु त्रिपर्ययज्ञान-यच्छेदरूपेण  
निश्चयसहेतुः । दृष्टञ्च सम्यग्ज्ञानस्य मिथ्याज्ञानोच्छेदे शुक्तिकादौ सामान्यम् । निर्धृते  
च मिथ्याज्ञाने तन्मूला रागादयो निवर्त्तन्ते कारणाभावे तत्कार्यानुत्पादात् । रागाद्यभावे  
च तत्कार्या मनोवाक्यप्रवृत्तिरव्यावर्त्तते । तद्व्यावृत्तौ च धर्माधर्मयोरनुत्पत्तिः ।  
आरब्धशरीरेन्द्रियविषय-साययोस्तु सुखादिफलोपभोगात् प्रक्षयः, अनारब्धतत्कार्ययोर-  
प्यवस्थितयोस्तत्फलोपभोगादेव प्रक्षयः । तथा चागमः—

“नाभुक्त क्षीयते क्व कल्पकोटिशतैरपि” [ इति । ]

(१) 'नवानामात्मगुणानां सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते, सन्तानत्वात् योऽसन्तानो स सोऽत्यन्त-  
मच्छिद्यमानो दृष्टं यथा प्रदीपसन्तानं तथा चायं सन्तानं, तस्मात् अत्यन्तमुच्छिद्यते ।'—प्रश० ध्यो०  
५० २० क० । 'दुःखसन्तानिरत्यन्तमच्छिद्यते सन्ततित्वात् प्रदीपसन्ताननिवर्त्तित्याचार्या ।'—प्रश० किर०  
५० १ । (२) 'ज्ञानपूर्वकात् कृतादसकल्पितपलाद विबुद्धे कुले जातस्य दुःखविगमापायजिज्ञासोरा  
चायमपसङ्गस्य उत्पन्नपटपदायतत्त्वज्ञानस्य अज्ञाननिवृत्तौ विरक्तस्य रागद्वेषाद्यभावात् तज्जयोधर्मा  
धर्मयोरनुत्पत्तौ पूर्वसञ्चितयोश्चोपभोगाद्विरोधसन्तोपसुखशरीरपरिच्छेदञ्च उत्साद्य रागान्निवृत्तौ  
निवृत्तिरूपेण केवलो धर्म परमायत्तज्ञानं मुखं कृत्वा निवर्त्तते । तदा निरोधाद्विर्बोजस्य आत्मन  
शरीरादिनिवृत्तिरपुन शरीराद्यनुत्पत्तौ दग्धे घनानलवदुपगमो भोग इति ।'—प्रश० भा० ५० ६४४ ।  
'द्रव्यगुणकमसाभान्यविशेषसमवायानां पणानां पदायानां साधर्म्यवधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानं निश्चयसहेतुः ।  
'—प्रश० भा० ५० २० ज० । 'तत्त्वज्ञानान्निश्चयमाधिगमः—न्यायसू० १।१।१ । (३) 'दुःखजमप्रवृत्ति  
दोषमिथ्याज्ञानानामतरोत्तरापायतन्तन्तरापायात्पवगः ।'—न्यायसू० १।१।२ । 'ते इमे मिथ्याज्ञानादयो  
दुःखान्ता धर्मा अविच्छेदेन प्रवर्त्तमाना ससार इति । यत् तु तत्त्वज्ञानात् मिथ्याज्ञानमपत्तिरतदा  
मिथ्याज्ञानापायदोषा अपमान्ति दोषापायप्रवृत्तिरपत्तिरप्रवृत्त्यापायजमापत्तिरजमापायदुःखमपत्ति  
दुःखापायचात्यन्तिकाश्रयणो निर्जयसमिति ।'—न्यायभा० १।१।२ । तथा दृष्टुपल्लं सम्यग्ज्ञानस्य  
मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ सामान्यं शुक्तिवत्त्वविति'—प्रश० ध्यो० ५० २० क० । (४) 'निवृत्तं च मिथ्याज्ञानं  
तन्मूलत्वात्पणानां नश्यन्ति कारणाभावे कार्यस्यानुत्पत्त्यात्पत्तिः । रागाद्यभावे च तत्कार्या प्रवृत्तिरव्या  
वर्त्तते तदभावे च धर्माधर्मयोरनुत्पत्तिः । आरब्धसाययोश्चोपभोगात् प्रक्षयः ।'—प्रश० ध्यो० ५० २०  
क० । (५) उद्धतोऽयम— दधीक्यम्—नाभुक्तं क्षीयते क्व कल्पकोटिशतरिति । अवश्यमनुभोक्तव्यं कृतं  
क्व गुणागुणम् ॥—प्रश० ध्यो० ५० २० ख० । धर्मसं० ५० ५० २२५ । प्रमेयकं ५० ३०८ । समिति०  
टी० ५० १०५ । वित्तु० ५० ३५१ । अवश्यमव भोक्तव्यं—धर्मवि० टी० ५० १३ ।

१ पणानि—व० । २ मनु सन्तान—व०, थ० । ३ निर्हेतुविना—आ० । ४ न राकनीयं तत्र  
ज्ञान—आ० । † एतन्तग्नं पाठो नास्ति आ० । ५—नुपत्तिः थ० व० । ६ इति नास्ति थ० ।



प्रागेऽमरप्रतिपादनतस्तत्सन्तानस्य धर्मिणोऽसिद्धे । तथा तेषां भयता अरमवि-  
दितत्वोपगमात्, ज्ञानात्तरयेद्यत्वे च अनरस्थादिनोपानुपह्नात्, अज्ञातानाञ्च सत्त्वा-  
ऽसम्भवान्तितोऽप्याश्रयासिद्धत्वम् । आत्मन सर्वथाऽभिन्नाना तु तेषां तत्साधने  
तद्वत्तस्याप्यत्यन्तोच्छेदप्रसङ्गात् कस्यासौ मोक्ष स्यात् ? कथञ्चित्तदभेदस्तु परैर्नाभ्युप-  
गम्यते अपसिद्धात्प्रसङ्गात् । तथापि तदभ्युपगमे सर्वथा तदुच्छेदासिद्धि कथ-  
ञ्चित्तनुच्छेदस्याप्येव प्रसिद्धे ।

सन्तानत्वरश्च साधन सामान्यरूपम्, विशेषरूप वा ? यन्नि सामान्यरूपम्,  
तदा स्वरूपासिद्धो हेतु, व्यक्तिभ्य सर्वा भिन्नस्यास्य सामान्यपरीक्षाया प्रतिक्षिप्त-  
त्वात् । अस्तु वा तद्रूपं तत्, तथापि परसामान्यरूपम्, अपरसामान्यरूपं वा स्यात् ?  
प्रथमपक्षे गगनादिनाऽनेकान्त, अत्यन्तोच्छेदाभावेऽपि अत्र सत्तापरपर्यायस्य सन्तान-  
त्वहेतो सद्भावात् । अथ अपरसामान्यरूपम्, विशेषगुणाश्रिता हि जाति सन्तान-  
त्वम्, तर्हि द्रव्यविशेषे प्रतीये तस्यासम्भवात् साधनत्रिको दृष्टान्तः ।

अथ विशेषरूपम्, तत्रापि उपादानोपादेयभूतबुद्ध्यादिकक्षणलक्षणविशेषरूपम्,  
पूर्वापरसमानजातीयक्षणप्रवाहमात्ररूपं वा ? प्रथमपक्षे सन्तानत्वस्य उपादानोपादेय-  
व्यतिरिक्तत्वम्, तल्लक्षणस्यास्य अन्यत्र क्वचिदप्यप्रवृत्ते । अभ्युपगमविरोधश्च, बुद्ध्यादि-  
क्षणानाम् उपादानोपादेयभावस्य यौगैरनभ्युपगमात्, अन्यथा तत्सन्तानस्य अत्यन्तो-  
च्छेदो न स्यात् मुक्तावस्थायामपि पूर्वपूर्वबुद्ध्यानुपादानलक्षणाद् उत्तरोत्तरोपादेयबुद्ध्या-  
दिलक्षणोत्पत्तिप्रसङ्गात् । द्वितीयपक्षे तु पैकनपरमाणुरूपाणि अनेकान्त, तथाविध-

(१) बुद्ध्यादिगुणानाम् । तुलना- तथा बुद्ध्यादीनां विगणगुणानां परेण स्वसवित्तित्वना-  
नभ्युपगमान् नानान्तराहात्वे वाऽनवस्थान्तिगोपप्रसक्तेरवेद्यत्वमित्यज्ञातस्य सत्त्वासिद्ध पुनरप्याश्रया-  
सिद्ध सन्तानत्वान्ति हेतु । -सामति० टी० पृ० १५६ । प्रमेयक० पृ० ३१७ । (२) वगविकण ।  
(३) विगणगुणवत्त्वमापि । (४) कथञ्चिद्भेदप्रकारेण । (५) सन्तानत्व हेतुत्वेनोपादीयमान-  
यदि सामान्यमभिप्रत तदा बुद्ध्यादिविगणगुणवत्त्वं प्रदीप च तेजोद्रव्य सत्तासामान्यव्यतिरेकेण अपरसामा-  
न्यस्यासम्भवात् स्वरूपासिद्ध । सत्तासामान्यरूपत्वे वा सन्तानत्वस्य मत्सन्निति प्रत्ययहेतुत्वमेव न पुन-  
सन्तानप्रत्ययहेतुत्वम् -सामति० टी० पृ० १५६ । प्रमेयक० पृ० ३१७ । (६) पृ० २८७ । (७) तुलना-  
'विमुक्तानोपादेयभावप्रबंधन प्रबन्धानत्वम् वायकारणभावप्रबंधन प्रवृत्त अपरापरपर्यायत्वोत्पत्ति-  
मात्रं वा ? -रत्नाकराव० ७१५७ । प्रमेयक० पृ० ३१७ । ननु विभिन्न सन्तानत्वम्-स्वतन्त्रम्,  
अपरापरपर्यायत्वोत्पत्तिमात्रं वा एकाश्रयापरापरोत्पत्तिर्वा ? -स्या० म० पृ० ८३ । किं कायवाग्ण-  
भावेन प्रवृत्ति, एकाधारापरोत्पत्तिर्वा ? -वायस्यारटी० पृ० २८७ । (८) "सवसत्प्रविपक्षव्याव-  
तिरसाधारण । -सप्त० अनु० । नवव तस्य तथाभूतस्यायत्राननवत्तरसाधारणान्कातिकत्वम्  
अभ्युपगमविरोधश्च ।' -सामति० टी० पृ० १५७ । प्रमेयक० पृ० ३१८ । (९) सपक्ष । (१०)  
तुलना- पैकनपरमाणुरूपाणिसन्तानन व्यभिचारात् । -प्र० क० पृ० ४ । 'अनकान्तिकश्च

१ अगमानाञ्च व० । २ तत्तद्रूपं तथापि व० । ३ अत्र सत्ताभावेऽप्यत्र सत्तापर-आ० ।  
४-गत्यायत्र ध० । ५-गमयमविरो-ध० । ६ उत्तरोपादेयवृ-ध० ।

सन्तानत्वस्यात्र सद्भावेऽपि अत्यन्तोच्छेदासम्भवात् ।

विरुद्धश्चाय हेतु, कार्यकारणक्षणप्रवाहलक्षणसन्तानत्वस्य नित्यानित्यैकान्तयोर-  
सम्भवात्, अर्थक्रियाकारित्वस्य अनेकान्त एव प्रतिपादितत्वात् । सौध्यविकलश्च दृष्टान्त,  
प्रदीपादेरत्यन्तोच्छेदासम्भवात्, तस्य स्वरूपान्तरेण अवस्थानात् । न च ध्वस्तस्यापि  
प्रदीपादे रूपान्तरेणावस्थानोपगमे प्रत्यक्षबाधा, पारिस्थिते तेजसि भासुररूपोपगमेऽपि  
तत्रसद्भावात् । अथ उष्णस्पर्शस्य भासुररूपाधिकरणतेजोद्रव्याभावेऽसम्भवात् तत्र  
अनुद्भूतस्यास्यै परिकल्पनम्, तर्हि प्रदीपादेरपि अनुपादानोत्पत्तेरिव अन्त्यावस्थातोऽ-  
परापरपरिणामाधारत्वेनान्तरेण सत्त्वकृतकत्यादेरनुपपत्तेः अत्यन्तसत्त्वत्यन्तोच्छेदोऽपि  
परिकल्प्यतामविशेषात् । प्रयोगं—पूर्वापरस्वभावपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामवान्  
प्रदीपादि, सत्त्वादिभ्यः पैदादिवत् । सत्प्रतिपक्षश्चाय हेतु, तथाहि—बुद्ध्यादिसन्तानो  
नात्यन्तोच्छेदवान्, अखिलप्रमाणानुपलभ्यमानतथोच्छेदत्वात्, य एवविध स न तत्त्वे-  
नोपादेय यथा पाकजपरमाणुरूपादिसन्तान, तथा चायम्, तस्मान्नात्यन्तोच्छेदवानिति ।  
नच प्रस्तुतानुमानादेव सन्तानोच्छेदोपलब्धे सर्वप्रमाणानुपलभ्यमानतथोच्छेदत्वमसि-  
द्धमित्यभिधातव्यम्, अस्य अनेकदोषदुष्टतयाऽननुमानत्वप्रतिपादनात् ।

किञ्च, अतोऽनुमानात् इन्द्रिययाना बुद्ध्यादिविशेषगुणानामत्यन्तोच्छेद साध्येत,  
अतीन्द्रियाणां वा ? तत्राद्यविकल्पे सिद्धसाधनम्, अस्माभिरपि तत्र तदुच्छेदाभ्युपगमात् ।  
द्वितीयविकल्पस्त्वनुपपन्न, अतीन्द्रियाणां तेषामत्यन्तोच्छेदे मुक्तौ कस्यचिदपि प्रवृत्त्यनु-  
पाकजपरमाणुरूपादिभिः तथाविधसन्तानत्वस्य तत्र सद्भावेऽपि अत्यन्तोच्छेदाभावात् । 'सामति०  
टी० पृ० १५७ । प्रमेयक० प० ३१८ । रत्नाकराय० ७।५७ । स्या० सं० प० ८४ । प्रायसारटी०  
पृ० २८७ । चित्तु० पृ० ३५७ ।

(१) 'विहृद्भ्रवाय हेतु, शब्दबुद्धिप्रदीपादिषु अत्यन्तानुच्छेदवत्स्वेव सन्तानत्वस्य भावात् ।'  
—सामति० टी० पृ० १५७ । प्रमेयक० प० ३१८ । रत्नाकराय० ७।५७ । पृ३३० बृह० श्लो० ५२ ।  
(२) प० ३७२ । (३) 'साधनविकल्परश्च दृष्टान्त, प्रदीपादेरत्यन्तोच्छेदासम्भवात्, तत्रसपरमाणूना  
भास्वरूपपरित्यागन अधवाररूपतयाऽवस्थानात् ।'—पृ३३० बृह० श्लो० ५२ । न्यायसारटी० पृ०  
२८७ । रत्नाकराय० ७।५७ । (४) उष्णजलस्थिते तेजोद्रव्ये । (५) भासुररूपस्य । (६) तुष्णा—'तर्हि  
प्रदीपादरूप्यनुपादानोत्पत्तिवन्न सन्ततिविपत्यभावमन्तरेण विपत्ति सम्भवतीत्यनुमानत विन्न वरूप्यते  
तत्सन्तत्युच्छेद' । 'सामति० टी० पृ० १५७ । प्रमेयक० पृ० ३१८ । (७) 'पूर्वापरस्वभावपरिहाराङ्गी  
वारस्थितिलक्षणपरिणामवान् प्रदीप सत्त्वात् पैदादिवत् ।'—पृ३३० बृह० श्लो० ५२ । (८) 'न चास-  
त्प्रतिपक्षत्वमप्यस्य । तथाहि—बुद्ध्यादिसन्तानो नात्यन्तोच्छेदवान् सर्वप्रमाणानुपलभ्यमानतथोच्छेदत्वात्'  
—सामति० टी० पृ० १५८ । प्रमेयक० प० ३१८ । (९) 'किञ्चेन्द्रियजाता बुद्ध्यादिगुणानामुच्छेद  
साध्यमानोऽस्ति उत अतीन्द्रियाणाम् ?'—पृ३३० बृह० श्लो० ५७ । (१०) 'तथ्यदृष्टहेतुवाना बुद्ध्या-  
दीनामात्मान्तकरणसमोपगमात् न मुक्ति निवृत्ति दूषाणा न निवार्यन्ते, वमशयरेतुवनुत्पन्ना प्राममुस्या  
नन्ताननयोर्निवृत्तिभावगणाणान्ते न स्वस्था प्रमाणविरोधान् । नत कथञ्चिच्च बुद्ध्यादिविशेषगुणानो  
निवृत्ति कथञ्चिच्च निवृत्तिर्मुक्तौ व्ययनिष्ठे ।'—अष्टसह० पृ० ६८ । पृ३३० बृह० श्लो० ५२ ।

१-भावे स्वरूपा-त्र०, प्र० । २-स्पर्शरेवास्या-त्र० । ३ परादिवत् अ० ।

पपत्ते । मोक्षार्थी हि सर्वो निरतिशयसुखज्ञानादिप्राप्त्यभिलाषेणैव प्रवर्तते न पुन  
सकलबुद्ध्यादिनिशेषगुणोच्छेदाभिलाषेण, अस्य केनेचिन्प्यनभिलपणीयत्वात् । न हि  
कश्चित् प्रेक्षानान् आत्मन सदगुणोच्छेदाय यतते तदुत्तरपणार्थमेवास्य प्रयत्नप्रतीते ।  
यदि हि मोक्षावस्थाया शिलाशम्भलस्य अपगतसुखसवेदनदेश पुष्प सम्पद्यते तदा कृत  
मोक्षेण' ससार एव वरमस्तु यत्र सा तरापि सुफलेशप्रतिपत्तिरस्ति । तच्चिन्त्यतामिदम्-  
'किम् अल्पसुरानुभवो भद्रक, किं वा सकलमुणोच्छेद' इति ? अतो न वैशेषिकोपक-  
ल्पिते निगिलगुणोच्छेदलक्षणे पापाणकल्पे मोक्षे कस्यचिद् ग तुमिच्छाप्युपपन्ना । उक्तञ्च-

“वर वृन्दावन रम्य शृगालत्व प्रपद्यते ।

न तु वैशेषिकीं मुक्तिं गौतमो गन्तुमिद्वति ॥” [ ] इति ।

10 किञ्च, मुक्तौ बुद्ध्यादिनिशेषगुणानामभाव चारणाभावात्, निष्प्रयोनत्वात्,  
विरुद्धत्वाद्वा स्यात् ? तत्रापक्षे कस्य कारणस्य तत्राऽभाव -चक्षुराद, तत्प्रतिबन्ध-  
कापायस्य वा ? चक्षुरादेश्चत्, तर्हि तज्जयस्यैव ज्ञानादे तत्राभाव स्यात् नान्यस्य,  
अत सिद्धसाध्यता । ननु सर्वस्य ज्ञानादे धर्माधर्मशरीरेन्द्रियादिकारणकलापाधीनज-  
न्मत्वात् तदभावे ज्ञानादेरेवाऽसभवात् कथं सिद्धसाध्यता ? इत्यप्यसाधीय, महेश्वरज्ञा-  
नाद्यभावानुपपन्नात् । नित्यत्वात् तज्ज्ञानादेरदोषोयम्, इत्ययसमीक्षिताभिधानम्, तन्नित्य-  
त्वस्य ईश्वरनिराकरणप्रघट्टके<sup>३</sup> प्रतिव्यूढत्वात् । नत चक्षुराद्यपायेऽपि ईश्वरस्य प्रति-  
बन्धकापायप्रभव ज्ञानान्भ्युपगन्तव्यम्, तद्वद् अयमुक्तत्मानामपि तेषा तत्त्वभावत्वात् ।  
नच स्वभावापाये तद्वतोऽवस्थान युक्तमतिप्रसङ्गात् । अथ मुक्तस्य कृतकृत्यतया ज्ञानादिना  
प्रयोननाभावात् मुक्तौ तदभाव, तत्र, प्रतिबन्धकापायोपेतस्य आत्मस्वरूपस्यैव एवचि-  
२० धत्वेन निष्प्रयोनत्वासिद्धे । अनन्तज्ञानादिलक्षणविशिष्टगुणावाप्तिरेव च आत्मन  
कृतकृत्यतान पुन निगिलगुणोच्छेद, गुणोत्कर्षे एव लोकेऽपि कृतकृत्यशब्दप्रयोगप्रतीते ।

एतेन निरुद्धत्वपक्षोऽपि प्रत्युक्त, स्वरूपेण कस्यचिद्विरोधाऽसभवात् । मुक्तौ तेषा  
विरोधान्युपगमे च महेश्वरेष्वेतेषां विरोधतोऽभावानुपपन्नात् लाभमिच्छतो मूलोच्छेद स्यात् ।

किञ्च, बुद्ध्यादिनिशेषगुणानामालम्बितोच्छेदस्य मोक्षरूपताया ससारस्वरूप  
यत्तव्यम्-तत्रतलु तद्विशेषगुणानुच्छेद, भवान्तरावाप्तिर्वा स्यात् ? प्रथमपक्षे महेश्वरस्य  
ससारित्वप्रसङ्ग । ततोऽन्येषामेव तदनुच्छेद तद्व्यथणम् अतो नार्थ्य ससारित्वानुपपन्न,  
इत्यपि श्रद्धामात्रम्, अर्धजरतीययायानुसरणप्रसङ्गात् । असाधारण हि स्वरूप भावस्य

(१) अपि वचनेन गूढ्य शृगालत्व स इच्छति । न तु निरतिशयं मोक्षं वन्तश्चिदपि गीतम् ।

-सम्बन्धवा० श्लो० ४२३ । विवरणप्र० प० १३७ । वर वृन्दावन वास शृगालश्च सहोपिनम्  
-यद्वद० बहु० श्लो० ५२ । 'वर वृन्दावन रम्ये शोभित्वमभिवाञ्छितम् -स्या० मं० प० ८६ ।

(२) मुक्तौ । (३) पृ० १०८ । (४) अनन्तज्ञानान्विशिष्टत्वेन । (५) पानादीनाम् । (६) महेश्वर  
निराकरणप्रसङ्गात् । (७) ससारलक्षणम् । (८) महेश्वरस्य । (९) इष्टयम्-प० १६८ श्लो० ११ ।

१ वचनभिल-आ० । २ इत्यप्यप्रसा-य० । ३ च नास्ति श्र० । ४ अतोत्य आ० ।

लक्षणम् । तद्यदि तदनुच्छेद ससारलक्षणम्, तर्हि यत्रासौ अस्ति तत्र सर्वत्र ससारि-  
त्यप्रमङ्ग मुक्तस्वरूपेणास्यै विरोधात् । द्वितीयपक्षे तु अस्मन्मतसिद्धि, 'स्वोपात्तर्म-  
वशाद् भवाद् भवान्तरावाप्ति ससार' इत्यस्माभिरभ्युपगमात् ।

किञ्च, अत्यन्त बुद्ध्यादिगुणोच्छेदस्य मोक्षत्वे प्रदीपनिर्माणत्वादिर्न भवेत् को  
विशेष स्यात् ? तत्र हि स्वरूपेण आत्मनोऽमत्त्वम्, भयन्मते तु सतोऽप्यस्य सर्वथा  
तद्विकलस्य ग्राहकप्रमाणाभावात् । तथाभूत हि तत्स्वरूप प्रत्यक्षत, अनुमानतो  
वा प्रतीयेत ? न तावत् प्रत्यक्षत, मोक्षारथाया तस्यैवाऽसभवात् । नाप्यनुमानत,  
प्रत्यक्षाभावे भयन्मते अनुमानानुदयात्, प्रत्यक्षपूर्वकत्वेन तस्याभ्युपगमात् ।

यत्पि-तत्त्वज्ञानस्य विपर्ययज्ञानव्यवच्छेदत्रमेण नि श्रेयसहेतुत्वमुक्तम्, तदुपप-  
न्नम्, सिकलबुद्ध्यादिसन्तानोच्छेदहेतुत्व तु तस्यैनुपपन्नम्, स्वविरुद्धमिध्याज्ञानसन्तानो-  
च्छेदहेतुत्वस्यैव तत्रोपपत्ते शुक्तिरादौ तथादर्शनात् । ननु मिध्याज्ञाननिवृत्तौ रागाद्यनु-  
त्पत्ते तत्पूर्वकधर्माप्रादुर्भावत शरीराद्यसभवे सिद्ध एव मोक्षदशाया सकलबुद्ध्यादिसन्तान-  
नोच्छेद, इत्यप्यपेशलम्, शरीरादेरभावेपि अनन्तातीन्द्रियाऽऽखिलपदार्थविषयसम्यग्ज्ञान-  
सुखात्सिन्तानस्य उच्छेदासिद्धे, इन्द्रियजज्ञानादिसन्तानस्यैव तदभावेऽभावप्रसिद्धे,  
तत्र च सिद्धसाधनम् इत्युक्तम् । अतीन्द्रियज्ञानादिमङ्गाश्च सर्वज्ञसिद्धिप्रस्तावे प्रसाधिते ।

यत्पूर्वम्-‘आरब्ध’ इत्यादि, तदपि न सूक्तम्, उपभोगात् धर्मणामालयन्तिक-  
प्रत्ययानुपपत्ते । तदुपभोगसमये हि अपरकर्मोत्पत्तिकारणस्य अभिलापपूर्वकमनोवा-  
क्यायव्यापारादे सभवात् अविकलकारणस्य प्रचुरतरकर्मणो भवत कथमालयन्तिकप्रत्यय ?

यदपि ‘समाधिजलात्’ इत्याद्युक्तम्, तदप्ययुक्तम्, अभिलापरूपरागाद्यभावे सात्ति-

(१) ज्ञानानुच्छेद । (२) ज्ञानाद्यनुच्छेदस्य । (३) “कमविपाकवशादात्मनो भवान्तरावाप्ति  
ससार’-सर्वायसि० ९।७ । “आत्मोपचितकमवशादात्मनो भवान्तरावाप्ति ससार ।”-राजवा०  
२।१० । ‘यदवष्टम्भेनात्मन ससरणमितद्वेत्तश्च गमन भवति स ससार, अथवा बलवतो मोहस्यास्या  
ससार, नारकाद्यवस्था वा ससार ।’-तत्त्वान्नभा० व्या० २।१० । (४) बौद्धात् । ‘यस्मिन्न जातिन  
जरा न मृत्युन व्याधयो नाप्रियसप्रयोग । नच्छाविपन्नप्रियविप्रयोग क्षेम पद नष्टिकमच्युत तत । दीपो  
यथा निवर्तितमभ्युपत नवावर्ति गच्छति नान्तरिक्षम् । त्ति न काञ्चिद्विदिश न काञ्चित्स्नहक्षयात्  
केवलमति शान्तिम् ॥ एव क्ती निवर्तितमभ्युपेतो नवावर्ति गच्छति नान्तरिक्षम् । त्ति न काञ्चिद्वि-  
दिश न काञ्चित्स्नेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥”-सौन्दरन० ६।२७ २९ । (५) वैशेषिकस्य ।  
(६) बौद्धमते । (७) वशापि सिद्धान्ते । (८) ‘असत्त्वम्’ इति १५ । (९) सकलबुद्ध्यादि  
गुणगूयम् । (१०) प्रत्ययस्यैव । (११) ‘तत्पूर्वक त्रिविधमनुमानम्’-न्यायसू० १।१।५ । (१२)  
प० ८२४ प० ७ । (१३) तत्त्वज्ञानस्य । (१४) शरीराभावे । (१५) प० ८९-१ । (१६) प०  
८२४ प० ११ । (१७) “उपभोगात् कर्मण प्रक्षये तदुपभोगसमय’- प्रमेयक० प० ३१९ । समति०  
टी० प० १५९ । (१८) समुदभवत । (१९) प० ८२५ प० २ । (२०) ‘अभिलापरूपरागाद्यभावे

१ तत्र ससार-व० । २ अत्यन्तबुद्ध्या-श्र० । ३ भयता को आ० । † एतन्तगत पाठो नास्ति  
आ०, य० । ४-द्यनुपपत्ते आ० । ५ उच्छेदसिद्धे आ० । ६ तदभावाभावप्र-व० । ७-समयो हि य० ।



शयद्धिमतो भवद्भिप्रायेण योगिनोऽपि तत्प्रज्ञानाद्वगतर्मसामर्ध्यस्य नानाशरीराणि  
त्रिधाय अङ्गनागुपभोगाऽसभवात् । तत्सभवे वा अत्रश्यम्भाजी नृपत्यादेरिव अतिभो-  
गिनो योगिनोऽपि प्रचुरतरकर्मसभय ।

यत्पि—'वैत्रोपदेशेन' इत्याद्यभिहितम्, तदप्यभिधानमात्रम्, आतुरस्यापि  
नीरुम्भावाभिलाषेणैव ओषध्याद्याचरणे प्रवृत्त्युपपत्ते, अत एव तद्दृष्टान्तात् निरभि-  
लापस्यापि तत्त्वज्ञानिन तत्त्वज्ञानमात्रात् कर्मक्षयार्थितया अङ्गनागुपभोग साधयितु  
शक्य, इष्टान्त-दार्ष्टान्तिर्योर्वैपम्यात् ? तत्र अशेषशरीरद्वाराऽद्यात्ताशेषभोगार्थं कर्मा-  
तरानुत्पत्ति । किं तर्हि ? परिपूर्णसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्य इत्यल विवादेन, जीव-  
न्मुत्तेरिव परममुत्तेरपि त्रितयैत्मकादेव कारणानुत्पत्ते । ससारकारण हि मिथ्यादर्श-  
नादित्रयात्मकम् अत तत्रिवर्त्तकेनापि त्रितयात्मकेनैव भवितव्यम्, एकरूपेण सम्य-  
ज्ञानादिमात्रेण अस्य निवर्त्तयितुमशक्ते । सम्यग्ज्ञान हि निपरीताभिनिवेशविनि-  
त्ताऽऽत्मस्वरूपस्वभावसम्यग्दर्शनोपचित बाह्याभ्यन्तरत्रियानिवृत्तिलक्षणचारित्रोपवृद्धित  
त्रितयात्मकमेव आगामिकर्मानुत्पत्तौ सञ्चितकर्मक्षये च समर्थम्, उष्णस्पर्शस्य भावि-  
शीतस्पर्शानुत्पत्तौ प्रवृत्ततत्स्पर्शप्रध्वसे च सामर्ध्यवत् ।

यदैपि—'विनादापन्न शरीरादिनिवृत्तावात्मा' इत्याद्यनुमानम् 'न ह वै' इत्याद्या-  
गमश्च आत्मन सर्ववैपयिकसुखादिशून्यताया प्रमाणम्' इत्युक्तम्, तदप्ययुक्तमेव,  
सिद्धसाधनात्, शरीरादिनिवृत्तौ हि संमस्तधर्मान्निवृत्ते तत्प्रभवमेव सुरादि मुक्ता-  
त्मनो निवर्त्तत न स्वात्मोत्थम् । यद्धि यत्तार्थं तत् तदभावे न भवति नायत्ति-  
प्रसङ्गात् । धर्माद्यभावे कुतस्तस्तदुत्पत्ति इति चेत् ? 'प्रैतिग्घापायात्' इत्यमवृत्ता-  
वेदितम् । अत परमज्ञाप्रप्त सम्यग्दर्शनादित्रय परमप्रकर्षप्राप्तज्ञानादिस्वरूप मोक्ष  
प्रसाधयतीति प्रेक्षादक्षै प्रतिपत्तव्यमिति ॥ छ ॥

स्याद्युपभोगासभवात् । १-सम्मति० टी० पृ० १५९ । प्रमेयक० पृ० १३९ ।

(१) स्यादिभोग क्रियमाण तु । (२) पृ० ८२५ प० ८ । (३) वद्योपदेशप्रवतमानानु  
रदृष्टान्तोऽप्यसगत -सम्मति० पृ० १६० । प्रमेयक० प० ३१९ । (४) यागिन । (५)  
सम्यग्ज्ञानज्ञानचारित्राणि भोगमाग । -सत्त्ववायसू० १ । १ । 'नात्सगिस्त नाण नाणण विा न  
हुन्ति चरणगणा । अगुणित्स गत्यि मोकसो नत्यि अमोकसस्त निव्वाण ॥'-उत्तरा० २८।३० । (६)  
ससारस्य । (७) प० ८२५ पं० १०, १३ । (८) तुलना- गुमाशुभादष्टपरिपाकप्रभवेन भवसभविनी हि  
प्रियाप्रिये परस्परानुपवन अवेदयाय व्यवस्थित सकलादुष्टक्षयकारणक पुनरवर्त्तिकात्यान्तिकरूप  
कवामेव प्रियं नि श्रयसदाग्यामिप्यने तत्तुत प्रतिपियते ?'-रत्नाकराव० ७।५७ । स्या० म०  
पृ० ८५ । पङ्क० बह० श्लो० ५२ । (९) स्वात्मोत्थमुष्णाग्निमुत्पत्ति ।

१ शोषधाद्या-ब० थ० । २-नुपपत्ति आ व० । ३-दर्शनचारित्र-थ० । ४ कारणानुत्पत्ति  
ब० कारणानुत्पत्त आ० । ५ प्रयात्मकेनय ब० । ६-रूपस्यभावतामा-आ० । ७ समस्तकर्मादि-ब० ।  
८ प्रतिव्यघकापा-थ० । ९ परमप्रकथ-आ० । १०-सम्यग् आ० ।

ननु परमप्ररूपप्राप्तसुखस्वभावनैव आत्मनो मोक्ष न तु ज्ञानादिम्वभावता, श्रानन्दरूपो मोक्ष तत्र प्रमाणाभावात् । सुखस्वभावनताया तु तत्सङ्गावाद्सौ युक्ता । इति वदान्तिना तथाहि—आत्मा सुखस्वभावात्, अत्यन्तप्रिययुद्धिप्रियत्वात्, अनन्य-पूर्वपक्ष-परतयोपातीयमानत्वाच्च, यद् यदेवविध तैस्तत्सुखस्वभावम् यथा वैपयिक सुखम्, तथा चात्मा, तस्मात्सुखस्वभावात् इति । तथा, आत्मा सुखस्वभाव, वस्तुत्वे मति मुख्यप्रेयोयुद्धिप्रियत्वात्, निरुपचरितप्रेय शैलवाच्यत्वाद्वा, रागिणा वैपयिकसुखप्रदिति । इष्टार्थो मुमुक्षुर्प्रयत्न, प्रेक्षापूर्वकारिप्रयत्नत्वात्, कृत्यादिप्रयत्नवत् इति । परमातिशयप्राप्तता च तत्सुखस्य अतोऽनुमानात्प्रसिद्धा—सुखतारतम्य कचिद् विश्राम्यति, तारतम्यशब्दाच्च्यत्वात्, परिमाणतारतम्यप्रदिति । तथा आगमोऽपि आत्मनो मोक्षे तैस्त्वभावताया प्रमाणम्—

“श्रान द ब्रह्मणो रूप तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते ।” [ ]

“यैदा दृष्ट्वा पर ब्रह्म सर्वं त्यजति न धनम् ।

तदा तन्नित्यमानन्द मुक्त स्वात्मनि विन्दति ॥” [ ] इति

श्रुतिसद्भावात् ।

ननु नित्यानन्दस्य आत्मनि सर्वदा मद्भावाभ्युपगमे ससारदशायामप्युपलम्भप्रस-

(१) ‘एष एव ह्यानन्दयति’ ‘आनन्द ब्रह्मणो विद्वान्न विभक्ति कर्त्तव्यं’—तत्सि० २।७।४,९ ।

‘आनन्दो ब्रह्मति व्यजानान’—तत्सि० ३।७ । ‘विज्ञानमात्रं ब्रह्म’—बृहदा० ३।१।२८ । ‘आनन्दमयो ऽभ्यासात्—ब्रह्मसू० १।१।१२ । ‘तस्मादानन्दमय पर एवात्मा’—गा० भा० । ‘ब्रह्मण्यानन्दोऽप्य प्रयुक्त सुखवाचक । सर्वेषु च सुखे लोके आनन्दाख्या प्रयुज्यते ॥—बृहदा० वा० ३।१।१६६ । विव० प्र० प० २१६ । ‘इत्यनवच्छिन्नानन्दापत्तिरेव स्वतः पुरुषाय इत्याहुः ।—सिद्धांतले० प० ५०९ ।

(२) ‘तन्त्रप्रय पुत्रात्प्रय अयस्मात्सवस्मादन्तरतर यदयमात्मा जात्मानमव प्रियमुपासीत ॥’—बृहदा० १।४।८ । ‘आत्मन सुखरूपत्वात् आनन्दत्व स्वलक्षणम् । परप्रमास्पदत्वेन सुखरूपत्वमात्मन ॥ सुखहेतुषु सर्वेषां प्रीति सावधिरीश्र्यते । कदापि नावधि प्रीति स्वात्मनि प्राणिना क्वचित् ॥ आत्माऽन परमप्रेमास्पद सवशरीरिणाम् । यस्य शेषतया सवमुपादेयत्वमृच्छति ॥ एष एव प्रियतम पुत्रादपि धनादपि । अयस्मात्पि सवस्मात्वात्माय परमातर ॥’—सववेदांतसि० इलो० ६०३—२७ । ‘आत्मा सुखाभिन्न सुखलक्षणवत्त्वाद् अपयिकसुखवत् आत्मा सुखम अनौपाधिकप्रमगोचरत्वात्’—सक्षपशा० टी० पृ० ३०—३१ । ‘परमप्रेमास्पदत्वानुपपत्तिरप्यात्मन सुखरूपत्वे प्रमाणम् ।’—चित्तु० प० ३५८ । सिद्धांतद्वि० पृ० ४४५ । (३) वित्तेश्वरीपुत्रादयो हि आत्मायमुपादीयते, परन्वात्मन उपाप्तानं तु नायायम स्वयमात्मा आत्मायमेवोपादीयते इत्यथ । (४) प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च यच्च यावच्च चेष्टितम् । आत्मार्यमेव नायाय नात प्रियतम पर ।—सववेदांतसि० इलो० ६३० । (५) सुखस्वभावतायाम् । (६) ‘मात्रभिपक्षते’—प्रग० ध्यो० प० २० ख० । आनन्द ब्रह्मणा रूप तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम् ।’—वेदान्तसि० प० १५१ । तुलना—‘नित्य सुखमात्मनो महत्त्ववन्मात्राऽभिव्यज्यते ।—यायना० १।१।२२ । यायम० प० ५०९ । प्रवृत्तपाठ—सामति० टी० प० १५१ । यदद० बह० इलो० ५२ । (७) उद्धृतीश्र्यम—यदद० बह० इलो० ५२ ।

ज्ञानमुक्तेतरावस्थयोरनिशेषप्रसङ्ग इति च न वान्यम्, नित्यानन्दस्य नित्यात्मनि सत्त्वा  
सद्भावेपि ससारदशायामावृत्तत्वेन अनभिव्यक्तितोऽनुपलम्भसम्भवाऽविरोधात्, योगा-  
भ्यासादानरणप्रक्षये मोक्षान्स्थाया तन्भिव्यक्तेऽपलम्भ इति ॥ छ ॥

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तापदुत्तमं—‘आत्मा सुगम्यभाव’ इत्यादि, तत्र विमिद

मोक्षावस्थाया कथं सुगम्यभावत्वं नाम—सुगम्यत्वात्तिसम्बन्धित्वम्, सुगमाधिकरणत्वं वा ?  
विदित्यज्ञानादि न तावत् सुगम्यत्वात्तिसम्बन्धित्वम्, गुणे ण्य अस्मि सद्भावात् ।§ नहि  
प्रसाधनम्— एका काचिज्जाति द्रव्यगुणयो आत्मसुगम्यो साधारणा उपलभ्यते ।§  
नापि सुगमाधिकरणत्वम्, नित्याऽनित्यविकल्पाऽनतिश्रमात्—यस्य हि सुगम्यस्य अधिकर-  
णमात्मा तत्सुगमं किं नित्यम्, अनित्यं वा ? न तावत् नित्यम्, आत्मनोऽपि तैस्त्वभा-  
वतयाऽनित्यत्वप्रसङ्गात् । न खलु स्वभावाभावे तद्वतोऽवस्थानं युक्तम् अतिप्रसङ्गात् ।  
अथ नित्यम्, किं कथञ्चित्, सर्वथा वा ? यद्वि कथञ्चित्, जैनमतसिद्धि, द्रव्यतो  
नित्यस्य पर्यायतश्च अनित्यस्य कथञ्चित्त्वादिर्भावतिरोभावयत् सुगमपर्यायस्य आत्मनि  
ज्ञानादिपर्यायान् स्याद्वादिभिरभ्युपगमात् ।

ननु मुक्तौ मुक्तादिपर्यायस्य अपरापरस्य आविर्भावानुपगमे तत्कारणं यत्तद्व्यम्,  
अकारणकस्य तत्पर्यायस्य आविर्भावानुपपत्ते इति च न चेतसि निषेधम्, आत्मन  
एव तत्प्रतिश्रद्धकापायोपेतस्य तत्र तत्कारणत्वेन प्राक् प्ररूपितत्वात् । सौरयान्प्रतिश्र-  
न्धकमोहादिकर्मापायोपेतो हि आत्मैव मोक्षान्स्थाया तवाभूतसुगमज्ञानादिकारणम् घटा-  
द्यावरणापायोपेतप्रदीपक्षणवत् स्वपरप्रकाशकाऽपरप्रतीपक्षणोत्पत्तौ । किमपक्षोऽसौ  
तर्दा तेज्जनयतीति चेत् ? ‘तत्प्रतिश्रद्धकापायोपेक्ष एव’ इति ब्रूम । तथाभूतस्यार्य  
तदुत्पादनस्वभावतया तदाऽऽयोपेक्षाऽनुपपत्ते, यद् यत् यदुत्पादनस्वभाव न तत्तदा  
तदुत्पादने अन्यापेक्षम् यथा अन्त्यानस्थायाम् अन्त्या कारणसामग्री स्वकार्योत्पादने,  
तदुत्पादनस्वभावश्च मोक्षान्स्थायाम् अतीन्द्रियसुगम्युत्पत्तौ प्रतिश्रद्धकापायोपेत आत्मा

(१) ‘तस्मान्निर्गम्यानन्दस्वभावस्यात्मनोऽविद्यातिरोधानमेव वक्ष्ये विद्यानिमित्तस्त्वनन्दमयो

मोक्ष इति सिद्धम् । —चित्तु० प० ३६१ । ‘प्रत्यगव परानन्ततिरोभूत स्वमोहन । स्वकण्ठचा  
मीकरत्वनं प्राप्ताप्राप्य स्वविद्यया ॥ —वे० सि० सू० ४ । १० । ‘यद्यपि ससारदशायामविद्यावत्स्व  
रूपत्वान्त्वा परमानन्दरूपतया न प्रवने तथापि तत्त्वविद्ययाऽविद्यानिवृत्तौ स्वप्रकाशतया स्वयमेव  
परमानन्दस्वरूपतया प्रकाशत —सिद्धांतवि० प० ४५० । (२) प० ८३१ प० ५ । (३) तत्र यन्नि  
गुमस्वभावत्व मुक्तत्वजानिसम्बन्धित्वम् तन्न आत्मनि सभाज्यते गूण एवास्योपगम्यात् । न ह्येका  
हृद्द्वारात्प्रतिश्रद्धा जाति द्रव्यगुणयो साधारणोपलभ्यते । अथ सुगमाधिकरणत्वम् तस्मास्ति नित्या  
नित्यविकल्पाऽनुपपत्ते ।” —प्र० ध्यो० प० २० ग० । (४) सुगम्यत्वात्तिसम्बन्धित्वस्य । (५) अनि  
त्यसुगम्यत्वभावतया । (६) मोक्ष । (७) मुक्तादिपर्यायाधिभाकारणत्वेन । (८) मोभावस्थायाम् ।  
(९) सुगम । (१०) आत्मन ।

१ सद्भावेऽपि आ० । २ इत्यन्तगत पाठो नास्ति आ० श्र० । ३ स्याद्वा विभि० व० ।

४ तयान्वा—श्र० । ५—तदा तदुत्पादनेऽपेक्षम् आ० ।

इति । ईदृश्यते हि—ससारावस्थायामपि वासीचन्दनकल्पाना सर्वत्र ममवृत्तीना विशिष्ट-  
ध्यानादिव्यप्रस्थिताना सेन्द्रियगरीरादिव्यापाराजन्य परमाह्लादरूपोऽनुभव । स एव  
उत्तरोत्तरभावनाप्रियेपर्वगादुत्तरोत्तरामवस्थामासादयन् परमकाष्ठा प्रतिपद्यते इति सर्वं  
सुस्थम् । तैत तद्गायामपि तत्पर्यायस्य कश्चिदपि निर्भावनिमित्तसद्भावात् कश्चिदेवा-  
नित्य सुगादिपर्यायोऽभ्युपगन्तव्य ।

सर्वथा तन्नित्यत्वप्राहिण कस्यचिदपि प्रमाणस्याऽसम्भवाच्च । तस्य हि ग्राहक  
प्रमाण प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, आगमो वा स्यात् ? प्रत्यक्षञ्चेत्, किमैन्द्रियम्, मानसम्,  
स्वसवेदन वा ? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्त, इन्द्रियाणा प्रतिनियतरूपाङ्गिगोचरचारितया  
तत्प्रभप्रत्यक्षस्य ततोऽन्यत्र प्रवृत्त्यनुपपत्ते । द्वितीयविकल्पोऽप्यनुपपन्न, बाह्येन्द्रिय-  
निरपेक्षस्य मनस कचिदपि प्रवृत्त्यसम्भवात् । “अस्मत्तत्र ग्रहिमन् ” [ ]  
इत्यभिधानात् । बहिरेव अस्यै तैन्निरपेक्षस्याप्रवृत्ति नान्त इति चेत्, न, तत्रापि  
सम्बद्धस्य असम्बद्धस्य वा तस्यै स्वसवेदनमिद्वौ तत्र ज्ञानचनन्त्यप्रतिषेधार्त् । तृतीय-  
विकल्पोऽयमुन्मत्त, तथा प्रतीत्यभावात् । नहि स्वसवेदनप्रत्यक्षे अनपचित्तदेशकाल-  
कलाकलाप त्रिकालानुयायी नित्यनिरग सुगन्धभावोऽनुभूयते प्रतीतिविरोधान् । तत्र  
प्रत्यक्ष सर्वथा नित्यसुगन्धमाहकम् । नाप्यनुमानम्, सर्वथा तन्नित्यत्वाग्निभाविन कस्य-  
चिद्विद्वत्स्थाऽसम्भवात् । नाप्यागम, सर्वथा सुगन्धनित्यत्वप्रतिपादकस्य तस्याप्यप्रतीति ।

अस्तु वा कुतश्चित्तन्नित्यत्वप्रतीति तथापि यैतस्तत्प्रतीति तत् नित्यम्, अनित्य  
वा ? न तावदनित्यम्, तथाविधात्ततो नित्य तत्प्रतीतिविरोधात् । कुतश्चास्य उपपत्ति

(१) तुलना—उपलभ्यते च वासीचन्दनकल्पस्य मुमुक्षा सर्वत्र समवत्तन्निशिष्टध्यानादिव्यव-  
स्थितस्य सेन्द्रियगरीरादिव्यापाराजन्य परमाह्लादरूपोऽनुभव, तस्यैव भावनावशादुत्तरोत्तरामवस्थामा-  
सादयत परमकाष्ठाग्निरपि सभाव्यते ”—सामति० टी० पृ० १६१ । (२) तुलना—‘आत्मनो नित्यमु-  
दासताया प्रमाणाभावात् । प्रत्यक्ष तावदस्मदादीनामन्यथा वा केपाञ्चिदस्मिन्नर्थे न प्रभवतीति केय-  
कथा । अनुमानमपि न सम्भवति, लिङ्गैशानवलीकनात्ति ।’—व्यापम० पृ० ५०९ । तस्य प्राग्-  
प्रत्यक्षमनुमानमागमो वा स्यात् ? ”—स्या० २० पृ० ११५ । (३) द्रष्टव्यम्—पृ० ४३२ टि० १ । (४)  
मनस । (५) बाह्येन्द्रियनिरपेक्षस्य । (६) अत्र सुताशक्ति । (७) मनस । (८) पृ० १८५ ।  
(९) यस्मात्स्वेदनात् तन्नित्यमुखानुभव तत्सवेदनम् । तुलना—“तन्तन्तं सुखं मुक्ती पृष्ठं सर्वदस्वभा-  
वमसदस्वभाव वा ? सवेद्यञ्चेत्, तत्सवेदनस्य अनन्तस्य सिद्धि, अथवा अनन्तस्य सुखस्य स्वयं  
सवेद्यत्वविरोधात् । यदि पुनरसवेद्यमव तत्, तदा कयं सुखं नाम ? सातसवेदनस्य सुखत्वप्रगते ।’  
—अष्टसह० पृ० ६९ । ‘त किमानन्दो मुक्तावनुभूयते न वा ? यदि नानुभूयते, स्थिताऽप्यस्थिनात्र  
विगिष्यते अनुपभोग्यत्वात् । अनुभूयते चेत्, अनुभवस्य कारणं वाच्यम्—प्रग० क० पृ० २८६ ।  
‘नित्यं सुखमभिव्यज्यते इति कोऽभिगम्यकथय ? ज्ञानमिति चेत् नित्यमनित्यं वेत्ति कथं नानुपपत्ति ।’  
—व्यापवा० पृ० ८५ । ‘अस्तु वा यत्किञ्चित्प्राहकं तथापि तन्नित्यमनित्यं वा ? ”—स्या० २० पृ०  
१११६ । (१०) अनित्यसवेदनात् ।

१—ध्यापाराजन्य व० । २—उत्तरभावना—व० । ३—वशात्तदुत्तरोत्त—थ० । ४—तत्स्वचष्टध्याया  
—आ० । ५—कालकलाप व० । ६—नित्यत्वप्रतीति—व० ।

स्यात्, अनियस्य अनुत्पत्तिधर्मवत्त्वानुपपत्ते ? इन्द्रियाभ्यश्च तद्दुत्पत्त्यभ्युपगमे सुगविपयत्व न प्राप्नोति इत्युक्तमनन्तरमेव । अथ योगनधर्मापेक्ष आत्ममत्तमयोग एव तज्जनक, ननु योगनधर्मस्य सुक्तायसम्भवात् कथमसौ तत्तमयोगेन अपेक्षेत यतस्तत्रैतत्तस्तदुत्पत्ति स्यात् ? अथ आत्मा योगनधर्मापेक्ष तत्तमयोग ज्ञान जनयति, तत्रैवापेक्षय उत्तरोत्तर ज्ञानमसौ जनयति इति, तदप्यगामप्रतम्, अपमिद्धातप्रमद्वात् । नहि शरीरसंस्पर्धानपेक्ष ज्ञान तत्तमयोगस्य ज्ञानोत्पत्तौ महकारिवारणमिति भवता राद्धात्, तदपेक्षस्यैव तस्य तद्दुत्पत्तो घृताते तत्सहकारिवारणत्वोपपन्नत्वात् ।

अथ नित्यम्, तत्र मुक्तेतरावस्थयोरप्रिशोषप्रसङ्ग, सुगत्तसधेदनयो नित्यत्वेन उभयत्र सद्भावाऽप्रिशोषात् । इन्द्रियनसुरेण चास्य ससारावस्थाया माहर्चयोऽनुभयप्रसङ्गात् सुगद्वयोपलम्भ स्यात् । प्रतिबद्धत्वात्तदा तस्याऽनुपलम्भ इति चेत्, केनास्य प्रतिबद्धत्वम्-गरीरेण, अग्निद्या, त्रैपयिकमुखाद्यनुभवेन, बाह्यविपयव्यामङ्गेन वा ? न तावत् शरीरेण, अस्य सुरसावस्थत्वेन तदप्रतिबद्धत्वायोगात् । नहि यद् यदथ

(१) अनित्यत्व ह्युक्तमनुत्पत्तिधर्मवत्त्वानुपपत्ते । (२) तदुत्पत्त्यभ्युपगमे । (३) सुक्ता-  
 आत्ममन मयागम्य निमित्तान्तरसहितस्य न्युत्पत्त्यम् । धर्मस्य वारणवचनम्-यत् धर्मो निमित्ताकारम्,  
 तस्य ह्युत्पत्त्यो यत् उत्पद्यते इति ? योगसमाधिजस्य कायावसायविशेषान प्रशय सवेत्तानिवृत्ति-यत्  
 योगसमाधिजा धर्मो हेतु तस्य कार्यावसायविराधात् प्रशय मवन्मत्तमत्तम निवर्तेति । -न्यायभा०  
 १११२२ । पायवा० पृ० ८५ । पायवा० ता० पृ० २४० । (४) आत्ममन सयोगन । (५) मुक्ते ।  
 (६) योगजधर्मिणादात्ममन सयोगात् । (७) नानात्पत्ति । (८) तुलना- 'अथाद्यमयोगजधर्माऽनुपपन्नानि  
 विद्यानमपेक्षय उत्तर विज्ञान तस्माच्चात्तरमिति सन्तानम् तत्र, प्रमाणाभावात् । तथा च शरीरमभ्य  
 धानाक्ष विज्ञानमेव आत्मात्त करणनयागस्य अपेक्षाकारणमिति न दृष्टम् । -प्रश० पृ० २०  
 पृ० । अथ आद्य ज्ञान योगजधर्मिणस्तत्त्वयोगो जनयति -स्या० १० पृ० १११६ । (९) नाम  
 धर्मभूतम् । (१०) आत्ममन सयाग । (११) आद्यज्ञानम् । (१२) आत्ममन सयोग । (१३)  
 आत्ममन मयागस्य । (१४) गरीरमभ्य-धापेक्षस्यैव । (१५) आत्ममन सयोगस्य । (१६) सुक्ता-  
 सुगद्वयनित्यमिति चेत् ससारावस्थस्य मुक्तेतरावस्थेय अभ्यनुत्पन्न च धर्माधमपत्तन साहचर्य्य योगपर्य  
 गच्छत-यत्तन्मूल्यत्तिस्वानुप धर्माधमपत्त सुख दुःखं वा सवेद्यते पर्यायण तस्य च नित्यत्ववन्नस्य च  
 सहनाथ योऽपच गच्छत । न सुवाभाव नानभि-यत्किरस्ति उभयस्य नित्यत्वान् । -न्यायभा०, पा०  
 १११२२ । ततश्च धर्माधमपत्तान्या मुखदुःखाभ्यामस्य नित्यस्य सुखस्य साहचर्यमनुभूयत । - पायमं०  
 पृ० ५१० । स्या० १० पृ० १११६ । (१७) नित्यसुखस्य । (१८) ससारावस्थायाम् । (१९)  
 कनास्य प्रतिबद्धत्वम्-गरीरेण अग्निद्या त्रैपयिकमुखाद्यनुभवेन बाह्यविपयव्यामङ्गेन वा ? -स्या०  
 १० पृ० १११६ । (२०) गरीरस्य । तुलना- गरीरात्तिसम्बन्ध प्रतिबद्धहेतुरिति चेत्, न  
 गरीरात्तिसामुपभोगाथत्वात् विषयव्यस्य चाननमानान । स्वात्मत्वम्-ममारावस्थस्य शरीरात्तिसम्बन्धो  
 नित्यसुगदवन्नहेतोः प्रतिबद्धक तनाविशयो नास्तीति एतच्चायुक्तम् गरीरात्तय उपभोगार्था ते  
 भागप्रतिबद्ध च करित्यन्तीत्यनुपपन्नम् । न चास्त्वनुमानम्-अगरीरस्य आत्मत्वो भोग कश्चिदस्तीति । -  
 न्यायभा० १११२२ । पायवा० पृ० ८६ । पायवा० ता० पृ० २४० । पायमं० पृ० ५१० ।

तत् तस्यैव प्रतिबन्धकम् अतिप्रमङ्गात् । प्रतिबन्धकं हि कार्यविधातकमुच्यते । न च शरीर सुगस्य विधातकम् तस्मिन् मति तस्य आत्मलाभात् । यस्मिन् सति यस्यात्मलाभ न तत् तस्य प्रतिबन्धकम् यथा ग्रीवमङ्कुरस्य, शरीरे सति आत्मलाभश्च सुगस्येति । तस्य तत्प्रतिबन्धकत्वे च तत्पहन्तुर्हि साफल्यं न स्यात्, प्रतिबन्धविधातकस्य उपकारकत्वेन लोके प्रसिद्धे । नापि अत्रिद्याया, तस्या तुच्छरूपतया तत्प्रतिबन्धलक्षणार्थत्रियाकारित्वाऽसम्भवात् । यत् तुच्छरूपं न तदर्थत्रियानारि यथा मृगवृष्णिनाजलम्, तुच्छरूपा च अविद्या भग्नद्विरिष्टा इति । प्रतिपिद्वञ्च अत्रिद्याया प्रतिबन्धकत्वं ब्रह्माद्वैतप्रघट्टके प्रपञ्चेन इत्यल पुन प्रसङ्गेन । नापि वैपथिकसुगानुभवेन, तेन हि नित्यसुगस्य तदनुभवस्य वा प्रतिबन्ध अनुत्पत्तिलक्षणो विनाजलक्षणो वा न युक्त, द्वैयोरपि नित्यत्वाभ्युपगमात् । नापि ग्राह्यविषयव्यामङ्गेन, तेन हि प्रमातुः, इन्द्रियादेर्वा सैम्प्रन्धिना तत्प्रतिबन्ध क्रियते ? पक्षद्वयमप्येतदयुक्तम्, आत्मनो हि प्रमातुर्व्यासङ्ग रूपादौ विषये ज्ञानोत्पत्तौ विषयान्तरे ज्ञानानुत्पत्ति, इन्द्रियस्यापि एतस्मिन् विषये ज्ञानजनकत्वेन प्रवृत्तस्य विषयान्तरे ज्ञानाऽननकत्वम् । स चात्र अमम्भाव्य, सुगवत् तज्ज्ञानस्यापि सदा सत्त्वात् ।

किञ्च, यथा मुक्तयस्वायाम् अनित्य सुग ज्ञानाऽतिक्रम्य नित्य तत्परिक्ल्प्यते तथा नित्यत्वधर्माधिकरण देहेन्द्रियात्मिणमपि परिक्ल्प्यतामविशेषात् । अथ धर्मादे कार्यो देह कथं तदभावे तत्र भवेत् प्रतीतिविरोधात् ? तदन्यत्रापि समानम् । अथ ससार(रि)सुगप्रिलक्षण तत्सुगम् तेनायमदोष, तर्हि देहोऽपि ससारिदेहाद् प्रिलक्षण तत्र अस्यास्तु विशेषाभावात् ।

निश्च, सुगवत् ज्ञानस्य मुक्ताभ्युपगमे तच्छक्ते विपरीताभिनिवेशनिवृत्तिल-

(१) 'प्रतिबन्ध' कायध्याघानदुच्यते, न च नित्यसुगस्य अनुत्पत्ति सम्भवि । -प्र० १० व्यो० १० २० ग० । (२) शरीरस्य । "प्रतिबन्धकत्वेन तत्पहन्तुर्हि साफल्यं न स्यात् । तथा हि प्रतिबन्धविधातक उपकारक एवेति दृष्टम् । न हि नित्यसुगस्य वेदानुस्य प्रतिबन्धकस्य शरीरात्पहन्तुर्हि साफल्यस्य अभाव इत्यलम् ।" -प्र० १० व्यो० १० २० ग० । स्या० २० १११७ । (३) "प्रमातस्य तुच्छेनावरीमुगानुपत्त्वात् यथा अपि खेरस्य स्वरूपेण च वास्तवा । तत्त्वायत्वाद्यचित्या तु नाविद्यावरणताम ॥" -आय० १० ५१० । (४) १० १४३ । (५) नियमसुग-तत्परिणयो । (६) 'नियमसुग' हि अनुभवस्यापि नियत्वाद् व्यासङ्गानुपपत्ति । तथा हि आत्मनो रूपाविषयव्यामङ्गेनोत्पत्तौ विषयान्तर जानानुत्पत्तिर्यासङ्ग । एवमिन्द्रियस्यापि एतस्मिन् विषये ज्ञानजनकत्वात् प्रवृत्तस्य विषयान्तर जानानुत्पत्त्यर्थं व्यासङ्ग । न च व्यामङ्गेनो रूपाविषयव्यामङ्गेनोत्पत्तौ नित्यसुगं जानानुत्पत्ति तत्पानस्यापि नियत्वात् ।" -प्र० १० व्यो० १० २० ग० । (७) सुल्ला- 'दृष्टान्निवृत्तश्च दृष्टान्निवृत्तस्य । यथा दृष्टमनित्यं मुक्तं परित्यज्य निश्चयस्य कामवत्, एव दृष्टिद्वयबुद्धीरनिष्ठा दृष्टा अनिश्चयं मुक्तस्य नित्यादोर्हि द्वयबुद्धयं कल्पयितव्या ।" -आय० १० १० १ । १ । २२ । 'सुगवत्पानव्यामङ्गकामं देहेन्द्रियाद्यपि । नियम-प्रवृत्तस्यपानमित्यं माणो रम्यनरो भवेत् ।" -आय० १० ५१० । (८) ज्ञानज्ञानपारपाय - ज्ञानानुत्पत्ते ।

क्षणदर्शनस्य च सामर्थ्यमिद्वत्वात् अनन्तचतुष्टयस्वरूपलाभलक्षणमोक्षप्रसिद्धे जैनमत-  
मिद्धि स्यात्, 'ग्रानद वराणो रूपम्' इत्येतेन तत्यागात् । तत्र सुगस्वभावरूपलक्षण  
साध्य विचार्यमाण भवन्मते घटते ।

साधनञ्च अत्यन्तप्रियबुद्धिनिपयत्वम् अनन्यपरतयोपादीयमानत्वञ्च अनन्तचित्त-  
५ क्त्वादसाधनम्, दुःखाभावेऽपि भावात् । अनन्यपरतयोपादीयमानत्वञ्चामिद्धम्,  
नहि आत्मा अयार्थं नोपादीयते, सुखाद्यर्थमस्वोपादानात् । अत्यन्तप्रियबुद्धिनिपयत्व-  
मप्यमिद्धम्, दुःखितायामप्रियबुद्धेरपि भावात् ।

यदपि 'आत्मा सुगस्वभावरूपस्तुत्ये सति सुगयप्रेयोबुद्धिनिपयत्वात्' इत्युक्तम्,  
तदप्येतेन प्रत्युक्तम्, सुगस्वभावरूपे प्रागुक्तानुपदोपानुपद्वात् । प्रेयोबुद्धिनिपयत्व  
१० निरुपचरितप्रेय शब्दवाच्यत्वञ्चाऽसिद्धम्, कर्त्तारिदुःखिताया कर्त्तृभावात् । अय-  
थामिद्धञ्च, आत्मनो हि आत्वात्तस्यो दुःखाभावो मोक्षे स्यात् इति तत्र तत्र साधनद्वय  
न पुन सुगस्वभाव इति । निरुद्धञ्च, सुगस्वभावरूपताविपरीतस्य दुःखाभावस्वभावत्व-  
स्यैव अतः प्रसिद्धे । तथाहि—दुःखाभावरूपोऽयमात्मा, यस्तुत्ये सति सुगयप्रेयो-  
बुद्धिनिपयत्वात्, निरुपचरितप्रेय शब्दान्यत्याद्या, रागिणा वैपयिषदुःखाभावरूपवदिति ।

१५ यदप्युक्तम्—'इष्टार्थो मुमुक्षूणा प्रयत्नः' इत्याम्, तदप्यमुन्दरम्, हेतोरनेकान्तात् ।  
नहि इष्टार्थसाधनाथैव प्रेक्षावता प्रयत्नो भवति, व्याधिनिशेषतिष्ठाना तेषाम् अनिष्टो  
परमार्थमपि प्रयत्नप्रतीते ।

निरुद्ध, इष्टशब्देनात्र किं सुखमभिधीयते, अभिप्रेतप्रयोननमात्रं वा ? यदि  
अभिप्रेतप्रयोननमात्रम्, कथमतः पुन सुगस्वभावरूपता सिद्धयेत् ? परस्परनिरुद्धानेका-  
० पवगममिद्धिप्रसङ्गञ्च, कपिलादिमतानुसारिणामपि मुमुक्षूणा प्रयत्नस्य तदिष्टापरग-  
लक्षणप्रयोननप्रसाधकत्वप्रसङ्गे । प्रयत्नस्य प्रेक्षावत्त्वनिषेधेणात् न अनेकविस्तरापवर्ग-  
समिद्धिरिति चेत्, न, तद्विवेकस्य कर्त्तुमशक्यत्वात् । नहि भयमनानुसारिण प्रेक्षावत्त  
न कपिलादिमतानुसारिण इति निवृत्तं कर्त्तुं शक्यं, प्रमाणप्रसाधितमर्थानित्यादि-

(१) दुःखाभावोऽपि भावात् । अनन्यपरतयोपादीयमानत्वञ्चामिद्धम्, सुखाद्यमुपादानात् ।  
अत्यन्तप्रियबुद्धिनिपयत्वमप्यमिद्धम् दुःखितायामप्रियबुद्धेरपि भावात् । —प्रमाणं व्यो० पृ० २० ग० ।  
(२) पृ० ८३१ पं० ६ । (३) प्रयत्नत्वाभावात् । (४) पृ० ८३१ पं० ७ । (५) तुलना-  
'इष्टार्थमिष्टार्थं प्रवृत्तिरिति चतः, न, अनिष्टोपरमाप्तत्वात् । —यावभा०, वा० १।१।२२ । 'तानि  
ष्टापरमाप्तत्वात्'निष्टस्यापि गान्तय । सन्तः प्रयत्नमाना हि इत्यन्तं व्याधिसन्ति ॥ अनिष्टवद्दृष्ट्यायं  
ससारदुःखमार इति तदुपगमाय व्यवस्यत सन्तो न निष्प्रयोजनप्रवृत्ता भवन्तीत्यनन्तवर्तनी हेतु ।'  
—यावभा० पृ० ५०९ ।

१—कर्त्तव्यपरिवागात् श्र० । २—चिबुद्धितार्था ब० । ३ सुखस्वभावविषय-आ० । ४—भावावधारित  
आ, —भावावधारित ब० । ५—वृत्तमिष्टमिष्ट-आ० —वृत्तमिष्टाय मुमुक्षू-ब० । ६—साधनानुसारि-आ० ।  
७—प्रमाणवाचि-श्र० ।

स्वभावतत्त्वाङ्गीकारेण अशेषाणामप्यप्रेक्षावस्वप्रमिद्धे । अथ सुखम् दृष्टशब्देन उच्यते, तदा साध्यविकलता दृष्टान्तस्य । न सल्लु कृपीपलादीना कृप्यादिप्रयत्न साक्षात्सुगार्थो भवति, कृप्यादिफलनिष्पत्त्यर्थत्वात्तस्य । परम्परया तस्य तदर्थत्वे मुमुक्षुप्रयत्नस्यापि तैर्था तदर्थत्वमस्तु । ननु मुमुक्षुः यदि साक्षात्सुगार्थप्रयत्ना न भवन्ति तदा ते निःप्रयोजनप्रयत्ना एव स्युः प्रयोजनान्तरस्य तत्प्रसाध्यस्याऽसभवात्, तदप्यपेशलम्, ससारदुःखोच्छेदलक्षणप्रयोजनस्य तत्प्रयत्नप्रसाध्यस्य सङ्गानात् । दुस्सहो हि ससारदुःखमारोऽयम् अतः तदुच्छिद्ये प्रयत्तमानास्ते न निष्प्रयोजनप्रयत्ना भवितुमर्हन्ति ।

यत्पुनः 'सुखतारतम्यं क्वचिद्विश्राम्यति' इत्याद्यभिहितम्, तदप्यभिधानमात्रम्, परत्यादिना अनेकान्तात् । परापरादिवुद्धिप्रकर्षसमधिगतौ हि परत्वादिप्रकर्षं तारतम्यशब्दाच्च्यो न च क्वचिद्विश्रान्तः ।

किञ्च, दुःखेऽप्येव परमप्रकर्षप्रसङ्ग - दुःखतारतम्यं क्वचिद्विश्राम्यति तारतम्यशब्दवाच्यत्वात् परिमाणतारतम्यवत् इति । न च दुःखपरमप्रकर्षो भवद्विरिष्ट इत्यनेनापि अनेकान्तः ।

यदपि - 'आनन्दब्रह्मणो रूपम्' इत्याद्यागम मोक्षे सुखस्वभावतायायात्मनः प्रमाणम्' इत्याद्युक्तम्, तदतीवाऽसङ्गतम्, तस्य प्रामाण्यासभवात् । गुणवद्वैकृत्यत्वेन हि वचनस्य प्रामाण्यम् । न च वेदे भवद्विः तदिष्टम् । अपौरुषेयत्वेनास्य प्रामाण्यम्, इत्यपि श्रद्धामात्रम्, तत्पौरुषेयत्वस्य प्रागेव प्रतिव्यूढत्वात् । अस्तु वा तस्य तथा प्रामाण्यम्, तथापि यथासौ मुक्तौ आनन्दरूपताम् आत्मनः प्रतिपादयति तथा तत्भावमपि "न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोर्पहतिरस्ति, अशरीरं वा स तत् प्रियाप्रिये न स्पृशत ।" [ छा० ० ८।१२।१ ] इत्यादिवचनात् । अतः कास्य प्रामाण्यम् इति व्याघ्रतटीन्यायो भवतः संभाषात् । अथ इदमागमवचनम् अन्यथा व्याख्यायते - 'सशरीरस्य' इति प्रक्रमात् सासारिके सुखदुःखे अनुकूलेतरविषयोपलम्भसभवे मोक्षे

(१) परम्परया । (२) मुमुक्षुप्रयत्नः । (३) प० ८३१ प० ८ । (४) दुःखपरमप्रकर्षेण । (५) प० ८३१ प० ११ । (६) प० ७२४-१ । (७) "स्यादतदेव यद्येतदेव केवलमागमवचनमश्रोष्यन्, वचनान्तरमपि तु श्रूयते-न ह वै । ननु भवत्सठितमागमवचनमयथापि व्याख्यातुं शक्यते-सशरीरस्येति प्रक्रमात् सासारिके सुखदुःखे अनुकूलेतरविषयोपलम्भसभवे तदानीमशरीरमात्मानं न स्पृशत इत्यर्थः । एतत्तर्हि स्वदधीतमपि वेदवचनमानन्दब्रह्मेति ससारदुःखपरिहारप्रमप्रकरणेव तददुःखापायविषयं व्याख्यास्यते । न खलु 'याम्यानस्य भगवन् क्वचिदभूमिरस्ति । दुष्टादन्न दुःखोपगमं सुखं गच्छप्रयोगः । चिरञ्ज्वरिणा त्स्यादिव्याघिदुःखं सन् भोजिता । सुखिनो वयमस्मेति तदपाम प्रयुञ्जत ॥"-व्याघ्रम० पृ० ५०९ । (८) "कुटुम्बमपि मे प्रेयान् प्रेयास्त्वमपि हे सखे । किं करोमि द्विषा चित इतो व्याघ्र इतस्तन्ती ॥"-परिनि० ३ । १६६ । लौकिक व० तृ० भा० । "इतस्त्वदमितो व्याघ्र वेनाम्तु प्राणिनो गतिः ।"-यग० उ० प० १३८ । (९) 'न ह वै' इत्यादि वचनम् ।

१ तस्यास्त-व० । २ तदा तद-व०, थ० । ३ न क्वचि-आ० । ४ दुःखे तारतम्य आ० । ५-वृत्तेन हि आ०, थ० । ६-रूपपातिरस्ति थ० । 'संभाषात् नास्ति थ० ।



अशरीरमात्मानं न स्पृशत' इति, तदपि मनोरथमात्रम्, 'शानन्द मल्ल' इत्यास्यापि अथवा व्याख्यातुं मुशकत्वात्, आत्यन्तिकसंसारदुःखाभावविषयो हि अत्र आनन्द-शब्द न पुनः सुखविषयः । अष्टद्वन्द्वं ग्राभावे सुखशब्दप्रयोगः यथा भराशान्तस्य चिर-ज्वरशिरोर्योदिव्याधिदुःखितस्य वा तत्पाये 'चिरं तद्दुःखेन सिद्धा सुखिनो पयसः' इति तदात्मना प्रतिभासप्रतीतेः ।

यद्योक्तम्—'नित्यानन्दस्य समारंभशायाम् आवृत्तत्वेनाऽनभिव्यक्तितोऽनुपलम्भ' इत्यादि, तन्पुच्छिमात्रम्, अविद्यादेः तत्कारकत्वप्रतिषेधात्, नित्यैकस्वभावस्य स्वप्रकाशात्मन आश्रित्यमाणत्वायोगाच्च, परिणामिन एव हि यस्तु न वेत्ति चित्तव्यवस्थां युक्तम् कथञ्चिदनादृतरूपपरित्यागेन आवृत्तरूपस्वीकारात् । अतः कथञ्चिदेव नित्यज्ञान-स्यास्त्रिभासो मुक्तौ आत्मा प्रतिपत्तय इति ॥ छ ॥

ननु कार्यकारणभूतज्ञानक्षणप्रवाहव्यतिरेकेण अपरस्य आत्मनोऽसम्भवात् फल-निराशयभावनात् हानादिस्वभावात् मुक्तौ प्रसाध्येत ? मुक्तिश्च आत्मदर्शिनो दूरोत्सा-विशुद्धज्ञानोपतिरूपे रिता । यो हि पश्यति आत्मानं स्थिरादिरूपं तस्य आत्मनि स्थैर्या-मात्रं इति शौद्रस्य त्रिगुणदर्शननिमित्तं स्नेहोऽपश्यन्भावी, आत्मस्नेहाच्च आत्मसुखेषु पूर्वपक्ष-परित्यज्यन् सुरेषु तत्साधनेषु च दोषास्तिररुह्य गुणानारोपयति, गुणदर्शी च परित्यज्यन् ममेति सुप्रसाधनान्युपात्ते, ततो यावद् आत्मदर्शनं तावत्संसार एव । तदुक्तम्—

'यं पश्यत्यात्मानं तत्रास्याहमिति शान्तं स्नहं । स्नेहात्सुरेषु तृप्यति तृष्णा दापास्तिरस्कृतः ॥

(१) आत्यन्तिके च संसारदुःखाभावे सुखवचनात् आगमेषु सत्यविरोधः । यद्यपि कश्चिद्वागमः स्याद् मुक्तस्यात्यन्तिकं सुखमिति । सुखशब्द आत्यन्तिके दुःखभावे प्रयुक्त इत्यवमुपपद्यते । दृष्टौ हि दुःखाभावे सुखशब्दप्रयोगो बहुत्र लोके । —वायभा०, वा० १।१।२२ । 'मुख्यं हि वायव्योपपत्तौ गीण इति । तथाहि दुःखाभावप्रमाणान्दशप्रयुक्तो दृष्टः । सुखशब्दो दुःखाभावस्य भाराशान्तस्य बाहिकस्य तदपय इति । —प्र० ० ध्यो० १० १० ग० । (२) १० ८३२ १० २ । (३) 'य पश्यत्यात्मानं तत्रात्मनि अस्य द्रष्टुं अहमिति धावत अनपायिसाहो भवति । स्नेहान् सुखेषु तृप्यति तृष्णावान् भवति, तृष्णा च सुखसाधनत्वनाध्यवसितानां वस्तूनां दोषानुचित्वात् तिरस्कुर्वते प्रच्छादयति । दोषतिरस्करणात् गुणदर्शी क्षुचित्वष्टत्वगुणान् पश्यन् परित्यज्यन् ममनि ममेत् सुखमिति गदमानं तस्य सुखस्य साधनानि गमयमानादी युपादत्तं । तेषां आत्मदानमूलत्वेन जन्मादेः सत्परिनिवेशो घावत्सत्त्वं च आत्मदर्शी संसार एव । न केवलं जन्मप्रवृत्तस्य दोषा रयि समस्ता सन्तीत्याह । आत्मनि सति ततोऽयस्मिन् परमज्ञा परबुद्धिर्भवति, स्वपरयोवधात्रम परिश्रोत्रभिष्कङ्क ह्य परित्याग लो भवत । अन्ये अनुनयप्रतिपथया सप्रतिवद्धा सर्वे दोषा रागमात्सर्पेण्यन्धः प्रजायन्ते ।'—प्रमाणवा० मनोरथ० । उदता इमे—बौधिसर्वा० १० १० ४९२ । अने वान्तत्रय० १० २८ । प्र० ० उ० १० २५२ । 'यायवि० त्रि० १० ५८१ A । पश्य० बह० इलो० ५२ । चानवि० १० १४७ A । 'य पश्यत्यात्मानं तस्यात्मनि भवति—सिद्धिबि० टी० १० ५५ B । 'आत्मनि सति'—अभि० आलोक० १० ६७ । प्रश० क० व० १० २७१ ।

१ चिरदुःखेन ब० ३० । २ स्वभावतयास्य प्रकाशा-ब० । ३ युक्तो ध० । ४ कारकभत-शा० । ५-तृप्यन् आ०, व० । ६-तृप्यन् आ० व० । ७ तृप्यति आ० ।

गुणदर्शी परितृप्यन् ममति सुतसाधनान्युपादत्ते । तेनात्ममिनिवेशो यावत्तावत् स ससार ॥  
 आत्मनि सति परसज्ञा स्परविभागात् परिग्रहद्वेषौ । अनयो सम्प्रतिपत्त्या सर्वे दोषा प्रजायन्ते ॥”  
 [ प्रमाणवा० १।२१९-२१ ] इति ।

ततो मुक्तिमिच्छता स्वरूप पुत्रफलत्रादिकञ्च अनात्मकमनित्यमशुचि दुःख-  
 मिति श्रुतमग्न्या चिन्तामग्न्या च भाजनया भावयितव्यम्, एतद् भाजयत तत्र अभि-  
 प्रह्लामावात् अभ्यासविशेषतो वैराग्यमुपजायते, अतः सास्त्रवचित्तसन्तानलक्षण-  
 ससारनिवृत्तिरूपा मुक्तिरुपपद्यते । निरन्वयविनश्वरेषु हि चित्तक्षणेपु एकत्राध्यारोपेण  
 आत्माभिनिवेशात् आत्मप्रेमानुगत प्राण्यभिधान स्क्न्धसन्तान सासारिकसुरसाधनेपु  
 प्रवर्त्तमान सास्त्रवचित्तसन्तान सन्तनोति । ततोऽस्य व्यलीकाभिनिवेशस्य अपोहायं यन्न  
 नैरात्म्याभ्यासादिलक्षण असत्यपि आत्मनि नित्यनिरादिस्वभावे मोक्षरि इति । उक्तञ्च—

(१) तत्र श्रुतमयी श्रूयमाणेभ्य परर्यातुमानवाक्येभ्य समुत्पद्यमानेन श्रुताब्दवाच्यताया  
 स्वप्ना निवृत्ता परं प्रकय प्रतिपद्यमाना स्वार्थानुमानलक्षणया चित्तया निवृत्ता चित्तमयी  
 भावनामारभते ।—आप्तप० का० ८३ । (२) अभिष्वङ्गो राग । (३) वायवारणभूताश्च तथा  
 विद्यादयो मता । वधस्तद्विगमादिष्टो मुक्तिनिमलना धिय ॥ यथोक्तम्—चित्तमेव हि ससारो  
 रागादिकलेखावासितम् । तदेव तविनिमुक्त भवान्त इति कथ्यते ।—तत्त्वसं०, प० पृ० १८४ । (४)  
 “तस्मादनादिसन्ताननुल्यजातीयरीजिवात् । उत्सातमूला कुक्षत सत्त्वदष्टि मुमुक्षव ॥”-प्रमाणवा०  
 २।२५६ । किं पुनरिदं नरात्म्य नाम यदसत्सु नोपदेष्टव्यं सत्सु चोपदेष्टव्यमित्याह—अद्वितीय विषयद्वारं  
 कुदष्टीना भयङ्करम् । विषय सन्बुद्धानामिति नरात्म्यमुच्यते ।—नरात्मा नाम योऽपरायत  
 स्वरूप स्वभाव, तदभावो नरात्म्यम् । तच्च धमपुद्गलभेदात् इत प्रतिपद्यते । धर्मनरात्म्य पुद्गल  
 नरात्म्यञ्च । तत्र पुद्गलो नाम य स्क्न्धानुपात्तय प्रप्यते । स च स्वक्षेपु पञ्चधा मुख्यमाणो न  
 समवति । धर्मास्तु स्क्न्धायतनधानुसंगिष्ठा पदार्था तदेतेषा धर्माणां पुद्गलस्य च यथास्व हतु  
 प्रत्ययाधीनजमत्वाद्युपात्तय प्रक्षप्यमानत्वाच्च स्वयत्तमपरात्त निजमदृत्तक रूपं तास्तीनि पुद्गलस्य  
 धर्माणाञ्च न स्वाभाव्य व्यवस्थाप्यत । यस्य धर्मस्य स्वरूपसिद्धिर्नास्ति तस्य केनायेनात्मनास्तु  
 सिद्धिरिति । तस्मात्सवयासिद्धिलक्षणा एव पदार्था मूलजनस्य विमवात्वेनात्मना प्रतीय बोधादाय  
 या वल्लमाना मूढधिया सङ्गास्पद भवति । यथास्वभाव तु सम्यग्दान प्रतिभ्राष्टयमाना धमपुद्गला  
 सङ्गापरिहायवाहारा भवति । सङ्गापरिहायश्च निर्वाणप्रातिकारणम् । विदितनरात्म्यस्य हि सर्वेषु  
 परिशीलसङ्गस्य न कश्चि वाचित्प्राथना कुतो वा निमित्ताय उन्म इत्यद्वितीयमव विषयद्वारमाभरा  
 र्त्तम् । (प० १५१) तद्वत्ता नैरात्म्यमिति यस्यय धनते मति । तस्य भावात्कुत प्रीतिरभावेन  
 कुतो भयम् ॥—धनुष्मन्त० पृ० १५१, १५६ । तत्त्वसं० पृ० ८६६ । “यत्स्वना वास्तु मयं यच्छे नाम  
 विचन । अहमेव न तिष्ठिच्छे भयं कस्य भविष्यति ॥—बोधिव० १।५७ । ‘वर नरात्म्यभावना  
 नैरात्म्यस्य पुद्गलविषयस्य भावना अभ्यास वरमुत्तमम्, आत्म्यमिन्द्रप्रवृत्ताहृद्गानिवृत्तिहेतुत्वात् ।  
 तपसि सापद् भाषाप्रत्ययवन्तगमनात् माक्षाप्रराग्यनात् विरोधित मन्वायत्तं न निवन्त ।  
 तद्वत्तो वरस्यानुमायितो दानाभावात् पूर्वपरिहायविषयस्य क्षणमायस्य दानतम । तत्र पूर्वपरिहाय  
 मारातामायाप्रानागतमुगमापन किञ्चिदात्मन पररति ततो न गम्य वरविशिष्टये गणो जायते नाति  
 नरप्रतिविरोधिनि इय आसङ्गाभावात् । नाप्यवर्णिं प्रति अकाररपान पश्यति, यदयमिन् कुतो

१-तृप्यन् ध० । २-चित्तक्षणेपु ध० । ३-तृप्यन् धा-३० । ४-प्रमाणवधि-ध० । ५-धनोर्न  
 -ध० । ६-विषयद्वारं ध० ।

“मिथ्याधारोपनानार्थं यत्नोऽसत्यपि मोऽरि” [प्रमाणवा० १।१९४] इति ।

नैरात्म्याभ्यासादिलक्षणयत्राभावे तु आत्माभिनिवेशाऽनिवृत्ते इन्द्रियादिषु उप-  
भोगाश्रयत्वेन गृहीतेषु आत्मीयबुद्धेर्निवारयितुमशक्यत्वतो वैराग्यासभवात् मोऽग्य  
दत्तो जलाञ्जलि । तदुक्तम्-

“उपभोगाश्रयत्वा गृहीतपिन्द्रियादिषु ।

ईरत्वधी क्व वायैत वैराग्य तत्र तत्कृत ॥” [प्रमाणवा० १।२२९] इति ।

अथोच्यते-नेन्द्रियादिषु उपभोगाश्रयत्वबुद्धिनिर्वाधनस्यत्प्रबुद्धिप्रभरोऽयम्  
आत्मीयस्नेह येनाथ दोष स्यात् किन्तु गुणदर्शननिर्वाधन, अत तद्विरुद्धदोषदर्शने  
तन्निवृत्तितो वैराग्योपपत्तेरिति, तदयुक्तम्, तैन्निराधनस्वत्वबुद्धेरेव अस्या-  
विर्भावात्, स्वचक्षुरादिषु गुणोपपरीक्षाधिकलानामपि बाल्यप्रभृतीनाम् उपभोगा-  
श्रयत्वबुद्धिनिर्वाधनाया स्वत्वबुद्धे तत्र स्नेहस्याधिर्भावात् । आत्मीयेष्वपि च पिषट-  
पाण्डुण्डादिदोषदर्शनेऽपि अर्थे भावात्, परकीयेषु गुणदर्शनेऽप्यभावात् । आत्मीये-  
ष्वपि अतीतेषु स्वदेहच्युतेषु च अङ्गावयवेषु गुणदर्शनेऽपि आत्मीयबुद्धित्वागे स्नेहस्या-  
भावात् तैन्निराधनस्वत्वबुद्धिप्रमथ एवासौ<sup>६</sup> अभ्युपगतव्य । अत युक्तं तद्वच्यच्छे-  
दाय नैरात्म्यादिभावनाभ्यास ।

शकार तयोद्वयोरपि द्वितीयक्षणभावतः । न चायन कृते “पकारे प्रगावतो” यत्र वरनिर्वातनमुचिनम्  
नापि यस्य कृतस्तेनापि । एव रागाभिनिवृत्तौ अपि तत्प्रभया कर्णोपपत्तेः मोक्षत्वे । नापि  
वस्तुतः कश्चित् कस्यचित्पकारकारी । इदं प्रतीत्यन्मूलकते इति प्रतीत्यगममूलादप्युक्तम् । एव हि  
पुत्रगल्पयताया सत्कायदर्शननिवृत्तौ छिन्नमूलत्वात् कर्णा न सम्पावन्ति । ययोक्तमायतपागतम्  
ह्यसूत्रे-तद्यथापि नाम गान्तमते वयस्य मूलच्छिन्नस्य सवशात्पात्रपलाय गप्यति । एवमेव गान्तमते  
सत्कामदृष्टिप्रगमानं सवकलेशा उपसाम्यन्तीति । तस्माद्द्वर नरात्म्यभावना । -बोधिचर्चा० प० पृ०  
४९२-९३ । नरात्म्यपरि० प० १२ ।

(१) मिथ्याधारोपस्य सत्कारित्वाध्यवसायस्य हानाय यत्नोऽसत्यपि कस्मिन्निवृत्तादी  
मोक्षरि । न हि यथावत्वेव व्यवहारं किन्तु यथावसायञ्च । तथाहि रज्जुरपि सपाप्यवसायविषय  
त्वात् परिहारविषय । एवमहमेव बद्धोऽहमेव मोक्षार्थीत्यध्यासोऽस्य व्यापारः । -प्रमाणवा०  
मनोरथ० । उदत्ताज्यम-त वक्त० प० पृ० १/३ । प्रमेयक० प० ३२१ । समिति० टी० पृ० १६२  
४१८ । (२) आत्मीयबुद्धिहायात्र त्यागो न तु विषयः । उपभोगाश्रयत्वेन आत्मीयबुद्धिहाया  
तत्राहित्वात् त्यागो न तु विषयः आत्मीयबुद्धिसत्तायाम् । यस्माद् उपभोगस्य आश्रयत्वेन कारण  
त्वेन गृहीतेष्विन्द्रियादिषु स्वत्वे धी आत्मीयस्वबुद्धि केन हेतुना वायैत ? क केनचित् । तत्कुतस्तत्र  
उपभोगसाधनं स्वीयावयवं वैराग्यं यत्नं त्यज्यते । ततो यस्य पते आत्मीयबुद्धिहाय्या एव । न च  
स्वहातिवत्स्वीयबुद्धिहायिनस्ति यथा त्यागं स्यात् । -प्रमाणवा० मनोरथ० । उदत्ताज्यम-भ्यासवि०  
वि० पृ० ५८१ B । (३) भोगसाधनत्वनिर्वाधन । (४) स्नेहस्य । (५) उपभोगाश्रयत्वनि  
र्वाधन । (६) स्नेह ।

१-ध्यानीप-श्र । २-गप्रवत्ता-श्र० । ३ आनीयबुद्धे-जा० । ४ स्वत्वधी च० । ५ इति  
नास्ति व० । ६-निर्वाधनसत्त्वबुद्धि-व० । ७ वेदयुक्तम व० । ८ अत्याभावात् आ० । ९-धयबुद्धि-व० ।  
१०-वशनेपत्याभा-ध० ।

अथ तद्भावनाभावेऽपि कायक्षोशलक्षणात्तपसं सफलकर्मप्रक्षयान्मोक्षो भविष्यति, तन्न, कायछेदस्य कर्मफलतया नारकादिकायसन्तापघत् तपस्त्रयायोगात् । विचित्रशक्ति-  
 वद्ध कर्म विचित्रफलदानाऽन्यथानुपपत्ते, तच्च कथं कायसन्तापमात्रात् क्षीयेत  
 अतिप्रसङ्गात् । अथ तप कर्मशक्तीना संकूरेण क्षयकरणशीलमिति कृत्वा एकरूपादपि  
 तपसं चित्रशक्तिरस्य कर्मण क्षयः, नन्वेव स्थल्पछेदेन एकोपवासादिनाऽपि अशेषस्य  
 कर्मण क्षयापत्तिं शक्तिसाङ्कर्यान्यथानुपपत्ते । उक्तञ्च-

“कर्मज्ञयाद्विमोक्षं स च तपसं तच्च कायसन्ताप ।  
 कर्मफलत्वाच्चारकदुःखमिव कथं तपस्तत्स्यात् ॥  
 अन्यदपि चैकरूपं तच्चित्रज्ञयनिर्वाधनं न स्यात् ।  
 तच्छक्तिमङ्करज्ञया(य)कारीत्यपि वचनमात्रं तु ॥

अत्रनेशास्तोकेऽपि स्त्रीये सर्वज्ञयप्रसङ्गो यैत् ॥” [ ] इति ॥ छ ॥

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुत्तमं-‘कार्यकारण’ इत्यादि, तदसमीक्षिताभि-  
 धानम्, कार्यकारणभूतज्ञानक्षणप्रयाहव्यतिरिक्तस्य आत्मन सन्ता-  
 ननिष्पन्नस्य मात्स्य समयनम्- ननिषेधावसरे व्यासत समर्थितत्वात् ।

यत्पुनरुत्तमं-‘य पश्यत्यात्मानं स्थिरादिरूपम्’ इत्यादि, तत्सूक्तमेव, किन्तु

(१) “तपसा निजरा च”-तत्त्वार्थसू० १।३ । (२) “फलवचिन्मदुष्टेश्च दक्विभेदोऽनु-  
 मीयते । कमणा तापसं कथं न कल्पयति क्षयः ॥-कमणां फलवचिन्मस्य नानागत्युपभोग्यानेकविधो  
 पकरणमाध्यविधिगुणदुःखोपभोगप्रकारस्य दृष्टेश्च दक्विभेदं सामर्थ्यनानात्वमनुमीयते, अतो नाना  
 प्रकारफलजननसामर्थ्यात् कारणात्त्वरूपान फलात् तापसकलेशान्न कमणा क्षयः ॥”-प्रमाणवा० १।२७७ ।  
 (३) “अथापि तपसं शक्त्या दक्विभेदसंक्षयः । क्लेशात्कुतश्चित् हीयेताशेषमक्तेऽलेगत ॥-अथापि  
 तपसं शक्त्या दक्विभेदसंक्षयः तापसकलेशान्न तानि हीयन्ते । तपसं शक्त्या कमणां संगमण वा जन्मा  
 भावः । यच्च विचित्रदक्विभेदं तत् क्लेशात्कुतश्चित् हेतोल्लुब्धनादे हीयते । कमणाच्च मुक्ति  
 अत्राह-हीयेताशेषमक्तेऽलेगत । अत्र तपसा कमणयोऽप्येव कर्म हीयेत अक्तेऽलेगते विनव हेतोल्लु-  
 ष्चनादिदुःखात् कमण क्षीणत्वात् । यथा नारकादिदुःखं न भवति तथा अलीयोपि न स्यात् । दक्विभे  
 तावयैपि लेगत सन्तापवशेऽशात् केवलात् कम हीयते, न तु त्वात्तरानुबन्धी सत्तारप्रवचं तपस्विन  
 स्यात् । यन्निष्पन्नपर क्लेशात् तपसं क्लेश एव चेत् । तत्कर्मफलमित्यस्मात्तपसं शक्ते संकरात्किम् ॥  
 तपसं शक्त्या दक्विभेदसंक्षयश्च तथा वक्तुं शक्यो यदि क्लेशादिष्टं क्लेशादपरमन्यत्ततो नाथया ।  
 क्लेशात्तपसं तपसं क्लेशात्तपसं कमणमित्यस्मान् कमणमूलात्तपसं दक्विभेदसंक्षयः न युक्तम् ।  
 आत्तिगच्छात् स तपसः ।-प्रमाणवा० मत्तोऽर्थ० १।२७८-७९ । (४) ‘क्षयनिमित्तमिह न स्यात् ।  
 तच्छक्तिवत्तपसं क्षयवरीत्यपि -यद्द० बह० श्लो० ५२ । तच्छक्तिवत्तपसं क्षयवरीत्यपि -  
 -स्या० १० पृ० १११८ । (५) पृ० ८३८ पं० ११ । (६) पृ० ९ । (७) पृ० ८३८ पं० १८ । (८)  
 तुलना-‘तत्पुत्रमेव विन्दन्मो जनो दुःखानुपपन्नं मुग्धमापन्नं पश्यन्नात्मरक्षणं सामारिक्त्वं दुःखानुप-  
 पन्नमुपसाधनेषु प्रवृत्तं आध्याप्योपमूर्त्तापुरवत् ।-यद्द० बह० श्लो० ५२ । स्या० १० पृ० १११८ ।

१ अथतदभाव-ध० । २-कमणया-ब० । ३ संकरणे क्षय-य० । ४ तच्छिष्यं क्षय-आ०,  
 ब० । ५ तत्तपः ।  
 ५६

अज्ञो जन दुःखानुपपत्तसुखसाधनमपश्यन् आत्मस्नेहात् मासारिकेषु दुःखानुपपत्त-  
 सुखसाधनेषु प्रवर्तते । हिताहितविवेकज्ञस्तु तादात्विकसुखसाधनस्यादिकपरित्यज्य  
 आत्मस्नेहात् आत्यन्तिकसुखसाधने मुक्तिमार्गे प्रवर्तते । यथा पथ्यापथ्यविवेकमजान-  
 नानुर तादात्विकसुखसाधनव्याधिप्रवृद्धिनिमित्तदध्यादिकमुपादत्ते, पथ्यापथ्यविवे-  
 कज्ञस्तु तत्परित्यज्य पेयादौ आरोग्यसाधने प्रवर्तते । उक्तञ्च-

“तदात्मसुखसन्नेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यत ।

हितमवानुरुद्धयत प्रपरीक्ष्य परीक्षका ॥” [ ] इति ।

यदप्युक्तम्—‘ततो मुक्तिमिच्छता स्वरूपपुत्ररत्नरादिवञ्च’ इत्यादि, तदप्येतेन  
 प्रत्युक्तम्, सैर्न्याऽनित्याऽनात्मकत्वादिभाषनाया निर्विषयत्वेन मिथ्यारूपत्वात् सर्वथा  
 नित्यादिभाषनावमुक्तिहेतुत्वानुपपत्ते । तन्निर्विषयत्वञ्च आत्मसिद्धेक्षणभङ्गभङ्गस्य  
 च प्रसाधितत्वात् प्रसिद्धम् । न च कालांतरावस्थाय्येऽनुसंधातृव्यतिरेकेण भावना-  
 प्युपपद्यते इत्युक्तसन्ताननिषेधप्रघट्टके । यो हि निगडादिभिर्नद्धतरैः तन्मुक्ति-  
 कारणपरिज्ञानानुष्ठानाभिसिद्धिव्यापारे सति मोक्ष इति एकधिकरण्ये सत्येव बन्धमोक्ष-  
 व्यवस्था लेखे प्रसिद्धा, इह तु अन्यक्षणो बद्ध अन्यस्य च तन्मुक्तिकारणपरिज्ञानम्  
 अन्यस्य च अनुष्ठानाभिसिद्धिव्यापारश्चेति वैयधिकरण्यात् सर्वमनुपपन्नम् ।

किञ्च, सर्वो बुद्धिपूर्वप्रवर्तमान ‘किञ्चिदिदमतो मम स्यात्’ इत्यनुसन्धानेन  
 प्रवर्तते । इह च कस्तथाविधो मार्गाभ्यासे प्रवर्तमान ‘मोक्षो मम स्यात्’ इत्यनुसन्धा-  
 ध्यात्-क्षण, सन्तानो वा ? न तान्त्क्षण, तस्य एकक्षणस्यायितथा निर्विकल्प-  
 कतया च एतावतो व्यापारान् कर्तुमसमर्थत्वात् । नापि सन्तान, तस्य सन्तानिव्य-  
 तिरिक्तस्य सौगतैरेनभ्युपगमात्, सन्ताननिषेधे निषिद्धत्वाच्च ।

यन्वान्यदुक्तम्—‘निरन्वयविनश्यरेषु’ इत्यादि, तदप्युक्तिमात्रम्, आत्मनोऽन-

(१) उदतोऽयम्-न्यायवि० वि० पृ० ५८१ । स्वा० २० पृ० १११९ । (२) पृ० ८३९ पृ० ४ ।

(३) तुलना- क्षणिकविभावनाया मिथ्यारूपत्वात् न च मिथ्याज्ञानस्य निश्चयकारणत्वमतिप्रस-  
 ज्ञान । -प्रसङ्गो पृ० २० पृ० ४० । भावनाया विकल्पात्मिकाया श्रुतमय्याशिवन्तामभ्यासत्वावस्तु  
 विषयाया वस्तुविषयस्य योगिनानस्य जन्मविरोधान । बुतश्चित्तस्वविषयात् विकल्पनानास्तत्त्वविष-  
 यस्य पानस्यानुपलब्ध । -आप्तपृ० ७१० ८३ । तत्त्वाश्रयो पृ० २१ । यद्वद० बृह० पृ० ५२ ।  
 (४) न बन्धमोक्षो क्षणिकमस्थी-अणिकमेकं यच्चित्त तत्सम्यो बन्धमोक्षो न स्याताम् । यस्य  
 चित्तस्य बन्ध तस्य निरवयवप्रणागादुत्तरचित्तस्यावच्छेदस्य मोक्षप्रसङ्गान् । यस्यैव बन्ध तस्यैव मोक्ष  
 एतन्निरवयवमस्थी बन्धमोक्षो-युक्तपृ० टी० पृ० ४१ । (५) क्षणिकान्तपण । (६) तुलना-  
 किञ्च सर्वो बुद्धिपूर्वप्रवर्तमान किञ्चित्प्रतो मम स्यात्तित्यनुसंधानत प्रवर्तते । -यद्वद० बृह० पृ०  
 ५२ । (७) पृ० ८३९ पृ० ७ ।

१-सायन प०प० आ० । २-विवेकस्तु आ० । ३-विवेकस्तु आ० । ४-निरयादिभाव मु-आ० ।  
 ५ अयन्नानुष्ठा-ब० । ६-संघेर्ष्याया-आ० । ७-युव वृत्तमान व० । ८ सन्ताननिषिद्ध-थ० ।

भ्युपगमे तथाभूतचित्तक्षणेणु एकत्याध्यागोपानुपपत्ते । तदनुपपत्तिश्च सन्तानभङ्गप्रघट्टके प्रपञ्चिता । निरन्तरयविनश्वरत्वे च 'मस्काराणा मोक्षार्थं प्रयासो व्यर्थ । रागाद्युपर-  
मो हि भवन्मते मोक्ष , तदुपरमश्च विनाश , तस्य च निर्हेतुकतया अयन्नसिद्धत्वात्  
तदर्थानुष्ठानादिप्रयासो निष्कृष्ट एव । तेन हि प्राक्तनस्य रागादिचित्तक्षणस्य नाश  
क्रियेत, भाविनो वाऽनुत्पाद , तदुत्पादप्रशक्तेर्वा क्षय , सन्तानस्य 'चोच्छेद' अनुत्पातो 6  
वा, निराश्र(स्त्र)चित्तसन्तत्युत्पादो वा ? तत्राद्य पक्षोऽनुपपन्न , विनाशस्य निर्हे-  
तुकतया भवन्मते कुतश्चिदुत्पत्तिविरोधात् । द्वितीयपक्षोऽप्यत एव अनुपपन्न ,  
उत्पात्ताभावो हि अनुत्पाद , सोऽभावरूपत्वात् कथं कुतश्चिदुत्पद्येत अर्पसिद्धान्तप्रस-  
ङ्गात् ? तन्वृत्तिक्रमार्थोऽपि तत्रयासोऽसङ्गत , तत्क्षयस्याप्यभावरूपतया कुतश्चिदात्म-  
लाभासभवात् । 'सन्तानस्योच्छेदार्थोऽनुत्पादार्थो वा तत्रयास' इत्यप्येतेन प्रत्युक्तम्, 10  
क्षणोच्छेदानुत्पादत्र तदुच्छेदानुत्पात्तयोरभावरूपतया कुतश्चिदुत्पत्त्यनुपपत्ते ।

किञ्च, मिद्वे वास्तवे सन्ताने तदुच्छेदार्थाऽनुत्पादार्थो वा तत्रयासो युक्त ,  
न चासौ तथाभूत सिद्ध , क्षणातिरिक्तस्य तस्य वास्तवस्य भवतानभ्युपगमात्, सन्तान-  
निषेधे निषिद्धत्वाच्च ।

किञ्च, अन्त्यज्ञानस्य ज्ञानान्तराकर्तृत्वे सन्तानोच्छेदो भविष्यति । तच्च कुतो 15  
न करोति संच्रत् तदुत्पादे शक्तत्वाच्च ? शक्तमपि सहकारिकारणाभावात् नोत्पाद-  
यति, इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, तदंभौवस्य अप्रतिबन्धकत्वात् । तेन हि प्रतिबन्धो  
मात्रस्योत्पत्ते , उत्पादकत्वस्य वा ? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्न , शैक्यपक्षे हि कारणान्तरा-  
भावात् अभावरूपतया सकलशक्तिविरहस्वभावे भावस्य नोत्पत्तिप्रतिबन्ध कर्तुमर्हति ।  
यत् सकलशक्तिविरहस्वभावात् न तत् कस्यचिदुत्पत्तिप्रतिबन्धकम् यथा शशधिपाणम्, 20

(१) तुलना—'अहेतुकत्वात्तासस्य हि साहसुर्न हिसक । चित्तसत्ततिनागश्च मोषो नाप्याङ्ग  
हेतुक ॥'—आप्तमी० १।० ५२ । 'आवृत्तिर्धर्मो प्रलयस्वभावे मार्गो न युक्तो बधश्च न स्यात् ॥—  
तथा च सकलाद्यविरोधलक्षणमोक्षस्य चित्तसत्ततिनागरूपस्य वा सातनिर्वाणस्य मार्गो हेतु नरात्म्य  
भावनालक्षणो न युक्त म्यात् नागस्य कस्यचिद्विरोधात् ।—युक्तयनु० टी० ५० ४० । 'निर्हेतुकतया  
विनाशस्य उपायव्यर्थम्, अयत्नसाध्यत्वात् ।—प्रग० ४० ५० २० ६ । (२) तपोऽनुत्पात्तानि ।  
'किंच, तेन मोक्षार्थानुत्पादनेन प्राक्वनस्य रागादिकक्षणस्य नाश क्रियत, भाविनो वाऽनुत्पाद , तदुत्पादक  
शक्तवर्वा क्षय , सन्तानस्योच्छेदोऽनुत्पादो वा, निराश्रयचित्तसन्तत्युत्पादो वा ?"—प३ ६० बह० ग्लो०  
५२ । (३) सौगतमत । (४) निर्हेतुकाऽभाववाद विधीयत इत्यय । (५) सतानाच्छेदानुत्पात्तो ।  
(६) तुलना—'किंच वास्तवस्य सतानस्यानुपगमात् किं तदुच्छेदादिप्रयासेन ? नहि मनस्य मारण  
कवापि दृष्टम् ।"—प३ ६० बह० ग्लो० ५२ । (७) सहकारिकारणाभावस्य । (८) सहकारिकारणाभावेन ।

1-रोपानुपपत्तिश्च साता-३० । 2-सत्तारिणाम् व०, ३० । 3-चोच्छेद व० । 4-निराश्रयचित्त-  
आ० । 5-नुत्पद्यते आ० । 6-कुतश्चिदात्मलाभासभवात् सतानस्याच्छेदार्थोऽनुत्पादार्थो वा तत्रया  
सो युक्तो न चासौ व० । 7-तदनुप-३० । 8-तराकर्तृत्वे व० । 9-सत्त्वाद्दुत्पादे आ० । 10-तदभावस्य  
व० । 11-साध्यपक्षे व० । 12-राभावाभावरूपतया व० ।

तथामृतञ्च शोभ्यमते सहकारिकारणाभाव इति । द्वितीयविरूपोऽप्येतेन प्रतिव्यूढः ,  
 तैत्पादकत्वस्य हि प्रतिबन्ध कार्योंत्पादकपदार्थसत्ताऽपहारः , स च अश्वविपाणप्रत्ये  
 तदभावे दुर्घट ।

निश्च, अन्त्यचित्तक्षणस्य अर्थक्रियाकारित्वे अवस्तुत्व स्यात्, तत तज्जनकस्य

इति, एवमायातमंशेषस्य चित्तसन्तानस्य अवस्तुत्वम् । अथ स्वसन्तानवर्तिनो ज्ञान  
 क्षणस्य अजनकत्वेऽपि सन्तानांतरवर्तिनो योगिज्ञानस्य जननात् नाऽशेषस्य तत्सन्तान  
 स्याऽवस्तुत्वम्, तदयुक्तम्, रसादेरेककालस्य रूपादे अव्यभिचार्यनुमानाऽभावानुपपन्नात्,  
 अत्यक्षणवत् रूपादेर्विजातीयकार्यजनकत्वेऽपि संजातीयजनकत्वसंभवात् । एक-  
 सामग्र्यधीनत्वेन रूपरसयोर्नियमेन कार्यद्वयारम्भत्वे अत्रापि कार्यद्वयारम्भकत्व  
 स्यात्, योगिज्ञान-अत्यक्षणयोरपि एकसामग्र्यधीनत्वाऽविशेषात् । अथ स्वसन्तान-  
 वर्त्तिकार्यजननसामर्थ्यवद् भिन्नसन्तानकार्यजननसामर्थ्यम् अत्यक्षणस्य नेष्यते,  
 तर्हि सर्वथा अर्थक्रियासामर्थ्यरहितत्वेन अस्य आकाशकुशेशयवदवस्तुत्व स्यात् । तथा-  
 निधस्यापि वस्तुत्वे सर्वथाऽर्थक्रियारहितस्य अक्षणिकस्यापि वस्तुत्व स्यात्, तथा च  
 सत्त्वादय क्षणिकत्वत्र साधयेयु अनैकान्तिकत्वात् । तत्र सन्तानोच्छेदलक्षणा मुक्ति  
 तत्कारणानुष्ठानप्रयासेन प्रसाध्या इति पक्ष क्षेमङ्कर ।

निराश्र(स)वचित्तसत्त्वत्वत्तिलक्षणा सा तत्रयासप्रसाध्या इति पक्षस्तु ज्यायान् ।

केवल 'सा चित्तसन्तति सावया, निरवया वा' इति वक्तव्यम् ? तत्र अस्या सावय-

(१) सहकारिकारणाभावे । (२) अक्रियाकारित्वाभावे । तुलना- चरमक्षणस्याविच्छि-  
 त्तरत्नन अवस्तुत्वापत्तिन पूर्वपूवक्षणानामप्यवस्तुत्वापत्त सत्त्वसन्तानात्मावप्रसङ्ग । विद्युत् सजाती

यान्त्रोऽपि योगिज्ञानस्य करणात्मावस्तुत्वमिति चेत्, न आस्वाद्यमानरससमानकालरूपोपादानस्य  
 न्यायकरणेऽपि रससहकारित्वप्रसङ्गात् ततो रसाद्रूपानुमान न स्यात् । -समति० टी० प० १६१ ।  
 स्या० २० पृ० ११२१ । प्रमेयक० प० ४९७ । (३) अत्यक्षणोत्पादकस्य उपात्यक्षणस्य । (४) यत्

हि किंचिदस्य योगी तम अत्यक्षण जानाति तत्र सोऽन्य क्षण योगिज्ञानस्य सहकारितया समुत्पादकी  
 भवति नाकारण विषय इति सिद्धान्तात् । अत सजातीयक्षणानुत्पादकोऽपि अत्यक्षण योगिज्ञानस्य  
 सहकारितया जनकत्वान् अक्रियाकारी भवत्यव । (५) बौद्धमते हि द्वितीयमणवर्तिनो रसस्य प्रथमक्ष

णवर्ती रस उपात्तानम प्रथमक्षणवतिरूपञ्च सहकारि भवति । प्रथमक्षणवतिरूप हि सजातीय द्वितीयम  
 णवर्ती रूपं जनयित्वा विजातीय द्वितीयमणवतिरस्ते सहकारि भवति । यत् हि अत्रो तानक्षण  
 सजातीय पान्थानान्तरमनुत्पाद्यापि विजातीय सन्तानान्तरवर्तिनि योगिज्ञाने आलम्बनतया सहकारि

स्यात् तत्र पूर्वक्षणवतिरूपमपि द्वितीयक्षणवतिसजातीय रूपक्षणान्तरमजनमित्यव विजातीय द्वितीयक्ष  
 णवर्तिनि स्ते सहकारि स्यात् । तथा च द्वितीयमणवतिरस्मात् रूपानुमान न स्यात् इति भाव । (६)  
 रमोत्पादकत्वोऽपि । (७) रूपक्षणान्तरानुत्पादकत्वसंभवान् । (८) योगिज्ञान । (९) अत्यक्षणस्य ।

(१०) चित्तसन्तते ।

१ ताप्यमत व० । २ व्युत्पादकस्य हि थ० उत्पादकत्वे हि व । ३-मणवचित्त-आ० ।

४ अतश्च-आ० । ५ सजातीयजनकत्वासंभ-व० । ६ तत्कारणानुष्ठान-त्रा०, स्वकारणानुष्ठान-  
 व० । ७ निराश्रयि-आ० । ८-या चेति थ० ।

पक्ष एव युक्तं, तथाभूते एव चित्तमन्ताने मोक्षोपपत्ते, वद्धो हि मुच्यते नाऽवद्ध । न च निरन्वये चित्तसन्ताने वद्धस्य मुक्तिः सम्भवति, तत्र हि अन्यो वद्ध अन्यश्च मुच्यते । सन्तानैक्याद् वद्धस्यैव मुक्तिरत्रापि इति चेत्, ननु सन्तानार्थं परमार्थसन्, सवृत्तिसन् वा स्यात् ? यदि परमार्थसन्, तदा आत्मैव नामान्तरेण उक्तं स्यात् ? अथ सवृत्तिसन्, तदा एकस्य परमार्थसतोऽसत्त्वाद् 'अन्यो वद्ध अन्यश्च मुच्यते' इत्याया- 6 तम्, तथा च वद्धस्य मुक्त्यर्थं प्रवृत्तिर्न स्यात् ।

अथ अत्यन्तनानात्वेऽपि क्षणाना दृढतररूपतया एकत्वाद्यवसायात् 'वद्धमात्मान मोचयिष्यामि' इत्यभिसन्वाय प्रवर्तते, कथमेव नैरात्म्यदर्शनम् ? यतस्तद्वायनाभ्या- 10 सांस्मुक्तिः स्यात् । अथ शास्त्रसंस्कारप्रभञ्ज तद्दर्शनमस्ति, न तर्हि एकत्वाध्यवसाय अस्सत्पलद्रूप, इत्येक सन्धित्सोरन्यैरुच्यते । अतः कुतो वद्धस्य मुक्त्यर्थं प्रवृत्तिः स्यात् यतो 'मिथ्याध्यापहानार्थं यत्नोऽमत्यपि मोक्षरि' [प्रमाणवा० १।१९४] इत्युक्तं शोभत ? यत्पुनरुक्तम्—'उपभोगाश्रयत्वेन' इत्यादि, तदप्यभिचारितरमणीयम्, 'हेयोपादे- 15 यस्वज्ञो हि आत्यन्तिकसुखसाधनम् उपभोगाश्रयमात्मीयञ्चाभिमन्यते न तात्त्विक- सुखसाधनम्, तथाहि—

'एगो मे संसदो अथा नाण्दसण्णकराणा ।

मसा मे जाहिरा भावा सच्च संजोगलकणणा ॥ [भावपाठ० गा० ५९]

सजोगमूल जावण पत्ता दुक्कपरपरा ।

तस्सा संजोगसवध सच्च तिविहेण वोसरं ॥" [मूलाचार० २।४८४९]

(१) 'चित्ताना तत्त्वतोऽविनत्वसाधनात् सतानाच्छेदानुपपत्तेरथ'—अष्टसह० पृ० ६९ । प्रमेयक० पृ० ३२० । सम्मति० टी० पृ० १६२ । 'वेचल सा चित्तसन्तति सावया निरवया यति वनतध्यम । आचे सिद्धसाधन तथाभूत एव चित्तमन्ताने मोक्षोपपत्ते ।'—वृहद० षट्० श्लो० ५२ । (२) निरवयमणिकषार्थि । (३) 'सन्तानस्याप्यवस्तुत्वाद्यथात्मा तथाव्यताम् । कषण्णिद्रव्य तात्त्व्यादिना सत्त्वमभवात् ।'—तत्त्ववाचश्लो० पृ० २३ । 'यन्ति सन्तानार्थं परमापसत्तादा आत्मव सन्तानसत्त्वेनोव स्यात् । अथ संवृत्तिसन्, तदा एकस्य परमापसतोऽसत्त्वात् यो वद्धोऽयदथ मुच्यत इति वद्धस्य मुक्त्यर्थं न प्रवृत्तिः स्यात् ।'—सम्मति० टी० पृ० १६२ । प्रमेयक० पृ० ३२१ । (४) 'तर्हि न नरात्म्यदर्शनमिति कुतस्त्रिबन्धना मुक्तिः ?'—सम्मति० टी० पृ० १६२ । प्रमेयक० पृ० ३२१ । (५) नरात्म्यभावनायामस्त्वलद्रूपवादी हि 'वद्धमेव आत्मानं मोचयिष्यामि इत्यवत्वाध्यवसायस्य सभावनेव तास्ति । (६) नरात्म्यज्ञानस्य समर्थने त्रियमाण । (७) एकरवाध्यवसाय । (८) पृ० ८४० पृ० ५ । (९) 'हेयोगाश्रयत्वेना हि आत्यन्तिकसुखसाधनमुपभोगाश्रयमात्मीयञ्चाभिमन्यते न तात्त्विकसुखसाधनम् ।'—स्वा० १० पृ० १११९ । (१०) 'एगो मे साधरो अथा—'—निवमगा० गा० १०२ । एका म साधवन आत्मा शान्तानन्तण । रोवा म बाष्ठा भावा सर्वे मयागलणणा । सयागमूण जीवेन प्राप्ता दुक्कपरपरा । तरमाणमासम्भरं थव त्रिविधेन व्युत्तजामि ।

१ वद्धमात्मानं व० । २ वद्धपुण्य-व० । ३ उपभोगाश्र-व० । ४-नागवना-व० । ५ हि उच्यते प्रवृत्त-लोक एगो व० । ६ संसदो व० । ७ संयोग-व० । ८ संयोग-व० ।



“द्वारा परिमन्त्रारा धधुर्जनो यधन निष निषया ।

काय (कोऽय) जनस्य मोह य रिपस्तपु मुहदाशा ॥” [ ]

इत्येव भावयतो विवेकिन सयोगसम्बन्धिषु दुग्हेतुषु भावेषु सुरलेशसाधन-  
त्वस्य सद्भावेऽपि अयदा आत्यन्तिकसुरसाधन रत्नत्रय पश्यत कुतस्तेषु आत्मीय-  
बुद्धि यतस्ततो निवृत्तिर्न स्यात् ? ननु आत्मीयबुद्धे तत स्यान्निवृत्ति यदि एवन्तेन  
तेषां दुग्हेतुत्वमेव स्यात्, न चैवम्, लेशत सुरहेतुत्वस्याप्यत्रै समभावात्, तेन दुग्-  
हेतुत्वेऽपि आत्मीयस्नेहात् येनाकारेण सुरहेतुता तापताशेन स्वस्योपकारकान इन्द्रिया-  
नीन् मायमान तेषु नात्मीयबुद्धि जहातीति, तदप्यमाम्प्रतम्, तेषां सुरलेशसाधन-  
त्वेऽपि अयस्य आत्यन्तिकसुरसाधनस्य सद्भावेन 'निर्विषासस्य सद्भावेन सविषा-  
सस्येव त्यागसमभावात् ।

यदप्यभिहितम्—'पिचटमाणकुण्टादिदोषदर्शनेऽपि' इत्यादि, तदप्यभिधानमात्रम्,  
यतो न सौरूप्यादिगुणदर्शनात् स्नेहो भवतीत्यस्माभिरिष्यते, किन्तु उपभोगाश्रयत्वात्त्य-  
गुणदर्शनात् । विवेकिनश्च सयोगसम्बन्धिषु भावेषु जातिजरामरणप्रबन्धलक्षणससार-  
दुग्हेतुत्वारयम् आत्यन्तिकदोष पश्यतो न उपभोगाश्रयत्वात्त्यस्य गुणस्य दर्शनमस्तीति  
तत्रियन्धर्नस्नेहस्य क्वायुक्ते कथं दोषदर्शन 'स्नेहस्य बाधकञ्च स्यात् ।

ननु तदोष पश्यतो यद्यपि तत्कालेऽनुरागिणी मतिश्चर्लिता, तथापि तत्रासौ  
नैव अत्यन्त विरक्तो द्रष्टव्य, पुनस्तद्गुणलेदर्शनादनुरागसमभावात्, ईत्यप्यमुद्गरम्,  
असौ हि तादात्विकदुग्हेतुत्वारयस्य तादात्विकदोषस्य दर्शनाद् विरक्त तादात्विक-  
सुरहेतुत्वारयस्य तादात्विकगुणस्य दर्शनात् पुनरनुरज्यते इति युक्तम्, द्वेषोपादेय-  
तत्त्वज्ञस्तु जातिजरामरणप्रबन्धलक्षणदुग्हेतुत्वारयस्य आत्यन्तिकदोषस्य दर्शनाद्विरक्तो  
न तादात्विकसुरहेतुत्वारयस्य तादात्विकगुणस्य दर्शनात् पुनरनुरज्यते, किन्तु आत्य-  
न्तिकसुरहेतुत्वारयगुणदर्शनात् । न च सयोगसम्बन्धिषु तद्दर्शनमस्ति इति साकल्ये-  
नानौ तत्र 'उपेक्षालक्षण वैराग्यमात्मसात्करोति । ननु यदि तत्र प्रबन्धलक्षणदुग्हेतुत्वेन  
(१) सगुहोताऽयं लोके सुभाषितरत्नभाण्डागारे । (२) 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्ष  
माग -तरवार्यसु ११ । तुलना- तत्र प्रथमं तावत् श्रीणि रत्नानि तद्यथा-बुद्धो धम सपश्चेति ।'  
-यमसं०पु० १ । (३) तात्कालिकसुखसाधनेषु स्यात्पि । (४) तादात्विकसुरसाधनस्यादीनाम् ।  
(५) स्तत्रयस्य । (६) पु०८४०प० ११ । (७) 'यद्यप्यत्र दोषेण तत्क्षण चिन्ता मति । विरक्तो  
न तत्रापि कामीव वनितान्तरे ।'-प्रमाणवा० १२४१४२ । (८) विरागवती जाया । (९)  
तत्त्वज्ञ । (१०) सयोगसम्बन्धिषु स्यादपि ।

१-जना ब-ब० । २-सम्बन्धिषु थ० । ३ दुग्हेतुषु ब०, अ० । ४-त्र भावान् ब० । ५-  
स्वप्रमादोष-थ० । ६-रपासवभा-थ० । ७ निविशोदासस्य सवभावन ब० । ८-त्रस्यव त्यागे सभ  
वात थ० । ९ साकल्यादि-थ० । १०-सम्बन्धाभावपु थ० । ११ गुणदर्शनमस्तीति ब० अ० । १२-  
स्तद्व्याप-ब० । १३ स्तद्व्याप-ब० । १४ इत्यमु-ब० । १५ अयो हि आ० । १६-हेतुत्वावयवगुणवश  
पत्न्यु ब०, थ० । १७ उपेक्षा-भ० ।

तत्रासौ विरज्यते तदा आत्मन्यपि विरज्यताम् तथाप्रिधदु गहेतुत्वस्य तत्राप्यप्रिशेषात्, तत्रापिरागे वा अन्यत्रापि न विरज्येत प्रिशेषाभावात्प्रिति, अत्र अज्ञमात्मानभिप्रेत्य एव मुच्यते, तद्विपरीत वा ? यदि अज्ञम्, तदा सिद्धमावनम्, हेयोपादेयतत्त्वज्ञानरहिते तथाप्रिधदु तहेतौ आत्मनि वैराग्याऽभ्युपगमात् । हेयोपादेयतत्त्वज्ञानरति तु तस्मिन् तथाप्रिधदु हेतुत्वाभावात् वैराग्यम् ।

यच्चोक्तम्—'कायकेशस्य कर्मफलत्वात्' इत्यादि, तदप्यनल्पतमोविलसितम्, हिंसाविरतिलक्षणवृत्तौपबृहकस्य कायकेशस्य कर्मफलत्वेऽपि तपस्त्राविरोधात् । प्रता-  
विरोधी हि कायकेश कर्मनिर्जराहेतुत्वात् तपोऽभिधीयते । न च नारादिकायकेश-  
स्यापि तपस्त्रानुपपन्न, तस्य हिंसाद्यावेशप्रधानतया तत्रविरोधित्वामभवात् । अत कथ  
प्रेषावता तेर्न समानता मुमुक्षुकायकेशस्य आपादयितु युक्ता ?

यदपि शक्तिसङ्करपक्षे 'स्वल्पेनेत्र' इत्याद्युक्तम्, तत्सूक्तम्, 'विचित्रफलज्ञानस-  
मर्थाना कर्मणा शक्तिमङ्करे सति क्षीणमोहान्त्यसमये अयोगिचरमसमये च अकेशत  
स्वल्पेनेत्र परमशुद्ध्यानरूपेण तपसा प्रत्याभ्युपगमात्, जीवन्मुक्ते परममुत्तेज्जान्यवा-  
नुपपत्ते । स तु तच्छक्तिसङ्कर बहुतरकेशसाध्य इति युक्त तत्रार्थोऽनेकप्रिधोपगमादि-  
दुश्चरकायकेशानुपपन्नप्रयास, तमन्तरेण तत्सङ्कराऽप्रसिद्धे । अत कथञ्चित्प्रनञ्छिन्नो  
ज्ञानमन्तानोऽनेकविधदुर्धरतपोऽनुपपानात् मुच्यते इति प्रेवादर्थे प्रतिपत्तव्यम् ॥ ३ ॥

ननु 'अनञ्छिन्नो ज्ञानसन्तान' इत्युक्तम्, सुपुप्ताद्यवस्थायामपि तदवच्छेत्प्र-  
तीते । किञ्चित्पि अपरिच्छिन्नज्ञेन हि 'मुमुप्सु' इत्युच्यते, तत्र  
ज्ञानसद्भावे तत्रपरिच्छेदानुपपत्ते । यदि च तत्र ज्ञानसद्भाव स्यात्  
तदा जाग्रत्सुपुप्ताद्यवस्थयोर्भेदे न स्यात्, उभयत्र स्वपरावभासिज्ञान-  
सद्भावोऽविशेषात् । तत्र तत्सद्भावेऽपि निद्रयाऽभिभवात्, जाग्रदवस्थयाञ्च तदभावात्

(१) जमजरामरणादिप्रवर्धकारणत्वस्य । (२) स्त्र्यादिव्यपि । (३) तुलना— मादशो दुष्कहतु  
स्तादृशो ह्य एव, सोपाधिश्च तथा । निरुपाधिरपि हीयतामिति चेत्, न अद्यतत्वात्प्रिप्रयोजनत्वाच्च ।  
—आमत० पृ० १०६ । (४) आ मनि । (५) पृ० ८४१ प० २ । (६) 'हिंसाविरतिरूपव्रतोपबृह  
कस्य कायकेशस्य कर्मत्वपि तपस्त्राविरोधात् ।'—पृ० ६० बह० श्लो० ५२ । (७) प्रताविरोधि  
त्वाभावात् । (८) नाराकादिबुद्धेयं । (९) पृ० ८४१ प० ५ । (१०) 'विचित्रफलज्ञानसमर्थानां  
कर्मणा शक्तिमकरं सति'—पृ० ६० बह० श्लो० ५२ । (११) 'मुमुप्सुत्वात् त्वच त्यक्त्वा पुरीतनि  
वनमानेन मनसा ज्ञानाजननमिति ।'—मुक्ता० का० ५६ । (१२) 'मुमुप्ताद्यवस्थाया चानसद्भावं  
जाग्रदवस्थातो न विनाप स्यात्, उभयत्रापि स्वसवेद्यनानस्य सदभावाविगणन ।'—प्र० ६० पृ० १०  
२० ड । (१३) "मुमुप्सो निद्रयाभिभूतस्य विनाप इति चेत्, असत्त्वेन, तद्वनतया तस्यापि तादा म्य  
अभिभावकत्वासम्भवात् । व्यतिरिक्ते तु रूपात्पिदार्थानामेव सदवात् तत्स्वरूप निरूप्यम् । अभिवदस्य यत्

नानयोरनिक्षेप इति चेत्, ननु कोऽय तया ज्ञानस्याऽभिभवो नाम-नाश, तिरोभावो वा ? यदि नाश, कथं तत्र तत्सद्भाव तस्य तद्विरोधित्वात् । अथ तिरोभाव, तत्र, स्वपर-प्रकाशरूपज्ञानाभ्युपगमे तस्याप्यनुपपत्ते । अतः सुपुत्राग्रस्थायाम् उपलब्धिर्लक्षण-प्राप्तस्य ज्ञानस्यानुपपत्ते अभवत् एव ज्यायानिति ॥७॥

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्- 'त्रिञ्चिन्त्यपरिच्छिन्नत्रैव हि' इत्यादि, तद-सुपुत्राग्रवन्थास्वपि समीचीनम्, सुपुत्राग्रस्थायया स्वीपादिसवेदनस्य तत्सुपुत्रसवेदनस्य च ज्ञानसद्भावप्रमाथनम् मद्भावात् । तत्र हि ज्ञानानभ्युपगमे 'सुपुत्रमहमस्वाप्सम्' इति सुप्तो-त्थितस्य स्वापसुप्तस्मरणस्य 'एतावत्कालं निरन्तरं सुप्तोऽहम् एतावत्कालञ्च सान्तरम्' इति स्वीपस्मरणस्य चाभावात्प्राप्तम्, तस्य ज्ञातवस्तुत्रिपयत्वेन स्वविषयज्ञानांतराविनाभावि-त्वात् । यत् स्मरणं तत् स्वविषयज्ञानान्तरं विनाभावि यथा घटादिस्मरणम्, स्मरणञ्च सुप्तोत्थितस्य स्वापसुप्तादिसवेदनमिति । अस्य स्वविषयज्ञानांतरमन्तरेणाप्याविभावे घटादिस्मरणस्यापि तन्तरेणाविर्भावः स्यात्, अतः कुतस्तन्नुभवान्त्रिपि सिद्धयेत् ? तत् सुपुत्राग्रस्थायया येनानुभवेन स्वापसुप्तादिस्मरणमात्रिर्भाव्यते स तद्विषयोऽभ्युपगतव्य ।

एतेन मत्तमूर्च्छिताद्यवस्थायामपि ज्ञानसद्भाव प्रमाथित, तदवस्थायया प्रच्यु-  
 15 तस्य 'तदा मया न त्रिञ्चिदनुभूतम्' इति स्मरणनिवर्धनेन येनानुभवेन सता आत्मा निविलानुभवविश्लोऽनुभूयते तस्याग्रस्थायया सोऽनुभवोऽभ्युपगतव्य, तमंतरणं तत्स्मरणानुपपत्ते । नच सुपुत्राग्रस्थायया स्वापसुप्तस्य तत्सवेदनस्य वा 'इदमित्यम्'

विनाश न विज्ञानस्य सत्त्वं विनाशस्य वा निर्हेतुकत्वम् । अथ तिरोभाव, न, विज्ञानस्य सत्त्वं तत्सत्त्वं सवेदनमित्यभ्युपगमे तस्यानुपपत्ते । - प्रश्न० ब्यो० प० २० ३ ।

(१) निद्रया । (२) नागस्य । (३) सत्भावविरोधित्वात् । (४ प० ८४७ प० १८ । (५)

तदथ सुपुत्रावनुभूत आनन्द आत्मा भावरूपानावञ्चनं त्रयमप्युत्थितेन परामस्यते मुखमहमस्वाप्सं न त्रिञ्चिदनुभूतमित्यभिप्रायः । - विवरणप्र० प० ६० । (६) अस्ति चात्र स्वापलक्षणायनिरूपणम्-एतावत्कालं निरन्तरमुप्तोऽहमेतावत्कालं सान्तरमित्यनुस्मरणप्रतीते । - प्रमेयक० प० ३२३ । (७) स्मरणस्य । (८) अनुभवस्मरणम् । (९) तुलना- सुप्तमूर्च्छाद्यवस्थायाम् वेनो मति च तदुत् । निद्रव्यो वेदनाभावान्ति चत्स कुता गत । यदीत्य भवनस्यामु निश्चय सप्रवर्तते । न वैषि चित्तमित्यव सति निद्रा सचितता ॥ यदि च ताम् मूर्च्छाद्यवस्थायाम् न वेदम्यह चित्तमित्यव निश्चय प्रवर्तते भवन तत्र तत्र तथा प्रवर्तते निश्चयन सचितता सिद्धा । - तत्त्वस० प० प० ५४० । प्रमेयक० प० ३२३ ।

स्वप्नमूर्च्छाद्यवस्थायाम् चित्तं च यदि नश्यते । मति स्यात्तत्र चोत्पत्ती मरणाभाव एव वा । - तत्त्वस० प० ५४१ । (१०) निविलानुभवविकल्प आत्मन स्मरणानुपपत्त । (११) तुलना- 'स्यामत् यदि विज्ञानं दशाश्वास्वस्ति तत्त्वयम् । न स्मृति प्रतिबुद्धादे तत्कारणं भवति ॥ तदकारणमत्यय पाटवाभ्यास्मरणात् । स्मरणं न प्रवर्तते सद्योजानादिसचित्तवत् ॥-यदि तदनुभूत इत्यतावत्मात्रणव स्मरणं स्यात्स्यात्तत् यावता सत्यप्यनुभवे पाटवाभ्यास्मरणात्स्विकल्प्यात् स्मरणं न भवति, यथा सद्योजानाद्यवस्थायामनुभूतस्यापि चित्तस्य । - तत्त्वस० प० प० ५४० । प्रमेयक० प० ३२५ ।

1 स्वप्नाविज्ञ-थ० । 2 तत्सुप्तसवेदनस्य नास्ति थ० । 3 तत्र विज्ञाना-थ० । 4-मस्वापम व० । 5 यत् स्वप्नस्मरणं व० । 6-निवर्धनेन येना-आ० व० । 7 ननु सुपुत्रा- २०, न च सुप्ता-आ० ।

इति निरूपणाभावादभाव इत्यभिधातव्यम्, तदहर्जातनालस्य सुप्तप्रक्षिप्तसन्न्यजनित-  
सुप्तेन तत्सवेदनेन चाऽनेकान्तात् । न खलु तैत्तेन 'इदमित्यम्' इति निरूप्यते, अथ च  
अस्ति । नच तु साभावात् सुप्तशब्दप्रयोगोऽत्र गोण, अभावस्य प्रतियोगिभावान्तर-  
स्वभावतया अभावनिचारावसरे व्यक्त्यापितत्वात् ।

यदप्युक्तम्—'तत्र ज्ञानसद्भावे' इत्यादि, तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, तत्र ज्ञानस-  
द्भावेऽपि जाग्रत्सुषुप्तावस्थयोर्भेदोपपत्ते । यत्र हि अनभिभूत बाह्याध्यात्मिकार्थप्रिचार-  
चतुर ज्ञान सा जाग्रदवस्था, यत्र तु निद्राद्यभिभववशात्तद्विपरीत सा सुषुप्तावस्था ।

यदपि—'कोऽयं निद्रादिना ज्ञानस्याभिभव' इत्याद्युक्तम्, तत्रास्य तद्वशाद् बाह्या-  
ध्यात्मिकार्थविचारविधुरत्वमेवाऽभिभव । स्वपरप्रकाशस्वभावत्वात्तस्यै कथं तद्विधुर-  
त्वम् ? इत्यप्यनुपपन्नम्, गच्छत्तृणस्पर्शसवेदनेन व्यभिचागात्, तस्य तत्त्वभावत्वेऽपि  
तन्निरूपणासामर्थ्यप्रतीते । नहि तत्त्वभावत्वमात्रेणैव ज्ञानस्य तन्निरूपणसामर्थ्यम्,  
मयत्राऽनभिभूतस्यैवास्यं तन्निरूपणमामर्थ्यसम्भवात् । यथा च गच्छत्तृणस्पर्शसवेदनम्  
अयमनस्करुतगाऽभिभूतम् तथा ईश्वरादिसवेदनं निद्रादिना इति युक्तमुत्पश्याम ।  
कथञ्चैत्रवादिनो मणिमन्त्रादिना अग्न्यादे शरावादिना च प्रदीपादे प्रतिग्रन्थं सिद्धेत् ?  
नहि 'तेनै तस्यै नागं प्रतिग्रन्थं सभयति, प्रत्यन्वविरोधात् । नापि तिरोभाय, स्वकार्य-  
जननममर्थस्यास्य तिरोभावस्याप्यसम्भवात् । प्रतीत्यनतिग्रमेणात्र स्वरूपसामर्थ्य-  
प्रतिग्रन्थाभ्युपगमं अन्यत्रापि समान ।

किञ्च, सुषुप्ताद्यवस्थाया ज्ञानाभाय स एवात्मा प्रतिपद्यते, पार्श्वस्थो वा ? यदि  
स एव, किं तत एव ज्ञानात्, तदभावात्, तदनुपलम्भात्, जाग्रत्प्रबोधशाभाविज्ञाना-  
नात्तराद्धा ? न तावत्तत एव, अस्याऽसत्त्वात् । यदसत्र तत् कस्यचित्प्रतिपत्तिहेतु

(१) प्रतियोगिन सकाशात् यत्प्रमन्न भावात्तर भूतलादि तन्वमाननया । (२) पृ० ८४७ प०  
१९।(३) 'मिद्वान्ति सामग्रीविगोषा', विहितं सुषुप्ताद्यवस्थाया गच्छत्तृणस्पर्शाननुद्य महाध्यात्मिकस्य  
दार्पणकथमग्रहणविमुक्त ज्ञानमस्ति अयथा जाग्रत्प्रबुद्धज्ञानप्रवाहयोरप्यभावप्रसक्तिरिति । -समन्ति०  
टी० प० १६३ । प्रमेयक० प० ३२३ । (४) पृ० ८४० प० १ । (५) ज्ञानस्य । (६) स्वपरप्रवागनस्व  
भावत्वमात्रेण (७) ज्ञानस्य । (८) तुलना—'मणिमन्त्रादिना अग्न्यादिप्रतिवधे शरावादिना प्रदीपादि  
प्रतिवधेऽपि च समानत्वात् । -प्रमेयक० पृ० ३२२ । (९) मन्त्रादिना शरावादिना वा । (१०)  
अग्न्यादे प्रदीपस्य वा । (११) निद्रया ज्ञानस्याभिभवेऽपि । (१२) तुलना—'तन्वस्थाया विनाशभा  
वप्राह्वप्रमाणासम्भवात् । नयाहि—न तावत्सुप्त एव तन्वस्थाया विनाशभाव वस्ति, तत्र विनाशान  
भ्युपगमात् । तन्वगमे च तस्यैव ज्ञानत्वात् न तन्वस्थाया तदभाव । नापि पादप्रत्ययोऽयस्तदभाव  
वेति कारणव्यापकस्वभावानुपलब्धीनां विरुद्धविधेर्वाऽत्र विषयव्यापारात् अयस्य तन्ववावधान  
वत्त्वावागात् । -समन्ति० टी० पृ० ९० । प्रमेयक० पृ० ३२३ ।

१ तत्र तैत्र श० । २ सुषुप्तादिसवेदनं श० । ३ वेदतत्त्वस्य श० । ४ नागं सम-व० ।  
५ स्वकायजनन-१० ।

यथा वध्यास्तन्धय , अमच्च सुप्ताद्यवस्थायामभिप्रेत भवद्वि ज्ञानमिति । नापि तद-  
भावात्, परिच्छेदकत्वस्य ज्ञानधर्मतया तन्भावे समवाभावात्, अन्यथा ज्ञानस्यैव  
'अभाव' इति नामकृत स्यात् ।

तदनुपलम्भतोऽपि तत्कालभाविन , अन्यकालभाविनो वा तत्र तदभावप्रतिपत्ति  
स्यात् ? प्रथमपक्षे कथं तत्र सर्वथा ज्ञानाभाव ? तदभावप्राहिणोऽनुपलम्भज्ञानस्य  
तत्र विद्यमानत्वान् । नापि अन्यकालभाविन , तस्य तत्रप्रतिपत्तिहेतुत्वायोगात् । नहि  
अन्यकालोऽनुपलम्भोऽन्यकालस्याभावस्य प्रतिपत्तिहेतु अतिप्रसङ्गात् । अनुपलम्भश्च  
उपलम्भभाव , अभावश्च आश्रयग्रहण-प्रतियोगिस्मरणसापेक्ष ग्रहीतु शक्य , तत्परत-  
तया तद्ग्रहणस्मरणाभावे ग्रहीतुमशक्यत्वात् । अत अनुपलम्भ तत्रेच्छता तदाश्रय-  
तया तत्र प्रथममात्मा परिच्छेत्तव्य प्रतियोगी च स्मर्त्तव्य , अत कथं सुप्ताद्यव-  
स्थाया सर्वथा ज्ञानाभाव सिद्धयेत् ? तत्र अनुपलम्भतोऽपि तत्र तदभावसिद्धि ।

नापि जाग्रदप्रबोधदशाभाविज्ञानांतरात्, तदपेक्षया सुप्तादिज्ञानस्य उपलब्धल  
क्षणप्राप्तत्वात्, तदज्ञाभाविन तन्भावाप्राहिण कस्यचिज्ज्ञानांतरस्याऽप्रतीतेश्च ।  
'निर्भरसुप्तेन मया न निद्रिज्जातम्' इति प्रबोधशाभाविज्ञान तदभावप्राहृतत्वेन  
प्रतीयते एव, इत्यप्यपेक्षलम्, एतस्मात् तदा तत्सद्भावस्यैव प्रतीते । स्मृतिरूप हि इदम्,  
'स्मृतिश्च तदज्ञाया तदभावाप्राहिणानांतरमन्तरेण नोपपद्यते' इत्युक्तमन्तरमेव, तत्र  
सुप्ताद्यवस्थाया स एवात्मा ज्ञानाभाव प्रतिपत्तु समर्थ ।

नापि पार्श्वस्थ , कारणस्वभावव्यापकानुपलब्धे विरुद्धप्रतिषेधा तदभावाऽविनाभा  
विनो लिङ्गस्य अवासमान् । न च तत्र तत्सद्भावाऽविनाभावितोऽप्यस्याऽसंभव समान  
इत्यभिधातव्यम् , एतस्मिन् तदविनाभाविनेनाऽन्यथाधारितस्य प्राणापानशरीरोष्णताकार-  
विशेषादे तत्सद्भावाऽविनाभावितो लिङ्गस्य अत्रोपलब्धे , जाग्रदशायामपि अन्यचेतो-  
वृत्ते तद्व्यतिरेकेण अन्यतोऽप्रतिपत्ते ।

नैतु द्विप्रबोधोऽत्र प्राणाणि - चैतन्यप्रभव , प्राणाणिप्रभवश्च । तत्र चैतन्यप्रभवो

(१) ज्ञानाभाव । (२) सुप्ताद्यवस्थायाम् । (३) ज्ञानाभाव । (४) आश्रयभूतस्य  
आत्मनो ज्ञानमय च ज्ञानाभावस्य प्रतियोगिनो ज्ञानस्य स्मरणमन्यवनि भाव । (५) सुप्तिदशायाम् ।  
(६) ज्ञानाभाव । (७) लिङ्गस्य । (८) तुलना- स्वात्मनि स्वसन्नितिविनाभावितानामुत्सवेन  
निश्चितस्य प्राणापानशरीरोष्णताकारविशेषादे तदवस्थायामुपलब्धमानलिङ्गस्य सन्भावेन अनुमान  
प्रतीत्यत्त । -संमति० टी० प० १० । प्रमेयक० पृ० ३२४ । (९) ज्ञानाविनाभावित्वेन । (१०)  
प्राणापानशरीरोष्णतादिभ्य एव ज्ञान प्रतीयत इत्ययम् । (११) ननु द्विप्रबोधोऽत्र प्राणादि चतय  
प्रभवो जाग्रदायाम प्राणाणिप्रभवश्च सुप्ताद्यवस्थायामिति । -प्रमेयक० पृ० ३२४ ।

१ तत्रप्रतिहेतुत्वा-आ० व० । २-कालस्य भावस्य आ० । ३ निर्भरत्वान्न मया न कि-व०  
आ० । ४ मया विरुद्धज्ञानम् थ० । ५ तदभावस्य थ० ।

जाग्रदशायाम् प्राणान्तिप्रभवश्च सुपुत्राद्यनस्यायामिति । तत्र चैतन्यप्रभवप्राणादेर्जाग्रद-  
शया चेतन्यानुमान युक्तम् न पुन प्राणादिप्राणादे । न ग्लु गोपालघटिकादो धूमप्रभव-  
धूमादन्यनुमान दृष्टम् अग्निप्रभवधूमादेव तदर्शनात्, इत्यव्यचार, सुपुत्रेतरावस्थयो  
प्राणादेर्विशेषाऽप्रतीते । यथैव हि सुपुत्र प्राणिति तथैव इतरोऽपि, अन्यथा 'किमय  
सुपुत्र किं वा जागर्ति' इति सन्देहो न स्यात् । यदि चैते सुपुत्रस्य चैतन्यप्रभवा न  
स्यु तर्हि जाग्रत परवञ्चनाभिप्रायेण सुपुत्रव्याजेनाऽनस्थितस्य तादृशमेव तेषां सम्भवो  
न स्यात् । नहि अग्नेर्जायमानो धूम प्रयत्नशतैरपि धूमादन्यतो वा जायते, धूमप्रभवो  
वाऽग्ने इति । दृश्यन्ते च यादृशा एव सुपुत्रस्य प्राणादय तादृशा एव अस्यापि ।  
तत्रैते भिन्नकारणप्रभवा । चैतन्येतरप्रभवाश्च प्राणान्तिन विवेचयन् वीतरागेतरप्रभवान्  
व्यापारादानपि विवेचयतु । तथा च "सरागा अपि वीतरागवच्चेष्टते वीतरागाश्च  
सरागवत् अतो वीतरागेतरविभागो निश्चेतुमशक्य " [ ] इति विप्लवते ।

सुपुत्रादो च प्रथम प्राणादि कुतो जायताम् ? जाग्रद्विज्ञानसहकारिणो जाग्र-  
दप्राणादे इति चेत्, न, एकरुमाज्जाग्रद्विज्ञानात् अनन्तरभावी प्राणादि कालान्तरभावि  
च प्रबोधज्ञानम् इत्यस्याऽसम्भाव्यमानत्वात् । नहि एकस्मात् सामग्रीविशेषात् क्रम-  
भाविकार्यद्वयसम्भवो युक्त, अन्यथा नित्यादप्यक्रमात् क्रमवर्तमान्यद्वयोत्पत्ति स्यात् ।  
तथा च "नाकृमात् क्रमियो भावा " [प्रमाणवा० १।४५] इत्यस्य विरोध । तस्मात्  
सुपुत्रानस्याभाविन एव ज्ञानात् तत्कालभाविप्राणादिप्रभवोऽभ्युपगन्तव्य, अत कथं  
तत्र ज्ञानाभावसिद्धि ? ततो ज्ञानस्य कदाचिदपि व्यवच्छेदासभवात् सिद्धोऽनवच्छिन्नो  
ज्ञानसन्तान, तस्य च मुक्तिकारणानुष्ठानात् प्रतिबन्धककर्मप्रक्षये अनन्तचतुष्टयस्वरूप-  
लाभो मोक्ष इति ।

तथा च घातिकर्मप्रक्षये समुत्पन्नकेवलज्ञानादेर्भगवतो मुक्तिर्भवेत्तै जीव-  
न्मुक्तये दत्तो जलाञ्जलि अनन्तचतुष्टयासभवात् । कवलाहारो हि छुद्वेदनोदये  
गृह्यते, तदुदये च छुद्वुदु रसभवात् भगवत कथमनन्त सौरयम् ? यतोऽनन्तचतुष्टय-  
स्वरूपलाभलक्षणा जीवन्मुक्ति स्यात् । न च तत्र भुक्त्यावेदकं किञ्चित्प्रमाणमस्ति । ॥३॥

(१) "यथैव हि सुपुत्र प्राणिति तथैतरोऽपि, अन्यथा 'किमय सुपुत्र किं वा जागर्ति' इति  
सन्देहो न स्यात् । यदि चैते सुपुत्रस्य चैतन्यप्रभवा न स्यु किन्तु प्राणादिप्रभवा तर्हि जाग्रत  
परवञ्चनाभिप्रायेण सुपुत्रव्याजेनावस्थितस्य तादृशमेव तेषां भावो न स्यात् । -प्रमेयक० पृ० ३२४।  
(२) प्राणप्रभवाणामेव प्राणादीनाम् । (३) द्रष्टव्यम्-पृ० ६०३ टि० १। (४) "एकरुमाज्जाग्रद्विज्ञान-  
नानन्तरभावी प्राणादि कालान्तरभावि च प्रबोधज्ञानमित्यस्यामभाव्यमानत्वात् ।"-प्रमेयक० पृ० ३२५।  
(५) द्रष्टव्यम्-पृ० ६१९ टि० १० । (६) श्वेताम्बर यापनीयवच । (७) वज्रलिङ्गि ।

१ सुप्त आ० । २ एव सुप्तस्य व० । ३ विवेचयत् थ० । ४ सुपुत्रादो च आ० । ५-भाविप्राणादे  
का-थ० । ६-द्वयस्य सम्भ-व० । ७-सिद्धे थ० । ८ कथमनन्तसौरयं आ० । ९-क वञ्चित् व० ।

नन्दिमन्नि-यदा भुक्ति अविकल्पकारणा तदाऽसौ भवत्येव यथा छद्मस्थाय-

स्थायाम्, तथाभूता चासौ संयोगिकेवल्यधस्थायामिति । १द्विविध

कवलिन कवलाहा

रेण इति श्रुतम्

रणं योपरीयशरकटा

यन्म्य च पूर्वपक्ष -

हि भुक्ते कारणम्—वाह्यम् आभ्यन्तरञ्च । तत्र वाह्यम्—आहारादि,

तत्तान् अविकल्पास्ते न तत्र विप्रतिपत्ति । आभ्यन्तरमपि पर्याप्ति-

शरीरद्रियाग्निनिष्पत्ति सा पर्याप्ति । वेद्य-तैत्तम-दीर्घायुष्मोदयलक्षणः भगवति अविकल्पमेव । यतो हि

स्तेन शरीरोष्मा, यतो भुक्ताऽनादिपाको भवति इति । दीर्घमायु चिरजीवनकारण

कर्म । एतदुच्यते क्षुद्रेदना उपजायते, अस्ति च तदुदयो भगवति अतो भुक्तिसिद्धि ।

तदनभ्युपगमे वा तत्र क्षुदभाव प्रमाणात् प्रतिपत्तव्य । तच्च प्रमाणम्—आगम,

अयद्वा स्यात् ? न तावदागम, सिद्धवत् संयोगिकेवल्लिनि क्षुदभावप्रतिपादकस्य आग-

मस्याऽसंभवात्

प्रमाणातराच्च निषेध स्वभावानुपलम्भात्, अन्यतो वा स्यात् ? न तावत्

स्वभावानुपलम्भात्, केवलिनो त्रिप्रकृष्टस्वभावत्वात् । न च विप्रकृष्टस्वभावे भावे

स्वभावानुपलम्भो युक्त, एतद्ज्ञानससर्गिपदार्थात्तरोपलम्भलक्षणत्वात्तस्य । अयतोऽपि

निधीयमानात्, निषिध्यमानाद्वा तन्निषेध स्यात् ? यदि निधीयमानात्, तदा तेन विरो-

धिना भवितव्यम्, अत्रिद्विविधेरभावाऽऽमाधकत्वात् । न च क्षुद्धिरोधि केवल्लिनि

निश्चित् प्रतीयते । न च ज्ञानादिगुणा एव तत्र तद्विरोधिन इत्यभिधातव्यम्, यतो

ज्ञानादिमात्रस्य क्षुधा विरोध, तद्विशेषस्य वा ? यदि ज्ञानादिमात्रस्य, तर्हि यथा यथा

तद्गुणा विरुद्धन्ते तथा तथा क्षुधो हानितारतम्येन भवितव्यम् प्रकाशविवृद्धाविव तमस,

न चैवमस्ति । नहि वालादौ ज्ञानापचये क्षुदुपचय, तत प्रभृति च ज्ञानायुपचये

तारतम्येन क्षुदपचयो लयते । तत्र ज्ञानादिमात्रस्य क्षुधा विरोध । अथ चे

(१) अस्ति च केवलिनिभूति समग्रहेतुपया पुरा भुक्ते । पर्याप्तिकेवल्यधस्थायामिति

हेतु ॥ नन्दिनि न क्वाणि क्षुधोनिमित्त विरोधिनो ऽ गुणा । ज्ञानान्यो जिने किं सा ससारस्थिति

नास्ति । —केवलिभ० श्लो० १-२ । समति० टी० पृ० ६१२ । स्या० २० प० ४७४ । आध्यात्मिक०

पृ० ६३ B । नास्ति कवलिनो भुक्ति समग्रसामग्रीकत्वात् पूर्वभुक्तिवत् । सामग्री चेय प्रक्षपाहारस्य,

तद्यथा पर्याप्तत्वं केवलीयोऽय आहारपक्विनिमित्त तजससरीर दीर्घायुष्वत्व चेति । —सूत्रक० शी०

पृ० ३४५ । युक्तिप्र० प० १५३ । (२) यत्र कवलाहारभुक्तेर्द्विधा कारण बाह्यमाभ्यन्तर च । तत्र

वाह्यमनानि ततावत्स्येव न तत्र कस्यापि विवा । आभ्यन्तर पर्याप्तिरेव तजसदीर्घायुष्वोदय

उपगम । —स्या० २० प० ४७५ । (३) तम इव भावो वृद्धी ज्ञानादीना न तारतम्येन । क्षुध्

हृत्पत्त न च तज्ज्ञानादीना विराधगति ॥ अविकल्पकारणभावे तन्माभावे भवेत्भावेन । इदमस्य

विरोधीनि गाने न तन्ति केवल्लिनि । —केवलिभु० श्लो० ३-४ । स्या० २० पृ० ४७३ । 'न कवला

हारवत्त्वेन तस्यासर्ववत्त्व कवलाहारसवत्त्वमोरविरोधात् । —प्रमाणनय० २१२७ ।

१ सयोगिक-व० । २ एतन्तगन पागे नास्ति आ० । ३ भावे नास्ति थ० । ४-तथ्यम

विधेरभा-आ० । ५ ज्ञानापचये व० ।

केरलिगता ज्ञानादय प्ररुर्पयेन्तप्राप्ता तेषामेव क्षुधा विरोध, तत्र, तथाप्रतिपत्तुमशक्ते । नहि केरलिज्ञानादय क्षुध विरुन्धन्ति इति अर्वाग्दृशा प्रतिपत्तु शक्यम्, अतीन्द्रियत्वात्तेषाम् ।

किञ्च, अविक्लकारणस्य भवतोऽन्यभावेऽभावात् विरोधगतिर्भवति शीतस्पर्शस्येव अग्निसन्निधौ । तत्रचात्र दुर्घटम्—केरलिगुणानामतीन्द्रियैतया 'एतत्सन्निधौ क्षुत् भवति' इति प्रतीतेरनुपपत्ते । तत्र विधीयमानात् कुतश्चित् तत्र क्षुधोऽभासिद्धिः ।

निपिध्यमानश्च भाव तर्था कार्यम्, कारणम्, व्यापको वा स्यात् ? येति कार्यम्, तदात्मनिर्गर्तनसमर्थाऽविकलकारणस्येव तत् निवृत्तिमवगमयेत् न कारणमात्रस्य, अस्य कार्याभावेऽपि भावाविरोधात् । कारणमपि निवर्त्तमानं कार्यं निवर्त्तयति यथा वह्निर्धूमम्, व्यापकं वा निवर्त्तमानं व्याप्यम् यथा वृक्षं शिशापाम् । न चात्र क्षुध कारणस्य व्यापकस्य वा कस्यचिन्निवृत्तिरस्ति । नच मोहनीयादिवर्मचतुष्टयाऽभावात् क्षुधोऽभावः, तस्या तत्कार्यत्वस्य तत्त्वभावत्वस्य वाऽसम्भवात् । नहि क्षुत् तत्कर्मचतुष्टयार्था, प्राक्प्रतिपादितग्राह्याभ्यन्तरकारणप्रभृत्यात्तस्या । प्रतिपक्षभावनाऽनिवर्त्त्यतेन मोहस्वभावत्वाऽसम्भवाच्च, यो हि मोहस्वभावः स प्रतिपक्षभावनया निवर्त्त्यते यथा क्षमादिभावनया क्रोधादि, मोहस्वभावा च क्षुद् भवद्विरिष्टा इति । तथा च क्षुद्रेदनाप्रतीकारार्थं शास्त्रे प्रतिपक्षभावनैव उपदिश्यते न क्लेशभूयिष्ठध्यानाध्ययनविघातकारिणी पिण्डैषणा । शीतोष्णवाधातुल्यत्वाच्च क्षुधो न मोहस्वभावत्वम्, अन्यथा तद्वा-

(१) "अविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावेऽभावाद्द्विरोधगतिः ।—वायवि० पृ० १६ । (२)

विरोधनामम् । (३) "निपिद्यमानश्च भावस्तस्या काय कारण व्यापको वा स्यात् ।—स्या० १० पृ० ४७३ । 'निवम सति क्वलाहारस्य व्यापक कारण काय सहचरादि वा सावयन विरोधमधिष्येत् ।—

एतान्तराव० २।२७ । आघ्यात्मिक० इलो० ५ । (४) क्षुध । (५) 'यदि वायुम्, तथा तनिवन मानम् आत्मनिवननसमधाया एव क्षुधो निवृत्तिमवगमयन् तु सर्वथा, कारणमात्रस्य कार्याभाववि

भावाविरोधात् ।—स्या० १० पृ० ४७३ । (६) कारणमात्रस्य अनुकूलात्मन । (७) "नानावरणी यान्तेर्नावरणादिवमण कायम् । क्षुत् तद्विलक्षणस्या न तस्य सहकारिभावोऽपि ॥—केवलिकु० ग्लो०

१० । 'न हि क्षु मोहनीयकार्या वेदनीयप्रभवत्वात् ।—स्या० १० पृ० ४७३ । (८) न क्षुद् विमो ह्याको यत्प्रतिगमयानभावननिवर्त्या । न भवति, विमोहपाक सर्वोऽपि हि तेन विनित्य ॥—केव लिभू० ग्लो० ७ । स्या० १० पृ० ४७४ । शास्त्रवा० टी० पृ० ३९३ B । आप्यादिमक० पृ० ५९ B ।

"यतो मोहविषाका क्षुध भवति तद्विपाकस्य प्रतिपक्षभावनया प्रतिमह्यानेन निवर्त्यमानत्वात् । तथाहि कषाया प्रतिवृत्तभावनया निवनन्ते क्षुद्धनीय तु रोगगतोष्मात्स्विन जीवदुग्गतिविपाकितया न प्रतीवपासनामात्रेण निवर्तते अतो न मोहविषाकस्वभावा क्षुन्ति—सूत्रहृ० गी० पृ० ३४६

१ । सुविनप्र० पृ० १५० । (९) 'शीतोष्णवाततुल्या क्षुत्तत् तत्प्रतिविधानवाह्या तु । मूढस्य भवति माहान तथा भुर्ष वाध्यमानस्य । गीताणक्षुद्दुग्गान्यो हि ननु वेदनीय इति ।—केवलिकु० ग्लो० ८ १३ । स्या० १० पृ० ४७४ ।

१—एतत्सन्निधौ व० । २ भगवतीनि आ० । ३ तनात्मनिवर्त्तनसमर्थादिवक्त—थ० । ४—भावे भावा—व० । ५ निवर्त्यते व० ।



धाया अपि मोहस्यभावात् स्यादविशेषात् ।

ननु भगवत क्षुद्रभ्युपगमे अक्षेपद्वत्त्वादिविरोध, क्षुद्रुदये अस्मदादिवत्तर  
ज्ञानदर्शनचेष्टादे प्रक्षयात्, तदसमीचीनम्, ज्ञानावरणादिप्रक्षये जातायामपि क्षुधि  
ज्ञानादिभ्याऽयोगात्, तत्क्षयो हि ज्ञानावरणादिर्मोदयनिबन्धन । अत अस्मदादौ  
० तदुदयातिशयात् तैत्क्षयातिशयो युक्त भगवति तु तदावरणादेरक्षेपस्यापगमात् मत्यामपि  
क्षुधि न ज्ञानान्निक्षय । नहि अग्न्यभावे सत्यपीधने धूमो भवति । तैत्त्वर्मचतुष्टय-  
प्रभवत्वे च क्षुध “एकादश जिनं ज्ञुत्पिपामादय परीपहा वदनीयप्रभवौ” [ ]  
इत्यागमनिरोध । नैच उत्कर्षेण देशोनपूर्वकोटि विहरत सयोगकेवलिन तावत्काल  
कायस्थिति मुक्तिं विना घटते । अथ अनन्तवीर्यत्वात् तां विनाप्यस्य तस्तिथति, तर्हि  
१० औपुष्कर्मणापि विना तस्तिथतिप्रमङ्गात् न कदाचित् शरीराद्यपाय स्यात् इति मोक्षाय  
दत्तो जलाञ्जलि । तस्तिथते आयुष्कमापक्षणे वा आहारापेक्षणमप्यस्तु उभयस्यापि  
तत्कारणत्वाऽविशेषात् ।

किञ्च, प्रदीपज्वालाजलधारासमान शरीरम्, तत्र च यथा तैलक्षये न प्रदीपज्वालाऽ-  
वतिष्ठते जलागमनमन्तरेण वा जलधारा तथा शरीरमपि मुक्त्यभावे न स्थितिर्मास्तिष्णुते ।

१ अथ भुक्तिर्दोष, यदुपयासान्निप्रत्याख्यात न्ययते, निर्दोषे च केवलिनि दोषो  
विरुद्ध, तर्हि निपद्या गमनञ्च अर्हति न प्राप्नोति स्थानयोगादिना निपद्यादे प्रत्याख्या-  
नात्, वचनञ्च न प्राप्नोति मौनत्रतिकोपलम्भात् ।

अथ मतम्—अक्षेपद्वस्य मासादिक पश्यत कथं भुक्ति अन्तरायोपपत्ते ? तद-

(१) ‘अनन्त च सुखं मतं ज्ञानान्निगुणसगतम् । क्षुषादयो न वाधन्ते पूणं त्वम्नि महोदय ॥’  
-शांति० ३०।११ । जनकभा० प० ८ । (२) ज्ञानावरणोत्पत्तात् । (३) ज्ञानभयातिशय । (४)  
‘निरस्तथातिक्रमचतुष्टये जिने वेदनीयसद्भावात्तत्प्राथया एकादश परीपहा सति अथवा एकादश  
जिन न सन्तीति वाक्यपाद कल्पनीय । -सर्वायसि० १।११ । (५) ‘दिगोनपूर्वकोटीविहरणमव सतीहि  
केवलिन । सूत्रोक्तमुपापादि न मुक्तिरश्च न नियतकाला स्यात् । -केवलिभू० श्लो० २४ ।  
सामति० टी० प० ६१३ । सूत्रहृ० श्लो० पृ० ३४६ B । स्या० १० पृ० ४८० । पात्रप्रथा० टी० पृ०  
३९५ A । (६) भुक्तिम । (७) आमुत्तिरिवाग्यवहारो जीवनहेतुभिनाग्यवहते । चेत्तिष्ठत्वन्ननवीर्म  
विनायुधा वाक्यमपि निष्ठत् ॥ न जानवदुपयोगो वीर्ये कमक्षयेण लघिसु । तत्रायुत्तिरिवाहारापेक्ष्येत  
न तत्र वाधास्ति ॥ -कथलिभू० श्लो० २०-२१ । स्या० १० पृ० ४८० । (८) तलक्षये न दीपो  
न जलागमनन्तरेण जलधारा । निष्ठति यथा ततो स्थितिरपि न विनाहारयोगेन ॥ -केवलिभू०  
श्लो० ३१ । स्या० १० पृ० ४८० । (९) ‘भुक्तिर्दोषो यदुपोष्यते न तोषश्च भवति निर्दोष ।  
इति निगन्तिो निपद्यार्हति न स्थानयोगे ॥ -केवलिभू० श्लो० २८ । स्या० १० पृ० ४८० ।  
(१०) ‘परमावधयुक्तस्य छत्रस्यस्यव नान्तरायोपि । सर्वाघदानंजपि स्यात्त चायथा पूर्वमपि  
भुक्ति ॥ -केवलिभू० श्लो० ३२ । स्या० १० पृ० ४८० ।

१-याप्रज्ञयाति-व० । २-इति तदा-प० । ३ कमचतु-व० । ४ इत्याद्यागम-व० ।  
५-पूर्वकोटिदिह-व० । ६ घटत च० । ७ तत्र यथा आ० । ८ भुक्ताभावे आ० । ९-मास्तिष्ठते व० ।  
१० भुक्तिदोषा वदु-आ० ।

सङ्गतम्, अवधिज्ञानिभि परमर्षिभिरनेकान्तात्, ते हि सकल त्रैलोक्य पश्यन्ति अथ च भुञ्जते, एव केवल्यपि । इन्द्रियविषये एव हि अन्तरायो नान्यत्र, अन्यथा छद्मस्था-  
वस्थायामप्यन्तराय स्यात्, भगवता तदापि अवधिज्ञानेन अशेषवस्तुसाक्षात्करणत् ।

न च भुक्तौ जिह्वारसप्राप्ते केवलिनो मतिज्ञानानुपपन्न, यतो न इन्द्रियविषय-  
सम्बन्धमात्रेण मतिज्ञान भवति । किं तर्हि ? तत्सम्बन्धे मतिज्ञानानुपपन्नयोपशमे च  
सति । एतच्च प्रक्षीणाशेषावरणे केवलिनि नास्ति इति न तज्ज्ञानानुपपन्न, अन्यथा  
श्रोत्राग्नीन्द्रियाणा दिव्यतूर्यादिरवेण गणधरदेवान्त्वरूपेण सुगन्धिकुसुमधूपवासात्किञ्चिन्वेन  
मरुत्सिंहासनस्पर्शेन सम्बन्धेऽपि मतिज्ञानमनुपपज्येत ।

सं च भगवान् पूर्वाह्णे अपराह्णे च पादोनप्रहर धर्मोपदेशनाकाल एव सिंहा-  
सनाधिरूढ आस्ते, शेषदिन तु दिव्यस्थाने देवच्छन्दवान्भिधाने गणधरदेवान्निहाय अन्य-  
मनुयतिरश्वासगोचरे ईशानदिशाया समवशरणीयद्वितीयप्राकाराभ्यन्तरवर्तिनि गत्वा  
पत्यङ्के आसने वा यथा सुरमास्ते । तत्र च गणधरदेवैरानीतमाहार सकलदोषशुद्ध  
ज्ञात्वा भुङ्क्तेनादये गृह्णाति । ते च 'आहार तनीयहस्ते निमित्त पश्यन्ति, कथमसो  
भुङ्क्ते' इत्येतत्तु न पश्यन्ति, मनुष्यतिरश्वा सर्वज्ञाहारनी(नि)हाराणामगोचरत्वात् इति ॥७॥

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—'आहारवेद्यात्मिकमोदयलक्षणत्राह्याभ्यान्तर-

कवलाहारनिरसनपुर कारणसद्भावात् क्षुद्रदये सति अत्रिलकारणा भगवतो भुक्तिर्भ-  
स्मर कवलिन नोक्त वत्येव' इत्यादि, तदसमीचीनम्, यैत तैत्सद्भावात्तदुक्त्ये केवलिनि  
माहारप्रसाधनम्— आहारमात्र प्रसाध्येत कवलाहारो वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाधनम्,

(१) 'इन्द्रियविषयप्राप्तौ यदभिनिबोधप्रसञ्जन भुक्ती । तच्छब्दगन्धस्पर्शसप्राप्त्या प्रति

व्यूढम् ॥ १-केवलिभू० इलो० ३३ । स्वा० २० प० ४८० । 'रासन च मतिज्ञानमाहारेण भवेच्छति ।  
प्राणीय स्यात्तदा पुष्पघाणतपणयोगत ॥'-इति ३०१२१ । (२) 'पूत्रद्वारेण समवसरणे प्रविशत्यथ ।  
प्रदनिषीकृत्य पूर्वसिंहासने निषीदति । पान्थीठन्यस्तपान् कृततीयनमस्कृति । विधत्ते त्रगना स्वामी  
गम्भीरमधुरध्वनि ।'-काललोक० ३०३१ ३२ । (३) प्रावारस्य द्वितीयस्यान्तर चोत्तरपूर्वत ।  
देवच्छन्द विचक्रुस्ते स्वामिविश्रामहृत्वे ॥'-त्रिपिठ० १।३।४४४, ६७९ । "इत्य वलिविधौ पूर्णे जिना  
प्रथमवपन । अवतीय द्वितीयस्य वप्रस्यगानकोणके । देवच्छन्दागत्य मुख निष्ठति नाकिभि ।'-  
काललोक० ३०६८ ६९ । 'तथाहि स भगवान् पूर्वाह्णे अपराह्णे च पादोनप्रहर यावत् धर्मोपदेशनाकाल  
एव सिंहासनाधिरूढ आस्ते, शेष तु दिन देवच्छन्दवान्भि दिव्यस्थान यथासुख गमयति । तत्र च गण  
धरदेवैरानीतमाहार निखिलदोषविशुद्ध विज्ञाय क्षुद्धेनादये गृह्णाति । आहार च तनीयपाणिपल्लवयस्य  
मांसचक्षुष पश्यन्ति कथमसौ भुङ्क्ते इत्येतत्तु न पश्यन्ति सवज्ञाहारनितारयोर्मांसचक्षुषामगोचरत्वात् ।"  
-स्वा० २० प० ४६९ । (४) पू० ८५२ प० १ । (५) 'अत्र किमाहारमात्र प्रसाध्यते कवलाहारो  
वा ?'-रत्नक० टी० प० ५ । प्रमेयक० प० ३०० ।

1 परममर्षिभिरमर्षिभिर-व० । 2-धूमवासादि-व० । 3 पूर्वाह्णे च पादोन-आ०, व.

4 अस्ति व० । 5 तत्र गणधर-आ० । 6 तदभावात्-व० ।

“आसयोगकवल्लिना जीवा आहारिण” [ ] इत्यभ्युपगमान् । पट्टिधो हि आहार प्रयत्ने प्रसिद्ध -

“नोक्म-रम्महारो क्वलाहारो य लेप्यमाहारः ।

उज्ज मणो वि य कमसो आहारो दग्धिहा ययो ॥ ’ [ भावस० गा० ११० ]

इत्यभिधानात् । तत्र च क्वलाहाराभावेऽपि अन्यस्य कर्म-नोक्माऽऽदानलक्षणस्य आहारस्य भावात् न आहारित्व भगवतो त्रिभुम् । न च क्वलाहारेणैव आहारित्व जीवानामित्यभ्युपगमो युक्तः, केन्द्रियाण्डनत्रिगणानाम् अमुञ्जानतिर्यङ्मनुष्याणाञ्च अनाहारित्वप्रसङ्गात् । द्वितीयपक्षे तु त्रिद्वैगान्भिर्बैभिचारः, तेषां वेगादि-कर्मोदयात् क्षुदुदये सत्यपि क्वलाहाराभावात् । अथात्र तदुदये तैमसाधयत्रपि केवलिनि प्रसाधयति, तदेतत् केवलिनो महसाहात्म्यम्-यद्विषयत्रिपमप्रहाभिभूतप्राणिषु

(१) ‘आहारा एडदियप्पहुडि जाव सजागवलिस्त-अप कवल्लेपाग्ममन कमाहारान् परि त्य-य नोक्मार्हारो ग्राह्य । -छन्नस, टी० पृ० ४०९ । आहारानुवातेन आहारकैषु मिथ्यादृष्टधानि सयोगकेव यतानि । -सर्वाथसि० १।८। ‘धावरकायणहुनी सजागिचरपोति ह्येति आहारी । -जीव का० गा० ६९७ । (२) ‘णोक्म कम्महारो क्वलाहारो य लेप्यहारो य । उज्ज मणो वि य कमसो आहारो छन्विहो णओ ॥ णोक्मकम्महारो जीवाण होइ चउगइगपाण । क्वलाहारो णरपमु रक्कमु य लेप्यमाहारो ॥ पक्कीणुज्जाहारो जइयमज्जमु कटमाणाण । दवेसु मणाहारा चउविहो णत्थि क्व णिओ । णोक्मकम्महारो उक्वारेण तस्स आयमे णिओ । ण ह्नु णिच्छएण सो वि ह्नु स वीयराओ परो जग्हा ॥’ -भावसं० गा० ११०-११३ । भावसं० श्लो० २२६ । उद्धृतयम्-प्रमेयक० पृ० ३०० । प्रवचनसा० टी० पृ० २८ । रत्नक० टी० त्रि० पृ० ५ । ‘उताम्बरागमेषु त्रिविध आहार प्ररूपित-मावाहारो त्रिविहो ओए ओम य पक्कवे । सरीरेणोयाहारो तयाय पासण लोमआहारो । पक्कवा हारो पुण कावन्थियो होइ नायवो । आयात्तरा जीवा सञ्चे अप जतगा भुणयत्वा । पज्जतगा य लोमे पक्कवे होइ नाय वा ॥ गयिन्थिदवाण नेरइयाण च नत्थि पक्कवो । समण पक्कवो ससारत्वाण जीवाण ॥ -सूत्रक० ति० गा० १७० ७३ । बोद्धधमसपट्ट पचधा आहारा प्ररूपिता - पवाहारा ध्यानात्तरा क्वलोवाहारा प्रत्याहारा सर्पाहारा मधननिकाहारापचति । -धमसं० पृ० १५१ (३) जरवान्हुक्कवरहिय जहारणहारवज्जिय विमल । सिहाण रत्तसजो णत्थि दुगछा य दो सो य । -बोधपा० गा० ३७ । पडियमय दिवत्तम जोगी णोक्मत्तेह्पडिवद्ध । समयपद्ध वधधि गल्लिदवमसा उमेत्तठिणी ॥ -सुत्थिसा० गा० ६१४ । लामात्तरायस्यानेपस्य निरासात् परित्यक्तक्वलाहारकि याणा कवल्लिना यत्त शरीरवलाधानहेतवो न्यमनुजाऽसाधारणा परमगुभा सूम्भा अनन्ता प्रतिसमय पुत्तला सवधमूपयान्ति स क्षाधिको लाभ । -सर्वाथसि० २।४ । नोक्मकमनामानमाहार गल्लुनी-हन । त्थिस्वित्तभवत्थतदस्माकमि सम्मतम ॥ -भावसं० श्लो० २२८ । प्रथमपक्ष सिद्धसाधनता, आसयोगकेवन्ति आहारिणो जीवा इत्यभ्युपगमात् । -रत्नक० टी० पृ० ५ । प्रमेयक० पृ० ३०० । ‘ततो नोक्मार्हारापणया कवल्लिनामाहारकत्वम् ।’ -प्रव० टी० पृ० २९ । (४) एकेन्द्रियेषु जीवेषु लेपाहार प्रजायते । आहारो मानसो त्वेवसमूहेष्वस्त्रिष्वेवपि । इति हेतोर्जिनेद्रस्य क्वलाहारपूर्विका । हेतुस्वित्तित वक्तव्या -भावसं० श्लो० २३० ३१ । प्रमेयक० पृ० ३०० । (५) त्वेवदेह्मिथ्या व्यभिचार -रत्नक टी० पृ० ५ । (६) दवान्पि । (७) क्वलाहारम् ।

1 नोक्मकमहारो य० । 2 न क्व-आ० । 3 यदुदये आ० य० । 4 यद्विषये विषय-आ० ।

कवलाहारप्रसाधनाऽसमर्थोऽपि तद्दुदय तत्र समर्थो भवतीति ।

किञ्च, 'तत्र तद्दुदय तैत्साधनसमर्थ' इत्येतत् कुत प्रतिपन्नम्—अभ्युपगम-  
मात्रात्, प्रमाणतो वा ? यदि अभ्युपगममात्रात्, अतिप्रसङ्ग, सर्वस्य स्नेष्टतत्त्वसिद्धि-

प्रसङ्गान् । अथ प्रमाणत, किमत्र प्रमाणम्—प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, आगमो वा ?  
प्रत्यक्षञ्चेत्; किम ऐन्द्रियम्, अतीन्द्रिय वा ? न तावदैन्द्रियम्, तस्य अशेषज्ञाहार-

निहाराऽगोचरत्वाभ्युपगमात्, अन्यथा "आहारा य निहारा केवलिणा पचन्ना"  
[ ] ईत्यागमविरोध । 'अतीन्द्रियतु तत्रैत्रप्रवर्त्तते' इत्यत्र कोशपान विधेयम् ।  
अथानुमानम्, किमत्र लिङ्गम्—तद्दुदय एव, मनुष्यत्वम्, देहस्थितित्व वा ?  
न तावत्तद्दुदय एव, अस्य त्रिदशादिभिर्व्यभिचारप्ररूपणात् । नापि मनुष्यत्वम्,  
अयोग्ये रलिना अनेकान्तात् । अथास्य मनुष्यप्रकृत्यतिजान्तत्वात् नोऽनेन अनेकान्त, 10  
तर्हि असिद्धो हेतु, सयोगकेवलिनोऽपि तद्द्वत्तदतिरूतत्वात् । तदुक्तम्—

"मानुषीं प्रवृत्तिमभ्यतीतयान् दयतास्वपि च दवता यत ॥"

[ बृहत्स० अनन्त० श्लो० ७५ ] इति ।

नापि देहस्थितित्वम्, तथाहि—'भगवतो देहस्थिति आहारपूर्विका देहस्थिति-  
त्वात् अस्मदादिदेहस्थितित्वत्' इत्यत्र प्रयोगे किम् आहारमात्रपूर्वकत्व तस्स्थिते प्रसाध्येत, 15  
कवलाहारपूर्वकत्व वा ? प्रथमपक्षे 'सिद्धसाध्यता' इत्युक्तम् । द्वितीयविकल्पे तु त्रिदशा-

दिभिर्व्यभिचार, तेषा कवलाहाराभावेऽपि देहस्थितिमभवात् । अथ 'औदारिकशरीर-  
स्थितित्वात्' इति विशिष्य उच्यते ततो न व्यभिचार, तन्न, तदीयौदारिकशरीरस्थिते  
परमौदारिकशरीरस्थितिरूपतया अस्मदाद्यौदारिकशरीरस्थितिविलक्षणत्वात् । तस्याश्च  
केवल्यपस्थाया केशादिप्रवृद्धयभाववत् तद्भुक्त्यभावाऽविरुद्ध एव । 20

अथ तद्बृद्ध्यभावा 'देवोपनीत न घातिकर्मक्षयज येन तद्वत् केवल्यप-  
स्थाया तद्भुक्त्यभावोऽप्यापाद्येत, बालोत्पादनानन्तर हि इन्द्रो यश्च नग्वेशेषु भगवतो  
धामयति अतस्तद्बृद्ध्यभाव इति, तदुक्तम्, यश्चप्रभावत तेषा मूलतोऽप्युत्थानाभावा-  
प्रसङ्गान्, सर्वतीर्थकृतामेकादशकेशात्प्रतीतिप्रसङ्गान्च, न चैवम्, ऋषभादितीर्थ-

(१) वेद्यात्किर्मोदय । (२) केवलिति कवलाहारसाधनसमर्थ । (३) कवलाहारसाधनसमर्थ ।

(४) "पञ्चत्र आहारानीहारे अदिस्मो मसचक्यगुणा ।"—सप्तमा० सू० ३४ । (५) प्रत्यर्ण अगोपनाहारसा  
गात्करण । (६) अयोगिव मनुष्यप्रकृत्यतिजान्तत्वात् । (७) "एरिसगुणहि सत्र अहसववत्तं गुपरि  
मलामाथ । ओरालिय च कायं णायव्य अरहपुरिसम्म ॥"—सोपमा० गा० ३९ । "तद् भगवत शरीर  
मौर्गरिकं न भवति किन्तु परमौर्गात्किम्—गुद्धस्फटिकमकासं तजामूर्तिमय वपु । जायत धीपगपप  
सत्पथानुविवजितम् ।"—प्रब० टी० प० २८ । (८) परमौर्गात्किंशरीरस्थित । (९) केशात्प्रवृद्धय  
भाव । "अवद्रिए केसममुरोमनह"—सप्तमा० सू० ३४ ।

१ तु न प्रवर्त्तते व० । २ नानेकान्त ३०, न तेनानेकात् ४० । ३—वृत्तिनिष्ठात् ५० ।

४ केनादिबृद्धय—४०, ५० । ५ बोवापनीत व० । ६ घातिक्षयज व० ४० । ७ बालोत्पादानन्तरं भा०, ५० ।

कृता येश्वलापस्य गुल्फधुभायेन विलक्षणस्य रूपत्वे । ततो घातिरमक्षयावस्थाया  
 यस्य यात्रतो त्वपेक्षा तस्य तावन् प्याऽपतिष्ठन्ते इति । येनैव्यवस्थाया घातिश-  
 यनो यथा तच्छरीरस्थितौ येशाद्विद्वद्भायन् िणोऽनिद्रयोऽस्ति तथा तदुपत्यभाय-  
 षणोऽप्यस्तु अत्रिदोपात् । लघ्नाभ्यावस्थापञ्चास्य मुक्त्यभ्युत्थाने अग्निपक्षानिपेश (मेघ )  
 नग्नशशुद्धादिश्राभ्युपगम्यताम् । तन्भायातिग्याभ्युपगमे वा मुक्त्यभायातिशयोऽप्य-  
 भ्युपगतव्यो विशेषाभायात् । तेषोमाहात्म्यात् चतुरास्यत्यात्रियञ्च अमुक्ति-  
 पूर्वपत्वेऽपि शरीरस्थितेर्न पश्चिद्धिरोध । दृश्यते हि पद्मशरत्तो मुष्णास्य दाहशी  
 शरीरस्थिति तादृश्येय प्रतिपन्नभारनोपेतस्य चतुरिन्द्रोसमोनास्यापि, तथा प्रतिष्ठा  
 मुष्णानस्य दाहशी सा तादृश्येय एकद्व्यात्रिणातरितभोजिनोऽपि । भ्रूयते च  
 वाहुवलिप्रभृतीना सवत्सरप्रमिताहारवैषम्येऽपि विशिष्टा शरीरस्थिति । आयु षमंष  
 हि प्रधान तस्तिथतेनिमित्तम्, मुक्त्यादिक तु महागमायम् । तच्छरीरोगोपायोऽपि  
 लभान्तरायप्रश्रयात् प्रतिसमय तदुपचयनिमित्तभूताया दिव्यपरमाणूना लोभाद् घटते ।

ननु मांस वपं वा तन्भाये तस्मिन्तापि नासात् तस्मिन्ति पुन तदादारे प्रवृत्ति-  
 प्रतीतेरिति चेत्, कुत तस्मिन्ते आवाह्यप्रतीनि -प्रत्याग, अनुमागद्वा ? यदि  
 प्रत्यक्षत, सर्वज्ञनीतरगाय दत्तो जगज्जलि तद्धत् तंत तदप्रनीतेरप्यविशेषात् । अनुमा-  
 नात् तस्मिद्धिरन्यत्राप्यविशिष्टा । यथैय हि 'क्षानप्रसर्ग दोषावरणापकर्मश्च षचित्  
 परमप्रसपमापगतते प्रकृष्ट्यमाणत्वात् परिमाणवत्' इत्युच्यते, तथा 'एक्यान्दिनान्तरि  
 तभोजिनाम् अमुक्तिपूर्वको देहस्थितिप्रसर्ग षचित् परमकाष्ठाभापगतते तस्यात् तद्वदेय'

(१) क्वचित् । (२) तपोमाहात्म्याच्चतुरास्यत्वात्रियञ्चाभ्याभुक्तिपूर्वत्वे तस्या को  
 विरोध ? -प्रमेयक० पृ० ३०२ । (३) द्रष्टव्यम्-पृ० ८५६ टि० ३ । 'लभान्तरायस्याप्यनिरामान  
 परित्यक्तव्यलाहाराक्रियाणां क्वचलितो यत शरीरयलाघातहेतवो' यमनत्रातापारणा परमगुभा  
 सूत्रा अनता प्रतिसमयं पुद्गला सम्बन्धमुपपाति स दापिको लाभ । तस्मान्नीरिक्शरीरस्य  
 किञ्चिद्युनपूर्वकोटिवस्थिति क्वचत्तहारगमनेण क्व सम्बन्धिनि यद्वपन तन्निक्षिप्ततृन् विज्ञापन ।  
 -राजवा० २।४ । 'लभान्तरायक्षयाल्लभ परमगामपुण्यगणानलक्षण परमोत्तारिक्शरीरस्थितिदु ।  
 -सत्वाध० लो० पृ० ३१४ । प्रमेयक० पृ० ३०२ । (४) 'मायं यप यापि च तानि शरीराणि तेन  
 भुक्तेन । निष्पन्नि न चाकाल नायथा पूर्वमपि भुक्ति ॥ -वेवल्लिभ० लो० २२ । स्या० १०  
 प० ४८० । (५) 'विपक्षभावनावगाद् रागाणां हायनिगवत्तानान केवलनि तपरमप्रकर्षसिद्धे  
 वीनरागतासभव भोजनाभावपरमप्रकर्षोऽपि तत्र विन स्यात् ? तदभावनानो भाजनादावपि हाय  
 तिगवदनाविशपात् । तथाहि एकस्मिन् निने योनकवारान् भुक्ते कदाचित् विपक्षभावनावगात्  
 पुनरकवारं भुक्त्वा कश्चिन्पुरेयनिनाचन्तरितभोजन अय पुन पक्षमाससंघसराद्यतरितभोजन  
 इति । -रत्नक० टी० पृ० ६ । प्रमेयक० पृ० ३०२ ।

१ वेवलाय-व० थ० । २-गातिग-थ० । ३ भुक्त्युपगमे व० । ४-तिगयो भुक्त्य-भा० ।  
 ५-द्विन भोजन भुक्त्वा-व । ६-भाजनाऽपि थ० । ७-ते थ० । ८-कुतस्तत्रस्थि-आ० । ९-तत  
 तप्रती-आ० ।

इत्युच्यतामनिशेषात् । तन्न शरीरस्थितेरपि भगवतो वेद्याद्युदयात् क्षुदुदय क्वलाहार-  
प्रसाधनसमर्थं प्रत्येतुं शक्यं ।

असिद्धञ्च अविकलकारणत्व भुक्ते, मोहनीयसहाय हि वेद्यादिकर्म क्षुदादिकार्य-  
करणेऽविकलमामर्थ्यं भवति, नान्यथा अतिप्रसङ्गात् । यथैव हि पतिते सैन्यनायके असा-  
मर्थ्यं सैन्यस्य, तथा मोहनीये विनष्टे अघातिकर्मणामिति । यथा च निर्विपीकृत्य मन्त्रिणा  
५  
उपयुज्यमानमपि विप न दाहमूर्च्छादि कर्तुं समर्थम् तथा शुष्कध्यानानलनिर्दग्धमोहोदय  
वेद्यादि क्षुधादिकमिति । प्रयोग—भगवति बुभुक्षा नास्ति, तत्कारणमोहाभावात्, यत्र  
यत्कारणाभावो न तत्र तत्कार्यम् यथा अनग्निप्रदेशे धूम, नास्ति च अर्हति मोह इति ।

किञ्च, कर्मणामुदयो यद्यनपेक्ष कार्यमुत्पादयेत्, तर्हि त्रिवेदाना कृपायाणा वै  
प्रमत्तादिषु उदयोऽस्ति इति मैथुन भ्रष्टुष्टादिकञ्च स्यात्, ततश्च मनस सहोभात् क्व  
१०  
शुष्कध्यानात्प्रति, क्षैपकश्रेण्यारोहण वा यत् कर्मक्षपणा स्यात् ? नन्वेव नामानुदयोऽपि  
तत्र स्वकार्यकारी न स्यात्, इत्युक्तम्, शुभप्रकृतीना तत्र अप्रतिबद्धत्वेन स्वकार्यकारि-  
त्वोपपत्तेः । यथैव हि चलत्पाराज्ञा स्वमार्गानुसारिणा लब्धे दशे दुष्टा जीवन्तोऽपि न  
स्वदुष्टाचरणविधातारं संजनास्तु अप्रतिहततया स्वकार्यस्य विधातार, तथा प्रकृतमपि ।  
कथं पुनरशुभप्रकृतीनामेव अर्हति प्रतिबद्धं सामर्थ्यं न पुन शुभप्रकृतीनामिति चेत् ?  
१५  
उच्यते—अशुभप्रकृतीनामर्हन् अनुभाग घातयति न तु शुभप्रकृतीनाम्, यतो गुणघा-  
तिना दण्डो नाऽदोषाणाम् ।

यदि च प्रतिबद्धसामर्थ्यमप्यसातावेदनीय स्वकार्यकारि स्यात् तर्हि दण्डकपा-  
टादिविधानं भगवतो व्यर्थम् । तद्धि यज्ञ न्यूनमायु वेदनीयादिकमधिकस्थितिकं भवति  
तदा तेन कर्मणा समस्थित्यर्थं विधीयते । नच अधिकस्थितिः फलदानसमर्थं कर्म  
२०  
उपायशक्तेनापि अन्यथा कर्तुं शक्यमिति न कश्चिमुक्तं स्यात् । अथ तपोमाहात्म्यात्

(१) "घातं च वेद्यणीयं मोहस्त बलेण घातदे जीव ।"—गो० कर्मका० गा० १९। "मोहनी-  
यमसहायस्यैव वेदनीयस्य बुभुक्षोन्त्यान् सामर्थ्यात् ।"—रत्नक० टी० पृ० ६। प्रमेयक० पृ० ३०३।  
'यथैव श्रीह्यादिवीजं जलसद्वारिकारणसहितमङ्कुरादिवत् जनयति तथैवासिद्धकर्म माहनीयसह-  
कारिकारणसहितं क्षुधादिवत् जनयति ।"—प्रथ० टी० पृ० २८। (२) "यदि मोहाभावेऽपि शुधा-  
न्पिरीपहं जनयति तर्हि सपरागादिपिरीपहमपि जनयति, न च तथा ।"—प्रथ० टी० पृ० २८। प्रमेयक०  
पृ० ३०३। (३) "शुभप्रकृतीना तत्राप्रतिबद्धत्वेन"—प्रमेयक० पृ० ३०३। (४) "हन्तेगमि-  
क्रियत्वात् मभूयात्प्रदग्नात्वात् च बहिरङ्गमनं समुद्भात । कर्तनीयस्य बहुत्वात् पत्वाच्चापुपोनाभात्  
पूर्ववत्तया समीकरणाय द्रव्यस्वभावत्वात् सुराद्रव्यस्य फेनवेगवृत्त्यादिर्भाषोपसमनवद्देहस्यात्मप्रदे-  
गानो बहिः समुद्भातर्त्नं च वलिसमुद्भात ।"—राजवा० पृ० ५३। "मूलशरीरमर्हदिय उतरदेहस्य जीवति  
इत्स । जित्गमणं दहादो हीदि समुत्पात्तानाम् तु ।"—जीवका० गा० ६६७ ।

१-एते घातिकर्म-व० आ० । २ उपभुज्यमा-व० । ३-मोहसहायं आ०, य० । ४ च य० । ५  
क्षपणघे-आ० । ६-शुभनाशप्र-य० । ७-बद्धसाम-व० । ८-दण्डप्रनरादि-  
९

निर्नीणम् अधिकरिति च येन पत्रदाताऽममर्थम् अतु यमममान कर्त्तुं त्रियते, तथा  
 वेद्यमपि तद्दानाममर्थं त्रियतामपि दोषात् । तत्र कारणमन्वि इत्येतावथैव कार्यास्ति,  
 अथवा इन्द्रियादिकार्यस्याप्युपपन्नात् भगवतो मतिज्ञात्वात् रागादीनाम् प्रमत्त । अथ  
 आवरणक्षयोपशमस्य मोहनीयवर्त्मणश्च सात्कारिणो विरहात् नेन्द्रियादि स्वकार्यं कुर्यात्,  
 अत एव येनैवमप्यविनोपात् ।

तत्रैव बुभुक्षा मोहनीयानपेक्षस्य वेदनीयस्यैव कार्यम् येन अन्यतप्रक्षीणमोहेऽपि  
 स्यात्, तथाहि—बुभुक्षा मोहनीयानपेक्षस्य वेदनीयस्य कार्यम् भवति इच्छात्वात् रिरमापत् ।  
 भोक्तुमिच्छा हि बुभुक्षा, सा यथा वेदनीयस्यैव कार्यम् ? अथवा योऽन्यादिषु रन्तुमि-  
 च्छा रिरमापि तत्रार्थं स्यात्, तथा च पत्रलाहारात् स्यादापि तत्रमद्वात् मेधरा-  
 त्म्य विदोष । यथा च रिरसा प्रतिपक्षभावनानो विवर्तते तथा बुभुक्षापि । प्रयोग—  
 भोजनावाद्वा प्रतिपक्षभावनानो नियतते आनाहृक्षात्वात् स्यादापि तद्वापत् । नन्वस्तु  
 तद्वापनाकाले नस्त्रिवृत्ति तदभावे तु प्रवृत्ति पुन स्यात्, इत्येतत् स्यादापि तद्वापि  
 समानम् । यथा चास्या चोस प्रतिपक्षभावनानामयत्नान् अत्यन्तनिवृत्ति तथा भोजना-  
 वाहृक्षाया अपि, यथा च निर्मोहत्वेन स्यादापि तद्वा विरहात् तथा बुभुक्षापि । तथा  
 च प्रयोग—न बुभुक्षावान् वेद्यली, तद्विरोधिनिमाह स्वभावोपेतत्वात्, यो यद्विरोधिस्त  
 भावोपेत नासौ तद्वान् यथा उष्णस्पर्शस्यभावोपेत कश्चित् प्रदेश न शीतस्पर्शोपेत,  
 क्षुद्धिरोधिनिमाह स्वभावोपेतश्च चेतलीति ।

एतेन इमंमपि प्रत्युक्तम्—'प्रतिपक्षभावात् क्षुधो निवृत्तौ शुद्धेदनाप्रतीकारार्थं  
 शास्त्रे सैव उपदिश्यते न पिण्डपणा' इत्यादि, चेतनो हि प्रतिपक्षभावात्तमयत्वमिद्वे  
 प्राक् पिण्डैपणोपदशात्, तस्यैवत्वमिद्वौ तु कामवदप्रतिवृत्तिवत् नि शेषशुद्धेदनापि  
 नस्त्रिवृत्ति नस्त्रिवृत्त तद्देदनाप्रतीकारार्थं द्रव्यात्तरपणया ? अथ आनाहृक्षारूपा क्षुध  
 भवति तेन धीतमोहेपि अस्य सभव, यथमेव रिरमाया अपि अनावाद्धारूपाया तत्र  
 सभवो न स्यात् ? अथ अनावाद्धारूपाऽस्यो प्रतीतिविरहात्, तदेतद् बुभुक्षायामपि  
 समानम् । अस्तु याऽनाहृक्षारूपत्वमस्या, तथापि दु गरूपत्वात् अर्नन्तमुपे भगवत्त्व-  
 मभव, यद्दु गरूप न तत्र सभवति यथा कामपीडादि, दु गरूपा च क्षुद्धिति ।

(१) 'भोक्तुमिच्छा हि बुभुक्षा सा मोहनीयवत्त्वात् कथं प्रक्षीणमाहे भवति स्यात्  
 अथवा रिरसाया अपि तत्र प्रसंगात् ।'—रत्नक० टी० पृ० ६। प्रमेयक० पृ० ३०४। (२) पृ० ८५३  
 पृ० १५। (३) आकाशगारुपत्वमावात् । (४) वेद्यनि । (५) रिरसाया । (६) 'क्षुधोऽन्यथा  
 चारय कथमनातसोन्व स्यात् यतोऽनन्तचतुष्टयस्वामिताऽप्य ।'—रत्नक० टी० पृ० ६। 'मपि क्षुधा  
 वाधास्ति तर्हि शुधा क्षीणत्वेनन्तवार्थं नास्ति तत्रैव क्षुधा दु गितस्य अनन्तमुपे भवति नास्ति ।—  
 प्रमे० टी० पृ० २८। प्रमेयक० पृ० २९९ ।

१-निर्नीणस्त्विति—आ० २ आयु कर्म क्रियते थ० ३ तत्र एव थ० ४ मोहनीयनिवृत्त्येव—ब० ५  
 ६ तथाहि चावुम्—थ० ६ प्रवृत्ति स्यात् थ० ७ अथ कर्त्तारूपा आ० ८ अस्यात्तंभव थ० ९, व० १

यत्र हि अनन्तसुखं न तत्र दुःखलेशोऽप्यस्ति यथा सिद्धेषु, अनन्तसुखञ्च अर्हति इति । ननु सकलत्राधानिवृत्त्यात्मकं यदनन्तं सुखं तत्राभिप्रेतं तदसिद्धम्, क्षुद्धाधाभ्युपगमात्, सकलकर्मविप्रमुक्तानां सिद्धानामेव हि तथाविधं तदस्ति नाऽर्हतात् तत्र वेत्नीयोदयसंभवादिति, तदसत्, तदुदयस्य तत्र तद्वाधाहेतुत्वाभावप्रतिपादनात् ।

किञ्च, अर्हति अनन्तं सुखं सर्वप्रदेशव्यापि अव्याहृतमास्ते अप्रादेशिकत्वात्तस्य, सुखदुःखयोरेकत्रैकदा विरोधतोऽसंभवाच्च, तत्कथं क्षुद्धुःखलेशोऽपि तत्र संभाव्यः ? अन्यथा अस्मदादिसुखवत् प्रादेशिकमेव तत्सुखं स्यात् । अतः तथाविधं सुखं भगवति सन्निधीयमानं स्वविरुद्धं दुःखं निवर्त्तयति यथा अग्निं शीतम् । तन्निवृत्तौ च तद्व्याप्याया क्षुधो निवृत्तिः, व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यस्यावश्यं निवृत्ते वृश्निवृत्तौ शिक्षापावत् । प्रयोग—यत्रैतद्विरोधि बलवदस्ति न तत्र अभ्युदितकारणमपि तद् भवति यथा अत्युष्णप्रदेशे शीतम्, अस्ति च क्षुद्धुःखविरोधि बलवत् केवलिनि अनन्तसुखमिति । तथा, यत्कार्यविरोध्यनिवर्त्त्यं यत्रास्ति तत्र तदविकलमपि स्वकार्यं न करोति यथा श्लेष्मादिविरुद्धाऽनिवर्त्त्यं-पित्तविकाराक्रान्ते पुरुषे न दध्यान्ति श्लेष्मादिं करोति, वेद्यफलविरुद्धाऽनिवर्त्त्यं सुखञ्च भगवति इति । ततो निराकृतमेतत्—'नहि बालादीं ज्ञानाद्यपचये क्षुदुपचयः' इत्यादि, अनन्तसुखसहभाविनामेव ज्ञानादीनां क्षुद्धिरोधित्वव्यवस्थिते ।

यदप्युक्तम्—'नहि केवलिज्ञानादयः क्षुधं विरन्धन्ति इत्यर्वागृहशा प्रतिपत्तुं शक्यमतीन्द्रियत्वात्तेषाम्' इत्यादि, तदप्युक्तिमात्रम्, अतीन्द्रियत्वात्तेषां तद्विरोधित्वाऽप्रतिपत्तौ सर्वार्थसाक्षात्कारित्वादेरपि अप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । यथैव हि तेषामतीन्द्रियत्वात् 'एतत्सन्निधौ क्षुद्रं भवति' इत्यर्वागृहशा प्रत्येतु न शक्यते तथा 'एते सर्वसाक्षात्कारिणः' इत्यपि । अयं अनुमानात्तेषां तत्साक्षात्कारित्वं प्रतीयते, तद्विरोधित्वेन किमपराद्धं येन तेषामनुमानात् तन्न प्रतीयेत ? प्रतिपादितञ्च क्षुद्धिरोधित्वानुमानं प्राक् इत्यलमिति प्रसङ्गेन । सर्वज्ञत्वाच्च भगवत् क्षुद्रभावः, क्षुद्रभ्युपगमे हि तद्वाद्यया सर्वज्ञता हीयेत नि शक्तिरत्वञ्च स्यात् । अस्मान्मौ हि क्षुद्रप्रभवपीडाक्रान्ते ज्ञानादेरभावं सुप्रतीतं 'क्षुत्वीरितोऽहं न किञ्चिज्ज्ञानमि, न किञ्चित्पश्यामि, उल्बालुमपि न ज्ञानमि' इति प्रतीते ।

यदप्युक्तम्—'ज्ञानाधरणादिकर्मोदयनिवन्धनं तत्क्षयः' इत्यान्ति, तदप्यमान्प्रतम्, 2.

(१) वेदनीयोदयस्य । (२) सर्वप्रदेशव्यापि अनन्तसुखम् । (३) नास्ति केवलिनि क्षुद्धुःखं तदवलवद्विरोध्यनन्तसुखसद्भावान् । (४) 'यत्र यद्विरोधि'—प्रमेयक० पृ० ३०५ । (५) केवलिनि वेत्नीय स्वकार्यं क्षुद्धुःखं न करोति तत्कार्यविरोध्यनिवर्त्त्यं अनन्तसुखसंभावान् । (६) पृ० ८५२ पृ० २० । (७) पृ० ८५३ पृ० २ । (८) बलज्ञानादीनाम् । (९) क्षुद्धिरोधित्वम् । (१०) पृ० ८५४ पृ० ४ ।

1 तिद्धेऽनन्त-श्र० । 2 यदस्ति सुखं श्र० । 3 यदन्त आ० । 4-पमान्प्रतम्-श्र० । 4-गिब मिय आ० । 5 तथाविधसुखं श्र० । 6 यथा आ० श्र० । 7 प्रतीयते श्र० । 8 क्षुद्रविरो-श्र० । क्षुद्धिस्वानुमा-श्र० ।



प्रथीपाशोपावरणस्य भगवतो ज्ञानादिश्रयाभावात् । प्रथीगानोपमोहस्य सुखीहातेशम्या-  
प्यनुपपत्ते । मोहनीयसहाय वेदनीय क्षुत्करणे प्रभु' इति प्राक् प्रपञ्चत समर्थितत्वात् ।

“एकादश जिनै” [ तत्त्वार्थसू० १।११ ] इत्यागमोऽपि क्षुधाशोकादशपरीपटप्रतिषेध-  
पर प्रतिपत्तय, ‘ग्वेन अधिधाने न द्वा एकादश’ इति व्युपत्ते । मोहनीयसहायस्य  
वेदनीयस्य कार्यभूता क्षुधाशोकादशपरीपटा, तत्सहायस्य च अर्हति अत्यन्तप्रश्रयात्  
न वेदनीयोऽन्योऽन्यमात्रात् तत्र ते सन्ति, अथवा रोगादिपरीपटाणामपि तत्र सत्त्वं  
प्रसङ्गात्, अस्मादादौ तैदुदय क्षुत्पिपासान्द रोगातीनामप्युपलम्भान् । छद्मस्यजिनेषु  
भोगभूमिजान्पि च तदुत्पयेऽपि रोगादीनामभावाद् व्यभिचारे कत्रलाहारस्यापि व्यभि-  
चारोऽस्तु, देवादिषु तदुदयेऽपि तदभावात् ।

यच्चायदुत्तमै-‘उत्तर्यण देशोनपूयमोहिं विहरत’ इत्यादि, तदप्यचार,  
शरीरस्थिते आयु कर्मण एव नियतमित्तप्रतिपात्तात्, मुक्तिं विनापि आकाश  
तस्थिते समर्थितत्वाच्च ।

यदप्यभिहितमै-‘मुक्तेर्दापरूपतया भगवत्समभवे वचनादेरप्यसभव स्यात्’  
इत्यादि, तदप्यभिधानमात्रम्, वचनादे तीर्थकरत्वमोदयापादितत्वात् दोषरूपत्वा-  
समवाच्च, नहि अष्टादशशोपेषु मध्ये क्षुधादिवद् वचनमपि पठ्यते । मुक्तेरपि वेदनीयो-  
दयापादितत्वात् तत्र सत्त्वमस्तु, इत्ययसङ्गतम्, मोहसद्भाससहायस्यैवास्य तत्सम्पान्ने  
सामर्थ्यप्रतिपादनात् । यथैव हि मोहप्रक्षयसहाय तीर्थकरत्व विशिष्टवचनादिविधाने  
समर्थं तथा मोहसद्भाससहाय वेद्य मुक्त्याविधाने इति ।

यदप्युक्तमै-‘अवधिज्ञानिवत् सकलज्ञस्य सफल जगत्पश्यतोऽपि अन्तरायासमभ’

(१) अथवा ‘एकान्त जिनै न सन्ति इति वाक्येण कर्तव्यं शीघ्रस्कारत्वात्प्राणाम । -  
सर्वावसि० १।११। ‘अथवा तत्र वाक्येण ‘एकान्त जिन कश्चित्कल्प्यते’ इति किं तर्हि ? एकादश  
सन्तीति । कथम् ? उपचारान्, यथा निरवशपनिरस्तानावरण परिपूषणान् एकाग्रचित्तानिरोध  
भावेऽपि कमरजोविधूननकासमवात् ध्यानोपचार तथा क्षुधाशोकात् भावपरीपटभावेऽपि शनीयव  
मन्य द्रव्यपरापटसमवात् एकाग्र जिन सन्तीत्युपचारो यत् । -राजवा० १।११। “गन्तव्य एव  
केचित्परापटपरीपटा सन्ति न पुनव्यक्तित्त केवलाद् वेदनीयाद् व्यक्तक्षुधासमवात्तित्युपचारतस्त  
तत्र परापटव्या । -तत्त्वार्थसू० १० ४९२। ‘तेन असादनिमित्ता परीसहा जिणवर पत्थि । -  
कमका० गा० २७५। क्षुत्पिपासाऽन्यो यस्मान्न समर्था मोहसहाय । द्रव्यवर्मा त्यानधामास्तस्वमुप  
चारत । -भावस० श्लो० २३४। यच्चोपचारतोष्यत्वाद्वा परीपटा न संभाव्यन्ते तत्र तान्नपम  
परत्वात् सूत्रस्य एकेनाधिकान् न द्वा परापटान् जिन एकाग्र जिन इति पृथ्यते । -प्रमेयक०  
पृ० ३०७। (२) वेदनाशोदय । (३) पृ० ८५४ पं० ८। (४) पृ० ८५४ पं० १०। (५)  
क्षुत्पिपासाजरातङ्कजमान्तकथमस्मया । न रागद्वेषमोहाश्च चान्तात् चिन्तात्तरितिद्राविसमपमद  
स्वेदश्च गह्यन्ते । एतज्जटादश दोषा -रत्नक०, टी० १।६। (६) पं० ८५५ पं० १।

1 तत्र न सन्ति श्य० । 2 भक्तेरपि वेदनीयोदयापादितत्वात् तत्र सत्त्वमस्तु इत्ययसमभावाच्च  
नहि अष्टान्-आ० । 3 दोषोदयत्वा-व० । 4 वेदनीयोपावि-आ० । 5 मोहसहा-व०, श्य० ।

इत्यादि, तदप्यनुपपन्नम्, तज्ज्ञानस्य सोपयोगतया तत्काल एव स्वत्रिपयाऽशेषार्थसाक्षात्करणसमभवात् । यदेव हि अत्रधिज्ञानोपयोगमवधिज्ञानी करोति तत्रैवासौ तद्विषय-भूतमशेष यस्तु पश्यति नान्यदेति, भोजनकाले यद्यसौ उपयोग करोति तदाऽन्तरायो भवत्येव, नचाय प्रकार केवलज्ञाने समभवति तस्यै संदा उपयुक्तत्वात् ।

यद्युक्तम्—'नेन्द्रियार्थसम्बन्धमात्रेण मतिज्ञान भवति' इत्यादि, तदप्यसुन्दरम्, विषयत्रिपयिसम्बन्धे समुपजायमानस्य ज्ञानस्य अमतिज्ञानत्वे मतिज्ञानवार्त्तोच्छेदप्रस-ङ्गात् । अथ मतिज्ञानावरणक्षयोपशमस्य सहकारिणोऽभावात् नेन्द्रियाणि स्वविषय-सम्बन्धेऽपि स्वकार्यमाविर्भावयन्ति, तर्हि मोहनीयस्यापि सहकारिणोऽभावात् वेद्यमपि स्वकार्यं न कुर्यात् इत्युक्तम् ।

किञ्च, किमर्थमसौ भुङ्क्ते—शरीरोपचयार्थम्, ज्ञानदर्शनरीर्यादिक्षयनिवृत्त्यर्थम्, क्षुद्रेणाप्रतीकारार्थम्, आयुषोऽसाधितमुक्तिरूपापवर्त्तननिवृत्त्यर्थम्, रमगृद्धुपशमार्थम्, लोकानुग्रहार्थं वा ? न तावत् शरीरोपचयार्थम्, लाभान्तरायप्रक्षयात् प्रतिसमय विशिष्ट-परमाणुलाभादेव तत्सिद्धे । तदर्थं तद्ग्रहणे च कर्मसो निर्ग्रन्थ स्यात् शरीरसम्भू-च्छासभावात् प्राकृतपुरुषवत् । नापि ज्ञानादिक्षयनिवृत्त्यर्थम्, तदर्थं यनिग्रन्थनाभावादेव तदक्षयप्रसिद्धे । ज्ञानादिक्षयस्य हि निग्रन्थन ज्ञानावरणादिक्षयोपशम, तस्मिन् सति भोजनाद्यभावे तत्क्षयप्रतीते । स च प्रक्षीणाशेषावरणे भगवति नास्ति इति कथं तत्र-क्षयाग्रहाऽपि यतो भुक्ति स्यात् ? नापि क्षुद्रेणाप्रतीकारार्थम्, अनन्तमुत्तरीये भगवति अस्या सभवाभावस्य उक्तत्वात् । नापि आयुषोऽसाधितमुक्तिरूपापवर्त्तननिवृत्त्यर्थम्, चरमोत्तमदेहानामनपवर्त्त्यायुष्करादेव तद्विधिस्यास्य अपवर्त्तनानुपपत्तेः । नापि रसगृद्धुपशमार्थम्, शीतमोहस्य रसगृद्धेरेवानुपपत्तेः । नापि लोकानुग्रहार्थम्, अनन्त-वीर्यस्य वीर्यक्षयनिग्रन्थनाभावात् भुक्तिमन्तरेणापि लोकमनुग्रहीतु समर्थत्वात् ।

यन्चोक्तम्—'देवच्छान्त्के गत्वा यथासुरमास्ते' इत्यादि, तदप्युक्तिमात्रम्, यत्

- (१) अवधिज्ञानस्य । (२) उपयोगसमये । (३) केवलज्ञानस्य । (४) पृ० ८५५ पं० ४ । (५) तुलना—'ण बलाजसाहणटठ ण शरीरसस य चयट्ट तेजट्ट । णाणट्ट सजमट्ट भाणट्ट चव भुजति ।'—मूलावा० ६ । ६२। प्रव० टी० पृ० २९ । प्रमेयक० पृ० ३०६ । (६) शरीरोपचयार्थम् । (७) नानावरणोपशमोऽसाधितदेव । (८) 'श्रीपपादिकचरमोत्तमदेहास्ययवर्षामुपोन्नपनयायुष ।'—तत्त्वायसू० २।५३ । 'चरम उत्तमा देहो यथा ते चरयोत्तमदेहा विपरीतससारा तज्जमनिर्वाणार्हा इत्यय ।'—सर्वायसि० । 'चरमदेहा अत्यदेहा इत्यय ये तत्र शरीरेण सिद्धयन्ति, उत्तमपुरपा तीथकचरप्रत्यधवन्ननिन —तत्त्वार्थाधि० । 'दना नरइयावि य असत्त्वसाजया य तिरमणुआ । उत्तमपुरिमा य तहा चरमसरीरा य तिरुवक्का ॥'—ठाणागवि० । (९) 'वाह्यप्रत्ययवर्णायापुपा हासोपवत् ।'—राजवा० २।५३ । (१०) पृ० ५५८ पं० १० ।

1 सर्वोपपन्न-प्र० । 2 आयुषोऽनुदिनमुक्ति-प्र० । 3 शरीरमूर्च्छास-प्र० । 4 अपवर्त्तनविष-व०, अपवर्त्तन निव-आ० । 5 मुक्तिम-प्र० ।

समवशरण विहाय भगवान् विमर्शे तत्र गच्छति-मनोविक्षेपपरिहारेण ध्यानसिद्धयर्थम्, निरोधाक्षमत्वतो यथासुगमधस्थानार्थम्, रहस्यकार्यानुष्ठानार्थं वा ? तत्राग पक्षोऽयुक्त, अमनस्कतया भगवतो मनोविक्षेपाऽसम्भवात्, योगनिरोधसद्भावेन उपचारत तत्र ध्यानाभिधानान्च । द्वितीयपक्षोऽप्यनुपपन्न, अनतरीर्यस्य निरोधाऽक्षमत्वानुपपत्तेः ।  
 अनन्तसुगमस्य दुःखलेशस्याप्यभागतो 'यथासुगम्' इत्यस्यापि दुःखदत्त्वात् ।

रहस्यकार्यंश्च निन्द्यम्, अनिन्द्यं वा ? न तावन्निन्द्यम्, प्रक्षीणाशेषतोपस्य निन्द्य-कार्यानुष्ठाननिरोधात् । अथ अनिन्द्यम्, तत्किं भोजनम्, कर्मक्षपणं वा ? न तावद्भोजनम्, तस्य अमोहे भगवति प्रतिपिद्धत्वात् । अप्रतिषेधे वा कस्मादसौ ण्णान्ते गत्वा मुञ्जे-ऋषि[दोष]भयात्, यौचकभयात्, अनुचितानुष्ठानत्वाद्वा ? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्न, भगवतो ऋषिदोषागोचरत्वात् । यदीयेन हि नाम्ना अन्येषा ऋषिदोषादेरुपशमो भवति स कथं तद्दोषगोचर स्यात् ? द्वितीयविकल्पे तु भगवतो महद्दीनत्व प्रख्यापितम् । न खलु महासत्त्वस्य पृष्ठतो लग्नान् बुभुक्षापीडितशिष्यान् विहाय पितुरिव पुत्रम् ण्णान्ते गत्वा भोजनं युक्तम् । अनुचितानुष्ठानत्वे तु न तत्र तत्परिकल्पना श्रेयसी श्रद्धादिसेवनपरिकल्पनावत् ।

कर्मणामपि क्षपणं पूर्वोपार्जितानाम्, भुक्तिशालोपार्जितानां वा तत्र अर्हता विधीयते ? पूर्वोपार्जितानाश्चेत्, घातिनाम्, अघातिनां वा ? न तावत् घातिनाम्, तेषां पूर्वमेव क्षपितत्वात् । नाप्यघातिनाम्, तेषां यथाकालं क्षपयिष्यमाणत्वात्, सततं शुक्लध्यानानलनं कर्मो धननिचयनिर्दहनसमर्थत्वाभावात् । नहि 'भगवतः शुक्लध्यानानलो देवच्छन्त्के ण्व प्रज्वलति न तु समवशरणादौ' इत्यभ्युपगमो युक्तः, तत्रस्थस्यास्य ध्यानांतरप्रसङ्गात् ।

भुक्तिशालोपाजितकर्मणां तु कथं क्षपणम् ? प्रतिश्रमणतश्चेत्, अस्तु, परन्तु भगवतो निर्दोषता दुर्लभा । यः प्रतिश्रमणं करोति नामौ निर्दोषं यथा अस्मदादि, प्रतिश्रमणं करोति च भगवानिति । कृतदोषनिराकरणं हि प्रतिश्रमणम्, न तदुर्थतः कैथमस्य निर्दोषता स्यात् ? अथ ता (त) ऽ करोति, कथं भुक्तिश्रियात् समुत्पन्नदोष निराहृत्यात् ? आहारकथामात्रेणापि हि अप्रमत्तोऽपि सन् साधु प्रमत्तो भवति नार्हन् भुञ्जानोऽपि इति महच्चिन्म ! दोषवत्त्वे चास्य श्रेणीत पतितत्वाच्च केवलमात्रं स्यात् ।

(१) निरवशपरिरस्तानावरणे युगपत्सकल्पनयावभासिकवस्तुनानिन्द्यं चिन्तानिरोधाभावेऽपि तन्मन्त्रनिर्हरणकारणतया ध्यानोपचारकम् । -सर्वापसि० ११११ । (२) एकासने दरीरावरिपत्रं स्नानरिक्तस्य निरोधः । (३) एकांते । (४) समवशरणस्थितस्य भगवतः । (५) तुलना-विशामो भुवत्वा प्रतिश्रमणान्तिं करानि न वा ? -प्रमेयव० पृ० ३०६ । (६) मिथ्या दुःखता भिगानाभिध्वस्तप्रतिश्रमणं प्रतिश्रमणम् । -सर्वापसि० ११२२ । (७) प्रतिश्रमणम् । (८) 'अप्रमत्तो हि साधुरावरणयामात्राणां प्रमत्तो भवति नाहं भुञ्जानोऽपि महच्चिन्म ।' -रत्नव० टी० पृ० ८१४ । प्रमेयव० पृ० ३०६ ।

१ तत्राद्यवश-व० । २ वचन-व० । ३ प्रज्वलित-व०, ज्वलति आ० । ४ परं स भग-व० । ५ कथं व० । ६ भक्ति-व० ।

यदप्युक्तम्- 'भुञ्जानोऽसौ गणधरदेवैरपि न दृश्यते' इत्यदि, तत्रादर्शने किं कारणम्-  
 बहलतम पटलान्छादितत्वम्, काण्डपटाद्यावृत्तत्वम्, विद्याविशेषेण स्वस्य तिरोधानम्,  
 अन्यजनातिशायी माहात्म्यविशेषो वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्न, तदेहन्तीत्या तम पटलस्य  
 निर्मूलोन्मूलितत्वात् । काण्डपटाद्यावृत्ताय च तस्मै कथं भिक्षा दीयेत ? विद्याविशेषा-  
 भ्युपगमे चास्य विद्याधरादिवत् निर्मन्यताविरोधः । अथ अन्यजनातिशायी माहात्म्य-  
 विशेषं कश्चित्तस्येष्यते येन भुञ्जानो नाऽवलोक्यते इति, ननु अन्यजनातिशायी  
 भोजनाभावलक्षण एवाऽतिशय अस्य इष्यताम् तस्यैव प्रमाणोपपन्नत्वात् । ततो  
 भगवतोऽनन्तचतुष्टयलाभलक्षणा जीवन्मुक्तिमिच्छता अनन्तमौरयमेष्टव्यम् । तन्निष्ठौ च  
 च भुक्तयमानोऽभ्युपगन्तव्य तमन्तरेणास्य अनन्तसौरयानुपपत्तेः प्रतिपादितत्वात्  
 इति ॥ छ ॥

तल्लक्षणा च मुक्तिं पुंस एव न स्त्रिया, तस्या नपुंसकवत्तन्योग्यत्वात्,  
 तन्मुक्तिप्रसाधकप्रमाणासम्भवाच्च ।

नन्विदमस्ति तत्प्रसाधकं प्रमाणम्-अस्ति स्त्रीणां निर्वाणम् अविक्लरक्षणत्वात्  
 स्त्रीनिवाणवादे सितपुत्रं । निर्वाणस्य हि कारणं रत्नत्रयम्, "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि  
 तानां शाक्यायनस्य मोक्षमार्गं" [ तत्त्वसाधसू० १।१ ] इत्यभिधानात् । तच्च स्त्रीषु तिष्ठते,  
 च पूवपक्ष - तथाहि-सर्वज्ञोक्तार्थानाम् 'इदमित्यमेव' इति श्रद्धान् सम्यग्दर्शनम्,  
 रथायदवगमं सम्यग्ज्ञानम्, तदुक्तत्रयस्य यथावदनुष्ठानं सम्यक्चारित्र्यम्, एतद्रत्नत्रयम् ।  
 एतच्च स्त्रीषु सिद्ध्यत् सर्वकर्मविप्रमोक्षलक्षणं मोक्षं साधयति । नहि स्त्रीषु रत्नत्रयस्य  
 केनचिद्विरोधोऽस्ति यतोऽत्रिकलकारणत्वासिद्धिः स्यात् ।

(१) प० ८५५ पं० १३ । (२) "तत्रादर्शनस्युक्ततेवित्वात्कान्तमाहित्यं भुङ्क्ते इति  
 कारणम्, बहलाघकारस्थितभोजनं वा, विद्याविशेषण स्वस्य तिरोधानं वा ?"-प्रमेयक० पृ० ३०७ ।  
 'तत्र तु प्रच्छन्नभुक्तौ मायास्थानं दयवृत्तिं अयेऽपि पिण्डशुद्धिकपिता बहवो शोपा ।'-प्रव० टी०  
 पृ० २९ । (३) 'तर्हि परमोदारिकागरीरत्वाद् भुक्तिरेव नास्त्ययमेवानिर्णयं किं न भवति ।'-प्रव०  
 टी० पृ० २९ । (४) "अस्ति स्त्रीनिर्वाणं पुत्रं यदविक्लहेतुवत् स्त्रीषु । न विद्वयति हि रत्नत्रयसप्त  
 निवृत्तेहेतुः ॥"-स्त्रीमु० श्लो० २ । सप्तमि० टी० पृ० ७५२ । एतन्वचम उत्तराध्ययनस्य पाह्यटीकापि  
 विलोकनीया । "इत्यौलिङ्गसिद्धा-सम्यग्दर्शनादीनि पुरुषाणामिव स्त्रीणामप्यविकल्पानि दृश्यन्ते तथाहि  
 '-प्रज्ञा० मलय० प० २० A । नदि० मलय० पृ० १३१ B । रत्नाकराव० ७।५७ । पट्ट०  
 मू० श्लो० ५२ । "यथोक्तं यापनीयतत्रे-णो सलु इत्यो अजीवो ण यावि अमन्ना ण यावि दसण  
 विरोहिणी, णो अमाणुसा, णो अणारिउपत्ती, णो असयेज्जाउया, णो अश्कूरमई, णो ण उवमन्त  
 मोहा, णो ण सुद्धाचारा, णो असुद्धवोणी, णो बवसायवज्जिया णा अपुञ्जवरणविरोहिणी, णो णवगुण  
 ठाणरहिपा, णो अजोगा लद्धीए, णो अकल्लाणमामणं ति बहं न उत्तमधम्मसाहिगति ।'-सुल्लवि०  
 प० ५७ B । शास्त्रवा० यणो० प० ४२९ B ।

१-पटलान्छादितत्वम् श० । २ दीयेत व० । ३-याम्युपगमाच्चास्य व० । ४ यथार्थावगम  
 व० । ५ तदुक्तस्य  
 ६-विप्रमोक्षणं मोक्ष आ० ।

अथोच्यते-विरोधो रत्नत्रयविरुद्धा पुनोऽयत्नात् देवादिवत् । सुप्रसिद्धो हि देवतागर्कतिर्यग्भोगभूमिजाना पुनोऽयेषा देवादित्त्वेन रत्नत्रयस्य विरोध , एव स्त्रीणा स्त्रीत्वैरेव अस्य विरोध सिद्ध इति, तदस्माभिः श्रिताभिधानम्, यतोऽविकल्परणस्य भवतोऽयभावेऽभावात् विरोधगतिर्भवति । स्त्रीत्वसद्भावे च रत्नत्रयाभाव प्रत्यक्षत , अनुमाणा, आगमाद्वा प्रतीयेत ? न तावत् प्रत्यक्षत , रत्नत्रयस्य अतीन्द्रियत्वात् । नाप्यनुमानत , तदभावाऽश्रिताभिधानो विद्मस्य कस्यचिदभावात् । नाप्यागमात्, तत्र तदभावादेति तस्याप्यसम्भवात् । नहि सुरनारदादिवत् तत्र तदभावप्रतिपादकं किञ्चित् प्रत्यक्षत सम्यति । नयस्तु रत्नत्रयमात्रं तत्र न तदस्माभिर्निर्दिष्यते तस्य मोक्षप्रकाराणां, यत्तु मोक्षप्रसाधकं प्रकर्षपर्यन्तप्राप्तम् तस्य तत्राभावात् मोक्षाभाव इति, तद्युक्तम्, अदृष्टे विरोधप्रतिपत्तेरनुपपत्ते । न खलु प्रकर्षपर्यन्तं प्राप्तं रत्नत्रयम् अस्माकं हृदयम्, न चादृश्यस्य विरोध प्रतिपत्तुं शक्य अतिप्रसङ्गात् । न चाप्रतिपन्न-विरोधस्य तस्य तत्राभावो प्रतीतुं शक्य अतिप्रसङ्गरेव ।

अथ मतम्-अनुमानन स्त्रीणा निर्वाणाभावाप्रतीतेन तत्र तत्सद्भावाभ्युपगमो युक्त , तथाहि-तस्मिन् स्त्रीणा निर्वाणम् सप्तमप्रथिवीगमनाभावात् सम्मूर्च्छितादिवत् इति, तदसङ्गतम्, विपर्ययान्नेरमिद्धित तद्गमनाभायस्य निर्वाणाभावेऽऽयान्ते । इह यद् यत्र नियम्यते तद्विषयवेण तद्विषयस्य व्याप्ती नियमो दृष्ट , यथा अग्निना धूमस्य व्याप्तौ धूमाभावेऽप्यभायस्य, शिशापातस्य च वृक्षत्वेन व्याप्ती वृक्षत्याभायस्य शिशापातभावेऽप्यभायस्य । न चैयमत्र विपर्ययान्नेरिति, तदभायश्च सप्तमप्रथिवीगमनाद निर्वाणं प्रत्यक्षत्वात् अव्यापकत्वाच्च सिद्धम् । तदि सप्तमप्रथिवीगमन निर्वाणाय सप्तप्रपन्नं कारणं सिद्धम् शुणादृश्यत्वात् व्यापकम् येन तदभावे निर्वाणाभाय

(१) 'अथ च विदुः स्त्रीत्वेन यथासंभवेन । इति वाच्यमात्रं मात्र प्रमाणमादागमो-  
 ष्टम् ॥ इत्येव विवक्षितं यत्तु चरति चादिका ऽहम् । तस्यैवैवममोभ्यां नादृष्टविरोध  
 इति चेत् ।'-श्रीमि० इतो० ३४ । 'अथ स्त्रीत्वादेव न तावो तन्निर्वाणमागम्यम् । त स्त्रीत्वस्य  
 सप्तमप्रपन्नत्वात् । (इति चागमः । इति अत्रिचत्वात् तन्निर्वाणमागम्यस्य स्त्रीत्वस्यैवैवममोभ्यां  
 काचित् । तन्निर्वाणोऽन अस्मिन् तन्निर्वाणोऽन अस्मिन् तन्निर्वाणोऽन अस्मिन् ।'-सप्तमि० टी०  
 पृ० ७५२ । प्रभा० मन्व० पृ० २० । अत्रि० मन्व० पृ० १३२ ॥ (२) सप्तप्रपन्नम् । (३)  
 इति । (४) सप्तप्रपन्नम् । (५) सप्तमप्रथिवीगमनादभायस्यैवैवममोभ्यां सप्तमप्रपन्नम् । निर्वाणाभाय  
 सप्तमप्रपन्नत्वात् यत्तु चागमः ॥ -श्रीमि० इतो० ५ । सप्तमि० टी० पृ० ७५३ । प्रभा० मन्व०  
 पृ० २० ॥ । अत्रि० मन्व० पृ० १३२ ॥ । रत्नात्तराव० ७५७ । अत्रि० इतो० ५२ ।  
 सप्तमि० इतो० ५० ५२८ । अत्रि० पृ० १३५ ।

१ इत्येवैवममोभ्यां तेषां पृ० २ इत्येवैवममोभ्यां पृ० । २-मात्रं तत्र न पृ० ।  
 ३-सप्तमि०-पृ० । ४-सप्तमप्रपन्नत्वात्-पृ० । ५-सुखं न दृष्टं विरो-पृ० । ६-चागमे इति-पृ० ।  
 ७-सप्तमि० इति-पृ० । ८-सुखात्तरावत्-पृ० ।

स्यात् । नचाकारणाऽव्यापकस्य निवृत्तौ अकार्यव्याप्यस्य निवृत्ति अतिप्रसङ्गात्, अत  
सन्दिग्धविषयव्यावृत्तिकमिदं साधनम् । चरमदेहै निश्चितव्यभिचारश्च, ते हि तेनैव  
जन्मना मुक्तिभाजो न सप्तमपृथिवीं गच्छन्ति अथ च मुच्यन्ते ।

किञ्च, विषमगतयोप्यधस्तात् उपरिष्ठात्तुल्यमासहस्रारं गच्छन्ति च तिर्यञ्च  
तदधोर्गत्यूनताऽहेतुः । नहि अधोगतौ स्त्रीपुंसयोरैतुल्य सामर्थ्यमिति सुंगतावपि अनु- ०  
ल्यस्व युक्तम्, अशुभपरिणामस्य शुभपरिणाम प्रत्यहेतुत्वात् । तथाहि—भुजगतगचतु-  
प्यात्सर्पजलचराणां विषमाऽधोगतिः—भुजगानां स(नामस)हिना प्रथमायाम्, रगानां  
चतुष्पदा पञ्चम्याम्, सर्पाणां षष्ठ्याम्, जलचराणां सप्तम्यामधोभूमौ  
उत्पादात्, शुभगतिस्तु समा सर्वेषामेवैषा सहस्रारान्तस्योपरि उत्पादस्य सभवात् ।

न च वादादिलब्धभावात्तासा मोक्षाभावः, 'इत्थमेव मोक्ष' इति नियमा- 10

(१) 'विषमगतयोप्यधस्तादुपरिष्ठात्तुल्यमासहस्रारम् । गच्छन्ति च तिर्यञ्चनदधोग  
त्यूनताऽहेतुः ॥'—स्त्रीमु० श्लो० ६ । 'अपि च भुजपरिसर्पा द्वितीयां यथा यावद् गच्छन्ति  
न परतः परपृथिवीगमनहेतुतयारूपमनोवीयपरिणत्यभावात्, तृतीयां यावत् पक्षिणः, चतुर्थीं  
चतुष्पदा, पञ्चमीं मुरगा, अथ च सर्वेष्वप्युत्पत्तयः सहस्रारं यावद् गच्छन्ति । तत्राद्यागतिविषये  
मनोवीयपरिणतिवपम्यदशनादूर्ध्वगतावपि च न तद्वपम्यम् ।'—प्रज्ञा० मलय० पृ० २१ A ।  
नदि० मलय० पृ० १३३ A । पडद० बह० श्लो० ५२ । शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२८ B ।  
युक्तिप्र० पृ० ११५ । (२) 'प्रथमायामसन्निहं उत्पद्यन्ते प्रथमद्वितीययोः सरीसृपा तिसृषु पक्षिण  
चतसृषु मुरगा पञ्चसु सिंहा षट्सु स्त्रियाः सप्तसु मत्स्यमनुष्याः'—राजवा० पृ० ११८ । 'अमण सरिसृप  
विहगम फणि सिंहित्पीण मच्छमणुवाण । पदमादिषु जप्पन्ती अडवारादो दु दोणिण वारोति ॥'—त्रिलोक  
सा० गा० २०५ । 'असन्नी खलु पदमं, दुच्च च सरीसृवा तइय पक्की । सीहा जति चउत्थि उरगा  
पुण पचमि पुढावि । छिडु च इत्थिआओ मच्छा मणुया य सत्तमि पुढावि । एतो परमुववाओ बोधव्यो  
नरयपुडवीसु ॥'—बृहत्स० गा० २८४-८५ । ब्रह्मवि० गा० २५३ । (३) 'तद्यमोनपु असन्नि  
पर्याप्ता पचेद्रिया सख्येयवर्षायुष अल्पशुभपरिणामवशान पुण्यबन्धमनुभूय भवनवासिषु व्यन्तरेषु  
चोत्पद्यन्ते । त एव सन्निहो मिथ्यादुष्ट्य सासादनसम्पद्दुष्ट्यश्वासहस्रारादुत्पद्यन्त त एव सम्पद्दु  
ष्ट्यं सौधर्मादिषु अच्युतान्तपु जायन्ते ।'—राजवा० पृ० १६९ । पचिदियतिरियाण उववाआक्का  
सवो सहस्रारे'—बृहत्स० गा० १६४ । (४) 'वादादिविकुवणत्वादिलिपिविरहे श्रुत यनोयसि च ।  
जिनवल्पमन पयवविरहेऽपि न सिद्धिविरहोस्ति ॥ वादादिलिप्यभावावदभविप्यद यदि च सिद्धयभा  
वोऽपि । तासां मवारयिप्यद यथव जन्मयुगावारात् ।'—स्त्रीमु० श्लो० ७८ । प्रज्ञा० मलय० पृ०  
२१ A । रत्नाकराव० ७ । ५७ । 'नापि वादादिलिप्यविरहितत्वेन, मूकवैवल्लिभ्यमिचारात् ।  
—यशद० बह० श्लो० ५२ । 'मापतुपादीनां लिप्यविरहोऽपि महतुस्यमाभावात्पि मोक्षहेतुनच्छ्रवणात्,  
क्षापोपगमिबल्लिप्यविरहेऽपि क्षामिकल्लिप्यप्रतिपातात् ।'—शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२७ B ।

1-व्याप्यनिवृ-व० । 2-गति न ता हेतु व०, -गति यूनताऽहेतु श्र० । 3-रतुल्यताम-आ० ।  
4 शुभगतावपि व०, श्र० । 5 भुजगानां प्रथमायां आ०, श्र०, भुजगानां सन्निहो प्रथमायां व०, पृ०  
मु० । 6 प्रथमायां सन्निहो द्वितीयायां रगानां तृतीयायाम् भुजगानां चतुष्पदा चतुष्पदानां पञ्चम्याम  
स्त्रीणां षट्षा जलचराणां व०, प्रथमायां रगानां तृतीयायां चतुष्पदानां पचम्यां सर्पाणां षट्षाम्,  
जलचराणां तृतीयायां पृ० प्रती । 7 उत्पादस्य श्र० ।

भावात् । “ध्रुवन्ते हि अनन्ता सामायिकमात्रसत्सिद्धौ” [तत्त्वायभा० सम्बन्धका० २७(?) ]  
यदि च स्त्रीणा यथा वादाद्यतिशया तपोनिभयजन्मात्तो नै समभवति तथा मोक्षोपि न  
म्यात्, तदा आगमे तदतिशयाभावत् मोक्षाभावोऽप्युच्येत । न ह्यस्य परिशेषणे किञ्चि  
न्निवन्धन पश्याम ।

अथ स्त्रीणा वैखलक्षणपरिमहसद्भावात् न मोक्ष, तर्हि मोक्षार्थित्वात् किं न तैत्  
ताभि परित्यज्यते ? न खलु वस्त्र प्राणा, “तेऽपि हि मुक्त्यर्थिना परित्यज्यन्ते किं पुनर्न  
वस्त्रम् ? अथ ‘ नो कँपइ शिगमयीं अचेलाय होर्त्तए’” [ कल्पसू० ५।२० ] इत्यागमविरोध  
तस्या तत्परित्यागे, तर्हि प्रतिलेखनत् मुक्त्यङ्गमेव तस्यात् । यथैव हि सर्वज्ञै  
मोक्षमार्गप्रणायके उपदिष्ट प्रतिलेखन मुक्त्यङ्ग भवति न पुन परिग्रह तथा वैखल्य-  
प्यत्रिशेषात् । यदि च धर्मसाधनाना सूत्रविहिताना परिग्रहत्वं स्यात् तदा पिण्डौपधि-  
शय्यादीनामपि वस्त्रवत् परिग्रहत्वं स्यात् १ तथा च तदुपायिना मोक्षाभाव स्यात् १ ।  
अथपि वस्त्रे मोक्षाभ्युपगमे गृहिणा कुतो न मोक्ष इति चेत् ? ममत्वसद्भावात् । नहि  
गृही वस्त्रे ममत्वरहित । ममत्वमेव च परिग्रह । सति हि ममत्वे नमोऽपि परिग्रहवान्  
भवति । आर्थिकायाश्च ममत्वाभावाद् उपसर्गाद्यासक्तमित्य अन्तरमपरिग्रह । नहि यत्तेरपि  
प्राप्त गृह्याप्रविशान कर्म नो कर्म च आकदानस्य अपरिग्रहत्वे अममत्वादन्यत् शरणमस्ति ।

अथ वस्त्रे जतूत्पत्ते हिंसासद्भावात् चारित्र्यैवाऽसमवात् कथ मोक्षप्राप्ति ?  
तन, प्रमादाभावे हिंसाऽनुपपत्ते । प्रमादो हि हिंसा । “प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपण  
हिंसा” [ तत्त्वायसू० ७।१३ ] इत्यभिधानात् । अन्यथा पिण्डौपधिशय्यादौ यत्तेरपि  
हिंसकत्वं स्यात् । अर्हदुक्तेन यत्रेन सञ्चरतोऽस्य प्रमादाभावाद् हिंसकत्वे आर्थिकाया

(१) ध्रुवन्त चानन्ता सामायिकमात्रसत्सिद्धौ - तत्त्वायभा० । ‘अनन्ता सामायिक

मात्रसिद्धा एति वचनात् - राजवा० प० १० । (२) “यदि वस्त्रादविमुक्ति, त्यजत्”, अथ  
न कल्पत हातुम् । उत्सङ्गप्रतिबन्धनवयथा देशको द्रव्यत । त्याग सवत्यागो ग्रहणस्यो दोष  
इत्युपात्तम् । वस्त्र गुह्याऽऽर्ज्याणा परिग्रहोऽपीति चतुर्थादौ । मत्समभोपकाराय वतते प्रोक्तमतदु  
पकरणम् ॥ धर्मस्य हि तत्साधनमतोऽयन्धिकरणमाहाहर्न ॥ - स्त्रीमु० श्लो० १० १२ । रत्ना  
कराव० ७।५७ । पद्य० बह० श्लो० ५२ । (३) वस्त्रम् । (४) प्राणा अपि । (५) नो  
कँपइ निगमयीं अचेल्याय हात्तए - कल्पसू० । न कल्पते निर्ग्रन्थ्या अचेल्या भवितुम् । (६)

विद्विद्य सुण चिचय जमो घरेज्ज तिहि कारणाहि वत्थ नि । तेण चिय तदवस्स निरतिसएण घरे  
ज्व्व ॥ जिणकप्पाजागाण हीकच्छपरीसहाजओज्वस्स । हीलज्ज ति घ सो सजमो तदत्थ विसेसेण ॥  
- विग्गया० गा० २६०२ ३ । समति० टी० पृ० ७४८ । (७) ‘मूर्च्छा परिग्रह - तत्त्वायसू० ७।१७।  
मूर्च्छा परिग्रहा वृत्ता - दण० ६।२१ । (८) सत्तन्ती सत्यामपि चोदितयत्नन परिहरत्यायी ।  
निंसावनी पुमानिव न जत्तुमालाकुल लोक ॥ - स्त्रीमु० श्लो० १५ । ‘प्राणा निपातपरिणामाभावात्’  
- पादप्रथा० यगो० पृ० ४२७ B

1 ध्रुवन्त हि व थ० । 2 सामयिकमात्र-आ० । 3 न स्ति आ० व० । 4-णां च वस्त्र-  
घ० । 5 पुनर्नैव वस्त्र थ० । 6 कपदि व०, थ० । 7 हाताए व०, थ० । 8 एतत्तगत पाठो नास्ति  
थ० । 9 अन्तरमपरिग्रह आ० । 10-धा हि पि-थ० । 11 आर्थिकायामपि आ० ।

अपि अहिंसकत्व स्यादविशेषात् । तदुक्तम्—

“निर्वदु य मरुदु अ जीवो अयदाचारस्य शिच्छिदा हिंसा ।

पयदस्य शिच्ये वैन्धो हिंसामत्तेण समिदस्य ॥” [ प्रवचनसा० ३।१७ ]

न च पुरैपैरवन्द्यत्वात् स्त्रीणा मोक्षाभावात्, गणधरादिभिर्व्यभिचारात्, ते हि नार्हदादिभिर्वन्द्यन्ते अथ च मुच्यन्ते । ततो रत्नत्रयमेव तत्कारणं न वन्द्यत्प्रमवन्द्यत्व वा ।

न च मौयानाहुल्यात्तान्मा निर्वाणामभावः, पुंसामपि तद्वाहुल्यमद्भ्यात् । मोहोदयो हि तत्कारणम्, स च उभयोरप्यप्रशिष्टः ।

न च हीनसत्त्वा स्त्रिय ततो न निर्वाणन्ति इत्यभिवातव्यम्, यत सत्त्वं तप-  
शीलसाधारणम् इह एष्टव्यम् नान्यत्, तस्यै निर्वाणं प्रत्यनङ्गत्वात् । तच्च आर्यासु  
सुप्रसिद्धमेव । उक्तञ्च—

“गार्हस्थ्येऽपि सुसत्त्वा विल्याता शीलवत्तया जगति ।

सीतादय कथ तास्तपसि विशीला विसत्त्वाश्च ॥” [ स्त्रीमु० श्लो० ३१ ]

तथा— “अर्द्धै(दृ)मयमेगसमये पुरुषाण्य शिष्वुदी समस्तादा ।

धीर्लिंगेण य वीस संसा दसर्कं त्ति नोधवा ॥” [ ]

(१) “मरुदु व जियदु जीवो’—प्रव० । उद्धृतोऽयम्—सर्वाथसि० ७।१३। मियता वा जीवतु  
वा जीवो अयदाचारस्य निश्चिता हिंसा प्रयतस्य नास्ति बधो हिंसामात्रेण समितस्य । (२)  
“अप्रतिव द्यत्वाच्चत्सयतवर्णेण नायिकासिद्धि । वन्दता ता यदि ते नोनत्व वल्प्यते तासाम् ॥ सन्त्यूना  
पुरुषभ्यस्ता स्मारणचारणादिकारिभ्यः । तीयकराऽऽकारिभ्यो न च जिनवल्पातिरिति गणधरादीनाम् ।  
अहन् न वदत न तावताऽसिद्धिरगगत । प्राप्ता यथा विमुक्तिं स्यान् स्त्रीपुंसयोस्तुल्यम् ॥”—स्त्रीमु०  
श्लो० २४-२६ । “अथ महाव्रतस्यपुरुषाव द्यत्वात् न तासा मुक्त्यवाप्तिः, तर्हि गणधरादरपि  
अहदवन्द्यत्वात् न मुक्त्यवाप्तिः स्यात् ।—समतो० टी० प० ७५४ । रत्नाकराव० ७।५७। पद्म०  
बह० श्लो० ५२ । शास्त्रवा० यशो० प० ४२९ A । युक्तिप्र० पृ० ११४ । (३) “मायाणि पुरुषा  
णामपि द्वेषादिप्रसिद्धमावश्च । यण्णा सस्यानाना तुल्यो वणत्रयस्यापि ॥”—स्त्रीमु० श्लो० २८ ।  
रत्नाकराव० ७।५७ । पद्म० बह० श्लो० ५२ । “चरमसारीरिणामपि नारदादीना मायादिप्र  
कपवत्त्वश्रवणात् ।”—शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२७A । (४) “स्त्री नाम मदसत्त्वा उत्सङ्गसमप्रता  
न तनात्र । तत्कथमनल्पवृत्तयः सन्ति हि शीलाम्बुधेर्वला ॥ ब्राह्मीमुन्दर्यायां राजीमती चन्दना गण  
धराया । अपि देवमनुजमहिता विख्याता शीलसत्त्वाभ्याम् ॥”—स्त्रीमु० श्लो० २९ ३० । पद्म०  
बह० श्लो० ५२ । (५) तप शीलप्रतिरिक्तस्य । (६) “शीलवन्तिता जगति । तपसि विसत्त्वा  
विशीलाश्च ।”—स्त्रीमु० । (७) “अत्रवार्ये विशेषान्तरप्रतिपादिका प्रक्षेपगाथा—विसित्थिगाउ पुरिमा  
अदृश्य एगसमयया सिज्जे । दस चैव नपु सा तह उवरि समएण पडिसेहो । एवस्मिन् समये उत्त  
पत स्त्रियो विंशति सिध्यन्ति । पुरुषा अष्टात्तमप्टाधिकं शतम् । तथा समयनकेन नपु सका दशव  
सिध्यन्ति । उक्तसख्याया उपरि सवन्नापि प्रतिपेधः ।”—बृहत्स०, मलय० गा० ३४७ । “अष्टात्तमक  
समय पुरुषाणामादिरागम ( माहुरागमे ) सिद्धि ( सिद्धम् ) । स्त्रीणा न मनुष्ययोगे गीणार्थो मुख्य  
हानिर्वा ।”—स्त्रीमु० श्लो० ३५ ।

1 दोसो व० । 2-मित्तेण व० । 3 अथ मुच्य-थ० । 4 आर्यासु सिद्धमेव व० । 5  
अठसमय-थ०, अदृश्य-व० । 6 समवा व०, समखावा आ० । 7-वति थ० ।



इत्याद्यागमश्च स्त्रीनिर्वाणे प्रमाणम् ।

अथ अत्र स्त्रीज्ञानेन स्त्रीवेत्ते गृह्यते, कथमेवमपि स्त्रीणा निर्वाणनिषेधः ? यथैव हि स्त्रीवेदेन पुंस सिद्धिः तथा स्त्रीणामपि स्यात्, भावो हि सिद्धे कारणम् ।

किञ्च, द्रव्यत पुरुष भावत स्त्रीरूपो भूत्वा यथा निर्वाति तथा द्रव्यत स्त्रीरूपेण भावत पुरुषो भूत्वा किं न निर्वाति अत्रिशेषात् ? न च सिद्धयतो वेद सभरति, अनित्यत्वात्परस्परराये एव अस्य परिश्रयात् । अथ भूतपूर्वगत्या क्षपकश्रेण्यारोहण येन वेदेन करोति तेनासौ मुक्त इत्युच्यते, ननु विमनेन उपचारेण स्त्रिया एव स्तनप्रजननधर्मादिमत्या निर्वाणमस्तु इति ॥ छ ॥

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तान्द्रुक्तम्—'अविकलकारणत्वात्' इत्यादि, तत्र अविकल-  
कारणत्वमसिद्धम्, तत्कारण हि स्तनत्रयम्, तत्किं परमप्रकर्षप्राप्त  
कारणप्रतिनिर्वाणम्— सत् तत्कारण स्यात्, तन्मात्र वा ? यदि तन्मात्रम्, तदा गृहिणा-  
मपि निर्वाणप्रसङ्गः । अथ परमप्रकर्षप्राप्तम्, तत्र, तत्र तस्य परमप्रकर्षप्राप्तत्वाऽनुपपत्तेः ।  
तथाहि—निर्वाणकारणज्ञानादिपरमप्रकर्षे स्त्रीषु नास्ति, परमप्रकर्षत्वात्, सप्तमपृथिवीग-  
मनकारणाऽपुण्यपरमप्रकर्षवत् । तथा चेन्मयुक्तम्—'अदृष्टे विरोधप्रतिपत्तेरनुपपत्तेः'  
इत्यादि । प्रत्यक्षतो हि अदृश्यस्यार्थस्य विरोध प्रतिपत्तुमशक्यो न तु अनुमानादितोऽपि,  
अ यथा कथं सप्तमपृथिवीगमनकारणाऽपुण्यपरमप्रकर्षस्यापि तत्र विरोधप्रतिपत्तिः स्यात् ?

यदप्युक्तम्—'सप्तमपृथिवीगमनाभावस्य निर्वाणाभावेनाऽऽख्याते' इत्यादि, तदप्य-  
युक्तम्, अकार्यकारणस्यापि कृत्तिकोदयात् शकटोदयादे प्रतिपत्तिदर्शनात् । अविना-  
भावो हि गम्यगमकभावे निवन्धनं न कार्यकारणत्वादि, स चान्न अस्त्येव । न खलु  
तादात्म्यतदुत्पत्त्योरेव अविनाभावो नियतः, कृत्तिकोदयादे शकटोदयादिक प्रत्यगम-  
पत्त्वप्रसङ्गात् इति । एतच्च सौगतोपकल्पितव्याप्तिविचारावसरे संप्रपञ्च प्रपञ्चितम् ।  
अतश्च 'सप्तमपृथिवीगमनादे निर्वाण प्रत्यकारणत्वादव्यापकत्वाच्च' इत्यादि प्रत्यु-  
क्तम् । कथञ्चनवादिनो अर्वाग्भागाभावात् परभागाभावो निश्चीयेत, अनयो तादा-  
त्म्यतदुत्पत्तिलक्षणप्रतिपत्तिरवासम्भवात् ? अथात्र एकैर्धर्मसमवायः सम्बन्धोऽस्ति तस्मा-

(१) 'न च पुंवेदे स्त्रीवेदोदयभावे प्रमाणमङ्गलम्' । भावः सिद्धो पुं वत् पुंसा अपि (पुंसोऽपि) न सिद्धपत्तो वेदः ॥ शक्यश्रेण्यारोहे वेदेनोच्यते पूर्ववेदेन । स्त्रीनि नितराममूले भूवेऽर्जे युज्यते ननराम ॥—स्त्रीमू० श्लो० ३९४० । (२) वेदस्य । (३) पु० ८६५५० १३ । (४) स्त्रीषु । (५) 'मोहहेतुगान्तात्परमप्रकथ'—प्रमेयक० पु० ३२८ । (६) पु० ८६६५० १० । (७) पु० ८६६५० १५ । (८) अविनाभावः । (९) पु० ४४६ । (१०) अर्वाग्भागाभावपरभागाभावयोः । (११) एकस्मिन्नेव भित्त्याद्ये अवपविनि अर्वाग्भागपरभागाव्ययो अवपवयो समवामान् तयो परस्परस्य समवायस्य समस्त्येव ।

१ इत्यागम—श्र० । २—आवरसवरस्य—आ० । ३ 'तदा नास्ति आ०, श्र० । ४—प्रतिपत्ते रित्यादि आ० । ५ अदृष्टार्थस्य व० ।

देव अनयो गम्यगमकभावो भविष्यति, ननु नैयायिकस्य मतमेतन्न सिताम्बरस्य । न खलु समवायासिद्धौ तस्यै एकार्थसमवायमिद्विरूपपद्यते तस्मिद्विपूर्वकत्वात्तस्यौ । अस्तु वा तत्सिद्धिः, तथापि—अतस्तयोर्गम्यगमकभावे प्रवृत्तयोरपि सोऽस्तु तत्राप्येकार्थसमवायसद्भावात्, यत्रैव हि आत्मनि सप्तमपृथिवीगमनयोग्यता समेवता तत्रैव मुक्तिगमनयोग्यतापि । न च सप्तमपृथिवीगमनाभावात् स्त्रीणां निर्वाणनिषेध साधयितुमिष्टं येनोक्तदोषानुपपन्नं स्यात्, किं तर्हि ? परमप्रकर्षत्वाद्धेतो दृष्टान्ते सिद्धसाध्यव्याप्तिकात् निर्वाणकारणाभाव तत्र साधयितुमिष्टः । तन्भावाच्च निर्वाणमाव स्वपमेव तत्र सेत्स्यति । न खलु निर्हेतुका कार्यस्थोत्पत्तिः अतिप्रसङ्गात् । ततोऽयुक्तमुक्तम्—‘सप्तमपृथिवीगमनं न निर्वाणस्य रत्नत्रयवत् कारणम्’ इत्यादि ।

यदपि—‘चरमदेहैर्निश्चितव्यभिचारम्’ इत्याहुक्तम्, तदप्ययुक्तम्, यतः सप्तमपृथिवीगमनाभावः तत्रिर्वर्त्तनसमर्थकर्माज्जनसामर्थ्याभावः । स च स्त्रीप्येवास्ति न चरमशरीरिषु । श्रूयते हि भरतप्रभृतिचक्रवर्तिनां चरमशरीराणामपि प्रयाणकसमये सप्तमपृथिव्या गमनयोग्यकर्माज्जना, देवार्चनसमये तु सर्वार्थसिद्धाविति । उक्तृष्टो हि शुभोऽशुभश्च परिणाम यथाक्रमम् उक्तृष्टाया शुभगते अशुभगतेर्वा हेतुभूतं कर्म आरभते, तत्परिणामप्रारम्भे च पुरुषस्यैव सामर्थ्यं न स्त्रिया । यत्रैव हि तस्या तीव्रतराशुभपरिणामे सामर्थ्याभावः तथा उक्तृष्टशुभपरिणामेऽपि । उक्तृष्टशुभपरिणामेन च मुक्तिः ।

एतेन ‘विपमगतयोऽप्यधस्तात्’ इत्याद्यपि प्रतिव्यूढम्, प्रवृष्टगतिप्रारम्भहेतुभूतकर्मोपार्जनसमर्थस्यैव मुक्तियोग्यतोपपत्तेः न तद्विपरीतस्य । श्रूयते हि प्रतिनियताऽवान्तरगतिप्रारम्भककर्मवशात् प्रतिनियतोत्पादस्थानानामपि नारकाणां क्षपितकर्मणा तिर्यग्लोके सर्वेषामपि नियमतः सञ्चिपञ्चेन्द्रियेषु तिर्यक्षु मनुष्येषु चोत्पादः, देवानाञ्च तथाविधकर्मवशात् प्रतिनियतोपपादस्थानोत्पन्नानां तिर्यग्लोक एव तेषु एकेन्द्रियेषु च

(१) तस्मिन्नेव हि अवयवायवित्तो कथञ्चित्तादात्म्याभ्युपगमात् । (२) स्वताम्बरस्य । (३) एकायसमवायसिद्धेः । (४) एकायसमवायात् । (५) सप्तमपृथिवीगमनसामर्थ्यमुक्तिगमनसामर्थ्ययोश्च । (६) स्त्रीषु । (७) निर्वाणकारणाभावाच्च । (८) पृ० ८६६ प० २० । (९) प० ८६७ प० २ । (१०) दिग्विजययात्रासमये । (११) प० ८६७ प० ४ । (१२) शिरयादो निस्सरिदो गगनरिषु कम्मसंनिपज्जते । गम्भभवे उप्पज्जदि सत्तमपुण्णोदु निरिए व ॥” —श्लोकांशां गा० २०३ । “गरयियाणं गमणं सण्णीपज्जत्तकम्मतिरियणरे । चरमञ्च नित्थुणे तरिच्छव सत्तमिया ॥” —कम्मकां गा० ५३८ । (१३) सञ्चिपञ्चेन्द्रियेषु तिर्यक्षु मनुष्येषु च । ‘आहारया दु देवे दवाणं सण्णिकम्मनिरियणरे । पत्तेयपुद्विआऊवादरपज्जत्तणे गमणं ॥ भवणतियाण एव नित्थुणणरेमु चेव उप्पत्ती । ईसाणनाणेगे सदरदुगताणसण्णीणु ॥’ —कम्मकां गा० ५४२-४३ ।

१ समवेता न तत्रैव मुक्तिगमनायोग्यतापि व० । २ निर्हेतुकत्वात्-अ० । ३ ततो युक्तमवगतं व० । ४-शरीरेषु व० अ० । ५-णामप्राप्ते च व० । ६ यथाविष-आ० । ७-नियतस्थाना-आ०, नियतोत्पादस्थानो-व० ।

नियमेतोत्पाद इति । न च तथानिधकर्मार्पानसामर्थ्येन मुक्तियोग्यता सभवति इति न मुक्तियोग्यतानिचारावसरे क्रिञ्चिदनेन प्रयोजनम् । यस्य तु उपरिष्ठात् प्रष्टृशुभगति-प्रमाधने नामर्त्यम् तस्य अधस्तात् प्रष्टृशुभगतिप्रसाधनेऽपि तदस्ति यथा पुम इति स्त्रीणां प्रष्टृशुभगतिः सामर्थ्यभ्युपगच्छता अशुभगतावपि तथाविधाया तदभ्युप-गन्तव्यम् । तथा च “इत्थौ छट्टीश्रो अहो न उपपजति” [ ] इत्यादि भवदीयागमविरोधः ।

यच्चायदुक्तम्—‘न च वादादिलब्धभावात्तासा मोक्षाभाव’ इत्यादि, तदप्यु-क्तिमात्रम्, यैतो यत्र णेहिस्त्रादत्रिक्रियाचाराणादिलब्धीनामपि हेतु मयमविशेषो नास्ति तत्र मोक्षहेतुरसौ भविष्यतीति क सुधी श्रद्धधीत ? वादलब्धि रसु इन्द्राद्यास्था-नेषु बृहस्पत्यादिष्वपि प्रतिनन्दवेषु सत्सु छलजात्यादिपरिहारेण स्वतत्त्वप्रतिपादनसा-मर्थ्यम् । विक्रियालब्धि इन्द्रादिरूपोपात्तनशक्ति । चारणलब्धि गगनगमनसामर्थ्यम् । आदिशब्दात् ऐश्रीणमहानसादिलब्धिपरिग्रहः । तद्वेतुश्च सयमविशेषो न स्त्रीणां प्रवचने प्रतिपाद्यते ।

यदप्यभिहितम्—‘आगमे वादादिलब्धतिशयाभावान् मोक्षाभावोऽप्युच्येत’ इत्यादि, तदप्यभिधानमात्रम्, सयमविशेषनिषेधादेव आगमे तासां मोक्षाभावप्रतिपा-दनप्रसिद्धे । सुप्रसिद्धो हि आगमे पुसा मोक्षहेतो आचेलक्यादिसयमविशेषस्य विधिः, स्त्रीणां तु निषेधः । न च कारणाभावे कार्योत्पत्ति अतिप्रसङ्गात् । सयममात्रं तु सदपि आसा न मोक्षहेतु निर्यगृहर्थात्सयमयत् । तथा, नास्ति स्त्रीणां मोक्ष परिग्रहवचनान् गृहस्थवत् ।

यदप्युक्तम्—‘प्रतिलेखनयत् मुक्त्यन्नमेव यस्मिन्’ इत्यादि, तदप्यचारः, यत् प्रति-  
(१) पृ० ८६७ पं० १० । (२) ‘स्त्रीणां सयमो न मोक्षहेतु नियमनद्विविधाहनुत्वात्त्वान्धानु-पपत् ।’—प्रमेयक० पं० ३३० । (३) सयमः । (४) णकल्पिष्वपि प्रतिनिधयु सत्सु अप्रतिहततया निरुत्तराभिधानपरर प्रापेयणञ्च वादित्वम् ।—राजवा० पं० १४४ । (५) लाभतरायशयोपगमप्र-कपप्राप्तम्यो यनिम्यो यतो भिन्ना दीयते ततो भाजनाच्छकधरस्व भावाराद्रपि यत्सि भुञ्जीत तद्विद्ये नात्र शीयते ते अधीणमहानसा ।—राजवा० पृ० १४५ । (६) पं० ८६८ पं० ३ । (७) लिंग इच्छीण हवे भुजइ पिड सु एयनालम्भिः । अजिगयवि एकवत्या वत्यावरण भुजइ । णवि सिज्जइ वत्याधरो जिणमासण जइ वि होइ नित्ययने । णगो विमोचममगो ससा जम्मणया सव्व ॥ लिंगम्मि य इत्थीण षणतरे पाहिक्कवत्तेसेमु । भणिओ सुट्ठमा वाओ तासं कह होइ पयज्जा ॥ जइ दसणण सुट्ठा उता मगण सापि संजुत्ता । धोर धारिय चरित्त इत्थीमु न पायया भणिया ॥ चित्तासोहि ण तसि न्तिट्ठ भाव तथा सहायेण । विज्जदि मासा तसि इत्थीमु णऽपकया भाण ॥—सूत्रप्र० पृ० २३ २६ । णिच्छयदो इत्थीण सिद्धी ण हि तेण जम्मणा न्तिट्ठा । तम्हा तप्पाडिस्व विवणिय लिंगमित्थाण ॥ निप्र यत्तिज्जात पयक्कवन विकल्पित कथित लिंग प्रावरणसहितं चित्त स्त्रीणामिति ।—प्रव०टी० पं० ३०२ । (८) पृ० ८६८ पं० ८ ।

१-नतिसापने-आ० । २ इत्थीऊ छट्टीदो अहो ण उ-२० । ३ यतो नास्ति व०, ध० । ४-स्यादिवत् आ०, व० ।

लेखन तावत् सयमप्रतिपालनार्थं भगवतोपदिष्टम्, वस्त्र तु किमर्थमुपदिष्टमिति ? तदपि तत्प्रतिपालनार्थमिति चेत्, तथाहि—अभिभूयन्ते प्रायेण विवृताङ्गोपाङ्गसन्दर्शनजनित-चित्तभेदैः पुरुषैः अङ्गना अकृतप्रावरणा घोटिनेव घोटकंरिति, तत्र कुतस्तां तैरभिभूयन्ते न पुनस्ते ताभिः अकृतप्रावरणत्वांशिशेषेऽपि इति वक्तव्यम् ? तामामरूप-मरुतोपेततया अभिभाव्यत्वाच्चेत्, सुप्रसिद्धो ह्ययं विभागः गवाधादो स्त्रीप्रकृतिर- 6  
भिभाव्या पुरुषप्रकृतिरभिभाषिका इति, तदेतन्महामोहत्रिजृम्भितम्, यामामतितुच्छ-सत्त्वानां प्राणिमात्रेणाप्यभिभवता सकलत्रैलोक्याभिभावकरुमराशिप्रत्ययलक्षणं मोक्षमहासत्त्वप्रसाध्यं प्रसाधयन्तीति !

यदप्युक्तम्—‘यदि धर्मसाधनानां परिग्रहत्वस्यात्’ इत्यादि, तत्र कोऽयं धर्म-यत्साधनत्ववस्त्रस्य स्यात्—पुण्यविशेष, सयमविशेषो वा ? प्रथमपक्षे कथं तस्मिन्- 10  
हेतुः ? आगमविहितविधिना गृह्यमाणस्यार्थं गृहस्थवत् पुण्यस्यैव हेतुत्वात् । पुण्य-हेतोश्च मुक्तिहेतुत्वे वानादेरपि तद्वेतुः प्रसङ्गः । ‘मयमविशेषहेतुत्वस्तु तस्य दुरूपपात्म्, बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहपरित्यागो हि सयमः, न च याचैनमीवनप्रशालनत्रोपणनिक्षे-पादानचौरहरणादिमनसङ्गोभकारिणि खल्वे गृहीते कथं स्यात् ? प्रत्युत मयमोपघात- 15  
कमेवैतत् बाह्याभ्यन्तरनैर्धर्मव्यप्रतिपत्तिपत्नित्वात् ।

नन्वेव पिण्डौपध्यादीनामपि परिग्रहत्वप्रसङ्गात् कथं तदादायिनामपि मोक्ष-स्यात् ? इत्यप्यसारम्, तेषाम् उद्गमादिदोषपरिहारेण उपादीयमानानां रत्नत्रयोपवृद्धण-हेतुत्वात् । न हि ते सिद्धान्तविहितविधिना उपादीयमाना मोक्षहेतोरपत्तारः । तदग्र-हणे च अपूर्णेऽपि काले विपत्तेरपत्ते आत्मघातित्वस्यात्, वस्त्राऽग्रहे तु नाऽयं दोषः । पञ्चाऽष्टमादिक्रमेण च मुमुक्षुभिः पिण्डादिनामपि त्यज्यते, परमनैर्धर्मव्यभारिभिः 20  
प्रतिलेखनञ्च, न तु स्त्रीभिः कदाचिद्धस्त्रम् । नच गृहीतेऽपि वस्त्रे ममेवभावस्य आमाम-सभवात्परिग्रहत्वव्याच्यम्, विरोधात्, बुद्धिपूर्वं हि पतितं वस्त्रं हस्तेनाप्यपरिद-धानाया मूर्च्छारहितत्वानुपपत्तेः, यद् बुद्धिपूर्वं पतितमप्यादीयते न तत्र मूर्च्छाभान-यथा सुपर्णादौ, तथा आदीयते च स्त्रीभिर्धर्ममिति ।

(१) स्त्रिय । (२) पुरुषा । (३) ५०८६८ प० १० । (४) वस्त्रम् । (५) ‘गृह्णी-व चेल्लखड् भाषणमस्ति भगिन्मिह सुतः । जन्ति सो चत्तात्रो हवदि वरु वा अणारम्भो ॥ वयं वल्लड् दुहियभाषणमण्यं च गेण्हदि गियद । विज्जन्ति पाणारभा विज्जनेमां तस्म चित्तम्मि ॥ गेण्ह-विधुण्ह घोवद् मासद् जदं तु वादव विता । पयं च चत्तड् जिमन्ति परत्ता य पाण्यन्ति ॥ कियं तस्मिह गणियं मुच्छा आरमो व जमजमा तस्म । तय परत्तज्जम्मि रत्ता वधमप्याण पत्ताधयदि ॥ -प्रथ० टी० प० २१७ । प्रमेयव० प० ३३१ । (६) ‘बुद्धिपूर्वकं हि हस्तं पतितं धर्मसाधनम्’ -प्रमेयव० प० ३३३ ।

१-विशेषोपदिष्टवस्तु-व० । २-भाव्यं पुरुष-अ० । ३-रागिभ्य-अ० । रागिप्रत्ययलक्षणं पा० । ४-सयमाशय-आ० । ५-पुषव हि अ० ।

गतेन 'उपसर्गाधासक्तमित्र अम्बरमपरिमह' इत्यादि प्रत्याख्यातम्, उपसर्गाधा-  
सक्ते वस्त्रे पतिते बुद्धिपूर्वप्रहणासमवान् ।

अथोच्यते—स्त्रीणा वस्त्रत्यागाभ्युपगमे बुलक्षीणा लज्जागुण्यिष्ठत्वात् दीश्रापट्टणमेव  
न स्यात्, वस्त्रे तु सति तत्परिमहमात्र द्योप सत्प्रशीलपरिपालन तु गुण इति त्यागो-  
पादानयो गुणदोषाल्पबहुत्वनिरूपणेन भगवता वस्त्रमुपदिष्ट तामामिति, तदेतद-  
स्मात्प्रमथीष्टमेव, नहि अत्रार्थे वय विप्रतिपद्यामहे, मोक्षे एव अस्माक विप्रतिपत्ते । नच  
तच्छील मोक्षप्रसाधनाय प्रभवति परिमहवदाश्रितत्वात् गृहस्थशीलम् । नहि गृहस्थ-  
शील त्यागोपादानयो गुणदोषात्पत्रहृत्वनिरूपणेन भगवतोपदिष्टमपि मोक्षप्रसाधनाय  
प्रभवति एव प्रवृत्तमपि । अथ तच्छील हिंसाशयलितत्वात् न तत्प्रसाधनाय प्रभवति,  
तदत्रापि समानम् । न खलु स्त्रीसम्बन्धि शील हिंसाशनल न भवति, यूकालिआ-  
द्यनेत्र तुमम्मूर्च्छनाधिकरणवस्त्रसमवितत्वात् गृहस्थशीलयत् । तत्सम्मूर्च्छनाधि-  
करणस्य च वस्त्रस्य हिंमानङ्गत्वे मूर्च्छजानामपनयनानर्थक्य स्यात् ।

यदप्यभिहितम्—'प्रमाणाभावे तासा हिंसानुपपत्ते' इत्यादि, तत्प्यपेक्षालम्,  
लोभकपायपरिणतौ तासामप्रमत्तत्वात्तनुपपत्ते, तत्परिणतेरेव प्रमादत्वात् । तदुक्तम्—

“निर्वैहा तहा स्ताया इदिय णिदा य तह य पण्णो (यो) य ।

चट्टु चट्टु पण्ण उंमेगे हुति पमादा हु पण्णरस ॥” [ पञ्च० १।१५ ] इति ।

लोभकपायपरिणतिश्च स्त्रीणा बुद्धिपूर्वं वस्त्रस्वीकारात् अस्तीत्यवसीयते । अथ  
वीतरागत्वेऽप्यासा लज्जापनोदार्थं तस्वीकारसभवात् नातस्तासा तत्परिणतिमिद्धि,  
नवेव कार्मपीडापनोदार्थं कामुक्रादिस्वीकारोप्यासा तन्न स्यादविशेषात् ? अथ तन्धी-  
टासद्भावे वीतरागत्र तासा विन्द्यते, तदेतत् लज्जासद्भावेऽपि समानम् । न खलु  
वीतरागस्य लज्जा उपपद्यते, सति रागे वीमत्साराय्यप्रच्छादनेच्छारूपत्वात्तर्था । यो  
वीतरागो नास्ती लज्जावान्, यथा शिशु, वीतरागा च भवद्विरभिप्रेता आर्यिना इति ।

(१) अशोभगदरादिषु गहीतचीरो यतिन मुच्यते । उपसर्गो वा चीरे इति मयस्यते चात्ते ॥'  
-स्त्री० ३७ । (२) गृहस्थशीलम् । (३) पृ० ८६८ प० १७ । (४) 'पहडी पमान्मइया  
एत्ति विस्ति भासिया धमदा । तम्हा ताओ पमत्ता पमादवतुला त्ति णिद्धिटा ॥ सति धुर्वं पमदान  
माट्टपदोसा मय दुगुछा य । चित्त चित्ता माया तम्हा तासि ण णिब्बाण ॥ -प्रव० टी० पृ० ३०२ ।  
मायापमायपउरा पडिमासं तेमु होइ पक्कलण । णिच्च जोणिसावो दारडत्त णत्थि चित्तस्स ॥ -  
भाव० गा० ९३ । (५) विक्रयास्तथा कपाया इन्द्रियनिष्ठातयव प्रणयश्च । चतुस्चतुष्वकक  
भवति प्रमाणा खतु पञ्चदश ॥ गार्थेय जीवकाश्वेऽपि (३४) वतते । उद्धृतेयम्-घवलाटी० पृ०  
१७८ । (६) ह्रीणीतात्तिनिवत्त्यथ वस्त्रादि यानि गृह्यते । कामियास्तिवा विन्न कामपीडादि  
गान्त्य । -प्रमेयक० पृ० ३३१ । (७) कामपीडा । (८) लज्जाया ।

1-सर्गाध ध्यासक्त-आ० । 2-अत्रार्थेऽवद्य विप्र-ब० । 3-प्रसाधाय ब० । 4-नाय भवत्येव प्रवृत्त-

व० । 5-यूकालि-ब० । 6-याने तासा-ब० । 7-दृगक थ० । 8-बुद्धिपूर्ववस्त्र-आ०, बुद्धिपूर्ववस्त्र-थ० ।  
9-कान्तादि-थ० ।

यदि च पुसाम् अचेल सयमो मुक्तेर्हेतु स्त्रीणा तु सचेल, तदा कारणभेदात् मुक्तेरप्यवरयमनुपज्येत भेद । योऽत्यन्तभिन्न सयम सोऽत्यन्तभिन्नकार्यारम्भक यथा यतिगृहिसयमोऽत्यन्तभिन्नस्वर्गाद्यारम्भक, अत्यन्तभिन्नश्च सचेलोऽचेलरूपो मुक्ति-हेतुतयाऽभिप्रेत आर्य-अर्यिकासयम इति । न चानयो मुक्तिभेदोऽस्ति, सफलकर्म-क्षयलक्षणाया मुक्ते, उभयोर्भवद्विस्तृत्यतयाऽभ्युपगमात् ।

किञ्च सचेलसयमस्य मुक्तिहेतुत्वे मुक्त्यर्थिना न वस्त्रादेस्त्याग कर्त्तव्यतया उप-निष्येत, उपदिश्यते चैसौ तेषा तथा, अतो वस्त्रादेर्मुक्त्यङ्गतानुपपत्ति । प्रयोग-वस्त्र मुक्तेरङ्ग न भवति, मुक्त्यर्थिना तत्त्यागस्य कर्त्तव्यतयोपदिश्यमानत्वात्, यत्त्यागो मुक्त्यर्थिना कर्त्तव्यतयोपदिश्यते न तत् मुक्तेरङ्गम् यथा मिथ्यादर्शनादि, कर्त्तव्य-तयोपदिश्यते च तेषा वस्त्रत्याग इति । यत्पुन मुक्तेरङ्ग न तत्त्यागस्तदर्थिना कर्त्त-व्यतया उपदिश्यते यथा सम्यग्दर्शनादेरिति ।

यथान्यदुक्तम्—‘पुरुषैरवन्द्यत्वस्य गणधरैर्व्यभिचार’ इत्यादि, तदप्यसाम्प्रतम्, यतोऽर्हता तीर्थकरत्ननामपुण्यातिशयवशात् परममहत्त्वपदप्राप्तत्वेन अखिलजनैर्वन्द्यत्व-मेव न वन्दकत्वम् । नहि कश्चित् तत्पदादधिकपदाहो जगत्यस्ति यस्य ते<sup>१</sup> वन्दका भविष्यन्ति, गणधराणा तु तथाविधपुण्याऽर्भावात् तैत्पदप्राप्तेरभावात् तैर्द्वैवन्द्यत्वम् । मुक्तिसामग्री तु तीर्थकरेतेरेषा सिद्धता न विशिष्यते । आर्यिकायास्तु मा विशिष्यते, तद्वेतुरन्नत्रयाभावात् । तथा, स्त्रीणा न निर्वाणपदप्राप्ति, यतिगृहिदेववन्द्यपदा-ऽर्हत्वात्, नपुसकान्वित् । यतीना हि वन्द्य पद द्विविधम्—परम्, अपरञ्च । तत्र परम्—तीर्थकरत्नलक्षणम् । अपरम्—आचार्यादिलक्षणम् । तदुभयमपि पुमामेव उपनि-श्यते न स्त्रीणाम् । तथा गृहिणा देवानाञ्च वन्द्य पद द्विविधम्—पराऽपरभेदात् । तत्र तेषा वन्द्य पर पदम्—चैत्रनर्त्तित्वम् इन्द्रत्वञ्च । अपरम्—महाम(मा)ण्डलिनादि सामा-निनादि च । तदपि पुसामेव श्रूयते न स्त्रीणाम् । प्रतिगृहश्च प्रभुत्व पुसामेव न स्त्री-णाम् । तथा पितरि सत्यसति च पुत्रस्यैव लघो विरूपकस्यापि सर्वत्र कार्येऽ-धिकारो न पुत्रीणा महतीना सुरूपणामपि । अतो यासा मामारिजलक्ष्यामपि अधिकारो नास्ति तासा मोक्षलक्ष्यामधिकारो भविष्यति इति किमपि महाद्भुतम् ।

ननु यदि महत्या शियोऽर्हत्वात्तासाममुक्ति तदा गणधरादीनामप्यमुक्ति

(१) “तर्हि कारणभेदात् मुक्तेरप्यनुपज्येत भेद स्वर्गादिवन ।—प्रमेयक० पृ० ३३० । (२) आय-आर्यिकयो । (३) वस्त्रत्याग मुक्त्यर्थिना कर्त्तव्यतया । (४) पृ० ८६९ पं० ४ । (५) तीर्थकरा । (६) परममहत्त्वपदप्राप्ति । (७) तीर्थकरत्न सकलजगद्वन्द्यत्वम् ।

१ वन्दका च भवि-श्र० । २-पुण्यानुभावतस्तत्त्व-आ०, -पुण्येभावतस्तत्त्व-व० । ३-भाव-स्तत्त्व-श्र० । ४ तद्व-वन्द्यत्वम् व० श्र० । ५-करे तेषां श्र० । ६ आर्यिकामु सा व० । ७ वन्द्यत्व व० । ८ चैत्रवर्त्यादित्वं व० । ९ विपसकस्यापि व० ।

स्यात् महत्या तीर्थकरत्त्रश्रिय तेषामप्यनर्हत्वाविशेषात्, इत्यप्यसुत्तरम्, व्यक्तभेद-  
स्यात् त्रिभिनिपेधयोरनङ्गत्वात् । पुत्रपुत्रगो हि महत्या श्रियामधिकृतो न स्त्रीवर्ग  
अतस्तत्परिहारण तस्यैव मुक्तिरभ्युपगतव्या, न पुन कचिद्व्यक्ती तयाविधश्रियोऽ-  
सभवेऽपि मुक्त्युपलम्भाद् व्यभिचारमुद्गाव्य मुक्ति प्रति स्त्रीणा तत्समानताऽऽपादयितु  
युक्ता । न खडु एकस्य रानपुत्रस्य राज्यप्राप्तौ अयतत्पुत्राणा तद्प्राप्तित ततो हीन-  
त्वेऽपि पुत्र्या समत्वं युक्तम्, पुत्रगर्गात् पुत्रीगर्गस्य सकलज्यवहारैषु लोके अत्यन्त-  
त्रिलक्षणतया प्रसिद्धे । तत स्त्रीणा न मोक्ष पुरपेभ्यो हीनत्वात् नपुसकान्धित् ।  
न च तेभ्यो हीनत्वमासामसिद्धम्, अनन्तरमेव अस्य समर्थितत्वात् ।

इतश्च तत्सिद्धम् यत सारणनारणपरिचोत्तनादीनि स्त्रीणा पुरपा कुर्वन्ति न  
स्त्रिय पुरपाणाम्, तीर्थकराकारधराश्च पुरपा न स्त्रिय । उक्तञ्च—

‘सारणवारणपरिचोयणाइ पुरिसा नरेई णहु ईदयी’ [ ]

ननु न हीनत्वमधिकत्वं वा मुक्तेरङ्गम्, किन्तु रत्नत्रय शिष्याचार्यवत्, तथाहि—  
शिष्या आचार्येभ्यो हीना तेषु तेभ्योऽधिका अथ च उभयेषा मुक्ति, तद्वद् आर्या-  
णाम् आर्थिकाणाञ्च सा भविष्यति, इति च श्रद्धामानम्, यत शिष्याचार्यवत् हीना-  
विकत्वेऽपि स्त्रीपुरुषयोमुक्ति अविज्ञेयत स्यात् यदि तद्वत् तयोरपि मुक्तिहेतुभूत  
रत्नत्रयमविशेषत स्यात्, न च स्त्रीषु तद्वस्ति, तद्वेतुभूतस्यास्य प्रपञ्चत तासु प्रागेव  
प्रतिषिद्धत्वात् । रत्नत्रयमात्र तु तत्र मदपि न तद्वेतु, गृहस्थादेरपि मुक्तिप्रमद्वात् । नहि  
प्रचण्डमार्त्तण्डप्रसाध्ये कार्ये प्रदीपस्य स्वप्नेऽपि सामर्थ्यं प्रतीयते ।

यदप्युक्तम्—‘गार्हस्थ्येऽपि सुसत्त्वा’ इत्यादि, तदप्यविचारितरमणीयम्, नहि  
यथा अनेकदुर्धरपरीपहसहत्वेन अखिलरत्ननिर्मूलनसमर्थं महासत्त्व पुसा प्रसिद्धम्  
तथाविध स्वप्नेऽपि स्त्रीणामस्ति । स्त्रीगर्गापेक्षयैव सीतादीना सत्त्वप्रवर्षसभवात्  
‘महासत्त्वा’ इत्युच्यन्ते । नहि तासा पुसामिव सत्त्वार्थिन्यमस्ति कापि कार्ये ।  
तथाविधसत्त्वविकलानाञ्च तासा कथ महासत्त्वसाध्यमुक्तिहेतुरत्नत्रयसमप्रता स्यात् ।  
तथाहि—न स्त्रीशरीर मुक्तिहेतुरत्नत्रयसमप्रतोपेताऽऽत्माश्रय महता पापेन निर्बन्धित-  
त्वात् नारकादिशरीरवत् ।

निश्च, अखिलरत्नैक्षपणाप्रारम्भहेतोस्तस्यै तत्प्राप्तयेतोपपद्यते । न च स्त्रीशरी-

(१) सारणपरिहारण । (२) तीर्थकरत्वश्रिय । (३) सारणा हिते प्रवतनलक्षणा इत्य  
स्मारणलक्षणा वा उपलक्षणत्वाद् वाग्णा अहितासिधारणलक्षणा, चोयणा समययोगपु स्वलित  
समयुक्तमनव भवाणा विधातुमित्यादिबचनन प्ररणा प्रतिचोत्तना तथैव पुन पुन प्ररणा । —गच्छा०  
व० गा० १७ । ओघनि० टी० गा० ४४८ । (४) शिष्याचार्यवत् आर्य-आर्थिकयोरपि । (५)  
प० ८६९ प० ११ । (६) शरीरस्य । (७) मुक्तिहेतुत्वरत्नत्रयसमप्रतोपेतात्माश्रयना ।

१ व्यक्तिभेद स्यात् विधि—आ० । २ तत्प्राप्तित व० । ३ सारणचारण—आ० । ४ सारणचारण  
—आ० । ५ इती आ० । ६ आचार्याणामापि—श्र० । ७—विक्रयमपि क्वापि आ० । ८ नव शरीरस्य आ० ।





वाचित तथा प्रपञ्चत प्राक् प्रतिपादितमेव ।

न्तु—“पुवद वदता जे पुरिसा सगसेढिमारूढा ।

मेसोदयेण वि तथा माणुवजुत्ता य ते दु सिग्गतिं ॥” [ प्रा० सिद्धभ० गा० ६ ]

इत्यादरपि प्रमाणभूतागमस्य तन्निर्वाणप्रतिपादनस्य सद्भावात् कथं प्राक्तनागमस्य  
 ५ प्रमाणवाधितार्थप्रतिपादकत्वम्, आगमात् स्त्रीनिर्वाणोऽसिद्धिर्वा ? इत्यपि मनोरथ-  
 मारम्भम्, तस्यै तन्निर्वाणावेदकत्वाऽमभवात्, म हि पुर्वेन्दोदयत्रत्तेशेपेदोदयेनापि पुस्तैमेव  
 अपवर्गवेदक, उभयत्र ‘पुरुषा’ इत्यभिमन्वधात् । वेद इति हि मोहनीयोदय-  
 जन्मा चित्तविकारोऽभिलापरूपोऽभिधीयते, उदयश्च भावस्यैव न द्रव्यस्य ।

यदप्युक्तम्—‘द्रव्यत पुरुषा’ इत्यादि, तदप्यचर्चिताभिधानम्, द्रव्यत स्त्री-  
 10 वेदस्य मोक्षप्रसाधनसामर्थ्याभावस्य प्रतिपादितत्वात् कथं द्रव्यत क्यपि भावत  
 पुरुषो भूत्वा निर्यास्यति ? यद् द्रव्यतो मोक्षप्रसाधने असमर्थं तद् भावतोऽपि तत्र  
 साधनेऽममर्थमेव यथा निर्यगादि, द्रव्यतो मोक्षप्रसाधने असमर्था च स्त्री इति । अतो  
 द्रव्यत पुरुषस्यैव भावतो वेदे यत्र कुत्रचिदारूढस्य नि शेषतो निरिलकर्मारातिनिर्ध-  
 यनसामर्थ्यमभ्युपगम्यत्वम् लोच्यते । यथैव हि लोके पुरुषो महासत्त्वोपेतो गजतुर-  
 15 गादौ यत्रकुत्रचिदारूढ किञ्चिद्व्यमलमादाय रणरङ्गे निरिलशत्रुवर्गमुन्मूलयन्  
 परमैश्वर्यमनुभवति इति आयाल प्रसिद्धम् न पुन यथार्थनामा अथवा, तथा द्रव्यत  
 पुरुष एव भावतो वेदत्रयायतमवेदाधिरूढ शुद्धध्यानानुपमासमादाय कर्मारातिवर्ग-  
 मुन्मूलयन् परमैश्वर्यमनुभवति इति ।

यदप्यभिहितम्—‘न च सिद्धवतो वेद’ इत्यादि, तत्प्रत्ययमेव, नहि अस्माभिर्वे-

२० दात मुक्तिरभ्युपगम्यते, कमेनिचयनिर्दहनसमर्थेतीप्रतरशुक्लध्यानानलात् परापरमुक्तेर-  
 भ्युपगमादिति ॥ छ ॥

इदानीं शास्त्रकार शास्त्राध्ययनस्य प्रयोजन प्ररूपयन्नाह—

भव्य पञ्चगुरूस्नपोभिरमलैराराध्य बुध्वागमम्,

तेभ्योऽभ्यस्य तदर्धमर्थविषयाच्छब्दादपञ्चशतः ।

(१) ‘भावपुर्वे’मनुभवन्तो य पुरुषा क्षपकथणीमारूढा, न केवलं भापुववेत्नव अपि तु  
 सेसोन्वयण वि तद्वा—अभिलापरूपभावस्त्रीनुप सकवेदादयनापि तथा क्षपक रण्णाहृदप्रकारेण माणुवजुत्ता  
 य गुक्कण्यानोपयुक्ताश्च ते द्रव्यपुर्वे—स्तु मि—कति सिद्धयन्ति । —सिद्धभ० टी० । (२) ‘पुर्वे’  
 वन्ता’ इत्यागमस्य । (३) ‘अवदत्वेन, विभ्यो वा वेभ्य सिद्धिर्भावत न द्रव्यत’ द्रव्यत पुल्लि  
 ज्ञनव ।—सर्वार्थसि० १०।१। अतीतगोचरन्यापेक्षया अविशयण विभ्यो वेभ्य सिद्धिभवति भाव  
 प्रति, न तु द्रव्य प्रति । द्रव्यापेक्षया तु पुल्लिगनव मिद्धि । —राजवा० पृ० ३६६ । पुल्लिगनव तु  
 साक्षाद् द्रव्यतो —सत्त्वाय—दलो० १०।१। (४) पृ० ८७० प० ३। (५) पृ० ८७० प० ५ ।

1—जसिद्धिकेप्रपि थ० —जासिद्धिरित्यपि—व० । 2—त्र तन्निर्वाणा—व०,—त्र स्त्रीनिर्वाणा—थ० ।

३—विकारो ह्यभिधी—व० । 4—मोक्षसाधन—व० । 5—तोऽभिला—व० । 6—लोकेषु पुरुषो जा० । 7—बाला थ० ।

दूरीभूततरात्मकादधिगतो बोद्धाऽकलङ्कं पदम्,  
लोकालोककलावलोकनबलप्रज्ञोजिनः स्यात् स्वयम् ॥ ७७ ॥

प्रवचनपदान्यभ्यस्य अर्थास्तंतः परिनिष्ठितान्,  
असकृदबबुद्धयेद्वाद्बोधाद्बुधो हतसशयः ।

भगवदकलङ्कानां स्थानं सुप्तेन समाश्रितः,  
कथयतु शिव पन्थानं वः पदस्य महात्मनाम् ॥ ७८ ॥

5

10

त्रिवृतिः—लक्षण-सख्या-विषय फलोपेतप्रमाण नय-निक्षेपस्वरूपप्ररूपके हि हेतुनादरूपे आगमे गुरुपदेशपरम्परातो यथानदधिगते परमप्रकरणेण अभ्यस्ते सति आत्मनो जिनेश्वरपदप्राप्तिलक्षणस्वार्थसम्पत्तिर्भवति । तत्सपत्तौ च मुमुक्षुजनमोक्ष-मार्गोपदेशद्वारेण परार्थसम्पत्तये असौ चेष्टते इति ॥ छ ॥

इति श्री भद्राकलङ्कशशाङ्गानुस्मृतप्रवचनप्रवेशः समाप्तः ॥ छ ॥



, (१) "स्याद भवेत् । क भव्य मोक्षहेतुरत्नत्रयत्वेण भविष्यति परिणस्यतीति भव्य अभयस्य मुक्तावनधिवाारात् । किंविशिष्ट स्यात् ? जिन स्यात् । पुन कथम्भूत ? लोकालोक कलावलोकनबलप्रज्ञ, पटद्रव्यसमवायो लोक ततो बहिरलोक केवलाकाशरूप तयो कला विभाग । अथवा लोकश्च अलोकश्च कलाश्च जीवादय पदार्था तासामवलोकन तत्र बल शक्ति प्रज्ञा प्रकृष्टज्ञान च विद्यते यस्य स तपोन्त कथ स्वय स्वेनात्मना नेन्द्रियाणिसाहाय्येन इत्यथ । पुनरपि किंविशिष्ट ? अधिगत । किम् ? पदम स्थानम् । किंविशिष्टम् ? आकलङ्कम अकलङ्कानामिदम् आहन्त्यमित्यथ । बोद्धा । किं कृत्वा ? अभ्यस्य पुन पुनर्भावित्वा । कम ? तन्मयम्, तस्यागमस्य अर्थो जीवादिवस्तु तम् । आदौ कृत्वा ? बुद्ध्वा अधीत्य ज्ञात्वा च । कम ? आगम श्रुतम् । केभ्य ? तेभ्य पंचगुरभ्य सषाशात् । कस्मादबधिभूताद ? शब्दात् । किंविशिष्टात् ? अथविषयात् । पुन किंविशिष्टात् ? अपभ्रशत् भ्रशा लक्षणदोष तस्मादपगत अपभ्रस तस्मान् । तत्त पूव किं कृत्वा ? आराध्य गुरुन् अह्नादीन् । कति ? पच । क गुण ? तपोभि बाह्याभ्यन्तर इच्छानिरोध । अमलं मिथ्यात्वादिम लरहित"—लघी० ता० पृ० १०० । (२) 'कथयतु प्रतिपान्यतु । व ? बुध ज्ञानी । कम् ? पथान मागप्राप्त्युपायम् । किं विशिष्टम् ? शिवम् । वस्य ? पदस्य स्थानस्य । वेपाम् ? महात्म नाम । केभ्य कथयतु ? व युष्मभ्यं विनेकेभ्य । केन ? सुप्तन तात्वोष्ठपुटव्यापारकलशाभावेन । किंविशिष्ट सन ? समाश्रित प्राप्त । किम् ? स्थानम् अवस्थानम् न क्षणभर्गं तत्रोपदेशाभावात् । किंविशिष्टम् ? भगवत् त्रिलोक्युजाहम् । वेपा स्यात् ? अरलवानाम् अर्हतामित्यथ । किं विशिष्ट सन ? हतसशय । किं कृत्वा ? अबबुद्धय त्रिरित्यथ । कथम् ? असकृत् पुन पुनर्ध्यात्वा । कान् ? अर्थान् जीवादितत्त्वानि । किंविशिष्टान् ? परिनिष्ठितान् अथवतिथतान् । क्व तत ? तेषु प्रवचनपदम् । कस्मात् ? बोधात् । किंविशिष्टात् ? दृष्टात् उज्यत्वात् गंवरभ्यतिपरव्यतिरेकात् अहम् हामिकया प्रवाशमानादित्यथ । किं कृत्वा ? अभ्यस्य परिभिस्य । पुन पुनरुपयुज्यत्यथ । कानि ? प्रवचनपदानि । परमागमाभ्यासात् परिणतश्रुतज्ञान क्षुब्धधातालतिगंधद्रव्यभावालङ्क सार्यभ्य मापन्नो मोक्षमार्गोपदेशाय परार्थाय चेष्टतामिति भावो दयाताम् ।"—लघी० ता० पृ० १०१ ।

1-निश्चिता-व० । 2-त्यरूपके हि श्र० । 3 परार्थज्ञान-श्र० । 4 चेष्ट इति भा० । 5 इति प्रथ समाप्त व० ।

बोधो मे' न तथाविधोऽस्ति न सरस्वत्या प्रदत्तो वर ,  
 साहाय्यञ्च न वस्यचिद्वचनतोप्यस्ति प्रेथ-बोदये ।  
 यत्पुण्य जिननाथभक्तिजनित तेनाथैमत्यद्भुत ,  
 सञ्जातो निग्निलार्थबोधनिलय साधुप्रमादात्पर ॥ १ ॥  
 कल्याणावसथ सुवर्णरचित विद्याधरै सेवित ,  
 तुङ्गाङ्गो विबुधप्रियो बहुविधश्रीमो गिरी-द्रोर्षम ।  
 धाम्यद्भिर्न बृहस्पतिप्रभृतिभि प्राप्त यनीय पदम् ,  
 -ययाम्भोधिनिमथन चिरमसौ स्थेयात् प्रवेन्ध पर ॥ २ ॥  
 मूल यस्य समस्तवस्तुविषय ज्ञान पर निर्मलम् ,  
 बुध्न सव्यवहारसिद्धमखिल सवादि मान महत् ।  
 शाला सर्वनया प्रपत्रनिनहो निक्षेपमालामला ,  
 जीयाजैनमताऽग्निपोऽऽ फलित स्वर्गाणि सत्फलै ॥ ३ ॥  
 भव्याम्भोचदिवाकरो गुणनिधि योऽभूज्जगद्भूषण ,  
 सिद्धान्तादिममस्तशास्त्रजलधि श्रीपद्मनिदिप्रभु ।  
 तच्छिष्यादक्लङ्कमार्गनिरतात् संख्यायमार्गोऽखिल ,  
 सुव्यक्तोऽनुपमप्रमेयरचितो जात प्रभाच-द्रत ॥ ४ ॥  
 अभिभूय निचरिपथ निखिलमतोद्योतनो गुणाम्भोधि ।  
 सखिता जयतु त्रिने-द्र शुभप्रबन्ध प्रभाच-द्र ॥ ५ ॥

इति प्रभाच-द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयत्रयालङ्कारे मस्य परिच्छेद समाप्त ॥६॥

(१) प्रभाच-द्रस्य । (२) ययाम्भोधिनिमथन । (३) ययाम्भोधिनिमथन । (४) ययाम्भोधिनिमथन ।

1-यय थ० । 2-यय व० । 3-ययाम्भोधिनिमथन ला० ययाम्भोधिनिमथन थ० ।  
 4-त यय-थ० । 5-समाप्त । इति श्रीजयसिंहदेवराज्य श्रीमङ्गारानिवाहिना परापरवरमण्डिप्रणामोपा  
 जितामलपुण्यनिराश्रितनिलिलमल्ललेन श्रीमत्प्रभाच-द्रपण्डितेन ययाम्भोधिनिमथनो लघीयत्रयालङ्कारे  
 वृत्त इति मगलम् । आच-द्रनाथाय नमः । श्रीवज्रकीर्तिमुनये नमः । थ० ।

श्रीनन्दिसचकुलमन्दिररत्नद्वीप(प), मिद्धान्तिमूर्ध्न(ध्रं), तिलमो तदिनामा ।  
चूडामणिप्रभृतिसर्धनिमित्तवेदी चूडामणिर्भवनिमित्तविदा यभूव ॥ १ ॥

शिष्यस्तस्य तपोनिधि शमनिधिर्वि [ चानिधि ] धीनिधि ।

शीलानन्दितभव्यलोकद्वय सौरयैकनन्दीत्यभूत् ॥

आरुह्य प ( प्र ) तिमागुणप्रवहण सद्बोधिरत्नो [ द्वहं ] ।

[ सत्सि ] द्धान्तमहोदधेग्नयधे पाग पर दृष्टवान् ॥ २ ॥

अन्तेवासी समजनि मुनेन्स्य यो देवनन्दी,

दीप्तोत्तमप्रभृतिपसा [ सा धाम यो ] देवनन्दी ।

चातुर्वर्ण्यश्रमणगणिभिर्दवद्वर ( द ) नीयो,

देवश्चासावजनि परमानन्दयोगान्च रन्ती ॥ ३ ॥

एतस्मादुद्रयाचलादि [ धिवशा ] ह्री [ लो ] दयेनाभित ।

श्रीमद्भास्कर(न)न्दिना दशन्दिस्ते नोभिरुद्योतिता ॥

विद्वत्तारकचक्रालमसिल मिथ्यातमोभे [ दिभि-

रयोद्गा ] सवचोमरीचिनिचयैगच्छान्ति सर्धत ॥ ४ ॥ ४ ॥

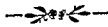
त्यक्ता वात्कथापि वादिनिवहैर्नालोऽपि जल्प कृत ।

जरपाके [ स्त्रपया च नो ] निगन्ति पात्पण्डितैतण्डिके ॥

पदत्कोपनिपन्निशाणनिशितप्रहस्य तै सेव्यते ।

श्रीमद्भास्कर(न)न्दिपण्डितपते [ पादारनिन्दद् ] यी ॥ ५ ॥

इति न्यायपुस्तचन्द्रवृत्तितर्क समाप्त मि ( प्र ५ ) ति ॥ ५ ॥



प्रन्याम १६००० ॥ १५२० ॥ छ ॥ शुभ भवतु ॥ छ ॥ श्री ॥

२१

समाप्तोऽयं ग्रन्थः



## न्यायकुमुदचन्द्रसम्पादकप्रशस्तिः ।

भजति सागरमण्डलमुद्गुरे सुकृतिभिः 'रुरई'विकमत्पुरे ।  
सुपरार'जगद्दरलालत.' समजनिष्ट 'महेन्द्रकुमारक' ॥ १ ॥

करीनाश्रितधीनाख्यनगरे 'धर्मदासतः' ।  
नामिनन्दनमद्विद्यालये सस्कृतशिक्षणम् ॥ २ ॥

प्रारम्भिकमुपादाय विशेषाधिजिगासया ।  
विद्वत्सुन्दरमिन्दूरविद्यालयमवाप्तवान् ॥ ३ ॥

'वशीधरात्'धर्ममधीत्य 'जीवन्धराच' तर्कं श्रमतः सतर्कम् ।  
स्याद्वादिद्यालयमेतय तस्मिन्नश्रान्तमश्राम्यमह चिराय ॥ ४ ॥

न्यायमध्यापयन्नन्तेरासिनोऽपि निरन्तरम् ।  
अभूवमुत्तमश्रेण्या न्यायाचार्यस्ततः परम् ॥ ५ ॥

गवेपणापूर्णाधिदेह टिप्पणीतिहाससम्यक्तुलना मया श्रमात् ।  
विलिख्य तत्रानवधानदूषण सुधीजन शोधयितेत्युपेक्ष्यते ॥ ६ ॥

रसरसधुगनेत्रे वीरनिर्वाणपथे,  
प्रथमदलनवम्या भौमवारान्वितायाम् ।  
कृतिरियमगमन्मे पूर्णता मासि माद्रे,  
गुरुचरणकूपीधेनान्तरेणान्तरायम् ॥ ७ ॥

न्यायकुमुदचन्द्रस्य

॥ प रि शि ष्टा नि ॥

[ INDEXES. ]

---

“श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।  
जीयाञ्जैनेन्द्रचन्द्रस्य शासनं जिनशासनम् ॥”

—अरुलङ्कदेव

“पक्षपातो न मे वीरे न द्वेष कपिलादिषु ।  
युक्तिमद्बचनं यस्य तस्य कार्यं परिग्रहं ॥”

—हरिभद्र

“परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।  
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥”

—अमृतचन्द्र

## § १. लघीयस्त्रयस्य कारिकाधीनामकाराव्यनुक्रमः ।

कारिकाधम्	५०	कारिकाधम्
अश्वीस्मृतिसंज्ञाभि	५२९	चत्वारोऽथनया ह्येते
अश्वबुद्धिरतीताथ	६७०	च द्वाद जलच द्वादि-
अश्वगण्यविज्ञान	६४४	चित्तं सदसत्तात्मकं
असाययोगे सत्ता	११५	चेतनाणुसमूहत्वान्
अदृश्यपरचित्ता	४६२	जीवस्थानगुणस्थान-
अनस्य बहिरन्तरचा	४८५	जीवाजीवप्रभेदा यद-
अनाश्वास न कुर्वीरन्	५२९	नानमाद्य मति सना
अनुमानाद्यतिरिक्तेण	७४	नान प्रमाणमात्मादे
अनुसृज्यानुयोगद्वय	७९९	तथा ज्ञान स्वहेतुत्य
अन्तर्मावाप्तं युज्यत	७८२	तद्यक् मित्रकालायान्
अयथा न विवाद	६५८	तदाकारविकारादे
अयोयगुणभूतक	६२३	तदद्रव्यपर्यायात्माऽर्थो
अवयव्यतिरेकायां	६६१	तपोनिर्जीवकर्मस्य
अप्रयुक्तोपि सवत्र	६९१	समो निरोधि वीक्षन्ते
अभिरुद्धस्तु पर्याय	६३७	तत्प्रमाण न चैत्सव
अयमय धीति ज्ञान	६५८	तत्प्रत्यक्ष परोक्ष च
अयक्रिया न युज्येत	३७२	तद्वधम्यात् प्रमाण
अवग्रहा विशेषाधी-	११५	तद्वशय मत बुद्ध
अविकल्पधिया लिंगं	४२६	त्रय शब्दनाया सत्य
असंगात्ममु नया	६२४	दुनयो ग्रहयावद
अस्पष्टं शब्दविज्ञान	६४४	ददमादृश्यविभात्यक
आप्तोक्तेहेतुवादाच्च	६००	द्रव्यं स्वलक्षणं गमत्
इदमल्प महद्दूरमास	५०३	द्रव्यपर्यायमूलास्ते
उपमानं प्रतिदाय	४८८	द्रव्यपर्यायसामाय
उपयोगी श्रुतस्य द्वी	६८६	द्रव्याणि जीवादीयात्मा
श्रुजुसूत्रस्य पर्याय	६३५	धमतीयकरेभ्योस्तु
श्रुपभादिमहावीरा	२	धारणा स्मृतिहेतु
एकस्यानेकसामेध्री	६५०	धीविवल्पाविकल्पात्मा
एवं यथा स्वनिर्मांसि	६०८	न तज्जम न तान्म्यं
कस्तत्स्वभावो हेतु	४८५	नयानुगतनिक्षेप
कर्मविदारमवित्तापित	६७३	नयो ज्ञातुरभिप्रायो
कारणे कायभावश्चेत्	६१४	नानुमानादसिद्धत्वात्
कार्यं दृष्टं विजातीया	६०२	नाभिदेऽपि विशुद्धचेत
कायकारणयोश्चापि	६६३	नान्यथा बाध्यमानाना
कार्योत्पत्तिविशुद्धा चेत्	६१६	निश्चयव्यवहारी तु
कालकारकलिंगानां	६३७	निश्चयात्मकमन्त्रोऽपि
कालादिलक्षणं यक्षेणा	६४६	निश्चयात्मा स्वन
कुड्यादिकं न कुड्यादि	६६५	नगमोऽनन्तरत्वात्की
त्रमात्रमाभ्या भावाना	३७२	परीदय तान्नात् उदमनि
गुणप्रधानभावान	७८८	परोक्षं चाप्यविज्ञान
ग्रहणं निणयस्तेन	६७९	पुसश्चित्तमिसंघवच्च



रिक्वाधम्	५०	कारिकाधम्	५०
वपुवप्रमाणत्व फलं	१७३	वर्णा पदानि वाक्यानि	६९६
णिपत्य महावीर	६५५	वाञ्छिताश्च ष्वचिन्नेति	६९६
तिभासनिश्चयै	६४०	विधौ निषेधेऽप्ययत्र	६९१
तिसविन्तोत्पत्ति	५२७	विरचन्यायवाकप्रत्यया	७९८
त्यभार्थान्तराभा	५०२	विवक्षा नैगमोऽन्यन्त	७८८
त्यभाम कथञ्चिदस्मात्	५२१	वीक्ष्याणुपारिमाण्डल्य	४८३
त्यक्ष बहिरन्तश्चा	६११	व्यपेक्षात् समक्षस्यै	५०३
त्यक्ष विशा पार्त	२०	व्यवसायात्मकं ज्ञान	६७९
त्यभेधु न लभ्यन्त	५२७	व्यवहारानुकूल्यात्	७९०
त्येक वा भजन्तीह	६७५	व्यवहाराविसवादस्तदा	५२९
त्माण इयनिभुपानभि	६५५	व्यवहाराविसवादी नय	६३१
त्माण श्रुनमर्थेणु	५२९	व्याप्ति साध्यन हेनो	६५२
त्वचनपदायभ्यस्य	८७९	शुद्ध द्रव्यमभिप्रति	६०९
त्तदनामयोजनाच्छप	४०३	श्रुतभदा नया सप्त	७८२
त्तमाण्य व्यवहाराद्धि	६२८	श्रुतायमनकान्तम	७९८
त्तय श्रुतेविसवात्	५९८	श्च आदित्य उदेतेति	४५९
त्तद्विरयोस्ति विज्ञप्ति	६३१	पन्वारकी प्रकल्प्यत	६५०
त्तद्व्याच्यप्रहायष्टवत्वा	१७३	समूह सवभक्त्यमभि	६२१
त्तद्व्याच्यस्तदाभास	६२१	सग्यानिविदुत्पाद	६६१
त्तद्विष्यप्रतिपद्येन	४५९	सहृताशपचिताया	५२५
त्तद्व्य पच गुरुन	८७८	सन्भेदात् समस्तनय	७९०
त्तदाना नासत्तात्मको	६०९	सन्सत्स्वायनिर्भास	६१२
त्तदभेदात्मकं पदं	६०५	सत्यतरव्यवस्था का	६००
त्तदभे प्राधान्यतोऽन्व	७९२	सन्तानेषु निरवयसणिक	४
त्तद्विद्वमणिज्यक्ति	६७३	सन्निधेरिन्द्रियार्थानां	६६३
त्तद्व्येतरात्मकं दृश्यादृश्य	३९७	सवशाय निरस्तवाधकधिये	६५३
त्तद्व्यकान्त विगोपो वा	६२८	सवयैकत्वविश्वपी	७९२
त्तद्व्यैक भिन्नदार्थान	६१८	सवन्न चन्नाश्वास	५९८
त्तद्व्यवाविसवात्	५२१	स्याद्वा सक्लादेशा	६८६
त्तद्व्यवत क्षणिकेऽर्थे	६१६	स्वतोऽर्था सन्तु सत्तावत	६२४
त्तद्व्येवानपेक्षाभ्या	६०५	स्वसविद्विपयाकार	४६३
त्तद्व्यर्ष क्षणिककान्ते	६१४	स्वसवेर्षं विकल्पाना	५२५
त्तद्व्यगात् साध्याविनाभाव	४३४	स्वतेतुजनितोऽप्यथ	६७८
त्तद्व्यिधौरनुमान	४३४	स्वेच्छया तामनिप्रम्य	६९६
त्तद्व्यत्रभिन्नेनमात्रस्य	६९६		



## § २ सविवृतिलघीयस्त्रयगतानि श्रवतरणानि ।

श्रवतरणम्	५०	श्रवतरणम्	५०
द्वाद्रियमनसो वारण विज्ञानस्य	६६१	नहि दुदरेकारण विषय	६३८
गुणाना परम रूप न दृष्टि	६२८	नाननुकृता वयव्यतिरेकं	६७४, ७९४
गुणाना युक्त च	६२५	यत्तुमिप्रत तु वाच सूचयन्ति	६००
तत्राप्रत्ययमनुमानव्यतिरिक्त	४२७	वचनभिप्रतमात्रस्य सूचक वचन विवति	६९६
नहि सत्त्वज्ञानमित्येव	२१		

## § ३. सविष्टितलधीयस्त्रयस्य लाक्षणिकानां विशिष्ट-दार्शनिकानां च नाम्नां सूचिः ।

अवलोक	६५३ १६, ८७९ ५	इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्ष	७४ ६
अविचित्र	२१ २	ईहा	११५ १५, ११६ २
असाध्ययोग	११५ १४	उपमान	४८८ २२
अणुपरिमाण्डल्यक्षणभगाद्यवीक्षण	४८३ ६	उपयोग	११५ १८
अतीन्द्रियप्रत्यक्ष	६८२ ६	उपयोग	६८६ २
अथ	२१३ ७	अजुमून	६३५ २१
अथनय	७९३ १८	अजुमूननय	७९२ ७
अथसारूप्यमत	६७६ २	अ प भा दि म हा वी र	२ १३
अर्थाभिधानप्रत्ययात्मक	६३२ १	एतस्मात्पूर्व पश्चिममुत्तर	४०२ १०
अदरयानुपलब्धि	४६२ १६	एवम्भूत	६३८ ३, ७९४ २
अदरोत्तरादिज्ञान	५०४ १	कायकारणलक्षण	६१४ १०
अनागतनिर्णय	६३८ ६, ७९४ ५	कारक	७९४ १०
अनिन्द्रियप्रत्यक्ष	६८२ ५	कारक	६९२ ३
अनुमान	४३४ १३	कारण	६१४ १४
अनुयोग	७९९ १, ८०१ २	काम	६२४ १४
अथ विस्मरेणोक्त	६९६ १९	वृत्तिकृति	५९८ १८
अथश्रयम	६४६ १	वृत्तिकोदय	४५९ १०, ७९४ ५
अथश्रीकनम्	६८२ ९	क्षणिकपरिमण्डलादि	४८३ १०
अथयानुपपत्तिवित्तव	४३५ १	गुणपययवत्तद्रव्य	६३२ २, ७९१ २
अथभगत	८७८ २४	गुणानां वत्त चल	६२५ ३
अथग्रादिभाषण	६९७ २	ग्रामधानकमेतन्नामक	५०२ ११
अथस्तुताथीपाकरण	८०० २	चतुर्धा (निश्चय)	७९९ ८
अथप्रतमात्रसूचित्व	६९७ ६	चतुर्विध (मतिज्ञान)	१७२ २१
अथिलापससपयोग्यता	६७९ १९	चत्वार (अथनय)	७९३ १८
अथिष्ट	६३७ २०	चल	६२८ १०
अथौक्त्व	६९२ ८	चित्रनिर्माणित	३९८ २३
अथौक्त्वप्रतिमान	६५७ ३	चित्रसवित	६३५ २१
अथपह	११५ १५, १६, ११६ २	चित्राकारमव	७९२ १०
अथय	११५ १५ ११६ ३	चित्राभिर्माद्य	६०२ ८
अथसिवाद	६३२ ३	जलचन्द्र	४५० १०, ११
अथसिवादस्मृति	४०४ १	जिन	८७९ २
अथशद्य	७४ ५	जिनेश्वरपदप्राप्तित्थमणस्वायम्पत्ति	८७९ ९
अथवेद्यमकिचित्त्वरमनुपायमनुपेय	६८० २	जीवस्थानगणस्थानमागणास्थान	७९९ ३
अथकुलं प्रल्पन	६३२ ७		८०१ १, ३
अथप्लेतरव्यवस्था	६०० १५	ज मि नि	७४ ९
अथस्मृत	६३७ २०	यानुरभिप्राय	६०६ १, ६५६ ९, ७९४ १५
अथनास्ति	६४६ ९	तर्क	४०४ २, ६५२ २

तज्जम	६७५	१४
तथाभावसकरव्यनिकरव्यतिरेक	७८३	६
तन्त्रनभानिर्माध	७८९	३
तदाकृति (नगमाभास)	७८८	२४
तदाभास (मग्रहाभास)	६२१	६ ७९० ३
तदाभास (ऋजुगुणभास)	७९५	८
तदुत्पत्ति	६७८	१८ ६७९ १९
तदुत्पत्तिसारूप्य	६४०	१४
तदुत्पत्तिसारूप्यान्विलक्षणव्यनिर्धार	६४४	५
तद्व्यवसिति	६७५	१४
तमस	६६५	२२ ६६६ १, २
तादात्म्यनदुत्पत्ती	४३५	१ ६०२ ११
तामसत्वगजुल	६७४	३
ताप्य	६७५	१४
निर्मिराद्युपप्लवनान	५२२	१
निर्मिरागुभ्रमणनीयानसोभाहिहेतुत्व	६६१	६
तीक्ष्णरवचनसग्रहप्रस्तावमूलव्याकारिन	७८३	१७
त्रय (गन्धनय)	७८३	१०
दुनय	६३६	४ ६५० ५, ७९२ १२
दुनय ६३१ २२, ६३२ ४ ७९० २, ७९१ ५		
द्वारासन्ननाथप्रयय	६४०	१८
द्वयादुस्यभन्तरात्मक	३६७	२१
द्रवनि द्रोपयति अद्रुद्रवत	६०७	१
द्रव्य	६०७	१ ७८२ १४ ७८३ ३
द्रव्य (निष्प)	८००	१
द्रव्यपर्यायसामायिविषयवात्मापनिष्ठित	६४६	२
द्रव्यपर्यायित्वा	२१३	७
द्रव्यपर्यायाधिक	७८३	३ १८
द्रव्यभावेद्रिय	११५	१७
द्रव्याधिक	६०६	१ ६०७ २
द्रव्यिद्रय	११५	१७
द्रिधव (प्रमाण)	६८२	२
द्वे एव प्रमाण	५०४	४
धमतीयकर	२	१२
धारणा	१७२	२१ २२ ४०४ १
नयुमक	६४६	८
नय ६०६ १, ६३६ ४ ६५० ५, ६५६ ९		
६८६ ३ ६८८ १, ७९२ १२ ७९९ ६		
नय ६३१ २२ ६३२ ४ ७८२ १३ ७८३		
१ ७९४ ७		
नयदुःख	६०५	७
नहि दष्ट नुपपन्न	५९९	७
नाकारण	६७४	२
नाम (विज्ञप)	७९९	९
नामस्थापनाद्रव्यभावन	७९९	८
निष्प	८००	०
निष्पदि	७९९	१ ८०० ३
निरोध	६३६	४, ७९२ १२
निरोप्यत्व	७९४	१८

निश्चयनय	७८३	८
निश्चयनयाय	७८३	११
निश्चयव्यवहारी	७८२	१६
नगम	६२२	१०, ७८८ २४
नगम	६२२	१२, ६२८ १०, ७८३ १९,
		७८९ ६
नगमाभास	६२२	१०, ७८९ ४
नास	६५६	८, ७९९ ८
पचगुह	८७८	२३
परमाणम	६८६	८
परिच्छेद्यपरिच्छेद्यभाव	६७८	१७
परिमण्डलादि	४८३	९
परोक्ष	२० १४	६०२ २ ८
पराभज्जतभाव		५०४ ४
पर्याय	६३५ २१ ६३७ २०,	७८३ ९,
		७९४ १२
पर्यायाधिक		६०६ १
पाचकपाठकदिवन		७९४ १४
पुमा		६४६ ८
पुरवर	६३८ ३, ६४६ १०,	७९४ २
पूर्वपूर्वप्रमाणत्वे		१७३ १७
पूर्वापरविरोधलक्षणसवा		७९१ ३
पथवत्त्व		७८३ ९
प्रतिशक्तिवितोत्पत्तिव्यय		५२७ १६
प्रतिशहारव्युत्थितचित्त		५२५ ६
प्रतिशहारकात्		५२८ २
प्रत्यक्ष		२० १३
प्रत्यक्ष	४२७ १ ६११ १० ६४४ १२, १५	
		६८२ २ ४
प्रत्यक्षानुपलम्भसाधन	४८५ १६, ६१४ १३	
प्रत्यक्षाभ	५२१ १९ ५२५ ७	
प्रभव		४८५ १६
प्रमाण	६५० ६ ६५६ ८ १० ७९९ ६	
प्रमाणनयनिकषानुयोग		८०१ २
प्रमाणफल		१७४ ११
प्रमाणफलव्यवस्था		१७३ १८
प्रवचनपद		८७४ ३
प्रतिज्ञावसाधम्य	४८८ २२, ४८९ १, ४	
प्रस्तुताथव्याकरण		८०० २
प्रान्नामयोजन		४०३ ७
प्रादिकप्रत्यक्ष		६८२ ४
बहिरधविज्ञातिमानशुयवक्षसा		७९१ ५
बहुवहुविधप्रानिस्तानुक्त ध्रुवतरविकल्प		१७४ ७
बह्वाधवग्रहाद्यष्टचत्वारिंशत		१७३ १६
बालिशगीत		६७४ ३
बुद्ध		४ १९
ब्रह्मवा	६२१ ६, १०, ७९० २,	
भट्टकालकशाशानुस्मृतप्रवचनप्रवेश		८७९ ११
भावनिसाप		८०० १



सविनृतिलघीयस्य नामसुचि

८८६

भावेन्द्रिय	११५ १८
मन्थानिसामग्रीप्रभव	६०२ १४
मनिज्ञान	१७२ २१, ७८३ १
मनामति	७८३ २
म हा नी र	६५५ ८
माया	६२८ १३
मिथ्यकान्त	६२८ ५
मण्ड (प्रत्यक्ष)	७४ ६
मुष्टपुष्टव्यवहार	२० १३
मृतमनिजिम्बमत	६७६ ४
मानय	७८३ ३
माम्मन् सयेव म्माव	६१४ १४
यत्र नैवव्याजिज्ञानरहितसवत्पुरुषपरिपत	
परिज्ञान	७४ ७
योग्यतापणानादिसङ्केत	६८७ १
रव्यापुष्टय	७४ १०
रिक्ता वाचोपूक्ति	६४६ ६
रत्नाचूलादि	६०२ १३
रश्मि	११५ १८
रिग	७९४ ११
लोकव्यवहार	६२९ २
वक्त्रमिप्राय	५३० १, ६९६ १६, १८
वपपत्रवाक्यव्युत्पादकशास्त्र	७९४ १८
वतनालक्षण	६४६ ३, ७९४ १०
वागय मभिचारकात्	६०० १४
वाक्यवाक्त्रक्षणसम्बन्ध	६४४ ८
विकल्पनया	६८६ ३
विश्रया	५९६ २३
विज्ञप्तिमात्र	६३१ २३
विश्रितियथानुवादातिदेशादिवाक्य	६९२ ३
विप्रहृष्ट्याया तरवत	६१४ १४
विपमोऽप्यमुपयास	६५६ ११
विश्रय	११५ १६
विपयिन	११५ १७
वी र जि न	६५३ १६
वक्त्र	६८६ ९
व्याज	७४ ५
व्यतिरेक	७८३ १०
व्यवहार	६२८ ५
व्यवहारनय	७८३, ९
व्यवहारनययि	७८३ ११
व्याप्ति	४२७ ५, ६५२ १
वृद्ध	४५९ १०, ५९८ १८
वृद्धात्	७९४ ५
वृद्ध (नर)	८३७ १९, ७९९ २०
वृद्धात्	७९३ १९
वृद्धात्	४०६ ३
वृद्धात्	६३८ ३
वृद्धात्	४०३ ७

शब्दे गो	६२९ १
श्रुत ४०३ ७, ५२९ ०४, ६८६ २, ७९८	
	६, ९, ७९९ ५
श्रुतज्ञान ४०४ ३, ५३० १, ६०२ १७	
	७९१ ३
श्रुतज्ञानतन्मासास्यवस्था	५२९ ९
श्रुतम	७८२ १३
श्रुति ५९८ १५, ६०२ १०, ६३२ ३	
श्रुतिक्लपानादुप्यादि	५९९ ३
पटकारकी	६४६ ६, ६५० २
पटवारकीसभव	६५० ३
सप्रह ६०९ १९, ६१० १, ६२१ ५, ७९० १, ३	
सनाकम	७९९ ९
सनामज्ञिमप्रतिपत्तिसाधन	५०२ १२
सनासिनसम्बन्धप्रतिपत्ति	४८९ २
सन्ति	१७३ १९, १७४ १
सव्यवहारानुपयोगिन्	२१ २
सार्थकान्त	४६२ १६
सहृतागपचित्ता	४२५ ३
सकलविन	६५३ १५
सकलानेश	६८६ ३
सत्तासमवाय	६२४ १०
सत्त्वगुरपरवदकनुत्वादे	७४ ९
सत्त्वप्रमेयतागुरुलुप्तत्वधर्मित्वमुणित्वादि	६८६ ६
सत्यपदविद्या	७८३ १९
सत्यानूतव्यवस्था	६९७ ४
सत्यान्तव्यवस्था यथानुपपत्ति	६९६ १८
सत्यनरव्यवस्था	६०० ३३
सदादि (अनुयोग)	८०० ३
सद्गुणपरिणामलक्षणसामान्यात्मवत्त्व	७८३ ३
सद्गुणपररापरत्पत्तिप्रपलम्भ	५२८ १
सन्तान	४ १८
सन्निकष	-६६४ १
सन्निकषादि	२१ १ ६६३ २१
सन्निकषविपयवलोत्पत्ति	४२७ २
समाश्रयण	११६ १
सप्त (य)	७८० १३
सप्तधाख्यनयोष	६५० ४
समवाय	६२९ १, ३, ४
समारोपव्यवच्छेदावागण	५२२ ०
सम्बन्धप्रतिपत्ति	५०२ ७
सम्बन्धकाल	६८८ १
सहजमभाविन्	६१३ २
सहजमविवात्तिन	६१० ००
साध्यव्यवहारिक	७४ ६
सात्रत्य	६८६ १
साधकतम	२१ ४
	६०२ ४
तव्यवस्था	६०० १६

सापेग	६३६	३	७९२	११
सापेक्षत्व			७९४	१८
सु ग ते त र			६००	१५
सुनुच्छक			६२८	१३
सुनिश्चितासम्बन्धवाचकप्रमाण	७४	७,	६८२	७
सूर्यान्वद्रमसीग्रहण	४५९	१३,	७९४	६
स्वयं			७८३	७
स्थानप्रसवतदुभयामवसामामलक्षण	७९४	११		
स्थायत्यस्या गभ इति स्त्री			६४६	७
स्थापता			७९९	११
स्पष्ट			६८२	४
स्मृति	४०४	१,	६४०	१०
स्थात्कार	६९१	२२	६९२	१
स्थाच्छब्द			६८८	२
स्थाज्जीव एव			६८८	१
स्थात्यप्रयोग			६८७	२

स्यादस्त्येव जीव				६८८	२	
स्याद्वाव				६८६	३, ४	
स्याद्वात्	६४६	१३,	६८६	७,	६९२	४
स्याद्वादिन				६५३	१३	
स्याद्वात्क्षणसप्तक				६५५	८	
स्वपरयिसवादेव्यसनीयन				६३२	७	
स्वभावनरालम्ब				६३२	६	
स्वभावभूनायापोहस्वाथप्रतिपादन				६८७	१	
स्वभावहेतु				४८५	१४	
स्वभतिमात्र				३७२	१५	
स्ववृत्तिविरचितानप्रदर्शनमात्र				६२८	११	
स्वायसपत्ति				८७९	९	
हानोपादानोपेक्षाप्रतिपत्तफल				४१९	६	
हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थ				६८२	४	
हेतुवाद				६००	१२	
हेतुवादरूप				८७९	८	

## § ४ अन्याचार्ये स्वग्रन्थेषु समुद्धृतानां लघीयस्त्रयकारिकाणां विवृत्यशानाश्च तुलना ।

### १ वीरसेन

लघी०	यवलाटीका
का० ५२	पृ० १७

### २ रश्मिद्रशिष्य अनन्तरीय

लघी०	सिद्धिविनिश्चय टीका
का० ७	पृ० १८४ A
का० ७	प्रमाणफल्यो
का० ५६	पृ० ९९ B
का० ५६	पृ० १८७ B
का० ५७	पृ० १९३ A
का० ५९	पृ० १० B
का० ६२	पृ० ४ A

### ३ नयानन्द

लघी०	प्रमाणपरीक्षा
का० १	पृ० ६९
	अष्टसहस्री
का० ३	पृ० १३४
का० २२	निमित्तराद्युपपाद-
	पृ० २७७
	परपरीक्षा
का० ३	पृ० ५

### का० ४ तदस्ति सुनिश्चिता

आप्तपरीक्षा	पृ० ५६
सत्यागासनपरीक्षा	
का० ३७	पृ० १५ B

### का० ४ तस्ति सुनिश्चिता

तत्स्वायदलोकवातिक	पृ० १८५
का० ७	पृ० ४२४
का० १०	पृ० २३९
का० ३२	पृ० ७७०
का० ५४	इन्द्रियमनसो
का० ७०	पृ० ३३०
	पृ० २७१
	मयविवरण
का० ३२	दलो० ६७

### ४ प्रभाचन्द्र

लघी०	प्रमेयकमलमातण्ड
का० ३	तन्मानान प्रमाण
	पृ० २५

### ५ अनन्तरीय

लघी०	प्रमेयतरंगमाला
का० १९-२०	३५

६ वादिराज

लघी०	न्यायविनिश्चयविवरण
का० ३	पृ० ४८ A
का० ५	पृ० ३२ A
का० ५	विषयविषयि पृ० ३२ A
का० १४	पृ० ५२७ A
का० ५२	पृ० ३२ A
का० ५९	पृ० ३३ A
	प्रमाणनिर्णय
का० ४	तदस्ति सुनिश्चिता पृ० २९

७ आशाधर

लघी०	अनपारम्पर्यामृतटीका
का० ७३-७६	पृ० १६९
	दृष्टोपवेशटीका
का० ५७	पृ० ३०

८ शीलाङ्गाचार्य

लघी०	सूत्रकृताङ्गटीका
का० ४	पृ० २२७ A
का० ७२	पृ० ३२६ A

९ अभयदेव

लघी०	समतितकटीका
का० ५	विषयस्तावत् पृ० ५५३
का० ५	कथञ्चिदभेदेऽपि पृ० ५५३
का० १०	अविसवावरमृते पृ० ५५३
का० २२	पृ० ५९५
का० २२	तिमिराद्युपप्लव पृ० ५९५
का० ३२	पृ० २७२
का० ५६	पृ० ५४४

१० वादि देवसूरि

लघी०	प्रमाणनयतरवालीकालङ्कार
का० ३	सन्निकर्षनिरञ्जानस्य ११४
का० ४	अनुमानाद्यतिरेकेण २१३
का० ५	कथञ्चिदभेदेऽपि २१२
	स्याद्वावरत्नाकर
का० ४	पृ० ३१६
का० १९	पृ० ४९८

११ रत्नप्रभ

लघी०	रत्नाकरावतारिका
का० १९।२०	३।३

१२ हेमचन्द्र

लघी०	प्रमाणमीमांसा
का० ४	तदस्ति सुनिश्चिता पृ० १४
का० ४	यावज्ज्ञेयव्यापि पृ० १४
का० ४	अत्रानुपलम्भं पृ० १४
का० ५	विषयस्तावत् पृ० २१
का० ५	कथञ्चिदभेदेऽपि पृ० २२
का० ६	धारणा १।२।१९
का० ७	१।१।३९
का० ८	पृ० १४
का० १९-२०	पृ० ३५

१३ मलयगिरि

लघी०	आद्य० नि० मलयगिरिटीका
का० ३०	पृ० ३७० B
का० ५७	पृ० १७
का० ६३	पृ० ३६९ B
का० ६३	वचित्स्यात्कार पृ० ३६९ B
का० ७२	पृ० ३८१ B
	नदिस्मृतीका
का० ५७	पृ० ६६ B

१४ देवेन्द्रसूरि

लघी०	प्रथमकमप्रयटीका
का० ५७	पृ० ८

१५ यशोविजय

लघी०	जनतकभाषा
का० ७६	अप्रस्तुतार्थापाकरणात् पृ० २५
	शास्त्रवार्ताटीका
का० ४	पृ० ३१० B
	शुद्धत्वविनिश्चय
का० ३०	पृ० १६ B
का० ६३	पृ० १६ A



अविद्यापामिहितार्थे वक्तुरभि- [ 'यायसू० १।२।१२ ]	एक प्रतिषेधहतु [ 'यायसू० पृ० ३९ ]	१२०
३२१	एकद्रव्यमगण सयाम- [ वश० सू० १।१।१७ ]	२७९
अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिपिद्ध [ 'यायसू० ५।२।६ ]	एकधर्मोपपत्तेरविशेष [ 'यायसू० ५।१।२३ ]	३२७
३३१	एकसाधनप्रधीनत्वाद्गुपादे [ प्रमाणवा० १।१० ]	२३६
अग्नौ सवम [ ]	एकस्मिन्निप दृष्ट्यर्थे [ मी० श्लो० उपमान० ]	४६ ] ४०२
असंकरणादुपादानग्रहणात् [ साह्यका० ९ ]	४६ ] ४०२	
३५२	एकस्याथस्वभावस्य [ प्रमाणवा० ३।४२ ]	५२४
अस्ति ह्यालोचनाज्ञान प्रथम [ मी० श्लो० प्रत्यक्ष० ]	एकात्मसमवतान्तरज्ञानग्राह्य- [ ]	१८८
श्लो० ११२ ]	४७० ] ७७०	
७७०	एकादश जिने [ तत्स्थासू० ९।११ ]	८६२
अस्येदं कारण काय सयोगि [ वशे० सू० ९।२।३ ]	४६० ] ४६०	
४६०	एकादश जिने क्षुत्पिपासादय [ ]	८५४
अस्वनत्र बहिमन [ ]	४३१, ८३३	
आकाशमपि नित्य सद् [ मी० श्लो० शास्त्रनि० श्लो० ]	३०-३१ ] ७१५	
३०-३१ ] ७१५	एगो मे सससदो अप्या [ भावपाहु० गा० ५९, ]	८४५
आख्यानशब्द सघातो [ वाक्यप० २।१ ]	७३९	
आतप वटुको रूप [ राजनिघ० ]	६६९	
आत्मत्वाभिस्सम्बन्धादात्मा [ प्रश० भा० प० ]	६९ ] २१५	
२१५	एव धर्मोविना धर्मिणामेव [ प्रग० भा० पू० ]	१५ ] ३६४
आत्मनि सति परसज्ञा [ प्रमाणवा० १।१।१९ ]	८३९	
आत्मलाभे हि भावाना [ मी० श्लो० सू० २ श्लो० ]	४८ ] १९५ १९९	
१९५ १९९	एव प्राग्गतया वस्त्या [ मी० श्लो० शब्दनि० ]	श्लो० १९० ] ४५४
आत्मगरीरेऽद्रिपथद्विदिमन - [ 'यायसू० १।१।९ ]	३०९	
३०९	कञ्चित् काल स्थिर शब्द [ ]	७०१, ७१८
आत्मा मनसा युज्यते मन [ 'यायसू० पृ० ७४ ]	५६५	
आदौ ब्रह्मा मखतो ब्राह्मण ससज [ ]	७७०	
आनन्द ब्रह्म [ बृहदा० ३।९।२८ ]	८३८	
आनन्द ब्रह्मणो रूप तत्त्व [ ]	८३१, ८३७	
आराम तस्य पर्ययति [ बृहदा० ४।३।१४ ]	१४७	
आसयोगकेवलिनो जीवा [ ]	८५६	
आसगप्रलयादेका बुद्धि [ ]	१८९	
आहारा या निहारा [ ]	८५७	
आहुविधात प्रत्यक्ष [ ब्रह्मसि० तत्त्वादा श्लो० १ ]	१४९	
१४९	आमी यत्र य कश्चिन्नि- [ प्रमाणयातिकाल० प० ]	३० ] ५८४
इत्यो छटठीओ अहो [ ]	८७२	
इत्यमिथा स्वय भावा [ सम्बन्धप० (?) ]	३०९	
इन्द्रियार्थसमनन्तरप्रत्यय- [ ]	४७	
इन्द्रियायसि नवपौल्वन्मन- [ 'यायसू० १।१।४ ]	५२३	
इय त्वयव सर्वाथ [ तत्रवा० २।१।१ ]	५७९	
इश्वरज्ञानमिन्द्रियाथसि नवपज [ ]	६८४	
उत्क्षेपणमपक्षणमाकुञ्चन [ वगे० सू० १।१।७ ]	२७९	
उत्तररथाप्रतिपत्ति [ 'यायसू० ५।२।१८ ]	३३४	
उदाहरणसाधर्म्यत्साध्य- [ 'यायसू० १।१।३४ ]	३३४	
उदाहरणापक्षस्तथैत्युपसहारो [ 'यायसू० १।१।३८ ]	३३५	
३३५	उपात्तकमणा निहरण [ ]	८१२
उपात्तकमणा निहरण [ ]	८१२	
उपयोगाश्रयत्वेन गृहीते- [ प्रमाणवा० १।२।२९ ]	८८०	
उपलक्षसाधनानि [ 'यायभा० पू० १८ ]	२८	
उभयकारणोपपत्तेश्च- [ 'यायसू० ५।१।२५ ]	३२८	
उभयसाधर्म्यत्प्रतिज्ञा- [ 'यायसू० ५।१।२६ ]	३२७	
ऊर्ध्ववृत्तिनदेवत्वाद- [ मी० श्लो० गव्यनि० श्लो० ]	१८९ ] ४५३	
१८९ ] ४५३	एक प्रतिषेधहतु [ 'यायसू० पृ० ३९ ]	१२०
एकद्रव्यमगण सयाम- [ वश० सू० १।१।१७ ]	२७९	
एकधर्मोपपत्तेरविशेष [ 'यायसू० ५।१।२३ ]	३२७	
एकसाधनप्रधीनत्वाद्गुपादे [ प्रमाणवा० १।१० ]	२३६	
एकस्मिन्निप दृष्ट्यर्थे [ मी० श्लो० उपमान० ]	४६ ] ४०२	
४६ ] ४०२	एकस्याथस्वभावस्य [ प्रमाणवा० ३।४२ ]	५२४
एकात्मसमवतान्तरज्ञानग्राह्य- [ ]	१८८	
एकादश जिने [ तत्स्थासू० ९।११ ]	८६२	
एकादश जिने क्षुत्पिपासादय [ ]	८५४	
एगो मे सससदो अप्या [ भावपाहु० गा० ५९, ]	८४५	
८४५	एव धर्मोविना धर्मिणामेव [ प्रग० भा० पू० ]	१५ ] ३६४
३६४	एव प्राग्गतया वस्त्या [ मी० श्लो० शब्दनि० ]	श्लो० १९० ] ४५४
४५४	कञ्चित् काल स्थिर शब्द [ ]	७०१, ७१८
कञ्चित् काल स्थिर शब्द [ ]	७०१, ७१८	
कमक्षयाद्विमाक्ष [ ]	८४१	
कमप्यणू [ पाणिनि० ३।२।१ ]	७६० ७९६	
कल्पनापोडमघ्रातम [ 'यायसू० १।४ ]	५२३	
कस्यचित्तु यदीप्यत [ मीमांसाश्लो० सू० २ श्लो० ]	७६ ] १९६	
७६ ] १९६	कामोति ( भीमि ) [ जनेन्द्रव्या० १।३।३२ ]	६४१
कामोति ( भीमि ) [ जनेन्द्रव्या० १।३।३२ ]	६४१	
६४१	कामी यत्र य कश्चिन्नि- [ प्रमाणयातिकाल० प० ]	३० ] ५८४
५८४	कायव्यासङ्गात् कथा- [ 'यायसू० ५।२।१९ ]	३३४
३३४	कालात्ययापटिट [ 'यायसू० १।२।९ ]	३२०
३२०	कालादे स्वयमभवदात् [ ]	६४७
६४७	किं स्यान् सा चित्रतरुत्याम [ प्रमाणवा० ३।२।१० ]	१३०, ६१३
१३०, ६१३	क्रियाया प्रवतक वचनम [ गाबरभा० १।१।२ ]	५७८
५७८	क्रियावद गुणवत् समवायि- [ वशे० सू० १।१।१५ ]	२१४
२१४	क्रियावित्द्रव्यकारकम [ लघी० स्वय० वा० ७२ ]	४२
४२	क्लृणक्मविपाकाशयण- [ योगसू० १।२४ ]	१०९
१०९	क्षणिका हि सा [ गाबरभा० १।१।५ (?) ]	४२
४२	क्षीरे दधि भवेदवम [ मी० श्लो० अभाव० ]	श्लो० ५ ] ४६८
४६८	गगाद्वारे कुणावर्त्त [ ]	६३४
६३४	गत्वा गत्वा तु तान देगान् यवर्षो [ मी० श्लो० ]	७२५
७२५	गत्वा गत्वापि तान देगान् नारय [ 'यायसू० पू० ]	३८ ] ५१२
५१२	गन्ध पथिव्यामय [ ]	२३८
२३८	गयो पाणग्राह्य [ प्रग० भा० प० १०५ ]	२७३
२७३	गवयचाप्यमम्ब घात्र [ मी० श्लो० उप० श्लो० ]	४५ ] ४९२
४५ ] ४९२		



गवय गृह्यमाणञ्च न [ मी० श्लो० उप० श्लो० ४४ ] ४९२  
 गवयश्चरितानाया गोस्तज्जान- [ मी० श्लो० अर्था० श्लो० ४ ] ५०८  
 गार्हस्पत्यसि सुसत्त्वा [ स्त्री० श्लो० ३१ ] ८६९  
 गुणदर्शी परिनप्यन् ममति [ प्रमाणवा० ११२२० ] ८३९  
 गुणपयववदन्व्यम् [ तत्त्वापसू० ५१३८ ] ८०६  
 गुणभ्यो दोषाणामभाव [ मी० श्लो० सू० २ श्लो० ६५ ] १९८  
 गो लो ज्ञानसम्बन्ध [ मी० श्लो० गवयि० श्लो० २४४ ] ७०२  
 गद्गीत्वा वस्तुसद्भावम् [ मी० श्लो० अभा० श्लो० २७ ] ४६४, ७२४  
 चक्षु धीत्रमनसामप्राप्त्याय- [ ] ८३  
 विश्लक्तिपरिणामियप्रति- [ योगभा० पु० १५ ] ११४  
 चित्रप्रतिभासाप्यकत्र [ प्रमाणदातिकाल० लि० प० ३९५ ] १२६ ६१८  
 चनय स्वल्प पुरुषस्य [ योगभा० ११९ ] ६१४  
 चतन्यानिभिव्यक्तिघटा- [ ] ३४३  
 छम् हुं छिमां पृष्ठविस्तु [ पचस० ११९३(?) ] ८७७  
 जन्तुद्वयवर्जयोथा [ ] ३४२  
 जियदु य मरदु अ [ प्रवचनसार ३१३७ ] ८६९  
 ज्ञानसम्बन्ध संसर्ग- [ गवयभा० १११५ ] ४३  
 ज्ञानं (त) सम्यगसम्भवा [ यायसू० प० ४४७ ] ३३६  
 ज्ञापनीयत धर्मण [ यायभा० १११३३ ] ३१४  
 तत पर पुनवस्तु [ मी० श्लो० प्रत्य० श्लो० १२० ] ७७०  
 तत त्रिविध याचछम् [ यायसू० ११२११ ] ३२१  
 तत्र प्रयक्षता ज्ञाताद्वाद् [ मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३ ] ५०८  
 तत्र रूप चक्षुर्वाक्षम् [ प्रग० भा० पु० १०४ ] २७३  
 तत्रानुभवमात्रण [ प्रमाणवा० ३१३०२ ] १६६  
 नश्वं बोधयदयम [ मी० श्लो० गवयि० श्लो० १८६ ] ४५२  
 तत्र भावेन [ अर्थ० सू० ७१२१८ ] ३०३  
 तत्राव्यवसायसरभणाय [ यायसू० ४१२५० ] ३१९  
 तन्गुणरपकष्टानाम [ मी० श्लो० चोदना० श्लो० ६३ ] ७२३  
 तद्विषययान्तिरीतम् [ यायसू० १११५७ ] ३१४  
 तन्नाधिकरणाभ्युपगम- [ यायसू० १११२६ ] ३१२  
 तस्माच्च विपर्ययात् [ साक्षयका० १९ ] ८१३  
 तस्मात्तत्समागति- [ साक्षयका० २० ] ८१४ १९०  
 तस्मान्पा सदृशता [ तत्ति० ६१४७ (१) ] ७६१  
 तस्माच्चत्समर्थतस्तस्यानि [ मी० श्लो० उप० श्लो० ३७ ] ४९०  
 तथा च स्यादपूर्वोक्ति [ मी० श्लो० गवयि० श्लो० २४२ ] ७०२  
 तथा प्रजापति सोमम् [ ] ७२६

तथा भिन्नमभिन्नं या [ मी० श्लो० गवयि० श्लो० २७१ ] ७०२  
 तथा धर्मयोः [ न्यायसू० १११३५ ] ३१४  
 तथेवममलं ब्रह्म [ बृहवा० भा० वा० ३१५४४ ] १४१  
 तत्तद्विषयो भावा [ प्रमाणवा० ३१२५१ ] १२६  
 तन्नूपलपेत्तन्नूपलम्भा- [ न्यायसू० ५११२९ ] ३२८  
 तदास्तवसुसमज्ञम् [ ] ८४२  
 तन्ननुमानमापाम् [ प्रमाणवा० ३१२०९ ] १३२  
 तन्नेवं निदमाभावात् [ ] ७०  
 तत्रेव च स्यात् तत्र [ बृहस्पत्य० श्लो० ४२ ] ३६९  
 तथा गये भवन् पुराम् [ ] ५९७  
 सामवायावियनामया- [ मी० श्लो० अर्था० श्लो० ९ ] ५०८  
 तावत्वात् स्थिरश्चाम [ मी० श्लो० गवयि० श्लो० ३६६ ] ७१६  
 तजस्त्वाभिसम्बन्धात् [ प्रग० भा० प० ३८ ] २१४  
 तेन प्रवक्तव्यं वाचयम् [ मी० श्लो० चोदना० श्लो० ३ ] ५७५  
 तनाग्निहोत्रं जुहुयान् [ प्रमाणवा० ३१३१८ ] ५४८  
 तनाग्निहोत्रं जुहुयान् [ मी० श्लो० प्रत्य० श्लो० ७३७ ] ६९९  
 तेन्यद्वचनयम् [ ] ३४२  
 तो च भावो तन्मदश्च [ सम्बन्धप० (?) ] ३०६  
 नृतीत्यस्यानगत्रानो [ प्रमाणवा० ४१५१ ] ६८५  
 त्यनाश्रयकनामरूपं [ ] १३०  
 त्रिगुणमविशेषि विषय [ साक्षयका० ११ ] ३५३  
 त्रिपु पार्थिवु सत्त्वरी [ ] ३९९  
 त्रकाल्यानुत्पत्त [ यायसू० ५ १११८ ] ३२७  
 दगनस्य परापरवार्तित्य- [ मी० श्लो० अर्था० श्लो० ७ ] ५०८  
 दसनाग्निवाभ्या तु [ ] ७०  
 दादा परिभवकारा [ ] ८४६  
 द्विनावानुपलपो हि [ मी० श्लो० गवयि० श्लो० २५० ] ७०३  
 दुष्टमन्वगतं वित्तं [ जावाल० ४१५४ ] ६२४  
 शक्यं भाग- [ ] ६९  
 दुयत मचक्षती हि [ ] ३६९  
 दुयमानाद् यदन्यत्र [ ] ४९३  
 दुष्टत्वाक्ष विरोधोक्ति [ ] ३६९  
 दष्टान्तस्य कारणाजप- [ न्यायसू० ५१११९ ] ३२५  
 द्रव्याणि द्रव्यान्तरमा- [ अण० सू० ११११० ] २६८  
 द्रव्यात् स्वस्मादिभि- [ ] ३७०  
 द्रव्यान्व्यगुणवान [ अण० सू० ११११६ ] २७२  
 द्रष्टव्यो रेवमात्मा [ बृहवा० ४१५१६ ] ५९७  
 द्वयमस्वारपक्ष तु [ मी० श्लो० गवयि० श्लो० ८६ ] ७१४  
 द्वयारंकाभिसम्बन्धात् [ सम्बन्धप० ] ३०६  
 धर्मविकल्पनिष्ठे [ न्यायसू० ११११४ ] ३२२

धर्माऽधर्मो स्वाश्रयसयुक्ते	[	]	२४७
धर्मिणोऽनेक रूपत्वम्	[	]	३६८
धर्मिणो ह्यनलरूपत्वम्	[	]	३७१
धर्मो चोदनव प्रमाणम्	[	]	७३५
धियाऽजीलादिरूपत्वे	[ प्रमाणवा० ३।४३३ ]		१२४
धत्तूरकपुष्पवत् आदी	[	]	२७०
न च पर्यन्तगोऽत्र	[ मी० श्लो० गव्दिनि० श्लो० ४३ ]		७१४
न च स्याद्दधवहारो यम	[ मी० श्लो० अभा० श्लो० ]		४६७
न चापि स्मरणात् पश्चादि-	[ मी० श्लो० प्रत्य० ]		६९९
न चाप्यदष्टिमात्रण	[	]	७०
न चावस्तुन एते स्यु	[ मी० श्लो० अभा० श्लो० ]		४६७
न चतस्यानुमानत्व	[ मी० श्लो० उपमान० श्लो० ]		४३ ] ४९१
न तस्य किञ्चिद भवति न भवत्येव	[ प्रमाणवा० ]		१२८१ ] ३८८
न तावदिन्द्रियणेषा	[ मी० श्लो० अभाव० श्लो० ]		१८ ] ४६३
न द्रव्यादि स्वत सन	[	]	६१०
न नर सिंहरूपत्वात्	[	]	३६९
नन्वस्त्यव गह्वरवर्तिन	[ मायम० प० ३८ ]		५११
न प्रवृत्तिनविद्युति पुरुष	[ सांख्यका० ३ ]		६२७, ८६६
न प्रत्यक्षीकृता याव-	[	]	६९
न नरो नर एवेति	[	]	३६९
नरान् दृष्ट्वा त्वसवगान	[	]	९४
न विवत्पानुविद्वस्य	[ प्रमाणवा० २।२८३ ]		२२५
न मोर्ध्मि प्रत्ययो	[ वाक्यप० १।१२४ ]		१४५
न स्वनो नापि परत	[ माध्यमिकका० प्रत्यय० का० ]		१ ] १३२
न ह व सगरीरस्य प्रिया-	[ छांदो० ८।१२।१ ]		८२५ ८३०, ८३७
न हि स्यात् सर्वाभूतानि	[ कूमपु० अ० १५ प० ]		५५३ ] २३४
न हि रमरन्ततो यत्प्राण	[ मी० श्लो० प्रत्यय० श्लो० ]		२३४ ] ६९९
न ह्यर्थे द्रव्या सन्ति	[	]	५३४
नाकारण विषय	[	]	६५८
नात्रमात्रमिणा	[ प्रमाणवा० १।४५ ]		६२० ८५१
नागृहीतविशेषणा	[	]	२८६
नाज्ञात ज्ञापकं नाम	[	]	५४१
नाननुकृता व्यत्ययविरिक	[	]	६६०
नाभुक्ता शीयतं कम्	[	]	८२४
नायोरुभाष्यो	[ प्रमाणवा० ३।३२७ ]		१३३ ६८४
नार्थं वस्तु न चावस्तु	[ तत्त्वाध० श्लो० प० ११८ ]		३६४

नात्नाहितवीजाया-	[ वाक्यप० १।८५ ]		७४९, ७५४
नाऽभावा विद्यते सन	[ भगवद्गी० २।१६ ]		३५८
नास्तिना पयसा दग्नि	[ मी० श्लो० अभाव० श्लो० ]		३ ] १६७
निग्रहप्राप्तस्यानिग्रह	[ यायसू० ५।२।२१ ]		३३४
नित्यद्रव्यवत्तयोऽत्या	[ प्रश० भा० प० १३ ]		२९२
निःशमनित्यभावादनित्य	[ यायसू० ५।१।३५ ]		३२९
नित्या शब्दायमन्वया	[ वाक्यप० १।२३ ]		५५०
नियमश्चानुमानात्	[	]	७०
निष्पणानुस्मरणविकल्प-	[ अभिध० १।३३ ]		३९५
निदिष्टकारणाभावेऽप्यु-	[ यायसू० ५।१।२७ ]		३२८
निर्वाणऽपि पर प्राप्त	[	]	५
निष्फलत्वन शक्य	[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ]		२३९ ] ७०२
नीलमुत्पान्निविचित्रप्रतिभासाप्यकव	[ प्रमाणवाति ]		काल० ] १३०
नीलादिश्चित्रविज्ञानज्ञानो-	[ प्रमाणवा० ३।२२० ]		१२०
नेह नानास्ति किञ्चन	[ बहदा० ४।४।१९, कठोप० ]		४।११ ] १४७
नो कल्पह निगमयीष	[ कल्पसू० ५।२० ]		१६८
नसंगिक वनयिकञ्चा-	[ यायभा० १।१।२५ ]		३१२
नोक्मकम्महारो	[ भावसू० गा० ११० ]		८५६
पक्षप्रतिपेधे प्रतिनाया-	[ यासू० ५।२।५ ]		३३१
पन्माद्य पदञ्चान्य	[ वाक्यप० २।२ ]		७३९
पन्मयपूर्वस्तस्मात्	[ मी० श्लो० वाक्या० श्लो० ]		३३६ ] ७४३
पदार्थाना तु मूलत्वमिष्ट	[ मी० श्लो० वाक्या० ]		श्लो० १११ ] ७४३
परमार्थैकतानत्वे	[ प्रमाणवा० ३।२०६ ]		५५४
परलोकिनोऽभावात्परलोका-	[	]	३४३
परस्परविषयगमना व्यतिक्तर	[	]	३६०
परस्परविनाभूत द्वय-	[ प्रमाणवातिकाल० प० ३० ]		५८६
परापेक्षा हि सम्बन्ध	[ सम्बन्धप० ]		३०६, ३०९
परिपत्प्रतिवादिग्या	[ यायसू० ५।२।९ ]		३३२
पारतन्त्र्य हि सम्बन्ध	[ सम्बन्धप० ]		३०५
पीनी दिवा न भुङ्क्ते	[ मी० श्लो० जर्था० श्लो० ]		५१ ] ५०८
पुत्रेद वेन्ता ज पुरिसा	[ प्रा० सिद्धन्त० गा० ६ ]		८७८
पूर्ववैत्वाभिसम्बन्धान	[ प्र० भा० प० २० ]		२१४
पथिव्यस्तजोवायुरिति नत्वानि	[	]	३४१
पथिव्यस्तजोवायुना घाण-	[	]	१५६
पूर्वापर्यायोनाप्रतिसम्भ-	[ यायसू० ५।२।१० ]		३३२
प्रकृतार्थप्रतिमम्ब-	[ यायसू० ५।२।७ ]		३३२
प्रवृत्तिपरिणाम गृह्यतृणञ्च	[	]	८१२
प्रवृत्तमहान ततोऽदृक्कार	[ साहयका० २२ ]		१८९

प्रतिज्ञासाथप्रतिषेध [यायसू० ५१२३] ३३०	प्ररणा हि विना काय [प्रमाणवातिकाल० पृ० ३०] ५८४
प्रतिज्ञाहानि प्रतिज्ञान्तर [यायसू० ५१२१] ३३०	प्ररणव नियोगोऽत्र [प्रमाणवातिकाल० पृ० २९] ५८३
प्रतिज्ञाहेतून्हरणोपनयनिगमना- [यायसू० १११३२] ३१४	प्रयते पुरुषो नर [प्रमाणवातिकाल० पृ० ३०] ५८३
प्रतिज्ञाहेतुविरोध [यायसू० ५१२४] ३३१	वद्वृत्त्वोऽपि वरवात्मा [ ७०
प्रतिवृष्टात्तथर्मानुना [यायसू० ५१२२] ३३०	वाधनात्प्रण दुश्चम [न्यायसू० १११२९] ३१०
प्रतिनिवर्तनेना वृत्तिरभि- [ ४१	बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वयप्रयत्न- [ १७३
प्रतिमत्तरत्नचव श्रुति- [मत्स्यपु० १४५१५८] ७२६	बुद्धयश्चासतमय [ १९०
प्रत्यक्षमनुमानञ्च गान्धर्वो- [घट्ट० समु० श्लो० ७२ (?) ] ५०५	ब्राह्मणन यष्टय [ ७७०
प्रत्यक्ष कल्पनापोमभन्त- [न्यायवि० पृ० ११] ४६	भवन्नप्यविनाभाव [ ६९
प्रत्यक्ष कल्पनापो प्रत्यक्षणव [प्रमाणवा० २१२२३] ५२५	भातो वास्तपुस्कं पुवत [जनेन्द्रया० ५११५३] ६०४
प्रत्यक्षमेव प्रमाणमणोत्वानि [ ७०	भावाभावयोस्तद्वत्ता [यायवा० पृ० ६] २९
प्रत्यक्षान्तरुत्पत्ति प्रमाणा- [मी० श्लो० अभाव० श्लो० ११] ४६४	भावा यन निरूप्यते [प्रमाणवा० ३१३६०] १३२
प्रत्यक्षानुमानोपमानाणा [यायसू० १११३३] ३०९	भिक्षयोऽहमपि मायायम [ ६८३
प्रत्यक्षण हि प्रतिपन्न प्रतिपद्ये [ ५१४	भिक्षकाल कथं याह- [प्रमाणवा० ३१२४७] १६५
प्रत्यक्षणावबुद्धिपि साक्ष्ये [मी० श्लो० उपमान० श्लो० ३८] ४९०	भिक्षविशेषण मुख्यमभिक्ष- [ ३९९
प्रत्यक्षपि यथा दत्त [मी० श्लो० उपमान० श्लो० ३९] ४९०	भिक्ष चकत्वनित्यत्वे [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २७२] ७०३
प्रत्यक्षार्थो नियोगश्च [प्रमाणवातिकाल० पृ० २९] ५८३	भिक्षध्वमिन्ना नित्या [ ७७९
प्रत्यक्षरूपपरिग्रहणा- [वाक्यप० ११८४] ७४९	भूताद्यभावनाप्रकृपणयत्न [यायवि० पृ० २०] ४७
प्रभक्तभोगत प्रणव्यप- [संज्ञापसू० ७११३] ८६८	भूयोऽनन्यस्यापि न [ ७०
प्रभाजनक प्रमाणम [ २८	भूयोऽपि च धूमो [ ७०
प्रमाणतत्कक्षाधनोपालम्भ [यायसू० ११२१] ३१६	भूयोऽप्यवसामान्ययोगो [यायम० पृ० १४६] ४९१
प्रमाणतय रधिगम [तत्त्वायसू० ११६] ६५१	भूयोऽपि परिमाणत् [साक्ष्यका० १५] ३५०, ३५४
प्रमाणपञ्चक यथ [मी० श्लो० अभाव० श्लो० १] ४६६ ७२५	मणिवत्साचकवद्वोपाधि- [प्रण० भा० पृ० ६४ (?) ] २५२
प्रमाणप्रमेयसंगमप्रयोजन- [यायसू० ११११] ३०९	मनिपुत्र श्रुतम [तत्त्वायसू० १२०] ४०५
प्रमाणप्रविसर्गाज्ञान- [प्रमाणवा० ११३] ६३३	मदगतिवर्तिज्ञानम [ ३४२] ३४८
प्रमाणपञ्चकविनाता [मी० श्लो० अर्थो० श्लो० १] ५०५	मध्यमा प्रतिपत्सव [ १३१
प्रमाणमावनिर्णयिचक्षा- [मी० श्लो० अर्थो० श्लो० ८] ५०८	मनस्त्वाभिसम्बन्धात्मन [प्रण० भा० पृ० ८६] २१५
प्रयत्नकार्यनिकरवात [यायसू० ५११३७] ३२९	मन्वास्तुपन्तुताक्षणा [प्रमाणवा० ३१३५५] १३३
प्रयत्नानन्तर भान [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३१ ३२] ७१५	मन्त्र कायमित्यव नात [प्रमाणवातिकाल० पृ० ३०] ५८३
प्रयत्नत कारणाभावा- [यायसू० ५१११२] ३२६	मन्त्र भोग्यमित्यव [प्रमाणवातिकाल० पृ० ३०] ५८४
प्राम्भगो य मुराष्टाणा [यायम० पृ० १४१ (?) ] २५९	मन्त्रव्यनकद्रवत्वाद्रूप- [वण सू० ४११६] ३०
प्रान्तिपुत्रिकाप्रान्तिविभाग [प्रण० भा० पृ० १५१] २७७	मानुषा प्रवृत्तिमभ्यनति- [बहत्त्व० श्लो० ७५] ८५७
प्रामाण्यं व्यवहारेण [प्रमाणवा० २१५] ४८ १६७	मिथ्याध्वारोपहानाय [प्रमाणवा० १११९४] ८४०, ८४५
प्रामाण्यं व्यवहारेण [प्रमाणवा० २१५] ४८ १६७	मिथ्योत्तर जानि [यायवि० का० ३७१] ३३९
प्रामाण्यं व्यवहारेण [प्रमाणवा० २१५] ४८ १६७	मुखे हि गान् उपलभ्यते [शाबरभा० १११५] ५३५
प्रामाण्यं व्यवहारेण [प्रमाणवा० २१५] ४८ १६७	मूत्रप्रवृत्तिरविद्वृत्ति- [साक्ष्यका० ३] ३५६
प्रामाण्यं व्यवहारेण [प्रमाणवा० २१५] ४८ १६७	मत्स्य जीवतो द्वरे [यायम० पृ० ४३] ५१६

मृदङ्गकमूत्रादि घटो [ ] १९६  
 य पश्यत्यात्मान [प्रमाणवा० ११२१९] ८३८  
 य पूर्वावगतोऽप्यौत्र [मी० श्लो० प्रत्यय० श्लो० २३३] ६९८  
 य एव लौकिका शब्दा [शाबरभा० ११३१३०] ५९३, ७२०  
 यथाय पञ्च सष्टा [मनु० ५१३९] ६३४  
 यत्र तदात्ति गु [जनेन्द्रव्या० ११२११४] ७६६  
 यत्नानुमितोऽप्यथ [वाक्यप० ११३४] ६८  
 यत्रव जनयदेना तत्रवास्य [ ] २७, ६६, २०६  
 यत्तिद्वौ वयप्रकरण- [यायसू० १११३०] ३१३  
 यथा घटादेर्दोषादिरभि- [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ४२] ७१४  
 यथानुवाक श्लोका वा [वाक्यप० ११८३] ७४९, ७५५  
 यथा माया यथा स्वप्नो [माध्यमिक० सस्कृतप० का० ३४] १३२  
 यथा विशुद्धमाकाशम् [बृहदा० भा० वा० ३।५।४३] १४१  
 यथैव प्रथमं ज्ञानम् [ ] १९६  
 यथैवाऽऽहारकालादे [प्रमाणत्रा० ३।३।६९] १६६  
 यथोक्तोपपन्न छलजानि- [यायसू० ११२।२] ३१८, ३३८  
 यत् मन उपलब्धिलक्षण- [ ] ४८४  
 यत्ना दृष्टवा पर ब्रह्म [ ] ८३१  
 यन्त्रैवापक्रियाकारि [ ] ३८२, ३९६  
 यद्वाऽनुवृत्तित्वावृत्ति- [मी० श्लो० अभाव० श्लो० ६] ४६७  
 यद्विज्ञान स्वविषये [ ] ६७३  
 यमयमधिकृत्य प्रवर्तते [यायसू० १११२४] ३१२  
 यस्मात् प्रकरणचिन्ता [यायसू० ११२।२७] ३१९  
 यस्य गुणस्य हि भावात् [पात० महाभा० ५।११।१९] २७५  
 युगपज्ज्ञानाऽनुत्पत्तिमन- [यायसू० ११११६] १८५  
 युज्यते नाशपक्षे च [मी० श्लो० अभाव० श्लो० २४१] ७०२  
 ये तु प्रत्यक्षतो विद्वन् [ ] ६९  
 यो घमशील [ ] ७२९  
 यो ब्रह्माण विन्धाति [द्वयतादव० ६।१८] ७२६  
 रसो रसनेन्द्रियग्राह्य [प्रग० भा० पु० १०५] २७३  
 रूपरसगन्धस्पर्शान्वत [तत्त्वायसू० ५।२३] ७८७  
 रूपरसगन्धस्पर्शा सख्या [गो० सू० ११।१६] २७३  
 रूपरूपेण हि सम्बन्ध [सम्बन्धपरी०(?) ] ३०६  
 रूपान्मयी मूर्ति [ ] ७८७  
 लक्षणहेत्वो त्रियाया [जनेन्द्रव्या० ११२।१०४] ४४-  
 लिङ्गोऽतत्त्वप्रत्यय- [ ] ५८२  
 लोयायामपदेश [द्रव्यस० गा० २२, जीवकी० गा० ५८८ (?) ]

लौकिकपरीक्षणाणाम [यायसू० १११।२५] ३१२  
 वचनविधातोऽप्यविकल्प- [यायसू० ११२।१०] ३२१  
 वटे वटे यत्रवण [ ] ७२८, ७३३  
 वर वन्द्याने रम्ये [ ] ८२८  
 वणक्रमनिर्देवत [यायसू० ५।२।८] ३३२  
 वस्तुत्वा द्विविधस्याय [मी० श्लो० सू० २ श्लो० ७४] १९९  
 वस्त्वस्वरसिद्धिदच [मी० श्लो० अभाव० श्लो० २] ४६७  
 बाभूपता चेदुत्तनामेद [वाक्यप० ११२।५] १४०  
 बायुत्वाभिसम्बन्धघात [प्रश० भा० पु० ४४] २१४  
 विजलायोगेन गन्दा [ ] ५३७  
 गिक्हा तथा वसाया [पचस० १।१५] ८७४  
 विजातीयानामनारम्भ- [ ] २६८  
 विज्ञातस्य परिपदा [यायसू० ५।२।१६] ३३३  
 विधलक्षणभेदात्प्रवृत्त- [ ] ५७३,  
 विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्तिप्रकारस्य [ ] ३३९  
 विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च [यायसू० ११२।१९] ३२९  
 विमदय यदाप्रतिपक्षाम्या- [यायसू० ११।४।१] ३१६  
 विनिष्टसाधनाव्यवच्छिन्न- [विधिवि० प० २४६] ५९६  
 विनापऽनुगमाऽभावात् [ ] ६९  
 विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् [ ] ५६७  
 वेदाध्ययन सर्वे [मी० श्लो० वाक्याधि० श्लो० ३६६] ७२२  
 व्यक्तिनित्यत्वमापन्न [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २७३] ७०३  
 व्यावृत्त्योल्लङ्घलिकृत्वम् [यायसू० ५।१।७] ४४८  
 शक्तिं करणं वायम् [ ] ३५०  
 शब्दवद्वाभिधयानि [मी० श्लो० सम्बन्ध० १४०] ५४५  
 शब्दब्रह्मणि निष्णात [ब्रह्मविद्वेष० २२] १३९  
 शब्दायया पुनवचन [यायसू० ५।२।१४] ३३३  
 गन्दे दोषोऽभवस्तावद् [मी० श्लो० चोचना० श्लो० ६३] ७२३  
 शब्दे वाचवसामर्थ्यम् [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २३८] ७०२  
 गन्दे वाचवसामर्थ्यात् [मा० श्लो० अर्था० श्लो० ५] ५०८  
 शब्दोत्पत्तिनिषिद्धत्वात् [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २२६] ७११  
 शिरशोऽत्रयया गिम्ना [मी० श्लो० अभाव० श्लो० ४] ४६८  
 श्रुतमविसृष्टतत्कणम् [तत्त्वायसू० ५।० २३७] ४०४  
 श्रुयन्ते हि अनन्ता [तत्त्वायसू० ५।० २७] ८९८  
 श्वेतमजमालम् [ ] ७६३

पट्टेव यमिण	[	]	३६४	साध्यदुष्टान्तयो धम-	[	यायसू० ५११४	]	३२४
पण्णामनत्तराज्जीनम	[	अभिष० १११७	]	साध्यनिर्णय प्रतिपा	[	यायसू० १११३०	]	३१४
पण्णामाश्रितत्वम	[	प्र० भा० प० १६	]	साध्यरूपनया यन ममेति	[	प्रमाणवातिकाल० पृ०	३०	५८४
सजोगमलं जीवेन	[	मूलाधार० २१४९	]	३०				
सयोगादिभागात् गच्छन्	[	च० सू० २१२३१	]	साध्यसाधर्म्यात्तद्वमभावी	[	यायसू० १११३६	]	३१४
सवानस्याय पूर्वण	[		]					
सत्यपि आनन्त्य	[	यायम० पृ० ६२२	]	साध्याविसिष्ट	[	यायसू० ११२१८	]	३२०
सत्सम्प्रयोग	[	जेमिनिसू० १११४	]	समानानकधर्मोपपत्ते-	[	यायसू० १११२३	]	३१०
सदुत्तरात्प्रतीति-	[	मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २४८	]	सामा यदुष्टान्तपोरद्वय-	[	स्यायसू० ५१११४	]	३२६
			७०३	सामा यद्धारकोऽप्यस्ति	[		]	७०
सधन ब्राह्मण हयात्	[		]	सामा यवच्च सादुपमेकवच	[	मी० श्लो० उपमान०		
स धर्माऽभ्युपगत्तव्यो	[	मी० श्लो० गदनि० श्लो०	२४०	]				४९३
			७०२	सारणवारणपरिचोषणाद्	[		]	८७६
सक्षिप्य अर्थोपलभ-	[		]	साहचर्ये च सम्बन्ध	[		]	६९
स प्रतिपसस्थापना-	[	यायसू० ११२३	]	सिद्धमेक यतो ब्रह्म	[	प्रमाणवातिकाल० पृ०	३०	५८४
समय प्रतिमत्य वा	[	मी० श्लो० सम्बन्ध० श्लो०	१३	सिद्धरूपं हि यद्भोग्य	[	प्रमाणवातिकाल० पृ०	३०	५८४
			५५३					
समानतत्रपसिद्ध	[	यायसू० १११२९	]	सिद्धान्तमभ्युपत्य अनिय-	[	यायसू० ५१२२३	]	३३५
सम्बद्ध वनमानञ्च गृह्यते	[	मी० श्लो० सू० ४ श्लो०	८४	सिद्धान्तमभ्युपत्य तद्वि-	[	यायसू० ११२१६	]	३१९
			५३	सिद्धि स्वात्मोपलब्धि	[	स० सिद्धम० श्लो० १	]	४
सम्बन्धज्ञानसिद्धिश्चेद	[	मी० श्लो० शब्दनि० श्लो०	२४३	मुखमाह्लादनाकारम्	[		]	१२९
			७०२	सुविवेचित काय कारण	[		]	६०४
सम्बन्धस्त्रिप्रमाणक	[	मी० श्लो० पृ० ६८०	]	स्थिरयाव्यवनीया च	[	मी० श्लो० गदनि० श्लो०	६२	७११
सम्भवतोऽप्यतिप्रामाण्य-	[	यायसू० ११२१३	]					
			३२२	सप्त त्वगिन्द्रियशाह्य	[	प्र० भा० प० १०६	]	२७३
सम्यग्ज्ञानानुपपत्तिराणि	[	तस्यायसू० १११	]	स्याच्छब्दस्य हि सत्कारा-	[	मी० श्लो० गदनि०		
सरगा अपि वीतरागवञ्छेष्टन्ते	[		]	श्लो० ५२	]		७११	
सर्व सात्त्विकं ब्रह्म	[	छा० योग्यो० ३१४११	]	स्वत सर्वप्रमाणाना	[	मी० श्लो० सू० २ श्लो०		
सर्व सालम्बनं पानम	[		]					४७
सर्वचित्तचतानामात्म-	[	यायवि० पृ० १९	]	स्वपने दोषाभ्युपगमात्	[	यायसू० ५१२२०	]	३३४
सर्वतत्रप्रतिपत्त-	[	यायम० १११२७	]	स्वपरावभासमेक ज्ञान	[		]	१८७
सर्वतत्राऽविहृद तत्र	[	यायसू० १११२८	]	स्वविषयानन्तरविषय-	[	यायवि० पृ० २०	]	४७
सर्वस्योभयरूपत्वे	[	प्रमाणवा० ३११८१	]	स्वाभिधयाविनाभूत-	[	तत्रवा० १४२३	]	५६८
सर्वेषां यगपत्प्राप्ति सड कर	[		]	स्वाभित्वेनाभिमानो हि	[	प्रमाणवातिकाल० पृ०	३०	५८४
सर्विनकविचार हि	[	अभिष० ११३२	]					
सर्व्यभिचारविहृद-	[	यायसू० ११२४	]	हिरण्यगम प्रकृत्य	[		]	८७
स हि हृदं वैश्वकर्त्तरम्	[		]	हिरण्यगम सवश	[		]	९५
साधर्म्यवधर्म्याभ्यां प्रत्यव-	[	यायसू० ११२१८	]	हीनमयनमेनापि	[	यायसू० ५१२१२	]	३३३, ४३६
			३२२	हेतुमन्तित्यमव्यापि	[	साध्यका० १०	]	३५३
साधर्म्यवधर्म्याभ्यामुपमहारे	[	स्यायसू० ५११२	]	हेतुमन्तहरणाधिव-	[	यायसू० ५१२१३	]	३३३
			३२३	हृतीस्त्रिज्वलि रूपपु	[	प्रमाणवा० ३११४	]	४३९
साधर्म्यवधर्म्योन्मर्षावकप-	[	यायसू० ५१११	]	हृत्वाप्यज्ञान प्रतिज्ञाया	[	यायसू० १११३९	]	३१५
साधर्म्यात्तत्त्वधर्मा-	[	स्यायसू० ५११३२	]	हेत्वाभासाश्च यथोक्ता	[	यायसू० ५१२२४	]	३३५
साधुभिर्मापितव्य	[		]					
साध्यत्व हेतुव्यापार	[		]					



प्रयो वेदा	७२६।४	भास्करनिन्	८८१।१२, १८
त्रिसंघानां	७३७।४	मनु	७२२।१
दिडनागादि	६६।१८, १९	मन्वादि	३५२।९, ७३६।१, १३
दवनन्दिन	८८१।७, ८	माणिक्यनिदिनु	१।७
धमकीर्यां	६०२।५	वातिककार	१९८।१३, ३१०।८
यामभाष्य	१५६।३	वद्वनयायिक	४९७।९, ५००।१४
पत्नयप्रवृत्तवप्रथ	३६४।५	कन्तिहासपुराण	७७०।२
पद्मनन्दिप्रभु	८८०।१४	कचकतन	२७५।१९
परमानन्दनन्दि	८८१।१०	कचकगाएष	६६९।३
पीराणिक	७२६।६	शिक्षाकार मीमांसक	२७९।११
प्रणाकरूपत	६१९।९	सूत्र	२७२।२०, २७३।४ ३०९।१६, ३१४।१, ३१९।३, ७, ३१८।४, ३१९।४, ३२१।३, ३२२।१२, ३२२।१२, ५५०।१९, १६०।३
प्रभाकर ४२।१५, ५२।१३, ५०५।१२, ५८७।१३		सूत्रकार	३१०।८, ३१२।९, ३१९।९, ३२३।४, ३३०।५, ८०६।३, ४, ८
प्रमाचन्द्र	८८०।१६, १८	सूत्रकारभाष्यकारवातिककाराणि	७६१।१६
प्रमदु	१।५	सूरि	६६३।१३, ७९५।४
प्रमेयकमलमातण्ड	३३९।६, ३४०।१	सौख्यनन्दिनु	८८१।४
बृहस्पत्यादि	८७२।१०	स्मृतिपुराणादि	७२६।१०
भट्ट	७२४।१९	स्वनाध्याय	१३५।१४
भारतां	७२२।११, ७२९।१४ ७३१।१४ ७३२।३, ७३३।१२		
भाष्य	५५०।१९		
भाष्यकार	२८।९, ३११।९, ३३९।१४ ३४०।१		

### § ६ न्यायकुमुदचन्द्रान्तर्गतानां लाक्षणिकशब्दानां सूचिः ।

ग्रासणिकशब्दा	५०	५०	जपाधिक	३३२	१२
अज्ञान	३३४	३	अप्रतिपत्ति	३२९	१४
अज्ञाननिवृत्ति	२०९	१६	अप्रतिभा	३३४	६
अणिमा	११०	१२	अप्रतिसम्बन्धिनिरोध	३९२	३
अधिक	३३३	८	अप्राप्तकाल	३३३	३
अधिकरण	८०२	१९	अप्राप्तिसम	३२५	१३
अधिकरणसिद्धान्त	३३३	४	अप्रामाण्य	१९८	७४
अध्यवसाय	६७८	८	अभ्यनुज्ञा	५८८	८
अध्ययण	५८८	७	अभ्युपगमसिद्धान्त	३१३	७
अनुभाषण	३३३	१७	अमूर्तत्व	६८९	१५
अनुत्पत्तिसम	३२६	९	अर्थांतर	३३२	१
अनुपलविसम	३२८	८	अर्थापत्ति	५०५	५
अनुमान	५१८	९	अर्थापत्तिसम	३२७	१०
अनुमानान	८२५	५	अल्पबहुत्व	८०३	४
अनित्यसम	३२८	१५	अवयव	३१३	११
अनकान्तिक	३१९	११	अवर्ण्य	३२४	१९
अनीयव्ययिकी	८१२	१०	अव्ययसमा	३२५	२
अन्तर	८०३	३	अविज्ञप्ति	३९१	६
अपक्षयसमा	३२४	१६	अविज्ञाताय	३३२	८
अपक्षयण	२८०	३	अविद्या	३९३	१०
अपक्षय	३१०	६	अविशयसम	३२७	१३
अपसिद्धान्त	३३५	५	अविस्वादा	४१०	५

असत्त्व	१३७	३	दुःख	३१०	४
असमवायिकारण	२१७	१८	दृष्टान्त	३१२	४
अहेतुसम	३२७	५	दोष	३१०	२
आवाश (बौद्ध)	३९१	९	द्रव्य	११७।५, २१४।३	
आहुञ्चन	२८०	६, ६	नामरूप	३९१	५
आगमद्रव्य	८०६	१२	निक्षप	८०४	११
आगमभाव	८०७	९	निगमन	३१५	७
आमा	३०९	२३	निग्रहस्थान	३२९	१२
इन्द्रिय	३०९	२४	नित्यसम	३२९	१
ईशित्व	१११	२	निमित्तकारण	२१८	१
उत्कृष्टसमा	३२४	१२	निरनुयोज्यानुयोग	३३५	३
उत्सोपेण	२७९	२२	निरर्थक	३३२	३
उदाहरण	३१४	८	निर्जरा	८१२	८
उद्देश	२१	८	निणय	३१६	३
उपचारछल	३२२	७	निर्देश	८०२	१७
उपनय	३१५	३	निश्चय	७८४	४
उपपत्तिसम	३२८	१	नगमनय	६२३	१३
उपमान	४८९	१७	नैगमाभास	६२३	२३
उपलब्धिसम	३२८	४	नोआगमभाव	८०७	१०
उपात्तान	३९२	६	यून	३३३	६
एकदेश	२२४	८	पक्ष	६७।१७, ४३।२, ४	
औपत्रमिकी	८१२	९	पक्षप्रतिपक्ष	३१७	१
करणत्व	३६	१०	पदस्फोट	७५४	१४
वर्तुता	३६	९	परिचोष	३०१	१६
कर्म	२८१	९	परीक्षा	२१	१०
कर्मत्व	३६	१०	पयनुयोज्योपेक्षण	३३४	१६
कायसम	३२९	७	पर्याप्ति	८५२	६
वाल	८०३	३	पर्याय	११७	६
पालात्ययापदिष्ट	३२०	११	पारतन्त्र्य	३०६।२१, २३	
धुरन्ध	२२४	८	पुनश्चक्र	३३३	१०
दोष	८०३	२	प्रवरण	३२०	१
गद्य	२७३	७	प्रवरणसम	३१९।१६, ३२७।१	
गमन	२८०	७	प्रतिग्रमण	८६४	२१
धारणलब्धि	८७२	११	प्रतिज्ञा	३१४	२
चेतन	४८	२०	प्रतिनान्तर	३३०	१३
छल	३२१	१	प्रतिज्ञाविरोध	३३१	६
जडत्व	११९	११	प्रतिज्ञासंयास	३३१	९
जन्म	३४८	१	प्रतिज्ञाहानि	३३०	७
जराभरण	३९२	८	प्रतिज्ञासिद्धात	३१३	२
जल्प	३१८	४	प्रतिनदृष्टान्तसम	३२६	३
जाप्रदवरथा	८४९	७	प्रतिबन्ध	८३५	९
जाति	३२२।१२, ३९२।७		प्रतिबन्धक	८३५	१
जीवन्मुक्ति	८६५	८	प्रतिज्ञा	५९६	५, ८
गान	७८९	१५	प्रतिज्ञाविरोध	३९२	३
सर्प	३१५।९	४१।१४	प्रत्यक्ष	२४	१
सादारम्य	३६४	२०	प्रत्यभिज्ञा	४११	११
सृष्ट्या	३९२	६	प्रत्यवमर्श	४११	७
सौम्य	८५२	६	प्रमाण	३०९	१९
दक्षिणबन्ध	११०	२	प्रमेय	३०९	२१
दीर्घमायु	८५२	७	प्रयोजन	३१२	१



प्रवृत्ति	३१०	२	विप्रतिपत्ति	३२९	१३
प्रसङ्गसम	३२६	१	विभाग	२१	११
प्रसारण	२८०	७	विरुद्ध	३१९	१३
प्राकाम्य	१११	१	विशेष	२९२	३
प्राकृतबन्ध	११०	१	विसंवा	६३५	१३
प्राप्ति	१११	१	वे (लिङ्ग)	८७८	८
प्राप्तिसम	३२५	१२	वेदना	३९२	६
प्रेत्यभाव	३१०	३	वेद्य	८५२	६
प्रयणा	५८८	७	वकारिव	११०	२
फल	३१०	४	वधम्यसम	३२४	१
बुद्धि	३०९	२४	व्यतिकर	३६०	१५
भव	३९२	७	व्यभिचार	३१९	१०
भाव	८०३	४	व्याप्ति	४१८१४, ४२२१९	
भाववाक्य	७४२	२	दारीर	३०९	२४
भाविजीव	८०७	२	श्रुत	४०४	४
भाविनोआगम	८०७	३	सख्या	८०३	३
भूत	३९१	९	संग्रह	७९०	५
भतानुज्ञा	३३४	१२	सग्रहन य	६१०१५, ६२१११	
भन	३१०११, १३९५	९	सग्रहाभास	६२११५, ७९०१८	
महिमा	११०	१३	सयम	८७३	१३
मुक्ति	८३९	७	सवर	८१२	७
मुख्यप्रत्यक्ष	२५	४	सव्यवहार	५२	२
मृतत्व	७८७	२३	सव्यवहार प्रत्यक्ष	२५	५
यशकामावसायिता	१११	३	ससय	५२१६, ३१०१७	
योग्यता	३११८, १८४१६, ५३८१३		ससयसम	३२६	१४
रस	२७३	६	ससार	८२९	३
रूप	२७३	६	संस्वार	३९१	३
रूपश्लेष	३०७	२१	सङ्कर	३६०	१२
रूपस्वध	३९१	५	सङ्कृत	५३९	३
लक्षण	२१	८	सत्	८०२	२४
लक्षणा	५६८	३	सत्व	३६४	१
लघिमा	११०	१३	समवाय	२१५१९, २९४१८	
लज्जा	८७४	२१	समवायिकारण	२१७	१७
वण्य	३२४	१९	समारोप	५२४	३
वण्यसमा	३२५	१	साम्यकचारित्र	८६५	१७
वणित्व	१११	२	साम्यकज्ञान	८६५	१७
वाक छल	३२१	६	साम्यगदगन	८६५	१६
वाक्य	७३८	१	सवत त्रसिद्धान्त	३१२	१२
वाक्यस्फोट	७५४	१५	सव्यभिचार	३१९	१
वाद	३१६	७	सादुच्य	७१९	१२
वादलिध	८७२	९	साधन	८०२	१८
विकल्पसमा	३२५	९	साधर्म्यसम	३२३	९
विक्रियालब्धि	८७२	११	साध्यसम	३२०	७
विशय	३३४	८	साध्यसमा	३२५	६
विज्ञान	१२९११५	३९११४	सामान्यछल	३२२	१
विनष्टा	३१९	४	सिद्धात	३१२	८
विद्या	३९१	३	सुख	१२९११५, ७८९११४	
विधान	८०२	२०	सुपुप्त	१४७	१८
विधि	५७३	२१	सुपुप्ताद्यवस्था	८४९	७
विपर्यय	५२	७	स्थिति	८०२	२०

स्वय	२७३।८, ३९२।६	स्वामित्व	८०२	१८
स्पर्शन	८०३	हिंसा	८६८	१७
स्मृति	४०६	हेतु	३१४	४
स्वत	१९५	हेत्वन्तर	३३१	१२
स्वयवेत्न	१७४	हेत्वाभास	३१९	८



§ १० न्यायकुमुदचन्द्रान्तर्गताः केचिद्विशिष्टाः शब्दाः ।



अभीषमहानसादिलिखि	८७२।१२	असवेद्यपव	१९२।१२, ८२२।२
अग्निष्टोमादि	५७६।४	असत्कार्यवाद	५६।१४
अग्निहोत्र	५४८।४	आषाणकुशोशयवत	८४४।१२
अद्भुतलिखिसराधिकरणकरेणुशतवचस्	५४३।२	आयिका	८६८।१४, ८७४।२२
अद्भुतगुण्ये हस्तियूथशतमास्ते	५३१।१०, ५३६।११, १४, ५३७।१२, ६९२।१२	इन्द्र	८५७।२२
अञ्जनतिलकमन्त्रादि	८२।४, २६३।२६	इन्द्राद्यास्यान	८७२।९
अत्यन्तोपकारकमत्य	३४९।१	ईश्वर	३२।२१, १६३।२२, १७२।७, १३
अद्वतवादिन्	५७।२४	ईश्वरवपिलभ्रह्मवत्	५।९, ११
अनपवर्त्यायुष्वत्व	८६३।१९	उत्तम्भवमणि	१६२।२२
अनिवृत्तिवादरसाम्पराय	८७०।६	उत्पलपत्रशतच्छेदवत	१८२।७
अनुग्रहेच्छापरामिभवाभिलाषपूजाख्यात्यादि	३३६।२५	उत्पलपत्रशतव्यतिभदवत्	७२।२, ८१।१८
अनुमानानुमेयभावो वा कल्पनाशिल्पिकल्पित	४८७।३	उदग्मादिदोष	८७३।१७
अनेकभावाभावोपाधिसञ्चिन	४७८।४	उद्दिष्टा	१०४।१०
अन्तरायोपपत्ति	८५५।१८	उत्तवावयवत्	२०।६
अपक्वजम्बूफलादि	४२५।१३	उमेश्वरत्व	३६९।९
अपवतना	८६३।१९	ऊणनाभ	१४८।१३, १५३।६
अप्रतिसन्धानिचोष	३९।१२	एकादश (परिपह)	८६२।३
अभिनवनयायिक	४१७।१४	ओषपादिव	३५२।११
अभिन्नयोगनैमप्रयासति	२०८।३	ओदानस्	७५३।२
अयशलाकाकल्या परमाणव	२३१।२०	कञ्चुकप्रख्य	३९१।७
अयोगकेवलिन्	८५७।१०	कन्तैलादि	४२५।१२
अयोगिचरमसमय	८६३।१२	कपिलादिमतानुसारिन्	८३६।२०, २३
अयोगोलववह्निविवेकवत्	१६०।१२	कल्पमहाकल्पादि	१११।१२
अरिष्टादिव	६५।१३	कवलाहार	८५१।२२
अदपश्चमाकार (अपोह)	५५५।३	कावकाष्प्यादिवत्	४४०।६, ४९१।१०
अलातचक्रवत्	८५७।१०	काकदनगरीशान्	२०।८
अवधिज्ञानिन्	११५।१५, ११६।१५	काकनामलान्द्रोष	२००।१०, ५४०।९
अवाक्यविवेचनत्वप्रत्यागर्भा	४००।१५	काकपञ्चमज्ञ	३७३।९
अश्वविषाणप्रख्य	४४१।५	काकपञ्चमज्ञ	७८९।१९
अदिव युद्ध	४४१।५	काकपञ्चमज्ञ	३९४।९
अष्टकाद्योपापुष्पामाभिन्	४४१।५	काकपञ्चमज्ञ	८१६।३
अष्टद्वय्यकपरमाणु	४४१।५	काकपञ्चमज्ञ	२०२।१२
अष्टविष (चेदवर्ष)	४४१।५	काकपञ्चमज्ञ	४६२।१०, ८७०।१८
	४४१।५	काकपञ्चमज्ञ	४४८।३
	४४१।५	काकपञ्चमज्ञ	४४८।३

भेगोण्डुवादिना	१६५।२१, ६६२।२, १०,	तमिर	५२३।४
बोसपान	७४३।१३	तैमिरिकोपलब्धि	२३१।२२
क्रियाविशययोग्यधीनाचिह्नोपलक्षित	१८३।१०	सोपानिनस्पर्शव्यञ्जकवाच्यवयविकृत्	१५७।१
सपक्वश्री	७७८।१२	त्रयोपानविध (करण)	३५०।१३
क्षान्त्र्यपारोहण	८५९।११, ८७०।६	त्रिकृतवाचि	४२५।१२
क्षीणमोहान्त्यसमय	८४७।१२	त्रिदण्डाना	४६२।९
क्षुरमोक्तवाच्योच्चवारण	५३६।१०	त्रिधा (व्युत्पात्त)	२१।१७
क्षुरान्त्रिधावाच्यदिग्दशध्वज	१४४।१५	त्रिप्रकारा (वेदा)	३९१।११
रत्नकद्रम	२०२।१८	त्रिविध (अप्रमाण)	१९६।१७
गणधरत्रैवाच्य	८५५।७	त्रिविध (कारण)	२१७।१६
गणधरादि	८६९।४	त्रिविध (सम्कार)	२७५।३ २७८।२२, ७११।८
गणभूत्	२।३	त्रिविध (फल)	३१८।७
गुणाच्ययस	८६६।२०	त्रिविध (छल)	३२१।५
गोपालघटिकादि	४२५।१, ८५१।७	त्रिविध (लिङ्ग)	७९५।२५
गोदमा इत्याच्यव	७६७।७	दण्डवदादित्रिविधान	८५९।१८
घोत्रिय घोत्रक	८३३।३	दर्शयोगमासयज्ञ	५७८।६
घनुरार्यसत्य	३९३।७	दर्शविध (काय)	३५०।१२
घनुविसति (गुण)	२१५।६	दशाननदाह	६१९।११
घद्वान्ताघ तभूतजलाचि	२३९।२५	दशानुपानिच	८५५।७
घद्वान्त्य-समप्रवृत्तयो	४४८।४	दशपरमाणुलाम	८५८।१२
घरमहे	८६७।२	दीर्घान्पुलाभगणानि	२७०।२२, २७१।७ १३
घरमशरीरिन्	८७१।११	दूरस्थविरलवेदान्त	६३६।१३
घरमोत्तमहे	८६३।१९	दुरासन्नार्थोपनिमददुष्टिप्रेषकजनवत्	५६५।८
घार्वाक	१९४।२२, ३४१।१५	दुष्टिदोषभय	८६४।९
घर्षवमत	१७३।१२, ३४१।१७	द्वैवच्छन्व	८५५।१०, ८६४।१७
घिच्छयाच्छरितमुद्धिमृत्ति	१९२।१६	देवनाटकविषमभोगभूमिज	८६६।७
घिन्नपद्याचि	४१५।१५	दणोनपृथकोटि	८५४।८
घिन्नपद्यादिसामग्री	४१४।१६	द्वाद (मिथ्योपपान)	६७७।८
घोरसाम	५४७।२	द्विप्रकार (निरोध)	३९२।१
जलकम्बोलवत्	३७०।६	द्विविध (उपलेश)	८८।२
जलमुद्गुवत्	३४२।११ ३४८।८	द्विविध (स्वप्न)	१३५।१२
जिन	५२१।११	द्विविध (ब्रह्म)	१३९।१७
जिनपान	२।४	द्विविध (गक्ति)	१५८।१६
जिनापतिमतानुसारिन्	३०८।२०, ३७१।१७	द्विविध (प्रमाणकत)	२०९।१४
जिनेन्द्र	२।३	द्विविध (सामाय)	२१५।७
जैन	७१।१९, ७७।१०, २७९।१०, ३०७।१, ४८४।१५ ७२६।९	द्विविध (अनवान्त)	३७२।१
जेनमत	३४८।१९, ७४०।८, ८३२।११	द्विविध (अभाव)	४६८।७
जातवर्णान्विकर्म	८०८।१९	द्विविध (पर्युदास अपोह)	५५५।७
जयोस्ना	६६९।५	द्विविध (प्राणा)	८५०।२३
ज्यराधुञ्जान	७३१।३	द्विविध (सुकितकारण)	८५२।२
सपागताचि	५८७।१३	द्विविध (यतिय-उपपत्)	८७५।१८
सप्तत्रिंशत्वारण	३४७।१६	द्विविध (गृह्णित्ववन्त्यपत्)	८७५।२०
सप्तत्रिंशतीदे फलानि सन्ति	५४२।११	घत्तूरककोटिकादि	३४८।६
सिद्धिसामुल्लेखना	५२३।१३	घत्तूरकपुष्पवत्	२७०।२०
तीर्थकररवषमोदय	८६५।७	घत्तूरकाद्युपयोगिन्	८१०।४
तीर्थकररवषमोदय	८७५।१३	घनुवन्परिजानाधिन्	४।१३
तीर्थकरराधारपर	८७६।१०	घानुष्कवत्	४३७।१०
तीर्थकराण	६३४।१९	घूपदहनादि	२२५।१६ ३६२।२५
		ग क्त्वाचिदनीदृश जगत्	१०२।२७
		नचास्तीदे फलानि सन्ति	५४१।८

नभटवष्टचर्मवारादि	७६७।१४	प्रतिलेखन	८६८।८, ८७३।११
नरसिंह	३६९।९, १९	प्रतिसंख्यानिरोध	३९२।१
ननकी	२२५।१०	प्रतिसंहारकात	५२८।२०, २८
नव (द्रव्य)	२१४।७	प्रतीत्यसमुत्पाद	३९०।१
नागकणिराविमर्दकवरत्नादिवत्	१५६।६	प्रत्यमानुपलम्भपञ्चक	४४४।१६, ४४५।९
नारक	८७।१।१९	प्रत्यमानुपलम्भपञ्चकमाधन	१२।३
नारकान्तिकायसन्तापवत्	८४।१।२	प्रत्यमानुपलम्भसाधन	६१।८।२
निर्विगुणोच्छदलक्षण पापाणरत्ने मोघ	८२।८।२७	प्रतीत्यवालाजलधारासमानगरार	८५४।१३
निरावपन्मन्त्रह्यमिद्धि	१२०।२७	प्रदीपनिर्वाणवादिन	८२९।४
निद्रिपीकरणादि	७३।१।३	प्रमाणान्तरसम्पञ्च	५०५।२
निपथा	८५४।१६	प्रमानुप्रवेश	५०९।८, ५१६।११
निम्तरङ्गमहादिप्रस्थ	३५०।७	प्रयाणसमय	८७।१।१२
निहार	८५७।६	प्रमुक्तिकादिरोम	३४६।१८
निहितमन्त्रितादी	४०९।१।१	प्राटतपुरुषवत्	८६३।१४
नयापिक १८४।९, ४९६।३, ४९९।१२, ६२०।१८,		प्राहृतसम्पत्	१०९।१६
६२९।१७, ६३०।२६, ६३३।२०, ६७५।१२, ८७।१।१		ब्रह्माभुतसौभाग्यादिव्यावर्णनप्रस्थ	७६३।२१
नयापिकादि ४३६।१५, ६३५।१२, ६५७।२४,		बलात्तलानि	७१३।१२
६६५।१२		बुद्धादिवत्	६।२
१६।६		ब्रह्मन	१२।१३, १४३।११, १४
८४०।१५		ब्रह्मवात्	१२७।१६, ७।२।१२
८१५।२, ८२।१९		ब्रह्माद्वत् ६२।१४, ३५०।४, ३५७।१७, ५८५।१२	
२७५।७		ब्रह्माद्वतवादिन	१३९।१५
३५२।१		ब्रह्माद्वतवादिनाप्यपरिक्ल्पित	३५८।२१
३५२।२		बौद्ध १२।४, १३५।१८, १८६।२१, ३५०।३,	
४६०।१९		६३३।१६	
४६०।१६		बौद्धकृतिपतनिराबुद्धि	४८३।१६
२६।१		बौद्धरादान	२७।९
८७३।२०		बौद्धादि	५८२।१
३८।१६, १४७।३, ६		ब्राह्मण भोजय	७६९।५
८४७।१३		ब्राह्मण्यज्ञान	७६७।१८, ७७।११
८५७।१९		भारताध्ययनवत्	७३७।३
४८४।१८		भुजगसम्बतुण्डमजलचराणाम	८६।१६
८५४।७		भूतग्रहव्याधिपरिग्रह	४६३।७
६७।१२		भूतकृष्टि	३५२।६, ३५५।६
२९३।४		भूतकृष्टिप्रक्रियावत्	३५८।७
५३५।२		भूतवनवद्विनीत्यन	५३८।१०
८५३।१७		मणिप्रमाया मगिबुद्धि	२०२।१२
८६८।१०		मणिमन्त्राणि	८४९।१४
३७५।२४		मत्तमच्छिन्नाद्यवस्था	८४८।१६
३४३।११		मन्त्राभिनय विज्ञानम	४४२।७
पुरासाधन ३९९।८, ६६८।११		मधुर	४९९।१३
पुरासाधन २०७।२१, ३९६।१४, ४१२।१२		मध्यमङ्गलमन	६५५।६
पुरासाधन ६११।८, ६१२।६		मन्त्राणि	७३।१०
६०।२०		मन्त्राद्युपलवमामर्थ	१३२।२०
६१७।२३		मरीचिकानिर्वाण	४८४।१५
७२६।४		मरुतसिंहाननम्पण	८५।१८
१६२।२४		महाप्रलय	५५०।४
४५१।१०		महासाधन	४९।१६
५।११, १३		महामाहात्म्यान्तरवराण् सोम्यान्	

वेणोण्डुकाञ्जिज्ञान	१६५/२१, ६६२/२, १०	समिर	५२३/४
कोशपान	७४३/१३	समिरकोषलिपि	२३१/२२
त्रियाविगपयनोपवीतानिचिह्नोपलपित	१८३/१०	तोयसोतस्वस्यञ्जकवाम्बवयविवत्	१५७/१
क्षपकभणो	७७८/१०	त्रयोन्नाविध ( वरण )	३५०/१३
क्षपकभण्यारोहण	८७८/२	त्रिवत्कादि	४२५/१२
धीगमोहान्मयमय	८५९/११, ८७०/६	त्रिदण्डगान	४६२/९
क्षुरमोन्कालोच्चारण	८४७/१२	त्रिधा ( व्युत्पाद्य )	२११/७
क्षुरानिपापाणाशिशब्दध्वन	५३६/१०	त्रिप्रकारा ( वेदना )	३०१/११
सरकम्	१४४/१५	त्रिविध ( अप्रमाण )	१९६/१७
गणपरनेवाञ्जिम्ब	२०२/१८	त्रिविध ( कारण )	२१७/१६
गणञ्जराणि	८५५/७	त्रिविध ( सस्कार )	२७५/३ २७८/२२, ७११/८
गुणाष्टकवत	१६९/४	त्रिविध ( फल )	३१८/२
गोपालघटिकादि	२/३	त्रिविध ( छल )	३२१/५
गोहस्ता इत्यान्वित	८६६/२०	त्रिविध ( लिङ्ग )	७९५/२५
घोडिनेव घोन्क	४२५/१, ८५१/७	दण्डकवाटानिघिघान	८५९/१८
चतुरापसय	७६७/७	दद्यापीणमासयज्ञ	५७८/६
चतुर्विगि ( गुण )	८३३/३	दशाविध ( काय )	३५०/१२
चान्कान्तावन्तभूतजलाणि	३९३/७	दशाननगह	६१९/११
चान्द्रोय-सम्बुद्धधा	२१५/६	निध्यतयादिरव	८५५/७
चरमनेह	२३९/२५	दिध्यपरमाणुलाभ	८५८/१२
चरमारीरिन्	४४८/४	दीधयाप्लुलीभभणादि	२७०/२२, २७१/७ १३
चरमोत्तमनेह	८६७/२	दूरस्थविरलवेगगान	६३६/१३
चार्वक	१९४/२२, ३४१/१५	दूरसप्तशर्योपनिबद्धदृष्टिप्रेक्षकजनवत्	५६५/८
चवकिमत	१७३/१२ ३४१/१७	दृष्टिनोयमय	८६४/९
चिच्छापाच्छुरितबुद्धिवति	१९२/१६	दवच्छदक	८५५/१०, ८६४/१७
चित्रपटपाणि	४१५/१५	देवनाटकतियग्भोगभूमिज	८६६/२
चित्रदन्त्याणिसामयी	४१४/१६	दशोनपुवकोटि	८५४/८
चौरशास्त्र	५४७/२	द्वान्ग ( मिथ्योपपाद )	५७७/८
जलफत्तोलवत	३७०/६	द्विप्रकार ( निरोध )	३९२/१
जलबुद्बुवत	३४२/११ ३४८/८	द्विविध ( उपदेग )	८८/२
जिन	५२१/११	द्विविध ( स्वप्न )	१३५/१२
जिनपान	२/४	द्विविध ( ब्रह्म )	१५८/१६
जिनपनिमनानुसारित	३०८/२०, ३७१/१७	द्विविध ( गन्ति )	२०९/१४
जिनेद्रपद	२/३	द्विविध ( प्रमाणफल )	२१५/७
जन	७११/९, ७७१/१०, २७९/१०, ३०७/१४, ८४/४	द्विविध ( सामान्य )	३७२/१
जनमन	१५ ७२६/९	द्विविध ( अनवान्त )	४६८/७
ज्ञानावरणाञ्जिकम	३४८/१९, ७४०/८, ८३२/११	द्विविध ( अभाव )	५५५/७
ज्योस्ना	८०८/१९	द्विविध ( पय दास अपोह )	८५०/२३
ज्यराद्युच्चाटन	६६९/५	द्विविध ( प्राणाणि )	८५२/२
तथागतानि	७३१/३	द्विविध ( मुक्तिकारण )	८७५/१८
तन्त्रज्ञानमालव	५८७/१३	द्विविध ( यतिवन्द्यधर्म )	८७५/२०
तराङ्गणीतीरे फलानि सन्ति	३४७/१६	द्विविध ( गृहि-देववन्द्यधर्म )	३४८/६
निमिराद्युपलबन्तान	५४२/११	धत्तूरककोद्रवादि	२७०/२०
तीर्थकरत्वधर्मोन्म	५२३/१३	धत्तूरकपुष्पवत्	८१०/४
तीर्थकरत्वधर्मोन्म	८६२/७	धत्तूरकाद्युपयोगिन	४/१३
तीर्थकरत्वधर्मोन्म	८७५/१३	धत्तूरकव्यवहाराणाधिप	४३७/१०
तीर्थकरत्वधर्मोन्म	८७६/१०	धानुष्ववत्	२२५/१६, ३६२/२५
तीर्थधर्मज्ञान	६३४/१९	धूपदहनानि	१०२/२७
		न कदाचिदनीदुग जगत	५४१/८
		नद्यास्तीरे फलानि सन्ति	

पोडशक गण	३५५१२२
पोडशपदार्थलक्षण	२१३१२०
पोडा सन्ध यवादित्य	३०४११४
सवरनित्ररा	८१०१४
सविभूषणस्य ह्यपविपादाद्यात्मकत्वम्	१९३१८
सवृत्ति	७१४
सन्वृतसब्दवत्	७६२१०
सवेलसयम	८७५११
सन्वायदशनसमाधयण	१९५११७
सत्तामयाद	३५७११८
सन्ध-अपरापरोट्यपत्तिनिघ-घन	२४५१२०
सदृश अपरोत्यपत्तिविप्रलम्भ	६३६१११
सन्भावस्यापना	८०५११५
सप्तधा (अनुमिति)	८६२१२
सप्तज्ञानु	३९५१८
सप्तमभूयिवीगमन	८६६११९
सप्तमभूयिवामनकारणापुष्पप्रकष	८७०११३
सप्तमभूयिवीगमनयोग्यता	८७११४
सप्तमभूयिवीगमनयोग्यता	२३०११४
सप्तमभूयिवीगमनयोग्यता	१६४११८
सप्तमभूयिवीगमनयोग्यता	८५५१११
सप्तमभूयिवीगमनयोग्यता	८०८१६
सप्तमभूयिवीगमनयोग्यता	८३०१११
सप्तमभूयिवीगमनयोग्यता	८०८१५
सप्तमभूयिवीगमनयोग्यता	८३०१२०
सप्तमभूयिवीगमनयोग्यता	८७७१५
सप्तमभूयिवीगमनयोग्यता	३५८११३
सप्तमभूयिवीगमनयोग्यता	२०१४
सप्तमभूयिवीगमनयोग्यता	८६६११४
सप्तमभूयिवीगमनयोग्यता	८५७१११
सप्तमभूयिवीगमनयोग्यता	८५५११४
सप्तमभूयिवीगमनयोग्यता	२०११०
सप्तमभूयिवीगमनयोग्यता	८७१११३
सप्तमभूयिवीगमनयोग्यता	८६७१९
सप्तमभूयिवीगमनयोग्यता	४०८, ४९११५, १०९१५, ११३११६, १५७१
सप्तमभूयिवीगमनयोग्यता	२०, १८९११०, २३९१२८, २६५१११, २७७१
सप्तमभूयिवीगमनयोग्यता	१९, २७११८, १२, ३१३१३, ३५०१७, ३९४१
सप्तमभूयिवीगमनयोग्यता	२०, ६१८१२, ६२७१७, ६२९११८, ६३३११५
सप्तमभूयिवीगमनयोग्यता	७८७११३, ८०८१११, ८१२१११, ८१९११७
सप्तमभूयिवीगमनयोग्यता	८२०१५, ८२११७, ८२२१२
सप्तमभूयिवीगमनयोग्यता	६३०१२६
सप्तमभूयिवीगमनयोग्यता	६८३१२३
सप्तमभूयिवीगमनयोग्यता	८६८११
सप्तमभूयिवीगमनयोग्यता	८७६१९
सप्तमभूयिवीगमनयोग्यता	८७७१३
सप्तमभूयिवीगमनयोग्यता	८७१११
सप्तमभूयिवीगमनयोग्यता	१६८११३, ३८६११८

सुगतज्ञान	१२७११४, ३०९१९
सुगतत्व	१२७११६
सुगतमतावलम्बिन्	४७६११०
सुगतवचन	६०११२, ४
सुगतादि	६५४११
सुगतेदवरकपिल्लहमन	४११५
सुर्गा धनुमुमधूपवासादिगण	८५५१७
सुरनारकादि	८६६१७
सुराभाण्डमिवागुचि	६३४११०
सूयतारिकातडिवादि	४२५११०
सूयार्दिदिशि	४५२१८
सृष्टि	५५०१४
सृष्टिक्रमवचन	१५११११
मेनावनप्रत्ययवत	२३५११
सौगत ११११२, ३८११३, ५०१५, ७१११९, ८१११६,	
२०५१७, २०७१२४, २४५१२२, २५, २६६११०,	
३५८१२०, ३७९१४, ३९५११४, ३९६१११, ४०९१	
१५, ४१३१५, ४२७११२, ४३९११४, ४४४१९,	
४४८११२, ४६०११५, ४८२११७, ४८८११९,	
५२४११९, ५२८११६, ५३२११९, ५३४११८, ५३८१	
९, ५८७११, ५९८१९, ५९९१७, ६०११५,	
६१२१६, ६१७११६, ६१८१२, ६२०११४,	
६२९१२५, ६३३११८, ६३५११०, ६३, ६३, ६३९१	
२८, ६४३११७, ६७५११२, ६७७१३, ६८११	
१५, ६८५११७, ६९७११२, ७८२१९, ७८५१	
९, ७८६११२, ७८८१६, ७९११६, ७९३११२,	
८०८१११, ८४२११०	
सौगतयोग	४२७११३
सौगतादि	६८५११९, ७२७११९
सौगतान्तिक	१६५१११, २७९११२, ३८९११२
	३९७११२
स्त्रीनिवाण	८६५११३, ८७०१११
स्त्रीलिङ्ग	८६९११८
स्त्रीवद	८७०११२
स्थानत्रय	६८५१११
स्थाज्ञानलिङ्गिनागम	६३४११५
स्थाज्ञानिन्	२११११७, ४१४१११, ८७२११३
स्थानिनादि	१६३११०
स्वस्वल्गम्य कृन्तिवैति नामकाम्	७१११७
स्वप्ने द्रजालगणवचनगर	११८१७
स्वप्ने द्रजालाभिप्रचयना	१३१११६
स्वप्नोपम	६८५११
स्वाग्नि भिन्नाविषाणम्	१८२११४, १८७१७
हरिनामवाञ्चनादि	४२५१०
हृत्स्वरेणादि	६१९११४
हृत्स्वरेणम्	८७३११५

महेश्वर	१८८२	वात्पानि	४२५११
मातृविवाहोपदेशवत्	२०१९	वादविक्रियाचारणालिखि	८७२१८
मायागोलकवत्	६३६१२	वाणाद्यतिशय	८६८२
मायाब्राह्मण	८६९१६	वासीचन्दनकल्प	३४४१३, ८३३११
मासोपम	६८३१२५	वाहकेलि	३१५१११
मिथ्याज्ञानात्मिकव्यक्तम्	८३०१९	विचित्ररेखानिकरकरम्बितामिष	१४११२
मीमांसक १०२१२८, २७९१११, ३२०१९ ५०२१		विशानाद्रन	६२११५, ११९१६
२ ५०५१६, ७१११८, ७२७१९, ७२८१८ ७७५१११		विद्याघरादिवत्	८६५१५
मीमांसकवृत्तान्त	२७९१८	विग्रह	७१०१११
मीमांसकन्यायिक	५०२११७	विभाषा	३९०११
मीमांसकमत	१८४१२, ५३२१९	विश्वस्थिरक्षरविच्छलत्वादि	२७५११९
मूलकौलवादि	३११११३	विशिष्टाञ्जनादि	५४०१८
मूलकीर्णवादि	८०८१२६	विश्वजिदान्दियन	५७६१३
मेषवादि	३६९११४	विषमच्छ	५००११
मेघरूपता	१६६११५	वीचीतरङ्गबुन्ददफनादि	१४११०, १६८१७
मनापम	६३४११५	वीचीतरङ्गादि	२४७१०
मनाम्पानचारित्र	८०११११	वृत्तिविकल्पान्दियन	२२७१२
मनापनामा अजला	८७८११६	वदयापाटकादिप्रविष्ट	७७९११
यमलकयन्	७१९११२	वभाषिक	३८९१२४ ३९०११ ३९५१२२
याचनसीवनप्रशालनगोपणनिक्षालनचौरहरणादि		वयाकरण	२७५११७, ७७९११२, ६४८११८
मन सक्षोभकारिणि वस्त्र	८७३११३	वयाकरणव्यवहार	७९७१३
मुक्ताश्वाद्यनेकद्रव्यसम्बुद्ध्याधिकरणवस्त्र		वशोपिक २३६१२४, २०९१११, ६२७१७, ८०८११०	
मायित्तव्य	८७४११०	वशपिकारव्य	२८७१२०
योगाचार ११९११० १६५११४ ३९७११९		वशपिकानि	७८६११
योगाचारमाध्यमिकमत	३८९१२३	वशोपिकी मुक्ति	८२८१९
योग १०९१७ ११२१८ २२०१११, २२१११८, २२९१		व्याकरण	७६०११, ७९६१२६
८, २३३१२५ ३५८१२२ ३९९११ ४२८१३ ४३२१		व्याकरणप्रामाण्य	७६०११७
१४ ७२६१९, ८२६११६		व्याघ्रादिनिश्चर्णाञ्जन	१९८११७
योगसौमन	४८५१३	गणपरमब्रह्मविकल्प	१३९११७
योगादि	७२७१३	शब्दब्रह्म	१४२१६
योगाभिमत	११२१२	गणविधिवादिन	५७४१६
योगोपकर्त्तव्येदवर	१०९१४	गणव्यापारविधिवादिनि	५७६१७
रत्नप्रय	८४६१८ ८६५११४	शब्दस्य उत्पत्तिप्रतिपत्त्या	२४२१४
रविकिरणमरुत्पत्नीहारनिकरवत्	१३३१७	शास्त्र	५५९१७ ८४४११
रिस्मा	८६०१९	शास्त्रपद	८४३११८
योगान्तिरीपह	८६२१६	शिशुमारवसाञ्जन	१९८११८
रोहिण्य	४२०१५	शिष्याचापवत	८७६११२
रुद्रवपेगादि	३३८१२४	शुक्लध्यानामत्र	८५९१६ ८६४११६
रुद्रान्तर्वादि	६०३११७	शुक्लध्यानावादिनि	८५९१११
रामान्तराजप्रणय	८५८११२	शून्यगानि	२३११
रालावत्	१५६१८	श्रणी	८६४१२४
रुद्रपुनर्जातत्ववेगान्दियन	२४५१२०, ४१८१२	श्वमास	५४८१५
	७०३११०, ७१५११४	श्वो मे भ्रान्ता आगत	५९६१९
सोपानपरिग्रहीविकप्रदण	२५८१४	श्वपण	२१४११
सोमकपायारणनि	८७४११४	श्वपदाय	२१३११९
शैवायिक	१०१८	श्वप्रकार (सन्निवर्ष)	२८१२०
यज्ञ	८५११२२	श्वप्रकार (अर्थापति)	५०६१३
यज्ञ वटे वधपण	७२८१७ ७३३११४	श्वप्रायण	३९०१७
यज्ञार्थमन्त्रवस्त्र	७७८१९	श्वविधि (बाह्य)	८५६११
यज्ञिष्ठितादि	२५१११०	श्वविधि (शुद्ध)	२४५१२३

पोडशक गण	३५५१२२	मुगतज्ञान	१२७११४, ३०९१९
पान्थपदायकलक्षण	२१३१२०	मुगतत्व	१२७११६
पोडा सम्बन्धवादित्व	३०४११४	मुगममतावलम्बिन्	४७६११०
सवरनिजरा	८१०१४	मुगतवचन	६०११२, ४
सविद्रुपस्वकस्य ह्यत्रिपदानाद्यात्मकत्वम्	१९३१८	मुगनादि	६५४११
सर्वानि	७१४	मुगतेश्वरकपिलब्रह्मन्	४११५
संस्तुतसम्बन्धवत्	७६२११०	मुर्गा चक्रुमुमघूपवासादिगण	८५५१७
सञ्चेलस्यम्	८७५११	सुरनारकादि	८६६१७
सत्वायदशनसमाश्रयण	१९५११७	सुराभाण्डमिवागुचि	६३४१२०
सत्कामवाद	३५७११८	सूयनारिकातडिदादि	४२५११०
सत्ता-अपरापगेत्यपत्तिनिवचन	२४५१२०	सूयान्दिगिन्	४५२१८
सद्गुण अपरोत्यपत्तिविप्रलम्भ	६३६१११	सष्टि	५५०१४
सत्भावस्यापना	८०५११५	सष्टिश्चमवचन	१५११११
सप्तया (अनुमिति)	४६२१२	सनावनप्रत्ययवत	२३५११
सप्तधातु	३९५१८	सौमत् ११११२, ३८११३, ५०११५, ७१११९, ८१११६,	
सप्तमपृथिवीगमन	८६६११९	२०५१७, २०७१२४, २४५१२२, २५, २६६११०,	
सप्तमपृथिवीगमनवाराणापुण्यप्रकप	८७०११३	३५८१२०, ३७९१४, ३९५११४, ३९६११, ४०९१	
सप्तमपृथिवीगमनयोग्यता	८७११४	१५, ४१३१५, ४२७११२, ४३५११४, ४४४१९,	
सप्तमप्रोताध्वुपयामत्व	२३०११४	४४८११२, ४६०११५, ४८२११७, ४८८११९,	
सप्तमवदारणादि	८६४११८	५२४११९, ५२८११६, ५३२११९, ५३४१४, ५३८१	
सप्तमवदारणीयद्विनीयप्राकाराम्भ्य तरवति	८५५१११	५८७११, ५९८१९, ५९९१७, ६०११५,	
सम्पन्नचारिय	८०८१६	६१२१६, ६१७११६, ६१८१२, ६२०११४,	
सम्पन्नज्ञान	८३०१११	६२९१२५, ६३३११८, ६३५११०, ६३६१०, ६३९११	
सम्पन्नज्ञान	८०८१५	०४, ६४३११७, ६७५११२, ६७७१३, ६८११	
सम्पन्नदशनादिप्रय	८३०१२०	१५, ६८५११७, ६९७११२, ७०२१९, ७०८५१	
सम्पन्नमिथ्यादृष्टि	८७७१५	९, ७०८११२, ७०८१६, ७०९११६, ७०९११२,	
सम्पन्नज्ञातयोग	३५८११३	८०८१११, ८४२१०	
सम्बन्धानिवेयेशक्यानुष्ठानेष्टप्रयाजनवति	२०१४	सौमत्योग	४२७११३
सम्बन्धमादिधत	८६६११४	सौमतादि	६८५११९, ७२७१९
सयोगवेवलिन्	८५७१११	सौत्रातिव	१६५१११, २७९११२, ३८९१२२,
सवज्ञाहारनिहार	८५५११८		३९७११९
सर्वज्वरहरतक्षकचूडारलालकारोपदेगवत्	२०११०	स्त्रीनिवाण	८६५११३, ८७०१११
सर्वायसिद्धि	८७१११३	स्त्रीलिङ्ग	८६९११४
सहस्रारान्त्रि	८६७१०	स्त्रीवेद	८७०१२
सारय ४०८, ४९११५, १०९१५, ११३११६, १५७१		स्यानत्रय	६८५१११
२०, १८९११०, २३९१२८, २६५१११, २७५१		स्याद्वाडलाञ्छिन्नागम	६३४११५
१९, २७९११८, १२, ३१३१३, ३५०१७, ३९४१		स्याद्वादिन्	२११११७, ४१४१११, ८३२११३
२०, ६१८१२, ६२७१७, ६२९११८, ६३३११५		सगवनिर्गादि	१६३१२०
७८७११३, ८०८१११, ८१२१११, ८१९११७		स्वकम्बलस्य कूर्णलिकेति नामकाम्	७४३१७
८२०१५, ८२११७, ८२२१२		स्वप्नद्राजालगर्भनगर	११८१७
सास्यनंगमाभास	६३०१२६	स्वप्नद्राजालान्प्रत्यक्षवन्	१३११६
सांख्यसौत्रान्तरिक	६८३१२३	स्वप्नोपम	६८४११
सामायिकमात्रगणित	८६८११	स्वतन्त्रनि त्रिम्यविराधात्	१८२११४, १८७१७
सारणवारणपरिचोदनादि	८७६११९	हरितालपाम्बनादि	४२५१९
सासादसम्पन्नदृष्टि	८७७१३	हम्परेनादि	६११११४
सिताम्बर	८७१११	द्विरप्यगर्भ	८७१, ९९११५
सुगत	१६८११३ ३८६११८		







ग्रामकुमुदपत्रे

१५

१०६११०, ५७४१३, ८०७१६

विज्ञाना	१७५१२
विज्ञाना	८६८१५
विज्ञाना	८५६१५
विज्ञाना	२७११३
विज्ञाना	८०५११०
विज्ञाना	५९११०९
विज्ञाना	४७११५
विज्ञाना	८५११२२
विज्ञाना	३९२१९
विज्ञाना	८०४११९
विज्ञाना	४२१२
विज्ञाना	७०९११२
विज्ञाना	३३११०
विज्ञाना	४६२१३
विज्ञाना	३६२१२६
विज्ञाना	५८४१४
विज्ञाना	५८३११०
विज्ञाना	९१११८
विज्ञाना	१५११२१, २३
विज्ञाना	२५१११
विज्ञाना	४४०१४
विज्ञाना	२५४१५
विज्ञाना	३७६१४
विज्ञाना	८२८१२१
विज्ञाना	६११६
विज्ञाना	१०११५
विज्ञाना	२१४११०
विज्ञाना	८५७१२०
विज्ञाना	१५११२०
विज्ञाना	४४५११५
विज्ञाना	३५७१८
विज्ञाना	८०६१९
विज्ञाना	३७२१२
विज्ञाना	७४११५
विज्ञाना	७७८१२२
विज्ञाना	८८४१२
विज्ञाना	७५६१६
विज्ञाना	७५७१६
विज्ञाना	७५७१७
विज्ञाना	७६२१३
विज्ञाना	२७३१२
विज्ञाना	२७२११७
विज्ञाना	८१६१३
विज्ञाना	२४३१६
विज्ञाना	८०५११०
विज्ञाना	२७४११७
विज्ञाना	२७८१३
विज्ञाना	७६७१५
विज्ञाना	७१६११७
विज्ञाना	३९९११३

गोपाल	७१११
गोपाल	१३३११०
गोपाल	४४४१११
गोपाल	७००११४
गोपाल	१९७१२१
गोपाल	८१४११७
गोपाल	१९२११५
गोपाल	१२४११०
गोपाल	१९१८ ५६१२६, १३०१२१, ३८१११२
गोपाल	४१५११५
गोपाल	६२०११८
गोपाल	४१५११६
गोपाल	१२६१११
गोपाल	२२९११४
गोपाल	४१४११६
गोपाल	३०७१०२
गोपाल	१२६११३
गोपाल	११८११०
गोपाल	८३०१५
गोपाल	८५०१०३
गोपाल	५५११३
गोपाल	६६७११० ६६९१४ ६७२१९
गोपाल	७२२१९ ७२३१८
गोपाल	३९११२
गोपाल	२३३११७
गोपाल	८४०१००
गोपाल	६१८११२
गोपाल	३३९११८, ३९१११
गोपाल	८०५१७
गोपाल	७४०१११
गोपाल	३६९१३
गोपाल	३३७११
गोपाल	५२११११
गोपाल	१००१७ ७३११५ १३७११०
गोपाल	१७८१२६
गोपाल	४२१२१
गोपाल	३११११५
गोपाल	१८६११४
गोपाल	५४११३
गोपाल	३११११४
गोपाल	६७७११
गोपाल	९२११५
गोपाल	६४५१२
गोपाल	३१८११५
गोपाल	३५२१६, ३५५१८
गोपाल	३५८११७
गोपाल	३३८१२२
गोपाल	३५९११६

तत्समुदायो नियोग	५८४१७	नटमटचकष्टचमकारादि	७६७१४
तथागतानि	५८७११३	तरचितरचनाविशष्ट	७३७११
तथोपपत्ति	४२३११३	नागासमवाय	३०२११३
तन्त्रद्रूपहेतुः	१२६११८	नामरूप	३९०१७
तन्त्रध्वसाय	६४५११	निक्षेपमात्र	८८०१११
तन्त्रकाराणसम	१६५११८	निग्रहबुद्धि	३१७११२, ३३८१४
तन्त्रित्यरलित्व	४०७१२	नित्यशब्द	७०११४
तदुत्पत्ति	६४४१११	नियसम्बन्ध	५४७१४, ५४९१११
तद्विज्ञोत्पत्ति	३६४११५	निमित्तकारणक्रियानुविधान	४५९११
तद्विभवसिद्धि	६७७११	निमित्तान्तर	८०४११६
तद्विषयकविषय	९२११०	नियोग	५७४११, ५८२११७
तद्विषयकवायविधि	९२११९	निरावाडयत्व	७३८१५
तद्विराध्यन्तरानुमान	४६२१४	निरासवचित्तसन्तत्युपपत्तिउपपत्त्या	८४४११६
तद्विषय	८४७१८	निरूपण	३९५१५, ७
तद्विषय	६२७१३, ६६९१५, ६७२१६	निर्विकल्पक	४५१२३, ४६११
तद्विषय	४२०११	निर्विकल्पनराकारकविकल्पवत्	४१४११७
तात्पर्यगतित	५०८१३	निवारणबुद्धि	३१७११३
तात्पर्यम्	३५९११९, ४४६१७	निश्चय-आरोपमनसो	२०५१२१
तात्पर्यसदुत्पत्ति	४४४११०	निश्चितत्वभ्यापि ह्यन्तरस्य	४४१११४
तादात्म्यविनिमित्तत्व	१००११०	नष्टधृष्याद्युपालम्भ	१४८११३
तादात्म्यविमुखसाधन	८४२१२	नयायिकानुमान	४६०१२०
तादात्म्य	६७७११	नरात्म्यदर्शन	८४५१८
तादात्म्य उपपत्त्य-उद्देश्यादि	३५०१२२	नरात्म्याभ्यासादिलक्षण	८३९११०, ८४०१२
निरस्तुततदुत्पाधिप्रवतनमात्र	५७७१२	पक्ष	४३५१९
तनीयस्यासन्नान्ति	६८५११२	पक्षधर्मत्वसहिता	५९८११३
नृप्या	३९१११	पक्षधर्मत्वान्तिक्षणत्रयावितत्व	४३८११२
त्रिगुणत्व	३५३१२६	पक्षप्रतिपक्ष	३१६१५
त्रित्वाविसम्प्राप्तान	५०४११७	पञ्चरूपत्व	४४२११
त्रिरूपमात्र	४४०१२	पटाद्यनयविन	२२६१२
त्रिगुणरूप	५७८१५	पद	७९७१५
स्वगर्ह्यपिगितशोणितादिपरिणामविषय	३४३११४	पदान्तिस्फोट	७५४१११
शक्ति	५४७१७	पर	२८३१२०
दिव	२५७११९	परतत्र	३५३१२२
निद्रव्य	७५७१२४	परत्व	२७४११६
दुःखवणत्व	७३०१४	परत्वापरत्व	२७७१२०
दुःखवणत्व	७३०१४	परमाणुत्प	२१५१११
दुःखनिमित्त	५४०१८	परमात्मस्वभावो नियोग	५८४११०
दुःखनिमित्त	१५११२१, २२	परमात्मविद्वान	१६८११०
दुःखनिमित्त	२५९१९	परलोकाभाव	३४३११६
दुःखनिमित्त	४७११८	परस्परपरिहारस्थिति	३७०१०
दुःखनिमित्त	४७११६	परस्परविषयभावनानियोगान्भ्यास्यान	७३५१४
दुःखनिमित्त	२७४११८, २७८११५	परस्परसमष्ट्यपालोत्पाद	४८०१९
दुःखनिमित्त	२७०१४, ८७८११३	परस्पर	२५११६
दुःखनिमित्त	८०५१८	परस्परयोगपद्यायोगपद्यविरक्षिप्रप्रत्यय	२५११५
दुःखनिमित्त	३११	परस्परव्यतिरेक	२५२११८
दुःखनिमित्त	२७९१७	परस्परशास्वरूप	३०५११२
दुःखनिमित्त	३४०१४	परस्परशास्वरूप	२७४११
दुःखनिमित्त	४०५११७	परिमाण	५५६११३
दुःखनिमित्त	७१०१५	पयुनास्वरूपयोगोह	५३६११०
दुःखनिमित्त	४६६११४	पाटनपूरणप्रसङ्ग	७१६११३
दुःखनिमित्त		पादस्फोट	

बभ	१०९।१०, ५७४।३, ८०७।४	गौणत्व	७१।१
बभरवेनाप्रतीयमानत्व	१७५।२	ग्राह्यग्राह्यवैयर्थ्य	१३३।१०
बभनोक्तम	८६८।१५	घटाद्यभाव	४८४।१४
बभनानमानलक्षण आहार	८५६।५	बन्धानिव्यापारवयव्यनुपङ्ग	७०९।१४
बभपत्न्य	२७९।१३	चयुगान्ति	१९७।२१
बभगच्छ	८०५।१०	चिच्छित्तिरपरिणामियप्रतिगक्रमा	८१४।१२
बभवे अतिप्रतार्थप्रसाधकरवाद्य विधि	५९१।०१	चिच्छिद्यमानरु त्रान्ति	१९२।५
बटपना	४७।१५	चित्र	१२४।१०
बबलाहार	८५१।२२	चित्रमान	१९।८, ५६।२६, १३०।०२, ३८१।१२
बामघातु	३९२।९		४१५।१५
बामपीडापनीशय कामुनात्स्मिन्कार	८७४।१९	चित्रज्ञानरूपता	६२०।१८
बारक	४२।२	विशज्ञानादि	४१५।६
बादुज व्यापार	७०९।१२	विप्रप्रतिभासा	१२६।१
कारकसाकत्व	३९।१०	विप्ररूपप्रतिपाति	२२९।१४
कारणानुमान	४६२।३	विशवावरूपान	४१४।१६
बायत्व	३६२।२६	विशवावरुमवेदनपत्	३०७।२२
बायप्रेरणयो सम्बन्ध	५८४।४	विशवाज्ञानगिद्धि	१२६।१३
बायसहिता प्ररणा	५८३।१०	विश्रक्तपान	६१८।१०
बायानुपलम्भ	९१।१८	विन्नामयी	८३९।५
बात्प्रम	१५१।२१ २३	बन्धप्रभव	८५०।०३
बालद्रव्य	२५१।१	घोना	५५१।३
बालवागान्ति	४४०।४	छामा	६६७।१०, ६६९।४ ६७२।६
बालाणु	२५४।५	छिद्रमूलत्व	७२२।९ ७२९।८
बृत्तत्व	३७६।४	जगमरण	३९१।२
बृत्तवृत्तता	८२८।२१	जघारणाद्यप्रियाकारिन्	२३३।१७
बृत्ताना अहताभ्याममनोप	६।१६	जाग्रतुपुपुजावस्था	८४७।००
बृत्तमिनि प्रथमविषयत्व	१०१।५	जाग्रद्विज्ञान	६१८।१२
बेवलम्बतिरेकयनुमान	२१४।१०	जाति	३३९।१८, ३९१।१
बेवादिबिबद्धप्रभावत	८५७।२०	जातिग	८०५।७
ब्रम	१५१।२० ४४५।१५	जाति सद्धानवनिनी	७४०।११
ब्रमयोगपद्य	३५७।८ ३८०।८	जात्यन्तरत्व	३६९।३
ब्रमयोगपद्योभ्यामपक्रियाकारिण्य	८।३	जिज्ञासा	३३७।१
ब्रमात्रमानवान्त	८०६।९	जिन	५२१।११
ब्रमानवान्त	३७२।२	जिणवप्रासादादिवन	१००।७, ७३१।५ १३७।१२
ब्रमो वाक्यम	७४१।५	ज्ञानत्वविशिष्टस्याधस्य	१७८।२६
क्रियाविगपनिगघन ब्राह्मणत्व	७७८।१२	ज्ञातुव्यापार	४२।२१
क्षणक्षयत्वमप्राणमामर्थ्यानि	८८४।२	ज्ञातस्य (निग्रह)	३११।१५
गघान्तिस्फेत्	७५६।६ १०	ज्ञान	१८९।१४
गजादय शब्दा साधव	७५७।६	ज्ञानानुसृतिव्यतिरेक	६६६।१६
गाव्यानि	७५७।७	ज्ञानान्तरवचत्व	१८१।१५ १६
गाव्यादिशब्द	७६२।३	ज्ञापक	५४१।३
गुण	२७३।०	नेयस्य (निग्रह)	३११।१४
गुणपदाथ	२७२।१७	तज्जम	६७७।१
गुणपुदयान्तरदान	८१६।३	तत्कारणविच्छेदविधि	९२।१५
गुणवान शब्द	२४३।६	तद्विज्ञय	६४५।२
गुणशब्द	८०५।१०	तत्त्वज्ञानसंरक्षण	३१८।१५
गुह्यत्व	२७४।१७ २७८।३	तत्त्वमूर्ति	३५२।६, ३५५।८
गो-गावो गोणी-गोपोनलिकेत्यादय	७६७।५	तत्त्वनाष्टप्रक्रिया	३५८।१७
गो-गन्तिलिपिबुद्धि	७१६।१७	तत्त्वाभ्यवसायसंरक्षणायत्व	३३८।२२
गौण	३९९।१३	तत्त्वस्यबहुवीरिद्वन्द्वमगास	३५९।१६

तन्त्रमुदायो नियोग	५८४।७	नटभटचष्टचमकारादि	७६७।१८
तथागनादि	५८७।१३	तररभिनररचनावशिष्ट	७३७।११
तथापपत्ति	४२३।१३	नानाममवाय	३०२।१३
तन्त्रद्रूपहस्तुज	१२६।१८	नामरूप	३९०।७
तदध्यवनाय	६४५।११	निष्पेपमाला	८८०।११
तथाकारापणक्षम	१६५।१८	निष्पृष्टुद्धि	३१७।१२, ३३८।४
तन्त्रियुक्तखित्त	४०७।७	नित्यगण	७०१।८
तदुत्पात्ति	६४४।११	नित्यसम्बन्ध	५४७।४, ५४९।११
तद्विद्योत्पात्ति	३६४।१५	निमित्तवारणत्रिव्यानुविधान	४१९।१
तद्वनवसिति	६७७।११	निमित्तान्तर	८०४।१६
तद्वधापकविरुद्ध	९२।१०	नियोग	५७४।१, ५८२।७७
तद्विरुद्धकायविधि	९२।१९	निरानाटक्षत्व	७३८।५
तद्विरोध्यन्तरानुमान	४६२।४	निरालम्बचित्तसन्नत्युपतिलक्षण	८४४।१६
तपस	८४७।८	निष्पण	३९५।५, ७
तमस	६२७।३, ६६९।५, ६७२।६	निविकल्प	४५।२३, ४६।१
तक	४२०।१	निविकल्पनरावागविकल्पवत	४१४।१७
सात्त्विकशक्ति	५०८।३	निवारणबुद्धि	३९७।१३
सादात्म्य	३५९।१९, ४४६।७	निदक्षय-आरागमनसो	७०।२१
सात्त्विकमनदुत्पात्ति	४४४।१०	निश्चितत्वव्यापि रूपान्तरस्य	४४१।१८
सात्त्विकनिमित्तव	१००।१०	नर्धध्याद्युपात्म	१४८।१३
सादात्त्विकसुखसाधन	८४२।२	नयायिकानुमान	४६०।२०
साद्रूप्य	६७७।१	नैराभ्यन्त	८४५।८
साप गोप उपप्लम्भ-उद्वेगादि	३५०।२२	नरात्मव्याप्त्यासादिलक्षण	८३९।१०, ८४०।२
विरुद्धतनदुपाधिप्रवतनमात्र	५७४।२	पक्ष	४३५।१
तत्रोपस्थानसत्रान्ति	६८५।१२	पञ्चमत्वसहित	५९८।३
तृणा	३९१।१	पञ्चमत्वादिलक्षणप्रयाचितत्व	४३८।१२
त्रिगुणत्व	३५३।२६	पक्षप्रतिपक्ष	३१६।५
त्रित्वादिसंस्थानान	५०४।१७	पञ्चरूपत्व	४४२।१
त्रस्यमान	४४०।२	पटाद्यवयविन	२२६।७
त्र्यगपरिपूण	५७८।५	पद	७९७।५
त्वयसिधायिगितगोमिनादिपरिणामविशय	३४३।१८	पदानिष्काट	७५४।११
दाग्निव्य	५४७।७	पर	२८३।२०
निक	२५७।१९	परत्न	३५३।२०
नियद्रव्य	२५७।२४	परत्व	२७४।१६
दुःखवपत्व	७३०।४	परत्वापरत्व	२७७।२०
दुःखणत्व	७३०।४	परमाणुत्व	२१५।११
दूरतिमिर	८४०।८	परमात्मस्वभावो नियोग	५८४।१०
दण्डप्रम	१५१।२१, २२	पररागान्त्रिदहन	१६८।१०
दण्डप्रत्य	२५९।९	परलानामाद्य	३४३।१६
दण्डाविप्रवृष्टापसम्बन्धभाव	४७१।८	परम्परपरिहारम्बन्धि	३७०।२
दण्डाद्यविप्रवृष्टापसम्बन्धभाव	४७१।६	परस्परविषुद्धभावतानियोगादिव्याप्त्या	७३५।४
द्रवत्व	२७४।१८, २७८।१५	परस्परसप्तमत्त्वकपालान्ति	४८०।९
द्रव्यत्र पुण्यवेद	८७०।४, ८७८।१३	परापर	२५१।६
द्रव्यगण	८०५।८	परापरयोगपद्यायोपद्यचिरातिप्रत्यय	२५१।५
धर्म	३।१	परापरव्यतिरिक्त	२५२।१८
धर्माधर्म	२७९।७	परापरमास्वत्व	३०१।१२
धर्माधर्मद्रव्य	३४०।४	परिमाण	२७४।१
धारवाहिव्रतप्रदान	४०५।१७	पयुक्तसम्पोजोह	५५६।१३
ध्वनि	७१०।५	पाटनपूरणप्रसङ्ग	५३६।१
ध्वन्यसविनिर्णय	४६६।१८	पादस्फोट	७।१



भक्ति	८५२।१	रूपधातु	३९२।९
भूतकाण्ठि	१३१।११	रूपसरलेपस्वभाव	३०५।१०
भूयान्नावागता वयव्यतिरिक्तसहृदौ द्वय प्रभववा प्रत्यक्षम्	४२८।८	रूपाश्रोकानेककारणकलाप	३८४।१४
भ	३६५।१८, ३८०।८	लक्षणा	५६८।१
भक्ष्यवहार	१५४।५	लक्षितलक्षणा	५६८।५
भक्ष्यप्रद	५४, ५	लक्ष्यनिर्देश	४३७।१०
भोग्यरपो नियोग	५८४।१६	लक्ष्यवधप्रवीणलक्षण	४२७।७
मध्यमणस्वभाव	१३०।२२	लिङ्ग	३५३।२०, ४२७।६
मध्यमाप्रतिपत्ति	१३१।१०	लिङ्गोन्मव्यप्रत्ययान्त	५७४।१४
मध्यमाप्रतिपत्ति	१३१।८	वचनत्वानि	९३।१
मन्वात्पानपरिग्रह	५०४।१६	वध्यघातानुमान	४६२।७
मनस	३५२।३	वस्त्वग	४६७।१०
मन-प्रवण	४७।१३	वस्त्वमकरसिद्धि	७०७।५
मनोगतदोष	१९७।२२	वाक्य	१४०।२
मनोदोष	१९६।१९	वागरूपता	२९५।३
मनोद्वय	२६८।१८	वाच्यवाचकभाव	४९८।१७
मनोवृत्ति	४०।६	वाच्यसवित्यपगण	१८।३
महान	५५०।४	वाच्यवामकभावामभव	५३७।१७
महामत्त्वसाध्यमुक्तिहेतुरत्नत्रयसमप्रता	८७६।२३	विज्ञेयमाश्रधीनजम	८२५।१२
मानवास्फाट	७८६।१४	विकल्पानुविद्ध	१०१।६
मानपितृज	३५२।११	विकारित्व	३९५।४
मात्रामात्रिक-कार्य-विराधि-सहचारि-स्वस्वामि-वध्यघातवादि-सप्तविधानुमान	४६२।१	विचार	२८९।५
मात्रामात्रिकानुमान	४६२।२	विज्ञानीयव्यावृत्ति	३००।६
माध्यमिक	१२७।८	विज्ञान	१२६।९
माग	५०५।२	विज्ञानाभिग्रहतृज	३९५।३
मीमांसवाभिमतार्थारत्ति	४९६।३	वित्तक	५७३।२०, ५९५।१६
मीमांसवाम्युपगनमूपमानम	४९७।१६	त्रिभि	६४१।२३
मीमांसवोपविणतापमान	३९९।२३	त्रिभि	१६८।१५
मुख्य	२५३।२५	विपूतव्यन्याजालना	४४५।११
मुख्यकाल	३९९।१२	विपणवधकप्रमाण	६४।१७
मुख्यत्व	१६६।१५	विपरीतव्याप्ति	३३६।४
मेयरूपता	८२३।१७	विषयदानध्यवसाययो	२७४।१६, २७७।६
मोक्ष	८७०।१७	विभाग	२२३।९
यतिगृह्येयप्रवृत्तानह	५८५।१४	विभिन्नकृत्व	२०३।१२
यत्रास्त्रनियोगाभिधान	५८४।१३	विभिन्नपरिमाणत्व	२२०।११
यत्रास्त्रो-नियोग	७३३।१६	विभिन्नगतिवत्त्व	२२३।७
याज्ञनाध्याग-प्रतिग्रहप्रहादि	२६९।६	विरुद्धयमाध्याग	९०।४
युगप-नासानुत्पत्तिलिङ्ग	२५०।१	विरुद्धसिधि	६९।५
युगप-प्रतिफलद्रव्यावगाहकार्य	४०।१६	विरुद्धात्मविचारिन्	३६०।८, ३६०।३
योगिप्रवण	३१२।०	विराघ	८५।६
योग्यता	१२१।२४, ५३८।७	विरागगति	५३१।१०, ५३५।१५, ७८०।३
योग्यतालक्षणसाम्य	२००।११	विराग	८१६।१, ८०१।२०
योग्यत्व	२०८।१८	विराग्यानि	५०।१३
रक्षारकत्वलक्षणविरुद्धपरिध्याम	६२७।३	विराग्यानि	८१।१
रज	३६३।७	विराग्यानि	४३।११
रज्जुपरिध्याम	४९९।१३	विराग्यानि	४२०।८
राज	१६०।७	विराग्यानि	७१।१०
रिन्द		विराग्यानि	३०४।१
		विराग्यानि	३०१।५



विशेषपदाथ	२९२।१	श्रुतज्ञान	५२९।२२
विनापविष्कानुमान	२९६।१२	श्रुतमयी	८३९।५
विषयगतय	८६७।८	श्रुतार्थपत्ति	५०७।१२, ५१५।१५
विषय	३५३।२८	श्रेय साधनता	५९३।११
विषयगतशेष	१९७।२१	श्रेय साधनत्वव्यावृत्तय	५७४।४
विषयशेष	१९६।२०	श्रेय साधनत्वव्यावृत्तयर्थावगम	५९३।६
विषयविषयिभाव	२९५।४	श्रीय	२४८।२६
विषयाकारविवेक	४८४।१	श्रीयसस्कार	७११।७
विषयाथ	३९३।२५	श्रीयस्याप्राप्यकारित्वम	८५।१६
विषयालोचनसङ्कल्पनाभिमतनाशनवस्वभाववस्व	८२।१२	पट ( पदाय )	२१४।१
विषयान्यवीभस्सगीरव-आवरणानि	३५१।१	पटप्रवार ( सन्निकष )	२८।२०
वीतराग	३१८।१५	पटशापत्ति	२३३।१३
षट्कव्यवहार	७५७।८	मन्या	२७३।१२
वग मृग	२७५।३ २७९।२	मनासिसम्बन्धप्रतिपत्ति	५००।२
वेत्तना	३००।७	मनासिसम्बन्धप्रतिपत्तिफल	४९६।१०
वेत्तघ्ययन	७२२।१७	सयुक्तविगपणभाव	४६३।१७
वराग्य	८४६।२३	सयुक्तमयागास्वीयस्त्वलक्षण	७७६।१७
व्यक्त	३५३।१०	सयोन	२७४।१४, २७७।१५
व्यतिवृत्त	३६०।१४	सयोगिद्रव्य	८०५।८
व्यतिरेक	२५१।६	सयोगिसमवायिकिङ्क	४६१।१४
व्यधिकरणसिद्ध	४९१।१०	मवाकज्ञान	१९६।४
व्यवहार	६३३।८	सद्य	३३७।२ ३६०।७, ३६८।२०
व्यवहारकाल	२५३।५	मशयव्युदास	३३७।२
व्याकरणप्राप्य	७६०।१७	मयादिदोषोपनिपात	३६०।६
व्यापक	४२३।५	सस्कार	३९०।६
व्यापकानुपलम्भ	९१।२१	सबलानुपता	१३१।८, ३९८।१६
व्याप्य	४२३।५	सङ्कर	२६०।१२
व्यामोह	२११।१०	सङ्कलन	४९४।५
व्युत्पत्तिनिमित्त	२६।२	सङ्कृत	५४७।२
दास्ति	३५०।१४ ५०६।८	सङ्घात	७४०।१
दास्तिप्रकरण	८४७।११	सङ्घवहारानुदय	४७९।१० ४८०।१
दाक्यप्राप्ति	३३७।२	स तानागम	६।१५ ८०३।२१
दाक्यविवेचन	१२६।१२	सन्तानोच्छ्रान्त	६१६।६
गब्ध	५७३।२३	सपणविषयव्यवस्था	४३८।७
गब्धनित्यत्व	६९८।१	समवामपदाथ	२९४।१६
गब्धप्रधान	७९३।१७	समवायिद्रव्य	८०५।८
गब्धभावना	५७९।२	सम्पूय	३९१।१६
गब्धसस्कार	७११।७ १३	समद्राया	३६४।२५
गब्धस्वभावब्रह्मसदभाव	१३९।१९	सम्पूयकृष्ण	३६४।२३
गब्धकारानुत्पून	१४१।१८	सम्पूयचेतनाशाम	२०२।१८
गब्धालम्ब	६३४।१०	सम्बन्ध	३०५।१०
गब्धानुविद्ध	१४०।८	सम्बन्धसम्बन्ध	४३२।० १०
गब्धार्थसम्बन्ध	५५०।१८	सबन्धहृत्प्रसङ्ग	२३०।१३
गरीरपरिमाणत्व	२६६।६	सबन्धमनिरात्मना	१३१।८, १०
गरीरप्रनियनकथाया वा	४३८।८	सर्वरूपविज्ञानाहित	७२८।१५
गुणपरिणामसङ्घम	८२।५	सर्वरूपभाषातमक	२।४
गुणकार्य ( निपात )	५८३।३	सवज्ञाविनाभूत	८६।२२
श्रावणत्व	४४०।११	सवस्तिमसम्बन्धनोऽनुपलम्भस्य	९३।१५, ४४२।१०
श्रुत	५२९।२१ ५३०।६	सविकल्पक	४५।२३ ४६।१
		सव्यन्तिसणविषयसि	४५७।११

सहचारिसाक्ति	१५९११	स्नेह	२७५१२
मन्त्रानुमान	४६२१५	स्नेहगुण	२७८११९
सहानवस्यालक्षण	३७०१५	स्पश	३९०१७
सहोपलम्भनियम	११८११६, १२३११	स्फोट	७४५१११, ७५४११३
साकन्य	३४११	स्मृति	४०५११०
साधिवादि	८१३१४	स्मृतिप्रमोय	५४१६, १२
सद्भुतविशेषस्य गोपिण्डस्य	४९०१९	स्मृत्याभास	४१०१६
सादृश्यव्यवहार	४९३११७	स्माच्छल	३१८
सारकतम	२९११०	स्यात्कार	६९४१११
साधनदावय	७३८११	स्वकारणसत्तासमवाय	१०११५, २२०११२
सानुवत्र	५५०११९	स्वपरिणामादल्पपरिमाणकारणारब्धत्वनियम	
सामग्री	३३१८		२१५११७
सामानाधिकरन्ध्य	५६४१३	स्वदानान् स्वामिनोऽनुमानम	४६२१६
सामाय	२८३११८	स्वभावहतुद्ध्य	४४५१९
सामायमाने सङ्केत	५६७१८	स्वभ्यस्ते विषये	२०१११७
सामायविशेष	३६९१८	स्वरूपप्रयुक्तनस्याव्यभिचारस्य	४२२१९
सारूप्य	१६९११, २०५११०, ६४४१२१	स्वरूपसाक्ति	१५९११
सावयव	३५३१२२	स्वसवेदन	४७११०
सावयवत्व	१०११५	स्वात्मनि क्रियाविरोधात्	१८२११४, १८७१७
साव्यवचित्तमज्ञान	८३९१९	हस	४९९११३
साव्यवचित्तज्ञानलक्षणससारनिवृत्तिरूपमोक्ष	८३९१६	हस्तसर्गात्	५४२१६
साव्यवचित्तज्ञानसमवायकप्रमाण	८९१८	हस्तम्फात्	७५६११२
सुपुनाद्यवस्था	८४७११७, ८४८१६, १७	हिंसा	५९३११३
सापराज्य	७२६१४	हीनगमस्यानशरीरविषयादि	८०९११२
सर्वाभिव्यक्ति	८६५११३, ८७०११	हीनसत्त्व	८६९१८
स्थितिस्थापक	७१२११९	हीनस्यानपरिग्रहवत्त्व	८१०१२०
स्थित्यवस्थावत्त्वक्षणप्रवारात्तर	२७५१७, २७९१४	हेतुमत	३५३११०
	२३३१११		

§१२ मूल-टिप्पण्युपयुक्तग्रन्थसङ्केतविवरणम् ।

अनेकान्तप्रकरणपरि०-अनेकान्तप्रकरणपरिशिष्टम् [ निधीजन सीरिज कलकत्ता ] ७८०  
 अद्वयव्यवस्था०-अद्वयव्यवस्थाग्रह [ गायकबाड सीरिज बडोदा ] ४०९  
 अद्वयव्यवस्था०-तद्व्यवस्था०-अद्वयव्यवस्थाग्रहत्वरत्नावली [ गायकबाड सीरिज बडोदा ] १२५  
 अनागारथ०-अनागारथमार्गमनम् [ माणिकचन्द्र जन प्रथ० बम्बई ] ७९९  
 अनुयोगदा०-अनुयोगद्वारसूत्रम् [ आगमोदयसमितिननु० सू० ] सूत्रत २४२, ६०५, ६०९, ६२२, ६३३, ६३६-६३८ ७८२, ७९९-८०१, ८०४-८०७  
 अनेकान्तवाद०-अनेकान्तवादप्रवेश [ हेमचन्द्राचार्यनिकातप्र० ] अथावली पाठन ] ५३७, ६२०  
 अनेकान्तवादप्र०-टि०-अनेकान्तवादप्रवेशादिप्यणम [ हेमचन्द्राचार्य प्रथावली पाठन ] ३६९

अनेकान्तप्रकरण०-अनेकान्तप्रकरणपत्रिका [ यशोविजय अनेकान्त० प० ] अथमाला वागी ] ५१, १४०, ५२६, ५३४, ५३६, ५३७, ५४०, ५४१, ५५३-५५५, ५५९, ५६०, ५६४, ६००, ६२१, ६४०, ८३८  
 अयमो०-अयमोगव्यवच्छेदद्वानिगानिका स्यादादमञ्जयन्तगता [ रायचन्द्र नास्त्रमाला बम्बई ] ५६६  
 अपोहसि०-अपोहसिद्धि [ एणियाटिक सोमाश्टी कलकत्ता ] ५५४  
 अभि० आक्षेप०-अभिमतयागोवालद्वार [ गायकबाड सीरिज बडोदा ] ५ १२४, १२६, ३८२, ३८४, ५२४, ८३८  
 अभि० कोण०-अभिधमकोण [ ज्ञानमण्डल प्रेम सभिय० ] वागी ] ८३, १२०, २७२, ३९१, ३९२, ३९५, ६०२



काव्यमी०-काव्यमीमांसा [गायकवाड सीरिज बडोदा] ७३८  
 काव्यप्र०-काव्यप्रकाश [बम्बई युनि० सीरिज] ५६७, ५६८, ६००  
 काव्यप्र० टी०-काव्यप्रकाशटीका [बम्बई युनि० नीरिज] ६९३  
 काव्यानुशा०-काव्यानुशासनम् [निणयसागर प्रस बम्बई] २, ५६७  
 काव्या० द्र० नमि०-द्वन्द्वतृत्तकाव्यालङ्कारस्य नमि साधुविरचिता टीका [निणयसागर प्रस बम्बई] ७६४  
 कागिका-मीमांसाश्लोकवातिकस्य सुचरितमिश्रविरचिता काशिका टीका [त्रिवेन्द्रम्] ६९८, ६९९, ७६०  
 कर्मण०-कर्मपुराणम् ६३८  
 कवलिमु०-कवलिभूतिप्रकरणम् [जनसाहित्य सशो परपथ मुद्रितम्] ८५२-८५५, ८५८  
 की० शा०-कीर्तीतविज्ञानाहाणम् १४८  
 क्षणभङ्गाप्याय-ज्ञानश्रीवृत्त भिक्षुराहुलसाहचर्यायन सन् ५५२  
 क्षण० सि०-क्षणभङ्गसिद्धि [गशियाटिक सा० कलकत्ता] ९, ४४५, ४७६  
 क्षणनखण्ड०-क्षणनखण्डसाध्यम् [लाजरस व० वागी] २३७, ४१२  
 गच्छा० द०-गच्छाचारप्रकीर्णकवृत्ति [आगमोदय समिति मूरत] ८७६  
 गद्यतत्त्ववि०-गद्यतत्त्वविनिश्चय [आत्मानन्द सभा भावनगर] ६०५, ६८६-६८८, ६९१  
 गुह्यसूत्र-गुह्यसूत्रम्, वीधचर्यावितारपरिज्ञानायामुद्धतम् ८४०  
 गो० कर्मका०-गोमटसारकर्मकाण्डम् [रायचन्द्र सास्त्रमाला बम्बई] ८५९ ८६२ ८७१  
 गो० जीव०-गोमटसारजीवकाण्डम् [रायचन्द्रसास्त्र माला बम्बई] ८०१, ८५६, ८५९, ८७४, ८७७  
 गोडपादभा०-सायकवारिकागोडपादभाष्यम् [चोखम्बा सीरिज वासी] १८९ १९०, ८१३, ८१४  
 घनु० ग०-चतुर्गतम् [विद्वन्भारती प्रथमाला साहित्यिकतन] १६, ८१, ८२, ८६, ८१९ ८३९  
 घनु० ग०-चतुर्गतम् [विद्वन्भारती प्रथमाला साहित्यिकतनेता] ७९  
 चन्द्रप्रभव०-चन्द्रप्रभवविरचितम् [निणयसागर प्रस बम्बई] १८६  
 चरकसं०-चरकग्रन्था [निणयसागर प्रस बम्बई] २५, ३०९, ३१०, ३१२-३१४, ३१६, ३१८-३२१ ३२५-३२७, ३३०-३३३, ३३७ ५०३  
 चायुसो-तत्त्वप्रकाशिका चिसुसुती [निणयसागर प्रस बम्बई] ६३, २३७, २८५, २९२, ४१५, ४२०, ४२९, ४६६, ५३७, ५७०, ६६८, ६६९, ८२४, ८२५, ८२७, ८३१, ८३२

छवसडा-छवसडागम [जनसाहित्योद्धारक फड अमरावती] ८००, ८०१, ८५६  
 छवोम०-छवोमञ्जरी [जीवानन्द विद्यासागर कलकत्ता] २७८  
 छादोग्यो०-छादोग्योपनिषत् [निणयसागर प्रस बम्बई] १४७, ८२५, ८३०, ८३७  
 छादो० शा० भा०-छादोग्योपनिषत् पाङ्कुरभाष्यम् [गाता प्रस मोरखपुर] ८२५  
 जयध०-जयधवलाटीका, धवलाटीकाया प्रस्तावना टिप्पणयो समुद्धता ६०७, ६२२, ६३८  
 जयम०-सायकवारिकाया जयमङ्गलाटीका [कलकत्ता] ६२७, ६२८, ८१३, ८१४  
 जाबाल०-जाबालोपनिषत् [निणयसागर बम्बई] ६३४  
 जनतकभा० } जनतकभाषा [सिधी जन सीरिज  
 जनतकपरि० } कलकत्ता] २३, ७४, ११६ १५८,  
 जतकप० } ४०७, ४१०, ४११, ४१८, ४२२,  
 ४२५, ४४०, ४४५, ४५९, ४९०, ४९२ ५००,  
 ६१०, ६२१, ६२२, ६३२, ६३६, ६३८, ६५०,  
 ६८६, ६८७, ७९३, ७९०, ८००, ८५४  
 जनतकया०-जनतकवातिकम् [लाजरस व० वागी] २०, २३-२५, ७४, १२६, १६४, ४८०, ५१३, ५४३  
 जनतकवा० द०-जनतकवातिकवृत्ति [लाजरस व० वागी] ३६९, ४०७ ६०८, ४४०, ४७२  
 जनेन्द्रग्या०-जनेन्द्रग्याकरणम् [जनसिद्धांतप्रकाशनी सस्था कलकत्ता] ४४०, ६०४ ६१७ ६४१, ७६६  
 जनेन्द्रप्र०-जनेन्द्रप्रक्रिया प० वागीपरवृत्ता [गोलापुर] ६४१  
 जमिनि०-जमिनिसूत्रम् ५-३, ५४५ ५५१, ५६६, ७०१, ७०२, ७३५, ७३७  
 जमिनिन्यायमाला- [चोखम्बासीरिज वागी] ५७६ ५७८ ५७९, ५८२, ७१७  
 ज्ञानशि०-ज्ञानशिखु- श्रीविजयप्रथमालागत [जनधर्मप्रसारकसभा भावनगर] ८३८  
 ज्ञानसि०-ज्ञानसिद्धि वालिद्राप्यपालनगता [गायक वाड सीरिज बडोदा] ५४७  
 ज्ञानागवि०-ज्ञानागवित्ती [आगमालय समिति मूरत] ८६३  
 तत्त्ववि०-तत्त्वचिन्तामणि [एगियात्रिक सोसाइटी कलकत्ता] ७१६  
 तत्त्ववि०-तत्त्वचिन्तामणि-अनुमानप्रथम [एगियात्रिक सोसाइटी कलकत्ता] ६२८ ५३९  
 तत्त्ववि०-तत्त्वचिन्तामणि प्रथमप्रथम [एगियात्रिक सोसाइटी कलकत्ता] २  
 तत्त्ववि०-तत्त्वचिन्तामणि-द्वितीयप्रथम ६१९  
 तत्त्ववि०-तत्त्वचिन्तामणि-तृतीयप्रथम ७१३, ७२०, ७६, ७३६ ७५८, ७६१  
 तत्त्ववि०-तत्त्वचिन्तामणि [अग्रमलय युनि० सीरिज] ६८९

तत्त्वमी०-तत्त्वमीमासा साम्यसप्रहान्तगता [चौखम्बा सीरिज कागी] ८१६

तत्त्वमाया०-तत्त्वमायाध्यायनिगम सात्यसप्रहातगनम् [चौखम्बा सीरिज कागी] ११०

तत्त्वसं०-तत्त्वमग्रह [गायकवाड सीरिज बडौंग]

७-१० २०, २३ २५ ४६, ४८, ६८-७०,  
७३ ८६ ८७-९० ९६, ९७ ९८, १०७-  
१०९, ११२ ११३, ११७, ११८, १२२ १२५,  
१४२ १४६ १६३, १०२, १५५ १६६, १६८,  
१९३-१९६ १९८, २०१-२०३, २०५ २०८,  
२२१-२२८ २३१, २४२ २५१ २५४,  
२७५-२७७, २७९-२८१ २८३ २८४ २८७-  
२८९, २९२-२९५ ३०० ३०१ ३०३ ३४२ ३४३  
३४६ ३५ ३५४ ३५८ ३६० ३६९, ३७३,  
३७४ ३७६-३८८ ३९०, ३९८ ४०३ ४३४,  
४३६, ४३९ ४४२ ४४४, ४४५ ४४२ ४५३  
४६४, ४६६-४६८ ४८०, ४८९ ४९०, ४९२,  
४९३ ४ ९ ५०४, ५०५, ५०८, ५१५, ५१६  
५२१, ५३६, ५४३ ५४४, ५४९ ५५२, ५५४  
५५७, ५६३ ६०१ ६२३ ६२६ ५२९, ६२६  
६७५ ६७९ ६८० ६९८ ७०० ७०२ ७०३  
७०९ ७११ ७१२-७१७ ७२३ ७२९, ७३०,  
७३४-७३६ ७४९ ७५० ७५१, ७५६ ७७०,  
७७३ ७७४ ८११ ८१९ ८३९ ८४८

तत्त्वापरराजवा० } तत्त्वापरराजवातिकम् [ जनसिद्धि-  
राजवा० ] न्तप्रकाशिता सस्था कल्कता ]

८, १६, २१-२३, २५-२७, ४६ ५१, ७८,  
८१-८३ ८६, ११०, ११५ ११६, १५८,  
१६५ १७३ २३६, २४७, २५५, २५८, ३०३,  
३४१, ३५०, ३६८, ३६९, ३९१, ३०५, ४५७,  
६०६, ६०७, ६१०, ६२२, ६३७ ६३६, ६३८,  
६४७, ६७२, ६८६, ७५३, ७८७, ७९१, ७९५,  
७९० ८००, ८०६, ८०७ ८१०, ८१२, ८२०,  
८५८, ८५९ ८६७ ८ ३, ८६७ ८६८, ८७२,  
८७८

तत्त्वाथ० श्लो० } तत्त्वापरश्लोकातिकम् [ निगम  
तत्त्वा० श्लो० ] सागर प्रेस बम्बई ] ४-६ ११,

१८, १७-२०, २२, २३, २५, २७ २९, ४०,  
४३, ४८ ५०, ५१ ६६, ६७, ७४ ७८-८३,  
८६ ८७, ९७, १०४, १०६ १०९ ११५,  
११६, १२४, १२७ १३०, १३२, १३३,  
१३७-१४० १४२, १४७ १५५ १५८,  
१७१-१७३ १७६, १७७, १८५-१८७ १८९,  
१९०, १९८, २०१, २०५ २०९, २१०, २१६  
२३९ २४२, २४६, २४७, २५० २५४, ३०२,  
३०३ ३०५-३०८ ३२९, ३३८-३४१, ३४३-  
३४५, ३४९ ५६४ ३७१, ३७४ ३७५, ३८४,  
३९५ ३९८, ४०४, ४०८ ४१० ४१८, ४३१  
४३२, ४३४ ४३५, ४३९, ४४०, ४४१, ४४३,  
४४८ ४५० ४६८ ४ ९ ५०२, ५०४, ५०५,  
५१३ ५२२ ५२४, ५२५, ५५९ ५६०, ५६८,  
५७० ५७७, ५७९, ५८२-५८७, ५९३, ६०३,  
६०६ ६१० ६२१, ६२२, ६३०, ६३२, ६३६,  
६३८, ६६० ६६१ ६६४ ६७४, ६८२, ६८५,  
६८६ ६९२ ७०३, ७११, ७१३, ७२० ७२६,  
७२५, ७३६, ७३९, ७४०, ७६२, ७५४ ७५६,  
७६२, ७६५, ७८३, ७९० ७९३, ७९९ ८००  
८०४-८०७, ८११, ८१२ ८४२, ८४५, ८५८,  
८६२, ८६३, ८७८

तत्त्वावसार०-प्रथमगुच्छकान्तगत [ प्र० पन्नालालजी  
चौधरी भदनी कागी ] २३, २५ ३२ १५८,

१६५, ६०६ ६१० ६२२ ६३२, ६३६,  
६३१

तत्त्वा० सु०-तत्त्वायसूत्रम्-सवायसिद्धिसम्मतसूत्रया  
ठावितम् । ३ २० २४, १५५ १५८, १७३,

२१६ २५०, २५४ ३४०, ४०३ ४०५ ६०५,  
६३२ ६४६ ६५७ ६६० ७८२ ७८७ ७९१,  
७९९ ८०० ८०१ ८०६ ८१२ ८३०, ८४१,  
८४६ ८६२ ८६३ ८६५ ८६८

तत्त्वायहरि०-तत्त्वायधियागभाष्यहरिभद्रीया वृत्ति  
[ आत्मानन्दमा भवनगर ] ६०६, ६०७,  
६१० ६२२, ६३२ ६३६-६३८ ८१२

तत्त्वायधिया० सु०-तत्त्वायधियागमूत्रम् भाष्यसम्मत  
सूत्रपाठावितम् । १७३, २५४, ७८२

तत्त्वसं प०-तत्त्वमग्रहपञ्जिका [ गायकवाड सीरिज  
बडौंग ] ६ ७ २३ २६ ४६ ८२ ८३

८६-९२ ९४ ९६ ९८ १०४ १०७ ११३,  
११२ १२३ १३१, १४०-१६३, १४५, १४६,  
१५० १५३ १८९, २०१-२०३ २१७ २२६  
२२९ २३६, २७६ २८४ २८८ ३०१ ३४२,  
३४४ ३४६, ३४७ ३५५-३५७, ३६४, ३७७,  
३७८, ३८३, ३८५ ३९०, ३९२, ४११, ४१२,  
४४४, ४५१-४५३, ४६४, ४६६-४६८, ४७५,  
४९५, ५०२, ५०५, ५४३-५४५, ५४७, ५५१-  
५५७, ५९६, ६३३, ६३६, ६५८, ७००, ७०९,  
७११, ७१३-७१५, ७३०, ७६९, ७५०, ८३९,  
८४०, ८६८

तत्त्वानु०-तत्त्वानुगासनम् [ भाणिवचन ग्रथमाला  
बम्बई ] ८०१

तत्त्वायभा०-तत्त्वायधियागभाष्यम् [ आहृ त्रभाकर  
कार्यालय पूना ] ३, २०, ११५, ११६, १६५,  
१७२ २५०, २५४, ५०४ ६०६, ६०९ ६१०,  
६२२, ६३२, ६३६-६३८, ६४७, ७८३, ७९९,  
८००, ८६३ ८६८

तत्त्वायभा० टी० } तत्त्वायधियागभाष्यम् सिद्धिसनाय  
तत्त्वायभा० ध्या० } व्याख्या [ दक्कटलालभाई  
तत्त्वायसिद्धि० } पट्टसल ] ८३, १५४-२५६,

२६० ४०६, ४११, ४१८, ४१९, ६०६, ६०७,  
६१०, ६२२, ६३२, ६३६-६३८ ६७०-६७२,  
६८३, ६९४, ६९५, ७५४, ८०६, ८१२, ८२९ ८६८

तत्रोप०-नरवाणप्लवमिह [ गायकवाड सीरिज  
 बडौण ] ८, ६०, ५८, ६९, १२६, २१९, ३००,  
 ३११, ३६०, ३६९, ३७२, ३७७, ४२०, ५२५  
 ६२८, ६९६, ६९८, ७२५, ७२६, ७२८, ७६२,  
 ७६४  
 तत्रा०-तत्रातिव्रम [ आनन्दाश्रम सीरिज पूना ]  
 ६०३, ५६६-५६८, ५७६, ५७७, ५७९, ५८०,  
 ७५३, ७५८, ७६०, ७६१, ७६७-७६९  
 तत्रा०-वायमु० [ तत्रवातिकस्य वायमुधाव्याख्या  
 वायमु० ] [ चोखम्बा सीरिज काशी ]  
 ५७६, ५७७, ५७९, ५८२, ५८८, ५९२, ७६८,  
 ७६९  
 तत्रा०-तत्ररहस्यम् [ गायकवाडसीरिज बडौण ]  
 ४०६, ४०८, ४७९, ४८९, ५०६, ५७७, ५७९,  
 ५८२, ५८३, ५९३, ६६६, ६६७, ६९८ ६९९,  
 ७२२  
 तत्रा०-नरमाया केशवमिश्रवृत्ता २१, २८, २५  
 तत्रा० मो०-नरमाया भोधावरगुप्तवृत्ता [ मुनि  
 पुष्पविजयसका लिपिता ] ४१२, ४२३, ४४३,  
 ५११, ६०१  
 तत्रा०-अनु०-नरमग्रह अनुमानखण्डम् ८-६  
 तत्रा०-बो०-नरमग्रहटीपिका टीका २१, ४९६  
 तत्रा०-नरशास्त्रम् श्रीनिधनागवद्धिष्टलाजिवात  
 वनम् [ गायकवाड सीरिज बडौण ] ३२३-३३५  
 ता०-बो०-नायपटीकाया परिशुद्धिटीका [ एणिया  
 निक सासाइटी कलकत्ता ] ८१९, ४२८  
 तति०-उनिमुपनिषत् [ निणयसागर बम्बई ] १५१,  
 १३१  
 तति०-नसिदिमहिता । ७६१  
 तीपा०-भोतागिनभूतनिलयम् [ सरस्वती भवन काशी ]  
 ५६८, ५९३, ७२०, ७५७, ७५९, ७६१  
 त्रि०-प्रा०-त्रिक्रमवृत्त प्राकृतव्याकरणम् [ चोखम्बा  
 सांरिज काशी ] ७६४  
 त्रिलोकशा०-त्रिलोकसार [ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला  
 बम्बई ] ८९७, ८३१  
 त्रिपष्टि०-त्रिपष्टिपालकापुरूपचरित्रम् [ जनधम  
 प्रसारकसभा भावनगर ] ८५५  
 त्र्या०-त्र्यायटी०-त्र्यायटीपिका ८६७  
 त्र्या०-त्र्यायकाशिकासूत्रम् [ आगमाभ्य समिति सूरत ]  
 १९८  
 त्र्यम्ब०-त्र्यम्बग्रह [ रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई ]  
 ६६६, ६६९  
 त्र्यम्ब०-पद्मशास्त्रम् [ महाशोधि शा० शास्त्राथ ] ७३८  
 त्र्यम्ब०-त्र्यायवृत्तान्तिका यगोविजयवृत्ता [ जन  
 धमप्रसारकसभा भावनगर ] ८५४, ८५५  
 त्र्यम्ब०-त्र्यायवृत्तान्तिका [ रायचन्द्रशास्त्र  
 माला बम्बई ] ८५४,  
 त्र्यम्ब०-पद्मशास्त्रिका क्षमिनागिनवृत्ता ७३३ ७३८  
 त्र्यम्ब०-टी०-त्र्यायवृत्तिका [ एणियानिक शा०  
 कलकत्ता ] ८२४

धमसारप्रकरणम्-स्याद्वादरत्नाकरे उद्धतम् । ४५५  
 धमस०-धमसग्रहणी [ आगमाभ्य समिति सूरत ]  
 २५८, ६४०, ८७४  
 धमस०-धमसग्रह [ आगमाभ्य समिति  
 ६०२, ८४६ ८५६  
 धमस०-बु०-धमसग्रहणीवृत्ति [ आगमाभ्य समिति  
 सूरत ] ५५३  
 धवल०-टी० } धवलाटीका [ जनसाहित्योद्योतक  
 छवलाड०-टी० } अमरावती ] ५९९ ६०६, ६०७,  
 ६२२ ६३२, ६३३, ६३६, ६३८, ६५६, ६५७,  
 ७३५, ७ ९ ८००, ८०२, ८०३, ८०६, ८०७,  
 ८५६, ८७८, ८७७  
 धवला०-टी०-वेदनाल०-धवलाटीकाया वेदनागत  
 मुद्रितधवलाटीकाया प्रस्तावनायामुल्लिखित  
 ६०६  
 धवला०-टी०-धवलाटीकाया लाघनटारा [ निगम-  
 सागर प्रस बम्बई ] ७४९  
 नदि०-मलय०-नदिमूलमलयगिरिटीका [ आगमाभ्य  
 समिति सूरत ] ४६६ ५४८ ६७४, ८६१-८६७  
 नयचक्र० } नयचक्रग्रह [ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला  
 नयचक्रस० } बम्बई ] २२ ६०६ ६१० ६१२,  
 ६२०, ६३६ ६३८ ६८६  
 नयचक्रव०-नयचक्रवृत्ति [ निगिता [ न्वे० मन्दि  
 रामघाट काशी ] ३६९ ३७१, ४४४, ६६०,  
 ५३७ ५५३, ६०६ ६०७ ६२८, ६३६, ६३८,  
 ७३९, ८००  
 नयप्रदाप-यगाविजयग्रन्थमालानगन [ जैनधर्म  
 प्रसारक सभा भावनगर ] ६०६ ६०७ ७०३  
 नयप्रदाप-यगोविजयग्रन्थमालानगनम् ६०६  
 नयप्रदाप-नयप्रदापाया ६६०  
 नयविष० } नयविवरणम् प्रथमगुच्छानुगतम् [ प्र०  
 नयवि० } पद्मशास्त्र चोपगा भन्नी काशी ]  
 ४७०, ४८९, ५०६, ६०६, ६१० ६२१,  
 ६२२ ६३२ ६३६, ६३८ ७०१-७०३,  
 ७२१, ७२३  
 नयाप०-बु०-नयापगावृत्ति यगाविजयग्रन्थमालान  
 गना १४०, १४१  
 नाटका०-नाटकाशास्त्रम् [ नाटकाशास्त्र सीरिज  
 बडौण ] ७३७ ७५६ ७६४  
 नियम०-नियमशास्त्र [ जनधमप्रसारक सभा  
 ८०१ ८६५  
 नारायणव०-नारायणवृत्तिका [ विष्णुधारी शास्त्र  
 निबन्धन ] ६३३, ६८६, ८१०  
 नैषध०-नैषधार्थ काशिका [ बङ्गालप्रसारक सभा  
 ७३०  
 नैषध०-टी०-नैषध-नैषधार्थ का [ बङ्गालप्रसारक सभा  
 काशी ] ७३३  
 न्यायवि०-न्यायवृत्तिका [ नारायणप्रसारक सभा  
 १५७, ११०, १११-११५, ११८-११९ ११५,  
 ११९, ४११, ४१२, ४१३, ४१४

यायकु०- यायकुमुमाञ्जलि [ चौबम्बा सीरिज काशी ] २४, ९८, १०२, १५९, २०५, ४०७, ४४४, ४४५, ४८९ ४९६, ४९७, ५१३, ५१६, ५१७, ५३६, ५७७, ५७९, ५८०, ५८८, ६०५, ६०५, ६८६, ७२७

यायकु० प्रका०- यायकुमुमाञ्जलिप्रकाश [ चौबम्बा सीरिज काशी ] ०

यायकुमु०-यायकुमुदचद्रे प्रस्तुत प्रथ ४२०, ६१३, ६३३, ६८२ ६८५

यायको०- यायकोश [ बम्बई युनि० सीरिज ] २८२ ६९३

यायवै०-यायवापिका [ जनसिद्धांत प्र० सत्या मूलता ] २५ ४१०, ४१८, ४३५ ४४०

यायपरि०-यायपरिनिदि [ चौबम्बा सीरिज काशी ] ५८२ ७२६

यायप्र०-यायप्रवेश [ गायकवाड सीरिज बडौदा ] ४६ ६० ४३६ ४३५, ५८८ ६०१ ६७९

यायप्र० ख०-यायप्रवेशवति ४६ ३३३, ४३८ १३६

यायप्र० वत्तिप०-यायप्रवेशवत्तिपञ्जवा २, ६ ५३४, ५३६

यायवि०-यायविदु [ चौबम्बा सीरिज काशी ] २३, २४, ४६, ४७, ५१, ६०, १२०, १६६, २०५, ३७०, ३८२, ४३५, ४३९, ४४४, ४५०, ४६२, ५२३, ५२७, ५९८, ५९९, ६२७, ६७९, ६८२, ८५३

यायवि० टी०-यायविदुटीका [ चौबम्बा काशी ] २०, २३ २५, २६, ८८, ५०, ६ ६, ६१९, ४३६ ४३८ ४८७ ५२३, ६६१, ६८०, ६८२

यायवि टी० टि०-यायविदुटीकाटिप्पणी [ विलो पिचा बडिका रसिया ] ६६, १४ ५२५

यायवै०-तमग्रहस्य यायवैपिनी टीका [ निणय सागर बम्बई ] २५

यायभा०-यायभाष्य [ गजराती प्रस बम्बई ] २ ३, ९, १६ १८, १ -२३, २५, २७, २८, ४२, ७६, ७०, ८७, ९७, १०९ १२७, १३९, १५०, १५६, १८२, १९३, १९४ २०८, २२० २२४ २३४, ३०९-३३५, ३३७ ३४७, ३४८ ४११ ४९६, ५०३, ५१२, ५३५, ५५६, ५३९, ५६९ ५८८ ६०१, ६६७ ७१५, ७२०, ७५०, ८२४, ८३१, ८४४-८३६ ८३८

यायप्र०-यायपञ्चरी [ विजयानगर सीरिज काशी ]

यायसं० ] ६, ७ १५ १६, १८, २०, २१, २४, २८-३०, ३२-३८ ४१-५५, ५१, ५६, ६०-७३, ७७, ७९, ८२ ८६, ८८ १ ७, १०९ १२५, १२६, १२९, १३१, १३३, १३९ १४० १४७ १४९ १५३ १५५, १५६ १५८ १५९ १६६, १७२ १७७, १९३-१९६, २०१ २०५, २०८, २२४, २८०, २५९, २८८-२९०, ३१० ३१२-३१५, ३१७-३३०, ३३४-३३७, ३३९, ३४०, ३४२, ३४६,

३४७, ३४९, ३५७, ३७६, ३८०, ३८१, ३८६-३८६, ३८८, ४०१, ४०८, ४११, ४१६, ४१९, ४२२, ४३१, ४३८, ४४२, ४४६-४४८ ४६४, ४६७-४७२, ४७७, ४७८, ४८१, ४८२, ४९१-४९३, ४९५-४९९, ५०९-५१२, ५१४-५२०, ५३१-५३५, ५३७, ५३०-५४२, ५४४-५४८ ५५० ५५३ ५६१-५६४ ५६९ ५७०, ५७३ ५७४ ५७७ ५८१ ५८३ ५८९ ५९३ ५९६ ५९८ ६६१ ६६४, ६८९ ७०३-७०५ ७०८ ७२३ ७२५ ७२८ ७२९, ७३१, ७३८ ७५०-७५२ ७५५ ७५७ ७५८ ७६१ ७६८ ८०९ ८१४ ८२० ८२३ ८२५ ८३१ ८३३-८३७

याय० मा० } यायरत्नमाला [ चौबम्बा सीरिज यायरत्नना० ] काशी ] ४१९ ४२५, ४२८ ३१ ५७७ ५७८ ५९३ ६९८, ७०१-७०३ ७११, ७१४ ७१५, ७४२

यायमूलप्रकरण०-तत्त्वसमूहपञ्जिकायायमुदतम् ४२५

यायलौका०-यायलौकावती [ निणयसागर बम्बई ] २ ६० ९७, १०९ २१४ २२८ २४० २७८ ४१९ ४४३ ५०१, ५१२, ५३१ ७२९

यायलो०कण्ठा०-यायलोकावतीकण्ठाभरणम् [ चौबम्बा सीरिज काशी ] २८२

यायलो प्रकाश-यायलोकावतीप्रकाश [ चौबम्बा सीरिज काशी ] २४१

यायवा०-यायवातिकम् [ चौबम्बा काशी ] १६ १८ २१-२३ २५ २८ २९ ३४ ७१-७७ ७९ ८० ८८ ९९ १०३ १०९ १३९ १५६ १५८ १९४, २०८, २२४, २२९, २६९ २८४ २९५ ३१०-३२५ ३२८, ३३०-३३४, ३४० ३५७ ३८७ ४०६ ४११, ४२८ ४३४, ४६२ ४६८ ४९६ ५१२ ५३५ ५३६ ५५९ ५६१ ५६२ ५६४, ५६९ ५८८, ६४६ ६६७ ७०३ ७०८ ७२० ७३० ७३८ ७५० ७५८ ८३३-८३६ ८३८

यायवा० ता० } - यायवातिकतात्ययटीका

यायवा० ता० टी० } [ चौबम्बा सीरिज काशी ] ६ २० २७ २९ ४० ४६ ५१ ५४ ५६ ६ -६३ ७५-७७ ८२ ९८ ९९ १०७ १०९ १२९ १३९, १५६ १५८ १९३ १९४, २०५ २२४ २२८, २२९, २३६, २९५, ३१०, ३१३, ३१८-३२०, ३२३, ३८०, ४०८, ४०९, ४१४ ४१९ ४२७, ४२८, ४३८, ४४२, ४४६, ४४८, ४५०, ४६१ ४६७ ४०६ ५१६ ५१८, ५१९ ५२६ ५३४ ५४० ५५९ ५६० ६६७, ७०८ ७१६ ७३८ ७५२, ७५८ ७६१ ८३४, ८३५

यायवि०-यायविनिश्चय अकठद्वयप्रधानगत [ सिंधी सीरिज कलकत्ता ] १७ ४० ७३ ९३ १०३ १२० १३९ १६६ १६८, १७१ १७८, १८५, १८६, १८९ २०९, २२७, २२८,





प्रमाणवरी-प्रमाणवरीणा [ प्रातिघातप्र० मस्या  
 मल्लवत्ता ] २३-२७ २९ ३०, ४९ ५१ ७१, १  
 १०५ १३६, १८३ १८६, १८७ १८९, १०४  
 २०१-२०५ ४०७ ११०, ४११ ४१९-८१८  
 ४३४ ६३५ ६३९-६४२, ६५० १६०, ६७३,  
 ७२३

प्रमाणमी०-प्रमाणमीमागा [ गिरी जैन मारिड  
 मल्लवत्ता तथा साह्यप्रभाकर वार्धामय गुना ]  
 २५-२५ २७ ७६ ८५ ११५ ११६ १६६,  
 १७३ २०० २७१ ४०७, ४०९ ६११ ६१६,  
 ५१८ ४१९, ६२३ ६३४ ४५५ ६३८ ४६०-  
 ६४२ ४५० ६५९ ६६३ ६६५ ६८९ ६९२,  
 ५००, ५०४ ५२० ६४०, ६५६, ६५७, ६६४  
 ६७७ ६८२ ६८३

प्रमाणलक्षण टी०-प्रमाणलक्षणगीता २४  
 प्रमाणवा०-प्रमाणवातिक्रम [ भिन्नराहुलगाह्या  
 यनमरतम् ] ५ २३ ६८ १०० ११८, १२६-  
 १२६ १३०-१ ३ १६३, १६५-१६६, १६९  
 २०५, २०९ २२७ २३० २३१ २३० ८७  
 २८९ ३७२ ३७३ ५८२ ६०३ ६०५ ४१०  
 ४३३-६ ५ ६३९ ६६५ ६५० ६७३ ५१५  
 ५०४-१०६ ५३०, ५३९ ५४८ ५५१ ५५५  
 ५५५, ६०१ ६१३ ६२० ६२८-६३० ६३७  
 ६४४ ५७५ ७६ ६७९ ६८६, ६८५ ६९७  
 ६९३ ७१५ ७१६ ७३० ७३३ ७३ ७ ७  
 ७९० ७९२, ८११ ८१८-८४१, ८४० ८५१

प्रमाणवा० अल० } प्रमाणवातिकालसूत्र [ भिन्नरा  
 प्रमाणवातिकार्य० ] दृग्माहृत्यायिनमस्य लिखित ]  
 ११८ १२५, १२६ १३१ १३२ १६६ ४०८  
 ४१०, ४१५, ४१९ ४ ५ ४५० ५२२ ५५८,  
 ५८२-५८७, ५९९ ६१८ ६२८ ६३४, ६७५  
 ७३२-७३६ ७३८ ७३९

प्रमाणवा० मनोरथ० } प्रमाणवातिकमनारथनल्लिनी  
 मनोरथ० } वृत्ति [ विहार उद्गीता  
 जल ] १०१ ४००, ४१० ४२२ ४३३ ४३०,  
 ४४९, ४७६ ४८० ५२२, ५२५ ५२६, ५४६-  
 ५४८ ५५१ ५५२ ५५६ ६०१ ६१३ ६१४  
 ६१९ ६२० ६५५ ६७६ ६८४ ६९३ ६९४,  
 ७२६ ७३० ७३ ७३८ ८४ ७६१

प्रमाणवा० स्वब० टी०-प्रमाणवातिस्ववृत्तिगीता  
 [ भिन्नराहुलगाहृत्यायिनमस्य सुप्रसुल्लभम् ]  
 ६१७, ४१९ ४२३, ४२७, ४३० ४४० ६४४  
 ६४९ ६५९ ४६८ ४७३ ४७४ ४७६ ४८०  
 ४८७ ५२७ ५२८ ५३६, ५३९ ५४३  
 ५६५-५४९ ५५१ ५५२ ५५४ ५५५ ५६६  
 ५६८ ५७० ६०३ ६०० ६२० ६६४ ६६५  
 ६९४ ६८ ७०३ ७०४ ७०६, ७०७, ७०९-  
 ७१२ ७२४ ७२६ ७२८ ७३०-७३२ ७३६,  
 ७३७ ७४१, ७५० ७५५, ७५७ ७६५ ७७७,  
 ७७९

प्रमाणवा० } प्रमाणमसुषुषय [ मयूर मूनि० शंभुत्र ]  
 प्रमाणवा० } ५३, -४ ६६ १७ १९९ २०  
 ५२७, ६३५ ६३९

प्रमाणलक्षण टी० } प्रमाणलक्षणवरीणा [ मयूर  
 प्रमाणलक्षण टी० } मूनि० ] ३३ ४६ ८०५  
 प्रमाणलक्षण-प्रमाणलक्षणवरी [ गिरी जैन मारिडकल्लवत्ता ]  
 ३३० ३३१, ६१०, ६१३, ४३६, ४६०, ६०३,  
 ६५० ६८२ ६८६ ६९७

प्रमाणलक्षण टी०-प्रमाणलक्षणवरीणा म अल्लसुषुषय  
 प्रमाणलक्षणम् [ गिरी मारिडकल्लवत्ता ] ६८६,  
 ६९७

प्रमाणलक्षण-प्रमाणलक्षणवरीणा [ गिरीजानाथ वर्य ]  
 १ ५, १० ११ १०, १३ १० ३१ ३५,  
 ३६ ३८, ३० ४१-४५, ६३, ६० ५५,  
 ५८ ९०-९३, ९६ ९७ ६० ७१ ७२ ७४  
 ७३-८ ८०-९१, ९३ ९४ ९३ ९८, १०१,  
 १०८ १०६ १०७ १०९, १११, ११३ १२१  
 १२३ १२४ १ ५ ७ ७ १३०, १३१ १३१,  
 १३० १३०-१३३ १३६-१४३ १४० १५३,  
 १ ५ १५३ १६० १६६ १६६ १७१ १७  
 १७६-१७८ १८३ १८६-१९० १९३-१९६  
 १९८-२०० २०५ २१९ २१७ २१८-२१  
 २३०, २३१ २४२, २४३ २४६ २५०, २१  
 २५६-२५० २६१ २६३-२६८, २७१, २७७  
 २७६-२७८ २८० २८१ ८५ २८१, २८२-  
 २८५ २९७ २९८ ३००- ३८ ३३६ ३३८  
 ३४१-३४९ ३५५ ३५७ ३५८ ३६४ ३६६  
 ३६७ ३०-३०२ ३०४ ३८७, ३८७-३९९  
 ४०५ ४०३ ४०८ ४१०, ४११ ४१५-४१८  
 ४२०, ४३१-४३३ ४३६ ४३८-४४६ ४५१  
 ४५३ ४५७ ४५९ ४६४ ४६६, ४६८ ४७५-  
 ४७५ ४८५ ४९० ४९२, ४९३, ४९८ ५०१  
 ५ ५ ५०८ ५१७ ५१३ ५१६ २० २१  
 ५२६ ५३८ ५४७-५४९ ५५१ ५५३ ५५६, ५५८,  
 ५५७ ५५९-५६५ ५७० ५७१ ६०६ ६१०,  
 ६१८ ६१९ ६२१, ६२७ ६०० ६२२ ५०६,  
 ६८ ६४० ६५० ६५७ ६५०, ६६७ ६९३  
 ६७०, ६७१ ६७६ ६८६ ६९० ६९९ ७०५  
 ७०३ ७०६-७११ ७१८, ७१९ ७२१ ७२३-  
 ७४३ ७४९-७५६ ७६५ ७६१ ७७०-७७५  
 ७७८-७८१ १०८-८१३ ८१६, ८१७ ८२४-  
 ८२७ ८२९ ८३० ८४० ८४६ ८४८ ८४८-  
 ८५१ ८५५ ८५६ ८५८-८६५ ८७०, ८७२,  
 ८७

प्रमेयक० टी०-प्रमेयकममात्तच्छिष्याणम् [ निणय  
 सागर ग्रन्थ ] ६९  
 प्रमेयरत्नको०-प्रमेयरत्नकोण [ जनार्थप्रसारकसमा  
 भावनगर ] ४६६  
 प्रमेयरत्नमा०-प्रमेयरत्नमाला [ व० कृष्णदत्ताशास्त्री  
 अमरावती ] ९, २३, ८९, ९१ ९३ ९७ १०१

१०९, १२०, १४७, १४९, १५५, १६५, १८९,  
२०५ ३५५, ३७१, ४०९-४११, ४१६, ४१७,  
४४०, ४४१, ४६४, ४६६, ४८९, ५००, ५०८,  
५५७, ५६१-५६३, ६०४, ६५०, ६५७, ६७६,  
६८३, ७०८, ७१८, ७२३, ७२६, ७२८, ७३१,  
७३४, ७३५, ७७०, ८१०, ८१६

प्रमेय० टि०-प्रमेयखलमालादिप्यणम् २, ५४८,  
प्रमाकरवि०-प्रमाकरविजय [ फलकता ] ४६४,  
४७९, ५०६

प्रथ० सार०-प्रवचनसार [ रायचन्द्र शास्त्रमाला  
बम्बई ] २४, २७, ६०५, ६६४, ८६०

प्रवचनसा० टी०-प्रवचनसारटीका जयनेनीया ८५६,  
८५७, ८५९, ८६०, ८६३, ८६५, ८७२, -८७४,  
८७७

प्रग० भा० } प्रशस्तपादभाष्यम् [ विजयनगर  
प्रशस्तवा० भा० } सीरिज काशी ] २५, २९, १०९ १५६, १९३  
सीरिज काशी ] २५, २९, १०९ १५६, १९३  
२०८, २१६, २१५, २१८, २४१, २४५, २४८,  
२५२, २५७, २५८, २६९, २७३, २७४, २७५,  
२७७ २७९, २८०, २८३, २८४ २९२-२९८,  
३०२, ३४५-३४७, ३४९, ३६४, ४०६, ४३४  
४३५ ४४८, ४६८, ४८३, ४९३ ५१२, ५३०  
५९६, ६२६, ६३१, ६७९, ८२४

प्रग० कदली } प्रशस्तपादभाष्यस्य कदली टीका  
प्रशस्त० ष० } [ विजयनगर सीरिज काशी ]  
कदली } १२, २१, २९, ५१, ५३ ६०, ६४,

७५-७७, ८२, ९७-९०, १०९, १२९, १५६,  
१५९ १९३, २०९, २१४, २१७, २१८, २२२,  
२२४, २२८, २२९, २४१, २४२, २४५, २५२,  
२६०, २६९, २८२, २९५, २९७ ३४७  
३५७, ३८१, ४०८, ४१६, ४२३, ४२८  
४३१ ४३८, ४४६, ४४८, ४६८, ४७१,  
४७४, ४७८, ४७९, ४८३, ४९३, ४९८,  
५१२, ५१५ ५१६, ५१९, ५३१, ५४७, ५६१,  
५९६, ६१५ ६२६, ६६८ ७२६, ७२० ७५०,  
७५१ ८०३, ८२६ ८३३, ८३८

प्रशस्त० किरणा०-प्रशस्तपादभाष्यकिरणावली टीका  
[ श्रीलम्बा सीरिज काशी ] ९, ७५, ७६ ८२  
९७, १०९ २२०, २४१ २६०, ३८०, ४१९  
४२८, ४३६, ४३८ ४६१, ४७९, ५१६, ५३१,  
६०६, ६६७, ८२३, ८२४

प्रग० ध्यो० } प्रशस्तपादभाष्यस्य ध्योमवती  
प्रग० ध्योमवती } टीका [ श्रीलम्बा सीरिज काशी ]  
ध्यो० } ७६ ८२, ९७, ९८-१००

१०९, १२६, १५६, १८१, १८७, २१४, २१५,  
२१७, २२०, २२४ २२६ २३० २४०-२६२,  
२४५ २४७, २५१, २५२ २५५-२५७ २६०,  
२६१, २६६, २७०, २७३, २९२, २९५-२९८,  
३४६ ३४८, ३४९ ३५७, ३६१, ३६६ ३८४,  
३८६ ३८८, ४०८, ४१६, ४१९, ४२०, ४२५

४२८, ४३२, ४३८, ४४२, ४४६-४४८, ४५०,  
४५९, ४६१, ४६४, ४६६, ४६८ ४७१, ४८०,  
४८३, ४९६, ५००, ५०५, ५१२, ५१५, ५१६,  
५३०, ५३१, ५३८, ५५३, ५६५, ५६७ ५६९,  
५७०, ६१५, ६२६, ६६७-६७०, ६८५, ७०३,  
७०८, ७१३ ७१८, ७२० ७२९ ७३०, ७५०-  
७५२ ८०९, ८१६-८१८, ८२२-८२५, ८३२,  
८३४-८३६, ८३८, ८४२ ८४३, ८४७ ८४८

प्राकृतसव०-प्राकृतसवस्वम् ७६८  
प्राकृतच०-प्राकृतचंद्रिका ७६४

प्रा० सिद्धभ०-प्राकृतसिद्धभक्ति त्रियावलापान्तमता  
[ प० पत्रालालनी मोनी व्यावर ] ८७८

प्रा० सिद्धभ० टी०-प्राकृतसिद्धभक्तिटीका ८७८  
बृहत्कल्पभा०-बृहत्कल्पभाष्यम् [ आत्मानन्द सभा  
भावनगर ] ७९९ ८००

बृहत्स० } बृहत्सघषणी [ आत्मानन्दसभा भावनपर ]  
बृहत्स० } ८६७, ८६९

बृहत्स० मलय०-बृहत्सघषणी मलयगिरि टीका ८६९  
बृहत्स्वय०-बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रम् प्रथमगुच्छान्तगतम्  
२, २३, ३६८ ३६९, ५६६ ८५७

बृह० } बृहनी प्रमाकरटीका [ मद्रास  
गावरभा० बृह० } मुनि० सीरिज ] ५२, ५४ ६०,  
११९, १२४ १३९, १७५, ४२८, ४६६ ४९१  
६९७, ७०२, ७२१

बृह० ष० } बृहती पञ्जिका [ मद्रास मुनि०  
बृह० टी० } सीरिज ] ५२, १२४ १२९ १७५,  
पञ्जिका } ४२८, ४३१ ४६६ ६५० ४७९  
४८९ ५०६ ६७६

बृह० सवत्स० } बृहत्सवत्समिडि लघोपस्त्वयादि  
सवत्स० } सम्वन्तान्त [ माणिकचन्द्र प्रथ  
माला बम्बई ] ८७ ९०, ९४ ९७ ४६४  
४६६

बृहदा०-बृहदारण्यकोपनिषत् [ त्रियावलापर बम्बई ]  
१४७ १४८, १५०, २०७ ८३१ ८३८

बृहदा० वा० } बृहदारण्यकोपनिषत्भाष्यवा०  
बृहदा० भा० वा० } वम् [ आनन्दाश्रम पूना ] ६  
७, १५, १८, ६९ १२४, १३० १६१, १७०  
४३९, ४६४, ५३८ ८३१

बृहदा० भा० वा० टी०-बृहदारण्यकोपनिषत्भाष्य  
वा०किटाका [ आनन्दाश्रम पूना ] ५७७ ५७९

बृहद् इत्यन-बृहद् इत्यन [ रायचन्द्र शास्त्रमाला  
बम्बई ] १५४

बोपवा० } बोपमानुसम् पत्राभाष्यमिन्द्रा गवम्  
बोपप्रा० } [ माणिकचन्द्र प्रथमाला बम्बई ]  
८५६ ८५७

बोपिष्यार्थ०-बोपिष्यार्थसार [ पण्डितिक शास्त्रादरी  
बालकता ] ६ १५ २० ६२३ ४०, ९८६,  
८३८ ८९९

बोपिष्यार्थ० ष०-बोपिष्यार्थसारपञ्जिका [ पण्डितिक  
शिव मोमार्दरी बालकता ] ७, ३००, ८६०

बोधिनी-न्यायकुमुदाञ्जलिवाधिनी टाका [ सरस्वती  
 भवन कागी ] २  
 ब्रह्मविद्वेषनि-ब्रह्मविद्वेषनिपत्त [ निणयसागर  
 बम्बई ] १३९  
 ब्रह्मि-ब्रह्मिडि [ मगस ग० सीरिज ] १८९  
 ब्रह्मसू-ब्रह्मसूत्रम् १६ १४०-१४९ ३४४ ८३१  
 ब्रह्मसू० भास्करभा०-ब्रह्मसूत्रभास्करभाष्यम् [ चौ  
 सन्ना सारिज कागी ] १८९  
 ब्रह्मसू० गा० भा०-ब्रह्मसूत्रगाङ्कुरभाष्यम् [ निणय  
 सागर बम्बई ] १६ १७ ६० १२४ १४७-  
 १४९ १५५ २०१ २१८ ३०५ ३४२ ३४६  
 ३५४ ३६० ३८४ ७५२ ७५४, ८२५  
 ब्रह्मसू० गा० भा० आन०-ब्रह्मसूत्रगाङ्कुरभाष्यस्य  
 आन०गिरीया टीका [ निणयसागर ] १६८  
 ब्रह्मसू० गा० भा० भा०-गाङ्कुरभाष्यभासनी  
 गा० भा० भासनी, भासनी टीका [ निणयसागर ]  
 ५४ ६० ६२ ६८ १२२ १२४ १४७  
 ३४१ ४४४ ३९० ४४७, ६२८  
 ब्रह्मसू० गा० भा० रत्नप्रभा०-ब्रह्मसूत्रगाङ्कुरभा  
 ष्यस्य रत्नप्रभा टाका [ निणयसागर ] १६८  
 ब्रह्म-ब्रह्मोपनिषत् [ निणयसागर बम्बई ] १४८  
 भगवतीसू०-भगवतीसूत्रम् [ आन०दाश्रम पुता ]  
 मृत्त ] ६३२ ६६९  
 भगवद्गी०-भगवद्गीता [ आन०दाश्रम पुता ] १४८  
 ४५० ३५२, ३५८ ८१३ ८१५  
 भगवद्गी० गा० भा०-भगवद्गीतागाङ्कुरभाष्यम्  
 [ आन०दाश्रम पुता ] ४५२  
 भावनावि०-भावनाविवेक [ सरस्वतीभवन कागी ]  
 ५७७  
 भावनावि० टी०-भावनाविवेकटीका ५७७  
 भावपाठ०-भावप्रामत्तम पटप्रामत्तानिमगृहानगतम्  
 [ भाणिकचन्द्र ग्रथमाला बम्बई ] ५९  
 भावप्र०-भावप्रकाश [ बम्बई ] २७५ ४२५  
 भावरा०-भावराज्य [ भाणिकचन्द्र ग्रथमाला बम्बई ]  
 ८५६ ८२७ ८७६ ८७७  
 भाट्टवि०-भाट्टविनामणि [ मगस ] ६९८ ६०९  
 ७३० ७५९ ७६१  
 भाट्टी०-भाट्टीविका [ चौखम्बा कागी ] ७२१  
 भाट्टरह०-भाट्टरहस्यम् [ काञ्चीवरम् ] ५९८  
 मत्स्यपु०-मत्स्यपुराणम् [ आन०दाश्रम पुता ] ७२६  
 मध्यात्वि०-मध्यात्विभागसूत्रम् [ विन्वमराती  
 गान्तिनिकेतन ] ६६२  
 मध्यात्वि०सू०-मध्यात्विभागसूत्रटीका १३१  
 १३३ २९० ३९२  
 मनुस्मृति [ निणयसागर बम्बई ] ५७ ६३४  
 ७३७ ७३३  
 मनुस्म० म०वध०-मनुस्मृतिम०वधमुक्तावलीटीका  
 [ निणयसागर बम्बई ] ५७५  
 महा भा० प्रदीप-महामाध्यप्रतीपव्याख्या [ चौखम्बा  
 कागी ] १६८ ७४६

महाभार०-महाभारतम् [ निणयसागर बम्बई ] ५६०  
 महायानसू० } महायानसूत्रालङ्कारः [ पेरिस B ]  
 महायानसूत्राल० } सिल्वन लेवी ] १३२ ६८४,  
 महावि०-महाविद्याविडम्बनम् [ गायकवाड सीरिज  
 बडोदा ] ४१९  
 माण्डूक्य० गौडपा० गाङ्कुरभा०-माण्डूक्योपनिषद  
 गौडपादकारिकागाङ्कुरभाष्यम् [ चौखम्बा  
 सीरिज काशी ] २०  
 माध्यमिक वृ० } माध्यमिककारिकावृत्ति [ दिल्ली  
 माध्यमिकका० } यिका बुद्धिका रणिया ] १० २०  
 १३२ ३९० ४८४ ६८४  
 मानमेयो०-मानमेयोपय [ यियोसिफिल सो०  
 अडयार ] ५७७, ५७९ ६६९ ६९७ ६९९ ७२५  
 मीमांसाया०-मीमांसायायप्रकाश [ चौखम्बा  
 कागी ] ५७७-५७९, ५८८ ५९२  
 मी० परि०-मीमांसापरिभाषा [ चौखम्बा काशी ]  
 ५७७, ५७८  
 मीमांसाबाल०-मीमांसाबालप्रकाश [ चौखम्बा काशी ]  
 ५७७-५७९  
 मीमांसाभा०-मीमांसाभाष्यम् [ चौखम्बा काशी ]  
 ७२२  
 मीमांसाय०-मीमांसायप्रकाश [ चौखम्बा कागी ]  
 ५७७-५७९  
 मीमांसाद० } मीमांसासूत्रम् २५ १३०  
 मीमांसासूत्र० }  
 मी० श्लो०-मीमांसाश्लोकवार्तिकम् [ चौखम्बा  
 काशी ] १६ १५ १७ १८ २० ४२ ५१  
 ५३ ८२ ८६ ९५ ९६, १०५ १०७-१०९  
 १२४ १३९ १४० १४७ १५२ १५५ १६४  
 १९५-१९७ १९९ २०९ २४६ ३४३ ३४५  
 ४६६ ३६९ ४०२ ४०७ ४१९, ४२७ ४२३  
 ४२८ ४४२-४५४ ४५९ ४६५-४६८ ४९०  
 ६९२ ४९३ ५०५-५१४ ५२० ५३२ ५३४  
 ५३५, ५४०, ५४४ ५४५ ५५० ५५३ ५५८,  
 ५६१-५६४, ५६६ ५७३ ५७५ ५७६ ५९३,  
 ५९४ ६०६ ६९७-७०३ ७०० ७११ ७१३-  
 ७१६ ७१९, ७२१-७२५ ७३५ ७४१-७४५  
 ७५१ ७५२ ७५६ ७६७ ७६८  
 मीमांसाश्लो० काशिका-मीमांसाश्लोकवार्तिककाशि  
 कावृत्ति [ विवदम् ] १२६  
 मी० श्लो० टी० } मीमांसाश्लोकभाष्यरत्नाक-  
 मी० श्लो० न्यायर० } राध्या टीका [ चौखम्बा  
 सीरिज काशी ] २४ ८७ १३३ १६६ १७६  
 १०६ ४५३ ४६३ ४६६, ४६६ ६६७ ४९०  
 ४९१ ५०६ ५०७ ५०९-५११, ५२० ५४४,  
 ६६१ ६९७ ६९० ७२१ ७३९, ७४१ ७४३  
 ७५१ ७७०  
 मुक्तावली-कारिकावली मुक्तावली [ निणयसागर  
 बम्बई ] २५, ७६ ८२ १५९ ४७० ४८२  
 ४८, ४९६, ५६८, ५९३, ७३८, ७५०, ८४७

मुक्ताव० दिन० } मुक्तावली दिनकरीटीका  
 योग्यमुक्ता० दिन० } [निणयसागर बम्बई] १७, १०९, २८२, ३१०, ५६७, ५७७, ५७९  
 मक्ता० दिन० } मुक्तावलीदिनकरीरामरुणीटीका  
 रामरुणी, रामरु० } [निणयसागरबम्बई] २९, ५६७  
 मुण्डकोपनि०-मुण्कोपनिपत [ निणयसागर बम्बई ]  
 १६८  
 मूलाधार-[ माणिकचन्द्र जन ग्रथमाला बम्बई ]  
 ७९९-८०१, ८४५, ८६३  
 मध्युप०-मध्युपनिपत [ निणयसागर बम्बई ] १४७,  
 ५६८  
 यज्ञसहिता-[ बम्बई ] ७७०  
 यगस्तिलक०-यगस्तिलकचम्पू [ निणयसागर बम्बई ]  
 ६५३  
 यश० उ०-यशस्तिलकचम्पू उत्तरभाग [ निणयसागर  
 बम्बई ] ६३६, ८०१, ८२५, ८३७ ८३८  
 युक्तिदा० } युक्तिदीपिका [ कलकत्ता  
 साह्यका० युक्तिदो० } संस्कृत ग्रथमाला ] ५०३  
 ५७३, ६८९, ८१३-८१५  
 युक्तिप्रयो०-युक्तिप्रयो० [ श्वेताम्बर सस्या रत  
 ताम ] २५६, ८५२, ८५३, ८६६, ८६७ ८६०  
 युक्त्यनु०-युक्त्यनुशासनम [ माणिकचन्द्र ग्रथमाला  
 बम्बई ] १५, १९, ५१, १२४ १३९, २८८ ३४८,  
 ६२३, ८४२  
 युक्त्यनु०-टी०-युक्त्यनुशासनटीका [ माणिकचन्द्र  
 ग्र० बम्बई ] १३०, १८६, १८९, ३४१ ३६४  
 ३४८, ६४६ ७२२ ७५४ ८१७ ८२०, ८२१  
 ८६२, ८३  
 योगकारिका-साङ्ख्ययोगदशान्तगता [ चौखम्बा काशी ]  
 ४०, १८९ ६२५, ८१३  
 योगद० व्यासभा० } योगसूत्रव्यासभाष्यम [ चौखम्बा  
 यागभा० व्यासभा० } काशी ] २५ ४०, १०९-१११,  
 योगसू० व्यासभा० } ११४, १२४, १५० ४०१  
 ६०५, ६१४, ६२५ ६२८, ७४५ ८११, ८१२  
 ८१४, ८१५  
 योगभा० तत्त्वव० } यागसूत्रतत्त्वव्याख्यानटीका  
 योगसू० तत्त्वव०, तत्त्वव० } [ चौखम्बा काशी ] २०  
 योगद० तत्त्वव०, } ४०, ११०, १११ ११४  
 १२२, १२४ १००, ४०८ ४७६, ५०६ ६२८  
 ७६५, ७४७ ८१५  
 याग० भास्वती } योगसूत्रभास्वती टीका  
 योगसू० भास्व०, भास्वती } [ चौखम्बा काशी ] ६२८  
 ७४५ ८१५ ८१७  
 योगवा०-योगवातिकम [ चौखम्बा काशी ] २४  
 ४०, ५९६ ६२५ ६२८ ७४५, ८१५  
 योगशा०-यागशास्त्रम [ एगिवाटिक सोसायटी  
 कलकत्ता ] २५४  
 योगन० } योगसूत्रम [ चौखम्बा काशी ] १००  
 ६२९ ८१५, ८१६

योगसू० भोजव०-योगसूत्रस्य भोजवृत्ति [ चौखम्बा  
 काशी ] ८१९  
 योगस०-योगसग्रह [ चौखम्बा काशी ] ५९६  
 रत्नक०-रत्नकरण्डश्रावकाचार [ माणिकचन्द्र ग्र०  
 बम्बई ] ५०३, ८०१, ८६२  
 रत्नक० टी०-रत्नकरण्डश्रावकाचारस्य प्रभाचद्रीया  
 टीका [ माणिकचन्द्र ग्र० बम्बई ] ८५५ ८५६,  
 ८५८-८६०, ८६२ ८६४  
 रत्नक० टी० टि०-रत्नकरण्डश्रावकाचारटीका  
 टिप्पणम [ मा० ग्र० बम्बई ] ८५६  
 रत्नकरावता०-रत्नाकरावतारिका [ यगोविजय  
 ग्रथमाला काशी ] ४ २० ५२ ७८ ८०-  
 ८३, ८५ ८६, १६७, १७२ ४११ ४६४ ४८०,  
 ५०५, ५१३ ५३७ ५५९ ५६५, ६७० ६८७  
 ६९२ ७०३, ७११ ७२०, ७२३ ७२६ ७३०,  
 ८२६ ८२७ ८३० ८५३ ८६१-८६०  
 राजनिघ०-राजनिघण्टुकोशा ६६९  
 राजव०-राजवल्लभ वीरा ६६९  
 लङ्कावतार०-लङ्कावतारसूत्रम [ Kato ] १२८  
 १३२, ६६२ ६८४  
 लघी०-लघीयस्त्रयम [ मा० ग्र० बम्बई ] ४५ ७२०  
 लघी० टि०-लघीयस्त्रयटिप्पणम अथलङ्काग्रथयान्त-  
 गतम [ सिधो जन सीरिज कलकत्ता ] ६५६, ६८२  
 लघी० ता० } लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्ति [ माणिक  
 लघी० अ० } चन्द्र ग्रथमाला बम्बई ] ५ २२  
 लघी० व० } ७४, ४१८, ४२७, ४३४, ४५०  
 ४५९ ४६१ ४६२ ४८३ ४८५ ८८७, ४८९  
 ५०२, ५०४ ५२२ ५२५ ५२७ ५२९ ५३०  
 ५९८ ६०० ६०२-६०५ ६०८ ६०९ ६११,  
 ६१२ ६१६ ६१९, ६२२, ६२४ ६२८ ६३२,  
 ६३६ ६३७ ६४४ ६४५ ६५० ६५२ ६५३,  
 ६५५ ६५६, ६५८ ६६१ ६६३, ६६५ ६७४,  
 ६७५ ६७८ ६७९ ६८२ ६८६, ६९१ ६०६  
 ७८२ ७८८ ७९० ७९२ ७९३ ७९८, ८७९  
 लघिसा०-लघिसार [ रायचन्द्र गाम्प्रभात्रा बम्बई ]  
 ८५६  
 ललितवि०-ललितविम्बरा [ श्वेताम्बर संस्था रतलाम ]  
 ८६५  
 लौकिक-यायाञ्जलि - [ निणयसागर बम्बई ] १६८  
 लौकिक-या० सू०-लौकिक-यायाञ्जलितत्तीयभाग  
 [ निणयसागर बम्बई ] ४३२ ८२७  
 वाक्यप०-वाक्यपदीयम [ चौखम्बा सीरिज काशी ]  
 ६८ १६०, १६५ २७९ २८२, ३६९ ५४५,  
 ५५० ५५३ ६६६ ५९६, ६४८ ६६९ ७११,  
 ७३७-७६२, ७४८-७५०, ७५६, ७५७ ७५७  
 ७५९-७६१, ७६०  
 वाक्यप० व० } वाक्यपदीयव्युपना वृत्ति  
 वाक्यप० स्व० } [ लाहौर ] ७७१ ७८०,  
 वाक्यप० हरि० } ७७७

वाक्यप० पु० टी०-वाक्यपदीयस्ववृत्तिटीका [लाहौर]  
 ७५०  
 वाक्यप० टी० } वाक्यपदीयपुण्यराजीया प्रका  
 वाक्यप० पु० टी० } गाल्या टीका [चौखम्बा मीरिज  
 वाक्यप० प्र० } कागी ] १४०, ५५० ५५३,  
 ५८० ६४६, ७३९-७४१, ७४९ ७५७  
 वाक्यपदीयमा०-वाक्यपदीयमातकावृत्ति प्रकरणपञ्चि  
 कातगता [चौखम्बा काशी ] ५८१  
 वाग्भट्टा० टी०-वाग्भट्टालङ्कारटीका [निगयसागर  
 बम्बई ] ७६४  
 वाच०-वाचस्पत्यकोश [ वाचस्पती ] ६९५  
 वाचस्पत्य [ महाबोधि सोसाइटी सारनाथ ] ३२९  
 ३३८ ३४० ४५५ ४४५ ६६२ ६०२ ७३८  
 ७६२ ७६५ ७६६  
 वाद्ययान्त्री०-वाद्ययान्त्रीका [ महाबोधि सोसाइटी  
 सारनाथ ] ४४२ ४६२ ६२३, ७६२  
 विज्ञप्तिमा० } विज्ञप्तिकाविज्ञप्तिभाष्यता  
 वि० विज्ञप्तिमा० } सिद्धि [ ला सिल्वन  
 उबो पेरिस ] १२० २१० २३१ ६३२  
 विधि०-विधिबिबक [ लाजरस प्रस काशी ] १०९  
 ४३२ ४८० ५७४ ५७७ ५८० ५८२ ५८६,  
 ५८७-५९१  
 विधि० वि० टी० } विधिविवेक-वाक्यवर्णिकाटीका  
 विधि० न्यायवर्णिका } [ लाजरस प्रस काशी ] ११९  
 १ २ १२४ १३९ १८१ ४०० ४८०, ५७४-  
 ५७६ ५८०, ५ ५९१ ५९४-५९६ ६६९  
 विवरणप्र० } विवरणप्रमयसप्रश्न [ विजयानगर  
 वि० प्रमेयस० } सीरिज काशी ] ६० ६२ १२४  
 ८०९ ८२८, ८३१ ८४८  
 विद्या० } विद्यावश्यकभाष्यम् [ यशो  
 विद्यावर्ण० भा० } ग्रन्थमात्रा काशी ] २५-२७  
 ११५ ६०६ ६०७ ६०९, ६१० ६२२ ६२४,  
 ६३२ ६३६-६३८, ७०३ ७०९, ८००, ८०६,  
 ८०७ ८६१  
 विद्या० भा० सह०-विद्यावश्यकभाष्यवहद्ववृत्ति  
 [ यशो० ग्रन्थमाला काशी ] १७०  
 विश्वतत्त्वप्र०-विश्वतत्त्वप्रकाशकम् शिष्यितम् [ स्यादा  
 विद्यालय काशी ] ४६४, ४६६ ७२३  
 वेदातपरि०-वेदान्तपरिभाषा [ निगयसागर बम्बई ]  
 २४, २५  
 वेदान्तसि०-वेदान्तसिद्धान्तमञ्जरी [ अच्यन पय  
 माला काशी ] ८३१ ८३२  
 वेदाय०-वेदायसग्रह [ पञ्चिनपत्र काशी ] ५०७  
 वा० उप०-वाक्यवृत्तिसार [ चौखम्बा मीरिज  
 उप० } काशी ] १, ११ १६, २४ २८, ७६  
 ७९ ९७ १०० १५६ २७० ३०२ ३०४ ४१०  
 ५०० ५०१ ५१५, ५१६ ५३१ ६६७ ७२  
 वा० सु० } वाक्यवृत्तिसार [ ४ २५ ३० ३१, ९७,  
 वा० व० } १३६, १३९ १५६ २१४, २१५

२४१, २४२ २४६, २४७, २५१, २५७, २५८,  
 २६८, २६९, २७२-७७४, २७८-२८०, २८२,  
 २८३, २९४, ३०३, ३०४, ३४९, ३९९, ४०६,  
 ४६०, ४७२, ६३१, ६६७, ७२९, ७७६  
 वा० सु० वि०-वैशेषिकमूत्रवृत्ति [ मजराता प्रस  
 बम्बई ] २४१  
 वयाकरणभू०-वयाकरणभूषणम् [ चौखम्बा काशी ]  
 ५८८, ६९३, ७४६, ७५७, ७५८, ७६१  
 वयाकरणभू० व०-वयाकरणभूषणदणटीका [ चौखम्बा  
 काशी ] ५७७, ५७९, ५ ०  
 व्या० प्रत० } व्याख्याप्रनप्ति [ आगमोन्म्य समिति  
 व्या० प्र० } सूरत ] २५०, ३४०, ६०५  
 व्युत्पत्तिवा० भा०-व्युत्पत्तिवादागानाधारा टीका  
 [ निगयसागर बम्बई ] ४८९  
 वाक्यपदम्-काश [ निलकन्ता ] ७४९  
 वाक्यको०-वाक्यवृत्तिसूत्रम् [ चौखम्बा काशी ] ७५८  
 शब्दग०-शब्दशक्तिप्रकाशिका [ चौखम्बा काशी ]  
 ५६८ ५७३ ७३८  
 शब्दानव०-शब्दानवचन्द्रिका [ जनसिद्धान्त प्रकाशनी  
 सस्था कलकत्ता ] ६१७ ७६६  
 शाबरभा०-शाबरभाष्यम् [ आनन्दाश्रम पूना ] ४३,  
 ४८ ८२ १२४ १३०, १७५, १८६, १९७  
 २७९, ३४५, ४०६ ४३४, ४५४, ४६३ ४७२,  
 ५०५, ५१८, ५५५, ५३६, ५४४, ५४५, ५५१  
 ५७८, ५७६ ५७८, ५९३, ५९४, ६९७ ६९०-  
 ७०२, ७००-७०३ ७४२ ७ ०, ७५७, ७५८,  
 ७७७ ८३१  
 शाबरभा० प्रभाटी०-शाबरभाष्यप्रभाटीका [ आनन्दा  
 श्रम पूना ] १७५  
 शास्त्रदी०-शास्त्रदीपिका मुद्रशनाचार्यवृत्तटीका  
 संहिता । १६ २० २४ ६२ ६०, ८६ १२४  
 १३९ १५५ १६४ १७२ १७६ २७० ३६५  
 ३६६, ४०६ ४६५ ४६६ ४८९, ४९१ ५०६  
 ५१०, ५४५ ५४६ ५६६-५६८, ५७६ ५७७  
 ५७९ ६८५ ६९८ ६९९ ७०१ ७०५ ७२१-  
 ७२३ ७२७ ७५५ ७४२ ७५७  
 शास्त्रदी० युक्तिस्नेह० प्र० सि०-शास्त्रदीपिकायुक्ति  
 स्नेहप्रपूरिणीसिद्धान्तचन्द्रिका [ निगयसागर  
 बम्बई ] १६५ ६६२  
 शास्त्रदीपिका० } शास्त्रदीपिसमुच्चय [ देवचन्द्र  
 शास्त्रदीपिका० } लालभाई सूरत ] १८ ८९ ९७  
 शास्त्रदीपिका० समु० } १०० १२४ १४१ १५५ ३४३  
 ३६५ ३८७ ५३६ ५३८ ५४० ५४८ ५५३,  
 ५५४ ५६९ ७३१ ७५५  
 शास्त्रदीपिका० टी० } शास्त्रदीपिसमुच्चयस्य यशो  
 शास्त्रदीपिका० यशो० } विजयवृत्ता टीका [ देव  
 शास्त्रदीपिका० समु० टी० } चन्द्र लालभाई सूरत ] ५२  
 ६६ ८७ १०० १२६, १५२ १३३ १६०  
 १४१, १४३ १४६ १४७, १५५, १६८ ५२४-

११६, ५३७, ५५३, ६१३, ६३० ६६०, ६८६-  
 ६८७, ७३०, ७०८, ७१३, ७२७, ७२९, ८५३,  
 ८५६, ८६५-८६९  
 शिक्षामुमु-गिशासमुच्चय [ त्रिलायिका वृद्धिका  
 रीया ] ३९०, ६६२  
 जेनाब-श्वेताश्वनरोपनिषत् [ निणयसागर बम्बई ]  
 १४९, ७२५, ८१३  
 पत्रा-टी-पटप्राभन टीका [ माणिकचन्द्र ग्रन्थ  
 मात्रा बम्बई ] ३  
 पत्रा-पटभाषाचन्द्रिका [ बम्बई ] ७६८  
 श्वेताश्व-पत्राश्वनसमुच्चय [ रीयम्बा कागा ] ४६६,  
 ५०५  
 यज्ञानसमु-वृ० } पद्धतिसंयसमुच्चय  
 यज्ञ-टी०, यज्ञ-सं० टी० } टीका गुणरत्नकृता  
 [ भावतगर ] ७६, २७ १३३, ४०४ ४०७,  
 ४६४ ४६७, ४६८, ५३४, ६४०, ६८२, २९३  
 ७७०, ८१८-८२०, ८२२, ८२३, ८२५, ८२७,  
 ८२८, ८३०, ८३१, ८३८, ८४१-८४३ ८४५,  
 ८६७, ८६५-८६९  
 सत्पेया-टी०-सक्षपसाररीखटीका [ चौगम्बा  
 कागा ] ८३३  
 स०मिद्विभ-सम्पत्तिसिद्धभक्ति क्रियावलापान्तगना  
 सत्यगासनप-सत्यगासनपरीक्षा लिखिता [ जन  
 सिद्धान्तमवन आरा ] ६१९  
 समनि-टी०-समनिनकटीका [ गुजरात पुरातन्य  
 मन्दिर अहमदाबाद ] १०, २०, २३-२५ २७  
 २९, ३१, ३६, ३६ ३८ ३९, ४२-४५, ४९  
 ५२, ५७ ६० ६६ ६७-६९ ७२, ७९-८१  
 ८३, ८६, ८६ ८७ ८९, ९३ ९७, ९८, १०१  
 १०४-१०७, १०९, १११ १२३ १२४, १२९  
 १३२-१३३, १३९ १४८, १४९ १५५ १५५, १६४  
 १६६, १६८, १७१, १७२, १८५, १८६, १८९  
 १९३, १९५, १९६, १९८, १९९, २००-२०२  
 २०५, २१७ २२४, २२६-२२८, २३३, २४२  
 २५०, २५३ २५७, २५८, २६१ २६३-२६५  
 २६७, २६८, २७ २७८, २८१, २८७, २८८  
 २९२-२९४, ३०२, ३४३, ३४०, ३५४-३५७  
 ३६६, ३७० ३७१, ३८२, ३८४, ३८७, ४०४  
 ४१०, ४४० ४४३ ४४८, ४५०, ४५९ ४६३  
 ४६४, ४६६-६६८, ४७२, ४७३, ४७५ ४९०  
 ४९२ ४९३, ४९५, ५०५, ५०६, ५०८, ५१२, ५१५  
 ५१६, ५२०, ५२५, ५२५-५२५, ५४९, ५५०  
 ५५४ ५६०, ५६५ ६०० ६०५ ६०४, ६०५-  
 ६०७ ६१० ६१९-६२२ ६३०, ६३७, ६३६  
 ६३८ ६४० ६४८ ६६५ ६६९ ६७०, ६७२  
 ६७६ ६८४ ६९७ ६०८ ६९९ ७०७, ७०८  
 ७०९ ७१३, ७१८, ७२० ७२३-७२४ ७३१-  
 ७३३ ७३७ ७४३ ७४४ ७५०-७५५ ७७२  
 ७७३, ७७५ ७७७ ७८२ ८८३ ८९० ८९१  
 ८९४, ८९६, ८९७, ८९९-८९९ ९३३ ९४०,

८४६, ८४७, ८४९ ८५०, ८५२, ८५४ ८६५,  
 ८६६ ८६८, ८६९  
 सप्तप-सप्तपदार्यो [ विजयानगर सारिन कागा ]  
 ६८९  
 सप्तप-टी०-सप्तपदार्यो टीका [ विजयानगर सीरिज  
 कागा ] ४८५  
 सप्तभगित-सप्तभङ्गिनरङ्गिणी [ रायचन्द्रास्त  
 माला बम्बई ] ३७१ ६८६ ६९२ ६९३  
 समव-स्तो-समवारणस्तोत्रम् [ माणिकचन्द्र ग्रन्थ  
 माला बम्बई ] २  
 समवा-सू-समवायाज्ञसूत्रम् [ आगमोप्य समिति  
 मूत ] ८५५  
 समाधिराजसूत्रम्-माध्यामिकवत्तावुद्धतम् १-२  
 सम्बन्ध-सम्बन्धपरीक्षा त्रिविदिनभाषापालक्या  
 ३०० ३०६ ३०९ ४८५  
 सम्बन्ध-सम्बन्धवार्तिकम् [ आनन्दाश्रम पूना ]  
 २०, ८२८  
 सवद-सवदानसग्रह अन्यसूत्रेण सम्पान्ति  
 सवद-सं० } [ भा० इस्टाट्यूट पूना ] १२ २४ ६०  
 ७२ १-३ १९५ २८२ ३४२ ४०९ ४११  
 ४१९ ५०७ ६६८ ६६८, ७४६ ७८८-७५०,  
 ७६०  
 सवद्वेगान्तिसि-सवद्वेगान्तिसिद्धान्तसग्रह प्रकरणसग्र  
 हान्तगम [ थोरियण्टल बुक एजन्सी पूना ] ८३१  
 सर्वापिसि-सर्वापिसिद्धि [ कल्याणप्रस सोलापुर ]  
 २१, २३, २६ २७ ३२, ८, ११५ ११६, १५८,  
 १६५ १७३ २०९ २-६ २-८, २५०, २५३,  
 २५४ २५८ २८२ २४१ २४९, ३९४ ४०६  
 ४११, ५०४, ६०६ ६०७, ६१०, ६२२ ६३७  
 ६३३, ६३६ ६३८, ६४७ ६७२ ६८६ ७८७  
 ७०२-७९९ ८००, ८०२ ८०६ ८०७ ८१०  
 ८१२ ८१४, ८२९ ८१४ ८५६, ८६२-८६४  
 ८६९ ८७८  
 साह्यका-साह्यकारिका [ चौगम्बा कागा ] ७५  
 ४० १५७ १८९-१९१, २७७ २७ ३५०-  
 ३७६ ६७७ १२०, ८१६  
 सां मां वं ) साह्यकारिकामाठवर्ति  
 साह्यकां माठवर्ष ) [ चौगम्बा कागा ] ८०  
 माठवर्ष ) ११०, १११ ११३, १८०  
 १९० ३५०-३५२ ६२४ ५०३ ६०१ ६२७  
 ६३३ ८१३-८१६  
 साह्यनत्वकौ-साह्यनत्वकौमुदी [ चौगम्बा  
 साह्यकौ ) कागा ] २४ ५००, ५०१ ७१६  
 ५१८, ५१९ ८१० ८१४  
 साह्यनत्वग्र-साह्यनत्वग्रदीप साह्यमग्रहान्तगम  
 [ चौगम्बा सीरिन कागा ] ८१६  
 साह्यनत्वग्र-साह्यनत्वग्रविवचनम् साह्यमग्रहान्त  
 गम [ चौगम्बा कागा ] ८१०  
 साह्यनत्व-साह्यनत्वकालोत्तर [ सरस्वता मवन  
 कागा ] ६२८

सांख्यप्र०-सांख्यग्रन्थानाम् [ चौखम्बा कागी ] २६, २५,  
 ८२  
 सांख्यप्र०-सांख्यग्रन्थानाम् [ चौखम्बा सीरिज कागी ]  
 ११०, १८९  
 सांख्यप्र० भा० } सांख्यप्रवचनभाष्यम् [ चौखम्बा  
 सांख्यप्र० } गीरिज कागी ] २६ ४०, १८९,  
 १९० ८१६  
 सांख्यसू०-सांख्यसूत्रम् [ जलकता ] ३५२ ४३४,  
 ८१२  
 सांख्यसूत्रवि०-सांख्यसूत्रविवरणम् [ चौखम्बा कागी ]  
 ६२७  
 सा० ब०-साहित्यप्रवणम् [ त्रिणयसागर बम्बई ]  
 ५६८ ५७० ७३८  
 सायणभा०-सायणभाष्यम् पुरुषसूक्तस्य [ आनन्दा  
 श्रम पूना ] ७७०  
 सि० चन्द्रोदय-सिद्धातचन्द्रोदय यायकांग समुद्रत  
 २६  
 सिद्धातवि०-सिद्धान्तविदु [ चौखम्बा कागी ] ८३१  
 ८३२  
 सिद्धातले०-सिद्धान्तशेखरग्रह [ चौखम्बा कागी ]  
 ८३१  
 सिद्धिवि०-सिद्धिविनिश्चय सिद्धिविनिश्चयनीकात  
 समुद्रत [ मम्पादकसत्क ] ६६ ४०३ ४२७  
 ६६८, ५२२ ५२४ ५२५ ५२७ ५९९ ६००,  
 ६०५ ६०६ ६१४ ६१६ ६५६ ६७६ ६८२  
 ६९२, ६९३ ७०८ ७०९ ७१९ ७३० ७३३  
 ७९९, ८०० ८१ ८०४  
 सिद्धिवि० टी०-सिद्धिविनिश्चयनीका [ प० मुखलाल  
 सक्का ] ५ ६ ११ १८ २० २३ २४ ४६ ६०  
 ४६ ५१ ५३ ९७ १२६ १२९, १३१-१३३  
 १५५ १६६ २०९ ३४९ ३८८ ४०२ ४०३  
 ४१ ४२७ ४३२ ४५९ ४६४ ५०४ ५२२  
 ५२५ ५२७ ५३६ ५३७ ५५१, ५६६ ६०५-  
 ६०७ ६१८ ६१९ ६२८ ६३, ६३३ ६३६  
 ६४० ६५६ ६६५, ६७४ ६७६ ६७८ ६८२  
 ६८५ ६८६ ६९४ ६९३ ६९५ ७०८ ७०९  
 ७२३ ७३० ७३३ ७९९-८०१  
 सिद्धह० } सिद्धहोमप्रकरणस्य गृह्यसि  
 हम्पा० बह० } [ अहमदाबाद ] ४ ७६०  
 सुभाषितरत्नमण्डपागर [ त्रिणयसागर बम्बई ] ८४६  
 मधुत०-मधुसूक्तसहिता [ त्रिणयसागर बम्बई ] २७५, ३१०  
 सूत्रप्र० नि०-सूत्राहताङ्गनियुक्ति [ आहृत्प्रभाकर  
 कात्यायन्य पूना ] ८१६  
 सूत्रप्र० गी० } सूत्रप्रवचनशास्त्राङ्गिका [ आगमो  
 सूत्रप्रवचनगी० } दय समिति सूरत ] ६०३ ६ ४  
 सूत्रप्रवचनगी० } ७९३ ८५२-८५४  
 सूत्रप्र०-सूत्रप्रवचनम् सूत्रप्रवचनशास्त्राङ्गिका  
 [ मा० य० बम्बई ] ८७२  
 सो वरन व०-सो वरनस्य महाकाव्यम् [ पञ्जाब यूनि०  
 सीरिज ] ८२९

सूत्रो०-सूत्रोक्तिप्रकरणम् जनसाहित्यमण्डपप्र  
 मुद्रितम् [ अमदाबाद ] ८६५-८७० ८७४  
 स्वानाग० } स्वानाङ्गसूत्रम् [ आगमोदय समिति  
 स्या० } सूरत ] ६०५, ७८२  
 स्वानागस० टी०-स्वानाङ्गसूत्रनीका [ आगमोदय  
 समिति सूरत ] ६२२  
 स्ववकार० श्या०-स्ववकारिकाश्याख्या [ काश्मीर  
 सीरिज ] १४०  
 स्प० २०-स्फुटरत्नम् [ काश्मीर सीरिज ] ७३६  
 स्फुटाद्य० अभि०-स्फुटार्था अभिधमकांगव्याख्या  
 [ विष्णोयिका मुद्रिका राणिया ] ११, ८२ ८६  
 ११२ २५०, २७२, ३००  
 स्फोटसि०-स्फोटसिद्धि [ मद्रास यूनि० ] ७६५-७९०  
 स्फोटसि० टी०-स्फोटसिद्धिका [ मद्रास यूनि० ]  
 ४०९ ७४९-७५०  
 स्फोट० भा० } स्फोटसिद्धि भारतमिश्रहृता  
 स्फोटसि० भा० } [ त्रिवेन्द्रम् ] ७६५ ७६७  
 ७४८  
 स्फोट० वा०-स्फोटसिद्धियायविवार [ त्रिवेन्द्रम् ]  
 ७४५-७४८  
 स्फोटच०-स्फोटचन्द्रिका स्फोटसिद्धिपरिणामे उदना  
 ७६५  
 स्फोत्तरव्य } स्फोत्तरव्य स्फोत्तरसिद्धिपरिणामे समु  
 स्फोत्त० } द्रतम् ७६५ ७५०  
 स्या० म०-स्याद्वाङ्मञ्जरी [ रायचन्द्र नास्त्रमात्र  
 बम्बई द्वितीय स० ] ४ १९ २३, २२४, २३३  
 २३९ १४०, १४४ १४७ १४९ १५५ १६६  
 १६७ १७२ १८६ १८७ १९० २६६-२६८  
 २८८, ३०० ३५८, ३७१ ५३७ ५६० ५५१  
 ६०६ ६१० ६२२ ६३० ६३६ ६०१ ६४०  
 ६७० ६९२ ७७० ८२६-८२८ ८३०  
 स्या० रत्नाकर० } स्यात्परत्नाकर [ आहृत्प्रभाकर  
 स्या० रत्ना० } कात्यायन्यपूना ] ७ १०  
 १५-१५ १७-२०, २३, २९, ३१, ३४-६१  
 ४४, ४९ ५२, ५४-७४ ७७ ७८ ८०-७८८-  
 ९१, ९६ ९७ १०५ १०७ १०९ १११-११४  
 १२१ १२३-१२५, १३७, १३९-१४३ १४५-  
 १४७ १४० १५३, १५६-१६०, १६२ १६४  
 १६५ १६७ १७२, १७३, १७६ १७८ १८२-  
 १८५ १८७-१०१ १९३ १०४ १९६ १९८  
 १९९ २०१ २०५ २१६ २१७ २२४ २२७,  
 २३४ २३७ २४६ २४८ २५०, २५१, २५५  
 २५८ २५९, २६१ २६३ २६४ २६८ २७  
 २७६-२७८ २८१ २८५-२८८, २९३, २९४,  
 २९८ ३०२, ३०३, ३०५-०८, ३१५-३३७,  
 ३४१ ३४५ ३५४ ३५८ ३६१ ३६२ ६४  
 ३७१ ३७४ ३८५ ३८८ ४०७-४११ ४१४-  
 ४१८ ४२० ४२२, ६२४-४२६ ४२०-४३२  
 ४३६-४४१ ४४३ ४४६-६४८ ४५५-४५९  
 ४६१ ४६४ ४६६-४६७ ४६८, ४७०, ४७२-

८७५, ४८५ ४८९, ४००, ४९२, ४९८, ५००, ५०४, ५०५ ५०८, ५१२, ५१३, ५१५-५१७, ५२०, ५२४, ५२६, ५३२-५३४, ५३७-५४२, ५४५, ५४६, ५५३, ५५४, ५६५ ६२०, ६४०, ६५७, ६६९-६७७, ६८५ ६९२ ६९८-७१८, ७२३-७४२ ७४९, ७५० ७५३, ७५५, ७७०-७७५, ७७७-७७९, ८०८, ८१०-८१२, ८१४ ८२५ ८३३-८३५ ८४१, ८४२, ८४४ ८४५ ८५२-८५५, ८५८

स्वामिकर्ति०-स्वामिकानिवेशानुप्रेक्षा [ जनसिद्धान्त प्रवाणिगी सत्या कर्त्तका ] १९

हेतुमिड०-हेतुमिडम्बनोपाम विनिन [ भाण्डारकर इस्टीमेट पूना ] ८२०

हेतुमिडु [ P तारकससक ] २०६ ४३०, ४३५, ४४५

हेतुमिडुटी०-हेतुमिडुटीका [ प० मुगलालसत्या ] ७, ८, २०, ६० १२६ २०८ ३६० ३६९, ३७३ ३७६ ३७८, ३८८, ४१९, ४४२-४४५ ४४९, ५५४, ४६० ४६६ ४६७, ४७६ ४८०, ८८५, ६०९, ६१४

हेमप्राक्त०-हमचन्द्राचापवृत्तं प्राकृतव्याकरणम् [ पूना ] ७६४

हम-वोग [ भावनगर वाणी ] ७६७

आ० आदर्शत्वेन कल्पिता ईडरभण्डारीया चाय कुमुदचन्द्रस्य लिखिता प्रति ।

आ० टि० आदर्शप्रते प्रातभाग उपलभ्या टिप्पणी ।

ई० वि० ईडरभण्डारीयवृत्तितप्रत्यतपना स्ववि वनिप्रति ।

ज० वि० जयपुरीया स्वविनिप्रति ।

व० वनारसस्वस्याडा विद्यालयम् चा याय कुमुदचन्द्रस्य लिखिता प्रति ।

मु० लघो० मुद्रित लघीयस्रमम् ।

श्र० श्रवणव गोलम्भ श्री [ पण्डितासायचार् क्रीतिभट्टारकरवा चा यापकुमुदचन्द्रस्य लिखिता प्रति ।

का० कारिका

गा० गाथा

इतो० इतो



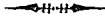
### शुद्धिपत्रम्

पृ०	प०	अशुद्धम्	शुद्धम्
४१४-३	}	प्रथक्	प्रथक्
४२९-१२			
४६३-१२			
५३८-५			
४१९	१	प्रमाण्यात	प्रामाण्यत्रि
४३६	१६	-सञ्ज्ञतस्या-	-सञ्ज्ञतस्या-
४४६	१२	वक्-	वक्-
४६४	८	स्मृत्वा	स्मृत्या
४६७	१२	(१) अभावस्य	(१) अभावरप्रमाण्य
४६९	१०	रूपित्व	रूपित्व
४७३	२१	(४) घटधमतया	(४) भूतलधमतया
४७३	२१	(५) घटात	(५) भूतलात्
४८८	१८	योगयोगी	योग्यायोगी
५१५	९	त्रिधिनो-यने	त्रिधिनो-यत
५७२	१७	-विशिष्ट	-विशिष्ट
५७२	२२	-निघतद्रघ-	-निघततद्रघ-
५७३	२१	विध-भिण-	विध-भण-
६१४	१८	वायम इति	वायमितरत्रे

प०	प०	जगद्धम	शुद्धम्
६३८	११	को विगया	कोविगया
६५४	२८	प्रवात-	प्रवात-
६७१	१२	-व्वाति-	-व्वाति-
७४०	८	वातपप०	वातपप०
७५७	७	गध्यानीनाम	गध्यानीनाम्
७६७	३	गायीगा	गायीगा
७७७	२७	तत्रि-	तत्रि-
८०२	१७	-रूपव-	-रूपव-
८०४	३	पभमपभ	पभमपभद्
८२४	७	व्यरुठे-	-व्यरुठे-
८२	१३	इति	इति
८३७	८	-तम	-तम्
८६६	७	महन्गा	मुदारागा
८१	२१	मुनि-	मुनि-
८५५	०	पुवाह	पुवाह
८६४	२२	-पभपभ	-पभपभ
प्र० ५	१०	-भूत	-भूत



# माणिकचन्द्र-जैनग्रन्थमालामे प्रकाशित ग्रन्थोंकी सूची



लघीयस्त्रयादिसग्रह	1=)	२३ मूलाचार सटीक-उत्तराड	१॥)
सागरधर्ममत सटीक (अप्राप्य)		२४ रत्नरत्नध्यावकाचार सटीक	२)
विक्रान्तचोरव (नाटक)	1=)	२५ पंचसग्रह	॥1=)
पा दनायचरित (काव्य)	॥)	२६ लाटासहिदा	॥)
मधिलीकल्याण (नाटक)	॥)	२७ पुष्टदेवधम्पू	॥॥)
आराधनासार सटीक	॥॥)	२८ जन गिला सेलसग्रह	२)
जिनवत्सचरित (काव्य)	॥॥)	२९ पद्मचरित (पद्म पुराण) प्रथम खंड	१॥)
प्रद्यम्नचरित (काव्य)	॥)	३० " " द्वितीय खंड	२)
चारित्रसार (अप्राप्य)		३१ " " तृतीय खंड	२)
प्रमाणनिणय (अप्राप्य)		३२ हरिवंशपुराण प्रथम खंड	२)
आचारसार		३३ " " द्वितीय खंड	१॥)
त्रिलोकसार सटीक (अप्राप्य)		३४ नीतिशास्त्रयामत सटीक (परिगणित)	॥)
तरवानुगासनादिसग्रह (अप्राप्य)		३५ जम्बूद्वीपचरित (काव्य)	१॥)
अनगरधर्ममत सटीक	३॥)	३६ त्रियण्डित्पतिगाम्प्र मराठी टीकासहित	॥)
पुस्त्यनुशासन	॥॥=)	३७ महापुराण (प्रथम खंड)	१०)
नयचक्रसग्रह	॥॥=)	३८ यामकुम्भचन्द्र—भट्टकवचने	
पटप्रभतावित्तग्रह	३)	लघीयस्त्रय प्रथमर धामत्प्रभाचन्द्राचायकृत	
प्रायश्चित्तसग्रह	१=)	भाष्य (प्रथम खंड)	८)
मूलाचार सटीक पूर्वार्द्ध	२॥)	३९ यामकुम्भचन्द्र (द्वितीय खंड)	८॥)
भाष्यसग्रहादि	२॥)	४० बराङ्गचरित—जटाचाय (सिंहनादि)	
सिद्धांतसारादिसग्रह	१॥)	कृत प्राचीन महाकाव्य	३)
नीतिवाक्ययामत सटीक	१॥॥)	४१ महापुराण (द्वितीय खंड)	१०)

नोट—सभी ग्रंथ बहुत मस्त है अगतमात्र मूल्यमें बचे जाने ह ।

मिलनेका पता—नाथूराम प्रेमी

मन्त्री—माणिकचन्द्र जैनग्रन्थमाला

ठिको हीराबाग पो० गिरगाँव बम्बई न० ४





